सिद्धान्ताचार्य
पण्डित फूलचन्द्र शास्त्री
अभिनन्दन ग्रन्थ

संपादक मण्डल

डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ
पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, वाराणसी
पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री, कटनी
प० नाथूलाल शास्त्री, इन्दौर
प० माणिकचन्द्र चवरे, कारंजा
प्रो० खुशालचन्द्र गोरावाला, वाराणसी
डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन, नीमच

प्रबन्ध सम्पादक
बाबूलाल जैन फागुल्ल

प्रकाशक
सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र शास्त्री अभिनन्दन-ग्रन्थ
प्रकाशन समिति, वाराणसी

प्रकाशक
सिद्धान्ताचार्य पण्डित फूलचन्द्र शास्त्री
अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति
वाराणसी (उत्तर प्रदेश)

●

प्रकाशन
१९८५

●

मूल्य
एक सौ एक रुपया

●

मुद्रक
कमल प्रिंटिंग प्रेस
भेलूपुर, वाराणसी–१०



प्रकाशकीय

विगत तीन-चार दशकोमे अभिनन्दन करने और अभिनन्दन-ग्रन्थ तथा स्मृति-ग्रन्थोके प्रकाशनकी परम्पराका विशेष रूपसे प्रचलन हो गया है। आधुनिकमे जागरणके अग्रदूत पू० श्री १०५ गणेश वर्णीजीके अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशन इस धागका उद्गम है। प्रस्तुत अभिनन्दन-ग्रन्थ उसी शृङ्खलाकी एक कड़ी है। प्रकाशनके क्षेत्रमे इसे एक नई विधाका रूप देनेका भी प्रयास है।

सिद्धान्ताचार्य प० फूलचन्द्रजी भारतीय मनीषियोमे बहुश्रुत विद्वान् है। जो भी एक बार आपके परिचयमे आता है, वह आपसे प्रभावित हुए बिना नही रहता। एक सरल व्यक्तित्व विद्वत्ताका मान-दण्ड स्थापित करनेवाला है, सहज ही इसका निश्चय हो जाता है। साहित्य-साधनाके क्षेत्रमे अर्द्ध शताब्दीसे भी ऊपर समय से आप सतत सम्पादन, अनुवाद तथा ग्रन्थ-रचनामे सलग्न है। राष्ट्रीय तथा सामाजिक आन्दोलनोमे आपकी विशिष्ट भूमिका रही है। आप जागरणके कार्योंमे सदा अग्रणी रहे हैं। यही कारण है कि राष्ट्र तथा समाजमे अपना स्थान बनाये हुए हैं। आपकी अपनी अहमियत तथा स्वतन्त्र अस्तित्व है। सम्पूर्ण जैन समाजमे आपका स्थान विशिष्ट है।

यद्यपि दो-तीन वर्षोंसे श्रद्धेय पण्डितजीके अभिनन्दनकी चर्चा सुननेमे आ रही थी। किन्तु इस दिशामे न तो कोई योजना ही प्रकाशित हो सकी और न कोई सस्था या समिति ही अग्रसर हो सकी सुयोगकी बात थी कि सिद्धान्त शास्त्रीजीके जयधवला प्रकाशनार्थ काशी आनेपर उनके परम अनुरागी महावीर प्रेम और सेठ भगवानदास परिवारको करणानुयोगके एकमात्र अधिकारी पण्डितजीके प्रति 'गुणिषु प्रमोद रूपसे आयोजन न होना खटका। इस परिवारने भा० दि० जैन सघके प्राक् प्रधानमत्री प्रो० खुशालचन्द्रजी गोरावालाकी सहमति से योजनाबद्ध कार्य चलाया और एक समिति गठित की गई।

अभिनन्दन ग्रन्थके सम्पादक मण्डलमें डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, सिद्धान्ताचार्य प० कैलाशचन्द्र शास्त्री, प० जगन्मोहनलाल शास्त्री प० नाथूलाल शास्त्री ब्र० माणिकचन्द चवरे, प्रो० खुशालचन्द्र गोरावाला, डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री का गठन किया गया था। प्रस्तावित योजनाका प्रारूप प्रकाशित हो चुका था। जैन पत्र-पत्रिकाओमे भी सूचना तथा विवरण प्रकाशित किया गया।

अभिनन्दन-ग्रन्थके सम्पादनमे डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्रीका सक्रिय सहयोग रहा।

जिनशासनके सफल प्रभावक एव सच्चे सपोषक श्रद्धेय पण्डितजीके प्रति पू० एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजीकी मगल कामनास बम्बई वालोने भी आर्थिक सहयोग प्रदानकर अपनी भक्ति-भावना प्रदर्शित की है।

समितिका यह अभिमत है कि विद्वत्ताका सम्यक् मूल्याकन व सम्मान ही सच्ची श्रुत-सेवा है। हम गौरवान्वित इसलिये भी है कि पू० एलाचार्य महाराज मुनिश्री विद्यानन्दजीका शुभ आशीर्वाद हमे मिला है। उनकी मगल कामनाके परिणामस्वरूप हम जिन-सरस्वती पुत्रको यह पवित्र अर्घ्य समर्पित कर सके हैं। ग्रन्थ प्रकाशन तथा समारोहमे महाराजा बहादुर सिंह, श्री बाबूलाल पटौदी, श्री रतनलालजी पाटनी, प० हीरालालजी गगवाल, सुरेश पाण्डेयजी आदिके सहयोगके लिए भी हम आभारी है।

हम उन सभी सहयोगियो, दातारो तथा लेखकोके आभारी है जिन्होने अभिनन्दन-ग्रन्थ तथा अभिनन्दन के इस शुभ कार्यमे तन, मन और धनसे सहयोग प्रदान किया है।

अन्तमे, यह अभिनन्दन ग्रन्थ पाठकोके लिए ही नही, विद्वद्वर्ग, अध्येताओ तथा अनुसन्धित्सुओ एव समाजके प्रगतिशील विचारकोंके लिए भी सारवान सिद्ध होगा।

सेठ डालचन्द्र जैन
अध्यक्ष

बाबूलाल जैन फागुल्ल
मन्त्री

सम्पादकीय

भारतीय संस्कृति, समाज और साहित्य इन तीनोंकी मूल चेतना एक है। वैदिक तथा श्रमण, ऋषि और मुनि, बार्हत और आर्हत जैसे भेद केवल बाह्य रूपोंको विविध दृष्टिकोणोंसे समझनेके लिए है। मूलतः उन सबमे सांस्कृतिक प्रवाह एक है। हमारी संस्कृति जिस अहिसाके धरातल पर सुस्थित है, वह अविचल है। इतिहासकी घटनाओमे ऐसी परिस्थितियाँ भले ही उत्पन्न होती रही हों, किन्तु संस्कृतिका मूल स्वरूप सदा अक्षुण्ण रहा है। शत-सहस्र शताब्दियोंसे अनादि, अनिधन किंवा सनातन परम्परागत श्रुतकी गरिमासे मण्डित सारस्वत आचार्यों, मेधावी श्रुतनिष्ठ साधकों, साधुओं एवं पण्डितोंसे यह परम्परा सदा प्रवर्तमान रही है। आज हमारे देशमें जो भी विद्वान् दृष्टिगोचर हो रहे हैं वे श्रुतदेवीके सच्चे उपासक हैं। उनकी विद्वत्ता साधनाके आयामों में ही परिलक्षित होती है। वे किसी जाति तथा समाजमे उत्पन्न होनेपर भी मानवीय चेतनाके अखण्ड रूप है। उनकी विलक्षणता मानव जातिका सुन्दर इतिहास है।

भारतीय संस्कृति और उसके इतिहासकी मूल धारासे जैनधर्म उसी प्रकार संपृक्त है, जैसे दूधमें मिठास। अत भारतीय संस्कृतिके उन्नयनमे जैन विद्वानों तथा पण्डितोंका महत्त्वपूर्ण अवदान रहा है। जिन तपःपूत साधकोंने अपनी साधनाके द्वारा आत्मनिष्ठा, गुरुता तथा आदर्श मानकको परम्परागत विशेषताओके रूपमे उजागर कर नवल धवल आयामोमे विभिन्न पक्षोंको समायोजित कर उदात्त धरातल पर प्रतिष्ठित तथा प्रकाशित किया, उन सारस्वत विद्वानोंमे पण्डितजीका विशिष्ट स्थान है। भारतीय साहित्यके इतिहासमे, जैनदर्शन तथा तत्त्वज्ञान के मनीषियोंमे उनका नाम उल्लेखनीय रहेगा।

प्राच्य विद्याके क्षेत्रमें जर्मन विद्वानोंने जो उल्लेखनीय कार्य किया, उनसे कम महत्त्वका काम पण्डित जीने नही किया। जैनधर्मकी मूल आगम श्रुतको प्रकाशित करने वाले शुद्ध पाठोसे समन्वित तथा आधुनिक सम्पादन विधिसे सम्पादित सिद्धान्त ग्रन्थोंका प्रकाशन अपने आपमे महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना है। इस महान् कार्यमें पण्डितजीका सहयोग रहा है। प्राकृत भाषामे रचित इन महान् सैद्धान्तिक ग्रन्थोका सम्पादन तथा हिन्दी अनुवाद करना महती साधना एव दीर्घकालीक श्रुताभ्यासका परिणाम है। साधारण लेखक तथा सामान्य पाठककी पहुँच उन तक नहीं है। आगम तथा सिद्धान्त ग्रन्थोंका जिनका विशिष्ट अध्ययन है, वे ही इनका वाचन कर फलश्रुति उपलब्ध कर सकते है। आगमके आजीवन अभ्यासी प० फूलचन्द्रजीकी महती श्रुत-साधनाका ही यह परिणाम है कि "षट्खण्डागम" का रहस्य हिन्दी अनुवादके माध्यमसे पूर्व-पश्चिम जगत्के समक्ष स्पष्ट हो सका है। बीसवीं शताब्दीकी पण्डित-परम्परामे आगमका भाव खोलनेमे सक्षम विद्वान्के रूपमे सदा स्मरणीय रहेंगे।

दिगम्बर जैन पण्डितोंकी परम्परामे वर्तमान पण्डित कैलाशचन्द्रजी, पण्डित फूलचन्द्रजी तथा पण्डित जगन्मोहनलालजी ऐसे सुमेरु-माणिक्य है जो सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और चारित्रके प्रतीक है। वीतराग धर्म, दर्शन, साहित्य एवं तीर्थमे इनकी श्रद्धा अगाढ एवं अविचल है। ये स्वयं जीवन्त तीर्थके समान है। इन सभी विद्वानोंने अपने गम्भीर अध्ययन, लेखन, सम्पादन, प्रवचन, अध्यापन, शोध तथा अनुसन्धान-कार्य, संस्था-निर्माण एवं सचालन, पत्रकारिता आदि साहित्यिक प्रवृत्तियोंसे लेकर सामाजिक, सास्कृतिक तथा आध्यात्मिक सभी प्रवृत्तियोंमे विशिष्ट सहयोग देकर समाजमें स्थायी कीर्तिमान स्थापित किया है। आदरणीय पण्डितजी इन सभी कार्योंमे अग्रणी रहे है। समाजको समयपर नवीन दिशाकी ओर उन्मुख करनेमे आपकी सूझ-बूझ विलक्षण तथा प्रशंसनीय रही है। किन्तु आप स्वयं समाजके आन्तरिक कलहों, विवादों और समस्याओंसे दूर रहे हैं। आपके व्यक्तित्वमे यह विरोधाभास भासित होता रहा है। वास्तवमें आपका जीवन विरोधाभासोंसे

सम्पादक मण्डल



डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन



पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री



डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन



पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री



पं० नाथूलाल शास्त्री

भरपूर रहा है। सामाजिक अवमानना, संघर्ष, यातना, अवपीडन सभी कुछ आपने सहा, परन्तु समाजको सम्यक् दिशाका निर्देश करनेमें आप कभी पीछे नहीं रहे।

इस अभिनन्दन ग्रन्थकी मूलभूत विशेषता यह है कि यह तथ्यपरक तथा गुणात्मक है। इसका मूल प्रारूप वस्तुवादी समीक्षात्मक रहा है। प्रसंगतः व्यक्तित्व और कर्तृत्वका सरलतम विवरण भी संयोजित करना पड़ा है। प्रशंसात्मक लेखोंकी भरतीसे तथा जैनधर्म एवं उसकी विभिन्न विधाओंपर विविध विद्वानोंके लेखोंके आकलनसे इस ग्रन्थको मुक्त रखा गया है। दूसरे शब्दोंमें ग्रन्थका कलेवर बढ़ानेकी दृष्टिसे हमने किसी प्रकारकी सामग्रीका संकलन नहीं किया। आदरणीय पण्डितजीके अद्यावधि प्रकाशित तथा अप्रकाशित लेखोंका ही मुख्य रूपसे संकलन किया गया है। उनके व्यक्तित्वकी सम्पूर्ण छविको अंकित करने हेतु उनका जीवन-परिचय, भेंट-वार्ता तथा रेखा-चित्रका समावेश किया गया है। "कृतित्व समीक्षा" के अन्तर्गत पण्डितजी की मौलिक, सम्पादित एवं अनूदित कृतियोंके सम्बन्धमें विभिन्न विद्वानोंके समीक्षात्मक लेख दिये गये है।

ग्रन्थके अन्तर्गत संयोजित विषयवार प्रत्येक इकाईको हमने एक स्वतन्त्र खण्डके रूपमें प्रस्तुत किया है। अतः यह ग्रन्थ पाँच खण्डोंमें विभाजित है। प्रथम खण्डमें इस देशके विभिन्न क्षेत्रोंमें कार्यरत समाजसेवियों, सहपाठियों, मित्रों, हितैषियों, धर्मप्रेमियों, शिष्यों तथा भक्तोंकी स्नेहासिक्त साधु-शुभ-भावना, शुभ कामना, श्रद्धा-भावना एवं संस्मरणोंका संकलन किया गया है। यद्यपि हम व्यक्तिगत पत्र लिखकर आदरणीय पण्डितजी के सम्पर्कमे आने वाले सभी व्यक्तियोंसे सम्पर्क स्थापित नही कर सके हैं, क्योंकि पहले हमारी परिकल्पनामें यह प्रारूप नही था। अनन्तर रूप-रेखा बननेके पश्चात् समयाभावके कारण न तो हम सभी विद्वानोंसे लम्बे समयतक पत्राचार कर पाये और न पण्डितजीके जीवनसे सम्बन्धित पूरा विवरण आकलित कर सके हैं। कम समय और सीमित साधनोंमे हम जैसा जो कुछ कर पाये हैं, वह पाठकोंके सम्मुख है। सुधी पाठक ही इसका समुचित मूल्यांकन कर सकेंगे।

द्वितीय खण्डमें जीवन-परिचय, भेंट-वार्ता तथा रेखाचित्र आकलित हैं। इन विविध विधाओंके माध्यम से व्यक्तित्वका एक चित्र उभारनेका प्रयत्न किया गया है। वर्तमान साहित्यमे व्यक्तिके व्यक्तित्वके बिना कृतित्व अपूर्ण माना जाता है। अतः विभिन्न आयाममें व्यक्तित्व तथा कृतित्वका अखण्ड परिचय सम्पूर्ण ग्रन्थ के रूपमे संयोजित किया गया है।

तृतीय खण्डमे आदरणीय पण्डितजीका व्यक्तित्व उभर कर सामने आया है। विभिन्न विद्वानों तथा शुभचिन्तकों द्वारा लिखे सस्मरणात्मक लेख तथा जीवनकी घटनाओंका समावेश किया है।

चतुर्थ खण्डमे पण्डितजीके पच्चीस लेखोंका संकलन है। इसमें धर्म और दर्शनसे सम्बन्धित कई महत्व-पूर्ण लेख संकलित हैं। कुछ लेखोंसे तो विद्वत्-जगत् भी अनभिज्ञ हैं उदाहरणके लिए, "भावमन और द्रव्यमन" एक ऐसा लेख हैं जो लगभग अर्द्ध शताब्दी पूर्व "शान्ति-सिन्धु" मे प्रकाशित हुआ था। सभी लेख गम्भीर तथा मर्म पूर्ण हैं। भाषा सरल तथा बोधगम्य हैं वर्षों पूर्व लिखे गये ये लेख आज भी ताजे है। इनको पढ़कर सामान्य पाठक भी स्फूर्तिका अनुभव कर सकता है। इतना ही नही, इतिहास तथा पुरातत्त्व" विषयक लेखोमे कई नवीन तथा शोधपूर्ण हैं जो नई दृष्टि प्रदान करते हैं। अनुसन्धान तथा शोधपरक लेखोंकी अपनी विशेषता है।

पंचम खण्डमें आदरणीय पण्डितजीकी मौलिक सम्पादित तथा अनूदित कृतियों पर विभिन्न विद्वानोंके समीक्षात्मक लेख हैं। इन लेखोंसे जहाँ पण्डितजीकी साहित्य साधनाका बोध होता है वहीं विषयका परिचय

प्राप्त होता है तथा महामहिम व्यक्तित्व उभरकर छविरूपमें अंकित होता है व्यक्तित्वके स्पष्ट अवबोधके लिए इस प्रकारके समालोचनात्मक लेखोंका होना आवश्यक था।

महावीर प्रेसके व्यवस्थापक तथा अभिनन्दन ग्रन्थमें आदिसे अन्त तक रुचि लेकर इसे सुरुचि सम्पन्न बनानेमें जिनका अथक प्रयत्न तथा विशिष्ट योगदान है, उन सम्मान्य बाबूलालजी फागुल्लके प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

अन्तमें उन साधु-सन्तों, गुरुजनों, सम्मान्य विद्वानोंके प्रति आभारी हैं जिन्होंने आदरणीय पण्डितजीके प्रति शुभकामना प्रकट कर जीवन तथा कृतित्वके सम्बन्धमें यथासमय अपने विचार लेखबद्ध कर भेजनेकी कृपा की। सुधी धर्मप्रेमियोंके प्रति भी आभार व्यक्त करते हैं।

—डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री

मौलिक रचनाएँ

१. जैनधर्म और वर्ण-व्यवस्था—भारतवर्षीय दि० जैन परिषद्, पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९४५
२. विश्वशान्ति और अपरिग्रहवाद—गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, १९४९
३. जैनतत्त्वमीमांसा—अशोक प्रकाशन मन्दिर, वाराणसी, १९६०, (पृ० ३१५)
(संशोधित तथा परिवर्द्धित संस्करण, पृ० ४२२ अशोक प्रकाशन मन्दिर, वाराणसी, १९७८)
४. वर्ण, जाति और धर्म—भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, १९६३

सम्पादित ग्रन्थ

१. प्रमेयरत्नमाला—चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस, १९२८ ई०
२. आलापपद्धति—श्री सकल दि० जैन पंचान, नातेपुते (सोलापुर), १९३४ ई०
३. धवला खण्ड १, भा० १, पुस्तक १, जैन साहित्य उद्धारक फण्ड, अमरावती, १९३९
४. धवला खण्ड १, भा० २, पुस्तक ३ ″ ″ १९४१
५. धवला खण्ड १, भा० ३, ४, ५ पुस्तक ४, ″ १९४२
६. जयधवला १ श्री भारतवर्षीय दि० जैन संघ, चौरासी, मथुरा, १९४४
७. जयधवला २ ″ ″ ″ १९४८
८ सप्ततिकाप्रकरण (हिन्दी अनुवाद सहित), आत्मानन्द जैन प्रचारक पुस्तकालय, आगरा, १९४८
९. धवला, पुस्तक ९—जैन साहित्य उद्धारक फंड, कार्यालय, अमरावती, १९४९
१०. तत्त्वार्थ सूत्र (हिन्दी अनुवाद, भाष्य सहित), गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, १९५०,
११ पंचाध्यायी (हिन्दी अनुवाद), गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, १९५०
१२. महाबन्ध, पुस्तक २,—भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, फरवरी, १९५३
१३ महाबन्ध, पुस्तक ३, ″ ″ १९५४
१४. धवला, पुस्तक १०—जैन साहित्य उद्धारक फंड, कार्यालय, अमरावती, १९५४
१५. धवला, पुस्तक ११— ″ ″ १९५५
१६. धवला, पुस्तक १२— ″ ″ १९५५
१७. धवला, पुस्तक १३— ″ ″ १९५५
१८. जयधवला ३—श्री भारतवर्षीय दि० जैन संघ, चौरासी, मथुरा, १९५५

१९. जयधवला, पुस्तक ४—श्री भारतवर्षीय दि० जैन संघ, चौरासी, मथुरा, १९५६।
२०. जयधवला, पुस्तक ५— " " " , १९५६
२१. महाबन्ध, पुस्तक ४, —भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी, १९५६
२२. महाबन्ध, पुस्तक ५ — " " , १९५६
२३. महाबन्ध, पुस्तक ६— " " , १९५७
२४. ज्ञानपीठ पूजाञ्जलि—भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९५७, द्वि सं० १९६९, तृ० सं० १९७७, च० सं० १९८२
२५. धवला, पुस्तक १४—जैन साहित्य उद्धारक फंड, कार्यालय, विदिशा, १९५७
२६. धवला पुस्तक १५— " " , १९५७
२७ धवला, पुस्तक १६— " " , १९५८
२८. जयधवला, पुस्तक ६—श्री भारतवर्षीय दि० जैन संघ, चौरासी, मथुरा, १९५८
२९. जयधवला, पुस्तक ७— " " , १९५८
३०. महाबन्ध, पुस्तक ७—भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी, १९५८
३१. जयधवला, पुस्तक ८—श्री भारतवर्षीय दि० जैन संघ, चौरासी, मथुरा, १९६१
३२. जयधवला, पुस्तक ९— " " , १९६३
३३. समयसारकलश (भावार्थ सहित)—श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़, १९६४
३४. कानजी स्वामी अभिनन्दन ग्रन्थ,—दि० जैन मुमुक्षु मण्डल, बम्बई १९६४
३५. खानिया तत्व-चर्चा, पुस्तक १—आचार्यकल्प पं० श्री टोडरमल ग्रन्थमाला, जयपुर १९६७
३६. खानिया तत्त्व-चर्चा, पुस्तक २ — " " , जयपुर १९६७
३७. जयधवला, पुस्तक १०—श्री भारतवर्षीय दि० जैन संघ, चौरासी, मथुरा, १९६७
३८. जयधवला, पुस्तक ११— " " , १९६८
३९. सम्यग्ज्ञान-दीपिका (सम्पादन व अनुवाद)—श्री दि० जैन मुमुक्षु मण्डल, भावनगर १९७०, वी० नि० सं० २४९६
४०. जयधवला, पुस्तक १२—श्री भारतवर्षीय दि० जैन संघ, चौरासी, मथुरा, १९७१
४१. जयधवला, पुस्तक १३— " " , १९७२
४२. धवला, पुस्तक १—जीवराज जैन ग्रन्थमाला, संस्कृत संरक्षक संघ, सोलापुर, १९७३
४३. धवला, पुस्तक २— " " , १९७६
४४. लब्धिसार-क्षपणासार—श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, १९८०
४५. आत्मानुशासन—श्री गणेशवर्णी दि० जैन संस्थान, वाराणसी, १९८३
४६. जयधवला, पुस्तक १४—भा० दि० जैन संघ, चौरासी, मथुरा, १९८३
४७. जयधवला, पुस्तक १५— " " , १९८४
४८. धवला, पुस्तक १ (पुनःसंशोधन व सम्पादन)—जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर १९८०
४९. धवला, पुस्तक २— " " " , १९८१
५०. धवला, पुस्तक ३— " " " , १९८३
५१. धवला पुस्तक ४—(खण्ड १, पुस्तक ४, भा० ३-४-५) १९८४

●

सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति के पदाधिकारी

संरक्षक

श्री पंडिताचार्य चारुकीर्ति स्वामीजी, श्रवणबेलगोला
ब्र० पं० सुमति शाह, शोलापुर
श्रीधर्मगुरु वीरेन्द्र हेगड़े, धर्मस्थल
साहू श्रेयांसप्रसाद जैन, बम्बई
सेठ लालचन्द्र जैन, बम्बई
सेठ भगवानदास जैन, सागर
सेठ देवकुमार सिंह, इन्दौर
श्रीमती गजाबेन, बाहुबली
श्रीमती चन्द्रावती जैन, इन्दौर
श्रीमती सरयू दफ्तरी, बम्बई
श्री रतनलाल गंगवाल, कलकत्ता
श्री महाराजा बहादुर सिंह, इन्दौर
साहू अशोककुमार जैन, दिल्ली
साहू रमेशचन्द्रजी जैन, दिल्ली

अध्यक्ष

सेठ डालचन्द्र जैन, सागर

उपाध्यक्ष

श्री बाबूलाल पटौदी, इन्दौर
श्री नेमिचन्द्र पाटनी, जयपुर
श्रीमती सेठानी नर्मदाबाई, डोंगरगढ़
श्री हरिश्चन्द्र जैन, जबलपुर
स० सि० धन्यकुमार जैन, कटनी
श्री राजमल जैन, भोपाल
श्रीमंत सेठ ऋषभकुमार जैन, खुरई
श्री इन्द्रजीतजी जैन, एडवोकेट, कानपुर

मंत्री

बाबूलाल जैन फागुल्ल, वाराणसी

संपादक मण्डल

डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ
पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, वाराणसी
पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री, कटनी
पं० नाथूलाल शास्त्री, इन्दौर
पं० माणिकचन्द्र चवरे, कारंजा
प्रो० खुशालचन्द्र गोरावाला, वाराणसी
डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन, नीमच

परामर्शदाता मण्डल तथा सदस्य

श्री पं० धन्यकुमार भोंरे, कारंजा
पं० पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर
डॉ० दरबारीलाल कोठिया, वाराणसी
डॉ० राजकुमार जैन साहित्याचार्य, आगरा
श्री यशपाल जैन, दिल्ली
श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, दिल्ली
डॉ० लालबहादुर शास्त्री, दिल्ली
डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, जयपुर
डॉ० राजाराम जैन, आरा
श्री प्रकाश हितैषी, दिल्ली
डा० हुरीन्द्रभूषण, उज्जैन
पं० हीरालाल गंगवाल, इन्दौर
डॉ० सागरमल जैन, वाराणसी
पं० माणिकचन्द्र भिसीकर, बाहुबली
प्रो० उदयचन्द्र जैन, वाराणसी
डॉ० फूलचन्द्र प्रेमी, वाराणसी
डॉ० कमलेशकुमार जैन, वाराणसी
डॉ० जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर
डॉ० रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर
श्री नरेन्द्र विद्यार्थी, छत्तरपुर
पं० भंवरलाल न्यायतीर्थ, जयपुर
डॉ० लालचन्द्र जैन, वैशाली
डॉ० सुदर्शनलाल जैन, वाराणसी
पं० नरेन्द्र कुमार भिसीकर, शोलापुर
श्री युगलकिशोर 'युगल', कोटा
बाबू महावीरप्रसाद एडवोकेट, हिसार
श्री भगतराम जैन, दिल्ली
श्री ज्ञानचन्द्र खिन्दूका, जयपुर
श्री गुलशनराय जैन, मुजफ्फरनगर
श्री सुकुमारचन्द्र जैन, मेरठ
श्री अभयकुमार जैन, बम्बई
श्री सुरेश पाण्डे, इन्दौर
श्री गुलाबचन्द्र दर्शनाचार्य, जबलपुर
डा० एस० के० जैन, दिल्ली
श्री सुमतप्रसाद जैन, दिल्ली

विषय-सूची

खण्ड : १ : शुभाशीर्वचन ● अभिवादन ● संस्मरण

खण्ड : २ : जीवन-परिचय ● भेंटवार्ता ● रेखाचित्र

खण्ड : ३ : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व

खण्ड : ४ : साहित्य सर्जना

धर्म और दर्शन

इतिहास तथा पुरातत्त्व

अनुसन्धान तथा शोधपरक

खण्ड : ५ : कृतित्व समीक्षा



खण्ड १

आशीर्वचन • अभिवादन • संस्मरण



शुभाशीर्वाद

आचार्य समन्तभद्रजी महाराज, बाहुबली

• • •

धर्मानुरागी विद्वद्वर्य सिद्धांतशास्त्री पण्डित फूलचन्द्रजी द्वारा जीवनमें धवला, जयधवला, महाबंध आदि ग्रन्थोंका महान् कार्य सम्पन्न हुआ है। इसी प्रकार जिनवाणीकी सेवा सम्पन्न करनेके लिए निरामय दीर्घायुष्यका लाभ हो, ऐसा शुभाशीर्वाद।

॥ ॐ स्वस्ति ॥

• • •







[illegible] मुनि

आशीर्वचन



सिद्धान्तचक्रवर्ती एलाचार्य विद्यानन्द मुनि

Camp Kopergaon
Dec 19, 1984

'नास्ति एषां यशः काये जरामरणजं भयम्।'-

धर्मानुरागी, भद्रपरिणामी पं० श्री फूलचन्द सिद्धान्त शास्त्री जी से हमारी सब से पहली भेंट देहली में हुई। उसके बाद पोदनपुर बम्बई में हमारे १९८४ के वर्षायोग में दो महीने तक श्री समयसार इत्यादि का स्वाध्याय करने का अवसर मिला। उनकी समझाने की शैली अति सरल तथा शास्त्रोक्त है। वह जैन साहित्य, संस्कृति और सिद्धान्त के मर्मज्ञ, सरल स्वभावी, अत्यन्त विनम्रमूर्ति, इस युग के प्रतिभा संपन्न विद्वान हैं।

उनके विचार तथा लेख इत्यादि से ऐसा भास होता है कि शुरु से ही उनका ज्ञान परिपक्व तथा ठोस है। विद्वत समाज सदा उनका कृतज्ञ रहेगा।

हमारा शुभाशीर्वाद है कि पंडितजी स्वस्थ रहें, दीर्घायु हों ताकि जैनधर्म की और भी सेवा कर सकें।

शुभाशीर्वाद

बहुमुखी प्रतिभाके धनी

● भट्टारक चारुकीर्ति स्वामीजी, श्रवणबेलगोला

वास्तवमें जिस समाजमें मेधावी विद्वानोंका समादर और सत्कार होता है, वही समाज जीवित है। विद्वान् समाजका प्राण है। आजके इस संघर्षमय वातावरणमें भी किसी सारस्वत पुरुषका अभिनन्दन, ग्रन्थ प्रकाशनके द्वारा होना बहुत ही महत्व रखता है।

सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र शास्त्रीजीका जीवन जिनवाणीके सच्चे स्वरूपके उद्घाटनमें ही बीता है। आपकी कई मौलिक रचनाओंके अध्ययनसे यह अनुभव हुआ है कि आपकी चिन्तन शक्ति गहरी और तात्त्विक है। आप जैसे अगाध पाडित्य और बहुमुखी प्रतिभा सपन्न विद्वान्‌का सन्मान समाजका ही सन्मान है।

हमारी शुभकामना है कि इस पुनीत कार्यमें लगे आपको पूर्ण सफलता मिले और इस कृतिमें समाविष्ट विशिष्ट सामग्री धार्मिक जगत्‌की समष्टि और व्यष्टि दोनोंके लिए नया स्रोत बने।

इति 'भद्रं भूयात्' इत्याशीर्वाद पूर्वक।

मंगल कामना

● पद्मश्री पण्डिता ब्र० सुमतीबाई शहा, सोलापुर

पंडितजीने अपनी पूरी आयु ग्रन्थ संशोधनमें लगाई। मूडबिद्रीके तालेमें रहा हुआ धवल, महाधवल और जयधवलका हिन्दी अनुवाद करके जैन समाजको स्वाध्याय करनेके लिए यह ग्रन्थकी सुविधा उपलब्ध की। पंडितजी एक बड़े तत्त्वज्ञ और मर्मज्ञ हैं। वे हमारे यहाँ बहुत बार आये। उनके सहवासमें यहाँके त्यागी और आश्रमवासियोंको उनसे फायदा हुआ। उनकी तबियत अच्छी नहीं रही तो भी स्वाध्यायके समय उनका पूरा लक्ष्य अध्यात्म रहता था। पंडितजी स्वस्थ रहे यही कामना करती हूँ।

जैन कर्म-सिद्धान्तके प्रढ़ विद्वान्

● पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, वाराणसी

पंडित फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री जैन कर्म सिद्धान्तके प्रौढ विद्वान् हैं। सन् १९२१-२३ में मैं पं० फूलचन्द्रजी और पं० जगन्मोहनलालजी, स्व० गुरुवर्य पं० गोपालदासजीके द्वारा संस्थापित जैन सिद्धान्त विद्यालयमें उनके शिष्य स्व० पं० वंशीधरजी न्यायालंकार तथा स्व० पं० देवकीनन्दनजीके पास जैन सिद्धान्तका अध्ययन करते थे और एक ही कमरेमें रहते थे। तभी पं० फूलचन्द्रजी कर्मकाण्ड गोम्मटसारके अध्येता प्रसिद्ध थे। उसके पश्चात् तो जब षट्खण्डागमके प्रकाशनका भार स्व० डॉ० हीरालालजीने लिया तो पं० फूलचन्द्रजी और स्व० पं० हीरालालजीने मुख्य रूपसे उसके अनुवादका कार्य किया। उसके पश्चात् जब भा० दि० जैन संघ मथुराने बनारसमें जयधवला कार्यालय स्थापित करके कसायपाहुडके प्रकाशनका भार लिया तब पं० फूलचन्द्रजी ही उसके मुख्य सम्पादक नियुक्त किये गये और वे बनारस रहने लगे। हम लोग तो उनके सहायक मात्र थे। कसायपाहुडके भी अनुवादका मुख्य श्रेय उन्हींको है। उन्होंने भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित तीसरे सिद्धान्त ग्रन्थ महाबन्धका भी अनुवाद किया है। इस तरह तीनों सिद्धान्त ग्रन्थोंके मुख्यरूपसे अनुवादक वे ही हैं। उनके समान अन्य कोई विद्वान् सिद्धान्त ग्रन्थोंका अधिकारी विद्वान् नहीं है। अतः वे अभिनन्दनीय हैं। हम तो उन्हींके अनुवादोंको पढ़कर सिद्धान्त ग्रन्थोंके ज्ञाता बने हैं।

अध्यात्म विद्याके प्रमुख वेत्ता

● पंडित नाथूलाल शास्त्री, इन्दौर

देशके लब्धप्रतिष्ठ प्रकाण्ड विद्वान् सिद्धांताचार्य पं० फूलचन्द्रजी सिद्धांतशास्त्रीकी देश, समाज एवं साहित्यकी महान् सेवाओंके प्रति कृतज्ञता प्रकाशनार्थ उनका जितना भी अभिनन्दन किया जाये, थोड़ा है। पंडितजी अत्यंत सरल, उदार, निरभिमानी और सतत जागरूक मनीषी हैं। उन्होंने जैनधर्मके महान् ग्रन्थ धवला, जयधवला और महाधवला टीकाओंके हिन्दी अनुवाद एवं सम्पादनका अपूर्व कार्य कर जैन इतिहासमें अपनी उज्ज्वल कीर्ति अर्जित की है। जैन सिद्धांतके आप मर्मज्ञ एवं वर्तमान जैन समाजमें अग्रणी हैं। अपनी वयोवृद्ध एवं अस्वस्थ अवस्थामें भी उनका ग्रन्थ सम्पादन कार्य निरन्तर चल रहा है। एक वर्ष पूर्व पंडितजी वाराणसीसे दि० जैन उदासीन आश्रम, इन्दौरमें आ गये हैं। उनके दैनिक प्रवचनोंका लाभ भी मुमुक्षु जनताको प्राप्त हो रहा है। पंडितजीने देशके स्वतंत्रता आन्दोलनमें भाग लेकर आज तक खादीके मोटे वस्त्र पहिनना चालू रखा है। सादा जीवन, उच्च विचारके वे आदर्श हैं। पंडितजी जैनधर्मके कर्म सिद्धांतके अधिकारी विद्वान् माने जाते हैं। उन्होंने जैन अध्यात्म विद्याके गूढ रहस्यको अपनी लेखनी द्वारा सुबोध शैलीमें जैन तत्त्व मीमांसा आदि ग्रन्थोंमें विशद रूपेण प्रकट किया है।

इस अभिनन्दनके प्रसंग पर मैं आदरणीय पंडितजीकी दीर्घायु कामना करते हुए आशा करता हूँ उनके अनुभवका लाभ समाजको प्राप्त होता रहेगा।

आगम साहित्यके निष्काम सेवक

● पं० कमलकुमार जैन, व्याकरणतीर्थ, कलकत्ता

शिरसा सदानमनीय परमादरणीय विद्वद्वर्य सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री समाजके लब्धप्रतिष्ठ विद्वानोंमें सर्वोपरि विद्वान् हैं और हैं आगमसाहित्यके निष्काम सेवक। सन् १९२७ में जब वे श्री स्याद्वादमहाविद्यालय काशीमें प्रधानाध्यापक पदको सुशोभित कर रहे थे। तब पूज्य प्रातः स्मरणीय गुरुवर्य्य-वर्णीजी श्री गणेशप्रसादजी महाराज जो मुझे काशीमें श्री स्याद्वाद महाविद्यालयमें ले गये थे। उनके माध्यमसे ही मेरा सर्वप्रथम परिचय सिद्धान्ताचार्यजीसे हुआ था। ये अत्यन्त सरल परिणामी, निरभिमानी परन्तु स्वाभिमानकी साक्षात् मूर्ति हैं। आभीक्ष्ण्य ज्ञानोपयोगी महान् विद्वान् हैं।

आपका जीवन आध्यात्मिकतासे ओतप्रोत है। अन्तमें हम आपके शतायु होनेकी हार्दिक मंगल कामना करते हैं।

जैन समाज उपकृत है

● श्री अक्षयकुमार जैन, दिल्ली

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्रजी शास्त्रीकी साहित्यिक एवं सामाजिक सेवाओंके उपलक्षमें अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है। पण्डितजीसे समस्त समाज भली-भाँति परिचित है। उसके साहित्य, दर्शन एवं धार्मिक कृतियोंसे समस्त जैन समाज उपकृत है।

इस महान् कार्यके लिए मेरी शुभकामनाएँ स्वीकार कीजिए।

मेरे प्रेरक

● पं० बालचन्द्र शास्त्री, हैदराबाद

आ० पंडित जीसे लम्बे समयसे मेरा निकटतम सम्बन्ध रहा है। वे सुयोग्य विद्वान्, लेखक, वक्ता, स्वतन्त्र विचारक और ग्रन्थ सम्पादक हैं। सिद्धान्त ग्रन्थोंके सम्पादनमें उनका महत्त्वपूर्ण योगदान है। समाज सेवाका भी काफी कार्य किया है। सन् १९२७-२८ में मैं श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसीमें विद्याध्ययन कर रहा था, तब आप यहाँ धर्माध्यापक थे। आप आरम्भसे ही स्वतंत्र वृत्तिके स्वाभिमानी विद्वान् रहे हैं। एक घटना वश आपने विद्यालयसे त्यागपत्र दे दिया और 'प्रमेयरत्नमाला' के सटिप्पण सम्पादनमें लग गये।

अक्टूबर १९४० की बात है। पंडितजी अमरावतीमें डॉ० हीरालालजीके साथ षट्खण्डागमका सम्पादन कार्य कर रहे थे। पं० हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्री भी इसमें सहयोग कर रहे थे। मुझे भी यहाँ बुलाया गया। तिलोयपण्णत्तिके सम्पादन कार्यमें सहयोग हेतु डॉ० हीरालालजीने मुझसे कहा। मैं संकोच कर रहा था क्योंकि मैं प्राकृतसे परिचित नहीं था, क्योंकि जैन विद्यालयोंमें संस्कृत छायाके आधारपर प्राकृतके जैन ग्रन्थोंके पढ़ने-पढ़ानेकी पद्धति रही है। फिर भी पंडितजीने मुझे साहस और मार्गदर्शन दिया।

सिद्धान्त ग्रन्थोंके सम्पादन कालकी अनेक बातें हैं, जिन्हें लिखनेके लिए काफी स्थान चाहिए। मेरी हार्दिक कामना है कि वे दीर्घायुष्य होकर सार्वजनिक कार्योंको करते रहें।

अपूर्व श्रुताराधक

● डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर

सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री आगमके विशिष्ट ज्ञाता हैं। उन्होंने तत्तत्प्रकरणोंके विशेषार्थ लिखकर विषयको स्पष्ट किया है। सच पूछा जाय तो आगम ग्रन्थोंका उद्धार आपकी प्रतिभाका ही सुफल है।

तत्त्वका निर्णय कर उसे आप निर्भीकतासे प्रकट करते हैं। एक बार मैं आपके साथ बाहुबली (कुंभोज) गया था। पूज्य आचार्य समन्तभद्रजी महाराजको आपने ग्रन्थ भेंट किया। प्रत्युत्तरमें आचार्य महाराजने शिरपर पीछी रखते हुए आशीर्वाद दिया कि आपको श्रुतकेवली बनना है। इन आगम ग्रन्थोंका उद्धार आपकी ही मनीषाके बलपर हुआ है और आगे भी होगा।

इस अभिनन्दनके प्रसङ्गपर मैं पण्डितजीकी श्रुतसेवाका मनसा, वाचा, कर्मणा अभिनन्दन करता हूँ।

कर्मठ स्वाभिमानी विद्वान्

● डॉ० भागचंद्र जैन भास्कर, जयपुर

श्रद्धेय पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीका समग्र जीवन पुरुषार्थ, आत्मविश्वास, सजगता, एकाग्रता, गंभीरता, व्यवहारकुशलता और मानवीय गुणोंके साथ बहुमुखी विकासका प्रतीक रहा है। उनकी संवेदनशीलता और निर्भीकताने एक कर्मठ स्वाभिमानी विद्वान्, पंडितके रूपमें प्रतिष्ठा अर्जित की है। आपका सीधा-सादा हँसमुख सादगीभरा जीवन आपकी कर्मशीलता, शालीन जीवटता और लक्ष्यनिष्ठताको अभिव्यक्त करता है।

श्री पंडित जी कर्मसिद्धान्तके उच्चकोटिके सम्मान्य विद्वान् हैं। अदम्य उत्साह, सहिष्णुता, अनुभव, ज्ञान, मनोबल और व्यापक दृष्टिके सायेमें विहित आपके शैक्षणिक और सामाजिक उदात्त कार्य एक विशेष सामयिक उत्तरदायित्व भावनाओंसे ओतप्रोत रहे हैं। सुशील, सहृदय और कर्मठ समाजसेवकके रूपमें आपने युगबोधको नये आयामोंमें भरा है। आपकी सिद्धान्तनिष्ठा और सुसंगत रचनात्मक दृष्टिकोण श्लाघनीय है।

मैं अपनी शुभकामना व्यक्त करता हूँ कि आप दीर्घकाल तक जैन साहित्यकी सेवा करते रहें।

अध्यात्म-कृतित्वके स्वयंभू

● पं० कमलकुमार जैन शास्त्री, 'कुमुद'—फूलचन्द्र 'पुष्पेन्दु' शास्त्री, खुरई

पूज्य-पण्डितजी का सम्पूर्ण जीवन असत्को ललकारता हुआ सामाजिक, धार्मिक और राष्ट्रीय क्षेत्रमें निरन्तर सत्-क्रान्तिके बीज बोता रहा है। पूज्य वर्णीजी तथा सत्पुरुष कानजी स्वामीको निश्चय-व्यवहारके धर्म काँटे पर संतुलित करके आपने उनके स्वर्ण समन्वयत्वको वचनात्मक और रचनात्मक रूपमें अंगीकार किया। चुनौतियोंसे भरे हुए आपके प्रामाणिक व्यक्तित्वने यथार्थतत्त्व निर्णय करके समीचीनताका जो पथ-प्रशस्त किया उस पर चलनेसे तथाकथित संतों और दार्शनिकोंके ऊहापोहात्मक विकल्प स्वयमेव शान्त हो जाते हैं। इस अवसर पर हम आपके दीर्घायुष्यकी मंगल कामना करते हैं।

भूली बिसरी यादें

● पं० भैयालाल शास्त्री, बीना

मेरे पिता श्री दरयावलालजी और पूज्य माता जानकी बाईके चार पुत्र और एक पुत्री इस तरह कुल पाँच सन्तान हुई। इनमें मनमोले (मोहनलाल) धरमोले (धर्मदास) फुल्ले (पं० फूलचन्द शास्त्री) और भैयालाल, हम लोग ये चार भाई है। हम चारों भाई झाँसी जिलेके अन्तर्गत सिलावन गाँवमें छोटी-मोटी दुकानदारी, बन्जी, साहूकारी एवं खेती कार्य करते थे। हमारे गाँवमें स्कूल न होनेसे गाँवके लड़कोंके साथ रोटी बाँधकर तीन मील दूर खजुरिया गाव पैदल जाते थे। मेरे भाई पं० फूलचन्दजीकी बचपनमें धर्मके प्रति विशेष रुचि थी। अतः वे मेरी बहिनके गाँव मँवई चले गये जहाँ उनको तत्त्वार्थसूत्रको पढ़नेमें निपुणता प्राप्त हुई। इससे हम सभीको बहुत खुशी हुई क्योंकि उस समय तत्त्वार्थसूत्र मात्र पढ़ लेने वालेको भी अच्छा पण्डित माना जाता था।

भाई साहब घरके काम करते, पर विशेष रुचि न होनेसे उदासीन जैसे ही रहते थे। पढ़ने और धर्म काममे ही इनका ज्यादा मन रहता था। साढूमलसे श्री धर्मदास, धर्मचन्द, मनोहरलाल, प० हीरालालजी तथा मेरे गुरु पं० शीलचन्द जी के साथ वे इन्दौर पढ़नेके लिए गये और वहाँ पं० घनश्यामदासजीसे पढ़ने लगे किन्तु अस्वस्थ होनेके कारण घर वापस आ गये और घरके काममे लग गये। बन्जीसे थोड़ा बहुत जो मिल जाता था उससे बड़ी कठिनाई पूर्वक जिस किसी तरह परिवारका गुजारा चलाते थे। बड़े कष्ट और गरीबीके वे दिन।

भाई साहबको ज्ञानी बननेकी ही विशेष अभिरुचि थी। सौभाग्यसे साढूमलमें दानवीर श्री लक्ष्मीचन्द जीने श्री महावीर दिगम्बर जैन पाठशालाका शुभारम्भ कराया और इन्दौरसे पं० घनश्यामदासजीको अध्यापन कार्य हेतु बुला लिया। बहुत ही सरल और सहृदयतासे वे सभीको पढ़ाते थे। करीब ५ वर्ष बाद साढूमलसे अध्ययन करके मेरे भाई साहब एवं प० किशोरीलालजीको आगेका अध्ययन पूरा करनेके उद्देश्यसे मुरैनाके जैन सिद्धान्त विद्यालय भेज दिया गया। मुरैनामें उद्‌भट विद्वानोंसे जैन धर्मशास्त्रोंका अध्ययन कर विद्वत्ता प्राप्त की।

अध्ययनके बाद भाई सा० ने बनारस, बीना, जयपुर, नातेपुते आदिके जैन विद्यालयोंमे अध्यापन कार्य किया, उसके बाद जिनवाणीकी सेवाके लिए जैन ग्रन्थोके सम्पादन और अनुवाद आदि साहित्यिक गतिविधियों-को जीवनका मुख्य उद्देश्य बनाया।

भाई सा० का कुटुम्बके प्रति हमेशा उदारभाव रहा है। हम सभी लोगोंको बीना लाने और व्यापारमें लगानेका श्रेय भाई सा० को है। हम सब उनके आभारी हैं। आज सम्पूर्ण जैन समाज उनका अभिनन्दन कर रही है यह सुनकर और जानकर हम सभीको परम प्रसन्नता और गौरव है कि हमारे घर ऐसा 'रत्न' पैदा हुआ, जो जिनवाणीकी अनेक प्रकारसे सेवा करके जीवनको सार्थक बना रहे हैं। हम सभीकी हार्दिक शुभकामना है कि वे शतायु हों।

सादगी और सरलताकी जीवन्तमूर्ति

● श्री बालचन्द्र जैन, एम० ए०, जबलपुर

पं० फूलचन्द्रजीकी विशिष्टता, उनकी विद्वत्ता और गंभीर अध्ययनमें ही नहीं अपितु उनकी सादगी और सरलतामें निहित है। विद्वान् तो बहुतसे हो जाते हैं किन्तु विद्या ददाति विनयंका जो सही उदाहरण मैंने आदरणीय पंडितजीमें पाया वह अन्यत्र दुर्लभ रहा। माननीय पंडितजी विद्यार्थियोंको भी अपना साथी और छोटा भाई मानते रहे, ऐसा मेरा अनुभव है। जब कभी भी हम लोग किसी विशिष्ट अथवा उलझे हुए प्रसंग पर पंडितजीकी सलाह लेने पहुँचते थे तो वे सुलझे हुए विचारोंसे हम लोगोंको गौरवान्वित करते थे। विचारोंकी सरलता और सौम्यता भुलायी नहीं जा सकती। पंडितजीकी सादगीने हममेसे बहुतोंके जीवन पर भारी प्रभाव छोड़ा है जो हमारे लिये आगे हितकारी सिद्ध हुआ।

सिद्धान्त ग्रन्थोंके मर्मज्ञ होनेके साथ पंडित श्री फूलचन्द्रजी शास्त्री आधुनिक विचारोंका भी सम्मान करते हैं। वस्तुतत्त्वका वैज्ञानिक विचार उनकी विशेषता रही है।

मैं आदरणीय पंडितजीके दीर्घकालीन जीवनकी प्रार्थना करता हूँ।

मेरे प्रणाम

● श्री बाबूलाल जैन गोयलीय, अहमदाबाद

श्रद्धेय पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री समाजके जानेमाने प्रतिष्ठित विद्वान् है जिन्होने अपना सारा जीवन जैन वाङ्मयके उद्धारमें समर्पित किया है। सरस्वती आप पर प्रसन्न है। पूर्वजन्म या वर्तमानमे प्रबल वीतराग देव-गुरुभक्तिके बिना यह सम्भव नही। वे सभी महात्मा धन्य है जिन्हें यह सुयोग मिला और जिसके परम अवलम्बनसे स्वपरकल्याणार्थ मार्गमे प्रवृत्त हुए।

महान् ग्रन्थोंके सम्पादन-संशोधन, स्वतंत्र लेखन आदि पुष्कल साहित्य निर्माण द्वारा यथार्थ रूपमें आपने श्रुतभण्डारोंको समृद्ध किया है, जिसके स्वाध्यायसे आत्मार्थी जनोंको आचार्य भगवन्तोके प्ररूपित मार्गका और आपके स्वतंत्र चिन्तनका लाभ मिला है, मिलता रहेगा।

परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगाससे प्रकाशित 'लब्धिसार' ग्रन्थके सम्पादनमे मेरी प्रार्थना पर आपने जो सहयोग दिया—आत्मभाव पिरोया उसके लिए तो आपका बहुत बड़ा अविस्मरणीय उपकार है। अत्यन्त हर्षकी बात है कि अनेक बाधाओंके बीच भी यह कार्य सम्पन्न हो गया।

सारे समाजके श्रद्धापात्र, अपनी कोटिके अनन्य विद्वान्, श्रुतभक्तिरत महात्मा श्रीमान् पूज्य पण्डितजीके प्रति मै अपनी मंगल भावना जोड़ता हूँ। उनका जीवन अधिक समय तक विद्वज्जनोंके लिए भी प्रेरणाका स्रोत बनता रहे। उनको मेरा सादर प्रणाम।

एक नमन मेरा भी

● श्री नरेन्द्र प्रकाश जैन, फिरोजाबाद

आधी सदीसे भी अधिक समय तक माँ जिनवाणीकी अकथनीय सेवा करनेवाले श्रद्धेय पण्डितजीके अभिनन्दनसे सम्पूर्ण समाज गौरवान्वित होगा। उनकी विद्वत्ता अप्रतिम है। वह वाणी और लेखनी दोनोंके धनी हैं और निधड़क होकर अपनी बात कहते रहे हैं। पैसा, पद और प्रभुत्व उनपर कभी हावी नहीं हो पाया। उन्होंने जीवन भर शब्दोंकी उपासना की है, इसीलिए आज शब्द उनकी आरती उतार रहे हैं। ऐसे मनीषीके चरणोंमें एक प्रणाम मेरा भी सविनय अर्पित है।

सहृदय पंडितजी

● पं० कुंजीलाल जैन, फिरोजाबाद

श्रीमान् सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीको अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है—जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई। वे इसके सर्वथा योग्य है। नहीं तो आजके अर्थ और तिकडम प्रधान युगमें योग्यता-मात्र अभिनंदन किये जानेकी कसौटी नहीं रह गई है।

सिद्धान्त ग्रन्थोंके वे अनुपम विद्वान् हैं इस रूपमें तो उनकी ख्याति है ही परन्तु वे इतने सहृदय भी हैं इसका अनुभव कर मुझे सुखद आश्चर्य हुआ। पं० पूज्य आचार्य श्री समन्तभद्रजी महाराजकी चरणरज लेने तथा क्षेत्रकी वन्दना करने जब मैं कुंभोज (बाहुबली) पहुँचा था उस समय पंडितजी वहाँ अपनी 'तत्वमीमांसा' की विशद व्याख्या करते हुए ठहरे थे। मैं वहाँ एक दिनके लिये गया था परन्तु विरोधीकी बातको धैर्यपूर्वक सुनना एवं उसे यदि वह उचित हो तो स्वीकार भी कर लेना, आजके युगमे उन जैसे उद्भट विद्वान्के लिये 'अहं' का प्रश्न बने बिना नही रहता। चर्चामे रस आनेसे मैं वहाँ ३ दिन ठहर गया। विचारोंमे अन्तर होते हुए भी कटुताका लेश भी नहो आने पाया। इतनी वृद्ध अवस्थामे भी पंडितजीने मेरी सुविधाओंकी बड़ी चिन्ता रक्खी।

पंडितजी शतायु एवं नीरोग रहकर आर्ष सिद्धान्तोंका बिना किसी झिझकके जिस प्रकार कल्पित तीर्थंकर सूर्यकीर्तिकी प्रतिभाका विरोध किया है—प्रचार करते रहें ऐसी श्री जिनेन्द्र चरणोंमे प्रार्थना है।

मेरे श्रद्धा सुमन

● पं० प्रकाश हितैषी, दिल्ली

आजसे ५८ या ६० वर्ष पूर्व जब मै बीना इटावा (सागर) की नाभिनन्दन दि० जैन पाठशालामे पढता था। उस समय पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री वहाँके प्रधानाध्यापक थे। तबसे मैं पंडितजीको निकटसे जानता हूँ। उस समय आप जैन समाजमे समाजसुधारक एवं रूढ़ियोंके विरोधमे आवाज उठानेवाले प्रमुख विद्वान् माने जाते थे। जो कि इसका श्रेय अन्य लोगोंको मिला तथा राष्ट्रीय क्षेत्रमे वहाँके प्रमुख कार्यकर्ताओंमे गण्य थे।

छात्रोंसे अपनी सन्तानकी तरह प्यार करते थे। सभी त्यौहारोंपर घर जैसा मिष्ठान्न-भोजन छात्रोंको कराना, उनकी हर तरहकी चिन्ता करना, उनकी सुविधाका ध्यान आपकी अपनी विशेषता थी। जितने आप व्यवस्था प्रिय थे, उतने ही पढ़ाईमे बड़े सख्त थे। पढ़ाईमे कमजोरी दिखानेके कारण मुझे भी १-२ मुर्गा बनना पड़ा था। उस समयके छात्र भी अपने गुरुका हार्दिक सत्कार करते थे।

उनके अगाध पाण्डित्यका परिचय तो धवल, जयधवल आदि करणानुयोगके महान् जटिल ग्रन्थोंके सम्पादनमे एवं खानिया चर्चाके समय प्राप्त हुआ है। अपने जितने बड़े विद्वान् हैं, उतने ही सरल हैं। असहाय लोगोंको हर प्रकारका सहयोग देनेके आपकी स्वभावमे जन्मजात संस्कार है।

सिद्धान्तके रक्षणके लिए आपको कई संस्थाओसे सम्बन्ध तोड़ देना पड़ा है। सोनागढ़मे भी जब व्यक्ति पूजाका महत्त्व बढ़ा तो आपने स्पष्ट कह दिया कि मैं सब प्रकारसे आपके इस गुरुडमवादसे सम्बन्ध विच्छेद करता हूँ। आपने लौकिक तुच्छ स्वार्थके लिए सिद्धान्तकी बलि कभी नही चढ़ने दी।

मेरी मंगलकामना है कि आदरणीय शास्त्रीजी इसी प्रकार धर्म और समाजकी सेवा करते रहें।

विविध विशेषताओंके धनी

● पं० अमृतलाल जैन, शास्त्री, लाडनू

व्याप्त: सर्वत्र भूमौ शशधरधवल: शम्भुहासापहासो
कीर्तिस्तोमो यदीयो जनयति नितरां क्षीरपाथोधिशङ्काम् ।
यस्मिन् सम्मग्नकाया अमरपतिगजो दिग्गजाश्चन्द्रतारा
जाताः सर्वाङ्गशुभ्राः स जयति सततं फूलचन्द्रो बुधेन्द्रः ॥

—अमृतलालः

श्रद्धेय पण्डित फूलचन्द्र जी सिद्धान्ताचार्य, वाराणसीके द्वारा सम्पादित, अनूदित तथा स्वतन्त्र रूपसे लिखित शताधिक ग्रन्थों, उनके विशेषार्थों और विस्तृत प्रस्तावनाओंके अध्ययनसे यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि उनका समस्त विषयोंपर समान अधिकार है। किन्तु उनके जीवनका बहुभाग आगम-साहित्यके सम्पादन एवं हिन्दी रूपान्तरणमें बीता है। जिस आगमिक कार्यको अनेक विद्वान् मिलकर भी पूरा नहीं कर सकते थे, उसे अकेले आपने सम्पन्न किया है। फलतः विद्वत्संसारमें आप आगमज्ञके रूपमें प्रसिद्ध है और इसी रूपमें आपने अमर कीर्ति प्राप्त की है। इस श्रुत-साधनाकी लम्बी अवधिमें मैं सन् १९४४ से १९७९ तक आपके निकट सम्पर्कमें रहा हूँ।

जहाँ तक मुझे स्मरण है, सन् १९४४ में कटनीमें विद्वत्परिषद्का प्रथम अधिवेशन हुआ था। उसमें शताधिक जैन विद्वान् उपस्थित हुए थे, जिनमें न्यायालङ्कार पण्डित वंशीधरजी इन्दौर और प्रसिद्ध कहानीकार जैनेन्द्र कुमारजी दिल्ली प्रमुख थे। अधिवेशनके प्रारम्भमें ही इन दोनो प्रमुख विद्वानोंने विद्वत्परिषद्की स्थापनाको लेकर आक्षेपोंकी झड़ी लगाकर वि० प० की निरर्थकता बतलाई। इसे सुनकर सभी विद्वान् मौन रहे, सिद्धान्ताचार्यजी अकेले पड़ गये, पर निर्भीक रहे। आप बोलनेके लिए खड़े हुए तो प्रस्तुत दोनो विद्वान् परिहास करने लगे, पर आपने एक घण्टेके भाषणमें सभी आक्षेपोंका खण्डन किया। फलतः दोनों विद्वानोंको निरुत्तर होना पड़ा।

बहुत पुरानी बात है। पण्डितजीका परिवार बीना गया हुआ था। पण्डितजी अकेले ही वाराणसीमें थे। मैंने पण्डितजीसे भोजनके लिए निवेदन किया। आप प्रतिदिन जिस समय मेरे घर आकर भोजन प्रारम्भ करते, संयोगवश एक वृद्धा आ जाती। पण्डितजी तत्काल अपनी थाली उसे दे देते। तुरन्त दूसरी थाली पंडितजीको दी जाती, पर वे उसे कभी स्वीकार नही करते, भूखे ही उठ जाते—प्रतिदिन ऊनोदर तप तपते। इस अवसर पर आप कहते—अधिक भोजन करना पाप है—'योऽधिकं भुङ्क्ते स पापं भुङ्क्ते'। थोड़ा-बहुत सामान देकर मैंने वृद्धासे कहा—आप पण्डितजीके भोजनके समय न आया करें। पर वह कब माननेवाली थी। कहती थी—कि इतने ज्ञानीका जूठा खानेसे इस जन्ममें नही, तो अगले जन्ममें उसे भी विशिष्ट ज्ञान प्राप्त होगा। पण्डितजी सरीखी करुणा शायद ही कहीं देखनेको मिले।

इस प्रकार समयज्ञता, तल्लीनता, श्रुत-सेवा, उदारता, निर्भीकवक्तृता, और अप्रतिम समाधातृता—आदि विविध विशेषताओंको देखकर मैं पूज्य पण्डितजीके प्रति श्रद्धावनत हूँ और उन्हें हार्दिक श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

जैनागम उपासक

● श्री बाबूभाई चुन्नीलाल मेहता, जयपुर

सत्यतः, विद्वद्वर्य पं० श्री फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीकी धर्म क्षेत्रमें साहित्यिक सेवा अपूर्व है। उनका बहुत बड़ा योगदान है। पंडितजीने खानिया तत्त्वचर्चाके समय अकेले, समाजको गौण करके मात्र आगम और धर्मकी सुरक्षाकी खातिर चर्चा करके जैनधर्मके धर्मस्तंभको गाढ़ा किया पक्का लिया। दृढ करके सुरक्षित रखा। खानिया चर्चामें पंडितजीका साहस धैर्य, क्षयोपशम, तर्क, सूक्ष्म सूझ-बूझ, पैनी दृष्टि, दूरदर्शिता और आगमकी उपासना देव, गुरु, धर्मका अत्यन्त भक्तिका परिचय देकर जैन जगतमें स्वर्णाक्षरोमें नाम अंकित रहेगा। पंडितजी हमारे समाजके गौरव हैं। धवलादि शास्त्रोंके सिद्धान्त शास्त्रोंके अच्छे ज्ञाता और अध्यात्म प्रवक्ता भी रहे हैं। देव भक्ति विभक्ति और समाज उत्कर्षका कार्यमें भी आपका बड़ा-बड़ा योगदान रहा है। सिद्धान्त ग्रन्थोंका सम्पादन और अनुवाद करके धर्म प्रेमी समाजपर बहुत अनुग्रह किया है। और अस्वस्थ होते हुए भी आज दिन तक भी स्वत: साहित्य लेखके मंगल कार्यमें अविरत लगे हुए हैं। उनका सम्मान जितना किया जाय उतना कम है। पंडितजीकी मंगलमय ध्रुवकारण परमात्माका आश्रय करके शास्त्र निवेदन और भक्तिका फल भिन्न वस्तुभूत ज्ञानमय परमात्माका श्रद्धान, ज्ञान और अनुभवन होकर अतिन्द्रिय आत्मिक लाभको प्राप्त हों। यही मंगल कामना करता हूँ।

संचारिणी ज्ञानशिखा

● डॉ० हरीन्द्रभूषण जैन, उज्जैन

पूज्य पंडितजी के बहुमुखी व्यक्तित्वसे सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण बातें हैं जिन्हें समग्ररूपसे लिख पाना अशक्य है।

२-११-४४ को कलकत्तामें वीर शासन महोत्सवके अवसरपर दि० जैन विद्वत्परिषद्की स्थापना हुई थी। आदरणीय पं० फूलचन्द्रजीके मंगलाचरणसे कार्य प्रारम्भ हुआ। तत्कालीन प्रबन्धकारिणीके पदाधिकारियोंमें आप संयुक्त मंत्री थे। १९५५ के द्रोणगिरि अधिवेशनकी अध्यक्षता पं० फूलचन्द्रजीने की थी। इस सम्मेलनकी महत्त्वपूर्ण विशेषता थी—एक बृहद् जैन शिक्षा सम्मेलनकी आयोजना, जो सागरमें माननीय पं० वंशीधरजी न्यायालंकार, इन्दौरकी अध्यक्षतामें सम्पन्न हुआ जिसमें जैन धर्मके नवीन पाठ्यक्रमका निर्माण किया गया था।

आदरणीय पं० फूलचन्द्रजी मूर्तिमान्, चलते-फिरते जैन सिद्धान्त हैं। उन्होंने अपने जीवनका बहुभाग, दि० जैन मूलागम-षट्खण्डागमकी धवला, जयधवला, महाधवला टीकाओंके अध्ययन, मनन, विवेचन, शोध एवं हिन्दी अनुवाद कार्यमें व्यतीत किया है। आज भी वे, अप्राप्य उन्ही ग्रन्थोंकी द्वितीयावृत्ति हेतु इनके संशोधन कार्यमें व्यस्त हैं।

मुझ जैसे अनेक नई पीढ़ी एवं नई पद्धतिके जैनविद्वानोंके लिए वे कल्पवृक्ष साबित हुए हैं। ऐसे विद्वानों-को सदा अध्ययन, शोध एवं साहित्य निर्माणकी प्रेरणा देना और उनके मार्गमें आनेवाली बाधाओंको दूर करना पंडित जीका स्वभाव रहा है।

पंडित जीकी अपनी एक महत्वपूर्ण विशेषता है, और वह है बुन्देलखण्डके प्रति अतिशय अनुराग। इस अनुरागसे प्रेरित होकर उन्होंने वाराणसीमें अध्ययनार्थ आनेवाले बुन्देलखण्ड प्रान्तके छात्रोंकी सहायताके लिए क्या कुछ नहीं किया, इस बातको सभी विद्वान् एवं छात्र अच्छी तरह जानते हैं।

हम ऐसी संचारिणी ज्ञानशिखाके प्रति अपनी श्रद्धा-भक्ति समर्पित करते हुए भगवान् जिनेन्द्रदेवसे प्रार्थना करते हैं कि पंडित जी चिरायु होकर जैन साहित्य, समाज एवं राष्ट्रकी सेवा करते रहें।

सरस्वतीके वरद पुत्र

● डॉ० हुकमचंद भारिल्ल, जयपुर

धवलादि महाग्रन्थोंके यशस्वी संपादक, करणानुयोगके प्रकाण्ड पण्डित, सिद्धान्ताचार्य पदवीसे विभूषित उन गिने-चुने विद्वानोंमेंसे हैं, जिन्होंने टूट जानेकी कीमतपर भी कभी झुकना नहीं जाना। संघर्षोंके बीच बीता उनका जीवन एक खुली पुस्तकके समान है, जिसके प्रत्येक पृष्ठपर उनके संघर्षशील अडिग व्यक्तित्वकी अमिट छाप है।

रणभेरी बजनेपर स्वाभिमानी राजपूतका शान्त बैठे रहना जिसप्रकार संभव नहीं रहता, उसीप्रकार अवसर आनेपर किसी भी चुनौतीको अस्वीकार करना—छात्रतेजके धनी पंडित फूलचंदजीको कभी संभव नहीं रहा। कठिनसे कठिन चुनौतीको सहज स्वीकार कर लेना, उनकी स्वभावगत विशेषता रही है। चुनौतियोंसे जूझनेकी अद्भुत क्षमता भी उनमें है।

'खानिया तत्त्वचर्चा'' उनकी इसी स्वभावगत विशेषताका सुपरिणाम है, जो अपने आपमें एक अद्भुत ऐतिहासिक वस्तु बन गई है। पूज्य गुरुदेव श्रीकानजी स्वामीकी आध्यात्मिक क्रान्तिके धवल इतिहासमें पंडितजी-की ''खानिया तत्त्वचर्चा'' एवं ''जैन तत्त्व-मीमांसा'' एक कीर्ति स्तंभके रूपमें सदा ही स्मरणकी जाती रहेंगी।

मोटी खादीकी धोती, कुर्ता और टोपीमें लिपटा साधारण-सा दिखनेवाला उनका असाधारण व्यक्तित्व प्रथम दर्शनमें भले ही साधारण लगे, पर निकट सम्पर्क होनेके साथ-साथ उनके व्यक्तित्वकी दृढ़ता और दृढ़ संकल्पका परिचय सहज ही होने लगता है।

सिद्धान्त शास्त्रोंके गहन अध्येताका अभिनन्दन वास्तवमें एक प्रकारसे सिद्धान्त शास्त्रोंका ही अभिनन्दन है। यद्यपि सरस्वतीके आराधकों, उपासकों, लाड़ले सपूतोंको इन लौकिक अभिनन्दनोंकी आकांक्षा नहीं होती, होनी भी नहीं चाहिए; तथापि सरस्वती माताकी प्रतिदिन वंदना करनेवाली जिनवाणी भक्त धर्मप्रेमी समाजको भी अपनी भावनाओंको व्यक्त करनेके अधिकारसे वंचित नहीं किया जा सकता है।

पंडितजी उस वरिष्ठतम पीढ़ीके प्रतिनिधियोंमेंसे एक हैं जो प्रायः निश्शेष हो चुकी है या निश्शेष होती जा रही है। सिद्धान्तज्ञानके रूपमें आज उनके पास जो भी अनुपम निधि उपलब्ध है; हमारा कर्तव्य है कि हम उसका अधिकतम लाभ लें। कोई ऐसा बृहत् उपक्रम किया जाना चाहिए, जिससे उनके ज्ञानको आगामी पीढ़ीके लिए सुरक्षित किया जा सके।

पंडित फूलचंद्रजी सिद्धान्ताचार्यका सिद्धान्तज्ञानमय जीवन अध्यात्ममय हो, आनन्दमय हो जावे—इस मंगल कामनाके साथ उन्हें प्रणाम करता हूँ।

आगमज्ञ लौहपुरुष : पण्डितजी

● श्री नेमिचन्द पाटनी, आगरा

सितम्बर, सन् १९६३ में ब्र० श्री लाड़मलजी तथा ब्र० सेठ हीरालालजी पाटनी द्वारा खानिया (जयपुर) में आचार्य महाराज श्री शिवसागरजीकी उपस्थितिमें एक तत्त्वचर्चाका आह्वान किया गया था, जिसका उद्देश्य पू० कानजी स्वामी द्वारा प्रतिपादित अपेक्षाओंको आगमके विपरीत ठहराना था। अतः उन्होंने दोनों पक्षके विद्वानोंको आमन्त्रित किया। उसका एक आमन्त्रण-पत्र मुझे भी प्राप्त हुआ था। निमन्त्रण प्राप्त होनेपर मैंने सोनगढ़से सम्पर्क किया, तो वहाँसे श्रीयुत् रामजी भाई द्वारा निर्णय मिला कि तत्त्वका निर्णय तो स्वकल्याणार्थ किया जाता है; क्योंकि आगमकी अनेक अपेक्षायें हैं, उनका हार-जीतकी मुख्यता लेकर निर्णय नहीं हो सकता। अतः अपनेको वाद विवादमें पड़ना श्रेयस्कर नहीं है। सोनगढ़ द्वारा यह निर्णय प्राप्त होनेपर मैं तो निश्चित हो गया था।

उस समय मेरा स्थायी निवास जयपुर ही था। अतः आयोजित चर्चा प्रारम्भ होनेके नियत दिवसपर प्रातःकाल ही मुझे यकायक स्व० पं० चैनसुखदासजीका टेलीफोन प्राप्त हुआ कि पं० फूलचन्दजी बनारससे चर्चामें भाग लेने आ गये हैं। आपको बुलाया है। मुझे आश्चर्य हुआ और पहुँचकर मैंने पण्डितजी साहबको सोनगढ़का निर्णय भी सुनाया, तो पण्डितजीने कहा—भाई, आगम हमारे साथ है, जो भी हमको ज्ञान है, उसको प्रस्तुत करनेमें क्या डर है ? उसपर भी यदि हमारी कोई भूल होगी, तो हमें स्वीकार करनेमें क्या सकोच है ? और हम तो अब वाराणसीसे आ गये हैं सो अब वापिस तो जावेंगे नहीं। आप हमारे साथ रहना चाहें तो ठीक, अन्यथा हम अकेले ही जावेंगे। उनके इस निर्णयके आगे मुझे भी नतमस्तक होना पडा। पण्डितजीने यह भी कहा कि चर्चामें जानेके पूर्व पं० श्री टोडरमलजी साहबकी साधनास्थली—जहाँ बैठकर टोडरमलजीने आगमका अध्ययन किया था, वहाँकी भूमिको नमन करके चर्चामें चलेंगे। फलतः हम दोनों तेरापंथी मन्दिर (जहाँ वे शास्त्र-प्रवचन करते थे) गये। दर्शनादि करके हम दोनों ही अपनी कार द्वारा नियत समयपर नियत-स्थान खानियाकी नशिया पर चर्चाके लिए पहुँच गये। हमारे वहाँ पहुँचते ही सब आश्चर्यमें पड गये, क्योंकि उनको यह अनुमान नहीं था।

फलतः उपस्थित विद्वान् जिनमें स्व० पं० श्री मक्खनलालजी शास्त्री मुरैना मुख्य थे, आचार्य महाराजके सामने एकत्रित हुए और चर्चा प्रारम्भ होनेके पूर्व तत्सम्बन्धी नियम-उपनियम बनाये गये। इस बीच ही आयोजनकर्ताओंने सारे भारतके चोटीके विद्वानोंको तार देकर एकत्रित किया। इस प्रकार खानिया चर्चा प्रारम्भ हो गयी।

नियम-उपनियम बनाते समय पंडितजी की दृढ़ता एवं गहरी सूझबूझका मुझे प्रत्यक्ष परिचय हुआ। अपर पक्षकी ओरसे सर्वप्रथम प्रस्तुत किया गया कि निर्णायक कौन होगा ? उनका उद्देश्य किसी प्रकार किसी को भी निर्णायक ठहराकर अन्तमें सोनगढकी मान्यताओंको आगम विरुद्ध घोषित करना था। अतः पण्डितजी-ने सर्वप्रथम यह निर्णय कराया कि चर्चा लिखित होगी और दोनों ही पक्षोंकी चर्चाको दोनों मिलकर प्रकाशित करवायेंगे, अतः निर्णायककी आवश्यकता नहीं रहती। निर्णायक तो पाठक ही रहेगा; इस चर्चाका निर्णायक कोई नहीं होगा। फिर भी एक अध्यक्ष नियुक्त कराने पर जोर दिया गया, ताकि वे विवादस्थ मुद्दा उपस्थित होने पर अपना निर्णय दे सके। लेकिन पण्डितजीने अपने बलिष्ठ तर्कों द्वारा स्वीकृत करा लिया कि इस चर्चा-में मात्र लिखित उत्तर-पत्रोंका आदान-प्रदान ही होना है। अतः अध्यक्षके स्थान पर मात्र मध्यस्थको ही रखा जावे और मध्यस्थके लिये नाम उपस्थित होनेपर भी मात्र प्रौढ विद्वान ही मध्यस्थ होना चाहिए। इस स्वीकृतिके द्वारा स्व० पं० श्री बंशीधरजी शास्त्री इन्दौर निवासीको मध्यस्थ नियुक्त किया गया।

इसके बाद दूसरा विवादग्रस्त मुद्दा उपस्थित किया गया कि चर्चामें मात्र संस्कृत प्राकृतमें ग्रन्थोंके प्रमाण ही उपस्थित किये जा सकेंगे। इसमें भी अपर पक्ष चतुराईसे अप्रमाणिक संस्कृत ग्रन्थोंको मान्य कराते हुए, मोक्षमार्ग प्रकाशक आदि प्रामाणिक हिन्दी साहित्यको अमान्य घोषित कराना चाहता था। उसका भी पण्डितजी ने बड़ी दृढ़ताके साथ निषेध करते हुए अपर पक्षके द्वारा ही यह स्वीकृत करा लिया कि वर्षोंके पहलेके सभी ग्रंथ चाहे वे हिन्दीके भी क्यों न हों प्रमाणिक माने जाव तथा प्रमाणरूपमें चर्चामें प्रस्तुत किये जा सकेंगे।

इस प्रकार चर्चाकी विधि तय हुई कि शंका उपस्थित करने वाला पक्ष जो भी शंका उपस्थित करेगा, उस शंका पर उत्तर-प्रत्युत्तरके रूपमें तीन दौर ही चलाये जा सकेंगे, उससे आगे उत्तर-प्रत्युत्तर नहीं चलेंगे तथा दोनों ही पक्ष लिखित रूपमें अपनी-अपनी शंका दूसरे पक्षके सामने प्रस्तुत कर सकेंगे।

इसके अतिरिक्त भी अनेक छोटे-मोटे मुद्दे तय करा लिये गये, ताकि चर्चा विवादका रूप नहीं ले सके। उसमें भी मुख्य मुद्दा था कि नियत समय पर दोनों पक्ष अपने-अपने लिखित पत्रोंको सबके समक्ष मात्र पढ़कर ही सुना सकेंगे। कोई भी उस सम्बन्धमें कोई स्पष्टीकरण अथवा टीका-टिप्पणी नहीं कर सकेगा। अर्थात् जो कोई भी उपस्थित रहे वे मात्र सुन सकेंगे कोई कुछ भी बोल नहीं सकेगा तथा उन लिखित पत्रों पर दोनों पक्षों द्वारा नियत किये गये प्रतिनिधि गण ही हस्ताक्षर करेंगे तथा उनमेंसे ही कोई चाहे तो उत्तर पत्रोंका पठन कर सकेगा, अन्य कोई भी विद्वान उस समय किसी प्रकारका हस्तक्षेप नहीं कर सकेगा।

इस प्रकार अनेक नियम-उपनियम बननेके पश्चात् चर्चा प्रारम्भ करनेके लिए श्री पं० मक्खन लालजीने शंका प्रस्तुत करनेका आग्रह किया। पण्डितजी साहबने तत्काल स्वीकृति दे दी। इस प्रकार चर्चा प्रारम्भ हो गई। तब पं० मक्खन लालजीने पण्डितजीसे शंका उपस्थित करनेके लिए कहा। पण्डितजीने छूटते ही उत्तर दिया हमको तो कोई शंका है नहीं, आपको ही हमारा कथन आगमानुकूल नही लगता है, अतः आपको ही शंका है। आप उपस्थित करें। बुद्धिके अनुसार जो भी सम्भव होगा, निवारण करनेका प्रयत्न करेंगे, आदि-आदि।

इस सारे प्रसंगमें कई बार ऐसी स्थितियाँ उपस्थित हुई कि चर्चा प्रारम्भ ही नही हो पावेगी। ऐसे समयमें देखा कि पण्डितजी लोह पुरुषकी तरह अपने पक्षपर डटे रहे और पण्डितजीके बलिष्ट तर्कों द्वारा अपर पक्षको आपकी बात स्वीकार करनेके लिए बाध्य होना पड़ा।

पण्डितजीकी लम्बी सूझ-बूझका तो मुझे तब परिचय हुआ, जब निर्णीत नियमों-उपनियमोंके कार्यान्वयनके समय उनकी उपयोगिताका मूल्यांकन हुआ। विस्तारसे उन सारी बातोंका ब्यौरा देना तो सम्भव नहीं है, लेकिन पण्डितजीका व्यक्तित्व सर्वाङ्गीण और अनोखा है, इसका प्रत्यक्ष अनुभव हुआ। श्री पण्डितजीके अदम्य साहसकी तो जितनी भी प्रशंसा की जावे, कम ही है। चर्चामें पण्डितजीके सहयोगी हस्ताक्षर करने वालोंमें तो पहले दिन मैं अकेला एक ही था। दूसरे शब्दोंमे कहा जावे तो अपर पक्षकी ओर तो सम्पूर्ण भारतवर्षके उच्चतम कोटिके अनेक विद्वान् थे। परन्तु पण्डितजीके साथ तो एक भी विद्वान् नही था। वे अकेले ही थे।

लिखित चर्चामें नियम रखा गया था कि प्रथम दिन जो प्रश्न उपस्थित किये जावे अर्थात् शंका प्रति-शंका उत्तर-प्रत्युत्तर आदि लिखित रूपमे प्रस्तुत कर सबको सुनानेका समय दोपहर १ बजे (खानिया जो कि जयपुरसे ४ किलोमी० दूर है वहाँ पहुँचकर आचार्य महाराजके सन्मुख बांचकर आदान-प्रदान करनेका) नियत था। उसकी एक प्रति अपर पक्षको एक प्रति मध्यस्थको तथा एक प्रति अपने स्वयंके पास रखनेका निश्चय किया गया था। इस प्रकार सुवाच्य अक्षरोंमें ३-३ प्रति देना होता था। अपर पक्षकी ओरसे जो भी शंकायें उपस्थित की गई थीं वे इतनी थी कि उनका दूसरे दिन एक बजे तक सुवाच्य अक्षरोंमे लिखकर ३-३ प्रति देना मुझे असम्भव ही लग रहा था। अतः मैंने पण्डितजी साहबसे कहा कि यह सब सायं ८ बजेसे कल एक बजे तक कैसे सम्भव होगा? आपको आगम-प्रमाण इकट्ठे करके उत्तर लिखने पड़ेंगे। अकेले व्यक्तिसे यह कैसे सम्भव होगा? लेकिन मुझे वे शब्द अभीतक याद हैं। पंडितजीने कहा कि "हिम्मत हारने वालोंसे काम मेरे साथ नही चलेगा। मैं अकेला ही सारा कार्य कर लूंगा, आप भी हट जावें।' पण्डितजीके ये शब्द सुनकर मुझमें अतीव उत्साह पैदा हुआ और हम सब उनकी सहायताको जुट गये। दूसरे दिन पण्डितजीके साथ सहयोग करनेके लिये भारत भरके चोटीके विद्वानोंमेंसे मात्र एक ही ऐसे विद्वान निकले जिन्होंने अतीव साहस व उत्साह पूर्वक पण्डितजी

साहबका सहयोग करनेको अपने आपको प्रस्तुत किया। वे हैं—श्रीमान् पण्डित जगन्मोहनलालजीशास्त्री, कटनी। इस प्रकार पण्डितजीके साथ हस्ताक्षर करने वालोंमें हम दो व्यक्ति एवं आपकी सहायताके लिये सोनगढ़से भेजे हुए २ विद्वान् ब्र० श्री चन्दुभाई तथा पं० चिमनभाई मोदी थे। तथा सुवाच्य अक्षरोंमें लिखनेका कार्य मेरे बहनोई स्व० लादूलालजी पहाड़ियाने किया था।

रहनेके लिये सबकी व्यवस्था मेरे ही निवास स्थानपर थी तथा खानिया जाने आनेकी व्यवस्था मेरी स्वयं की कार द्वारा होती थी। इस प्रकार हमने आपके अदम्य साहसको इस चर्चाके समय अत्यन्त नजदीकसे परखा है।

उनके परिश्रमकी क्षमता तो अद्भुत तथा उनका क्षयोपशम ज्ञान, आगमका अध्ययन, स्मरणशक्तिकी अगाधता तथा उसको उपस्थित करनेकी क्षमता आदि अनेक ऐसी विशेषताओंका चर्चाके समय परिचय हुआ जिनका वर्णन करनेसे तो यह लेख ही एक पुस्तक बन जायेगा।

मुझे यह कहनेमें तनिक भी संकोच नहीं है कि निःस्वार्थ भावसे, बिना किसी प्रकारकी किञ्चित् भी अपेक्षाके, बिना कोई आर्थिक प्रयोजनके; मात्र एक आगमके पक्षको लेकर इतना श्रम करनेवाला व्यक्ति मुझे तो अभी तक अन्य कोई देखनेको नहीं मिला। फिर, आगमका इतना सूक्ष्म अध्ययन करके उसे हृदयंगम करनेवाले ऐसे व्यक्तिसे मेरा अभीतक परिचय नहीं हुआ। पंडितजीकी स्मरण शक्ति इतनी प्रबल है कि वे शंकाओंके उत्तर लिखते समय यह बता देते थे कि अमुक शास्त्रकी अमुक गाथामें इसका स्पष्टीकरण मिलेगा और बहुधा वह वहाँ ही मिल जाता था।

पंडितजी साहबके प्रति मैं अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हुआ उनके दीर्घ एवं यशस्वी जीवनकी कामना करता हूँ।

प्रामाणिक व्यक्तित्व

● कृषिपण्डित श्रीमंत सेठ ऋषभकुमार, खुरई

श्रद्धासर्वस्व पं० फूलचन्द्रजी सिद्धांतशास्त्री हमारे पड़ोस बीनाकी ही गौरवमयी प्रतिभा हैं। इनके प्रामाणिक व्यक्तित्व, समालोचक वक्तृत्व और अनुभवपूर्ण परामर्शसे स्थानीय जैन समाजने सदैव ही जागरण-लाभ पाया है। इनकी सामाजिक क्रान्ति और गांधीवादी विचारधाराका अनुसरण हमने पग-पगपर किया है। अनुभवकी प्रयोगशालामें पके हुए इनके दार्शनिक निर्णय हमें शतप्रतिशत मान्य हैं। सुलझी हुई दृष्टि और सिद्धान्त ज्ञानके हम नितान्त पक्षधर हैं।

सामाजिक-संगठनोंकी एकताके लिये तो मानो आपका अवतार ही हुआ है। पारस्परिक-वैमनस्य-वैषम्य मिटानेके लिये प्रतिकूलताओंसे भी आपने लोहा लिया है। विविध संस्थाओंकी समस्याओंके सफल समाधान आपके ही आश्रित है।

लगभग १५ वर्ष पूर्व यहाँ स्थानीय दि० जैन समाजमें जो एक गहरी दरार पड़ गई थी उसको पाटनेमें जी-तोड़ परिश्रम करके आपने सफलता प्राप्त की थी।

व्याख्यानवाचस्पति स्व० पं० देवकीनंदनजीके बाद दो सर्वमान्य विद्वान् ऐसे हैं जिन्होंने विघटनके गर्तमें गिरती हुई समाजका सदैव उद्धार किया है। प्रबुद्ध युगल-पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री तथा पंडित जगन्मोहनलालजी शास्त्री इन दो अनुभव वृद्ध वृषभों द्वारा समाज संगठनका रथ इस उच्च समभूमि पर चल रहा है। उसपर धार्मिक चेतनाकी पताका फहर-फहर कर प्रतिक्षण हमें दिशा ज्ञान दे रही है।

कृतज्ञताके कोटि-कोटि स्वरों द्वारा हम आपका हार्दिक अभिनन्दन करते हुए दीर्घायुष्य की भावना भाते हैं।

पूज्य गुरुवर्य ! तुम्हें प्रणाम

● श्री जवाहरलाल-मोतीलाल, भीण्डर

मैंने अपनी २० वर्षकी आयुमें ही जैन सिद्धान्त ग्रन्थोंका अध्ययन कर लि ा था, किन्तु अनेक शंकायें थी जिन्हे मैं नोट करता जाता था। इनके समाधानके लिए मैंने अनेक जैन विद्वानोंसे सम्पर्क किया और बहुतोंका समाधान भी मिला, किन्तु जबसे मैंने धवलादि करणानुयोगके सर्वोपरि ज्ञाता पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्ताचार्यसे सम्पर्क कर जिस प्रामाणिकतासे समाधान पाया तबसे अपने मानसमें 'विद्यागुरु' के रूपमें आपको स्थापित किया। बीसो विस्तृत पत्र मेरे पास उनके हैं जिन्हे यदि प्रकाशित किया जाय तो सिद्धान्त ग्रन्थ विषयक शंकाओंके समाधानकी एक अच्छी पुस्तक बन सकती है। वृद्धावस्थामें भी वे मेरी शंकाओंका प्रामाणिक और स्नेहपूर्वक समाधान करते चले आ रहे है।

एक पत्रमें आपने लिखा कि—अब ८० वर्षकी मेरी उम्र हो गई हैं अतः अब स्थिति ऐसी है कि कभी कुछ पढ़ने-लिखनेमें उपयोग लगता है, कभी नहीं लगता। फिर भी शक्ति बटोरकर कुछ न कुछ करता रहता हूँ। आप सबका स्नेह मिला हुआ है; यही मेरा सम्बल है। आगमके निर्णयकी कसौटी यह है कि उत्तरकालकी रचनाकी प्रमाणता पूर्वकालीन रचनाके आधारपर होती है। पूर्वापरकी प्रमाणताके आधारपर विषयके निर्णय तक पहुँचा जाता है।

एक बार मैंने वाराणसी जाकर पन्द्रह दिनके करीब पूज्य पंडित जीका सानिध्य प्राप्त किया और साक्षात् शंकाओंके समाधानकी प्राप्तिका आनद लिया। जब मैं वाराणसीसे वापस भीण्डर आने लगा तो उन्होंने कहा—आप स्वाध्यायशील हैं। सदा इसीमें मन लगाये रहे। पर इतना ध्यान रखे कि चारों अनुयोगोंमें आदेय तो आत्मा ही है। अध्ययन चाहे किसी अनुयोगका हो पर निर्णय लेते समय आगमिक आधार अवश्य ढूंढ लें।

इस तरह लिखनेको अनेक बातें हैं। यह प्रसन्नता है कि आपका अभिनन्दन किया जा रहा है। मैं आपके पूर्ण स्वस्थ चिरञ्जीवनकी कामना करता हूँ।

जैन वाङ्मयके प्रामाणिक विद्वान्

● श्री इन्द्रजीत जैन एडवोकेट, कानपुर

पंडित फूलचन्द्रजी जैन वाङ्गमयके आधिकारिक एवं प्रामाणिक मनीषि एवं विद्वान् है। आपकी प्रखर लेखनी एवं कुशाग्र बुद्धिमत्ताने जैन सिद्धान्तके गूढ़तम रहस्योंको उजागर किया है।

मुझे आदरणीय पंडितजीके सम्पर्कमें आये हुए बहुत समय हो गया है। मैंने उनसे जैनदर्शन सिद्धान्तोंको खूब समझा है। परम पवित्र पर्यूषण पर्वपर वे कानपुर कई बार पधारे और अत्यन्त निकटतर एवं गहराईसे वे नाना विषयोंपर प्रवचन करते थे। उनकी सिद्धान्तोंको समझानेकी शैली भी विलक्षण एवं स्पष्ट रहती है।

यदि इस पंचम कालमें तीर्थंकर भगवान् होते तो श्रद्धेय पंडित फूलचन्द्रजी अवश्य ही गणधर होते।

जैन सिद्धांतके महान् संरक्षक

● श्री मिश्रीलाल पाटनी, लश्कर

आपके हृदयमें सिद्धांतकी धार्मिक मार्मिक चर्चाका भंडार समुद्र मानिंद अथाह भरा हुआ है। आपसे मिलनेपर अधिकतर धार्मिक तत्त्व चर्चा आत्म कल्याण निज स्वभावकी पहचान सिद्धांतपर ही होती है पारिवारिक चर्चामें आप अपना समय नष्ट नहीं करते है।

आप त्यागी मुनि गणोंको भी निर्ग्रंथ अवस्थामें उचित शास्त्रानुकूल आचरणमें प्रवर्तन शील रहें, शिक्षा निर्भीक निरभयतासे देते हैं। जिससे उनके ज्ञान आचरणमें सुधार आवे। आप हितोपदेशी धर्मरक्षक मर्मज्ञ-ज्ञानके वक्ता है। मैं आपके गुणोंको देखकर दीर्घायुकी कामना करता हूँ।

कृतज्ञता-ज्ञापन

● पं० पद्मचन्द्र शास्त्री, दिल्ली

यदि समाज कृतज्ञ है तो मान्य पंडित श्री फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीके उपकारोंको 'यावच्चन्द्र-दिवाकरौ' मानना चाहिए। अपनी पीढ़ीके सम-सामयिक सिद्धान्त महारथियोंमें पंडितजीका नाम मूर्धन्य है। वे अपनी निर्भीकताके लिए भी प्रसिद्ध हैं। आगे-पीछेका ख्याल किए बिना सिद्धांत-पोषणका लक्ष्य उनके जीवनमें उनसे पूरा होता रहा है। वे सिद्धान्तमें अपने विषयके बे-जोड विद्वान् हैं—उन्हें हमारे नमन।

एक बार जब मेरी नौकरी छूट गई और मैं सब ओरसे निराश हो गया कि एक दिन अचानक सड़क-पर पंडितजीसे भेंट हो गई। बोले—भइया, क्या हाल है? मैंने व्यथा सुनाई तो द्रवित हो उठे और बोले—तुम चिंता मत करो अभी मेरे पास काम करो, आदि। मुझे याद है और जीवन भर याद रहेगा कि उन्होंने मुझे 'एडवांस' आर्थिक सहायता दी, समाजसे मेरा परिचय कराया, मुझे काम दिलाया—मुझे संबल मिला। मैं आज जो हूँ, जैसा हूँ उन्हीके आशीर्वादसे हूँ। मेरी शक्ति नही कि मैं अपनी व परिवारकी ओरसे उनके उप-कार-भारसे बे-बोझ हो सकूँ। उनके प्रति जितनी भी कृतज्ञताका ज्ञापन किया जाय मेरे लिए थोड़ा ही रहेगा।

शुभ-कामना

● श्री सुबोधकुमार जैन, आरा

मैं पहली बार पं० फूलचन्द्रजी शास्त्रीसे लगभग २२ वर्ष पूर्व उस समय मिला था जब कि बिहारके गवर्नर श्री अनन्तशयनम आयंगरने श्री जैन सिद्धान्त भवनकी हीरक जयन्तीकी अध्यक्षता करते हुए पं० फूलचन्द्र शास्त्री को अपने कर कमलोंसे सिद्धान्ताचार्यकी पदवी प्रदान की थी।

जैनागमके शोधन एवं लेखनके क्षेत्र मे पंडित जी ने जो कार्य किया है, वह अवश्य स्मरणीय रहेगा तथा जैन सिद्धान्तके आधुनिक आचार्योंमे उनका नाम बराबर स्वर्णाक्षरोंमें लिखा जाएगा।

आज जैन समाज उनका अभिन्दन कर रहा है, वह वास्तवमे उनका अभिनन्दन नही जैन समाजका अपना अभिनन्दन है। इस शुभ अवसरपर मैं उन्हें सादर श्रद्धाजलियाँ अर्पित कर रहा हूँ।

अद्भुत व्यक्तित्वके धनी

● श्री सत्यन्धर कुमार सेठी, उज्जैन

परम श्रद्धेय प्रकाण्ड सैद्धान्तिक महाविद्वान् पंडित फूलचंद्रजी साहब शास्त्री जैन जगत्के माने हुए अद्भुत व्यक्तित्वके धनी एक आदर्श विद्वान् है। जिन्होंने अपने जीवन कालमे माँ सरस्वतीकी सेवा करके अपने आपको अमर बना दिया है। धवला, जयधवला और महाबन्ध जैसे महान् ग्रन्थोंका सम्पादन करके उनको प्रकाश मे लानेका आपही को श्रेय है। आप एकमात्र सैद्धान्तिक विद्वान् हैं। आप प्राचीन पद्धतिके विद्वान् हैं। लेकिन आपके विचारोंमें उदारता है और हृदयमें विशालता है।

आप संस्कृत और प्राकृत भाषाके महान् विद्वान् है फिर भी आपकी प्रवचन शैली इतनी सरल और सीधी है कि साधारणसे साधारण श्रोताके हृदयमे भी तत्त्वका प्रवेश हो जाता है और वह सही पकड़ कर लेता है। ऐसे महाविद्वान्के चरणोंमें श्रद्धा सुमन अर्पण करता हुआ मैं अपने आपको धन्य मानता हूँ। और शुभ कामना करता हूँ कि यह महाविद्वान् चिरंजीवि बनकर माँ सरस्वतीकी सेवा करते रहे।

सरस्वती पुत्र

● श्री चन्दनमल 'चाँद', बंबई

जीवनके लगभग साठ वर्ष जिस व्यक्तिने धर्म, दर्शन, साहित्य, सेवा, अध्यापन आदिमें लगाये और अपनी वाणी एवं लेखनी द्वारा जिन-वाणीका प्रचार किया, वह व्यक्ति हैं सरस्वती पुत्र पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री। बहुमुखी प्रतिभाके धनी पंडितजीने मौलिक साहित्य सृजन, सम्पादन एवं समाज सेवाके विविध क्षेत्रोंमें महत्वपूर्ण सेवाएँ दी हैं। कर्म सिद्धान्तके बेजोड़ विद्वानके रूपमें आप सुविख्यात हैं। उनके ज्ञान, सम्पादन एवं सेवाकार्योंकी सुवास प्राप्त करता रहा हूँ। उनके सेवामय शतायुष्यकी शुभकामना करता हुआ मैं भी अभिनन्दनकी मालामें अपना एक पुष्प गुंफित कर रहा हूँ।

अद्भुत ज्ञानके धनी

● श्री भगतराम जैन, दिल्ली

आदरणीय पं० फूलचन्द्रजी बहुत वर्षों तक अ० भा० दिगम्बर जैन परिषद्के कार्यसमितिके सदस्य रहे व उन्होंने सदैव परिषद्की रीति-नीतिका समर्थन किया। अ० भा० दिगम्बर जैन परिषद्का मैं सन् १९४५ से मन्त्री हूँ, जिसके कारण पूज्यनीय पं० फूलचन्द्रजीसे मेरा तभीसे सम्पर्क बना हुआ है। मुझे याद है कि १९५० में दिल्लीमे होनेवाले परिषद्का अधिवेशन जो आदरणीय साहू श्रेयांसप्रसादजीकी अध्यक्षतामें बड़े विशालरूपसे हुआ था, उस समय आदरणीय पं० फूलचन्द्रजी, पं० महेन्द्रकुमारजी, पं० परमेष्ठीदासजी आदिने अधिवेशनमे प्रस्तुत करनेके लिए कुछ महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव भेजे थे, जिन्हे परिषद्की प्रबन्ध समितिने स्वीकृति प्रदान कर अधिवेशनमे रखनेका निर्णय लिया।

परमपूज्य करनजी स्वामीके व्यापक प्रचार-प्रसार एवं साहित्य प्रकाशनको देखकर जिन तत्त्वोंने सदैव समाजका विघटन किया है, उन्होंने काजी स्वामी एवं उनके प्रकाशनके विरोधमे भी व्यापक कार्य प्रारम्भ किये। उस समय समाजके मध्यस्थ विद्वानोंने विचार किया कि दिगम्बर जैन समाजके जो प्रमुख विद्वान् हैं, वे एक स्थानपर बैठकर सभी विवादग्रस्त विषयोंपर विचार विमर्श करें। जयपुरमे बहुत अधिक विद्वान् एकत्रित हुए और उन्होंने उन सभी विषयोपर चर्चायें की। पं० फूलचन्द्रजीने जिस विद्वत्ताके साथ विरोधी विद्वानोंकी उठाई हुई शकाओंका समाधान किया, वह अद्भुत था।

उसकी साहित्यिक और सामाजिक सेवायें सदैव अनुकरणीय हैं। अभिनन्दनके इस शुभ प्रसंगमें श्रद्धा-सुमन उनके चरणोंमे अर्पित करता हूँ और यह भावना रखता हूँ कि उनकी छत्र-छाया समाजपर सदैव बनी रहे।

युगचेतनाके प्रतीक

● डॉ० जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर

पूज्य पंडितजीमें युगचेतनाका स्वरूप मिलता है। 'वर्ण जाति और धर्म' में जनमङ्गलकारी युगचेतना सर्वत्र देखी जा सकती है। उनका जीवन एक सन्त, महापुरुष, उदारचरित तथा पुण्यात्मा मानवका जीवन है। विकत्थना एवं परनिन्दामें उन्हे कथमपि रसानुभूति नहीं होती है।

पंडितजीका व्यक्तित्व एवं कृतित्व इतना महान् है कि यह सम्मान उन्हें कई दशक पूर्व ही मिल जाना चाहिये था। परन्तु मेरा विश्वास है कि संसारमें जिनका सम्मान विलम्बसे हुआ, उन्हें चिरस्थायी कीर्ति मिली। पण्डितजी भी इसके अपवाद नहीं होंगे। साहित्यमपर्याके इस पवित्र अवसर पर पूज्य पण्डितजीके प्रति मेरी 'रंकबराटिका' स्वीकार करें।

अगाध वैदुष्यके धनी

● प्रो० उदयचन्द्र जैन, वाराणसी

पूज्य पंडित जीका वैदुष्य अगाध है। कर्म सिद्धान्तके तो आप तलस्पर्शी विद्वान् हैं। यही कारण है कि धवला, जयधवला और महाधवला (महाबन्ध) जैसे उच्चकोटिके जैन सिद्धान्तके ग्रन्थोंमें आपकी अनोखी पैठ है। जैनतत्त्वमीमांसामें तथा खानिया तत्त्वचर्चा (२ भागों) में जैनदर्शन तथा जैनसिद्धान्तके निमित्त-उपादान, कार्यकारण, कर्ता-कर्म, क्रमनियमित पर्याय, सम्यक् नियति स्वरूप, निश्चय-व्यवहार आदि विषयोंपर आपने जो तलस्पर्शी विवेचन किया है वह आपके द्वारा सिद्धान्त ग्रन्थोंके गहन अध्ययन, मनन और चिन्तनका ही फल है।

आप स्वाभिमानी तथा स्वतन्त्र प्रकृतिके मनीषी हैं। किसीके बन्धनमें रहना आपको पसन्द नहीं है। यही कारण है कि आपने जैन समाजकी संस्थाओंमें अधिक समय तक कार्य नहीं किया है। आपके जीवनका अधिकांश समय स्वतंत्र रूपसे साहित्यिक, सामाजिक आदि कार्य करते हुए ही व्यतीत हुआ है। सन् १९४० से १९८३ तक वाराणसीमें स्वतन्त्र रूपसे रहते हुए ही आपने अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं।

प्रातः स्मरणीय पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी जैन विद्वानोंके लिए आधुनिक राजा भोज थे। वर्णीजीने जैनधर्म, जैनवाङ्मय और जैन संस्कृतिके उद्धार एवं विकासमें महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। इसलिए पं० देवकीनन्दनजी शास्त्री, पं० पन्नालालजी काव्यतीर्थ, प० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य और पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री प्रभृति विद्वानोंने वर्णीजीके प्रति कृतज्ञताज्ञापन स्वरूप सन् १९४७ मे श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमालाकी स्थापना की थी। दि० जैन विद्वत्परिषद्की कार्यकारिणी समितिके अधिवेशनके अवसर पर श्री मढ़ियाजी (जबलपुर) में वर्णी ग्रन्थमालाकी स्थापनाका प्रस्ताव स्वीकृत कराया।

मैंने श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसीमें रहकर सन् १९४९ मे सर्वदर्शनाचार्य तथा एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। तब आपने मुझसे कहा कि जब तक अन्यत्र योग्य स्थान न मिले तब तक वर्णी ग्रंथमालामें रहकर कार्य करना चाहो तो करो। अन्यत्र स्थान मिल जानेपर वर्णी ग्रन्थमालाको छोड़नेकी स्वतन्त्रता रहेगी। मुझे पंडितजीका उक्त कथन अच्छा लगा। तदनुसार मैंने वर्णी ग्रन्थमालामें रहकर कार्य करना प्रारम्भ कर दिया और लगभग १० माह तक पंडित जीके निर्देशनमें कार्य किया।

उस समय मैंने आचार्य समन्तभद्रकी महत्त्वपूर्ण दार्शनिक कृति 'आप्तमीमासा'का अष्टशती और अष्टसहस्रीके आधारसे हिन्दीमें विवेचन लिखा था। सन् १९७५ में पंडितजीने विशेष प्रयत्न करके वर्णी संस्थानसे 'आप्तमीमासा-तत्त्वदीपिका'का प्रकाशन कराया। इसके प्रकाशनमें काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें जैन-बौद्धदर्शनके रीडरके चयनमें मुझे विशेष लाभ हुआ। यह मेरे प्रति पंडितजीके स्नेह और कृपाका ही फल था। इस प्रकार पंडितजीमें अनेक गुण विद्यमान हैं जिनकी गणना करना यहाँ संभव नहीं है।

अन्तमें श्री जिनेन्द्रदेवसे यही प्रार्थना है कि पंडित जी शतायु होकर स्वस्थ रहते हुए चिरकाल तक हम लोगोंका मार्गदर्शन करते रहें। इस शुभ अवसर पर मैं श्रद्धेय पंडित जीके चरणोंमें सविनय अपनी प्रणामाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

अद्वितीय साहित्य सेवी

● सवाई सिंघई सेठ हरिश्चन्द्र, सुमेरचन्द्र जैन, जबलपुर

आज मुझे करणानुयोगके उस उद्भट विद्वान्के प्रति शुभकामनाएं व्यक्त करनेका सौभाग्य प्राप्त हो रहा है जिसने अमूल्य साहित्य उद्धारका महान् कार्य करके अपने जीवनको सफल बनाया है। यद्यपि अनेक विद्वान् जैनसिद्धान्त ग्रन्थोंके उद्धार कार्यमें संलग्न रहे हैं किन्तु करणानुयोगकी कठिनतम गुत्थियोंको सुलझानेमें आपका जो स्थान रहा है ऐसा विद्वान् भारतमें दूसरा नहीं है। पुरातन जिनधर्मके साहित्यका जो प्रकाश आप लाये हैं वह दि० जैन समाजकी अजर-अमर और अमूल्य निधि है। जबलपुरकी जैन समाजसे आपका अतिशय लगाव है। पूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजीके सानिध्यमें जबलपुरमें जब वाचना हुई तब अन्य विद्वानोंके साथ आप काफी समय तक उसमें सक्रिय रूपसे संलग्न रहे। इस तरह हम किन शब्दोंमें उनका गुणानुवाद करें ? बस ! यही कामना है कि आप दीर्घायु हों।

श्रुत देवता सदृश व्यक्तित्व

● पं० ज्ञानचन्द्र जैन 'स्वतन्त्र', गंजबासौदा

आदरणीय श्रद्धेय पूज्य पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्ताचार्य मेरी दृष्टिमें श्रुत देवता तो है ही पर वे विद्वत् समाजके पितामह भी है और मैं उनको अपने पितामहके तुल्य मानता हूँ।

पूज्य पंडित जी अद्भुत प्रज्ञाके धनी है। आपकी विवेचना शक्ति, तर्कणा शक्ति और सूझबूझ अनोखी है। वस्तु स्वरूपको समझानेकी शैली इतनी सहज, सरल एवं सरस है कि श्रोतागण मन्त्रमुग्धसे रह जाते हैं।

माँ सरस्वतीका जिसपर वरद हस्त रहा, ऐसे ज्ञानके भंडार विद्वत् तिलक, विद्वत् शिरोमणि, आर्यपुरुष पं० फूलचन्द्रजी हमारे समाजकी दिव्य एव अनुपम निधि है। पंडित जीमें यह विशेषता है कि आगमके आधार पर निष्पक्ष बोलते है। प्रसंगवश खरी-खरी कहनेमें चूकते नहीं, वह भी ममताके दायरेमें रहकर। प्रकृतिसे सरल भद्र शांत एवं व्यक्तित्वके धनी है। इतना ही नहीं, आपका व्यक्तित्व दूसरोंके प्रति प्रेरणास्पद रहा है।

ऐसे श्रुतदेवताके चरणोंमें मेरे शतशः वदन प्रणमन एव नमन है।

सरलताकी प्रतिमूर्ति

● डॉ० सुदर्शनलाल जैन, वाराणसी

पूज्य पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्ताचार्य उस कोटिके भव्य जीव है जिनमे ज्ञानकी अगाधता तो है परन्तु अहंकारादिका अत्यन्ताभाव है। सरलताकी वह साक्षात् प्रतिमूर्ति है।

वाणीकी मधुरता और ज्ञानदानकी तीव्र इच्छा सदैव उनके मुखारविन्दकी शोभाको बढ़ाती रहती है। कभी भी कोई उनके पास किसी भी कार्यसे क्यों न गया हो कभी खाली हाथ नहीं लौटा। धनका वैभव तो नहीं है परन्तु धनवानोंसे अधिक प्रेम धन उनके पास है। फलतः रूखा-सूखा जो भी सत्कार उनसे प्राप्त होता है उसकी मिठास सम्भवत छप्पन प्रकारके व्यञ्जनोंमे भी प्राप्तव्य नहीं है।

बाह्यदृष्टिसे कोई इन्हें पहचान नहीं सकता कि ये महातपस्वी है। जलसे भिन्न कमलकी तरह गृह थी में रहकर तप-साधना करना सबसे कठिन है। लोभ, क्रोध, माया, चापलूसी, अहंकार आदि भाव जो आत्माके विभाव परिणाम हैं, से कोसों दूर है। सरलता, ज्ञानदान आदि गुण उनके शरीरके अभिन्न अङ्ग है। ऐसे समर्पित व्यक्तित्वके धनी एवं सरलताके प्रतिमूर्ति पण्डितजीके प्रति मेरा शत शत वन्दन।

मेरा उन्हें शत शत प्रणाम

● डॉ० रमेशचन्द जैन, बिजनौर

दिगम्बर जैनोंमें मूल आगमके नाम पर षट्खण्डागम तथा कषायपाहुड जैसे ग्रन्थोंको ही मान्यता प्राप्त है। इन ग्रन्थों पर हमारे महान् आचार्योंने धवल, महाधवल तथा जयधवल नामकी जो टीकाये लिखी थी, वह केवल दर्शनार्थियोंके दर्शनकी वस्तु थीं। इन ग्रन्थों पर जिन महान् मनीषियोंने कार्य कर इनके अनुवाद और मूल पाठ जनसाधारण और विद्वानोंको सुलभ कराये, उनमें श्रद्धेय पंडितजीका नाम अग्रगण्य है। पूज्य पंडितजीकी विद्वत्ताकी थाह पाना हम जैसे अल्पज्ञ लोगोंके लिए बड़ा कठिन है। विद्वत्ता और सरलताका मणि-काञ्चन संयोग पण्डितजीमे उपस्थित है। उनसे मिलने पर ऐसी आत्मीयता जाग्रत होती है कि व्यक्ति सदा सदाके लिए उनका हो जाता है। साधनहीन छात्रों और व्यक्तियोंको उचित सहायता और मार्गदर्शन देना उनकी चर्याके प्रमुख अङ्ग हैं। जैसे एक बालक अपने पिताके गुणोंका सम्पूर्ण वर्णन नहीं कर सकता है, केवल उनकी अनुभूति कर सकता है उसी प्रकार श्रद्धेय पण्डितजीके गुणोंकी अनुभूति ही की जा सकती है, समग्र रूपसे उनका वर्णन करनेका विचार सूर्यको दीपक दिखाने जैसा है। उनकी गुणगरिमा मेरे लिए प्रकाश स्तम्भ है।

आध्यात्मिक सत्पुरुष कानजी स्वामीके सम्पर्कमे रहकर आपने हजारों लोगोंको आध्यात्मिक चेतना प्रदान की है। आचार्य कुन्दकुन्द, अमृतचन्द्राचार्य प्रभृति आध्यात्मिक सन्तोंके पण्डित जी सफल व्याख्याता है। पण्डितजी द्वारा लिखे हुए ग्रन्थ और टीकायें सहस्राधिक वर्षों तक उनकी कीर्तिको अक्षुण्ण रखनेमे समर्थ हैं। साठसे अधिक वर्षों तक जिनवाणीकी अनवरत सेवा करने वाले जैन समाजके वे अद्वितीय विद्वान् हैं। अभिनन्दन ग्रन्थोंकी परम्परा उनका अभिनन्दन कर स्वयं अभिनन्दित हो रही है। मेरा उन्हें शत शत प्रणाम स्वीकृत हो।

अनुपम विद्वत्ताके धनी

● डॉ० फूलचन्द्र जैन प्रेमी, वाराणसी

पूज्य पंडितजी उन विरले उच्चकोटिके सिद्धान्तवेत्ता विद्वानोमेसे हैं जिन्होंने किसी निश्चित जीविका (सर्विस) के बिना ही अपने सम्पूर्ण जीवनका एक मात्र लक्ष्य जैन साहित्यकी सेवा बनाया है। इस वृद्धावस्था मे भी इस लक्ष्यमें युवकों जैसे उत्साहके साथ संलग्न हैं। उनका जुझारू और जीवट व्यक्तित्व एक अद्वितीय प्रेरणा प्रदान करता है। जबसे श्री स्याद्वाद महाविद्यालयमें १९६६के आसपास पढने आया तभीसे उनका निकट सानिध्य और मार्गदर्शन प्राप्तिका सौभाग्य रहा है। लाडनूंसे पुनः बनारस आनेके बादसे और भी निकटता प्राप्त रही। आपसे षट्खण्डागम और कसायपाहुड जैसे महान् सिद्धान्त ग्रन्थों एवं इनकी टीकाओंके कुछ भाग पढनेका भी सौभाग्य मिला।

आत्मानुशासन ग्रन्थका जब पंडितजीने सम्पादन प्रारम्भ किया तब मुझे उसमे सहयोगको कहा। मैंने इसे अपना अहोभाग्य माना और उनके साथ इस कार्यमें लगा। इस बीच और अन्य ग्रन्थोंके अध्ययनके दौरान देखा कि पूज्य पंडितजीके मनमें यह बराबर लगा रहता है कि हमारे पूर्वाचार्योंके इस अपूर्व ज्ञानको लम्बे काल तक कैसे सुरक्षित रखा जाय ताकि इसकी परम्परा विकसित होती रहे और इसके आधार पर मुमुक्षु आत्म कल्याण करते रहें। जैसे धर्म-दर्शन-न्याय-सिद्धान्त-इतिहास आदि किसी भी विषय पर जब कभी पूज्य पंडितजीसे प्रश्न करते वे सप्रमाण और सधे हुए शब्दोंमें उत्तर देते। उनका कहना है कि हमारे आगम ग्रन्थोंमें आचार्योंने सब कुछ लिखा हैं फिर बिना आगम प्रमाणके मैं बात करना और सुनना पसन्द नहीं करता।

इस अभिनन्दनके अवसर पर मेरी हार्दिक भावना है कि अनुपम विद्वत्ताके धनी पितातुल्य स्नेह देने वाले स्वाभिमानी पूज्य पंडितजीका लम्बे समय तक साक्षात् मार्गदर्शन मिलता रहे।

तीर्थतुल्य वन्दनीय / अभिनव टोडरमल

● डॉ० कमलेशकुमार जैन, वाराणसी

बुन्देलखण्डके अमरसपूत सिद्धान्ताचार्य पण्डित फूलचन्द्रजी शास्त्री उन विरल सरस्वती साधकोंमेंसे हैं, जिनकी लेखनीसे प्रसूत मौलिक चिन्तन-सूत्रों, अकाट्य-तर्कों, शोध-तथ्योंका सर्वत्र समादर है। उनका जीवन प्रारम्भसे ही जैन-सिद्धान्तके मर्मोको उद्घाटित करनेमे समर्पित रहा है। स्वतन्त्र साहित्य-साधना पण्डितजीका जीवन-धन है। इसीलिए किसी भी प्रकारकी सरकारी, असरकारी, अर्धसरकारी सेवामे उन्होंने रुचि नहीं ली और सेवा-निवृत्तिके पश्चात् होनेवाली आपाधापी-खेदखिन्नतासे सदैव दूर रहकर 'जलमे भिन्न कमल' की उक्तिको चरितार्थ किया है, कर रहे हैं। उन्होंने अपने जीवनमें जैनदर्शन सम्मत कर्म-सिद्धान्तको स्वीकार किया है और सम्प्रति उसी श्रेयोमार्गके पथिक हैं।

पूज्य पण्डितजीने आजीवन जैनदर्शनके 'स्याद्वाद' सिद्धान्तका न केवल वाचन किया है, अपितु पाचन भी किया है। इसीलिए उनके जीवनमे परस्पर विरोधी, किन्तु सापेक्ष दृष्टिसे अविरोधी अक्खड़ता और सरलताका अद्भुत सामञ्जस्य है। उनके दैनिक जीवनमें उपर्युक्त उभयगुणोका सापेक्ष प्रयोग स्याद्वाद सिद्धान्तका अनुपम निदर्शन है।

जैन-सिद्धान्त एव न्यायके अद्वितीयवेत्ता श्रद्धेय पण्डित फूलचन्द्रजी सिद्धान्ताचार्य गुरु गोपालदास बरैयाकी शिष्य-परम्पराके अग्रणी विद्वान् हैं। उनके द्वारा की गई साहित्य सेवा, समाज सेवा, देश सेवा उनके महनीय व्यक्तित्वकी परिचायक है। अभिनन्दनकी पुण्यवेलामें तीर्थतुल्य वन्दनीय-अभिनव टोडरमल पूज्य पण्डित जीके दीर्घायुष्यकी हम अन्तःकरणसे मंगलकामना करते हैं।

क्रान्तिकारी व्यक्तित्व

● पं० कपूरचन्द बरैया, लश्कर

देश, कालकी परिस्थितिके अनुसार भारतीय समाजमे अनेक उतार-चढाव आते रहते हैं। जैन समाज भी इसका अपवाद नही। हरिजन-मन्दिर-प्रवेश पर समाजमें बड़ा तूफान मचा। 'वर्ण व्यवस्था' पर तरह-तरहकी अटकलबाजियाँ शुरू हुई। उस समय दो तरहकी धारणाएँ प्रचलित थी। एक वह वर्ग था जो इस व्यवस्थाको जन्मना सिद्ध करनेपर उतारू था, दूसरा वर्ग कर्मणा (गुण, स्वभाव व आजीविका) का पक्षपाती था। दोनों ओरसे इस सम्बन्धमे काफी कहा और लिखा गया (ट्रेक्टोंके माध्यमसे) पंडितजी कब मौन रहने वाले थे? 'जैनधर्म और वर्ण व्यवस्था' मे आपने लिखा कि 'जाति नाम कर्मके उदयसे सभी मनुष्योंकी जाति एक है, यदि उसके चार भेद माने भी जाते हैं तो केवल आजीविकाके कारण ही। चार वर्णोंकी सत्ता मनुष्यके अपने गुण, कर्म स्वभाव व वृत्तिके आधारसे है, अन्य किसी प्रकारसे नहीं।

'वादे-वादे जायते तत्त्वबोध.' वाद-विवादसे तत्त्वबोध पैदा होता है। किसके लिये? जो स्वयं वीतरागभाव (तटस्थबुद्धि) से तत्त्वोंका निर्णय करना चाहते हैं।

साहित्यिक सेवाओंके अलावा आपकी सामाजिक गतिविधियाँ भी क्रान्तिकारी रही हैं। बुन्देलखण्डमें गजरथ-विरोधी आन्दोलन चला जिसमें आपने भाग लेकर अनशन तक किया, यही नहीं दस्साओंको पूजाधिकार दिलानेमे सक्रिय भूमिका निभाई। पंडित जी कहा करते हैं कि सामाजिक क्षेत्रमें मतभेद होना बुरी बात नहीं, द्वन्द्वका भाव नही होना चाहिए।

वृद्धावस्था होते हुए भी आपमे अभी युवकोचित उत्साह है। मैं आपके यशस्वी जीवन वृद्धिकी कामना करता हूँ और चाहता हूँ कि आप इसी प्रकार जिनवाणी माताकी सेवामें निरन्तर तत्पर रहकर स्वपर कल्याण करते रहें।

अभिनंदनीयका अभिनंदन-बनाम जैनसिद्धान्तका अभिनंदन

● श्री कमलकुमार जैन, छतरपुर

जैन सिद्धान्तके मनीषी, विशेष रूपसे कर्म सिद्धान्तके अद्वितीय अध्येता माननीय पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री वाराणसीको ऐसा विरला ही व्यक्ति होगा जो न जानता हो। यह तो सम्भव हो सकता है कि बहुतोंने प्रत्यक्ष न देखा हो परन्तु जिसने जैन होनेके नाते णमोकार मंत्रका भी ज्ञान किया है वह पूज्यपंडित जी को अवश्य ही जानता होगा।

पंडितजीको हमलोग चलता फिरता जैनागम भी कहें तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी। निश्चित रूपसे पंडितजीका पर्यायवाची नाम यदि ढूंढना पड़े तो वह जैनागम ही होगा।

१९५५ में श्री दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र द्रोणगिरिमें बुन्देलखंडकी बहुप्रचलित परन्तु बहुत वर्षोंसे बन्द गजरथ परम्पराका और प्रथम बार चन्देके माध्यमसे प्रारम्भ होनेवाले गजरथका उद्घाटन हुआ। उस समय अखिल भारतीय स्तरकी संस्थाओंके अधिवेशन हुये। विदेशी विद्वानोंका भी आगमन हुआ। इस अवसर पर अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद का अधिवेशन था और विशेषता यह थी कि इस अधिवेशन-की अध्यक्षता भी माननीय पंडितजी ने की। पंडितजीका जो सारगर्भित अध्यक्षीय भाषण जो इस अवसरपर हुआ वह महत्त्वपूर्ण था। पंडितजी पूर्वमें गजरथोंमें विपुल धनका अपव्यय देखकर उस धनका सदुपयोग जिनवाणीके प्रचार प्रसार अध्ययन मननकी ओर करनेकी भावनासे विरोधी थे। उन्होंने बड़ी दृढ़ताके साथ अनेक गजरथोंका सशक्त विरोध भी किया। १९५५ में सम्पन्न इस गजरथ महोत्सवमें जो कि चन्देसे प्रारम्भ था अत. एक तो इसमें किसीको पदवी न देनेका प्रस्ताव किया क्योंकि इसके पूर्व गजरथ कारकोंको सिंघई, सवाई सिंघई, सेठ, श्रीमन्त आदि पदवियोंसे अलंकृत करनेकी परम्परा रही है। दूसरी बात यह कही गई कि इस आयोजनसे द्रव्य बचे उसका उपयोग सार्वजनिक हितमें, जिनवाणीके प्रचार प्रसारमें होना चाहिये। पंडितजीके दोनों प्रस्ताव इस गजरथ महोत्सवमें स्वीकृत किये गये और क्रियान्वयन भी यहीसे हुआ। प्रथम तो यह हुआ कि गजरथ कारकोंको कोई भी पदवी प्रदान नही की गई। दूसरा कार्य सार्वजनिक हितमे यह हुआ कि पूज्य वर्णीजीके आदेशानुसार बडा मलहरामे एक हायर सेकेण्डरी स्कूल प्रारम्भ कर दिया गया।

जैन सिद्धान्त पर तो आपका गंभीर ज्ञान है ही जैन इतिहास और पुरातत्त्वमे भी आपकी विशेष रुचि है पंडित जी जब कभी कभी कहीं तीर्थस्थान मन्दिरोमे दर्शनार्थ जाते है वहांकी मूर्तियोंके इतिहास पर पहले दृष्टि डालते हैं, मूर्ति लेखोंके संग्रहकी प्रवृत्ति है, और उसके आधार पर इतिहासकी महत्त्वपूर्ण जानकारीके साथ ही जैन जातियोंके क्रमबद्ध इतिहासकी खोज करते हैं।

शिक्षा जगत्में तो पंडितजीका कार्य अभूतपूर्व ही है अनेक शिक्षा संस्थाओंके जनक पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णीसे आपका निकटका सम्बन्ध रहा है। सामाजिक क्षेत्रमें भी पंडितजीका महत्त्वपूर्ण योगदान है। इन्होंने समाजगत रूढ़ियोंका विरोध किया। बहुव्यय साध्य अनावश्यक गजरथोंका सशक्त विरोध किया और समाजको प्रगतिशील बनानेमें योगदान दिया।

धर्म प्रचारके रूपमे पंडितजी एक प्रमुख आध्यात्मिक वक्ताके रूपमें प्रसिद्ध है। हजारोंकी विशाल जनसभामें पंडितजीका आध्यात्मिक प्रवचन श्रोताओंको मन्त्रमुग्ध करता है जहाँ आजका श्रोता कर्म सिद्धान्त जैसे क्लिष्ट विषयको गम्भीरतासे सुन पानेमें भी अपनेको अक्षम मानता है वहीं पंडितजीके प्रवचनकी यह खूबी है कि गम्भीरसे गम्भीर विषयको इतना सरल और रोचक बना देंगे कि श्रोताओंको उसमें बड़ा आनन्द आयेगा।

अभिनन्दनके इस स्वर्णिम अवसर पर जैन सिद्धान्तके मर्मज्ञ सिद्धान्ताचार्य माननीय पंडित फूलचन्द्रजी-चरणोंमें मैं अपनी श्रद्धा अर्पित करते हुए उनके स्वस्थ एवं दीर्घ जीवनकी मंगल कामना करता हूँ।

आगम निष्ठ मनीषी

● डॉ० श्रेयांसकुमार जैन, बड़ौत

विद्वत् शिरोमणि श्री पं० फूलचन्द्र जैन सिद्धान्ताचार्य वर्तमान विद्वत् परम्पराके देदीप्यमान रत्न हैं। इन्होंने धवल, जयधवलके अनुवाद और सम्पादनमें जो कार्य किया है, वह सहयोगात्मक कार्य स्तुत्य है। द्रव्यानुयोग और करणानुयोगके अनेक ग्रन्थोंकी टीकाएँ आपने शास्त्रीय शैलीमें की हैं, जिनसे विद्वत् परम्परा और समस्त समाज अत्यन्त उपकृत है।

जीवनका ध्येय ही चिन्तन मनन और लेखन है, ऐसे आगमनिष्ठ मनीषीके अभिनन्दनसे आनन्दित हूँ। अभिनन्दन करते हुए मेरी कामना है कि शत शरद् ऋतुओंकी सुरभिसे सुरभित होकर आगमकार्यमें व्यापृत रहें।

सादगी एवं सच्चरित्रताकी साक्षात् मूर्ति

● सुरेन्द्रकुमार जैन सौरया, बिजनौर

पूज्य पण्डितजी श्रमण धर्मके मूर्धन्य विद्वान् तथा सादगी, सच्चरित्रता, संयम तथा सहनशीलताकी साक्षात् मूर्ति है। उनका जीवन "सादा जीवन एवं उच्च विचार"की उक्तिको चरितार्थ करनेवाला है। जैन धर्मका कोई भी सिद्धान्त तथा कोई भी ग्रन्थ ऐसा नहीं है जिसका उन्होंने अध्ययन न किया हो। षट्खण्डागम जैसे प्राचीन जैन ग्रन्थोंका वाचन कर विषयको भली-भाँति समझाना आपकी विद्वदवर्यताका ज्वलन्त प्रमाण है। आज जबकि व्यक्ति धर्मसे विमुख तथा धार्मिक सिद्धान्तोसे अनभिज्ञ है। ऐसेमे धार्मिक विद्वानोंकी महती आवश्यकता है। ऐसे समयमे सिद्धान्ताचार्यजी समय-समय पर हम जैसे व्यक्तियोंको सद्मार्ग पर अग्रसित करत रहे। इसी आशाके साथ मैं जैनधर्मके सुप्रसिद्ध विद्वान् पण्डितजीको श्रद्धासुमन अर्पित करता हूँ।

सादा जीवन उच्च विचारके धनी

● श्री शशिप्रभा जैन शशाङ्क, आरा

आदरणीय पण्डितजी यथानाम तथा गुणवाले व्यक्तित्वसे विभूषित हैं। मुझे उनके कई बार प्रवचन सुननेका सौभाग्य मिला। वाणीकी तेजस्विताके धारक पण्डितजीमें श्रोताओंके अन्तःकरणको स्पर्श करनेकी अपूर्व क्षमता है। माँ श्री पूज्या चन्दाबाईजी सादा जीवन उच्चविचारके धनी शास्त्रीजीके गुणोंकी प्रशंसिका थीं। उनके इस अभिनन्दनके शुभावसर पर मेरी विनयाञ्जलि अर्पित है।

मेरे पितृतुल्य गुरुजी

● श्रीमती मुन्नी जैन, वाराणसी

मुझे यह जानकर बहुत प्रसन्नता हो रही है कि सुप्रसिद्ध मनीषी पण्डितजीका अभिनन्दन हो रहा है। सन् १९७४ मे जब पहली बार बनारस आई तबसे निरन्तर मुझे पूज्य पण्डितजी एवं पूज्यनीया अम्माजीका अपार स्नेह प्राप्त रहा है। लाडनूँसे पुन बनारस आनेके बादसे तो आ० पण्डितजीके पास ही मेरा आवास होनेसे दोनोंका बराबर सहयोग और मार्गदर्शन मिला। स्वाध्याय परायण स्नेहशीला अम्माजीकी सरलता और वात्सल्यभावकी कृतज्ञताके प्रति जो कुछ भी लिखूँ कम होगा और पूज्य पण्डितजीकी विद्वत्ताका वर्णन करना सूर्यको दीपक दिखाना है। मुझे पण्डितजीने प्राकृताचार्य कर लेनेको प्रेरित ही नहीं किया अपितु षट्खण्डागम और कषायपाहुड, प्राकृत-प्रकाश आदि ग्रन्थोंके पाठ्यक्रममें निर्धारित अंशोंको मुझे पढ़ाया भी। यह मेरा गौरव और सौभाग्य है कि इतने उच्चकोटिके विद्वान्से मुझ जैसोंको पढ़नेका सुअवसर और स्नेह प्राप्त हुआ। मेरी हार्दिक भावनायें हैं कि पूज्य पण्डितजी पूर्ण स्वस्थ रहकर दीर्घायुष्य प्राप्त करें।

सरलता और सहजताके स्रोतोत्तर

● श्री लक्ष्मीचन्द्र 'सरोज', जावरा

सिद्धान्ताचार्य पण्डित प्रवर फूलचन्द्र जी शास्त्री, उन वरिष्ठ और विशिष्ट विद्वानोंमेंसे हैं, जिनके व्यक्तित्व और कृतित्वसे प्रतिस्पर्द्धा करना असम्भव नहीं तो काफी कष्ट साध्य अवश्य है। वे बुन्देलखण्डके एक ऐसे कीर्तिमान स्तम्भ हैं, जिसकी कीर्ति-कथा उत्तर-दक्षिण पूरब-पश्चिममें समान रूपसे मुखरित हुई है।

पण्डितश्रीका जीवन अतीव संघर्ष प्रधान रहा। उनका अपना बहुमुखी व्यक्तित्व है। उन्होंने अपनी लौह लेखनीसे जिस धार्मिक साहित्यका सृजन किया, वह उनके अगाध अध्ययन और अमित परिश्रमका परिचायक है। यह कहना कोई अतिशयोक्ति अलंकार नहीं होगा कि पण्डितजी की अनेक कृतियोंने अनेकानेक विद्वानोंको सही अर्थोंमें विद्वान् बनानेमें सुरुचिपूर्ण सहयोग दिया है।

आप उच्चकोटिके भाष्यकार, ग्रन्थ-पत्र सम्पादक, लेखक-समाज-सेवक और स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी रहे हैं। आप विख्यात विचारक, कुशल प्रवक्ता, पूर्ण शिक्षक हैं। सरल शब्दोंमें सुलझे विचार रखना, कठिन विषयको सरल बनाकर समझाना, विद्वत्ताके साथ चातुर्य जोड़ना आपका स्वभाव है। सरलता और सहजताके आप एक ही स्रोतोत्तर हैं। आपके अध्ययन-अनुभव-अभ्यासकी जितनी भी सराहना की जावे, कम है।

बीनाके रत्न

● श्री कुन्दनलाल जैन, दिल्ली

आदरणीय पंडित जी स्वतन्त्र विचारोंके व्यक्ति हैं और बड़े ही स्वाभिमानी हैं। पराधीनता अथवा दूसरोंका अनावश्यक दबाव उन्हें कभी भी स्वीकार्य नहीं रहा। यही कारण है कि किसी भी संस्थामें वे लगातार जमकर कई वर्षों तक नहीं टिक सके। पंडितजीमें राष्ट्रीय भावना कूटकूट कर भरी हुई है। पंडितजीने वाराणसीमें बड़ी ख्याति अर्जित की। विशेषतया सन् १९४२ के स्वातन्त्र्य संग्राममें स्याद्वाद विद्यालयके छात्रोंको पंडितजीका भरपूर मार्गदर्शन प्राप्त हुआ, यद्यपि पंडितजी स्या० वि० से सम्बन्धित नहीं थे फिर भी अंग्रेजी नौकरशाहीसे पीड़ित छात्रोंको पंडितजीसे तन मन धनका पूरा सहयोग प्राप्त होता था। भूमिगत छात्रोंकी सुरक्षा तथा आर्थिक सहायता पंडित जी किया करते थे। इस स्वाधीनता आन्दोलनके केन्द्रोंमें स्या० वि०, काशी विद्यापीठ एवं हिन्दू विश्वविद्यालय प्रमुख थे।

आदरणीय पंडितजीके स्वाध्याय और अध्ययन चिन्तन एवं मननका तो कहना ही क्या है, आप तो अगाध पाण्डित्यके धनी एवं ज्ञानके सागर हैं। यद्यपि वे पुरानी पीढ़ीके विद्वान् कहे जाते हैं पर उनके विचारोंमें नवीनता एवं प्रगतिशीलताका अद्भुत समन्वय है। वे रूढ़िवादिता और दकियानूसीपनके प्रबल विरोधी हैं। उन्हें हर तर्कसंगत बात अच्छी लगती है। पराधीनता उन्हें स्वीकार्य नहीं अतः उन्होंने अपना सारा जीवन स्वयंभोजीके रूपमें ही बिताया है, सेठों या धनिकोंकी चापलूसी या खुशामद उन्हें तनिक भी पसन्द नहीं है।

आदरणीय पंडितजी स्वस्थ और प्रसन्न रहते हुए शतायु हों और जैनागमकी सेवा करते रहें इसी हार्दिक शुभ कामनाके साथ उन्हें अपनी प्रणामाञ्जलि प्रस्तुत करते हुए विराम लेता हूँ।

जीवेत् शरदः शतम्।

पुण्यपुरुष

● पं० विमलकुमार जैन सौंरया, टीकमगढ

श्रद्धेय पूज्य पण्डित फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री जहाँ सिद्धान्तके महामना हैं वहाँ समाज और संस्कृतिकी सेवामें ऐसे ही अनुपम हैं। जिनवाणीकी जो महती सेवा करके युगों-युगों तक जन-जनका जो उपकार किया अवश्य ऐसे पुण्य पुरुषके कृतित्व एवं व्यक्तित्वसे हमारी समाज अपने आपमे गौरवान्वित है।

अपने इन्हीं विशेष गुणोके कारण पूज्य श्रद्धेय पण्डित फूलचन्द्रजी गुण गरिमाके सागर बन गये। ऐसे महान् व्यक्तित्वके चरणोंमे मैं श्रद्धापूर्वक प्रणाम करता हुआ उनके सुखी दीर्घ यशस्वी जीवनके प्रति जिनेन्द्र प्रभुसे प्रार्थना करता हूँ।

सातिशय प्रज्ञाके धनी

● श्री राजमल जैन, भोपाल

सिद्धान्ताचार्य श्रद्धेय पण्डित फूलचन्द्रजी शास्त्री जो कि जैन जगत्के महान् सिद्धान्तवेत्ता, सातिशय प्रज्ञाके धनी, जिनवाणी माताके गूढतम रहस्योके मर्मज्ञ विद्वान् एवं आत्मसाधकके विषयमे आज कौन परिचित नही है। वे लगभग ६० वर्षसे सर्वज्ञ प्रणीत सिद्धान्तोकी सेवामे निःस्वार्थ भावसे कार्यरत हैं। आपकी लेखनी-से लिखे गये करणानुयोगके मूल आगम-धवला जयधवला एवं महाबंधादि अनेक-अनेक उच्चकोटिके ग्रन्थोंके सम्पादक एवं अनुवादक, अनेक मौलिक कृतियोके लेखक एवं निबन्ध लेखनके द्वारा हम जैसे अज्ञानियोंका जो उपकार किया है, उसके लिए हम चिर ऋणी रहेंगे।

कुछ वर्षोंसे पू० १०८ मुनि विद्यासागरजीकी प्रेरणासे करणानुयोगके मूल आगम धवलादि ग्रन्थोंका ग्रीष्म कालमे लगभग १॥–२ माह तक वाचनका क्रम चल रहा है। मैंने स्वयं इस सुअवसर पर सागर एवं जबलपुर जाकर कई दिनों तक काम किया।

पंडितजीका जीवन लोकैषणा एवं वित्तैषणासे परे है। उन्होने आगम-अध्यात्ममे वर्णित तथ्योंको मात्र शब्दों या धारणामे ही ग्रहण नही किया है, बल्कि अपने दैनिक जीवनमे भी उसको अपनाया है।

ऐसे जैन समाजके सर्वोत्कृष्ट विद्वान् पंडितजीके इस अभिनन्दन समारोह पर मैं अपने श्रद्धा सुमन उनके चरणोंमें समर्पित करते हुए उनके दीर्घजीवी होनेकी हृदयसे भावना करता हूँ।

आत्मबलके धनी

● श्री कपूरचन्द भाईजी, बंडा

पिछली अर्ध शताब्दीमे 'पूज्य वर्णीजी' द्वारा निखारे रत्नोंकी मालामे, 'पूज्य पंडित प्रवर फूलचन्द्रजी' सिद्धान्तशास्त्री अत्यन्त चमकते हुए विद्वन्‌रत्न है। उनके द्वारा अनेक सिद्धान्त ग्रन्थोंकी टीका व अनेका-नेक मौलिक लेखों व ग्रन्थोंमे पूज्य पंडित श्री ने अनेक सिद्धान्त गुत्थियोंको सहज ही सुलझाया है।

हर सिद्धान्त विषय पर उनका दिया गया निर्णयात्मक उत्तर हर तत्त्वजिज्ञासु को स्वीकार होता है। आज भी उनकी कलम निरन्तर इस जीवन संध्यामे, जब बाह्य स्वास्थ्य भी साथ नहीं देता, अपने अन्तरके बल पर चलती रहती है; मुमुक्षुओंका मार्ग प्रशस्त करती रहती है।

हम पंचपरमेष्ठी भगवन्तोंको स्मरण कर कामना करते है कि शतायुके पूर्ति पर उसकी हम सब अमृत जयन्ती मनाएँ।

विचक्षण प्रतिभावान्

● सौ० पोसेरिया चन्द्रिका जैन, इन्दौर

श्रद्धेय सर्वमान्य पं० दादा फूलचन्द्रजी सारे भारतके जैन समाज व अन्य समाजके जाने-माने मूर्धन्य विद्वान् हैं। जो उनके सम्पर्कमें आया उनकी वाणी और लेखनीसे प्रभावित ही हुआ। आपके यथार्थ सूक्ष्म गूढ़ तात्त्विक ज्ञानकी श्रेष्ठता अद्वितीय है। आप करणानुयोगके तो प्रकाण्ड विद्वान् है हीं।

वह इतिहासकी अविस्मरणीय घटना है। बीसवीं सदीमें जब आध्यात्मिक एक महापुरुष कानजी स्वामीका आविर्भाव हुआ। यह स्वर्ण युग आया था टोडरमल बनारसीदासके बाद, पूर्वाचार्योंकी तत्त्वज्ञान तरंगणी उछली और फिर सारे देशमे यहाँ तक विदेशमें भी वह अमृतधारा बह चली। तो सारे देशमें खलबल मची सब दौडे-भागे पश्चिममें, अरे यह बात हमने सुनी ही नही अथवा इन्हे सुनाई नही गई, सुनाई ही गई नहीं। किन्हीं विद्वानों तक चर्चाका विषय रहती थी जब समयसारका सार खुला तो पाखंडोंके गढ़ ढहने लगे। मुनि त्यागी पंडितोंकी पोप लीला खुलने लगी। कई चौंके, चमके, गरजे, पर एक पं० फूलचन्द्र ही खरे उतरे जो मेरुवत् स्थिर रहे। और आज ५० वर्षोंके बाद भी शुद्धमति अचल है। इसका सबल प्रमाण है उनकी एक खानिया तत्त्व चर्चा जिसने प्रत्यक्ष देखा है अथवा पढा है। जिन्होंने ६० पंडितोंके साथ तत्व चर्चा कर सफल निर्णयात्मक समाधान कर चकित किया है लगता है उनके ऊपर वाग्देवी जिनवाणी माताने वरदहस्त किया हो।

जहाँ बडे-बडे नामी गरामी दिग्गज विद्वान् गंगामे गंगादास और जमनामे जमनादास बनते देखे जाते हैं। वहाँ पं० फूलचन्द्रने किसी भी भय, आशा, स्नेह, मान मर्यादाका विचार किये बिना ही अपना अमूल्य श्रद्धा मस्तक नहीं झुकाया। धार्मिक जगत्की कौनसी समस्या न हो, जो दादाको न छुई हो।

धवलादि ग्रन्थोंके अनुवादके अलावा अनेकों ग्रन्थोंकी टीकायें, प्रस्तावनायें, सम्पादन, संशोधन कार्य किया है। जहाँ पूर्वाचार्योंकी परम्परामें शुद्धाम्नायके अनुकूल सौ टंच है।

कानजी स्वामीको प्रभावित युगमे जो मूल सिद्धान्तोंमें ऊहापोहके घनघोर बादलोमे मतभेद उभरा तो आपने जैनतत्त्वमीमांसा लिखकर तत्त्व जिज्ञासुओंपर बड़ा उपकार किया है। पर जिनके चक्षुओंपर पक्ष मोहका ऐनक चढा है वे वस्तु सही होते भी सही नही देख पाते। यह तो उनकी स्वयंकी भूल है।

दादा जी और नयी पीढीके तत्त्व प्रचारके माध्यमोंमे भले ही भिन्नता भासित हो, परन्तु मौलिक सिद्धान्तोंकी स्वच्छता और प्रखरतामे इंच मात्र भी विरोध नही है।

उनके चेहरेमे भोलापन, वाणीमे सरलता, जीवनमे सादगी, तत्त्व ज्ञानकी गम्भीरताको लिए सदा-सदा काल मुमुक्षुओंमे गुरुपनेकी गरिमासे प्रतिष्ठित रहेंगे।

जो कर्मोदय जनित आधि, व्याधि, उपाधिमें सदा धैर्यवान समताशील रहे। वे चिरायु हों।

सब भगवान् वीतरागकी वाणीको समझ कर हमारा चिर आराध्य जो अलौकिक महान् दुर्लभ निधि सम्यग्दर्शन है। उसका लाभ हो इन्हें। उनके द्वारा जो जिन शासनकी सेवा हुई है। उसका समाज सदा ऋणी रहेगा।

पंडितजीका ऋण हल्का करना है तो उनके द्वारा अनुवादित धवलादि ग्रन्थोंको स्वाध्याय द्वारा जन जनकी विषय वस्तु बनाया जाय।

प्रेरणास्पद व्यक्तित्व

● श्री दीनानाथ तिवारी, बीना

सिद्धान्ताचार्य पंडित फूलचन्द्रजी शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ योजना, निस्सन्देह, प्रेरणास्पद विकासोन्मुख, मार्ग दर्शक व्यक्तित्वका समुचित सम्मान ही नहीं, वरन् समाज, साहित्य, एवं अध्यात्मके माध्यमसे राष्ट्र सेवाका वास्तविक मूल्यांकन है।

देशभक्त पंडितजी

● पं० दरबारीलाल जैन, ललितपुर

पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री जैन समाजके ही नहीं अपितु भारतके मान्य विद्वानोंमें अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं।

सन् १९४२ भारतवर्षके इतिहासमें एक मीलके पत्थरकी भाँति स्वतन्त्रताकी यात्राका बोध कराता है। इस वर्ष जुलाईमें मैंने श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी अध्ययन हेतु प्रवेश लिया था। अभी मैं विद्यालय और काशीके वातावरणसे परिचित भी नहीं हो पाया था कि ९ अगस्त ४२ को "भारत छोडो" आन्दोलन आरम्भ हो गया। बनारसमें ४२ के आन्दोलनमें विद्यार्थी वर्गका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

शिक्षा जगतमें भी पंडितजीकी सेवायें चिरस्मरणीय हैं। ललितपुरमें श्री वर्णी जैन कालेजकी स्थापनामें पंडितजीका महत्त्वपूर्ण योगदान है। पार्श्वनाथ जैन गुरुकुल, खुरईके लिए विपुल धनराशि संग्रह करनेमें उन्हें बहुत याद किया जाता है।

वे कहते हैं 'देश और समाजके हितके लिए अपनेको बड़े से बड़े खतरेमें डालनेसे मत चूको, तुम्हें सफलता अवश्य प्राप्त होगी।'

पितृतुल्य व्यक्तित्व

● श्री मुन्नालाल जैन, वाराणसी

मुझे पूज्य पंडितजीके घर उनके सहायकके रूपमें कुछ महीने रहनेका सौभाग्य मिला है। इस वृद्धावस्थामें भी मैंने देखा कि उन्हें कार्य करनेका युवाओं जैसा उत्साह है। वे निरन्तर लेखन और सम्पादन कार्योंमें लगे रहते हैं। अनेक शोधकर्त्ता और जिज्ञासु उनके घर निरन्तर आते और अपनी शोध तथा अविविध जटिल-समस्याओंका सप्रमाण समाधान पाकर सन्तुष्ट हो चले जाते। मैंने भी अनेक दार्शनिक और आगमिक बातोंकी जानकारी लेनेका लाभ उठाया।

मुझे उनके साथ सहायकके रूपमें ही महाराष्ट्र और कर्नाटक प्रान्तके अनेक स्थानोंकी यात्राका सौभाग्य मिला। उनका जगह-जगह भव्य स्वागत और प्रवचन चलता था। वे मुझ जैसे छात्रकी भी सुविधाओंका पूरा ध्यान रखते। मैंने अनुभव किया कि उनके सम्पर्कमें आनेवाले सभीके प्रति समानरूपसे पितातुल्य स्नेह और उन्नतिकी चाह है उनमें मेरी शुभकामना है कि वे शतायु हों और सदा हम लोगोंका मार्गदर्शन करते रहें।

आदरणीय गुरुजी

● श्री भैयालाल पुरोहित, बीना

जिस समय पंडितजी श्री नाभिनन्दन दिगम्बर जैन विद्यालय, बीनाके प्रधानाध्यापकके पदपर आसीन थे उस समय विद्यार्थीके रूपमें मैं विद्याध्ययन करता था। वास्तवमें योग्य गुरुमें जो गुण स्वभाव होना चाहिये वह पूर्णरूपेण पाया। मुझे ही क्या पूरे शिष्य समुदायका उनके प्रति भक्तिका अनुराग भूलता न था। उन जैसी पाठ शैली विरले गुरुमें ही पायी जाती है। उनकी देनसे मैं कुछ सम्पन्नताकी ओर आकर योग्य समाजमें बैठ पाया। मेरा जीवन उनकी कृपाका फल है। अभिनन्दनकी सफलताका आकांक्षी हूँ।

मेरी डायरीके पृष्ठोंमें सिद्धान्तशास्त्रीजी

● राजवैद्य पण्डित भैया शास्त्री आयुर्वेदाचार्य, शिवपुरी

लगभग अर्द्ध शताब्दिके पूर्वकी बात है जब मैं अध्ययन करता था तब पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्त-शास्त्रीका नाम सुना करता था उनके दर्शनोंकी उत्कण्ठा मनमें होती थी।

सन् १९४८ मे एकबार मैंने अपनी सन्देश डायरी सर्वप्रथम पूज्य वर्णीजीसे सन्देश लिखाया फिर पं० फूलचन्द्रजीसे पश्चात् न्यायाचार्य पं० महेन्द्र कुमारजीसे इन तीनों मनीषि गुरुओंके सन्देश लेकर घर चला गया, सन्देश क्या थे मेरे जीवनको नई दिशा देने वाले थे। सिद्धान्तशास्त्रीजीने अपनी कलमसे मेरी डायरी पर लिखा।

"जीवनकी साधना सेवा, त्याग और आत्म शुद्धि है। जिसने इस त्रयीको अपनाया उसीका जीवन सफल है।"

मैंने पण्डितजीके जीवनसे यही सबक सीखा है कि सेवा और त्यागवृत्तिसे आत्मशुद्धि होकर मानव-मानव अपने उत्कर्षकी ओर अग्रेसित हो अन्तिम मंजिल पर पहुँच जाता है। अब यह सेवा चाहे तो मानवकी हो या उसके जीवन चर्यासे सम्बन्धित कार्य कलापोंको परिमार्जित कर आगे उत्कर्षकी ओर ले जानेवाली ये सामाजिक धार्मिक सैद्धान्तिक और आत्मिक बोधका महत्त्व प्राय सभी जानते है और मानते भी है।

पूज्य पंडितजीने समाजके क्षेत्रमे धर्मके बीच और आत्मिक विकासके क्षेत्रमें बहुत बड़ी सेवा की है।

अभिनन्दनके इस अवसर पर मेरी शुभकामनाएँ है कि पूज्य शास्त्रीजी निरोग और चिरायु हों।

समाज सेवामें अग्रणी

● श्री पुष्पचन्द्र जैन, वाराणसी

सिद्धान्त शिरोमणि पूज्य पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्ताचार्य जैन समाजके जाने माने वयोवृद्ध विद्वान् है। समाजोत्थानकी सभी प्रवृत्तियोंमें वे सदैव आगे रहे है तथा उसके लिए विविध कष्टोंको उठाया है।

कितनी ही सामाजिक तथा साहित्यिक संस्थाओंके जन्ममे पंडितजीका हाथ है। इनमे श्री गणेश वर्णी दि० जैन संस्थान प्रत्यक्ष उदाहरण है। जिसके लिए पण्डितजीने अपना सब कुछ लगा दिया तथा आज भी इसके लिए वे दिनरात चिन्तित रहते है। वर्तमानमे संस्थानका जो मूर्तरूप संस्थान भवन, पुस्तकालय, प्रकाशन तथा ध्रौव्य फंड आदि है वह सब पूज्य पण्डितजीके सफल प्रयासका ही प्रतिफल है।

मुझे दो-तीन बार पंडितजीके साथ सहायकके रूपमे यात्रा करनेका भी सुअवसर प्राप्त हुआ है उस समय पण्डितजीको समीपसे देखा है। उनकी आत्मीयता, सहजता तथा वात्सल्य भावको भुला पाना कठिन है।

हमारा सौभाग्य है कि ऐसी निःस्पृह विभूति हमारे बीच मौजूद है। हम पण्डितजीके दीर्घायु एवं अरोग्यकी मंगल कामना करते है। उनके चरणोंमें विनम्र शतशः प्रणाम!

किया सुनहरे शब्दोंमें पण्डित रूप चरितार्थ

श्री कल्याणकुमार 'शशि', रामपुर

लब्धिसार, सर्वार्थसिद्धि, जयधवला ज्ञान ग्रहीत,
पंचाध्यायी, जैनतत्त्वमीमांसा आदि पुनीत।
मुखरित हैं पूर्वाचार्यों का, आध्यात्मिक संगीत,
इससे लाभान्वित होंगे, शोधार्थी गणनातीत।
पंडित फूलचन्द्रकी ये निधि, सैद्धान्तिक भण्डार,
मुमुक्षुओंको लक्ष्य प्राप्तिके खुले मिलेंगे द्वार॥

इन ग्रन्थोंमें कल्लोलित हैं, आत्मिक सिन्धु अगाध,
शुद्ध ज्ञान पर्याय विवर्द्धित, शाश्वत अव्याबाध।
साहित्यिक सामाजिक रुचियाँ, जुड़ती चली अबाध;
विविध रूपमें संग चल रही, चिरस्थायिनी साध।
शिलान्यासकी प्रथम ईंट ही निकली पानीदार;
उच्च गगनचुम्बी शिखरों की, यही ईंट आधार॥

विश्व शान्ति राष्ट्रीय भावना, निर्विवाद परमार्थ,
विस्मय युक्त विषमताओं में, सम्मुख रहा यथार्थ।
रहे महत्वकांक्षाओं में, निर्मोही निःस्वार्थ,
किया सुनहरे शब्दोंमे, पाण्डित्य रूप चरितार्थ।
शंका समाधानके योद्धा, तर्काश्रित तकरार;
आडम्बर में उदासीन, जैनागम की मीनार॥

कर्मठता की सक्रियता में, कहीं न रञ्च विराम,
श्रमकी साधक तत्परताओं में गौण रहा विश्राम।
लड़ा दासता के विरोध में स्वतन्त्रता-संग्राम,
इस अभिनन्दनीय जीवन को शतृशत् बार प्रणाम।
स्याद्वाद के अनेकान्त के दिये सटीक विचार,
किन्तु रञ्च भी अहङ्कार को किया नहीं स्वीकार॥

●

शत शत अभिनन्दन है

हास्यकवि हजारीलाल जैन 'काका' सकरार

देश, धर्म के लिये समर्पित जिनका तन मन धन है,
श्रीमान् फूलचन्द शास्त्री का शत-शत अभिनन्दन है।

वैसाख बदी चौथ सम्वत अट्ठावन की आई,
श्रीसिंघई दरयावलाल घर बजने लगी बधाई,
ग्राम सिलावन जिला ललितपुरले ऐसी निधि पाई,
मात जानकीबाई इनको गोदी ले मुस्काई,
सुन्दर बालक लखकर प्रमुदित हुआ सभीका मन है,
पंडित फूलचन्द्र शास्त्री का शत-शत अभिनन्दन है।

होनहार विरवान चीक नें पत्तों वाले होते,
महापुरुष भी इसी तरह कर्तव्य परायण होते,
चार मील पैदल चल पढ़ने ग्राम खजुरिया आते,
तन मनसे पढ़नेवाले ही आगे नाम कमाते,
फिर पहुँचे इन्दौर वहाँ भी किया खूब अध्ययन है,
पंडित फूलचन्द्र शास्त्री का शत-शत अभिनन्दन है।

पहले अध्यापक बनकर शिशुओं को ज्ञान सिखाया,
बाद बनारस स्याद्वाद विद्यालयको अपनाया,
धर्माध्यापक बनकर की तन-मन से सेवा भारी,
सोलापुर में धवला के अनुवाद की कीनी त्यारी,
धवला जयधवला का मिलकर कीना सम्पादन है,
पंडित फूलचन्द्र शास्त्री का शत-शत अभिनन्दन है।

भरा खूब भण्डार सरस्वती माँका कलम चलाकर,
जैनतत्त्वमीमासा जैसे तात्त्विक ग्रन्थ बनाकर,
फिर भारत माँ की सेवा को सेनानी बन आये,
तीन माह तक झाँसी कारागृह में दिवस बिताये,
बाँध न पाया इन्हें मोहका कोई भी बन्धन है,
पंडित फूलचन्द्र शास्त्री का शत-शत अभिनन्दन है।

इसी तरह सामाजिक कार्योंमें सहयोग दिया है,
वर्णी कालेज ललितपुर को चन्दा खूब किया है,
गुरुकुल और तीर्थ क्षेत्रों को काफी दान दिलाया,
वर्णी ग्रन्थमाला स्थापित करके समृद्ध बनाया,
जैन जाति की सेवा मे बीता जिनका जीवन है,
पंडित फूलचन्द्र शास्त्री का शत-शत अभिनन्दन है।

जाने कितनी उपाधियों से जुड़ा आपका नाता,
पूरी पुस्तक भर सकती यदि खोलें इनका खाता,
वीर प्रभू से यही विनय है इन्हें रहे सुख साता,
जुग-जुग जिये मार्ग दर्शन दें रक्षा करें विधाता,
ये वाणीके जादूगर हैं 'काका' इन्हें नमन है,
श्रीमान् फूलचन्द्र शास्त्री का शत-शत अभिनन्दन है।



हों शतायु काटें भव बंधन

वैद्य कपूरचंद्र विद्यार्थी, दमोह

जो सेवा के लिए समर्पित,
जिनका तन मन सदा रहा है।
जिनवाणी श्रुत के प्रणयन हित
संघर्षों का क्लेश सहा है॥ १॥

दुर्लभ षट्खंडागम जिनने,
संपादन कर सुलभ बनाया।
टीका धवला जयधवला की,
करके जन जन को समझाया॥ २॥

जैनतत्त्वमीमांसा कहती,
विद्वत्ता की गहन कहानी।
महाबंध के संपादन मे,
अतिशयताकी भरी निशानी॥ ३॥

शील स्वभाव मौन सेवा व्रत,
जिनवाणी का पाठन चिंतन।
हर क्षण जिनका ध्येय रहा है,
अन्वेषण शोधन श्रुति बंधन॥ ४॥

ऐसे जिन सिद्धान्त शिरोमणि,
फूलचंद्र जी का अभिनन्दन।
करते मधु मुद मय भावों से,
हो शतायु काटें भव बंधन॥ ५॥



खण्ड २

जीवन परिचय • भेंटवार्ता • रेखाचित्र

मेरे पिताजी

श्रीमती नीरजा जैन, M. Sc., रुड़की

मेरे श्वसुर पूज्य पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री मुझे अपनी बेटीके समान मानते हैं। अतः मेरे लिये वे पिता तुल्य तो हैं ही, मुझे उन्हें पिताजी कहनेमें ही आनन्द आता है; किन्तु घरके अन्य सभी सदस्य उन्हें दादाके नामसे सम्बोधित करते हैं। उनका जन्म वैशाख वदी ४ सन् १९०१ वि० सं० १९५८ को हुआ था। उनके कर्मशील ८४ वर्षोंके लिये यदि एक-एक पृष्ठ भी दिया जाये तो भी कम है।

पिताजीका जन्म बुन्देलखंडके एक गाँव सिलावनमें हुआ था जो कि ललितपुरसे १६ मील दूर है। यह गाँव ललितपुरको महरौनी, मडावरा और टीकमगढसे जोड़नेवाली सड़क पर बसा हुआ है। उनके पिता सिघई दरयावलालजी, प्रसिद्ध बरया वंशके वंशज थे और माताका नाम जानकी बाई था। इनकी सबसे बड़ी एक बहन प्राणोबाई थी, फिर दो बड़े भाई और उनसे छोटे एक भाई हुए। छोटे भाईका नाम श्री भैयालाल है।

तीन चार वर्षकी अवस्थामें ही पिताजीकी आँखें फूल गई थीं। कोई डाक्टरी इलाज तो उस समय उपलब्ध नहीं था, अतः आँखोंमें रोहे पड़ गये हैं, ऐसा समझ कर आँखोंमें नमक घिसा गया जिससे रोहे गल जायें और आँखों पर पट्टी बाँध दी गयी। फलस्वरूप पूरी आँखोंमें सफेद जाला छा गया। आँखोंकी ज्योति बहुत कमजोर हो गई तथा छः इन्च पर रखी हुई वस्तु ही दिखाई दे पाती थी। ऐसी विकट परिस्थितिमें गाँवकी ही एक गूजर स्त्री गौजरन बाईने तीन साल तक पिताजीकी भरपूर सेवा की। उसका नित्यका कार्य था कि हाथीका नख, सफेद रत्ती व लाल चन्दन घिसकर एक विशेष अंजन तैयार करना तथा आँखोंमें लगाना। इस सेवाका ही परिणाम निकला कि आँखोंकी ज्योति पुनः लौट आई और आज ८४ वर्ष की अवस्थामें भी पिताजी अपना पढ़ने-लिखनेका कार्य (६-७ पृष्ठ प्रतिदिन लिखना) स्वयं कर लेते हैं।

पिताजीके दादा मूल रूपसे पासके ही एक गाँव खजुरियाके रहनेवाले थे। वहाँ पर उनके द्वारा निर्मित पक्का मकान भी था। वहाँ पर कभी रथ चला था, जिसमें उनके माता-पिता इन्द्र-इन्द्राणी बने थे। खजुरिया में बरया वंशकी वेदी अभी भी मौजूद है। पिता साहूकारी करते थे और व्यवसाय फैलने पर सिलावनमें आकर बस गये थे। माता-पिता दोनों ही अत्यन्त सीधे स्वभावके थे। अतः साहूकारी धीरे-धीरे घटती चली गई। सिलावनमें ही बसने पर घरमें एक चैत्यालय स्थापित किया जो कि अभी भी विद्यमान है।

घरमें चैत्यालय तथा सडकका गाँव होनेसे व्यापारी बैलगाडियों पर माल लादकर रातको मडावरा, महरौनी आदिसे ललितपुरको जाते हुए या वापसीमें सुबह सिलावनमें पड़ाव करते थे। उस समय बिना दर्शन किये भोजनका प्रश्न ही नहीं उठता था और रास्तेमें सिलावन ही एकमात्र गाँव था, जहाँ दर्शन मिलते थे। इसलिये घर पर दर्शन करने वालोंकी भीड़ लगी रहती थी। रोज चार, छः, दस व्यक्ति बाहरसे आते थे व घर पर ही निवृत्त होकर पूजन इत्यादि करते थे। घरके सभी बालक इन लोगोंकी सेवामें जुटे रहते थे।

पिताजी अन्य भाइयों सहित लोगोंको पानी पिलाना, नहा-धोकर पूजनके लिये कुँएसे जल भर लाना आदि कार्य प्रतिदिन करते थे। सेवा परायणताके संस्कार बाबाजीके कारण पिताजीमें बचपनसे ही बैठ गये थे।

पिताजीकी स्कूली शिक्षा बहुत ही थोड़ी हुई है। सिलावनमें तो स्कूल था ही नहीं, अतः पढ़नेके लिये खजुरियाकी प्राइमरी पाठशालामें पैदल जाना पड़ता था, जो कि सिलावनसे ढाई मील दूर है। रास्तेमें दो नदियाँ पड़ती थीं, जो बरसातमें भर जाती थी। अतः उन्हें घेर कर सडकसे होकर स्कूल जाना पड़ता था। पिताजीकी स्कूलमें कक्षा १ तक की शिक्षा हुई है। फिर, भाइयों तथा गाँवके लड़कोंने स्कूल जाना बन्द कर दिया तो इनका भी स्कूल जाना छूट गया। पढ़नेमें वे बचपनसे ही होशियार थे और कक्षामें प्रथम आने पर उन्हें पुरस्कार स्वरूप एक किताब भी मिली थी। पिताजीको इतना याद है कि सन् १९११ में जार्ज पंचमके गद्दी पर बैठनेकी खुशीमें स्कूलोंमें तमगे बाँटे गये थे। उस समय पिताजीकी अवस्था १० वर्ष की रही होगी।

बड़े भाई अपने मामाके यहाँसे 'तत्त्वार्थसूत्र' पढ़ना सीख आये थे। अतः पिताजी की रुचि हुई कि वे भी तत्त्वार्थसूत्र सीखें। अपने मौसीके लडके श्री रज्जूलाल बरयाके पास उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र पढ़ना सीखा। तत्पश्चात् मबईमें अपनी बहनके यहाँ 'भक्तामर' पढ़ना सीखा।

उस समयकी एक घटना बड़ी रोचक है—पिताजी घोडे पर सवार होकर अपनी बहनके यहाँ जा रहे थे। रास्तेमें टीकमगढ़के परिसरमें एक आदमी सडकसे कुछ दूर हटकर कराहते दिखाई पड़ा। पिताजी अपने घोड़ेसे उतरे व उसके पास गये। वह बुखारसे बेहाल था। अतः पिताजीने उसे घोड़े पर बिठाया और स्वयं लगाम पकड कर पैदल चलने लगे। मार्गमें ही रात हो गयी। थोड़ा आगे चलने पर बाँयीं ओरसे एक सर्प आया और पैरोंमें लिपटता हुआ बिना काटे चला गया। धीरे-धीरे उस आदमीको लेकर बहनके गाँव पहुँचे और उसे वहाँ सुला दिया। बुखार उतरने पर वह प्रातःकाल चला गया।

इन्हीं सबमें पन्द्रह-सोलह वर्षकी आयु हो गई। उस समय साढूमल, सौंरई, जिजियावन आदि गाँव के लड़के इन्दौर सर० सेठ सा० के विद्यालयमें पढ़ने गये थे। खजुरिया गाँवके गड़रया मामाने जब बताया तो पिताजी अपने काकाके पीछे लग गये कि वे भी पढ़ने इन्दौर जायेंगे। छुट्टियोंमें जब लड़के गाँव लौटे तो वापसीमें उन लोगोंके साथ उन्हें इन्दौर भेजा गया। लगभग एक-सवा वर्ष वहाँ पर संस्कृत, छहढाला, आदि का अध्ययन किया। उस समय विद्यालयमें प्रधानाध्यापक स्व० श्री पं० मनोहरलालजी थे व स्व० श्री पं० अमोलकचन्दजी धर्माध्यापक थे। बाबू सूरजमलजी सुपरिटेण्डेण्ट थे और लाला हजारीलालजी मन्त्री थे।

वहाँसे गर्मी की छुट्टियोंमें घर लौटते समय उनके पास घरसे काफी पैसे आ गये थे। शौकमें आकर उन्होंने कोट, पैण्ट, कमीज बनवाया, एक बेल्ट व मूठ लगी छड़ी खरीदी। जिस दिन इन्दौरसे चलना था, दर्जीने उस दिन कपड़े नही दिये। उन्होने अपने साथियों से जब कहा कि अगले दिन चलेंगे, तब वे सब बड़े नाराज हुए। उन्हें छोड़कर वे सभी गाडी पकड़ने स्टेशन चले गये पर समयसे नहीं पहुँचनेके कारण गाड़ी छूट गयी और सब साथियोंको उल्टे पांव वापस आना पड़ा। सबको लौटते हुए देख पिताजीने खूब तालियाँ बजाई व मजाक उडाया। इस पर वे सब और क्रुद्ध गये और सबने तय किया कि फूलचन्द्रको साथ लेकर नहीं चलेंगे, इसलिए वे खंडवा होकर चल दिये। दैवयोगसे भोपालमें पिताजीकी उनसे पुनः भेंट हो गई।

ललितपुर पहुँचने पर उन सबने एक अलग बैलगाडी की व पिताजीको उसमें शामिल नहीं किया। उसी बैलगाडीमें तीन लुटेरोंने भी सांझा किया। रात हो जाने पर वे लुटेरे नियत स्थान पर उतरे। गाड़ीवानने जब पैसे माँगे तो उन्होंने लडकों व गाडीवानको पीटा तथा सामान छीन लिया। उधरसे निकलने वाली सभी गाडियोंको वे लूटते रहे। पिताजीकी गाडी जब पीछेसे आई तो उसे भी लुटेरोंने रोका। पिताजी अपनी नयी अँग्रेजी पोशाकमें, हाथमें चमकीली मूठ वाली छड़ी लिए गाड़ीमें सो रहे थे। गाड़ीवानने भयभीत होकर

पिताजीसे कहा, 'बाबूजी ! बाबूजी ! देखिये ये क्या कहते हैं ।' लुटेरोंने भी झाँककर छड़ी आदि देखी तो समझा कि कोई अँग्रेज अफसर है, और गाड़ी छोड़कर भाग लिये । उनके सभी साथी तो ललितपुरके अस्पतालमें भर्ती किये गये, किन्तु पिताजी घर पहुँच गये । गर्मीकी छुट्टियाँ खत्म होनेपर वे पढनेके लिए फिर इन्दौरको चले पर रास्तेमें मन उचाट हो गया और भोपालसे ही लौट आये । फिर काफी दिन तक घर पर ही रहे ।

कुछ दिनों बाद पिताजी, अपने पिताजीके साथ, सैलोनी एक विवाहमें सम्मिलित हुए । चूँकि पिताजी इन्दौरसे पढ़कर घर आये थे इसलिए पिताजीको देखनेकी सबको उत्सुकता होने पर, उन्हें बुलाया गया । एक बुजुर्गने पिताजीसे पूछा "बेटा, कबै आये हौ ।" पिताजीके यह उत्तर देने पर कि "अभी तो आया हूँ", वे बुजुर्ग सिरसे पीठ तक हाथ फेरते हुए बोले "ओ, बेटा तो तुर्की सीख आओ ।" यह व्यंग सुनकर पिताजीकी आँखोंमें आँसू भर आये और तभी उन्होंने निश्चय किया कि अपनी भाषा और अपने पहनावेको कभी नहीं भूलेंगे । पिताजीके इस निश्चयकी झलक आज भी उनके जीवनमें देखी जाती है ।

उसी समय साढूमलमें स्व० सेठ लखमीचन्द्रजीने छात्रावास सहित एक पाठशाला खोली । एक बार ललितपुर जाते समय सेठजी सिलावनमें घर पर रुके तब उन्होंने पिताजीको नये फैशनके कपड़े पहने घूमते देखा । उन्होंने पूछा कि ये कौन है व ज्ञात होने पर, पिताजीको साढूमल पाठशालामें पढ़नेके लिए बुला लिया । पिताजीने वहाँ पर मध्यमा तक अध्ययन किया । स्व० पू० पं० घनश्यामदासजी प्रधानाध्यापक थे । वे व्युत्पन्न विद्वान् थे । वर्तमानमें जो कुछ पिताजी हैं वह सब उनके परिश्रमका फल है ।

साढूमलमें जब गांधीजीका १९२० में आन्दोलन चला तो पिताजी उसमें भाग लेने लगे और गाँवके लोगोंको एकत्रित करके व्याख्यान आदि देने लगे । इससे घबडाकर कलक्टरकी ओरसे संदेश आया कि यह आंदोलन बन्द हो, अन्यथा पाठशाला बन्द कर दी जायेगी । सेठजी राष्ट्रीय विचारधाराके व्यक्ति थे । बुन्देलखण्डमें उन्हींके सत्प्रयत्नोंसे बेगार प्रथा बन्द हुई थी । अतः उन्होंने पिताजी आदिको बुलाकर कहा कि 'तुम लोग सेवाका कोई दूसरा रास्ता चुन लो । ये तुम्हारे पढनेके दिन है, इसलिए इस आन्दोलन में पड़नेसे कोई लाभ नहीं है ।" अन्तमें पिताजीने अपने सहयोगियोंसे विचार-विमर्श करके 'मुट्ठी फण्ड' की स्थापना की और अनाज इकट्ठा करके उसे गरीबोंमें वितरित करते रहनेका कार्य चालू किया ।

वहाँसे फिर वे मुरैना विद्यालयमें पढ़ने चले गये । वहाँ श्री पण्डित जगन्मोहनलालजी शास्त्री व श्री पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री उनके सहाध्यायी थे । स्व० श्री पण्डित वंशीधर जी न्यायालंकार वहाँ पर कर्मकाण्ड पढ़ाते थे । वे पिताजीकी कुशाग्र बुद्धिसे बहुत प्रभावित हुए । धर्मशास्त्रमें पिताजीकी विशेष रुचि थी, इसीलिए उनकी प्रसिद्धि भी हो गई थी । स्व० श्री प० बंशीधरजीको सन्तोष हो चला था कि उन्हे ऐसा छात्र मिल गया है जो उनके बाद भी उनकी विद्याको जीवित रखेगा । मुरैना विद्यालयमें ही पू० पं० देवकीनन्दनजी सिद्धान्तशास्त्रीसे पिताजीका परिचय हुआ । पं० जी स्वभावसे ही उदारमना व्यक्ति थे । मुरैनामें ही ऐसा प्रसंग आया कि बुन्देलखण्डके सभी छात्रों व अध्यापकोने मुरैना विद्यालय छोड दिया । मुरैनामें अपनी शिक्षा पूरी करके पिताजी घर लौट आये ।

उसी समय बुन्देलखण्डमें ही एक शिक्षा संस्था खोली जाये इस विचारसे उपयुक्त स्थानकी खोज होने लगी । इसके लिए जबलपुर उचित दिखाई पड़ा । जबलपुरकी समाजके पास उपयुक्त भवन होनेसे इसके लिए वह तैयार भी हो गई । पू० बडे वर्णीजीके वहाँ पहुँचने पर एक लाख रुपये का चन्दा भी हो गया । उस समय श्रद्धेय पं० बंशीधरजी न्यायालंकार व श्रद्धेय पं० देवकीनन्दनजी भी उपस्थित थे । श्रुत पंचमी का दिन (संवत्

१९२२-२३) उद्घाटनके लिए निश्चित किया गया। बादमें स्व० पं० देवकीनन्दनजी सा० तो कारंजा चले गये तथा पू० वर्णीजी, स्व० श्री बंशीधरजी और पिताजी अपने-अपने स्थानोंको लौटते समय रास्तेमें कटनी रुके। वहाँ जिन मन्दिरमें जाकर सबने दर्शन पूजन किया। बादमें दोनों विद्वान् तो सामायिक करने लगे और पिताजी कर्मकाण्ड का स्वाध्याय करने लगे।

इसके बाद पू० वर्णीजीके सामायिकसे निवृत्त होकर वहाँ आने पर पिताजीने उनके सामने चौकी व कर्मकाण्ड ग्रन्थ रख दिया। पर अपने स्वभावके अनुसार उन्होंने पिताजीको ही प्रवचन करनेके लिए प्रेरित किया। पिताजीके बहुत मना करने पर भी वे नहीं माने। अन्तमें पिताजीको ही प्रवचन करनेके लिए बाध्य होना पड़ा। गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) पिताजीका पठित विषय तो था ही इसलिए उन्हें उसका प्रवचन करने में कोई कठिनाई नहीं हुई। इसी समय स्व० श्री बंशीधरजी भी सामायिक पूरी करके वहाँ आ गये। पू० वर्णीजी उनसे बोले, 'भैया यह लड़का तो बहुत होशियार दिखता है।' पण्डितजीके समर्थन करने पर वर्णीजी बोले, 'भैया! श्रुत पंचमीके दिन तुम जबलपुर अवश्य आ जाना। तुम्हारी अध्यापक पद पर हमने नियुक्ति कर ली है। अपने गुरुजीके पास पढ़ना भी व पढ़ाना भी।'

उनकी आज्ञानुसार पिताजी श्रुतपंचमीको जबलपुर पहुँच गये और शिक्षा मन्दिरका उद्घाटन होने पर वे अपने नियत कार्यमें लग गये। पर वहाँकी व्यवस्थाकी सम्यक् देख-रेख न होनेसे पिताजी ७-८ महीनेके भीतर ही शिक्षा मन्दिर छोड़कर बनारस चले गये।

जबलपुरमें ही रहते हुए पिताजीका बाबू फूलचन्द्र जी, (जो बादमें जज हुए) से अच्छा स्नेह हो गया था। बाबू फूलचन्द्र जी उस समय शिक्षा मन्दिरमें ही रहते थे व कॉलेज पढ़ने जाते थे। उनके साथ एक बड़ी आकर्षक घटना घटी। वे नल पर स्नान करने गये थे। स्नानके पहले उन्होंने गलेसे सोनेकी चेन निकालकर एक तरफ रख दी जिसमें उसपर किसीकी नजर न पड़े। फिर उनके ध्यानसे यह बात उतर गयी व चेन वहीं छोड़कर वे चले आये और कॉलिज चले गये। कुछ समय बाद पिताजी निवृत्त होने वहाँ गये और हाथ धोनेके लिए मिट्टी खोजते समय उस चेन पर उनकी नजर पड़ गई। लगभग १० तोलेकी उस चेनको पिताजीने गलेमें पहन लिया व कुर्तेके बटन बन्द कर लिए जिससे किसीको दिखाई न दे। शिक्षा मन्दिरमें लौटने पर बाबू फूलचन्द्र जी बड़े हताशसे दिखाई दिये और उन्होंने अपनी चेन भूल जानेकी बात बताई। वे अपनी माँ की डाँटसे बहुत डर रहे थे। पिताजीने उनसे कहा कि चलो खोजते हैं और वहाँ जाकर दोनों ढूंढ़ने लगे। काफी देर हो जाने पर जब पिताजीने देखा कि बाबू फूलचन्द्र जी बहुत हताश हो चुके हैं और आँखोंमें आँसू भर आये हैं तो पिताजीने अपने कुर्तेके बटन खोल लिए जिससे कि चेन बाहर निकल आयी। कुछ देरमें बाबू फूलचन्द्रजीकी नजर पिताजी पर पड़ी तो चेन दिखाई दे गई और वे बोले कि तुमने पहले क्यों नहीं बताया। इस पर पिताजीने कहा कि तुम्हें फिर परेशान कैसे करते।

बनारसमें पू० बड़े वर्णीजीसे पिताजीकी पुनः भेंट हो गई। उन्होंने पिताजीको विशेष बुद्धिमान समझकर उनकी विशेष वृत्ति २५) रु० महीना निश्चित कर दो। २-३ महीने तक वे वहाँ पर रहे। गर्मीकी छुट्टियोंमें घर लौट आये। किन्तु उसी समय पिताजीका विवाह हो गया। उनकी धर्मपत्नीने जीवन भर उनकी बहुत सेवाकर अपने सौभाग्य, शीलका अच्छा परिचय दिया। घरकी स्थितिको समझकर स्व० पूज्य पं० देवकीनन्दनजीके अनुरोधपर उन्होंने साढ़ूमल विद्यालयका प्रधानाध्यापकका पद स्वीकार कर लिया। किन्तु ७-८ महीने बाद बनारस विद्यालयके विशेष आमंत्रणपर वे साढ़ूमलका पद छोड़कर सन् १९२४ में धर्माध्यापक होकर बनारस चले गये। वे बनारस हिन्दू विश्वविद्यालयमें भी प्रति शनिवारको धर्मकी शिक्षा देनेके

लिये जाते थे। फलस्वरूप वहाँसे २५) रु० तथा विद्यालयसे ५०) रु० वेतन मिलता था। इससे वे अपना और अपने भाइयों सहित परिवारके निर्वाहमे सहयोग करते रहे। इस प्रकार बनारसमे लगभग चार बर्ष निकल गये। कारण विशेष होनेपर सन् १९२८ में वे त्यागपत्र देकर सिलावन लौट आये।

किसी कार्यवश पिताजीको बीना जानेका अवसर मिल गया। उस दौरान वहाँकी समाजने पिताजीको शास्त्रसभाके लिये आमंत्रित किया। उन्होंने सभामे प्रवचन किया। उसे सुनकर स्व० श्रीमान् सिंघई परमानन्दजीने अपनी गोदीमें बिठा लिया और बोले, 'पाठशालाके लिये ऐसा ही विद्वान् चाहिये।' अन्तमें प्रधानाध्यापक पदपर पिताजीकी नियुक्ति हो गयी। वहाँपर ६०) रु० महीना वेतन निश्चित हुआ।

पाठशाला खुलनेपर पिताजीने वहाँका काम सम्भाल लिया। कुछ समय तो कार्य करते ही निकल गया। बादमें उनके विचारमे आया कि अपने भाइयों सहित पूरे कुटुम्बको बुलाकर उनके लिये दुकान क्यों न खुलवा दी जाये। उस समय एक दुकान भी खाली हो रही थी। इसलिये उन्होंने सबको बीना बुला लिया और उन्हे दुकान करवाकर सब साथमे रहने लगे। इस कालमें स्व० श्री सिंघईजीसे स्नेह स्थापित हो गया और उनके जीवन पर्यन्त बना रहा। सिंघईजीको कोई सन्तान नही थी। अतः स्वर्गवास होनेके पूर्व पिताजी की सलाहसे उन्होंने अपने कुटुम्बके एक लडकेको बुलाकर उसको गोद ले लिया।

पिताजीकी राजनीतिक गतिविधियोंका जिक्र हम पहले भी कर चुके है। बीनामे रहते हुए उनकी यह गतिविधियाँ बराबर जारी रही और वे कांग्रेसके आंदोलनोंमे भी शरीक होने लगे। वे छात्रों और जनताको लेकर जुलूस निकालते रहे तथा विदेशी वस्त्रोंके बहिष्कारमे सक्रिय सहयोग देते रहे। इसके लिये उन्होंने एक युक्ति यह निकाली थी कि मंदिरमे देशी वस्त्र रखवा देते थे। जो भी महिला विदेशी साड़ी पहनकर आये वह उतारकर देशी साड़ी पहन जाये।

बीनामे पिताजी चार वर्षों तक रहे और राजनीतिक आन्दोलनके अलावा वे कई सामाजिक आन्दोलन चलाते रहे। इनमे समैयाओंको मिलाना मुख्य है। हिम्मत, जूझनेकी प्रवृत्ति व निस्पृहता पिताजीमे कूट-कूटकर भरी है इसका प्रमाणस्वरूप ये कुछ चुनी हुई घटनाएँ दी जाती है।

श्री पं० कमलकुमारजी व्याकरणतीर्थ बनारसमे पढ़ते थे। वे अंतिम वर्षकी परीक्षामे फेल हो गये थे। उन्होंने बीनामे पिताजीको लिखा। पिताजीने उनको बीना बुला लिया और समाजसे छात्रवृत्ति निश्चित करा दी। कुछ दिन वे बीनामे पढाते रहे और फिर उन्हे परीक्षा आदि देनेके लिये छुट्टी देकर बनारस भेज दिया। परीक्षा देकर वे पुनः बीना आ गये। उसी समय विद्यार्थी छोटेलाल पिताजीके पास आया और कमलकुमारजीके साथ अपनी बहनकी शादी करानेको कहने लगा। पं० कमलकुमारजीसे पूछनेपर उन्होने आर्थिक स्थितिकी कठिनाई बतलाई, किन्तु समझानेपर वे विवाहके लिये तैयार हो गये। आर्थिक स्थितिमे जो कठिनाई थी उसका हल निकालकर यह विवाह सम्पन्न करा दिया।

समैया समाज, परवार समाजका एक अंग है, यह समझकर पिताजीकी हमेशा यह इच्छा रही है कि इन दोनों समाजोंको एक हो जाना चाहिये। आगासौद वाले सेठ मन्नूलालजीसे पिताजीका अच्छा सम्पर्क था। इसलिये उनके आग्रहपर पिताजी मल्हारगढ़ सिंघईजीके वार्षिकोत्सवमे सम्मिलित हुए। वहाँ पहुँचनेपर ज्ञात हुआ कि मल्हारगढकी जैन समाजके भाई आमंत्रण देनेपर भी समैया समाजके प्रीतिभोजमे सम्मिलित नही होते हैं। इस कारण वहाँकी जैन समाजने पिताजीको भी अलगसे भोजनके लिये आमंत्रित किया जिससे वे भी प्रीतिभोजमें सम्मिलित न हो सके। परन्तु पिताजीने उनकी बात अनसुनी कर दी एवं समाजके लोगोंको ही प्रीतिभोजमें शामिल होनेके लिये राजी कर लिया। इसमे दोनों समाजोंमे मेलका वातावरण बननेकी अनुकूल स्थिति दिखाई देने लगी।

समैया समाजसे ही सम्बन्ध रखने वाली एक और घटना है। विद्यार्थी छोटेलालकी बहन का पं० कमलकुमारजीके साथ विवाह करा ही दिया था, उससे प्रभावित होकर छोटेलालजीकी माँ अपनी दूसरी लड़कीको लेकर पिताजीके घर आ गईं और बताया कि समैया समाजका एक लड़का उन्होंने अपनी लड़कीके साथ विवाहके लिये निश्चित कर लिया है, लड़का भी सहमत है। परन्तु बीनाकी पूरी समाजकी इसपर गहरी प्रतिक्रिया हुई और जिस दिन सगाईका दस्तूर निश्चित हुआ उसी दिन स्व० श्रीसिंघईजी श्रीनन्दलालजीकी बैठकमें जैन समाज एकत्रित हुई। उसमें पिताजीको बुलाया गया और उनसे कहा गया कि, 'इस विवाहको करानेमें आपकी साजिश है ऐसा मालूम हुआ है। अतः आप इस सम्बन्धको रोक दें।' पिताजीके यह कहनेपर कि, 'मेरा इसमें कोई हाथ नहीं है, अलबत्ता इसके कि लड़कीकी माँ मेरे यहाँ ठहरी हुई है,' 'समाजने उनसे आग्रहपूर्वक कहा कि, 'यदि ऐसी बात है तो आपको इस सगाईके दस्तूरमें सम्मिलित नहीं होना चाहिये। फिर भी आप नहीं मानेंगे तो आप विचार कर लें कि इसका नतीजा क्या होगा।' इसपर पिताजीने उत्तर दिया, 'क्या होगा, चूहेकी दौर मगरे तक', और क्या होगा। इसके बाद बैठक समाप्त हो गई और पिताजी उठकर चले आये। फिर भी बीनाकी समाजने मेरे प्रति कोई प्रतिकूल प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की।

बीनामें रहते हुए एक दूसरी घटना घटित हो गई। पिताजी बीनामें है यह जानकर ब्र० शीतलप्रसाद जी बीना आये। उनके प्रति समाजमें कुछ कारणोंसे रोष होनेसे, उनका विरोध होने लगा। इसलिये पिताजी के सामने कठिन समस्या उपस्थित हो गयी। किसी तरह पिताजीने उनका निर्वाह किया व रातमें उनके व्याख्यानके लिये सार्वजनिक सभा बुलायी। सभाके दौरान सभाके मंत्रीका पत्र मिला कि आप इस सभाको बन्द करायें अन्यथा समाजको इसपर विचार करना पड़ेगा। किन्तु पिताजीको मालूम था कि बीना समाजने ब्रह्मचारीजीका बहिष्कार नहीं किया है, इसलिये पिताजीने आजीविकाकी न चिन्ता करते हुए भी सार्वजनिक रूपसे यह घोषणा कर दी कि सभाके मंत्रीका वह पत्र व्यक्तिगत ही समझा जाये तथा सभाको बराबर चालू रखा।

बीनामें जिस मकानमें मास्टर कनछेदीलालजी रहते थे उसीमें पिताजी भी रहते थे। इसलिये पिताजी का मास्टर सा० से अच्छा सम्बन्ध होनेके कारण, उनकी पत्नीका देहावसान होनेपर, अंतिम संस्कारकी पूरी व्यवस्था पिताजीको ही करनी पडी। मा० साहबकी पत्नीके पास सोनेका काफी जेवर था। दाह संस्कारके समय उनके शरीरसे और जेवर तो उतार लिया गया, परन्तु बाहोंपर सोनेकी बखुरियोंपर किसीका ध्यान नहीं गया क्योंकि वे ब्लाउजके अन्दर थीं।

तीसरे दिन श्री पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री भी आ गये थे, क्योंकि उनका मास्टर मा० से स्नेह सम्बन्ध था। अतः पिताजी व पंडितजी दोनों ही राख समेटनेके लिये श्मशान भूमि गये। राख समेटने हुए बखुरियाँ हाथमें आ गईं। उन्हें देखकर पंडितजीने पिताजीको यह सलाह दी कि वे अपने पास ही उनको रख लें और जब मास्टर मा० को याद आये तब उन्हें सौंप दें। किन्तु पिताजीने कहा, 'हम साधारण परिस्थिति के आदमी हैं। लोग समझेंगे कि पची नहीं, इसलिये बता रहे हैं। अतः अभी चलकर उन्हें सौंप देना चाहिये, स्नान बादमें करेंगे।'

बीना पाठशालाकी आर्थिक स्थिति कमजोर हो जानेके कारण पिताजीको बीनासे नातेपुते (सोलापुर) जाना पड़ा। वहाँ पिताजी लगभग छः वर्ष रहे। वहाँपर भी उनकी राजनीतिक व सामाजिक गतिविधियाँ बराबर चालू रहीं।

राजनीतिक दृष्टिसे वे कांग्रेस कमेटीके सदस्य होनेके नाते नातेपुते (सोलापुर) में हुए जिला कांग्रेस अधिवेशनमें तथा श्री नरीमैनकी अध्यक्षतामें हुए पूनाके तथा लोहपुरुष बल्लभभाई पटेलकी अध्यक्षता में हुए यवतमालके प्रांतीय कांग्रेस अधिवेशनोंमें सम्मिलित हुए।

वहाँ रहते हुए पिताजीने आचार्य शान्तिसागर सरस्वती भवनकी ओरसे एक प्रेसकी स्थापना कर उसका संचालन किया और उसकी ओरसे "शान्ति सिन्धु" नामक मासिक पत्रका सम्पादन भी किया। पत्र लगभग दो वर्ष चला।

इसी बीच एक क्षुल्लक श्री विमलसागरजीको पिताजी पढाते रहे। वे बेलगाँवके रहने वाले थे जहाँ उन्होंने गाँवके बाहर जंगलमे एक कुटिया बना रखी थी। गर्मीमे वे वहाँ चले गये और वहाँके भाइयों द्वारा पिताजीको आमन्त्रित कर लिया। वहाँ पर पिताजी एक महीना रहे। वहाँ रहते हुए वे रात्रिमे क्षुल्लकजीके पास चले जाते थे। सेठ कल्लप्पा अन्ना लेगडेका एक नोकर लालटेन लेकर पिताजीको वहाँ पहुँचा आता था, और सुबह १० बजे वे सेठजीके घर आ जाते थे और दिनमें वही रहते थे। रातको पुनः कुटिया पर चले जाते थे। एक दिन पता लगा कि सेठजीकी पत्नी पिताजीकी झूठी थाली नही छूती हैं। यह ज्ञात होनेपर पिताजीने सेठजीसे कहा कि वे उनके यहाँ भोजन नहीं करेंगे। कारण पूछनेपर पिताजीने बताया कि आपके घरपर आपसमें भी छुआ-छूतका पालन होता है। यह सुनकर सेठजी बोले कि उसे (पत्नीको) तो वे समझा नही सकते, पर जब वे नातेपुते आयेंगे तो पिताजीके घर अवश्य भोजन करेंगे। इतना ही नही, उन्होंने अपने इस वचनका पालन भी किया।

जैसा कि अभी-अभी लिखा जा चुका है कि सेठजीका आदमी रोज रातको पिताजीको कुटियामे पहुँचा आता था। एक दिन वह पिताजीको पहुँचाने गया तो उसने कुटियाके पीछे कुछ लोगोंको मन्त्रणा करते देखा। यह देखकर उसने पिताजीसे कहा कि पंडितजी कुटियाके पीछे चोर बैठे हैं। यह सुनकर पिताजीने कहा कि होंगे हमें क्या मतलब, और भयवश लघुशंका करने लगे। इसके बाद कुटियामे पहुँचकर दरवाजा बन्द कर लिया। फिर उन लोगोंने नौकरको पकडकर मारना शुरू कर दिया। नौकरकी चिल्लाहट सुनकर पिताजीने थोडा दरवाजा खोला कि उनके कुल्हाडी दिखानेपर दरवाजा बन्द कर लिया। फिर भी उसे पिटता हुआ देखकर पिताजीके पुन दरवाजा खोलनेपर, उन लोगोंने नौकरकी कमीज, पायजामा व लालटेन छुड़ा ली व उसे धक्का देकर कुटियाके अन्दर कर दिया। अन्तमे जब पिताजी वहाँसे चलने लगे तो सेठजीने उन्हे सत्कारपूर्वक बिदा किया।

सन् १९३६-३७ में फलटणमें व्यवहारवादी और अध्यात्मवादी भाइयोंके मध्य भाव-मनको लेकर वाद-विवाद चल पडा। समस्याका हल न देखकर, "शान्ति सिन्धु" के सम्पादक होनेके नाते पिताजीको लिखा गया। पिताजीने "शान्ति सिन्धु" मे टिप्पणी द्वारा उसका खुलासा किया, किन्तु उससे व्यवहारवादी सन्तुष्ट नही हुए और पिताजीको फलटण बुलाया। वहाँ पहुँचकर पिताजीने अनेक प्रमाण देकर उन्हे समझाया फिर भी वे लोग संतुष्ट नही हुए। उनका कहना था कि भाव-मनसे केवलज्ञान प्राप्त होता है, इसलिए वह आत्माकी शुद्ध पर्याय हैं। बहुत चर्चा होनेके बाद उन्होने पिताजीको पुनः स्पष्टीकरण लिखनेको कहा। पिताजीने इस विषयको ध्यानमे रखकर एक स्वतन्त्र लेख "शान्ति सिन्धु" मे प्रकाशित किया। उस लेखमे पिताजीने स्पष्ट कर दिया कि "भाव-मन आत्माके ज्ञानकी विभाव पर्याय है किन्तु पुद्गलके निमित्तसे होनेके कारण उसे आगम पौद्गलिक भी स्वीकारता है। इसलिए स्वभावके आलम्बनसे होनेवाला उपयोग ही स्वभाव पर्यायका उपादान हो सकता है, अन्यका आलम्बन करने वाला उपयोग नही।" परन्तु इस चर्चाने आगे चलकर इतना तूल पकडा कि अन्तमे पिताजीको वहाँसे हटना ही पड़ा।

इस प्रकारकी घटनाये पिताजीके जीवनमे भरी पड़ी है। नातेपुते छोड़कर पिताजी बीना अपने घर आ गये। इतना सब हो जानेके बाद भी उन्होंने अपनी राजनीतिक व सामाजिक गतिविधियों को बराबर चालू रखा।

इसी बीच अमरावतीमें स्व० श्री डॉ० हीरालालजीने एक पत्र द्वारा पिताजीको धवला (षट्खंडागम) के सम्पादनमें सहयोग करनेके लिये आमंत्रित किया। स्व० श्री पं० हीरालालजी शास्त्री वहाँ पहले ही पहुँच चुके थे और उन्होंने सत्प्ररूपणा प्रथम पुस्तक का अनुवाद कर भी लिया था। परन्तु उनके मुद्रणकी स्वीकृति धवला प्रबन्ध समिति नहीं दे रही थी इसलिए पिताजीको वहाँ बुलाया गया था। पिताजीके वहाँ पहुँचने पर स्व० डा० हीरालालजीने कहा कि "श्री पं० हीरालालजीने यह अनुवाद किया है। इसमें आप जो भी संशोधन करना चाहे या पुनः अनुवाद करना चाहे इसके लिये आप स्वतन्त्र हैं।" पिताजीने उसको ख्यालमें रखकर दूसरी प्रेस कापी तैयार की।

पिताजीको यह तो मालूम ही था कि धवला समिति इसके मुद्रणकी स्वीकृति नहीं दे रही है। इसलिए पिताजीने डॉ० सा० के सामने एक प्रस्ताव रखा कि यदि वे स्वीकार करें तो पिताजी इस अनुवादको लेकर स्व० श्री पू० पं० देवकीनन्दनजीको कारंजा दिखा लाया करे। उनकी इसमे अनुमति मिलने पर पिताजी १०-१५ दिनमें कारंजा जाने लगे तथा मूल व अनुवाद पढ़कर उन्हें सुनाने लगे। फल यह हुआ कि अन्तमें उसके मुद्रणकी स्वीकृति मिल गई और इस प्रकार एक वर्षके भीतर षट्खंडागम (धवला) की प्रथम पुस्तकका प्रकाशन हो गया।

यह क्रम दूसरी, तीसरी व चौथी पुस्तकके मुद्रण तक चलता रहा। किन्तु स्व० श्री पं० हीरालालजी तथा पिताजीमें अनबनकी स्थिति बने रहनेके कारण पिताजी अमरावती छोड़कर बीना चले आये। उसी समय पिताजीके प्रथम बालकका स्वर्गवास भी हो गया था। बीना चले आनेका यह भी एक कारण था।

उसी समय देवगढमें गजरथ होनेवाला था तथा श्री गजाधरजीके दस्साओंके यहाँ विवाह करनेके कारण समाजमें हलचल उत्पन्न हो गयी थी। इसलिए पिताजीने इन दोनों बातोंकी ओर विशेष ध्यान देकर उन्हें आन्दोलनोंका रूप प्रदान कर दिया।

पिताजीका दस्साओंको मंदिरमें पूरी सुविधा दी जाय यह आन्दोलन तो पहलेसे ही चल रहा था कि इसी बीच बामौराके गजाधर नामक एक युवकने दस्साओंके यहाँ शादी कर ली। इस कारण समाजके द्वारा उसका मंदिर बन्द करने पर खुरईमें दोनों पक्षोंमें मुकदमा चलने लगा। पिताजी दस्सा पूजाधिकारके पक्षधर तो थे ही, इसलिए उन्होंने उसके मुकद्‌मेमें दिलचस्पी ली और गजाधरकी ओरसे गवाही देने खुरई भी गये। वहाँ पिताजीके बड़े साले श्री मुन्नालालजी वैद्यने पिताजीको भोजनके लिये आमंत्रित किया। खुरईकी समाजने पिताजीको भोजन करानेसे वैद्यजीको रोक दिया। फलस्वरूप पिताजी भोजन करनेके लिये दस्साओंके यहाँ गये।

इसके बाद यह आन्दोलन फिर भी चालू रहा। कुछ समय बाद कुरवाईमें परवार सभाका अधिवेशन होने वाला था कि इसी बीच पूज्य प० देवकीनन्दनजी बीना आये और स्व० श्री सिघई श्रीनन्दनलालजीके यहाँ भोजन करके चले गये। किन्तु यह कहते गये कि यदि फूलचन्द्र (पिताजी) कुरवाई अधिवेशनमें आयेंगे तो मैं नहीं आऊँगा।

परन्तु किसी कार्यवश पिताजीको इन्दौर जाना पड़ा। वहाँपर पिताजी स्व० श्री पं० देवकीनन्दनजी के यहाँ ही ठहरे। पंडितजीने पिताजीको कुरवाई चलनेका आग्रह किया। यह सुनकर पिताजी बिगड़ पड़े और बोले, 'बीनामें तो आप कुछ और कह आये हैं और यहाँपर चलनेका आग्रह करते है।' अन्तमें पंडितजी बोले कि मैंने तुम्हारी दृढता समझ ली है, अतः तुम्हारे साथ सभाको समझौता ही करना पड़ेगा ऐसा दिखाई देता है। इसलिये वे दोनों कुरवाई गये।

कुरवाईमें परवार सभाका अधिवेशन होनेपर पिताजीकी ओरसे यह प्रस्ताव रखा गया कि दस्साओं को मन्दिर प्रवेश एवं पूजा प्रक्षालका अधिकार दिया जाये। पिताजी द्वारा यह प्रस्ताव रखे जानेपर दोनों ओर से वाद-विवाद चलता रहा। अन्तमें यह सुझाव आया कि दोनों ओरसे एक उपसमितिका निर्माण किया जाये और उसके अध्यक्ष पं० देवकीनन्दनजी हों और दिनमें उसकी बैठक होकर उसमे जो निर्णय हो उसको सभाके सामने रखा जाये। इस आधारपर दोनों ओरके सदस्योंकी एक उपसमिति बनी। समाजकी ओरसे स्व० सवाई सिंघई गनपतलालजी गुरहा, खुरई, सवाई सिंघई धन्यकुमारजी, कटनी, स्व० श्री चौधरी पलटूरामजी, ललितपुर और श्री पं० जगन्मोहनलालजी, शा० कटनी, चुने गये, पिताजीकी ओरसे स्व० पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य, स्व० श्री नन्दकिशोरजी वकील, विदिशा और पिताजी चुने गये।

दूसरे दिन दोपहरको १ बजे यह सम्मिलित बैठक हुई जो तीन घंटे चली। बैठक इस नतीजेपर पहुँची कि सभा यह प्रस्ताव पास करे कि 'अपने-अपने गाँवकी परिस्थितिको ध्यानमे रखकर दस्साओंके लिये मन्दिर खोल दिया जाये। परवार सभा इसमे पूरो तरह सहमत है।' इस प्रस्तावको परवार सभाने स्वीकार कर लिया। फलस्वरूप पिताजीने यह आन्दोलन करना बन्द कर दिया।

पिताजीको सदामे ही यह चिन्ता रही है कि समाजका पैसा व्यर्थमे खर्च न हो। ऐसे बहुतसे कार्य हैं जिनकी ओर समाज बिल्कुल ध्यान नही देती। जैसे कि समाजके बहुतसे व्यक्ति असमर्थ या आजीविका हीन हैं। ऐसी बहुतसी विधवायें है जिनके संरक्षण व खाने पीनेकी समुचित व्यवस्था नही है, ऐसे बहुतसे पुराने मन्दिर है जो जर्जर स्थितिमे है और उनकी मरम्मत व पूजनादिकी समुचित व्यवस्था नही है। देश कालके अनुसार साहित्यको प्रकाशमें लानेकी ओर भी समाज ध्यान नही देती है। ये और इसी प्रकारकी कई और भी जटिल समस्याएँ है जिनकी ओर समाजका चित्त आकर्षित करनेके लिए तथा जहाँ मन्दिरों व वेदियोंकी बहुलता है, वहाँ नये मन्दिर या वेदियोंका निर्माण रोकनेके लिए, पिताजीने गजरथ विरोधी आन्दोलन प्रारम्भ किया था। पिताजी जहाँ आवश्यकता हो वहाँ पंचकल्याणक प्रतिष्ठाके विरुद्ध नही थे। किन्तु सामाजिक प्रतिष्ठाके ख्यालसे जो भाई आवश्यक रूपसे मन्दिर या वेदीका निर्माण कर पचकल्याणक प्रतिष्ठा आदि द्वारा गजरथ चलाकर सिंघई, सवाई सिंघई आदि बनते है उसके विरुद्ध अवश्य है।

इस आन्दोलनका समाजने स्वागत भी किया और विरोध भी। फल स्वरूप जबलपुरमें इसपर विचार करनेके लिए परवार सभाका एक अधिवेशन बुलाया गया। उसमें पिताजी भी सम्मिलित हुए। इस समाजकी यह विशेषता है कि पिताजीका एक विरोधीके रूपमे सम्मिलित होनेपर भी उनके साथ किसी प्रकारका असद्-व्यवहार नही किया गया। किन्तु सभाका अधिवेशन प्रारम्भ होनेपर उनके बगलमें श्री रज्जूलाल बरयाको अवश्य बिठा दिया गया। परिणामस्वरूप पिताजी जब गजरथ विरोधी आन्दोलनके प्रस्तावके समर्थनमें बोलनेके लिए खड़े होना चाहते थे तो श्री रज्जूलाल बरया पिताजीका कुरता पकड़कर उन्हे उठने नही देते थे, और कहते थे कि तुम अपने पिताजीसे पूछो कि वे इन्द्र-इन्द्राणी क्यों बने थे। अंतमे पू० पं० देवकीनन्दनजी सर्वानुमति से पंच चुने गए और सभाने यह तय किया कि देवगढके गजरथमे उनके फैसलेको ध्यानमे रखा जाए। पू० प० जीने अन्तमें जो फैसला दिया उसकी मुख्य बातें इस प्रकार है—

१. विरोध पक्षकी यह दलील कि समाजमे बेकारी, अशिक्षा, जीर्णोद्धार, शास्त्रोद्धार आदिमे समर्थक पक्षकी भी सहानुभूति है।

२. विरोध पक्षने जो गजरथ प्रथाको आज अनावश्यक व अनुपयोगी सिद्ध करना चाहा था उसका खंडन करके समर्थक पक्षने उसकी आवश्यकता व उपयोगिता भली-भाँति सिद्ध की है।

३. विरोध पक्षवालोंने जीर्णोद्धार, शास्त्रोद्धार और असहाय लोगोकी सहायता आदिकी तरफ ध्यान देनेके लिए श्रीमानोंका ध्यान आकर्षित करनेकी कोशिश की है, इसमे उनकी यह सद्भावना प्रशंसनीय है। समाजोद्धार, जिनवाणी प्रचार, अज्ञान निवारणके लिए जनताका विशेष रूपसे जो ध्यान आकर्षित किया है, उनकी उस अन्तःकरणसे निकली हुई भावनाका हम स्वागत करते है और इसलिए यह उचित प्रतीत होता है कि हमारे धर्म प्रभावक उदार श्रीमान् आगम सम्मत शास्त्रोद्धार, जीर्णोद्धार व इतर धार्मिक कार्योंकी ओर ध्यान देवें।

इस प्रकार पिताजी द्वारा अनेक गतिविधियाँ तो चल ही रही थी कि उनके दूसरे साले श्री गोकुलचन्दजीने सत्याग्रह करनेका निश्चय किया। उसमे सम्मिलित होनेके लिए पिताजी भी लडवारी गए। श्री गोकुलचन्द जी उसी समय गिरफ्तार कर लिए गए और उन्हे ललितपुर जेल भेज दिया गया। किन्तु पिताजी उस समय बीना लौट आये। कुछ दिनो बाद श्री गोकुलचन्द जीके मुकदमेकी सुनवाई देखनेके लिए पिताजी ललितपुर गये। वहाँ पर कचहरीमें ही पुलिस ने उन्हे गिरफ्तार कर लिया।

इसी समयकी एक घटना पिताजीके जीवनके अन्य पहलूपर प्रकाश डालती है। वारंट कटनेमे कुछ समय लग रहा था। गर्मीका मौसम तो था ही। अतः प्यास लगनेपर उन्होने सिपाहीसे कहा। सिपाहीने जवाब दिया कि वह मुसलमान है। यह सुनकर पिताजीने कहा कि मै कांग्रेसी हूं। फिर भी मैं आपके तामलोटका व घडेका पानी नही पीऊँगा। अन्य कोई भी व्यवस्था करे तो मुझे पानी पीनेमे एतराज नही है। यह जवाब सुनकर सिपाही प्रसन्न हुआ और एक ब्राह्मणको बुलवाकर कुएँ से पानी पिलवाया।

न्यायाधीशने पिताजीको १ माहकी कैद व एक सौ रुपया जुर्माना किया। जुर्माना न देनेपर ३ माह की सजा सुनवाई। किन्तु घरसे जुर्माना वसूल हो जानेपर पिताजीको कच्ची कैदमे १९ दिन तथा झाँसी जेलमे १ महीना ११ दिन रहना पडा।

झाँसी जेलमे रहते हुए पिताजी बीमार हो गये, इसलिए उन्हे जेलके अस्पतालमे भेज दिया गया। वहाँ पर उन्हे दलिया और दूध दिया जाता था। किन्तु दूधमे मिलावट होनेके कारण वे उसे पी नही पाते थे और बगलमें पडे नाईको दे देते थे। इस कारण पिताजी भूखसे पीडित रहने लगे।

नाईसे पिताजीकी यह दशा नही देखी गयी। इसलिये वह किसी प्रकार अस्पतालसे निकलकर किसी अफसरके यहाँ गया और उनकी सेवा करके दो रोटियाँ और करेलेकी सब्जी ले आया। उन्हे पिताजीके सामने रखकर कहने लगा, "आपके लिए ही हम लाये है आप खा लो।" किन्तु पिताजीने मना करते हुए उससे कहा, "तुमने इनको प्राप्त करनेके लिए श्रम किया है इसलिए इन्हे तुम ही खाओ।" अन्तमें वह रोने लगा इसलिए बाँटकर दोनोने खाया। खाते हुए पिताजी उससे बोले, "इस चहारदीवारीके भीतर तो हम तुम भाई-भाई है, किन्तु जेलसे बाहर जाने पर मैं जैन और तुम नाई। फिर मै तुम्हारे हाथका नही खाऊँगा।"

सजा पूरी होनेपर जेलसे छूटकर पिताजी बीना चले आये और घरपर रहने लगे। इसी बीच मथुरा संघके प्रधान मन्त्री श्री प० राजेन्द्रकुमारजीका पत्र आया कि पिताजी बनारस आकर कषायपाहुड (जयधवला) के सम्पादनमे योगदान करने लगे। इसलिए पिताजी सन् १९४१ मे बनारस चले गये और कषायपाहुड़ (जयधवला) के सम्पादनका भार सम्भाल लिया।

इस कार्यमे श्री पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री और स्व० श्री प० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य भी योगदान करते थे। पिताजी पूरे समय कार्य करते थे और उनका मुख्य कार्य ग्रन्थका अनुवाद करना होता था। इन अनुवादको प० कैलाशचन्द्रजी देखते थे और पं० महेन्द्रकुमारजी टिप्पण आदि तैयार करते थे। इस प्रकार प्रथम भागका कार्य तीनोंके सम्मिलित प्रयत्नसे चलता रहा। प्रथम भागका मुद्रण हो जाने पर स्व० पं०

महेन्द्रकुमारजी तो अलग हो गये, किन्तु पं० कैलाशचन्द्रजी कुछ दिनों तक उससे जुड़े रहे। पं० कैलाशचन्द्रजी के अलग हो जानेपर अनुवाद संपादन आदिका पूरा भार पिताजीको ही सम्भालना पड़ा।

इसके बाद कुछ दिन तो पिताजी वेतन पर ही काम करते रहे, परन्तु कुछ अड़चन उपस्थित होने पर पिताजी नौकरीसे अलग हो गये। समझौता होने पर अपने घरसे ही स्वतन्त्र रूपसे कषायपाहुड़के सम्पादनका कार्य करने लगे।

इस बीच [पिताजीको लीवर हो गया। डाक्टरकी सलाहसे अन्न छोड़ना पड़ा और केवल फलोंके रस और दूध पर ही उन्हें निर्वाह करना पड़ा। इस कारण आजीविका बन्द हो गई तथा घरकी स्थिति बिगड़ने लगी। घरका सोना-चाँदी बेचकर किसी प्रकार घरका निर्वाह करनेके लिए बाध्य होना पड़ा।] पिताजीकी इस स्थितिका पू० बड़े वर्णीजीको पता लग गया। उस समय पू० बड़े वर्णीजी बरुआसागरमें थे। अतः उन्होंने श्री बाबू रामस्वरूपजीसे कहकर छः सौ रुपये सहायताके लिए भिजवा दिये। उस समयकी स्थितिको देखते हुए, छः सौ रुपये एक वर्षका वेतन होता है। इन रुपयोंसे पिताजीको स्वास्थ्य लाभ करनेमें आसानी हुई।

अभी वे स्वास्थ्य लाभ कर ही रहे थे कि उसी समय सन् १९४५ में अमरावतीसे श्रीमान् सिंघई पन्नालालजी पिताजीके घर आ गये। पिताजीने उनकी पूरी सेवा की। कलकत्तामें भगवान् महावीरकी वीर शासन जयन्तीके समारम्भका आयोजन हुआ था। स्व० सर सेठ हुकुमचन्दजी उसके अध्यक्ष चुने गये थे। उसमें सम्मिलित होनेके लिए सभी विद्वानोंके साथ पिताजी भी कलकत्ता गये। वहाँ ३-४ दिन तक उत्सव चलता रहा। उसमें देश-विदेशके अनेक विद्वान् सम्मिलित हुए थे। श्रीमान् सिंघई पन्नालालजी भी साथ गये थे कि उसी बीच वहाँसे वे अकस्मात् चले आये। बादमें मालूम हुआ कि वे आराकी अस्पतालमें काफी समय तक पड़े रहे और वहीं उनका स्वर्गवास हो गया। यह मालूम पड़ने पर पिताजीने उनके घरवालोंको सूचना दे दी।

अधिवेशनके समय ही विद्वत् परिषद्की स्थापना की गई तथा पिताजी इसके संयुक्त मंत्री बनाये गये। विद्वत् परिषद्का कार्यालय पिताजीके ही जिम्मे था। इस कार्यको पिताजीने मनोयोग पूर्वक आगे बढ़ाया। उसके फलस्वरूप कटनीमें विद्वत् परिषद्का प्रथम अधिवेशन हुआ जिसके अध्यक्ष पू० बड़े वर्णीजी बने। पिताजी के मन्त्रित्व कालमें ही मथुरामें शिक्षण शिविरका आयोजन किया गया जो पर्याप्त सफल रहा।

इन्हीं दिनों एक घटना और हुई। [स्याद्वाद विद्यालय ने अपनी समाजके बहुतसे लड़कोंको निष्कासित कर दिया। उनकी स्थितिको देखकर स्व० श्री पं० पन्नालालजी धर्मालंकार, स्व० श्री पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य और पिताजीने एक भवन किराये पर लेकर उसमें छात्रावासकी स्थापना कर दी।] पिताजी उसके संयुक्त मन्त्री बनाये गये थे। उसमें प्रविष्ट छात्रोंको सभव सुविधाएँ भी प्रदान की। बादमें सेठ श्री जोखीराम बैजनाथजीने एक पुराना छात्रावास तथा उससे लगी हुई जमीन खरीद कर छात्रावासको सौंप दी। श्री मौजीलालजीके विशेष प्रयत्नसे यह कार्य सम्पन्न हुआ।

इसके कुछ समय बाद राजस्थानके एक नगरमें पंचकल्याणक संपन्न हुआ था। वहाँ पर स्व० सर सेठ हुकुमचंदजी, स्व० सेठ बैजनाथजी और स्व० श्री पं० देवकीनन्दनजी भी पहुँचे थे। सुअवसर जानकर स्व० श्री पं० पन्नालालजी और पिताजी वहाँ गये और सर सेठ सा० के सामने यह प्रस्ताव रखा कि "आपने विश्वविद्यालय में एक जैन मन्दिर बनाने के लिए रु० ५००००) स्वीकार किये थे। किन्तु वहाँ पर पृथक् जैन मन्दिर बननेकी स्वीकृति न मिलनेके कारण वह रुपया आपके पास ही है। अब विश्वविद्यालयके पास ही

सेठ बैजनाथजीके सहयोगसे एक छात्रावास स्थापित हो गया है। उसमे एक जैन मन्दिरकी अति आवश्यकता है अत: वह रुपया यदि छात्रावासको मिल जाये तो उसमे जैन मन्दिरका निर्माण हो जायेगा।" सर सेठ सा० ने यह निवेदन स्वीकार कर लिया। फलस्वरूप एक समझौता पत्र तैयार किया गया। उसपर सेठ सा० के और छात्रावासके संयुक्त मंत्री होनेके नाते पिताजीके हस्ताक्षर हुए। बादमे सर सेठ सा० ने आकर उसकी शिला-न्यास विधि सम्पन्न कर दी।

पू० बड़े वर्णीजीके संकेत पर स्व० साहू शान्तिप्रसादजीने वहाँ एक नये छात्रावासका निर्माण और करा दिया।

इसी बीच षट्खंडागम (धवला) की प्रथम पुस्तकका ९३वाँ सूत्र विवादका विषय बन गया। उसमें 'संजद' पद छूटा हुआ था। उसके सम्पादन मुद्रणके समय पिताजी तो इस पक्षमे थे कि इस सूत्रमें 'संजद' पद और होना चाहिये, किन्तु स्व० श्री पं० हीरालालजी इस पक्षमे नहो थे किन्तु स्व० श्री डॉ० हीरालालजी तो इस सम्बन्धमें कुछ समझते नही थे। इसलिए अन्तमे पिताजी सहित उन दोनोंकी रायसे यह तय हुआ कि टिप्पणीमें यह लिख दिया जाये कि यहाँ 'संजद' पद होना चाहिए ऐसा मालूम पडता है।

फिर भी प्रूफका कार्य पिताजी ही देखते थे, इसलिए पिताजीने मूल सूत्रको तो 'संजद' पदके बिना ही रहने दिया, किन्तु उसके अर्थमे 'संयत' पद जोड दिया। बादमे यह सूत्र विवादका विषय बन गया। इसलिए बम्बईकी समाजके आमंत्रण पर दोनों पक्षके विद्वान् वहाँ एकत्रित हुए।

'संजद' पदके पक्षमे पिताजी, श्री प० कैलाशचन्द्र जी और स्व० श्री पं० वशीधर जी न्यायालंकार थे। विरोध पक्षमे स्व० श्री प० मक्खनलालजी शास्त्री, स्व० श्री क्षुल्लक सूर सिंह जी और स्व० श्री प० रामप्रसाद जी आदि थे। दोनों पक्षके विद्वानोंमे तीन दिन तक लिखित चर्चा चलती रही। अन्तमे विरोधी पक्षके विद्वानोंने रिकार्डकी कॉपी रख ली और समाजसे घोषणा करा दी कि तीन दिनके लिए ही सबको आमंत्रित किया गया था अत: यह बैठक समाप्त की जाती है।

इस प्रकार इस बैठकसे नतीजा तो कुछ नही निकला परन्तु स्व० डॉ० हीरालालजी 'द्रव्य स्त्री मोक्ष जा सकती है', इसके पक्षधर अवश्य बन गये। अत: इस विषयको लेकर पिताजी और डा० सा० के मध्य जैन संदेश के द्वारा लेख माला चलती रही जो श्री पिताजी को लीवर का रोग हो जानेसे रुक गई जिसे स्व० श्री पं० नाथूराम जी प्रेमीने पुस्तकाकार रूपमे छाप दिया। उसे पढकर प्रज्ञाचक्षु स्व० श्री पं० सुखलाल जी संघवीने एक पत्र द्वारा यह स्पष्टीकरण किया था कि अभी तक पक्ष प्रतिपक्षमे जितने वाद-विवाद चले है उनमें इतनी शालीनता नही रखी गई जितनी इस वाद विवादमे देखी गई। साथ ही पिताजी के विषयमें उन्होंने यह भी लिखा कि यदि समाज पिताजीका पूरी तरहसे सदुपयोग करे तो वे समाजके लिए बहुत उपयोगी हो सकते है। स्व० प० सुखलालजी के अभिनन्दन ग्रन्थमें यह पत्र छपा है।

पिताजीका जहाँ तक ख्याल है कि पूर्वोक्त दोनों घटनाएँ लीवरकी बीमारीसे पहले ही घटित हो गई थी।

सन् १९४५-४६ के आस पास सोनगढ़से विद्वत् परिषद्को आमन्त्रण मिलनेपर, पिताजीने कार्यकारिणी की स्वीकृति पूर्वक विद्वत् परिषद्का एक अधिवेशन सोनगढमे सम्पन्न कराया। वहाँ विद्वत् परिषद्के कार्यालय का कर्मचारी बीमार पडनेपर, पिताजीको सोनगढ़ १५ दिन रुकना पडा। इस कारण पिताजी श्री कानजी स्वामी व अन्य प्रमुख सदस्योंके सम्पर्कमे आये।

जहाँतक पिताजीको स्मरण है, प्रवचनके बाद पचाध्यायीके आधारपर शंका-समाधान विशेष रूपसे चला करता था। उसमें कार्यकारण भाव मुख्य रहता था। उस समय कुछ भाइयोंका यह कहना था कि

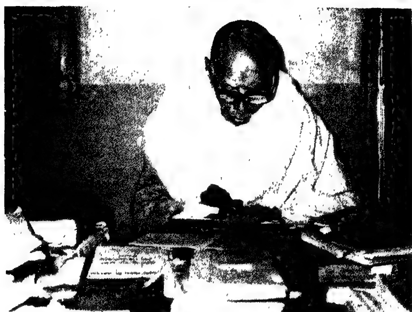
चित्रावली

•

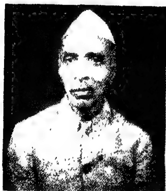
सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र शास्त्री के
कुछ अविस्मरणीय क्षणों की
झाँकी–चित्रों में



१९८२ में बाहुबली का सहस्राब्दि मस्तकाभिषेक करते हुए
पण्डित फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री



साहित्य-साधना में रत—सिद्धान्त ग्रन्थों के सम्पादन में लीन पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री



सत्याग्रह के समय
पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री



चिन्तन की मुद्रा में
पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री



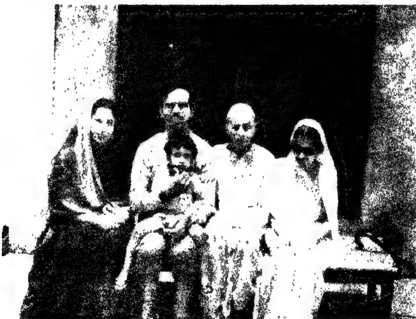
प्राकृत तथा कर्म-ग्रन्थों के अध्ययन-मनन एवं सम्पादन में जुटे
पंडित फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री



अपनी साधना-सेवा और सन्तोष के साथ पंडित जी की
जीवन सहयोगिनी सौ० पुतलीबाई जी



पं० फूलचन्द्र जी, पुत्र अशोक, पुत्रवधू नीरजा, पुत्री पुष्पा, दामाद डा० नेमीचन्द जैन
तथा नातिनी-कल्पना, नाती-रवि व नीता



पंडित जी का पूरा परिवार—पंडित जी, धर्मपत्नी, पुत्र डॉ० अशोक जैन, पुत्रवधू
श्रीमती नीरजा जैन एवं पौत्र चि० अनिमेष



अपने साले वैद्य श्री भगवानदास जी के साथ
पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री



पंडित जी की ज्येष्ठ पुत्री शान्ति बाई
तथा दामाद डा० ज्ञानचन्द्र जैन



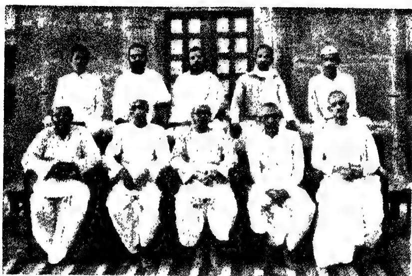
पं० फूलचन्द्र शास्त्री के छोटे भाई पं० भैयालाल जी शास्त्री का पूरा परिवार



उपराष्ट्रपति श्री जत्ती से वीर निर्वाण भारती पुरस्कार ग्रहण करते हुये
पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री



आगरा जैन समाज के द्वारा सम्मानित पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री



स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी के अध्यापक मण्डल में पं० महेन्द्र कुमार जी, कैलाशचन्द्र जी, पं० मुकुन्द शास्त्री खिस्ते के साथ पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री



अ० भा० दि० जैन विद्वत्परिषद के कटनी में प्रथम अधिवेशन के समय श्रद्धेय वर्णी जी तथा अनेक विद्वानों तथा श्रीमानों के साथ बैठे हुए पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री



त्रिमूर्ति (बोरीवली) क्षेत्र पर जैनतत्त्वमीमांसा के वाचन के अवसर पर
श्री १०८ विद्यानन्द जी महाराज से चर्चा में लीन पंडित जी



त्रिमूर्ति (बोरीवली) क्षेत्र पर १९८८ के दशलक्षण पर्व के अवसर पर श्री १०८ विद्यानन्दजी
महाराज को श्रीमती सरयू दफ्तरी के साथ आहार देते हुए पंडित जी



सागर में तत्त्व-चर्चानिका के समय ऊहापोह में निमग्न आचार्य विद्यासागर जी और पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री



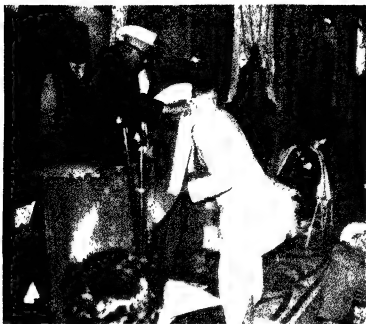
सागर में वाचना करते हुए श्री पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री, वाराणसी



पूज्यवर आचार्य विद्यासागर जी तथा अग्रज अनन्य सहयोगी पं० जगन्मोहनलाल जी के साथ तत्त्वचर्चा में लीन पंडित जी



सागर—१९७४ में पंडित जी की अध्यक्षता में सम्पन्न एक समारोह में माननीय मोरार जी देसाई के साथ



श्री जैन सिद्धान्त भवन, आरा की हीरक जयन्ती के शुभ अवसर पर बिहार के तत्कालीन राज्यपाल श्री अनन्त शयनम अय्यंगार द्वारा पण्डित फूलचन्द्र जी शास्त्री को सिद्धान्ताचार्य की उपाधि प्रदान करते हुए



पूज्यवर श्री १०८ आचार्य विद्यासागर जी के सान्निध्य में सम्पादित धवल वचनिका की पूर्णा पर सागर समाज की ओर से दानवीर सेठ भगवानदास जी द्वारा सम्मानित

पण्डित जी के अनन्य सहयोगी तथा हितैषी



श्री भैया राजकुमार सिंह जी, इन्दौर



श्री सेठ भगवानदास जी जैन, सागर



श्री सेठ डालचन्द्रजी जैन, सागर
अध्यक्ष अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति



श्री बाबूलालजी पाटौदी, इन्दौर

पण्डितजी की अनन्य भक्त



श्रीमती सौ० गंगू [illegible], बम्बई



श्री गणेश वर्णी संस्थान, नरिया, वाराणसी के [illegible] समारोह
में श्री निर्मलकुमार जी सेठी तथा श्रीमती [illegible]
नर्मदाबाई जी के साथ पंडित जी



वीतराग कथा प्रेमी श्री माणकचन्द शाह, बम्बई के साथ पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री



वाराणसी में आत्मानुशासन की पाण्डुलिपि तैयार करते हुए
पं० हीरालाल जी गगवाल के साथ पंडित जी



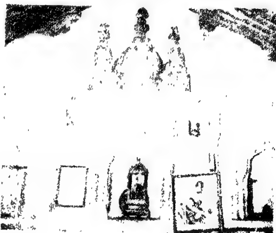
अभिनन्दन ग्रंथ के सम्पादक-डा० देवेन्द्रकुमार जी तथा प्रकाशन समिति के मंत्री
बाबूलाल जैन फागुल्ल के साथ पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री



सिलावन में पण्डितजी के पैतृक मकान
का प्रवेश द्वार।



सिलावन में पण्डितजी के रहने
का मकान।



पण्डितजी की जन्मभूमि सिलावन का
जैन मन्दिर।

जिस प्रकार कार्यकी योग्यताके आधारपर निज वस्तुमे उपादानता मानी जाती है, उसी प्रकार पर वस्तुमे भी निमित्तताकी योग्यता होती है। किन्तु पिताजीने उन्हें बतलाया कि परवस्तुमे निमित्तता उपचारसे मानी जाती है, इसलिए उसमे वस्तुगत निमित्तताकी योग्यता होती है, यह सवाल ही नहीं उठता।

इसके कुछ समय बाद ही स्व० श्री अयोध्याप्रसादजी गोयलीयने, जो कि भारतीय ज्ञानपीठके मंत्री थे। महाबंधके संपादनका प्रस्ताव पिताजीके सामने रखा, जिसे पिताजीने सहर्ष स्वीकार कर लिया। दूसरे भागसे लेकर सातवें भागतक उन्होंने सफलतापूर्वक सम्पादन किया जिसका प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठसे हुआ है। प्रथम भागका वाचन पिताजी पं० सुमेरुचन्दजी दिवाकरको पहले ही करा चुके थे। इस प्रथम भागका संपादन पं० जी सा० ने ही किया है।

सन् १९४९ के आसपास भारतीय ज्ञानपीठसे एक मासिक पत्र 'ज्ञानोदय' का प्रकाशन आरंभ हुआ, तब पिताजी भी उसके संपादक रहे। २-३ वर्षोंके बाद जब स्व० पं० महेन्द्रकुमार ज्ञानपीठके व्यवस्थापक पद से हटे तो उन्होंने 'ज्ञानोदय' का संपादकत्व भी छोड़ दिया। उसी समय पिताजीने भी संपादक पद छोड़ दिया।

सामाजिक संस्थाओंको सहयोग करना तथा पुष्ट करना पिताजीका एक प्रमुख व्यसन सा रहा है। इसके लिये वे अपना घर परिवार भी भूल जाते थे। सन् १९५० के आसपास आचार्य पू० समन्तभद्र जी महाराज, जो उस समय क्षुल्लक थे, के विशेष आग्रहपर, उनके चातुर्मासके समय खुरईमें ३-४ माह रहकर गुरुकुलकी सेवामे सहयोग दिया। इस दौरान पिताजीने गुरुकुलके लिए लगभग ६०-७० हजार रुपयोका दान समाजसे प्राप्त किया।

यह तो हम पहले ही लिख आए हैं कि पिताजी नौकरीको त्यागकर अपने घरपर ही कार्य करने लगे थे। उनकी भीतरसे यह इच्छा थी कि जिस महापुरुष (पू० वर्णी जी) ने उनके जीवनको बनाया है और आपत्तिके समय उनकी सहायता की है उस महात्माके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करनेके अभिप्रायसे उनके नामपर एक साहित्य संस्था खड़ी की जाये।

पिताजीको उसी समय इन्दौर आनका सुअवसर प्राप्त हो गया। पिताजीने अपने इस अभिप्रायको पू० स्व० श्री पं० देवकीनन्दनजीके सामने रखा। पिताजीके प्रस्तावको सुनकर उन्होंने पूरा समर्थन किया। साथ ही प्रारम्भिक अवस्थामें उसको आर्थिक सहायता पहुँचानेमे मदद की। इस प्रकार इन्दौरमे ही उनकी अध्यक्षतामें श्री गणेशप्रसाद वर्णी दिगम्बर जैन ग्रन्थमालाकी स्थापना हुई जो अब भी गणेश वर्णी (शोध) संस्थानके रूपमें जानी जाती है। इस प्रकार कुछ काल इस संस्थाको पुष्ट करनेमे निकल गया।

चूँकि पिताजी ललितपुरके पासके ही रहनेवाले थे, अतः उनकी काफी इच्छा थी कि इस प्रदेशके लिए कुछ करें। सन् १९४६ में पू० बड़े वर्णीजीका चातुर्मास ललितपुरमें सम्पन्न हुआ था। उस समय पिताजी बीना आए हुए थे। पिताजीको बिचार आया कि वर्णीजीके दर्शन करते हुए बनारस जायें। इसलिए एक झोला लेकर ललितपुर गए और क्षेत्रपाल तथा वर्णीजीके दर्शन किए। पिताजीको देखकर वर्णीजीने समाजसे कहा कि "अब इन्हें जाने नही देना। ये चले गए तो फिर लौटकर नही आयेंगे।" अतः पिताजीको वही पर ४-५ महीना रुकना पड़ा। इस दौरान अनेक सभायें आदि करके, वर्णीजीके चातुर्मासके उपलक्ष्यमें एक शिक्षा संस्था खड़ी करनी है, ऐसा वातावरण बनाया। इस उद्देश्यसे चंदा एकत्रित करना प्रारंभ किया। चार-पाँच महीने के श्रमसे लगभग एक लाख रुपया एकत्रित किया और अन्तमे समाजको सलाह दी कि ललितपुरमे कालेजकी बहुत कमी है, इसलिए वर्णीजीके नामपर कालेजकी स्थापना की जाये। इस कार्यके लिए क्षेत्रपालके भवनोंको उपयोगमें लानेकी बात भी कही। काफी ऊहापोहके बाद श्री गणेश वर्णी इंटर कॉलेजकी स्थापना की गयी।

उन्हीं दिनों भारतीय दर्शनोंका अध्ययन करनेके लिए एक विदेशी विद्वान् (नाम याद नहीं) भारत आये हुए थे। इस निमित्त वे अनेक विश्वविद्यालयोंमें गये और सभी दर्शनोंका अध्ययन करके सामग्री एकत्रित की। वे बनारस हिन्दू विश्वविद्यालयमें भी आकर ठहरे। उनकी इच्छा थी कि बनारसमें सभी दर्शनोंके विद्वान् सुलभ हैं, इसलिए इन सभी विद्वानोंसे मिलकर सभी दर्शनोंकी पृष्ठभूमिको समझा जाये।



उसी समय श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रममें स्व० डा० गुलाबचन्द्रजी शोध कार्य करते थे। डॉ० सा० का उस विदेशी विद्वान्से सम्पर्क होनेपर उन्होंने अपनी इच्छा डॉ० सा० को बतलायी और पूछा कि जैनदर्शनका ऐसा कौन विद्वान् है जिससे मिलकर जैनदर्शनकी पृष्ठभूमिको समझा जाये। परिणामस्वरूप डॉ० सा० पिताजीको आमंत्रित कर उस विदेशी विद्वान्के पास ले गये। पिताजीकी उस विद्वान्से लम्बी चर्चा हुई। इस चर्चामें उस विद्वान्ने दो प्रश्न मुख्य रूपसे पूछे। एक तो यह कि जैनधर्मको माननेवाले सभी भाई अपने नाम के आगे जैन क्यों लिखते हैं? पिताजीने उत्तर दिया कि अन्य धर्मावलंबियोंमें मांस मदिराके त्यागकी कोई निश्चित व्यवस्था नहीं है जबकि जैनधर्मावलंबियोंमें इनके अनिवार्य त्यागकी व्यवस्था है। इसलिए प्रवासके समय यह जाननेके लिए कि मांस-मदिराका त्यागी कौन भाई है, ताकि उसके साथ खाया पिया जा सके यह जाननेके लिए, अपने नामके आगे जैन लगाते हैं। उस विद्वान्का दूसरा प्रश्न था कि 'सभी धर्मोंमें हिंसा, झूठ, चोरी आदि को निषिद्ध बतलाया है। जैन धर्ममें भी है। फिर ऐसी कौन-सी बात है जिससे कि जैन-धर्म अन्य धर्मोंसे अलग समझा जाये?' इस प्रश्नको सुनकर पिताजी क्षणभर तो विचार करते रहे। उसी समय णमोकार मंत्रका स्मरण हो आया और उत्तर ध्यानमें आ गया। पिताजीने उत्तर दिया कि 'व्यक्ति स्वातन्त्र्य जैन धर्मका उद्देश्य है और स्वावलम्बन उसकी प्राप्तिका मार्ग है। ये दो बातें यदि अन्य किसी दर्शनमें मिल जायें तो हम उसे स्वीकार करनेके लिए तैयार हैं।' इसे सुनकर वह विद्वान् बहुत प्रसन्न हुआ

और अपने उद्गार प्रगट करते हुए कहा "अन्य दर्शनोंमें यह बातें नहीं पायी जातीं। हम कहेंगे कि इस धर्म का एक भी अनुयायी शेष रहे तो इस धर्मको जीवित रहना चाहिए। संसारको अलौकिकप्रकाश देनेवाला दर्शन यही है।"

श्री पं० रतनचन्दजी जो कि पिताजीके विद्यार्थी थे, अकलतरामें पढाते थे। उनकी यह तीव्र इच्छा थी कि पिताजी अकलतरासे प्रारम्भकर पूरे छत्तीसगढ प्रदेशमें भ्रमण करें। उनकी इच्छानुसार अकलतरा समाजके आमंत्रणको पिताजीने स्वीकार कर लिया और छत्तीसगढ प्रदेशके दौरेपर गये।

इसी दौरेके सिलसिलेमे पिताजी राजिम नामक गाँव गये। वहाँ रात्रिके समय वे कुछ भाइयोंके साथ बातचीत कर रहे थे कि एक भाई आये और दूसरे दिनके लिए पिताजीका आमंत्रण कर गये। वह भाई दस्सा थे। वहाँ उपस्थित किसीने उनके यहाँ भोजनके लिए नहीं जाना चाहिए ऐसा नहीं कहा। अतएव पिताजीने उनके यहाँका निमंत्रण स्वीकार कर लिया। दूसरे दिन भोजनके समय पिताजीको रोकनेका प्रयत्न किया गया। परन्तु रोकनेपर भी पिताजी भोजन करनेके लिए गये। कुछ भाइयोंने यह धमकी भी दी कि ऐसा करनेपर आपका चंदा नहीं हो सकेगा। पिताजीने उनको यही उत्तर दिया कि वे खाली हाथ वापिस चले जायेंगे परन्तु उस भाईका अपमान नहीं करेंगे। इतना ही नहीं किन्तु उस भाईको मन्दिर प्रवेशका अधिकार दिलाकर ही वहाँसे जायेंगे, ऐसा पिताजीने कहा। इस कार्यके लिए पिताजीको वहाँ दूसरी बार भी जाना पड़ा, परन्तु उस भाईको दर्शन पूजनका अधिकार दिलाकर ही पिताजी माने।

इसके बाद सन् १९५७-५८ मे श्री कानजी स्वामीको लेकर समाजमे सोनगढकी चर्चा चलने लगी। इसके लिए पू० वर्णीजीके सानिध्यमे ईसरीमे एक विद्वत् सम्मेलन भी हो लिया था।

किन्तु उससे कुछ निष्कर्ष निकलता न देखकर पिताजीके मनमे इस विषयको लेकर एक स्वतन्त्र पुस्तक लिखनेका विचार आया। फलस्वरूप पिताजीने एक पुस्तक लिखी और प्रमुख विद्वानोंको उसे दिखाया। इसपर इन विद्वानोंने सलाह दी कि विद्वत् परिषद्की ओरसे प्रमुख विद्वानोंको आमन्त्रित किया जाये और वहाँ इसे पढ़कर इसपर विचार विनिमय किया जाये।

परिणामस्वरूप बीना समाजकी ओरसे विद्वत् परिषद्के द्वारा विद्वानोंको आमन्त्रण भेजा गया। वहाँ इस पुस्तकपर संगोपाग चर्चा होकर, इस विषयमे एक प्रस्ताव पास किया। बादमे जैन तत्त्व-मीमासाके नामसे, कलकत्ता मुमुक्षु मंडलकी सहायता मिलनेपर उसे प्रकाशित कर दिया गया।

इसी समय जैन पत्रोंमें सोनगढ़ विरोधी चर्चा जोरोंसे चल पड़ी। स्व० श्री पं० मक्खनलालजीने अपने अखबार द्वारा चर्चाके लिए पिताजीको चैलेंज भी दिया। पिताजीके पास कोई साप्ताहिक या मासिक अखबार तो था नहीं, इसलिए उनके पत्रके उत्तरमे पिताजीने उनको पत्र लिखा कि "जिस धर्म और आगमको आप मानते हो उसी धर्म और आगमको हम भी मानते है, इसलिए हमारे और आपके बीचमे वाद-विवाद तो हो नहीं सकता, किन्तु शंका-समाधान अवश्य हो सकता है। यदि आप राजी हों तो आपके पत्र "जैन दर्शन" द्वारा ही चर्चा चलायी जा सकती है।" परन्तु उन्होंने पत्र द्वारा सूचना दी कि वे अपने अखबारके द्वारा पिताजी के विचारोंका प्रचार नही होने देंगे। और इस प्रकार यह चर्चा न हो सकी।

इसके कुछ समय बाद ब्र० लाडमलजीका एक मुद्रित पत्र मिला। जिसमे दोनों पक्षके विद्वानोंको खानिया (जयपुर) में तत्त्वचर्चाके लिए आमंत्रित किया गया था। उस समय पिताजी कारंजा गुरुकुलमें ठहरे हुए थे। इसलिए ब्र० श्री पं० माणिकचन्दजी चवरेकी सलाहसे पिताजीने पत्रका उत्तर देते हुए चर्चाके कुछ नियम लिखकर भेजे और लिखा कि इन नियमोंके आधारपर वे चर्चाके लिए तैयार हैं।

वहाँसे उत्तर आया कि, "श्री पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्रीसे सभी बातें हो ली है। आपने जो नियम भेजे है उनपर यहाँ आनेपर विचार किया जायेगा।" पिताजीने कारंजासे पुनः लिखा कि "पं० जीसे जो भी चर्चा हुई है वह लिखिये और जबतक कि आपकी ओरसे उन नियमोंको स्वीकार नही किया जायेगा, हम चर्चाके लिए नहीं आयेंगे।"

इसके बाद उन्होंने उन नियमोंको कई विद्वानोके पास भेजा। उनमे प्रमुख स्व० पं० श्री मक्खनलालजी और पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्य, बीना थे। स्व० पं० मक्खनलालजीका ब्र० लाडमलजीके पास यह उत्तर आया "हमने नियम देख लिए है। उन्हे चर्चाके लिए बुला लिया जाये।' श्री पं० वंशीधरजीका यह उत्तर आया "नियमोंसे कोई डर नहो। उन्हे चर्चाके लिए बुला लिया जाये।'

ये दोनों उत्तर ब्र० लाडमलजीने पिताजीको लिखकर भेज दिये तथा आनेके लिए आग्रह किया। उस समय पिताजी कारंजासे डोंगरगढ पहुँच गये थे। समय कम था। इसलिए तार द्वारा ब्र० लाडमलजीके पास स्वीकृति भेज दी और दूसरे दिन चर्चा करने जयपुर चल दिये।

जयपुरमें ब्र० लाडमलजीने जिस स्थानका पता दिया था उस स्थानपर पिताजी पहुँचे। वह एक मंदिर था। मालिनसे मिलनेपर ज्ञात हुआ कि यहाँ कोई नहो आया है और चर्चा खानियामें होनी है, अतः खानिया जायें। रातका समय था। क्या करे यह पिताजी नही समझ पाये। इतनेमे एक सरावगी भाई आ गये। उनसे भी पिताजीने चर्चा की। उन्होंने पिताजीका नाम पूछा। नाम ज्ञात होनेपर वे बोले, "यहाँ मालूम हुआ था कि चर्चाके लिए आप नही आ रहे है। इसलिए सबके पास तारसे सूचना भेजी गयी है कि पं० फूलचन्द्रजी चर्चाके लिए नही आ रहे है इसलिए कोई न आवे बादमे पुनः तार देकर सबको बुलाया गया है।" हमारे यह पूछनेपर कि खानिया कितनी दूर है, तब उन्होंने बताया कि वह जंगल मे है तथा रातको नही पहुँचा जा सकता। पिताजी असमंजसमे पड गये। काफी विचार करनेके बाद पिताजीने उनसे कहा कि स्व० श्री पं० चैनसुखदासजी जहाँ रहते है वहाँ रिक्शासे पहुँचवा दीजिए। तब उन्होने बताया कि पं० जी पासमे ही रहते हैं, रिक्शेकी क्या जरूरत है। मालिनसे वे बोले कि इनको प० जीके यहाँ पहुँचा आओ, आठ आने पैसे देगें। मालिनके तैयार न होनेपर वे स्वयं ही पिताजीको प० जीके निवास स्थानपर पहुँचा आये।

प्रातःकाल यह बात फैल गई कि पं० फूलचन्द्रजी चर्चाके लिए आ गये हैं। इसलिए श्रीयुत नेमीचन्द जी पाटनी, पिताजीके पास आये और बोले कि सोनगढसे उनके पास पत्र आया है कि वे स्वयं चर्चामें भाग न लें और कुछ दिनोंके लिए जयपुरसे अन्यत्र चले जायें। यह सुनकर पिताजीने पाटनीजीसे कहा कि "यदि ऐसी बात है तो चर्चामें आप हमारे साथ न रहें। हम तो इन विद्वानोंके मध्यमें ही रहते है, अतः हमें उनके साथ चर्चा करना आवश्यक है।"

फलस्वरूप उन्होंने पिताजीका साथ देना निश्चित कर लिया। श्री मन्दिरजीमे दर्शन करनेकी चर्चा चलने पर पिताजीने पाटनीजीसे कहा कि वे उस मन्दिरमे जाना चाहते है जहाँ स्व० श्री पं० टोडरमलजी बैठते थे और शास्त्रोंकी टीका लिखा करते थे। यह सुनकर पाटनीजीने बताया कि प्रतिदिन वे स्वयं भी वहीं जाते है, अतः आप भी चलें, यह बहुत अच्छी बात है। अन्तमे वे दोनों उस मन्दिरमे गये और श्री जीके दर्शन किये और उस स्थानकी रज अपने मस्तकपर चढायी जहाँ पर स्व० श्री पं० टोडरमलजी बैठकर काम करते थे। परोक्षमे यह निवेदन भी किया "हम आपके नगरमे आये है। आपका बल मिलनेपर ही हमे इस कार्यमें सफलता मिलेगी।" बादमें प्रवचन करके पिताजी जहाँ ठहरे थे वहाँ चले आये। जहाँ तक पिताजीको याद है उस दिनका भोजन तो पिताजीने स्व० श्री पं० चैनसुखदासजीके साथ ही किया, बादमे श्री पाटनीजीके

साथ पिताजी उनके निवास स्थान पर चले गये और जयपुर खानिया तत्त्व चर्चाके अन्त तक पिताजी वहीं रुके रहे। पाटनीजीके बहनोईने इस कार्यमें अच्छा योगदान दिया।

दूसरे दिन वे दोनों मिलकर खानियाजी चले गये। वहाँ भगवान्के दर्शन करनेके बाद स्व० श्री पं० बंशीधर जी, इन्दौर और स्व० श्री जीवंधरजी, इन्दौरसे मिले। वे वहाँ आ चुके थे। ब्र० श्री लाडमलजीने बताया कि यद्यपि चर्चा आजसे शुरू होनी थी, परन्तु स्व० श्री पं० मक्खनलालजीने कहा है कि आज सब विद्वान् नहीं आ सके हैं, इसलिए कलसे चर्चा प्रारम्भ की जाये।

दूसरे दिन पुनः वे दोनों खानियाजी गये। उस दिन वहाँपर बहुतसे भाई आ गये थे। आ० श्री शिव-सागरजी भी ससंघ वहाँ विराजमान थे। मंगलाचरण होनेके बाद उन्हींके समक्ष सर्वप्रथम पिताजीने खड़े होकर बतलाया कि "ब्र० लाडमलजीका जो पत्र मिला है उसके आधारसे हम चर्चा करनेके लिए आये हैं। ब्र० लाडमलजीने अपने पत्रमें लिखा है कि श्री पं० मक्खनलालजीने चर्चाके लिए आपके नियम स्वीकार कर लिए हैं, इसलिए आप चर्चाके लिए आयें।"

इस पर स्व० श्री पं० मक्खनलालजी खड़े हो गये और बोले कि अपने पत्रमे हमने नियमोंकी स्वीकृति कहाँ दी है ? तब पिताजीने ब्र० लाडमलजीसे कहा कि "आपने तो मुझे ऐसा ही लिखा है, फिर ये क्या कहते है ?" यह सुनकर ब्र० लाडमलजी गये और श्री पं० मक्खनलालजीका वह पत्र उठा लाये और उसे सभामें पढ़कर सुनाया।

पत्र सुननेके बाद स्व० श्री पं० मक्खनलालजी बोले, "अनेकान्त है। अच्छा चलिये नियमोंको लिख लिया जाये।" और इस प्रकार आसानीसे तत्त्वचर्चाके नियम लिखे गये।

इसके बाद मध्यस्थ किसे बनाया जाये यह प्रश्न सामने आया। पिताजी तुरन्त खड़े हुए और स्व० श्री पं० चैनसुखदासजीका नाम प्रस्तावित कर दिया। यह सुनकर स्व० श्री० पं० इन्द्रलालजी शास्त्री बिगड़ पड़े और उल्टी सीधी बातें करने लगे। यह सब चलते हुए काफी समय हो गया था, इसलिए दूसरे दिनके लिए सभा स्थगित कर दी गई।

दूसरे दिन पिताजीसे पुनः पूछा गया कि मध्यस्थ किसे बनाना स्वीकार करेंगे। पिताजीने पुनः अपना निश्चय दुहरा दिया। इसके बाद दोनों पक्षके विद्वानोने मिलकर विचार-विमर्श किया और श्री प० बंशीधरजी न्यायालकारको मध्यस्थके रूपमे स्वीकार कर लिया। इसके बाद प० मक्खनलालजीने छह प्रश्न उत्तरके लिए रखे और पं० पन्नालालजी साहित्याचार्यने उन्हे लिखकर पिताजीको दिया। किन्तु उस पर किसीके हस्ताक्षर न देखकर पिताजीने उन्हें वापिस लौटा दिया। बादमे चर्चा होकर प० मक्खनलालजीके हस्ताक्षर करा दिये गये और मध्यस्थके मार्फत पिताजीको सौप दिये गये। साथ ही दोनों पक्षके विद्वानोंने अपने-अपने प्रतिनिधि स्व० श्री पं० माणिकचन्दजी न्यायाचार्य, स्व० श्री पं० मक्खनलालजी न्यायालकार, स्व० श्री पं० जीवंधर जी न्यायतीर्थ, श्री पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य और श्री प० बंशीधरजी व्याकरणाचार्य गये। पिताजी की ओरसे श्री पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री तथा श्री पं० नेमीचन्दजी पाटनी प्रतिनिधि बने।

अगले दिन पिताजीकी ओरसे श्री पं० जगन्मोहनलालजीने उत्तर पढ़े और दूसरे पक्षसे जो प्रश्न मिले उन्हे उत्तरके लिए स्वीकार कर लिया। इसके अगले दिन दूसरे पक्षके विद्वानोकी ओरसे यह कहा गया कि "पहले दिन जो छह प्रश्न उपस्थित किये गये थे वे किसी पक्षकी ओरसे न होकर साधारण थे। उसपर पं० फूलचन्द्र जीके पक्षने जो लिखा है वह पूर्वपक्ष कहलाया और इस पक्षकी ओरसे जो उत्तर लिखा गया है, वह उत्तर पक्ष कहलाया।" इस पर पिताजीने दूसरे पक्षसे यह कहा कि, "उन प्रश्नोंको देखा जाये कि वे साधारण है या

किसी पक्षकी तरफसे आये हैं।'' तब मध्यस्थने उस दिनके कागजको देखा। उस पर दूसरे पक्षके प्रमुख विद्वान् श्री पं० मक्खनलालजीके हस्ताक्षर थे। इसलिए दूसरे पक्षके विद्वानोंको अपना प्रस्ताव वापिस लेना पड़ा और 'उत्तर' के स्थान पर 'प्रतिशंका' यह शब्द लिखना पड़ा। तत्पश्चात् यह क्रम दो दौर तक चलता रहा।

चर्चाके सातवें या आठवें दिन एक सुन्दर घटना घटी—स्व० पं० माणिकचन्द्रजी न्यायाचार्य और स्व० पं० वंशीधरजी न्यायालंकार चर्चाके स्थलपर पहुँच गये। अन्य कोई विद्वान् नहीं पहुँचे थे। उसी समय पिताजी वहाँ पहुँचे। पहुँचकर उन दोनों विद्वानोंको प्रणाम किया। पिताजीको देखकर स्व० पं० माणिकचन्द्रजी बोले—''पं० जी, आपने अपने निबन्धों द्वारा अपूर्व प्रमेय उपस्थित किया है।'' यह सुनकर पिताजी बोले ''गुरुजी आपने हमें जैसा पढाया है वैसा हमने लिख दिया है।'' इसपर न्यायाचार्यजीने कहा ''पं० जी आज भी आप हमें उसी रूपमें मानते हो तो यह मानकर चलना कि यह पं० फूलचन्द्र नहीं बल्कि पं० माणिकचन्द्र लिख रहा है।'' जबकि पं० माणिकचन्द्रजी न्यायाचार्य दूसरे पक्षके प्रतिनिधि थे, फिर भी पिताजी द्वारा लिखे गये निबन्धोंको सुनकर अपना आन्तरिक अभिप्राय व्यक्त किया।

तीसरा दौर अपनी-अपनी जगहसे डाक द्वारा भेजनेका निश्चय किया गया। इसके बाद पिताजीकी आँखोंमें मोतियाबिन्द हो गया। इस कारण लिखना-पढ़ना बन्द हो गया और जीवन निर्वाहकी समस्या पुनः उपस्थित हो गयी। सौभाग्यसे स्व० श्री भाई वंशीधरजी शास्त्री, एम० ए०, से भेंट हो गयी। वे उदार प्रकृतिके विद्वान् थे अतः उनके परामर्शसे भाद्रपदमें पिताजीको कलकत्ता बुलाया जाने लगा और इस प्रकार यह समस्या अंशतः हल हो गयी।

इन्हीं दिनोंमें पिताजी स्व० साहू शान्तिप्रसादजीके सम्पर्कमें आये और उनकी इच्छाको ख्यालमें रखकर पिताजीने ''वर्ण, जाति और धर्म'' पुस्तक लिखी जो भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित हुई।

एक बार पिताजी स्व० साहूजीसे मिलने गये। उस समय साहूजीने यह इच्छा व्यक्त की कि ''आप कलकत्तामें रहने लगो और आपकी सारी व्यवस्था हो जायेगी।'' पिताजीने उत्तर दिया कि ''शामके वक्त पक्षी अपने हिसाबसे बसेरा करता है और सुबह उड़ जाता है।'' यह सुनकर साहूजी चुप हो गये।

फिर भी उन्होंने अपने इस प्रस्तावको नहीं छोड़ा। इस बारेमें उनका एक पत्र भी पिताजीके पास आया। उस पत्रको पढ़कर पिताजी असमंजसमें पड़ गये। यह बात किसी तरह लाला जगतप्रसादजीको मालूम हो गयी। वे स्वयं तो नहीं आये पर एक व्यक्तिसे कहला भेजा कि ''हम तो साहूजीकी सर्विसमें हैं, इसलिए लिख नहीं सकते। परन्तु अभी तो आप जब सभामें उपस्थित होते हो, तो आप फटी टोपी और कुर्तेमें अच्छे लगते हो। वहाँ जाने पर दो कौड़ीकी इज्जत रह जायेगी।'' यह सन्देश मिलनेपर पिताजीने कलकत्ता जानेका अपना विचार त्याग दिया।

दूसरी बार पुनः स्व० साहू सा० से भेंट होनेपर साहूजी बोले ''हम आफिस जा रहे हैं। उसी गाड़ीमें आप हमारे साथ चलना। उस समय पिताजीकी आँखोंमें मोतियाबिन्द जोरोंपर था। यह बात साहूजीको मालूम भी थी इसलिए गाड़ीमें साहूजी बोले, आपका काम कैसे चलता है। इसपर पिताजीने कहा—बहते हुए पानीके सामने पत्थर आ जानेपर वह रास्ता बना लेता है।' साहूजी यह सुनकर चुप रहे और पिताजीको जहाँ वे ठहरे थे वहाँ भेज दिया।

इन्हीं दिनों के आस पास श्वेताम्बर समाजने साहित्यका इतिहास लिखनेका निर्णय लिया। यह देखकर दिगम्बरोंमें भी यह सवाल उठ खड़ा हुआ। पर दिगम्बर तो पक्के दिगम्बर हैं। उनकी कोई विधिवत् योजना नहीं बनती और बन भी जाये तो समाजका सहयोग मिलता नहीं। अतः श्री वर्णी ग्रन्थमालाकी बैठकके समय

श्री पं० जगन्मोहनलालजी ने यह प्रश्न उपस्थित किया कि "दिगम्बर समाजमें जितनी भी साहित्यिक संस्थायें हैं वे इस ओर ध्यान देना नहीं चाहती। वर्णी ग्रन्थमालाका भी यही हाल है। इस बातको सुनकर सदस्योंमें चिन्ता पैदा हो गयी। अन्तमें पिताजीने समितिकी ओरसे यह कह दिया कि इसकी व्यवस्था की जायेगी। फलस्वरूप मुद्रित सर्वार्थसिद्धिको भारतीय ज्ञानपीठको सौंप दिया गया और उसपर श्री वर्णी ग्रन्थमालाका जितना व्यय हुआ था वह ज्ञानपीठसे प्राप्त करके इस कार्यको आगे बढ़ाया गया। श्री प० कैलाशचन्दजीने इस योजनाके अन्तर्गत 'जैन साहित्यका इतिहास' पर तीन पुस्तकें लिखी और प्रकाशित की गई।

छत्तीसगढके दौरेके समय डोंगरगढ़ वाले दानवीर सेठ भागचन्द जोसे पिताजीका परिचय हो गया था। इस कारण पिताजीकी बड़ी पुत्री चि० शान्तिकी डाक्टरी शिक्षामें सेठ सा० का सहयोग मिलता रहा। इसलिये कई बार पिताजीको डोंगरगढ जानेका अवसर भी मिला। इस दौरान पिताजी व सेठ सा० में स्नेह उत्तरोत्तर प्रगाढ होता गया।

मथुरा संघको जयधवलाके प्रकाशनमें अर्थकी आवश्यकता थी। तब पिताजी व पं० भैयालाल भजनसागरकी सलाह पर सेठ सा० ने मथुरा संघके कुण्डलपुर अधिवेशनकी अध्यक्षता स्वीकार कर ली और वहाँपर जयधवलाके प्रकाशन हेतु ग्यारह हजार रुपये दिये थे। पिताजीकी सलाहपर ही उन्होंने श्री प्रकाशचन्दजीको गोद लिया था। इसके बाद किसी कारणवश उनका स्वर्गवास हो गया। फिर भी सेठानी श्रीमती नर्मदा बाईसे पिताजीका सम्पर्क बना रहा।

पिताजीकी इच्छा थी कि श्री गणेश वर्णी ग्रन्थमालाका विकास किया जाए और उसमें शोधकी व्यवस्था भी की जाये। इसलिए उसका नाम बदलकर श्री गणेश वर्णी शोध संस्थान रखा जाए। इसके लिए श्री वर्णी ग्रन्थमालाकी बैठकमें यह प्रस्ताव पास किया गया और उसके अनुसार नियमावली बनायी गयी जो कुंडलपुरमें हुई ग्रन्थमालाकी प्रबन्ध समितिकी बैठकमें स्वीकार की गयी और उसी प्रबन्ध समितिको श्री वर्णी शोध संस्थानकी प्रबन्ध समितिमें बदल दिया गया। किन्तु इस संस्थाका कोई स्वतन्त्र भवन न होनेसे बहुत सेठानी नर्मदा बाईके सामने पिताजीने यह प्रस्ताव रखा कि वे इसके लिए एक भवन बनवा दें। इस प्रस्ताव को सेठानी सा० ने सहर्ष स्वीकार कर लिया। फलस्वरूप संस्थाको अपना एक भवन मिल गया।

सोनगढ पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठाके समय एक विद्वत्-सम्मेलन आमन्त्रित किया गया था। मैं उसका अध्यक्ष था। पहले दिनकी कार्यवाही सम्पन्न करते समय विद्वानोंके सामने तीर्थोंकी सुरक्षा कैसे हो यह सवाल मुख्य था। वक्ताओंके व्याख्यानके बाद मैंने समाजका वर्तमान चित्रण उपस्थित करते हुए कहा—

जो पहले पैदल यात्रा करते थे, अब वे पैदल न चलकर साइकिल या स्कूटरसे यात्रा करने लगे हैं, जो पहले साइकिल या स्कूटरसे आते-जाते थे वे अब मोटर कारसे आने जाने लगे हैं। जो पहले मिट्टीके कच्चे मकानमें रहते थे वे अब पक्के मकानमें रहने लगे हैं। जो पहले पक्के मकानमें रहते थे उनको रहनेके लिए अब हवेली भी कम पड़ने लगी है। तो क्या जितना हम कमाते हैं वह सब भोगके लिए ही होना है या धर्मके लिए भी उसमेंसे कुछ भाग रहना है। इसपर श्रोता समाज स्वयं ही विचार करे।

मेरा इतना कहना था कि समाजमें स्वेच्छासे तीर्थरक्षाके लिए दान लिखाया जाने लगा। श्री पूरणचंद जी गोदीका का तो इस मंगल कार्यके लिए एक लाख रुपया अन्तरिक्ष पार्श्वनाथमें पंचकल्याणक प्रतिष्ठाके समय ही जाहिर हो गया था। इसके अतिरिक्त साठ-सत्तर हजार और दानमें लिखाये गये। तीर्थ सुरक्षा कोषका यह श्री गणेश है। उसके बाद आ० बाबूभाईकी अध्यक्षता और उनके निर्देशनमें उस कोषकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई।

कहते हैं कि इस कोषमें इस समयतक एक करोड रुपयोंसे अधिक रुपया लिखाया जा चुका है, वसूली भी पर्याप्त हो गई है। अभी तक उससे तीर्थ-रक्षाके ये काम सम्पन्न किए जा चुके हैं।

१. जिस तीर्थ क्षेत्रपर जिस बातकी कमी दिखाई देती है उस क्षेत्रपर उसकी पूर्तिके लिए अनुदान देना। इस अनुदानके अनेक भेद हैं—जीर्णोद्धार, धर्मशालाका निर्माण, पूजाकी व्यवस्था आदि।

२. तीर्थोंका सर्वेक्षण करके उनकी विस्तृत जानकारी लिपिबद्ध करना।

३. गृहस्थाचारके अनुरूप तात्त्विक भूमिका तैयार करना।

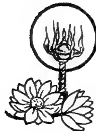
४. समाजमें फैली हुई धर्मके नामपर कुरीतियोंके उच्चाटनमें योगदान करना।

५. शिक्षाके प्रचारमें आवश्यक सहयोग करना आदि।

ये पिताजीके जीवनकी कुछ मुख्य घटनाएँ हैं जो उनके साथ बैठकर की गई बातचीतके आधार पर लिखी गई हैं। ऐसी बहुत सी बातें हैं जो समयाभावके कारण नहीं लिखी जा सकी हैं और बहुत सी बातोंको काफी संक्षिप्त करके लिखा गया है। घटनाक्रम भी सही नहीं है, और कभी समय मिला तो पूरी जीवनी बादमें लिखी जायेगी ऐसी आशा है। फिर भी जो भी लिखा जा सका है उसमें पिताजीके जीवनकी एक झलक तो मिल ही जाती है। पिताजीने अपने जीवनमें स्वाभिमान और स्वावलंबनको आधार बनाया और विवेकमें जो बात सही लगी उसके लिए लड़ते रहे। विद्यार्थी उन्हें बहुत प्रिय रहे हैं और कितने ही विद्यार्थियोंको उन्होंने अनेक प्रकारसे मदद देकर आगे बढ़ाया।

अभी भी ८४ वर्षकी अवस्थामें वे सक्रिय हैं और अपना सारा कार्य करते हैं। अनेक कार्य उन्होंने हाथमें ले रखे हैं और हम श्री जिनेन्द्र प्रभुसे प्रार्थना करते हैं कि वे शतायु होकर अपना अमूल्य योगदान जैन-दर्शनको प्रदान करते रहें।

•



भेंट-वार्ता : १

मैं शुरूसे क्रान्तिकारी रहा हूँ

पं० फूलचन्द्र शास्त्री / डॉ० नेमीचन्द्र जैन

इन्दौर, ८ जनवरी, १९८५

डॉ० नेमीचन्द्र जैन : जहाँ तक मैं आपके बारेमें जान पाया हूँ, आपका जन्म ११ अप्रैल, १९०१ में सिलावनमें हुआ। आप हजारों वर्ष तक रहें, यही हमारी शुभाकांक्षा है।

फूलचन्द्र जैन : यह पर्याय रहे या न रहे, यह आत्मा तो रहेगा।

ने : आपका विवाह सन् १९२२-२३ ई० में हुआ ?

फू. : १९२१ में असहयोग आन्दोलन चला, उसके बाद विवाह हुआ। फिर पठन, पाठन और लेखन—यही तीन काम तो हमारे बराबर चलते आ रहे हैं।

ने. : समाजमें आपका आना-जाना बराबर बना रहा।

फू. : समाजमें आना-जाना तो आन्दोलन के रूपमें हुआ।

ने. : यह तो बहुत अच्छी बात है, आन्दोलन करना बहुत कठिन है और आन्दोलन कराना तो और भी अधिक कठिन है। आपने सामाजिक आन्दोलन कबसे शुरू किया ?

फू. : सामाजिक आन्दोलन तो हमारा सन् १९२० से ही चालू हो गया था। सबसे पहले यह असहयोग आन्दोलन चला तो हम पाठशालामें पढ़ाते थे, वहीं व्याख्यान देना शुरू कर दिया। इस कारण कलेक्टर की तरफसे सूचना आई कि आपकी पाठशाला बन्द कर दी जायेगी। सेठने हमसे पूछा कि भाई, तुम किस तरहसे बन्द कर सकते हो, यह हल्ला-गुल्ला करना। उस समय यह हल्ला-गुल्ला ही कहलाता था। हमने मुट्ठी-फण्ड खोला। लोगोंमें जाकर आठवें दिन इकट्ठा करना और गरीबोंमें बाँटना।

ने. : अच्छा, १९२१ में समाजकी दशा क्या थी ?

फू. : लोग उस समय मर्यादाका पालन करते थे। शहरी जीवनमें गिरावट आ गयी। सन् १९३५-४० से सरकारी कालेजोंने गिरायी।

ने. : यानी कालेजोंने हमारी मर्यादाको कम किया था।

फू. : कम किया है; क्योंकि हम भी पढ़े हैं। स्कूल-पाठशालाओंमें पढ़े हैं। हम धर्मको भूलने लगे। मन्दिर जाना जरूरी है, उसके बिना भोजन नहीं मिलता था। पहले माँ पूछती थी—मन्दिर हो आये। यदि हमने कहा कि नहीं गये, तो भोजन नहीं मिलेगा। परन्तु जिस समय पाठशालामें पढ़ने लगे, तो फिर मन्दिर गौण होने लगा। पाठशाला मन्दिर तो है, परन्तु वह आवश्यकताकी पूर्ति नहीं करती है। पाठशालामें शाब्दिक ज्ञान और मन्दिरमें जीवनका ज्ञान होता है।

ने. : अब बताइये आप पण्डित कैसे बने ? पहले तो आप पाठशालामें थे; अब पण्डित कैसे बने ? कौन-सा सन् था ?

फू. : हम खुरई, बीना खजुरियामें जो २॥-३ मील पर था, तो वहाँ पर पढ़े भी हैं स्कूलमें और वहीं पर जाकर अपनी मौसीके लड़केके पास जाकर तत्त्ववाद भी सीखा।

ने. : कौन-सा सन था वह ?

फू. : होगा यही सन् १९१५, १६, १७ का।

ने. : "तत्त्वार्थसूत्र" के बाद "भक्तामर स्तोत्र" सीख लिया।

फू. : बाँचना सीख लिया। अर्थ नही आया। जैसे कोई पढता है तो पढकर तत्त्वार्थसूत्र सुना दिया। फिर उसके बाद हम आये थे तो हमारे एक गढरिया मामा थे।

ने. : कौन से मामा ? गढ़रिया मामा। गढ़रिया मामा क्या होते है ?

फू. : गढरिया। गढा गाँवके रहनेवाले। तो वह एक लड़का यहाँ आया था आपके इन्दौरमे पढ़नेके लिए। हमारे साथमे स्कूलमे पढ़ता था। उन्होने आकर कहा कि ये ससुरे धूलमें लाटता फिरता है, तेरा साथी देख इन्दौरमे बडा पण्डित पहुँच गया है पढ़नेके लिए। बस हमको लग गया।

ने : आप चले थे वहाँ से।

फू. : तो फिर हमारे काकाने हमें यहाँ पर भेज दिया।

ने. : यह आपकी शुरूआत है। आप कब तक रहे ?

फू. : यही वर्ष छः महीने रहे। वहाँ पढ़े, फिर मुरैना चले गये।

ने. : तो इन पाठशालाओंमे कब तक पढते रहे, कितने वर्ष ?

फू. : ५-६ वर्ष।

ने. : इसके बाद आपको लगा कि आप पण्डित हो गये।

फू. : ऐसा है कि साढूमलमे २॥-३ वर्ष रहे। मुरैनामें २॥-३ वर्ष रहे। उसके बाद, बात यह है कि उस समयमे यह था कि सरकारी परीक्षा नही दिलाना, अभ्यास करना। वह तो हो गया। उस समय घरकी स्थिति भी ढीली होने लगी थी। प० देवकीनन्दनजीका हमारे जीवनमे बहुत बडा उपकार है। वह बहुत सामाजिक इंसान था (मुरैनामे) इसमे कोई सन्देह नही। उनके जीवनको तो आज भी भूलते नही। तो उन्होंने हमको साढूमल पाठशालामे अध्यापक बना दिया। फिर, थोडी-थोडी धर्म-ज्ञानमे हमारी प्रसिद्धि हो गयी थी।

ने. : प्रसिद्धि आपकी अध्यापनके कारण हो गई थी ?

फू : अध्यापनके कारण नहीं, पढते समय यह प्रसिद्धि हो गयी थी। गोम्मटसार कर्मकाण्डके हम विशेष जानकार माने जाते है। इसलिए हो गई थी।

ने. : साढूमल में थे तब ?

फू. : साढूमल में नही, मुरैनामे थे तब हो गई थी।

ने. : अच्छा पंडितजी, यह बताइये कि आपका जैनधर्म पर सर्वमौलिक ग्रन्थ कौन-सा है ?

फू. : जैनधर्मके ऊपर वैसे तो हमारे विचार जा है पहलेसे ही तात्त्विक रहे है। देखिये हमने सन् ३८ मे नातेपुते (सोलापुर) मे कुछ दिन सर्विस की। वहाँ पर एक विवाद चला था फल्टणमे कि भावमन जो है वह मोक्ष, केवलज्ञानको उत्पन्न करता है, इसलिए ज्ञानका शुद्ध रूप है।

ने. : भावमन ?

फू. : भावमनके सम्बन्धमे दो पक्ष थे—एक आध्यात्मिकोका और एक व्यवहारवादियों का। व्यवहारवादी कहते थे—भावमन शुद्ध होता है, वह केवलज्ञान को उत्पन्न करता है। अध्यात्मवादीका कहना था—नही, भावमन तो उपशम भाव है, वह शुद्ध कैसे होगा ? वह विवाद हमारे पास आया था, तो हमने उसपर टिप्पणी लिखी थी जो 'शान्तिसिन्धु' मे छपी थी। यदि भावमन आत्माका आलम्बन लेकर है तो उपयोग हो गया, तो मोक्ष केवलज्ञान उत्पन्न होता। यह पंक्ति उस समय लिखी थी, जिस समय कानजी स्वामीसे हमारा सम्पर्क नही हुआ था।

ने. : यह टिप्पणी सर्वप्रथम आपकी मौलिक कृति थी ?

फू. : मौलिक थी ।

ने. : क्या शीर्षक था उसका ?

फू. : भावमन ! भावमन जो है ज्ञानकी समग्र पर्याय है ।

ने. : और कानजी स्वामीसे सम्पर्क कब हुआ आपका ?

फू. : कानजी स्वामीका सम्पर्क तो भाई १९५९ के बादकी बात है ।

ने. : वे आपके सम्पर्कमें आये कि आप उनके सम्पर्कमें आये ।

फू. : ऐसा हुआ कि यह हमारी प्रसिद्धि तो हो गई थी कि हम थोडा अध्यात्म जानते हैं तो विद्वत् परिषद्के हम मंत्री थे और सन् १९४८ की बात होगी शायद । तो सोनगढ़मे विद्वत् परिषद्को लेकरके हम गये थे । उससे हमारा सम्पर्क हुआ । १०-१२ वर्ष छूटा रहा । फिर यह अध्यात्मके ऊपर खूब चर्चा चली जैन पत्रों मे । तो अध्यात्मके ऊपर चर्चा विशेष चलनेसे हमे लगा कि ईश्वरवादी नहीं है हम, तो व्यक्तिवादी है और व्यक्ति ही गिरता है गिरते हो उठता है ऐसा हमारा जीवन रहा, इसलिए हमने फिर वह जैनतत्त्व-मीमांसा नामक एक पुस्तक लिखी ।

ने. : और यह राष्ट्रीय क्षेत्रमें जब आए तो आप तो सन् १९१८-२० से आ गये ।

फू. : सन् १९२० से ही आ गये ।

ने. : क्या-क्या मुख्य कार्य किये आपने ?

फू. : राष्ट्रीय क्षेत्रमें जेल भी गये ।

ने. : कौनसे वर्षमे ?

फू. : 'भारत छोडो' आन्दोलनमें हम जेल गये हैं ।



डॉ० नेमीचन्द्र जी जैन पण्डित जी से भेटवार्ता लेते हुए

ने. : अच्छा यह बताइये सामाजिक क्रांतिमें आपकी कोई रुचि है।

फू. : सामाजिक क्रांतिमें गजरथ विरोधी आन्दोलन भी हमने किया।

ने. : अच्छा-अच्छा, कौन-सा सन् था यह ?

फू. : यह सन् ३८ से। यह जो चला था ये देवगढ़ उसका आन्दोलन करनेवाले तो सब हम ही मुख्य।

ने. : क्यों किया आपने विरोध ?

फू. : इसलिए कि यह समयके अनुकूल नहो है और हर जगह लोग जो है पैसा होता है तो शिक्षा-संस्थाओंमें और स्वाध्याय आदिमें नहो लगाते है और इनका खर्च करते और अपना भी खर्च करते है और समाजका भी खर्च करते है और कुछ लाभ तो मिलता नहो है सिर्फ सवाई सेठ बन जाते है, इसलिए आन्दोलन किया था और एक दफे हमने उपवास भी किया इसके लिए केवलारी में।

ने. : क्या प्रभाव पड़ा ?

फू. : केवलारीमें समझौता किया हमसे, फिर वह तोड दिया। मानते ही नहो, अब तो व्यापार हो गया पूरा। आन्दोलन जो है वह व्यापार हो गया। अब तो व्यापारके लिए करते है लोग पंचकल्याणक।

भेंट-वार्ता : २

मेरे लेखन का आधार आगम है

इन्दौर, ३१ जनवरी, १९८५

डा० नेमीचन्द्र जैन : जिन्दगी जैसे अर्जुलिका जल होता है और सन्दियोंमेंसे निकल जाता है, वैसे ही समय भी बराबर तेजीसे चला जा रहा है। लेकिन आपने यह समयको रोकनेका प्रयत्न किया है — साहित्य के माध्यम से। साहित्यके माध्यमसे समयको भी थामा जा सकता है, रोका जा सकता है, वह प्रयत्न आपने किया है। जैन साहित्यके क्षेत्रमें आपका आना कब हुआ।

पण्डित फूलचन्द्र शास्त्री : जैन साहित्यके क्षेत्रमे तो वैसे अखबार निकालनेकी दृष्टिसे कहते हो तो सन् ३६ मे हम आ गये। 'शान्तसिन्धु' पत्रिका मे।

ने. : 'धवला' का सम्पादन चल रहा था ?

फू. : सन् १९३७-३८ मे धवलाका सम्पादन काम चल रहा था अमरावतीमे। डा० हीरालालजी उस कामको कर रहे थे। उन्होंने अनुवाद तैयार कर लिया था। परन्तु कमेटी और विचार करनेके लिए उनसे कह रही थी। क्योंकि डा० हीरालालजीने एक लेख लिखा था। लेखके ऊपर बहुत टीका टिप्पणी हुई थी। इसलिए कमेटी थोड़ी सावधान थी कि ऐसा न हो कि यह ग्रंथ भी निकले और उस पर टीका-टिप्पणी चले, तो फजीहत होगी। इसलिए हमको बुलाया गया धवलाके प्रथम भागके पुनर्लेखनके लिए, मैंने उसको लिखा। जहाँ थोड़ा बहुत संशोधन करना था, संशोधन किया, जहाँ उसको मानना था उसीको ले लिया। इस तरहसे हमने तैयार किया और एक युक्ति निकाली कि भाई, यह छपेगा कैसे ? हमने कहा कि हमारे गुरुजी है पण्डित देवकीनन्दनजी, कारजा। कारंजा अमरावतीके पासमें है। आप कहे तो हम उनको दिखाकर ले आया करे। कमेटीने स्वीकृति दे दी। हम हर हफ्ते या पन्द्रह दिनमें कारजा जाने लगे और पढ़ करके सुनाते थे। वे सुनते थे, कही उन्होंने कोई एक आध बात बताई तो नोट कर लेते थे, ताकि और अन्तिम रूप हो गया और अन्तिम रूप हो जानेसे कमेटीने मंजूरी दे दी कि छापो। तो उसमे जो अड़चन थी, वह निकल गई।

ने. : इस तरहसे आप जैन साहित्य सृजनमें या टीकामें या जो भी हो, उसमें आप आये।

फू. : हाँ। फिर तो काम करते रहे। फिर वहाँ काम किया। चूँकि हमारे साथी जो हैं डॉ० हीरालालजी हैं उग्र प्रकृतिके थे थोड़े।

ने. : आपको प्रेरणा इसमें मिली पण्डित देवकीनन्दनजी से।

फू. : पण्डित देवकीनन्दनजीसे प्रेरणा क्या मिली? वैसे तो हम पत्रिका निकालते ही थे—अंतःप्रेरणासे निकालते थे। अन्तमें उनका सहयोग मिल गया। अंतःप्रेरणा यही मिली कि हमको यह काम करना चाहिए। इस काममें हम आ गये। यहाँ आ जानेके बादमें ४-५ वर्ष तो हम आजीविकामें रहे। ३ वर्ष तो वही रहे, फिर उनका थोड़ा स्वरूप देख करके डॉ० हीरालालजीके साथ हमारे विवाद हो जाया करते थे कभी-कभी। फिर हमारे पहला बच्चा हुआ, तो उसका स्वर्गवास हुआ तो हम घर आये थे, उसके बाद हम गये ही नहीं।

ने. : आपके मौलिक ग्रंथ कितने होंगे?

फू. : मौलिक तो वैसे तो देखिए, एक तो हमने 'जैनतत्त्वमीमांसा' लिखी और एक 'वर्ण, जाति और धर्म' पुस्तक लिखी। एक तत्त्वार्थसूत्र की टीका की।

ने. : मौलिक ग्रंथोंमें आपने कौन-कौन सी मौलिकताएँ सामने रखी?

फू. : व्यक्ति-स्वातन्त्र्य-स्वावलम्बनको ध्यानमें रखकर हमने लिखा और 'वर्ण जाति और धर्म' में सामाजिक व्यवस्थाको आगमसे, सामाजिक व्यवस्थाके विरोधमें हमको क्या मिलता है, यह दृष्टि हमारी मुख्य रही।

ने : विरोधमें रही है?

फू : विरोधमें मतलब यह है कि समाजका वर्तमानमें जो ढाँचा है जातिवादका उसके हम विरुद्ध हैं। हम संगठन तो चाहते हैं, परन्तु समाज गुटोंमें जो बँटी है, वह विषमता नहीं चाहते हैं। जैसे जैनधर्मके आधार पर दिगम्बर जैन धर्मके आधार पर, एक संगठन होना चाहिए, ऐसा हमारा मत है।

ने : क्योंकि विषमताओंसे शोषण होता है।

फू. : शोषण भी होता है और योग्य भी हो, तो हम कहते हैं अयोग्य है—अगर हमारी जातिका नहीं है तो।

ने. : अच्छा, तो जातिका होना जरूरी है।

फू : जातिका होना जरूरी नहीं, फिर भी मानते हैं कि जातिका होना चाहिए। हाँ, संस्कार वाला तो होना चाहिए। जिस संस्कारमें वह पला-पुसा है और जैसा हमको काम लेना है उसके अनुकूल तो होना चाहिए। परन्तु जाति उसमें बाधक बनती है, तो यह हमको स्वीकार्य नहीं। हम तो कहते हैं कि हरिजनको भी पात्र यदि हम बना लेते है तो वह हमारे धर्मको धारण करनेका पूरा अधिकारी है, फिर हम तो यह मानते हैं।

ने. : व्यक्ति-स्वातंत्र्यको मानते है।

फू. : हाँ।

ने. : इसमें जाति कहाँ आड़ आती है।

फू. : हमारे यहाँ तो संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त होना चाहिए, यह आगमकी आज्ञा है।

ने. : अच्छा, पर्याप्त यानी क्या?

फू. : संज्ञी पंचेन्द्रिय ताकि जो समझदारी आ जाए, विवेक आ जाए, तो हमारी बात सुने, तो विवेक से ग्रहण कर ले। सत्-असत् हेय-उपादेयको जाने।

ने. : अच्छा यह बताइये कि टीका करनेमें कौन-कौन सी सावधानियाँ रखनी चाहिए।

फू. : टीका करनेमे मूलको ध्यानमें रखना चाहिए। हमारे आचारमे एक व्यक्ति स्वातंत्र्य स्वावलंबनके आधारपर हमारा लेखान चलना चाहिए क्योंकि ये सब स्वतंत्रताके पोषक ग्रन्थ हैं। चाहे चरणानुयोग हो या करणानुयोग हो, प्रमाण युक्त उदाहरण है उसमे तो कोई बात ही नही है। चरणानुयोग है—हमारी आध्यात्मिक वृत्तिके अनुरूप। हमारी प्रवृत्ति क्या होती है? आध्यात्मिक वृत्ति अगर हमारी ऐसी निष्कषाय की है, तो हमारा उठना-बैठना भी उसी जातका होगा।

ने. : भाषा कैसी रखते है आप?

फू. : भाषा तो हमारी चालू है, सरल है। कही पारिभाषिक शब्द आ जाते है कई जगह स्पष्ट कर देते है, कई जगह वैसा ही चलता है। जैसे अनुवाद है तो उसमे विशेषार्थमें स्पष्ट करेंगे, अनुवादमें नही। अनुवाद तो जैसा मूल होता है, वैसा ही वहां लिख देते हैं। विशेषार्थमे उसे स्पष्ट कर देते है।

ने. : टीकाकार बननेमे क्या सावधानियाँ रखना चाहिए, जैसे कि मैं टीकाकार बनना चाहता हूँ तो आप मुझसे क्या कहेंगे।

फू. : पहले तो विषय स्पष्ट होना चाहिए।

ने. : पहली बात, दूसरी .....

फू. : दूसरी भाषापर अधिकार होना चाहिए, तीसरे अनुगम भी होना चाहिए थोडा। अनुगमका मतलब यह है कि उस विषय सम्बन्धी जानकारी दूसरे ग्रन्थोसे भी हमारी तुलनात्मक जानकारी परिपक्व होनी चाहिए। ये तीन बाते अगर किसीको ध्यानमे है, तो टीकाकार हो सकता है।

ने. : यह बहुत जरूरी है। आज लोग इसका ध्यान रखते है या नही।

फू. : कोई रखते है कोई नही रखते है। यह चलता तो है। अखबार ये जो छापखाना आ गया प्रेस तो उससे तात्विक दृष्टिमे तो हानि ही हुई है।

ने. : आपका प्रमुख योगदान या अवदान धर्मके क्षेत्रमें हैं, दर्शनके क्षेत्रमे या संस्कृतिके क्षेत्रमे है या समाजके क्षेत्रमें क्या है?

फू. : असलमे हमारे योगदानकी बात करते है, आपने तो मुख्य रूपमे समाजके निर्माणको भी दृष्टिमे रखा और तत्वज्ञानको भी मुख्यतयासे हमने ध्यानमे रखा और दोनोंको ध्यानमे रखा।

ने. : जैसे रेलकी पटरियाँ होती है और उसपर पहिया दौड़ता है, वैसे ही इन दो पटरियोपर आपका साहित्य चलता है।

फू. : चलता है। तत्त्वज्ञान सामने रखा, समाजके निर्माणको भी ध्यानमे रखा। हम विद्वत् परिषद्के अध्यक्ष बन भी गये थे तो हमने एक बात लिख दा उसमे अपने व्याख्यानमे कि भाई आप यह तो मानते ही हो कि हमारे जो शास्त्र मिलते है उत्तरकालमे उनमे पांचवे स्थानपर शूद्रको स्थान मिला है। तो इतना तो मानो आप लोग, जिसके कि आधारपर जो हमारे प्रमुख विद्वान् थे, जिनको समर्थन करना चाहिए, वे चुप रहे।

ने. : उनकी रोजी-रोटीका प्रश्न था। जैन साहित्य जो अपना है उसमे कोई नया मोड़ लेना चाहते है—नया मोड देना चाहते है।

फू. : नया मोड़—तो जातिवाद पहले खत्म होना चाहिए। ये जातिवाद जबतक चलेगा तबतक जैन समाजमे बँटवारा रहेगा। जो समिनिने साहित्यिक धर्मकी प्रवृत्ति जिसे हम कहते है हुई नही है, जातिवादके

आधारपर ही व्यक्ति सोचेगा और जातिवादके आधारपर ही व्यक्ति काम करेगा, इसलिए वह धर्मका काम तो नहीं होगा। इससे अपने आप द्वार खुल जायेंगे। दूसरे साहित्यका जो क्षेत्र है, वह हम बहुत संकुचित कर रहे हैं। इस मामलेमें हम लोगोंको पैसा भी नहीं मिलता है।

ने. : पारिश्रमिक नहीं मिलता है।

फू. : पारिश्रमिक तो अलग बात है, प्रकाशनके लिए भी पैसा नहीं देते है। समाज मन्दिर और मूर्तियाँ देखती है। हम कहते है कि मन्दिर मूर्तियाँ तो अपनी जगह है और वे होने ही चाहिए। वह समाजको ले चलनेका मार्ग है—सस्था परन्तु एक साहित्यिक संस्थाकी दृष्टिसे भी सोचना चाहिए आदमीको। देश छोटा नही है। पूरा विश्व जिसको आज ब्रह्माण्ड विश्व कहते है, वह इतना बड़ा देश है तो हमारा साहित्य उन तक कैसे पहुँचे, उन विविध भाषाओंमे, यह कैसे पहुँचे, उसपर ध्यान देना चाहिए। दिगंबर समाज इस ओर ध्यान नहीं देती है, श्वेताम्बर समाज तो ध्यान देती है। वह इस दृष्टिसे काम कर रही है। और हमारी समाज जो है कूपमण्डूक बनी हुई है।

ने. : षट्खण्डागम ग्रन्थका वाचन हुआ आचार्य विद्यासागरजीके सानिध्यमे, दो जगह हुए तीन जगह हुए मुझे मालूम नहो है।

फू. : १॥-२ महीने चला है।

ने. : उसकी उपयोगिता क्या है ?

फू. : उपयोगिता केवल इतनी कह सकते है कि लोगोंका ध्यान इस तरफ खीचे और अपने मूल ग्रन्थ का मान करके इनका स्वाध्याय करने लगे। इतनी उपयोगिता है।

ने. : हम तीर्थकरका एक श्रावकाचार अक निकाल रहे है तो एक आदर्श श्रावककी कल्पना क्या है आपकी ?

फू. : श्रावकाचार एक बात विशेष है श्रावक जैनधर्ममे वही कहना लाभकारी है कि वह मूल धर्मको अंगीकार करनेके लिए अपने मनमे विचार रखता है कि कदाचित् ऐसा मौका आये कि निर्विकार बनूँ। क्योंकि निर्विकार होनेका श्रावक रास्ता नही है। निर्विकार होनेका पूरा रास्ता वही है। अकेले आत्माको बनानेका। अकेले आत्मामे रह जाऊँ और यह जो मेरे ऊपर आवरण है, संयोग है, वह मुझे हर जाये, इसका रास्ता तो एक ही है, यह अपवाद मार्ग है।

ने. : अब हम कहाँसे चलना शुरू करे इस मार्गपर। श्रावक कहाँसे चलना शुरू करे।

फू. : पहले तो देवको देखे, गुरुको देखे, साहित्यको देखे, तीनोंको देखे। ये हमारे है हमे इनके साथ रहना है। उपदेशोंके अनुसार चलना है।

ने. श्रद्धा होनी चाहिए—निश्चित बात है।

फू. : फिर अहिंसाकी तो बाते है कि आठ मूलगुणोका पालना हो यह बात आनी चाहिए। इसके बाद वह श्रावक कहलानेका अधिकारी है।

ने. : और उसका आचरण कैसा होना चाहिए जो सामाजिक आचरण।

फू. : सामाजिक आचरण—एक तो अपने समाजमें ही उठने बैठनेका परिणाम होना चाहिए उसको। अन्य समाजमे जो जाते है, उनके गुण दोष हमारेमे प्रवेश कर जाते है, इसलिए जहाँ तक है जिन समाजोंसे, अहिंसाकी बात नही है या धर्मकी बात विशेष नही है, उन समाजोसे तो सम्पर्क नही होना चाहिए और इन

तीनोंको भूलना नहीं चाहिए। यहाँ तो प्रत्येक जैनको आना ही चाहिए मन्दिरमें, भले ही वह हाथ जोड़कर चला जाए।

ने. : संगठनका कोई उपाय बतलाइये, इलाज सुझाइये।

फू. : संगठन करनेका उपाय है एक कि हम एक जगह रहें, एक गोष्ठी बनाएँ और गोष्ठीमें हम ऐसे लोगोंको लें जो चिन्तक हों, विचारक हों। उन लोगोंको भी थोडा बहुत जगह दें जिनका समाजमे प्रभुत्व हो या आर्थिक दृष्टिसे सम्पन्न हों। उनको लेनेसे क्या होगा एक सब तरहके विचारोंका केन्द्र बन जाएगा। आकलन हो सकेगा और वहाँ पर हमे यह निर्णय करना चाहिए पहले तो मन्दिरका निर्णय करना चाहिए कि इन सबको मन्दिर जाना होगा।

ने. . मन्दिरको भी आकर्षक बनानेकी जरूरत तो है। मन्दिर जैसे अभी हमारे सामने है ऐसे नहीं हैं कि मन्दिर निमंत्रण देते हों कि आओ हमारे यहाँ। उसमे आर्कषणके लिए जैसे हम कई उपाय कर सकते हैं जैसे वहाँ ऐसी पुस्तकें रखें जिनको पढ़नेकी जिज्ञासासे लोग आवें, ऐसी कथाएँ लिखी जाएँ। कथाओंके द्वारा प्रवेश होता है। तत्वज्ञान तो व्यक्तिका जीवन है समाजका जीवन जो है कथाएँ है, ऐसा मैं मानता हूँ।

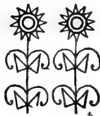
ने. : कथाओंके माध्यमसे वह तत्वकी ओर जाएगा।

फू. : हाँ। तत्वकी ओर जाएगा। लडके होंगे, बच्चे होंगे। छोटीसे छोटी किताबे तैयार हों, उनमें ऐसी हों कि जो उनमे आकर्षण पैदा करे।

ने. : यानी मन्दिर और साहित्य इन दो पर हमारा ध्यान जाना चाहिए, तो हमारी आने वाली पीढ़ी।

फू. : बिल्कुल संगठित बन सकेगा। हम विचारकोंका एक संगठन होना चाहिए।

●



रेखा-चित्र

आस्था के शिखर

डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, नीमच

हिमगिरिके धवल, आलोकस्नात, शृंग की समतल उपत्यकामें मुस्कराता हुआ देवदारु सदृश दीर्घ, देदीप्यमान, समुन्नत तनमें लिपटा हुआ सरल मन, ज्ञानकी भास्वर रश्मियोंसे आलोकित वन-वीथियोंके पावन निर्झर एवं अट्टहाससे समुल्लसित पर्वत-सरिताओंके विस्तीर्ण तीरपर समासीन भव्यजनोंकी मण्डलियोंसे सेवित-उन्नत वदनपर उदात्त मनकी आभाको विकीर्ण करता हुआ मानो प्रकाशका पुंज ही हो। जिसने अपना प्रकाश ही सदा विकीर्ण किया; भले ही तिमिराच्छन्न सघन निशाके वातावरणमें घटाटोप मेघोंके मण्डल मँडराते रहे हों या दुर्दिन की भाँति तीव्र गर्जन, वर्षण, धारा-सम्पात एवं उल्कापात ही क्यों न होता रहा हो?

इकहरे, गौरवर्ण, लम्बे, छरहरे शरीरपर वृद्धावस्थाकी सिकुडन किसी द्वीपकी रचना करती हुई भूकम्पका स्मरण दिलाती है, साथ ही अपनी अकम्प दृढता एवं स्थिरताका बोध कराती है। न जाने कितने प्रभंजन आए और गए, वात्याचक्रोंके प्रचण्ड अंधडोंसे प्रकम्पित न होनेवाला दृढ मानस आज भी तत्त्वज्ञानके शिखर पर अविचल है। समाजकी धाराको मोड़ देनेवाला यह व्यक्तित्व आज भी विलक्षण है, निराला है।

प्रायः यह कहा जाता रहा है कि प्रतिभावान कलाकार, साहित्यकारके जीवनमे संघर्ष होना अनिवार्य है। संघर्षकी भूमिमें ही ऐसे तन्तु जन्म लेते हैं जिनसे कला तथा साहित्यका जन्म व विकास होता है। पण्डित-जीको बचपनसे ही संघर्षकी भूमिमे पलना पड़ा। किन्तु यहाँ तक कुछ नही था। जिस प्रकार वन-खण्डमें या उपत्यकाओंपर बढनेवाले तरु-पादप मारुतके साथ केलि करते हुए आहत नही होते, वही स्थिति अभाव और दरिद्रतामे उन्नत होनेवालोंकी प्रारम्भिक दशा होती है। किन्तु संघर्षोसे सतत जूझनेवाले अपनी दृढ़ता का कैसा परिचय देते हैं, यहाँ मनुष्य जीवनकी सफलताकी सबसे बडी कहानी है। उसे शब्दोके वाग्जालमे कहनेसे क्या लाभ है? इतना संकेत भर पर्याप्त है कि धैर्यकी शिलापर आसीन व्यक्ति आँधियोंके थपेड़े लगनेपर भी जो चंचल नहो होते, वास्तवमें वे ही महान् है, धन्य है! किन्तु सामान्य जन विचलित होते है जो स्वाभाविक है। परन्तु सफल साहित्यकार इन दोनोंके बीच सामंजस्य स्थापित कर चलता है, तभी वह सरस्वतीके मन्दिरमें अपने भावोंका अर्घ्य लेकर सम्यक्ज्ञानदीपके द्वारा सच्ची उपासना कर सकता है। मूर्तिको दीपक दिखाना ही सच्ची आरती व पूजा नहीं है, वरन् निर्मल भावोंके पात्र में ज्ञान लौसे पवित्र वर्तिकाको प्रज्ज्वलित करना ही सरस्वतीकी सच्ची आराधना व पूजा है। पण्डितजीका सम्पूर्ण जीवन आराधनासे ओतप्रोत रहा है।

श्रेयस्कर कार्योंमें प्रायः विघ्न आते हैं। कभी-कभी तो व्यवधानोंकी माला ही लम्बी कतार बाँधकर खडी हो जाती है। किन्तु मनस्वी व्यक्ति विघ्न-बाधाओंकी चिन्तामें डूबते नहीं है। वे सदा उनके बीच मुस्कराते रहते हैं। यही उनकी सबसे बड़ी उपलब्धि होती है। वे अपने कार्यमें व्यापृत तथा संलग्न रहते है। न जाने कितने आवरण एक-एक कर हटते जाते हैं। फिर, वही स्वच्छ स्थिति निर्मित हो जाती है।

जीवनके अनेक कार्योंमेंसे योग्य आजीविकाकी प्राप्ति होना महान् पुण्यका कार्य माना जाता है। मनो-नुकूल कार्य-व्यापारकी प्राप्ति होनेपर तथा कार्यके सन्तोषजनक परिणामके विपरीत सामाजिक दबाव होनेपर यदि उससे हटना पडे, तो कितनी व्यथा होती है? इसका अनुमान पाठक ही लगा सकते है। परन्तु धीर

व्यक्ति अपनी नीति कभी नहीं छोड़ते। सिद्धान्तके पीछे पण्डितजीने सब कुछ छोड़ा, पर अपनी धर्म-नीतिसे कभी विमुख नहीं हुए।

सामाजिक सैलाबके सैलाब उमड़े, चर्चा-वार्ताओंका दौर चला, लेख मालाएँ लिखी गई, समाज-सुधारक के नामपर कीचड़ भी उछाला गया, किन्तु आपकी जड़ें सुदूरगामी क्षेत्रों तक इतने आयामोंमें विस्तृत रहीं कि बड़े-से-बड़े तूफान, आँधी, बवंडर आपका उन्मूलन नहीं कर सके। आप सभी अवस्थाओंमें हिमालयपर स्थित देवदारुकी भाँति अटल अवस्थित रहे। आप मूलमें इतने गहन हैं कि आपके तर्क, प्रमाण, आगम व युक्तियाँ अकाट्य हैं। अभी आपको हिलानेकी किसीमें सामर्थ्य नहीं है।

शरीरकी ढलती हुई अवस्था सम्प्रति आपको चल-विचल करने लगी है जो दीर्घ कालकी रुग्णताका परिणाम है। किन्तु अनेक युगोंसे जिस तत्त्वज्ञानकी भूमिकापर उन्मुक्त वातावरणमें आत्मनिर्भर होकर स्वतन्त्र रूपसे साहित्योपजीवी रहकर अपना आदर्श प्रस्तुत किया है, वही जीवनमें अथसे इति तक एक विशाल वृत्तके रूपमें ज्ञान-बिन्दुओंको सार्थकता प्रदान करेगा।

उपासककी उपासना अखण्ड की है, त्रैकालिक की है, नित्य की है, ध्रुव ही शाश्वत है। सम्पूर्ण जीवनका इतिवृत्त ध्रुवसे प्रारम्भ होकर ध्रुव तक ले जाता है। यदि ध्रुवधामको पा लिया, तो सब कुछ पा लिया। श्रद्धेय पण्डितजीके शब्दों में—

'अतीत कालको देखते हुए मेरा वर्तमान पर्याय-जीवन एक बिन्दुके बराबर भी नहीं है। जब वर्तमान शरीराश्रित जीवनको देखते हैं, तो अवश्य ही पिछले पाच वर्ष अनेक आपदाओंसे ओत-प्रोत प्रतीत होते हैं। फिर भी, वह मेरा अपना जीवन नहीं है। क्योंकि मेरा अपना जीवन ज्ञान-दर्शन स्वभावी है। उसमें अभी तक न तो कभी खण्ड पड़ा है और न भविष्यमें खण्ड पड़नेवाला है। पर्यायका स्वभाव बदलना है। वह बदलती रही है और बदलती रहेगी। संयोगी जीवनमें संयोगका होना और उसका बिछुड़ना भी क्रम-प्राप्त है। उसमें इष्टानिष्ट बुद्धिसे सुख-दुःखकी मान्यता होना यही अज्ञान है। एक ज्ञान-मार्ग ही ऐसा है जो अज्ञानको पूरी तरहसे समाप्त करनेमें समर्थ है। इसलिये वही उपासना करने योग्य है। यह मेरा जीवन-वृत्त है।''

अनवरत हिमपातकी ठिठुरनेसे अकड़ते हुए वृक्ष भले ही धवल तथा जीर्ण-शीर्ण प्रतीत हों, किन्तु वृद्धताकी ठिठुरन जिनकी बुद्धिको स्पर्श तक नहीं करती, वे श्वेत खद्दरधारी, जाकिट तथा सफेद टोपीको पहने हुए उपनेत्रोंसे सुशोभित शरीरसे बुढ़ापेकी दस्तक देते हो, पर युवा मनकी भाँति आज भी अपने अध्ययन, लेखन तथा प्रवचनमें किसी प्रकारकी शिथिलता नहीं आने देते।

भौतिक प्रकृतिकी रंगशालामें विविध रंगोंका परिवर्तन होना स्वाभाविक है प्रभातकालीन बालातप और सन्ध्याकालीन सिन्दूरी अरुणिमा जीवनके उत्थान-पतनके मानो विविध चित्रोंको चित्रित करती हुई लक्षित होती है। पण्डितजीके जीवनने भी कई उतार-चढ़ाव देखे है और उनके विविध रूप-रंग भी है, किन्तु जैसे रंगस्थलीकी भूमिमें कभी कोई परिवर्तन परिलक्षित नहीं होता, वैसे ही पण्डितजीकी प्रज्ञा तथा ज्ञानका आकलन करनेवाली मेधा आज भी ज्यों की त्यो अपनी प्रबुद्धताका परिचय देती है। यथार्थमें जगत्की कर्म-शालामें रंग-रूपके सिवाय क्या है? जो भी आकर्षण है, वह रूपका है, रंग का है। नवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा इस रहस्यको जानती है, वास्तविकताको पहचानती है। इसलिए वह आकर्षण-विकर्षणों तथा काया-मायाकी आशक्तिसे संश्लिष्ट नहीं होती।

काश! हममें यही प्रज्ञा होती, तो साधु सदृश उजले मन तथा सिद्ध समान पावन चैतन्यको निर्मल ज्ञानको धारामें सम्यक् रूपसे आकलन कर भलाभाँति शब्दोंको अभिव्यक्ति प्रदान कर पाते।

■

खण्ड २

व्यक्तित्व और कर्तृत्व



न्यायाचार्य पूज्य श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी

पूज्य वर्णीजीकी दृष्टिमें पण्डितजी

पं० रमेशचन्द बांझल, इन्दौर

विद्वत्वर्य पण्डित शिरोमणि श्री फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री जिनागममें करणानुयोगके विशिष्ट ज्ञाता माने जाते हैं। पण्डितजीने करणानुयोगका सच्चा प्रतिनिधित्व किया है और यही कारण है कि धवल आदि सिद्धान्त ग्रन्थोंकी टीका करनेके कारण धर्मानुरागी मुमुक्षुओंको कर्म-सिद्धान्तकी अवस्थाओं एवं परिस्थितियोंकी पूरी झाँकी देखनेको मिलती है।

आर्षानुयायी विद्वानोंकी विभिन्न विशेषताओंमेंसे एक यह भी महत्त्वपूर्ण विशेषता रही कि आत्म-विज्ञापन एवं यशोलिप्साके लिये साहित्य-सृजन नहीं किया। व्यक्तिगत परिचयकी अपेक्षा उन्होंने प्राणी मात्रको प्रयोजनभूत तत्त्वोंका विशद वर्णन करना एवं प्राणियोंको अविकल मोक्ष-मार्गमें स्थापित करना तथा स्थित मोक्ष-मार्गियोंके प्रति निर्विचिकित्सा, स्थितिकरण और वात्सल्य भाव रखना अपना पुनीत अनुष्ठान स्वीकार किया जो कि पं० श्री फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीमें स्पष्ट परिलक्षित होता है।

पं० जी साहब बड़े धार्मिक, सामाजिक, क्रान्तिकारी, निष्पृह प्रवचनकार स्वाभिमानी है और आर्ष-भक्ति (आपमें) कूट कूट कर भरी है। आपका करणानुयोगका अनुभव बड़ा व्यापक है। आपकी निरीक्षण-शक्ति बड़ी अद्‌भुत और तीव्र है। करणानुयोगके तो निष्णात पण्डित हैं ही, साथ ही संस्कृतके उद्भट विद्वान् हैं।

सृजनात्मक साहित्यकी अभिव्यक्तिके लिये सरल एवं सुबोध हिन्दीको अपनाया (गया है) ताकि भाषा-का अल्पज्ञ मुमुक्षु भी हृदयंगम कर सके।

पूज्य गणेशप्रसाद वर्णीजीने दो भागोंमें 'मेरी जीवन गाथा' के अनेकानेक स्थलोंपर पं० श्री फूलचन्द्रजी को प्रसिद्ध किया है।

१. कटनीमें विद्वत्-परिषद्

कटनीमें भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्-परिषद्‌का प्रथम अधिवेशन हुआ, जिसमें अनेक विद्वान् पधारे थे। इनमें एक प० श्री फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री हैं; जिनके विषयमें वर्णीजीने उल्लेख किया कि—

> "तथा बनारससे पण्डित फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री भी, जो कि करणानुयोगके निष्णात और मर्मज्ञ पण्डित हैं आये थे। आप तो विद्वत्-परिषद्‌के प्राण हैं।" (भा० १ पृष्ठ ५२४)

अतः स्पष्ट परिलक्षित होता है कि आप अपने समयके अद्वितीय करणानुयोगके ज्ञाता हैं।

२. सागरमें शिक्षण-शिविर

सागरमें धार्मिक शिक्षण-शिविर महोत्सवमें प० श्री फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री आदि अनेक उच्च-कोटिके विद्वानोंके आगमनसे समाज अत्यन्त गौरवान्वित हो रहा था एवं मुमुक्षु जैनधर्मसे अत्यन्त लाभान्वित हो रहे थे। पं० श्री फूलचन्द्रजीने धवल ग्रन्थके तेरानवे सूत्रमें 'संजद' पद होना चाहिए, इस विषय पर मार्मिक भाषण किया, जिसका वर्णीजीने उल्लेख किया—

> "इन्हीं चार दिनोंमें विद्वत्-परिषद्‌की कार्यकारिणीकी बैठक हुई। 'संजद' पदकी चर्चा हुई, जिसमें श्री पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्रीका तेरानवे सूत्रमें 'संजद' पदको आवश्यकतापर मार्मिक भाषण हुआ और उन्होंने सबकी शंकाओंका समाधान भी किया। इसमें श्री पं० वर्द्धमानजीने अच्छा भाग लिया था। अन्तमें सब विद्वानोंने मिलकर निर्णय दिया कि धवल सिद्धान्तके तेरानवें सूत्रमें 'संजद' पदका होना आवश्यक है।" (भाग १ पृष्ठ ५४६)

३. गोपाचलके अञ्चलमें

मुरारमें कार्तिक माहके आष्टाह्निक पर्वमें पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री आदि अनेक विद्वान् पधारे थे। सभीके प्रवचन हुए। पं० जीके विषयमें वर्णीजी लिखते है—

"पं० फूलचन्द्र जीके व्याख्यान बहुत ही रोचक हुए।" (भाग १ पृ० ५९१)

४. उदासीनाश्रम और संस्कृत-विद्यालयका उपक्रम

चैत्र कृष्ण ३ सं० २००६ को उदासीनाश्रम की स्थापनाके समय पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री आये। आपके द्वारा धर्मकी जीवनमें आवश्यकता एवं दान पर प्रवचन हुए, जिससे समाजके परिणाम ऋजु हुए, कुछ भाई ब्रह्मचर्य व्रत लेकर आश्रममें रहनेको आये। पं० जी सा० के बनारस लौट जानेके बाद पू० वर्णी जीने प्रवचनमें कहा—

'पं० फूलचन्द्र जी बनारससे आये थे। वे आज बनारस वापस चले गये। आप स्वच्छ बात करते हैं, किन्तु समयकी गतिविधि देखकर व्यवहार करें, तब उनका प्रयास सफल हो सकता है।" (भा० २ पृष्ठ १७६)

५. क्षेत्रपालमें चातुर्मास

सं० २००८ का चातुर्मास ललितपुर नगरस्थ क्षेत्र क्षेत्रपालमें हुआ। वर्णीजीके इस चातुर्माससे ललितपुर दि० जैन समाज धर्मसे आशातीत लाभान्वित हुआ। समाजके आग्रहवश पं० फूलचन्द्र जी पधारे। आपके निष्पृह मर्मस्पर्शी अविकल प्रवचनोंसे समाजने अपूर्व लाभ लिया। आपकी निष्पृहता, निर्भयता विचारकता एवं कर्मठ व्यक्तित्वपर वर्णीजीने अपने प्रवचनमें कहा—

"जनताके आग्रहवश बनारससे पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री भी आ गये। आप बहुत ही स्वच्छ तथा विचारक विद्वान् है। किसी कामको उठाते है, तो उसके सम्पन्न करने-करानेमें अपने आपको तन्मय कर देते है। किसी प्रकारका दुर्भाव इनमें देखने मे नही आया।" (भा० २ पृ० २८३)

इन शब्दोंसे स्पष्ट झलकता है कि आप उत्तम निष्पृह समाजसेवी है। आपने जिस कार्यको सम्हाला, उसे अच्छे रूपमें सम्पन्न किया।

६. विविध विद्वानोंका समागम

श्रावण शुक्ल ४ स० २००८ को पं० श्री फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्रीका प्रवचन हुआ। प्रवचनमें स्वतंत्रता एवं स्वावलम्बन तथा परतंत्रता एवं परावलम्बनपर विशद व्याख्या करते हुए स्त्री, पुत्रादिकका मोह छोड़नेके लिए सुमधुर भाषामें प्रेरणात्मक चित्रण किया। व्याख्यानसे प्रेरित हो वर्णीजीने उस व्याख्यानका सार दूसरे दिन संक्षिप्त रूपसे इस प्रकार कहा—

"श्रावण शुक्ल ४ सं० २००८ को पं० फूलचन्द्रजीका प्रवचन बहुत मनोहर हुआ। आपने कहा कि आत्माको संसार मे रखने वाली यदि कोई वस्तु है तो पराधीनता है और संसार से पार करने वाली कोई वस्तु है तो स्वाधीनता है। हम स्वतन्त्र चैतन्य पुञ्ज आत्म द्रव्य हैं। हमारा आत्म द्रव्य अपने आपमें परिपूर्ण है। उसे परकी सहायताकी अपेक्षा नहीं है। फिर भी, यह जीव अपनी शक्तिको न समझ पद-पद पर पर-द्रव्यके सहायताकी अपेक्षा करता है और सोचता है कि इसके बिना हमारा काम नहीं चल सकता। यही इसकी पराधीनता है। जिस समय परकी सहायताकी अपेक्षा छूट जावेगी उस दिन मुक्ति होनेमें देर न लगेगी। अविवेकी मनुष्य स्त्री-पुत्रादिकको

अपना हितकारी समझकर उनमें राग करता है, परन्तु विवेकी मनुष्य समझता है कि पुत्रादिकका परिकर संसारचक्रमें फँसाने वाला है, इसलिए उसमें तटस्थ रहता है। मनुष्य पुत्रको बहुत प्रेमकी दृष्टिसे देखते हैं, किन्तु यथार्थ बात इसके विपरीत है। मनुष्य सबसे अधिक प्रेम स्व-स्त्रीसे रखता है। इसीसे उसने स्त्रीका नाम प्राणप्रिया रक्खा है। स्त्री भी इसकी आज्ञाकारिणी रहती है। वह प्रथम पतिको भोजन कराती है पश्चात् आप भोजन करती है। पहले पतिको शयन कराती है, पश्चात् आप शयन करती है। उसकी वैयावृत्य करनेमें किसी प्रकारका संकोच नहीं करती। यह सब है, परन्तु पुत्रके होनेपर यह बात नहीं रहती। यदि भोजनमें विलम्ब हो गया, तो पति कहता है—विलम्ब क्यों हुआ ? स्त्री कहती है—पुत्रका काम करूँ या आपका। पुत्र ज्यों-ज्यों वृद्धिको प्राप्त होता है, त्यों-त्यों पिता द्वारा ह्रासको प्राप्त होता है। समर्थ होने पर तो पुत्र समस्त सम्पदा का स्वामी बन जाता है। अब आप स्वयं निर्णय कीजिए कि पुत्रने उत्पन्न होते ही आपकी सर्वाधिक प्रेमपात्र स्त्रीके मनमें अन्तर कर दिया; पीछे आपकी समस्त सम्पत्तिपर स्वामित्व प्राप्त कर लिया, तो वह पुत्र कहलाया या शत्रु ? आपकी सम्पत्तिको कोई छीन ले तो उसे आप मित्र मानेंगे या शत्रु ? परन्तु मोहके नाशमें यथार्थ बातकी ओर दृष्टि नहीं जाती है। यह मोह दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र इन तीनों गुणोंको विकृत कर देता है। इसलिये हमारा प्रयत्न ऐसा होना चाहिए कि जिससे सर्वप्रथम मोहसे पिण्ड छूट जावे।"

(भाग २ पृ० २८८,२८९)

इस दृष्टान्तके माध्यमसे पं० जीने स्त्री, पुत्र-प्रेमका जो वैराग्योत्पादक चित्रण किया, वह अद्वितीय है। इससे आपके जीवनके विरागताकी झाँकी झलकती है।

श्रावण शुक्ल १४ सं० २००८ को क्षेत्रपालमें रक्षाबन्धनका उत्सव हुआ। पं० श्री फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीका रक्षाबन्धन-पर्वके विषयमें प्रवचन हुआ। पं० जीकी प्राञ्जल शैलीसे समाज गद्गद् हो गया। प्रवचनका सार कहते हुए वर्णीजीने कहा—

"सबका सार यही था कि अपराधीसे अपराधी व्यक्तिकी भी उपेक्षा न कर उसके उद्धारका प्रयत्न करना चाहिए। श्री अकम्पनाचार्यने बलि आदि मन्त्रियोंके द्वारा घोर कष्ट भोगकर भी उनकी आत्माका उद्धार किया है। जैनधर्मकी क्षमा वस्तुतः अपनी उपमा नहीं रखती।"

(भा० २ पृ० २९०)

७. इंटर कालेजका उपक्रम

ललितपुर बुन्देलखण्ड प्रान्तका केन्द्र स्थान है मूलसंघ कुन्द-कुन्द अन्वयका अनुयायी दि० जैन परवारोंका गढ़ है। यहाँ आत्म-ज्ञानकी शिक्षाका आयतन नहीं था। परन्तु पं० श्री फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्रीकी विशिष्ट प्रेरणासे समाजमें शिक्षाका केन्द्र खोलनेकी हृदयमें लहर दौड़ने लगी। पं० जी की प्रेरणासे समाजके गणमान्य लोगोंने बहुत अनुदान लिखाया और कॉलेज खोलनेका संकल्प किया। इस संकल्पका समाचार वर्णीजीको मिला, वे अतिशय प्रसन्न हुये और कहा—

"मुझे यह जानकर हर्ष हुआ कि पं० फूलचन्द्रजीकी विशिष्ट प्रेरणासे नगरके लोगोंमें इंटर कालेज खोलनेकी चर्चा धीरे-धीरे जोर पकड़ती जाती है। वे इस विषय में बहुत प्रयत्न कर रहे हैं।"

(भा० २ पृ० २९४)

"पर्युषण-पर्व आ गया। पं० फूलचन्द्रजी यहाँ थे ही अतः सूत्रजी पर उनका सारगर्भित व्याख्यान होता था।"

(भा० २ पृ० २९४)

८. तीव्र वेदना

कार्तिक कृष्णा ११ स० २००८ को शारीरिक अवस्था विकृत होनेसे एक फोड़ा हो गया। फोड़ाका आपरेशन हुआ तब पं० फूलचन्द्रजी सा० उनके पासमें थे। वर्णीजीने कहा—

"आपरेशनके समय पं० फूलचन्द्रजी पास मे थे।"

(भा० २ पृ० ३०३)

मार्गशीर्ष २९ को चौधरी जीके मन्दिरमें प्रातःकाल जनता सम्मेलन हुआ। प० श्री फूलचन्द्रजीने अपने व्याख्यानमें कालेजको उत्तरोत्तर वृद्धिगत करे, सौमनस्यसे काम करे, ताकि समाजकी युवा पीढ़ीका भविष्य उज्ज्वल हो। पं० जीके प्रवचनका सार कहते हुए वर्णीजीने अपने व्याख्यानमें कहा—

"पं. फूलचन्द्रजीका भी व्याख्यान हुआ और आपने इस बातका प्रयास किया कि सब सौमनस्यके साथ कालेजका काम आगे बढ़ावें।"

(भा० २ पृ० ३०३)

९. पपौरा और अहार क्षेत्र

मार्गशीर्ष शुक्ल ५ सं० २००९ को मेलोत्सव पर अपार जनता आई हुई थी। पं० फूलचन्द्रजी सा० की उपस्थितिसे समाज अत्यन्त धर्म लाभान्वित हो रहा था। धर्म-प्रचारसे मेलाकी शोभा बढ़ रही थी। पं० फूलचन्द्र जी साहबकी उपस्थितिसे मेलाकी जो उन्नति हुई, उसको व्यक्त करते हुये पूज्य वर्णीजीने कहा—

"पं० फूलचन्द्रजीके पहुँच जानेसे मेलाकी बहुगुणी उन्नति हुई।"

(भा० २ पृ० ३०५)

पं० फूलचन्द्रजीका वर्णीजीके पास आना और तत्त्व-चर्चाका तो उल्लेख मेरी जीवन गाथाके दोनों भागोंमें अनेक स्थलों पर देखनेको मिलता है।

पं० फूलचन्द्रजीने परवर्ती मूल संघ आम्नायी आचार्यों द्वारा रचित शास्त्रोंका मन्थन कर कर्म सिद्धान्त के एक-एक विषय पर जितना कुशलता एव बुद्धिमत्तापूर्वक वर्णन किया, उसका वर्णन करना सम्भव नही है। सिद्धान्तके क्षेत्रमे आपकी पैठ बहुत गहरी है।

इस प्रकार असंदिग्ध रूपसे कहा जा सकता है कि पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री विद्वान् आर्षाम्नायी है। सिद्धान्त प्रतिपादनमे वे बेजोड़ है। इसलिये सिद्धान्त ग्रन्थोंकी उनके द्वारा की गयी टीका जैन दर्शनकी अनुपम निधि है।



पं० टोडरमलजीके चरण चिन्हों पर

● पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री, कटनी

श्रीमान् पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री विशिष्ट क्षयोपशम के धनी विद्वान् हैं। सन् २१ मे जब मैं और पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री काशी स्याद्वाद विद्यालयका अपना-अपना कोर्स पूरा कर मोरैना जैन सिद्धान्त विद्यालयमें जैनधर्मके विशिष्ट अध्ययनको आए तब उसी समय श्रीमान् पं० फूलचन्द्रजी भी (संभवतः साढ़ूमल से) मोरैना आए थे। इनके एक साथी थे पं० किशोरीलालजी। यद्यपि उस समय ये हमारी कक्षामें न थे पर आज तो हमसे कई कक्षाएँ आगे पार कर गये हैं। पंडितजी इस प्रकार हमारे बाल-सखा हैं। हमारा उनका स्नेह भावगत ६२ वर्षोंसे है। हमारा मुरैनाका कोर्स पूरा होनेके समय सन् २३ मे एक विशिष्ट घटना विद्यालयमे हुई। विद्यालयके कुछ कार्यकर्ता व पदाधिकारियोंकी जाति तथा प्रान्त पक्षपात परक नीतिने एक अग्रवाल छात्रको जिसका नाम जगदीश था (जो अब डा० जगदीशचन्द्रके नामसे जैनाजैन विद्वत् गोष्ठीमें नक्षत्रकी तरह चमक रहा है) उसे निरपराध ही सुपरि० द्वारा बेंतकी कड़ी बेंटसे सिरपर जोरोंकी मार मारी गई। संभवतः इस शकमें कि ये हमारी पार्टीकी जासूसी कर दूसरी पार्टीको बताएगा, जबकि ऐसा नही था, क्योंकि वह नीचे जहाँ इनकी पार्टीकी मीटिंग थी उस विद्यालय भवनकी मात्र घड़ीमें टाइम देखने गया था। उसकी कुल उम्र १२-१३ सालकी होगी। सिर फट गया और रक्त धारास कपड़े तर बतर हो गये। अस्पतालमें इलाज हुआ। तत्कालीन अधिष्ठाताके पास इस दुर्घटनाकी सूचना दी गई। रक्तरंजित वस्त्र भी पार्सलसे भेजे गये ताकि घटनाकी गंभीरता उनकी समझमें आ जाय। परीक्षाएँ चल रही थी। अधिष्ठाता जी आये पर कोई पूछताछ न कर न्यायका गला घोंटकर चले गये। वह छात्र तथा उसे बचानेवाला धन्नालाल जमादार जो गोलालारे था दोनोंको विद्यालयसे निकाल दिया गया। इस विरोधमें गोलापूर्व, अग्रवाल, परवार, गोलालारे-दक्षिण प्रान्तीय आदि २८ छात्रों और दो अध्यापकोंने विद्यालय त्याग कर दिया। जिनमें एक पं० फूलचन्द्र भी थे। अन्याय सहन करना इनकी प्रकृतिमें प्रारम्भसे ही न था। जबलपुरमें इस निमित्तसे नवीन 'शिक्षा मन्दिर' की स्थापना पूज्य वर्णीजी द्वारा हुई और उन छात्रों व पाठकोको स्थान दिया गया। उक्त घटनाको हम सब लोगोंने कभी अखबारोंमे नही लिखा, समाजमे नही रखा आज तक यह इतिहास जो मोरैना विद्यालयके पतनका कारण हुआ गुप्त ही रखा इस भयसे कि गुरुवर्य स्व० पंडित गोपालदासजी वरैया का नाम विद्यालयके साथ जुड़ा है। अतः किसी भी प्रकार विद्यालयको क्षति न पहुँचे। कार्यकर्त्ता तो बदलते रहेंगे। इस सद्भावनासे सब मौन रहे। चूँकि पं० फूलचन्द्रकी जीवनीसे इस घटनाका सम्बन्ध है। इस समय इसके जानकार और उस अन्यायको मौनपूवक सहन करनेवाले अब हम ५-६ व्यक्ति ही हैं। इसलिए इसका उल्लेख सहसा आ ही गया। मोरैना विद्यालयके पतनका कारण उक्त जातीय पक्षपात बना।

पं० फूलचन्द्रजी उस समय कर्मकाण्ड गोम्मटसार पढ़ते थे अतः, शिक्षा मन्दिर जबलपुर उनकी नियुक्ति वर्णीजी द्वारा छात्रत्वके साथ पाठकत्वके पदपर भी हुई। पं० वंशीधरजी न्यायालकारजी इस अध्यायमें प्रपीड़ित थे और सर्विस त्यागकर छात्रोंके साथ चले आये थे के पास अध्ययन करते थे और जीवकाण्ड तकके छात्रोंको पढ़ाते थे। बादका पूरा इतिहास जो प० फूलचन्द्रजी की जीवनीसे संबद्ध है लम्बा है यहाँ उसका उल्लेख लेखको बढ़ायेगा अतः उसे यही छोड रहा हूँ।

छात्रावस्था पूर्णकर कार्य क्षेत्रम उन्होंने २-३ वर्ष बाद हो पदार्पण किया। पं० कैलाशचन्द्रजीने अस्वस्थताके कारण जब काशी विद्यालय छोड़ा तब पं० फूलचन्द्रजीने उस पद को सम्हाला। कुछ समय बाद उससे विरत हुए और पं० कैलाशचन्द्रजी स्वस्थ होकर पुनः अपने पद पर आ गए। पं० फूलचन्द्रजी सदासे आगमके दृढ़ श्रद्धानी रहे। आगमोक्त वार्ता कहनेसे पीछे नहीं हटे। इस आगम सम्मत सिद्धान्त संरक्षणमें उन्होंने अनेक बार—समाजके सुप्रसिद्ध विद्वानों तथा तत्कालीन जैनाचार्योंसे भी टक्कर ली, आजीविका विहीन हुये पर सिद्धान्त पक्ष नहीं छोड़ा।

देशके असहयोग आन्दोलनमें भी श्री पं० जीने सक्रिय भाग लिया और जेलकी यात्रा भी की। सामाजिक सुधारके वे पक्षपाती रहे, पर आगमबाह्य सुधारकी बात उन्होंने स्वप्नमें भी नहीं की। इसीसे जब सुधार-वादी नेताओंसे उनका मतभेद बना तो सामाजिक क्षेत्र छोड़कर साहित्यिक क्षेत्रको अपना प्रमुख कर्मक्षेत्र बनाया और आज भी उसीमें संलग्न हैं। पूज्य वर्णी गणेशप्रसाद जी तथा पं० देवकीनन्दनजीके वे अनन्यभक्त थे। आज भी (उनके दिवंगत हो जाने पर भी) उनको इन दोनों महानुभावों पर अमित श्रद्धा है। देवगढ़ गजरथके पक्ष प्रतिपक्ष में पं० देवकीनन्दनजीके प्रतिपक्षमें ये खड़े थे, गुरु शिष्यत्व संबन्धकी भी परवाह न कर वे अपने सिद्धान्तपर अटल रहे, पर गुरु भक्ति नही छोडी।

वर्णी ग्रन्थमालाकी स्थापनाका श्रेय पं० फूलचन्द्रजीको ही है। सहयोगी बादमें अनेक हुँ पर मूल पुरस्कर्ता पं० फूलचन्द्रजी है उसके जन्म कालसे आज ४० वर्ष तक वे ही उसके निर्वाहक हैं। लाखों रुपयोंका व्यय, अनेक ग्रन्थोंका प्रकाशन केवल इस एक व्यक्तिकी श्रद्धा और शक्ति पर अवलम्बित रहा। लाखों रुपयोंका फंड आज भी वर्णी संस्थानमें है।

वर्णी ग्रन्थमालामें कई वर्षसे उसके मन्त्री थे। एक बार अध्यक्ष महोदयसे कुछ सैद्धान्तिक मतभेद हो गया। उनसे कहा गया कि आप उक्त चर्चाको बदलकर ग्रन्थ छापो। पंडितजीने कहा यह आगम सम्मत है। इसलिए मैं इसे नही बदल सकता। मै इस ग्रन्थको ग्रन्थमाला से न छापूँगा, आपकी मर्यादाका ध्यान रखूँगा अत: ग्रन्थ अन्यत्र से प्रकाशित कराया।

एक बार जब मैं सम्मेदशिखरजीकी यात्राके बाद बनारस आया तो पं० फूलचन्द्रजी कषायपाहुड़ (जयधवला) के किन्ही भागोंका अनुवाद कर रहे थे। मैं दस दिन बनारस रहा। उन दस दिनोंमें पं० जीने एक लकीर भी नहीं लिखी पर अनेक ग्रन्थोंका आलोड़न ७-८ घंटे प्रतिदिन करते रहे। मैंने सहसा पूछा कि आपने कुछ इन दिनों लिखा नहीं ? तब आपको आजीविका कैसे चलेगी ? पं० जी का उत्तर उनकी आत्माका स्वच्छ प्रतिबिम्ब था—

उन्होंने यह उत्तर दिया कि अमुक पंक्ति अटक गई है उसका अर्थ अन्य आगम ग्रंथोंसे मेल नही खा रहा है। मैं गंभीरताके साथ यह देख रहा हूँ कि यहाँ क्या विवक्षा है और अन्यत्र किस विवक्षासे लिखा गया है। या इसका अर्थ समझनेमें मेरी भूल है जबतक विषय स्पष्टरीत्या सुलझता नहीं, तबतक कलम कैसे चलाऊं।

मैंने कहा कि ऐसी स्थितिमें आपका पारिवारिक व्यय तो नही चल सकेगा। उनका उत्तर था कि यह आप लोगोंके सोचनेका काम है मेरा नहीं। मैं तो ईमानदारीसे श्रम करके सिद्धान्तके रहस्योंको अन्य आचार्योंके मन्तव्योंके आधारपर खोलने पर ही अपनी कलम चलाऊँगा।

मैं चूँकि उस समय वर्णी ग्रन्थमालाका उपाध्यक्ष और भा० दि० जैन संघ मथुराका प्रधान मंत्री था। श्री पं० कैलाशचन्द्रकी साहित्य विभागके मंत्री थे। दोनोंने परस्पर विचार किया कि साहित्यका वह भी जैन आगम साहित्यके अनुवाद व सम्पादनका कार्य मिट्टी खोदनेकी मजदूरीका काम नहीं है कि जितनी खोदे उसी मापसे मजदूरी दी जाय। उपायान्तर न देखकर पारिश्रमिककी दर डेवढी कर दी, भले इससे ग्रन्थ मँहगे पड़ेंगे पर इन महान् ग्रन्थोंपर होने वाले श्रमको देखकर वह कुछ भी नही है।

सुविख्यात पं० टोडरमल जी अपने युगके सुप्रतिष्ठित निष्णात विद्वान् थे। उन्होंने मोक्षमार्ग प्रकाशक तो लिखा पर अपने समयमें श्री गोम्मटसार जीवकांड, कर्मकाण्ड, लब्धिसार, क्षपणासार, त्रिलोकसार आदि प्राकृत भाषाके उत्कृष्ट कोटिके करणानुयोग ग्रन्थोंकी संस्कृत टीकाओंका हिन्दी अनुवाद भी किया था जो अपने में महान् कार्य था। उनका क्षयोपशम इतना उत्कृष्ट था कि वे उन कठिनतर ग्रन्थोंका स्वबुद्धिसे सरलतम

अनुवाद कर सके फिर भी विषय करणानुयोगका अत्यन्त जटिल है गणित विषयक अनेक उलझनें हैं पर पं० जी उन्हें सुलझा सके। पर पठन-पाठन न हो सका।

वर्तमान शतीमें स्वनामधन्य पं० गोपालदास जी वरैया हुए जिनके समयमें करणानुयोग दर्शनमात्रकी वस्तु थी। माना प्रथमानुयोग और चरणानुयोगका स्वाध्याय करने वाले विरले विद्वान् थे। मूल मात्र तत्त्वार्थ-सूत्रका वाचन कर देने वाला ही बड़ा विद्वान् माना जाता था। उस युगमें बिना किसीकी सहायताके गुरु गोपालदास जीने इन महान् ग्रंथोंका केवल स्वाध्याय ही नहीं किया, सैकड़ों शिष्योंको अध्यापन कराया।

यह इतिहास प्रसिद्ध है कि आचार्य नेमिचंद्र चक्रवर्ती जिनके समयको १२०० वर्ष हो गया वे इन षट्खण्डागमका स्वाध्याय कर रहे थे। इतनेमें उनके शिष्य श्री चामुण्डराय जी उस समय आए और वन्दनाकर बैठ गए। आचार्य श्रीने ग्रन्थ वाचन बंद कर दिया तब श्री चामुण्डराय जीने पूछा तो आचार्य बोले, ये महान् ग्रन्थ है तुम इनके श्रवणमननके योग्य नही हो। श्री चामुण्डराय जीने पुनः अभ्यर्थना की कि फिर हम जैसे श्रावक इन ग्रंथोंके रहस्यको कैसे समझ पाएँगे तो उन्होंने उनके इस निमित्तको लेकर गोम्मटसारादि ग्रन्थोंकी रचना की।

स्व० पं० टोडरमल जी भी इन ग्रन्थोंको देखना चाहते थे और उनकी हिन्दी टीका लिखनेका विचार रखते थे पर काललब्धि नही आई थी वे अपने अल्पसे जीवनकालमें न दर्शन कर पाए न स्वाध्याय ही।

जो कार्य पं० टोडरमल जीने अपनी प्रज्ञाके बलपर करणानुयोगके ग्रन्थोंके अनुवादको लिखा उसी प्रकार यद्यपि प० फूलचंद्रजी गुरु गोपालदास जीके शिष्य प० वंशीधर जी तथा पं० देवकीनन्दन जी द्वारा गोम्मट-सारादि ग्रन्थोंका अध्ययन कर चुके थे। तथापि हस्तलिखित प्रति जो प्राकृत भाषामें निबद्ध थी उसे शुद्ध करना फिर अनुवाद करना, फिर ग्रन्थान्तरोंसे उसका सामञ्जस्य मिलाना और इतने विशाल ग्रन्थको पूरा कर प्रकाशित करनेका कार्य इस युगका महान् कार्य सुमेरु यात्रा जैसा था। प० फूलचन्द्र जी अपनी जन्मान्तर की प्रज्ञाके संस्कारसे तथा वर्तमान आगमकी अटूट श्रद्धाके कारण इसे लिख सके अतः हम इन्हें इस युगके प० टोडरमल जी ही मानते हैं।

इस दुबले पतले लम्बे छरहरे बदनके व्यक्तिमें कितना गाम्भीर्य है, कितनी धर्म श्रद्धा है, कितनी दृढ़ता है, कितना अध्यवसाय है, कितना धर्म सेवा व समाज सेवाकी लगन है वह उनके जीवनके कार्य कलापों तथा पवित्र जीवनसे दर्पणकी तरह स्पष्ट है। मैं उनके प्रति सद्भावनायें प्रकट कर सकता हूँ। अतः इस अवसरमें उनका सहस्रशः अभिनन्दन करता हूँ।

●

जैन भारतीके ओजस्वी सपूत

● डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ

सिलावन जैसे एक छोटेसे ग्राममें एक साधारण स्थितिके परिवारमें जन्मे पण्डितजीका बाल्य एवं कुमारकाल प्रायः विपन्नावस्थामें ही व्यतीत हुआ। उन्हें वे सुख-सुविधाएँ एवं साधन प्राप्त नहीं हुए जो बादकी पीढ़ियोंके बहुभाग युवकोंको प्राप्त हुए। समाजकी धार्मिक शिक्षा संस्थाओंमें शास्त्री उपाधि पर्यन्त शिक्षा प्राप्त करके उन्होंने शीघ्र ही वैसी ही संस्थाओंमें अल्पवेतन पर अध्यापन कार्य करके जीवन निर्वाह प्रारंभ किया। गार्हस्थ्यके दायित्व भी ऊपर आ गये। बड़ा संघर्षमय जीवन रहा। किन्तु यदि आर्थिक दृष्टिसे अल्पसन्तोषी रहना एक विवशता अथवा संस्कारजन्य गुण था, तो ज्ञानार्जनकी पिपासा उत्कट थी। ज्ञानका

क्षयोपशम अच्छा था, मेधा तेजोमय थी, लगनपूर्वक किए गये सतत शास्त्राभ्यासने उन्हें बड़े-बड़े ग्रन्थोंके सम्पादन, अनुवाद, टीकाव्याख्यादिमें निष्णात बना दिया और शास्त्री पण्डितोंकी अग्रिम पंक्तिमे प्रतिष्ठित करा दिया। इस लेखन कार्यसे जो अतिरिक्त आय हुई उसके बल पर गार्हस्थिक दायित्योंका निर्वाह सन्तोषजनक रूपसे हो पाया, पुत्र-पुत्रियोंका लालन-पालन किया, उन्हें उत्तम शिक्षा दिलाकर, विवाहादि करके अपने पैरोंपर खड़ा कर दिया। जो कुछ किया स्वपुरुषार्थसे किया। इस बुद्धिजीवी विद्वान्की निजी आवश्यकताएं अनि सीमित तथा खान-पान, रहन-सहन बड़ा सादा एवं सरल रहा। वह खादीव्रती रहते आये है, और स्वातन्त्र्य संग्राममें सक्रिय भाग लेनेके कारण १९४१ में तीन मासका कारावास भी भोगे हुए हैं। अब तो जीवनकी सन्ध्यामें, लौकिक क्षेत्रमें प्रायः कृतकृत्य होकर एक उदासीन श्रावकके रूपमें इन्दौरमे रहकर अपनी वृद्धावस्थाको सार्थक कर रहे हैं।

श्री पण्डितजीका सम्पूर्ण जीवन जैन शास्त्रोंके अध्ययन अध्यापन, धवल, जयधवल, महाधवल जैसे अगामिक ग्रन्थराजों तथा तत्त्वार्थसूत्र, तत्त्वार्थसिद्ध, आत्मानुशासन, लब्धिसार, पंचाध्यायी प्रभृति महत्त्वपूर्ण शास्त्रोंके सम्पादन, अनुवाद, टीका-व्याख्या आदि जैनतत्वमीमांसा एवं वर्ण-जाति और धर्म जैसी मौलिक कृतियोंके प्रणयन, ज्ञानपीठ पूजाञ्जलिका सम्पादन, खानिया-तत्त्वचर्चा जैसी विस्तृत शास्त्रीय चर्चा, पत्रोंमें शंका-समाधान, अनेक विविधविषयक शोध-खोजपूर्ण गंभीर लेखों-निबन्धों आदिके लेखनमे व्यतीत हुआ है। साथ ही वह श्रेष्ठ प्रवचनकार एवं ओजस्वी सुवक्ता हैं। आगम ग्रन्थोंका आलोचन करनेका उन्हें सुअवसर मिला, फलस्वरूप कर्म-सिद्धान्तका तो उनके समकक्ष तलस्पर्शी मर्मज्ञ वर्तमानमे स्यात् ही कोई अन्य हों। जब अध्यात्मवाद एवं निश्चय-धर्मकी ओर उनकी दृष्टिका कुछ विशेष झुकाव हुआ तो अनेक पण्डितोंने उनकी आलोचना भी पर्याप्तकी, किन्तु वह कुछ विशेष दमदार प्रमाणित नहीं हुई। पण्डितजीके लेखनमे, और वक्तृताओं एवं चर्चाओंमें भी, एक सुलझी हुई दृष्टि एवं स्वतन्त्र विचार प्रवृत्तिके दर्शन होते हैं। वह कई पुरातन ग्रन्थकारों और उनके ग्रन्थों या मन्तव्योंकी पर्यालोचना करते रहे है, किन्तु वह आलोचना प्राय मदाग्रहविहीन और युक्तियुक्त अथवा तर्कपूर्ण रही। वह दिगम्बर आम्नायके मूलाधार आगमों एव आगमिक साहित्यके मन्तव्योंका अतिक्रमण नहीं करती।

इस प्रकार वर्तमान शताब्दीके जिन विद्वानोने जैन भारतीके भण्डारको सर्वाधिक समृद्ध किया है तथा जैन धर्म, संस्कृति, सिद्धान्त एवं दर्शनको समझनेकी सम्यक् दृष्टि प्रदान करनेमे योग दिया है, उनमें श्री पं० फूलचन्द्रजी शास्त्रीका स्थान चिरस्मरणीय रहेगा।

हमारे तो पण्डितजीके साथ पचासों वर्ष पुराने सम्बन्ध है। वह हमारी अग्रज पीढ़ीके विद्वान् हैं। उनसे स्नेह एवं प्रेरणा निरन्तर मिलती रही है। जब भी लखनऊ पधारे या पाससे भी निकले अथवा कानपुर आदि भी आये, तो उन्होंने हमें दर्शन देनेकी अवश्य कृपा की। स्वभावके भी बड़े विनोदी हैं दूसरों पर तो हँस ही सकते हैं, वह स्वयं ही अपने ऊपर हँस सकते हैं। अपनी दुर्बलताओंको भी ढोंगके आवरणमें ढँकनेका प्रयत्न नहीं करते, लजीली मुस्कानके साथ उन्मुक्त स्वीकार कर लेते हैं विद्वानोंमें यह बात प्रायः विरल ही होती है। हमारे तो वह सदैव आदरके भाजन रहे है। बड़े भाग्यसे ऐसे वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, अनुभववृद्ध अग्रजोंकी स्नेहपूर्ण कृपा प्राप्त होती है।

इस सुअवसर पर हम अपने उन गुरुतुल्य अग्रज बन्धु पंडितप्रवर फूलचन्द्रजी सिद्धान्ताचार्यके चिरायुष्य, सुस्वास्थ्य एवं सार्थक एवं वार्द्धक्यकी मंगलकामना करते हुए, उनके प्रति आदरपूर्ण स्नेहांजली अर्पित करते हैं।

विरल विभूति

● श्री यशपाल जैन, दिल्ली

सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र शास्त्रीके प्रति मेरे मनमें बड़ी आत्मीयता और आदरभाव रहा है, इसलिए नहीं कि वह जैन-दर्शनके प्रकाण्ड पंडित हैं, इसलिए भी नहीं कि उन्होंने जैनधर्म और जैन वाङ्मयकी सराहनीय सेवा की है, बल्कि इसलिए कि इतने विद्वान् होते हुए भी वह अत्यन्त सरल हैं, निरभिमानी और संवेदनशील हैं। प्रायः देखनेमे आता है कि विद्वान् अपनी विद्वत्ता और साधु अपनी साधुताके दंभसे आक्रान्त रहते हैं, किन्तु पण्डितजीने अपनी विद्वत्ताको अपने मानव पर कभी हावी नहीं होने दिया। यही कारण है कि वह अहंकारसे युक्त रहकर सामान्य जनकी भाँति अपना जीवन जीते हैं।

पंडितजीसे सर्वप्रथम कब भेंट हुई, अब याद नहीं आया। धुंधला-सा स्मरण है कि किसी जैन समारोहमे उनसे मिलना हुआ, लेकिन जब मैंने 'प्रेमी अभिनंदन ग्रन्थ' का कार्य अपने हाथमे लिया तो उनसे काफी पत्राचार हुआ। एक बार काशीमें उनके निवास-स्थान पर भी गया और अनेक विषयोंपर उनसे चर्चा की। वे सब चर्चाएँ अब विस्मृत हो गई हैं, पर इतना ध्यान अब भी बना है कि उनकी विषय-प्रतिपादन-शैलीमें न कहीं अस्पष्टता थी, न विचारोंमे जटिलता। उन्होंने जैन तत्त्व ज्ञानका शास्त्रीय ढंगपर अध्ययन किया है, उसकी सूक्ष्मताओंको समझा है, परन्तु अपने मौलिक चिन्तनसे उसे बहुत ही सबोध बना दिया है।

पंडितजीका जन्म बुन्देलखण्डके एक ग्राममें हुआ। वहींके एक विख्यात तीर्थ कुण्डेश्वरमे ७ वर्ष मुझे भी रहनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। अपने अनुभवके आधारपर, सारे देशकी कई बार परिक्रमा करनेके बाद, कह सकता हूँ कि वहाँकी भूमि और जन की आज भी अपनी विशेषता है। यद्यपि समयने और परिस्थितियोंने बहुत-कुछ परिवर्तित कर दिया है, तथापि वहाँका लोकजीवन आज भी बड़ा निष्कपट है। पंडितजीको बचपनमे अपनी जन्म भूमिमे जो संस्कार प्राप्त हुए, उनकी जड़े उत्तरोत्तर मजबूत होती गयी। उनका कर्मक्षेत्र व्यापक बना, उनके ज्ञानका भण्डार विस्तृत हुआ, पर उनके हृदयकी निर्मलता यथापूर्व बनी रही।

जैनधर्म, जैनदर्शन और जैन साहित्यकी पंडितजीने अथक सेवा की। उन्होंने 'षट्खण्डागम' (धवला) के सम्पादनमें जैनतत्त्ववेत्ता डॉ० हीरालालका हाथ बँटाया, 'तत्त्वार्थसूत्र' की हिन्दीमे टीका तैयार की, 'सर्वार्थसिद्धि' की हिन्दी टीका लिखी। 'पंचाध्यायी' तथा 'लब्धिसार' का सम्पादन किया, और भी बहुतसे ग्रन्थोंके सम्पादन तथा अनुवादमे योगदान दिया। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि जैनधर्म और जैनदर्शनके ये ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनका अनुशीलन करके भारतीय पाठकोंको अनुवाद और टीका द्वारा सुलभ करना आसान नहीं था; लेकिन पण्डितजीने तो अपने जीवनको उसी दुरूह कार्यके लिए समर्पित कर दिया था। वह दर्शनकी गहराईयोंमें डुबकी लगाते गये और मूल्यवान-से-मूल्यवान रत्न निकाल कर लाते रहे।

सबसे बड़ी बात उन्होंने यह की कि उनको जो निधियाँ प्राप्त हुई, उन्हे अपने तक ही सीमित नहीं रक्खा। अत्यन्त उदारतापूर्वक अपने अर्जनका विसर्जन किया। जो पाया, उसे मुक्तभावसे समाजको दिया। जो निःस्वार्थ भावसे देता है, उसका भण्डार कभी रिक्त नहीं होता। पंडितजी जितना देते गये, उतना ही उनका भण्डार समृद्ध होता गया।

पण्डितजी लेखनीके जितने धनी हैं, उतने ही धनी वाणीके भी है। बड़े ओजस्वी वक्ता हैं। मुझे याद आता है कि अ० भा० जैन विद्वत् परिषद्के एक अधिवेशनमें पण्डितजी किसी दुरूह विषयपर बोले कि और श्रोता मुग्ध होकर बहुत देर तक उन्हें सुनते रहे थे। एक नहीं, प्रायः सभी अवसरों पर ऐसा ही होता है। अपने विषयके सरल प्रतिपादनके साथ-साथ श्रोताओंकी बहुत-सी शंकाओंका भी वह सहज ही समाधान कर देते हैं।

पण्डितजीकी रुचि शिक्षामें भी कम नहीं है। उन्होंने कई शिक्षण-संस्थाओंमें जहाँ अध्यापन कार्य किया, वहाँ कई विद्यालयों, महाविद्यालयों और गुरुकुलोंकी नींवको भी पक्का कराया। ललितपुरका वर्णी कालेज और खुरईके दिगम्बर जैन गुरुकुलको उन्होंने विपुल धन दिलवाया, बल्कि वर्णी कालेज तो उन्होंकी सूझ-बूझका परिणाम है।

जिनकी धर्ममें गहरी अभिरुचि होती है, वे राजनीतिसे प्रायः दूर रहते हैं; लेकिन पण्डितजीने राजनीतिके प्रति लगाव न रखकर भी देश-प्रेमको अपने हृदयमें ऊँचा स्थान दिया है। जिस समय स्वाधीनता-संग्राम अपने अंतिम दौरमें पहुँच रहा था, पण्डितजीने व्यक्तिगत सत्याग्रहमें भाग लिया। उसके परिणाम-स्वरूप वह जेल गये और तीन महीने झाँसीके कारावासमें व्यतीत किये।

पण्डितजी उस पीढ़ीकी विभूति है; जो अब धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही है। राजनीतिने देशकी एकताको ही खंडित नहीं किया है, व्यक्तिकी समग्रताको भी टुकड़े-टुकड़े कर दिया है। आदमी आज अपनेसे ही पराया हो गया है। आत्मकल्याण पर स्वार्थका पर्दा पड़ गया है और व्यष्टिके हितने समाजके हितको गौण बना दिया है। किन्तु पण्डितजी है कि आज भी अपनी आस्थाको अखंड बनाये रखकर उस मार्ग पर चल रहे हैं, जो आत्म हितकारी होनेके साथ-साथ समाजके लिए भी लाभदायक है।

यद्यपि वय और अस्वस्थताने पंडितजी भौतिक शरीरको शिथिल कर दिया है और उनका इधर-उधर आना-जाना भी बहुत कम हो गया है, फिर भी उनकी प्रज्ञा पूर्णरूपसे सचेत है और समाजको समुन्नत करनेके लिए वह यथासंभव अपना योगदान दे रहे है।

मैं पंडितजीका हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ। वह स्वस्थ रहे, दीर्घायु हो, ऐसी मेरी कामना और प्रभुसे प्रार्थना है।



उदार व्यक्तित्वके धनी

● डॉ० लालबहादुर शास्त्री, दिल्ली

पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्ताचार्य जैन समाजके उन गिने चुने विद्वानोंमेंसे है जिनकी सेवाएँ जैन समाजके लिये आदर्शभूत रही हैं। प्राचीन धवला आदि ग्रन्थोका जिनका समझना आजके विद्वानोंके लिये कठिन था हिन्दी रूपान्तर करके उन्हें जनसाधारणके बोधगम्य बना दिया यह आपकी बहुत बड़ी देन है। इसके अतिरिक्त आपने और भी अनेक ग्रन्थोकी सरल और सुबोध टीकाएँ लिखी हैं जिनका पठन-पाठन आज सर्वत्र जैन समाजमें प्रचलित है। आपके इस सेवा कार्यका समाजपर जो उपकार है उसके परिवर्तनमें समाजके द्वारा आपको अबतक उतना सम्मान नहीं मिला जितना मिलना चाहिये था। यह पहला ही अवसर है कि आदरणीय पंडित जीको समाजकी तरफसे अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित किया जा रहा है।

पंडितजी गुरु गोपालदासजीकी तीसरी पीढ़ीके विद्वान् हैं जब कि मैं चौथी पीढ़ीसे सम्बन्धित हूँ। अपनी इस किशोर अवस्थासे ही मैं पंडितजीसे परिचित हूँ। लेकिन सन् १९४६ मे जब मैं बनारस पहुँचा तब मेरा उनसे विशेष परिचय हुआ। उन दिनों दिगम्बर जैन संघ मथुराका साहित्य विभाग, वाराणसीमें पं० कैलाशचन्द्रजीके निर्देशनमें चल रहा था जिसके पण्डितजी प्रमुख स्तम्भ थे। वहाँ मैं मोक्षप्रकाशके हिन्दी (खड़ी बोली) में रूपान्तरित कर रहा था। मैंने देखा कि पंडितजी जैसे उच्चकोटिके विद्वान् हैं वैसे ही वे बड़े मिलनसार विनम्र स्वभावके व्यक्ति हैं। दूसरेके सुख दुःखमें सम्मिलित होना उनका सहज स्वभाव है। वे जब कभी आप बीती

घटनाएँ सुनाते थे हृदय भर आता था। समाजमें उन्होंने जहाँ भी काम किया सम्मानकी अपेक्षा उन्हे असम्मान ही अधिक मिला। फिर भी उन्होंने अपने स्वाभिमानकी सदा रक्षा ही की है।

गुरु गोपालदासजीकी कृपा से जब विद्वानोंकी परम्पराका सृजन हुआ तब विद्वानोंको अपने आर्थिक कष्टके निवारणके लिये अध्ययन अध्यापनकी सामाजिक सेवाएँ स्वीकार करना पडीं। परिणाम यह हुआ कि विद्वानोंको समाज अपना सेवक समझने लगी धीरे-धीरे उनके साथ पीरबवर्ची भिश्ती खर जैसा व्यवहार होने लगा। आदरणीय पं० जीने भी कही-कही इस स्थितिका सामना किया। इस कारण मेरे हृदयमे भी स्वाभिमानके संस्कार उदित होते थे। अपने अनुगतके लिये समर्पित होकर रहना पंडितजीका सहज स्वभाव था।

मेरे सीधे हाथका अंगूठा बुरी तरह पक गया था। मैंने उसका बहुत कुछ उपचार किया लेकिन ठीक होना तो दूर रहा वह और अधिक पकता ही गया। पं० जी मुझे दवाखाना ले गये। रोगियोंकी भीड़के कारण पंडितजी मेरे साथ २-३ घंटे बैठे रहे। अंगूठा का आपरेशन होगा सुनकर मैं रोने लगा, पडितजी ने मुझे धैर्य बंधाया। और आपरेशन कराके मुझे सावधानीके साथ घरपर ले आये। इस घटनाके कारण वे मुझसे दूर रहते हुये भी चाहे जब निकट आ जाते हैं। बनारसमें क्षय रोगसे पीडित होने पर भी भा० दि० जैन संघने भी जीवनकी रक्षा करने के लिए तन-मन-धनकी बाजी लगा दी थी। पंडितजी भी इसमें अनुमोदक थे।

सोनगढ़की मान्यताओको लेकर यद्यपि पंडितजीके साथ मेरे मतभेद है फिर भी आजतक मनमे भेद कभी नहीं हुआ। पंडितजी जब कभी देहली आते है तो मैं बड़े स्नेहसे मिलता हूँ। सैद्धान्तिक मान्यताएँ तो पिता पुत्र, पति पत्नी और गुरु शिष्य आदिमें भी भिन्न-भिन्न देखी जाती हैं पर समझदार व्यक्तियोंमे इससे मनमुटाव नही होता।

अभी कुछ माह पहले मैं प्रवासमे घूमता हुआ इन्दौर पहुँचा वहाँ मालूम हुआ कि मेरे स्नेही मित्र पं० फूलचन्द्रजी इंदौर उदासीन आश्रममे है। मुझे उनसे मिलनेकी उत्सुकता हुई। जब मैं आश्रमके निकट पहुँचा तो सड़क परसे एक सज्जन जिनका शरीर कंकाल जैसा था आश्रमके बाहर दालानमे स्नान करते हुये दिखाई दिये। जब मैं बिल्कुल निकट पहुँचा तो मालूम हुआ पं० फूलचन्द्रजी है! उनके शरीरकी यह दुर्दशा देखकर मेरी आँखमे आँसू आ गये। उधर उन्होने जब कुछ देरमें मुझे पहचाना तो कहने लगे कि आपका स्वास्थ्य भी बहुत गिर गया है—आप भी इस शरीरके कारण मुझे एकदम पहचानने मे नही आये। हमारी परस्पर काफी देर तक सामाजिक चर्चाएँ होती रही। विद्वानोंके संबंधमे पं० जी ने कहा कि अब विद्वानोंकी सृष्टि कम हो रही है। अब वे ही विद्वान् रहेंगे जिनके अध्ययनका क्रम तो नहीं रहेगा फिर भी वे सप्ताह-दो सप्ताहकी अवधिके अन्दर शिक्षण शिविरों में पडकर विद्वान् बन जायेंगे। और श्रोता लोग उन्हीकी बातको समझेंगे। गहन अध्ययन, मनन, चिंतनकी अब कोई भी आवश्यकता नही है। मैं सुनकर हँसने लगा।

पं० फूलचन्द्रजी अपना शेष जीवन अब इंदौर आश्रममे ही बिताना चाहते हैं। वे अब अपनी सभी घरेलू झंझटोंसे मुक्त होकर एकाकी निस्पृह चित्तसे समय व्यतीत करना चाहते हैं। अब आप प्रायः सामाजिक कार्यों में हाथ नहीं बटाते फिर भी धवला आदिके अध्ययन अध्यापन आदिमें अवश्य सम्मिलित होते है।

श्री पं० जीके दीर्घजीवनकी मैं हार्दिक कामना करता हूँ।

●

वर्तमान दि० जैन पाण्डित्यकी प्रमुख कड़ी

● प्रो० खुशालचन्द्र गोरावाला, वाराणसी

युक्ति शास्त्राविरोधिवाक्

जिनशासन या जैन-विद्याका उद्गम यदि तीर्थंकरकी दिव्यध्वनि है तो उसकी कसौटी दृष्ट और इष्टका अविरोध अथवा युक्ति है। और युक्तिकी पुष्टि वह (आगम) स्वयं है। इसीलिए 'आगम चक्खू साहू' मय जैनसंघमें शास्त्राभ्यासीके या स्वाध्यायी गृहस्थकी अपनी असाधारण स्थिति है। यद्यपि वीतराग केवली प्रभुकी दिव्यध्वनि ही होती है किन्तु उसे शब्द-वाक्य रूपसे गणधर प्रभु गूथते हैं इसलिए वह 'ग्रन्थ'रूपको प्राप्त होती है। फिर इनके शिष्यों-प्रशिष्यों; पूज्य आचार्यों द्वारा गुरु-शिष्य परम्पराकी अनेक पीढ़ियों तक सुनकर कंठस्थ रखनेके कारण 'श्रुत' रूपमें चलती है। और जब स्मृति या क्षयोपशम हीनतर होने लगे तब दिव्यध्वनिके 'त्राण' (सुरक्षित रखनेके लिए) गुणधर आदि आचार्योंने उसे लिपिबद्ध कराके 'शास्त्र' रूपसे भावी पीढ़ियोंके लिए छोड़ दिया है। इस विधिसे हमारी चक्षुष्मत्ताका आधार शास्त्र या आगम है। क्योंकि अनेक युगपरिवर्तनोंमें हुए वीतराग प्रभुओंने समय-समयपर उसका प्ररूपण मात्र किया है। वस्तु स्वभाव या तत्त्वप्ररूपणा तो अनादिकालसे यही चली आ रही (आगम) है। और आगे भी चलेगी, क्योंकि वीतरागीका ज्ञान शाश्वत है।

जैन पण्डित परम्परा

साधु और शास्त्राभ्यासी गृहस्थोंकी पूरकता और पूर्यता भी काफी प्राचीन है। 'श्रुत'के बाद 'शास्त्र'रूप देनेवाले उत्कट महाव्रती साधु ही थे। और ऐसा माना जाता था कि ये आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी ही धर्मोपदेशके अधिकारी हैं। क्योंकि ये ख्याति-लाभ-पूजासे परे होते थे। किन्तु काल दोषसे ऐसा भी समय आया जब शास्त्राभ्यासी गृहस्थोंको यह दायित्व सम्हालना पड़ा। ऐतिहासिक युगमें इस परम्पराको आदिपुरुष संभवतः पंडित आशाधरजी थे। इनके बाद बुधजन, दौलतराम, द्यानतराय, भागचन्द्र आदिकी भाषामय रचनाओंके रूपमें यह धारा प्रवाहित रही। तथा जिनवाणी साधक पंडित टोडरमलजी आदिके स्वान्तःसुखाय प्रयत्नके फलस्वरूप गुरुओंके गुरु पूज्यश्री १०५ गणेश वर्णी महाराज गुरु गोपालदाससे वर्तमान पण्डितमण्डलीको प्राप्त हुई है। पूज्य गणेश वर्णीजीने तो जिनवाणीका आद्य-ज्ञान पाते ही श्रुतकालीन आचार्योंके चरण चिह्नोंपर यथा-काल एव काय चलनेका निश्चय करके गृह-त्यागी रूपसे ही शासनसेवाका पुनीत कार्य अपनाया था। किन्तु गुरु गोपालदासजी भावी पीढ़ीकी सुखशीलताको आँक सके थे। अतः उन्होंने स्पष्ट कर दिया था कि धर्मशास्त्रोंकी आजीविकाका साधन शास्त्रका पठन-पाठन, वाचनादि न होकर यथासम्भव असि-मसि-कृष्यादि स्वतन्त्र वाणिज्य ही होने चाहिये। तभी जीविका और जीव-उद्धार कलाओंकी खिचड़ी नहीं होगी।

गुरु गोपालदास परम्परा

प्रातःस्मरणीय गुरुजीके प्रधान शिष्यों स्व० पं० देवकीनन्दन, खूबचन्द्र, वंशीधर, मक्खनलालजी आदिने यद्यपि आजीविकोंकी दृष्टिसे गुरुजीका अनुगमन नहीं किया, किन्तु तत्कालीन समाज और परिस्थितियोंके कारण स्वल्प-सन्तुष्ट जीवन व्यतीत किया। गुरुजीके प्रशिष्योंमें स्व० शार्दूलपण्डित राजेन्द्रकुमारजी और राजस्थान केशरी स्व० पं० चैनसुखदासजीने गुरुजीकी परम्पराको बढानेका पर्याप्त प्रयास किया। और गाधीजीके आश्रमकी त्याग एवं कष्ट सहिष्णुकी परम्पराको अपनी संस्थाओंमें चलाकर समाजको क्रमशः अच्छे

विद्वान और नेता दिये हैं। इनके ही साथी और सहाध्यायी सिद्धान्तशास्त्री पण्डित फूलचन्द्रजी हैं जिन्होंने छात्रावस्थामें ही अपनी करणानुयोग प्रौढ़ताका परिचय दिया था। और गुरुओंको भी प्रभावित किया था। और उसके बलपर अनेक स्थान भी प्राप्त किये थे। तथा द्रव्यानुयोगकी भी साधना की थी।

स्थानभ्रष्टापि शोभन्ते

किन्तु संस्थाओंकी बाह्याभ्यन्तर परिवर्तनशील परिस्थितियों और अपनी मान्यताओंके कारण करणानुयोगके मूर्धन्य पण्डित तथा प्राकृत वाङ्मय साधक शास्त्रीजीको संस्थाओका मोह अनेक बार छोड़ना पड़ा, तथापि ये जिनवाणी साधनाके समस्त रूपों पठन-पाठन, वाचन-प्रवचन, सम्पादन-प्रकाशनमें अडिग रहे। और अपनी इस असाधारण उपलब्धिका अपने सामाजिक (सुधारक या निमित्त पोषक, आध्यात्मिक आदि) रूपोंमें भी उपयोग करते रहे हैं। तथा यह कम आश्चर्यकी बात नहीं है कि अपने स्वाध्याय, लेखन और चिन्तवनके बलपर ही सिद्धान्तशास्त्रीजी किसी भी छिपे कोनेमें बैठे-बैठे भी चमकते रहे है।

यह भूतार्थ है कि शास्त्रीजीकी इन्ही क्षमताओके कारण गुरुओंके सम्मानवर्द्धक, साथियोंके प्रकाशक और अनुजोंके प्रतिष्ठापक भा० दि० जैनके सस्थापक महामंत्री स्व० पण्डित राजेन्द्रकुमारजीने संघसे श्री जयधवलाके प्रकाशनकी योजना चलायी थी। और धवला-प्रकाशक मण्डलीको कह दिया था "फूलचन्द्रेष्वनादरः, किं त्वमेकः प्रभुः"। शास्त्रीजीके एकाकी प्रयाससे अब जयधवलाका प्रकाशन पूर्णा पर है। भा० दिगम्बर जैन संघको भी इसकी पूर्णा पर विशेष आयोजन करना चाहिये ऐसा मेरा विचार था। क्योंकि आज निश्चय या द्रव्यादृष्टिके मुखर वक्ता तथा व्यवहार या पर्यायदृष्टिके घोर आचरक यह नही जानते कि सन् १९४० से ही भा० दि० जैनसंघ तथा जैन सन्देशके द्वारा सीमित रूपमे समर्थित तथा प्रचारित कानजी स्वामीकी कथनी और अब पंथको संघके विचार-स्वातंत्र्यमय वातावरणमे शास्त्रीजीने ही प्रथम शास्त्रीय भूमिका दी थी। और हम अनुजोंके विनोद "पण्डितजी आप तो निमित्त प्रमुखतामे उपादान क्षमताकी भूमिकामे पहुँच गये हैं। और हम जहाँके तहाँ 'मज्झे चिट्ठ' ही है" को सुनकर मुस्करा देते थे। अपने ज्ञान और उसकी साधनामे ही पूरा जीवन लगा देने वाले शास्त्रीजीको सविनय प्रणाम।



बहु आयामी विद्वत्ता

● डॉ० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य, वाराणसी

विद्वद्वर पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री वक्ता भी हैं लेखक भी है, सम्पादक भी हैं, अध्यापक भी हैं और समाज सेवी भी। जब वे प्रवचन या भाषण करते है तो श्रोता प्रसन्न होते है और कुछ लेकर जाते हैं। अनेकान्त आदि पत्र-पत्रिकाओंमे प्रकाशित लेख कितने महत्त्वपूर्ण होते हैं, इसे उनके पाठक अच्छी तरह जानते हैं। भारतीय ज्ञानपीठ आदिसे प्रकाशित-सम्पादित उनके सर्वार्थसिद्धि, ज्ञानपीठ पूजांजलि, धवला, जयधवला आदि ग्रन्थोंको जिन्होंने पढा है वे उनकी सम्पादन-कुशलतासे भी परिचित होंगे। पण्डितजीने संस्थाओंमें अधिक अध्यापन नहीं किया, किन्तु जो थोड़े-बहुत लोग उनके अध्यापनसे लाभान्वित हुए है वे उनकी अध्यापन शैलीको भी जानते हैं। वे प्रश्नों एवं शङ्काओंके समय पूर्ण गम्भीर रहते हैं और उनका समाधान करते हैं। सिद्धान्तविदोंमें तो वे प्रमुख हैं।

पण्डितजीकी समाज-सेवा भी कम नहीं है। संस्था खड़ी करना, उसे आगे बढ़ाना और गजरथ-विरोध जैसे आन्दोलनोंमें आगे रहना जैसी सामाजिक प्रवृत्तियोंमें उन्होंने खूब भाग लिया है।

उनका सबसे बड़ा गुण यह है कि वे व्यक्तिके कष्टमें उसके न केवल मनोबलको बढ़ाते हैं, अपितु उसे सहानुभूतिके साथ संभव सहयोग करते हैं। वीर सेवा मन्दिर, दिल्लीको जब हमने छोड दिया और जैन पुस्तक-भण्डार खोलकर स्वतंत्र व्यवसाय करने लगे तो पण्डितजीने हमें श्री गणेश वर्णी दि० जैन ग्रन्थमालासे बहुतसे ग्रन्थ उधार भिजा दिये तथा लिखा कि और जरूरत हो तो निःसंकोच मंगा लेना।

उनकी साहित्यिक एवं सामाजिक सेवाओंको समाज कभी नहीं भूलेगा। हमारी इस मंगलमय अवसर पर उन्हें शत-शत मंगल-कामनाएँ हैं वे शतायुः हों और समाज एवं वाङ्मयकी सेवा में सतत संलग्न रहे।



समाजके ज्योति पुंज

● साहु श्रेयांसप्रसाद जैन, बम्बई

जैन साहित्यके विकासमें पं० फूलचन्द्रजी शास्त्रीका बहुमूल्य अवदान रहा है। जैन सिद्धान्तके उच्च-कोटि के ग्रन्थोंका सम्पादन तथा अनुवाद आदि लेखन कार्य में वे समाज के ज्योति पुंज माने जायेंगे। आप जैसे विद्वान्को पाकर समाज स्वयं गौरवान्वित हुआ है।

मूडबिद्रीकी तीर्थ-यात्राके समय जिन महान् सिद्धान्त ग्रन्थोंको दर्शन करके हम धन्य हो लेते थे, किन्तु जिनकी विषय वस्तु से अपरिचित रहकर केवल श्रद्धा व्यक्त करके सन्तुष्ट हो जाते थे, उन ग्रन्थोंका अध्ययन पंडितजीने बहुत धीरजसे किया और महान् परिश्रमसे उनका सम्पादन किया। भारतीय ज्ञानपीठको यह गौरव प्राप्त है कि महाधवलके जो सात भाग प्रकाशित किये उनमेंसे ६ भाग पंडितजी द्वारा सम्पादित हैं। प्राचीन प्राकृत, संस्कृत, अर्धमागधी आदि भाषाओंपर पण्डितजीका असाधारण अधिकार है। सिद्धान्तकी व्याख्या वह जिस प्रभावकारी ढंगसे प्रस्तुत करते हैं, वह उसकी शैलीका चमत्कार है। मैं तो उन्हें अपने युगका ऐसा आचार्य मानता हूँ जो भगवान महावीरको आचार्य परम्पराकी एक कड़ी है, जिसने अपना जीवन ग्रन्थोंके अध्ययन अध्यापनमें बिताया। वह यदि निर्ग्रन्थ न भी हुआ तब भी उसका पद उपाध्यायकी भाँति आदरपूर्ण है। तत्त्व-चर्चामें उनकी क्षमता अद्वितीय है।

पण्डितजीने जैन-धर्मके उदार स्वरूपकी जो व्याख्या अपनी पुस्तक वर्ण जाति और धर्ममें की है, जो ज्ञानपीठसे ही प्रकाशित हुई है, उसने मुझे बहुत प्रभावित किया है। मेरे प्रिय अनुज स्वर्गीय साहू शान्ति-प्रसादजीका सौभाग्य था कि वह पण्डितजीके सम्पर्कमें मुझसे अधिक आये, किन्तु पण्डितजीके साथ मेरा जो भी परिचय हुआ है उसने उनके सरल और प्रेम प्रदान करनेवाले व्यक्तित्वकी छाप सदाके लिए मेरे मनपर अंकित कर दी है। ज्ञानपीठ पूजाजलिका सम्पादन करके पण्डितजीने संस्कृत-प्राकृतके उन पाठोंका मर्म उजागर किया है, जो हम दैनिक पूजा-वन्दना मे पढ़ते है।

साहित्यिकके अतिरिक्त समाजके कार्योंमें भी पं० फूलचन्द्रजी अग्रणी रहे हैं। आप जैन समाजकी अनेक संस्थाओंसे सक्रिय रूपमें सम्बद्ध है और उनकी गतिविधियोंमें अत्यन्त निष्ठा व श्रद्धाके साथ रुचि लेते हैं। और उनको अपना बराबर मार्गदर्शन देते हैं।

मुझे आशा है, उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व से सम्बन्धित यह ग्रन्थ सभी के लिए प्रेरणादायक होगा। पं. फूलचन्द्रजी शास्त्री के यशस्वी जीवन के लिए अपनी शुभकामनाएँ भेजता हूँ और अभिनन्दन ग्रन्थके सफल प्रकाशनकी कामना करता हूँ।



मेरे श्रद्धा सुमन

● श्रीमती चंचलाबेन शाह, बम्बई

विद्वद्वर्य पण्डित फूलचंद सिद्धांतशास्त्रीजीसे मेरा परिचय बहुत पुराना है। नातेपुते, फलटण, बाहुबली, कारंजा और बम्बई पोदनपुर वगैर जगहमें उनका धर्मोपदेश सुन पायी हूँ। करणानुयोगके वे तो विशेष अभ्यासी होनेसे धवलादि ग्रन्थोंका संपादन कर सके हैं। तथा और अनुयोगका भी उनका अभ्यास होनेसे उनके प्रवचनमें चारों अनुयोगका समन्वयात्मक मर्म (वीतराग विज्ञानताका) सरलतासे श्रोताओंको आकलन कराते हैं। तत्त्वार्थ-सूत्रसे लेकर धवलादि ग्रन्थ तथा तत्वमीमासा जैसा उनका स्वतन्त्र ग्रन्थ संपादन मौलिकता रखता है। वे स्त्री शिक्षाके प्रेमी हैं तथा स्वातंत्र्य सैनिक भी हैं। उनको स्वस्थ शतायुष प्राप्त हो और जैनधर्म प्रभावना हो ऐसी श्री जिनेश्वर चरणमें मेरी प्रार्थना है।



प्रेरक व्यक्तित्व

● श्रीमती सरयू दफ्तरी, बम्बई

प० पू० १०८ एलाचार्य मुनिश्री विद्यानंदजी महाराजके बोरिवलीके चातुर्मास कालमे पूज्य पण्डितजी के मार्गदर्शनमे स्वाध्याय द्वारा आत्मकल्याणके नजदीक जानेका जो सुवर्ण अवसर मिला, उस संदर्भमें मुझे बहुत ही आनंद हो रहा है। यह सौभाग्य बहुत ही कम लोगोंको मिलता है और यह मेरे पल्लेमे पड़ा यह बात मेरे जीवनमे बड़ी महत्ता रखती है।

इस उम्रमे भी आपने जिस उत्साहसे शास्त्रका निरूपण किया और आपकी दिनचर्या प्रफुल्लित एवं कार्यान्वित रखी वह देखकर मै सचमुच अचरजमे पड गई। परम पूज्य एलाचार्य महाराजजीने भी इस संदभमे समाधान अभिव्यक्त किया है। आपके इस मंगल कार्यके प्रति आभार प्रदर्शित करना शायद औप-चारिकता होगी। फिर भी मेरे इस भावको आप तक पहुँचाना मेरा आनंदनिधान है।

अहिंसा परमो धर्मः।



मेरे दृष्टिदाता विद्यागुरु

● श्रीमती गजाबेन, बाहुबली

आदरणीय पण्डित फूलचदजी मेरे विद्यागुरु रहे। उनके द्वारा हमारा लब्धिसारका अध्ययन हुआ। जैनतत्त्वज्ञानमे जो प्रवेश पाया और दृष्टि मिली वह तो वास्तवमे उनका महान् उपकार है। करणानुयोग, द्रव्यानुयोग तथा चरणानुयोगमें सर्वत्र उनकी गति है। धवला, महाबंध आदि सिद्धान्त ग्रंथोंके ज्ञाताओंमे उनका स्थान वर्तमानमें सर्वतोपरि है। खासकर अध्यात्म और करणानुयोग सिद्धान्त इनका मिलान करके वे कैसे पर-स्पर पूरक हैं यह दिखलाना उनकी विद्वत्ताकी खास विशेषता है। जीवन भर अव्यभिचारी निष्ठासे जैनागम और जैनतत्त्वज्ञानका गंभीर तलस्पर्शी अध्ययन किया उस मंथनमेसे जैनतत्त्वमीमांसाका उदय हुआ है। उन्होंने जीवन भर दिगंबर जैन साहित्यकी सेवा की वह समाज दीर्घकाल तक स्मरण रखेगी। एक जैनतत्त्वमीमांसा ग्रन्थ उनके अध्ययन तथा मननकी गहराई तथा विद्वत्ताका परिचायक है। उन्हे जैन साहित्यकी सेवाके लिए दीर्घ निरामय आयु प्राप्त हो यही मंगल भावना।

जैन-सिद्धान्तके प्रखर विद्वान्

● भैया राजकुमार सिंह, इन्दौर

श्री सिद्धान्ताचार्य पंडित फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीसे मेरा सम्पर्क कई वर्षोंसे है। दश-लक्षण पर्व और अन्य धार्मिक एवं सामाजिक समारोहोंमें पंडितजी अनेक बार आमंत्रित होकर इन्दौर पधारे और यहाँकी जनता-को अपने प्रभावक एवं कल्याणकारी वक्तृत्वसे अपूर्व लाभ पहुँचाया। पंडितजी सरलता और सादगीके आदर्श हैं। संयत और नपी-तुली भाषामें जैन सिद्धान्त और आध्यात्मका सार श्रोताओंको समझानेकी आपकी विशेषता है। आप जैन सिद्धान्तके प्रखर विद्वान् और विद्वानोंमें अग्रगण्य हैं।

प्राचीन षट्खंडागम सूत्रकी धवला, जयधवला और महाधवल टीकाओंका हिन्दी अनुवाद एवं विद्वत्ता पूर्ण सम्पादनके कारण आपकी समाजमें विशेष ख्याति है। जैन विद्या, संस्कृति और साहित्यके लिये पंडितजी-की अमूल्य सेवायें हैं। उनके मधुर व्यवहार, स्पष्टवादिता, सहनशीलता, स्वाभिमानता, उदारता और प्रामा-णिकतासे समाज गौरवान्वित है। ग्रन्थ सम्पादन एवं लेखन कार्यमें निरन्तर रहते हुए गृहस्थ होकर भी आप एक योगीका सा जीवन व्यतीत कर रहे हैं। समाजको आपने बहुत कुछ दिया है। आपके विचारोंमें प्राचीनता और आधुनिकताका स्वस्थ सामंजस्य है।

श्री पं० फूलचन्द्रजी सौभाग्यसे हमारे समीप ही दि० जैन उदासीनाश्रममें आकर शान्तिमय जीवन व्यतीत करते हुए अपना ग्रन्थ सम्पादन कार्य कर रहे हैं और प्रतिदिन अपने अध्यात्म प्रवचन द्वारा श्रोताओंको लाभ पहुँचा रहे हैं।

पंडितजी प्रारंभसे ही राष्ट्रीय भावनाओंसे ओतप्रोत होनेसे शुद्ध खादीके वस्त्र पहनते आये हैं। आज आपके सहपाठी श्री पं० जगन्मोहनलालजी, पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्ताचार्य इस प्रकार यह रत्नत्रयी हमारे समाजकी अनुपम विभूति है। निःसंदेह आपकी सेवाओंसे हमारा समाज उपकृत है। समाज और विद्वानोंके समक्ष अपने साधनापूर्ण जीवनसे आपने अपूर्व आदर्श प्रस्तुत किया है।

पंडितजीके प्रति इस अभिनन्दनके महान् आयोजनके शुभवसर पर मैं अपनी अभिनन्दनांजलि अर्पित करते हुए उनकी दीर्घायुकी कामना करता हूँ।



प्राचीन भारतीय परम्पराके मनीषी

● श्री महाराजा बहादुर सिंह, इन्दौर

आदरणीय सिद्धान्ताचार्य पंडित फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री, वाराणसी हमारे समाजके मूर्धन्य विद्वान् हैं। स्वास्थ्य लाभ हेतु कुछ समय तक इन्दौरमें रहनेसे आपके सान्निध्य एवं अनेक बार धार्मिक प्रवचनोंका लाभ मुझे मिलता रहा है।

मैं आपके सौम्य स्वभाव, सादगी पूर्ण जीवन और निरभिमानी व्यक्तित्वसे प्रभावित हूँ। पंडितजी प्राचीन भारतीय परम्पराके मनीषी है, जिन्होंने अपने शोधपूर्ण लेखों एवं ग्रन्थो द्वारा भारतीय साहित्यको समृद्ध किया है। जैन शास्त्रों पर उनका गहन चिन्तन है। अनेक विषयोंपर शास्त्रीय प्रमाणोंके आधारपर उन्होंने पाठकोंको दिशा दान दिया है।

अब कभी किसी भी धार्मिक कार्यक्रममें उन्हें स्मरण किया जाता है, सदैव अपना सहयोग प्रदान करनेमें तत्पर रहते हैं। समाजको उनके प्रवचनों और धार्मिक एवं सामाजिक समस्याओंके समाधानका लाभ अभी भी प्राप्त हो रहा है।

मुझे यह जानकर अत्यन्त आश्चर्य और हर्ष है कि पंडितजी इन्दौरके स्वरूपचन्द हुकमचन्द दि० जैन पारमार्थिक संस्थाओंके अन्तर्गत छात्रावास एवं संस्कृत महाविद्यालयके (लगभग ६६ वर्ष पूर्व) विद्यार्थी भी रहे हैं। वे किसी संस्थासे बँधे न रहकर बहुत समयसे स्वतन्त्र ग्रन्थ संपादन कार्य करते आ रहे हैं। पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णीकी स्मृतिमें उन्होंने वर्णी शोध संस्थानके संचालनका दायित्व ले रखा है, जिसे आत्म निर्भर करनेका उनका संकल्प है।

मेरी मंगल कामना है कि पंडितजी स्वस्थ रहते हुए चिरायु हों। एवं सभी मानव मात्रको उनसे ज्ञान वृद्धि मिले।



श्रमण-संस्कृतिके उन्नायक

● श्री बाबूलाल पाटौदी, इन्दौर

श्रद्धेय पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री वर्तमान समयके जैनदर्शनके मूर्धन्य विद्वान् हैं। उनकी सरलता, सौम्यता, सादगी आत्मीयभाव सिद्धान्तके प्रति दृढ़ता आदि गुण बरबस मनुष्यको अपनी ओर खींच लेते हैं।

श्रद्धेय पंडितजीके श्रमण संस्कृतिके उन्नयन निमित्त जो सतत् प्रयत्न एवं पुरुषार्थ किया है, उसका हमारे वणिक समाज पर चाहे कोई प्रभाव न हुआ हो पर मैं यह कह सकता हूँ कि इतना महान् कार्य यदि विदेशमें कोई विद्वान् करता तो निश्चय ही वहांकी जनता एवं शासन उसे राष्ट्रीय सम्मानसे अवश्य विभूषित करता। जैनधर्मावलम्बियोको गर्व होना चाहिये कि पंडित फूलचन्द्रजीके अहर्निश प्रयत्नोंका ही यह परिणाम है कि धवला-जयधवला, महाधवल जैसे महान् आर्ष ग्रन्थको उन्होंने आजकी भाषामें जनताके समक्ष रख दिया। पंडितजीने अपने लम्बे जीवनमें अनेक तत्त्व ग्रन्थोपर टीका एवं भाषानुवाद लिखकर जो वर्तमान पीढ़ी पर उपकार किया है वह स्वर्णाक्षरोंमे अंकित रहेगा। अपने सरल जीवनके साथ जटिल तत्वों पर भी अपने विचार निर्भीकता पूर्वक प्रकट करनेकी अपूर्व क्षमता पंडितजीमे है। उन्हें अपने जीवनमे अनेकों संघर्षोका सामना करना पड़ा। वे सदैव राष्ट्रवादी रहे उनपर भी राष्ट्रपिता बापूका असर हुआ, आजादीके आन्दोलनमे सक्रिय रूपसे भाग लिया, खादीको अपनाया पर अपने धर्म एवं सिद्धान्त पर दृढ़ रहे। युग प्रवर्तक बाबा गणेश प्रसादजी वर्णीको उन्होंने विधि केन्द्रोकी स्थापना एवं उनके संचालनमें पूर्ण सहयोग प्रदान करते हुए अपने आपको समर्पित कर दिया।

वैचारिक स्वतन्त्रता एवं आगमके प्रति अटूट आस्थाका एक ही उदाहरण पर्याप्त है। सोनगढ़में आदरणीय कानजी स्वामीने जब तक जैन सिद्धान्त एवं तत्त्वके प्रति अगाध श्रद्धासे कार्य किया, बावजूद नाना विरोधोंके वे उनके साथ रहें, पर जब उन्होंने देखा कि शनैः-शनैः व्यक्ति पूजाका पाखंड वहाँ प्रवेश कर रहा है तो तत्काल आम जनताके बीच साहस एवं धैर्यके साथ अपनी असहमति प्रकट की तथा उस स्थानको सदैवके लिये त्याग कर दिया।

सौभाग्यसे श्रीमंत सेठ राजकुमारसिंहजी कासलीवालके आग्रह और निवेदनको स्वीकार कर आजकल पण्डितजी उदासीन आश्रम तुकोगंज इंदौरमें विराज रहे हैं। यहाँ भी उनका सतत अध्ययन, स्वाध्याय लेखन

चल रहा है। मैंने पूज्य एलाचार्य महाराजके सानिध्यमें बोरीवली त्रिमूर्ति स्थलपर भी पण्डितजीको देखा है। नियमित स्वाध्याय एवं शेष समयमें लेखन उनका कर्तव्य कर्म था। वे एक ऐसे कर्मयोगी पण्डित हैं जो धर्मको जीनेमें आस्था रखते हैं। संक्षेपमें उनका समग्र जीवन धर्ममय है।

अखिल भारतीय संस्थाओं तथा समग्र समाजसे मैं कहना चाहूँगा कि पण्डितजीका सही सम्मान तभी होगा, जब हम यह संकल्प करें कि वर्तमान विद्वानोंकी पीढीके पश्चात् भी हम इस विद्वत् ज्योतिको बुझने नहीं देंगे, तथा होनहार विद्वानोंके पढाने उनके गृहस्थाश्रमको चलानेके लिए विश्वविद्यालय स्तरपर आर्थिक योगदान देंगे, तथा भविष्यके लिए भी उनके जीवन निर्वाहकी सुरक्षाका प्रबन्ध करेंगे। स्मरणीय है कि समाजके इन विद्वानोंने ही आर्य धर्म एवं श्रमण संस्कृतिको अपने उच्चतम शिखरपर पहुँचानेका भगीरथ प्रयत्न किया है। यह देन स्व० पंडित गोपालदासजी बरैया तथा स्व० बाबा वर्णीजी जैसी महान् विभूतियोंकी है। पंडित फूलचंदजी द्वारा प्रवर्तित कार्योंके प्रति हमे श्रद्धा सुमन अर्पित करना है तथा संस्थाओंको विवादसे ऊपर उठकर विद्वान तैयार करनेमे लगाना है जिससे हमारी संस्कृति एवं जिनवाणीकी रक्षा सम्भव हो सके।

अन्तमें मैं पूज्य पंडितजीके प्रति अपना अपरिसीम आदर भाव प्रकट करते हुए उन्हे तथा उनके कर्तृत्वको प्रणाम करता हूँ।

●

समाजके गौरव

● श्रीमंत सेठ भगवानदास जैन, सागर

आदरणीय पं० फूलचंद्र जी जैन सिद्धांतशास्त्री बनारस (उ. प्र.) से हमारा सम्बन्ध गत् ५० वर्षोंसे है और निरन्तर ही एक दूसरे के प्रति लगाव-झुकावका भाव, धर्म-प्रेम और समाज हितकी भावनाके कार्योंकी प्रेरणा भी निरंतर बनी हुई है।

पंडितजी सफल लेखक, रचनाकार, टीकाकार, साहित्य मनीषी, तत्त्व आराधक एवं चिंतक और जिनेन्द्रोपासक हैं। आपने धार्मिक ग्रन्थोंका अध्ययन-मनन-चिंतन व पठन-पाठन कर आध्यात्मिक जगतमें अविरल ख्याति अर्जित की है—अतः ऐसे मूर्धन्य विद्वान्का अभिनंदन किया जाना भी वास्तविकता से परे नही है।

जैन सिद्धातके महान् ग्रन्थ श्री धवला, जयधवला, महाधवला जैसे ग्रन्थोंकी टीकाये अपनी विलक्षण प्रतिभा एवं सैद्धांतिक शैली से जो निरूपण व विश्लेषण कर समाजको समर्पित की है—वास्तवमे उनमे आपने "गागरमे सागर" को भर दिया है। इन टीकाओ के अलावा भी आपने लेखनी के द्वारा जिनवाणीके भंडारको भरने मे कोई कमी नही रखी है और अभी भी सरस्वतीकी सेवा करने का व्रत लिये हुये है।

पंडितजी की जन्म एवं कर्म भूमि बुदेलखंड होने से यहाँ की समाजके श्रेष्ठिवर्ग जैन समाज एवं तीर्थक्षेत्रोके प्रति भी उनका असीम अनुराग एव श्रद्धाका भाव बना हुआ है। बुदेलखंड में १६वी शताब्दीके महान् जैन आध्यात्मिक मत जिन तारण स्वामीके तीर्थस्थलों व साहित्यके प्रति उनकी अपार श्रद्धा बनी हुई है। प्रसन्नताकी बात है कि हमारे अनुग्रहके फलस्वरूप वह श्रीमद् जिन तारण स्वामीके जीवन दर्शनपर एक शोध पूर्ण प्रबंध लिख रहे हैं।

'बृहद तीन बत्तीसी संग्रह'—की आधुनिक टीका तथा 'श्री तारण तरण जिनवाणी संग्रह'—का सपादनका कार्य भी आध्यात्मिक जगत्मे एक उपलब्धि है।

श्री जिनेन्द्र देवसे हम आपके आरोग्यराय, दीर्घ एवं यशस्वी जीवनकी मंगलकामना करते हैं। आप संपूर्ण जैन समाजकी अमूल्य निधि हैं। समाजको आपके प्रति गर्व है। आशा है आप इसी तरह समाजका नेतृत्व करते रहेंगे।

●

समाजकी विभूति

● श्री सेठ डालचन्द जैन, सागर

वास्तवमें यदि पूछा जाय तो वही व्यक्ति धन्य हैं और महानता का द्योतक हैं, जोकि अपने जीवनके कर्त्तव्य मार्गमें अपनी समाज, राष्ट्र एवं धर्मके प्रति पूर्ण आस्थावान्, लगनशीलता और कर्मठताका प्रतीक बन कर अपने दायित्वोंका निष्ठापूर्वक वहन करता हुआ ऐसे अनुकरणीय कार्योंकी अमिट छाप समाजमें प्रस्तुत कर देता है, जो जीवन पर्यन्त ही नहीं, बल्कि इतिहास भी सदैव उसके कार्योंके प्रति श्रद्धावनत रहा करता है।

ऐसे ही मानव पुंजोंकी शृंखलामें आदरणीय साहित्य-मनीषी, तत्त्व रसिक, ग्रथ रचना एवं टीकाकार सिद्धांताचार्य पंडित फूलचंद्रजी शास्त्रीका आदरणीय स्थान है।

'व्यक्ति जन्मसे नहीं कर्मसे महान् बनता है।' इसके साथ ही यह यह बात भी शत प्रतिशत सत्य है, कि 'व्यक्तिके गुणोंकी सर्वत्र पूजा हुआ करती है।' गुणोंके कारण व्यक्ति समाज और संप्रदायवादके दायरेसे ऊपर उठकर सर्वप्रिय और लोकप्रिय बन जाता है।

श्री जिनेन्द्रदेवसे प्रार्थना है कि वह सरस्वतीके इन वरद पुत्रको दीर्घायु एवं स्वस्थ्य जीवन प्रदान करें; ताकि यह समाजका नेतृत्व करते रहे।

●

जैन सिद्धान्तके मर्मज्ञ

● प० भँवरलाल न्यायतीर्थ, जयपुर

सिद्धान्ताचार्य पंडित फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री प्राचीन पीढ़ीके उन विद्वानोंमेंसे हैं जिसने अपना सारा जीवन माँ सरस्वतीकी उपासनामें ही समर्पित किया हुआ है और आज भी इस वृद्धावस्थामें उसी धुनमें संलग्न हैं। साहित्य सेवाका मानो व्रत ही ले रखा है। आज भी इस वृद्धावस्थामें साहित्य सेवामें ही आप लगे हुए हैं।

जब कभी आप मुझे पत्र लिखते हैं तो किसी ग्रन्थके बारेमें ही होता है। जयपुर अमुक ग्रन्थ भण्डार से अमुक ग्रन्थ भिजवाइये—सम्पादन-टीकाके लिए अपेक्षित है। जितना काम हो जाय जीवनकी उपयोगिता है। आपसे करीब चालीस वर्षोंसे पत्र व्यवहार होता रहता है। और जब कभी किसी धार्मिक उत्सव या संगोष्ठी आदिमें मिलना होता है तो बड़े प्रेम पूर्वक मिलते हैं। आपका सादा जीवन, सादा वेशभूषा—खादी का कोट खादीकी टोपी पहने देखकर कोई अनुमान नहीं लगा सकता कि एक विशिष्ट विद्वान् हमारे सामने हैं। आपको ज्ञानका कोई अभिमान नहीं। कहीं भी सैद्धान्तिक चर्चा हो, आप पहुँचते रहते हैं। इतनी लगन है जैन सिद्धान्तके प्रति।

आप राष्ट्रीय विचारधाराके स्वतन्त्रता सेनानी हैं और कृष्ण मन्दिरकी यात्रा भी कर चुके हैं। अच्छे पत्रकार-लेखक हैं और समाज सुधारके हामी हैं। पुरानी पीढ़ीके शास्त्रकी गद्दी पर बैठकर प्रवचन करने वाले विद्वानोंमें आज इने गिने विद्वान् ही उपलब्ध हैं। पण्डितजी उनमेंसे ही हैं।

पूज्य पंडितजी स्वस्थ दीर्घायु हों, साहित्य सेवामें संलग्न रहकर जैन सिद्धान्तकी प्रचार-प्रसार करते रहें—यही कामना है। आपका अभिनन्दन ग्रंथ नई पीढ़ीको अवश्य प्रेरणा प्रदान करेगा।

जिनके प्रति मेरे मनमें सबसे अधिक आदरके भाव हैं

■ पं० बलभद्र जैन, आगरा

दुबले पतले, गोमुखी और लम्बे, खद्दरके परिधानसे विभूषित, जिनके माथेकी लकीरोंमें अगाध विद्वत्ता की लिपि उजागर है—उनका नाम है पंडित फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री। उन्होंने धवल, जयधवल, महाधवल, सर्वार्थसिद्धि जैसे सिद्धांत ग्रन्थोकी टीका की। वे करणानुयोग और जैन कर्मसिद्धान्तके अधिकारी विद्वान् हैं। बात उन दिनोंकी है, जब मैं जैन सन्देश साप्ताहिकका सम्पादक था। जैन समाजमे 'संजद' पदकी चर्चा गर्म थी। डॉ० हीरालालजीका एक लेख आया, जिसमे प्रबल युक्तियों द्वारा पूज्य आचार्य शान्तिसागरजी महाराजके अभिमतका समर्थन किया गया था। मैंने उसे इस टिप्पणीके साथ प्रकाशित किया कि यदि संजद पद समर्थक किसी विद्वान्ने इसका उत्तर भेजा, तो उसे इन स्तम्भोंमे सहर्ष स्थान दिया जायगा। तभी मुझे पंडित फूलचन्द्रजीका उत्तर मिला, जो डाक्टर साहबकी युक्तियोंका अनेक शास्त्रीय प्रमाणो और तर्कों द्वारा निराकरण करने वाला था। उसे पढ़कर मुझे लगा कि सिद्धान्तपर पण्डितजीकी पकड कितनी गहरी और दृष्टि कितनी पैनी है, उतनी शायद दूसरे विद्वानोंकी नही है। पत्रमे वह लेख छपा और दोनों विद्वानों की यह लेखमाला महीनों तक चली। इस बीच इस सम्बन्धमे मैंने अन्य कई विद्वानोंके भी लेख प्रकाशित किये। किन्तु विज्ञ पाठकोंका अभिमत यही रहा कि पंडितजीके लेखोंमे परम्पराके अनुकूल जो युक्ति-प्रमाण एवं गाम्भीर्य और प्रौढ़ताके दर्शन होते हैं, वे अन्य लेखोंमे परिलक्षित नही होते। मैं उनकी प्रौढ एवं गम्भीर विद्वत्ताका तभीसे कायल हूँ और मेरे मनमे उनके प्रति गहरे आदरके भाव है।

दूसरा अवसर खानियाकी चर्चाके समय आया। उस चर्चाके दो परिणाम समाजके सामने आये। एक तो कानजी स्वामीकी सैद्धान्तिक मान्यताओंकी कमजोरी एवं शास्त्रीय समर्थन—ये दोनों पक्ष उजागर हुए, दूसरे जो विद्वान् छद्म रूपमे अपने आपको आर्षमार्गानुयायी कहकर समाजमे अपनी प्रतिष्ठाको भुना रहे थे, किन्तु वस्तुतः जो कानजी स्वामीके पृष्ठ पोषक और पक्ष समर्थक थे, उनका वास्तविक रूप समाजके सामने प्रगट हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि वे कानजी स्वामीके कैम्पमे अपनी जड नही जमा पाये और आर्षमार्गी श्रद्धालु वर्गकी श्रद्धासे वंचित हो गये। उनकी स्थिति 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः' हो गई। किन्तु इस प्रसंगमे मैं पंडित फूलचन्द्रजीकी सराहना किये बिना नही रहूँगा कि उन्होंने अपने आपको उसी रूपमें पेश किया, जो वे वास्तवमे है। अपने विचारोंके प्रति उनका यह न्याय था, यह उनकी ईमानदारी और नैतिकता थी।

खानियाकी यह चर्चा सैद्धान्तिक थी। यह चर्चा दोनो पक्षोकी ओरसे पुस्तककाररूपमे प्रकाशित हो चुकी है। दोनों पक्षोकी इस चर्चाका मैंने सावधानीके साथ अध्ययन किया है। इसे पढ़कर मै इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि कानजी पक्ष निमित्त-उपादान, पुण्य-पाप, शुभ-अशुभ भाव, अन्तरंग-बहिरंग चारित्र, निश्चय-व्यवहार आदिकी चर्चा करते हुए निमित्तकी उपेक्षा, पुण्यकी हेयता, शुभ भावोंका मोक्षमार्गमे अनुपयोगिता, बहिरंग चारित्र उपेक्षा और व्यवहारको सर्वथा अभूतार्थता पर विशेष जोर देता है, वह केवल बौद्धिक व्यायाम है, इन मान्यताओंका कोई शास्त्रीय आधार नही हैं और ये विचार जैन संस्कृति और परम्पराके विघातक भी है। किन्तु क्रमबद्ध पर्यायकी मान्यताका कोई युक्तिसगत उत्तर आर्षमार्गी पक्षके पास नही है। इस परिचर्चामे कानजी पक्षका प्रतिनिधित्व पण्डितजीने जिस दृढ़ता एवं आत्मविश्वासके साथ किया। उससे पण्डितजीने सभी श्रोताओं पर यह छाप अंकित कर दी कि कानजी कैम्पमे सैद्धांतिक पक्षका प्रतिपादन करनेकी क्षमता रखनेवाला और अधिकारी विद्वान् पंडित फूलचन्द्रजीको छोड़कर दूसरा कोई विद्वान् नहीं है।

जहाँ तक सामाजिक विषयोंका सम्बन्ध है, पंडितजीके विचार उदार, अग्रगामी और क्रान्तिकारी हैं। अन्तर्जातीय और विजातीय विवाह, जैन मन्दिरोंमे हरिजनोंको प्रवेशका अधिकार, अस्पृश्यता निवारण, सामाजिक बहिष्कार, गजरथोत्सव और पंचकल्याणक प्रतिष्ठा, मृत्युभोज, विधवा विवाह आदि विषयोंके संबन्ध में पण्डितजीकी मान्यताओंमें मानवीय पहलू ही मुखर हुआ है। इसमे कोई सन्देह नही है कि पण्डितजीके सभी विचार सुपाच्य नही है, सुग्राह्य भी नहीं हैं। यहाँ विनम्रतापूर्वक मुझे यह स्वीकार करनेमे कोई संकोच नहीं है कि मैंने स्वयं पण्डितजीके कई विचारोंका विरोध किया है। मसलन जैनमन्दिरोंमे हरिजनोंके प्रवेश सम्बन्धी अधिकार पर केवल मानवीय पहलूसे ही विचार नही किया जा सकता। निश्चय ही जैन समाजमें हरिजनोंकी कोई समस्या नहीं है, क्योंकि जैन समाजमे कोई हरिजन है ही नही। जैनमन्दिरोंमे कही भी हरिजनो या जैनेतरोंका प्रवेश निषिद्ध नही है, बशर्ते वे जैन परम्पराके नियमोके अनुसार प्रवेश करें। किन्तु उन्हे जैनमन्दिरोंमे प्रवेश करनेका कानूनी अधिकार तो नही दिया जा सकता। कानूनी अधिकार देनेका अर्थ है—जैन मन्दिरों पर उनके स्वामित्वका अधिकार, जैन परम्पराके उन्मूलनकी स्वीकृति।

पंडितजी वर्षो तक राष्ट्रीय धारासे जुडे रहे। स्वतन्त्रता संग्रामके सम्मानित सेनानी रहे और इसके लिये वे जेल भी गये।

कुल मिलाकर उनका व्यक्तित्व बहुमुखी रहा है। वे बहुश्रुत विचारक मनीषी है, क्रान्तिकारी विचार धाराके अग्रणी नेता है, उनका हृदय मानवीय स्पन्दनसे परिपूर्ण है। कानजी सम्प्रदायको सैद्धान्तिक आधार देने, विद्वानोंका परिकर जमा करने और प्रचारात्मक पक्षको रचनात्मक रूप देनेमे उनकी प्रमुख भूमिका रही है। उनकी साहित्य-साधना जो गुणात्मक और संख्यात्मक प्रसून प्रसूत किये है उस पर हमें गर्व है।

●

जैन सिद्धान्तके पारगामी विद्वान्

● डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, जयपुर

वर्तमान जैन मनीषियोंमें पण्डित फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीका स्थान सर्वोपरि है। वे सिद्धान्त ग्रन्थोंके पारगामी विद्वान् है। षट्खण्डागम गोम्मटसार, राजवार्तिक जैसे महान् ग्रन्थोंका पूरा मर्म उनके मस्तिष्कमें भरा पड़ा है। उनकी सैद्धान्तिक चर्चाये सुनने योग्य है। विगत ४ दशकसे वे जैन समाजमे अत्यधिक सम्मानित विद्वान् माने जाते हैं। जो भी एक बार उनके सम्पर्कमें आ जाता है वह उन्हीका बन जाता है।

जयपुरमें भी वे जब कभी आते ही रहते है। मुझे यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि समाज उनको सुननेमें पूरी रुचि रखता है। जयपुरमे सन् १९६३ मे खानियोंमे जो चर्चा हुई थी और जो खानिया चर्चाके नामसे प्रसिद्ध है, वह पंडितजीके जीवनकी सबसे महत्वपूर्ण घटना है। मुझे स्मरण है कि रात्रिको वे किस प्रकार ग्रन्थोंमेसे उद्धरण छांटते थे और उनके निशान लगाते थे। उनकी स्मरण शक्ति भी गजब की थी उस समय वे कहते थे कि अमुक ग्रन्थकी अमुक पंक्ति देखो शायद उसमें यही लिखा हुआ है। उस समय उनके सैद्धान्तिक ज्ञानको देखकर बड़ा आश्चर्य होता था।

पंडितजीमे आज भी काम करनेकी उतनी ही लगन एवं समर्पणकी भावना है। उनके जीवनका अधिकांश भाग उच्च ग्रन्थोंके अध्यापन, अध्ययन, शास्त्र प्रवचन, ग्रन्थ सम्पादन, लेखन एवं सम्पादनमें व्यतीत हुआ है। आज भी वृद्ध होनेपर भी वे उसी तरह समर्पित हैं। समाजके वे वरिष्ठतम विद्वान् है जिनका जितना अभिनन्दन किया जावे वही कम है। वे विद्वानोंके जनक है। समाजके बहुतसे विद्वान् उनसे किसी न किसी रूपमें उपकृत हैं। वे विद्वानोंका पूरा ध्यान रखते हैं। ऐसे विद्वानका अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशित हो रहा है यह उनकी सेवाओंके प्रति आभार व्यक्त करना है। मैं उसका हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ तथा उनके शतायु एवं यशस्वी जीवनकी कामना करता हूँ। ●

बुन्देलखण्डकी माटीसे गढ़ा गया एक और ऐकलव्य

● श्री नीरज जैन, सतना

धुन रे धुनियां अपनी धुन,
और काऊ की एक नैं सुन।

बुन्देलखण्डी व्यक्तिकी यही अस्मिता है। यह उसके व्यक्तित्वकी विशेषता नहीं, उस व्यक्तित्वकी आधारशिला है। एकदम स्थिर, अकम्प और अटूट। सिद्धान्ताचार्य पण्डित फूलचन्द्रजी नखसे शिख तक बुन्देलखण्डी हैं। उनकी पक्की धुन और अजेय इच्छा-शक्तिका आभास देनेवाली अनेक घटनाएँ उनके जीवन-वृत्तमें बिखरी दिखाई देती हैं।

मोरैनाके विद्यालयका सत्तर साल पूर्वका वही बुन्देलखण्डी विद्यार्थी आज सिद्धान्ताचार्य पण्डित फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्रीके नामसे हमारे अभिनन्दनका पात्र बना हुआ, अपने उस गुरुका यश-प्रसार कर रहा है। जिनके मुखसे यद्यपि दो अक्षर भी सुननेका कभी उसे अवसर नहीं मिला, पर प्रेरणाके स्रोत वे गुरु उसके लिए सतत वन्दनीय हैं। स्वनामधन्य गुरुणाम् गुरु, स्याद्वादवारिधि, वादिगजकेसरी, न्याय-वाचस्पति पंडित गोपालदासजी बरैया ही वह आदर्श गुरु थे।

इस बीसवी शताब्दीमें ईस्वी सन्के साथ-साथ वार्धक्यकी ओर अग्रसर पण्डितजी जीवन-वाटिकाके चौरासी पतझर देख चुके हैं। आम जैन विद्वान्की तरह आजीविकाके संघर्ष, अनिश्चय, अभाव और आदर-अनादरके आरोह-अवरोह पण्डितजीने भी खूब भोगे हैं। परन्तु उन सबके बीच खुरदरी खादीका सादा परिधान धारण किये, सरल खड़ी बोलीके बीच सरल बुन्देलखण्डीकी मिठाससे पगी नर्म और तर्कपूर्ण वाणीके बलपर, अपनी बेलाग और सशक्त लेखनीको पतवार बनाकर, बुन्देलखण्डका यह अभिनव-ऐकलव्य अपनी साधनाके पथपर निरन्तर बढ़ता ही रहा।

"जैनतत्त्वमीमांसा" के लेखकको अब समाजमें किसी प्रकारके परिचयकी आवश्यकता नहीं है। उनके गहन-ज्ञानकी झाँकी प्रस्तुत करनेके लिए यह एक कृति ही पर्याप्त मानी जा सकती है। परन्तु समाजके लिये पण्डितजीकी प्रेरणा और परामर्श, उस विषयमें उनका चिन्तन और अनुभव, ये सब हमें प्राप्त होते हैं उनकी एक दूसरी पुस्तक "वर्ण, जाति और धर्म" में। इस कृतिके द्वारा पण्डितजीने जैन समाजमें व्याप्त वर्णभेद और छुआछूत जैसी आत्मघाती और सिद्धान्त-विरुद्ध प्रवृत्तियोंके बारेमें जैन आचार्योंकी समत्वसे भरी उदारतापूर्ण विचारधाराका अच्छा प्रसार किया है। कहना न होगा कि जैनाचार्योंके उसी सामाजिक औदार्यने जैनधर्मकी परम्पराको विरोधी परिस्थितियोंमें भी न केवल जीवित रखा वरन् उत्कर्ष पर पहुँचाया है और वही व्यावहारिक उदारता आजके युगमें भी हमारे अस्तित्वके लिये "साँस लेनेकी तरह" जरूरी हो गई है। ग्रन्थ-प्रशस्तियों, अभिलेखों और मूर्तिलेखोंके आधारपर कतिपय जातियोंके इतिहासका अन्वेषण और अध्ययन तथा अपने प्रवचनों-भाषणोंमें दहेज-प्रथाका विरोध पण्डितजीके सामाजिक चिन्तनकी सहज-स्फूर्त देन है।

पण्डित फूलचन्द्रजी अपनी उपलब्धियोंसे स्वतः गौरवान्वित हैं। आज उनका अभिनन्दन करके हम अपने आपको गौरवान्वित कर पा रहे हैं यह हमारा सौभाग्य है।



एक मेधावी व्यक्तित्व

● स० सि० धन्यकुमार जैन, कटनी

पंडितप्रवर श्री फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री भारतवर्षमें जैन-संसारके गिने-चुने विद्वानोंमेंसे एक हैं। इन्होंने अपने जीवनकालमें जैन-साहित्यकी अनुपम सेवा की है। सिद्धान्तके वस्तुतत्वकी विवेचना-विश्लेषण करनेकी इनकी पद्धति इतनी सरल और रुचिकर है कि गूढ़से गूढ वस्तु भी साधारण जिज्ञासुओंके लिए भी सहज और बोधगम्य बन जाती है।

श्री फूलचन्द्रजीकी साहित्य-मर्मज्ञता और लेखन-शैली भी अनूठी ही है। साहित्य सृजन, सम्पादन एवं अनुवाद आदिका जितना विपुल कार्य इनके द्वारा सम्पन्न हुआ है, उसका मूल्यांकन भविष्यमें जब इतिहासज्ञ करेंगे, तभी जन साधारण इनकी बहुमुखी प्रतिभाको देख नतमस्तक हो उठेंगे। बड़ेसे बड़े रहस्य-ग्रंथों और कठिनसे कठिनतम स्थलोंको भी अपनी शैली, सूक्ष्म विवेचन और सहास्य और सरलतम भाषामें समझा देनेकी क्षमता मुझे सिर्फ इनमें ही दिखी है। प्रवचनके समय इनकी सम्मोहक वाणी किसीको भी अपनी लपेटमें ले सकनेमें पूर्ण समर्थ है।

जैन-वाङ्मयकी जो अनुपम सेवा इन्होंने की है, उसकी कितनी भी अनुशंसाकी जावे, वह थोड़ी ही रहेगी। कुछ मनीषियोंका तो यह मत भी है कि करणानुयोगके जिन दुरूह ग्रंथोंका आलोडन कर इन्होंने अपनी विशेष कुशलता और जिस सूझ-बूझसे सम्पादन व भाषानुवाद किया है, वह अन्य व्यक्तियोंके लिए केवल कठिन कार्य ही नहीं, बल्कि अशक्य भी सिद्ध होगा।

वे वयोवृद्ध हैं। सरलता, सात्विकता, सादगी एवं धार्मिकता की वे प्रतिमूर्ति हैं। तेरासी वर्षकी आयुमें भी वे साहित्य-निर्माणमें पूर्ण सक्रिय हैं। यद्यपि जराजीर्ण शरीर साहित्य-साधनामें बाधाएँ उपस्थित करता है, किन्तु उनकी वृत्तिको देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि वे जिनवाणीके लिए कृत-संकल्प हैं। उनका सम्पूर्ण जीवन मानो माँ सरस्वती जिन-वागदेवीको समर्पित है।

मेरा उनसे बहुत समयसे परिचय एवं सम्पर्क है। उनका भरपूर सान्निध्य भी मुझे मिला है। अपनी स्मृतियोंमेंसे एक प्रसंगकी चर्चा यदि मैं करूँ, तो शायद यह अप्रासंगिक न होगा।

"काफी समयसे जैन-दर्शनके विद्वानोंमें धार्मिक-सैद्धांतिक प्रश्नोंको लेकर मतभेद चले आ रहे थे। इन मतभेदोंको दूर करनेके लिए धर्मबन्धुओंमें काफी दिनोंसे चर्चा चल रही थी। अन्ततोगत्वा जयपुरमें परमपूज्य आचार्य १०८ श्री शिवसागरजी महाराजके सान्निध्यमें विद्वानोंको आमन्त्रित कर, दोनों पक्षके विद्वानोंमें विचार-विनिमय द्वारा मतभेदोंको दूर करनेकी योजना बनाई गई थी। सबकी इच्छा थी कि यदि विद्वत्-समाज मतभेदोंको दूर करने एवं सर्वसम्मत निराकरण ढूँढनेमें सफल हो जावें तो जैन-जगत ा बड़ा हित होगा। मतभेद समाप्त हों, भ्रान्तियाँ निर्मूल हों, तो इससे बड़ी जिनवाणीकी सेवा दूसरी न होगी। पूज्य आचार्यश्रीके संघकी उपस्थितिमें सन् १९३३में, जयपुरमें इसी सद्हेतुसे तत्वचर्चाके लिए एक बृहत विद्वत्-गोष्ठी आयोजित की गई थी।

आचार्यश्रीके समक्ष दोनों पक्षोंकी चर्चा चली। ३१ जैन विद्वानोंने गोष्ठीमें भाग लिया। आठ-दस दिनोंमें ग्यारह बैठकें हुईं। इतने पर भी जब मतभेदोंका पूर्ण निराकरण होता सम्भव न दिखा, तब अन्तमें मतभेद-मूलक प्रश्नोंको लिखित रूपसे प्रस्तुत करनेका मार्ग निर्धारित किया गया।

विवाद चलता रहा। गोष्ठियाँ होती रहीं। इसी क्रममें सन् ६६में मतभेद-मूलक प्रश्नोंके लिखित समाधानों पर विचार एवं समीक्षा करने हेतु एक बैठक कटनी नगरमें भी आयोजित की गई। आमंत्रण मिलने

पर आदरणीय पं० फूलचन्द्रजी कटनी पधारे। पूज्य पं० जगन्मोहनलाल जी सिद्धान्तशास्त्री भी इनके सहयोगी पक्षकार थे। समाधानोंको अन्तिम रूप देनेमें इनका सहयोग अपेक्षित था। भाई श्री नेमीचन्द्रजी पाटनी भी समाधान-चर्चामें भाग लेने हेतु कटनी पधारे थे।

प्रथम पक्षके आलेखित प्रश्नोंके उत्तरोंके वाचनमें तीन सप्ताहकी कालावधि लगी। इस पूरे कालमें मैं आदरणीय पण्डितजीके दार्शनिक सैद्धान्तिक असीम ज्ञानकी गहराईका सूक्ष्म एवं गहन अवलोकन करता रहा। वस्तुतत्त्वके प्रति उनकी दृष्टि बड़ी पैनी थी। पूर्वाचार्योंके कथन एवं शास्त्रोक्त प्रमाणोंकी पुष्टि करनेकी उनकी पकड़ बहुत गहरी थी। अपरपक्षकी शंकाओंका खण्डन और निराकरण अकाट्य था। उत्तेजनामय विवादके समय भी उनका धैर्य, प्रखरता, सरलता और सहृदयता अवलोकनीय थी। श्रोता तो क्या, विद्वान् भी उनके तर्कों और तथ्योंके समक्ष नतमस्तक हो उठते थे। इससे उनमें प्रकाण्ड पाडित्यकी अनूठी झलकके दर्शन होते थे। इन दिनोंमें भी इन कार्यक्रमोंमें पूर्ण तन्मयतासे लगातार भाग लेता रहा। तब मुझे अनुभव हुआ कि पंडितजी देश और समाजके लिए कितने मूल्यवान और उपयोगी हैं। निःसन्देह आदरणीय पं० फूलचन्दजी जैन-समाजकी अमूल्यतम निधि हैं।

रचनात्मक कार्योंमें भी पण्डितजी सदैव गतिशील रहे हैं। साहित्य-सृजनको प्रेरणा एवं गति देनेके उद्देश्य तथा पवित्र भावनासे ही इन्होंने वाराणसी 'नरिया' में 'वर्णी शोध संस्थान' की स्थापना की है। एक बृहत् लायब्रेरीमें दुर्लभ ग्रन्थोंका संग्रह किया है। शोध छात्रोंके प्रोत्साहन हेतु छात्रवृत्ति एवं निःशुल्क शिक्षक तथा निर्देशनकी भी समुचित व्यवस्था की है।

समाज द्वारा विद्वानोंको समादृत किया ही जाना चाहिए। इतना ही नहीं, बल्कि वृद्धावस्थामें तथा अभावोंके समय इन्हें समाज द्वारा भरपूर आर्थिक सहायता भी दी जानी चाहिए। विद्वान् ही तो हमारी समाजके सम्मान हैं। सच कहूँ तो विद्वानोंका सम्मान तो एक बहाना मात्र है, इसके माध्यमसे हम और हमारा समाज ही सम्मानित होता है।

मेरी मंगलकामना है कि आदरणीय पंडितजी शतायु हों और दीर्घकाल तक हमारे बीच रहकर स्वस्थ तथा निराकुल रह सकें। सदैव जैनवाङ्मयकी सेवा करते रहनेका उनका ध्येय और व्रत पूरा हो। हमारा समस्त जैनजगत् उनके कार्योंके प्रति सदैव ही ऋणी रहेगा।

मेरे वे श्रद्धेय हैं। उनके प्रति मेरी हार्दिक विनम्राजलि समर्पित है।



औचित्यनिष्ठा और सतत् लगनकी विभूति

● श्रीमंत सेठ राजेन्द्र कुमार जैन, विदिशा

जैनदर्शनके सिद्धान्त अध्यात्मकी उन ऊँची शिखरोंके कलश हैं जो चिरंतन और शास्वत आलोकसे प्रकाशित हैं। इनको हृदयंगम करनेसे ही अपूर्व सुख और शांतिका मार्ग प्रशस्त होता है, सिद्धान्तोंकी समीक्षा इनमें दृढ निष्ठा और सतत् लगनका ही प्रतिफल है। सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्रजी उन्हीं ऊँचाईयों पर रहकर सदैव इन्हें मांजते संजोते रहे हैं। बुन्देलखण्डके पाडित्यका यह पुंज सहजता, सरलता और दृढ़तम लगनका व्यक्तित्व है और जैनदर्शनके द्वादशांगका समूचा सार उनके कंठमें विराजमान लगता है।

जीवनकी सफलता और इस जगतके प्रति होनेवाला कर्त्तव्य बोध इस विभूतिने अनुकरणीय बना दिया है। विदिशासे पंडितजीका निकटतम सम्पर्क रहा। षट्खंडागमके प्रकाशन कालके प्रारम्भ सन् १९३४ से हमारे

परिवारकी निकटता आदरणीय पंडितजीसे रही । कोई भी वर्ष शायद ऐसा रहा हो जब पंडितजी विदिशा न पधारे हों । विदिशामें दो पुत्रियोंके सम्बन्ध उनने किये अतः उनके व्यक्तिगत जीवनसे यहाँका घर-घर प्रभावित रहा ।

सिद्धान्त और दर्शन ज्ञान उनकी मौलिकतासे गहराई तक प्रवेशकी बुद्धि आज भी इतनी उम्रमें उनकी अभूतपूर्व है । लेखन शैली बडेसे बडे विषयोंका प्रतिपादन जिस सहजतासे करती है वह भी अपूर्व है समाजमें वह एक इतिहास है ।

वे बुन्देलखंडके परवार समाजमे विद्वान् शिरोमणी हैं । परवार समाजके इतिहासकी जो खोज उनके मौलिक प्रतिपादनके अर्थ है वह अपने आपमें इतिहास बनेगी ।

पुरातत्त्वमे भी उनकी सूझबूझ और खोज निष्ठा सराहनीय है । उन्हें जो इस क्षेत्रमे बहुमान है वह भी इस उम्रके विद्वान् वर्गमें कम मिलता है । विदिशा पुरातत्त्वका महत्त्वपूर्ण इतिहास है और इसमे उनकी रुचि परिलक्षित होती रही है ।

स्वाध्यायका प्रचार-प्रसार उनका जीवन बन गया है एक ही कार्यमें उनकी निष्ठा सदैव जागरूक रहती है ।

पण्डितजीका जीवन अनुकरणीय है उन्होंने जीवनकी सफलताका सोपान जीवनभर उमंग उत्साहसे चढ़ा है और अब भी इसी हेतु उन्होंने इन्दौरको अपना बनाया है ।

भगवान् उन्हे दीर्घायु और स्वस्थता प्रदान करे ताकि हम संसार लोलुपी उनका और-और लाभ प्राप्त करते रहे ।



शत्-शत् नमन

● श्रीमती नर्मदा बाई जैन, डोंगरगढ़

जैन-जगतके लिए समर्पित, जिनका तन-मन-धन है,
सिद्धान्ताचार्य श्री फूलचन्द्रजीका शत्-शत् वन्दन है ।

सिद्धान्ताचार्य पण्डित फूलचन्द्रजी शास्त्रीको मुझे काफी निकटसे जाननेका सौभाग्य मिला है । इसलिये और भी कि उन्होंने हमेशा मुझे अपनी छोटी बहिनके समान स्नेह प्रदान किया । मैंने सबसे पहले उन्हे डोंगरगढ़में उस समय देखा जब वे सन् १९४७ मे पहिली बार डोंगरगढ़ पधारे थे । पूज्य सेठजी १५ अगस्त, १९४७ की रात्रिमे कार दुर्घटनासे आहत होकर, स्थानीय चिकित्सालयमे भर्ती थे । मै उस समय सिवनीमे थी । टेलीफोन मिलते ही मैं डोंगरगढ़ आ गई । पण्डित फूलचन्द्रजी उस समय डोंगरगढ़ आये थे और अपने छोटे भाई श्री भैयालालजीके घर रुके थे । श्री भैयालालजी जैन स्थानीय पाठशालामे अध्यापनका कार्य करते थे । पूज्य सेठजीके अस्पतालमे भर्ती रहने तक तथा घर आनेके बाद भी भाई साहब प्रतिदिन कुशल-क्षेम पूछने घर आते रहे । वे घंटो हमारे घर बैठते तथा सेठजीके साथ जैनधर्म तथा जैनधर्मके प्राचीन ग्रन्थों पर उनके द्वारा किये जा रहे शोध कार्यों पर चर्चा करते रहते । उनके सरल एवं मधुर स्वभावसे हमलोग काफी प्रभावित हुए । जैनधर्मके इतने प्रकाण्ड विद्वान्, निरभिमानी एवं सरल स्वभावी महामानवका मैंने पहली बार दर्शन किये ।

भारतीय दिगम्बर जैनसंघ द्वारा उस समय तक कषायपाहुड़ (जयधवला) के दो भाग प्रकाशित किये जा चुके थे तथा तीसरे भागकी तैयारी चल रही थी । वीर निर्वाण संवत् २४७४ में पूज्य सेठजी भारतवर्षीय

दिगम्बर जैनसंघके कुंडलपुर अधिवेशनमें संघके सभापति चुने गये थे। अतः संघके कार्योंके सिलसिलेमें भाई साहबका अक्सर डोंगरगढ़ आना होता था। इस प्रकार हमारे परिवारसे उनका पारिवारिक सम्बन्ध बन गया था।

सन् १९५२में मैं अपने भतीजे श्री प्रकाशचन्द, राजेन्द्र एवं सरोज (भतीजी) के साथ उत्तर भारतका भ्रमण करते हुए बनारस पहुँची। स्व० सेठजी कई धार्मिक एवं समाजसेवी संस्थानोंमें संलग्न होनेके कारण काफी व्यस्त रहते थे, कारण हम लोगोंके साथ नहीं जा सके थे। हम लोगोंके बनारस पहुँचनेपर भाई फूलचन्द्रजी साहबका आग्रह हुआ कि हम उनके घर पर ही रुकें और बनारसके रहते तक भोजन भी उनकी रसोईमें ही करें। बड़े भाईका आदेश कैसे टाल सकती थी। भाई साहब व भाभीजीने हमें यह सोचनेका अवसर ही नहीं दिया कि हम अपने घरसे बाहर हैं। उस समय वर्णी शोध संस्थानके नये भवनका निर्माण-कार्य सुचारु पूर्वक चल रहा था। इस भवनके निर्माणमें इन मनीषियों द्वारा किया गया अथक परिश्रम, त्याग एवं लगन शीघ्र ही साकार हो गया। हमें भी इस पुनीत कार्यमें अपना सहयोग देनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ।

इसके कई वर्षों बाद स्व० सेठजी साहब कुंभोज बाहुबलि जानेका प्रोग्राम बनाये। हमारे सौभाग्यसे उस समय भाई साहब डोंगरगढ आये थे। स्व० सेठ साहबके अनुरोध पर वे हम लोगोंके साथ यात्रामें जानेके लिए तत्पर हो गये। हमारा यह सौभाग्य रहा कि इतने महान् व्यक्तिके साथ हमें तीर्थयात्राका अवसर मिला तथा भाई साहब प्रत्येक जैन तीर्थ जहाँ हम गये उनका इतिहास एवं उसके सम्बन्धमें अपने अक्षय ज्ञान-भंडारसे महत्त्वपूर्ण जानकारी देते रहते। जिसके कारण हमें तीर्थ यात्राके साथ-साथ धर्म ज्ञानका लाभ भी मिलता रहता। इसी दौरान सौभाग्यसे श्री पूज्य १०८ आचार्य समन्तभद्र महाराजश्री का दर्शन लाभ हुआ तथा श्री पूज्य गजाबेनसे भी परिचय हुआ। प्रवचन सुना तथा शिक्षा भी मिली।

उसके बाद लगभग १५ वर्ष पूर्व भाई साहबसे कलकत्तामें भेंट हुई। पर्युषण पर्वके अवसरपर पूज्य स्व० सेठ साहब और सरोजके साथ कलकत्ता गयी थी। उस समय भाई साहब कलकत्तामें थे। वहाँ भी उनके आग्रहको ध्यानमें रखते हुए हमें उनका आतिथ्य स्वीकार करना पड़ा। उन्हें हमारे कारण काफी असुविधा उठानी पड़ती। परन्तु, उनके चेहरेपर सदा मुस्कुराहट और आत्मीयताकी झलक मिलती रहती। उनकी निश्छल स्नेह, मधुर व्यवहार एवं शालीनतामें आजन्म नहीं भूल सकती।

सिद्धान्ताचार्य पंडित फूलचन्द्रजी शास्त्रीके विषयमें जो भी लिखा जाय कम है। वे जैनदर्शनके मूर्धन्य विद्वान् हैं। साहित्यके प्रचार, प्रसार एवं सृजनमें उनका योगदान अविस्मरणीय है। भाई फूलचन्द्रजी जैनधर्मके प्राकृत भाषामें लिखे गये प्राचीन ग्रन्थोंका शोधकर उनको सरल भाषामें प्रकाशित करनेमें भगीरथ प्रयास किया तथा उनकी अनवरत साधनाके फलस्वरूप जैन साहित्यकी जिस ज्ञान गंगाका उद्गम हुआ उसकी पावन धारामें आनेवाले सैकड़ो वर्षों तक लाखों प्राणी अपना अज्ञान कालुस्य धोते हुए नई ज्योति और नई दिशा प्राप्त करते रहेंगे।

इन्हीं शुभ-कामनाओंके साथ मैं हार्दिक अभिनन्दन करती हूँ तथा उनके शतायुकी कामना करती हूँ।

●

बीसवीं सदीका चिरयुवा मनस्वी पुष्पदन्त-भूतबलि

● प्रो० डॉ० राजाराम जैन, आरा

बहु आयामी व्यक्तित्वके विषयमें अधिक लिख पाना प्रायः कठिन ही होता है। जिसने जीर्ण-शीर्ण एवं सर्वथा अप्रकाशित शौरसेनी जैनागमोंके उद्धारका आजीवन व्रत ले लिया हो, महान् क्रान्तिकारी जैनधर्ममें व्याप्त आगमविरुद्ध परम्पराओंके विरोधमें निर्भीकतापूर्वक लिखते रहनेका संकल्प किया हो, उन्ननीषु अभावग्रस्त छात्रोंके मनोबलको बढ़ाकर उन्हें प्रगतिशील बनाए रखनेका दृढव्रत लिया हो, अपने महान् प्रेरक गुरुतुल्य पंडित गणेशप्रसाद वर्णीकी जैन-शोध सम्बन्धी अभिलाषाओंको साकार करनेका प्रण किया हो, जैन दर्शन एवं कर्मसिद्धान्तके मर्मको स्पष्ट करनेके लिए जिसने विविध प्राच्यजैनाचार्योंके वाङ्मयके अध्ययनमें सारा जीवन न्यौछावर कर दिया हो, देशकी आजादीके संघर्षपूर्ण वर्षोंमें जिसने व्यक्तिगत क्षति एवं जेलयात्राके कष्टोंकी भी परवाह न की हो, समाज एवं राष्ट्रको व्यक्ति एवं परिवारसे निरन्तर सर्वोपरि माना हो, उस आदर्श साधकके विषयमें कुछ भी निष्पक्ष एवं न्यायपूर्ण लिखनेके लिए उसी जैसी बहु आयामी साधना एवं प्रौढ़ लेखनीकी आवश्यकता है।

पूज्य पंडितजीने अपने जीवनमें विश्राम करना नहीं सीखा। शौरसेनी जैनागमोंके अभूतपूर्व सम्पादनके अतिरिक्त प्रमेयरत्नमाला, तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि जैसे ग्रन्थरत्नोंका पाण्डित्यपूर्ण सम्पादन एवं समीक्षात्मक अध्ययन, जैनतत्त्वमीमांसा, खानिया तत्त्वचर्चा, वर्णजाति एवं धर्म जैसे उत्कृष्ट कोटिके मौलिक एवं विचारोत्तेजक गम्भीर ग्रन्थोंका लेखन, भारतीय सामाजिक एवं दार्शनिक जगतके लिए गौरवका विषय है।

पत्र-सम्पादन कलाके क्षेत्रमें भी पंडितजीके कृतित्वका उदाहरण नहीं मिलता। भारतीय ज्ञानपीठ काशीने जुलाई १९४९ में एक उच्चस्तरीय शोध-पत्रिका "ज्ञानोदय" (मासिक) का प्रकाशन किया था जिसके सम्पादक मण्डलमें पण्डित फूलचन्द्रजी भी थे।

अपने आदर्शोंके प्रति अक्खड़ एवं फक्कड़ स्वभाव वाले महास्वाभिमानी इस मनीषीने अपने आदर्शों सिद्धान्तोंके मूल्यपर कभी समझौता नहीं किया। भले ही वह टूटता रहा किन्तु झुका नहीं। अकेला बना रहा किन्तु दृढ़तापूर्वक आगे बढ़ता रहा। ऐसे सपूत किसी समाजको बड़े ही पुण्य-भाग्यसे मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उनका जीवन पुष्पदन्त भूतबलिकी जिनवाणीके प्रति सुरक्षाकी चिन्ता समन्तभद्रकी सर्वोदय-भावना, उमास्वामी एवं पूज्यपादके पाण्डित्य, अकलंक एवं विद्यानन्दकी दार्शनिकता तथा अभिमान मेरा पुष्पदन्तकी मनस्विता एवं अक्खड़पनके तत्त्वोंसे मिलकर निर्मित हुआ है। आगम-विरुद्ध परम्पराओं एवं सामाजिक कुरीतियोंके प्रति उनकी विद्रोही विचारधारासे कुछ लोगोंके त्यौवर लाल-पीले भी होते रहे हैं किन्तु इससे उनकी विचार-पद्धति अप्रभावित ही रही।

वस्तुतः यह सम्मान श्री० पं० फूलचन्द्रजीका ही नहीं, इस माध्यमसे प्राचीन आचार्यों एवं उनकी प्राच्यवाणीका भी सम्मान-अभिनन्दन है, जो सरस्वतीके समस्त आराधकों एवं शिक्षा-जगत्के लिए गौरवका विषय है। उन्हें मेरे शतशः प्रणाम।

●

सुधारवादी प्रखर विद्वान् नेता

● पं० यतीन्द्र कुमार वैद्यराज, लखनादौन

अत्यन्त साधारण शुद्ध खादीकी वेषभूषामें हर प्रकारकी कृत्रिमता (बनावट) से दूर, सरल स्वभावी, मिलनसार पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीको कोई सरलतासे पहचान सका है। आजके इने-गिने शीर्ष विद्वानोंमें उनका प्रमुख स्थान है।

वे दीर्घकालसे जैन शासनकी सेवामें समर्पित हैं।

कलमके धनी होनेसे जिनवाणीके भंडारको खूब समृद्धि की है।

प्रातः स्मरणीय पूज्य गणेश प्रसादजीके शिष्य सच्चे भक्त है।

वर्णी ग्रन्थमालाके द्वारा की गई उनकी सेवा कभी भुलाई नही जा सकती। मैं पाँच वर्ष पहले कुम्भोज बाहुबलि गया था वहाँके महान् संत कर्मठ साधक मुनी महाराज समन्तभद्रजीके मुखसे निकले ये वचन अभी तक याद हैं।

'वर्तमानमें सम्पूर्ण जैन वाङ्मयका तलस्पर्शी ठोस विद्वान् है तो पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री हैं।'

मेरा पं० फूलचन्दजीसे प्रेम परिचय करीब ४० वर्षसे है। मैं उस समय छत्तीसगढमें चिकित्सा कार्यरत था। पंडितजीके लघुभ्राता पंडित भैयालालजी उस समय डोंगरगढ (छत्तीसगढ) मे रहते थे। वहीसे पंडितजीसे सम्पर्क स्थापित हुआ। यद्यपि उनकी ओर मेरी योग्यतामें जमीन आसमानका फर्क था। पर वे इतने आत्मीय स्नेहसे व्यवहार करते थे। जैसे बराबरी वालेसे होता है। उस समय छत्तीसगढकी जैन समाज जहाँ अधिकतर परवार लोग रहते हैं। उनमें बड़ी सेन तथा छोटी सेन (दस्सा) समाज ऐसे दो वर्ग थे। अनेक दस्सा ऐसे भी थे जिन्हें आपसी रागद्वेषसे जाति च्युत कर दिया गया था। उनके साथ अछूतों जैसा व्यवहार होता था खान-पान तो क्या उन्हे देव दर्शन पूजनसे भी च्युत किया जाता था। अपने धार्मिक अधिकारोंके लिये वे बेचैन रहते थे। इन बुराइयोंको दूर करनेके लिये। उदार धर्म समाज प्रेमी सेठ भागचंद जीकी अध्यक्षतामें प्रगति-वादी जैन संघ बनाया गया था। मैं उसका मंत्री था।

सेठ भागचंद्र जी पंडित फूलचंदजीके बहुत श्रद्धालु भक्त थे उसकी प्रेमके कारण पण्डितजी बनारससे ४-५ बार आकर मेरे साथ स्थान-स्थान पर जाकर अपने भाषणोंसे शास्त्री प्रमाणोंसे सिद्ध कर उन्हे दर्शन पूजाका अधिकार दिलाया था। वे बिना हिचकके उन्हीं दस्सा भाइयोंके यहाँ ठहरकर सहभोज करके उनकी हीन भावनाको दूर करते थे। मेरा विश्वास है नि स्वार्थ समाजसेवी समर्पित उदार सेवा भावी भविष्यका ज्ञान रखते हैं।

पंडितजी हर जगत् भविष्यवाणी करते है। आज आप जिनके हाथका पानी नहीं पीते। देव दर्शनमें रुकावट करते हो तीस साल बाद अपनी बेटियाँ ब्याह कर सम्मान करेंगे। आज दस्सा बीसाका भेद मिट रहा है आपसमें हजारों सम्बन्ध हो रहे है। दि० जैनका युग है। पंडित जीकी भविष्यवाणी सत्य हो रही है।

पंडितजी सदासे सुधारवादी नेता हैं सामाजिक रूढियोंको समूल्य नष्ट करनेमें जितने आन्दोलन हुए हैं समाजमें पूरा सहयोग रहा है।

आज वे वृद्धताको प्राप्त है। मैं ३ माह पहले उनसे मिलने इन्दौर उदासीन आश्रम गया था। बहुत स्नेह किया। मैंने पूछा अभी भी कुछ जागृतिकी तमन्ना हैं। तो बोले मैं बूढ़ा हूँ तो क्या हुआ दिलका नौजवान हूँ। शरीर शिथिल हो गया पर भावना प्रधान हूँ। कामना है। शतंजीवम शरदः भूयश्च शदः शतान् शत मदीनाः शतान् शतं प्रव्रजाम शरदः शतम् भूयश्च शदः शतात्।

●

निर्भीक व्यक्तित्व

● श्री सुजानमल जैन, अजमेर

सन् १९५६-५७ के आसपासकी बात है पंडित फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री श्री दि० जैन मुमुक्षु मण्डल उदयपुरके आमंत्रणपर प्रवचनार्थ जाना था। मैं तथा मेरे मित्र श्री लक्ष्मीलालजी बंडी पंडित साहबको लिवाने अजमेर आये थे। उस दिन देहलीसे आनेवाली गाड़ीके समयसे देरसे आनेके कारण मैं तथा पंडित साहब अजमेरमें सेठ भागचन्दजी सोनीके यहाँ ठहरे।

दिनभरमें अजमेरमें पंडित साहबसे कई विचारकों तथा स्थानीय विद्वानोंने चर्चा की थी। इससे पंडित साहबको उस समयकी अजमेरकी सामाजिक तथा धार्मिक स्थितिका सहज ही अवमान हो गया और उन्होंने यह जान लिया कि अजमेरकी जैनधर्मके सिद्धान्तोंका जिनका प्रतिपादन पूज्य कानजी स्वामीजी द्वारा हो रहा है विरोधी हैं यह बात उनके मानस पर चुभ सी गई। सायंकाल भोजन करते समय शांत वातावरणमें पं० साहबसे रहा नहीं गया था उन्होंने अपने मनकी बात कहनेका यह सुअवसर है, ऐसा मानकर या उनकी निर्भीक वृत्तिसे उन्हें ललकार आनेसे उन्होंने शांत और गम्भीर वातावरणको भंग कर सेठ साहबको सम्बोधन करते हुए कहा कि सेठ साहब इस मन्दिरजी और नसियाजीका निर्माण तो आपके पूज्य पितामहने अजमेरमें शुद्धाम्नायके प्रचार-प्रसारके लिए पंडित श्री सदासुखदासजीके सदुपदेशसे ही कराया था। सेठ साहबने पंडित साहबके कथनको स्वीकारता दी। पंडित साहबने तुरन्त अपनेमें बैठी चुभनसे कहा कि उसी अजमेरमें आपके आपके होते हुए सोनगढके प्रसार प्रचारका जो शुद्धाम्नायका ही प्रसार-प्रचार है और जिसके द्वारा वर्तमानमें भारत भरमें अध्यात्मका डंका बज रहा है, उसका विरोध हो रहा है यह तो अति शर्मनाक है और उसमें आपका सहयोग है या आप मध्यस्थ होकर देख रहे हैं यह और अधिक लज्जाजनक है।

भोजन के मिष्ठ और नमकीन स्वाद के रसमें लिप्त उस समय तो मुझे ऐसा लगा कि पण्डित साहबको लौकिक व्यवहारका भी ज्ञान नहीं है क्या वे यह बात बादमें नहीं कह सकते या अन्य मधुर शब्दोंमें नहीं कह सकते थे जो उन्होंने भारत एक दि० समाजके महान् नेताको इस प्रकारकी भाषामें कही। लेकिन मुझे इस बातका महत्व तथा कथनकी निर्भीकताका एहसास जब हुआ जब मैंने पं० साहब द्वारा लिखित जैनतत्त्व-मीमांसा के प्रथम संस्करणके प्राक्कथनको पढ़ा। जिस समय भारतके करीब-करीब सारे विद्वान् सोनगढ़में पूज्य स्वामीजी द्वारा, जिनोक्त और आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थोंके सिद्धान्तोंके प्रतिपादन और प्रसार प्रचारका विरोधकर रहे थे या डगमगा रहे थे या चुप्पीसाधे थे ऐसे समयमें पण्डित साहबसे उन सिद्धान्तोंको समक्ष न्याय तर्क आगम और नयकी कसौटी पर कसकर देखा और उन्हें यथावत् पाया तो यह चिन्ता किये बिना कि सारा विद्वत्समाज विरोधमें है उन्होंने इस सत्यका विश्लेषण एक पुस्तकाकारमें लिखकर इटावाकी विद्वत्-परिषदकी ज्ञानगोष्ठीमें उसका वाचन किया जो इतिहासकी एक अनुपम घटना थी इस गोष्ठीमें अनेक विद्वानों तथा ज्ञानियोंने भाग ही नहीं लिया बरन् पण्डितजी के वाचन पर विभिन्न विद्वानोंने अपनी पूर्व मान्यताओंके आधार पर भिन्न २ प्रकार के तर्कोंको रखा परन्तु पं० साहबने निर्भीकतासे सभी उठाये गये तर्कोंका आगमके आधार से समाधान किया और पुरानी सिद्धान्त विरुद्ध मान्यताओंका खंडन कर कुन्दकुन्दाचार्यों द्वारा प्रतिपादित मान्यताओंका प्रतिपादन किया जिसका ही प्रतिफल है कि आज भारतके कोने-कोनेसे गाँव-गाँवसे अध्यात्मकी गूंज आ रही है तब मुझे अपनी उस समयकी भूलका एहसास हुआ कि यह विद्वान् कोरा पण्डित नहीं लेकिन जैनागमका ज्ञाता और उस पर अटल प्रतीति होने का कारण जिसके रग-रगमें निर्भीकता

समा गई है वह कैसे भोजनके मिष्ठ स्वादमें सिद्धान्तोंके विरोधको अनदेखी करता । उन्हें तो भोजनके मिष्ठानमें भी सिद्धान्तोंके विरोधकी कड़ुवाहटका स्वाद आ रहा था यही कारण था कि उन्होंने न भोजनका समय देखा, न मिष्ठानका स्वाद और न भारत के सर्व मान्यधी और श्रीमान् नेताको देखा और न आतिथ्यको, लेकिन उन्होंने उन सबसे अधिक देखा जैन सिद्धान्तोंको, जो सबसे सर्वोत्कृष्ट थे तथा प्राण थे । इस तरहके निर्भीक वृत्तिवाले विद्वान् देखनेको कदाचित् ही मिलते हैं ।

हममे भी जिनोक्त और आगमोक्त सिद्धान्तोंके प्रति इसी प्रकार की प्रगाढ़ श्रद्धा जागृत हो और उनका निर्भीकतासे प्रतिपादन कर सके या उनके विरोधका निर्भीकतासे मुँहतोड प्रत्युत्तर दे सके तो ही हमारा पण्डित साहब के प्रति वास्तविक अभिनन्दन है ।

इस निर्भीक वृत्तिके प्रति मेरा हार्दिक वन्दन ।



स्वाभिमानी व्यक्तित्व

● श्री राजमल पवैया, भोपाल

परम आदरणीय सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीसे मेरा परोक्ष परिचय तो बहुत पुराना है । प्रत्यक्ष परिचय तो सन् १९५० मे हुआ । दिसम्बर सन् १९३३ मे जब अ० भा० दि० जैन परिषद्का अधिवेशन जनता प्रसादजी कलरैयाकी अध्यक्षतामें हुआ, तब अमरावतीके स्वनामधन्य प्रो० हीरालालजीने धवलाके प्रकाशनकी योजना समाजके सामने रखी, उस योजनाको मूर्त्तरूप दिया विदिशाके श्रीमंत सेठ लक्ष्मीचन्दजीने । उस समय अधिवेशनमे जो हर्ष उल्लास छाया वह आज भी चित्रपटकी भाँति आँखोंमें झूलता है ।

मा० पण्डितजीने अनेकों ग्रन्थोंका सपादन तो किया ही, कई स्वतन्त्र ग्रन्थोंकी भी रचना की । वर्ण, जाति और धर्म" लिखकर आपने रूढिवादियोंपर भयंकर प्रहार करके आगमका अर्थ समाजके सामने सरल और सुबोध भाषामे प्रमाण सहित रखा, इस ग्रन्थमे पोंगापंथियोंकी चूले हिल गईं, आज तक वे इसका आगम सम्मत उत्तर नही दे सके ।

आध्यात्मिक संत पूज्य कानजी स्वामीसे आपके बडे मधुर सम्बन्ध रहे, सिद्धान्तों पर स्वामीजी आपसे सदैव चर्चा करते रहते थे और परामर्श भी करते थे । आपकी समयसार कलशकी हिन्दी टीका पर तो स्वामीजी इतने मुग्ध हुए कि उन्होंने इसपर कई बार प्रवचन किये ।

आप निरन्तर साहित्य साधनामे लीन रहते है, आज भी कई महत्वपूर्ण ग्रन्थोंकी टीका कर रहे हैं । शारीरिक स्वास्थ्यको घोर प्रतिकूलतामे भी आप जैन साहित्यकी सेवामे अपना जीवन समर्पित किये हुए है ।

पूज्य पण्डितजी समाजमे चोटीके महान् विद्वान्, सिद्धान्तोंके ज्ञाता निर्भीक वक्ता है । आपने अपना संपूर्ण जीवन स्वाभिमानपूर्वक स्वावलम्बनसे बिताया है । प्रतिकूल परिस्थितियोंमे भी आपकी दृढता एवं स्मित हास्य दर्शनीय होता है । स्पष्ट राय देनेमें आप कभी हिचकते नही है । शंकाओंके समाधानमे आपका कोई जवाब नही है । जैन धर्मके सिद्धान्तोंकी रक्षाका भाव आपमे कूटकूट कर भरा है ।

धर्म प्रचारके लिए आप इस ८३ वर्षकी वृद्धावस्थामे भी युवकोंकी तरह जागरूक रहते हैं ।

आप शतायुसे भी अधिक जीवित रहते हुए जैन साहित्यकी सेवा करते रहें, यही मेरी हार्दिक भावना है ।



खण्ड ४

साहित्य सर्जना

धर्म और दर्शन • इतिहास तथा पुरातत्व

अनुसंधान तथा शोधपरक • समाज एवं संस्कृति

पत्रकारिता एवं विविध

धर्म और दर्शन





८

जैनधर्म

जिसे लोकमें जैनधर्मके नामसे अभिहित किया जाता है, वह अपने स्वावलम्बन प्रधान दर्शनका धनी होनेके कारण व्यक्ति-स्वातन्त्र्यकी प्राणप्रतिष्ठा करने वाला लोकोत्तर धर्म है। उसके अनुसार लोकमें जड़ और चेतन जितने भी (अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखने वाले) पदार्थ हैं, वे सब अपने अन्वयी स्वभावके कारण ध्रुव होकर भी अपने व्यतिरेकी स्वभावके कारण स्वयं अपनी पर्यायोंके कर्ता होकर विवक्षित पर्यायसे पर्यायान्तर रूप जीवनमें प्रवाहित होते रहते हैं। यह उनका अपना जीवन है। इसमें अन्य किसीका हस्तक्षेप नहीं है।

जैसा कि आगमसे ज्ञात होता है कि द्रव्य छह हैं। उनके नाम हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। संख्याकी दृष्टिसे जीव अनन्त हैं। पुद्गल उनसे अनन्तगुने हैं। पुद्गलोंका मूल रूप परमाणु है। इस द्रव्यकी गणनामें मुख्यरूपसे परमाणु ही विवक्षित है। धर्म, अधर्म और आकाश ये प्रत्येक एक-एक हैं तथा काल द्रव्य अणुरूप होकर असंख्यात हैं।

इन छह द्रव्योंमे जो आकाश द्रव्य है उसके ठीक मध्यमें लोकाकाश है, इस कारण आकाश द्रव्य दो भागोंमें विभक्त हो गया है—लोकाकाश और अलोकाकाश। जो आकाश शेष पाँच द्रव्योंका आधार है, वह लोकाकाश है तथा शेष अलोकाकाश है।

सवाल यह है कि जब प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने जीवन-प्रवाहमें परनिरपेक्ष है, तब यह जीव नामक पदार्थ अन्यके निमित्तसे परतंत्रताको स्वीकार कर क्यों तो पराधीन बनता है और पुद्गल भी परमाणुरूप अपने मूल स्वभावको छोड़कर क्यों स्कंध अवस्थाको धारण करता रहता है?

सवाल हृदयंगम करने लायक है। समाधान यह है कि पुद्गलका तो ऐसा स्वभाव ही है। वह चाहे स्कंध अवस्थामे रहे और चाहे परमाणु अवस्थामें रहे। चाहे उसकी परनिरपेक्ष स्वभाव पर्याय हो और चाहे परसापेक्ष विभाव पर्याय ही क्यों न हो? दोनों अवस्थाओंमे उसमें बंधने और छूटनेका गुण है। जब बंध अवस्थामें रहता है तब उसे स्कंध कहते हैं और जब मुक्त अवस्थामें रहता है, तब उसे परमाणु कहते हैं।

किन्तु जीवोंकी चाल इससे सर्वथा भिन्न है। उनका सदा एक रूप रहनेवाला मूल स्वभाव न तो बंध का ही कारण है और न मुक्ति का ही कारण है। जिसे हम बंध और मोक्ष शब्दसे अभिहित करते हैं, वह उनकी अवस्था ही है। मूल स्वभाव तो जैसा पहिले संसार अवस्थामे रहता है, ठीक वही मोक्ष अवस्थामें भी बना रहता है। इससे सिद्ध हुआ कि अवस्थाका नाम ही बंध है और स्वयंमें कारण विशेषके मिलनेपर जब वह संसार अवस्था (बंध अवस्था) विलयको प्राप्त होकर मात्र मूल आत्मा स्वभाव पर्याय सहित शेष रह जाता है, तो उसीका नाम मोक्ष है।

यह तो न्यायका सिद्धान्त ही है कि कारणके बिना कार्य नहीं होता। साथ ही यह भी नियम है कि स्वयं ही वस्तु अपने व्यतिरेकी स्वभावके कारण कार्यरूपसे परिणमती है। साथ ही यह भी अकाट्य नियम है कि प्रतिसमय होनेवाले प्रत्येक परिणमनके समय उसका कोई बाह्य निमित्त अवश्य होता है। इससे सिद्ध है कि यह संसारी जीव अनादिसे स्वयं ही अज्ञानी और रागीद्वेषी हो रहा है और अनादिसे उसका बाह्य

निमित्त कर्मबन्ध भी बना चला आ रहा है। जैसे बीजसे वृक्ष और वृक्षसे बीजकी संतति अनादि है, उसी प्रकार जीव और कर्मबन्धकी परम्परा भी अनादि है।

किन्तु जैसे विवक्षित वृक्ष और उसके बीजका अभाव हो जानेपर उनकी परम्परा नहीं चलती, उसी प्रकार संसारी जीवके अज्ञान और रागद्वेषके साथ बन्धक अभाव हो जानेपर, उस जीवके संसारकी परम्परा भी नहीं चलती। इसीका नाम मोक्ष है।

इस प्रकार इतने विश्लेषणसे हम जानते हैं कि स्वयं स्वीकारकी गयी परालम्बन प्रधानवृत्तिके कारण ही इस संसारी जीवके अपने जीवनमें अज्ञान, असंयम और राग-द्वेष आदि दोषोंका संचार होता है। और इस कारण यह जीव पर-पदार्थोंसे अपनी आत्माको युक्त करता है; पर पदार्थ नहीं।

इसलिये अपनेमें व्यक्ति स्वातन्त्र्यकी प्राण-प्रतिष्ठा करनेके लिये जहाँ अपनी बुद्धिमें मूल स्वभावके अवलम्बन पूर्वक उनकी भावना द्वारा अज्ञान और रागद्वेषादि पर-संयोगी भावोंसे मुक्त होना आवश्यक है वहीं उनके उपजीवी परपदार्थोंका क्रमशः ज्ञापन करते हुए शरीरातिरिक्त बुद्धि पूर्वक स्वीकार किये गये, उन सब पदार्थोंसे वियुक्त होना भी आवश्यक है। यह नहीं हो सकता कि बुद्धिपूर्वक संयोग भी बनाये रखा जाय और मुक्तिका मार्ग भी प्रशस्त हो जाये। संयोग का कारण अज्ञान और रागद्वेष है। इसलिये इन दोषोंका परिहार करनेके लिये संयोगके प्रति अनास्थापूर्वक, उनका त्याग करना आवश्यक है।

तात्पर्य यह है कि जैसे स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब और धनादि पर-पदार्थोंको बुद्धिपूर्वक छोड़कर एकाकी हुआ जा सकता है, वैसे इस पर्यायमें रहनेकी आयुका अन्त हुए बिना शरीरसे मुक्त होना सम्भव नहीं है। शरीरसे मूर्च्छा छोड़ी जाती है और वस्त्रादि बाह्य पदार्थोंका बुद्धिपूर्वक त्याग किया जाता है। अतः आत्माराधनाका इच्छुक प्राणी शरीरमें ममत्वरूप मूर्च्छाका त्याग करता है और वस्त्रप्रमुख पर-पदार्थोंका बुद्धिपूर्वक त्याग करता है।

इतना अवश्य है कि जब तक अपनी पुरुषार्थहीनताके कारण परावलम्बनके प्रतीक-स्वरूप बाह्य वस्तुओंका एकदेश त्याग करता है, तबतक उसे गृहस्थ कहते हैं। इसका जीवन जलमें रहते हुए भी उससे भिन्न कमलके समान होता है। कक्षा-भेदमें इसके अनेक भेद हैं। जिस गृहस्थके अन्तमें एक लंगोट मात्र परिग्रह रह जाता है, उसे ऐलक कहते है। यह मुनिका छोटा भाई है। मुनिके साथ वन ही इसका जीवन है। वह तप और शरीरकी स्थितिका साधन जानकर मात्र आहार ग्रहण करनेके लिये गाँवमें गृहस्थके घर जाता है। किन्तु जब वह परपदार्थोंसे पूरी तरह विरक्त होकर पूर्ण स्वावलम्बनके प्रतीकस्वरूप गुरुसाक्षी पूर्वक श्रमणदीक्षाको स्वीकार कर ध्यान और अध्ययनके साथ आत्माराधनाको ही अपना प्रधान लक्ष्य बना लेता है, तब वह पूर्णरूपसे श्रमण धर्मका अधिकारी माना जाता है। यह जैनधर्मका मूलरूप है। गृहस्थधर्म इसका अपवाद है। इसके प्रयोजन विशेषके कारण आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीन भेद भले ही किये गये हों; पर है वे सब श्रमण (साधु) ही।

"श्रमण" शब्द "समण" शब्दका संस्कृत रूप है। इससे तीन अर्थ फलित होते हैं—श्रम, सम और शम। इससे हम जानते है कि श्रमण वह है जो श्रमणोचित क्रियाओंको दूसरेकी सहायताके बिना स्वयं सम्पन्न करता है। श्रमण (समण) वह है जो प्राणीमात्रमें समता परिणामोंसे युक्त होकर अपना जीवन यापन करता है। तथा श्रमण (शमण) वह है जो रागद्वेषका परिहार करके आत्माराधनामें तत्पर रहता है।

इसके लिये इस प्राणीको क्या करना चाहिये, इसकी क्रमबद्ध प्ररूपणा जैन साहित्यमें दृष्टिगोचर होती है। उसे संक्षेपमें मोक्ष-मार्ग शब्दसे अभिहित करते हुए बतलाया है कि परसे भिन्न आत्मा की श्रद्धा (अनुभूति), परसे भिन्न आत्माका ज्ञान, और परसे भिन्न आत्मामें अवस्थिति ही, साक्षात् मोक्ष-मार्ग है जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वरूप है। यह अज्ञान, असंयम और रागद्वेषसे मुक्त होनेका मार्ग होनेसे "मोक्षमार्ग" शब्द द्वारा अभिहित किया गया है।

यह जीव जब इस मार्गको अपना जीवन बना लेता है, तब उसके परिणाम स्वरूप कर्मबन्ध तो स्वयं रुक ही जाता है, संचितकर्म भी आत्मासे जुदा हो जाता है। उसके लिये अलगसे पुरुषार्थ करनेकी आवश्यकता उसे नहीं करनी पड़ती। जो एकाकी आत्माकी प्राप्तिका मार्ग है, वही कर्मबन्धसे मुक्तिका मार्ग है। अपनेको अपना जानकर प्राप्त करना ही परसे मुक्ति है—यह जिनागमका सार है।

परमार्थसे देखा जाये, तो पर-पदार्थ कभी भी अपने नहीं हुए, अज्ञानवश ही हमने उन्हें अपना माना है। अतः अज्ञानसे मुक्त होना ही जीवनका प्रधान लक्ष्य होना चाहिये।

अभी तक हमने जो कुछ भी लिखा है वह अध्यात्म को मुख्य करके ही लिखा है। उसका व्यवहार पक्ष भी उतना ही प्राजल है और हृदयंगम करने लायक है।

आत्माश्रित भाव का नाम ही आध्यात्म है और पराश्रितभाव का नाम ही व्यवहार है। ये दोनों युगपत् होते हैं। जब यह जीव आत्मभावना की भूमिका में एकाग्र होता है, तब मुख्यता से अध्यात्मकी चरितार्थता बन जाती है और जब देव-गुरु-शास्त्र और व्रतादिक को आलम्बन कर प्रवृत्ति को मुख्यता देता है, तब व्यवहार की उपयोगिता स्वीकार की गयी है। इसके लिये देव-गुरु और शास्त्र के स्वरूप को हृदयपटल पर अंकित कर लेना उपयोगी माना गया है। क्योंकि देव आत्मा का प्रतिनिधि है। इसके स्वरूपकी यथावत् श्रद्धा होने पर आत्माका साक्षात्कार होना सम्भव माना गया है। गुरु देवत्वकी प्राप्तिके मार्गको दिखानेके लिये दीपकके समान है और शास्त्र स्वयंका ज्ञान कराता हुआ उस विधिका प्ररूपण कराता है जिस विधिको अपनाकर संसार के दलदलमें फंसा हुआ यह प्राणी उसमे उद्धारके मार्गको आत्मसात् करनेमें समर्थ होता है।

जैसा कि भगवान् कुन्दकुन्दके वचनोंसे ज्ञात होता है—रत्नत्रयमें प्रथम स्थान सम्यग्दर्शनका है। उक्त तीनका आगम प्रतिपादित जो स्वरूप है, उसका तीन मूढता, छह अनायतन, आठ मद और शंकादि आठ दोषरहित तथा आठ अंग सहित श्रद्धान, रुचि प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है, यह धर्मका मूल है।

देवके लक्षणमें तीन बातोंकी मुख्यता है। वह वीतराग होना चाहिये, सर्वज्ञ होना चाहिये और हितोपदेशी होना चाहिए। इसी प्रकार गुरुके लक्षणमें भी इन बातोंकी मुख्यता रहती है—उसे पंचेन्द्रियके विषयोंसे विरक्त होना चाहिए, लौकिक जनोंके सम्पर्क, तथा आरम्भ और वस्त्रादि परिग्रहसे रहित होना चाहिए तथा ज्ञान-ध्यान और तपकी आराधनामें तत्पर होना चाहिए। देवकी वाणीका नाम ही शास्त्र है, वह वीतरागताका मार्ग प्रशस्त करने वाली होती है।

जैसे ब्राह्मण धर्ममें संध्याकर्म करना मुख्य माना गया है, उसी प्रकार जैनधर्ममें प्रतिदिन इन तीनकी उपासना करना आवश्यक कृतिकर्म माना गया है। यह मुनि और श्रावक दोनोंका प्रथम कृतिकर्म है।

इसके स्थानमें अधिकतर भाई-बहिन शासन देवताके नाम पर रागी-द्वेषी क्षेत्रपाल, धरणेंद्र, पद्मावती आदिकी उपासना करने लगे हैं। इस समय ऐसे मुनि भी मिलेंगे जो इस कल्पित मार्गके प्रचारमें लगे रहते हैं। वे बिचारे यह जाननेमें असमर्थ हैं कि जो स्वयं मोही और रागी-द्वेषी है और ससार-समुद्रको पार करने-

में स्वयं असमर्थ है, वे दूसरेको कैसे तारनेमे समर्थ हो सकते हैं ? लौकिक कामनाकी पूर्तिका होना पुरुषार्थ और भाग्याधीन है। इनकी वन्दना, पूजा करनेसे संचित पुण्यबन्धकी हानि होती है और वर्तमानमें पाप बन्धका भागी होना पड़ता है। इसलिये जिस प्रकार अज्ञानमूलक यह मूढ़ता छोड़ने योग्य है, उसी प्रकार शेष मूढ़ता और अनायतनोंके विषयमें भी जान लेना चाहिये।

आठ मदोंमें ज्ञानमदका प्रथम स्थान है, वर्तमानमे ज्ञानकी प्राप्ति होना क्षयोपशमके आधीन है और क्षयोपशम यह परमार्थ है। इसलिये अध्यात्ममें तो इसे हेय माना ही गया है; व्यवहारमें भी वह हेय ही है। क्योंकि वह प्रतिष्ठाका साधन न होकर आत्म-प्राप्तिका साधन है। उसमे जो अध्यात्म-प्ररूपणाको ही मोक्ष-मार्गमें एकान्त साधन मानकर, उसके अहंकारसे गर्विष्ठ हुए, समाजको दिग्भ्रमित करनेमे लगे रहते हैं, उनको हम किन शब्दोंमें याद करें ?

दूसरा और तीसरा स्थान जातिमद और कुलमदका है। यह सब जानते हैं कि मन्दिर, मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका ये सब धर्मके आयतन हैं। वर्तमानमे आप इनमेंसे किसीके पास भी चले जाइये, सर्वत्र जाति और कुलका बोलबाला दिखायी देगा। समस्त आचार्योका तो कहना है कि जाति और कुल देहके आश्रित देखे जाते है और देहमे ममताका नाम ही संसार है। इसलिये जो इनके बड़प्पन माननेमें अपना बड़प्पन देखते हैं, वे त्रिकाल तक अनन्त ससारके पात्र बने रहते है। विवेकसे देखा जाय तो शुद्धि अन्यका नाम है और छुआछूत अन्यका नाम है, वह कल्पना मात्र है। आजीविकाके लिये पुराने कालमे जिन विभागोंकी स्थापना की गयी थी, उन्होंने वर्तमानमे जन्मना जातिका स्थान ले लिया है, जिससे संसार दुःखके गर्तमे फँसता चला आ रहा है। इससे धर्मके प्रचार-प्रसारमे जो बाधा पहुँची है, वह कल्पनातीत है।

बहुत दिन पहलेकी बात है, काशी विद्यापीठ, बनारसमें दर्शनगोष्ठीका आयोजन हुआ था। इसमें दादा धर्माधिकारी मुख्य वक्ता थे। उन्होंने जैनदर्शनकी व्याख्या करते हुए कहा था कि वर्तमानमें "जैन जन्मते हैं, बनते नहीं"। उनकी इस टिप्पणीको सुनकर हम और पण्डित महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य हतप्रभ होकर रह गये। उनकी इस बातका हम क्या उत्तर देते ? हम दोनोंके पास इसका कोई उत्तर नहीं था।

जब बाबा साहब डॉ० अम्बेडकर भारत सरकारके कानून मन्त्री थे और उन्होंने अछूतोंको बौद्ध बनाकर उनकी स्वतन्त्र समाजकी स्थापना कर दी थी, ऐसे समयमे हम दोनो भाई उनके निवास स्थान पर उनसे मिलने गये। हम दोनोंकी उपस्थितिमे उनके लिये जब चाय बनकर आयी, तब उन्होंने मात्र इसलिये हम दोनोंसे आग्रह नही किया कि हम दोनों उनके यहां चाय नही ले सकेंगे। चर्चाके प्रसंगसे हम दोनोंने उनसे यह पूछा कि आपने बौद्ध धर्मकी ही दीक्षा क्यों ली और दूसरोंको दिलायी ? जैनधर्ममें क्या कमी थी कि जिससे न तो आपने स्वयं ही जैनधर्मकी दीक्षा ली और न दूसरोंको ही इसके लिये प्रेरित किया। उनका एक उत्तर था कि "यद्यपि जैनधर्म जातिवादसे मुक्त है, यह हम जानते हैं, परन्तु आजका जैन जातिवादके भँवरमें फँसा हुआ है। यदि हम जैनधर्म स्वीकार भी करते, तो क्या आजका जैन हमें अपने बराबरीका स्थान देनेको तैयार हो जाता ? हम यह अच्छी तरहसे जानते हैं कि हमारा जैन बन जानेके बाद भी वही स्थान बना रहता जो हिन्दू रहते हुए बना हुआ था। हम इतना अवश्य कर सकते हैं कि बम्बई में जहाँ हमारी संस्था है। वहाँ बौद्ध मन्दिरके बगलमे समाजकी सहायतासे जैन मन्दिर बनानेको तैयार हैं। क्या आपकी समाज इसे स्वीकार करेगी ?"

एक घटना मेरे जेल जीवनकी है। जेलमें मेरे बीमार पड़ जानेपर मुझे अस्पतालमें भेज दिया गया। वहाँ भोजन में दूध और दलिया मिलता था। दूधमें आरारोट जैसी कुछ वस्तु मिली रहती थी, इसलिये उसे

मैं पी नहीं पाता था । दलिया मात्र ही मेरा भोजन रह गया था । इससे मैं क्षुधा से पीड़ित रहने लगा । दूध मैं अपने बगलमें साथी को दे देता था । वह नाई था । ऐसा कई दिन हुआ । अन्त में उसने मेरी पीड़ा जानकर उसे दूर करनेका उपाय सोचकर वह किसी प्रकार अस्पतालसे निकलकर किसी अधिकारीके यहाँ गया । और सेवावृत्ति करके दो फुलका और करेलाकी शाक प्राप्त कर ली और आकर मेरे पास रखकर आग्रह करने लगा कि यह मैं आपके लिये लाया हूँ। आप निःसंकोच ले लीजिये । मैं असमंजस मे पड़ गया । मैं सोचने लगा कि श्रम तो उसने किया है, उसके श्रमका मैं कैसे फायदा उठाऊँ ? मेरे मना करने पर वह रोने लगा और कहने लगा कि "आप मेरा ख्याल रखते है और मैं आपके कष्ट में संभागी न बनूं, यह कैसे हो सकता है ?" अन्तमें बँटवारा करके उसे खाया और खाते हुए मैंने उससे कहा कि इस चहार-दीवारीके भीतर हम दोनों भाई-भाई हैं—मनुष्य हैं । बाहर जानेपर फिर हमारा आपका कोई रिश्ता नहीं रहेगा । हम वैश्य बन जायेंगे और तुम नाई ।

जहाँ तक हम सोच सकते हैं; इस जातिवाद और कुलवादने जैनधर्मकी बहुत हानि की है । यह ज्ञान मदसे भी बड़ा है । ज्ञानमद तो पढ़े-लिखोंमे ही होता है और खासकर गद्दीपर बैठनेपर तो कहना ही क्या है ? परन्तु यह जातिवाद और कुलवाद व्यक्ति-व्यक्तिके जीवनमें घुसा हुआ है । हमने बहुत अवसर खोया और खोते जा रहे हैं । हम नही जानते कि हमे अपने मूलरूपमे आनेका फिर कभी अवसर आयेगा या नहीं ?

हम पहिले सम्यग्दर्शनके आठ अंगोंका उल्लेख कर आये है । उनमें एक स्थितिकरण अंग है । इसका आशय यह है कि व्यक्तिके जीवनमें किसी प्रकारकी चूक रहनेपर भी केवल इस कारण उसे अपनेसे जुदा नहीं करना चाहिये । परंनु हम देखते है कि वर्तमानमें पूरा समाज उसकी महत्ताको भूल गया है । इस कारण हमने खोया बहुत, पाया कुछ भी नही । और अब स्थिति यह है कि कोई किसीकी सुनता ही नही है । आज हम जिनसे कुछ सीखनेकी आशा करते है, वे हमसे भी बदतर होते जा रहे हैं । शुद्धिके नामपर आहारादिको निमित्त कर कहीं किसी का बहिष्कार करनेके लिये प्रोत्साहन दिया जाता है और कहीं अन्य किसीका बहिष्कार करनेके लिये प्रोत्साहन दिया जाता है ।

इसी तरह एक अंगका नाम वात्सल्य भी है । पुराने लोगोंमें इसके कुछ चिह्न दिखायी देते थे । अब कोई किसीको पूछता ही नही है । परस्पर पुण्य-पापका नाम लेकर टीका-टिप्पणी अवश्य करेंगे । पर कोई किसीकी संभाल करनेको तैयार नहीं दिखायी देता । इसके बाद भी अपनेको परम धर्मात्मा और पुण्यात्मा माननेसे नही हिचकिचाते । वे विचारे नहीं जानते कि वात्सल्यका क्या अर्थ है ? यह हमें बोहरे व पारसियोंसे सीखना चाहिये ।

आ० कुंदकुंदने चारित्रके दो भेद लिखे हैं—सम्यक्त्वाचरण चारित्र और संयमाचरण चारित्र । संयमाचरण चारित्रके सम्बन्धमें हम पहिले उल्लेख कर आये हैं । सम्यक्त्वाचरण चारित्र संयमाचरण चारित्रके पूर्व की अवस्था है । इसमे सात व्यसनोंका त्याग और आठ मूलगुणोंको स्वीकार करना मुख्य है । जो देव-शास्त्र-गुरु की उपासनापूर्वक उक्त व्रतोंको स्वीकार कर लेता है, उसे ही सम्यक्त्वाचरण चारित्रका अधिकारी माना गया है । प्रत्येक गृहस्थके जीवनमें इन नियमोंका होना आवश्यक है । इससे प्रत्येक व्यक्तिका जीवन तो संस्कारी बनता ही है, अपने परिवारको और समाजको भी संस्कारी बनानेमे सहायता मिलती है । जैसे खराद पर रखे हुये मणिमें चमक आती है, उसी प्रकार उक्त नियमोंके पालन करनेसे व्यक्तिके जीवनमें विशेषता परिलक्षित होने लगती है । सामान्यतः यह जैन जीवन है । जैनधर्मका सार भी इसे ही कहा जा सकता है ।

•

हिंसा और अहिंसा

"प्रमत्त योगात् प्राणव्यपरोपणं हिसा" इस सूत्रमें प्रमत्तयोगसे प्राणोंको विनाश करनेको हिंसा बतलाया है। इससे ज्ञात होता है कि यद्यपि प्राणोंका विनाश करना हिंसा है, पर वह प्रमत्तयोगसे किया हुआ होना चाहिए। जो प्राणोंका विनाश प्रमत्त योगसे अर्थात् राग-द्वेष रूप प्रवृत्तिके कारण होता है वह तो हिंसा है शेष नही, यह इस सूत्रका तात्पर्य है। यहाँ प्रमत्त योग कारण है और प्राणोंका विनाश कार्य है। आगममें प्राण दो तरहके बतलाये है—द्रव्य प्राण और भाव प्राण। प्रमत्तयोगके होनेपर द्रव्यप्राणोंका विनाश होता ही है ऐसा कोई नियम नही है, हिंसाके अन्य निमित्त मिल जानेपर द्रव्यप्राणोंका विनाश होता भी है और नही मिलनेपर नहीं भी होता है। इसी प्रकार कभी-कभी प्रमत्तयोगके नहीं रहने पर भी द्रव्यप्राणोंका विनाश देखा जाता है। उदाहरणार्थ—साधु ईर्यासमितिपूर्वक गमन करते है। उनके रंचमात्र भी प्रमत्त योग नहीं होता, तथापि कदाचित् गमन करनेके मार्गमे अचानक क्षुद्र जन्तु आकर और पैरसे दबकर मर जाता है। यहाँ प्रमत्तयोगके नही रहनेपर भी प्राण व्यपरोपण है, इसलिए मुख्यतया प्रमत्तयोगसे जो भाव प्राणोंका विनाश होता है वह हिंसा है, ऐसा यहाँ तात्पर्य समझना चाहिए।

हिंसाका मथितार्थ

जैन आगममें हिसा विकारका पर्यायवाची माना गया है। जीवनमें जो भी विकार विद्यमान है उससे प्रतिक्षण आत्मगुणोंका ह्रास हो रहा है। वह विकारभाव कभी-कभी भीतर ही भीतर काम करता रहता है और कभी-कभी बाहर प्रस्फुटित होकर उसका काम दिखाई देने लगता है। किसी पर क्रोध करना, उसको मारनेके लिए उद्यत होना, गाली देना, अपमान करना, झूठा लांछन लगाना, सन्मार्गके विरुद्ध साधनोंको जुटाना आदि उस विकारके बाहरी रूप है और आत्मोन्नति या आत्मोन्नतिके साधनोंसे विमुख होकर राग-द्वेष रूप परिणतिका होना, उसका आभ्यान्तर रूप है। ऐसे विकार भावसे आत्मगुणोंका हनन होता है, इसलिए तत्त्वतः इसीका नाम हिंसा है।

मुख्यतया प्रत्येककी दृष्टि अपने जीवनके संशोधनकी न होकर बाहरकी ओर जाती है। वह इतना ही विचार करता है कि मैंने अन्य जीवोंपर दया की, उन्हें नही मारा तो मेरे द्वारा अहिंसाका पालन हो गया। वह अपने जीवनका रंचमात्र भी संशोधन नही करता, भीतर छिपे हुए विकारभावको नही देखता। इससे वह हिंसाको करते हुए भी अपनेको अहिंसक समझ बैठता है। जगत्में जो विशृंखलता फैली हुई है वह इसका प्राजल उदाहरण है। तत्त्वतः भूल कहाँ हो रही है उसकी खोज होनी चाहिए। इसके बिना हिंसासे अपनी रक्षा नही हो सकती और न अहिंसाका मर्म ही समझमे आ सकता है।

जीवनकी सबसे बड़ी भूल ही हिंसाका कारण है

मनुष्यके जीवनमे यह सबसे बड़ी भूल है, जिसमे वह ऐसा मान बैठा है कि दूसरेका हिताहित करना मेरे हाथमें है। जिसने जितने अधिक बाहरी साधनोंका संचय कर लिया है वह उतना अधिक अपनेको शक्तिमान् अनुभव करता है। साम्राज्य-लिप्सा, पूँजीवाद, वर्गवाद और संस्थावाद इसका परिणाम है। ईश्वरवादको इसी मनोवृत्तिने जन्म दिया है। जगत्मे बाहरी विषमताका बीज यही है। अतीत कालमें जो संघर्ष हुए या वर्तमानमे जो भी संघर्ष हो रहे हैं उन सबका कारण यही है। जब मनुष्य अपने जीवनमें इस तत्त्वज्ञानको

स्वीकार कर लेता है कि अन्यसे अन्यका हित या अहित होता है तब उसकी अंतर्मुखी दृष्टि फिर कर बहिर्मुखी हो जाती है। वह बाह्य साधनोंके जुटानेमें लग जाता है, उनके जुटानेमें सफल होनेपर उसे अपनी सफलता मानता है। जीवनमें बाह्य साधनोंको स्थान नहीं है यह बात नहीं है किन्तु इसकी एक मर्यादा है। दृष्टिको अन्तर्मुखी रखते हुए अपने जीवनकी कमजोरीके अनुसार बाह्य साधनोंका आलम्बन लेना एक बात है किन्तु इसके विपरीत बाह्य साधनोंको ही सब कुछ मान बैठना दूसरी बात है।

तत्त्वतः प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र और अपनेमे परिपूर्ण है। उसमे जो भी परिवर्तन होता है वह उसकी अपूर्णताका द्योतक न होकर उसकी योग्यतानुसार ही होता है, इसलिए किसी भी पदार्थको शक्तिका संचय करनेके लिए किसी दूसरे पदार्थकी आवश्यकता नही लेनी पड़ती। निमित्त इतना बलवान नही होता कि वह अन्य द्रव्यमें कुछ निकाल दे या उसमें कुछ मिला दे। द्रव्यमे न कुछ आता है और न उसमेसे कुछ जाता ही है। अनन्तकाल पहले जिस द्रव्यका जो स्वरूप था आज भी वह जहाँका तहाँ और आगामी कालमे भी वह वैसा ही बना रहेगा। केवल पर्याय क्रमसे बदलना उसका स्वभाव है, इसलिए इतना परिवर्तन इसमें होता रहता है। माना कि यह परिवर्तन सर्वथा अनिमित्तक नहीं होता है, किन्तु इसका यह भी अर्थ नही कि निमित्ताधीन होता है। जैसे वस्तुकी कार्यमर्यादा निश्चित है, वैसे सब प्रकारके निमित्तोंकी कार्यमर्यादा निश्चित नही। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालद्रव्य और आकाशद्रव्य—ये ऐसे निमित्त है जो सदा एक रूपमे कार्यके प्रति निमित्त होते हैं। धर्मद्रव्य सदा गतिमे निमित्त होता है। अधर्मद्रव्य स्थितिमे निमित्त होता है। कालद्रव्य प्रति समयकी होनेवाली पर्यायमें निमित्त होता है और आकाश द्रव्य अवगाहनामे निमित्त होता है। इन द्रव्योंके निमित्तत्वकी यह योग्यता नियत है। इसमे त्रिकालमे भी अन्तर नही आता। इन द्रव्योका अस्तित्व भी इसी आधारपर माना गया है। किन्तु इनके सिवा प्रत्येक कार्यके प्रति जो जुदे-जुदे निमित्त माने गये है, वे पदार्थके स्वभावगत कार्यके अनुसार ही निमित्त कारण होते है। वे अमुक ढंगसे कार्यके प्रति निमित्त है ऐसी व्यवस्था उनकी निश्चित नही है। उदाहरणार्थ एक युवती एक ही समयमें साधुके लिए वैराग्यके होनेमे निमित्त होती है और रागीके लिए रागके होनेमें निमित्त होती है। इसका यही अर्थ है कि जिस पदार्थकी जिस कालमे जिस प्रकारके स्वभावगत कार्यमर्यादा होती है, उसीके अनुसार अन्य पदार्थ उसके होनेमें निमित्त कारण होता है। इसलिए जीवनमें निमित्तका स्थान होकर भी वस्तुकी परिणतिको उसके आधीन नही माना जा सकता। यह तात्त्विक मीमासा है, जिसका सम्यग्दर्शन न होनेके कारण ही जीवनमे ऐसी भूल होती है जिससे यह दूसरेके बिगाड-बनावका कर्त्ता अपनेको मानता है और बाह्य साधनोंके जुटानेमे जुटा रहता है। तात्त्विक दृष्टिसे विचार करनेपर इस परिणतिका नाम ही हिंसा है। हमे जगत्मे जो विविध प्रकारकी कषाय-मूलक वृत्तियाँ दिखलाई देती है वे सब इनके परिणाम हैं। जगत्की अशान्ति और अव्यवस्थाका भी यही कारण है। एक बार जीवनमे भौतिक साधनोंने प्रभुता पाई कि वह बढती ही जाती है। धर्म और धर्मायतनोंमें भी इसका साम्राज्य दिखलाई देने लगा है।

अधिकतर पढ़े-लिखे या त्यागी लोगोंका मत है कि वर्तमानमे जैनधर्मका अनुयायी राजा न होनेके कारण अहिंसा धर्मकी उन्नति नही हो रही है। मालूम पड़ता है कि उनका यह मत आन्तरिक विकारका ही द्योतक है। तीर्थंकरोंका शारीरिक बल ही सर्वाधिक माना गया है, किन्तु उन्होंने स्वयं अपने जीवनमें ऐसी असत्कल्पना नहीं की थी और न वे शारीरिक बल या भौतिक बलके सहारे धर्मका प्रचार करनेके लिए उद्यत ही हुए थे। भौतिक साधनोंके प्रयोग द्वारा किसीके जीवनकी शुद्धि हो सकती है यह त्रिकालमे भी सम्भव नहीं है। उन्मादसे उन्मादकी ही वृद्धि होती है। यह भौतिक साधनोंका उन्माद ही अधर्म है। इससे आत्माकी निर्मलताका लोप होता है और वह इन साधनोंके बलपर संसारपर छा जाना चाहता है। उत्तरोत्तर उसकी

महत्वाकांक्षाएँ बढ़ती जाती है जिससे संसारमें एकमात्र घृणा और द्वेषका ही प्रचार होता है। वर्तमान कालमें जो विविध प्रकारके वाद दिखलाई देते हैं वे इसीके परिणाम हैं। संसारने भीतरसे अपनी दृष्टि फेर ली है। सब बाहरकी ओर देखने लगे है। जीवनकी एक भूलसे कितना बड़ा अनर्थ हो रहा है यह समझने और अनुभव करनेकी वस्तु है। यही वह भूल है जिसके कारण हिंसा पनपकर फूल-फल रही है।

हिंसाके भेद व उसके कारण

शास्त्रकारोंने इस हिंसाके दो भेद किये हैं—भावहिंसा और द्रव्यहिंसा। भावहिंसा वही है जिसका हम ऊपर निर्देश कर आये है। द्रव्यहिंसामे अन्य जीवका विघात लिया गया है। यह भावहिंसाका फल है इसलिए इसे हिंसा कहा गया है। कदाचित् भावहिंसाके अभावमें भी द्रव्यहिंसा होती हुई देखी जाती है, पर उसकी परिगणना हिंसाकी कोटिमे नही की जाती है। हिंसाका ठीक अर्थ आत्म-परिणामोंकी कलुषता ही है। कदाचित् कोई जड पदार्थको अपकारी मानकर उसके विनाशका भाव करता है और उसके निमित्तसे वह नष्ट भी हो जाता है, वहाँ यद्यपि किसी अन्य जीवके द्रव्यप्राणोंका नाश नही हुआ है तो भी जड़-पदार्थको छिन्न-भिन्न करनेमे निमित्त होनेवाला व्यक्ति हिंसक ही माना जायगा, क्योंकि ऐसे भावोंमे जो उसके आत्माकी हानि होती है, उसीका नाम हिंसा है।

संसारी जीवके कषायमूलक दो प्रकारके भाव होते है—रागरूप और द्वेषरूप। इनमेंसे द्वेषमूलक जितने भी भाव होते है उन सबकी परिगणना हिंसामेकी जाती है। कदाचित् ऐसा होता है, जहाँ विद्वेषकी ज्वाला भड़क उठनेका भय रहता है। ऐसे स्थलपर उपेक्षाभावके धारण करनेकी शिक्षा दी गयी है। उदाहरणार्थ—कोई व्यक्ति अपनी स्त्री, भगिनी, माता या कन्याका अपहरण करता है या धर्मायतनका ध्वंस करता है तो बहुत सम्भव है कि ऐसा करने वाले व्यक्तिके प्रति विद्वेषभाव हो जाय। किन्तु ऐसे समयमे स्त्री आदि की रक्षाका भाव होना चाहिए, उसे मारनेका नही। हो सकता है कि रक्षा करते समय उस व्यक्तिकी मृत्यु हो जाय। यदि रक्षाका भाव हुआ तो वही आपेक्षिक अहिंसा है और मारनेका भाव हुआ तो वही हिंसा है। मुख्यतया ऐसी हिंसाको ही संकल्पी हिंसा कहते है। कही-कही यह हिंसा अन्य कारणोंसे भी होती है जैसे शिकार खेलना आदि। सो इसकी परिगणना भी संकल्पी हिंसामें होती है। संकल्पी हिंसा उसका नाम है जो इरादतन की जाती है। कसाई आदि जो भी हिंसा करते है उसे भी इसी कोटिकी हिंसा समझना चाहिये, मानाकि उनकी यह आजीविका है पर गाय आदिको मारते समय हिंसाका संकल्प किये बिना वध नही हो सकता, इसलिये वह संकल्पी हिंसा है। आरम्भी और संकल्पीहिंसामें इतना अन्तर है कि आरम्भमे गृह निर्माण करना, रसोई बनाना, खेती बाडी करना आदि कार्यकी मुख्यता रहती है। ऐसा करते हुए जीव मरते है अवश्य, पर इसमे सीधा जीवनको नही मारा जाता, पर संकल्पमे जीव-वधकी मुख्यता रहती है। यहाँ कार्यका श्रीगणेश जीव वधसे ही होता है।

रागभाव दो प्रकारका माना गया है—प्रशस्त और अप्रशस्त। जीवन शुद्धिके निमित्तभूत पदार्थोंमें राग करना प्रशस्त राग है और शेष अप्रशस्त राग है। है तो यह दोनों प्रकारका रागभाव हिंसा ही, परन्तु जब तक रागभाव नही छूटा है तब तक अप्रशस्त रागसे प्रशस्त रागमे रहना उत्तम माना गया है। इसीसे शास्त्रकारोंने दान देना, पूजा करना, जिन मन्दिर बनवाना, पाठशाला खोलना, उपदेश करना, देशकी उन्नति करना आदि कार्योंका उपदेश दिया है।

जीवनमे जिसने पूर्ण स्वावलम्बनको उतारनेकी अर्थात् मुनि धर्मकी दीक्षा ली है, उसे बुद्धिपूर्वक सब प्रकारके रागद्वेषके त्याग करनेका विधान है। क्योकि बुद्धिपूर्वक किसी भी प्रकारका रागद्वेष बना रहना जीवन

की बड़ी भारी कमजोरी है। इस दृष्टिसे तो सब प्रकारके विकार भावहिंसा ही माने गये हैं। यही कारण है कि मुनिको सब प्रकारकी प्रवृत्तिके अन्तमें प्रायश्चित करना पड़ता है। किन्तु गृहस्थकी स्थिति इससे भिन्न है। उसका अधिकतर जीवन प्रवृत्तिमूलक ही व्यतीत होता है। वह जीवनकी कमजोरीको घटाना चाहता है। जो कमजोरी शेष है उसे बुरा भी मानता है, पर कमजोरीका पूर्णतः त्याग करनेमे असमर्थ रहता है, इसलिये वह जितनी कमजोरीके त्यागकी प्रतिज्ञा करता है उतनी उसके अहिंसा मानी गयी है और जो कमजोरी शेष है वह हिंसा मानी गई है। किन्तु यह हिंसा व्यवहारमूलक ही होती है, अतः इससे इसका निषेध नही किया गया है। पहले जिस आपेक्षिक अहिसाकी या आरम्भजन्य हिंसाकी हम चर्चा कर आये हैं वह गृहस्थकी इसी वृत्तिका परिणाम है, यह हिंसा संकल्पी हिंसाकी कोटिको नही मानी गयी है।

अहिंसाके ऊपर किये गये आपेक्षका निषेध

कुछ लोग हिन्दुस्तानकी परतन्त्रताका मुख्य कारण बौद्ध और जैनोंकी अहिंसाको बतलाते है। भा० वा० सन्त सा० लिखते है कि—"आज यदि संसारकी प्रवृत्तिका स्थूल रूपसे अवलोकन किया जावे तो बौद्ध और जैन लोगो के द्वारा मानी हुई अहिंसाको कही भी स्थान नही मिल सकता है यह स्वीकार करनेमे कुछ भी आपत्ति नही मालूम पडती है। प्रसंग आनेपर समरागणमें अपने शत्रु के साथ युद्ध करते हुए अपने देश और धर्मकी रक्षा करने के लिए यदि हजारों मनुष्योंकी हिंसा हुई तो भी वह क्षात्र धर्मके विरुद्ध नही है। जबतक क्षत्रिय और वीर जातियोंकी ऐसी कल्पना थी तबतक विदेशी लोगोंके द्वारा अपने देशके ऊपर आक्रमण होनेपर अपने देशके वीर लोग उनके साथ युद्ध करके जय संपादन करते थ, इतना ही नही यदि आपसमे वैमनस्य भी हुआ तो भी देशके ऊपर आपत्ति आनेपर वे लोग वैमनस्यको भूलकर देशका रक्षण करते थे। परन्तु जैसे-जैसे बौद्धधर्मका प्रसार बढता गया वैसे-वैसे क्षत्रिय और दूसरी जातियोंकी वीरवृत्ति कम होती गई और उसका यह परिणाम हुआ कि अशोकादिक राजाओंके द्वारा अहिंसाकी घोषणा सम्पूर्ण देशोंमें करनेपर शत्रुओंके साथ लड़ते हुए हिन्दू राजाओंका एकसरीखा पराभव होता गया जिसके परिणाम स्वरूप सम्पूर्ण देश परतन्त्र हो गया। अपनी खुशी· से स्वीकार किये हुए इस निःशस्त्रीकरणके लिये जैनधर्मका प्रसार भी कारण हुआ। परमेश्वरने मनुष्यके शरीरमे जो तामसवृत्ति निर्माणकी है उसका योग्य प्रमाणमें और योग्य समयके ऊपर यदि उपयोग नही किया तो तामसी जगतमे आत्मसंरक्षण करना अत्यन्त कठिन हो जायगा।"

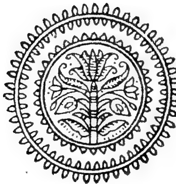
इस प्रकार श्री सन्तके लिखे हुए लेखका अच्छी तरहसे मनन करनेपर यह निष्कर्ष निकलता है कि हिन्दुस्तानकी परतन्त्रताका और कायरताका कारण जैनधर्म द्वारा स्वीकार की हुई अहिंसा भी है। उनके मतसे अहिंसा और कायरतामे कुछ भी अन्तर नहीं मालूम पडता है। यदि एक मनुष्य आपत्तिके समय किसी दूसरे मनुष्यकी रक्षा करता है अथवा वह विना कारण किसीको संकटमें नहीं डालता है तो उनके मतसे वह सबसे बडी भयंकर कायरता करता है। यदि श्री सन्त सा० का लिखनेका यह अभिप्राय न होकर किसीके विना कारण अपने देशके ऊपर आक्रमण करनेपर स्वतःके और देशके रक्षण करनेके लिये हमें घोरतम हिंसा भी करनी पड़े तो भी वह क्षम्य है यह हो तो इससे जैनधर्मके अहिंसातत्त्वका ही समर्थन होता है। जैनधर्ममे अहिंसाका प्रतिपादन करते हुए यही तत्त्व आगे रक्खा गया है—इसमे आत्मसंरक्षण भी होता है और बिना कारण दूसरेकी हानि भी नही होती है। परन्तु सन्त सा०का इस साधारणसे तत्त्वके ऊपर ध्यान नही गया हो यह बात नही, परन्तु उनके इस आक्षेपका अर्थ अपने पड़ोसीके ऊपर दोषारोपण करनेके अतिरिक्त और कुछ भी नही कहा जा सकता है। यदि वे निष्पक्षताके साथ अपने देशके पूर्वेतिहासका निरीक्षण करें तो यह सिद्ध करनेमें थोड़ी भी

कठिनता नही हो सकती है कि हमारे देशके पतन और परतन्त्रताका कारण अहिंसा न होकर कुछ देशद्रोही जयचन्द सरीखे मनुष्योंकी काली करतूत ही है। इस काममे संस्कृतिके संघर्ष और ईश्वरवादने भी बहुत कुछ मदद की है। जिस संस्कृतिने "मूर्ख यह प्राणी अपने सुख और दुःखका स्वामी न होकर उसके सुख और दुःखका स्वामित्व ईश्वरकी मर्जीके ऊपर है" इस सिद्धान्तकी घोषणा की और संसारको उसीका पाठ पढ़ाया। लेखक महाशय उस संस्कृतिको तो आँखें मीचकर स्वीकार करते है परन्तु विकारी भावोंका विश्लेषण करके तात्त्विक आत्मवृत्तिकी द्योतक स्वतन्त्रारूप अहिंसाके ऊपर इस पापके घड़ेके फोड़नेका व्यर्थ ही असफल प्रयत्न करते हैं। फिर भी यह निर्विवाद सत्य है कि जैनधर्मकी अहिंसा यदि उसका पालन करनेवाला विजेता हो तभी उसको अहिंसककी कोटिमें स्वीकार करती है उसे परचक्रका आक्रमण थोड़ा भी सहन नही होता है। परचक्रका अस्तित्व और अहिंसकभाव इन दोनो विरोधी तत्त्वोंके लिये जैनधर्ममें प्रतिपादनकी हुई अहिंसामे स्थान नही है जो कायर होकर दूसरेकी स्वाधीनता स्वीकार करता है वह अपने विरोधी शत्रुओंको कैसे जीत सकता है, इसके लिए तो उसे पूर्ण स्वतन्त्रताका भोक्ता ही होना पड़ेगा। हाँ! यह सत्य है कि जैनधर्मकी अहिंसा शत्रुके ऊपर विजय तामसिक वृत्तिसे न स्वीकार करके पूर्ण सात्त्विक वृत्तिसे संपादन करनेका पाठ पढाती है। उसका यह सबसे प्रथम पाठ है कि तुम अपने विकारी स्वार्थोकी पुष्टिके लिए दूसरोंके ऊपर आक्रमण न करके विकारी स्वार्थोके नाश करनेके लिए दूसरोंके ऊपर आक्रमण करके विजय संपादन करो। ऐसा करते हुए कभी-कभी अपने आत्मीयजनोंके साथ भी विरोध करना पड़ता है, परन्तु वहाँपर भी हमे अपने आत्मीयजनोंको भूलकर विकारी भावोंको ही अपने विरोधका लक्ष्य बनाना चाहिए। इस तरह यदि पूर्ण सात्विकभावोंसे विरोधी शक्तिके साथ संघर्ष करते हुए हम व्यवहारी जगत्में एक बार असफल हुए भी दीखें तो भी हमारी उस असफलतामे ही सफलताका तत्त्व छिपा हुआ है, यह बात संसारके किसी भी न्याय्य-युद्धमे सिद्धकी जा सकती है।

जैनधर्मकी अहिंसाकी इस प्रकार तात्त्विक भूमिका होनेपर भी हमे संत सा० के इस आक्षेपका कि "जैनधर्मकी अहिंसा देशकी पराधीनताका कारण हुई" उत्तर उसके व्यवहारी रूपको सामने रख कर दे देना और भी उचित प्रतीत होता है। कारण किसी भी सिद्धान्तके कितने ही सुन्दर होनेपर उसके अनुयायी यदि उसका उचित पालन न करके विकृत तत्त्वको स्वीकार करले तो उससे लाभके स्थानमे हानिकी अधिक सभावना रहती है। परन्तु इस प्रश्नके उत्तरके लिए हमे अतीत भारतको सम्पन्न भारत और आपत्तिग्रस्त भारत—इस प्रकार दो अवस्थाओंमे विभाजित करना होगा। सम्पन्न भारतसे मतलब स्वशासित भारतसे है और आपत्तिग्रस्त भारतसे मतलब परशासित अथवा दूसरे देशोंमें उत्पन्न हुई संस्कृतिके द्वारा शासित भारतमे है। इनमेसे भारत जिस समय स्वशासित था उस समय हिन्दुस्तानमें उत्पन्न हुई दूसरी संस्कृतियाँ इस देशके वैभवको बढाने मे जितनी कारण हुई उससे कहीं अधिक जैन संस्कृति इस देशकी अभिवृद्धिका कारण हुई। स्वशासित भारतमे दूसरी संस्कृतियोंके लाछनरूप कारनामे जिस प्रकार प्रकट किये जा सकते है वह बात जैन संस्कृतिमे ढूंढनेको भी नही मिल सकती है। इसकी आध्यात्मिक भूमिका स्वतन्त्र होते हुए भी अपनी संस्कृति की रक्षाके लिये इसने दूसरी संस्कृतियोके ऊपर कभी भी आक्रमण नहीं किया। परन्तु यह बात दूसरोंके सम्बन्धमे नही कही जा सकती है इसके लिये साक्षी इतिहास है। रह गई आपत्ति ग्रस्त भारतकी बात सो हमारे देशके ऊपर आपत्ति कैसे आई उसमे हाथ किसका था इस बातका यदि सन्त सा० विचार करें तो उन्हें जैनधर्मकी अहिंसाके ऊपर आक्षेप करनेके लिये स्थान ही नहीं रहता है। आज ऐसे भी ऐतिहासिक प्रमाण मौजूद हैं जिनसे यह सिद्ध किया जा सकता है कि जैनेतर संस्कृति-में उत्पन्न हुए और उसीके अभिमानी मनुष्य जिस समय हिन्दुत्वकी विरोधी संस्कृतिका सब तरहसे सहायता

कर रहे थे उसी समय जैन संस्कृतिमें उत्पन्न हुए और उसीके अभिमानी नरश्रेष्ठ केवल जैन संस्कृतिके लिये नहीं किन्तु अपनी पड़ोसिनी दूसरी संस्कृतियोंकी रक्षाके लिये भी सहायक हुए। सहायक हुए इतना ही नहीं उनके सत्प्रयत्न और सर्वस्व अर्पण करनेसे उनकी रक्षा हुई। रह गई बौद्धोंके अहिंसाके ऊपर आक्षेप करनेकी बात सो इसका बौद्धधर्मानुयायी जितना उचित उत्तर दे सकते हैं उतना यद्यपि मैं नहीं दे सकता हूँ। फिर भी अपने देशकी पूर्व परंपराका अध्ययन करनेसे इतना हम भी लिख सकते हैं कि हमारे देशमें एक ऐसा वर्ग था जो बौद्ध संस्कृतिके नाश करनेके लिये जी जानसे प्रयत्न करता रहा। जिससे देशकी संपूर्ण शक्ति गृहकलहमें बट जानेके कारण ही भारतको परतन्त्रताके दिन देखने पड़े। रह गई उनकी अहिंसासे कायरताकी बात सो इसके लिये हम सन्त सा०को जापानकी याद दिला देना ही पर्याप्त समझते हैं। संभव है सन्त सा० जापानके बढ़ते हुए वैभव और कीर्तिका स्मरण करके व्यर्थ ही अहिंसाके ऊपर संस्कृति भेदसे उत्पन्न हुई अपनी मानसिक कलुषताको नहीं प्रकट करेंगे।





विश्वशान्ति और अपरिग्रहवाद

अहिंसा और विश्व

शान्तिवादियोंके भारतमें दो दो सम्मेलन हुए—एक शान्ति निकेतनमें और दूसरा सेवाग्राममें। ये दोनों स्थान इस युगके दो महापुरुषोंकी साधनाभूमि रहे हैं। कवीन्द्र-रवीन्द्र और महात्मा गांधीने अपने लोकोत्तर कार्यों द्वारा भारतका सिर तो विश्वमें ऊँचा किया ही पर विश्वको भी जीवन और जगत्के सम्बन्धमें नई दृष्टि दी। खास कर गांधीजी की अहिंसाका मानव जाति पर अमिट प्रभाव पडा है। और अधिकाश विचारक अब यह मानने लगे हैं कि अहिंसाके द्वारा प्रत्येक मानवीय समस्याका शान्तिपूर्ण हल किया जा सकता है। अहिंसा एक विधायक शक्ति है और विश्वका विचारक बहुभाग उसके प्रयोग और परीक्षणमें लगा हुआ है। यह होते हुए भी बहुतसे विचारकोंका अहिंसामें जरा भी विश्वास नही है। भारतने अहिंसक उपायोंसे जो स्वतन्त्रता प्राप्त की वह विश्व इतिहासकी अभूतपूर्व घटना है, पर उसका विश्वकी राजनीति पर उतना प्रभाव नही पड़ा जितनी आशा की जाती थी। भारतको स्वतन्त्रता मिलनेके बाद जो घटनाएं घट रही हैं और जिस ढंगपर कल्पित तीसरे युद्धकी तैयारीमें विभिन्न देश लगे हुए हैं, उससे स्पष्ट है कि अहिंसाका ठीक मर्म अभी जनताके हृदयमें नही पैठ सका है।

अन्तर्राष्ट्रीय दलबन्दी

वर्तमान विश्व दो बडे गुटोंमें विभाजित है—एक अमेरिकन गुट जो पूंजीका प्रतिनिधि है और दूसरा रूस जो श्रमका प्रतिनिधि है। इसे श्रम और पूंजीकी प्रतिद्वन्द्वता कहना अधिक उपयुक्त होगा। जीवनमें विशेष स्थान पूँजीका है या श्रमका यही मुख्य विवादका विषय है। अमेरिकन गुट पूँजीको प्रथम स्थान देना चाहता है और रूस श्रमको, यही इन दोनोंके बीचका झगड़ा है। यह लड़ाई विश्वके कोने-कोनेमें फैलती जा रही है। अमेरिकाके पक्षमें विश्वकी अधिकतर सरकारें, पूँजीपति और वे साम्प्रदायिक संस्थाएँ हैं जिनका निर्माण और विकास मुख्यतया पूँजीवादी तत्त्वोंके आधार पर हुआ है। तथा रूसके पक्षमें किसान, मजदूर और मध्यम वर्गकी जनता है। अब तो कुछ देशोंकी सरकारें भी रूसका साथ देने लगी हैं। चीनके कम्युनिस्ट देश हो जानेके बाद तो रूसका बल विशेषरूपसे बढ़ा है। इस स्थितिको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि उत्तरोत्तर पूँजीकी ताकत घटनेके साथ श्रमकी शक्ति बढ़ रही है। आम जनता पूँजीकी अपेक्षा श्रमको विशेष महत्त्व देने लगी है।

पूँजीवादकी हार

पिछला विश्वयुद्ध पूँजी और श्रमके बीच न हो सका। हिटलर रूस पर चढ़ाई करनेके बाद उसे यह रूप देना चाहता था, किन्तु उस समय ब्रिटेन और उसके साथी देशोंने इस ओर दुर्लक्ष्य किया, नहीं तो उस समय पूँजीके आगे श्रमको झुकना ही पड़ता। रूसको पंगु बनानेका वही समय था। उस समय ब्रिटेनके सामने झूठी प्रतिष्ठाका लोभ और उठती हुई नई ताकतका भय था, इसलिए उसने हिटलरका विश्वास न कर रूसका साथ देना ही उचित समझा। इससे जर्मनी हार तो गया पर इसे उसकी हार न मान कर पूंजीवादकी ही हार कहनी पड़ती है। पूंजीवादकी यह ऐसी हार है जो सम्भवतः कभी भी जीतमें परिणत नही की जा सकती।

पूंजीवादी मनोवृत्ति

पूंजीवादी मनोवृत्ति किसीका विश्वास नहीं करती। गत युद्धसे यह दोष स्पष्ट रूपसे लक्ष्यमें आ रहा है। हिटलर जर्मनीकी ताकत इसलिये बढ़ाना चाहता था कि जिससे वह भी मित्र राष्ट्रों की तरह दूसरे देशोंका शोषण कर सके। सन्धि और समझौतेसे जब यह कार्य सम्पन्न नहीं किया जा सका तब उसने युद्धका सहारा लिया। वस्तुत. उसकी इच्छा ब्रिटेनको उतना पंगु बनानेकी नही थी, जितना कि वह अपने पड़ौसी रूससे डरता था। ब्रिटेन और अमेरिका इससे उचित लाभ नहीं उठा सके और इसलिये पूंजीकी ताकत श्रमकी ताकतसे उत्तरोत्तर घटती गई।

भारतकी प्राचीन युद्ध परम्परा

इतिहाससे स्पष्ट है कि भारतमें युद्धोंमे विजय पानेके अर्थमूलक तीन आधार रहे हैं। राजा, धर्म और जातीयता। वैदिक कालसे ये तीनों शब्द अर्थ विशेषमें प्रयुक्त होते आये है। मनुस्मृतिके अनुसार राजा ईश्वरका अंश होनेसे प्रभुसत्ताका पर्यायवाची है, धर्म अर्थमूलक समाज व्यवस्थाका प्रतिनिधि होनेसे वर्गप्रभुत्व-का पर्यायवाची है और जातीयताका अर्थ उच्चत्व तथा नीचत्वके आधारसे वर्गोंको स्थायीरूप प्रदान करना है। ईश्वरवाद तो इस व्यवस्थाका पोषक रहा ही है। किन्तु उन समस्याओंको जो ईश्वरवादके मानने पर उठ खड़ी होती है, कर्मवादसे सुलझानेका प्रयन्न किया गया है। वर्णाश्रम धर्मको अधिकतर लडाईयोंमें जय इसी आधारपर मिली है। किन्तु दूसरे देशोसे सम्पर्क बढनेके बाद भारतवर्षकी स्थितिमे अन्तर आया है। अब ईश्वरवाद और जातिवादका समाजमे को. स्थान नहीं रहा है। इनका स्थान एकमात्र पूंजीने ले लिया है। पूंजीकी श्रमके साथ जो लड़ाई पहले प्रच्छन्नरूपसे चल रही थी, वह अपने सब आवरणोंको समाप्त कर स्पष्ट-रूपसे दिखाई देने लगी है।

मार्क्सके संगठनका आधार

इस स्थितिको साफ करनेमे मार्क्सवाद ने बडी सहायता की है। मार्क्स विश्वकी समस्त घटनाओंको आर्थिक दृष्टिकोणसे देखता है। उसका कथन है कि समाजका मुख्य आधार आर्थिक व्यवस्था है। किसी समाजकी उन्नति और अवनतिका मूल कारण उसकी उन्नत और अवनत आर्थिक व्यवस्था ही होती है। समाजका आर्थिक और राजनैतिक ढाचा इसी आधार पर विकसित होता है। व्यक्तिके जीवनमे जो परिवर्तन दृष्टिगोचर होते है, उसका मुख्य कारण आर्थिक आधार ही है। मार्क्सका यह कथन इतिहासके अनुशीलनका परिणाम है। मार्क्सने समाज व्यवस्थाके पूजीवादी आर्थिक ढाँचेको बदलनेके लिए मात्र श्रमपर अधिक जोर ही नही दिया है, किन्तु उसके संग उनके उपाय भी प्रस्तुत किये है।

मुख्य प्रश्न

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस समय पूंजी और श्रमके आधारपर विश्व दो भागोंमे बँट गया है। पूंजीवाद और समाजवादके आगे शेष सब वाद फीके पड़ते जा रहे हैं। ईश्वरवादी प्रत्येक व्यवस्थामें ईश्वरकी दुहाई देनेका प्रयत्न करते हैं अवश्य, पर अब वे अनीश्वरवादियोंको नास्तिक कहनेका साहस नही करते। अब तो विश्वके विचारकोंके सामने यह मुख्य प्रश्न है कि विश्वमे सद्भाव और प्रेमका संचार कैसे हो? यद्यपि हम यह जानते हैं कि पूंजीवाद और समाजवादकी समस्याके ठीक तरहसे हल हुए बिना यह सब हो सकना असम्भव है। यदि विश्वमें हमें युद्ध विरोधी भूमिका तैयार करनी है तो सर्वप्रथम इन वादोंकी समस्या हल करनी होगी। हमे देखना होगा कि तत्त्वतः किस मार्गको स्वीकार करने पर विश्वशान्तिका मार्ग प्रशस्त हो सकता है।

मध्यम मार्ग पर अविश्वास

पूँजीवाद और समाजवादकी हमें यहाँ विस्तृत चर्चा नही करनी हैं। हमे तो उन उपायोंकी छानबीन करनी है जिसके आधारसे विश्वको इनकी ऐकान्तिक बुराईसे बचाया जा सके। प्रश्न यह है कि व्यक्तिको मर्यादित श्रमकी स्वतन्त्रताके साथ क्या उसी हद तक अर्थकी स्वतन्त्रता दी जा सकती है ? पण्डित जवाहरलाल नेहरू पूँजीवाद और समाजवाद इनमेंसे किसी एक के पक्षमे नही थे। मुख्यतया वे उत्तराधिकारमे प्राप्त महात्मा गांधीकी शिक्षाओंको कार्यान्वित करना चाहते थे। उनका कहना है कि यदि रोटी और कपड़ेका प्रश्न हल हो जाय और सबको शिक्षा, स्वास्थ्य और आमोद-प्रमोदके साधन जुटा दिये जाँय तो इन दोनोंकी बुराईसे विश्वकी रक्षा की जा सकती है। उन्होंने इन विचारोंको अनेक भाषणोंद्वारा व्यक्त किया है। यद्यपि पण्डितजीके ये विचार समझौतेकी भूमिका प्रस्तुत करते हैं अवश्य, पर दूसरी ओर इस कथन पर उतना विश्वास नहीं किया जाता। श्रमवादी तो इसे पूँजीवादके लिए खुली छूट मानते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि यह इस युगकी प्रधान समस्या है, जिसने इतना उग्ररूप धारण कर लिया है।

विश्व व्यवस्थामें व्यक्ति स्वातन्त्र्य प्रथम शर्त

साधारणतः यह जनमतका युग है। किसी भी देशकी आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था कैसी हो यह काम वहाँकी जनताके निश्चित करनेका है। इस युग में वे ही शिक्षायें विश्वकी शान्ति और सुव्यवस्थामें सहायक हो सकती है जो पूर्णत व्यक्ति-स्वातन्त्र्यकी पोषक होनेके साथ साथ व्यक्तिके वैयक्तिक और सामाजिक जीवनको ऊँचा उठानेमे सहायक हों। हमने विश्वके महापुरुषोंके जीवन और उनकी शिक्षाओं-का अध्ययन किया है। इस दृष्टिसे हमारा ध्यान श्रमण भगवान् महावीर पर विशेषरूपसे केन्द्रित हो जाता है। इन्होंने श्रम, शम और समके आधार पर जिन उदार तत्त्वोंको अपने जीवनमे उतारा था, उनकी विश्वको सदा आवश्यकता बनी रहेगी। उनका ठीक तरहसे प्रचार करनेपर न केवल विश्वमे शान्ति और सुव्यवस्थाके निर्माण करनेमे सहायता मिलेगी, अपितु व्यक्तिके चरित्र-निर्माणका मार्ग भी प्रशस्त होगा।

मूल प्रवृत्ति और राज्य

यहाँ सर्व प्रथम यह देखना है कि इन महापुरुषोंने संघर्षके मूलमें कौनसी बात देखी। विश्वमें संघर्ष क्यों पनपता है और मनुष्य मनुष्यका शत्रु क्यों बनता है ? यह तो निश्चित है कि विश्वका प्रत्येक प्राणी सुखकी कामना रखता है। उसका सारा श्रम, उद्योग और शक्ति इसी कामनाकी पूर्तिके लिए है। सर्वश्रेष्ठ चेतन होनेसे मनुष्यके उद्योग और साधन अधिक विकसित है। दर्शनमे उसके आध्यात्मिक सुखका विश्लेषण है और विज्ञानमें भौतिक सुखका अनुसन्धान। मनुष्य ही नही पशु-पक्षी और कीट पतंग भी अपने सुख-साधनका प्रयत्न करते रहते है। बाह्य संग्रहके मूलमे यही आत्म-सुखकी प्रवृत्ति काम करती है। परन्तु जिस तरह मनुष्यकी बुद्धि, शक्ति और सुखकी आकाक्षा विकसित है उसी प्रकार उसकी लालसा, साधन और संग्रहकी भावना भी प्रबल है। साधारण पशु-पक्षियोंकी जीवनवृत्तिके विश्लेषणसे यह बात स्पष्ट हो जाती है। उनमें यह प्रवृत्ति बहुत ही अल्प मात्रामे पाई जाती हैं। चींटी आदि कुछ ही प्राणी ऐसे है जिनमें इस प्रवृत्तिकी बहुलता देखी जाती हैं। शेष तिर्यंच अपने-अपने भोजनकी खोजमे निकलते है और उसके मिल जाने पर वे शान्त हो जाते है। फिर वे ऐसा कोई काम नही करते जिसे समाज-विरोधी कहा जा सके। किन्तु मनुष्योंमे यह संग्रह करनेकी प्रवृत्ति आवश्यकतासे अधिक पाई जाती है। ये जितनेकी आवश्यकता होती है उससे कहीं अधिकका संचय करते है और इनका यह काम समाज-विरोधी नहीं माना जाता, प्रत्युत इसके अनुकूल समाजने कुछ ऐसे नियमोंका निर्माण किया है जिनके विरुद्ध आचरण करनेवालेको समाज (राज्य) की ओर से कठोर दण्ड भोगना पड़ता है।

राज्यका विकास

साधारणत: प्रत्येक जीवधारीके लिए जीवन उद्धारके समान आजीविकाका प्रश्न अत्यन्त आवश्यक माना गया है। इस भावको व्यक्त करते हुए एक कविने कहा है—

कला बहत्तर पुरुषकी तामें दो सरदार।
एक जीवकी जीविका दुतिय जीव उद्धार॥

भौतिक शरीरके स्थायित्वके लिए आजीविका मुख्य है और आत्मोद्धारके लिए जीवन संशोधनकी कलामें अभिज्ञता प्राप्तकर तदनुकूल आचरण करना मुख्य है। प्राचीन नियम यह था कि मनुष्य एक ही मार्गसे आजीविका करे। समाजके संधारणके लिये इस नियमका होना अत्यन्त आवश्यक था।

किन्तु धीरे-धीरे इस नियममें परिवर्तन हुआ और कथित उच्च वर्गके मनुष्योंको यह अधिकार दिया गया कि वे दूसरे मार्गोंसे भी आजीविका कर सकते हैं। यान्त्रिक युग के बाद तो इस व्यवस्थाका यह गुण कि 'एक व्यक्ति पूँजीका अधिक संचय न कर सके और दूसरा व्यक्ति उसके अभावमें भूखों न मर सके' नष्ट हो गया है। राज्यसे यह आशाकी जा सकती थी कि वह ऐसी स्थितिके निर्माण करनेमें अपनी शक्तिका उपयोग करे जिससे प्राचीन आर्थिक व्यवस्थामे विशेष उलट-फेर किये बिना यह समस्या सुलझ जाय, किन्तु राज्य इस ओर विशेष ध्यान देनेमें असमर्थ रहा। फलत: ऐसी सामाजिक संस्था स्थापित हुई जो पिछली समाज संस्थाके विरोधी तत्त्वोंकी शिक्षा देने लगी। ऊपर हम समाजवादकी चर्चा कर आये है। इसका संगठन ऐसे ही तत्त्वोंके आधारपर हुआ है।

पिछली सामाजिक संस्थाके अनुसार व्यक्ति पूँजीका अधिकारी माना गया है और राज्य उसकी रक्षा करता है, इसमें यह अधिकार व्यक्तिसे छीनकर राज्यको दिया गया है और इसके विरुद्ध आचरण करनेवाला व्यक्ति कठोर दण्डका भागी होता है।

मूर्च्छा

अब देखना यह है कि जिस आधारपर यह संघर्ष चालू है उसकी तहमें कौनसी मनोवृत्ति काम करती है। प्राचीन ऋषियोंने इसका गहराईसे विचार किया है। उन्होंने इसका कारण मूर्च्छाको बतलाया है। यह मूर्च्छा ऐसी वृत्ति है जिसके कारण विश्वमें अनादिसे संघर्ष होते आये है और सदा होते रहेगे। एक व्यवस्थाका स्थान दूसरी व्यवस्था लेती है, पर इसमे न तो संघर्षका अन्त होता है और न स्थायी शान्ति ही स्थापित हो सकती है।

दार्शनिक चिन्तनकी भूल

व्यक्ति और राष्ट्रके जीवनमें सबसे बड़ी भूल उसके दार्शनिक चिन्तनमे यह है कि वह अपने सुख-दुखका एक मात्र आधार बाह्य साधनोंके होने न होने पर अवलम्बित मान बैठा है, जिसने जितने अधिक बाह्य-साधनोंका संचय कर लिया है वह उतना ही अधिक अपनेको सुख मिलनेकी आशा करता है। साम्राज्यलिप्सा, पूंजीवाद, वर्गवाद, और संस्थावाद यहाँ तक कि समाजवाद भी इसका परिणाम है। ईश्वरवादको इसी मनोवृत्तिने जन्म दिया है। जगत्में संघर्षका बीज यही है। जब मनुष्य इस तत्त्वज्ञानको स्वीकार कर लेता है कि अन्यसे अन्यका हित या अहित होता है तब उसकी अन्तर्मुखी दृष्टि फिरकर बहिर्मुखी हो जाती है। वह बाह्य साधनोंके जुटानेमें लग जाता है और इस कार्यमें सफलता मिलनेपर उसे अपने जीवनकी सफलता मानता है। जीवनमें बाह्य साधनोंको सर्वथा स्थान नहीं है, यह बात नहीं है। दृष्टिको अन्तर्मुखी रखते हुए जीवनकी कम-

जोरीवश आवश्यकतानुसार बाह्य साधनोंका अवलम्बन लेना एक बात है तथा इसके विपरीत बाह्य-साधनोंको ही सब कुछ मान बैठना दूसरी बात है।

अर्थ और विवेक

पूँजी चाहे व्यक्तिके हाथमे रहे या राष्ट्रके हाथमे वह एकमात्र अनर्थ परम्पराकी जननी है। अर्थकी गरमी सबसे बड़ी गरमी है। जिसके पास यह पहुँचता है उसे ही पथभ्रष्ट कर देता है। एक ही वस्तु थी जो व्यक्ति और राष्ट्रको इसकी गरमीसे बचा सकती थी और वह था विवेक। किन्तु इस समय क्या व्यक्ति और क्या राष्ट्र दोनों ही अपने-अपने स्वरूपको भूले हुए है। दोनों ही उत्पादनकी वृद्धि द्वारा वार्षिक आयके बढ़ानेकी फिकरमे है। विश्वका यही हाल है। इसमे स्वार्थपरतामें वृद्धि होकर मानवताका ह्रास हो रहा है। जहाँ देखो वहाँ पैसेकी लूट दिखाई देती है। समस्त धर्म-कर्म इसीमें समाया हुआ है। जो धार्मिक संस्थाएँ इसकी गरमीको कम करनेके प्रचारके लिए स्थापित की जाती है वे धनिकोंकी जीहुजूर बनी हुई है। व्यक्ति धर्ममें मूर्च्छाको काम न ले। धर्म मात्र आत्मशुद्धिका साधन बना रहे। जो व्यक्ति राग,द्वेष और मोह पर विजय पानेमे असमर्थ हैं वे तत्कालीन परिस्थितिके अनुसार सहयोगमूलक अपनी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था बना ले। किन्तु इतना ध्यान रखे कि इस द्वारा किसी व्यक्तिकी स्वतन्त्रताका अपहरण न होने पावे। सन्त-परम्पराके इस उपदेशकी तरफ आज किसीका ध्यान नही है। सब अपने-अपने पद और स्वरूपको भूले हुए है। वास्तवमे देखा जाय तो इसकी जडमे एक मात्र मूर्च्छा ही काम कर रही है। पूजीवादी राष्ट्रोंमें यह जितनी मात्रामें देखी जाती है, समाजवादी राष्ट्रोंमे वह उससे कम नही है।

रोगका अचूक निदान मूर्च्छा

मूर्च्छाको कम करनेका मार्ग यह था कि उत्पादनका विकेन्द्रीकरण किया जाय। जहाँ हजारों मनुष्य मिलकर एक साथ काम करते है ऐसे कल-कारखाने न खोले जायँ। राष्ट्रके लिए जितने मालकी आवश्यकता है उतना ही उत्पादन किया जाय। जिन वस्तुओके बिना दूसरे राष्ट्रोंका काम नही चलता हो वे वस्तुएँ ही उन राष्ट्रोंको दी जायँ और बदलेमे ऐसी वस्तुएँ ही स्वीकार की जायें जिनके बिना यहाँका काम नही चलता। भौतिकविज्ञानको विशेष प्रोत्साहन न देकर आध्यात्मिकविज्ञानको ही प्रमुखता दी जाय। संहारक अस्त्रोका निर्माण सर्वथा बन्द कर दिया जाय। रक्षाकी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की जाय। किन्तु इस समय सब काम इससे विपरीत हो रहे है और फिर रट लगाई जाती है कि विश्वमें स्थायी शान्तिकी स्थापना होनी चाहिए। शान्ति आत्माका परिणाम है। वह भौतिक-साधनोके बलपर नही प्राप्त की जा सकती है। व्यक्ति जिस तरह राष्ट्रकी इकाई है, उसी प्रकार उसकी मूर्च्छा भी राष्ट्रीय मूर्च्छाका अंग है और राष्ट्रीय मूर्च्छा विश्व मूर्च्छाका ही अंग है। यहाँ राष्ट्रीय मूर्च्छा और राष्ट्रीय प्रेमका भेद स्पष्ट समझ लेना चाहिए। मूर्च्छाका अर्थ है जीवन संशोधनके विरुद्ध पड़नेवाले साधनोंमे अपनत्वकी भावना। जिस भावनाके कारण व्यक्ति मात्र भौतिक इकाईमे सब सुख साधनोंको बटोरनेका प्रयत्न करता है वह मूर्च्छा ही है। व्यक्तियोंकी यही संकुचित स्वार्थमय ममता विकसित होकर राष्ट्रीय मूर्च्छा या स्वार्थोको जन्म देती है, प्राचीन भारतीय ऋषियोंने राष्ट्रीय विकासमे व्यक्तिके शुद्ध विकासकी शर्त इसीलिए रखी थी। पश्चिमी राष्ट्र राष्ट्रीयताकी झोंकमे व्यक्तिके चरित्र विकासको महत्त्व नही देते, इसलिए मुट्ठीभर राजनीतिक अपने राजनीतिक प्रभावमे जब चाहे समूचे विश्वको विक्षुब्ध कर सकते हैं। पिछले दो महायुद्ध इसके ज्वलंत प्रमाण हैं। प्रश्न है इस मूर्च्छा-संकुचित राष्ट्रीय स्वार्थका उन्मूलन कैसे हो? व्यक्तित्व या राष्ट्रीयताकी ओटमे भौतिक आकाक्षाओंका विस्तार कर क्या विश्वमें सुख-शान्ति स्थापित की जा सकती है? पूँजीवाद व्यक्तिकी आकांक्षा और उसकी पूर्तिके

साधनोंपर प्रतिबन्ध नहीं लगाता और समाजवाद केवल पूर्तिके साधनोंका समाजीकरण तो चाहता है पर आकांक्षाओंको सीमित करना अभी उसके लक्ष्यमें नहीं आया है। पूँजीवाद प्रस्तुत विषमताका ऐसा ही गलत निदान और उपचार है, इसलिए उसका मूलोच्छेद जरूरी है। समाजवादका बाह्य उपचार ठीक है पर निदान ठीक न होनेसे वह स्थायी नहीं है। वह आर्थिक दवाव पड़ने पर पुनः विषमताका रूप धारण कर सकता है। व्यवस्थायें बाह्य उपचार है। रोगका अचूक निदान है मूर्च्छा। वह भीतर से उठती है और जब तक इस मूलवृत्तिका शोधन नहीं होता तब तक शान्ति और सुव्यवस्था दुराशामात्र है।

स्वतन्त्रता का अर्थ

अब प्रश्न यह है कि इस मूर्च्छाके त्यागके लिये व्यक्ति और राष्ट्र किस मार्गको स्वीकार करें। यह तो मानी हुई बात है कि मानव इतिहास और दर्शनका अन्तिम निचोड़ है व्यक्तिकी पूर्ण स्वतन्त्रता और चरम विकास। यहाँ स्वतन्त्रता शब्द विचारणीय है 'स्व' और 'तन्त्र' इन दो शब्दोंका मिलकर अर्थ होता है अपना शासन। इसका भावरूप अर्थ हुआ स्वाधीनता। प्रत्येक व्यक्तिका अन्यके आधीन न होकर मात्र अपने आधीन होना ही उसकी स्वतन्त्रता है। जब कोई व्यक्ति अन्य व्यक्तिके अधिकारमें होता है तब वह पराधीन कहलाता है। दूसरेके अधिकारमें रहकर व्यक्ति इच्छानुसार अपना विकास नहीं कर पाता। बात-बातमें वह परमुखापेक्षी बना रहता है। वस्तुतः उसकी यह पराधीनता आरोपित है। सनातन प्रक्रियासे उसमें जो कमजोरियाँ आ गई हैं वही यह सोचनेके लिये प्रेरित करती है कि अन्यका सहारा लिये बिना उसका काम नहीं चल सकता। यही धारणा उसकी परतन्त्रता है और इससे मुक्ति पाना ही उसकी स्वतन्त्रता है।

स्वतन्त्रता यह जड़-चेतन प्रत्येक व्यक्तिका नैसर्गिक अधिकार है। इसका ठीक तरहसे ज्ञान होनेपर व्यक्तिकी मूर्च्छा अपने आप कम होने लगती है। श्रमण भगवान् महावीरने इस नैसर्गिक अधिकारकी ओर विश्वका ध्यान आकृष्ट किया था। इन्होंने गम्भीर वाणीमें कहा था—

"आयुसो! अपनी स्वतन्त्रताके समान सबकी स्वतन्त्रता अनुभव करो। जब कोई व्यक्ति किसी अन्य वस्तुको अपने अधिकारमें करनेकी इच्छा करता है तब वह उसे अपने अधिकारमे करनेमे तो समर्थ नहीं होता, मात्र स्वयं वह अपनी इच्छाओंका दास बन जाता है!"

विश्वको प्रत्येक व्यक्तिके इस नैसर्गिक अधिकारको समझना है। राज्यने इसकी स्वीकृति दी है अवश्य, पर वह औपचारिक है। इसके आध्यात्मिक रहस्यको समझे बिना जीवनमें व्यक्ति-स्वातन्त्र्यकी पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं हो सकती।

विविध दर्शन और जगत्

यों तो प्रागैतिहासिक कालसे विविध सिद्धान्तोंकी सृष्टि होती आई है। मानवीय कमजोरियोंने भी इनके निर्माणमें बहुत कुछ हाथ बटाया है। इन सिद्धान्तोंका जीवनके उत्थान और पतनसे घनिष्ट सम्बन्ध है। इस युगमें जिन समस्याओंको राजनीतिक आधारसे सुलझाया जाता है पूर्व कालमें उनके हल करनेमें धार्मिक दृष्टिकी मुख्यता रहती थी। धर्मका दर्शनके साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। सुपाच्य या दुष्पाच्य जैसा भी भोजन मिलता है उसीके अनुरूप जीवनका निर्माण होता है। दर्शन जीवनका सबसे बड़ा भोजन है। इसका व्यक्ति और राष्ट्रके जीवनपर गहरा प्रभाव पड़ता है। विश्व क्या है और व्यक्तिका उसके साथ क्या सम्बन्ध है? यह समस्या निर्विवाद रूपसे अभी तक नहीं सुलझ सकी है। इसके अस्तित्वके विषयमें 'है' और 'न' का झगड़ा अभी तक लगा हुआ है। और भी ऐसे प्रश्न हैं जो विचारकोंको उलझनमें डाले हुए हैं। उनमें व्यक्तिकी स्वतन्त्रता और परतन्त्रतासे सम्बन्ध रखनेवाला प्रश्न मुख्य है। वेदान्त तथा उससे सम्बन्ध

रखनेवाले अधिकतर दर्शन यह माननेके लिये कभी भी तैयार नही है कि व्यक्ति स्वतन्त्र अपनेमें कुछ है या वह पृथक् होकर भी अपने जीवनके लिये स्वयं उत्तरदायी है। भारतवर्षमें इन दर्शनोंका बडा विकास हुआ है और दूसरे राष्ट्रोंपर भी इसका गहरा प्रभाव पड़ा है। समस्त व्यवस्थाएँ और उनके दुष्परिणाम इन दर्शनोंके प्रयोगोंका ही फल हैं।

किन्तु दूसरी ओर ऐसे दर्शनका भी उदय हुआ है जिसने विश्वकी समस्त समस्याओंको व्यक्ति-स्वातन्त्र्यके आधारपर सुलझानेका प्रयत्न किया है। इसकी घोषणा है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमेसे न तो कुछ निकाल ही सकता है और न उसमे कुछ मिला ही सकता है। किन्तु जिस कालमे जिस द्रव्यकी जैसी योग्यता होती है तदनुरूप उसका परिणमन होता है। जीवनमे निमित्तका स्थान है अवश्य, पर वह व्यक्तिकी स्वतंत्रता-को अपहरण करनेमे असमर्थ है।

व्यक्तिकी स्वतन्त्रता इस दर्शनकी रीढ़ है। यह दर्शन मानवीय कल्पना और उसके स्वार्थोकी अपेक्षा विश्वके तथ्यपूर्ण जीवनक्रमको ध्यानमे रखकर विश्वका अवलोकन करता है। यद्यपि अब तक मानव जगत्में इसके उक्त मौलिक सिद्धान्तकी अवहेलना होती आई है, पर इससे उसकी उपयोगितामे अन्तर नही आता।

इसने जगत्की समस्त समस्याओंका मूल कारण, व्यक्तिकी कमजोरी बतलाया है और वह कमजोरी है व्यक्तिकी मूर्च्छा, इसलिये यह उन समस्याओंके हलके लिए बाह्य व्यवस्थाओंकी अपेक्षा व्यक्ति की और राष्ट्रकी अन्तःशुद्धिपर अधिक जोर देता है।

व्यक्तिस्वातन्त्र्य और अपरिग्रहवाद

जैसा कि हम पहले बतला आये है कि [विश्वमे जड़-चेतन जितने भी पदार्थ है वे सब स्वतन्त्र हैं, कोई किसी के आधीन नही है। फिर भी यह प्राणी मूर्च्छावश अन्य बाह्य-साधनोंका संग्रह करता है और उनका अपनेको स्वामी मानता है या उनमे इष्टानिष्ट कल्पना कर सुखी-दुःखी होता है। किन्तु व्यक्ति-स्वातन्त्र्यके सिद्धान्तके साथ इस भावनाका कोई मेल नही बैठता। इन दोनोमे पूर्व-पश्चिमका अन्तर है। जिसने व्यक्तिस्वातन्त्र्यके सिद्धान्तको अपने जीवनमे स्थान दिया है वह यह अनुभव करता है कि ये धन, पुत्र, स्त्री, मकान और शरीर आदि भिन्न है। इनका परिग्रह मेरा स्वरूप नही है। मेरा स्वरूप तो मात्र जानना देखना है। इसलिए वह मानता है कि जो व्यक्ति या राष्ट्र इन्हें अपनी उन्नतिका साधन मानकर इनका अधिकाधिक संग्रह करना चाहता है वह न तो कभी सुखी हुआ है और न हो सकता है। इनसे सुख मिलता है ऐसा मानना भी भ्रम है और इनमे सुख है ऐसा मानना भी भ्रम है। जैसा कि हम पहले बतला आये है कि सुख आत्माका स्वभाव है। उसकी प्राप्तिके लिये अपनी ओर ही देखना होगा, इन बाह्य-साधनोंकी ओर नही। क्योंकि इनका त्याग किये बिना व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी प्रतिष्ठा नहीं हो सकती।]

श्रमण भगवान् महावीरने अने जीवनके विविध प्रयोगों द्वारा विश्वका एकमात्र यही शिक्षा दी थी। श्रमण होनेके पहले उनके हाथमे राज्य था। लेकिन उनके विचार उस राज्यसत्ता बलपर नहीं फैल सकते थे और न उससे विश्वशान्तिका मार्ग ही प्रशस्त हो सकता था। उन्होंने देखा कि विश्वके लिये व्यक्ति-स्वातन्त्र्यकी शिक्षा अनिवार्य है। उन्हे विश्वके मानव समाजको यह अनुभव कराना था कि यह जमीन, यह धन और यहाँ तक कि यह शरीर, वाणी और मन भी उसका नही है। वह तो मात्र इन सबका ज्ञाता-दृष्टा है। इसलिये स्वयं उन्होने व्यक्तिस्वातन्त्र्यको प्रतिष्ठित करनेके लिये एकमात्र अपरिग्रहवादका मार्ग अपनाया था। उनकी घोषणा थी कि अपरिग्रही होना स्वतन्त्रता-प्राप्तिकी प्रथम शर्त है। व्यक्ति स्वतन्त्र होना चाहे और वह अपने जीवनमे मूर्च्छाका त्यागकर पूर्ण स्वावलम्बनको स्वीकार न करे, वह बाह्य

साधनोंके व्यामोहमें उलझा रहे यह नही हो सकता । जो राष्ट्र या व्यक्ति स्वतन्त्र होना चाहता है, उसे अपने दैनंदिनके जीवनमे स्वावलम्बनका व्रत स्वीकार करना ही होगा । अपरिग्रहवाद इसके सिवा और क्या सिखाता है । जो अपना नही है उसके परिग्रहमें आसक्ति मत करो, यही तो उसकी शिक्षा है ।

श्रमण भगवान् महावीर अपरिग्रहवादके मूर्तमान स्वरूप थे । उन्होंने अपने जीवनमें ऐसी कोई गाँठ बाँध कर नही रखी थी जो कि उन्हें पीछेकी ओर धकेलती हो । वे जाति, लिंग, वय, स्वदेश, विदेश आदि सब प्रकारके विकल्पोंसे परे थे । उनकी एक मात्र शिक्षा थी कि पर पर है । उसका स्वीकार जीवनके पतनका कारण है ।

अपरिग्रहवादकी व्यावहारिक शिक्षा

अब देखना यह है कि अपरिग्रहवादके सिद्धान्तको अपने व्यावहारिक जीवनमे कैसे उतारा जाय । अपरिग्रहका अर्थ है परिग्रहका अभाव । परिग्रहके दो भेद है—बाह्य और आभ्यन्तर । इनमें आभ्यन्तर-परिग्रह मुख्य है । इसका दूसरा नाम मूर्च्छा है । बाह्य-परिग्रह इसके सद्भावमे होता है । इसीसे अधिकतर विचारकोंने मूर्च्छाको ही परिग्रह कहा है । मूर्च्छा यह समस्त दुर्गुणोंका मूल है और व्यक्तिस्वातन्त्र्यका अपहरण करनेवाली है । किसी व्यक्ति या राष्ट्रको अपना उत्थान करनेके लिये इसका त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है ।

परिग्रहत्यागके दो मार्ग है—साधुमार्ग और गृहस्थमार्ग ।

साधु वह होता है जो अपने दैनंदिनके जीवनमें पूर्ण स्वावलम्बनकी प्रतिज्ञा कर भौतिक साधनोंका मात्र शरीरकी आवश्यकताकी पूर्तिके लिये कमसे कम उपयोग करता है । वह भौतिक साधनोंका न तो अर्जन करता है और न संचय ही । उपयोग ऐसे साधनोंका करता है जो सार्वजनिक होते हैं । उदाहरणार्थ वह ऐसे मकान, मठ या गुफा आदिमे उठता-बैठता है जहाँ प्राणीमात्रको आने-जानेकी किसी प्रकारकी रुकावट नहीं होती है । भोजन भी किसी गृहस्थके स्वेच्छासे देनेपर ही लेता है । सो भी दिनमें एक बार लेता है । केशोंके बढ जानेपर उनका अपने हाथसे उत्पाटन करता है । इसके लिये कची आदिका उपयोग नही करता । यात्रा पैदल करता है । सवारीका उपयोग नही करता । सब ऋतुओंमे नग्न रहता है । वस्त्रको मूर्च्छाका कारण जानकर उसका पूर्णरूपसे त्याग कर देता है । गृहस्थोंसे अधिक ममता न बढ़ जाय इसलिये आवश्यकतानुसार नगरमे अधिकसे अधिक पाँच दिन और ग्राममें एक दिन ही ठहरता है । उसमे भी नगर या ग्रामके बाहर ही ठहरता है । मात्र भोजनके लिये नगर या ग्राममे आता-जाता है । भोजनके लिये पात्रका उपयोग नही करता । दोनों हाथोंकी अंजुलि बनाकर उससे भोजनका काम सम्पन्न करता है । भोजन खड़े-खड़े लेता है और इसके लिये गृहस्थोको उत्साहित नही करता ।

साधुको केवल तीन उपकरण रखनेकी अनुज्ञा है—पीछी, कमण्डलु और शास्त्र । पीछी भूमिशोधनके काम आती है, कमण्डलु मल-मूत्रके विसर्जन करने पर शुद्धिके काम आता है और शास्त्र ज्ञानार्जन का साधन है ।

अधिकतर लोगोंको साधुकी यह चर्या व्यवहारमे अटपटी सी दिखाई देती है । वे इसे निठल्ले लोगोंकी व्यर्थकी उठाठेव मानते हैं । हम यह जानते हैं कि साधुसस्था दूषित हो गई है और ऐसे लोगोंकी कमी नही जो मात्र पेट भरनेके लिये साधु बनते है । पर इसमे साधुमार्गकी व्यर्थता नही सिद्धकी जा सकती है । साधुका जीवनयापन करना अध्यात्मशोधका सर्वोत्कृष्ट मार्ग है । जो जीवनमें सच्चा साधु है वह समाजसे जितना लेता है उससे कही अधिक देता है । समाजने इस संस्थाके महत्त्वको भुला दिया है या वह ऐसे

लोगोंके पीछे लग गई हैं जो या तो ढोंगी हैं या आलसी । वास्तवमें हमें साधुचर्याके उक्त नियमोंका बारीकीसे अध्ययन करना चाहिये । उनसे एकमात्र स्वालम्बनकी ही शिक्षा मिलती है । भला विचारिये तो कि व्यक्ति-स्वातन्त्र्यको प्रतिष्ठित करनेका इससे उत्तम मार्ग और क्या हो सकता है ?

श्रमण भगवान् महावीर और उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकरोंने उक्त चर्याको अपने जीवनमें अच्छी तरहसे उतारा था । उन्होंने अपने अनुयायी साधुओंको भी एकमात्र इसी चर्याकी शिक्षा दी थी । सम्भवतः बुद्धदेवसे उनका इसी बातमें मतभेद था । बुद्धदेव मध्यम मार्गके पक्षपाती थे । उनकी शिक्षाओंसे ज्ञात होता है कि उन्हें वैदिक धर्म और श्रमण धर्मके मध्यका मार्ग अधिक पसन्द था । पर उनका यह कार्य महावीरकी आत्माको टससे मस न कर सका । वे दृढ निश्चयी और कठोर अनुशासनके पूर्ण पक्षपाती थे । कैवल्य लाभके बाद तो उनकी आत्मा और भी निखर उठी थी । उन्हें सम्यक् प्रकारसे ज्ञात था कि मात्र इस मार्गके अनुसरण करनेसे ही संसारी प्राणी मुक्तिका अधिकारी होता है । इसलिये उन्होंने अपने अनुयायी साधुओंको न केवल परिग्रहका पूर्णरूपसे त्याग करनेका उपदेश दिया था, अपितु आत्मसंशोधनकी दृष्टिसे इसका कठोरतासे पालन भी कराया था ।

परिग्रहके त्यागका दूसरा मार्ग है गृहस्थधर्म । गृहस्थका अर्थ है घरमें रहनेवाला । घर उपलक्षण है । इससे वे सभी भौतिक या दूसरे साधन लिये गये हैं जिनके बिना जीवनयापन करनेमें गृहस्थ अपनेको असमर्थ अनुभव करता है । वह जीवनकी की कमजोरीवश बाह्य-साधनोंका अवलम्बन तो लेता है, पर उनका परिमाण करता है । इसे गृहस्थका परिग्रहपरिमाणव्रत कहते हैं । जैन-शास्त्रोंमें इसकी विस्तृत चर्चा देखनेको मिलती है । वहाँ इस व्रतके व्यावहारिक उपयोगका सावधानीपूर्वक सर्वांग विचार किया गया है ।

प्राचीन कालमें बाह्य-परिग्रह क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य और भाण्ड इन दश भागोंमें विभक्त किया गया था । यह विभाग उस समयका है जब देशमें दास-दासी प्रथा प्रचलित थी । यह भी हो सकता है कि जिस प्रदेशमें दास-दासी प्रथा चालू हो उसे ध्यानमें रखकर ये भेद किये गये हों । जैन धर्मके अनुसार प्रत्येक गृहस्थको इस दश प्रकारके परिग्रहका परिमाण करना पडता है । वह आवश्यकतासे अधिकका संचय नही कर सकता । आवश्यकता तात्कालिक रहन-सहनसे आंकी जाती है । प्रथम शर्त यह है कि कोई भी व्यक्ति अन्याय मार्गसे आजीविका नही कर सकता । न्यायवृत्तिका अर्थ राज्यके नियमोंके अनुसार अर्थका उपार्जन करना तो है ही । साथ ही आवश्यकतासे अधिकका संचय न करना भी इसमें गर्भित है । इसके सिवा आचार-ग्रन्थोंमें कुछ ऐसे भी नियम बतलाये है, जिनसे व्यक्तिकी इच्छाको सीमित करनेमें सहायता मिलती है । प्रथम तो प्रत्येक गृहस्थको यह नियम करना पड़ता है कि वह यावज्जीवन आजीविका निमित्त या इसी प्रकार दूसरे कार्य निमित्त अमुक क्षेत्रके बाहर नही जायेगा । साथ ही उसे यह भी नियम करना पड़ता है कि वह अमुक समय तक इतने क्षेत्रके बाहर नही जायगा । प्रथम प्रकारकी मर्यादाका क्षेत्र विस्तृत होता है और दूसरे प्रकारकी मर्यादा अमुक समयके लिये उस क्षेत्रको संकुचित करती है । इससे यावज्जीवन तक क्षेत्रकी मर्यादा विस्तृत होने पर भी प्रतिदिनका व्यवहारक्षेत्र सीमित होता रहता है ।

यद्यपि वर्तमानमें इस पद्धतिके अनुसार गृहस्थोंका वर्तन नही पाया जाता है और न राष्ट्रका ही इस ओर ध्यान है तथापि इससे इस पद्धतिको अव्यावहारिक नही ठहराया जा सकता । वस्तुतः समाजवाद और पूँजीवादकी ऐकान्तिक बुराईको दूर कर व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी प्रतिष्ठा करनेवाला यही एक ऐसा मार्ग है, जिसे जीवनमें स्वीकार किये बिना विश्वशान्तिकी कल्पना साकार रूप नही ले सकती ।

अभी विश्वशान्ति सम्मेलनके निमित्तसे भारतमें देश-विदेशके अनेक प्रतिनिधि इकट्ठे हुए थे । यों तो ये सभी प्रतिनिधि सेवाभावी और विश्वशान्तिके इच्छुक थे । किन्तु इनमेंसे विश्वशान्तिकी प्रेरणादायिनी शक्ति

यदि किसीसे प्राप्तकी जा सकती है तो वे थे स्वीडननिवासी स्वेन एरिक राइवर्ग। इन्होंने अपने जीवनको एक प्रकारसे अपरिग्रही बना लिया है। इसका वे कठोरतापूर्वक पालन करते हैं। अन्य प्रतिनिधियोंके साथ इन्हे भी ताजमहल होटलमें ठहराया गया था। यह देख इन्हें बडा आश्चर्य हुआ। परिणामस्वरूप इन्होंने वहाँ ठहरना अस्वीकार कर दिया। वे वहाँ जाकर ठहरे जहाँ भारतकी सच्ची आत्मा निवास करती है। उस समय वहाँ उन्होंने जो उद्गार प्रकट किये थे वे अन्धकारमे भटकने वाले विश्वको प्रकाशका काम देते है। वे कहते हैं—

'हम उस भारतको देखने आये हैं जहाँ बैटकर विश्वका शान्तिदूत शान्तिसूत्रका संचालन करता था।'

अपरिग्रहवादकी व्यावहारिक शिक्षाका इससे बढ़ा प्रमाण और क्या हो सकता है।

सन्त परम्परा और अपरिग्रहवाद

जहाँ तक जैन तीर्थङ्करोंकी चर्याका सम्बन्ध है उन्होंने परिग्रहको कभी भी अपने पास नही फटकने दिया था। उनकी परम वीतराग, शान्तिदायिनी नग्न-मुद्रा आज भी विश्वके संतप्त हृदयको शीतलता प्रदान करती है। वह मौनभावसे एकमात्र यही शिक्षा देती है—

उत्तम शौच सर्व जग जाना। लोभ पापकौ बाप बखाना॥
आशाफांस महा दुखदानी। सुख पावै सन्तोषी प्रानी॥

× ×

उत्तम आकिंचन गुण जानौ। परिग्रह चिन्ता दुख ही मानौ॥
फांस तनक सी तन मे सालै। चाह लँगोटी की दुख भालै॥

साधारणतः हम देखते है कि विश्वका बहुभाग जैन तीर्थङ्करोंकी इस आदर्श गरिमाको नही समझ सका है। अधिकतर व्यक्ति उनकी नग्न-मूर्ति देखकर विकारका अनुभव करते है। हम तो इस सम्बन्धमे इतना ही कहेंगे कि—

"जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसो॥"

फिर भी हमारी समझसे यह उत्तर सही होकर भी अपूर्ण है। मुख्य झगड़ा आदर्शका है, इसलिए हम इस तत्त्वको भीतर घुस कर छानबीन करना चाहेगे। थप्पडका उत्तर थप्पडसे देनेमे कोई लाभ नही है। देखना यह है कि मात्र भौतिक साधनोंका अवलम्बन लेना ही व्यक्तिका जीवन है या उसका वास्तविक जीवन इससे कोई भिन्न वस्तु है। जहाँ तक सन्तोका अनुभव है उन्होंने सदा ही बाह्य-साधनोका स्वीकार करना जीवनकी सबसे बड़ी कमजोरी माना है। तीर्थकरोंके समान जीसस क्राइस्टने भी इस सत्यको समझा था। तभी तो उन्होंने कहा था कि—

सुईके छेदसे ऊँट जा सकेगा, लेकिन पैसेका मोह रखनेवाला अहिंसाका साक्षात्कार नहीं कर सकेगा, चाहे नाम उसका वह लेता रहे।'

बहुत दूरकी बात जाने दीजिये। महात्मा गाधीकी जीवनचर्याका अध्ययन करनेसे ही यह बात साफ हो जाती है कि जीवनको पूर्ण स्वावलम्बी और निर्विकार बनानेके लिए बाह्य आलम्बनका त्याग करना परम आवश्यक है। उन्होंने इस सत्यको छिपानेका भी प्रयत्न नही किया। अपरिग्रहवादकी महत्ता पर किये गये उनके विवेचनका सार है—

नग्नता आत्माके निर्विकारीपनका चिह्न है। निर्विकारी सदा नग्न रहता है। उसे आच्छादन-की क्या आवश्यकता।'

वर्णीजी[1] ने अपने जीवनका बहुभाग अपरिग्रहवादकी शिक्षामें बिताया है। कभी-कभी इस विषयकी चर्चा करते हुए वे अपनेको खोये हुए सा अनुभव करने लगते है। यह उनका प्रतिदिनका कार्य है। इस विषयमें वे क्या कहते हैं यह उन्हीकी शब्दोंमें पढिये—

'संसारमें जितने पाप हैं उनकी जड़ परिग्रह है। आज जो भारतमें बहुसंख्यक मनुष्योंका घात हो गया है तथा हो रहा है उसका मूलकारण परिग्रह ही है। यदि हम इससे ममत्व घटा देवें तो अगणित जीवोंका घात स्वयमेव न होगा। इस अपरिग्रहके पालनेसे हम हिंसा पापसे मुक्त हो सकते हैं और अहिंसक बन सकते हैं। श्री वीर प्रभुने तिलतुषमात्र परिग्रह न रखके पूर्ण अहिंसा व्रतकी रक्षा कर प्राणियोंको बता दिया कि यदि कल्याण करनेकी अभिलाषा है तब दैगम्बर पदको अङ्गीकार करो। यही उपाय संसार बन्धनसे छूटनेका है[2]।'

इस प्रकार हम देखते है कि विश्वमें जितने भी सन्त पुरुष हुए है उन्होंने एकमात्र यही शिक्षा दी है कि भौतिक साधनोंके बलपर कभी भी कोई व्यक्ति या राष्ट्र अपनी उन्नति करनेमें समर्थ नही होता है। इससे मात्र पशुता ही फूलती-फलती है।

अध्यात्म जीवनको रक्षा सर्वोत्कृष्ट मार्ग

यह तो मानी हुई बात है कि राष्ट्र या विश्व जिस नीतिको अपनाता है उसका प्रभाव व्यक्तिके जीवन-पर अवश्य पड़ता है। ऐसे बहुत ही कम व्यक्ति है जो अपने मानवीय गुणो द्वारा राष्ट्र या विश्वको प्रभावित करते है। मुख्य प्रश्न समाजका है। उसने एक प्रकारसे अपने आध्यात्मिक जीवनको भुलासा दिया है। वह केवल भौतिक साधनोंके बलपर विश्व-शान्तिकी कल्पना किये हुए है। अशान्ति कोई नही चाहता पर इसे दूर कैसे किया जाय इस ओर किसीका ध्यान नही है।

जैसा कि हम पहले बतला आये है कि जीवनमे भौतिक साधनोंका स्थान है अवश्य, पर इसकी एक मर्यादा है। अध्यात्म जीवन व्यक्तिकी निजी सम्पत्ति है। सर्व प्रथम उसकी रक्षाको प्रमुखता देनी होगी। अपरिग्रहवादकी शिक्षा इसका अपरिहार्य परिणाम है। राज्यकी नीति ऐसी होनी चाहिए जिससे इस दिशामें व्यक्तिको अधिकसे अधिक प्रभावित किया जा सके। महात्मा गाधीने इसकी महत्ता अनुभव की थी। उसे वे साकार रूप देना चाहते थे। लेकिन उनके बादका भारत कुछ और ही बनना चाहता है। शायद वह अमेरिका बनेगा। तब क्या वह विश्वको शान्तिका सन्देश देनेका अधिकारी रह सकेगा।

हम यह कभी भी माननेके लिये तैयार नही हैं, हम ही क्या कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति यह नहीं मान सकता कि पश्चिमीय ढगपर कल-कारखानो, भौतिक प्रयोगशालाओ और यातायातके साधनोंका विस्तार करने पर भारत अपनी आध्यात्मिकताकी रक्षा कर विश्वको शान्ति पथपर ले चलनेमे समर्थ हो सकेगा। आजका अणुबम और हाइड्रोजन बम इसी नीतिका परिणाम है। युद्धसे युद्धको प्रोत्साहन मिलता है और आध्यात्मिकता-का लोप होता है।

अर्थका सम्बन्ध मानव जीवनसे है अवश्य, लेकिन जीवनका एकमात्र यही प्रश्न मुख्य नही है। बल्कि व्यक्तिकी अपनी भावनाएँ भी उसके साथ है। इनमेंसे किसी एकको अवहेलना नहीकी जा सकती। आर्थिक ढाँचेको केवल निष्प्राण मशीन बनाना उचित नही है। आवश्यकता इस बातकी है कि प्रत्येक राष्ट्र ऐसी नीति स्वीकार करे जिससे आर्थिक सन्तुलनके साथ व्यक्तिको अपने आध्यात्मिक जीवनके विकासमे पूरी सुविधा मिलती रहे।

१. जैन परम्पराके वर्तमान सन्त न्यायाचार्य पं० गणेशप्रसादजी वर्णी।

२. वर्णीवाणी।

पहले हम अपरिग्रहवादकी विस्तारसे चर्चा कर आये हैं। व्यक्तिके जीवनपर उसकी व्यावहारिक शिक्षाका क्या प्रभाव पड़ता है इसका भी हम निर्देश कर आये हैं। साधारण नियम यह है कि व्यक्तियोंके निर्माणसे ही विश्वका निर्माण होता है। सन्त पुरुषोंने इसकी महत्ता हृदयंगमकी थी। किन्तु राजनीतिज्ञ आज इस तत्त्वको भूले हुए हैं। वे शक्तिके बलसे विश्वपर अपनी व्यवस्था लादना चाहते हैं। यदि सचमुचमें उनके मस्तिष्कमें यह बात समाई हुई है कि विश्वमें शान्ति स्थापित होनी चाहिये, चाहे उसके लिए कितना ही बड़ा मूल्य क्यों न चुकाना पड़े तो सर्व प्रथम उन्हें ऐसी शिक्षाओंकी ओर ध्यान देना होगा जो मानवताकी पूर्ण प्रतिष्ठा करनेमें सहायक हो सकें। केवल विश्वशान्तिका ढिंढोरा पीटनेमात्रसे विश्वशान्ति स्थापित नहीं हो सकती।

हमने विश्वशान्तिके साधनोंपर सावधानी पूर्वक विचार किया है। उसका एकमात्र उपाय अपरिग्रहवाद की शिक्षा है। इसके लिये निम्नलिखित योजना लाभप्रद हो सकती है—

साधुसंस्थाके संगठनको मात्र स्वावलम्बनके आधारपर बढ़ावा दिया जाय।

साधुसंस्थाको साम्प्रदायिक दलबन्दीसे मुक्त रखा जाय।

व्यक्तिके सदाचारपर विशेष ध्यान दिया जाय। यह कार्य साधुसंस्थाके जिम्मे किया जाय। साधुसंस्था अलिप्त भावसे इस कार्यकी संम्हाल करे।

विश्वविद्यालयोंमें औद्योगिक शिक्षाके साथ चरित्रनिर्माणकी शिक्षापर विशेष ध्यान दिया जाय।

समाजमें स्वावलम्बन और अपरिग्रहवादकी शिक्षा देनेवाली धार्मिक संस्थाओंको ही प्रमुखता दी जाय।

उन सिद्धान्तोंकी शिक्षा, जो व्यक्तिस्वातन्त्र्यके मार्गमें रोड़ा हैं, तत्काल बन्द की जाय।

सम्प्रदायवाद, ईश्वरवाद और जातीयताका जिन उपायोंसे अन्त हो वे उपाय अमल मे लाये जायँ।

श्रम किसी प्रकारका ही क्यों न हो, राष्ट्रीय सम्पत्ति समझ कर उसकी पूर्ण प्रतिष्ठा की जाय।

प्रत्येक गाँवको स्वावलम्बी बनानेकी दृष्टिसे गृह उद्योगको प्रोत्साहन दिया जाय।

बड़े-बड़े कल-कारखाने न खोले जायँ। जो है या जिनका निर्माण किये बिना राष्ट्रका काम नहीं चल सकता, उनका एकाधिपत्य व्यक्तिके हाथ में न रह सके इसकी तत्काल व्यवस्था की जाय।

प्रत्येक देशकी सरकारके रहन-सहनका ढंग आडम्बरपूर्ण और भयोत्पादक न हो, इस ओर ध्यान दिया जाय।

जनसाधारणके जीवन स्तरको ध्यानमे रखकर ही सरकारी नौकरीका मान निश्चित किया जाय।



जैनधर्म और वर्णव्यवस्था

हमारे देशमें चार वर्णोंमें अन्तिम वर्णके मनुष्य शूद्र माने जाते हैं। ये मानव तनधारी सबसे अभागे प्राणी हैं। हजारों वर्षोंसे ब्राह्मणोंने क्षत्रियोसे साजिश करके इनसे सब अधिकार छीन लिये हैं। इन्हें जनेऊ पहिनने, व्रत-संस्कार करने आदिका कोई अधिकार नहीं दिया गया है। इतना ही नही, ये न तो दूसरे वर्णके मनुष्यों-के साथ बराबरीमे बैठ-उठ सकते हैं और न सार्वजनिक स्थान जैसे प्रार्थनागृह, मन्दिर और धर्मशाला आदिमें आ-जा सकते है। इनकी शिक्षा और स्वास्थ्यकी ओर भी समुचित ध्यान नहो दिया गया है! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंकी सेवा करते रहना यही इनका स्वर्ग है और यही इनकी मुक्ति!!

भारतोय संविधान और रूढ़िवादो जैन

भारतवर्षको स्वराज्य मिलनेके बाद भारत सरकार और जनप्रतिनिधियोंका इस ओर ध्यान गया है। भारतीय संविधान सभाने जिस संविधानको स्वीकार किया है, उसमे दो सिद्धान्त निश्चित रूपसे मान लिये गये है।

१. हम मनुष्योंमें किसी भी प्रकारकी अस्पृश्यता नहीं मानते।

२. हिन्दुओंके प्रत्येक सार्वजनिक स्थान और सम्पत्तिका, चाहे वह मन्दिर, धर्मशाला या ट्रस्ट ही क्यों न हो, सभी हिन्दू समान रूपसे उपयोग कर सकते है।

यह तो मानी हुई बात है कि हिन्दू शब्द किसी धर्म विशेषका वाची नही है। सुदूरपूर्व कालसे जितने धर्मोंके मनुष्य यहाँ निवास करते थे और जिन धर्मोंके प्रवर्तक यहाँ जन्मे थे, वे सब हिन्दू शब्दकी व्याख्यामें आते है। इस व्याख्याके अनुसार न केवल वैदिक धर्मके अनुयायी हिन्दू ठहरते है अपितु जैन, बौद्ध और सिख— ये भी हिन्दू ही माने जाते हैं। संविधानकी २५वीं धाराके नियम नं० २ मे इस बातका स्पष्ट रूपमें उल्लेख कर दिया गया है कि—

Hindu includes Jain, Bauddha and Sikhas.

जहाँ तक हम देखते है सिखों और बौद्धोंको इसमे कोई आपत्ति नही है। वे इस तथ्यको न केवल स्वीकार करते है, अपितु इसका प्रचार भी करते है; क्योंकि इसमें वे अपना सांस्कृतिक लाभ देखते हैं। राहुल जी ने अनेक बार लिखा है कि हमे किसी भी हालतमे अपनेको हिन्दू कहलाना नही छोड़ना है।

किन्तु कुछ रूढिवादी जैन इस तथ्यको स्वीकार करनेमे हिचकिचाते हैं। उनके सामने मुख्य प्रश्न जैन मन्दिरोंका है। उन्हें भय है कि हिन्दू शब्दकी उक्त व्याख्या मान लेने पर हमें जैन मन्दिर कथित अ-स्पृश्योंको खोलने पडेंगे; जबकि वे इसके लिए तैयार नही है।

इस समय जैन समाजमे विवाद दो स्तरों पर चल रहा है। प्रथम तो यह कि "जैन हिन्दू है या नही, और दूसरा यह कि अस्पृश्य जैन मन्दिरोंमें जा सकते है या नही।" प्रथम प्रश्न ऐतिहासिक है और दूसरा सांस्कृतिक।

कुछ जैनोंका ख्याल है कि संस्कारसे 'जैन हिन्दू नही हैं' इस बातके स्वीकार करा लेने पर 'कथित अस्पृश्य जैन मन्दिरोंमें जा सकते हैं या नहीं'? इस प्रश्नका अलगसे निर्णय करानेकी आवश्यकता नहीं

रहती । वे सोचते हैं कि इस तरह जैन मन्दिर उन कानूनोंसे अपने आप बरी हो जाते हैं; जो कथित अस्पृश्यों-की मन्दिर-प्रवेशका अधिकार देते हैं ।

बात साफ है । जैन हिन्दू नही हैं यह कहना तो उनका बहाना मात्र है । वास्तवमे वे केवल इतना ही चाहते हैं कि जैन मंदिरोंमे अस्पृश्यता पूर्ववत् कायम बनी रहे ।

वे ऐसा क्यों चाहते हैं, इसका कारण बहुत स्पष्ट है । किन्तु हम उसमें जाना नही चाहते । हमारे सामने मुख्य प्रश्न संस्कृति का है । आगम इस विषयमें क्या कहता है, हमें तो यहाँ इसी बातका निर्णय करना है ।

भारतको दो प्रमुख संस्कृतियाँ

उसमे भी सर्वप्रथम हमे यह देखना है कि वर्ण क्या वस्तु है और उसकी स्थापना यहाँ किन परि-स्थितियों मे हुई ? यह तो सर्वविदित है कि भारतवर्षमे श्रमण और वैदिक ये दो संस्कृतियाँ मुख्य है । इन दोनोंके आचार विचार और क्रिया-कलापमे महान् अन्तर है । वैदिक-संस्कृति मुख्यरूपसे ईश्वरवादियोंकी परम्परा है और श्रमण-संस्कृति स्वावलम्बियोंकी परम्परा है । इन दोनोंमे पूर्व पश्चिमका अन्तर है । पतंजलि ऋषिने हजारों वर्ष पहले अपने भाष्यमे इसे स्वीकार किया है । वे इन दोनोंके विरोधको अहि-नकुलके समकक्ष का मानते है । 'हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेत् जैन मन्दिरम्' इत्यादि वचन इसी विरोधके सूचक है । इसलिए जब कभी हम सांस्कृतिक दृष्टिसे विचार करते हैं, तब हमे इनके अन्तरको सामने रखना आवश्यक हो जाता है, अन्यथा पदार्थका निर्णय करनेमे न केवल कठिनाई आती है, अपितु दिशाभ्रम होनेका भय रहता है ।

वर्ण शब्दकी व्याख्या

वर्ण क्या है यह प्रश्न बहुत कठिन नहीं है । इसका अर्थ आकार या रूप रंग होता है । प्राचीन ऋषियोंने इसी अर्थमे इसका प्रयोग किया था । उन्होंने मनुष्योंके रूप-रंगकी जानकारीके लिए उनकी आजी-विका और चर्याको मुख्य साधन माना था । मनुष्य जन्मसे अपनी आजीविका लेकर नही आता । किन्तु वह जिन परिस्थितियोंमे बढता है और उसे अपने विकासके जैसे साधन उपलब्ध होते हैं, उनके आधारसे उसकी आजीविका निश्चित होती है । डा० अम्बेडकर आजकी कथित 'महार' जातिमे जन्मे है । 'महार' दक्षिणमे एक अछूत जाति है । इनके माता पिता इसी जातिके एक अंग थे । किन्तु आज वे कानूनके महान् पण्डित है । भारतको उनपर नाज है । वे भारतीय संविधानके मुख्य कर्ता-धर्ता है । उनकी बुद्धि और प्रतिभाका विश्वने लोहा माना है । यों तो वैदिकोंकी पुरानी व्यवस्थाके अनुसार वे अस्पृश्य ठहरते है पर आज वे किसी भी उच्चकोटिके ब्राह्मणसे हीनकोटिके नहीं माने जा सकते । इस तथ्यको प्राचीन ऋषियोंने भी अनुभव किया था । तभी तो उन्होंने कहा था—

> क्रियाविशेषाद् व्यवहारमात्राद्दयाभिरक्षाकृषिशिल्पभेदात् ।
> शिष्टाश्च वर्णाश्चतुरोवदन्ति न चान्यथा वर्णचतुष्टयं स्यात् ॥
>
> —वरांग चरित सर्ग २५ श्लोक ११

प्राचीन शिष्ट पुरुषोंने चार वर्णोंका जिन कारणों से प्रतिपादन किया था, उन्हींका इस श्लोकमें सुस्पष्ट रूपसे वर्गीकरण किया गया है । वे कारण छह है—१. क्रियाविशेष, २. व्यवहार मात्र, ३. दया, ४. प्राणियोंकी रक्षा, ५. कृषि और ६. शिल्प । श्लोकके अन्तिम चरणमे बतलाया है कि चार वर्णोंकी सत्ता इन्ही कारणोंसे मानी जा सकती है, अन्य किसी भी प्रकारसे चार वर्ण नहीं हो सकते ।

इनमें प्रारम्भके दो सामान्य कारण हैं और अन्तके चार क्रमसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णोंके सूचक हैं। सर्वप्रथम आचार्य क्रियाविशेषको चार वर्णोंका हेतु कहना चाहते हैं, परन्तु उन्हें भय है कि कहीं कोई इस आधारसे मनुष्योंके वास्तविक भेद न मान बैठे, इसलिए वे कहते हैं कि मनुष्योंको ऐसा कहना कि 'यह अमुक वर्णका है, यह अमुक वर्णका है' व्यवहार मात्र है। लोकमें ब्राह्मण आदि शब्दके द्वारा कथन करनेकी रूढ़ि है—कोई ब्राह्मण कहलाता है और कोई क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र। इसके सिवा इस कथनकी अन्य कोई मौलिक विशेषता नहीं है। यदि थोड़ी देरको यह मान भी लें कि व्यवहारमें इन नामोंके प्रचलित होनेके कोई अन्य कारण अवश्य हैं, तो वे दया, अभिरक्षा, कृषि और शिल्प इनके सिवा और हो ही क्या सकते हैं। यही कारण है कि प्राचीन कालमें इन क्रियाओंके आधारसे ब्राह्मण आदि चार वर्णोंका नामकरण किया गया था।

१ ब्राह्मण वर्ण

पहला कारण दया है। यह अहिंसाका प्रतीक है। अहिंसा आदि पाँच व्रतोंको स्वीकार कर उनका पालन करना ही ब्राह्मण वर्ण की मुख्य पहिचान है। 'ब्राह्मण कौन' इसका निर्देश प्राचीन साहित्यमें विस्तृत आधारोंपर किया है ? इसकी व्याख्या करते हुए उत्तराध्ययनमें कहा है—

तसपाणे वियाणित्ता, संगहेण य थावरे।
जो न हिंसइ तिविहेणं, तं वयं बूम माहणं॥

जो त्रस-स्थावर सभी प्राणियोंको भली भाँति जानकर उनकी मन, वचन और कायसे कभी हिंसा नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

कोहा वा जइ वा हासा, लोहा वा जइ वा भया।
मुसं न वयई जो उ, तं वयं बूम माहणं॥

जो क्रोधसे, हास्यसे, लोभसे अथवा भयसे असत्य नहीं बोलता उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

चित्तमन्तमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं।
न गिण्हाइ अदत्तं जे, तं वयं बूम माहणं॥

सचित्त या अचित्त कोई भी पदार्थ, भले ही फिर वह थोड़ा हो या ज्यादा, जो बिना दिये नहीं लेता उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

दिव्वमाणुसतेरिच्छं, जो न सेवइ मेहुणं।
मणसा कायवक्केणं, तं वयं बूम माहणं॥

जो देव, मनुष्य और तिर्यंच सम्बन्धी सभी प्रकारके मैथुनका मन, वचन और शरीरसे कभी सेवन नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

जहा पोम्मं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा॥
एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं॥

जिस प्रकार कमल जलमें उत्पन्न होकर भी जलसे लिप्त नहीं होता, इसी प्रकार जो संसारमें रह कर भी काम भोगोंसे सर्वथा अलिप्त रहता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

आदिपुराणमें भी ब्राह्मण वर्णकी उत्पत्तिका सुस्पष्ट निर्देश किया है। वहाँ बतलाया है कि भरत चक्रवर्तीने तीन वर्णके व्रती श्रावकोंको ब्राह्मण वर्णका कहा था और तभीसे ब्राह्मण वर्ण लोकमें प्रसिद्धिको प्राप्त हुआ।

चार वर्णोंके कार्योंका निर्देश करते हुए वहाँ यह श्लोक आया है—

ब्राह्मणा व्रतसंस्कारात् क्षत्रियाः शस्त्रधारणात् ।
वणिजोऽर्थार्जनान्न्यायाच्छूद्रा न्यग्वृत्तिसंश्रयात् ॥

—आ० पु०, पर्व ३८ श्लोक ४६

जिन्होंने व्रतोंको स्वीकार किया है वे ब्राह्मण हैं, जो आजीविकाके लिए शस्त्र स्वीकार करते हैं वे क्षत्रिय हैं, जो न्यायमार्गसे अर्थार्जन करते हैं वे वैश्य हैं और जो जघन्य वृत्ति स्वीकार करते हैं वे शूद्र हैं।

इससे भी यही ज्ञात होता है कि ब्राह्मण वर्णका मुख्य आधार आजीविका नहीं है, किन्तु व्रतोंका स्वीकार करना है। तभी तो पद्मचरितमें कहा है—

व्रतस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥११,२०॥

इस श्लोकमें रविषेण आचार्यने कितनी बड़ी बात कही है। इससे जैनधर्मकी आत्मा निखर उठती है। वे इसमें स्पष्ट रूपसे उस चाण्डाल (चाण्डाल कर्मसे आजीविका करने वाले) को भी ब्राह्मण रूपसे स्वीकार करते हैं जो जीवनमें व्रतोंको स्वीकार करता है।

जैनधर्मके अनुसार वर्ण व्यवस्थाका रहस्य क्या है यह इसमें उद्घाटित करके बतलाया गया है। कोई भी मनुष्य आजीविका क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र किसी वर्णकी क्यों न करता हो यदि वह व्रतोंका पालन करने लगता है, तो वह वर्णसे ब्राह्मण हो जाता है यह इसका तात्पर्य है।

मनुस्मृतिमें ब्राह्मणके अध्ययन, अध्यापन, दान और प्रतिग्रह—ये चार मुख्य कार्य बतलाये हैं। अन्यत्र आदिपुराणमें भी इन कार्योंका निर्देश किया गया है। किन्तु इनका पूर्वोल्लेखोंसे समर्थन नहीं होता। वस्तुतः ब्राह्मण वर्णकी स्थापना आजीविकाकी प्रधानतासे न की जाकर जीवनमें व्रतोंका महत्व प्रस्थापित करनेके लिए ही की गई थी। आगे चल कर ब्राह्मण वर्ण स्वयं एक जाति बन गई। यह वैदिक धर्मकी ही कृपा समझिये।

२. क्षत्रिय वर्ण

दूसरा कारण अभिरक्षा है। किसी भी देशमें ऐसे लोगोंकी बड़ी आवश्यकता होती है जो परचक्रसे देशकी रक्षा करते हुए समाजमें सुव्यवस्था बनाये रखते हैं। अभिरक्षा शब्द द्वारा कार्यकी सूचना की गई है। यह कार्य क्षत्रिय वर्णकी मुख्य पहिचान है। इसके अनुसार शासन, सेना और पुलिसमें लगे हुए मनुष्य क्षत्रिय वर्णके माने जा सकते हैं।

साधारणतः यह समझा जाता है कि शस्त्र धारण करना और मार-काट करना क्षत्रियोंका काम है। किन्तु जो लोग ऐसा कहते हैं, वे इस बातको भुला देते हैं कि शस्त्र-विद्यामें निपुणता प्राप्त करना तथा देश और समाजपर आपत्ति आनेपर उसके वारणका उद्यम करना यह किसी एक वर्णका काम नहीं है। वर्णमें मुख्यता आजीविकाकी रहती है। यदि हम यह कहें कि वर्ण आजीविकाका पर्यायवाची है, तो कोई अत्युक्ति न होगी। जिस समय आदिनाथ जन्मे थे, उस समय उनका कोई वर्ण न था; किन्तु जब उन्होंने प्रजाकी रक्षा द्वारा अपनी आजीविका करना निश्चित किया और आजीविकाके आधार से मनुष्योंको तीन भागोंमें विभक्त कर दिया, तब वे स्वयं अपनेको क्षत्रिय वर्णका कहने लगे। अभिप्राय यह है कि यदि कोई पुलिस, सेना और शासनके प्रबन्धमें लग कर इस द्वारा अपनी आजीविका करता है, तो वह क्षत्रिय वर्णका कहा जाता है, अन्यथा नहीं। क्षत्रियोंका वर्ण अर्थात् कार्य बतलाते हुए महाकवि कालिदास रघुवंशमें राजा दिलीपके मुखसे क्या कहलाते हैं, यह उन्हींके शब्दोंमें सुनिये—

क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढ़ः ।

अर्थात् क्षत्रिय शब्द पृथिवी पर, आपत्तिसे रक्षा करना, इस अर्थमें रूढ़ है।

इससे स्पष्ट है कि बहुत प्राचीन कालकी बात तो जाने दीजिए, महाकवि कालिदासके कालमें क्षत्रिय नामकी कोई जाति विशेष नहीं मानी जाती थी। किन्तु जो अभिरक्षा द्वारा अपनी आजीविका करते थे, वे ही क्षत्रिय कहे जाते थे।

क्षत्रिय वर्णके कार्यमें अभिरक्षा शब्द अपना विशेष महत्त्व रखता है। शासनकी नीति क्या हो यह इस शब्द द्वारा स्पष्ट किया गया है। आक्रमण और सुरक्षा—ये शासन-व्यवस्थाके दो मुख्य अंग माने जाते हैं। किन्तु आक्रमण करना यह क्षत्रियोंका काम न होकर मात्र परचक्रसे देशकी रक्षा करना और देशके भीतर सुव्यवस्था बनाये रखना उनका काम है यह 'अभिरक्षा' शब्दसे व्यक्त होता है।

आजकल राजनीतिमें अहिंसाके प्रवेशका श्रेय महात्मा गांधीको दिया जाता है। यह हम मानते हैं कि महात्मा गांधीने आजकी दूषित राजनीतिमें एक बहुत बड़ी क्रांति की है। इससे न केवल भारतवर्षका मस्तक ऊँचा हुआ है; अपितु विश्वको बड़ी राहत मिली है। किन्तु यह कोई नई चीज नहीं है। हजारों वर्ष पहले जैन-शासकोंकी यही नीति रही है। भारतने दूसरे देशोंपर कभी आक्रमण नहीं किया, मात्र आक्रमणसे इस देशकी रक्षा की, यह इसी नीतिका सुन्दर फल है। आज विश्व इस चीजको समझ रहा है और वह इसके लिए भारतकी प्रशंसा भी करने लगा है।

३. वैश्य वर्ण

तीसरा कारण कृषि है। प्रत्येक देशकी अभिवृद्धिका मुख्य कारण कृषि, वाणिज्य, उपयोगी पशुओंका पालन, और उनका क्रय-विक्रय करना माना गया है। कार्य विभाजनके साथ यह कार्य करना जिन्होंने स्वीकार किया था, उन्हें वैश्य संज्ञा दी गई थी। उक्त कार्य वैश्य वर्णकी मुख्य पहिचान है।

इस समय भारतवर्षमें वैश्य वर्ण एक स्वतंत्र जाति मान ली गई है और उसका मुख्य काम दलाली करना रह गया है। कृषि और उपयोगी पशुओंका पालन करना यह काम उसने कभीका छोड़ दिया है। इन दोनों कार्योंको करने वाले अब प्रायः शूद्र माने जाते हैं। इसी नीतिका परिणाम है कि देशमें आर्थिक विषमता अपना मुँह बाये खड़ी है। कृषक वर्ग देशकी रीढ़ है। "उसके हाथमें ही व्यापार रहना चाहिए", यह हमारे देशकी पुरानी व्यवस्था थी। आजकल वह व्यवस्था सर्वथा लुप्त हो गई है, जिससे न केवल भारतवर्ष दुःखी है; अपितु विश्वमें त्राहि-त्राहि मची हुई है।

उत्पादन और वितरणका परस्पर सम्बन्ध है। उत्पादन एकके हाथमें हो और वितरण दूसरेके हाथमें, यह परम्परा समाज-व्यवस्थाको नष्ट करनेके लिए घुनका काम करती है। हम रूसकी आर्थिक प्रणालीको दोष दे सकते हैं; पर बारीकीसे देखनेपर विदित होता है कि उसमें इसी तत्त्वकी प्रकारान्तरसे प्रतिष्ठा की गई है। इसमें सन्देह नहीं कि इससे किसी हद तक व्यक्तिकी स्वतंत्रताका घात होता है और व्यक्तिको आर्थिक दृष्टिकोणसे समष्टिके अधीन रहनेके लिए बाध्य होना पड़ता है, किन्तु वर्तमान उत्पादन और वितरणकी प्रणालीके चालू रहते इस दोषके प्रक्षालनका अन्य कोई उपाय भी नहीं है।

प्राचीन कालमें कृषकको ही सर्वेसर्वा माना गया था। वही उत्पादक था और वही वितरक। उस समय आजके समान कृषकोंसे व्यापारियोका स्वतत्र वर्ग न था। यह बात इसीसे स्पष्ट है कि उस समय कृषि और वणिज् एक ही व्यक्तिके हाथमें रखे गये थे।

४. शूद्र वर्ण

चौथा कारण शिल्प है। गृह उद्योगमें इसका महत्त्व सर्वोपरि है। प्राचीनकालमें यह काम करने वाले मनुष्योंको ही शूद्र वर्णका कहा गया था इसमें सन्देह नहीं।

किन्तु धीरे-धीरे यह स्थिति बदलती गई और आजीविकाके आधारसे अनेक जातियाँ बनने लगीं। समाजमें ऐसे मनुष्योंका एक स्वतंत्र वर्ग बना, जो नाच-गानसे अपनी आजीविका करने लगा। इसके बाद इस स्थितिमें और भी अनेक परिवर्तन हुए और अन्तमे उन मनुष्योंका एक वर्ग सामने आया, जिनका पेशा सेवावृत्ति करना रह गया। समाजमे ये स्थित्यन्तर कैसे हुए, इसके कारण अनेक हैं। किन्तु यहाँ हम उन कारणोंका विचार नहीं करेंगे; क्योंकि यह एक स्वतंत्र निबन्धका विषय है। तत्काल हमें यह देखना है कि शूद्रोंकी इस स्थितिके उत्पन्न करनेमे मुख्य कारण कौन है ?

यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि हमारे देशकी श्रमण और वैदिक—ये दो संस्कृतियाँ मुख्य हैं, इसलिए शूद्रों की वर्तमान स्थितिके कारणोंकी छान-बीन करनेके लिए इनके साहित्यका आलोडन करना आवश्यक हो जाता है। उसमें भी सर्वप्रथम प्राचीन जैन और बौद्ध साहित्यको लीजिये। बौद्धोंके "धम्मपद" और जैनोंके "उत्तराध्ययन"मे समान रूपसे यह गाथा आती है—

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा॥

इसमे चारों वर्णोंकी स्थापनाका मुख्य आधार कर्म माना गया है।

यद्यपि इससे इस बातपर प्रकाश नही पड़ता कि किस वर्णका कर्म क्या है ? फिर भी श्रमण संस्कृतिके अनुसार इन चार वर्णोंकी स्थापनाका मुख्य आधार सामाजिक उच्चता और नीचता तथा जातिवाद नही है, इतना इससे स्पष्ट हो जाता है।

इन वर्णोका पृथक्-पृथक् कर्म क्या है इसकी विशद व्याख्या आचार्य जटासिंहनन्दिने अपने वराग-चरितमे की है। इसका उल्लेख हम पहले कर ही आये हैं।

जैन-परम्परामे इसके बाद आदिपुराणका काल आता है। आदिपुराणमे चार वर्णोंके वे ही कार्य लिखे हैं, जिनका उल्लेख जटासिंहनन्दिने किया है। किन्तु शूद्रोंके कार्योंमें उसके कर्त्ताने एक नये कर्मका प्रवेश और किया है, जिसे उन्होंने न्यग्वृत्ति (सेवावृत्ति) शब्दसे सम्बोधित किया है। वे शूद्र वर्णके कार्यका शिल्प-कर्मके रूपमें उल्लेख न कर उसके स्थानमे मुख्य रूपसे न्यग्वृत्ति शब्दका निर्देश करते हैं।

यह तो श्रमण-परम्पराकी स्थिति है। अब थोड़ा वैदिक-परम्पराका आलोडन कीजिए।

वैदिक-परम्परामे वेदोका प्रथम स्थान है। उनमें ऋग्वेद पहला है। इसके पुरुषसूक्तमे सृष्टिके उत्पत्ति क्रमका निर्देश करते हुए लिखा है कि जिस विराट् पुरुषने नदी, तालाब, वृक्ष, लताएँ, पशु, देव और दानव बनाए, उसका ब्राह्मण मुख है, क्षत्रिय बाहु है, वैश्य जंघाएँ हैं और शूद्र दोनों पैर है।

अथर्ववेदमे भी यह उल्लेख आता है, किन्तु वहाँ वैश्योंको जंघाओकी उपमा न देकर उदरकी उपमा दी गई है।

वेदोंके बाद ब्राह्मण और उपनिषद् काल आता है; किन्तु वहाँ इनके कार्योंका अलगसे विचार नहीं किया गया है।

इसके बाद मनुस्मृति काल आता है। मनुस्मृति ब्राह्मण धर्मका प्रमुख ग्रन्थ है। इसकी रचना मुख्यतया चार वर्णोंके धर्म कर्त्तव्योंका कथन करनेके लिए की गई थी।

यहाँपर हम प्रसंगसे धर्मके सम्बन्धमे दो शब्द कह देना चाहते हैं। 'धर्म' शब्द मुख्यतया दो अर्थोंमें व्यवहृत होता है—एक व्यक्तिके जीवन संशोधनके अर्थमे जिसे हम आत्मधर्म कहते हैं और दूसरा समाज कर्तव्यके अर्थमें। मनुस्मृतिकारने इन दोनो अर्थोंमे धर्म शब्दका उल्लेख किया है। वे समाज कर्त्तव्यको वर्णधर्म कहते हैं और दूसरेको सामान्य धर्म कहते है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पुरुषार्थोंमें धर्म पुरुषार्थसे वर्ण धर्म ही लिया गया है। उनके मतसे सामान्य धर्म अर्थात् आत्मधर्मके अधिकारी सब मनुष्य हैं, किन्तु समाज कर्त्तव्य सबके जुदे-जुदे हैं। गीतामे 'स्वधर्मे निधनं श्रेय 'से इसी समाज धर्मका ग्रहण होता है।

मनुस्मृतिकार ९वें अध्यायमे शूद्र वर्णके कार्योका निर्देश करते हुए कहते है—

विप्राणां वेदविदुषां गृहस्थानां यशस्विनाम्।
शुश्रूषैव तु शूद्रस्य धर्मो नैश्रेयसः परः ॥३३४॥

वेदपाठी, गृहस्थ और यशस्वी विप्रोंकी सेवा करना यही शूद्रोंका परम धर्म है जो निश्रेयस का हेतु है। इसके आगे वे पुनः कहते है—

शचिरुत्कृष्टशुश्रूषुर्मृदुवागनहंकृत।
ब्राह्मणाद्याश्रयो नित्यमुत्कृष्टां जातिमश्नुतेः ॥३३५॥

पवित्र रहने वाला, अच्छी टहल करने वाला, धीमेसे बोलने वाला, अहंकारसे रहित और ब्राह्मण आदि तीन वर्णोंके आश्रयमे रहने वाला शूद्र ही उत्तम जातिको प्राप्त होता है।

इस तरह इन दोनों परम्पराओंके साहित्यका आलोडन करनेसे यह बात बहुत साफ हो जाती है कि शूद्र वर्ण का मुख्य कर्त्तव्य तीन वर्णोंकी सेवा करना मनुस्मृति की देन है। आदिपुराणमें यह बात मनुस्मृतिसे आई है। आदिपुराणमे जो शूद्रोके स्पृश्य और अस्पृश्य—ये भेद किये गये है, वह भी मनुस्मृति व इतर ब्राह्मण ग्रन्थोंका अनुकरणमात्र है। यह इसीमे स्पष्ट है कि आदिपुराणके पहले अन्य किसी आचार्यने शूद्रोंके न तो कारु-अकारु और स्पृश्य-अस्पृश्य—ये भेद किये है और न उनका काम तीन वर्णोंकी सेवा करना ही बतलाया है। आदिपुराणकारको ऐसा क्यों करना पडा इसके लिए हमे भारतकी तात्कालिक और इससे पहलेकी परि-स्थितिका अध्ययन करनेकी आवश्यकता है। इस समय भारतवर्षमे हिन्दुओं और मुसलमानोंका विरोध जिस स्तरपर चालू है ठीक वही स्थिति उस समय श्रमण-ब्राह्मणो की थी। उस समय श्रमणो और श्रमणोपासकोंको 'नंगा लुच्चा' कहकर अपमानित किया जाता था, उनके मंदिर ढाये जाते थे, मूर्त्तियोंके अंग भंगकर उन्हें विद्रूप बनाया जाता था, बौद्धोको 'बुद्धू' शब्द द्वारा सबोधित किया जाता था और जैन-बौद्ध-साधुओंको अनेक प्रकारसे कष्ट दिये जाते थे। मीनाक्षीके मन्दिरमे अंकित चित्र आज भी हमे उन घटनाओंकी याद दिलाते है। ८-९वी शताब्दिमें यह स्थिति इतनी असह्य हो गई थी जिसके परिणामस्वरूप बौद्धोंको तो यह देश ही छोड़ देना पडा था और जैनोंको तभी यहाँ रहने दिया गया था जब उन्होंने ब्राह्मणोंके सामने सामाजिक दृष्टिसे एक तरहसे आत्मसमर्पण कर दिया था। यह तो हम आगे चल कर बतलायेंगे कि आदिपुराणमे मनुस्मृतिसे कितना अधिक साम्य है। यहाँ केवल इतना ही उल्लेख करना पर्याप्त है कि आदिपुराणमे शूद्र वर्णका जो सेवावृत्ति कार्य बतलाया गया है उसका श्रमण परम्परासे मेल नहीं खाता।

इस प्रकार शूद्र वर्णका प्रधान कार्य क्या था और बादमे उनकी सामाजिक स्थिति में किस प्रकार परि-वर्तन होता गया इसका संक्षेप मे निर्देश किया।

मनुस्मृति और शूद्रवर्ण

अब यहाँ यह देखना है कि शूद्र वर्णकी इस तरहकी निकृष्ट अवस्थाके होनेमें मनुस्मृतिका कितना हाथ है। यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि मनुस्मृतिमे चारों वर्णोंके कार्यों और उनके परस्पर सम्बन्धका विस्तृत विचार किया गया है। उसके कर्त्ता ग्रन्थके आदिमें मंगलाचरणके बाद स्वयं लिखते हैं—

भगवन् सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वशः।
अन्तरप्रभवाणां च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि ॥२॥

हे भगवन्! सब वर्णों और संकीर्ण जातियोंके धर्मोंको आद्यन्त आप हमें कहनेके योग्य हैं।

मनुस्मृति कहती है—

"ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इनकी निष्कपट-भावसे सेवा करना यही एक धर्म शूद्रका कहा गया है (१.९१)। शूद्र सन्ध्या करनेके अधिकारी नहीं तथा जो द्विज प्रातः और सायंकालके समय संध्या नहीं करता, वह भी शूद्रके समान सब प्रकारके द्विज कर्त्तव्यसे बहिष्करणीय है (२.१०३)। शूद्र-कन्यासे चारों वर्णोंके मनुष्य विवाह कर सकते हैं, परन्तु शूद्र-शूद्र कन्यासे ही विवाह कर सकता है (३.१३)। श्राद्धमें भोजन करते समय ब्राह्मणको चाण्डाल''''न देखे (३-२३९)। शूद्रोंके राज्यमें निवास न करे (४.६१)। शूद्रको उपदेश न देवे और न जूठ और हवनमे बचा हुआ शाकल्य देवे, तथा शूद्रोंको धर्म और व्रतोंका उपदेश न करे (४.८०)। शूद्रोंको धर्म और व्रतका उपदेश करने वाला मनुष्य उसी शूद्रके साथ असंवृत नामक नरकको प्राप्त होता है (४.८१)। श्राद्ध कर्मके अयोग्य शूद्रका पका अन्न न खावे, किन्तु अन्न न मिलनेपर एक रात्रि निर्वाह योग्य उससे कच्चा अन्न ले लेवे (४-२२३)। मृतक शूद्रको गाँवके दक्षिण द्वारसे ले जावे (५-९२)। मरे हुए ब्राह्मणको शूद्रके द्वारा न ले जाय, क्योंकि शूद्रके स्पर्शसे दूषित हुई वह शरीरकी आहुति स्वर्ग देने वाली नही होती (५.१०४)। शूद्रोको मासमे एक बार हजामत बनवाना चाहिए और ब्राह्मणका जूठा भोजन करना चाहिए (५.१४०)। केवल जातिसे जीविका निर्वाह करने वाला धर्महीन ब्राह्मण राजाकी ओरसे धर्मवक्ता हो सकता है, परन्तु शूद्र कदापि नही हो सकता (८ २०)। जो शूद्र अपनेसे उच्च वर्णकी निन्दा करे, तो राजा उसकी जिह्वा निकाल ले, क्योंकि उसका पैरसे जन्म है और उसको अपनेसे उच्चको कहनेका अधिकार नही है (८.२७०)। यदि कोई शूद्र ब्राह्मणको नीच आदि कुवचन कहे तो अग्निमे तपाकर १० अंगुलकी लोहेकी कील उसके मुँहमे ठोक दे (८.२७१)। (८.२७२)। मनु जी की आज्ञा है कि शूद्र जिस अंगसे द्विजातियोंकी ताड़ना करे उसी अंगका भंग करना चाहिए (८-२७९)। हाथसे मारे तो हाथ, पैरसे मारे तो पैर भंग कर देना चाहिए (८.२८०)। शूद्रके ब्राह्मणके आसनपर बैठनेपर लोहा गर्म करके उसकी पीठ दाग दे, देशसे निकाल दे और उसके शरीरसे मास पिण्ड कटवा दे (८.२८१)। शूद्रके ब्राह्मणपर थूकनेपर दोनों होंठ कटवा दे, मूतनेपर लिंगेन्द्रिय छिदवा दे और अपान वायु छोडनेपर गुदा छेदन कर दे (८.२८२)। जो शूद्र अभिमानवश द्विजातिको बाल पकड़ कर पीड़ा दे या पैर या वृषणोंको कष्ट दे; तो उसके हाथको कटवा दे (८२८३)। शूद्र यदि भर्ता आदि द्वारा रक्षित स्त्रीके साथ गमन करे तो उसका सर्वस्व राजा हर लेवे। यदि अरक्षित स्त्रीके संग गमन करे; तो उसकी लिंगेन्द्रिय कटवा दे (८.३७४)। क्रीतदास या प्राप्तदास इन्हींसे टहल सेवा करावे, क्योंकि ब्रह्मा जीने शूद्रको ब्राह्मणका दास कर्म करनेके लिए ही उत्पन्न किया है (८.४१३), (८.४१४)। (८.४१६)। शूद्रका काम है कि वह निरंतर अपने कार्यमें रत रहे (८.४१८)। स्वर्ग की प्राप्तिके वास्ते और इस लोकमें अपनी गुजरके वास्ते शूद्र ब्राह्मणकी सेवा करे, क्योंकि वह ब्राह्मणका सेवक है। सेवक शब्दसे शूद्रकी कृतकृत्यता है (१०.१२२)। ब्राह्मणकी सेवा करना शूद्रका परम धर्म कहा है, शूद्र जो अन्य कर्म करता है,

वह सब निष्फल हो जाता है (१०.१२३)। सेवक शूद्रके वास्ते ब्राह्मण उच्छिष्ट भोजन, पुराने वस्त्र और धान्योंके बाकी बचे कण और पुराने बर्तन देवे (१२.१२५)। शूद्रका उपनयन संस्कार न करे (१०.१२६)। क्योंकि उसके पास धन बढ़ जानेपर वह ब्राह्मणोंको सताने लगता है (१० १२९)।"

भारतीय परम्परामें विषमताके बीज मनुस्मृतिने बोए, यह इन उल्लेखोंसे स्पष्ट हो जाता है।

उपसंहार

भारतवर्षमें ईसवी चौथी शताब्दिके पूर्व अछूतपनकी बीमारी नही थी। जब ब्राह्मण धर्मका भारतवर्षमे प्राबल्य हुआ और वे जैन-बौद्धोंको परास्त कर मनुस्मृतिके आधारसे समाजव्यवस्थाको दृढ़ मूल करनेमें समर्थ हुए, तभीसे इस भयानक बीमारीने हमारे देशमे प्रवेश किया है।

बौद्ध इस देशको छोडकर चले गये इसलिए वे इस बीमारीके शिकार न हो सके, किन्तु जैनोंको ८-९वी शताब्दीमे इसके सामने न केवल नतमस्तक होना पड़ा, अपितु समानताके आधारपर स्थापित अपनी पुरानी सामाजिक व्यवस्थासे उन्हें चिरकालके लिए हाथ धोने पड़े!

ब्राह्मण धर्मकी समाज व्यवस्थाके अनुसार अछूतपन एक स्थायी वंशानुगत कलंक है, जो किसी तरह धुल नही सकता।

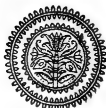
आजके रूढिवादी जैनी कुछ भी क्यों न कहें, पर हमे इस बातका सतोष है कि जैनधर्मकी उस उदात्त भावनाके दर्शन उसके विशाल साहित्यमे आज भी होते है, जिसने इसका सदा काल तिरस्कार किया है। तभी तो आचार्य जिनसेन कहते है—

मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा।
वृत्तिभेदाहिताद् भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते॥

—आदिपुराण पर्व ३८ श्लोक ४५

जाति नाम कर्मके उदयसे उत्पन्न हुई मनुष्य जाति एक है। यदि उसके चार भेद माने भी जाते है, तो केवल आजीविकाके कारण ही है।

■



देव-पूजा

यह संसारी जीव आत्मकल्याणका इच्छुक है। परन्तु जब तक इसे पूर्ण सुखकी प्राप्ति नही हुई है, पराधीन सुखको ही यह आत्म-सुख मानता है। इन्द्रियद्वारा पदार्थके ग्रहण करने पर तज्जन्य अनुभव करनेके लिये ही यह धड़पड करता है तब तक यह आत्मकल्याणका मार्ग चूका हुआ है—इनमें कुछ भी संदेह नही है, कारण इच्छाके अनुकूल इन्द्रियोंके द्वारा निरन्तर पदार्थोंका ग्रहण होता रहेगा अथवा जिस पदार्थको आज यह अपने लिये हितकर समझता है उसमें इसकी सर्वदा उसी प्रकारकी कल्पना बनी रहेगी, यह निश्चित नही कहा जा सकता है। हम देखते है कि इस समय जो पदार्थ हमे हितकर मालूम पड़ता है, इच्छा बदलनेपर उसी पदार्थकी प्राप्तिके लिये हमारी अरुचि उत्पन्न हो जाती है। आज जो पदार्थ हमे तिरस्करणीय मालूम पड़ता है अतएव उसे हम अपनेसे बिल्कुल दूर कर देते है। दूसरे दिन उसी पदार्थकी प्राप्तिके लिये हम अत्यन्त व्याकुल हो उठते है। इतना ही नही, किन्तु ज्यों-ज्यों वह पदार्थ हमसे दूर होता जाता है, त्यों-त्यो उसकी प्राप्तिके लिये हमारी इच्छा और अधिक तीव्र होती जाती है और अन्तमे उसकी प्राप्ति न होने पर हमारी वही इच्छा दु:खरूपमे परिणत होकर अनुकूल दूसरे पदार्थोंकी प्राप्ति मे भी अरुचिको उत्पन्न करने लगती है। इस तरह यह निश्चित हो जाता है कि सच्चा सुख इन्द्रियोके द्वारा परवस्तुके ग्रहण करनेमे न होकर कोई विलक्षण ही वस्तु है।

फिर वह सुख क्या वस्तु है, यह प्रश्न हमारे सामने एकदम खड़ा रहता है। इस प्रश्नके उत्तरके लिए हमे दु:ख और सुखके स्वरूपका विचार करना होगा। उनके स्वरूपका विचार करने पर यह स्पष्ट मालूम पड जाता है कि इच्छाओंके ऊपर इच्छाओंका उत्पन्न होना ही दु:ख है और उन इच्छाओका अभाव करना ही सुख है इस तरह दु:ख और सुखके स्वरूपका निर्णय हो जाने पर हमे यदि सुखकी प्राप्ति करना है तो उसकी प्राप्ति इच्छाओंके अनुकूल विषयोको जुटानेमे न होकर इच्छाओके सर्वथा अभाव करने पर ही हो सकेगी यह हमे और समझ लेना चाहिये। कारण, इच्छाके अनुकूल उसका खाद्य देनेसे यद्यपि एक इच्छा शान्त हो जाती है, परन्तु उसके स्थानमे उसी समय दूसरी इच्छा खडी रहती है। इस तरह हम निरन्तर इच्छाओके अभावका प्रयत्न करते है और निरन्तर इच्छाये उत्पन्न होती रहती है। इसका कारण—इच्छाओंके अभावका मार्ग चूका हुआ है, यही समझना चाहिए। इच्छाओंके अभाव करनेका सबसे उत्तम उपाय यदि है तो वह यही हो सकता है कि हम इच्छाओंकी पुष्टि न करके उनके नाशका प्रयत्न करें।

यदि हम इच्छाओंका सर्वथा नाश कर सके तो इच्छाजन्य दु:खका अभाव होकर परम वितृष्णरूप सुख की हमारी आत्मामे उत्पत्ति होगी, इसमें कोई सन्देह नही और उस वितृष्णरूप सुखका विरोधी कोई कारण न रहनेसे वह सुख स्थाई और अनन्तरूप होगा।

इस तरह सुखके स्वरूपका पता लग जाने पर हमे उसके मार्गका भी पता लगाना ही होगा। कारण, बिना मार्गके उस निराकुलतारूप सुखकी प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है।

निराकुलतारूप सुखके मार्गका निश्चय करते हुये वह निर्विकल्पदशाका ही पोषक होना चाहियें। कारण, जब तक अपनी आत्मामें विकल्प अवस्था है तब तक यह जीव अपना कल्याण नही कर सकता है। इसके लिये इसे सहायक आदर्शकी अत्यन्त आवश्यकता है। परन्तु मानसिक विकल्प बहुत करके इन्द्रियोंके

द्वारा ग्रहण किये हुये पदार्थमें ही होता है, इसलिये यह जीव अपरिपक्व अवस्थामे अपने जीवनका ध्येय किसी भी वस्तुको बना लेता है, ऐसे जीवके अपने जीवनका एक भी ध्येय स्थिर नही रहता है, इसीलिये यह अवस्था इस जीवके कल्याणके लिये सहायक न होकर उसके लिये बाधक ही सिद्ध होती है। कारण इस अपरिपक्व अवस्थामें यह जीव विकल्प छोड़नेकी इच्छा तो करता है, परन्तु वह छूटता नही है। परन्तु विकल्पसे रहित हुये बिना पूर्णशांति अथवा सुखकी प्राप्ति नही हो सकती है।

इसके साथ दूसरी बात यह है कि यदि पूर्ण शान्तिकी प्राप्तिके लिये यह प्राणी समस्त विकल्पोंको एकदम छोड़नेका भी प्रयत्न करे तो वह असंभव है। पूर्ण शान्ति केवल नासाग्रदृष्टि, निर्जनस्थान और घर-कुटुम्ब आदिके त्यागमें नहीं है। वह तो आत्मपरिणाम हैं, इसलिये इन्द्रियोंका निरोध और रागद्वेष रहित मन-की स्थिरता होनेपर ही उसकी प्राप्ति हो सकती है।

इस तरह जबकि ससारके बंधनों अथवा दुःखसे छूटनेके लिये इसका ध्येय अथवा सच्चा आदर्श निर्वि-कल्पदशा किवा पूर्णशांति है तो इसे उसकी प्राप्ति करना ही चाहिए। उसकी प्राप्तिके दो मार्ग सम्भव हैं। पहिला विकल्पके कारणरूप बाह्य वस्तुओंका त्याग करके धीरे-धीरे आत्मवृतिको अपनी आत्मामे स्थिर करना और दूसरा विकल्परूप अवस्थामे रह कर भी अथवा विकल्प अवस्थाके कारणरूप अवस्थामे रह कर भी अथवा विकल्प अवस्थाके कारणरूप बाह्य पदार्थ और शरीर आदिके ऊपर प्रेम करते हुए भी धीरे-धीरे उनका त्याग करना—इन दोनों अवस्थाओंमें निर्विकल्प अवस्था उत्पन्न करनेवाली सामग्रीमे मनको स्थिर करना अत्यन्त आव-श्यक है। इस समय जो पहिले मार्गका आश्रय कर चुके है, उन्होंने तो बाह्य-क्रियाओको व्यर्थका महत्व न देकर राग, द्वेष और मोहसे रहित शुद्ध आत्मपरिणतिको अपने आत्मामे स्थिर करना चाहिए परन्तु हम पहले मार्ग-से अभी दूर है और दूसरे मार्गमे भी हमारी स्थिरता निर्विकल्प अवस्थाको उत्पन्न करनेवाली सामग्रीके बिना नहीं हो सकती है, इसलिए अपने लिये निर्विकल्प अवस्थाको उत्पन्न करनेवाली अथवा शान्तिकी सामग्री एकत्र करना चाहिये।

सामग्रीके सम्बन्धमे जिसने उस निर्विकल्प अवस्थाको प्राप्त कर लिया हो, ध्येयकी सिद्धिके लिए वही अपनी पूजाकी उपयुक्त सामग्री समझना चाहिए। परन्तु आज अपने लिए ऐसे पवित्र आत्माके साक्षात् दर्शन नहीं होते हैं, इसलिए हम और आप उस परमात्माकी आदर्शरूपसे स्थापना करते हैं। परन्तु उस स्थापनाको साक्षात् परमात्मा न समझकर उस स्थापनामे अपने अन्तर्चक्षुओंके द्वारा ध्यान करना चाहिए। ऐसा करनेसे यद्यपि स्थापनामे परमात्माके दर्शन नहो होंगे तो भी उस निमित्तसे अपनी अन्तरात्मामें परमात्म-ज्योति जागृत होगी। इससे यह निष्कर्ष निकल आता है कि स्थापनापूजा भी परमात्माकी पूजा है। कारण, परमात्मा साक्षात् रहो अथवा परोक्ष रहो, अपनेको जब भी सबसे पहिले परमात्माके दर्शन होंगे तब अपनी अन्तरात्मामे ही होंगे अर्थात् ध्यान द्वारा यह आत्मा स्वयं अपनेमें ही परमात्मदशाका अनुभव करेगा। उसे कर्मके निमित्तसे होनेवाला विकारीभाव अलग अनुभवमे आवेगा। और शुद्ध चिद्रूप आत्मा अलग अनुभवमें आवेगा। इस अनुभवके माहात्म्यसे उसकी यह विवेकदृष्टि अपने आप जागृत हो जाती है कि मैं स्वयं जन्म आदि रोगोंसे रहित हूँ, ज्ञानघन हूँ, वीतराग हूँ, चिन्मय परम सुखका भोक्ता हूँ। यह दिखनेवाली विकारी अवस्था मेरी न होकर उपाधिजन्य है। जब तक मैं इसे अपनी समझता हूँ, तभी तक यह मुझसे सम्बन्ध किये हुए है। इस विकारी अवस्थामेसे ममत्वभावकी कमी होने ही वह अपने आप मुझसे दूर हो जावेगी और मेरा यह स्वभावसे शुद्ध, परन्तु उपाधिसे सम्बन्धको प्राप्त, अतएव अशुद्ध-आत्मा अपनेमे ही परमात्मदशाका अनुभव करने लगेगा।

इस तरह इस संसारी प्राणीको आत्मस्वरूप अथवा सच्चे सुखकी प्राप्तिके लिए साक्षात् परमात्मा अथवा स्थापनाके रूपमें परमात्मा ही कारण है। वह परमात्मा वीतराग सर्वज्ञ और हितोपदेशी ही हो सकता है। वही अपना इष्ट देव है, उसकी ही अपनेको पूजा करनी चाहिये। स्थापनाके रूपमें यदि हम और आप उस महाप्रभुकी पूजा करते हैं तो भी साक्षात् देवकी पूजा करते है। इसके अतिरिक्त विकल्प रूप अवस्थामें अपने लिये दूसरा कोई भी तत्त्व अपने आत्मकल्याणका विषय नही हो सकता है। गुरुमें भी अंशरूपसे परमात्म-ज्योति जागृत होती है, इसलिए वह भी अपनी उपासनाकी वस्तु समझनी चाहिए। गृहस्थको इस प्रकार परमात्माकी अनन्यभावसे निरन्तर पूजा करनी चाहिये। हमारे आत्मीक सुखकी प्राप्तिके लिए यही सबसे सरल और हितकर मार्ग है।

●

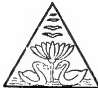
गुरूपास्ति

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥

समन्तभद्रस्वामीने गुरुका लक्षण बतलाते हुये रत्नकरण्डश्रावकाचारमें कहा है कि जो पाँच इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त है, संसारके सर्व प्रकारके प्रलोभनोंसे जिसका मन उदास हो गया है। जिसने व्यापार आदि सर्वप्रकारके आरम्भका त्याग कर दिया है। जो बाह्य और आभ्यन्तर—इस तरह दोनों प्रकारके परिग्रहसे रहित है और जो निरन्तर ज्ञान, ध्यान तथा तपमे लीन रहता है वह साधु—गुरु प्रशंसायोग्य है।

परिवर्तनका नाम संसार है इसलिये इस परिवर्तनमे पडे हुये सब जीव संसारी समझने चाहिये। उस संसारकी उत्पत्ति अपने विभाव-परिणामोंसे होती है। जब तक यह संसारी प्राणी अपने स्वस्वरूपसे च्युत है अर्थात् परभावमे निजभावकी कल्पना करता है, तब तक विभावपरिणति होना स्वाभाविक बात है। बहुतसे प्राणी अपनेसे सर्वथा भिन्न परभाव ऐसे गृह, स्त्री और पुत्रादिकका त्याग करके भी आत्मा और कर्मके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले परभावोंमे अर्थात् परनिमित्तक भावोंमे अपनत्वकी कल्पना करते हैं। उसी प्रकार बहुतसे प्राणी पर-कर्मनिमित्तक भावोके होते हुये भी तथा उन भावोंके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाली आत्माकी विकारी अवस्थाका प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए भी आत्माको वर्तमानसे भी सर्वथा शुद्ध मानते है। परन्तु ये दोनों ही मान्यतायें वस्तुस्थितिको छोड़कर है। यद्यपि स्वतंत्र आत्मा अनन्त ज्ञानादि गुणवाला है तो भी अनादिकालसे इस आत्माके कर्मबन्ध होनेके कारण केवलज्ञानादि गुण शक्तिरूपसे है, प्रकट नही। उन गुणोंकी व्यक्तता रहते हुये जो काम होता है वह अशुद्ध आत्माके नही होता है। दियासलाइयोंकी पेटी जो काम नहीं कर सकती है वह एक जलती हुई सीक काम करती है। इस तरह कर्मबद्ध आत्माको सर्वथा शुद्ध मानना जिस प्रकार मिथ्या है, उसी प्रकार उसको सर्वथा रागी और द्वेषी कल्पना करना भी मिथ्या है। आत्माको व्यवहारसे जो रागी और द्वेषी कहा जाता है इसका कारण, परनिमित्त है। कारण, व्यवहार परनिमित्तसे उत्पन्न हुये धर्मको ग्रहण करता है। वहाँपर केवलज्ञानादि शक्ति रहते हुये भी वह उसका विषय नही होनेसे उसे ग्रहण नहीं करता है। उसी प्रकार निश्चयसे जो आत्माको शुद्ध-बुद्ध और निरंजन आदि कहा जाता है

इसका कारण केवल वस्तु स्वरूपकी मुख्यता है। कारण, निश्चय केवल वस्तुस्वरूपको ग्रहण करता है, वहाँ पर राग और द्वेष आदि परिणति रहते हुये भी वह निश्चयनयका विषय न होनेके कारण निश्चयनय उसे ग्रहण नहीं करता है। इस तरह इन दोनों नयोंके विषयमें व्यवहारका विषय हेय है और निश्चयका विषय उपादेय है, इसप्रकारकी दृढ़श्रद्धाके द्वारा परवस्तुके ऊपर होनेवाले मोह, राग और द्वेषको क्रमसे त्याग करना चाहिए। इतना ही नहीं, किन्तु इन औदयिक-भावोंकी तरह क्षायोपशमिक और औपशमिक अवस्थामें भी हेयबुद्धि रहनी चाहिए। और स्वस्वरूपकी प्राप्तिके लिये निरन्तर अभ्यास करना चाहिए। परन्तु अनादि-कालीन वासनाका सहसा त्याग करना कठिन है, उसके लिए अति अभ्यासकी आवश्यकता है। जैसे-जैसे यह प्राणी संसारमें रतिको दुःखरूप और संसारकी अवस्थाओंके त्यागको सुखरूप अनुभव करेगा, वैसे-वैसे इस प्राणीकी परवस्तुके ऊपरकी मोहरूप वासना छूटती जावेगी। परवस्तुसम्बन्धी ममत्वकी कमी हो जानेके कारण राग और द्वेषरूप परिणति अपने आप कम होती जाती है। इस तरह धीरे-धीरे घर, स्त्री आदि पदार्थोंके छूट जानेपर शरीर सम्बन्धी इष्टानिष्ट बुद्धिकी भी कमी हो जाती है और यह प्राणी इन सबको दुःखका कारण समझकर उनका त्याग कर देता है। इसके बाद इसकी स्थिति आत्मामें होती है, चर्या भी आत्माके लिये ही करता है और यह अपना सम्बन्ध अपनी आत्मासे ही जोड़ता है। अर्थात् इसकी जो कुछ भी प्रवृत्ति होती है वह सब आत्माके लिए ही होती है, दूसरे पदार्थोंके लिए नहीं। जिस प्रकार सोनेको शुद्ध करनेके लिये उसे तपाया जाता है, पीटा जाता है और दूसरे पदार्थका मेल किया जाता है, वह सब विधि सोनेकी अशुद्धता दूर करनेमें ही सहकारी होती है। उसी प्रकार परम वैराग्यको प्राप्त हुआ साधु बाह्य समस्त क्रियाओंको करता हुआ भी वे सब उसके कर्मबन्धके लिये कारण न होकर कर्म-निर्जराके लिये ही कारण होती है। सत्यदृष्टिसे ऐसा साधु ही सच्चे मोक्षमार्ग अथवा आत्मकल्याणका उपासक समझना चाहिए। उसके आचार्य उपाध्याय आदि अनेक बाह्य वेष दिखते हुये भी तत्वतः वह एकरूप है। शिक्षा और दीक्षा आदिके निमित्तसे वे सब उसकी उपाधियाँ हैं, निजस्वरूप नहीं। ऐसे महात्माको यद्यपि वर्तमानमें मोक्षकी प्राप्ति नहीं हुई है, परन्तु उस मार्गके ऊपर आरूढ होनेके कारण साध्यरूपमें नहीं तो भी साधनरूपमें वह महात्मा सबके द्वारा वंदनीय है, अपनी कृतिमें मोक्षमार्गका साक्षात् प्रदर्शक होनेके कारण वही महात्मा हमारा गुरु है, आत्मकल्याणका साक्षात् साधन करनेवाला होनेसे वही महात्मा सच्चा साधु है। अपनेको ऐसे महात्माकी ही निरन्तर वंदना, स्तुति और पूजा करनी चाहिए। यदि वे अपने समक्ष न हों तो भी उनका परोक्ष वंदनामें अपना चित्त रहना चाहिए।



स्वाध्याय

स्वाध्याय इस शब्दका वास्तविक अर्थ आत्मचिन्तवन समझना चाहिए। स्व शब्दका अर्थ आत्मा और अध्याय शब्दका अर्थ चिंतवन अथवा ध्यान है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रतिदिन इस प्राणीको आत्म-चिंतवनमें अपना समय व्यतीत करना चाहिए। शास्त्र आदिके अध्ययन करनेका भी स्वाध्याय कहते हैं, उसका इतना ही प्रयोजन है कि इस विषमतारूप संसारका और इस जगत्में विद्यमान समस्त पदार्थोंका यदि योग्य परिज्ञान नहो हुआ तो आत्मतत्त्वकी परख करना कठिन हो जावेगी। कारण, यह संसारी प्राणी मोह और अज्ञानके कारण शरीराश्रित क्रियाओंको ही आत्मतत्त्वकी कल्पना करके बैठा है। इसलिए जब वह भेद-विज्ञानके कारणभूत शास्त्रोंका निरन्तर अभ्यास करने लगेगा। तभी इसे शुद्ध आत्मस्वरूपका ज्ञान हो सकेगा। स्वाध्यायका सबसे प्रथम प्रयोजन भेदविज्ञानकी प्राप्ति है, इसलिए सर्वप्रथम भेदविज्ञानके कारणभूत द्रव्यानुयोगका स्वाध्याय करना ही उपयुक्त है। परन्तु इस जीवकी पहली अवस्था इतनी अपरिपक्व है कि उसके रहते हुये भेदविज्ञानके प्रतिपादक शास्त्रोंका स्वाध्याय करके भी इसे अपने आत्मस्वरूपका ज्ञान नही होता है। इसलिए सबसे पहले पुण्य और पाप और उसके फलके ज्ञान करानेवाले तथा उसी प्रकार धीरे-धीरे विवेचनात्मक पद्धतिसे पदार्थोंके स्वरूपके और अपनी आभ्यान्तर-बाह्य क्रियाओंका ज्ञान करानेवाले शास्त्रों-का भी स्वाध्याय करना चाहिए। ऐसा करनेसे अपनेको पुण्य-पापरूप अवस्था, पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप और स्वयं आचरण करने योग्य चारित्र इनका यथार्थ बोध हो जायगा।

यहाँ पर इतना ध्यानमें रखना चाहिए, कि ससारमे जो व्यवहार और विचारोंमें एकान्तता नजर आती है, उसका कारण केवल उस विषयकी प्रधानताको प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रोका ही स्वाध्याय समझना चाहिए। हमारे यहाँ वस्तुतत्त्व और उसके व्यवहारका विवेचन करनेवाले चार अनुयोग होते हुए भी उनके स्वाध्यायका क्रम बहुजन समाजको मालूम नही होनेसे अपनी इच्छाके अनुसार किसी एक अनुयोगके ग्रन्थोका स्वाध्याय करके वे उसके एकान्ती बन जाते है, परिणाम यह होता है कि किसीको व्यवहारमे धर्म दिखता है तो किसीको विचारोमे। कोई रूढिसे आई हुई, परन्तु लौकिक क्रियाओंको ही धर्मका चोगा पहिनाकर उनसे मुक्ति प्राप्त करना चाहते है तो कोई व्यवहार जगत्को सर्वथा असत्य मानकर विचारोंकी प्रमुखतासे ही मोक्ष प्राप्त करना चाहते है। परन्तु वे व्यवहारी जिन्हे आत्मतत्त्वके स्वरूपके पहचान-की गंध भी नही है ऐसे लोग शास्त्रका आधार लेकर लौकिक क्रियाओंको करते हुए मोक्षमार्गी नहीं हो सकते हैं। शास्त्रकारोंने ऐसे जीवोंको व्यवहाराभासी कहा है उसी प्रकार जो बहुजन समाजके ऊपर क्या परिणाम होगा, इधर थोड़ा भी लक्ष्य न देकर इस व्यवहारप्रधानी जगत्को अपने विचारोका ही केन्द्र बनानेका सुख-स्वप्न देखते है और स्वयं भी उन विचारोंकी मनोहर कल्पनाओंमे अपनेको संसारमुक्त समझनेका प्रयत्न करते है। ऐसे लोग जिनकी दृष्टिमे यह भी योग्य और वह भी योग्यकी दृढ़ श्रद्धा जमी हुई है, उनको अज्ञानी कहते हैं। परन्तु वे इस बातको बिल्कुल भूल जाते हैं कि यह संसार पुद्गल और चेतनाका मेल होनेके कारण हमारी क्रियाओंमे दोनों ही तत्त्वोंका प्रतिबिम्ब पडे बिना नहीं रह सकता है, अतएव जो क्रिया आत्मा और शरीर इन दोनोंकी पोषक न होकर हानिकर है, उनका भी हमे त्याग करना होगा। उसी प्रकार जो विचार भेद-विज्ञानकी ओटमें शरीर सम्बन्धी क्रियाकी तरफ बिल्कुल दुर्लक्ष्य करते हैं, उनका भी हमे त्याग करना होगा। इसलिए केवल विचारवादियोंको भी शास्त्रकारोंने मिथ्यादृष्टि कहा है। इस तरह

यह सिद्ध हो जाता है कि हमारे विचारोंकी सुधारणाकी तरह हमारे आचारकी सुधारणाका होना भी आवश्यक है।

यदि कोई यह कहे कि आचार-धर्म शरीर-धर्म होनेसे उधर लक्ष्य नही दिया तो भी चलेगा तो उनका यह कहना ठीक नहीं। कारण कि जिस प्रकार आचार-धर्ममे शरीर-धर्मकी प्रधानता है उसी प्रकार विचार-धर्ममें शरीर निमित्तका अभाव भी तो नही है। एक जगह यदि आत्माकी प्रधानता है तो शरीरका निमित्तपना है ही। उसी प्रकार दूसरी जगह यदि शरीरकी प्रधानता है तो आत्माका निमित्तपना है ही। इसलिए आचार और विचारोंका परस्पर आत्मा और शरीर—इन दोनोके ऊपर परिणाम होता है। अब यदि किसीका आचार-धर्म अनिर्मल हो तो उसके विचार-धर्मके मलिन करनेमे भी वह कारण होगा। तथा जिसका विचार-धर्म मलिन हो उसका आचार-धर्म भी मलिन होगा ही। जो लाग विचारोंके बिना अपने आचारमें और आचारके बिना अपने विचारोंमें निर्मलता लानेका प्रयत्न करते है, वे धर्मका पालन न करके उसका उपहास करते है, ऐसा समझना चाहिए। इस कथनसे यह निष्कर्ष अपने आप निकल आता है कि स्वाध्याय करते हुए हमें सभी अनुयोगोंकी ओर लक्ष्य रखना चाहिए। यदि हम ऊपर कहे हुए कथनके अनुसार स्वाध्याय करने लगे तो उससे हमे इन विशेष गुणोंकी प्राप्ति होगी।

आत्माका हित किसमे है? इसकी प्राप्ति स्वाध्यायमे ही होती है। आत्माका अहित करनेवाला इन्द्रिय-सुख सुख न होकर दुःखका प्रतिकार मात्र है, वह अल्पकाल तक ही रहता है, पराधीन है, रागकी परम्पराको बढ़ानेवाला है, कष्टसाध्य है, भयको उत्पन्न करनेवाला है शरीरके परिश्रमसे उत्पन्न होता है, और अपवित्र ऐसे शरीरके स्पर्शसे उत्पन्न होता है, इसके विपरीत आत्मसुख सम्पूर्ण दुःखोंके नाशसे उत्पन्न होता है, नित्य है निर्बाध है और आत्मोत्थ है। यह विवेक भी स्वाध्यायमे ही प्राप्त होता है। उसी प्रकार पापकर्मके निमित्त-भूत अशुभ परिणामोंका त्यागरूप अथवा शुद्धोपयोगके कारणरूप भावसवर, प्रतिदिन संवेग, रत्नत्रयमे स्थिरता, गुप्तियोंकी रक्षा और दूसरोंको कल्याण मार्गके उपदेश देनेकी सामर्थ्य स्वाध्यायसे ही प्राप्त होती है।

स्वाध्यायसे पहिले अशुभ परिणतिका त्याग होकर शुभ परिणतिमे प्रवृत्ति होती है, तदनन्तर वह भी संसारका कारण है, यह विवेक प्राप्त होनेपर शुद्धपरिणति उपादेय है, ऐसा समझ कर यह आत्मा अपने विचारो में उज्ज्वलता उत्पन्न करता है और आत्मधर्मको प्राप्त करके परमार्थका भोक्ता बनता है। अतएव आत्माका सच्चा मार्गदर्शक जैनशास्त्रोका स्वाध्याय निरन्तर करना चाहिए। आजकल उपन्यास, गल्प और नाटक आदि मानवजीवनका विनाश करनेवाला साहित्य-निर्माण हो रहा है। उसमे उन्ही बातोंके चित्र रंगे गये है जिन्हें हम और आप प्रतिदिन आखें मीचकर करते है, अतएव ऐसे साहित्यसे अपने मनको रोक लेना यह केवल आत्म-शास्त्रकी दृष्टिसे हितकर है, इतना ही नही, किन्तु समाजशास्त्रकी दृष्टिसे भी हितकर है। यदि आपको अपना और अपनी समाजका स्वास्थ्य ठीक रखना है तो उसका त्याग करना ही श्रेयस्कर है।

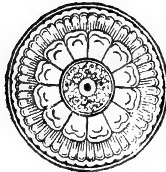
●

संयम

शास्त्रोंमें संयमके दो भेद बताये हैं—एक इन्द्रियसंयम और दूसरा प्राणिसंयम। संयमका स्वरूप बतलाते हुए आचार्योंने मनोनिग्रह, इन्द्रियविजय, कषायोंका जीतना और योगप्रवृत्तिका रोकना अत्यन्त आवश्यक बतलाया है। इससे यह बात सहज ही समझमें आ जाती है कि संयममें आत्मस्वरूपकी रक्षाकी अत्यन्त मुख्यता है। कारण, इन्द्रिय और मनके द्वारा पर-पदार्थके ज्ञान लेनेपर कषायसे उसमें इष्टानिष्ट बुद्धि होकर योग द्वारा यह आत्मा उनके ग्रहण और त्यागकी भावना उत्पन्न करता है, जो अपने लिए अपनी इच्छाके अनुकूल मालूम पड़ता है, उसे यह प्राप्त करना चाहता है और जो प्रतिकूल प्रतीत होता है, उसका त्याग करना चाहता है। यह वासना इस जीवकी अनादिकालसे चली आ रही है और इसीके आधीन होकर यह परवस्तुके ग्रहणका त्याग नहीं कर सकता है। इसलिए परवस्तु सम्बन्धी राग और द्वेषरूप परिणतिके त्यागके लिये इन्द्रिय और मनको स्वाधीन रखना अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु वे स्वाधीन तभी हो सकते हैं, जब हमारी राग और द्वेषरूप प्रवृत्ति कम होती जावे। तथा राग और द्वेषरूप प्रवृत्तिके कम करनेके लिए हमें अपना शारीरिक, वाचनिक और मानसिक व्यापार भी कम करना होगा। हम मन, वचन और काय द्वारा परवस्तुके साथ जितना अधिक सम्बन्ध जोड़ेंगे उतना ही अधिक हमारा राग और द्वेष बढ़ता जावेगा और उस पदार्थको उतना ही अधिक जाननेकी उत्सुकता भी बढ़ेगी। यद्यपि किसी भी पदार्थको जानना अनिष्ट कर नहीं है, परन्तु किसी भी पदार्थके जाननेपर उसमें जो इष्टानिष्ट कल्पना होकर उसे ग्रहण करने और त्याग करनेके भाव होते हैं, वे ही हमारा अपाय करनेवाले हैं। रूप-रसादिको विषय शब्दसे कहना उपचार मात्र है। विषय तो परपदार्थमें इष्टानिष्ट कल्पना ही है। जहाँपर किसी भी वस्तुके ग्रहण करनेपर हमारी आत्मामें ज्ञानके सिवाय दूसरा कोई भी विकल्प उत्पन्न नहीं होता है, वह अवस्था आत्माका निज-धर्म है, अतएव उसका त्याग कभी भी नहीं हो सकता है। परन्तु वस्तुके जाननेके उत्तरक्षणमें ही जहाँ आत्मा उस वस्तुसे प्रभावित हो उठता है, आत्मामें ज्ञानके साथ दूसरे भावोंकी धारा बहने लगती है और इस तरह यह आत्मा धीरे-धीरे ज्ञानकी उत्सुकतासे रहित होकर पदार्थके ग्रहण और त्यागकी उत्सुकतासे आबद्ध हो जाता है। वहीसे उक्त पदार्थजन्य असंयमकी धारा इस आत्मामें प्रवाहित होने लगती है। इस तरह यह आत्मा अनन्त पदार्थोंके ग्रहण और त्यागसे अपनेको जोड़े हुए है अतएव यह स्वतःकी रक्षाको भूलकर उनकी रक्षा और विनाशके प्रयत्नको अपनी ही रक्षा और विनाश समझता है। यही इसका महान् असंयम है, इस असंयमसे बचनेके लिए इसे परत्वमें परबुद्धि और निजत्वमें निजबुद्धि तो करनी ही होगी। साथ ही इन पदार्थोंमें मेरा कल्याण होता है, इस भावनाको भी भुलाकर धीरे-धीरे पदार्थोंका त्याग करते जाना होगा, परन्तु यह त्याग द्वेषसे न होकर उदासीनतासे होना चाहिए। द्वेषसे जिस वस्तुका त्याग किया जाता है यद्यपि वह पदार्थ अपनेसे दूर भी हो जाता है, परन्तु उस पदार्थके निमित्तसे उत्पन्न हुई द्वेषरूप वासना दूर न हो कर वह इस आत्माको निरन्तर व्याकुलताका अनुभव कराती रहती है। इतने विवेचनसे यह सिद्ध हो जाता है कि इन्द्रिय द्वारा पदार्थके ग्रहण करनेपर भी पदार्थोंमें जो इष्टानिष्ट कल्पना है, उसका त्याग करना सच्चा संयम है। इसीको इन्द्रिय-संयम कहते हैं। इसके साथ एक और महत्त्वकी बात है, वह यह कि परवस्तुके त्याग और निजत्वके ग्रहणके साथ अपनेमें अहिंसाकी भावना सतत जागृत रहनी चाहिए। अहिंसाका पालन केवल दूसरे जीवोंकी रक्षाके लिए ही किया जाता है यह बात नहीं है, किन्तु अहिंसा भावके

जागृत होनेसे ही अपने आत्माकी सच्ची रक्षा होती है। दूसरे जीवोंकी रक्षा तो उस अहिंसा भावके जागृत करनेके लिए निमित्तमात्र है। जब तक दूसरे जीवोंकी रक्षाकी मुख्यता रहती है तब तक परजीवकी रक्षासे उत्पन्न होनेवाले भावका दयामें अन्तर्भाव होता है और धीरे धीरे जब यह आत्मा दयाकी पूर्ण विकसित अवस्था तक पहुँचकर अपनेमें समता तत्त्वका अनुभव करने लगता है, तब दयाका रूपान्तर अहिंसामें हो जाता है। यही प्राणिसंयमकी पूर्णत्वावस्था है। इस तरह संयमके दो भाग हो जानेपर भी उनका अर्थ एक ही है। इस संयमकी प्राप्तिके लिए क्रमिक त्यागकी अत्यन्त आवश्यकता है। अक्रमसे किया गया त्याग हमें संयम तक न पहुँचाकर असंयममें ही संयमका अभिमान करनेके लिए सहायक होता है।

●



तप

अपने शरीर, इन्द्रिय और मनके ऊपर विजय प्राप्त करनेके लिये तप किया जाता है। तप इस शब्दमे प्रतिपक्षीके ऊपर विजय प्राप्त करनेके लिए निरोध रूप अर्थ गर्भित है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि संक्लेशका अनुभव न करते हुये हमें शरीर, इन्द्रिय, और मनको अपने स्वाधीन करना चाहिये। शरीर और इन्द्रिय सम्बन्धी विकारोंके ऊपर विजय सम्पादन करना बाह्यतप कहलाता है तथा मन सम्बन्धी विकारोंके ऊपर विजय सम्पादन करना आभ्यतर तप है। इष्ट, गरिष्ट और स्वादिष्ट रसादिकके सेवन करनेसे और अनेक प्रकारके संस्कार करनेसे शरीर विकारी होता है। शरीरका विकार इन्द्रिय और मनमें दर्प उत्पन्न करता है, जिससे प्राणीको प्रवृत्ति स्वभावतः विषयोंकी ओर होती है। विषय ग्रहण करनेमें इष्टानिष्ट कल्पनाका होना स्वाभाविक बात है। इस तरह रागद्वेषसे आधीन होकर यह प्राणी हित और अहितकी पहिचान करनेमें असमर्थ हो जाता है। ऐसे प्राणीकी हित और अहितकी कल्पना अपने अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थ तक ही सीमित हो जाती है। यहाँपर यह ध्यानमें रखना चाहिये कि कोई भी पदार्थ अनुकूल और प्रतिकूल न होकर इसकी भावना ही पदार्थमें इष्टानिष्ट कल्पनाके लिए बाध्य करती है। इस तरह यह रागादिके अविषयरूप पदार्थमे रागादिकी कल्पना करनेके कारण आत्मस्वरूपसे सर्वदा च्युत रहता है यही तो इसका महामिथ्यात्व है। कुछ प्राणियोंकी ऐसी भी कल्पना हो जाती है कि पर-पदार्थ सर्वथा अनिष्टकर है इसलिए वे पर-पदार्थके त्यागमे ही आत्मस्वरूपको प्राप्तिकी श्रद्धा करके अपनेको मोक्षमार्गी समझने लगते है। परन्तु वे आत्मस्वरूपकी प्राप्तिसे अत्यन्त दूर खडे रहते हे, अतएव वे भी उसी श्रेणीमे चले जाते है। उन प्राणियोंकी तो और भी शोचनीय अवस्था हो जाती है, जो अपनेको शुद्धोऽहं, बुद्धोऽहम्, तो कहते है परन्तु वे न तो बाह्यपदार्थोंमें उपरतिको ही प्राप्त होते है और न आत्मस्वरूपमें रतिको ही। रति और अरति ये धर्म कषायजन्य न होकर जहाँ विवेकजन्य होते है वहीसे उस प्राणीकी प्रणति सत्यमार्गका अनुसरण करने लगती है। यही मानसिक विजय सबसे प्रथम तप है। पूर्वऋषियोंने कर्मक्षयका प्रधान कारण तपश्चर्या बतलाई है, उसका बीज इसीमें अन्तर्निहित है। जहाँसे यह मानसिक विकास इस प्राणीको प्राप्त होने लगता है, वहीसे यह परपदार्थके सम्बन्धसे भी मुक्त होने लगता है। सम्यग्दर्शनका उत्पत्तिका क्रम दिखलाते हुए आचार्योंने अधःकरण, अपूर्व-करण और अनिवृत्तिकरण रूप परिणामोके होते ही कर्म निर्जराकी क्रमिक प्रवृत्तिका प्रतिपादन किया है। इससे इस कथनकी और भी स्पष्टता हो जाती है।

इस तरह आभ्यंतर तप मानसिक शुद्धि है। प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य व्युत्सर्ग, स्वाध्याय और ध्यान—ये उसके साक्षात् पोषक हैं तथा उस मनकी शुद्धिके लिए शरीर और इन्द्रियोंका निग्रह करना अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश—इनसे सहायता मिलती है। यदि कोई अनशन आदिकके द्वारा ही तप समझता हो तो उसकी वह भूल है। ये दोनों आभ्यन्तर और बाह्य परस्पर सापेक्ष हैं, अतएव इनका पालन परस्पर सापेक्षतासे ही करना चाहिए। जो भाई मनकी शुद्धि न होते हुए भी अथवा कषायोंकी न्यूनता न होनेपर भी इन एकाशनादिकसे कर्मनिर्जरा समझते है, उनको इस कथनपर अवश्य ही ध्यान देना चाहिये।

इसके साथ तपके लिए आचार्योंने ज्ञानाभ्यासकी अत्यन्त मुख्यता बतलाई है। कारण कि ज्ञानाभ्यासके बिना हेय क्या है ? और उपादेय क्या है ? यह समझमें न आनेके कारण अज्ञानपूर्वक किया गया तप कर्म-निर्जराके लिए कारण नहीं होता है। इस तरह यह सिद्ध हो जाता है कि विवेक पूर्वक आत्मशुद्धिके लिए जो क्लेश सहन किया जाता है, उसीको तप कहते हैं।

●

दान

दान इस शब्दकी व्याख्या जितनी सरल है उतनी कठिन भी है। इसका कारण प्रत्यक्ष दान करते समय हम व्यवहारमें उसके महत्त्वको भूल जाते हैं। जहाँ कर्तृत्व गुणमें अहंपना उत्पन्न होता है, वही पर मनुष्यको किसी भी कार्य के साथ अपने नामादिकके जोडनेकी अभिलाषा उत्पन्न होती है, वही पर वह उस कार्यके साथ अपने स्वामित्वके प्रकट करनेकी खटपट करता है। इसके विपरीत जब कोई उदात्तभावसे प्रेरित होकर किसी प्रकारका कार्य करता है, वहाँ पर दूसरेको यह जानना भी कठिन हो जाता है कि इसका कर्ता कौन है। किस भावनासे प्रेरित होकर इसने यह कार्य किया है। अति प्राचीन प्रतिमा और शास्त्रोंके देखनेसे हमारे इस अभिप्रायकी पुष्टि होती है।

भगवान् महावीर स्वामीके मोक्ष जानेके आरंभ कालमे हमारे साधु और श्रावक वर्गमें व्यक्तिगत कर्तृत्वसामर्थ्य रहते हुए भी बहुजनके कल्याणके लिये उनका उदात्त गुण ही काम करता था। उनमें माया-ममता कुछ भी न होकर वे लोककल्याणकी भावनासे प्रेरित होकर ही प्रत्येक कार्य करते थे। यही कारण है कि आज हमें उदात्त कृतियोंके कर्ताके अन्वेषणके लिये सबसे अधिक इतिहास संशोधनका काम करना पडता है, फिर भी हम उन महात्माओंके संबंधमें पूर्ण परिचित नही हो सकते है। स्वामी समन्तभद्रको भस्मकव्याधिका शमन बनारसमें हुआ या कांचीपुरमे, यह आज उनके उपलब्ध जीवन चरित्र और संशोधित इतिहासमे विवादस्थ ही है। परन्तु आज समाजसुधार और धर्मसेवाका क्षुद्र काम करनेवाला भी अपने इतिहासको स्वयं निर्माण करता हुआ नजर आता है। उसकी खटपट है कि मैं भविष्यमें एक सबसे बड़ा समाजसुधारक और धर्मधुरीण समझा जाऊं। लोकमें उज्ज्वल इतिहास निर्माण करना मनुष्यमात्रका काम है। जीवन लीलाके नष्ट हो जानेपर भी कृति और कीर्ति अमर रहना मनुष्यमात्रके जीवनका सार है, परन्तु यह उनके नामसे न होकर उनके कार्योंसे होना चाहिये। कीर्तिका गुणधर्म निर्मल और उज्ज्वल होनेके कारण उसमें धब्बा थोडा भी नही खपता है। वह अपने कर्ताकी सहृदयता अथवा नीरसताको उसी समय प्रकट कर देती है। अतस्थहेतु जितना अधिक मनुष्यके कार्य प्रकट नहीं करते है जितना कि उसका व्यवहार। यह बात कर्ताके निकटवर्ती जन ही जानते हैं। दूरसे पहाड़ तो सुन्दर दिखता है। परन्तु उस पहाड पर आरोहण करनेवालेको वह कुछ हिमाद्रि नही हो जाता है। उसके लिये तो वह काले और निम्नोन्नत पहाड़ियोका ढिग ही बना रहता है।

मुझे एक गजरथ चलाने वालेका स्मरण है। सुदूरवर्ती लोगोंके लिए यदि वह महत् पुण्यका कारण धार्मिक कार्य था तो निकटवर्ती लोगोंके लिये वह किसी महत्पापका आवरण या प्रायश्चित्त था। प्रायश्चित्त शब्दका व्यवहार मैंने गौणरूपसे इसलिये किया है कि वह अंतरंग विरागतासे प्रेरित होकर किया जाता है। उसमें आगे वैसे पापकी संभावना नही रहती है।

मुझे एक ऐसे दृष्टांतका भी स्मरण है कि किन्हीं दो व्यक्तियोंमे किसी एक धार्मिक कार्यमें मतभेद उठ खड़ा हुआ था। उस झगडेका निकाल एक पक्षमें होनेपर विजेता विरुद्ध बाजू के लोगोंमे कहता था कि—ये लोहेके चने है। इनको चबानेवालेके दाँत ही टूटते हैं। फल यह हुआ कि—उस कार्यके विध्वंसमे ही दोनोंको संतोष करना पड़ा।

यहाँपर विचारनेकी बात है कि ऐसे मामले क्यों उठ खड़े होते हैं। विचारके बाद यही कहना पड़ता है कि आजकल लोगोंमें उदात्त और सात्त्विकभावके अतिरिक्त दांभिक प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। लोग कर्तव्यकी अपेक्षा कार्यको अधिक महत्त्व देने लगे हैं। छोटेसे छोटा और बड़ेसे बड़ा कार्य करते हुए बहुत कुछ मनुष्योंकी यह भावना रहती है कि जनताके सामने 'इसका कर्ता मैं हूँ' यह बात स्पष्ट नजर आनी चाहिए। उन्हें आज पुण्यबंधके प्रयोजक शुभ-परिणामोंकी इतनी कीमत नही रही है जितनी कि यशोगानकी।

आज हम आगन्तुक अतिथिकी अपेक्षा निमंत्रित अतिथिको अधिक महत्व देते हैं। सीधे शब्दोंमें इसका यही अर्थ है कि हम सच्ची भूखकी कल्पनाको भूलकर खोटी भूखके पीछे दौडते है। हम श्रीमंत मनुष्यका जितना अधिक सत्कार करते है, गरीबका सत्कार करनेमें उसका शतांश भी नही रहता है। परन्तु यह विचार मनमें कभी भी नही आता है कि जिस खेतमें पानी दिया जा चुका है उसी खेतमें पुनः पुनः पानी देनेसे क्या फायदा। तृषित कौन और क्षुधित कौन यह भावना तो हमारी कभीकी नष्ट हो गई हैं। 'महतो महत्फलम्' यह तो हमें मालूम है, परन्तु महत्वकी मोजमाप गुणाधिष्ठित न रहकर वैभवाधिष्ठित होती जा रही है! परन्तु यह निश्चित समझिये कि रोज मिष्ठान्नभोजीको मिष्ठान्नका भोजन कराने पर उससे शुभ कामनाकी आशा करना असम्भव बात है। शुभकामनाकी आशा तो तृषित अथवा क्षुधितसे ही की जा सकती है। यहाँ पर मैं पाठकोंको एक स्थानका स्वतःका अनुभव लिख देनेके लिए अपनी इच्छाको सवृत नही कर सकता हूँ। मै कही पर विमानोत्सवके लिये गया हुआ था। वहाँ पर पंडितजी इस दृष्टिसे मुझे भी विशिष्ट पाहुनोंके लिये किए गए पाहुनचारका सौभाग्य प्राप्त हुआ। परन्तु वह स्थान भी भेदसे खाली नही था। मुझसे भी आगे जिनका नम्बर था उनके लिए और भी अधिक स्वतंत्र व्यवस्था थी। अतिथि-सत्कार करनेवाली बाई थोडी भोली थी, इसलिए उसने मुझे ही प्रथम नम्बरका पाहुना समझकर मुझे ही सर्वश्रेष्ठ सामग्री परोसनेका प्रारम्भ कर दिया। यह बात चाणाक्ष दूसरी बाईने देख ली। पहले तो उस बाईने संकेतसे परोसनेवाली बाईको समझाया, परन्तु जब उस बाईका दूसरी बाईके संकेतके ऊपर ध्यान नहीं गया तो उसे वहीं पर मेरे देखते ही स्पष्ट मना करना पड़ा। यहाँ पर पाठकोंको यह ध्यानमे रखना चाहिये कि पूर्वोक्त व्यवस्थामे सोलाका कुछ भी सम्बन्ध नहीं था। इस व्यवहारसे मेरी आँखोमे चकक प्रकाश पड़ गया। मुझे अपनी भूल वहीसे समझमे आई, और उस दिनसे लेकर आज तक मै जान बूझकर ऐसी भूल नही होने देता हूँ। अब मुझे बहुजन समाजके लिए तैयार किए हुए भोजनमे जो आनंद आता है, वह आनंद स्वतन्त्र व्यवस्थामे कभी भी नहीं आता है। दक्षिण प्रान्तकी अपेक्षा यह भेद-भाव उत्तरप्रान्तमे अधिक देखनेमे आता है। मेरी समझसे जैन-समाजको छोडकर यह परिस्थिति दूसरी समाजमे भी इतने रूपमे नही है। दक्षिणप्रान्तमे यह भेद नहीं ही है, यदि ऐसा कहा जावे तो भी चलेगा।

श्वेताम्बर समाजमें ही लीजिये, उनके यहाँ ग्रन्थप्रकाशनका काम जितनी उत्तम पद्धतिसे चालू है। अधिक से अधिक खर्च करके सुन्दरसे सुन्दर पद्धतिसे ग्रन्थ प्रकाशित करते हैं। परन्तु हमारी समाजमें इस ओर शतांश भी लक्ष्य नही दिया जाता है। जिस किसी तरहसे ग्रन्थ प्रकाशित करके वे अपने कर्त्तव्य-की इतिश्री समझते हैं। परिणाम यह होता है कि समाजके बाहिर उन ग्रंथोंका उल्लेख करने योग्य उपयोग नहीं होता है।

मणि थोडे होते हैं इस कथनको तो आत्मप्रौढिके अतिरिक्त और कुछ भी महत्व नही दिया जा सकता है। थोडी देरके लिये यदि इस कथनको वस्तु स्थिति ही मान ली जावे तो भगवान् महावीरके समय भी वही स्थिति लागू करनी पड़ेगी। परंतु हमारे पुराण-ग्रन्थ ही नहो, इतिहास भी आज इसकी साक्षी देता है कि उस

समय संसारमें जैनियोंकी संख्या सबसे अधिक थी। भगवान् आदिनाथ स्वामीका काल तो इससे और भी उज्ज्वल था। विदेह क्षेत्रमे तो व्यवहार मिथ्यादृष्टी नामको भो नही है, फिर वहाँ आपकी पूर्वोक्त व्याप्तिका क्या अर्थ किया जावे ? थोडा सोच समझकर ही उत्तर दीजिये।

बात तो यह है कि आप सामंजसपनेकी साप्रदायिकताके आवरणमें झोंक देनेका असफल प्रयत्न कर रहे हैं और आत्मप्रौढिसे उस दोषको छिपा देना चाहते हैं। परन्तु यह याद रखिये कि इस दोषसे आप स्वयं पतित होते जा रहे हैं और दूसरोंको भी अपनी ओर खीच रहे है। त्राणकी भावना आपमेसे बिल्कुल नष्ट हो चुकी है। आप उसे छिपाइये, परन्तु वह अब छिप नही सकती। संसार उसके ताडव-नृत्यसे जागृत हो उठा है। वह आपकी और कबतक प्रतीक्षा करेगा, वह आपको अपना नेता बनाना चाहता है, परन्तु उस साम्प्रदायिकताके परे।

दान इस तत्त्वका विकास लोकोपयोगी कार्य और परस्परके व्यवहारकी दृष्टिसे हुआ है।

लोकोपयोगी कार्योंमे धर्मरुचि और दया—ये दो तत्त्व काम करते हैं। तथा परस्परके व्यवहारमे आदान-प्रदानकी पद्धति मुख्य है।

यहाँ धर्मरुचिसे मोक्षमार्ग इष्ट है। इसलिए मोक्षमार्गीके आत्मकल्याणमे अव्याहत रत रहनेके लिये उसके अनुकूल आहारादिक साधनोंका प्रदान करना मोक्षमार्गकी अपेक्षासे दान है। यह दान गुणाधिष्ठित माना गया है। अर्थात् इस दानमे गुणकी मुख्यता रहती है।

इस सम्बन्धमें गुणोंका विभाग करते हुए आचार्यने विरत और अविरतको अपेक्षामे दो भेद किये हैं। विरतके भी दो भेद कर दिये है, एक देशविरत और दूसरा महाविरत। इस तरह अविरतको जघन्य, देशविरतको मध्यम और महाव्रतीको उत्तम पात्र बतलाया है, यद्यपि मिथ्यादृष्टिसे लेकर चौथे गुणस्थान तक जीवकी अविरत यह संज्ञा है, फिर भी यहाँपर अविरतसे अविरत-सम्यग्दृष्टि ही समझना चाहिए।

यहाँपर सम्यग्दृष्टिकी पहिचान क्या है इस प्रश्नके उत्तरमे यही समझना चाहिए कि सम्यक्त्व यह आत्माका गुण है, इसलिए उसका इन्द्रियोंके द्वारा साक्षात्कार नही हो सकता है। इसलिए इन्द्रियद्वारा सम्यग्दृष्टिकी पहिचान होना कठिन ही है, फिर भी बहुतसे तत्त्वोका ज्ञान उसके कार्योंके द्वारा किया जाता है। इसमें भी अव्यभिचरित कार्य ही अपने कारणके ज्ञापक होते है। अब विचारनेकी बात यह रह जाती है कि सम्यक्त्वके अव्यभिचरित कार्य क्या है।

इसके लिये सबसे पहिले यह देखना होगा कि सम्यक्त्वकी उत्पत्ति किस स्थितिमे और किन कारणोंसे होती है। इस तत्त्वको अच्छी तरहसे आकलन कर लेनेपर हमे सम्यक्त्वके कार्योंका बहुत कुछ परिज्ञान हो सकता है।

सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमे पाँच लब्धियाँ कारण बतलाई है। यद्यपि ये पाँचों ही लब्धियाँ सम्यग्दर्शनकी अविनाभाविनी नही हैं। उनमेसे आदिकी चार (क्षयोपशमलब्धि, देशनालब्धि, विशुद्धिलब्धि और प्रायोग्यलब्धि) ये मिथ्यादृष्टिके भी होती है, फिर भी जहाँपर सम्यग्दर्शनका सद्भाव होगा, वहाँ पर ये अवश्य ही होंगी। इससे यह निश्चित हो जाता है कि—जिस आत्मामे सम्यग्दर्शनका सद्भाव है, वहाँ पर इन चारों लब्धियोंके कार्य अवश्य ही होते है। इससे यह तात्पर्य निकल आता है कि सम्यग्दृष्टि जीव हिताहित परीक्षक और तत्त्व विमर्शक तो होगा ही। साथ ही करणलब्धिके द्वारा उसके अनन्तानुबंधी और मिथ्यात्वका अभाव हो जानेके कारण वह न्यायमार्ग से व्यवहार करने वाला भी होगा। जब तक इस जीवके अनन्तानुबंधी और मिथ्यात्वका अभाव नही हो जाता है, तब तक वह हिताहित परीक्षक और तत्त्व विमर्शक होते हुये भी अहितको छोड़कर हितको स्वीकार करने तथा अतत्त्वको छोड़कर तत्त्वरूप चलनेकी उसकी

रुचि ही नहीं होती है । अब आप देखेंगे कि सम्यग्दृष्टि जीवके सामने न्याय्य और अन्याय्य—इन दो बाजूके उपस्थित होनेपर अपना नुकसान उठा कर भी वह न्याय्यवृत्तिका ही समर्थन करेगा । कदाचित् अज्ञानके कारण उसके हाथसे अन्यायावृत्तिके पोषक भी कार्य होते रहेंगे परन्तु वे कब तक, जब तक उसकी समझमें यह नहीं आवेगा कि मेरा यह अज्ञान है, अतएव मेरे ये कार्य आत्मघातको और समाज स्वास्थ्यके लिये विघातक हैं । उसकी समझमें इतनी बातके आते ही वह उसी समय अपनी हठको छोड़कर अपने दोषको स्पष्ट शब्दोंमें कबूल कर लेगा । इतना ही नहीं बल्कि उसकी भूलसे उत्पन्न हुये नुकसानको भरकर उस दोषको निकालनेका भी वह भरसक प्रयत्न करेगा । विश्लेषण करके यदि यह अर्थ निकाला जावे तो इस प्रकार अर्थ निष्पन्न होगा कि मिथ्यात्वके त्यागसे अतत्त्वको छोड़कर तत्त्वबुद्धि और अनन्तानुबंधीके अभावसे तदनुकूल प्रवृत्ति होती है । इतने विवेचनसे यह स्वयं सिद्ध हो जाता है कि सम्यग्दृष्टिके जाननेका मुख्य साधन क्या है जहाँ पर किसी भी तत्त्व विचारककी स्वभावतः इस प्रकारकी वृत्ति देखनेमें आवे वहाँपर सम्यग्दर्शनका अंश जागृत है, ऐसा समझनेमे कुछ भी आपत्ति नही है । सच्चे देशविरत और महाविरतके भी ऐसे ही कुछ विलक्षण सामर्थ्य उत्पन्न होती है । बाह्यचारित्र देशविरत और महाविरतके पहिचानका कुछ चिह्न नही है । हाँ ! उस देशविरत और महाविरत रूप परिणामके होनेपर बाह्यचारित्र अपने आप होता है । इस तरह इन तीन प्रकारके पात्रोंको दान देना पात्रदान है । यहाँपर संसार सम्बन्धी कुछ भी प्रयोजनकी मुख्यता नही रहती है । यह पात्रदान चार विभागोंमें बाँटा गया है । आहारदान, औषधिदान, शास्त्रदान और अभयदान (वसतिकादान)—इन चारों ही दानोंका अर्थ प्रसिद्ध है । फिर भी यहाँपर आहारदानसे औषधिदानको पृथक कहनेके प्रयोजनका खुलासा कर देना उचित प्रतीत होता है ।

साधु अनुद्दिष्ट आहार ग्रहण करते है अर्थात् श्रावकके घर श्रावकके द्वारा अपने लिये ही तैयार किये हुए आहारमें से साधु आहार ले लेते हैं । परन्तु औषधिके लिये यह बात लागू नही हो सकती हैं । औषधि रोगका प्रतिकार है । अतएव जिस साधुको जिस प्रकारकी शारीरिक बाधा उत्पन्न हुई होगी उसी प्रकारकी औषधिको देकर शरीरबाधाका निराकरण किया जावेगा । यहाँपर उद्दिष्ट दोषका परिहार नहीं हो सकता है । आहार-दानसे भिन्न औषधिदानको रखनेका यही प्रयोजन प्रतीत होता है ।

दयासे प्रेरित होकर जो दान दिया जाता है उसमे गुण और अवगुण न देखकर परिस्थितिकी प्रधानता होती है ।

तीसरी समदत्ति है । इसमे आदान प्रदानका भाव रहता है । परन्तु आजका विकृत रूप समदत्ति कभी भी नहीं कही जा सकती है । यह किसी दोषका प्रमार्जन न होकर दोषकी अभिवृद्धि मात्र है ।

जहाँपर श्रावकोंसे जबर्दस्ती भोजन ठहराये जाते है, उसमे भी अमुक वस्तु ही बनानी होगी, इत्यादि बातें ठहराई जाती है, उसको धर्ममे स्थान कैसे मिल सकता है । पानी जैसी पतली वस्तुके साथ कोमलताका व्यवहार करनेवाले जैन भाई अपने सहधर्मी भाइयोंके साथ कठोरताका व्यवहार करते है, इसको अधर्म नहीं तो और किन शब्दोंमे कहा जावे । श्रावकोंका यह कठोर व्यवहार कभी भी त्यजनीय है । इससे गरीबोंको कितने अधिक संकटोंका सामना करना पड़ता है, इस बातको हमारे विचारे श्रीमन्त क्या जानें ।

इस तरह यह दानका व्यावहारिकरूप समझना चाहिए । संपत्ति और शक्ति विनियोगकी वस्तु है, संग्रह करनेकी नहीं । जो इनके संग्रह करनेमें ही महत्त्व समझता है, वह समाज और धर्मका द्रोही तो है ही साथ ही आत्मवंचक भी है ।

●

सम्यग्दर्शन

शास्त्रोंमें सम्यग्दर्शनकी चर्चा कई प्रकारसे की गयी है। कही जीवादि सात पदार्थोंके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा है; कही आप्त, आगम और गुरुके यथार्थ श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा है; कही स्वानुभूतिको सम्यग्दर्शन कहा है और कही स्वपर विवेकको सम्यग्दर्शन कहा है। इन सबका अभिप्राय एक है। इनके द्वारा एकमात्र यही ज्ञान कराया गया है कि एक जानने-देखने वाली शक्ति क्या है और तदितर पदार्थ क्या है।

जीवनमे सम्यग्दर्शनका बडा महत्त्व है। यह वह विवेक-सूर्य है जिसके उदित होनेपर मिथ्यात्वरूपी तम सुतरां पलायमान हो जाता है। यह स्वतन्त्रता प्राप्तिकी प्रथम सीढ़ी है। अधिकतर व्यक्ति विविध प्रकारके तप करते हैं, नग्न रहते हैं और साधु बननेका दावा भी करते हैं, पर इसके बिना यह सब क्रिया-कलाप संसारका कारण है। यह सब प्रकारके अहकारसे मनुष्यकी रक्षा करता है। इसके होनेपर नामरूपका अहंकार तो होता ही नही, जीवनमे प्राप्त हुई ऋद्धि-सिद्धिका भी अहकार नही होता। शास्त्रोमे आठ मद, छह अनायतन, शंकादि आठ दोष और तीन मूढताओंकी विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है। यह इन बुराइयोसे व्यक्तिकी सदा रक्षा करता है।

सम्यग्दर्शन दो शब्दोंके मेलसे बनता है। सम्यक् और दर्शन। प्रत्येक पदार्थका जो स्वरूप है उसे ठीक तरहसे अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन है, यह इसका तात्पर्य है।

जैसा कि हम देखते है कि ससार अवस्थामे जीव और शरीर दोका मेल हो रहा है। इनके कार्य भी मिलकर हो रहे है। इसलिए प्रत्येक व्यक्तिको यह विवेक करना कठिन हो जाता है कि इनमे कौन कार्य शरीरका है और कौन कार्य आत्माका है। बहुतसे तो ऐसे भी व्यक्ति है जो शरीर और आत्माको दो नही मानते। वे माता-पितासे इसकी उत्पत्ति मानते है और शरीरके विनाशको ही आत्माका मरण मानते है। वे एकमात्र कामको ही जीवनका पुरुषार्थ मानते है। इनके इस मतको व्यक्त करते हुए एक कविने कहा है—

"यावज्जीवेत् सुख जीवेत् ऋणं कृत्वा घृत पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥"

इसमे न केवल वर्तमान जीवनको चिरकाल तक जीवित रखकर उसे हर प्रकारसे पुष्ट करनेकी बात कही गई है, किन्तु यह कार्य यदि समाज-विरोधी तत्त्वोंको स्वीकार करके सम्पन्न किया जा सकता है तो इस द्वारा वैसा करनेकी छूट दी गई है। जिनके हाथमे धर्मका झडा है, उन्हे यह एक प्रकारकी चुनौती है। इस द्वारा कहा गया है कि परलोककी बात छोडो, पुण्य-पापकी बात छोड़ो, अपने लौकिक जीवनकी ओर देखो, वही सब कुछ है।

किन्तु जो आत्मा और शरीरको दो मानते है उनमेसे भी बहुतोंकी गति इससे कुछ भिन्न नही है। वे वचनों द्वारा आत्माकी बात तो करते है, मन्दिरमें जाकर पूजा प्रभावनाकी क्रिया भी सम्पन्न करते है और भोजनमें भी चुन-चुनकर पदार्थ उपयोगमे लाते है, पर उनकी दृष्टिका यदि सूक्ष्मतासे अध्ययन किया जाय तो यही ज्ञात होता है कि उनका समस्त श्रम एकमात्र शरीरके लिए ही हो रहा है। वे शरीराश्रित क्रियाओंसे आत्माश्रित क्रियाओंका विवेक करनेमें असमर्थ हैं।

इस समय आत्मधर्मकी अपेक्षा रूढिधर्मको विशेष प्रमुखता मिल गयी है। आम जनता आत्मधर्मका विचार न कर मात्र रूढिधर्मका विचार करने लगी है। तत्त्वोपदेश, पूजा, खान-पान और सामाजिक व्यवहारमें ऐसे तत्त्वप्रविष्ट हो गये हैं, जो स्पष्टतः धर्मविरोधी हैं। पर उनका समर्थन करनेका प्रयत्न किया जाता है और जो हम प्रवृत्तिका विरोध करते हैं, उन्हें धर्मद्रोही कहा जाता है। जैनधर्म सामाजिक व्यवहारमें ऊँच-नीचके कल्पित भेदको वास्तविक नही मानता, कल्पित जाति और कुलके अहंकारको छोड़नेकी बात कहता है, भोजन किसके हाथसे मिला है इसका विचार न कर मात्र भोजन शुद्धिका विचार करता है, जीहुजूरी उपदेशोंमें ईश्वरवादकी छाया होनेसे उन्हें जीवन शुद्धिमें प्रयोजक नहीं मानता और पूजनमें द्रव्यकी उठाधरीकी अपेक्षा परिणामोंकी शुद्धिपर अधिक जोर देता है फिर भी वर्तमान समयमें हमसे सर्वथा विरुद्ध प्रवृत्ति हो रही है और उसे धर्म समझकर उसका समर्थन किया जाता है। इस समय जीवनकी प्रत्येक प्रवृत्तिमें विकार आ गया है अतः उसके संशोधनकी महती आवश्यकता है। शास्त्रोंमें कर्म और कर्मफलको आत्मधर्म माननेकी कटु आलोचनाकी गयी है, पर उनकी बात सुनता ही कौन है। सबकी दृष्टि लौकिक क्रियाकाण्डमें उलझी हुई है। जो मोक्षमार्गसे दूर हैं वे तो ऐसा करते ही हैं, किन्तु जो अपनेको प्रतिमाधारी, व्रती, साधु मानते है, वे भी प्रायः ऐसा ही करते हुए पाये जाते है। आज उल्टी गंगा बहाई जा रही और यह सब हो रहा है जैन-धर्मके नामपर।

आचार्य कुन्दकुन्दने धर्मकी व्याख्या की है। वे प्रवचनसारमें लिखते हैं :—

"चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥७॥"

चारित्र ही धर्म है जो 'सम' इस शब्द द्वारा निर्दिष्ट किया जाता है और समका अर्थ है मोह और क्षोभसे रहित आत्माका परिणाम। सनातन प्रक्रियासे जीवनमें कमजोरी आई हुई है जिसके कारण जीव अपने स्वरूपको पहिचाननेमें असमर्थ है। इतना ही नही वह मोह और कषायवश अन्य बाह्य-पदार्थोंमें उलझा रहता है और कर्मके निमित्तसे इसकी जो विविध अवस्थाएँ होती हैं, उन्हें अपना स्वरूप मानता रहता है तथा उनके संयोग-वियोगमें सुखी-दुःखी भी होता रहता है। सम्यग्दर्शनका काम इनका विवेक करा देना है। इससे आत्मा का उद्देश्य और गन्तव्य मार्ग निश्चित हो जाता है। वह उस धर्मको पहचानने लगता है, जो उसका स्वभाव है, वह सोचता है।

"एगो मे सासदो आदा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥"

मेरी आत्मा शाश्वत होकर स्वतन्त्र तो हैं ही किन्तु उसका स्वभाव भी एक मात्र ज्ञान-दर्शन है। इसके सिवा मुझमें और जो कुछ भी दिखाई देता है वह सब संयोगका फल है।

सम्यग्दर्शनकी चर्चा पञ्चाध्यायीमें विस्तृत आधारोंपर की गई है। इसमें चेतनाके तीन स्तर बतलाये हैं—कर्मचेतना, कर्मफलचेतना और ज्ञानचेतना। इनमेसे प्रारम्भकी दो चेतनाएँ अज्ञान दशामे होती हैं। ज्ञानीके एकमात्र ज्ञानचेतना होती है। वह मात्र ज्ञान-दर्शनको ही अपना स्वभाव मानता है और उसीमें रममाण होनेका प्रयत्न करता है। कदाचित् जीवनकी कमजोरीवश वह संयोगज भावोंमें भी रति और अरति करता हुआ पाया जाता है। तो भी उसे वह अपना स्वभाव नही मानता। सम्यग्दर्शनकी महिमा बड़ी है। यह जीवनका वह स्रोत है, जिसके कारण जीव अपनी स्वतन्त्रताको अनुभव करता है। उसे न जीवनका

भय रहता है और न मरणका ही। वह सब प्रकारके भयोंसे मुक्त होता है, क्योंकि वह इन्हें बाह्य पदार्थोंके संयोग-वियोगसे सम्बन्ध रखनेवाली अवस्थाएँ मानता है। वह सोचता है कि जीवनके इहलोक और परलोक ये भेद शरीर सम्बन्धकी अपेक्षासे किये जाते है। जब तक वर्तमान शरीरका सम्बन्ध है तब तक इहलोक कहलाता है और आगामी-शरीर सम्बन्धकी अपेक्षा परलोक, ऐसा व्यवहार किया जाता है। जब कोई यह विचार करता है कि मेरा परलोक अच्छा हो तब उसका यह विचार मुख्यतया आगामी शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाला होता है। ऐसा विचार इहलोक और परलोकको माननेवाले प्रत्येक जीवका होता है। किन्तु परलोक सर्वथा व्यक्तिके विचारपर अवलम्बित नही। विचारका आचारसे मेल होना चाहिये। उसमे भी विचार और आचार—ये दोनों बाह्य परिस्थितिमे उतने प्रभावित नही होते जितने क वे उस-उस व्यक्तिके जीवन क्रमपर अवलम्बित रहते हं।

यह कौन नही जानता कि प्रत्येक व्यक्ति सुख चाहता है। सुख प्राप्तिका मार्ग भी एक ही हो सकता है। फिर भी व्यक्ति-व्यक्तिके आचार और विचारमे भेद क्यों दिखाई देता है? क्यो एक जीवनशुद्धिके अनुकूल अपना आचरण करता है और विचार भो तदनुकूल बनाता है और दूसरा इसमे ठीक विपरीत प्रवृत्ति करता हुआ दिखाई देता है। उत्तर स्पष्ट है कि संसारके सभी प्राणी अपनेको पहिचाननेमें असमर्थ है। जिन्होने न केवल अपनेको पहचाना है, अपितु वैसे पुरुषोमे सम्पर्क स्थापित किया है और साधन भी वैसे ही जुटाये है, वे मात्र जीवन शुद्धिकी ओर ध्यान देते है। उनका समस्त श्रम और विचार अपने लिए होता है। वे यह स्पष्ट मानते है कि दूसरोंके लिए न तो मैं कुछ कर सकता हूँ और न दूसरे ही मेरे लिए कुछ कर सकते है। लोकमे जो भी उपकार व्यवहार दिखाई देता है वह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धका फल है। उसके आधारपर अपनेमे अन्य-कर्तृत्वका आरोप करना मिथ्या है और अन्यमें अपने कर्तृत्वका आरोप करना भी मिथ्या है। किन्तु जिन्होंने अपनेको पहचाना नही है, उनकी स्थिति इससे ठीक विपरीत है। शास्त्रोंमे इस प्रवृत्तिका कारण मिथ्यात्व परिणाम बतलाया गया है। जीवमे होता तो है यह परिणाम नैमित्तिक, किन्तु सद्भाव रहने तक अनेक प्रकारकी विपरीतताएँ जन्म लेती रहती है। ऐसे व्यक्तिकी, जो मिथ्यात्वरूप परिणामके आधीन है, बुद्धि ठिकाने लाना बड़ा ही कठिन काम है। एक मात्र काललब्धि हो इसकी प्रयोजक मानी गयी है। काल-लब्धि जीवकी अपनी योग्यता है। प्रत्येक वस्तुकी जब जैसी योग्यता होती है, उसीके अनुसार कार्य होता है। यह सोचना कि हम कभी भी कोई कार्य कर सकते है निरा मिथ्यात्व है। यह मिथ्यात्व जब तक जीवनमे घर किये हुए है, तबतक उद्धार होना असम्भव है। कभी-कभी यह होता है कि संसारी जीव इस यथार्थताको जानता है, पर जीवनमे इस तत्त्वज्ञानके न उतरनेके कारण वह मूढ ही बना रहता है। मुख्यतया प्रत्येक प्राणीको अपने जीवनकी गाँठ खोलनी है। लौकिक जीवनका अर्थ है बाहरकी ओर देखना और आध्यात्मिक जीवनका अर्थ है भीतरकी ओर देखना। अभी तक यह प्राणी अपने लिए घर, स्त्री, धन आदिका संग्रह करता रहा है, और जब जो पर्याय मिली उसीको अपनी मानता रहा है। यह इसका बाहरी जीवन है। इस बाहरी जीवनका त्यागकर इसे वह वस्तु प्राप्त करनी है जो इसकी अपनी है और जिससे इसकी स्वतन्त्र प्राप्तिका मार्ग प्रशस्त बनता है। जीवनमे सम्यग्दर्शनका महत्त्व इसी दृष्टिसे माना गया है। यह वह शक्ति है, जिससे जीवनकी गाँठ खोलनेमे सहायता मिलती है।

यों तो इसकी प्राप्ति - चारों गतिके जीवोंको होती है, पर जो असंज्ञी है उन्हे इसकी प्राप्ति नही हो सकती। संज्ञियोंमें भी इसकी प्राप्ति उन्होको होती है जिन्होने व्यक्तिस्वातन्त्र्यके आधारपर स्वावलम्बनको अपने-जीवनमे उतारनेका निर्णय किया है फिर चाहे भले ही वे वर्तमानमे परावलंबिनी-वृत्तिका रंचमात्र भी

त्याग न कर सकें। सम्यग्दर्शन धर्मका आवश्यक अंग है। पूर्ण धर्मकी प्राप्ति उसीके सद्भावमें होती है। एक बात अवश्य है कि यह सब कर्मभूमिज मनुष्यके ही सम्भव है। देव और नरक गति भोग प्रधान होनेसे वहाँ मात्र दृष्टि लाभ होता है, क्योंकि वहाँ स्वावलम्बिनी-वृत्तिका जीवनमें अंशमात्र भी उतारना सम्भव नहीं है। रही तिर्यञ्च गतिकी बात सो इस पर्यायमें पूर्ण विकास सम्भव नहीं होनेसे वहाँ भी पूर्ण धर्मकी प्राप्ति सम्भव नहीं है।

यद्यपि स्थिति ऐसी है फिर भी कुछ भाई कर्मभूमिज मनुष्योंमें अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र और कालके रहते हुए भी ऐसा विधान करते हैं कि यह मनुष्य इतना धर्म धारण कर सकता है और यह मनुष्य इतना। इसके लिए वे पीछेके कुछ श्रावकाचारों और पुराणोंके प्रमाण उपस्थित करते हैं। यहाँ हमें इन प्रमाणोंकी गहराईसे छानबीन नहीं करनी है, किन्तु इतना अवश्य कहना है कि जीविकोपयोगी कर्मके आधारसे धर्म धारण करनेकी योग्यतामें अन्तर मानना तीर्थंकरोंकी आज्ञाके विरुद्ध है। वर्ण व्यवस्थाको किसी न किसी रूपमें भारतीय सभी परम्पराओंने स्वीकार किया है, पर कौन परम्परा इसे किस रूपमें स्वीकार करती है यही सबसे अधिक महत्त्वका प्रश्न है। हम यह जानते हैं कि अब देश, काल ऐसा उपस्थित हुआ है, जिसके कारण कुछ काल बाद पुरानी सामाजिक व्यवस्थाएँ, केवल अध्ययन और खोजकी वस्तुएँ रह जायेंगी, पर उस दृष्टिसे हमें उनको अस्वीकार नहीं करना है। हमें तो यहाँ उनके वास्तविक अन्तरको जानकर ही अस्वीकार करना है।

जैसा कि मनुस्मृति आदिसे ज्ञात होता है कि ब्राह्मण परम्परा जन्मसे वर्ण व्यवस्थापर जोर देती है। उसमें ब्राह्मणकी सन्तान ब्राह्मण और शूद्रकी सन्तान शूद्र ही मानी जाती है फिर चाहे वह कर्म कोई भी क्यों न करे। हम देखते हैं कि वर्तमानमें अधिकतर कथित ब्राह्मण अध्ययन-अध्यापन आदि कर्म न करके अन्य-अन्य कर्म करते हैं। कोई रसोई बनाता है, कोई पानी भरता है, कोई जूतोंकी दुकान करता है कोई कपड़ा बेचता है और कोई नौकरी करता है, फिर भी वह और उसकी सन्तान ब्राह्मण ही मानी जाती है। यही अवस्था दूसरे वर्णोंकी है।

किन्तु जैनधर्मने जन्मसे वर्ण व्यवस्थापर कभी भी जोर नहीं दिया है। उसने वर्णका आधार एकमात्र कर्मको ही माना है। फिर भी वह इस आधारमें ऊँच-नीचकी कल्पना त्रिकालमें नहीं करता है। उसके मतसे न कोई कर्म बुरा है और न कोई कर्म अच्छा। वह अच्छाई और बुराई या उच्चत्व और नीचत्व व्यक्तिके जीवनमें स्वीकार करता है। जो व्यक्ति हिंसाकी ओर गतिशील है वह बुरा ही बुरा है और जो जीवनमें अहिंसाको प्रश्रय देता है उसकी अच्छाईको पूछना किससे है। यही बात उच्चत्व और नीचत्वकी है। इसलिए जन्मना वर्णव्यवस्थाके आधारसे किसी मनुष्यको धर्म धारण करनेके योग्य मानना और किसीको अयोग्य मानना जैनधर्मकी आत्माके विरुद्ध है। यह कल्पित जाति और कुलका अभिमान तो सम्यग्दृष्टिसे ही छूट जाता है। वह सभी प्रकारके अभिमानसे सर्वथा मुक्त हो जाता है।

हमें यह जानकर बड़ा अफसोस होता है कि विचारका स्थान रूढ़िवादिताने ले लिया है. सम्यग्दृष्टिका स्थान परम विचारकका है, इस बातको प्रायः भुला दिया गया है। मानाकि 'नान्यथावादिनो जिनाः' इस आधारपर वह जिनाज्ञाको प्रमाण माननेके लिए सदा तत्पर रहता है, पर जिनाज्ञाके नामपर सभी बातोंको वह आँख मीचकर स्वीकार करता जाय यह नहीं हो सकता। जैन-परम्परामें युक्ति अनुभव और आगम—इन तीन बातोंको प्रमुखता दी गयी है। आगममें भी यहाँ पूर्व-पूर्व आगमकी प्रमाणता मानी गयी है। सम्यग्दृष्टि तीर्थंकरोंके वचनोंको प्रमाण माननेके लिए अपने निःशंकित गुणका उपयोग करता भी है तो इसका यह अर्थ नहीं कि वह उनके नामपर आजतक जो कुछ भी लिखा गया है, उस सबको प्रमाण मानता है। वह उत्तर वचनका पूर्व वचनके साथ मिलान करता है। यदि उत्तरवचन पूर्व वचनके अनुकूल होता है तो वह

उसे प्रमाण मानता है अन्यथा वह उसका त्याग कर देता है। धर्म और सिद्धान्तके नामपर वह जो कुछ भी बोलता है, वह श्रमण भगवान् महावीरकी वाणी है, इस विश्वासके आधारपर ही बोलता है। धर्मका कोई भी वक्ता या लेखक मात्र अनुवादक माना गया है। मैं इस विषयका लेखक या वक्ता हूँ। इस अहंकारका उसे त्याग करना पड़ता है। पूर्वाचार्य किसी ग्रन्थके आदि या अन्तमें अपने नामका उल्लेख नही करते थे, इसका कारण एकमात्र यही था। वे सम्हल-सम्हलकर उन्हीं वचनोंका संग्रह करते थे, जिनकी यथार्थताका वे अच्छी तरहसे निर्णय कर लेते थे। किन्तु उत्तरकालमे एक ही परम्परामे अनेक मतो और पंथोका निर्माण हो जानेके कारण अनेक अपसिद्धान्तोंने प्रवेश पा लिया है। इसका कारण कही देश-काल रहा है और कही व्यक्ति। इतिहास इसका साक्षी है कि हम मूल परम्पराको यथावत् रक्षा न कर सके। भगवान् महावीर निर्वाणके कुछ ही काल बाद हममे मतभेद हो गया और हम दिगम्बर और श्वेताम्बर—इन दो भागोमे बँट गए। जिस मार्गको उस समय हमारे पूर्वजोंने परिस्थितिवश स्वीकार किया था, वह हमारी परम्पराका एक अपरिहार्य अंग बनके ही रहा। इसके बाद भी ऐसी परिस्थितियोंका निर्माण हुआ, जिनके कारण हम और भी पीछे हटे है। तुलनाके लिए रत्नकरण्डक और दूसरे आचार ग्रन्थ लिए जा सकते है। रत्नकरण्डकमे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके आधारसे मात्र मोक्ष-मार्गका निरूपण है, किन्तु इसकी तुलनामे जब हम दूसरे आचार-ग्रन्थोकी मीमासा करते है तो उनमे हमे अनेक नई बातोका प्रवेश दिखाई देता है। उनमे मात्र मोक्षमार्गका निरूपण न होकर उस समयके सामाजिक रीति-रिवाजोका भी विधि-विधान करके उनके अनुसार चलनेकी बात कही गयी है। इस परिस्थितिका समर्थन करनेके लिए यशस्तिलककार सोमदेवसूरि तो यहाँ तक लिखते है—

सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः ।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न न यत्र व्रतदूषणम् ॥

यद्यपि इसके द्वारा जैनोंको लौकिक विधिको प्रमाण माननेकी सशर्त शिक्षा दी गयी है, पर प्रश्न यह है कि सोमदेवसूरिको यह बात कहनेके लिए क्यों बाध्य होना पडा ? क्या उनके काल तक जैन लोग लौकिक विधिको प्रमाण नही मानते थे और इसलिए उनका इतरजनोंसे विरोध था ? जहाँ तक उक्त कथनमे तो यही ज्ञात होता है कि जैनोंने लौकिक विधिको कभी भी प्रमाण नही माना है। उनकी परम्परा सदा उदार और सर्वसंग्राहक रही है। उन्होने मनुष्योंके आर्य और म्लेच्छ—ये भेद स्वीकार करके भी उनके समान अधिकार माने हैं। किन्तु कालदोषसे उत्तरोत्तर वैदिकोके सामने जैन कमजोर पडते गए और अन्तमे जाकर जैनोंको वैदिकोंके सामाजिक विधि-विधान स्वीकार करनेके लिए बाध्य होना पड़ा। हमने अपने सामाजिक रीति-रिवाजोंको तिलाजलि देकर वे सब रीति-रिवाज स्वीकार कर लिए जो वैदिकोंकी अपनी विशेषता रही है। आज तो हम सामाजिक दृष्टिसे तत्त्वतः वैदिक बने बैठे है। और आश्चर्य यह है कि हम इस स्थितिको ही अपनी मानने लगे हैं। वस्तुतः उक्त कथन इसी बातकी स्वीकृति मात्र है।

यह तो हम पहले ही बतला आये है कि सम्यग्दर्शन वस्तुजातके यथार्थ स्वरूपके बोध करनेमे सहायता प्रदान करता है। इसके होनेपर व्यक्तिकी शुद्धिका मार्ग प्रशस्त हो जाता है, फिर वह अपने व्यक्तिगत कर्तव्योंकी ओर विशेष रूपसे ध्यान देने लगता है। सामाजिक रीति-रिवाज मोक्षप्राप्तिमे बाधक माने गए है इसलिए जैसे-जैसे व्यक्तिकी आन्तरिक उन्नति होती जाती है, वैसे-वैसे वह सामाजिक रीति-रिवाजोंसे अपनेको मुक्त करता जाता है। व्रत-प्रतिमाके अतिचारोमे परविवाह करना एक अतिचार माना गया है। इसकी तहमें यही बात छिपी हुई है। विवाह स्वयं अपनेमे धार्मिक विधि नही है। वह तो व्यक्तिकी कमजोरी

की स्वीकृतिका सबसे बड़ा प्रमाणपत्र है। यही कारण है कि व्रती होनेके बाद किसी भी मनुष्यको ऐसे सामाजिक कार्योंसे जुदा रहनेके लिए कहा गया है।

जैसा कि हम देखते हैं कि एक जीवन संशोधनके मार्गमें लगा रहता है और दूसरा चोरी-जारीमें समय बिताता है। क्या चोरी-जारी करने वाला व्यक्ति उस दुनियासे बाहर निवास करता है जहाँ गला फाड़-फाड़कर व्यक्तिके जीवनके सुधारकी बात कही जाती है। उसके वही रहते हुए और ऐसे उपदेशोंके सुनते हुए भी उसके इस तत्वको आचरणमें लानेकी रुचि क्यों नही होती है? सम्यग्दृष्टि इसका कारण जानता है। इसलिए उसे न तो मरणके कारण उपस्थित होनेपर विषाद होता है और न जीवनके कारण उपस्थित होनेपर हर्ष होता है। उसका जीवन निर्भय होता है। भयका कारण कर्म रहते हुए भी उसकी निर्भय-वृत्तिमें अन्तर नही आने पाता।

सम्यग्दर्शन व्यक्ति स्वातंत्र्यको प्रतिष्ठित करनेका सर्वोत्तम साधन है। इसका आध्यात्मिक रहस्य यहीसे समझमें आता है, इसलिए उसकी वृत्तिमें अन्यकी वाछा व विचिकित्साको रंचमात्र भी स्थान नही मिलता। वह यह भी मानता है कि दूसरे पदार्थ मेरा हिताहित करनेकी सामर्थ्य रखते हैं, इस भावनासे उनका आदर-सत्कार करना मूढता है। उसका जीवन एकमात्र स्वावलम्बनकी ओर प्रवाहित होने लगता है। वह किसीकी कमजोरीको जीवनका अवश्यम्भावी परिणाम जानकर उसकी उपेक्षा करता है। वह रागादिको विकारीभाव जान उनसे हटकर अपने स्वरूपमें स्थित होना ही प्रशस्त मानता है। उसके विकल्पमें राग नही आता यह बात नहीं है, फिर भी वह अपने उपयोगको स्वभावकी ओर ले जानेका प्रयत्न करता है और जहाँ तक बनता है इसी वृत्तिका स्थापन करता रहता है। तत्त्व-निर्णयका यह अवश्यम्भावी परिणाम है, इसलिए ये गुण सम्यग्दर्शनके साथ नियमसे प्रकट होते हैं। इसीसे रत्नकरण्डकमें कहा है—

नांगहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसन्ततिम्।
न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनाम्॥

वह दर्शन दर्शन नही जिसके होनेपर ये गुण प्रकाशमें नही आते, ऐसा दर्शन संसार-परम्पराका छेदन करनेमें समर्थ नही होता, क्योंकि यह स्पष्ट है कि जो मन्त्र परिपूर्ण होता है वही विषवेदनाको दूर कर सकता है, अन्य नही।

कभी-कभी ऐसा होता है कि मनुष्यकी बुद्धि पन्थके व्यामोहमें पड़कर जीवन-सम्बन्धी कार्योंमें विमुख होने लगती है। पन्थोंका निर्माण क्यों होता है यह इतिहासकी वस्तु हो सकती है, पर एक बात स्पष्ट है कि पन्थ स्वयं धर्म नही है। उन्हे धर्मका मार्ग मानना भी ठीक नही है। इनमें ऐसी अनेक बाते आ मिलती हैं जिनका आग्रह बढ़ जानेसे मनुष्य बहुत दूर भटक जाता है। उस समय प्रत्येक मनुष्यका ध्यान धर्मकी ओर न जाकर पन्थ रक्षाकी ओर विशेष रूपमें जाने लगता है। हिन्दुओंमें चोटी और जनेऊका आग्रह, मुसलमानोंमें दाढ़ी और खतनाका आग्रह तथा सिखोंमें केशरक्षा, कंघी और कृपाणका आग्रह इसी वृत्तिका परिणाम है। पन्थ मात्र बाहरकी ओर देखता है। वह न केवल मनुष्यको अन्धा बनाता है, अपितु उसे धर्म पर संगठित रूपसे आक्रमण करनेके लिए उत्साहित भी करता है। जीवनमें विकारको समझकर उससे छुटकारा पानेके लिए दृढ़तर प्रयत्न करना ही धर्म है। इसका कार्यक्रम बहुत ही सीधा-सादा है। इसमें आडम्बर को स्थान नही। चोटी रखने या जनेऊके पहिननेसे विकारका अभाव नही हो सकता और न ही ऐसा नही करनेसे विकारको प्रश्रय ही मिल सकता है। उसके त्यागके लिए आत्माका संशोधन करना होगा। विश्व क्या है और उसमें आत्माका स्थान क्या है इसका निर्देश हम पहले ही कर आये हैं। हमे अपने

स्वरूपका विचार इस दृष्टिसे करना होगा। पन्थकी बात जाने दीजिये। विचारकोंने और सन्तोंने उसे तो प्रशस्त माना ही नहीं, उन्होंने भीतर ही भीतर घुसकर आत्माको छाननेका प्रयत्न किया है। सात तत्त्वोंकी चर्चा कौन नहीं जानता। वह आत्माको छाननेका एक प्रकार है। मनुष्य गेहूंको छानते समय चलनीका उपयोग करता है। उससे वह गेहूँमें मिली हुई मिट्टीको निकालकर बाहर फेंक देता है। हमें अपनी बुद्धिका उपयोग चलनीके स्थानमें करना है। आत्मामें पुद्गलके निमित्तसे अनन्त विकार आ मिले है। उनका हमें संशोधन करना है। मनुष्यकी यह बुद्धि एक मात्र सम्यग्दर्शनके होनेपर जागृत होती है, इसलिए सम्यग्दर्शनकी बड़ी महिमा है। आचार्य कुन्दकुन्द इसकी महिमाका व्याख्यान करते हुए षट्प्राभृतमें लिखते हैं—

दंसणभट्टा भट्टा दसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाण।
सिज्झंति चरियभट्टा दंसणभट्टा ण सिज्झंति॥

इसमें चारित्रकी अपेक्षा दर्शनपर विशेष जोर दिया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते है कि जो सम्यग्दर्शनसे च्युत है, उसे जीवनके प्रत्येक कार्यसे च्युत समझना चाहिए। वह मुक्ति-लाभ नहीं कर सकता। ऐसा व्यक्ति जो चारित्रसे च्युत है, सिद्ध हो सकता है, पर सम्यग्दर्शनसे च्युत हुआ व्यक्ति कभी भी सिद्ध नहीं हो सकता।

सम्यग्दर्शन अनन्त शक्तिसम्पन्न आत्माके विश्वासका केन्द्र है। इसके द्वारा प्रत्येक प्राणी आत्मासे जड-तत्त्वोंके पार्थक्यको अनुभवमें लाता है। आत्मामें वैसी योग्यताके होनेपर सर्वप्रथम यह विश्वास गुरुके निमित्तसे प्रस्फुटित होता है। इसके बाद सतत मनन और अनुभवके द्वारा वह दृढमूल होने लगता है। सम्यग्दर्शनके विविध लक्षण इस उत्पत्ति क्रमको ध्यानमें रख कर ही किये गये है। जब हम सात तत्त्वोका निर्णय करते है या देव, गुरु और शास्त्रके स्वरूपको समझनेका प्रयत्न करते है, तब हम इस प्रक्रिया द्वारा मात्र अपने स्वरूपपर विश्वास लाते है। घूम-फिरकर पर से भिन्न आत्माके पृथक् अस्तित्व और उसके स्वरूपको अनुभवमें लाना ही सम्यग्दर्शन है यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

आगममें सम्यग्दर्शनके मुख्य दो भेद मिलते है—व्यवहार सम्यग्दर्शन और निश्चय सम्यग्दर्शन। ये भेद नयदृष्टिसे किये गये है, तत्त्वतः सम्यग्दर्शन एक है। वह आत्माका गुण है और पर्याय भी। गुण और पर्यायमें अन्तर यह है कि गुण अन्वयी होता है और पर्याय व्यतिरेकी। जब तक जीवका स्व-पर-विवेक नहीं होता तब तक वह मिथ्यादर्शन इस नामसे पुकारा जाता है और स्व-पर-विवेकके होनेपर वही सम्यग्दर्शन कहलाता है। सम्यग्दर्शन यह जीवनकी स्वाभाविक अवस्था है और मिथ्यादर्शन नैमित्तिक अवस्था है। यद्यपि निमित्त भेदसे सम्यग्दर्शनके भी अनेक भेद किये जाते है, पर उन निमित्तोंसे मिथ्यादर्शनके निमित्तमें अन्तर है। सम्यग्दर्शनके होनेमें दर्शन मोहनीयका उपशम, क्षय या क्षयोपशम मुख्य रूपसे विवक्षित है और मिथ्या-दर्शनमें दर्शनमोहनीयका उदय लिया गया है।

इस तरह विचार करनेपर सम्यग्दर्शनकी महत्ता स्पष्ट हो जाती है। इससे जीवनमें एक नई क्रान्ति जन्म लेती है। मनुष्यके आचार और विचारमें जो अन्तर आता है वह इसीका फल है। स्वर्गकी सम्पदा इसके सामने न कुछ है। इसके होनेपर मनुष्य नरकके दुःख हँसते-हँसते भोग लेता है। मोक्ष प्राप्तिका यह सबसे बड़ा प्रमाणपत्र है। ऐसी यह पवित्र निधि है। इसलिए भला इसे कौन नहीं चाहेगा।

●

स्वावलम्बी जीवनका सच्चा मार्ग

स्वावलम्बन दो शब्दोंमे मिल कर बना है—स्व और अवलम्बन। इसका अर्थ है किसी भी आत्मकार्यमें परमुखापेक्षी नही होना। धर्म व्यक्तिके जीवनमे आई हुई कमजोरीको दूर कर उसे स्वावलम्बी बनाता है। इसे जीवनमे उतारनेका मुख्य मार्ग यतिधर्म है। गृहस्थ धर्म कमजोरीको स्वीकार करके चलता है, पर यतिधर्म इस प्रकारकी कमजोरीको थोडा भी प्रश्रय नही देता। आशय यह कि यतिधर्मके आचरणसे पूर्ण स्वावलम्बनकी शिक्षा मिलती है और गृहस्थ-धर्म शनैः शनैः स्वावलम्बनकी ओर ले जाता है।

इसके लिए सर्वप्रथम यह श्रद्धा करनी होती है कि मैं भिन्न हूं और ये शरीर, स्त्री, पुत्र, धनादि भिन्न है। इस श्रद्धाके दृढ होनेपर यह जीव इन पदार्थोंके त्यागके लिए प्रयत्नशील होता है। वह ममकार और अहकारभावका त्याग करता है। जो परका रंचमात्र भी सहारा लिये बिना स्वावलम्बन पूर्वक जीवन यापन करनेका अभिलाषी होता है, वह यतिधर्मकी दीक्षा लेता है और जो भीतरी कमजोरीवश यकायक ऐसा करनेमे अपनेको असमर्थ पाता है वह गृहस्थ-धर्मको स्वीकार करता है। गृहस्थ शनैः शनैः स्वावलम्बनकी शिक्षा लेता है। जैसे-जैसे स्वावलम्बनपूर्वक जीवन बितानेमे उसके दृढता आती है, वैसे-वैसे वह परपदार्थोंके आलम्बनको छोडता जाता है और अन्तमे वह भी पूर्ण स्वावलम्बनका अभ्यासी बन जाता है।

माना कि यति शरीरके लिए आहार लेता है, मल-मूत्रका त्याग करता है, थकावट आदिके आनेपर विश्राम करता है स्वमे चित्तके न रहने पर अन्यको उपदेश आदि देता है, केश आदिके बढ जानेपर उनका उत्पाटन करता है और तीर्थयात्रादिके लिए गमनागमन करता है, इसलिए यह शंका होती है कि यतिको पूर्ण स्वावलम्बी कैसे कहा जाय ? प्रश्न है तो मार्मिक और किसी अंशमे जीवनकी कमजोरीको व्यक्त करनेवाला भी, पर यह कमजोरी यकायक दूर नही की जा सकती है। शरीरका सम्बन्ध ऐसा नही है, जिसका त्याग एक झटकेसे किया जा सके। जैसे धन, पुत्र आदि जुदा है, वैसे शरीर जुदा नही है। शरीर और आत्मप्रदेश एक क्षेत्रावगाही हो रहे है और इनका परस्पर संश्लेष भी हो रहा है। अतः शरीरके रहते हुए यावन्मात्र प्रवृत्तिमे इनका निमित्त नैमित्तिक-सम्बन्ध बना हुआ है। यही कारण है कि पूर्ण स्वावलम्बन (यति धर्म) की दीक्षा ले लेनेपर भी संसार अवस्थामे जीवन्मुक्त अवस्था मिलनेके पूर्व तक बहुत सी शरीराश्रित क्रियाओंमें आत्मा निमित्त होता रहता है। यदि उन क्रियाओंसे सर्वथा उपेक्षा भाव रखनेका प्रयत्न किया जाता है तो आत्माश्रित ध्यान-भावना आदि क्रियाओंका किया जाना ही कठिन हो जाता है। पर इतने मात्रसे स्वावलम्बन पूर्वक जीवनयापनकी भावना लुप्त नही हो जाती है, क्योकि शरीरके सम्बन्धके साथ रागभावके रहते हुए बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक शरीरमूलक सब प्रकारकी क्रियाओंको सर्वथा नही छोडा जा सकता। जिन क्रियाओंके नही करनेसे शरीरकी स्थिति बनी रह सकती है वे क्रियाएँ तो छोड दी जाती है, किन्तु जो क्रियाएँ शरीरकी स्थितिके लिए आवश्यक है, उन्हे स्वीकार करना पडता है। दृष्टि शरीरके अवलम्बनको कम करते हुए स्वावलम्बनकी ही रहती है। यह शरीरके लिए की जानेवाली क्रियाओको प्रशस्त नही मानता और कारणवश ऐसी क्रियाके नही करनेपर परम आनन्दका अनुभव करता है।

स्वावलम्बी जीवनका यही सच्चा मार्ग है, जो इस प्राणीको संसार गर्तसे निकालकर मुक्तिका पात्र बनाता है। संसारका प्रत्येक प्राणी ऐसे स्वावलम्बनका अभ्यासी बने यह हमारी कामना है।

साधु और उनकी चर्या

मोक्षमार्गमें आचार्य परम्परासे प्राप्त सम्यक् श्रुतकी प्रतिष्ठा सर्वोपरि है। जो साधु अपने मनरूपी मर्कटको अपने वशमें रखना चाहता है, उसे अपने चित्तको सम्यक् श्रुतके अभ्यासमें नियमसे लगाना चाहिए। श्रुतस्कन्ध हरे भरे, फूल-पत्तोंसे लदे हुए एक वृक्षके समान है। जैसे वृक्षमें अनेक शाखा-उपशाखाएँ होती हैं, फूल-फल होते हैं, वैसे ही श्रुत भी अनेकान्त स्वरूप पदार्थकी नय-उपनयका आश्रय लेकर व्याख्या करनेमें प्रवीण है (आत्मा०, १६९)। यह हम श्रुतके बलसे ही जानते हैं कि जो वस्तु एक अपेक्षासे तत्स्वरूप है वही वस्तु दूसरी अपेक्षासे अतत्स्वरूप भी है। यह विश्व अनादि-अनन्त भी है यह हम इसीसे समझते हैं (वही, १७०)। न कोई वस्तु सर्वथा स्थायी है और न सर्वथा क्षणविनाशीक ही है (वही, १७१)। किन्तु एक ही समयमें वह उत्पाद-व्यय और ध्रौव्यस्वरूप त्रयात्मक सिद्ध होती है (वही, १७१)। इस प्रकार विश्वमें जितने भी पदार्थ हैं उनके सामान्य स्वरूपके निर्णय करनेमें सम्यक् श्रुतकी जितनी उपयोगिता है, प्रत्येक पदार्थके असाधारण स्वरूपके निर्णय करनेमें भी श्रुतकी उतनी ही उपयोगिता है। यह भी हम श्रुतसे ही जानते हैं कि प्रत्येक आत्मा ज्ञानस्वभाव है, इसलिए स्वभावसे च्युत न होकर उसमें रमना ही उसकी प्राप्ति है और वही उसका मोक्ष है (वही, १७४)।

इस समय रयणसार हमारे सामने है। उसमें प्रक्षिप्त गाथाओंको चुन-चुनकर यदि अलग कर दिया जाय तो उसे भी आचार्य कुन्दकुन्दके आगमानुसारी रचनाओंमें वही स्थान प्राप्त है, जो स्थान समयप्राभृत और प्रवचनसार आदिका स्वीकार किया गया है। उसमें श्रावक और साधुके मुख्य कार्योंका निर्देश करते हुए लिखा है कि जैसे श्रावकधर्ममें दान और पूजा मुख्य है, इनके बिना वह श्रावक नहीं हो सकता। वैसे ही मुनिधर्ममें ध्यान और अध्ययन—ये दो कार्य मुख्य हैं। इनके बिना मुनि मुनि नहीं।[1] यही कारण है कि प्रवचनसारमें आचार्य कुन्दकुन्द साधुको आगमचक्षु स्वीकार करते हुए (वही, २३४) कहते हैं कि नाना प्रकारके गुण-पर्यायोंसे युक्त जितने भी पदार्थ हैं वे सब आगमसिद्ध हैं, ऐसा जो जानते हैं और अनुभवते हैं, वस्तुतः वे ही साधुपदसे अलंकृत सच्चे साधु हैं (वही, २३५)। कारण कि जिनकी आगमके अनुसार जीवादि पदार्थोंमें श्रद्धा नहीं है वे बाह्यमें साधु होकर भी सिद्धिको प्राप्त करनेके अधिकारी नहीं होते, यह स्पष्ट है (वही, २३७)।

मोक्षमार्गमें आगम सर्वोपरि है। उसके हार्दको समझे बिना कोई भी संसारी प्राणी मोक्षमार्गके प्रथम सोपानस्वरूप सम्यग्दर्शनको भी प्राप्त नहीं कर सकता। ग्रन्थकारने सम्यग्दर्शनके जिन दस भेदोंका ग्रन्थके प्रारम्भमें उल्लेख किया है उनमेंसे अवगाढ सम्यग्दर्शन तो सकल श्रुतधर श्रुतकेवलीके ही होता है। इससे ही उसकी प्रारम्भमें श्रुताधारता स्पष्ट हो जाती है। परमावगाढ सम्यग्दर्शन मुख्यतया केवलीके माना गया है सो वे तो श्रुतके जनक ही हैं। जिससे यह सहज ही ध्वनित होता है कि जो श्रुतके अध्ययन-मननपूर्वक सम्यग्दर्शनको प्राप्त करता है, वही समग्रभावसे उपदेष्टा हो सकता है। अब रहे सम्यग्दर्शनके शेष आठ भेद सो उनकी प्राप्तिके मूलमें भी किसी न किसी रूपमें श्रुतके अभ्यासकी सर्वोपरिता स्वीकार की गई है। वह भी स्वयं

---

१. दाणं पूया मुक्खं सावयधम्मे ण सावया तेण विणा।
झाणाज्झयणं मुक्खं जइधम्मे तं विणा तहा सो वि ॥रयण०, गा० १०॥

नहीं, किन्तु पूरी तरह आम्नायके ज्ञाता गुरुकी सन्निधिपूर्वक ही स्वीकार की गई है। समग्र आगमपर दृष्टिपात करनेसे यही तथ्य फलित होता है (११-१४)।

आगममें मोक्षमार्गका गुरु कैसा होना चाहिए इसका स्पष्टरूपसे निर्देश करते हुए रत्नकरण्डश्रावकाचारमें लिखा है कि जिसमें अणुमात्र भी विषयसम्बन्धी आशा नहीं पाई जाती, जो आरम्भ और परिग्रहसे रहित है तथा जो ज्ञान, ध्यान और तपमें लीन है, मोक्षमार्गमें उसे ही गुरु माना गया है (४) यद्यपि "आत्मानुशासन" में गुरुका सीधा लक्षण तो दृष्टिगोचर नहीं होता। परन्तु इसमें यतिपतिमें सम्यक् श्रुतका अभ्यास, निर्दोष-वृत्ति, पर-प्रतिबोधन करनेमें प्रवीणता, मोक्षमार्गका प्रवर्तन, ईर्ष्यारहित वृत्ति, भिक्षावृत्तिमें दीनताका अभाव और लोकज्ञता आदि जिन गुणोंका विधान किया गया है (६) उससे मोक्षमार्गका गुरु कैसा होना चाहिये यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है। आगे (६६-६७) पद्योंमें जिन विशेषताओंका निर्देश किया गया है उनपर दृष्टिपात करनेसे भी उक्त तथ्यका ही समर्थन होता है। इतना अवश्य है कि शिष्योंकी सम्हाल करनेमे उसे प्रमादी नहीं होना चाहिए (१४१-१४२)। और न स्नेहालु या शिष्योंके दोषोंके प्रति दुर्लक्ष्य करनेवाला होना चाहिए।

यह मोक्षमार्गके गुरुका संक्षेपमें स्वरूप निर्देश है। यह हो सकता है कि क्वचित्, कदाचित् उसमें मूलगुणोंके पालनमें या उत्तरगुणोंका समग्रभावसे परिशीलन करनेमें कुछ कमी देखी जाय या शरीर संस्कार आदि रूप प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर हो तो भी इतनेमात्रसे उसका मुनिपद सर्वथा खण्डित नहीं हो जाता। यही कारण है कि नैगमादिनयोंकी अपेक्षा तत्त्वार्थसूत्रमे पुलाक, बकुश और कुशील इन तीन प्रकारके मुनियोंको भी निर्ग्रन्थरूपमें स्वीकार किया गया है।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि जिन मुनियोंमें मूलगुणों और उत्तरगुणोंमें कमी देखी जाय, उन्हें मुनि मानना कहाँतक उचित है। प्रश्न मौलिक है और पुराना भी। गुणभद्रसूरिने तो इस विषयको विशेष चर्चा नहीं की। मात्र इतना ही लिखा है कि जैसे मृगगण हिंस्र प्राणियोंके भयवश रात्रिमें नगरके समीप आ जाते हैं वैसे ही इस कालमे खेद है कि मुनिजन भी भयवश रात्रिमें नगरके समीप आ जाते हैं।[1] किन्तु इस विषयकी विशेष चर्चा सोमदेवसूरि और पं० आशाधरजीने विशेषरूपसे की है। ग्यारहवीं शताब्दिके विद्वान् सोमदेवसूरि लिखते है कि जिस प्रकार जिनेन्द्रदेवकी लेपादिसे युक्त जिनप्रतिमा पूजी जाती है, वैसे ही पूर्वकालके मुनियोंकी छाया मानकर वर्त्तमानकालके मुनि पूज्य हैं। मुनियोंको मात्र भोजन ही तो देना है, इसमे वे सन्त है कि असन्त इसकी क्या परीक्षा करनी।[2] १३वी शताब्दिके विद्वान् पं० आशाधरजी भी इसी मतके जान पड़ते है। वे भी इसी बातका समर्थन करते हुए लिखते हैं कि—'जिस प्रकार प्रतिमाओंमें जिनदेवकी स्थापना की जाती है, उसी प्रकार पूर्वकालीन मुनियोंकी इस कालके मुनियोंमें स्थापना कर भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करनी चाहिये। खोद-विनोद करनेमें कोई लाभ नहीं।'[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मुनियोंके आचार सम्बन्धी यह प्रश्न उत्तरोत्तर जटिल होता गया है। वर्त्तमानमें जो मुनि हैं, उन्हें हम मुनि न मानें और मनमें वर्त्तमान मुनियोंकी स्थापना कर बाह्यमें उनकी पूजा

१. इतस्ततश्च त्रस्यन्तो विभावर्यां यथा मृगाः।
वनाद्विशन्त्युपग्रामं कलौ कष्टं तपस्विनः ॥—आत्मानुशासन, १९७।

२. यशस्तिलकचम्पू, उत्तरखण्ड, ४०५।

३. सागारधर्मामृत, अ० २ श्लो० ६४।

करें, आहार दें, उनका उपदेश सुनें, ऐसा करना कहाँ तक उचित है? इस विषयपर समर्थ आचार्योंके वचनोंसे कुछ प्रकाश पडता है या नही यह हमे देखना है।

तत्त्वार्थसूत्रके अनुसार निर्ग्रन्थोंके उत्तर-भेदोंपर विशद प्रकाश डालते हुए मूलगुण आदिकी अपेक्षा कमीवाले मुनियोंके विषयमे तत्त्वार्थवार्तिकमे जो कुछ कहा गया है, उसे यहाँ हम शका-समाधानके रूपमे अविकल दे देना चाहते हैं। यथा—

शंका—जैसे गृहस्थ चारित्रके भेदसे निर्ग्रन्थ नहीं कहलाता, वैसे ही पुलाकादिकमे भी चारित्रका भेद होनेसे निर्ग्रन्थपना नहीं बन सकता?

समाधान—यह कोई दोष नही, क्योंकि जैसे चारित्र और अध्ययन आदिका भेद होनेपर भी जातिसे वे सब ब्राह्मण कहलाते हैं, वैसे ही पुलाकादिक भी निर्ग्रन्थ कहलाते हैं।

इसके कारणका निर्देश करते हुए वहाँ बतलाया है कि यद्यपि निश्चयनयकी अपेक्षा गुणहीनोंमे उक्त संज्ञाकी प्रवृत्ति नही होती, परन्तु संग्रह और व्यवहारनयकी अपेक्षा निर्ग्रन्थके समस्त भेदोका उसमे संग्रह हो जाता है। इसका विशेष खुलासा करते हुए वहाँ पुन लिखा है कि बात यह है कि उक्त पुलाक, बकुश और कुशील—इनमे वस्त्र, आभूषण और आयुध आदि नही पाये जाते। मात्र सम्यग्दर्शन और निर्ग्रन्थ रूपकी समानता देखकर ही उन्हे निर्ग्रन्थ स्वीकार किया गया है।

शका—इस पर पुनः शंका हुई कि जिन्होने व्रतोंको भंग किया है, ऐसे व्यक्तियोंमे भी यदि निर्ग्रन्थ शब्दका प्रयोग करते हैं तो श्रावकोंको भी निर्ग्रन्थ कहना चाहिए?

समाधान—श्रावकोंमे निर्ग्रन्थ रूपका अभाव है, इस कारण उनमे निर्ग्रन्थ शब्दकी प्रवृत्ति नही होती। हमे तो निर्ग्रन्थ रूप प्रमाण है।

शका—यदि आपको निर्ग्रन्थ रूप प्रमाण है तो अन्य जो उस रूपवाले है, उनमे निर्ग्रन्थपनेकी प्राप्ति होती है?

समाधान—नही, क्योंकि उनमें सम्यग्दर्शन नही पाया जाता, इसलिए उन्हे निर्ग्रन्थ नही माना जा सकता। किन्तु जिनमे सम्यग्दर्शनके साथ नग्नता दिखाई देती है उनमे निर्ग्रन्थ व्यवहार करना उचित है। केवल नग्नता देखकर निर्ग्रन्थ व्यवहार करना उचित नही।

श्लोकवार्तिककारका भी यही अभिप्राय है।

इन दोनों समर्थ आचार्योंका यह अभिप्राय उस प्रकाशस्तम्भके समान है जो विशाल और गहरे समुद्रमे प्रकाश और मार्गदर्शन दोनोंका काम करता है। इस समय मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका सबके लिए इस मंगलमय अभिप्रायके अनुसार चलनेकी बडी आवश्यकता है, क्योंकि इस अभिप्रायके मूलमे सम्यग्दर्शन मुख्य है। वह आत्मधर्मका आधार स्तम्भ है। इसमे यही तो कहा गया है कि क्वचित्, कदाचित् बाह्य-चारित्रमे परिस्थितिवश यदि किसी प्रकारकी कमी आ भी जाय तो उतनी हानि नही, जितनी कि सम्यग्दर्शनसे च्युत होनेपर इस जीवको उठानी पडती है। इसी बातको ध्यानमे रखकर आचार्य कुन्दकुन्द दर्शनप्राभृतमे कहते हैं—

दंसणभट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्टा दंसणभट्टा ण सिज्झंति ॥३॥

इसका अर्थ करते हुए पण्डितप्रवर जयचन्दजी छावड़ा लिखते हैं—जो पुरुष दर्शनसे भ्रष्ट हैं वे भ्रष्ट है, जो दर्शनसे भ्रष्ट हैं उनको निर्वाण नही होता, क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि जो चारित्र-भ्रष्ट हैं, वे तो सिद्धिको प्राप्त हो जाते हैं, परन्तु जो दर्शन भ्रष्ट हैं वे सिद्धिको प्राप्त नही होते ॥३॥

इसी बातको भावार्थमें स्पष्ट करते हुए वे पुनः कहते हैं—जैसे वृक्षकी शाखा आदि कट जाये और जड़ बनी रहे तो शाखा आदि शीघ्र ही पुनः उग आयेंगे और फल लगेंगे, किन्तु जड़ उखड़ जानेपर शाखा आदि कैसे होंगे ? इसी प्रकार धर्मका मूल दर्शन जानना ॥३॥

यह सब शास्त्रोंका निचोड़ है। जीवनमें जिनागमके अनुसार अनेक प्रकारके जीवाजीवादि पदार्थोंके सम्यक् निर्णय पूर्वक हेय-उपादेयका जानना ही सम्यग्दृष्टिका लक्षण है।[1] इसके होनेपर व्रत, संयम नियमका आचरण करना ही इष्ट फलको देनेवाला होता है, अन्यथा वे न होनेके समान है, क्योंकि केवल उनके होनेसे संसार छेद नहीं होता।

इस पूरे कथनका सार यह है कि कदाचित् दूसरेकी बलजबरीसे पाँच मूलगुणों और रात्रिभोजन त्याग-रूप व्रतमें दोष लग जाय या क्वचित्, कदाचित् उपकरण और शरीरके संस्कार आदिका परिणाम हो जाय या कदाचित् किसी साधुके उत्तरगुणोंमें विराधना हो जाय तो भी उसके द्रव्यलिंगकी अपेक्षा इस प्रकारकी विविधता होनेपर भी वह साधुपदसे च्युत नही होता। ऐसा होनेपर भी उसके संयमस्थानोंसे सर्वथा पतन नहीं होता। जघन्यादिके भेदमे उसके संयमस्थान बने रहते हैं।[2] यही कारण है कि आगममें ऐसे मुनियोंको भी स्वीकार कर उनकी गुरु पदपर प्रतिष्ठा की गई है। स्वपक्षके समर्थनमें यह दो आचार्योंका अभिप्राय है जो अनुकरणीय है।

किन्तु लोकमें ऐसे मुनियोंकी कमी नही जो गुरुपर्व क्रमसे प्राप्त आगमकी अवहेलना कर उत्सूत्र आचरण करनेमें हिचकिचाहटका अनुभव नही करते। ऐसे मुनियोंको ध्यानमें रखकर ग्रन्थकारने ये उद्गार प्रकट किये हैं कि ग्रहण किये गये तपको स्त्रियोंके कटाक्षरूपी लुटेरो द्वारा यदि लूट लिया जाता है तो जन्म-परम्पराको बढानेवाले उस तपकी अपेक्षा गृहस्थ होकर जीवन यापन करना ही श्रेष्ठ है (१९८)। वे इतना ही कह कर नही रह जाते। वे पुनः उसे समझाते हुए कहते हैं कि साधो ! यह शरीर और स्त्री दोनों एक डग भी निश्चयसे तेरे साथ जानेवाले नही है। इनमें अनुराग कर तू धोखा खा रहा है। इस शरीरसे जो तूने गाढ़ स्नेह कर रखा है और इस कारण विषयोंमें अपनेको उलझा रखा है उसे छोड़, इसीमें तेरा कल्याण है (१९९)। हम यह जानते हैं कि सर्वथा भिन्न दो पदार्थ मिलकर एक नही हो सकते। फिर भी तू पूर्वोपार्जित किसी कर्मके अधीन होकर इन शरीर आदि पदार्थोंमें अभेद-बुद्धि करके तन्मय हो रहा है। पर वास्तवमें वे तुझ स्वरूप है नही। फिर भी तू उनमें ममत्व-बुद्धि करके इस संसाररूपी वनमें छेद-भेदे जानेकी चिन्ता न करके भटक रहा है (२००)। विचार कर यदि तू देखेगा तो यह निश्चय करनेमें देर नही लगेगी कि ये माता-पिता और कुटुम्बीजन तेरे कोई नही है। इनका सम्बन्ध शरीर तक ही सीमित हैं। अतः शरीर सहित इनमें अनुराग करनेसे क्या लाभ ? उसे छोड़।

परमार्थसे देखा जाय तो तू कर्मादि पर वस्तुके सम्बन्धसे रहित होनेके कारण शुद्ध है, ज्ञेयरूप समस्त विषयोंका ज्ञाता है तथा रूप-रसादिसे रहित ज्ञानमूर्ति हैं। यह तेरा सहज स्वरूप है। फिर भी इस शरीरमें अनुरागवश तू इस द्वारा अपवित्र किया जा रहा है। सो ठीक ही है, कारण कि यह अपवित्र जड़-शरीर लोकमें ऐसी कौन-सी वस्तु है जिसे अपवित्र नही करता (२०२), अतः इस शरीरके स्वभावको हेय जानकर उसमें साहस पूर्वक मूर्च्छाको छोड़ देना यही तेरा प्रधान कर्तव्य है। यह मोह बीजके समान है। बीजसे ही वृक्षकी जड़ और अंकुर उत्पन्न होते है। मोहका भी वही काम है। रागद्वेषकी उत्पत्तिका मूल कारण यह मोह ही है

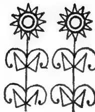
१. सूत्रपाहुड, गा० ५।
२. तत्त्वार्थवार्तिक, अ० ९ सू० ४७।

एकबार पदार्थोंमें अहंबुद्धिका त्याग हो जाने पर राग-द्वेष स्वयं काल पाकर विलयको प्राप्त हो जाते हैं (१८१)।

इन्द्रियाँ पाँच हैं—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। उनमें स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियाँ सबसे प्रबल हैं। कदाचित् शेष इन्द्रियोंके विषयोंसे यह विरक्त भी हो जाय, पर इन दो इन्द्रियोंके विषयसे विरक्त होना आसान नहीं है। हमने देखा है कि साधु इष्ट और गरिष्ठ भोजन लेता है तो भी वह उतना अपवादका पात्र नहीं होता जितना कि स्पर्शन-जन्य दोषके कारण उसे न केवल अपवादका पात्र होना पड़ता है, अपितु लोकमें उसकी प्रताड़ना भी की जाती है। यही कारण है कि इस ग्रन्थमें स्त्रीके दोष दिखा कर साधुको किसी भी प्रकारसे स्त्री सम्पर्कसे दूर रहनेकी शिक्षा पद-पदपर दी गई है। और कहा गया है कि मन तो नपुंसक है। वह विषयका उपभोग क्या करेगा। उसमें यह सामर्थ्य ही नहीं (१३७)।

यद्यपि हम जानते है कि प्राचीन कालमें भी ऐसे पण्डित और साधु होते रहे हैं, जिन्होंने अपने मलिन चारित्र द्वारा निर्मल जैनमार्गको मलिन करनेमें कोई कोर-कसर नहीं रख छोड़ी।[1] मूलाचारमें ऐसे साधुओंके पाँच प्रकार बतलाये गये हैं। उनके नाम हैं—पार्श्वस्थ, कुशील, संसक्त, अपगतसंज्ञ और मृगचरित्र। वहाँ इन्हें संघ बाह्य कहकर इनकी वन्दना करनेका भी निषेध किया गया है।[2] लिंगपाहुडमें भी आचार्य कुन्दकुन्दने ऐसे मुनियोंको मुनिपदके अयोग्य कहा है।[3] अतः समग्र ग्रन्थका सार यह है कि साधु जैसे ऊँचे पदको ग्रहण कर हर प्रकारसे उसकी सम्हाल करनी चाहिये। बालक तो पालना आदिसे गिरनेसे डरता है, फिर साधु संयम जैसे महान् पदका अधिकारी होकर भी उससे गिरनेमें भय न करे, यह आश्चर्यकी बात है।[4]

●



१. पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रैः बठरैश्च तपोधनैः।
शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम् ॥
२. मूलाचार, षडावश्यक अधिकार गा० ९५।
३. देखो, गाथा १४, १७, २० आदि।
४. आत्मानुशासन पृ० १६६।

मुनि और श्रावक-धर्म

जैनधर्म निवृत्ति प्रधान धर्म है। इसमें मुक्ति और उसके कारणोंकी मीमांसा सांगोपाग और सूक्ष्मताके साथ की गयी है। इसका यह अर्थ नहीं कि इसमें प्रवृत्तिके लिये यत्किंचित् भी स्थान नही है। वस्तुतः प्रवृत्ति कथंचित् निवृत्तिकी पूरक है। अशुभ और शुभसे निवृत्ति होकर जीवकी शुद्ध आत्मस्वरूपमे प्रवृत्ति हो यह इसका अन्तिम लक्ष्य है। यहाँ शुभसे हमारा अभिप्राय शुभरागसे है। राग भी बन्धका कारण है, इसलिए वह भी हेय है।

इसका अपना दर्शन है जो आत्माकी स्वतन्त्र सत्ताको स्वीकार करता है। आचार्य कुन्दकुन्द समयसार-में परसे भिन्न आत्माकी पृथक् सत्ताका मनोरम चित्र उपस्थित करते हुए कहते हैं—अहो आत्मन्! ज्ञान-दर्शनस्वरूप तू अपनेको स्वतन्त्र और एकाको अनुभव कर। विश्वमे तेरे दायें-बायें, आगे-पीछे और ऊपर-नीचे पुद्गलकी जो अनन्त राशि दिखालाई देती है उसमे अणुमात्र भी तेरा नही है। वह जड़ है और तू चेतन है। वह विनाशीक है और तू अविनाशीक पदका अधिकारी। उसके पास सम्बन्ध स्थापित कर तूने खोया ही है, कुछ पाया नहीं। संसार खोनेका मार्ग है। प्राप्त करनेका मार्ग इससे भिन्न है।

जैनधर्म एकमात्र उसी मार्गका निर्देश करता है जो आत्माके निज-स्वरूपकी प्राप्तिमे सहायक होता है। यद्यपि कहीं-कहीं स्वर्गादिरूप अभ्युदयकी प्राप्ति धर्मका फल कहा गया है, किन्तु इसे औपचारिक ही समझना चाहिए। धर्मका साक्षात् फल आत्मविशुद्धि है। इसकी परमोच्च अवस्थाका नाम ही मोक्ष है। यह न तो शून्यरूप है और न इसमें आत्माका अभाव ही होता है। संसारमें संकल्प-विकल्प और संयोगजन्य जो अनेक बाधाएँ उपस्थित होती हैं, मुक्तात्मामें उनका सर्वथा अभाव हो जाता है, इसीलिए जैनधर्ममें मुक्ति-प्राप्तिका उद्योग सबके लिए हितकारी माना गया है।

१. मुनिधर्म

दूसरे शब्दोंमे यह बात यों कही जा सकती है कि जैनधर्म प्रत्येक आत्माकी स्वतन्त्र सत्ताको स्वीकार करके व्यक्ति-स्वातन्त्र्यके आधारपर उसके बन्धनसे मुक्त होनेके मार्गका निर्देश करता है। तदनुसार इसमें मोक्षमार्गके दो भेद किये गये हैं—प्रथम मुनिधर्म और दूसरा गृहस्थधर्म। मुनिधर्म पूर्ण स्वावलम्बनकी दीक्षा-का दूसरा नाम है।

अट्ठाईस मूलगुण

इसमें किसी भी प्रकारकी हिंसा, असत्य, चोरी और अब्रह्मके लिए तो स्थान है ही नही। साथ ही साथ साधु अन्तरंग और बहिरंग पूर्ण परिग्रहका त्यागी होता है। वह अपना समस्त आचार-व्यवहार यत्नाचार-पूर्वक करता है। चलते समय जमीन शोधकर चलता है। बोलनेका संयम रखता है। यदि बोलता भी है तो हित, मित और प्रिय वचन ही बोलता है। शरीर द्वारा संयमकी रक्षाके लिए अयाचित और अनुद्दिष्ट निर्दोष भोजन दिनमें एक बार लेता है। पात्र और आसनको स्वीकार नही करता। आहारके ग्रहणकी पूर्ति अञ्जलिबद्ध दोनों हाथोंसे हो जाती है और खडे-खडे ही उपकरणोंमें आसक्ति किये बिना आहार लिया जा सकता है, इसलिए पात्र और आसनका आश्रय नही लेता। संयमकी रक्षा और ज्ञानकी वृद्धिके लिए वह पीछी, कमण्डलु और शास्त्रको स्वीकार करता है। किन्तु उनके उठाने-धरनेमें किसीको बाधा न पहुँचे, इस अभिप्राय-से वह पूरी सावधानी रखता है। मल-मूत्र आदिका क्षेपण भी निर्जन्तु और एकान्त स्थानमें करता है। काय

और मनकी यद्वा-तद्वा प्रवृत्तिसे विरत रहता है। केश सम्मूर्च्छन जीवोंकी उत्पत्तिके स्थान है इस अभिप्रायसे वह स्वयं अपने हाथसे उनके उत्पाटनका व्रत स्वीकार करता है। इसके लिए किसीसे कर्तरी और छुरा आदिकी याचना नहीं करता। कोई स्वेच्छासे लाकर देने भी लगे तो वह उन्हे स्वीकार नही करता। उनके स्वीकार करनेमें या उनसे काम लेनेमे वह अपने स्वावलम्बन-व्रतकी हानि मानता है। उसकी अन्य परिग्रह आदिके समान शरीरमे भी आसक्ति नही होती, इसलिए वह न तो शरीरका सस्कार करता है और न स्नान ही करता है। आवरण और परिग्रहका त्याग कर देनेसे वह नग्न रहता है। आहार उतना ही लेता है जो शरीरके सन्धारणके लिए आवश्यक होता है। उसके मुँहमे आहारजन्य दुर्गन्ध आदिके उत्पन्न न होनेके कारण उसे दन्तधावन आदिकी भी आवश्यकता नहीं पड़ती। तथा वह अपने पाँच इन्द्रियोके विषयोंमे सदा विरक्त रहता है। यह प्रत्येक साधुकी जीवन-भरके लिए स्वीकृत चर्या है। इसका वह प्रतिदिन शरीरमे आसक्ति किये बिना उत्तम रीतिसे पालन करता है।

साधुके मूलगुण अट्ठाईस होते है—पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियोंके विषयोंका निरोध, सात शेष गुण और छह आवश्यक। इनमेसे बाईस मूलगुणोंका विचार पूर्व ही कर आये है। छह आवश्यक ये हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और व्युत्सर्ग। साधु इनका भी उत्तम रीतिसे पालन करता है। जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, संयोग-वियोग, मित्र-शत्रु और सुख-दुःखमे समता परिणाम रखना और त्रिकाल देववन्दना करना सामायिक है। चौबीस तीर्थंकरोंको नाम निरुक्ति और गुणानुकीर्तन करते हुए मन, वचन और कायकी शुद्धिपूर्वक प्रणाम करना चतुर्विंशतिस्तव है। पाँच परमेष्ठी और जिनप्रतिमाको कृतिकर्मके साथ मन, वचन और कायकी शुद्धिपूर्वक प्रणाम करना वन्दना है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके आलम्बनसे व्रतविशेषमें या आहार आदिके ग्रहणके समय जो दोष लगता है, उसकी मन, वचन और कायकी सम्हालके साथ निन्दा और गर्हा करते हुए शुद्धि करना प्रतिक्रमण है। तथा अयोग्य नाम, स्थापना और द्रव्य आदिका मन, वचन और कायसे त्याग कर देना प्रत्याख्यान है।

विशेष नियम

ये साधुके मूल गुण हैं। इनका वह नियमित रूपसे पालन करता है। इनके सिवा उक्त धर्मके पूरक कुछ उपयोगी नियम और हैं जिनको जीवनमे उतारनेसे साधुधर्मकी रक्षा मानी जाती है। वे ये हैं—१ जो अपनेसे बड़े पुराने दीक्षित साधु है, उनके सामने आनेपर अभ्युत्थान और प्रणाम आदि द्वारा उनकी समुचित विनय करता है। २. आगमार्थके सुनने और ग्रहण करनेमे रुचि रखता है। ३. गुरु आदिसे शंकाका निवारण विनयपूर्वक करता है। ४ श्रुतका अभ्यास बढ जानेपर न तो अहंकार करता है और न उसे छिपाता है। ५. ज्ञान और संयमके उपकरणोंके प्रति आसक्ति नही रखता। ६. जिस पुस्तकका स्वाध्याय करता है, उसे ही स्वाध्याय समाप्त होने तकके लिए स्वीकार करता है। अनावश्यक पुस्तकोंके संग्रहमे रुचि नही रखता। अनुसन्धानके लिए अधिक पुस्तकोंका अवलोकन करना वर्जनीय नही है, परन्तु उनके संग्रहमे रुचि नही रखता। ७. अपने गुरु और गुरुकुलके अनुकूल प्रवृत्ति करता है। ८. संयमके योग्य क्षेत्र, निर्जन वन, गिरि-गुफा या चैत्यालय आदिमे निवास करता है। ९. अन्य साधुओंकी आवश्यकतानुसार वैयावृत्य करता है। १०. गाँवमे एक दिन और शहरमे पाँच दिन निवास करता है। ११. पहले अपनी गुरु-परम्परासे आये हुए आगमका विधिपूर्वक अध्ययन करके अनन्तर गुरुकी आज्ञासे अन्य शास्त्रोका अध्ययन करता है। १२. अध्ययन करनेके बाद यदि अन्य धर्मायतन आदि स्थानमे जानेकी इच्छा हो तो गुरुसे अनेक बार पृच्छापूर्वक अनुज्ञा लेकर अकेला नही जाता है किन्तु अन्य साधुओंके साथ जाता है। अकेले विहार करनेकी गुरु ऐसे साधुको ही अनुज्ञा देते है

जो सूत्रार्थका ज्ञाता है, उत्तम प्रकारसे तपश्चर्यामें रत है, जिसने सहनशक्ति बढ़ा ली है, जो शान्त और प्रशस्त परिणामवाला है, उत्तम संहननका धारी है, सब तपस्वियोंमें पुराना है, अपने आचारकी रक्षा करनेमें समर्थ है और जो देशकालका पूर्ण ज्ञाता है। जो इन गुणोंका धारी नहीं है, उसके एकलविहारी होनेपर गुरुका अपवाद होनेका, श्रुतका विच्छेद होनेका और तीर्थके मलिन होनेका भय बना रहता है। तथा स्वैराचारकी प्रवृत्ति बढ़ने लगती है। और भी अनेक दोष हैं, इसलिए हर कोई साधु एकलविहारी नहीं हो सकता। जो इस प्रवृत्तिको प्रोत्साहन देते हैं, वे भी उक्त दोषोंके भागी होते हैं। प्रायः जो गारव दोषसे युक्त होता है, मायावी होता है, आलसी होता है, व्रतादिके पूर्णरूपसे पालन करनेमें असमर्थ होता है और पापबुद्धि होता है, वही गुरुकी अवहेलना करके अकेला रहना चाहता है। १३ आर्यिका या अन्य स्त्रीके अकेली होनेपर उससे बातचीत नहीं करता और न वहाँ ठहरता ही है। १४. यदि बातचीत करनेका विशेष प्रयोजन हो तो अनेक स्त्रियोंके रहते हुए ही दूरसे उनसे बातचीत करता है। १५. आर्यिकाओं या अन्य व्रती श्राविकाओंके उपाश्रयमें नहीं ठहरता। १६. अपनी प्रभाववृद्धिके लिए मन्त्र, तन्त्र और ज्योतिषविद्याका उपयोग नहीं करता। १७. तैलमर्दन आदि द्वारा शरीरका संस्कार नहीं करता और सुगन्धित द्रव्योंका उपयोग नहीं करता। १८. शीत आदिकी बाधासे रक्षाके उपायोंका आश्रय नहीं लेता। १९. वसतिका आदिका द्वार स्वयं बन्द नहीं करता तथा वहाँ आनेवाले अन्य व्यक्तिको नहीं रोकता। २०. दीपक या लालटेनकी रोशनीको कम-अधिक नहीं करता। बैटरी भी पासमें नहीं रखता। २१. उष्णताका वारण करनेके लिए पंखे आदिका उपयोग नहीं करता। २२. अपने साथ नौकर आदि नहीं रखता। २३. किसीके साथ विसंवाद नहीं करता। २४. तीर्थादिकी यात्राके लिए अर्थका संग्रह नहीं करता और न इसकी पूर्तिके लिए उपदेश देता है। २५. तथा यात्राके समय किसी प्रकारकी सवारीका उपयोग नहीं करता। पैदल ही विहार करता है। इन नियमोंके सिवा और भी बहुतसे नियम हैं जिनका वह संयमकी रक्षाके लिए भले प्रकार पालन करता है।

२. आर्यिकाओंके विशेष नियम

उक्त धर्मका समग्ररूपसे आर्यिकाएँ भी पालन करती हैं। इसके सिवा उनके लिए जो अन्य नियम बतलाये गये हैं, उन्हें भी वे आचरणमें लाती हैं। वे अन्य नियम ये हैं—वे परस्परमें एक-दूसरेके अनुकूल होकर एक-दूसरेकी रक्षा करती हुई रहती हैं। २. रोष, वैरभाव और मायाभावसे रहित होकर लज्जा और मर्यादाका ध्यान रखती हुई उचित आचारका पालन करती हैं। ३. सूत्रका अध्ययन, सूत्रपाठ, सूत्रका श्रवण, उपदेश देना, बारह अनुप्रेक्षाओंका चिन्तवन, तप, विनय और संयममें सदा सावधान रहती हैं। ४. शरीरका संस्कार नहीं करतीं। ५. सादा बिना रँगा हुआ वस्त्र रखती हैं। ६. जहाँ गृहस्थ निवास करते हैं, उस मकान आदिमें नहीं ठहरतीं। ७. कभी अकेली नहीं रहतीं। कमसे कम दो-तीन मिलकर रहती हैं। ८. बिना प्रयोजनके किसीके घर नहीं जातीं। यदि प्रयोजनवश जाना ही पड़े तो गणिनीसे अनुज्ञा लेकर मिलकर ही जाती हैं। ९. रोना, बालक आदिको स्नान कराना, भोजन बनाना, दाईका कार्य और कृषि आदि छह प्रकारका आरम्भ कर्म नहीं करतीं। १०. साधुओंका पाद-प्रक्षालन व उनका परिमार्जन नहीं करतीं। ११ वृद्धा आर्यिकाको मध्यमें करके तीन, पाँच या सात आर्यिकाएँ मिलकर एक-दूसरेकी रक्षा करती हुई आहारको जाती हैं। १२. आचार्यसे पाँच हाथ, उपाध्यायसे छह हाथ और अन्य साधुओंसे सात हाथ दूर रहकर गो-आसनसे बैठकर उनकी वन्दना करती हैं।

जो साधु और आर्यिकाएँ इस आचारका पालन करते हैं, वे जगत्में पूजा और कीर्तिको प्राप्त करते हुए अन्तमें यथानियम मोक्ष-सुखके भागी होते हैं।

३. गृहस्थधर्म

मोक्ष-प्राप्तिका साक्षात् मार्ग मुनिधर्म ही है। किन्तु जो व्यक्ति मुनिधर्मको स्वीकार करनेमें असमर्थ होते हुए भी उसे जीवनव्रत बनानेमें अनुराग रखते है, वे गृहस्थ धर्मके अधिकारी माने गये है। मुनिधर्म उत्सर्ग मार्ग है और गृहस्थधर्म अपवाद मार्ग है। तात्पर्य यह है कि गृहस्थधर्मसे आंशिक आत्मशुद्धि और स्वावलम्बन की शिक्षा मिलती है, इसलिए यह भी मोक्षका मार्ग माना गया है।

समीचीन श्रद्धा और उसका फल

जो मुनिधर्म या गृहस्थधर्मको स्वीकार करता है उसकी पाँच परमेष्ठी और जिनदेव द्वारा प्रतिपादित शास्त्रमें अवश्य श्रद्धा होती है। वह अन्य किसीको मोक्षप्राप्तिमे साधक नही मानता इसलिए आत्मशुद्धिकी दृष्टिसे इनके सिवा अन्य किसीकी वन्दना और स्तुति आदि नही करता। तथा उन स्थानोंको आयतन भी नहीं मानता, जहाँ न तो मोक्षमार्गकी शिक्षा मिलती है और न मोक्षमार्गके उपयुक्त साधन ही उपलब्ध होते हैं। लौकिक प्रयोजनकी सिद्धिके लिए दूसरेका आदर-सत्कार करना अन्य बात है। वह जानता है कि शरीर मेरा स्वरूप नहीं है, इसलिए शरीर, उसकी सुन्दरता और बलका अहंकार नही करता। धन, ऐश्वर्य, कुल और जाति ये या तो माता-पिताके निमित्तसे प्राप्त होते है या प्रयत्नसे प्राप्त होते हैं। ये आत्माका स्वरूप नहीं हो सकते, इसलिए इनका भी अहंकार नही करता। ज्ञान और तप ये समीचीन भी होते है और असमीचीन भी होते हैं। जिसे आत्मदृष्टि प्राप्त है, उसके ये असमीचीन हो ही नही सकते, इसलिए इन्हें मोक्षमार्गका प्रयोजक जान इनका भी अहंकार नही करता। धर्म आत्माका निज रूप है यह वह जानता है, इसलिए अपनी खोयी हुई उस निधिको प्राप्त करनेके लिए वह सदा प्रयत्नशील रहता है।

पाँच अणुव्रत

इस प्रकार दृढ़ आस्थाके साथ सम्यग्दर्शनको स्वीकार करके वह अपनी शक्तिके अनुसार गृहस्थधर्मके प्रयोजक बारह व्रतोंको धारण करता है। बारह व्रत ये हैं—पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत। हिंसा, असत्य, चोरी अब्रह्म और परिग्रहका वह एकदेश त्याग करता है, इसलिए उसके पाँच अणुव्रत होते है। तात्पर्य यह है कि वह त्रस-हिंसासे तो विरत रहता ही है। बिना प्रयोजनके एकेन्द्रिय जीवोंका भी बध नहीं करता। ऐसा वचन नही बोलता जिससे दूसरोकी हानि हो या बोलनेमें दूसरोंके सामने अप्रमाणित बनना पड़े। अन्यकी छोटी,बड़ी किसी वस्तुको उसकी आज्ञाके बिना स्वीकार नही करता। अपनी स्त्रीके सिवा अन्य सब स्त्रियोंको माता, बहिन या पुत्रीके समान मानता है और आवश्यकतासे अधिक धनका संचय नही करता।

तीन अणुव्रत

इन पाँच व्रतोंकी वृद्धिके लिए वह दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डविरतिव्रत—इन तीन गुणव्रतोंको भी धारण करता है। दिग्व्रतमें जीवन-भरके लिए और देशव्रतमे कुछ कालके लिए क्षेत्रकी मर्यादा की जाती है। गृहस्थका पुत्र, स्त्री और धन-सम्पदासे निरन्तर सम्पर्क रहता है। इस कारण उसकी तृष्णामें वृद्धि होना सम्भव है। ये दोनों व्रत उसी तृष्णाको कम करनेके लिए या सीमित रखने के लिए स्वीकार किये जाते है। प्रथम व्रतको स्वीकार करते समय वह इस प्रकारकी प्रतिज्ञा करता है कि मैं जीवन-भर अपने व्यापार आदि प्रयोजनकी सिद्धि इस क्षेत्रके भीतर रहकर ही करूँगा। इसके बाहर होनेवाले व्यापार आदिसे या उसके निमित्तसे होनेवाले लाभसे मुझे कोई प्रयोजन नहीं है। समय-समयपर यथानियम दूसरे व्रतको स्वीकार करते समय वह अपने इस क्षेत्रको और भी सीमित करता है और इस प्रकार अपनी तृष्णापर उत्तरोत्तर नियन्त्रण स्थापित करता जाता है। इतना ही नही वह आजीविकामे और अपने आचार-व्यवहारमे उन्हीं साधनोंका

उपयोग करता है, जिनसे दूसरे प्राणियोंको किसी प्रकारकी बाधा नहीं होने पाती। जिनसे दूसरोंकी हानि होनेकी सम्भावना होती है उनका वह निर्माण भी नहीं करता और ऐसा करके वह स्वयंको अनर्थदण्डसे बचाता है।

चार शिक्षाव्रत

वह अपने जीवनमें कुछ शिक्षाएँ भी स्वीकार करता है। प्रथम तो वह समता तत्त्वका अभ्यास कर अपने सामायिक शिक्षाव्रतको पुष्ट करता है। दूसरे पर्व दिनोंमें एकाशन और उपवास आदि व्रतोंको स्वीकार कर वह प्रोषधोपवास व्रतकी रक्षा करता है। शरीर सुखशील न बने और आत्मशुद्धिकी ओर गृहस्थका चित्त जावे, इस अभिप्रायसे वह इस व्रतको स्वीकार करता है। वह अपने आहार आदिमें प्रयुक्त होनेवाली सामग्रीका भी विचार करता है और मन तथा इन्द्रियोंको मत्त करनेवाली तथा दूसरे जीवोंको बाधा पहुँचाकर निष्पन्न की गयी सामग्रीका उपयोग न कर उपभोग-परिभोग परिमाणव्रतको स्वीकार करता है। अतिथि सबका आदरणीय होता है और उससे सयमके अनुरूप शिक्षा मिलती है, इसलिए वह अतिथिसंविभागव्रतको स्वीकार कर सबकी यथोचित व्यवस्था करता है। ये गृहस्थके द्वारा करने योग्य बारह व्रत हैं। इनके धारण करनेसे उसका गार्हस्थिक जीवन सफल माना जाता है।

४. कृतिकर्म-देवपूजा

हमने मुनिधर्म और गृहस्थधर्मका सामान्यरूपसे दिग्दर्शन कराते समय जिस प्रमुख धर्मका बुद्धिपूर्वक उल्लेख नहीं किया है वह है कृतिकर्म। कृतिकर्म साधु और गृहस्थ दोनोंके आवश्यक कार्योंमें मुख्य है। यद्यपि साधु सांसारिक प्रयोजनोंसे मुक्त हो जाता है, फिर भी उसका चित्र भूलकर भी लौकिक समृद्धि, यश और अपनी पूजा आदिकी ओर आकृष्ट न हो और गमनागमन, आहारग्रहण आदि प्रवृत्ति करते समय लगे हुए दोषोंका परिमार्जन होता रहे, इसलिए साधु कृतिकर्मको स्वीकार करता है। गृहस्थकी जीवनचर्या ही ऐसी होती है जिसके कारण उसकी प्रवृत्ति निरन्तर सदोष बनी रहती है, इसलिए उसे भी कृतिकर्म करनेका उपदेश दिया गया है।

पर्यायवाची नाम

मूलाचारमें कृतिमकर्मके चार पर्यायवाची नाम दिये हैं—कृतिकर्म, चितिकर्म, पूजाकर्म और विनय-कर्म।[1] इनकी व्याख्या करते हुए वहाँ कहा गया है कि जिस अक्षरोच्चाररूप वाचनिक क्रियाके, परिणामोंकी विशुद्धिरूप मानसिक क्रियाके और नमस्कारादि कायिक क्रियाके करनेसे ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके कर्मोंका 'कृत्यते छिद्यते' छेद होता है उसे कृतिकर्म कहते हैं। यह पुण्यसंचयका कारण है, इसलिए इसे चितिकर्म भी कहते है। इसमें चौबीस तीर्थंकरों और पाँच परमेष्ठी आदिकी पूजा की जाती है, इसलिए इसे पूजाकर्म भी कहते हैं तथा इसके द्वारा उत्कृष्ट विनय प्रकाशित होती है, इसलिए इसे विनयकर्म भी कहते है। यहाँ विनय-की 'विनीयते निराक्रियते' ऐसी व्युत्पत्ति करके इसका फल कर्मोंकी उदय और उदीरणा आदि करके उनका नाश करना भी बतलाया गया है। तात्पर्य यह है कि कृतिकर्म जहाँ कर्मोंकी निर्जराका कारण है, वहाँ वह उत्कृष्ट पुण्य संचयमें हेतु है और विनयगुणका मूल है, इसलिए उसे प्रमादरहित होकर साधुओं और गृहस्थों-को यथाविधि करना चाहिए।

१. मूलाचार, षडावश्यकाधिकार, गाथा ७९।

समय-विचार

कृतिकर्म कब किया जाये इस प्रश्नका समाधान करते हुए लिखा है कि कृतिकर्म तीनों सन्ध्याकालोंमें करना चाहिए।[1] वीरसेन स्वामी अपनी धवला टीका मे कहते है कि तीन बार ही करना चाहिए ऐसा कोई एकान्त नियम नही है। अधिक बार भी किया जा सकता है, पर तीन बार अवश्य करना चाहिए। यह तो हम आगे बतलानेवाले है कि तीन सन्ध्याकालोंमें जो कृतिकर्म किया जाता है, उसमें सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव और वन्दना इन तीनोंकी मुख्यता है, इसलिए आजकल जिन विद्वानों और त्यागियोंका यह मत है कि साधुको प्रतिदिन देववन्दना करनी ही चाहिए, ऐसा कोई नियम नही है, उनका वह मत आगमसंगत नहीं जान पड़ता। तीनों सन्ध्याकालोंमें किया जानेवाला कृतिकर्म साधु और श्रावक दोनोंका एक समान है। अन्तर केवल इतना है कि साधु अपरिग्रही होनेसे कृतिकर्म करते समय अक्षत आदि द्रव्यका उपयोग नही करता और गृहस्थ उसका भी उपयोग करता है।

गृहस्थका कृतिकर्म

मूलाचारमें कृतिकर्मके व्याख्यानके प्रसंगसे विनयकी व्याख्या करते हुए उसके पाँच भेद किये है—लोकानुवृत्तिविनय, अर्थविनय, कामविनय, भयविनय और मोक्षविनय। अर्थविनय, कामविनय और भयविनय ये संसारकी प्रयोजक है यह स्पष्ट ही है। लोकानुवृत्तिविनय दो प्रकार की है—एक वह जिसमे यथावसर सबका उचित आदर-सत्कार किया जाता है और दूसरी वह जो देवपूजा आदिके समयकी जाती है। यहाँ देवपूजा अपने वैभवके अनुसार करनी चाहिए यह कहा है।[2] इससे विदित होता है कि गृहस्थ कृतिकर्म करते समय अक्षत आदि सामग्रीका उपयोग करता है। वह सामग्री कैसी हो इसके सम्बन्धमे मूलाचार प्रथम अधिकारके श्लोक २४ की टीकामे आचार्य वसुनन्दि कहते है—जिनेन्द्रदेवकी पूजाके लिए गन्ध, पुष्प और धूप आदि जिस सामग्रीका उपयोग किया जावे, वह प्रासुक और निर्दोष होनी चाहिए। इससे भी गृहस्थ कृतिकर्म करते समय सामग्रीका उपयोग करता है इसकी सूचना मिलती है।

आलम्बन

कृतिकर्म करने का मुख्य हेतु आत्मशुद्धि है। इसलिए यह विधि सम्पन्न करते समय उन्हीका आलम्बन लिया जाता है, जिन्होंने आत्मशुद्धि करके या तो मोक्ष प्राप्त कर लिया है या जो अरहन्त अवस्थाको प्राप्त हो गये हैं। आचार्य, उपाध्याय और साधु तथा जिन-प्रतिमा और जिनवाणी—ये भी आत्मशुद्धिमे प्रयोजक होनेसे उसके आलम्बन माने गये है। यहाँ यह प्रश्न होता है कि देवपूजा आदि कार्य बिना रागके नही होते और राग संसारका कारण है, इसलिए कृतिकर्मको आत्मशुद्धिमे प्रयोजक कैसे माना जा सकता है। समाधान यह है कि जबतक सराग अवस्था है, तबतक जीवके रागकी उत्पत्ति होती ही है। यदि वह राग लौकिक प्रयोजनकी सिद्धिके लिए होता है तो उससे संसारकी वृद्धि होती है। किन्तु अरिहन्त आदि स्वयं राग और द्वेषसे रहित होते हैं। लौकिक प्रयोजनसे उनकी पूजाकी भी नही की जाती है, इसलिए उनमे पूजा आदिके निमित्तसे होनेवाला राग मोक्षमार्गका प्रयोजक होनेसे प्रशस्त माना गया है। मूलाचारमें भी कहा है कि जिनेन्द्रदेवकी भक्ति करनेसे पूर्व संचित सब कर्मोंका क्षय होता है आचार्यके प्रसादसे विद्या और मन्त्र सिद्ध होते है। ये संसारसे तारनेके लिए नौकाके समान है। अरिहन्त, वीतराग धर्म, द्वादशाग

१. षट्खण्डागम, कर्म अनुयोगद्वार, सूत्र २८।

२. मूलाचार, षडावश्यकाधिकार, गाथा ८४।

वाणी, आचार्य, उपाध्याय और साधु—इनमें जो अनुराग करते हैं, उनका वह अनुराग प्रशस्त होता है। इनके अभिमुख होकर विनय और भक्ति करनेसे सब अर्थोंकी सिद्धि होती है। इसलिए भक्ति रागपूर्वक मानी गयी है। किन्तु यह निदान नहीं है। निदान सकाम होता है और भक्ति निष्काम। यही इन दोनोंमे अन्तर है।

विधि

वन्दनाके लिए जाते समय श्री जिनालयके दृष्टिपथमे आनेपर 'दृष्टं जिनेन्द्रभवनं भवतापहारि' पाठ पढ़े। अनन्तर हाथ-पैर धोकर 'णिसही णिसही णिसही'[1] ऐसा तीन बार उच्चारण करके जिनालयमे प्रवेश करे। भगवान् जिनेन्द्रदेवके दर्शनसे पुलकित वदन और आत्मविभोर हो उनके सामने हाथ जोड़कर खड़ा हो जावे। अनन्तर दोषविशुद्धिके लिए ईर्यापथशुद्धि करके यथाविधि सामायिकदण्डक, त्थोस्सामिदण्डक चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति पढ़े। अन्तमें देववन्दना करते समय लगे दोषके परिमार्जनके लिए यथाविधि समाधिभक्ति पढ़कर देववन्दनाका कृतिकर्म सम्पन्न करे।

इस कृतिकर्मको करते समय कहाँ बैठकर अष्टांग नमस्कार करे कहाँ खड़े-खड़े ही नमस्कार करे तथा कहाँ मन, वचन और कायकी शुद्धिके सूचक तीन आवर्त करे आदि सब विधि विविध शास्त्रोंमे बतलायी गयी है। इस विधिको सूचित करनेवाला एक सूत्र षट्खण्डागमके कर्म अनुयोगद्वारमें भी आया है।[2] उसके अनुसार कृतिकर्मके छह भेद होते हैं—उसका प्रथम विशेषण आत्माधीन है। कृतिकर्म पूरी स्वाधीनताके साथ करना चाहिए, क्योंकि पराधीन होकर किये गये कार्यसे इष्ट फलकी प्राप्ति नहीं होती। दूसरा विशेषण तीन प्रदक्षिणा देना है। गुरु, जिन और जिनगृहकी वन्दना करते समय तीन प्रदक्षिणा देकर नमस्कार करना चाहिए। तीसरा विशेषण तीन बार करना है। प्रदक्षिणा और नमस्कार आदि क्रिया तीन-तीन बार करनी चाहिए। या एक दिनमे जिन, गुरु और जिनगृह आदिकी वन्दना कमसे कम तीन बार करनी चाहिए यह इसका भाव है। चौथा विशेषण भूमिपर बैठकर तीन बार अष्टाग नमस्कार करना है। सर्व-प्रथम हाथ-पैर धोकर शुद्ध मनसे जिन-मन्दिरमे जाकर जिनदेवको बैठकर अष्टाग नमस्कार करे। यह प्रथम नति है। पुनः उठकर और जिनेन्द्रदेवकी प्रार्थना करके बैठकर अष्टाग नमस्कार करना यह दूसरी नति है। पुनः उठकर सामायिकदण्डकसे आत्मशुद्धि करके तथा कषायके साथ शरीरका उत्सर्ग करके जिनेन्द्रदेवके अनन्त गुणोंका ध्यान करते हुए चौबीस तीर्थंकर जिन, जिनालय और गुरुओंकी स्तुति करके भूमिमे बैठकर अष्टाग नमस्कार करना, यह तृतीय नति है। इस प्रकार एक कृतिकर्ममे तीन अष्टांग नमस्कार होते हैं। पाँचवाँ विशेषण चार बार सिर नवाना है। सामायिकदण्डकके आदिमे और अन्तमे तथा त्थोस्सामिदण्डकके आदिमें और अन्तमे इस प्रकार एक कृतिकर्ममें सब मिलाकर चार बार सिर झुकाकर नमस्कार किया जाता है। छठा विशेषण बारह आवर्त करना है। दोनों हाथोंको जोड़कर और कमलके समान मुकुलित करके दक्षिण भागसे प्रारम्भ करके वाम भागकी ओर ले जाकर और वाम भागसे पुनः दक्षिण भागकी ओर घुमाते हुए ले आना आवर्त है। इतनी विधि करनेमे एक आवर्त होता है। एक कृतिकर्ममे ऐसे बारह आवर्त होते है। सामायिकदण्डकके आदिमें और अन्तमे तथा त्थोस्सामिदण्डकके आदिमे और अन्तमें तीन-तीन आवर्त होते हैं, इसलिए इनका जोड बारह हो जाता है।

---

१. णिसही यह चैत्यालयका पर्यायनाम प्रतीत होता है। समैया समाजमे और इन्दौर आदि नगरोंमे इस शब्दका प्रयोग आज भी किया जाता है।

२. 'तमादाहीणं पदाहिण तिक्खुत्तं तियोणदं चदुसिरं बारसावत्तं तं सव्वं किरियाकम्मं णाम' ॥२८॥

मूलाचारमें अन्य सब विधि षट्खण्डागमके अनुसार कही है। मात्र वहाँ अष्टाग नमस्कार दो बार करनेका ही विधान है—प्रथम सामायिकदण्डकके प्रारम्भमे और दूसरा त्थोस्सामिदण्डकके प्रारम्भमे। हरिवंश-पुराणमें भी भूमिस्पर्शरूप दो ही अष्टाग नमस्कारोंका उल्लेख है—प्रथम सामायिकदण्डकके प्रारम्भमें और दूसरा त्थोस्सामिदण्डकके अन्तमे। इसमे प्रतीत होता है कि पूर्व कालमे देशभेदमे कृतिकर्मके बाह्य आचारमें थोड़ा बहुत अन्तर भी प्रचलित रहा है। इतना अवश्य है कि देववन्दनाके समय सामायिकदण्डक, त्थोस्सामि-दण्डक, पंचगुरुभक्ति और यथासम्भव समाधिभक्ति यथाविधि अवश्य पढ़ी जाती है। इस विषयकी विस्तृत चर्चा श्री पं० पन्नालालजी सोनीने क्रिया-कलापमेंकी है। विशेष जिज्ञासुओंको वहाँसे ज्ञान प्राप्त करके अपने कृतिकर्ममें संशोधन करनेमें उससे सहायता लेनी चाहिए।

वर्तमान पूजाविधि

वर्तमानमे जो दर्शनविधि और पूजाविधि प्रचलित है, उसमे वे सब गुण नही रहने पाये है, जो षट्-खण्डागम आदिमे प्रतिदिन क्रिया-कर्ममे निविष्ट किये गये है। अधिकतर श्रावक और त्यागीगण जिन्हे जितना अवकाश मिलता है, उसके अनुसार इस विधिको सम्पन्न करते है। व्रती श्रावकोंमे और साधुओंमें त्रिकाल देव-वन्दनाका नियम तो एक प्रकारसे उठ ही गया है। प्रतिक्रमण और आलोचना करनेकी विधि भी समाप्तप्राय ही है। यह कृतिकर्मका आवश्यक अंग है। फिर भी समग्र पूजाविधिको देखनेसे ऐसा अवश्य प्रतीत होता है कि उसमे पूर्वोक्त देववन्दना (कृतिकर्म) का समावेश अवश्य किया गया है। इतना अवश्य है कि कुछ आवश्यक क्रियाएँ छूट गयी हैं और कुछ नयी आ मिली हैं। कृतिकर्म प्रारम्भ करनेके पूर्व ईर्यापथशुद्धि करनी चाहिए उसे वर्तमान समयमे व्रती श्रावक भी नहीं करते। अव्रती श्रावकोंकी बात अलग है। सामायिक-दण्डक समग्र तो नहीं पर उसका प्रारम्भिक भाग पंच नमस्कार मन्त्र और चत्तारिदण्डकको पूजाविधिमे यथास्थान सम्मिलित कर लिया गया है। मात्र उसे पढकर पुष्पांजलि क्षेपण कर देते है। त्थोस्सामिदण्डक के स्थानमें 'श्रीवृषभो नः स्वस्ति' यह स्वस्तिपाठ और पंचगुरुभक्तिके स्थानमे 'नित्याप्रकम्पा' यह स्वस्तिपाठ वर्तमान पूजाविधिमें सम्मिलित है, जो कृतिकर्मके अनुसार है। अर्थात् पहले 'श्रीवृषभो नः स्वस्ति' यह पढकर बादमे पचगुरुभक्ति पढ़ी जाती है। किन्तु इनके बीचमे चैत्यभक्ति नही पढ़ी जाती। प्राचीन चैत्यभक्ति दो मिलती है—एक लघुचैत्यभक्ति और दूसरी बृहच्चैत्यभक्ति। इसमेंसे लघुचैत्यभक्ति पूजाविधिमे अवश्य सम्मिलित की गयी है, किन्तु वह अपने स्थानपर न होकर देव, शास्त्र और गुरु तथा बीस तीर्थंकरकी पूजाके बादमे आती है। जिसे वर्तमानमे कृत्रिमाकृत्रिम जिनालय पूजा कहते हैं, वह लघुचैत्यभक्ति ही है। इसे पढकर इसका आलोचना पाठ भी पढते है और अन्तमें 'अथ पौर्वाह्णिक' इत्यादि पढकर नौ बार णमोकार मन्त्रका जाप भी करते है। 'अथ पौर्वाह्णिक' इत्यादि पाठ द्वारा पंचगुरुभक्तिका कृत्य विज्ञापन किया गया है, इसलिए इसके आगे पंच-गुरुभक्ति करनी चाहिए, इसे कोई नही जानता। कृतिकर्मके अन्तमे पहले समाधिभक्ति पढ़ी जाती थी, उसे पूजाविधिके अन्तमे वर्तमान समयमे भी यथास्थान पढते है। जिसे आजकल शान्तिपाठ कहा जाता है वह समाधिभक्ति ही है। अन्तर केवल इतना है कि समाधिभक्तिमें 'प्रथमं करण चरणं द्रव्य नमः' यहाँसे लेकर आगेका पाठ पढ़ा जाता था और शान्तिपाठमे 'शान्तिजिन शशि'—इत्यादि पाठ भी सम्मिलित कर लिया गया है। इससे उद्देश्यमे भी अन्तर आ गया है।

इतना सब लिखनेका अभिप्राय इतना ही है कि वर्तमान पूजाविधिमे यद्यपि पुराने कृतिकर्मका समावेश किया गया है, पर कृत्यविज्ञापन, प्रतिक्रमण और आलोचना पाठ छोड़ दिये गये हैं। विधिमे जो एकरूपता थी वह भी नही रहने पायी है। देववन्दनाके समय हमें क्या कितना करना चाहिए यह कोई नही जानता।

द्रव्यकी बहुलता और प्रधानता हो जानेसे कृतिकर्म देवदर्शन और देवपूजा—इस प्रकार दो भागोंमें विभक्त हो गया है। वस्तुतः इन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है। गृहस्थ अपने साथ प्रासुक द्रव्य लाकर यथास्थान उसका प्रयोग करे यह बात अलग है। इसका निषेध नहीं है। पण्डितप्रवर आशाधरजीने श्रावककी दिनचर्यामें त्रिकाल देववन्दनाके समय दोनों प्रकारसे पूजा करनेका विधान किया है। प्रातःकालीन देववन्दनाका विधान करते हुए वे लिखते हैं कि श्री जिनमन्दिरमें जाते समय गृहस्थ को चार हाथ भूमि शोधकर जाना चाहिए। मन्दिरमें पहुँचकर और हाथ-पैर धोकर सर्वप्रथम 'जाव अरहंताणं' इत्यादि वचन बोलकर पहले ईर्यापथशुद्धि करनी चाहिए। अनन्तर 'जयन्ति निर्जिताशेष—' इत्यादि पढ़कर या पूजाष्टक पढ़कर देववन्दना करनी चाहिए। सर्वप्रथम जिनेन्द्रदेवकी पजा करे। उसके बाद श्रुत और सूरिकी पूजा करे। इसे वे जघन्य वन्दनाविधि कहते हैं। तात्पर्य यह है कि अष्ट द्रव्यसे यदि गृहस्थ देववन्दना करता है तो सर्वोत्कृष्ट है और यदि अष्टद्रव्यके बिना करता है तो भी हानि नही है। मात्र देववन्दना यथाविधि होनी चाहिए।

पूजाविधिका अन्य प्रकार

साधारणतः देवपूजाका जो पुरातन प्रकार रहा है और उसका वर्तमान समयमे प्रचलित पूजाविधिमे जिस प्रकार समावेश किया गया है, उसका हमने स्पष्टीकरण किया ही है। साथ ही उसमे न्यूनाधिकता हुई है, उसपर भी हम विचार कर आये है। यहाँ हम पूजाके उस प्रकारका भी उल्लेख कर देना चाहते है, जिसे सोमदेवसूरिने यशस्तिलकचम्पूमे निबद्ध किया है, क्योंकि वर्तमान पूजाविधिपर इसका विशेष प्रभाव दिखलाई देता है। वे लिखते हैं—

प्रस्तावना पुराकर्म स्थापना संनिधापनम्।
पूजा पूजाफलं चेति षड्विधं देवसेवनम्॥—कल्प ३६॥

देवपूजा छह प्रकारकी है—प्रस्तावना, पुराकर्म, स्थापना, संनिधापन, पूजा और पूजाफल। इन छह कर्मोंका विस्तृत विवेचन करते हुए वे लिखते हैं—जिनेन्द्रदेवका गुणानुवाद करते हुए अभिषेकविधि करनेकी प्रस्तावना करना प्रस्तावना है। पीठके चारों कोणोंपर जलसे भरे हुए चार कलशोंकी स्थापना करना पुराकर्म है। पीठपर यथाविधि जिनेन्द्रदेवको स्थापित करना स्थापनाकर्म है। ये जिनेन्द्रदेव है, यह पीठ मेरुपर्वत है, जलपूर्ण ये कलश क्षीरोदधिके जलसे पूर्ण कलश है और मैं इन्द्र हूँ, जो इस समय अभिषेकके लिए उद्यत हुआ हूँ—ऐसा विचार करना सनिधापन है। अभिषेकपूर्वक पूजा करना पूजा है और सबके कल्याणकी भावना करना पूजाफल है।

श्री सोमदेव द्वारा प्रतिपादित यह पूजाविधि वही है जो कि वर्तमान समयमें प्रचलित है। मात्र इसमें न तो वर्तमान समयमें प्रत्येक पूजाके प्रारम्भमे किये जानेवाले आह्वान, स्थापना और सन्निधीकरणका कोई विधान किया है और न विसर्जन विधिका ही निर्देश किया है। यद्यपि यहाँपर जिन-प्रतिमाके स्थापित करनेको स्थापना और उसमें साक्षात् जिनेन्द्रदेवकी कल्पना करनेको संनिधापन कहा है, इसलिए इससे आह्वानन, स्थापना और सन्निधीकरणका भाव अवश्य लिया जा सकता है। जो कुछ भी हो, इतना स्पष्ट है कि इस विधिमें उस आचारका पूरी तरहसे समावेश नही होता, जिसका निर्देश हम पहले कर आये हैं।

विचारणीय विषय

इतना लिखनेके बाद हमे वर्तमान पूजाविधिमे प्रचलित दो-तीन बातोंका संकेत कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। प्रथम बात आह्वान, स्थापना और सन्निधीकरणके विषयमे कहनी है। वर्तमान समयमे जितनी पूजाएँ की जाती है, उनको प्रारम्भ करते समय सर्वप्रथम यह क्रिया की जाती है। जैन परम्परामे स्थापना-

निक्षेपका बहुत अधिक महत्त्व है इसमें सन्देह नहीं। पण्डितप्रवर आशाधरजीने जिनाकारको प्रकट करनेवाली मूर्तिके न रहनेपर अक्षत आदिमें भी स्थापना करनेका विधान किया है।[1] किन्तु जहाँ साक्षात् जिनप्रतिमा विराजमान है और उसके आलम्बनमें पंचपरमेष्ठी और चौबीस तीर्थंकर आदिकी पूजा की जा सकती है, वहाँ क्या आह्वान आदि क्रियाका किया जाना उपयुक्त है? देववन्दनाकी जो प्राचीन विधि उपलब्ध होती है, उसमें इसके लिए स्थान नहीं है, यह बात उस विधिके देखनेसे स्पष्टतः लक्ष्यमें आ जाती है।

दूसरी बात विसर्जनके सम्बन्धमें कहनी है। विसर्जन आकार पूजाको स्वीकार करनेवालेका किया जाता है। किन्तु जैनधर्मके अनुसार कोई आता है और पूजामें अर्पण किये गये भागको स्वीकार करता है, इस मान्यताको रंचमात्र भी स्थान नहीं है। पाँच परमेष्ठीके स्वरूपका विचार करनेसे यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। आगममें देववन्दनाकी जो विधि बतलायी है, उसके अनुसार देववन्दना-सम्बन्धी कृतिकर्म अन्तमें समाधिभक्ति करनेपर सम्पन्न हो जाता है, इसलिए मनमें यह प्रश्न उठता है कि पूजाके अन्तमें क्या विसर्जन करना आवश्यक है। इस समय जो विसर्जन पढ़ा जाता है उसके स्वरूपपर भी हमने विचार किया है। उससे मिलते-जुलते श्लोक ब्राह्मणधर्मके अनुसार किये जानेवाले क्रियाकाण्डमें भी पाये जाते हैं। तुलना कीजिए—

आह्वानं नैव जानामि नैव जानामि पूजनम्।
विसर्जनं न जानामि क्षमस्व परमेश्वर ॥१॥
मन्त्रहीनं क्रियाहीनं द्रव्यहीनं तथैव च।
तत्सर्वं क्षम्यतां देव रक्ष रक्ष जिनेश्वर ॥२॥

इनके स्थानपर ब्राह्मण धर्ममें ये श्लोक उपलब्ध होते हैं—

आवाहनं न जानामि न जानामि विसर्जनम्।
पूजनं नैव जानामि क्षमस्व परमेश्वर ॥१॥
मन्त्रहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीनं जनार्दन।
यत्पूजितं मया देव परिपूर्णं तदस्तु मे ॥२॥

'ज्ञानतोऽज्ञानतो वापि' इत्यादि श्लोक भी ब्राह्मण क्रियाविधिमें कुछ हेरफेरसे होना चाहिए ऐसा हमारा खयाल है। किन्तु तत्काल उपलब्ध न होनेसे वह नहीं दिया गया है।

'आहूता ये पुरा देवाः' इत्यादि श्लोक प्रतिष्ठापाठका है। पंचकल्याणककी समस्त क्रिया मुख्यतया चतुर्णिकायके देव सम्पन्न करते हैं, इसलिए पंचकल्याणक-प्रतिष्ठामें उनका आह्वान और स्थापना की जाती है तथा क्रियाविधिके सम्पन्न होनेपर उनका विसर्जन भी किया जाता है। इसलिए वहाँपर इस श्लोककी सार्थकता भी है। देवपूजामें इसकी रंचमात्र भी सार्थकता नहीं है।

तीसरी बात अभिषेकके विषयमें कहनी है। सामान्यतः अभिषेकके विषयमें दो मत पाये जाते हैं। एक मत यह है कि जिन-प्रतिमाकी पंचकल्याणक-प्रतिष्ठा हो जाती है, इसलिए उसका अभिषेक जन्म-कल्याणकका प्रतीक नहीं हो सकता। दूसरे मतके अनुसार अभिषेक जन्मकल्याणकका प्रतीक माना गया है। सोमदेव-सूरि इस दूसरे मतके अनुसर्ता जान पड़ते है, क्योंकि उन्होंने अभिषेक-विधिका विधान करते समय वह सब क्रिया बतलायी है, जो जन्माभिषेकके समय होती है। फिर भी यह अवश्य ही विचारणीय हो जाता है कि यदि अभिषेक जन्मकल्याणकके समय किये गये अभिषेकका प्रतीक है तो इसमें पंचामृताभिषेक कहाँसे आ गया।

१. सागारधर्मामृत, अध्याय २, श्लोक ३१।

जन्मकल्याणकके समय तो केवल जलसे अभिषेक किया जाता है। आगमिक परम्पराके अनुसार इसके ऐतिहासिक अनुसन्धानकी आवश्यकता है। इससे तथ्योंपर बहुत कुछ प्रकाश पड़नेकी सम्भावना है।

निष्कर्ष

देवपूजाके विषयोंमें इतना ऊहापोह करनेसे निष्कर्षके रूपमें हमारे मनपर जो छाप पड़ी है वह यह है कि वर्तमान पूजाविधिमें कृतिकर्मका जो आवश्यक अंश छूट गया है, यथास्थान उसे अवश्य ही सम्मिलित कर लेना चाहिए और प्रतिष्ठापाठके आधारसे इसमें जिस तत्त्वने प्रवेश कर लिया है उसका संशोधन कर देना चाहिए, क्योंकि पंचकल्याणक-प्रतिष्ठाविधिमें और देवपूजामें प्रयोजन आदिकी दृष्टिसे बहुत अन्तर है। वहाँ अप्रतिष्ठित प्रतिमाको प्रतिष्ठित करना यह प्रयोजन है और यहाँ प्रतिष्ठित प्रतिमाको साक्षात् जिन मानकर उसकी जिनेन्द्रदेवके समान उपासना करना यह प्रयोजन है।

●



जैनदर्शनका हार्द

सिरिवड्ढमाणजिणं जेण विहाणेण खविदकम्मं सो ।
किच्चा तहोवएसं णिव्वुइं पत्तो णमो तस्स ॥

इस समय सर्वज्ञ सर्वदर्शी परब्रह्म परमात्मा अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीरका धर्मतीर्थ चल रहा है । एक तो प्रतिवर्ष उनका गर्भ-निष्क्रमण दिन मनाया जाता है ।[1] दूसरे ऐसा नियम है कि प्रत्यक्ष या परोक्ष जिसके पादमूलमे बैठकर धर्मपथ स्वीकार करें उसके चरणोंमे विनय प्रकट करनी चाहिए ।[2] इस नियमके अनुसार मैं उन मंगलमय जिनदेव भगवान् महावीरका स्मरण-वन्दन कर प्रकृत विषयका संक्षेपमे ऊहापोह करनेके लिए सन्नद्ध होता हूँ ।

भारतीय परम्परामे एक दो धर्मदर्शनोंको दुर्लक्ष्य कर इस समय जितने भी जड-चेतनके स्वतन्त्र अस्तित्वको स्वीकार करनेके लिए धर्मदर्शन प्रचलित है, उनमे जैन दर्शनका निराला स्थान है । इसमे प्रतिपादित तत्त्वज्ञानकी पृष्ठभूमिमे स्वावलम्बनमूलक व्यक्ति-स्वातन्त्र्यका महत्त्वपूर्ण योगदान होनेसे लोकमे अपनी अनूठी प्रतिष्ठा प्राप्त की है । इस दर्शनके अनुसार लोकमे जैनधर्मके रूपमे जो विचारमार्ग और तदनुरूप आचारमार्ग प्रचलित है, उन सबमे उक्त दोनों तथ्य मूर्तिमान् होकर प्रतिफलित हुए है ।

अज्ञानमूलक विषय-कषायपर जिस विधिसे विजय प्राप्त करनेके फलस्वरूप जिन होकर जिन्होने स्वय अनुभूत उपदेश द्वारा जिस धर्मतीर्थका प्रवर्तन किया है[3] उसे ही लोकमे जैनदर्शन इस नाममे अभिहित किया जाता है । इस दर्शनके पुस्तकारूढ होनेका समय कालगणनाकी दृष्टिसे भले ही अन्य दर्शनोंके पुस्तकारूढ होनेके लगभग समकालीन या कुछ आगे-पीछेका हो, परन्तु उसमे भगवान् महावीरके प्रथम शिष्य गौतम गोत्रीय इन्द्रभूति गणधरसे लेकर गुरु परम्परासे आये हुए उसी अनुभूति उपदेशको विषय विभागके साथ निबद्ध किया गया है जिसका प्रवर्तन सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकर आदिनाथ (ऋषभदेव) से लेकर तीर्थंकर महावीरकी दिव्यध्वनि द्वारा हुआ है ।[4]

उसके अनुसार छह द्रव्य और पाँच अस्तिकायके समुच्चय रूप यह लोक अकृत्रिम अतएव अनादि-अनिधन है ।[5] इसमे जीवों और पुद्गलोंका संयोग निमित्तक या छहों द्रव्योका स्वाभाविक-सहज जो परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है, वह प्रत्येक छह द्रव्य या पदार्थका अपना कार्य है । परमार्थसे वह स्वय उसका कर्ता है और परिणाम उसका कार्य है । जैसे प्रत्येक द्रव्य स्वरूपसे स्थिति अर्थात् ध्रौव्य लक्षणसे लक्षित होकर ख्यालमे आता है, अन्यथा किसी भी वस्तुमे यह वही है जिसे आजसे दस वर्ष पूर्व हमने देखा था, ऐसा ऊर्ध्वता-प्रत्यक-

---

१. जयधवला, पु० १, पृ० ७० ।
२. धवला, पु० १, पृ० ५५ ।
३. प्रवचनसार १/८२ ।
४. धवला, पु० १, पृ० ६५ ।
५. पंचास्तिकाय, गा० ३ तथा २२ ।

मूलक (एकत्वमूलक) व्यवहार नहीं हो सकता।[1] वैसे ही द्रव्य उत्तराकारकी अवाप्ति और पूर्वाकारका परित्याग रूप उत्पाद, व्यय लक्षणवाला भी है। अन्यथा किसी भी व्यक्तिमें पिछली बार जब हमने आपको देखा था, उससे आज कितने अधिक बदल गये हो इत्याकारक व्यतिरेकमूलक व्यवहार नहीं हो सकता।[2]

जिसे हमने यहाँ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप कहा है "सत्" यह उसका दूसरा नाम है। "सत्" कहो या "द्रव्य"—ये दो नहीं हैं एक ही है।[3] यह प्रत्येक द्रव्यमें घटित हो ऐसा उसका सामान्य लक्षण है। इसीसे जैनदर्शनमें "अभाव" नामका स्वतन्त्र पदार्थ न होकर उसे भावान्तर स्वभाव स्वीकार किया गया है। स्वामी समन्तभद्रने इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर कहा भी है—भवत्यभावो हि भावलक्षणः। हम कहते हैं कि इस भूतलपर घट नहीं है तो इसका अर्थ होता है कि यहाँ केवल भूतल है। घट यदि चाहिए ही तो अन्यत्र देखिये। वैसे अभावको चार प्रकारका माना गया है, सो वह विवक्षा भेदसे एक ही द्रव्यमें घटित हो जाता है। विवक्षित कार्यके सम्मुख हुए द्रव्यको प्रागभाव शब्दसे अभिहित किया जाता है। उस कार्यका ध्वंस होनेपर वही प्रध्वसाभाव शब्दसे पुकारा जाता है। वर्तमानमें विवक्षित पर्याय अवस्था अन्य दूसरे द्रव्यकी विवक्षित पर्यायकी अपेक्षा इतरेतराभावरूप संज्ञाको प्राप्त होती है। तथा प्रत्येक द्रव्यके स्वचतुष्टय अत्यन्त भिन्न होनेसे प्रत्येक द्रव्य दूसरे द्रव्योंकी अपेक्षा अत्यन्ताभावरूप कहा जाता है।[4] इससे हम जानते हैं कि लोकमें जो भी पदार्थ हैं वे सब सत्स्वरूप ही हैं। विवक्षाभेदसे वही सत् प्रयोजनवश अभाव शब्द द्वारा अभिहित किया जाता है।

पूर्वमें हम तत्त्वमीमासाके प्रसंगसे कर्त्ता-कर्मका उल्लेख कर आये हैं। अतः उससे ऐसा समझना चाहिए कि जड़-चेतन जितने भी द्रव्य हैं, वे सामान्यपनेकी अपेक्षा ध्रुव या नित्य स्वभाव वाले होकर भी अपनी कक्षा के भीतर होने वाले उत्पाद-व्यय रूप परिणाम स्वभावके कारण अध्रुव या अनित्य भी हैं,[5] अतः परमार्थसे वे स्वयं परिणाम लक्षण क्रियाके द्वारा या परिस्पंद लक्षण क्रियाके द्वारा अर्थक्रियाके कर्ता होते हैं, फिर भी सर्वथा अनपेक्ष होकर अपनी अर्थक्रिया करते हों ऐसा एकान्तमें जैनदर्शन नहीं स्वीकार करता। किन्तु वह प्रत्येक द्रव्यके प्रतिसमय होने वाली अर्थक्रिया रूप कार्यमें बाह्य व्याप्तिवश या कालप्रत्यासत्तिवश अन्यकी निमित्तता भी स्वीकार करता है।[6]

जैनदर्शनका इस विषयमें जो कटाक्ष है वह इतना ही कि प्रत्येक द्रव्य प्रतिसमय जो अर्थक्रिया करता है, वह न तो उपादान और बाह्य संयोग—इन दोनोंका मिलकर एक कार्य है और न ही विवक्षित द्रव्य ही क्योंकि वह तो स्वयं अपना कार्य करनेमें असमर्थ है, अतएव अन्य कोई पदार्थ आकर उसमें अर्थक्रिया द्वारा कार्यका निर्माण कर देता है। किन्तु वस्तुस्थिति यह नहीं है। यदि विचार कर देखा जाय तो प्रतिसमय प्रत्येक द्रव्यमें जो कार्य होता है, वह मात्र उसी द्रव्यका अपना कार्य है। उसने ही स्वयं अपने समर्थ उपादानके अनुसार कर्ता होकर उस कार्यको जन्म दिया है। उस समय उस कार्यके होनेमें जो बाह्य निमित्त है, वह स्वयं उसी समय अपने परिणाम रूप स्वरूपके कारण विवक्षित द्रव्यसे सर्वथा भिन्न होकर अपने परिणाम लक्षण या क्रियालक्षण कार्यका कर्त्ता हो रहा है। जैसे एक व्यक्ति साइकिलसे आया। कुछ देर बाद किसीने पृच्छाकी कि

१. परीक्षामुख, ४-१।
२. वही, ४, ८।
३. तत्त्वार्थसूत्र, ५/२९।
४. आप्तमीमांसा, का० १०-११।
५. समयसार, आत्मख्याति, परिशिष्ट।
६. वही, गाथा ८४ आत्मख्याति।

यह साइकिल कौन लाया, तब वह उत्तर देता है कि "मैं लाया।" थोड़ी देर बाद दूसरे व्यक्ति ने पूछा कि आप कैसे आये ? तब वह उत्तर देता है कि साइकिलसे आया। इसका अर्थ है कि चलनेकी क्रिया स्वयं साइकिलने भी की और उस व्यक्तिने भी की। फिर भी वे दोनों परस्परके कार्यमें निमित्त हैं। इससे निश्चित हुआ कि एककी क्रिया दूसरा नहीं कर सकता। फिर भी वे एक दूसरेकी गतिक्रियामें होनेमें परस्पर निमित्त अवश्य हैं। प्रत्येक द्रव्यके कर्ता-कर्म आदि षट्-कारकके विषयमें यही जैनदर्शनका हार्द है, जो प्रत्येक द्रव्यके अपने-अपने स्वभावमें हो घटित होता है और यही परमार्थ है।[1] अन्य सब व्यवहार है। अतएव ऐसे व्यवहार-को उपचरित शब्दसे अभिहित किया जाता है। अन्यथा प्रत्येक द्रव्यका जो उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभाव दृष्टि-पथमें आता है वह घटित नहीं हो सकता। यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि जैसे प्रत्येक द्रव्य उत्पादादि तीन लक्षणवाला होनेसे उसमें स्वयके द्वारा अर्थक्रिया घटित की जा सकती है, वैसे ही उसे जब तक अनुवृत्त प्रत्यय और व्यावृत्त प्रत्ययका विषय नहीं स्वीकार किया जाता, तब तक भी उसमें अर्थक्रिया घटित नहीं हो सकती।[2]

यहाँ जो अनुवृत्ताकार प्रत्यय और व्यावृत्ताकार प्रत्ययका प्रसंगसे उल्लेख किया है, सो उन द्वारा क्रमसे सादृश्य-लक्षण सामान्य[3] और व्यतिरेक-लक्षण विशेषका[4] ज्ञान कराया गया है। प्रत्येक द्रव्यमें ऐसे भी अस्तित्व आदि धर्म पाये जाते हैं, जिनके कारण दो या दोसे अधिक द्रव्य सदृश प्रत्ययके गोचर होते हैं। साथ ही प्रतियोगी मनुष्य, तिर्यञ्च आदि रूप पर्यायाश्रित ऐसे भी धर्म पाये जाते हैं जिनके कारण उनमें पार्थक्य प्रतीतिमें आता है। यह दो या दोसे अधिक द्रव्योंको निमित्त कर प्रत्येक द्रव्यमें पाये जाने वाले धर्मोंकी अपेक्षा मीमांसा है। एक द्रव्यकी अपेक्षा विचार करनेपर हमें प्रत्येक द्रव्य पर-अपर विवर्तव्यापी भी प्रतीत होता है[5] और क्रमभावी परिणाम रूप[6] भी प्रतीतिमें आता है, इसलिए उसे क्रमसे ऊर्ध्वता-सामान्य-रूप और पर्याय-विशेष रूप भी स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य इन धर्मोंमें घटित होनेके कारण सामान्य-विशेषात्मक स्वीकार किया है[7] और यही प्रमाण ज्ञानका विषय है। इसीसे प्रत्येक द्रव्य अनेकान्त स्वरूप है, यह स्पष्ट हो जाता है। अत: अनेकान्त क्या है और व्यवहार पदवीमें उतार कर उसे कैसे समझा या समझाया जा सकता है इस पर भी संक्षेपमें प्रकाश डालना क्रमप्राप्त है, अतः उसकी मीमांसा की जाती है।

अनेकान्तका शब्दार्थ है—अनेके अन्ता यस्मिन् असौ अनेकान्तः। जिसमें अनेक धर्म तादात्म्यभावसे रहते हैं, उसका नाम अनेकान्त है। इससे तो हम इतना ही जानते है कि जड़-चेतन प्रत्येक द्रव्यमें अनेक धर्म पाये जाते हैं। इससे हम यह नहीं जान पाते कि प्रत्येक द्रव्यको अनेकान्तात्मक स्वीकार करनेमें वास्तविक प्रयोजन क्या है ? आचार्योंने इसे ही स्पष्ट करनेके अभिप्रायसे अनेकान्तके लक्षणको सुस्पष्ट करते हुए लिखा है—

तत्र यदेव तत् तदेव अतत्, यदेव एकं तदेव अनेकम्, यदेव सत् तदेव असत्, यदेव नित्यं तदेव अनित्यम्-इत्येकस्मिन् वस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्तः।[8]

१. प्रवचनसार, गा० १६ तत्त्वदीपिका।
२. परीक्षामुख, ४/२।
३. वही, ४/४।
४. वही, सूत्र ४/८।
५ वही, सूत्र ४/५।
६. वही, सूत्र ४/७।
७. वही, ४/१।
८. समयसार, परिशिष्ट।

यद्यपि स्वरूपादि चतुष्टयस्वरूप वस्तुएँ अनन्त हैं। उन्हें बुद्धिगम्य करके परस्पर विरुद्ध दो दृष्टिकोणों-से देखनेपर प्रत्येक वस्तु किस रूपमें उजागर होती है, इसीका ख्यापन करते हुए परमागममें अनेकान्तका यह लक्षण प्रस्तुत किया गया है—

जो वस्तु तत् है वही अतत् है, जो एक है वही अनेक है, जो सत् है वही असत् है तथा जो नित्य है वही अनित्य है। इस प्रकार एक ही वस्तु मे वस्तुत्व की निष्पादक परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों के प्रकाशन का नाम अनेकान्त है।

यद्यपि अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ताके कारण जो पदार्थ अस्तित्व स्वरूप प्रतीत होते है, वे पृथक्-पृथक् है। इस अपेक्षासे जीव द्रव्य अनन्त हैं, पुद्गल द्रव्य उनसे भी अनन्तगुणे हैं, धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य प्रत्येक एक-एक है तथा काल द्रव्य लोकाकाश के जितने प्रदेश है तत्प्रमाण है अर्थात् असंख्यात है। उसमे से यहाँ विवक्षित आत्मा अनेकान्त स्वरूप कैसे सिद्ध होता है यह देखेंगे। उसमे भी अनेकान्त के स्वरूप का ख्यापन करते हुए वस्तुत्व के निष्पादक परस्पर विरुद्ध जिन चार युगलों का हम पूर्व मे निर्देश कर आये है उनको ध्यान मे रखकर क्रम से विचार करेंगे।

१. पहला युगल—सहज ज्ञानादि स्वरूप होनेसे आत्मा तत्स्वरूप ही है और बाहर अनन्त ज्ञेयोको जानने आदिकी अपेक्षा अतत्स्वरूप ही है।

२. आत्मा अपने गुण पर्यायोंके समुदायपनेकी अपेक्षासे एक ही है और गुणपर्यायोके भेदकी अपेक्षासे वह अनेक ही है।

३. आत्मा स्वद्रव्यादि चतुष्टयरूपसे होनेकी शक्तिरूप स्वभाव वाला होनेसे सत् ही है और परद्रव्यादि चतुष्टयरूप न होनेकी शक्तिरूप स्वभाव वाला होनेसे असत् ही है।

४. आत्मा अनादि-निधन अविभाग एकरस परिणत होनेके कारण नित्य ही है और क्रमशः होनेवाले एक समयकी मर्यादा वाले रूप वृत्त्यंशसे परिणत होनेके कारण अनित्य ही है।

इस प्रकार एक ही आत्मा एक ही समयमे उक्त चार युगलरूप होनेसे अनेकान्त स्वरूप है यह निश्चित होता है। जितने भी द्रव्य है, उनमेसे प्रत्येकको इसी प्रकार अनेकान्त स्वरूप घटित कर लेना चाहिए।

प्रत्येक द्रव्य प्रतिसमय अनेकान्त स्वरूप कैसे है यह उसका संक्षेपमे स्पष्टीकरण है। जब उसका वचन-मुखसे विचार किया जाता है तो शब्दों द्वारा उसका कथन दो प्रकारसे घटित होता है—एक क्रमिक रूपसे और दूसरा यौगपद्य रूपमे। इसके अतिरिक्त कथनका कोई तीसरा प्रकार नही है। जब अस्तित्व आदि अनेक धर्म काल, आत्मा (स्वरूप) गुणिदेश और संयोग आदिकी अपेक्षा भिन्न-भिन्न रूपसे विवक्षित होते है, तब एक शब्दमे अनेक धर्मोके प्रतिपादनकी शक्ति न होनेसे उन द्वारा प्रत्येक द्रव्यका क्रमसे प्रतिपादन किया जाता है। इसीका नाम विकलादेश है। परन्तु जब वे ही अस्तित्व आदि धर्म काल, आत्मा, गुणिदेश और संयोग आदिकी अपेक्षासे अभेदरूपसे विवक्षित होते है तब एक ही शब्द एक धर्ममुखेन तादात्म्यरूपसे एकत्वको प्राप्त सभी धर्मोंका अखण्ड रूपसे युगपत् कथन हो जाता है। इसीका नाम सकलादेश है। विकलादेश नय रूप है और सकलादेश प्रमाण रूप है।

इस व्यवस्थाके अनुसार जिस समय एक द्रव्य अखण्ड रूपमे विवक्षित होता है उस समय वह अस्तित्वादि धर्मोंकी अभेदवृत्ति या अभेदोपचार करके पूराका पूरा द्रव्य एक वचन द्वारा कहा जाता है।

इसीका नाम सकलादेश है, क्योंकि द्रव्यार्थिक नयसे सभी धर्मोंसे अभेदवृत्ति घटित हो जानेसे अभेद है तथा पर्यायार्थिक नयसे प्रत्येक धर्ममें स्वरूपकी अपेक्षा भेद होनेपर भी अभेदोपचार कर लिया जाता है। स्याद्वाद इसीका नाम है। अब आगे सप्तभंगी द्वारा इसे स्पष्ट किया जाता है।

प्रश्नके वश होकर एक वस्तुमें अविरोधपूर्वक विधि प्रतिषेध कल्पनाका नाम सप्तभंगी है। यहाँ सप्त-भंगी पद से स्पष्टतः जिन सात भंगोंका बोध होता है वे है—१. स्यात् है ही जीव, २. स्यात् नहीं ही है जीव, ३. स्यात् अवक्तव्य ही है जीव, ४. स्यात् है और नहीं ही है जीव, ५. स्यात् है और अवक्तव्य ही है जीव, ६. स्यात् नहीं है और अवक्तव्य ही है जीव, ७. स्यात् है, नहीं है और अवक्तव्य ही है जीव।

प्रत्येक भंगमें 'जीव' पद द्रव्यवाची होनेसे विशेष्य है और 'अस्ति' धर्मवाची होनेसे विशेषण है। उनमें परस्पर विशेषण, विशेष्यभावके द्योतन करनेके लिए 'एव' पद का प्रयोग किया गया है। इससे अस्तित्व के अतिरिक्त इतर धर्मोंकी निवृत्तिका प्रसंग आनेपर उन धर्मोंके सद्भावको द्योतन करनेके लिए उक्त वाक्यमें 'स्यात्' —कथंचित् शब्दका प्रयोग किया गया है। यह 'स्यात्' पद तिङन्त प्रतिरूपक निपात है। यहाँ सप्तभंगीमें प्रत्येक भंगको 'स्यात्' पदसे युक्त करनेके दो प्रयोजन है। प्रथम प्रयोजनके अनुसार 'स्यात्' पद प्रत्येक भंगमें अनेकान्तका द्योतन करता है तथा दूसरे प्रयोजनके अनुसार प्रत्येक वाक्यमें जो गम्य अर्थ है उसका विशेषण होनेसे वह अपेक्षा विशेषको सूचित करता है। इससे हम जानते है कि प्रथम भंग 'जीव है ही' यह अपेक्षा विशेषसे कहा गया है तथा दूसरे भंगमें 'जीव नहीं ही है' यह भी अपेक्षा विशेषसे कहा गया है। इसी प्रकार शेष ५ भंगोंमें भी समझ लेना चाहिए। यहाँ इतना विशेष है कि सप्तभंगीके प्रत्येक भंगमें कथनकी अपेक्षा स्वतन्त्र एक-एक धर्म की मुख्यता है। किन्तु यहाँ अभिप्रायमें पूरी वस्तु विवक्षित है।

१. सप्तभंगीके प्रथम भंगमें अस्तित्व धर्म द्वारा जीवकी सिद्धि की गई है। यह द्रव्यार्थिक वचन है, अतः समग्र वस्तुका परिग्रह करनेके लिए 'स्यात्' पद द्वारा अन्य धर्मोंकी अभेदवृत्ति स्वीकार कर ली गई है। इससे यह भंग सकलादेशी हो जाता है।

२. दूसरे भंगमें पर चतुष्टयके निषेध द्वारा पर्यायमुखेन जीवकी सिद्धि की गई है। यह पर्यायवचन है, अतः समग्र वस्तुका परिग्रह करनेके लिए 'स्यात्' पद द्वारा अन्य धर्मोंका अभेदोपचार कर लिया गया है। इससे यह भंग भी सकलादेशी हो जाता है।

३. तीसरे भंगमें अर्थपर्यायोंकी मुख्यता है और अर्थपर्यायोंका वचनमुखेन कथन हो नहीं सकता, इसलिए इसमें वचन द्वारा उनके न कह सकने रूप सामर्थ्यकी अपेक्षा वस्तुको अवक्तव्य धर्म द्वारा अभिहित किया गया है।। यह भी पर्यायवचन है, इसलिए स्यात् पद द्वारा अन्य धर्मोंका अभेदोपचार करनेसे यह भंग भी सकलादेशी हो जाता है।

४. चौथे भंगमें अर्थपर्यायगर्भित व्यंजनपर्यायोंकी मुख्यता है। यह भी पर्यायार्थिक वचन है। इसलिए 'स्यात्' पद द्वारा अन्य धर्मोंका अभेदोपचार करनेसे यह भंग भी सकलादेशी हो जाता है।

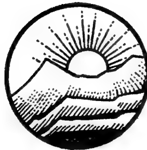
५. पाँचवें भंगमें अवान्तर पर्यायसामान्य और उसमें गर्भित वचन द्वारा न कह सकने रूप विशेष पर्यायोंके समुच्चय रूप एक धर्मकी मुख्यता है। यह भी पर्यायवचन है, इसलिए 'स्यात्' पद द्वारा अन्य धर्मों-का अभेदोपचार करनेसे यह भंग भी सकलादेशी हो जाता है।

६. छठे भंगमें पर्याय विशेष और उसमें गर्भित वचन द्वारा न कह सकने रूप अन्य पर्यायोंके समुच्चय रूप एक धर्मकी मुख्यता है, इसमें यह भी पर्यायवचन है, इसलिए 'स्यात्' पद द्वारा अन्य धर्मोंका अभेदोपचार करनेसे यह भंग भी सकलादेशी हो जाता है।

७. सातवाँ भंग सामान्य-विशेष रूप व्यंजनपर्यायों और उनमें गर्भित अर्थ-पर्यायोंके समुच्चय रूप एक धर्मकी मुख्यतासे कहा गया है। यह भी पर्याय वचन है। इसलिए इसमें प्रयुक्त 'स्यात्' पद द्वारा अन्य धर्मोंका अभेदोपचार करनेसे यह भंग भी सकलादेशी हो जाता है। अथवा यह स्यात् पद सामान्य, विशेष और अवक्तव्य इन तीनो धर्मोंकी अक्रमवृत्तिको सूचित करनेके लिए दिया गया है।

यह सप्तभंगीकी संक्षिप्त मीमासा है। इसी प्रकार अन्य सप्रतिपक्ष दो धर्मोंकी मुख्यतासे अन्य सप्त-भंगियोंकी सिद्धिकी जा सकती है। इसमें प्रत्येक भंग द्वारा पूरी वस्तु कही गई है। इसलिए यह प्रमाण-सप्तभंगी है। नय-सप्तभंगीमें 'स्यात्' पद अन्य धर्मोंको गौण करनेके लिए प्रयुक्त होता है। नय-सप्तभंगीमें 'स्यात्' पदका प्रयोग न करनेकी भी परम्परा है।

•



कार्य-कारणभाव-मीमांसा

जीवन-संशोधनमे तत्त्वनिष्ठाका जितना महत्त्व है, कर्ता-कर्म-मीमांसाका उसमे कम महत्त्व नही है। आचार्य कुन्दकुन्दने भूतार्थरूपसे अवस्थित जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्षके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहकर जीवा-जीवाधिकारके बाद कर्तृकर्मअधिकार लिखा है, उसका कारण यही है। तथा आचार्य पूज्यपादने सर्वार्थसिद्धिमें 'सदसतोः' इत्यादि सूत्रकी व्याख्या करते हुए मिथ्यादृष्टिके स्वरूपविपर्यास और भेदाभेदविपर्यासके समान कारणविपर्यास होता है यह उल्लेख इसी अभिप्रायसे किया है।

यह तो मानी हुई बात है कि विश्वमे जितने भी दर्शन प्रचलित हैं उन सबने तत्त्वव्यवस्थाके साथ कार्यकारणका जो क्रम स्वीकार किया है, उसमे पर्याप्त मतभेद है। प्रकृतमे प्रत्येक दर्शनके आधारसे उनकी मीमांसा नही करनी है। यहाँ तो मात्र जैनदर्शनके आधारसे विचार करना है। तत्त्वार्थसूत्रमें द्रव्यका लक्षण सत् करके उसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यस्वभाव बतलाया गया है। गुण अन्वयस्वभाव होनेसे ध्रौव्यके अविनाभावी है और पर्याय व्यतिरेकस्वभाव होनेसे उत्पाद और व्ययके अविनाभावी है, इसलिए प्रकारान्तरसे वहाँपर द्रव्यको गुण-पर्यायवाला भी कहा गया है। चाहे द्रव्यको गुण-पर्यायवाला कहो और चाहे सत् अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वभाव कहो, दोनों कथनोंका अभिप्राय एक ही है।

यों तो अपने-अपने विशेष लक्षणके अनुसार जातिकी अपेक्षा सब द्रव्य छह हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। उसमें भी जीवद्रव्य अनन्तानन्त है, पुद्गलद्रव्य उनसे भी अनन्तगुणे हैं, धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य एक-एक है तथा कालद्रव्य असंख्यात हैं। फिर भी द्रव्यके इन सब भेद-प्रभेदोमे द्रव्यका पूर्वोक्त एक लक्षण घटित हो जानेसे वे सब एक द्रव्य शब्द द्वारा अभिहित किये जाते है।

तात्पर्य यह है कि लोकमें अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ताको लिए हुए चेतन और जड़ जितने भी पदार्थ हैं वे सब अन्वयरूप शक्तिकी अपेक्षा ध्रौव्यस्वभाववाले होकर भी पर्यायकी अपेक्षा प्रति समय स्वयं उत्पन्न होते है और स्वयं विनाशको प्राप्त होते है। कर्मने जीवको बाँधा है या जीव स्वयं कर्मसे बन्धको प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार कर्म जीवको क्रोधादिरूपसे परिणमाता है या जीव स्वयं क्रोधादिरूपसे परिणमन करता है। इन दोनों पक्षोमे कौन-सा पक्ष जैनधर्ममे तत्त्वरूपसे ग्राह्य है, इस विषयकी आचार्य कुन्दकुन्दने समयप्राभृतमे स्वयं मीमांसा की है। उनका कहना है कि जीव द्रव्य यदि स्वयं कर्मसे नही बँधा है और स्वयं क्रोधादिरूपसे परिणमन नही करता है तो वह अपरिणामी ठहरता है और इस प्रकार उसके अपरिणामी हो जानेपर एक तो संसारका अभाव प्राप्त होता है दूसरे सांख्यमतका प्रसंग आता है। यह कहना कि जीव स्वयं तो अपरिणामी है, परन्तु उसे क्रोधादि भावरूपसे क्रोधादि कर्म परिणत करा देते हैं उचित प्रतीत नही होता, क्योंकि जीवको स्वयं परिणमन स्वभाववाला नहीं माननेपर क्रोधादि कर्म उसे क्रोधादि भावरूपसे कैसे परिणमा सकते है? अर्थात् नही परिणमा सकते। यदि इस दोषका परिहार करनेके लिए जीवको स्वयं परिणमनशील माना जाता है तो क्रोधादि कर्म जीवको क्रोधादि भावरूपसे परिणमाते है, यह कहना तो मिथ्या ठहरता ही है। साथ ही इस परसे यही फलित होता है कि जब यह जीव स्वयं क्रोधरूपसे परिणमन करता है तब वह स्वयं क्रोध है, जब स्वयं मानरूपसे परिणमन करता है तब वह स्वयं मान है, जब स्वयं मायारूपसे परिणमन करता है तब

वह स्वयं माया है और जब स्वयं लोभरूपसे परिणमन करता है तब वह स्वयं लोभ है।[1] आचार्य कुन्दकुन्दने यह मीमांसा केवल जीवके आश्रयमें ही नहीं की है। कर्मवर्गणायें ज्ञानावरणादि कर्मरूपमें कैसे परिणमन करती हैं इसकी मीमांसा करते हुए भी उन्होंने इसका मुख्य कारण परिणामस्वभावको ही बतलाया है।[2] एक द्रव्य अन्य द्रव्यको क्यों नहीं परिणमा सकता, इसके कारणका निर्देश करते हुए वे समयप्राभृतमें कहते हैं—

जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ॥१६३॥

जो जिस द्रव्य या गुणमें अनादि कालसे वर्त रहा है उसे छोड़कर वह अन्य द्रव्य या गुणमें कभी भी संक्रमित नहीं होता। वह जब अन्य द्रव्य या गुणमें संक्रमित नहीं होता तो वह उसे कैसे परिणमा सकता है, अर्थात् नहीं परिणमा सकता ॥१६३॥

तात्पर्य यह है कि लोकमें जितने भी कार्य होते हैं वे सब अपने उपादानके अनुसार स्वयं ही होते हैं। यह नहीं हो सकता कि उपादान तो घटका हो और उसमें पटकी निष्पत्ति हो जावे। यदि घटके उपादानमें पटकी उत्पत्ति होने लगे तो लोकमें न तो पदार्थोंकी ही व्यवस्था बन सकेगी और न उनसे जायमान कार्योंकी ही। 'गणेश प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्' जैसी स्थिति उत्पन्न हो जायेगी।

जिसे जैनदर्शनमें उपादान कारण कहते हैं उसे नैयायिकदर्शनमें समवायीकारण कहा है। यद्यपि नैयायिकदर्शनके अनुसार जड़-चेतन प्रत्येक कार्यका मुख्य कर्त्ता इच्छावान्, प्रयत्नवान् और ज्ञानवान् सचेतन पदार्थ ही हो सकता है, समवायीकारण नहीं। उसमें भी वह सचेतन पदार्थ ऐसा होना चाहिए जिसे प्रत्येक समयमें जायमान सब कार्योंके अदृष्टादि कारकसाकल्यका पूरा ज्ञान हो। इसीलिए उस दर्शनमें सब कार्योंके कर्तारूपसे इच्छावान्, प्रयत्नवान् और ज्ञानवान् ईश्वरकी स्वतन्त्ररूपसे स्थापना की गई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस दर्शनमें सब कार्योंके कर्तारूपसे ईश्वरपर इतना बल दिया गया है वह दर्शन ही जब कार्योत्पत्तिमें समवायी कारणोंके सद्भावको स्वीकार करता है। अर्थात् अपने अपने समवायीकारणोंसे समवेत होकर ही जब वह घटादि कार्योंकी उत्पत्ति मानता है ऐसी अवस्थामें अन्य कार्यके उपादानके अनुसार अन्य कार्यकी उत्पत्ति हो जाय यह मान्यता तो त्रिकालमें भी सम्भव नहीं है। यही कारण है आचार्य कुन्दकुन्दने परमार्थसे जहाँ भी किसी कार्यका कारणकी दृष्टिसे विचार किया है, वहाँ उन्होंने उसके कारणरूपसे उपादान कारणको ही प्रमुखता दी है। वह कार्य चाहे संसारी आत्माका शुद्धि सम्बन्धी हो और चाहे घट-पटादिरूप अन्य कार्य हो, परमार्थसे होगा वह अपने उपादानके अनुसार स्वयं ही, यह उनके कथनका आशय है। जैनदर्शनमें प्रत्येक द्रव्यको परिणामस्वभावी माननेकी सार्थकता भी इसीमें है।

प्रश्न यह है कि जब प्रत्येक द्रव्य परिणमनशील है तो वह प्रत्येक समयमें बदलकर अन्य-अन्य क्यों नहीं हो जाता, क्योंकि प्रथम समयमें जो द्रव्य है वह जब दूसरे समयमें बदल गया तो उसे प्रथम समयवाला मानना कैसे संगत हो सकता है? इसलिए या तो यह कहना चाहिए कि कोई भी द्रव्य परिणमनशील नहीं है या यह मानना चाहिए कि जो प्रथम समयमें द्रव्य है वह दूसरे समयमें नहीं रहता। उस समय अन्य द्रव्य उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार दूसरे समयमें जो द्रव्य है वह तीसरे समयमें नहीं रहता, क्योंकि उस समयमें अन्य नवीन द्रव्य उत्पन्न हो जाता है। यह क्रम इसी प्रकार अनादिकालसे चला आ रहा है और अनन्तकाल

१. समयप्राभृत, गाथा ११६ से १२० तक।
२. समयप्राभृत, गाथा १२० से १२४ तक।

तक चलता रहेगा। प्रश्न मार्मिक है, जैनदर्शन इसकी महत्ताको स्वीकार करता है। तथापि इसकी महत्ता तभी तक है जबतक जैनदर्शनमें स्वीकार किये गये 'सत्' के स्वरूप निर्देश पर ध्यान नही दिया जाता। वहाँ यदि 'सत्' को केवल परिणामस्वभावी माना गया होता तो यह आपत्ति अनिवार्य होती। किन्तु वहाँ 'सत्' को केवल परिणामस्वभावी न मानकर यह स्पष्ट कहा गया है कि प्रत्येक द्रव्य अपने अन्वयरूप धर्मके कारण ध्रुव-स्वभाव है तथा उत्पाद-व्ययरूप धर्मके कारण परिणामस्वभावी है। इसलिए 'सत्' को केवल परिणामस्वभावी मानकर जो आपत्ति दी जाती है, वह प्रकृतमें लागू नही होती। हम 'सत्' के इस स्वरूपपर तत्त्वार्थसूत्रके अनुसार पहले ही प्रकाश डाल आये है। इसी विषयको स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसारके ज्ञेयाधिकारमें क्या कहते है, यह उन्हींके शब्दो मे पढिए —

समवेदं खलु दव्वं संभव-ठिदि-णाससण्णिदट्ठेहिं।
एक्कम्मि चेव समए तम्हा दव्वं खु तत्तिदयं ॥१०॥

द्रव्य एक ही समयमें उत्पत्ति, स्थिति और व्ययसंज्ञावाली पर्यायोंसे समवेत है अर्थात् तादात्म्यको लिए हुए है, इसलिए द्रव्य नियमसे उन तीनमय है ॥१०॥

इसी विषयका विशेष खुलासा करते हुए वे पुनः कहते हैं—

पादुब्भवदि य अण्णो पज्जाओ पज्जओ वयदि अण्णो।
दव्वस्स तं पि दव्वं णेव पणट्ठं ण उप्पण्णं ॥११॥

द्रव्यकी अन्य पर्याय उत्पन्न होती है और अन्य पर्याय व्ययको प्राप्त होती है। तो भी द्रव्य स्वयं न तो नष्ट ही हुआ है और न उत्पन्न ही हुआ है ॥११॥

यद्यपि यह कथन थोडा विलक्षण प्रतीत होता है कि द्रव्य स्वयं उत्पन्न और विनष्ट न होकर भी अन्य पर्यायरूपसे कैसे उत्पन्न होता है और तद्भिन्न अन्य पर्यायरूपसे कैसे व्ययको प्राप्त होता है। किन्तु इसमे विलक्षणताकी कोई बात नही है। स्वामी समन्तभद्रने इसके महत्त्वको अनुभव किया था। वे आप्तमीमांसा-में इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते है—

न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात्।
व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत् ॥५७॥

हे भगवन्! आपके दर्शनमें सत् अपने सामान्य स्वभावकी अपेक्षा न तो उत्पन्न होता है और न अन्वय धर्मकी अपेक्षा व्ययको ही प्राप्त होता है, फिर भी उसका उत्पाद और व्यय होता है, सो यह पर्यायकी अपेक्षा ही जानना चाहिए, इसलिए सत् एक ही वस्तुमे उत्पादादि तीनरूप है यह सिद्ध होता है ॥५७॥

आगे उसी आप्तमीमासामे उन्होंने दो उदाहरण देकर इस विषयका स्पष्टीकरण भी किया है। प्रथम उदाहरण द्वारा वे कहते हैं—

घट मौलि-सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥५९॥

घटका इच्छुक एक मनुष्य सुवर्णकी घटपर्यायका नाश होनेपर दुखी होता है, मुकुटका इच्छुक दूसरा मनुष्य सुवर्णकी घट पर्यायका व्यय होकर मुकुट पर्यायकी उत्पत्ति होनेपर हर्षित होता है और मात्र सुवर्णका इच्छुक तीसरा मनुष्य घट पर्यायका नाश और मुकुट पर्यायकी उत्पत्ति होनेपर न तो दुखी होता है और न हर्षित ही होता है, किन्तु माध्यस्थ्य रहता है। इन तीन मनुष्योंके ये तीन कार्य अहेतुक नही हो सकते। इससे सिद्ध है कि सुवर्णकी घट पर्यायका नाश और मुकुट पर्यायकी उत्पत्ति होनेपर भी सुवर्णका न तो नाश होता है और न उत्पाद ही, सुवर्ण अपनी घट, मुकुट आदि प्रत्येक अवस्थामे सुवर्ण ही बना रहता है ॥५९॥

दूसरे उदाहरण द्वारा इसी विषयको स्पष्ट करते हुए वे पुनः कहते हैं—

पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥६०॥

जिसने दूध पीनेका व्रत लिया है वह दही नहीं खाता, जिसने दही खानेका व्रत लिया है वह दूध नही पीता और जिसने गोरस सेवन नहीं करनेका व्रत लिया हैं वह दूध और दही दोनों का सेवन नही करता। इससे सिद्ध है कि तत्त्व उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनमय है ॥६०॥

आशय यह है कि गोरसमें दूध और दही दोनों गर्भित है, इसलिये प्रत्येक तत्त्व (द्रव्य) द्रव्यदृष्टिसे ध्रौव्यस्वरूप है, किन्तु दूध और दही इन दोनोंमें भेद है, क्योंकि दूधरूप पर्यायका व्यय होनेपर ही दहीकी उत्पत्ति होती है, इसलिए विदित होता है कि वही तत्त्व पर्यायदृष्टिसे उत्पाद और व्ययस्वरूप भी है।

सर्वार्थसिद्धिमे इस विषयका और भी विशदरूपसे स्पष्टीकरण किया गया है। उसमे आचार्य पूज्यपाद कहते है—

चेतनस्याचेतनस्य द्रव्यस्य स्वां जातिमजहत उभयनिमित्तवशात्[1] भावान्तरावाप्तिरुत्पादनमुत्पादः, मृत्पिण्डस्य घटपर्यायवत्। तथा पूर्वभावविगमनं व्ययः। यथा घटोत्पत्तौ पिण्डाकृते। अनादिपारिणामिकस्वभावेन व्ययोत्पादाभावाद् ध्रुवति स्थिरीभवतीति ध्रुवः। ध्रुवस्य भावः कर्म वा ध्रौव्यम्। यथा मृत्पिण्डघटाद्यवस्थासु मृदाद्यन्वयः। तैरुत्पाद-व्यय-ध्रौव्येयुक्तं उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्।

—सर्वार्थसिद्धि अ० ५ सू० ३०

अपनी-अपनी जातिको न छोडते हुए चेतन और अचेतन द्रव्यकी उभयनिमित्तके वशमे अन्य पर्यायका उत्पन्न होना उत्पाद है। जैसे मिट्टीके पिण्डका घट पर्यायरूपसे उत्पन्न होना उत्पाद है! उन्हीं कारणोंसे पूर्व पर्यायका प्रध्वंस होना व्यय है। जैसे घटकी उत्पत्ति होनेपर पिण्डरूप आकृतिका नाश होना व्यय है। तथा अनादि कालसे चले आ रहे अपने पारिणामिक स्वभावरूपसे तत्त्वका न व्यय होता है और न उत्पाद होता है। किन्तु वह स्थिर रहता है। इसीका नाम ध्रुव है। ध्रुवका भाव या कर्म ध्रौव्य है। तात्पर्य यह है कि पिण्ड और घटादि अवस्थाओंमे मिट्टी अन्वयरूपसे तदवस्थ रहती है, इसलिये जिसप्रकार एक ही मिट्टी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यस्वभाव है उसीप्रकार इन उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यमय सत् है। वस्तुतः परमार्थसे निश्चय उपादानको कार्यका नियामक कहा गया है। क्योंकि कार्य द्रव्यसे अव्यवहित पूर्ववर्ती द्रव्यको प्रागभाव कहते हैं और प्रागभावका अभाव ही कार्य द्रव्य कहलाता है।[2] यहाँ जो प्रागभावका लक्षण दिया है वही निश्चय उपादानका लक्षण है, इसलिये आप्तमीमांसाकारिका १० में जो यह आपत्ति दी गई है कि प्रागभाव न माननेपर कार्य द्रव्य अनादि हो जायगा सो यही आपत्ति निश्चय उपादानके नही स्वीकार करनेपर भी प्राप्त होती है। प्रागभावका उक्त सुनिश्चित लक्षण किस दृष्टिसे स्वीकार किया गया है इसका विस्तारसे

१. यहाँ पर निमित्त शब्द व्यवहार और निश्चय उभय कारणवाची है। तदनुसार निमित्त शब्दसे बाह्य निमित्त और निश्चय उपादान दोनोंका ग्रहण हुआ है। तात्पर्य यह है कि अपने-अपने निश्चय उपादानके अनुसार कार्यकी स्वयं उत्पत्तिमे अज्ञानी जीव अपने प्रयत्न द्वारा या अन्य द्रव्य अपनी क्रिया द्वारा या उसके बिना ही निमित्त होता है। इसलिए टीकामे उभय निमित्तके वशसे उत्पन्न होना ऐसा कहा है।

२. कार्योत्प्रागनन्तरपर्यायः तस्य प्रागभावः। तस्यैव प्रध्वंसः कार्यं घटादिः। पृ० ९७।

विवेचन करते हुए आचार्य विद्यानन्दने अपनी सुप्रसिद्ध अष्टसहस्री टीकामें जो कुछ भी लिखा है वह उन्हींके शब्दोंमें पढ़िये—

ऋजुसूत्रनयार्पणाद्धि प्रागभावस्तावान् कार्यस्योपादानपरिणाम एव पूर्वानन्तरात्मा। न च तस्मिन् पूर्वानादिपरिणामसन्ततौ कार्य-सद्भावप्रसंगः, प्रागभावविनाशस्य कार्यरूपतोपगमात्। 'कार्योत्पादः क्षयो हेतोः' इति वक्ष्यमाणत्वात्। प्रागभावतत्प्रागभावादेस्तु पूर्व-पूर्वपरिणामस्य सन्तत्यनादेर्विवक्षितकार्यरूपत्वाभावात्।

यथार्थमें ऋजुसूत्रनयकी मुख्यतासे तो अव्यवहित पूर्ववर्ती उपादान परिणाम ही कार्यका प्रागभाव है। और प्रागभावके इस रूपसे स्वीकार करनेपर पूर्वकी अनादि परिणाम सन्ततिमें कार्यके सद्भावका प्रसंग नहीं आता है, क्योंकि प्रागभावके विनाशमें कार्य रूपता स्वीकार की गई है। 'कार्यका उत्पाद ही क्षय है, क्योंकि इन दोनोंका हेतु एक है' ऐसा आगे शास्त्रकार स्वयं कहनेवाले हैं। प्रागभाव, उसका प्रागभाव इस रूपसे पूर्वतत्पूर्व परिणामरूप सन्ततिके अनादि रूपसे विवक्षित होनेके कारण उसमें विवक्षित कार्यपनेका अभाव है। —पृ० १००।

इससे एक तो यह निश्चित हो जाता है कि अव्यवहित पूर्व पर्याययुक्त द्रव्य नियत कार्यका ही उपादान होता है। दूसरे उक्त कथनसे यह भी निश्चित हो जाता है कि इससे पूर्व क्रमसे वस्तु जिस रूपमें अवस्थित रहती आई है वह पूर्वोक्त नियत कार्यका व्यवहार उपादान कहलाता है। यह व्यवहार उपादान इसलिये कहलाता है, कारण कि उसमें उक्त नियत कार्यके प्रति ऋजुसूत्रनयसे कारणता नहीं बनती। यतः वह केवल द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा उपादान कहा गया है, इसलिये उसकी व्यवहार उपादान संज्ञा है।

शंका—पूर्वमें प्रागभावका लक्षण कहते समय मात्र नियत कार्यसे अव्यवहित पूर्व पर्यायको ही ऋजुसूत्रनयसे उपादान कहा गया है, इसलिये उस कथनको भी एकान्त क्यों न माना जाय?

समाधान—उक्त कथन द्वारा द्रव्यार्थिकनयके विषयभूत द्रव्यकी अविवक्षा करके प्रागभावका लक्षण कहा गया है, इसलिये कोई दोष नहीं है। यदि दोनों नयोंकी विवक्षा करके प्रागभावका लक्षण कहा जाय तो अव्यवहित पूर्व पर्याय युक्त द्रव्यको प्रागभाव कहेंगे। इस प्रकार समस्त कथन युक्ति युक्त बन जाता है।

शंका—यदि ऐसा है तो व्यवहार हेतुके कथनके समय उसे कल्पना स्वरूप क्यों कहा जाता है। श्री जयधवला (पृ० २६३) में इस विषयके कथनको स्पष्ट करते हुए आचार्य वीरसेनने यह कहा है कि प्रागभाव का अभाव द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव सापेक्ष होता है? यदि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव कल्पनाके विषय हैं तो फिर प्रागभावके अभावको द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव सापेक्ष नहीं कहना चाहिये था। क्या हमारी इस शंकाका आपके पास कोई समाधान है?

समाधान—हमने पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावको कहीं भी काल्पनिक नहीं कहा है, वे इतने ही यथार्थ हैं जितना कि प्रकृत वस्तु स्वरूप। हमारा तो कहना यह है कि प्रत्येक कार्यमें पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावको अन्वय-व्यतिरेकके आधारपर काल प्रत्यासत्तिवश निमित्त कहना यह मात्र विकल्पका विषय है और इसलिये उपचरित है। आगममें जहाँ भी यह कहा गया है कि इसने यह कार्य किया, यह इसका प्रेरक है, इसने इसे परिणमाया है, इसने इसका उपकार किया है, यह इसका सहायक है यह सब कथन असद्भूत व्यवहारनयका वक्तव्य है। इस नयका आशय भी यह है कि यह नय प्रयोजनवश अन्यके कार्य आदिको अन्यका कहता है।

यह तो सुनिश्चित है कि प्रत्येक वस्तु और उसके गुण-धर्म परमार्थमें पर निरपेक्ष होते हैं, स्वरूप पर सापेक्ष नहीं हुआ करता। वस्तुका नित्य होना यह जैसे वस्तुका स्वरूप है उसी प्रकार उसका परिणमन करना

यह भी वस्तुका स्वरूप है। नय केवल अंश ज्ञान होनेसे वह मात्र उनकी विवक्षासे उनकी सिद्धि करता है, इसलिये विवक्षा या अपेक्षा नयज्ञानमें होती है वस्तु तो धर्म और धर्मी दोनों दृष्टियोंसे पर निरपेक्ष स्वत सिद्ध है। इतना अवश्य है कि जब एक-एक अशकी अपेक्षा वस्तुको जाना जाता है या उसका कथन किया जाता है तो मात्र दूसरे अंशरूप भी वस्तु है इसको भूलकर मात्र उसी अशरूप वस्तुको न स्वीकार कर लिया जाय इस तथ्यको ध्यानमें रखनेके लिए अपेक्षा या विवक्षा लगाई जाती है। इसलिये अपेक्षा नयज्ञान या नयरूप कथनमें ही होती है, वस्तुमें या उसके स्वरूप सिद्ध धर्मोंमें नही। यह सिद्धान्त कार्य कारणपर भी पूरी तरहसे लागू होता है। निश्चय उपादान स्वरूपसे स्वयं है और निश्चय स्वरूप कार्य (पर्याय) स्वरूपसे स्वयं है। विवक्षा या अपेक्षा मात्र उनकी सिद्धिमें लगती है। जैसे यह कहना कि यह इस कारणका कार्य है, या यह कहना कि यह इस कार्यका कारण है। इसलिये यह कथन सद्भूत व्यवहारनयका विषय हो जाता है, क्योंकि निश्चय स्वरूप कारणता भी वस्तुका स्वरूप है और निश्चय स्वरूपकार्यता भी वस्तुका स्वरूप है। मात्र उनका एक-दूसरेकी अपेक्षासे कथन किया गया है, इसीलिये इस कथनको सद्भूत व्यवहारनयका विषय कहा गया है। अब रह गया कर्म और नो कर्मको दृष्टिमें रखकर व्यवहार हेतु और उसकी अपेक्षा व्यवहाररूप कार्यका कथन, सो पहले तो यह देखिये कि ज्ञानावरणादि कर्म और उनसे भिन्न शरीरादि समस्त पदार्थोंकी नोकर्म सज्ञा क्यों है? ज्ञानावरणादिको आत्माका कर्म क्यों कहा जाता है इस तथ्यको स्पष्ट रूपमें समझनेके लिये प्रवचनसार अ. २ गा. २५ की तत्त्वदीपिका टीकाके इस कथनपर दृष्टिपात कीजिये—

क्रिया खल्वात्मना प्राप्यत्वात् कर्म। तन्निमित्तप्राप्तपरिणामः पुद्‌गलोऽपि कर्म।

आत्माके द्वारा प्राप्य होनेसे क्रिया नियमसे आत्माका कर्म है और उस क्रियारूप राग, द्वेष, मोह और योगको निमित्तकर (व्यवहारसे हेतु कर) जिसने अपना परिणाम प्राप्त किया है ऐसा पुद्‌गल भी उसका कर्म कहलाता है।

ज्ञानावरणादि कर्म वास्तवमें पुद्‌गलका परिणाम है, फिर उस परिणामकी ज्ञानावरणादि कर्म संज्ञा क्यों रखी गई? उक्त कथन द्वारा इसी तथ्यको स्पष्ट किया गया है।

नोकर्म अर्थात् ईषत् कर्म। सवाल यह है कि शरीरादिको नोकर्म क्यों कहा गया है? समाधान यह है कि नोकर्मके दो भेद हैं, एक तो औदारिक आदि पाच शरीर और दूसरे उनके अतिरिक्त लोकवर्ती समस्त पदार्थ। इनमेंसे तो औदारिक आदि पांच शरीरोको नोकर्म तो इसलिये कहा गया है, क्योंकि ज्ञानावरणादि कर्मोंके उदयसे जो-जो अज्ञान आदिक कार्य होते हैं उनमें इनकी निमित्तता आनयत है, नियमरूप निमित्तता नहीं। दूसरे ये अज्ञानादिके समान जीवोंके वैभाविक भाव नही है। तीसरे घातिया कर्मोका क्षय हो जानेपर इन औदारिक आदि शरीरोंमें अज्ञानादि भावोंकी उत्पत्तितामें व्यवहारसे निमित्तता भी नही रहती। इसीलिये आगममें इन्हें नोकर्म समूहमें सम्मिलित किया गया है। अब रहे अन्य पदार्थ सो वे भी स्वरूपसे निमित्त तो नही हैं, व्यवहारसे जब उनका राग, द्वेष और मोह मूलक जीवकार्योंके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बनता है तभी उनमें इस सम्बन्धको देखकर नोकर्म व्यवहार होता है, सर्वदा नही।

शंका—घटादि कार्य तो परमार्थसे जीवकार्य नहीं हैं?

समाधान—घटादि कार्योंके होनेमें अज्ञानी जीवके योग और 'मैं कर्ता' इस प्रकारके विकल्पोंमें निमित्तताका व्यवहार होनेसे व्यवहारसे वे भी जीव-कार्य कहलाते है। अतः अज्ञानादि घटादि कार्योंमें अन्य पदार्थोंके समान व्यवहार हेतु होनेसे आगममें इन्हें भी नोकर्म माना गया है।

शंका—उपयोग स्वरूप ज्ञानके साथ भी तो ऐसा व्यवहार बन जाता है कि घट-पटादि पदार्थोंके कारण मुझे घट ज्ञान पटज्ञान आदि हुआ। धर्मादिक द्रव्योके कारण मुझे धर्मादिक द्रव्योंका ज्ञान होता है? अतः

इन घट-पटादि और धर्मादिक द्रव्योंको भी ज्ञानोत्पत्तिका व्यवहार हेतु स्वीकार कर उन्हें नोकर्म कहना चाहिये ।

समाधान—घट-पटादि और धर्मादिक द्रव्योंके साथ ज्ञानका व्यवहारमें ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध तो है। ज्ञानोत्पत्तिके व्यवहार साधन रूपसे निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध नही है। परीक्षामुखमें कहा भी है —

नार्थालोकौ कारणम्, परिच्छेद्यत्वात् तमोवत् ।

अर्थ और आलोक ज्ञानोत्पत्तिके (व्यवहार) कारण नही है, क्योंकि वे ज्ञेय है, अन्धकारके समान ।

इस प्रकार ज्ञानावरणादिको कर्म और शरीरादिको नोकर्म क्यो कहा गया इसकी सिद्धि हो जानेपर इनके साथ ससार अवस्थामे जीव कार्योंके साथ जो कार्य-कारणभाव कहा गया है वह असद्भूत व्यवहारनयसे ही कहा गया है। तब यह इस कार्यका कारण है या इस कारणका यह कार्य है ऐसा असद्भूत व्यवहार तो बन जाता है। पर निश्चयनय न तो इस व्यवहारको स्वीकार करता है और न ही सद्भूत व्यवहारको ही स्वीकार करता है। इतना ही नही, प्रत्युत अपना निषेधकरूप स्वभाव होनेके कारण वह ऐसे व्यवहारका निषेध ही करता है। 'एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण (समयसार गाथा २७२) इस प्रकार निश्चयनयके द्वारा व्यवहारनय निषेध रने योग्य जानो यह वचन इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर कहा गया है।

इस प्रकार प्रागभाव और उपादान कारण इनमें एक वाक्यता कैसे है और इस आधारपर निश्चय उपादानमे विवक्षित कार्यकी नियामकता कैसे बनती है इसका सम्यक् विचार किया।

अब आगे प्रकृत विषय उपादान-उपादेयभावको और तदनुषंगी व्यवहार निमित्त-नैमित्तिकभावको ध्यानमे रखकर 'दृष्टिका माहात्म्य' इस प्रकरणके अन्तर्गत कैसी दृष्टि बनानेसे जीवका संसार चालू रहता है और बढ़ता है तथा कैसी दृष्टि बनानेसे जीव मोक्षमार्गी बन कर मुक्तिका पात्र होता है इस विषयपर सक्षेपमे ऊहापोह करेंगे ।

५. दृष्टिका माहात्म्य

दृष्टियाँ दो प्रकारकी है—एक व्यवहार दृष्टि और दूसरी निश्चय दृष्टि। अनेकान्त स्वरूपकी समग्र-भावसे स्वीकार करनेवाली प्रमाण दृष्टि सकलादेशी होनेसे प्रकृतमे उससे प्रयोजन नही है। समयसार गाथा २७२ मे इन दोनों दृष्टियोंका स्वरूप निर्देश तथा उनके फलका निर्देश इस प्रकार किया गया है—

आत्माश्रितो निश्चयनयः, पराश्रितो व्यवहारनयः। तत्रैव निश्चयनयेन पराश्रितं समस्तमध्यवसानं बन्धहेतुत्वेन मुमुक्षोः प्रतिषेधयता व्यवहारनय एव किल प्रतिसिद्धः, तस्यापि पराश्रितत्वाविशेषात्। प्रतिषेध्य एवं, चायं आत्माश्रितनिश्चयनयाश्रितानामेव मुच्यमानत्वात्। पराश्रितव्यवहारनयस्यैकान्तेनामुच्यमानेनाभव्येनाप्याश्रियमाणत्वात्।

आत्माश्रित (स्व. आश्रित) निश्चयनय है, पराश्रित (परके आश्रित) व्यवहारनय है। वहाँ पूर्वोक्त प्रकारसे पराश्रित समस्त अध्यवसान (परमे एकत्व बुद्धिरूप या पर पदार्थोमे उपादेय रूपसे इष्टानिष्ट बुद्धिरूप समस्त विकल्प) बन्धके कारण होनेसे मुमुक्षुओंको उनका निषेध करते हुए ऐसे निश्चयनयके द्वारा वास्तवमे व्यवहारनयका ही निषेध कराया गया है, क्योंकि जैसे अध्यवसानभाव पराश्रित है वैसे ही व्यवहारनय भी पराश्रित है, उनमे कोई अन्तर नही है—वे एक है। और इस प्रकार अध्यवसान भाव निषेध करने योग्य ही है, क्योंकि आत्माश्रित निश्चयनयका आश्रय करनेवाले ही (स्वरूपलाभ कर कर्मोसे) मुक्त होते है और पराश्रित व्यवहारनयका आश्रय तो एकान्तसे कर्मोसे नही छूटनेवाला अभव्य जीव भी करता है ॥२७२॥

परमे आत्म बुद्धिका नाम या उपादेय भावसे परमें इष्टानिष्ट बुद्धिका नाम पराश्रयपना है और स्वतः सिद्ध होनेसे अनादि-अनन्त नित्य उद्योतरूप और विशद ज्योति एक ज्ञायकमें तल्लीनतारूप आत्म परिणामका होना स्वाश्रितपना है। इनमेसे जीवनमें पराश्रयपनेका होना एक मात्र संसारका कारण है। संसारपद्धतिको आगममे जो संयोग मूलक कहा है सो उस द्वारा भी उक्त प्रकारके पराश्रयपनेको ही स्वीकार किया गया है। इस तथ्यको स्पष्टरूपसे समझनेके लिये मूलाचार टीका का यह वचन द्रष्टव्य है—

अनात्मनीनभावस्य आत्मभावः संयोग —अ. १, गा. ४८।

जो भाव आत्माके नही हैं उनमें आत्मभावका होना संयोग है, इसीका नाम पराश्रयपना है। तात्पर्य यह है कि कर्मोदयको निमित्त कर जितने भी भाव होते है वे तो पर हैं ही, मैं सम्यग्दृष्टि हूँ, मुनि हूँ, ऐसा कौन कार्य है जिसे परकी सहायताके बिना सम्पन्न किया जा सके। यहां तक कि सिद्धोंकी ऊर्ध्वगति भी नियत स्थान तक धर्मास्तिकायकी सहायतासे होती है। यदि वे स्वयं गमन करते होते तो लोकाग्रसे ऊपर उनके गमनको कौन रोक सकता था इत्यादि विकल्प भी पर है। तथा इनमे आत्मभावका होना ही संयोग या पराश्रयपना है। इस प्रकार जो पराश्रितरूप उपयोग परिणाम अनादिकालसे इस जीवके वर्तता चला आ रहा है उसीको प्रकृतमे व्यवहारनय कहा गया है। अज्ञानकी भूमिकामे सर्वदा रहनेवाला यह भाव अभव्य जीवके तो होता ही है, ऐसे भव्य जीवके भी होता है, क्योंकि अज्ञान अवस्थामे पर्याय दृष्टिवाले दोनो ही एक समान है। उनमे कोई भेद नही है।

शंका—ज्ञानी या अन्तरात्मा जीवके जो शुभोपयोग होता है उसे तो परम्परा मोक्षका कारण कहा ही है सो क्यों?

समाधान—परमार्थसे मोक्षका साक्षात् कारण तो निश्चय रत्नत्रयपरिणत आत्मा ही है। शुभोपयोगको जो मोक्षका परम्परा कारण कहा जाता है सो एक तो सातवें गुणस्थानसे लेकर चौदहवे गुणस्थान तक शुभोपयोग होता ही नहीं। इससे पूर्वके चौथे आदि तीन गुणस्थानोंमें बहुलतासे शुभोपयोग अवश्य होता है और वह निश्चय रत्नत्रयका सहचर होनेके कारण व्यवहारसे अनुकूल माना गया है। तथा स्वरूप परिणमनपूर्वक जो निश्चय रत्नत्रयरूप शुद्धि प्राप्त हुई वह शुभोपयोग कालमे यथावत् बनी रहती है, उसकी हानि नही होती, इसीलिये ही शुभोपयोगको व्यवहारसे परम्परा मोक्षका कारण कहा है, क्योकि निश्चय रत्नत्रय परिणत आत्मा मोक्षका साक्षात् कारण, सविकल्प भूमिकामे कहो या प्राक् पदवीमे कहो व्यवहारसे उसके अनुकूल शुभोपयोग, इस प्रकार शुभोपयोगको व्यवहारसे मोक्षका परम्परा कारण स्वीकार किया गया है। इसकी पुष्टि इस प्रमाणसे हो जाती है—

बाह्यपंचेन्द्रियविषयभूते वस्तुनि सति अज्ञानभावात् रागाद्यध्यवसानं भवति तस्मादध्यवसानाद् बन्धो भवतीति पारंपर्येण वस्तु बन्धकारणं भवति, न च साक्षात्।—परमात्मप्रकाश, पृ० ३५४।

पञ्चेन्द्रियोंकी विषयभूत बाह्य वस्तुके होनेपर अज्ञान भावमें रागादि अध्यवसान होता है, इसलिए अध्यवसानमें बन्ध होता है। इस प्रकार बाह्य वस्तु व्यवहारसे परम्परा बन्धका कारण है।

यद्यपि शुभोपयोगको मोक्षका परम्परा व्यवहार हेतु कहा है किन्तु मोक्षप्राप्तिके समय या उससे अव्यवहित पूर्व समयमे शुभोपयोग जब होता ही नही तब इस दृष्टिसे तो वह मोक्षका परम्परा व्यवहार कारण तो हो नही सकता। किन्तु जो निश्चय रत्नत्रय मोक्षका साक्षात् कारण है वह चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर चौदहवे गुणस्थान तकका व्यवहारसे एक ही है ऐसा स्वीकार करनेपर ही शुभोपयोगको मोक्षका परम्परा व्यवहार कारण कहना बनता है।

शंका—जीवकी निर्विकल्प अवस्थामें जो अबुद्धिपूर्वक राग होता है उसे भी मोक्षका परम्परा व्यवहार कारण कहना चाहिये ?

समाधान—जीवकी निर्विकल्प अवस्थामे जो अबुद्धिपूर्वक राग होता है वह शुभोपयोगकी जातिका ही होता है, इसलिये उसे भी परम्परा व्यवहारसे मोक्षका कारण कहनेमे कोई आपत्ति नही है।

शंका—कतिपय शास्त्रोमे यह भी उल्लेख मिलता है कि कोई सम्यग्दृष्टि जीव व्रतादिका आचरण कर स्वर्ग जाता है और वहाँसे चय हो मनुष्य जन्म पा अन्तमें मोक्षका अधिकारी बनता है और इस दृष्टिसे शुभोपयोग मोक्षका परम्परा कारण है ऐसा माना जाय तो क्या आपत्ति है ?

समाधान—यहाँ भी पिछले मनुष्य जन्मके रत्नत्रयसे लेकर मोक्ष प्राप्त होने तकका रत्नत्रय एक ही है, मात्र इस दृष्टिको सामने रखकर ही उसके साथ बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक वर्तनेवाले शुभरागको मोक्षका परम्परा व्यवहार कारण कहा जा सकता है।

वास्तवमे देखा जाय तो शुभोपयोगके कालमे जो सम्यग्दर्शनादि रूप स्वभाव पर्याय होती है या अबुद्धिपूर्वक प्रशस्त रागके कालमें जो स्वानुभूति और शुभोपयोग होता है उस शुभोपयोग और अबुद्धिपूर्वक प्रशस्त रागको ही स्वभाव परिणतिका व्यवहारसे निमित्त कहा गया है, क्योंकि ज्ञानधारा जब तक सम्यक् रूपसे परिपाकको प्राप्त नही होती है तभी तक ज्ञानधारा और कर्मधाराके एक साथ होनेको आगम स्वीकार करता है। इन सब दृष्टियोको ध्यानमे रखकर यह कलश काव्य द्रष्टव्य है—

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा,
कर्म-ज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित् क्षति ।
किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत् कर्मबन्धाय तत्,
मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्त स्वतः ॥११०॥

जब तक ज्ञानकी कर्मविरति भलीभाँति परिपूर्णताको प्राप्त नही होती तब तक ज्ञान और कर्मका एक साथ रहना आगम सम्मत है, इससे आत्माकी कोई क्षति नही होती अर्थात् उस कालमे सम्यग्दर्शनादि परिणाम शुद्धिके अनुसार यथावत् बने रहते है। किन्तु इतनी विशेषता है कि इस भूमिकामे भी आत्मामे अवशपने (पुरुषार्थकी हीनतावश) जो कर्म प्रकट होता है वह तो बन्धका कारण है और स्वतः विमुक्त स्वभावमात्र जो परम ज्ञान है वह मोक्षका कारण है ॥११०॥

तात्पर्य यह है कि कर्मधारा स्वतः बन्धस्वरूप है, इसलिये वह बन्ध का हेतु है और ज्ञानधारा स्वयं मोक्षस्वरूप है, इसलिये वह मोक्षका हेतु है।

शुद्ध आत्मस्वरूपमे अचलरूपसे जो चैतन्य परिणति होती है उसीका नाम ध्यान है, क्योकि स्वानुभूति कहो, शुद्धोपयोग कहो या निश्चय ध्यान कहो इन तीनोका एक ही अर्थ है। जीवके ऐसा ध्यान कब होता है इसका निर्देश करते हुए आचार्यदेव कुन्दकुन्द पंचास्तिकायमे कहते है—

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो य जोगपरिकम्मो ।
तस्स सुहासुहडहणो झाणमओ जायए अगणी ॥१४६॥

जिसके जीवनमे मिथ्यात्वकी सत्ता नहीं है तथा जिसका उपयोग राग, द्वेष और मन, वचन, कायरूप परिणतिको नही अनुभव रहा है उसीके शुभाशुभ भावोको दहन करनेमें समर्थ ध्यानरूपी अग्नि उदित होती है ॥१४६॥

जिसे यहाँ स्वानुभूति, शुद्धोपयोग या ध्यान कहा है उसीका दूसरा नाम स्वद्रव्यप्रवृत्त परिणाम भी है, स्वाश्रित निश्चयनय भी यही है। पराश्रित परिणाम इससे भिन्न हैं जिसे आगममें परद्रव्य-प्रवृत्त परिणाम भी कहते है, जो अज्ञानका दूसरा नाम है। समयसार गाथा २ में जो स्वसमय और परसमयका स्वरूप निर्देश किया गया है वह भी उक्त तथ्यको ध्यानमें रखकर ही किया गया है।

शंका—सम्यग्दृष्टि और तत्पूर्वक व्रतीके सविकल्प भूमिकामें जो रागपूर्वक कार्य देखे जाते हैं सो उस समय उनके वे परिणाम परद्रव्यप्रवृत्त माने जायँ या नहीं?

समाधान—सम्यग्दृष्टि या तत्पूर्वक व्रतीके राग परिणति तथा मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति मात्र ज्ञेय है, वह उनका कर्ता नहीं, क्योंकि ज्ञानीके बुद्धिपूर्वक राग, द्वेष और मोहका अभाव होनेसे जो उसके राग पूर्वक प्रवृत्ति देखी जाती है या कर्मबन्ध होता है वह अबुद्धिपूर्वक रागादि कलंकका सद्भाव होनेसे ही होता है।

इस प्रकार इस समग्र कथनका सार यह है कि जो अपने स्वसहाय होनेसे अनादि-अनन्त, नित्य उद्योत-रूप और विशद-ज्योति ज्ञायक भावके सन्मुख होता है उसके मोक्षमार्गके सन्मुख होने पर उसका उपादान भी उसीके अनुकूल प्रवृत्त होता है और जो अपने उक्त स्वभावभूत ज्ञायक भावको भूलकर ससार मार्गका अनुसरण करता है उसका उपादान भी उसीके अनुकूल प्रवृत्त होता है। ऐसी सहज वस्तु व्यवस्था है जिसे बाह्य सामग्री अन्यथा करनेमें समर्थ नही है। इतना विशेष है कि जो जीव मोक्षमार्गके सन्मुख होता है उससे निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य सामग्रीका योग स्वयं मिलता है, बुद्धिका व्यापार उसमे प्रयोजनीय नही और जो जीव संसार मार्गके सन्मुख होता है उसके निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य सामग्रीका कभी अबुद्धिपूर्वक योग मिलता है और कभी बुद्धिपूर्वक योग मिलता है। ऐसा ही अनादि कालसे चला आ रहा नियम है।

अभी तक बाह्य कारण और निश्चय उपादानकी क्रमसे मीमांसा की। अब आगमानुसार यह स्पष्ट किया जायगा कि जड-चेतनके प्रत्येक कार्यमें इन दोनों उपाधियोंका योग सहज ही मिलता रहता है। जिसे अज्ञानीके योग और विकल्परूप प्रयोग निमित्त कहा गया है उसका योग भी अपने कालमे सहज ही होता है। मात्र उस कालमें उसके बुद्धि और प्रयत्नपूर्वक होनेसे उसकी स्वीकृतिको ध्यानमें रखकर उसे प्रायोगिक कहा गया है। इतना विशेष है कि सम्यग्दर्शन आदि स्वभाव परिणत जीवोंके संसार अवस्थामें जितने भी विभाव कार्य होते है वे सब अबुद्धिपूर्वक विस्रसा ही स्वीकार किये गये है। कारण कि उनमे इस जीवके स्वपनेका भाव नहीं होता। उनका मात्र वह ज्ञाता द्रष्टा ही होता है। समयसार आत्मख्याति टीकामें इसी तथ्यको स्वीकार करते हुए लिखा है—

यो हि ज्ञानी स बुद्धिपूर्वकराग-द्वेष-मोहरूपास्रवभावाभावात् निरास्रव एव, किन्तु सोऽपि यावत् ज्ञानं सर्वोत्कृष्टभावेन द्रष्टुं ज्ञातुमनुचरितं वाशक्तः सन् जघन्यभावेनैव ज्ञानं पश्यति जानात्यनुचरति तावत्तस्यापि जघन्यभावान्यथानुपपत्त्याऽनुमीयमानाबुद्धिपूर्वककलंकविपाकसद्भावात् पुद्गलकर्मबन्धः स्यात्।

जो परमार्थसे ज्ञानी है उसके बुद्धिपूर्वक राग, द्वेष और मोहरूप आस्रव भावोका अभाव होनेसे वह निरास्रव ही है। इतना विशेष है कि वह जब तक ज्ञानको सर्वोत्कृष्टरूपसे देखने, जानने और आचरनेमे अशक्त होता हुआ जघन्य भावसे ही ज्ञानको देखता, जानता और आचरता है तब तक उसके भी जघन्य भावकी अन्यथा उत्पत्ति नही हो सकती, इससे अनुमान होता है कि उसके अबुद्धिपूर्वक कर्मकलंक रूप विपाक-का सद्भाव होनेसे पुद्गल कर्मका बन्ध होता है।

ज्ञानीके मिथ्यात्वरूप भाव तो होता ही नहीं। नौवें गुणस्थान तक द्वेष और दशवें गुणस्थान तक रागका सद्भाव होनेसे वह उनका स्वामी नहीं है, इसलिये उसके राग और द्वेषका सद्भाव अबुद्धिपूर्वक ही स्वीकार किया गया है। अतः राग-द्वेषके कारण जो कर्मबन्ध होता है स्वभाव सन्मुख होनेसे ज्ञानीके बुद्धिपूर्वक वह नहीं होता। अबुद्धिपूर्वक होनेवाले राग-द्वेष और उदयके साथ ही उसका अविनाभाव सम्बन्ध है।

और यह ठीक भी है, क्योंकि संसारके जितने भी कार्य हैं उनमें ज्ञानीका स्वामित्व न रहनेसे उन सबको उसके अबुद्धिपूर्वक स्वीकार करना ही न्यायोचित है। वह दृष्टिमुक्त होनेसे मुक्त ही है, क्योंकि उसने पर्यायमें परमात्मा बननेके द्वारमें प्रवेश कर लिया है।

इस प्रकार इतने विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञानीके संसारके सभी कार्य बुद्धिपूर्वक होते ही नहीं, इसलिये परमागमने अज्ञानीके योग और विकल्पके साथ ही उनकी व्याप्ति स्वीकार की है। यतः ऐसे ही कार्योंके साथ अज्ञानीके बुद्धि (अभिप्राय) पूर्वक कर्तृत्व घटित होता है अतः आचार्योंने इन्हीं कार्योंको प्रायोगिक स्वीकार किया है। इनके सिवाय अन्य जितने भी कार्य होते हैं वे सब विस्रसा ही स्वीकार किये गये हैं।

शंका—यहाँ पर ज्ञानीके बुद्धिपूर्वक रागादि भावोंका अभाव बतलाया है सो यह बात हमारे समझमें नहीं आती, क्योंकि ज्ञानधारा और कर्मधाराके एक साथ रहनेसे आत्माकी किसी प्रकारकी क्षतिको आगम स्वीकार नहीं करता। हम देखते हैं कि सविकल्प अवस्थामें ज्ञानीके गृहस्थ अवस्थाके सभी कार्य तथा भावलिंगी सन्तके भी २८ मूलगुणोंका पालन, आहारादिका ग्रहण, तत्त्वोपदेश, शिष्योंका ग्रहण-विसर्जन, गुरुसे अपने द्वारा किये गये दोषोंकी निन्दा गर्हापूर्वक प्रायश्चित्त लेना आदि सभी कार्य बुद्धिपूर्वक होते हुए ही देखे जाते हैं। कर्त्ता-कर्म अधिकारमें भी जिस द्रव्यका जब जो परिणाम होता है उस समय उस द्रव्यका कर्त्ता उस द्रव्यको ही स्वीकार किया गया। अतः राग-द्वेषादि भाव जीवोंकी ही पर्याय है। जीव ही स्वयं उसरूप परिणमता है, इसलिये प्रकृतिमें ऐसे जीवको एक तो निरास्रव मानना उचित नहीं है। दूसरे ज्ञानीके भी श्रावक और भावलिंगी साधुके जितने भी कर्तव्य-कर्म कहे गये हैं उन्हें अबुद्धिपूर्वक मानना भी उचित नहीं है। चरणानुयोगकी रचना भी श्रावक और मुनिकी प्रवृत्ति कैसी हो इसी अभिप्रायसे हुई है। वह जिनवाणी है, इसलिये यही मानना उचित है कि ज्ञानी भी जब सविकल्प अवस्थामें वरतता है तब शुभाचारको श्रावक और मुनिके कर्तव्य कर्म ही मानने चाहिये। उन्हें आगममें व्यवहार मोक्ष-मार्गरूपसे स्वीकार करनेका प्रयोजन भी यही है?

समाधान—प्रश्न मार्मिक है। उसका समाधान यह है कि प्रकृतमें जो बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक कार्योंका विभाजन किया गया है 'वह यह मेरा कार्य और मैं इसका करनेवाला, इस कार्यके किये बिना मेरा तरणोपाय नहीं, ऐसे अभिप्रायपूर्वक जो कार्य होते हैं वे बुद्धिपूर्वक कार्य कहलाते हैं तथा इनके सिवाय अन्य सब कार्य अबुद्धिपूर्वक कहलाते है। आचार्य विद्यानन्दने अबुद्धिपूर्वक कार्यका अर्थ अतर्कितोपस्थित किया है सो इससे भी उक्त कथनकी ही पुष्टि होती है, क्योंकि प्रकृतमें राग, द्वेष और मोहपूर्वक की गई प्रवृत्ति या अभिप्राय मोक्षप्राप्तिके लिये इष्ट नहीं है। इस दृष्टिसे शुभोपयोग भी अनुपादेय माना गया है। उसका विकल्पकी भूमिका कहो या प्राक् पदवी कहो उस समय होना और बात है और यह मोक्ष प्राप्तिके लिए परमार्थसे करणीय है ऐसे अभिप्रायपूर्वक उसे उपादेय मानना और बात है। ज्ञानीका अभिप्राय तो एकमात्र अपने त्रिकाली ज्ञायक स्वभावमें लीनता प्राप्त करनेका ही रहता है। और इसीलिये आचार्य अमृतचन्द्रदेवने

'स्वरूपमें रमना—चारित्र है' चारित्रका यह लक्षण किया है। यतः चारित्र सम्यग्दर्शनका अविनाभावी है, इसीलिये आगममें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इनमेंसे प्रत्येकके लक्षणके साथ स्वरूप लाभको अविनाभावी स्वीकार किया गया है। स्वरूप लाभ न हो और सम्यग्दर्शन आदि परिणाम हो जायँ ऐसा नहीं है। शुभाचारको चरणानुयोग शास्त्र स्वयं मोक्षप्राप्तिमें बाह्य-निमित्तरूपसे स्वीकार करता है। इसलिए यही तथ्य फलित होता है कि ज्ञानीकी दृष्टि सर्वदा सविकल्प अवस्थामें भी आत्मस्वरूप पर ही रहती है। वह स्वयं शुभाचारको संसारका प्रयोजक होनेसे अपना अपराध ही मानता रहता है, क्योंकि ऐसी दृष्टिके बिना उसका, ज्ञानी कहो, सम्यग्दृष्टि कहो, अध्यात्मवृत्त कहो, अन्तरात्मा कहो या स्वसमय कहो, होना नहीं बन सकता।

इतने विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि लोकमें साभिप्राय जितने भी कार्य होते है उनकी प्रायोगिक संज्ञा है, शेष सब कार्य वैस्रसिक कहलाते हैं।

२. उभयरूपसे निमित्त शब्दका प्रयोग

साधारणतः निमित्त शब्द कारण, उपाधि, साधन या हेतुवाची स्वीकार किया गया है। यह बाह्य-कारण और उपादान दोनोंके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। यथा—

द्रव्यस्य निमित्तवशात् उत्पद्यमाना परिस्पन्दात्मिका क्रियेत्यवसीयते।

—त० वा० अ० ५ सू० २२।

द्रव्यके दोनों बाह्य और आभ्यन्तर (उपादान) निमित्तोंके वशसे उत्पन्न होनेवाले परिस्पन्दका नाम क्रिया है ऐसा निश्चित होता है।

क्रियाके इस लक्षणमें व्यवहार हेतुके साथ निश्चय उपादानके लिए भी निमित्त शब्द व्यवहृत हुआ है।

कहीं इन दोनोंके लिए बाह्य और आभ्यन्तर हेतु संज्ञा भी व्यवहृत हुई है (त० वा०, अ० २ सू० ८), तथा कहीं बाह्य और इतर उपाधि संज्ञा भी प्रयुक्त हुई है (स्व० स्तो० श्लो० ५९)।

इन उदाहरणोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि लौकिक या परमार्थ स्वरूप जो भी कार्य होता है उसमें व्यवहार हेतु और निश्चय हेतुका सन्निधान अवश्य होता है। यतः निश्चय हेतु (निश्चय उपादान) कार्य द्रव्यका ही एक अव्यवहित पूर्व रूप है, इसलिये वह नियमसे कार्यका नियामक स्वीकार किया गया है। किन्तु व्यवहार हेतु कार्यका अविनाभावी है, इसलिये मात्र व्यवहारसे उसे कार्यका नियामक कहा जा सकता है। फिर भी वह निश्चय हेतुका स्थान नहीं ले सकता। इन दोनोंमें विन्ध्य-हिमगिरिके समान महान् अन्तर है—'अन्तरं महदन्तरम्।' क्योंकि निश्चय हेतु कार्य-द्रव्यके स्वरूपमें अन्तर्निहित है और व्यवहार हेतु बाह्य वस्तु है, इसलिये इन दोनोंमें महान् अन्तर होना स्वाभाविक है, निश्चय हेतु कार्य द्रव्यका पूर्व रूप होनेसे सद्भूत है और व्यवहार हेतु कार्य-द्रव्यसे भिन्न होनेके कारण उसमें असद्भूत है।

३. शंका-समाधान

शंका—जब उक्त दोनों ही हेतु कार्यके प्रति नैगमनयसे स्वीकार किये गये हैं तब दोनोंका दर्जा एक समान माननेमें क्या आपत्ति है?

समाधान—आगममें सद्भूत और असद्भूत व्यवहारके भेदसे नैगमनय दो प्रकारका स्वीकार किया गया है। यत बाह्य वस्तुमें निमित्तता असद्भूत व्यवहारनयसे स्वीकार की गई है और निश्चय उपादानमें कार्यके प्रति हेतुता सद्भूत व्यवहारनयसे स्वीकार की गई है, अतः इन दोनोंको एक समान दर्जा नहीं दिया जा सकता है। मात्र हेतुता सामान्यकी दृष्टिसे दोनों ही समान है। आशय यह है कि यह इसका कार्य है

और यह इसका कारण है यह व्यवहार तो दोनों हेतुओंपर समानरूपसे लागू होता है। मात्र बाह्य हेतु और कार्य इनमें निमित्त-नैमित्तक भाव जहाँ असद्भूत व्यवहारनयसे घटित होता है वहाँ निश्चय उपादान और कार्य इनके मध्य निमित्त-नैमित्तक भाव सद्भूत व्यवहारनयसे घटित होता है।

शंका—जब कार्यके साथ निश्चय उपादानका सम्बन्ध सद्भूत व्यवहारनयसे घटित किया जाता है तो उपादानके पूर्व उसे निश्चय विशेषण क्यों दिया गया है?

समाधान—यतः प्रत्येक निश्चय उपादानमें प्रत्येक कार्यके प्रति स्वरूपसे हेतुता विद्यमान है, अतः उपादानके पूर्व उसे निश्चय विशेषण दिया गया है।

४. व्यवहाराभासियोंका कथन

यह वस्तुस्थिति है। इसके ऐसा होते हुए भी अपने इन्द्रिय प्रत्यक्ष, तर्क और अनुभवको प्रमाण मानकर तथा साथ ही आगमकी दुहाई देते हुए एक ऐसे नये मतका बुद्धिपूर्वक प्रचार किया जा रहा है कि अव्यवहित पूर्व समयवर्ती द्रव्य अनेक शक्तिसम्पन्न होता है, इसलिये कब कौन कार्य हो यह बाह्य सामग्रीपर अवलम्बित है और उसका कोई नियम नहीं कि कब कैसी बाह्य सामग्री मिलेगी, इसलिये जब जैसी सामग्री मिलती है, कार्य उसके अनुसार होता है, अतः कार्यका नियामक बाह्य निमित्त ही होता है, उक्त उपादान नहीं। इसके साथ ही बुद्धिपूर्वक एक ऐसे मतका भी प्रचार किया जा रहा है कि प्रत्येक द्रव्यकी शुद्ध पर्याय तो नियत क्रमसे ही होती है, किन्तु अशुद्ध पर्यायके सम्बन्धमें ऐसा कोई नियम नहीं है। वे नियत क्रमसे भी होती हैं और नियत क्रमको छोड़कर आगे-पीछे भी होती हैं।

इस विषयको और स्पष्ट करते हुए उनका कहना है कि जब कि आगममें उदासीन बाह्य निमित्त और प्रेरक बाह्य निमित्तोंका पृथक्-पृथक् उल्लेख दृष्टिगोचर होता है तो दोनोंको एक कोटिमें बिठलाना ठीक नहीं है। हमारा यह कहना नहीं कि जो-जो क्रियावान् पदार्थ हैं वे सब प्रेरक निमित्त हो होते हैं। उदाहरणार्थ चक्षु इन्द्रिय क्रियावान् पदार्थ होकर भी रूपोपलब्धिमें प्रेरक बाह्य निमित्त नहीं है। वह उसी प्रकारसे रूपोपलब्धिमें व्यवहार हेतु है जैसे गति करते हुए जीवों और पुद्गलोंकी गति क्रियामें धर्मद्रव्य या ठहरते हुए जीवों और पुद्गलोंके स्थित होनेमें अधर्म द्रव्य व्यवहार हेतु है। इष्टोपदेशमें 'नाज्ञो विज्ञत्वमायाति' यह कथन ऐसे ही क्रियावान् पदार्थोंकी व्यवहार हेतुताको धर्म द्रव्यके समान बतलानेके लिए किया गया है।

किन्तु इनके सिवाय आगममें ऐसे उद्धरण भी दृष्टिगोचर होते हैं जिनके आधारसे उदासीन व्यवहार हेतुओंसे अतिरिक्त प्रेरक व्यवहार हेतुओंकी स्वतंत्र रूपसे सिद्धि होती है। उदाहरणार्थ सर्वार्थसिद्धिमें द्रव्य वचन पौद्गलिक क्यों है इसकी पुष्टिमें बतलाया गया है कि भाव वचनरूप सामर्थ्यसे युक्त क्रियावान् आत्माके द्वारा प्रेर्यमाण पुद्गल द्रव्य वचनरूपसे परिणमन करते हैं, इसीलिये द्रव्य वचन पौद्गलिक है। उल्लेख इस प्रकार है—

तत्सामर्थ्योपेतेन क्रियावतात्मना प्रेर्यमाणाः पुद्गलाः वाक्त्वेन विपरिणमन्त इति द्रव्यवागपि पौद्गलकी। (अ० ५ सू० १९)।

तत्त्वार्थवार्तिकमें भी यह विवेचन इसी प्रकार किया गया है। इसके लिए देखो अ० ५, सू० १७ और १९।

इसी प्रकार पञ्चास्तिकाय (गाथा ८५ व ८८ जयसेनीया टीका) और बृहद्द्रव्यसंग्रह (गाथा १७ व २२ संस्कृत टीका) में भी ऐसे उल्लेख मिलते हैं जो उक्त कथनकी पुष्टिके लिये पर्याप्त हैं।

इस प्रकार ये कतिपय उद्धरण हैं जिनके आधारसे ऐसे प्रेरक व्यवहार हेतुओंका समर्थन होता है जो लोकमें चक्षु इन्द्रियसे विलक्षण प्रकारसे दूसरे द्रव्योंके कार्योंमें व्यवहार हेतु होते हुए देखे जाते हैं। इससे यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि यद्यपि चक्षु इन्द्रिय क्रियावान् होकर भी रूपकी उपलब्धिमें प्रेरक बाह्य हेतु भले ही न हो, किन्तु इसका कोई यह अर्थ करे कि जितने भी क्रियावान् पदार्थ है वे सब धर्मादि द्रव्योंके समान उदासीन व्यवहार हेतु ही होते हैं तो यह कथन पूर्वोक्त आगम प्रमाणोंसे बाधित हो जाता है, इन्द्रिय प्रत्यक्ष, अनुभव और युक्तिसे विचार करनेपर भी इस कथनकी सत्यता प्रमाणित नही होती। कारण कि लोकमें ऐसे बहुतसे उदाहरण दृष्टिगोचर होते हैं जिनको ध्यानमें लेनेपर व्यवहारसे प्रेरक निमित्तोकी सिद्धि होती हैं। अपने इस कथनकी पुष्टिमें वे वायुका उदाहरण विशेषरूपसे उपस्थित कर कहते है कि जिस प्रकार वायुका संचार होनेपर वह ध्वजा आदि अन्य पदार्थोंके उड़नेमें व्यवहारसे प्रेरक निमित्त होता है उसी प्रकार सभी प्रेरक निमित्तोंके विषयमे जानना चाहिए। पञ्चास्तिकाय समय व्याख्या टीकासे इसकी पुष्टि होती है। यथा—

यथा गतिपरिणतो प्रभंजनः वैजयन्तीनां गतिपरिणामस्य हेतुकर्ताऽवलोक्यते न धर्मः। स खलु निष्क्रियत्वान्न कदाचिदपि गतिपरिणाममेवापद्यते, कुतोऽस्य सहकारित्वेन परेषा गतिपरिणामस्य हेतुकर्तृत्वम्। गाथा ८८।

जिस प्रकार गतिपरिणत वायु ध्वजाओंके गतिपरिणामका हेतुकर्ता देखा जाता है, धर्म द्रव्य नही। वह वास्तवमें निष्क्रिय होनेसे कभी भी गतिपरिणामको नही प्राप्त होता, इसलिए इसका सहकारीपनेरूपसे दूसरेके गतिपरिणामका हेतु कर्तृत्व कैसे हो सकता है।

यह व्यवहारमें प्रेरक निमित्तोंका एक उदाहरण है। लोकमे ऐसे हजारों उदाहरण देखे जाते हैं, इसलिए इन सब उदाहरणोंको देखते हुए यह सिद्ध होता है कि जहाँपर निष्क्रिय पदार्थोंके समान सक्रिय पदार्थ व्यवहारमे उदासीन निमित्त होते हैं वहाँ तो प्रत्येक कार्य अपने-अपने विवक्षित निश्चय उपादानके अनुसार ही होता है और जहाँपर सक्रिय पदार्थ व्यवहारसे प्रेरक निमित्त होते है वहाँपर प्रत्येक कार्य निश्चय उपादानमें होकर भी जब जैसे व्यवहारसे प्रेरक निमित्त मिलते है वहाँ पर प्रत्येक कार्य उनके अनुसार होता है। व्यवहारसे प्रेरक निमित्तोंके अनुसार कार्य होते है इसका यह तात्पर्य नही है कि गुण-पर्यायरूप प्रत्येक उपादानभूत वस्तु अपने स्वचतुष्टयरूप स्वभावको छोडकर व्यवहारसे प्रेरक निमित्तरूप परिणम जाती है। क्योंकि स्वका उपादान और अन्यका अपोहन करके रहना यह प्रत्येक वस्तुका वस्तुत्व है। किन्तु इसका यह तात्पर्य है कि उस समय व्यवहारसे प्रेरक निमित्तोंमें जिस प्रकारके कार्योंमे प्रेरक निमित्त होनेकी योग्यता होती है, कार्य उसी प्रकारके होते है, निश्चय उपादानके अनुसार नही होते। अकाल मरण या इसी प्रकारके जो दूसरे कार्य कहे गए है उनकी सार्थकता व्यवहारसे प्रेरक निमित्तोंका उक्त प्रकारसे कार्योंका होना माननेमें ही है। आगममे अकालमरण, उदीरणा, अपकर्षण, उत्कर्षण और संक्रमण जैसे कार्योंको स्थान इसी कारणसे दिया गया है।

५. व्यवहाराभासियोंके कथनका निरसन

यह ऐसे व्यवहाराभासियोंका कथन है जो किसी विशिष्ट प्रयोजन वश सम्यक् नियतिका खण्डन करनेके लिए कटिबद्ध है। और जिन्होंने अपना लक्ष्य एकमात्र यही बना लिया है कि अपने उद्देश्यकी सिद्धिके लिए कहींपर आगमको गौण कर और कहींपर आगमके अर्थमें परिवर्तन कर आगमके नामपर अपने कथनको पुष्ट करते रहना है। ऐसा लिखकर वे जैन दर्शनसे कितने दूर जा रहे है या चले गए है इसका उन्हे रंचमात्र भी भय नही है।

१. उदाहरणार्थ 'यः परिणमति स कर्ता' का सीधा अर्थ है—'जो कार्य रूप परिणमन करता है।' किन्तु व्यवहारसे जो प्रेरक निमित्त कहे जाते हैं, कार्योंका यथार्थ कर्तृत्व उनको प्राप्त हो जाय और बाह्य वस्तु जो प्रत्येक कार्यका व्यवहार कारण है उसका तद्भिन्न द्रव्यके कार्यके प्रति कार्यकारीपना सिद्ध हो जाय, इसलिए वे उक्त श्लोकांशका 'जिसमे परिणमन होता है' यह अर्थ करते हैं।

२. दूसरा उदाहरण समयसार गाथा १०७ का है। इसमे 'आत्मा पुद्गल द्रव्यको परिणमाता है आदि व्यवहारनयका वक्तव्य है' यह कहा गया है। उसकी आत्मख्याति टीकामें आ० अमृतचन्द्र देवने ऐसे उपयोग परिणामको विकल्प बतलाकर इस विकल्पको उपचरित ही कहा है। यथा—

यत्तु व्याप्य-व्यापकभावाभावेऽपि प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च पुद्गलद्रव्यात्मकं कर्म गृह्णाति परिणमयत्युत्पादयति करोति बध्नाति चात्मेति विकल्पः स किलोपचारः ॥१०७॥

और व्याप्य-व्यापकभावका अभाव होनेपर भी प्राप्य, विकार्य तथा निर्वर्त्यरूप जो पुद्गल द्रव्यस्वरूप है उसे आत्मा ग्रहण करता है परिणमाता है, उत्पन्न करता है, करता है और बाँधता है इस प्रकारका जो विकल्प होता है वह वास्तवमे उपचार है।

किन्तु व्यवहाराभासी व्यक्ति बाह्य हेतुओंकी कार्यकारीपना सिद्ध करनेके अभिप्रायमे उक्त सूत्रगाथाका यह अर्थ करते हैं कि आत्मा पुद्गलद्रव्यका उपादान रूपसे परिणमन करनेवाला नही होता आदि। यह उन महाशयोंका कहना है। किन्तु यह कैसे ठीक नहीं है इसके लिए आगेके कथनपर दृष्टिपात कीजिये—

अत्ता कुणदि सभावं तत्थ गदा पोग्गला सभावेहिं।
अच्छंति कम्मभावं अण्णोण्णागाहमवगाढा ॥६५॥—पं० काय।

आत्मा स्वभाव (मोहादि) करता है और जीवके साथ एक क्षेत्रावगाहरूपमे वहाँ प्राप्त हुए पुद्गल स्वभावसे कर्मभावको प्राप्त होते है ॥६५॥

इस गाथा द्वारा पुद्गलकार्य जीव द्वारा किये बिना ही जीव और पुद्गल अपना-अपना कार्य स्वयं कैसे करते है यह स्पष्ट किया गया है। इस पर पुद्गल कर्मरूप अपने कार्यको जीवकी सहायताके बिना कैसे करता है यह शंका होने पर आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—

जह पुग्गलदव्वाणं बहुप्पयारेहि खंधणिप्पत्ती।
अकदा परेहिं दिट्ठा तह कम्माणं वियाणाहि ॥६६॥

जिस प्रकार पुद्गल द्रव्योंकी अनेक प्रकारसे स्कन्धोंकी उत्पत्ति परके द्वारा किये बिना होती हुई दिखलाई देती है उसी प्रकार कर्मोंकी विविधता परके द्वारा नही की गई जानो ॥६६॥

यहाँपर प्रत्येक द्रव्य अपना कार्य अन्यके द्वारा नही किये जानेपर स्वयं प्रति समय अपने कार्योका कर्ता कैसे है यह पुद्गल स्कन्धोंका उदाहरण देकर स्पष्ट किया गया है। पुद्गल स्कन्धोंके द्वयणुकसे लेकर महास्कन्ध तक नाना भेद हैं। उनमेंसे शून्य वर्गणाओंको छोडकर वे सब सत्स्वरूप है। उनमे ऐसी आहारवर्गणाएँ भी हैं जिनसे तीन शरीर और छह पर्याप्तियोंकी संरचना होती है। मनोवर्गणाएँ भी है जिनमे विविध प्रकारके मनोंकी संरचना होती है। भाषावर्गणाएँ भी है जिनसे तत, वितत आदि ध्वनियोंकी संरचना होती हैं। तैजसवर्गणाएँ भी हैं जिनमे निःसरण और अनिःसरण स्वभाव तथा प्रशस्त और अप्रशस्त तैजस शरीरोंकी संरचना होती है। कार्मणवर्गणाएँ भी है जिनमे ज्ञानावरणादि विविध प्रकारके आठ कर्मोंकी संरचना होती हैं। ये पाँचों संसारी जीवोंसे सम्बद्ध होने योग्य वर्गणाएँ हैं। प्रश्न है कि इन्हे ऐसी कौन बनाता है और इनमेंसे आहारादि पाँच वर्गणाओंमे संसारी जीवोंके साथ सम्बद्ध होनेकी पात्रता कौन पैदा करता है। क्या

वे स्वभावसे संसारी जीवोंसे सम्बद्ध होनेकी पात्रता युक्त बनती है या संसारी जीव उन्हें अपने मोह राग, द्वेष आदिसे वैसा बना लेता है। साथ ही यह विभाग कौन करता है कि इतने परमाणुओसे लेकर इतने परमाणुओं तकके स्कन्ध आहारवर्गणा योग्य होंगे आदि तथा एक प्रकारकी वर्गणाओसे दूसरे प्रकारकी वर्गणाओंके मध्य इतना अन्तर रहेगा। यदि कहो कि ये वर्गणाएँ स्वयं ही बनती और बिछुड़ती रहती है तो संसारके सब कार्य स्वयंकृत मान लेनेमे आपत्ति ही क्या है। आगमका भी यही आशय है। आचार्य कुन्द-कुन्ददेवने इसी स्वयंकृत नियमको ध्यानमें रखकर यह निर्देश किया है कि जिस प्रकार सब स्कन्धोंकी उत्पत्ति परसे न होकर स्वयं होती है उसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्मोंकी उत्पत्ति भी स्वयंकृत जाननी चाहिये। इतने कथनसे यह भी फलित होता है कि संसारी जीव अपने रागादि परिणामोको स्वयं करते है और एक क्षेत्रा-वगाहरूपसे वहाँ स्थित पुद्गल कार्मणवर्गणाएँ स्वयं कर्मरूप परिणमती रहती है। इससे आगममे व्यवहार और निश्चयनयकी अपेक्षा जो षट्कारक व्यवस्था बतलाई गई हैं उसका आशय भी भले प्रकार समझमे आ जाता है। साथ ही यह भी समझमे आ जाता है कि आचार्योंने व्यवहार कथनीको क्यों तो उपचरित बतलाया और निश्चय कथनीको क्यो परमार्थ स्वरूप बतलाया। प्रकृतमे जो जिसका न हो उसको व्यवहार प्रयोजन वश या व्यवहार हेतु वश उसका कहना व्यवहार है तथा जो जिसका हो उसको निश्चय प्रयोजन या निश्चय हेतुवश उसीका कहना निश्चय है। संसारी जीवोके रागादिकी उत्पत्तिके मोहनीय आदि कर्म व्यवहार हेतु हैं, अतः इन रागादिको नैमित्तिक कहना व्यवहार है तथा इन रागादिको स्वकालके प्राप्त होनेपर ससारी जीव स्वयं उत्पन्न करते है और उदयादिरूप पुद्गल कर्म उनके होनेमे स्वयं व्यवहार हेतु होते हैं, इतना विशेष है कि निश्चयनयका कथन पर निरपेक्ष होता है क्योकि वह वस्तुका स्वरूप है। किन्तु व्यवहार नयका कथन पर सापेक्ष होता है, क्योकि वह वस्तुका स्वरूप नही है। अतः रागादिको संसारी जीवोंका स्वयंकृत कार्य कहना निश्चय है। और पर निमित्तक कहना व्यवहार है। आगमज्ञ उसीका नाम है जो व्यवहारको व्यवहारनयसे ही स्वीकारता है और निश्चयको निश्चयनयसे ही स्वीकारता है। किन्तु जो उक्त कथनको विपरीतरूपसे जानते या कहते है वे आगमज्ञ कहलानेके अधिकारी नही है। इस तथ्यका समर्थन समयसार गाथा ४१४ की आत्मख्याति टीकाके इस वचनसे भले प्रकार होता है—

ततो ये व्यवहारमेव परमार्थबुद्धया चेतयन्ते ते समयसारमेव न संचेतयन्ते। य एव परमार्थं परमार्थबुद्धया चेतयन्ते त एव समयसारं चेतयन्ते।

इसलिये जो व्यवहारको ही परमार्थ बुद्धिसे अनुभवते है वे अकेले समयसारको नही अनुभवते तथा जो मात्र परमार्थको परमार्थ बुद्धिसे अनुभवते है वे ही समयसारको अनुभवते हैं।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहार कथन व्यवहार स्वरूप ही है उसे वस्तु स्वरूप या वस्तुके कार्यका निश्चय कारण मानना आगमविरुद्ध है। इसलिए बाह्य कारण सहायक है यह कहना भी व्यवहार अर्थात् उपचरित (कल्पना मात्र) हो जाता है।

यदि हम निमित्तपनेकी दृष्टिसे सविकल्प योगयुक्त अज्ञानी जीव और तदितर बाह्य कारणोंको देखते है तो उनमे कोई अन्तर नही रह जाता है। केवल बाह्य-व्याप्तिके आधारपर कालप्रत्यासत्तिवश उक्त जीवोंमे कर्तापनेका तथा अन्यमे करणता आदिका व्यवहार किया जाता है। आचार्य अमृतचन्द्रने इस तथ्यको स्पष्ट करनेके अभिप्रायसे समयसार गाथा ८४ की आत्मख्याति टीकामे घटोत्पत्तिके प्रति कुम्भकारके योग और विकल्पको घट निर्माणकी क्रिया न कहकर उसे मिट्टीको उस क्रियाके प्रति अनुकूल कहा है जब कि प्रत्येक वस्तु स्वभावसे किसीके अनुकूल और प्रतिकूल होती नही। अनुकूल या प्रतिकूल कहना यह मात्र व्यवहार है। तात्पर्य यह हुआ कि मिट्टी स्वयं कर्ता होकर घटकी उत्पत्ति रूप क्रिया करती है और कुम्भकारका योग

और विकल्प रूप व्यापार व्यवहारसे उसके अनुकूल होता है। अतः यही मानना उचित है कि कार्यकी उत्पत्ति होती तो है अपने निश्चय उपादानके स्वसमयमें प्राप्त होनेपर स्वयकृत ही, पर उसमें जो सविकल्प क्रियावान् अज्ञानी जीव और तदितर क्रियावान् पदार्थ अन्वय व्यतिरेकरूप बाह्य व्याप्तिवश स्वकालके प्राप्त होनेपर व्यवहार हेतु होते हैं उनकी वह व्यवहार हेतुता धर्मादि द्रव्योंके समान ही जाननी चाहिए। वे अपनी-अपनी उक्त विशेषता द्वारा दूसरे निष्क्रिय धर्मादि द्रव्योंके समान ही व्यवहार हेतु होते हैं यह तथ्य पूर्वोक्त कथनसे तो स्पष्ट है ही। निष्क्रिय पदार्थ दूसरोंके क्रिया लक्षण अथवा परिणाम लक्षण कार्योंमें यथासम्भव किस प्रकार व्यवहार हेतु होते हैं इसका स्पष्टीकरण करते समय जो सर्वार्थसिद्धिका उद्धरण दे आये है उससे भी स्पष्ट है। उक्त उल्लेखमें जहाँ धर्मादि द्रव्योंकी व्यवहार हेतुताको क्रियावान् चक्षु इन्द्रियकी व्यवहार हेतुताके समान बतलाया गया है वहां उसमें यह भी सिद्ध हो जाता है कि सविकल्प क्रियावान् अज्ञानी जीव और तदितर क्रियावान् पदार्थोंकी व्यवहार हेतुता धर्मादि द्रव्योंके समान ही होती है। और इसीलिए आचार्य पूज्यपादने जिस प्रकार धर्म द्रव्यको अन्यकी गतिमें व्यवहार हेतु कहा है, उसी प्रकार अन्य सब व्यवहार हेतु होते हैं इस तथ्यको इष्टोपदेशमें 'नाज्ञो विज्ञत्वमायाति' इत्यादि कथन द्वारा अन्य सब पदार्थोंकी व्यवहार हेतुताको निष्क्रिय धर्म द्रव्यकी व्यवहार हेतुताके समान स्वीकार किया है।

निश्चय उपादान और व्यवहार निमित्त इन दोनोंका प्रति समय किस प्रकार योग मिलता है इसका समर्थन स्वामी कार्तिकेयकी द्वादशानुप्रेक्षामें भले प्रकार हो जाता है। यथा—

णिय-णियपरिणामाण णिय-णियदव्वं पि कारणं होदि।
अण्णं बाहिरदव्वं णिमित्तमत्तं वियाणेह ॥२१७॥

सब द्रव्य अपने-अपने परिणामके निश्चय उपादान कारण होते हैं, अन्य बाह्य द्रव्यको निमित्त मात्र जानो ॥२१७॥

वस्तुतः आगममें जहाँ भी निश्चयसे कार्यकी नियामकता स्वीकार की गई है वहाँ मात्र निश्चय उपादानको ही प्रधानता दी गई है। असद्भूत व्यवहारनयसे काल प्रत्यासत्तिवश अवश्य ही निश्चयकी सिद्धिके अभिप्रायसे व्यवहार हेतुको स्थान मिला हुआ है। प्रकृतमें निश्चयकी सिद्धिका अर्थ है प्रति क्षण निश्चय उपादानके होनेपर अगले समयमें जो कार्य हो उसको अपने अन्वय-व्यतिरेकके द्वारा कालप्रत्यासत्तिवश सूचित करे। बस बाह्य कारण या असद् व्यवहार हेतुका इतना ही काम है। वह निश्चय उपादानके कार्यमें दखल दे यह उसका कार्य नहीं है। हम इस तथ्यको न भूलें यही जैन दर्शनका आशय है। इससे अन्य मानना वह जैनदर्शन नहीं होगा। किन्तु विश्वको कर्तारूपसे माननेवाला ईश्वरवादी दर्शन होगा।

६ अन्य दर्शनोंका मन्तव्य

अपने इस कथनकी पुष्टिमें हम सर्व प्रथम नैयायिक दर्शनको लेते हैं। नैयायिक दर्शन कार्यकी उत्पत्तिमें समवायी कारण, असमवायी कारण और निमित्त कारण ये तीन कारण मानता है। जिसमें समवेत होकर कार्य उत्पन्न होता है वह समवायी कारण है, संयोग आदि असमवायी कारण है। इन दोनोंसे अतिरिक्त निमित्त कारण है। नैयायिक दर्शन आरम्भवादी या असत् कार्यवादी दर्शन है। वह कारणमें कार्यकी सत्ता स्वीकार नहीं करता और न ही स्वरूपसे वस्तुको द्रव्यदृष्टिसे नित्य और पर्याय दृष्टिसे अनित्य ही मानता है। इसलिये उस दर्शनमें निमित्त कारणपर अधिक जोर दिया गया है। यद्यपि उस दर्शनमें प्रेरक निमित्त कारण और उदासीन निमित्त कारण ऐसे भेद दृष्टिगोचर नहीं होते, फिर भी वह सभी निमित्त कारणोंके मध्य कर्तारूपसे ईश्वरको सर्वोपरि मानता है। इसलिए इस दर्शनमें ईश्वरके अतिरिक्त अन्य सब उदासीन निमित्त कारण

हो जाते हैं। यतः इस दर्शनमें कर्ताके लक्षणमे ज्ञान, क्रिया और चिकीर्षाको समाहित किया गया है, इसलिए जड और चेतन सम्बन्धी सभी कार्य मे उसकी प्रधानता हो जाती है। इस दर्शनमे निमित्तोंके उक्त प्रकारसे भेद किये बिना भी उक्त प्रकारका विभाजन स्पष्ट प्रतीत होता है। संक्षेपमे यह नैयायिक दर्शनका कथन है। वैशेषिक दर्शनकी मान्यता भी इसी प्रकार की है।

बौद्धदर्शन अनात्मवादी दर्शन होनेके साथ वह क्षणिणवादपर आधृत है। वह अन्वयी द्रव्यको स्वीकार नही करता। फिर भी ज्ञानकी उत्पत्तिके समनन्तर प्रत्यय, अधिपति प्रत्यय, आलम्बन प्रत्यय और सहकारी प्रत्यय[1] ये चार कारण स्वीकार करनेके साथ उसने अन्य कार्योंके हेतु (मुख्य हेतु) और प्रत्यय (गौण) ये दो कारण स्वीकार किये हैं। यह असत्कार्यवादी दर्शन है फिर भी समनन्तर प्रत्ययके आधारपर यह उपादान-उपादेय भावको स्वीकार करता है।

अव्यवहित पूर्ववर्ती ज्ञानक्षण समनन्तर प्रत्यय है, इन्द्रियाँ अधिपति प्रत्यय है, विषय आलम्बन प्रत्यय हैं तथा प्रकाश आदि अन्य सब कारण सहकारी प्रत्यय है। प्रत्येक समयके ज्ञानकी उत्पत्तिके ये चार कारण है।

अन्य कार्योंकी उत्पत्तिके दो कारण होते हैं। उनमेंसे बीज आदिको हेतु कहते हैं और प्रत्येक समयके कार्योंकी उत्पत्तिके भूमि आदि अन्य कारणोंको प्रत्यय कहते है। किसीकी अपेक्षा करके ही कार्यकी उत्पत्ति होती है, इसलिए मूलतः यह सापेक्षवादी दर्शन है। इसलिए इसका नाम प्रतीत्य समुत्पाद भी है।[2]

साख्य सत्यकार्यवादी दर्शन है। यह कारणमे कार्योंकी सर्वथा सत्ता स्वीकार कर उनका आविर्भाव तिरोभाव मानता है। उसका कहना है कि प्रत्येक कार्यके लिये पृथक्-पृथक् उपादानका ग्रहण होता है, सबसे सब कार्योंकी उत्पत्ति नही देखी जाती। आकाश कुसुम आदि असत्से कार्यकी उत्पत्ति नही होती, शक्यसे ही शक्य कार्यकी उत्पत्ति होती है और प्रत्येक कार्यका कारण अवश्य होता है। इससे विदित होता है कि नियत कारणसे ही नियत कार्यकी उत्पत्ति होती है। इस दर्शनने आविर्भाव और तिरोभाव मानकर भी उपादानसे भिन्न कारणोपर जरा भी बल नही दिया है। इसकी मान्यता है कि मूलमे प्रकृति और पुरुष दो ही तत्त्व है जो सर्वथा नित्य है। इसके बाद भी वह आविर्भाव और तिरोभावके आधारपर कार्य कारण भावको स्वीकार करता है। उसके मतसे सब कार्य जैसे हम देखते है उसी रूपमे पहलेसे ही विद्यमान है। मात्र वे अपने-अपने कालमे उजागर हो जाते है और अपने-अपने कालमे ओझल हो जाते है।

यह तीन दर्शनोंका मन्तव्य है। नैयायिक दर्शन कार्यमे कारणकी सत्ता न माननेके कारण कार्य-कारणकी मुख्यतासे अन्य निमित्तवादी दर्शन है। ईश्वरकी कर्ताके रूपमे स्वतंत्र सत्ता भी उसने इसी कारण स्वीकार की है। मेघादि अजीव कार्योंका बनना-बिगडना, बरसना, बिजलीका उत्पन्न होना, चमकना आदि समस्त कार्य अन्य पुरुषकृत न होकर भी ईश्वराधिष्ठित होकर ही कार्यरूप परिणत होते है। ईश्वर सब कार्योंका साधारण कारण है। उसके बिना पत्ता भी नहीं हिल सकता।

बौद्ध दर्शन क्षणिकवादी दर्शन है। यह कारणमें कार्यकी सत्ता स्वीकार नही करता, इस दर्शनमें भी स्वभावसे कार्योंकी उत्पत्ति मे अन्य निमित्तोंको मुख्यता मिल जाती है। क्षणिकवादी दर्शन होनेसे यह कार्योंकी उत्पत्ति अन्य निमित्त सव्यपेक्ष मानकर भी व्ययको सर्वथा निरपेक्ष मानता है।

---

१. चत्वारः प्रत्ययाः हेतुः आलम्बनमनन्तरम्।
तथैवाधिपतेयं च प्रत्ययो नास्ति पञ्चमः॥ —माध्यमिककारिका १।२।

२. अस्मिन् सति इदं भवति। हेतुप्रत्ययसापेक्षो भावनामुत्पादः प्रतीत्यसमुत्पादः।

एक सांख्यदर्शन ऐसा है जिसकी अन्य निमित्तवादी दर्शनोंमें परिगणना नहीं होती। कारण कि वह कारणोंके समान कार्योंकी भी सर्वथा सत्ता स्वीकार करता है। मात्र कार्यका आविर्भाव-तिरोभाव होना मानता है।

७. जैन दर्शनका मन्तव्य

यह उक्त तीन दर्शनोंके मन्तव्योंका स्पष्टीकरण है। अब इसके प्रकाशमें जैन दर्शनके मन्तव्योंपर दृष्टिपात करते हैं। यह न तो सर्वथा नित्यवादी दर्शन है और न सर्वथा अनित्यवादी ही। वस्तु स्वरूपमें परिणामी नित्य है यह इसका मन्तव्य है। इसलिए प्रत्येक समयमें होनेवाला परिणाम परमार्थसे परनिरपेक्ष स्वयं होता है। जिस समय जो परिणाम होता है उससे पहले और बादमें द्रव्यदृष्टिसे वह सत् है और पर्याय दृष्टिसे असत् है। तथा अपने कालमें पर्याय दृष्टिसे भी सत् है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए पञ्चास्तिकायमें कहा भी है—

देव-मनुष्यादिपर्यायास्तु क्रमवर्तित्वादुपस्थिताऽतिवाहिताहिताहितस्वसमया उत्पद्यन्ते विनश्यन्ति चेति। गा० १८ समयव्याख्या।

देव और मनुष्यादि पर्यायें क्रमवर्ती होनेसे अपना-अपना समय प्राप्त होने और निकल जानेपर उत्पन्न होती है और व्ययको प्राप्त होती हैं। इस विषयमें स्वामि-कार्तिकेयानुप्रेक्षाका यह वचन भी द्रष्टव्य है—

कालाइलद्धिजुत्ता णाणासत्तीहि संजुदा अत्था।
परिणममाणा हि सयं ण सक्कदे को वि वारेदुं ॥२१९॥

कालादि लब्धियोंसे युक्त तथा नाना शक्तियोंसे संयुक्त पदार्थ स्वयं परिणमन करते है इन्हें कौन वारण कर सकता है ॥२१९॥

तेसु अतीदा णंता अणंतगुणिदा य भाविपज्जाया।
एक्को वि वट्टमाणो एत्तियमेत्तो वि सो कालो ॥२२१॥

द्रव्योंकी उन पर्यायोंमेंसे अतीत पर्यायें अनन्त है, भावी पर्यायें उनसे अनन्तगुणी है और वर्तमान पर्याय एक है। सो जितनी ये अतीत, भावी और वर्तमान पर्यायें है उतने ही कालके समय है ॥२२१॥

आशय यह है कि प्रत्येक द्रव्यकी तीनों कालसम्बन्धी जितनी पर्यायें है, कालके समय भी उतने ही है। न्यूनाधिक नही। प्रत्येक वस्तुका यह स्वय सिद्ध स्वभाव है कि प्रत्येक नियत समयमें नियत पर्याय ही स्वयं होती है और उस समयके व्ययके साथ उस पर्यायका भी व्यय हो जाता है। इस क्रमको कोई अन्यथा नही कर सकता।

प्रत्येक वस्तु अनेकान्तस्वरूप है इसे स्पष्ट करते हुए जिस स्वचतुष्टयकी अपेक्षा वस्तुको सत्स्वरूप प्रसिद्ध किया गया है उसमे स्वकाल और कोई नही, यही है।

८. शंका-समाधान

शंका—यद्यपि प्रत्येक वस्तुकी प्रति समयकी पर्याय प्रत्येक वस्तुका उसी प्रकार स्वरूप है जिस प्रकार सत्त्व आदि सामान्य धर्म प्रत्येक वस्तुके स्वरूप है इसमें सन्देह नही। हमारा विवाद स्वरूपके विषयमें नही है, किन्तु हमारा विवाद पर्याय स्वरूपके उत्पत्तिके विषयमें है। हमारा कहना तो इतना ही है कि प्रत्येक वस्तुकी प्रति समयकी पर्यायकी उत्पत्ति परकी सहायतासे ही होती है। देखा भी जाता है कि मिट्टी घटरूप तभी परिणमती है जब उसे कुम्भकारके अमुक प्रकारके व्यापारका सहयोग मिलता है। जिनागममें बाह्य निमित्तोंकी स्वीकृतिका प्रयोजन भी यही है। अतः कार्य-कारणकी मीमांसा करते समय इसका अपलाप नही करना चाहिए?

समाधान — प्रश्न महत्त्वका है इसपर सांगोपांग विचार तो कर्ताकर्म मीमांसा अधिकारमें ही करेंगे, फिर भी सामान्यसे उसपर दृष्टिपात कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। प्रश्न यह है कि जो बाह्य निमित्त है वह अन्य द्रव्यके कार्य कालमें स्वयं अपनी परिणामलक्षण या उसके साथ परिस्पन्दलक्षण क्रिया करता है या अन्य-की क्रिया करता है ? यदि स्वयं अपनी ही क्रिया करता है तो अन्यके कार्यमें वह सहायक किस प्रकार होता है ? जब कि वह स्वयं अपनी ही क्रियामें व्यापृत रहता है तो वह अन्य द्रव्यकी क्रिया जब कर ही नहीं सकता तब वह अन्य द्रव्यके कार्यमें वास्तवमें सहायक ही कैसे हो सकता है, अर्थात् नहीं हो सकता यही निश्चित होता है। और यदि अपनी उक्त दोनों प्रकारकी क्रियाओंको छोड़कर अन्य द्रव्यके कार्यमें व्याप्त रहता है तो वह स्वयं अपरिणामी हो जाता है। इन दोनों प्रकारकी आपत्तियोंसे बचनेका एकमात्र यही उपाय है और वह यह कि परमार्थसे न तो एक द्रव्य अपने कार्यको छोड़कर अन्य द्रव्यके कार्यमें निमित्त ही होता है और न ही वह उस कार्यके होनेमें परमार्थसे कुछ सहायता ही करता है। मात्र अन्वयव्यतिरेकके आधारपर काल प्रत्यासत्तिवश यह व्यवहार किया जाता है कि इसने इसका कार्य किया या यह इसके कार्यमें सहायक है। सच पूछा जाय तो निमित्तवाद जहाँ अन्य निमित्तवादी दर्शनोंका अन्तरात्मा है, वहाँ जैनदर्शनमें वह बाह्य कलेवरमात्र है। इसी तथ्यको आचार्य पूज्यपादने भी सर्वार्थसिद्धिमें व्रतोंको लक्ष्य कर स्पष्ट शब्दोंमें स्वीकार किया है। वे लिखते हैं—

तत्र अहिंसाव्रतमादौ क्रियते, प्रधानत्वात्। सत्यादीनि हि तत्परिपालनार्थानि सस्यस्य वृत्ति-परिक्षेपवत्।—अ० ६, सू० १।

यहाँ पाँच व्रतोंमें अहिंसा व्रतको आदिमें रखा है, क्योंकि वह सब व्रतोंमें मुख्य है। धान्यके खेतके लिए जैसे उसके चारों ओर बाड़ी होती है उसी प्रकार सत्यादिक सभी व्रत अहिंसाके परिपालनके लिए है।

देखो, यहाँ अहिंसा व्रतको खेतमें उपजी धान्यकी उपमा दी है और सत्यादिक चार व्रतोंको व्यवहारसे उसकी सम्हालके लिए बाड़ी बतलाया है। यह तो प्रत्येक स्वाध्याय प्रेमी जानता है कि प्रकृतमें अहिंसा और सत्यादि दोनों आत्माके शुभ परिणाम है। इस प्रकार एक आत्मपनेकी अपेक्षा दोनोंमें अभेद होने पर भी आचार्यने भेद विवक्षामें अहिंसाको कार्य और सत्यादिकको उसके बने रहनेका व्यवहार हेतु (निमित्त) कहा है।

इसी प्रकार संवर स्वरूप व्रतोंमें और प्रशस्त राग स्वरूप व्रतोंमें क्या अन्तर है इसे स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं—

व्रतेषु हि कृतपरिकर्मा साधुः सुखेन संवरं करोतीति ततः पृथक्त्वेन उपदेशः क्रियते।

—सर्वा० अ० ७, सू० १।

व्रतोंमें दृढ़प्रतिज्ञ हुआ साधु सुख पूर्वक संवर करता है, इसलिये यहाँ व्रतोंका संवररूप व्रतोंसे पृथक् उपदेश करते है।

यही अभिप्राय आचार्य अकलंक देवने तत्त्वार्थवार्तिकमें भी व्यक्त किया है। आचार्य विद्यानन्द तो व्रतोंको संवरसे पृथक् बतलाते हुए लिखते है—

न संवरो व्रतानि, परिस्पन्ददर्शनात् गुप्त्यादिसंवरपरिकर्मत्वाच्च।—त० श्लो० अ० ६ सू० १।

व्रत संवरस्वरूप नहीं है, क्योंकि व्रतोंमें मन, वचन और कायकी प्रवृत्ति देखी जाती है तथा वे मन, वचन और कायकी निवृत्तिरूप गुप्ति आदि संवरके परिकर्मस्वरूप है।

इन आचार्योंका यह ऐसा कथन है जिससे बाह्य निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। इस कथनसे एक बात तो यह स्पष्ट हो जाती है कि पञ्चेन्द्रियोंके विषयोंका लोलुपी व्यक्ति या जीवनमें

सहायकरूपसे जिसने मकान, धनसम्पदा आदिको प्रमुख स्थान दे रखा है वह तो वीतराग मोक्षमार्गका अधिकारी किसी भी अवस्थामें नहीं हो सकता, जो व्रती होनेपर भी उनके अहंकारसे ग्रस्त है वह भी उक्त प्रकारके मोक्ष-मार्गका अधिकारी नहीं हो सकता। हाँ जिसकी स्वभावसे विषयोंमें अरुचि हो गई है और जो बाह्याभ्यन्तर परि-ग्रहके बड़प्पनसे मुक्त है वही वीतरागमय संवररूप होनेका अधिकारी है। दूसरी बात यह स्पष्ट हो जाती है कि बाह्य निमित्त अन्यके कार्यका किंचित्कर तो होता नहीं। मात्र बाह्य व्याप्तिवश अन्यके कार्यकी बाह्य भूमिका कैसी रहती है इसका स्पष्टीकरण करके विवक्षित कार्यके होनेकी सूचना करता रहता है। इसका आशय यह है कि वीतरागरूप कार्य हो तो ही व्रतादिकमें निमित्तका व्यवहार है, अन्यथा नहीं। श्वेताम्बर परम्परासे दिगम्बर परम्परामें यही मौलिक भेद है। श्वेताम्बर परम्पराका कहना है कि व्यवहाररूप व्रतोंका पालन करते-करते परमार्थ स्वरूप निश्चयकी प्राप्ति हो जाती है। वे यह भी कहते हैं कि मूर्च्छाका त्याग अपरिग्रहव्रत है, वस्त्रादिकका ग्रहण-त्याग परिग्रह नहीं है। किन्तु यह आबाल-गोपाल प्रसिद्ध है कि वस्त्रादिकके ग्रहण-त्यागकी इच्छाके बिना उनका ग्रहण-त्याग नहीं हो सकता। यदि ऐसी इच्छाके बिना भी उनका ग्रहण-त्याग होता है तो मकान आदि दश प्रकारके बाह्य त्यागकी आवश्यकता ही क्या रह जाती है। और फिर प्रत्येक गृहस्थ बाह्य दश प्रकारके परिग्रहकी मर्यादा करके शेषका त्याग ही क्यों करे और बाह्य परिग्रहका पूर्ण त्याग करके तथा इसके साथ उसमें मूर्च्छा न रखकर साधु ही क्यों बने। फिर तो सम्पूर्ण परिग्रहके सद्भावमें साधु कहलानेमें आपत्ति ही क्यों मानी जाय। पिछी, कमण्डलु और शास्त्र भी परिग्रह है इसमें सन्देह नहीं। फिर भी चरणानुयोग परमागममें प्रयोजन विशेषको ध्यानमें रखकर उनके ग्रहणका उपदेश है। उसमें भी शास्त्रके लिए यह नियम है कि स्वाध्यायकी दृष्टिसे १-२ शास्त्रोंको ही साधु स्वीकार करे और उनका स्वाध्याय पूरा होनेपर उनको भी जहाँ स्वाध्याय पूरा हो जाय वहीं विसर्जित कर दे। किन्तु इन तीनको छोड़कर ऐसा कोई कारण तो नहीं दिखलाई देता कि वह उन्हें स्वीकार करे। इस विवेचनसे स्पष्ट है कि जितने भी बाह्य निमित्त आगममें कहे गये हैं वे अन्य द्रव्यके कार्योंके बाह्य निमित्त होकर भी परमार्थसे उनके कार्योंके अणुमात्र भी कर्ता नहीं होते। मात्र उनमें लौकिक दृष्टिको ध्यानमें रखकर अन्वय-व्यतिरेकके आधारपर अहं कर्ता इस प्रत्ययसे ग्रसित और कार्योंके लिये प्रयत्नशील अज्ञानी जीवोंमें ही कर्तापनेका व्यवहार किया जाता है, अन्यमें नहीं।

देखो, यह शुभ राग और निश्चय रत्नत्रय एक आत्मामें अपने अपने कारणोंसे एक साथ जन्म लेते हैं, पर जहाँ शुभ भावको ही वीतराग भावका कर्ता स्वीकार नहीं किया गया वहाँ अत्यन्त भिन्न बहिर्द्रव्य अन्यके कार्यका कर्ता कैसे हो सकता है। इस विषयको स्पष्ट रूपसे समझनेके लिए समयसार मोक्ष अधिकारकी ये सूत्रगाथाएँ द्रष्टव्य हैं—

बंधाणं च सहावं वियाणिओ अप्पणो सहावं च।
बंधेसु जो विरज्जदि सो कम्मविमोक्खणं कुणइ ॥२९३॥
जीवो कम्मं य तहा छिज्जंति सलक्खहेहिं णियएहिं।
पण्णाछेदणएण उ छिण्णा णाणत्तमावण्णा ॥२९४॥

बन्ध (राग) के स्वभावको और आत्माके स्वभावको जानकर बन्धों (रागादि भावों) से जो विरक्त होता है वह कर्म (रागादि भावों) से विरक्त हो जाता है ॥२९३॥

जीव और रागादिरूप बन्ध अपने-अपने स्वलक्षणोंके द्वारा इस प्रकार छेदे जाते हैं जिससे वे प्रज्ञारूपी छैनीसे छिन्न होकर नानापनेको प्राप्त हो जाते हैं ॥२९४॥

नानापनेको प्राप्त हो जाते हैं इसका अर्थ है कि रागादि भावों और आत्मामें जो एकपनेकी बुद्धि थी वह दूर हो जाती है।

आत्माका लक्षण ज्ञायकस्वरूप आत्माको लक्ष्य कर प्रवृत्त हुई सहभावी और क्रमभावी पर्यायोंसे अन्तर्लीनपनेको प्राप्त हुआ चैतन्य भाव है और बन्धका लक्षण आत्मद्रव्यमें असाधारणरूपसे प्राप्त हुए रागादि भाव हैं। इस प्रकार ये दोनों लक्षण भेदसे अत्यन्त भिन्न-भिन्न हैं। इनके मध्य अत्यन्तसूक्ष्म सन्धि है। उस सन्धिको समझकर जो उसमें अपनी प्रज्ञाछैनीको अनन्त पुरुषार्थसे पटक कर अपने चैतन्यस्वरूप आत्मासे रागादि भावोंको जुदा करता है वह नियमसे कर्मोंसे विरक्त होकर परमार्थका भागी होता है। संसार परिपाटीसे छूटनेका एकमात्र यही उपाय है। इसी तथ्यके समर्थक आत्मख्यातिके इन शब्दोंपर दृष्टिपात कीजिए—

...... सहजविजृम्भमाणचिच्छक्तितया यथा यथा विज्ञानघनस्वभावो भवति तथा तथाऽऽस्रवेभ्यः निवर्तते। यथा यथास्रवेभ्यश्च निवर्तते तथा तथा विज्ञानघनस्वभावो भवतीति।

—सा० गा० ७४।

सहज बढ़ी हुई चेतनारूप शक्तिपनेसे जैसे-जैसे (आत्मा) विज्ञानघन स्वभाव होता है वैसे-वैसे (वह) रागादिरूप आस्रवोंसे जुदा होता है। जैसे-जैसे आस्रवोंसे जुदा होता है वैसे-वैसे विज्ञानघन स्वभाव होता है।

प्रवचनसार गाथा ४५ की तात्पर्य वृत्ति टीकाका यह वचन भी इसी अर्थको व्यक्त करता है—

द्रव्यमोहोदयेऽपि सति यदि शुद्धात्मभावनाबलेन भावमोहेन न परिणमति तदा बन्धो न भवति।

द्रव्य मोहके उदय रहने पर भी यदि आत्मा शुद्धआत्मा (त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव आत्मा) की भावनाके बलसे भावमोहरूपसे परिणमन नहीं करता है तब बन्ध नहीं होता है।

सातवें गुणस्थान तक क्षयोपशम सम्यग्दर्शनके कालमें भी यथासम्भव सविकल्प और निर्विकल्प दोनों अवस्थाओंमें मिथ्यादृष्टिके होनेवाले कर्मोंका बन्ध नहीं होता। यदि कहा जाय कि यहाँ मिथ्यादर्शन कर्मका उदय नहीं है सो यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि सम्यक् प्रकृति भी मिथ्यादर्शन कर्मका ही अंश है। इतना अवश्य है कि उसमें आत्माके निश्चय सम्यग्दर्शनरूप स्वभावपर्यायके नष्ट होनेमें बाह्य निमित्तरूप होनेकी क्षमता नहीं है। यही कारण है कि उस समय शुद्धात्माकी भावना होनेसे या उसके बलसे उत्पन्न हुए निश्चय सम्यग्दर्शन आदि रूप परिणामके होनेमात्रसे सम्यक् प्रकृतिके उदय रहते हुए भी जीवके तन्निमित्तक किसी भी कर्मका बन्ध नहीं होता। इतना ही क्यों? जब यह जीव मिथ्यात्व गुणस्थानमें भी क्षयोपशमलब्धि आदि रूप परिणामोंके सन्मुख होता है तब उसके भी मिथ्यात्व गुणस्थानमें मिथ्यादर्शन निमित्तक बहुत सी कर्म प्रकृतियोंका क्रमसे बन्धापसरण होकर बन्ध व्युच्छित्ति हो जाती है और जब तक यह जीव ऐसी योग्यता सम्पन्न रहता है उनका बन्ध नहीं होता और करणलब्धिका बल पाकर मिथ्यादर्शन प्रकृतिका उदय-उदीरणा भी क्रमसे हीन बल होती हुई मिथ्यात्व गुणस्थानके अन्तिम समय तक ही उसका उत्तरोत्तर अत्यन्त क्षीण उदय होता जाता है। यह सब क्या है? क्या यह अपने त्रिकाली ज्ञायक स्वभाव आत्माकी भावनाका बल नहीं है? एकमात्र उसीका बल है जिससे यह जीव दृष्टिमुक्त हो जाता है। सातवें गुणस्थानसे लेकर आगे भी द्रव्य मोहका उदय रहते हुए भी यह जीव शुद्धात्माकी भावनाके बलसे क्रमसे कर्मोंकी न केवल हानि करता है किन्तु उसकी यथासम्भव प्रकृतियोंका क्रमसे उपशम और क्षय भी करता जाता है। इस भावनामें ऐसी कोई अपूर्व शक्ति है जिसके बलसे यह जीव क्रमसे संसारका अन्त करनेमें समर्थ होता है। वस्तुतः आचार्य जयसेन शुद्धात्मभावनाकी इसी सामर्थ्यको हृदयंगम कर उक्त प्रकारसे उसकी प्ररूपणा करनेमें समर्थ हुए।

एक बात और है जो प्रकृतमें मुख्य है। और वह यह कि स्वभाव प्राप्त जीवके जब जितनी भी विशुद्धि प्राप्त होती है वह किसी भी कर्मबन्धका हेतु नहीं है। प्रकृतमें आचार्य जयसेनने 'द्रव्यमोहोदये सत्यपि'

इत्यादि वचन इसी अभिप्रायको व्यक्त करनेके लिए दिया है यह तथ्य है। प्रकृतमें द्रव्यमोह पदसे सामान्य मोहनीय कर्मका ग्रहण किया है। पहले जो कुछ भी लिख आये हैं उसमें भी यही दृष्टि है।

इस प्रकार प्रत्येक कार्यके प्रति उपादान-उपादेय भावसे अन्तर्व्याप्तिका और निमित्त-नैमित्तिक भावसे बहिर्व्याप्तिका समर्थन होने पर भी बहुतसे व्यवहारैकान्तवादी इन दोनोंके योगको स्वीकार न कर अपने ऐन्द्रियिक श्रुतज्ञानके बलपर वैभाविक कार्योंका अनियमसे सिद्ध होना बतलाते हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदायने जैसे सवस्त्र मुनिमार्गका समर्थन करनेके लिए वस्त्रको परिग्रहसे पृथक् कर दिया और उसकी पुष्टिमें स्त्रीमुक्तिको आगम कह कर स्त्रीलिंग, अन्य लिंग या गृहस्थ लिंगसे मुक्तिको स्वीकार कर लिया। लगभग ठीक यही स्थिति इन व्यवहारैकान्तवादियों की है। इन्हें मात्र सम्यक् नियतिका भी एकान्त कह कर उसका खण्डन करना है। इसके लिए उन्होंने यह मार्ग चुना कि जितनी स्वभाव पर्यायें हैं वे तो क्रमसे अपने-अपने समयमें ही होती हैं। पर विभाव पर्यायोंके विषयमें यह नहीं कहा जा सकता। कौन पर्याय कब होगी इसका कोई नियम नहीं किया जा सकता।

९. उक्त एकान्त मतकी पुनः समीक्षा

किन्तु उनका यह कथन कैसे आगम विरुद्ध है इसकी हम संक्षेपमें कुछ आगम प्रमाण देकर पुनः समीक्षा करेंगे। स्वामी समन्तभद्रने सम्यक् देवकी परीक्षा प्रधान अपने आप्तमीमांसा ग्रन्थमें संसारी जीवोंके प्रत्येक कार्यकी अपेक्षा दैव और पुरुषार्थके युगपत् योगको गौण मुख्य भावसे कैसे स्वीकार किया है इस पर दृष्टिपात कीजिए—

अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः।
बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात् ॥९१॥

अबुद्धिपूर्वक अर्थकी प्राप्तिकी विवक्षामें प्रत्येक इष्ट और अनिष्ट अर्थका सम्पादन दैवके बलसे होता है तथा बुद्धिपूर्वक अर्थकी प्राप्तिकी विवक्षामें इष्ट और अनिष्ट प्रत्येक अर्थ पुरुषार्थके बलसे प्राप्त होता है ॥९१॥

इसकी टीका करते हुए आचार्य अकलंकदेव तथा विद्यानन्द लिखते हैं—

ततोऽतर्कितोपस्थितमनुकूलं प्रतिकूलं वा दैवकृतम् बुद्धिपूर्वापेक्षापायात्, तत्र पुरुषकारस्याप्रधानत्वात् दैवस्य प्राधान्यात्। तद्विपरीतं पौरुषापादितं, बुद्धिपूर्वव्यपेक्षापायात्, तत्र दैवस्य गुणत्वात् पौरुषस्य प्रधानत्वात्।

इसलिये बिना कल्पना या विचारके अनुकूल या प्रतिकूल जो वस्तु प्राप्त होती है उसकी प्राप्ति दैवसे होती है, क्योंकि बुद्धिपूर्वक वस्तु प्राप्तिकी अपेक्षा न होने से वहाँ पुरुषार्थ गौण है और दैव मुख्य है। उससे विपरीत अनुकूल या प्रतिकूल वस्तुकी प्राप्ति पुरुषार्थसे होती है, क्योंकि बुद्धि पूर्वक वस्तुकी प्राप्तिकी विवक्षाका अभाव नहीं होनेसे वहाँ दैव गौण है और पुरुषार्थ मुख्य है।

यहाँ दैव और पुरुषार्थके स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए आचार्य भट्टाकलंकदेव लिखते हैं—

योग्यता कर्म पूर्वं वा दैवमुभयदृष्टम्। पौरुषं पुनरिह चेष्टितं दृष्टम्।

वस्तुगत योग्यता और पूर्व कर्म दैव कहलाता है। ये दोनों इन्द्रियगम्य नहीं हैं, तथा ऐहिक मन, वचन और कायके व्यापारका नाम पुरुषार्थ है जो इन्द्रियगम्य है।

यहाँ आचार्यदेवने तीन बातोंका निर्देश किया है, जिसे इष्ट या अनिष्ट वस्तुकी प्राप्ति होती है तद्गत योग्यता, तथा जिसे उक्त वस्तुकी प्राप्ति होती है उसका पुरुषार्थ और पूर्वमें सम्पादित किया गया कर्म साथ

ही योग्यता शब्दसे जिस इष्ट या अनिष्ट वस्तुकी प्राप्ति होती है तद्गत योग्यता भी ली जा सकती है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु या कार्यका सम्पादन स्वकालमें ही होता है ऐसा नियम है। इसका सप्रमाण उल्लेख इसी अध्यायमें पहले ही कर आये हैं। तथा निश्चय उपादानका अनुगत होनेसे पुरुषार्थसे निश्चय उपादानका भी ग्रहण हो जाता है, क्योंकि पुराकृत कर्मका उदयादि और संसारी प्राणीकी ऐहिक चेष्टाएँ उसीके अनुसार होती हैं।

अब आप थोड़ा करणानुयोगकी दृष्टिसे भी विचार कीजिये। दर्शन मोहनीयके करणोपशमको निमित्त कर होनेवाले आत्मविशुद्धिरूप निश्चय सम्यग्दर्शनके होनेकी प्रक्रिया यह है कि अनिवृत्तिकरणके बहुभाग बीतने पर यह जीव दर्शन मोहनीयकी एक, दो या तीनों प्रकृतियोंका अन्तरकरण उपशम करता है। उसके बाद प्रथम स्थितिको प्राप्त द्रव्यका उसके काल तक उदयपूर्वक उसकी निर्जरा करता है। उदय समाप्त होने पर जिस समय उदयका अभाव है उसी समय यह जीव शुद्धात्माकी भावनाके बलसे निश्चय उपादानके अनुसार निश्चय सम्यग्दर्शनको प्राप्त करता है तभी दर्शनमोहनीयके अन्तरकरण उपशम मे निश्चय सम्यग्दर्शन-की उत्पत्तिकी अपेक्षा निमित्तपनेका व्यवहार होता है।

इस उद्धरणसे मुख्यतया दो तथ्योंपर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। प्रथम तो यह कि जब यह जीव निश्चय उपादानके अनुसार अपने आध्यात्मिक पुरुषार्थके बलसे निश्चय सम्यग्दर्शनको प्राप्त हुआ उसी समय दर्शन मोहनीयके अन्तरकरण उपशममे निमित्तपनेका व्यवहार होता है। इसीलिये जो व्यवहारैकान्तवादी यह मानते हैं कि विवक्षित कार्यका अव्यवहित पूर्व समयवर्ती निश्चय उपादान अनेक योग्यतावाला होता है उनके उस मतका निरसन हो जाता है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमे निश्चय सम्यग्दर्शन स्वकालमें ही प्राप्त होता है, इसके लिये वहाँ कहा है—

प्रत्यासन्नमुक्तीनामेव भव्यानां दर्शनमोहप्रतिपक्षः संपद्यते नान्येषाम्, कदाचित्कारणासन्निधानात्।—तत्त्वार्थश्लोकवा०, ९१।

जिनको मोक्ष प्राप्त होना अति सन्निकट है ऐसे भव्य जीवोंके ही मिथ्यादर्शन आदिके प्रतिपक्षभूत निश्चय सम्यग्दर्शन आदिकी प्राप्ति होती है, अन्य भव्योंके नहीं क्योंकि अन्तरंग-बहिरंग कारणोंका सन्निधान कदाचित् होता हो ऐसा नहीं है, क्योंकि निश्चय सम्यग्दर्शनके पूर्व अव्यवहित पूर्व जो पर्याय युक्त जीव होता है उसीमें ऐसी योग्यता होती है कि उसके अव्यवहित उत्तर समयमें निश्चय सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होना निश्चित है। यथा—

निश्चयनयाश्रयणे तु यदनन्तरं मोक्षोत्पादस्तदेव मुख्यं मोक्षस्य कारणमयोगिकेवलिचरम-समयवर्ति रत्नत्रयमिति।—त० श्लो० पृ० ७१।

निश्चयनयका आश्रय करने पर तो जिसके बाद मोक्षकी उत्पत्ति होती है वही अयोगिकेवलीका अन्तिम समयवर्ती रत्नत्रय परिणाम मोक्षका मुख्य कारण है।

पर्याय विशेष युक्त द्रव्यमें निश्चय उपादानताका समर्थन करते हुए उसी परमागमके इन वचन पर भी दृष्टिपात कीजिये—

ते चारित्रस्योपादानम्, पर्यायविशेषात्मकस्य द्रव्यस्योपादानत्वप्रतीतेः।

वे निश्चय सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान निश्चय चारित्रके उपादान कारण हैं, क्योंकि पर्यायविशेषसहित द्रव्यमें ही उपदानपनेकी प्रतीति होती है।

ऐसा नियम है कि निश्चय सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानके साथ बारहवें गुणस्थानके प्रथम समयमें ही क्षायिक

व्यवहारके योग्य निश्चय चारित्रकी प्राप्ति हो जाती है, फिर भी यह जीव मोक्षको प्राप्त नहीं होता। यह एक प्रश्न है इसका समाधान करते हुए आचार्य विद्यानन्द कहते हैं—

क्षीणकषायप्रथमसमये तदाविर्भावप्रसक्तिरिति न वाच्या, कालविशेषस्य सहकारिकारणापेक्षस्य तदा विरहात्।—श्लो० वा० पृ० ७१।

शंका—क्षीणकषायके प्रथम समयमें मोक्षोत्पादका प्रसंग प्राप्त नही होता है ?

समाधान—ऐसा नहीं करना चाहिए, क्योंकि (व्यवहारनयसे) अपेक्षित काल विशेषका वहाँ अभाव है।

यह ऐसा उल्लेख है जिससे अनेक तथ्योंपर प्रकाश पडता है। (१) नियत पर्यायका नियत काल ही व्यवहार हेतु होता है। (२) प्रत्येक द्रव्य नियत पर्यायकी स्थितिमें पहुँचने पर ही वह विवक्षित कार्यका निश्चय उपादान होता है। (३) सापेक्ष कथन व्यवहारनयका विषय है, इसलिए कालको सहकारी कारण कहना असद्भूत व्यवहारनयसे ही घटित होता है। (४) निश्चयनय परनिक्षेप ही होता है।

१०. शंका-समाधान

शंका—प्रकृतमें आप उपादानके पूर्व निश्चय विशेषण क्यों लगाते है।

समाधान—प्रत्येक द्रव्यमें अपना-अपना कार्य करनेकी योग्यता होती है पर प्रत्येक द्रव्य पर्यायसे व्यतिरिक्त स्वतन्त्र नहीं पाया जाता और पर्याय काल द्रव्यके जितने समय होते है उतनी ही होती है, इसलिए निश्चयसे किस पर्यायके बाद अगले समयकी कौन पर्याय होगी इसका नियमन प्रत्येक समयकी पर्यायके आधार पर ही होता रहता है। व्यवहारसे काल द्रव्यके विवक्षित समयके आधार पर भी उसका परिगमन किया जा सकता है। अतः १२ वें गुणस्थानके प्रथम समयसे चारित्र एक प्रकारका होनेसे यहाँ कालकी मुख्यतासे उक्त कथन किया गया है। यही कारण है कि प्रत्येक द्रव्यमें अपने-अपने कार्यरूप परिणमनेकी योग्यताके रहते हुए भी कार्यकारण परम्परामें आयवहित पूर्व पर्याय युक्त द्रव्यको ही परमार्थसे उपादान स्वीकार कर उससे नियत कार्यकी उत्पत्ति स्वीकार को गई है। विवक्षित उपादानके पूर्व निश्चय विशेषण लगानेका यही कारण है।

शंका—योग्यता क्या वस्तु है ?

समाधान—समाधान यह है—

योग्यता हि कारणस्य कार्योत्पादनशक्तिः। कार्यं हि कारणजनत्वशक्तिस्तस्याः प्रतिनियमः। शालिबीजांकुरयोः भिन्नकालत्वाविशेषेऽपि शालिबीजस्येति कथ्यते।—श्लो० वा० गा० ७८।

कारणकी कार्यको उत्पादन करनेकी शक्तिका नाम योग्यता है और कार्य कारणपूर्वक जन्यत्व-शक्तिवाला होता है। इसीका नाम योग्यताका प्रतिनियम है। जैसे शालि बीज और अंकुरमें भिन्न कालपनेरूप विशेष होने पर भी शालि-बीजमें ही शालि अंकुरके उत्पन्न करनेकी शक्ति है, यव बीजमें नहीं। वैसे ही यव बीजमें ही यव-अंकुरको उत्पन्न करनेकी शक्ति है, शालि-बीजमें नही यह कहा जाता है।

प्रकृतमें शालि-बीजमें ही शालि-अंकुरके उत्पन्न करनेकी योग्यता होने पर भी कौन शालि बीज किस समय अपने अंकुरको जन्म दे इसका नियम है। भले ही निश्चय उपादान और उसके अंकुरमें समय भेद हो पर शालि-बीजके उस भूमिकामें पहुँचने पर उससे नियममें अंकुरकी उत्पत्ति होगी ही ऐसा प्रतिनियम है। यहाँ मिट्टी आदिका अन्वय-व्यतिरेकके आधार पर कालप्रत्यासत्ति होनेसे सद्भाव रहेगा ही इसमें सन्देह नहीं पर मिट्टी आदि व्यवहारसे निमित्तमात्र ही हैं, वे परमार्थसे अंकुरके उत्पन्न करनेकी क्षमता नही रखते यह भी सुनिश्चित है। इसी तथ्यका स्पष्टीकरण तत्त्वार्थवार्तिकमें इन शब्दोंमें किया है—

यथा मृदः स्वयमन्तर्घटभवनपरिणामाभिमुख्ये दण्ड-चक्र-पौरुषेयप्रयत्नादि निमित्तमात्रं भवति ।

जैसे मिट्टीके स्वयं भीतरसे घटपरिणामके अभिमुख होने पर दण्ड, चक्र और पुरुष प्रयत्न आदि निमित्त-मात्र होते हैं ।

इस उल्लेखसे हम जानते हैं कि विवक्षित कार्यको जन्म देनेकी शक्ति निश्चय उपादानमें ही होती है, अन्य बाह्य पदार्थ असद्भूत व्यवहारसे ही निमित्तमात्र होते हैं । उनमें निश्चय उपादानके कार्यको जन्म देनेकी योग्यता या भवितव्य तो नही ही होती, पर उनमें व्यवहार-हेतुता वश ऐसा व्यवहार कर लिया जाता है । इस प्रकार इतने विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि व्यवहार-निश्चयका योग सुनिश्चितरूपसे होता रहता है । इनमें अनियम मानना एकान्त है ।

शंका—निश्चय सम्यग्दर्शनके विषयमें कुछ लोग कहते हैं कि सातवें गुणस्थानसे होता है । कुछ ग्यारहवें गुणस्थानसे मानते है और कुछ तेरहवें गुणस्थानसे भी मानते हैं । पर आप तो चौथे गुणस्थानसे ही उसे स्वीकार करते है सो इस विषयमें आगम क्या है ?

समाधान—(१) सर्व प्रथम हम श्री परमागम समयसार शास्त्रको ही लेते हैं । शुद्धनयकी व्याख्या करते हुए वहाँ कहा है—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्ध-पुट्ठं अणण्णयं णियदं ।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥१४॥

जो आत्माको अबद्ध अस्पृष्ट अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त अनुभवता है उस आत्मको शुद्धनय जानो ॥१४॥

आत्मख्याति टीकामें इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—

यः खल्वबद्धस्पृष्टस्यानन्यस्य नियतस्याविशेषस्यासंयुक्तस्य चात्मनोऽनुभूतिः स शुद्धनयः । सा त्वनुभूतिरात्मेत्यात्मैक एव प्रद्योतते ।

परमार्थसे अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त आत्माकी जो अनुभूति होती है वह शुद्धनय है और वह अनुभूति आत्मा ही है इस प्रकार एक आत्मा ही प्रकृष्टरूपसे अनुभवमे आता है ।

पहले इसी शास्त्रकी छठवी गाथाकी टीकामें त्रिकाली स्वभावभूत आत्माकी व्याख्या करते हुए बतलाया है—आत्मा स्वतःसिद्ध होनेसे अनादि-अनन्त है, सतत उद्योतस्वरूप है विशद ज्योति है और स्वरूपसे ज्ञायक है । इस प्रकारके आत्माकी अनुभूतिको प्रकृतमे सम्यग्दर्शन कहा है । इतना ही नही, उसे आत्मा ही कहा है । ऐसा कहनेका कारण है, वह यह कि ऐसी निरन्तर भावना करनेसे करणानुयोगके अनुसार जिसके दर्शन मोहनीयकी तीन और अनन्तानुबन्धी चार इन सात प्रकृतियोंका उपशम, क्षय या क्षयोपशम हो गया है, वह श्रद्धामें उपचार व्यवहार और भेदव्यवहार दोनोंसे मुक्त हो जाता है । तथा उसके मुख्यरूपसे उक्त प्रकारके एक आत्माकी भावनाको छोडकर अन्य कोई विकल्प नही रहता है । यहाँ उक्त प्रकारकी अनुभूति और आत्मामें अभेद होनेसे उक्त स्वानुभूतिको ही आत्मा कहा है यह इस कथनका तात्पर्य है । संसारी आत्मा ऐसी दृष्टि मुक्तिस्वरूप भावनाको अविरत सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थानमें हो प्राप्त हो जाता है, इसीलिए आगमके रहस्यको स्वीकार करनेवाले चतुर्थ गुणस्थानसे ही निश्चय सम्यग्दर्शनको स्वीकारते है । यहाँ उसके होनेवाली मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिरूप सविकल्प अवस्थाको ही जिनागममें प्राक् पदवी शब्दसे सम्बोधित किया गया है । सविकल्प अवस्थामें जबतक उसके ऐसा व्यवहार बना रहता है, जब तक निश्चय सम्यग्दर्शनके साथ बने रहनेसे आत्माका पतन नहीं होता, क्योंकि ऐसे व्यवहारके विरुद्ध जब तक उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम नहीं होता तब तक

वह व्यवहार, सविकल्प अवस्थामें निश्चय सम्यग्दर्शन स्वरूप आत्मशुद्धिका अविनाभावी है यह प्रकृतमें व्यवहार नयके हस्तावलम्बनका तात्पर्य है। वह व्यवहारनयके विषयमें आँख मीच कर सर्वथा गडगप्प हो जाता है ऐसा उसका तात्पर्य नहीं है।

यह तो ठीक है कि समयसार परमागममें गुणस्थान आदिके भेदसे मोक्षमार्गका स्वरूप निर्देश नहीं किया गया है। अतः उक्त तथ्यके समर्थनमें हम आगमकी सप्रमाण चर्चा कर लेना आवश्यक समझते हैं इसके पहले हम सर्वार्थसिद्धिको ही लेते हैं— .

तद् द्विविधम्, सराग-वीतरागविषयभेदात्। प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याद्यभिव्यक्तिलक्षणं प्रथम्। आत्मविशुद्धिमात्रमितरत्।

वह सम्यग्दर्शन दो प्रकारका है—सराग सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य आदिकी अभिव्यक्ति लक्षणवाला प्रथम सम्यग्दर्शन है और आत्माकी विशुद्धिमात्र दूसरा सम्यग्दर्शन है। सूत्र १-२।

तत्त्वार्थवार्तिकमें भी उक्त प्रकारसे सम्यग्दर्शनके दो भेद और लक्षण निबद्ध किये गये हैं। उनकी विशेष व्याख्या करते हुए लिखा है—

रागादीनामनुद्रेकः प्रशमः, संसाराद् भीरुता संवेग, सर्वप्राणिषु मैत्री अनुकम्पा, जीवादयोऽर्थाः यथास्वं भावैः सन्तीति मतिरास्तिक्यम्। ......सप्तानां कर्मप्रकृतीनां आत्यन्तिकेऽपगमे सत्यात्मविशुद्धिमात्रमितरत् वीतरागसम्यक्त्वमित्युच्यते।—सू० १-२।

रागादिकका विशेषरूपसे प्रकट नहीं होना प्रशम है, संसारसे डरना संवेग है, प्राणीमात्रमें मैत्रीभाव अनुकम्पा है और जीवादि पदार्थोंका जैसा स्वरूप है वे उसी रूप हैं ऐसो मतिका होना आस्तिक्य है।...... सात कर्म प्रकृतियोंके अत्यन्त अभाव होने पर जो आत्मामें विशुद्धि विशेष प्राप्त होती है वह दूसरा वीतराग सम्यग्दर्शन कहा जाता है। सूत्र १-२।

तत्त्वार्थवार्तिकमें इस उल्लेखको देखकर कितने ही विद्वान् क्षायिक सम्यग्दर्शनरूपसे प्राप्त हुई आत्मविशुद्धिको ही वीतराग सम्यग्दर्शन स्वीकार करते है। वे सम्यग्दर्शनके व्यवहारमें प्रतिबन्धक मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियोंके उपशम और क्षयोपशमसे प्राप्त हुई आत्म विशुद्धिकी किस सम्यग्दर्शनमें परिगणना करते है वे ही जानें। अस्तु, अब यहाँ वस्तु-स्थिति क्या है इसकी मीमांसा करनेके लिए सर्वप्रथम तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें क्या कहा है इस पर विचार करते है। उसमें भी सर्वप्रथम प्रशमादिके स्वरूपका निर्देश करते हुए कहा है—

तत्रानन्तानुबन्धीनां रागादीनां मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्वयोश्चानुद्रेकः प्रशमः। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव भावपरिवर्तनरूपात् संसाराद् भीरुता संवेगः। त्रसस्थावरेषु प्राणिषु दयानुकम्पा। जीवादितत्त्वार्थेषु युक्त्यागमाभ्यामविरुद्धेषु याथात्म्योपगमनमास्तिक्यम्। एतानि प्रत्येकं समुदितानि वा स्वस्मिन् स्वसंविदितानि परत्र काय-वाग्व्यवहारविशेषलिङ्गानुमितानि सरागसम्यग्दर्शनं ज्ञापयन्ति।—पृ० ८६।

वहाँ अनन्तानुबन्धीरूप रागादिकके तथा मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्वके अनुद्रेकको प्रशम कहते है। द्रव्य, क्षेत्र, काल भव और भाव इन पाँच प्रकारके परिवर्तनरूप संसारसे भीरुताको संवेग कहते हैं। त्रस और स्थावर प्राणियोंमें दयाका होना अनुकम्पा है। तथा युक्ति और आगमसे अविरुद्ध जीवादि पदार्थोंमें यथार्थपनेका प्राप्त होना आस्तिक्य है। ये प्रत्येक मिलकर स्वयंमें स्वसंविदित होकर तथा अन्य जीव में शरीर और वचनके व्यवहार विशेष रूप हेतुसे अनुमित होकर सराग सम्यग्दर्शनको ज्ञापित करते हैं।

आगे तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनमें और प्रशमादिकमें अन्तरको स्पष्ट करते हुए लिखा है—

ननु प्रशमादयो यदि स्वस्मिन् स्वसंवेद्याः श्रद्धानमपि तत्त्वार्थानां किन्न स्वसंवेद्यम् यतस्तेभ्योऽनुमीयते। स्वसंवेद्यत्वाविशेषेऽपि तैस्तदनुमीयते न पुनस्ते तस्मादिति कः श्रद्धीतान्यत्र परीक्षकादिति चेत्? नैतत्सारम्, दर्शनमोहोपशमादिविशिष्टात्मस्वरूपस्य तत्त्वार्थश्रद्धानस्य स्वसंवेद्यत्वानिश्चयात्। स्वसंवेद्यं पुनरास्तिक्यं तदभिव्यंजकं प्रशम-संवेगानुकम्पावत् कथंचित्ततो भिन्नम्, तत्फलत्वात्। तत एव फलतद्वतोरभेदविवक्षायामास्तिक्यमेव तत्त्वार्थश्रद्धानमिति, तस्य तद्वत्प्रत्यक्षसिद्धत्वात्तदनुमेयत्वमपि न विरुद्धयते। मतान्तरापेक्षया च स्वसंविदितेऽपि तत्त्वार्थश्रद्धाने विप्रतिपत्तिसद्भावात् तन्निकरणाय तत्र प्रशमादिलिंगादनुमाने दोषाभावः सम्यग्ज्ञानमेव हि सम्यग्दर्शनमिति हि केचिद्विप्रवदन्ते, तान् प्रति ज्ञानात् भेदेन दर्शनं प्रशमादिभिः कार्यविशेषैः प्रकाश्यते ॥८६॥

शंका—प्रशमादिक यदि स्वयंमें स्वसंवेद्य है तो जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान स्वसंवेद्य क्यों नही है, जिससे कि प्रशमादिकसे पदार्थोंके श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनका अनुमान किया जाता है, क्योंकि स्वसंवेद्यपनेकी अपेक्षा भेद न होनेपर भी प्रशमादिकके द्वारा तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनका अनुमान किया जाता है, परन्तु तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनके द्वारा प्रशमादिकका अनुमान नहीं किया जाता, परीक्षकको छोड़कर और कौन ऐसा श्रद्धान करेगा?

समाधान—यह कहना सारभूत नही है, क्योंकि दर्शनमोहादिके उपशमादियुक्त आत्मश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनके स्वसंवेद्यपनेका निश्चय नही होता। परन्तु आस्तिक्य स्वसंवेद्य है जो प्रशम, संवेग और अनुकम्पाके समान तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनका अभिव्यंजक है, इसलिए तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनसे कथंचित् भिन्न है, क्योंकि वह तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनका फल है। इसलिए फल और फलवान्में कथंचित् अभेद विवक्षामे आस्तिक्य ही तत्त्वार्थश्रद्धान है। यतः सम्यग्दर्शन आस्तिक्यके कारण प्रत्यक्षसिद्ध होनेसे सम्यग्दर्शनको अनुमानका विषय माननेमे भी कोई विरोध नहीं है।

दूसरे मतकी अपेक्षा तो यद्यपि तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन स्वसंवेद्य है ऐसा होनेपर भी विवादका सद्भाव होनेसे उसका निराकरण करनेके लिए सम्यग्दर्शनका प्रशमादिकके द्वारा अनुमान किया जाता है ऐसा माननेमे कोई विरोध नही है।

कितने ही व्यक्ति सम्यग्ज्ञान ही सम्यग्दर्शन है ऐसा विवाद करते है उनके प्रति सम्यग्ज्ञानसे सम्यग्दर्शनमे भेद है इस बातको सम्यग्दर्शनके कार्यरूप प्रशमादिकके द्वारा प्रकट की जाती है।

यद्यपि सरागियोंमे सम्यग्दर्शनके कार्यरूप प्रशमादिक तो होते है परन्तु वीतरागियोंमे कायादिकके व्यापार विशेषके अभावमे वे नही दृष्टिगोचर होते है ऐसा प्रश्न होनेपर आचार्य उत्तर देते हुए कहते है—

सर्वेषु सरागेषु सद्दर्शनं प्रशमादिभिरनुमीयते इत्यनभिधानात्। यथासम्भवसरागेषु वीतरागेषु च सद्दर्शनस्य तदनुमेयत्वमात्मविशुद्धिमात्रत्वं चेत्यभिहितत्वात्।

समस्त सम्यग्दृष्टियोमे सम्यग्दर्शन प्रशमादिकके द्वारा अनुमित होता है ऐसा हमने नहीं कहा है। किन्तु यथासम्भव सराग और वीतराग जीवोंमे सम्यग्दर्शन प्रशमादिकके द्वारा अनुमित होता है और वह आत्मविशुद्धिमात्र है ऐसा हमने कहा है।

परमात्मप्रकाश टीकामें सराग सम्यग्दर्शन और व्यवहार सम्यग्दर्शन एक ही हैं इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

प्रशम-संवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं सरागसम्यक्त्वं भण्यते, तदेव व्यवहारसम्यक्त्वमिति। तस्य विषयभूतानि षड्द्रव्याणीति। पृ० १४३।

प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्यकी अभिव्यक्ति लक्षणवाला सरागसम्यक्त्व कहा जाता है। वही व्यवहार सम्यक्त्व है। इसके विषय छह द्रव्य हैं।

इतने विवेचनसे ये तथ्य फलित होते हैं—

(१) निश्चय सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति ज्ञायक स्वरूप आत्माके उपयोगके विषय होनेपर तत्स्वरूप एकाकार परिणतिरूप स्वानुभवके कालमें ही होती है।

(२) ऐसी अवस्थाके प्रथम समयसे लेकर दर्शन मोहनीयकी यथासम्भव प्रकृतियोंके अन्तरकरण उपशम आदि तथा अनन्तानुबन्धीके उदयाभावरूप उपशम या विसंयोजनारूप क्षयमें व्यवहार हेतुता घटित होती है। यह व्यवहार हेतुता आत्मविशुद्धिरूप निश्चय सम्यग्दर्शनके काल तक सतत बनी रहती है।

(३) अव्यवहित पूर्व समयवर्ती द्रव्य उपादान और अव्यवहित उत्तर समयवर्ती द्रव्य कार्य यह क्रम भी सतत चलता रहता है। मात्र सम्यग्दर्शनके कालके भीतर ज्ञायक आत्मलक्षी परिणामकी ओर झुकावका विच्छेद कभी नहीं होता। इतनी विशेषता है कि सविकल्प दशामें उस ओरका झुकाव बना रहता है और निर्विकल्प दशामें उपयोग ज्ञायक स्वरूप आत्मासे एकाकार होकर उपयुक्त रहता है।

(४) आत्मविशुद्धिरूप निश्चय सम्यग्दर्शनके वे प्रशमादिक व्यवहारसे स्वीकार किये गये हैं। इसीसे प्रशमादिक भाव उक्त सम्यग्दर्शनके व्यवहारसे निमित्त है। कारण कि इन द्वारा निश्चयसम्यग्दर्शनके अस्तित्व की सूचना मिलती है। एक अपेक्षा ये ज्ञापक निमित्त भी है।

(५) उक्त कथनसे ज्ञात होता है कि किन्हीं सरागी जीवोंमें ज्ञान और वैराग्य शक्ति व्यक्तरूपसे दृष्टि-गोचर होती है और किन्हीमें वह व्यक्तरूपसे दृष्टिगोचर नहीं होती। ज्ञान और वैराग्य शक्तिका योग सब सम्यग्दृष्टियोंके होता ही है इतना अवश्य है।

(६) आस्तिक्य सम्यग्ज्ञानका भेदविशेष है। इसलिए एक आत्मापनेकी अपेक्षा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमें अभेद करके अस्तिक्यभावको भी यहाँ सम्यग्दर्शन कहा गया है।

आत्मविशुद्धिरूप निश्चय सम्यग्दर्शन तो है, परन्तु चाहे यह जीव सरागी भले ही क्यों न हो, किसी किसीके उसका संवेग आदिरूप व्यवहार नहीं होता यह तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके उक्त उल्लेखमें स्पष्ट ज्ञात होता है। इससे मालूम पड़ता है कि जीवकी प्रत्येक पर्यायका मूल कारण उपादानका होना पर्याप्त है। उसके साथ यदि पर वस्तुके प्रति ममकार और अहंकारके रूपमें उपयोग परिणाम रहता है तो संसारकी सृष्टि होती है और ज्ञायकस्वरूप आत्माको विषय कर उपयोग परिणाम होता है तो मोक्ष जानेके मार्गका द्वार खुलकर उसपर यह जीव चलने लगता है।

प्रत्येक पर्यायका कालविशेष व्यवहार निमित्त है ऐसा एकान्त नियम है। अन्य बाह्य संयोग बनो या न बनो। यदि बाह्य संयोग बनता है तो वह भी स्वकालमें ही बनता है। कभी भी किसी पदार्थका संयोग हो जाय ऐसा नहीं है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें यह वचन आया है—

प्रत्यासन्नमुक्तीनामेव भव्यानां दर्शनमोहप्रतिपक्षः सम्पद्यते नान्येषाम्, कदाचित्कारणासन्नि-धानात् ॥९१॥

जिनका मुक्ति प्राप्त करना अति सन्निकट है ऐसे भव्य जीवोंको ही दर्शनमोहके प्रतिपक्षका लाभ होता है, अन्य जीवोंको नहीं, क्योंकि कदाचित् अन्तरंग और बाह्य साधनोंका सन्निधान नहीं होता।

ऐसा नियम है कि सभी कार्य बाह्य संयोगरूप निमित्तोंके अनुसार ही होते हैं ऐसा न होकर उनके होनेमें निश्चय उपादानरूप अन्तरंग कारण ही मुख्य है। यथा—

ण च कज्जं कारणाणुसारी चेव इति णियमो अत्थि, अन्तरंगकारणावेक्खाए पवत्तस्स कज्जस्स बहिरंगकारणाणुसारित्तणियमाणुववत्तीदो।

—धवला पु० १२, पृ० ८१।

प्रत्येक कार्य बाह्य कारणके अनुसार ही होता है ऐसा नियम नही है, क्योंकि अन्तरंग कारणकी अपेक्षा प्रवृत्त हुए कार्योंका बहिरंग कारणके अनुसार प्रवृत्त होनेका नियम नही बन सकता।

पाँच परिवर्तनोंमेंसे भाव परिवर्तनके स्वरूपपर दृष्टिपात करनेसे भी यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक कार्यमें उसका अन्तरंग कारण ही मुख्य है। यथा—

पंचेन्द्रियः संज्ञी पर्याप्तको मिथ्यादृष्टिः कश्चिज्जीवः, स सर्वजघन्यां स्वयोग्यां ज्ञानावरण-प्रकृतेः स्थितिमन्तःकोटीकोटीसंज्ञकामापद्यते। तस्य कषायाध्यवसायस्थानान्यसंख्येयलोकप्रमितानि षट्स्थानपतितानि तत्स्थितियोग्यानि भवन्ति। तत्र सर्वजघन्यकषायाध्यवसायस्थाननिमित्तान्यनुभागाध्यवसायस्थानान्यसंख्येयलोकप्रमितानि भवन्ति। एवं सर्वजघन्यां स्थिति सर्वजघन्यं कषायाध्यवसायस्थानं सर्वजघन्यमेवानुभागाध्यवसायस्थानमास्कन्दतस्तद्योग्यं सर्वजघन्यं योगस्थानं भवति। तेषामेव स्थिति-कषायानुभागस्थानानां द्वितीयमसंख्येयभागवृद्धियुक्तं योगस्थानं भवति। एवं च तृतीयादिषु चतुःस्थानपतितानि श्रेण्यसंख्येयभागप्रमितानि योगस्थानानि भवन्ति। तथा च तामेव स्थिति तदेव कषायाध्यवसायस्थानं च प्रतिपद्यमानस्य द्वितीयमनुभवाध्यवसायस्थानं भवति। तस्य च योगस्थानानि पूर्ववद्वेदितव्यानि। एवं तृतीयादिष्वपि अनुभवाध्यवसायस्थानेषु आ असंख्येयलोकपरिसमाप्तेः। एवं तामेव स्थितिमापद्यमानस्य द्वितीयं कषायाध्यवसायस्थानं भवति। तस्याप्यनुभवाध्यवसायस्थानानि योगस्थानानि च पूर्ववद्वेदितव्यानि। एवं तृतीयादिष्वपि कषायाध्यवसायस्थानेषु आ असंख्येयलोकपरिसमाप्तेर्वृद्धिक्रमो वेदितव्यः। एवं उक्तायाः जघन्यायाः स्थितेः त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटीपरिसमाप्तायाः कषायादिस्थानानि वेदितव्यानि।

पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि कोई एक जीव ज्ञानावरण प्रकृतिकी सबसे जघन्य अपने योग्य अन्तःकोटाकोटिप्रमाण स्थितिको बाँधता है। उसके उस स्थितिके योग्य षट्स्थानपतित असंख्यात लोक प्रमाण कषाय अध्यवसायस्थान होते है। और सबसे जघन्य इस कषायाध्यवसायस्थानके निमित्तरूप असंख्यात लोक-प्रमाण अनुभागाध्यवसायस्थान होते हैं। इस प्रकार सबसे जघन्य स्थिति, सबसे जघन्य कषायाध्यवसायस्थान और सबसे जघन्य अनुभागाध्यवसायस्थानको प्राप्त हुए इस जीवके तद्योग्य सबसे जघन्य योगस्थान होता है। तत्पश्चात् स्थिति, कषायाध्यवसायस्थान और अनुभागाध्यवस्थायस्थानके जघन्य रहते हुए दूसरा योगस्थान होता है जो असंख्यात भागवृद्धि संयुक्त होता है। इसी प्रकार तीसरे, चौथे आदि योगस्थानोकी अपेक्षा भी समझना चाहिये। ये सब योगस्थान अनन्त भागवृद्धि और अनन्तगुण वृद्धिको छोडकर शेष चार स्थानपतित ही होते है, क्योंकि सब योगस्थान संख्यामें श्रेणिके असंख्यातवे भाग प्रमाण हैं। तदनन्तर उसी जघन्य स्थिति और उसी जघन्य कषायाध्यवसायस्थानको प्राप्त हुए जीवके दूसरा अनुभागाध्यवसायस्थान होता है। इसके योगस्थान पहलेके समान जगश्रेणिके असंख्यातवे भागप्रमाण जानना चाहिये। इस क्रमसे असख्यात लोक प्रमाण अनुभागाध्यवसायस्थानोके होने तक तीसरे आदि अनुभागाध्यवसायस्थानोका यही क्रम जानना चाहिये। तत्पश्चात् उसी स्थितिको प्राप्त हुए जीवके दूसरा कषायाध्यवसानस्थान होता है। इसके भी अनुभागाध्यवसायस्थान और योगस्थान पहलेके समान जानना चाहिये। इस प्रकार असंख्यात लोक प्रमाण कषायाध्यवसायस्थानोके होने तक तीसरे आदि कषायाध्यवसायस्थानोंमे वृद्धिका क्रम जानना चाहिये। यहाँ उक्त जघन्य

स्थितिके जिस प्रकार कषायादिस्थान कहे हैं उसी प्रकार एक समय अधिक उक्त जघन्य स्थितिके भी कषायादिस्थान जानने चाहिये। और इसी प्रकार एक-एक समय अधिकके क्रमसे तीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपमप्रमाण उत्कृष्ट स्थिति तक प्रत्येक स्थितिके कषायादिस्थान जानने चाहिये।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक कार्यका नियामक मुख्यतासे निश्चय उपादानको मानना ही आगम सम्मत है इसमें किसी प्रकारके सन्देहके लिए स्थान नहो है।

११ पाँच हेतुओंका समवाय

साधारण नियम यह है कि प्रत्येक कार्यको उत्पत्तिमें ये पाँच कारण नियमसे होते हैं। स्वभाव, पुरुषार्थ, काल, नियति और कर्म। यहाँ पर स्वभावसे द्रव्यकी स्वशक्ति या नित्य उपादान लिया गया है। पुरुषार्थसे जीवका बल-वीर्य लिया गया है, कालसे स्वकाल और परकालका ग्रहण किया है, नियतिसे समर्थ उपादान या निश्चयकी मुख्यता दिखलाई गई है और कर्मसे बाह्य निमित्तका ग्रहण किया गया है। इन्हीं पाँच कारणोंको सूचित करते हुए पंडितप्रवर बनारसीदासजी नाटकसमयसार सर्वशुद्धज्ञानाधिकारमें कहते हैं—

पद सुभाव पूरब उदे निहचे उद्यम काल।
पच्छपात मिथ्यात पथ सरवंगी शिवचाल ॥४१॥

गोम्मटसार कर्मकाण्डमें पाँच प्रकारके एकान्तवादियोंका कथन आता है।[1] उसका आशय इतना ही है कि जो इनमेंसे किसी एकसे कार्यकी उत्पत्ति मानता है वह मिथ्यादृष्टि है और जो कार्यकी उत्पत्तिमें इन पाँचोंके समवायको स्वीकार करता है वह सम्यग्दृष्टि है। पण्डितप्रवर बनारसीदासजीने उक्त पद द्वारा इसी तथ्यकी पुष्टि की है। अष्टसहस्री पृ० २५७ में भट्टाकलकदेवने एक श्लोक दिया है। उसका भी यही आशय है। श्लोक इस प्रकार है—

तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृशः।
सहायास्तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता ॥

जिस जीवकी जैसी भवितव्यता (होनहार) होती है उसकी वैसी ही बुद्धि हो जाती है। वह प्रयत्न भी उसी प्रकारका करने लगता है और उसे सहायक भी उसीके अनुसार मिल जाते हैं।

इस श्लोकमें भवितव्यताको मुख्यता दी गयी है। भवितव्यता क्या है? जीवकी समर्थ उपादान शक्तिका नाम ही तो भवितव्यता है। भवितव्यताकी व्युत्पत्ति है—भवितु योग्यं भवितव्यम्, तस्य भावः भवितव्यता। जो होने योग्य हो उसे भवितव्य कहते हैं और उसका भाव भवितव्यता कहलाती है। जिसे हम योग्यता कहते है उसीका दूसरा नाम भवितव्यता है। द्रव्यकी समर्थ उपादान शक्ति कार्यरूपसे परिणत होनेके योग्य होती है इसलिए समर्थ उपादान शक्ति, भवितव्यता और योग्यता ये तीनों एक ही अर्थको सूचित करते हैं। कहीं-कहीं अनादि या नित्य उपादानको भी भवितव्यता या योग्यता शब्द द्वारा अभिहित किया गया है सो प्रकरणके अनुसार इसका उक्त अर्थ करनेमें भी कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि भवितव्यतासे उक्त दोनों अर्थ सूचित होते हैं। भव्य और अभव्यके भेदमें भवितव्यता भी इसीका नाम है। उक्त श्लोकमें भवितव्यताको प्रमुखता दी गयी है और साथमें व्यवसाय-पुरुषार्थ तथा अन्य सहायक सामग्रीका भी सूचन किया है सो इस कथन द्वारा उक्त पाँचों कारणोंका समवाय होनेपर कार्यकी सिद्धि होती है यही सूचित होता है, क्योंकि स्वकाल उपादानकी विशेषता होनेसे भवितव्यतामें गर्भित है ही।

---

१. देखो गाथा ८७९ से ८८३ तक।

भवितव्यका समर्थन करते हुए पण्डितप्रवर टोडरमलजी मोक्षमार्ग प्रकाशक (अधिकार ३, पृष्ठ ८१) में लिखते हैं—

....सो इनकी सिद्धि होइ तौ कषाय उपशमनेतैं दुःख दूरि होइ जाइ सुखी होइ। परन्तु इनकी सिद्धि इनके किए उपायनिके आधीन नाहीं, भवितव्यके आधीन है। जातैं अनेक उपाय करते देखिये है अर सिद्धि न हो है। बहुरि उपाय बनना भी अपने आधीन नाहीं, भवितव्यके अधीन है। जातैं अनेक उपाय करना विचारै और एक भी उपाय न होता देखिए है। बहुरि काकतालीय न्याय-करि भवितव्य ऐसी हो होइ जैसा आपका प्रयोजन होइ तैसा ही उपाय होइ अर तातैं कार्यकी सिद्धि भी होइ जाइ तौ तिस कार्यसंबंधी कोई कषायका उपशम होइ।

यह पण्डितप्रवर टोडरमलजीका कथन है। मालूम पड़ता है कि उन्होंने 'तादृशी जायते बुद्धि' इस श्लोकमे प्रतिपादित तथ्यको ध्यानमे रख कर ही यह कथन किया है। इसलिए इसे उक्त अर्थके समर्थनमें ही जानना चाहिए।

इस प्रकार कार्योत्पत्तिके पूरे कारणों पर दृष्टिपात करनेसे भी यही फलित होता है कि जहाँ पर कार्योत्पत्तिके अनुकूल द्रव्यका स्ववीर्य या स्वशक्ति और उपादान शक्ति होती है वहाँ अन्य सामग्री स्वयमेव मिल जाती है, उसे मिलाना नही पडता। यह मिलाना क्या है ? यह एक विकल्प है तथा तदनुकूल वचन और कायकी क्रिया है, इसीको मिलाना कहते हैं। इसके सिवाय मिलाना और कुछ नही।

वास्तवमे देखा जाय तो यह कथन जैनदर्शनका हार्द प्रतीत होता है। जैनदर्शनमे कार्यकी उत्पत्तिके प्रति जो उपादान-निमित्त सामग्री स्वीकार की गयी है उसमे द्रव्यकी स्वशक्तिके साथ उपादानका प्रमुख स्थान है। उसके अभावमे अन्य निमित्तोंकी कथा करना ही व्यर्थ है। स्वामी समन्तभद्रने आप्तमीमांसामें जब यह प्रतिपादन किया कि विविध प्रकारका कामादि कार्यरूप भावसंसार कर्मबन्धके अनुरूप होता है और वह कर्मबन्ध अपने कामादि बाह्य हेतुओंके निमित्तसे होता है तब उनके सामने यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि ऐसा मानने पर तो जीवके संसारका कभी भी अन्त नही होगा, क्योंकि कर्मबन्ध होनेके कारण यह जीव भाव-संसारकी सृष्टि करता रहेगा और भावसंसारकी सृष्टि होनेसे निरन्तर कर्मबन्ध होता रहेगा। फिर इस परम्पराका अन्त कैसे होगा ? आचार्य महाराजने स्वयं उठे हुए अपने इस प्रश्नके महत्त्वको अनुभव किया और उसके उत्तरस्वरूप उन्हे कहना पडा—'जीवास्ते शुद्धय द्धितः।' अर्थात् वे जीवशुद्धि और अशुद्धि नामक दो शक्तियोंसे सम्बद्ध है। परन्तु इतना कहनेसे उक्त आपेक्षको ध्यानमे रखकर किये गये समाधान पर पूरा प्रकाश नही पडता, इसलिए वे इन शक्तियोके आश्रयमे स्पष्टीकरण करते हुए पुनः कहते है—

शुद्धयशुद्धी पुनः शक्ती ते पाक्यापाक्यशक्तिवत्।
साद्यनादी तयोर्व्यक्ती स्वभावोऽतर्कगोचरः ॥१००॥

पाक्यशक्ति और अपाक्यशक्तिके समान शुद्धि और अशुद्धि नामवाली दो शक्तियाँ है तथा उनकी व्यक्ति सादि और अनादि है। उनका स्वभाव ही ऐसा है जो तर्कका विषय नही है ॥१००॥

यहाँ पर जो ये दो प्रकारकी शक्तियाँ कही गयी है उन द्वारा प्रकारान्तरसे उपादान शक्तिका ही प्रतिपादन कर दिया गया है। जीवोंमे ये दोनो प्रकारकी शक्तियाँ होती हैं। उनमेसे अशुद्धि नामक शक्तिकी व्यक्ति तो अनादि कालसे प्रति समय होती आ रही है जिसके आश्रयमे नाना प्रकारके पुद्गल कर्मोका बन्ध होकर कामादिरूप भावसंसारकी सृष्टि होती है। जो अभव्य जीव है उनके इस शक्तिकी व्यक्ति अनादि-

अनन्त है और जो भव्य जीव है उनके इस शक्तिकी व्यक्ति अनादि होकर भी सान्त है। किन्तु जब इस जीवके शुद्धि शक्तिकी व्यक्तिका स्वकाल आता है तब यह जीव अपने स्वभाव सन्मुख होकर पुरुषार्थ द्वारा उसकी व्यक्ति करता है, इसलिए शुद्धि शक्तिकी व्यक्ति सादि है। यहाँ पर जो अशुद्धि शक्तिकी व्यक्तिको अनादि कहा गया है सो वह कथन सन्तानपनेकी अपेक्षासे ही जानना चाहिए, पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा तो उसकी व्यक्ति प्रति समय होती रहती है। जिससे प्रत्येक ससारी जीवके प्रति समयसम्बन्धी भावसंसाररूप पर्यायकी सृष्टि होती है।[1] यहाँ पर यह कहना उचित प्रतीत नही होता कि ये दोनों शक्तियाँ जीवकी हैं तो इनमेंसे एककी व्यक्ति अनादि हो और दूसरेकी व्यक्ति सादि हो इसका क्या कारण है? समाधान यह है कि इनका स्वभाव ही ऐसा है जो तर्कका विषय नही है। इसी विषयको स्पष्ट करनेके लिए आचार्य महाराज ने पाक्यशक्ति और अपाक्यशक्तिको उदाहरणरूपमे उपस्थित किया है। आशय यह है कि जिस प्रकार वही उडद अग्निसंयोगको निमित्त कर पकता है जो पाक्यशक्तिमे युक्त होता है। जिसमे अपाक्यशक्ति पाई जाती है वह अग्निसंयोगको निमित्त कर त्रिकालमे नही पकता ऐसी वस्तुमर्यादा है उसी प्रकार प्रकृतमे जानना चाहिए। इस दृष्टान्तको उपस्थित कर आचार्य महाराज यही दिखलाना चाहते है कि प्रत्येक द्रव्यमे आन्तरिक योग्यताका सद्भाव स्वीकार किये बिना कोई भी काय नही हो सकता। उसमे भी जिस योग्यताका जो स्वकाल (समर्थ उपादानलक्षण) है उसके प्राप्त होने पर ही वह कार्य होता है, अन्यथा नही होता। इससे यदि कोई अपने पुरुषार्थकी हानि समझे सो भी बात नही है, क्योंकि जीवके किसी भी योग्यताको कार्यका आकार पुरुषार्थ द्वारा ही प्राप्त होता है। जीवकी प्रत्येक कार्यकी उत्पत्तिमे पुरुषार्थ अनिवार्य है। उसकी उत्पत्तिमें एक कारण हो और अन्य कारण न हो ऐसा नही है। जब कार्य उत्पन्न होता है तब अन्य निमित्त भी होता है, क्योंकि जहाँ निश्चय (उपादान कारण) है वहाँ व्यवहार (निमित्त कारण) होना ही है। इतना अवश्य है कि मिथ्यादृष्टि जीव निश्चयको लक्ष्यमे नही लेता और मात्र व्यवहार पर जोर देता रहता है, इसीलिए वह व्यवहाराभासी होकर अनन्त संसारका पात्र बना रहता है। ऐसे व्यवहाराभासीके लिए पण्डितप्रवर दौलतरामजी छहढालामें क्या कहते है यह उन्हीके शब्दोंमें पढ़िये:—

कोटि जनम तप तपें ज्ञान बिन कर्म झरें जे।
ज्ञानीके छिनमे त्रिगुप्तितें सहज टरें ते॥
मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो।
पै निज आतम ज्ञान बिना सुख लेश न पायो॥

जैसा कि हम पहले लिख आए है भविव्यता उपादानकी योग्यताका ही दूसरा नाम है। प्रत्येक द्रव्यमे कार्यक्षम भवितव्यता होती है इसका समर्थन करते हुए स्वामी समन्तभद्र अपने स्वयम्भूस्तोत्रमे कहते है —

---

१. यहाँ पर जीवोके सम्यग्दर्शनादिरूप परिणाम शुद्धि शक्तिके अभिव्यंजक है और मिथ्यादर्शनादिरूप परिणाम अशुद्धिशक्तिके अभिव्यंजक है इस अभिप्रायको ध्यानमे रखकर यह व्याख्यान किया है। वैसे शुद्धिशक्तिका अर्थ भव्यत्व और अशुद्धि शक्तिका अर्थ अभव्यत्व करके भी व्याख्यान किया जा सकता है। भट्ट अकलंकदेवने अष्टशतीमे और आचार्य विद्यानन्दने अष्टसहस्रीमे सर्वप्रथम इसी अर्थको ध्यानमे रखकर व्याख्यान किया है। इसी अर्थको ध्यानमे रखकर आचार्य अमृतचन्द्रने पञ्चास्तिकाय गाथा १२० की टीकामे यह वचन लिखा है—ससारिणो द्विप्रकाराः भव्या अभव्याश्च। ते शुद्धस्वरूपोपलम्भशक्तिसद्भावासद्भावाभ्या पाच्यापाच्यमुद्गवदभिधीयन्त इति।

अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिंगा ।
अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियार्त्तः संहत्य कार्येष्विति साध्ववादी ॥३३॥

आपने (जिनदेवने) यह ठीक ही कहा है कि हेतुद्वयसे उत्पन्न होनेवाला कार्य ही जिसका ज्ञापक है ऐसी यह भवितव्यता अलंघ्यशक्ति है, क्योंकि संसारी प्राणी 'मैं इस कार्यको कर सकता हूँ' इस प्रकारके अहंकारसे पीड़ित है वह उस भवितव्यता) के बिना अनेक प्रकारके अन्य कारणोंका योग मिलने पर भी कार्योंके सम्पन्न करनेमें समर्थ नहीं होता ।

उपादानरूप योग्यतानुसार कार्य होता है इसका समर्थन भट्टाकलंकदेव तत्त्वार्थवार्तिक (अ० १, सूत्र २०) में इन शब्दोंमें करते हैं—

यथा मृदः स्वयमन्तर्घटभवनपरिणामाभिमुख्ये दंड-चक्र-पौरुषेय-प्रयत्नादि निमित्तमात्रं भवति, यतः सत्स्वपि दंडादिनिमित्तेषु शर्करादिप्रचितो मृत्पिण्डः स्वयमन्तर्घटभवनपरिणामानिरुत्सुकत्वान्न घटीभवति, अतो मृत्पिण्ड एव बाह्यदण्डादिनिमित्तसापेक्ष आभ्यन्तरपरिणामसानिध्याद् घटो भवति न दण्डादयः इति दण्डादीनां निमित्तमात्रत्व भवति ।

जैसे मिट्टीके स्वयं भीतरसे घटभवनरूप परिणामके अभिमुख होने पर दण्ड, चक्र और पुरुषकृत प्रयत्न आदि निमित्तमात्र होते हैं, क्योंकि दण्डादि निमित्तोंके रहनेपर भी बालुकाबहुल मिट्टीका पिण्ड स्वयं भीतरसे घटभवनरूप परिणाम (पर्याय) से निरुत्सुक होनेके कारण घट नहीं होता, अतः बाह्यमें दण्डादि निमित्तसापेक्ष मिट्टीका पिण्ड ही भीतर घटभवनरूप परिणामका सानिध्य होनेसे घट होता है, दण्डादि घट नहीं होते, इसलिए दण्डादि निमित्तमात्र हैं ।

इस प्रकार इन उद्धरणोंमें स्पष्ट है कि उपादानगत योग्यताके कार्यभवनरूप व्यापारके होनेपर ही वह कार्य होता है, अन्यथा नहीं होता । ऐसे परिणमनकी क्षमता प्रत्येक द्रव्यमें होती है । जीवके इस परिणमन करनेरूप व्यापारको पुरुषार्थ कहते हैं ।

यदि तत्त्वार्थवार्तिकके उक्त उल्लेखपर बारीकीसे ध्यान दिया जाता है तो उससे यह भी विदित हो जाता है कि घट निष्पत्तिके अनुकूल कुम्हारका जो व्यापार होता है वह भी निमित्तमात्र होता है, वास्तवमें कर्ता निमित्त नहीं । उनका 'निमित्तमात्र है' ऐसा कहनेका भी यही तात्पर्य है ।

सब कार्य स्वकालमें ही होते हैं इसे भी भट्टाकलंकदेवने तत्त्वार्थवार्तिक (अ० १, सूत्र० ३) में स्वीकार किया है । वह प्रकरण निसर्गज और अधिगमज सम्यग्दर्शनका है । इसी प्रसंगको लेकर उन्होंने सर्वप्रथम यह शंका उपस्थित की है—

भव्यस्य कालेन निःश्रेयसोपपत्तेः अधिगमसम्यक्त्वाभावः । ७ । यदि अवधृतमोक्षकालात् प्रागधिगमसम्यक्त्वबलात् मोक्षः स्यात् स्यादधिगमसम्यग्दर्शनस्य साफल्यम् । न चादोऽस्ति । अतः कालेन योऽस्य मोक्षोऽसौ निसर्गजसम्यक्त्वादेव सिद्ध इति ।

इस वार्तिक और उसकी टीकामें कहा गया है कि यदि नियत मोक्षकालके पूर्व अधिगमसम्यक्त्वके बलसे मोक्ष होवे तो अधिगमसम्यक्त्व सफल होवे । परन्तु ऐसा नहीं है, इसलिए स्वकालके आश्रयसे जो इस भव्य जीवको मोक्षकी प्राप्ति होती है वह निसर्गज सम्यक्त्वसे ही सिद्ध है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उक्त कथन द्वारा भट्टाकलंकदेवने भी इस तथ्यको स्वीकार किया है कि प्रत्येक भव्य जीवको उसकी मोक्ष प्राप्तिका स्वकाल आनेपर मुक्तिलाभ अवश्य होता है । इससे सिद्ध है कि लोकमें जितने भी कार्य होते हैं वे अपने कालके प्राप्त होनेपर ही होते हैं, आगे पीछे नहीं होते ।

यहाँ पर यह शंका की जा सकती है कि जब वही पर भट्टाकलंकदेवने कालनियमका निषेध कर दिया है तब उनके पूर्व वचनको कालनियमके समर्थनमें क्यों उपस्थित किया जाता है। कालनियमका निषेधपरक उनका वह वचन इस प्रकार है—

कालानियमाच्च निर्जराया । ९ । यतो न भव्यानां कृत्स्नकर्मनिर्जरापूर्वकमोक्षकालस्य नियमोऽस्ति । केचिद् भव्याः संख्येन कालेन सेत्स्यन्ति केचिदसंख्येन, केचिदनन्तेन, अपरे अनन्तानन्तेनापि न सेत्स्यन्तीति, ततश्च न युक्तं 'भवस्य कालेन निःश्रेयसोपपत्तेः इति ।

इस वार्तिक और उसकी टीकाका आशय यह है कि यतः भव्योंके समस्त कर्मोंकी निर्जरापूर्वक मोक्षकालका नियम नहीं है, क्योंकि कितने ही भव्य संख्यात काल द्वारा मोक्ष लाभ करेंगे। कितने ही असंख्यात काल द्वारा और कितने ही अनन्त काल द्वारा मोक्ष लाभ करेंगे। दूसरे जीव अनन्तानन्त काल द्वारा भी मोक्ष-लाभ नहीं करेंगे। इसलिए 'भव्य जीव काल द्वारा मोक्ष लाभ करेंगे' यह वचन ठीक नहीं है।

व्यवहाराभासी इसे पढ़कर उस परसे ऐसा अर्थ फलित करते है कि भट्टाकलंकदेवने प्रत्येक भव्य जीवके मोक्ष जानेके कालनियमका पहले शंकारूपमें जो विधान किया था उसका इस कथन द्वारा सर्वथा निषेध कर दिया है। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। यह सच है कि उन्होंने पिछले कथनका इस कथन द्वारा निषेध किया है। परन्तु उन्होंने यह निषेध नयविशेषका आश्रय लेकर ही किया है, सर्वथा नहीं। वह नयविशेष यह है कि पूर्वोक्त कथन एक जीवके आश्रयसे किया गया है और यह कथन नाना जीवोंके आश्रयसे किया गया है। सब भव्य जीवोंकी अपेक्षा देखा जाय तो सबके मोक्ष जानेका एक कालनियम नहीं बनता, क्योंकि दूर भव्योंको छोड़कर प्रत्येक भव्य जीवके मोक्ष जानेका कालनियम अलग-अलग है, इसलिए सबका एक कालनियम कैसे बन सकता है ? परन्तु इसका यदि कोई यह अर्थ लगावे कि प्रत्येक भव्य जीवका भी मोक्ष जानेका कालनियम नहीं है तो उसका उक्त कथन द्वारा यह अर्थ फलित करना उक्त कथनके अभिप्रायको ही न समझना कहा जायगा। अतः प्रकृतमें यही समझना चाहिए कि भट्टाकलंकदेव भी प्रत्येक भव्य जीवके मोक्ष जानेका कालनियम मानते है।

इसी बातका समर्थन करते हुए पंचास्तिकाय गाथा ११ की टीकामें भी कहा है :—

·········यदा तु द्रव्यगुणत्वेन पर्यायमुख्यत्वेन विवक्ष्यते तदा प्रादुर्भवति विनश्यति । सत्पर्यायजातमतिवाहितस्वकालमुच्छिनत्ति, असदुवस्थितस्वकालमुत्पादयति चेति ।

····और जब प्रत्येक द्रव्य द्रव्यकी गौणता और पर्यायकी मुख्यतासे विवक्षित होता है तब वह उपजता है और विनाशको प्राप्त होता है। जिसका स्वकाल बीत गया है ऐसे सत् (विद्यमान) पर्यायसमूहको नष्ट करता है और जिसका स्वकाल उपस्थित है ऐसे असत् (अविद्यमान) पर्यायसमूहको उत्पन्न करता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

इस प्रकार इस कथनसे भी यही विदित होता है कि प्रत्येक कार्य अपने-अपने स्वकालके प्राप्त होनेपर ही होता है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि स्वकालके प्राप्त होनेपर वह व्यवहारसे अपने आप हो जाता है। इस अपेक्षा होता तो है वह स्वभाव आदि पाँचके समवायमें ही। पर जिस कार्यका जो स्वकाल है उसके प्राप्त होनेपर ही इन पाँचका समवाय होता है और तभी वह कार्य होता है ऐसा यहाँपर समझना चाहिए।

आचार्य कुन्दकुन्द मोक्षपाहुडमें कालादिलब्धिके प्राप्त होनेपर आत्मा परमात्मा हो जाता है इसका समर्थन करते हुए स्वयं कहते है—

अइसोहणजोएणं सुद्ध हेमं हवेइ जह तह य ।
कालाईलद्धीए अप्पा परमप्पओ हवदि ॥२४॥

इसका अर्थ करते हुए पण्डितप्रवर जयचन्द्रजी छावडा लिखते हैं—

जैसे सुवर्ण पाषाण है सो सोधनेंकी सामग्रीके सम्बन्ध करि शुद्ध सुवर्ण होय है तैसें काल आदि लब्धि जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप सामग्रीकी प्राप्ति ताकरि यहु आत्मा कर्मके संयोगकरि अशुद्ध है सो ही परमात्मा होय है ॥२४॥

इसी तथ्यका समर्थन करते हुए स्वामी कार्तिकेय भी अपनी द्वादशानुप्रेक्षामें कहते हैं—

कालाइलद्धिजुत्ता णाणासत्तीहि संजुदा अत्था।
परिणममाणा हि सयं ण सक्कदे को वि वारेदुं ॥

इसका अर्थ पण्डित जयचन्दजी छावडाने इन शब्दोंमें किया है—

सर्व ही पदार्थ काल आदि लब्धिकरि सहित भये नाना शक्तिसंयुक्त हैं तैसें ही स्वयं परिणमै हैं तिनकूँ परिणमतै कोई निवारनेकूँ समर्थ नाहीं ॥२१९॥

इस विषयमें मान्य सिद्धान्त है कि ६ माह ८ समयमे ६०८ जीव मोक्ष जाते हैं और यह भी सुनिश्चित है कि अनन्तानन्त जीवराशिमेसे युक्तानन्तप्रमाण जीवराशिको छोड़कर शेष जीवराशि भव्य है सो इस कथनसे भी उक्त तथ्य ही फलित होता है।

इस प्रकार इतने विवेचनसे यह स्पष्ट हो जानेपर भी, कि प्रत्येक कार्य अपने-अपने स्वकालमे अपनी-अपनी योग्यतानुसार ही होता है, और जब जो कार्य होता है तब अन्य निमित्त भी तदनुकूल मिल जाते है, यहाँ यह विचारणीय हो जाता है कि प्रत्येक समयमे वह कार्य होता कैसे है ? क्या वह निश्चयसे स्वय होता हुआ भी अन्य कोई कारण है जिसको निमित्तकर वह कार्य होता है ? विचार करनेपर विदित होता है कि वह इस साधन सामग्रीके मिलनेपर भी अपनी-अपनी परिणमनशक्तिके बलपर स्वकालमे ही होता है। यही कारण है कि जिन पाँच कारणोंका पूर्वमे उल्लेख कर आये हैं उनमे कालको भी परिगणित किया गया है। इसमे भी हम कार्योत्पत्तिका मुख्य साधन जो पुरुषार्थ है उसपर तो दृष्टिपात करें नही और हमारा जब जो कार्य होना होगा, होगा ही यह मान कर प्रमादी बन जाँय यह उचित नही है। सर्वत्र विचार इस बातका करना चाहिए कि यहाँ ऐसे सिद्धान्तका प्रतिपादन किस अभिप्रायसे किया गया है। वास्तवमें चारों अनुयोगोंका सार वीत-रागता ही है, वैसे विपर्यास करनेके लिए सर्वत्र स्थान है।

उदाहरण स्वरूप प्रथमानुयोगको ही लीजिए। उसमे महापुरुषोंकी अतीत जीवन घटनाओंके समान भविष्यसम्बन्धी जीवन घटनाएँ भी अंकित की गई है। अब यदि कोई व्यक्ति उनकी भविष्यसम्बन्धी जीवन घटनाओंको पढे और कहे कि जैसे इन महापुरुषोंकी भविष्य जीवन घटनाएँ सुनिश्चित रही उसी प्रकार हमारा भविष्य भी सुनिश्चित है, अतएव अब हमे कुछ भी नही करना है। जब जो होना होगा, होगा ही, तो क्या इस आधारसे उसका ऐसा विकल्प करना उचित कहा जायगा ? यदि कहो कि इस आधारसे उसका ऐसा विकल्प करना उचित नही है। किन्तु उसे उन भविष्य-सम्बन्धी जीवन घटनाओंको पढकर ऐसा निर्णय करना चाहिए कि जिस प्रकार ये महापुरुष अपनी अपनी हीन अवस्थासे पुरुषार्थ द्वारा उच्च अवस्थाको प्राप्त हुए है उसी प्रकार हमें भी अपने पुरुषार्थ द्वारा अपनेमे उच्च अवस्था प्रकट करनी है। तो हम पूछते हैं कि फिर प्रत्येक कार्य स्वकालमें होता है इस सिद्धान्तको सुनकर उसका विपर्यास क्यों करते हो। वास्तवमें यह सिद्धान्त किसीको प्रमादी बनाने-वाला नहीं है। जो इसका विपर्यास करता है वह प्रमादी बनकर संसारका पात्र होता है और जो इस सिद्धान्तमें छिपे हुए रहस्यको जान लेता है वह परकी कर्तृत्व-बुद्धिका त्याग कर पुरुषार्थ द्वारा स्वभाव सन्मुख हो मोक्षका

पात्र होता है। प्रत्येक कार्य स्वकालमें होता है ऐसी यथार्थ श्रद्धा होनेपर 'परका मैं कुछ भी कर सकता हूँ' ऐसी कर्तृत्वबुद्धि तो छूट ही जाती है। साथ ही 'मैं अपनी आगे होनेवाली पर्यायोंमें कुछ भी फेर-फार कर सकता हूँ' इस अहंकारका भी लोप हो जाता है। उक्त कर्तृत्वबुद्धि छूटकर ज्ञाता-द्रष्टा बननेके लिए और अपने जीवनमें वीतरागताको प्रगट करनेके लिए इस सिद्धान्तको स्वीकार करनेका बहुत बड़ा महत्त्व है। जो महानुभाव समझते हैं कि इस सिद्धान्तके स्वीकार करनेसे अपने पुरुषार्थकी हानि होती है, वास्तवमें उन्होंने इसे भीतरसे स्वीकार ही नहीं किया ऐसा कहना होगा। यह उस दीपकके समान है जो मार्गका दर्शन करानेमें निमित्त तो है पर मार्गपर स्वयं चला जाता है। इसलिए इसे स्वीकार करनेसे पुरुषार्थकी हानि होती है ऐसी खोटी श्रद्धाको छोड़कर इसके स्वीकार द्वारा मात्र ज्ञाता-द्रष्टा बने रहनेके लिए सम्यक् पुरुषार्थको जागृत करना चाहिए। तीर्थंकरों और ज्ञानी सन्तोंका यही उपदेश है जो हितकारी जानकर स्वीकार करने योग्य है। श्रीमद्राजचन्द्र-जी कहते हैं—

जो इच्छो परमार्थ तो करो सत्य पुरुषार्थ।
भवस्थिति आदि नाम लई छेदो नहीं आत्मार्थ॥

जो भवस्थिति (काललब्धि) का नाम लेकर सम्यक् पुरुषार्थमें विरत हैं उन्हें ध्यानमें रखकर यह दोहा कहा गया है। इसमें बतलाया है कि यदि तूँ पुरुषार्थकी इच्छा करता है तो सम्यक् पुरुषार्थ कर। केवल काल-लब्धिका नाम लेकर आत्माका घात मत कर।

प्रत्येक कार्यकी काललब्धि होती है इसमें सन्देह नहीं। पर वह किसी जीवको सम्यक् पुरुषार्थ करनेसे रोकती हो ऐसा नहीं है। स्वकाललब्धि और योग्यता ये दोनों उपादानगत विशेषताके ही दूसरे नाम है। व्यव-हारसे अवश्य ही उस द्वारा विवक्षित कार्यके निमित्तभूत नियत कालका ग्रहण होता है। इसलिए जिस समय जिस कार्यका सम्यक् पुरुषार्थ हुआ वही उसकी काललब्धि है, इसके सिवाय अन्य कोई काललब्धि हो ऐसा नहीं है। इसी अभिप्रायको ध्यानमें रखकर पण्डितप्रवर टोडरमल्लजी मोक्षमार्गप्रकाशक (पृ० ४६२) में कहते हैं—

इहाँ प्रश्न—जो मोक्षका उपाय काललब्धि आएँ भवितव्यतानुसारि बने है कि मोहादिकका उपशमादि भएँ बने है अथवा अपने पुरुषार्थतैं उद्यम किए बने सो कहो। जो पहिले दोय कारण मिले बने है तौ हमकौं उपदेश काहैकौ दीजिए है। अर पुरुषार्थतैं बने है तो उपदेश सर्व सुनि तिन विषै कोई उपाय कर सकै, कोई न कर सकै सो कारण कहा? ताका समाधान—एक कार्य होने विषै अनेक कारण मिलैं हैं सो मोक्षका उपाय बनै है। तहाँ तो पूर्वोक्त तीनों ही कारण मिलै ही है। अर न बनै है तहाँ तीनों ही कारण न मिलै हैं। पूर्वोक्त तीन कारण कहे तिन विषै काललब्धि वा होनहार तौ किछू वस्तु नाहीं। जिस काल विषै कार्य बनै सोई काललब्धि और जो कार्य भया सोई होनहार। बहुरि कर्मका उपशमादि है सो पुद्गलकी शक्ति है। ताका आत्मा कर्ता हर्ता नाहीं। बहुरि पुरुषार्थ तैं उद्यम करिए है सो यहु आत्माका कार्य है। तातैं आत्माकौं पुरुषार्थ करि उद्यम करनेका उपदेश दीजिए है। तहाँ यहु आत्मा जिस कारण तैं कार्यसिद्धि अवश्य होय तिस कारणरूप उद्यम करै तहाँ तौ अन्य कारण मिलैं ही मिलैं अर कार्यकी भी सिद्धि होय ही होय।

वे आगे (पृ० ४६५ में) पुनः कहते हैं—

अर तत्त्व निर्णय करने विषै कोई कर्मका दोष है नाहीं। अर तूं आप तो महत रह्यौ चाहै अर अपना दोष कर्मादिककैं लगावै सो जिन आज्ञा मानैं तौ ऐसी अनीति संभवे नाही। तोकौ विषय-

कषायरूप ही रहना है तातै झूठ बोलै है। मोक्षकी साँची अभिलाषा होय तौ ऐसी युक्ति काहे कौं बनावे। संसारके कार्यनि विषै अपना पुरुषार्थतैं सिद्धि न होती जानै तौ भी पुरुषार्थकरि उद्यम किया करे। यहां पुरुषार्थ खोई बैठे। सो जानिए है, मोक्षको देखादेखी उत्कृष्ट कहै है। याका स्वरूप पहिचानि ताकौं हितरूप न जानै है। हित जानि जाका उद्यम बनै सो न करै वह असंभव है।

प्रकृतमें यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि शास्त्रोंमें जहाँ-जहाँ कालादिलब्धिका उल्लेख किया है वहाँ उसका आशय मुख्यतया आत्माभिमुख होनेके लिए ही है, अन्य कुछ आशय नहीं है। इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य जयसेन पञ्चास्तिकाय गाथा १५०-१५१ की टीकामें कहते हैं—

यदायं जीवः आगमभाषया कालादिलब्धिरूपमध्यात्मभाषया शुद्धात्माभिमुखपरिणामरूपं स्वसंवेदनज्ञानं लभते ।

जब यह जीव आगमभाषाके अनुसार कालादिलब्धिरूप और अध्यात्मभाषाके अनुसार शुद्धात्माभिमुख परिणामरूप स्वसंवेदनज्ञानको प्राप्त होता है।

१२ उपसंहार

इस प्रकार यहाँ तक जो हमने उपादानकारणके स्वरूपादिकी मीमांसाके साथ प्रसंगसे उपादानकी योग्यता और स्वकालका तथा उसका अविनाभावी व्यवहारकालका विचार किया उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जो कर्म निमित्त कहे जाते हैं वे भी उदासीन निमित्तोंके समान कार्योत्पत्तिके समय मात्र निमित्तमात्र होते हैं, इसलिए जो व्यवहाराभासी लोग इस मान्यतापर बल देते हैं कि जहाँ जैसे बाह्य निमित्त मिलते हैं वहाँ उनके अनुसार ही कार्य होता है, उनकी वह मान्यता समीचीन नहीं है। किन्तु इसके स्थानमें यही यह मान्यता समीचीन और तथ्यको लिए हुए है कि प्रत्येक कार्य चाहे वह शुद्ध द्रव्य सम्बन्धी हो और चाहे अशुद्ध द्रव्यसम्बन्धी हो, अपने-अपने निश्चय उपादानके अनुसार ही होता है। उसके अनुसार होता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वहाँ परद्रव्य निमित्त नहीं होता। परद्रव्य निमित्त तो वहाँपर भी होता है। पर उसके रहते हुए भी कार्य निश्चय उपादानके अनुसार ही होता है यह एकान्त सत्य है। इसमें सन्देहके लिए स्थान नहीं है। यही कारण है कि मोक्षके इच्छुक पुरुषोंको अनादि रूढ लोकव्यवहारसे मुक्त होकर अपने द्रव्यस्वभावको लक्ष्यमें लेना चाहिए आगममें ऐसा उपदेश दिया गया है।

यहाँ यह शंका की जाती है कि यदि कार्योंकी उत्पत्ति अन्य निमित्तोंके अनुसार नहीं होती है तो उन्हें निमित्त ही क्यों कहा जाता है? समाधान यह है कि ये कार्योंको अपने अनुसार उत्पन्न करते हैं इसलिए उन्हें विस्रसा या प्रयोग कारण नहीं कहा गया है। किन्तु अज्ञानीके विकल्प और क्रियाकी प्रकृष्टता अन्य द्रव्योंके क्रियाव्यापारके समय उनको सूचन करनेमें निमित्त होती है इस बातको ध्यानमें रखकर ही उन्हें प्रयोग निमित्त कहा गया है। विस्रसा निमित्तोंके विषयमें विवाद ही नहीं है।

इस प्रकार प्रत्येक कार्य यथासम्भव उक्त पाँच हेतुओंके समवायमें होता है। उनमें ही निश्चय उपादान और व्यवहार निमित्तोंका अन्तर्भाव हो जाता है। इसलिये आगममें सर्वत्र उक्त दो हेतुओंका निर्देश कहीं पर दोनोंकी मुख्यतासे और कहीं पर गौण—मुख्यरूपसे दृष्टिगोचर होता है।

●

अनेकान्त और स्याद्वाद

'अनेकान्त' शब्द अनेक और अन्त इन दो शब्दोंके मेलसे बना है। उसका सामान्य अर्थ है—अनेके अन्ताः धर्मा यस्यासौ अनेकान्तः। जिसमें अनेक अन्त अर्थात् धर्म पाये जाते हैं उसे अनेकान्त कहते हैं। जो भी जीवादि पदार्थ हैं वे सब अनेकान्तस्वरूप हैं यह इस कथनका तात्पर्य है। जो कोई पदार्थ अस्तिरूप है वह प्रत्येक त्रैकालिक होनेके साथ अर्थक्रियाकारी भी है। और वह तभी उक्त विधिसे अर्थक्रियाकारी बन सकता है जब उसे अनेकान्तस्वरूप स्वीकार किया जाय। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए स्वामी कार्तिकेय स्वरचित द्वादशानुप्रेक्षामें कहते हैं—

जं वत्थु अणेयंतं तं चिय कज्जं करेदि णियमेण।
बहुधम्मजुदं अत्थं कज्जकरं दीसदे लोए॥ २२५॥

जो वस्तु अनेकान्त स्वरूप है वही नियमसे कार्य करनेमें समर्थ है, क्योंकि लोकमें बहुत धर्मवाला अर्थ ही कार्यकारी देखा जाता है॥२२५॥

शंका—वस्तु बहुत धर्मोंवाली होती है इसका क्या अर्थ है? जैसे जीव द्रव्य लीजिये। वह दर्शन, ज्ञान, चारित्र, सुख और वीर्य आदि अनन्त धर्मोंवाला है या अस्तित्व, वस्तुत्व आदि अनन्त धर्मोंवाला है। इस प्रकार वस्तु बहुत धर्मोंवाली है, अनेकान्तका क्या यह अर्थ लिया जाय या इसका कोई दूसरा अर्थ है।

समाधान—विचार कर देखा जाय तो प्रत्येक वस्तु केवल उक्त विधिसे ही अनेकान्तस्वरूप नहीं स्वीकार की गई है। किन्तु प्रत्येक वस्तुको अनेकान्तस्वरूप स्वीकार करनेका प्रयोजन ही दूसरा है। बात यह है कि प्रत्येक वस्तुका स्वरूप क्या है इसे स्पष्ट करते हुए जैनदर्शनमें यह स्पष्ट किया गया है कि प्रत्येक वस्तु जैसे स्वद्रव्यादिकी अपेक्षा अस्तिस्वरूप है वैसे वह परद्रव्यादिकी अपेक्षा अस्तिस्वरूप नहीं है, क्योंकि एक द्रव्यमें अन्य सजातीय और विजातीय अन्य द्रव्योंका अत्यन्ताभाव है। यदि ऐसा स्वीकार न किया जाय तो न तो प्रत्येक द्रव्यका स्वतन्त्र अस्तित्व ही सिद्ध होता है और न ही प्रत्येक जीवकी बन्ध-मोक्ष व्यवस्था ही बन सकती है। यह तो है ही, इसके साथ ही एक वस्तुमें भी धर्मी और अनन्त धर्मोंकी अपेक्षा विचार करनेपर उनमेंसे भी प्रत्येकका अपने-अपने विवक्षित स्वरूपादिकी अपेक्षा स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध होता है, क्योंकि जैसे प्रत्येक धर्मी स्वरूपसे सत् है वैसे ही गुण-पर्यायरूप प्रत्येक धर्म भी स्वरूपसे सत् हैं। कोई किसीके कारण स्वरूपसत् हो ऐसा नहीं है। जैनदर्शनमें स्वरूपसे सत् और पररूपसे असत् इत्यादि तथ्यको स्वीकार कर जो अनेकान्तकी प्रतिष्ठा है उसका प्रमुख कारण यही है। भेदविज्ञान जैनदर्शनका प्राण है, इसलिये उक्त विधिसे अनेकान्तको हृदयंगम करनेपर ही भेदविज्ञानमें निपुणता प्राप्त होना सम्भव है, अन्य प्रकारसे नहीं। उदाहरणार्थ जब यह कहा जाता है कि रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है तब उसका अर्थ होता है कि रत्नत्रयको छोड़कर अन्य कोई मोक्षमार्ग नहीं है। इसे और खुलासा कर समझा जाय तो यह कहा जायगा कि यद्यपि जीव वस्तु अनन्त धर्मगर्भित एक पदार्थ है, परन्तु उसमें भी मोक्षमार्गता मात्र रत्नत्रयपरिणत आत्मामें ही घटित होती है, अन्य अनन्त धर्मपरिणत आत्मामें नहीं। इस प्रकार विविध दृष्टिकोणोंसे देखनेपर एक ही वस्तु कैसे अनेकान्तस्वरूप है यह स्पष्ट हो जाता है, इसलिये उसके स्वरूपका ख्यापन करते हुए समयसार आत्मख्याति टीकामें कहा भी है—

तत्र यदेव तत् तदेव अतत् यदेवैकं तदेवानेकं यदेव सत् तदेव असत् यदेव नित्यं तदेव अनित्यं इत्येकस्मिन् वस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्तः।

स्वतन्त्र सत्ताकी वस्तुएँ अनन्त हैं। उन्हे बुद्धिगम्य करके विविध दृष्टिकोणोंसे देखनेपर प्रत्येक वस्तु कैसी प्रतीतिमें आती है इसीका ख्यापन करते हुए परमागममें कहा है—

जो तत् है वही अतत् है, जो एक है वही अनेक है, जो सत् है वही असत् है तथा जो नित्य है वही अनित्य है इस प्रकार एक ही वस्तुमें वस्तुत्वकी प्रतिष्ठा करनेवाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियोंके प्रकाशनका नाम अनेकान्त है।

५. चार युगलोंकी अपेक्षा अनेकान्तकी सिद्धि

यद्यपि जीवद्रव्य अनन्त है। पुद्गल द्रव्य उनसे भी अनन्तगुणे है। धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य प्रत्येक एक-एक है तथा कालद्रव्य लोकाकाशके जितने प्रदेश हैं तत्प्रमाण है। उनमेंसे यहाँ उदाहरणस्वरूपका एक जीव द्रव्यकी अपेक्षा विचार करते है। उसमें भी अनेकान्तके स्वरूपका ख्यापन करते समय जिन परस्पर विरुद्ध चार युगलोंका निर्देश कर आये है उनको ध्यानमे रखकर क्रमसे मात्र आत्मतत्त्वका निरूपण करेंगे—

१. पहला युगल है—आत्मा तत्स्वरूप ही है और अतत्स्वरूप ही है, क्योंकि अन्तरंगमे अपने सहज ज्ञानस्वरूपके द्वारा तत्स्वरूप ही है और बाहर अनन्त ज्ञेयोको जानता है इस अपेक्षा वह अतत्स्वरूप ही है।

२. दूसरा युगल है—आत्मा एक ही और अनेक ही है, क्योंकि सहप्रवृत्तमान गुण और क्रमशः प्रवृत्तमान पर्यायों स्वरूप अनन्त चैतन्यरूप अंशोंके समुदायपनेकी अपेक्षा वह एक ही है और सहज ही अविभक्त एक द्रव्यमे व्याप्त सह प्रवृत्तमान गुण और क्रमशः प्रवृत्तमान पर्यायस्वरूप अनन्त चैतन्य अंशरूप पर्यायोंकी अपेक्षा वह अनेक ही है। यहाँ भेद-कल्पनामे गुणोंको पर्याय कहा गया है।

३. तीसरा युगल है—आत्मा सत् ही है और असत् ही है, क्योकि वह अपने स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-रूपसे होनेकी शक्तिरूप स्वभाववाला है, इसलिये सत् ही है और परद्रव्य क्षेत्र-काल-भावरूप न होनेकी शक्तिरूप स्वभाववाला है, इसलिये असत् ही है।

४. चौथा युगल है—आत्मा नित्य ही है और अनित्य ही है, क्योंकि अनादि-निधन-अविभाग एकरस परिणत होनेके कारण वह नित्य ही है और क्रमश प्रवर्तमान एक समयकी मर्यादावाले अनेक वृत्त्यंशरूपसे परिणत होनेके कारण वह अनित्य ही है।

इस प्रकार एक ही आत्मा तत् है और अतत् है, एक है और अनेक है, सत् है और असत् है तथा नित्य है और अनित्य है। इसलिये वह अनेकान्तस्वरूप है यह निश्चित होता है। इसी प्रकार जितना भी द्रव्य-जात है उनमेंसे प्रत्येकको अनेकान्तस्वरूप घटित कर लेना चाहिये।

शंका—श्री समयसार परमागममे आत्माको ज्ञानमात्र कहा गया है सो यदि आत्मद्रव्य ज्ञानमात्र होनेसे स्वयं ही अनेकान्तस्वरूप है तो फिर आत्मतत्त्वकी सिद्धिके लिए पृथक्से अनेकान्तकी प्ररूपणा क्यों की जाती है?

समाधान—अज्ञानी जन आत्मतत्त्वको ज्ञानमात्र नही मानते, इसलिये आत्मतत्त्व ज्ञानमात्र है यह उपदेश दिया जाता है। वस्तुत: अनेकान्तके बिना ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वकी सिद्धि होना सम्भव नही है, इसलिए पृथक् अनेकान्तकी प्ररूपणा की जाती है।

शंका—जैसे प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मगर्भित एक वस्तु है वैसे ही आत्मा भी अनन्त धर्मगर्भित एक वस्तु है। फिर प्रकृतमें उसे ज्ञानमात्र क्यों बतलाया गया है।

समाधान—लक्ष्य-लक्षणमे अभेद करके आत्माको ज्ञानमात्र कहनेमे कोई विप्रतिपत्ति नही है। यद्यपि आत्मा भी अन्य द्रव्योंके समान अनन्तधर्मगर्भित एक वस्तु है। किन्तु उसमे साधारण और असाधारण दोनों

प्रकारके धर्म हैं। जो साधारण धर्म हैं वे अन्य द्रव्योसे आत्मद्रव्यके भेदक नही हो सकते। जो असाधारण होकर भी पर्यायरूप हैं वे भी एक त्रिकालवर्ती आत्मद्रव्यका ख्यापन करनेमे असमर्थ हैं। और जो असाधारण होकर भी त्रिकाल व्याप्ति समन्वित हैं जैसे चारित्र, सुख और वीर्य आदि सो वे भी बोधगम्य होनेपर ही माने जाते है। अतः वे स्वयं आत्मतत्त्वको अन्य द्रव्योंसे पृथक् करनेमें असमर्थ है। रहा दर्शन सो वह अनाकार-स्वरूप है। एक ज्ञान ही ऐसा है जो अनुभवगोचर है, इसलिए उस द्वारा आत्मतत्त्वको अन्य द्रव्योंसे पृथक् करना सम्भव है, इसलिए जिनागममे आत्माको ज्ञानमात्र स्वीकार किया गया है।

तत्त्वार्थवार्तिकमें लक्षण किसे कहते है इसका निर्देश करते हुए बतलाया है—

परस्परव्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम्।

सभी पदार्थ (परक्षेत्रपनेकी अपेक्षा) परस्पर मिलकर रहते है, इसलिए जिसके द्वारा एक पदार्थको दूसरे पदार्थसे जुदा किया जाता है उसे लक्षण कहते है।

इस दृष्टिसे विचार करनेपर द्रव्य (सामान्य) गुण (प्रत्येक द्रव्य व्यापी त्रिकाली विशेष धर्म) और पर्याय (प्रत्येक द्रव्यव्यापी एक समयवर्ती धर्मविशेष) का लक्षण स्वतन्त्र रूपसे प्रतीतिमें आता है। यही कारण है कि प्रकृतमें इसी दृष्टिको माध्यम बना कर अनेकान्तस्वरूप वस्तुकी व्यवस्था की गई है। एक ही वस्तु दूसरी वस्तुसे अत्यन्त भिन्न है यह तो है ही। उसे दिखलाना यहाँ मुख्य प्रयोजन नही है। यहाँ तो एक ही वस्तु द्रव्य, गुण और पर्यायपनेकी अपेक्षा कैसे तत्-अतत्, एक-अनेक, सत्-असत् और नित्य-अनित्य स्वरूप है यह दिखलाया है। जैनदर्शनमे प्रत्येक वस्तुको अनेकान्तस्वरूप दिखलाना यह मुख्य प्रयोजन है। अन्यथा प्रत्येक वस्तु स्वयंमे अनेकान्तस्वरूप नही सिद्ध होती।

तत्त्वार्थवार्तिक अ० सूत्र ४२मे जीव पदार्थ अनेकान्तात्मक कैसे है इसका विचार करते हुए लिखा है—

जीव पदार्थ एक होकर भी अनेकरूप है, क्योकि वह अभावसे विलक्षण स्वरूपवाला है। वस्तुतः देखा जाय तो अभावमे कोई भेद दृष्टिगोचर नही होता। उसके विपरीत भावमें तो अनेक धर्म और अनेक भेद दृष्टिगोचर होते हैं। जो घटका उत्पाद है वही पट आदि अनन्त पदार्थोंका उत्पाद नही है। इस प्रकार स्वकी अपेक्षा उत्पाद एक होकर भी उसमे परकी अपेक्षा अनन्तरूपता घटित हो जाती है। यह एक उदाहरण है। परसे भेद दिखलानेकी अपेक्षा इस प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिये।

इस प्रकार लोकमे जितने भी सद्भावरूप पदार्थ है उनमेसे प्रत्येक कैसे अनेकान्तस्वरूप है इसका संक्षेपमे ऊहापोह किया।

६. स्याद्वाद और अनेकान्त

अब अनेकान्तस्वरूप वस्तुका वचन मुखसे विचार करते है। अनेकान्तस्वरूप एक ही वस्तुका शब्दों द्वारा कथन दो प्रकारसे होता है—एक क्रमिकरूपमे और दूसरा यौगपद्यरूपसे। इनके अतिरिक्त कथनका तीसरा कोई प्रकार नहीं है। जब अस्तित्व आदि अनेक धर्म कालादिकी अपेक्षा भिन्न-भिन्न रूपसे विवक्षित होते है तब एक शब्दमे अनेक धर्मों के प्रतिपादनकी शक्ति न होनेसे उनका क्रमसे प्रतिपादन किया जाता है। इसीका नाम विकलादेश है। परन्तु जब वे ही अस्तित्वादि धर्म कालादिकी अपेक्षा अभेदरूपसे विवक्षित होते हैं तब एक ही शब्द द्वारा एक धर्ममुखेन तादात्म्यरूपसे एकत्वको प्राप्त सभी धर्मों का अखण्डरूपसे युगपत् कथन हो जाता है। इसीका नाम सकलादेश है। विकलादेश नयरूप है और सकलादेश प्रमाणरूप है। कहा भी है—विकलादेश नयाधीन है और सकलादेश प्रमाणाधीन है।

७. सकलादेशकी अपेक्षा ऊहापोह

जिस समय एक वस्तु अखण्डरूपसे विवक्षित होती है उस समय वह अस्तित्वादि धर्मोकी अभेदवृत्ति या अभेदोपचार करके पूरीको पूरी एक शब्द द्वारा कही जाती है। इसी का नाम सकलादेश है, क्योंकि द्रव्यार्थिक नयमे सभी धर्मोमे अभेदवृत्ति घटित हो जानेसे अभेद है तथा पर्यायार्थिक नयसे प्रत्येक धर्ममे दूसरे धर्मोसे भेद होने पर भी अभेदोपचार कर लिया जाता है। जिसे स्याद्वाद कहते है उसमे इस दृष्टिसे प्रत्येक भंग समग्र वस्तुको कहनेवाला माना जाता है इसीको आगे सप्तभंगीके द्वारा स्पष्ट करते हैं—

८. सप्तभंगीका स्वरूप और उसमें प्रत्येक भग को सार्थकता

सप्तभगीका कहनेसे इसके अन्तर्गत सात भगोंका बोध होता है। वे है—(१) स्यात् है ही जीव, (२) स्यात् नही ही है जीव, (३) स्यात् अवक्तव्य ही है जीव, (४) स्यात् है और नही है जीव, (५) स्यात् है और अवक्तव्य है जीव, (६) स्यात् नही है और अवक्तव्य है जीव तथा (७) स्यात है, नही है और अवक्तव्य है जीव।

प्रश्नके वश होकर एक वस्तुमें अविरोधपूर्वक विधि-प्रतिषेध कल्पनाका नाम सप्तभंगी है। किसी वस्तुको जाननेके लिए जिज्ञासा सात प्रकारकी होती है, इसलिए एक सप्तभगीमे भंग भी सात ही होते है। ये भंग पूर्वमे दिये ही है।

शंका—उक्त सात भगोमे यदि 'स्यादस्त्येव जीवः' यह भंग सकलादेशी है तो इसी एक भगसे जीव-द्रव्यके सभी धर्मोका संग्रह हो जाता है, इसलिये आगेके सभी भंग निरथक हैं?

समाधान—गौण और मुख्य विवक्षामे सभी भङ्ग सार्थक हैं। द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानता और पर्यायार्थिक नयकी गौणतामे प्रथम भङ्ग सार्थक है। तथा पर्यायार्थिक नयकी मुख्यता और द्रव्यार्थिकनयकी गौणतामे दूसरा भङ्ग सार्थक है। यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि यहाँ प्रधानता केवल शब्द प्रयोगकी है। वैसे प्रमाण सप्तभगीकी अपेक्षा वस्तु तो प्रत्येक भगमे पूरी ही ग्रहण की जाती है। जो शब्दसे कहा नहो गया है अर्थात् गम्य हुआ है वह प्रकृतमे अप्रधान है। तृतीय भंगमे कहनेकी युगपत् विवक्षा होनेसे दोनों ही अप्रधान हो जाते हैं, क्योंकि दोनोंको एक साथ प्रधानभावसे कहनेवाला कोई शब्द नही है। चौथे भंगमें क्रमशः उभय धर्म प्रधान होते है। इसी सरणिमे आगेके तीन भंगोंका विचार कर लेना चाहिये।

८. प्रत्येक भंगमें 'अस्ति' आदि पदोंको सार्थकता

'स्यादस्त्येव जीवः' इस वाक्यमें 'जीव'पद विशेष्य है—द्रव्यवाची है और 'अस्ति' पद विशेषण है—गुणवाची है। उसमे परस्पर विशेषण विशेष्यभाव है इसके द्योतनके लिये 'एव' पदका प्रयोग किया गया है। इससे इतर धर्मोकी निवृत्तिका प्रसंग प्राप्त होनेपर उन धर्मोके सद्भाव को द्योतन करनेके लिए उक्त वाक्यमें 'स्यात्' शब्दका प्रयोग किया गया है। यहाँ 'स्यात्' तिङन्तप्रतिरूपक निपात है। प्रकृतमें इसका अर्थ अनेकान्त लिया गया है।

शंका—जब कि 'स्यात्' पदसे ही अनेकान्तका द्योतन हो जाता है तो फिर 'अस्त्येव जीवः' या 'नास्त्येव जीवः' इत्यादि पदोंके प्रयोगकी कोई सार्थकता नही रह जाती है?

समाधान—माना कि 'स्यात्' पदमे अनेकान्तका द्योतन हो जाता है फिर भी विशेषार्थी विशेष शब्दोंका प्रयोग करते हैं। जैसे जीव कहनेसे मनुष्यादि सभीका ग्रहण हो जाता है, फिर भी विवक्षित पर्यायविशिष्ट जीवको जाननेवाला उस-उस शब्दका प्रयोग करता है। इसलिये पूर्वोक्त कोई दोष नही है।

एक बात और है। वह यह कि यद्यपि 'स्यात्' पद अनेकान्तका द्योतक होता है और जो द्योतक होता है वह किसी वाचक शब्दके द्वारा कहे गये अर्थको ही अनेकान्तरूप द्योतन करता है, अतः वाचक द्वारा प्रकाश्य धर्मकी सूचनाके लिये इतर शब्दोंका प्रयोग किया जाता है। बात यह है कि जब हम किसी विवक्षित धर्मके

द्वारा वस्तुका कथन करते है तब वस्तुमें रहनेवाले अन्य सब धर्म अविवक्षित रहते है, इसलिये उनको सूचित करनेके लिये स्यात्' पदका प्रयोग किया जाता है। यदि 'स्यात्' पदका प्रयोग न किया जाय तो सभी प्रयोग अनुक्ततुल्य हो जाते है। स्यात्' पद अनेकान्तका द्योतक है इस अर्थको स्पष्ट करते हुए आप्तमीमांसामें आचार्य समन्तभद्र कहते है—

वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणम्।
स्यान्निपातोऽर्थयोगि‧वात्तत्र केवलिनामपि ॥ १०३ ॥

हे भगवन् ! आपके शासनमे 'स्यादस्त्येव जीव' या 'स्यान्नास्त्येव जीव' इत्यादि वाक्योंमे अर्थके सम्बन्धवश 'स्यात्' पद अनेकान्तका द्योतक होता है और गम्य अर्थका विशेषण होता है। प्रकृतमें 'स्यात्' पद निपात है। यह केवलियों और श्रुतकेवलियों दोनोंको अभिमत है।

यहाँ आचार्य समन्तभद्रने यह स्पष्ट किया है कि सप्तभङ्गीके प्रत्येक भङ्गको 'स्यात्' पदसे युक्त करनेके दो प्रयोजन हैं। प्रथम प्रयोजनके अनुसार तो प्रत्येक वाक्यमे 'स्यात्' पद अनेकान्तका द्योतक होता है, क्योंकि निपात द्योतक होते है ऐसा वचन है। दूसरे प्रयोजनके अनुसार जिस वाक्यमे जो गम्य अर्थ है उसका विशेषण होनेसे वह अपेक्षा विशेषको सूचित करता है। इससे हम जानते है कि प्रथम भंगमे 'जीव है ही' यह जो कहा गया है वह अपेक्षा विशेषसे हो कहा गया है और दूसरे भंगमे 'जीव नही ही है' यह जो कहा गया है वह भी अपेक्षा विशेषसे ही कहा गया है। इस प्रकार प्रत्येक भगमे स्यात्' पदका प्रयोग होनेसे एक तो अनुक्त धर्मोका स्वीकार हो जाता है दूसरे विवक्षित भंग किस अपेक्षासे कहा गया है इसका सूचन हो जाता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है। सप्तभंगीमे सात भगोके प्रत्येक पदकी सार्थकताका निर्देश हम पहले ही कर आये है।

एक बात यहाँ विशेष जाननी चाहिये कि कही किसी वक्ताने स्यात् पदका प्रयोग नही भी किया हो तो वहाँ वह है ही ऐसा समझ लेना चाहिए क्योंकि ऐसा वचन भी है कि 'स्यात्' शब्दके प्रयोगका आशय रखनेवाला वक्ता कदाचित् 'स्यात्' शब्दका प्रयोग नही भी करता है तो भी वह प्रकरण आदिको ध्यानमे रख कर समझ लिया जाता है। कहा भी है—

तथा प्रतिज्ञाशयतोऽप्रयोग'।

जिसके अभिप्रायमे उस प्रकारकी प्रतिज्ञा है, वह 'स्यात्' शब्दका प्रयोग नही करता तो भी कोई दोष नही है।

९. कालादि आठकी अपेक्षा विशेष खुलासा

पहले हम यह बतला आये है कि प्रथम भंगमे यत द्रव्यार्थिकनयकी मुख्यता रहती है, इसलिये उसके द्वारा कालादिकी अपेक्षा अभेदवृत्ति करके पूरी वस्तु स्वीकार कर ली जाती है और दूसरे भगमे यतः पर्यायार्थिकनयकी प्रधानता रहती है इसलिये वहाँ कालादि की अपेक्षा अभेदोपचार करके उसके द्वारा समग्र वस्तु स्वीकार कर ली जाती है। अत प्रकृतमे उन कालादि आठका निर्देश करके उन द्वारा प्रकृत विषय पर विशेष प्रकाश डालते है। वे कालादि आठ ये है—काल, आत्मरूप, अर्थ, सम्बन्ध, उपकार, गुणिदेश, संसर्ग और शब्द। इन आठकी अपेक्षा खुलासा इस प्रकार है—

(१) 'कथंचित् है ही जीव' यहाँ अस्तित्वविषयक जो काल है वही काल अन्य अशेष धर्मोका है इसलिये समस्त धर्मों की एक वस्तुमे कालकी अपेक्षा अभेदवृत्ति बन जाती है। (२) जैसे अस्तित्व वस्तुका आत्मस्वरूप है वैसे अन्य अनन्त धर्म वस्तुके आत्मस्वरूप है, इसलिये समस्त धर्मोंकी एक वस्तुमे आत्मस्वरूपकी अपेक्षा अभेदवृत्ति बन जाती है। (३) जो द्रव्य अस्तित्वका आधार है वही अन्य अनन्त धर्मोका आधार होनेसे अर्थकी अपेक्षा समस्त धर्मों की एक वस्तुमे अभेदवृत्ति बन जाती है। (४) वस्तुके साथ अस्तित्वका जो तादात्म्य

लक्षण सम्बन्ध है वही अन्य समस्त धर्मोंका भी है, इसलिये सम्बन्धकी अपेक्षा समस्त धर्मोंकी एक वस्तुमें अभेदवृत्ति पाई जाती है। (५) गुणीसे सम्बन्ध रखनेवाला जो देश अस्तित्वका है वही देश अन्य समस्त धर्मोंका है, इसलिये गुणिदेशकी अपेक्षा समस्त धर्मोंकी एक वस्तुमे अभेदवृत्ति बन जाती है। (६) जो उपकार अस्तित्वके द्वारा किया जाता है वही अनन्त धर्मोके द्वारा किया जाता है, इसलिये उपकारकी अपेक्षा एक वस्तुमें समस्त धर्मोंकी अभेदवृत्ति बन जाती है। (७) एक वस्तुरूपसे अस्तित्वका जो ससर्ग है वही अनन्त धर्मोका है, इसलिये संसर्गकी अपेक्षा एक वस्तुमे समस्त धर्मोंकी अभेदवृत्ति बन जातो है। (८) जिस प्रकार 'अस्ति' यह शब्द अस्तित्व धर्मरूप वस्तुका वाचक है उसी प्रकार वह अशेष धर्मात्मक वस्तुका भी वाचक है, इसलिये शब्दकी अपेक्षा एक वस्तुमे समस्त धर्मोंकी अभेदवृत्ति बन जाती है। यह सब व्यवस्था पर्यायार्थिक नयको गौणकर द्रव्यार्थिक नयकी मुख्यतासे बनती है।

परन्तु पर्यायार्थिक नयकी प्रधानता रहनेपर अभेदवृत्ति सम्भव नही है। खुलासा इस प्रकार है—बात यह है कि पर्यायार्थिक नयकी प्रधानता रहनेपर अभेदवृत्ति सम्भव नही है, क्योकि (१) इस नयकी विवक्षासे एक वस्तुमे एक समय अनेक धर्म सम्भव नही है। यदि एक कालमे अनेक धर्म स्वीकार भी किये जायँ तो उन धर्मोंकी आधारभूत वस्तुमे भी भेद स्वीकार करना पड़ता है। (२) एक धर्मके साथ सम्बन्ध रखनेवाला जो वस्तुरूप है वह अन्यका नही हो सकता और जो अन्यसे सम्बन्ध रखनेवाला वस्तुरूप है वह उसका नही हो सकता। यदि ऐसा न माना जाय तो उन धर्मोमे भेद नही हो सकता। (३) एक धर्मका आश्रयभूत अर्थ भिन्न है और दूसरे धर्मका आश्रयभूत अर्थ भिन्न है। यदि धर्मभेदसे आश्रय भेद न माना जाय तो एक आश्रय होनेसे धर्मोमे भेद नही रहेगा। (४) सम्बन्धीके भेदसे सम्बन्धमे भी भेद देखा जाता है, क्योंकि नाना सम्बन्धियोंकी अपेक्षा एक वस्तुमे एक सम्बन्ध नही बन सकता है। (५) अनेक उपकारियोंके द्वारा जो उपकार किये जाते है वे अलग-अलग होते है उन्हे एक नही माना जा सकता है (६) प्रत्येक धर्मका गुणिदेश भिन्न-भिन्न होता है वह एक नही हो सकता। यदि अनन्त धर्मोका एक गुणिदेश मान लिया जाय तो वे धर्म अनन्त न होकर एक हो जायेंगे। अथवा भिन्न-भिन्न वस्तुओंके धर्मोंका भी एक गुणिदेश हो जायगा। (७) अनेक ससर्गोकी अपेक्षा संसर्गमे भी भेद है, वह एक नही हो सकता। (८) तथा प्रतिपाद्य विषयके भेदसे प्रत्येक शब्द जुदाजुदा है। यदि सभी धर्मोको एक शब्दका वाच्य माना जायगा तो वाचकके अभेदसे उन वाच्यभूत धर्मोमे भी भेद नही रहेगा। इस प्रकार पर्यायदृष्टिसे विचार करनेपर कालादिकी अपेक्षा अर्थभेद स्वीकार किया जाता है। फिर भी उनमे अभेदका उपचार कर लिया जाता है। अत इस विधिसे जिस वचन प्रयोगमे अभेदवृत्ति और अभेदोपचारकी विवक्षा रहती है वह वचन प्रयोग सकलादेश है यह निश्चित होता है। यद्यपि प्रमाण सप्तभंगीका प्रत्येक भंग सुनयवाक्य है, फिर भी वह प्रमाणाधीन है, क्योंकि उसके द्वारा अशेष वस्तु कही जाती है।

यह प्रमाण सप्तभगीके दो भंगोंकी मीमासा है। शेष पाँच भंगोंकी मीमासा भी इसी विधिसे कर लेनी चाहिये। इन भंगोको विशेष रूपसे समझनेके लिये *तत्त्वार्थवार्तिक* अ० ४के अन्तिम सूत्रवृत्तिपर दृष्टिपात करना चाहिये।

१० पूर्वोक्त विषयका सुबोध शैलीमें खुलासा

यहाँ तक हमने शास्त्रीय दृष्टिसे अनेकान्तके स्वरूपका विचार किया। आगे उसपर सुबोध शैलीमें विशेष प्रकाश डाला जाता है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि जो वस्तु तत्स्वरूप हो वही अतत्स्वरूप कैसे हो सकती है, क्योंकि एक ही वस्तुको तत्-अतत् स्वरूप माननेपर विरोध दिखाई देता है। परन्तु विचारकर देखा जाय तो इसमे विरोधकी कोई बात नही है। खुलासा इस प्रकार है—

यहाँपर वस्तुको जिस अपेक्षासे तत्स्वरूप स्वीकार किया है उसी अपेक्षामे उसे अतत्स्वरूप नही स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ एक ही व्यक्ति अपने पिताकी अपेक्षा पुत्र है और अपने पुत्रकी अपेक्षा पिता है, इसलिए जिस प्रकार एक ही व्यक्तिमे भिन्न-भिन्न अपेक्षाओंसे पितृत्व और पुत्रत्व आदि विविध धर्मोका सद्भाव बन जाता है उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ द्रव्यार्थिक दृष्टिसे तत्स्वरूप है, क्योंकि अनन्तकाल पहले वह जितना और जैसा था उतना और वैसा ही वर्तमानकालमे भी दृष्टिगोचर होता है और वर्तमानकालमे वह जितना और जैसा है उतना और वैसा ही वह अनन्तकाल तक बना रहेगा। उसमेसे कोई एक प्रदेश या गुण खिसक जाता हो और उसका स्थान कोई अन्य प्रदेश या गुण ले लेता हो ऐसा नही है, इसलिए तो वह सदाकाल तत्स्वरूप ही है।

किन्तु इस प्रकार उसके तत्स्वरूप सिद्ध होनेपर भी पर्यायरूपसे भी वह नही बदलता हो ऐसा नहीं है, क्योंकि हम देखते है कि जो बालक जन्मके समय होता है। कालान्तरमे वह वही होकर भी अन्य रूप भी हो जाता है, अन्यथा उसमें बालक, युवा और वृद्ध इत्यादिरूपसे विविध अवस्थाएँ दृष्टिगोचर नही हो सकती, इसलिए विवक्षाभेदसे तत् और अतत् इन दोनों धर्मोको एक ही वस्तुमे स्वीकार करनेमे कोई बाधा नही आती। मात्र अन्वयको स्वीकार करनेवाले द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिमे विचार करनेपर तो प्रत्येक पदार्थ हमे तत्स्वरूप ही प्रतीत होता है और उसी पदार्थको व्यतिरेकको स्वीकार करनेवाले पर्यायार्थिकनयकी दृष्टिमे देखनेपर वह मात्र अतत्स्वरूप ही प्रतीत होता है। इसलिए प्रत्येक पदार्थ द्रव्यार्थिकनयसे तत्स्वरूप ही है और पर्यायार्थिक-नयसे अतत्स्वरूप ही है।

इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ सत् भी है और असत् भी है। प्रत्येक पदार्थ स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावरूपसे अस्तिरूप ही है, इसलिए तो वह सत् ही है और उसमे परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावका सर्वथा अभाव है इसलिए इस दृष्टिसे वह असत् ही है। प्रत्येक पदार्थकी नित्यानित्यता और एकानेकता इसी प्रकार साध लेनी चाहिये, क्योंकि जब हम किसी पदार्थका द्रव्यदृष्टिसे अवलोकन करते है तो वह जहाँ हमे एक ओर नित्य प्रतीत होता है वहाँ उसे पर्यायदृष्टिसे देखनेपर उसमे अनेकता और अनित्यता भी प्रमाणित होती है।

शास्त्रोंमें प्रकृत विषयको पुष्ट करनेके लिए अनेक उदाहरण दिये गये है। विचार करनेपर विदित होता है कि प्रत्येक द्रव्य एक अखण्ड पदार्थ है। इस दृष्टिसे उसका विचार करनेपर उसमें द्रव्यभेद, क्षेत्रभेद, कालभेद और भावभेद सम्भव नही है, अन्यथा वह अखण्ड एक पदार्थ नही हो सकता, इसलिए द्रव्यार्थिकदृष्टि (अभेददृष्टि) से उसका अवलोकन करनेपर वह तत्वस्वरूप, एक, नित्य और अस्तिरूप ही प्रतीतिमे आता है। किन्तु जब उसका नाना अवयव, अवयवोंका पृथक्-पृथक् क्षेत्र, प्रत्येक समयमे होनेवाला उनका परिणामलक्षण स्वकाल और उसके रूप-रसादि या ज्ञान दर्शनादि विविध भाव इन सबकी दृष्टिसे विचार करते है तो वह एक अखण्ड पदार्थ अतत्वरूप, अनेक, अनित्य और नास्तिरूप ही प्रतीतिमे आता है।

प्रत्येक पदार्थ तद्भिन्न अन्य अनन्त पदार्थोसे पृथक् होनेके कारण उसमे उन अनन्त पदार्थोका अत्यन्ता-भाव है यह तो स्पष्ट है ही, अन्यथा उसका स्वद्रव्यादिकी अपेक्षा स्वरूपास्तित्व आदि ही सिद्ध नही हो सकता और न उन अनन्त पदार्थोमें अपने-अपने द्रव्यादिकी अपेक्षा भेदक रेखा ही खीची जा सकती है। आचार्य समन्तभद्रने अत्यन्ताभावके नही माननेपर किसी भी द्रव्यका विवक्षित द्रव्यादिरूपसे व्यपदेश करना सम्भव नही है यह जो आपत्ति दी है वह इसी अभिप्रायको ध्यानमे रख कर ही दी है। साथ ही गुण-पर्यायोके किंचित् मिलित स्वभावरूप वह स्वयं ही एक है और एक नही है, नित्य है और नित्य नही है, तत्स्वरूप है और

तत्स्वरूप नहीं है तथा अस्तिरूप है और अस्तिरूप नहो है, क्योंकि द्रव्यार्थिकदृष्टिसे उसका अवलोकन करनेपर जहाँ वह एक, नित्य, तत्स्वरूप और अस्तिरूप प्रतीतिमे आता है वहाँ पर्यायार्थिकदृष्टिसे उसका अवलोकन करनेपर वह एक नहो है अर्थात् अनेक है, नित्य नहो है अर्थात् अनित्य है, तत्स्वरूप नही है अर्थात् अतत्स्वरूप है और अस्तिरूप नही है, अर्थात् नास्तिरूप है ऐसा भो प्रतीतिमे आता है। अन्यथा उसमे प्रागभाव, प्रध्वसाभाव और अन्योन्याभावकी सिद्धि न हो सकनेके कारण न तो उसका विवक्षित समयमे विवक्षित आकार ही सिद्ध होगा और न उसमे जो गुणभेद और पर्यायभेदकी प्रतीति होती है वह भी बन सकेगी। आचार्य समन्तभद्रने प्रागभावके नही माननेपर कार्यद्रव्य अनादि हो जायगा, प्रध्वंसाभावके नही माननेपर कार्यद्रव्य अनन्तताको प्राप्त हो जायगा और इतरेतराभावके नही माननेपर वह एक सर्वात्मक हो जायगा यह जो आपत्ति दी है वह इसी अभिप्रायको ध्यानमे रखकर ही दी है। स्वामी समन्तभद्र 'प्रत्येक पदार्थ कथंचित सत् है और कथंचित् असत् है' इसे स्पष्ट करते हुए कहते है :—

सदेव सर्वं को नेच्छत् स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते॥१५॥

ऐसा कौन पुरुष है, जो, चेतन और अचेतन समस्त पदार्थ जात स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावकी अपेक्षा सत्स्वरूप ही है, ऐसा नही मानता और परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावकी अपेक्षा असत्स्वरूप ही है, ऐसा नही मानता, क्योंकि ऐसा स्वीकार किये बिना किसी भी इष्टतत्त्वकी व्यवस्था नही बन सकती॥१५॥

उक्त व्यवस्थाको स्वीकार नही करनेपर इष्ट तत्त्वकी व्यवस्था किस प्रकार नही बन सकती इस विषयको स्पष्ट करते हुए विद्यानन्दस्वामी उक्त श्लोककी टीकामे कहते है—

स्वपररूपोपादानापोहनव्यवस्थापाद्यत्वाद्वस्तुनि वस्तुत्वस्य, स्वरूपादिव पररूपादपि सत्त्वे चेतनादेरचेतनादित्वप्रसंगात् तत्स्वात्मवत्, पररूपादिव स्वरूपादप्यसत्त्वे सर्वथा शून्यतापत्तेः, स्वद्रव्यादिव परद्रव्यादपि सत्त्वे द्रव्यप्रतिनियमविरोधात्।

इसमे सर्वप्रथम तो वस्तुका वस्तुत्व क्या है इसका स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य विद्यानन्दने कहा है कि जिस व्यवस्थासे स्वरूपका उपादान और पररूपका अपोहन हो वही वस्तुका वस्तुत्व है। फिर भी जो इस व्यवस्थाको नही मानता उसके सामने जो आपत्तियाँ आती है उनका खुलासा करते हुए वे कहते है—

१. यदि स्वरूपके समान पररूपसे भी वस्तुको अस्तिरूप स्वीकार किया जाता है तो जितने भी चेतनादिक पदार्थ है वे जैसे स्वरूपसे चेतन है वैसे ही वे अचेतन आदि भी हो जावेंगे।

२. पररूपसे जैसे उनका असत्त्व है उसी प्रकार स्वरूपसे भी यदि उनका असत्त्व मान लिया जाता है तो स्वरूपास्तित्वके नही बननेसे सर्वथा शून्यताका प्रसग आ जायगा।

३. तथा स्वद्रव्यके समान परद्रव्यरूपसे भी यदि सत्त्व मान लिया जाता है तो द्रव्योंका प्रतिनियम होनेमें विरोध आ जायगा।

यत उक्त दोष प्राप्त न हों अत. प्रत्येक चेतन-अचेतन द्रव्यको स्वरूपसे सद्रूप ही और पररूपसे असद्रूप ही मानना चाहिए।

११. उदाहरण द्वारा उक्त विषयका स्पष्टीकरण

एक घटके आश्रयसे भट्टाकलंकदेवने घटका स्वात्मा क्या और परात्मा क्या इस विषयपर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है। इससे समय-प्राभृत आदि शास्त्रोंमे स्वसमय और परसमयका जो स्वरूप बतलाया गया है

उसपर मौलिक प्रकाश पड़ता है, इसलिए यहाँपर घटका स्वात्मा क्या और परात्मा क्या इसका विविध दृष्टियोंसे ऊहापोह करना इष्ट समझकर तत्त्वार्थवार्तिक, (अ० १, सूत्र ६) में इस सम्बन्धमे जो कुछ भी कहा गया है उसके भावको यहाँ उपस्थित करते है—

१. जो घट बुद्धि और घट शब्दकी प्रवृत्तिका हेतु है वह स्वात्मा है और जिसमे घट बुद्धि और घट शब्दकी प्रवृत्ति नही होती वह परात्मा है। घट स्वात्माकी दृष्टिसे अस्तित्वरूप है और परात्माकी दृष्टिसे नास्तित्वरूप है।

२. नामघट, स्थापनाघट, द्रव्यघट और भावघट इनमेसे जब जो विवक्षित हो वह स्वात्मा और तदितर परात्मा। यदि उस समय विवक्षितके समान इतररूपसे भी घट माना जाय या इतर रूपसे जिस प्रकार वह अघट है उसी प्रकार विवक्षित रूपसे भी वह अघट माना जाय तो नामादि व्यवहारके उच्छेदका प्रसंग आता है।

३. घट शब्दके वाच्य समान धर्मवाले अनेक घटोंमेसे विवक्षित घटके ग्रहण करने पर जो प्रतिनियत आकार आदि है वह स्वात्मा और उससे भिन्न अन्य परात्मा। यदि इतर घटोंके आकारमे वह घट अस्तित्वरूप हो जाय तो सभी घट एक घटरूप हो जायेंगे और ऐसी अवस्थामे सामान्यके आश्रयसे होनेवाले व्यवहारका लोप ही हो जायगा।

४. द्रव्यार्थिकदृष्टिसे अनेक क्षणस्थायी घटमे जो पूर्वकालीन कुशूलपर्यन्त अवस्थाये होती है वे और जो उत्तरकालीन कपालादि अवस्थाये होती है वे सब परात्मा और उनके मध्यमे अवस्थित घटपर्याय स्वात्मा। मध्यवर्ती अवस्थारूपसे वह घट है, क्योंकि घटके गुण-क्रिया आदि उसी अवस्थामे होते है। यदि कुशूलान्त और कपालादिरूपसे भी घट होवे तो घट अवस्थामे भी उनकी उपलब्धि होनी चाहिए। और ऐसी अवस्थामे घटकी उत्पत्ति और विनाशके लिए जो प्रयत्न किया जाता है उसके अभावका प्रसंग आता है। इतना ही क्यों, यदि अन्तरालवर्ती अवस्थारूपसे भी वह अघट हो जावे तो घटकार्य और उससे होनेवाले फलकी प्राप्ति नही होनी चाहिये।

५. उस मध्य कालवर्ती घटस्वरूप व्यञ्जनपर्यायमे भी घट प्रति समय उपचय और अपचयरूप होता रहता है, अतः ऋजुसूत्रनयका दृष्टिसे एक क्षणवर्ती घट ही स्वात्मा है और उसी घटकी अतीत और अनागत पर्यायें परात्मा है। यदि प्रत्युपन्न क्षणकी तरह अतीत और अनागत क्षणोंसे भी घटका अस्तित्व माना जाय तो सभी घट वर्तमान क्षणमात्र हो जायेंगे। या अतीत अनागतके समान वर्तमान क्षणरूपसे भी असत्त्व माना जाय तो घटके आश्रयसे होनेवाले व्यवहारका ही लोप हो जायगा।

६. अनेक रूपादिके समुच्चयरूप उसी वर्तमान घटमे पृथुबुध्नोदराकारसे घट अस्तित्वरूप है, अन्यरूपसे नही; क्योंकि उक्त आकारसे ही घट व्यवहार होता है, अन्यसे नही। यदि उक्त आकारमे घट न होवे तो उसका अभाव ही हो जायगा और अन्य आकारसे रहित पदार्थोंमे भी घटव्यवहार होने लगेगा।

७. रूपादिके सन्निवेशविशेषका नाम संस्थान है। उसमे चक्षुसे घट-ग्रहण होने पर रूपमुखसे घटका ग्रहण हुआ इसलिए रूप स्वात्मा है और रसादि परात्मा है। वह घट रूपसे अस्तित्वरूप है और रसादिरूपसे नास्तित्वरूप है। जब चक्षुसे घटको ग्रहण करते है तब यदि रसादि भी घट है ऐसा ग्रहण हो जाय तो रसादि भी चक्षुग्राह्य होनेसे रूप हो जायेंगे और ऐसी अवस्थामे अन्य इन्द्रियोंकी कल्पना ही निरर्थक हो जायगी। अथवा चक्षु इन्द्रियसे रूप भी घट है ऐसा ग्रहण न होवे तो वह चक्षु इन्द्रियका विषय ही न ठहरेगा।

८. शब्दभेदसे अर्थभेद होता है, अतः घट, कुट आदि शब्दोंका अलग अलग अर्थ होगा। जो घटनक्रियासे परिणत होगा वह घट कहलायेगा और जो कुटिलरूप क्रियासे परिणत होगा वह कुट कहलायेगा।

ऐसी अवस्थामें घटन क्रियाका कर्तृभाव स्वात्मा है और अन्य परात्मा। यदि अन्यरूपसे भी घट कहा जाय तो पटादिसे भी घट व्यवहार होना चाहिए और इस तरह सभी पदार्थ एक शब्दके वाच्य हो जायेंगे। अथवा घटन क्रियाको करते समय भी वह अघट होवे तो घट व्यवहारकी निवृत्ति हो जायगी।

९. घट शब्दके प्रयोगके बाद उत्पन्न हुआ घटरूप उपयोग स्वात्मा है, क्योंकि वह अन्तरंग है और अहेय है तथा बाह्य घटाकार परात्मा है, क्योंकि उसके अभावमें भी घटव्यवहार देखा जाता है। वह उपयोगाकारसे है अन्य रूपसे नहो। यदि घट उपयोगाकारसे भी न हो तो वक्ता और श्रोताके उपयोगरूप घटाकारका अभाव हो जानेसे उसके आश्रयसे होनेवाला व्यवहार लुप्त हो जायगा। अथवा इतररूपसे भी यदि घट होवे तो पटादिको भी घटत्वका प्रसंग आ जायगा।

१० चैतन्यशक्तिके दो आकार होते हैं—ज्ञानाकार और ज्ञेयाकार। प्रतिबिम्बसे रहित दर्पणके समान ज्ञानाकार होता है और प्रतिबिम्बयुक्त दर्पणके समान ज्ञेयाकार होता है। उसमें घटरूप ज्ञेयाकार स्वात्मा है, क्योंकि इसीके आश्रयसे घट व्यवहार होता है और ज्ञानाकार परात्मा है, क्योंकि वह सर्वसाधारण है। यदि ज्ञानाकारसे घट माना जाय तो पटादि ज्ञानके कालमें भी ज्ञानाकारका सन्निधान होनेसे घटव्यवहार होने लगेगा और यदि घटरूप ज्ञेयाकारके कालमें घट नास्तित्वरूप माना जाय तो उसके आश्रयसे इतिकर्तव्यताका लोप हो जायगा।

यह एक ही पदार्थमें एक कालमें नयभेदसे सत्त्वधर्म और असत्त्वधर्मकी व्यवस्था है। आशय यह कि प्रत्येक पदार्थमें जब जो धर्म विवक्षित होता है तब उसकी अपेक्षा वह अस्तित्वरूप होता है और तदितर अन्य धर्मोंकी अपेक्षा वह नास्तित्वरूप होता है। अस्तित्व धर्मका नास्तित्व धर्म अविनाभावी है, इसलिए जहाँ किसी एक विवक्षासे अस्तित्व घटित किया जाता है वहाँ तद्भिन्न अन्य विवक्षासे नास्तित्व धर्म होता ही है। न तो केवल अस्तित्व ही वस्तुका स्वरूप है और न केवल नास्तित्व ही। सत्ताका लक्षण करते हुए आचार्यों ने उसे सप्रतिपक्ष कहा है वह इसी अभिप्रायसे कहा है।

उदाहरणार्थ जब हम किसी विवक्षित मनुष्यको नाम लेकर बुलाते हैं तो उसमें उससे भिन्न अन्य मनुष्योंको बुलानेका निषेध गर्भित रहता ही है। या जैसे हम किसी विवक्षित पर्यायके ऊपर दृष्टि डालते हैं तो उसमें तद्भिन्न पर्यायोंका अभाव गर्भित रहता ही है। या जब हम किसीके भव्य होनेका निर्णय करते हैं तो उसमें अभव्यताका अभाव गर्भित है ही। इसलिए कहीं पर मात्र विधिद्वारा किसी धर्म विशेषका सत्त्व स्वीकार किया गया हो तो उसमें तदितरका अभाव गर्भित हो है ऐसा समझना चाहिए। एक वस्तुमें विवक्षित धर्मकी अपेक्षासे अस्तित्व और अन्यकी अपेक्षासे नास्तित्व यही अनेकान्त है। इसमें विवक्षित वस्तुमें धर्मविशेषकी प्रतिष्ठा होकर उसमें अन्यका उस रूपमें होनेका निषेध हो जाता है। यहाँ जिस प्रकार सदसत्त्वकी अपेक्षा अनेकान्तका निर्देश किया है उसी प्रकार तदतत्त्व, एकानेकत्व और भेदाभेदत्व आदिकी अपेक्षा भी उसका निर्देश कर लेना चाहिए। इस विषयको स्पष्ट करते हुए नाटकसमयसारके स्याद्वाद अधिकारमें पण्डितप्रवर बनारसीदासजी कहते हैं—

द्रव्य क्षेत्र काल भाव चारों भेद वस्तु ही में
अपने चतुष्क वस्तु अस्तिरूप मानिये।
परके चतुष्क वस्तु न अस्ति नियत अंग
ताको भेद द्रव्य परयाय मध्य जानिये॥
दरव जो वस्तु क्षेत्र सत्ताभूमि काल चाल
स्वभाव सहज मूल सकति बखानिये।

याही भाँति पर विकल्प बुद्धि कलपना
व्यवहार दृष्टि अंश भेद परमानिये ॥१०॥

प्रवचनसार ज्ञेयाधिकार गाथा १०३ से ११५ तक विशेष द्रष्टव्य है। इसमे एक ही द्रव्य कैसे तत्-अतत्स्वरूप आदि है यह स्पष्ट करनेके साथ सप्तभंगीका भी निर्देश किया गया है।

१२. जिनागममें मूल दो नयोंका ही उपदेश है

प्रवचनसार और तत्त्वार्थसूत्र आदिमें द्रव्यका "गुणपर्ययवद्द्रव्यम्"। यह लक्षण दृष्टिगोचर होता है। इसपर तत्त्वार्थवार्तिकमें शंकासमाधान करते हुए भट्टाकलंकदेव कहते हैं—

गुणा इति संज्ञा तन्त्रान्तराणाम्, आर्हतानां तु द्रव्यं पर्यायश्चेति द्वितीयमेव तत्त्वम्, अतश्च द्वितयमेव तद्द्वयोपदेशात्। द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिक इति द्वावेव मूलनयौ। यदि गुणोऽपि कश्चित् स्यात्, तद्विषयेण मूलनयेन तृतीयेन भवितव्यम्। न चास्त्यसाविति अतो गुणाभावात् गुणपर्यायवदिति निर्देशो न युज्यते ? तन्न, किं कारणम्, अर्हत्प्रवचनहृदयादिषु गुणोपदेशात्। उक्तं हि अर्हत्प्रवचने 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' इति। अन्यत्र चोक्तम्—

गुण इदि दव्वविधाणं दव्ववियारो य पज्जयो भणिदो।
तेहि अणूणं द्रव्वं अजुदपसिद्धं हवदि णिच्चं॥

यदि गुणोऽपि विद्यते, ननु चोक्तम् - तद्विषयस्तृतीयो मूलनयः प्राप्नोति ? नैष दोषः, द्रव्यस्य द्वावात्मानौ सामान्य विशेषश्चेति। तत्र सामान्यमुत्सर्गोऽन्वयः गुण इत्यनर्थान्तरम्। विशेषो भेदः पर्याय इति पर्यायशब्दः। तत्र सामान्यविषयो नयो द्रव्यार्थिकः। विशेषविषयः पर्यायार्थिकः। तदुभयं समुदितमयुतसिद्धरूपं द्रव्यमित्युच्यते। न तद्विषयस्तृतीयो नयो भवितुमर्हति, विकल्पादेशत्वान्नयानाम्। तत्समुदायोऽपि प्रमाणगोचरः, सकलादेशत्वात् प्रमाणस्य। गुणा एव पर्याया इति वा निर्देशः। अथवा उत्पाद व्यय-ध्रौव्याणि न पर्यायाः। न तेभ्योऽन्ये गुणा सन्ति। ततो गुणा एव पर्याया इति सति समानाधिकरण्ये मतौ सति गुण-पर्यायवदिति निर्देशो युज्यते। पृ० २४३।

शंका—गुण यह संज्ञा अन्य दर्शनोंकी है। आर्हत दर्शनमे तो द्रव्य और पर्याय इस प्रकार दो रूप ही तत्त्व है और इसलिये तत्त्वको दो रूप स्वीकार कर उन दोका उपदेश दिया गया है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो मूल नय है। यदि गुण भी कोई पृथक् तत्त्व है तो उसको विषय करनेवाला तीसरा नय होना चाहिये। परन्तु तीसरा नय नही है, इसलिये गुणका अभाव होनेसे 'गुण-पर्यायवद् द्रव्यम्' यह निर्देश नही बन सकता ?

समाधान—ऐसा नही है, क्योंकि अर्हत्प्रवचन आदि आगमोंमे गुणका उपदेश है। अर्हत्प्रवचनमे कहा भी है—जो द्रव्यके आश्रयसे हो और स्वयं गुणरहित हों वे गुण है। अन्यत्र भी कहा है—

प्रत्येक द्रव्यके त्रिकाली स्वरूपका ख्यापन करनेवाला गुण है और द्रव्यका विकार पर्याय कहा गया है। इन दोनोंसे सदा काल अयुतसिद्ध द्रव्य है।

शंका—यदि गुण अस्तिरूप है तो हम जो कह आये है कि उसको विषय करनेवाला तीसरा नय होना चाहिये ?

समाधान—यह कोई दोष नही है, क्योकि द्रव्य सामान्य और विशेष इन दो रूप है। उनमेंसे सामान्य, उत्सर्ग, अन्वय और गुण ये एक ही अर्थके वाचक शब्द हैं। तथा विशेष, भेद और पर्याय ये तीनों पर्यायवाची शब्द है। उनमेंसे सामान्यको विषय करनेवाले नयका नाम द्रव्यार्थिक है और विशेषको विषय

करनेवाले नयका नाम पर्यायार्थिक है । इन दोनोसे अयुतसिद्ध समुदायरूप द्रव्य कहा जाता है । अतएव गुणको विषय करनेवाला तीसरा नय नही हो सकता, क्योकि नय विकल्पोंके अनुसार प्रवृत्त होते हैं । सामान्य और विशेषका समुदित रूप प्रमाणका विषय है, क्योंकि प्रमाण सकलादेशी होता है ।

अथवा गुण ही पर्याय है ऐसा निर्देश करना चाहिये । अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य हैं, पर्याय नहीं है और उनमे भिन्न गुण नही है । इसलिये गुण ही पर्याय है । ऐसी अवस्थामे समानाधिकरणमें मतुप् प्रत्यय करनेपर 'गुण-पर्यायवद् द्रव्यम्' यह निर्देश बन जाता है ।

आशय यह है कि गुणोका सामान्यमे अन्तर्भाव होनेपर वे द्रव्यार्थिक नयके विषय है और भेद विवक्षामें गुण और पर्यायोंमे अभेद स्वीकार करनेपर वे पर्यायार्थिक नयके विषयरूपसे स्वीकृत किये जाते हैं, इसलिये द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो ही नय सिद्ध होते है, तीन नही ।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमे भी द्रव्यके उक्त लक्षणपर विचार करते हुए आचार्य विद्यानन्द कहते है—

नन्वेवमत्रापि पर्यायवद् द्रव्यमित्युक्ते गुणवदित्यनर्थकम्, सर्वद्रव्येषु पर्यायबन्धस्य भावात् । गुणवदिति चोक्ते पर्यायवदिति व्यर्थम्, तत एवेति तदुभय लक्षणं द्रव्यस्य किमर्थमुक्तम् ।

शंका—जो गुण पर्यायवाला हो वह द्रव्य है इस लक्षणमे भी जो पर्यायवाला हो वह द्रव्य है इतना कहनेपर जो गुणवाला है वह द्रव्य है ऐसा कहना निरर्थक है, क्योंकि सभी द्रव्योंमे पर्यायोंकी अनुवृत्ति देखी जाती है । और यदि जो गुणवाला हो वह द्रव्य है ऐसा कहनेपर जो पर्यायवाला हो वह द्रव्य है ऐसा कहना व्यर्थ है, क्योंकि सभी द्रव्य गुणवाले देखे जाते है, इसलिये द्रव्यका लक्षण उभयरूप किसलिये कहा गया है ?

यह एक शंका है । इसका समाधान करते हुए आचार्य विद्यानन्द कहते हैं—

गुणवद् द्रव्यमित्युक्तं सहानेकान्तसिद्धये ।
तथा पर्यायवद् द्रव्यं क्रमानेकान्तसिद्धये ॥२॥ पृ० ४३८ ॥

जो गुणवाला हो वह द्रव्य है यह वचन सह अनेकान्तकी सिद्धिके लिये कहा गया है तथा जो पर्यायवाला हो वह द्रव्य है यह वचन क्रम अनेकान्तकी सिद्धिके लिये कहा गया है ॥२॥

आशय यह है कि प्रत्येक द्रव्य युगपत् अनेक धर्मोका आधार है । इस प्रकार परस्पर विरुद्ध अनेक धर्मोका सद्भाव एकद्रव्यमे बन जाता है इसलिये सह अनेकान्तकी सिद्धिके लिये द्रव्यका जो गुणवाला हो वह द्रव्य है यह लक्षण योजित किया गया है । परन्तु जो द्रव्यजात है वह नित्य होनेके साथ परिणामी भी है इस प्रकार क्रम अनेकान्तकी सिद्धिके लिये द्रव्यका जो पर्यायवाला हो वह द्रव्य है यह लक्षण कहा गया है ।

इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य परस्पर विरुद्ध अनेक धर्मोका आधा होनेके साथ कथंचित् (किसी अपेक्षासे) नित्य ही है और कथचित् (किसी अपेक्षासे) अनित्य ही है यह सिद्ध हो जाता है ।

इस प्रकार प्रत्येक द्रव्यके अपेक्षा भेदसे तत्-असत्, एक-अनेक, सत्-असत् और नित्य-अनित्य सिद्ध होनेमें कोई बाधा नहीं आती ।

शंका—यदि सापेक्ष दृष्टिसे वस्तुको अनेकान्तात्मक माना जाता है तो प्रत्येक वस्तु स्वरूपसे अनेकान्त-रूप है यह नहो सिद्ध होता ?

समाधान—अनेकान्त यह वस्तुका स्वरूप है, क्योकि अपने स्वरूपको ग्रहणकर और परके स्वरूपका अपोहनकर स्थित रहना यह वस्तुका वस्तुत्व है । इसलिये अपेक्षा भेदसे अनेकान्तरूप वस्तुकी सिद्धि करना अन्य बात है । स्वरूपकी दृष्टिसे देखा जाय तो निरपेक्षरूपसे वह स्वय ही अनेकान्तमय है ।

१३. स्यात् पदकी उपयोगिता

इस प्रकार प्रत्येक वस्तु स्वयं अनेकान्तस्वरूप कैसे है और इस रूप उसकी सिद्धि कैसे होती है इसका स्पष्टीकरण करनेके बाद अब जयधवला पु० १ पृ० २८१ के आधारसे स्यात् पदकी उपयोगितापर विशेष प्रकाश डालते हैं।

रसकषाय किसे कहते है इसका समाधान करते हुए आचार्य यतिवृषभ कहते है कि कषायरसवाले द्रव्य या द्रव्योंको कषाय कहते हैं। (ज० ध०, पु० १, पृ० २७७)

इस सूत्रकी टीका करते हुए आचार्य वीरसेन कहते हैं कि द्रव्य दो प्रकारके पाये जाते हैं एक कषाय (कसैले) रसवाले और दूसरे अकषाय (अकसैले) रसवाले। इसलिये उक्त सूत्रका यह अर्थ होता है कि जिस एक या अनेक द्रव्योंका रस कसैला होता है वे स्यात् कषाय कहलाते है।

इसपर यह शंका हुई कि सूत्रमे 'स्यात्' पदका प्रयोग नही किया गया है, फिर यहाँ स्यात् पदका प्रयोग क्यों किया गया है। इसका समाधान करते हुए आचार्य वीरसेन कहते है कि जिस प्रकार प्रभा दो स्वभाववाली होती है। एक तो वह अन्धकारका ध्वंस करती है और दूसरे वह सभी पदार्थोको प्रकाशित करती है उसी प्रकार प्रत्येक शब्द प्रतिपक्ष अर्थका निराकरणकर इष्टार्थका ही समर्थन करता है। इसलिये विवक्षित अर्थके साथ प्रतिपक्ष अर्थ है इसे द्योतित करनेके लिये यहाँ सूत्रमे 'स्यात्' पदके प्रयोगका अध्याहार किया गया है। इतना स्पष्ट करनेके बाद उक्त तथ्यको ध्यानमे रखकर सप्तभंगकी योजना की गई है। यथा—

(१) द्रव्य स्यात् कषाय है।

(२) स्यात् नोकषाय है। ये प्रथम दो भंग है। इनमे प्रयुक्त हुआ 'स्यात्' पद क्रमसे नोकषाय और कषाय तथा कषाय-नोकषायविषयक अर्थ पर्यायोंको द्रव्यमे घटित करता है।

(३) स्यात् अवक्तव्य है। यह तीसरा भंग है। यहाँ कषाय और नोकषायविषयक अर्थपर्यायोकी अपेक्षा द्रव्यको अवक्तव्य कहा गया है। और स्यात् पद द्वारा कषाय-नोकषायविषयक व्यंजनपर्यायो को द्रव्यमे घटित किया गया है।

(४) द्रव्य स्यात् कषाय और नोकषाय है। यह चौथा भंग है। यहाँ प्रयुक्त हुआ स्यात् पद द्रव्यमे कषाय और नोकषाय विषयक अर्थपर्यायोको घटित करता है।

(५) द्रव्य स्यात् कषाय और अवक्तव्य है। यह पाँचवाँ भंग है। इसमे प्रयुक्त हुआ स्यात् पद द्रव्यमें नोकषायपनेको घटित करता है।

(६) द्रव्य स्यात् नोकषाय और अवक्तव्य है। यह छठा भंग है। इसमे प्रयुक्त हुआ स्यात् पद कषायपनेको घटित करता है।

(७) द्रव्य स्यात् कषाय, नोकषाय और अवक्तव्य है। यह सातवाँ भंग है। इसमे प्रयुक्त हुआ स्यात् पद कषाय, नोकषाय और अवक्तव्य इन तीनो धर्मोकी अक्रमवृत्तिको सूचित करता है।

इससे विदित होता है कि प्रमाण सप्तभंगीका प्रत्येक भंग किस प्रकार अपूर्व धर्मके साथ समग्र वस्तुको सूचित करता है। इस दृष्टिसे देखा जाय तो ये सातो भंग अपुनरुक्त है यह सूचित होता है। इसीका नाम स्याद्वाद है। तथा इसीको कथंचित्वाद भी कहते है।

१४. अनेकान्त कथंचित् अनेकान्तस्वरूप है

इस प्रकार प्रमाण सप्तभंगीके द्वारा अनेकान्तस्वरूप वस्तुका कथन करनेके बाद अनेकान्तरूप वस्तु सर्वथा अनेकान्तरूप है या कथंचित् अनेकान्तरूप है इसे स्पष्ट करनेके लिये तत्त्वार्थवार्तिक अ० १ सू० ६ में शंका-समाधान करते हुए लिखा है—

शंका—अनेकान्तमे यह विधि-प्रतिषेध कल्पना नही घटित होती। यदि अनेकान्तमें भी विधि-प्रतिषेध कल्पना घटित होती है तो जिस समय प्रतिषेध कल्पना द्वारा अनेकान्तका निषेध किया जाता है उस समय एकान्तकी प्राप्ति होती है। यदि अनेकान्तमे भी अनेकान्त लगाया जाता है तो अनवस्था दोष आता है, इसलिये वहाँ अनेकान्तपना ही बननेसे उसमें सप्तभंगी घटित नही होती ?

समाधान—नही, क्योंकि अनेकान्तमें भी सप्तभंगी घटित हो जाती है। यथा—

(१) स्यात् एकान्त है, (२) स्यात् अनेकान्त है, (३) स्यात् उभय है, (४) स्यात् अवक्तव्य है, (५) स्यात् एकान्त अवक्तव्य है, (६) स्यात् अनेकान्त अवक्तव्य है, (७) स्यात् एकान्त, अनेकान्त अवक्तव्य है।

शंका—यह कैसे ?

समाधान—प्रमाण और नयकी मुख्यतासे यह व्यवस्था बन जाती है। इसे स्पष्ट करते हुए वे लिखते है—

एकान्त दो प्रकारका है—सम्यक् एकान्त और मिथ्या एकान्त। अनेकान्त भी दो प्रकारका है—सम्यक् अनेकान्त और मिथ्या अनेकान्त। खुलासा इस प्रकार है।

प्रमाणके द्वारा निरूपित वस्तुके एक देशको सयुक्तिक ग्रहण करनेवाला सम्यक् है। एक धर्मकी सर्वथा अवधारणा करके अन्य धर्मोका निराकरण करनेवाला मिथ्या एकान्त है। तथा एक वस्तुमे युक्ति और आगमसे अविरुद्ध अनेक विरोधी धर्मोको ग्रहण करनेवाला सम्यक् अनेकान्त है और वस्तुको सत्-असत् आदि स्वभावसे शून्य कहकर उसमे अनेक धर्मोकी मिथ्याकल्पना करनेवाला मिथ्या अनेकान्त है। इनमेंसे सम्यक् एकान्त नय कहलाता है और सम्यक् अनेकान्त प्रमाण कहलाता है। उक्त तथ्यको स्पष्ट करते हुए आचार्य समन्तभद्र स्वयंभूस्तोत्रमे कहते हैं—

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाण-नयसाधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥१०३॥

हे भगवान् आपके शासनमे प्रमाण और नयके द्वारा साधित होनेसे अनेकान्त भी अनेकान्त स्वरूप है। प्रमाणकी अपेक्षा अनेकान्तस्वरूप है और विवक्षित नयकी अपेक्षा एकान्तस्वरूप है ॥१०३॥

विकलादेश और सप्तभंगी

इस प्रकार विवक्षित नयकी मुख्यतासे वस्तुके कथंचित् एकान्तस्वरूप सिद्ध होनेपर विकलादेश क्या है और उस दृष्टिसे सप्तभंगी कैसे बनती है इस पर ऊहापोह करते है—

एक अखण्ड वस्तुमे गुणभेदसे अंश कल्पना करना विकलादेश है। इसमे भी कालादिकी अपेक्षा भेदवृत्ति और भेदोपचारसे सप्तभंगी घटित हो जाती है। यथा 'स्यादस्त्येव जीवः' यह प्रथम भंग है तथा 'स्यान्नास्त्येव जीवः' यह दूसरा भंग है। इसी प्रकार उत्तर पाँच भंग जान लेने चाहिये। सर्व सामान्य आदि किसी एक द्रव्यार्थदिशकी अपेक्षा पहला विकलादेश है। इस भंगमे वस्तुमे यद्यपि अन्य धर्म विद्यमान हैं तो भी कालादिकी अपेक्षा भेद विवक्षा होनेसे शब्द द्वारा वाच्यरूपसे वे स्वीकृत नही है। न तो उनका विधान ही है और न प्रतिषेध ही है। इसी प्रकार अन्य भंगोंमे भी स्वविवर्जित धर्मकी प्रधानता रहती है। तथा अन्य धर्मोंके प्रति उदासीनता रहती है। न तो उनका विधान ही होता है और न प्रतिषेध ही।

शंका—'अस्त्येव जीव' इसमें एव पद लगाकर विशेषण-विशेष्यभावका नियमन करते है तब अर्थात् ही इतर धर्मोकी निवृत्ति हो जाती है, उदासीनता कहाँ रही ?

समाधान—इसलिये इतर धर्मको द्योतन करनेके लिये 'स्यात्' पदका प्रयोग किया जाता है। तात्पर्य यह है कि एवकारके प्रयोगसे जब इतर निवृत्तिका वस्तुतः प्रसंग प्राप्त होता है तब 'स्यात्' पद विवक्षित धर्मके साथ इतर धर्मोंकी सूचना दे देता है।

यहाँ भी पहला भंग द्रव्यार्थिकनयकी विवक्षासे कहा गया है और दूसरा भग पर्यायार्थिकनयकी विवक्षासे घटित होता है। द्रव्यार्थिक नय सत्त्वको विषय करता है और पर्यायार्थिक नय असत्त्वको विषय करता है। यहाँ असत्त्वका अर्थ सर्वथा अभाव नहीं है। किन्तु भावान्तरस्वभाव धर्म ही यहाँ असत्त्वपदसे स्वीकृत है।

यह प्रमाण सप्तभंगीके साथ नय सप्तभंगीको संक्षिप्त प्ररूपणा है।

१५. मोक्षमार्गमें दृष्टिकी मुख्यता है

अब सवाल यह है कि जीवनमें मोक्षमार्गकी प्रसिद्धिके अभिप्रायसे द्रव्यानुयोग परमागममें आत्माको जो स्वतः सिद्ध होनेसे अनादि अनन्त, विशदज्योति, और नित्य उद्योतरूप एक ज्ञायकस्वरूप बतलाया गया है सो क्यों, क्योंकि जब आत्मा द्रव्य-पर्याय उभयरूप है तब आत्मा प्रमत्त नहीं है, अप्रमत्त नहीं है ऐसा कहकर पर्यायस्वरूप आत्माका निषेध क्यों किया गया है? यह एक सवाल है जो उन महाशयोंकी ओरसे उठाया जाता है जो तत्त्वप्ररूपणा और मोक्षमार्ग प्ररूपणाको मिलाकर देखते हैं। वस्तुतः ये महाशय आचार्योंको दृष्टिमें करुणाके पात्र हैं।

यहाँ यह दृष्टिमें नहीं लेना है कि उपयोग लक्षणवाला जीव अनेकान्तस्वरूप कैसे है। आत्मज्ञान करते समय यह तो पहले ही हृदयंगम कर लिया गया है। यहाँ तो यह दृष्टिमें लेना है कि किस रूपमें स्वात्माकी भावना करनेसे हम मोक्षमार्गके अधिकारी बनकर मोक्षके पात्र हो सकते हैं। समयसार परमागममें इसी तथ्यको विशदरूपसे स्पष्ट किया गया है। हमें समयसार परमागमका मनन इसी दृष्टिसे करना चाहिये।

वैसे विचार कर देखा जाय तो वहाँ हमें अनेकान्तगर्भित स्याद्वादवाणीका पद-पद पर दर्शन होता है क्योंकि उसमें आचार्य कुन्दकुन्दने परसे भिन्न एकत्वरूप आत्माको दिखलाते हुए उस द्वारा उसी अनेकान्तका सूचन किया है। वे यह नहीं कहते कि जिसका कोई प्रतिपक्षी ही नहीं है ऐसे एकत्वको दिखलाऊँगा। यदि वे ऐसी प्रतिज्ञा करते तो वह एकान्त हो जाता जो मिथ्या होनेसे इष्टार्थकी सिद्धिमें प्रयोजक नहो होता। किन्तु वे प्रतिज्ञा करते हुए कहते है कि मैं आत्माके जिस एकत्वका प्रतिपादन करनेवाला हूँ उसका परसे भेद दिखलाते हुए ही प्रतिपादन करूँगा। यदि कोई समझे कि वे इस प्रतिज्ञा वचनको ही करके रह गये है सो भी बात नहीं है, क्योंकि जहाँ पर भी उन्होंने आत्माके ज्ञायकस्वभावकी स्थापना की है वहाँ पर उन्होंने परको स्वीकार करके उसमें परका नास्तित्व दिखलाते हुए ही उसकी स्थापना की है। इसी प्रकार प्रकृतिमें प्रयोजनीय अन्य तत्त्वका कथन करते समय भी उन्होंने गौण-मुख्यभावसे विधि-निषेध दृष्टिको साथ कर ही उसका कथन किया है। अब इस विषयको स्पष्ट करनेके लिए हम समयप्राभृतके कुछ उदाहरण उपस्थित कर देना चाहते हैं—

१. 'ण वि होदि अपमत्तो ण पमत्तो' इत्यादि गाथाको ले। इस द्वारा आत्मामें ज्ञायकस्वभावका 'अस्तित्वधर्म' द्वारा और उसमें प्रमत्ताप्रमत्तभावका 'नास्तित्वधर्म' द्वारा प्रतिपादन किया गया है।' दृष्टियाँ दो हैं—द्रव्यार्थिकदृष्टि और पर्यायार्थिकदृष्टि। द्रव्यार्थिक दृष्टिसे आत्माका अवलोकन करने पर वह ज्ञायकस्वभाव ही प्रतीतिमें आता है क्योंकि यह आत्माका त्रिकालाबाधित स्वरूप है। किन्तु पर्यायार्थिकदृष्टिसे उसी आत्माका अवलोकन करने पर वह प्रमत्तभाव और अप्रमत्तभाव आदि विविध पर्यायरूप ही प्रतीत होता है। इन दोनों रूप आत्मा है इसमें सन्देह नहो। परन्तु यहाँ पर बन्धपर्यायरूप प्रमत्तादि क्षणिक भावोंसे रुचि हटाकर

इस आत्माको अपने ध्रुवस्वभावकी प्रतीति करानी है, इसलिए मोक्षमार्गमें द्रव्यार्थिकदृष्टि (निश्चयनय) की मुख्यता होकर पर्यायार्थिकदृष्टि (व्यवहारनय) गौण हो जाती है। अर्थात् दृष्टिमें उसका निषेध हो जाता है। यही कारण है कि यहाँ पर द्रव्यार्थिकदृष्टिकी मुख्यता होनेसे आत्मा ज्ञायकस्वभाव है इसकी अस्तित्व धर्म द्वारा प्रतीति कराई गई है और आत्माके त्रिकालाबाधित ज्ञायकस्वभावमें प्रमत्तादि भाव नहीं है यह जानकर आत्मामें इनकी नास्तित्व धर्म द्वारा प्रतीति कराई गई है। तात्पर्य यह है कि प्रकृतिमें द्रव्यार्थिकनयका विषय विवक्षित होनेसे विवक्षितका 'अस्तित्व' द्वारा और अविवक्षितका 'नास्तित्व' द्वारा कथन कर अनेकान्तकी ही प्रतिष्ठा की गई है।

२ अब 'ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स' इत्यादि गाथाको लें। इसमें सर्वप्रथम उस ज्ञायकस्वभाव आत्मामें पर्यायार्थिकदृष्टिसे ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य आदि विविध धर्मोकी प्रतीति होती है यह दिखलानेके लिए व्यवहारनयसे उनका सद्भाव स्वीकार किया गया है इसमें सन्देह नहीं। किन्तु द्रव्यार्थिक दृष्टिसे उसी आत्माका अवलोकन करनेपर ये भेद उसमें लक्षित न होकर एकमात्र त्रिकाली ज्ञायकस्वभावी आत्मा ही प्रतीतिमें आता है, इसलिए यहाँपर भी गाथाके उत्तरार्धमें ज्ञायकस्वभाव आत्माकी अस्तित्व धर्म द्वारा प्रतीति कराकर उसमें अनुपचरित सद्भूत व्यवहारका 'नास्तित्व' दिखलाते हुए अनेकान्तको ही स्थापित किया गया है।

३. जब कि मोक्षमार्गमें निश्चयके विषयमें व्यवहारनयके विषयका असत्त्व ही दिखलाया जाता है तो उसके प्रतिपादनकी आवश्यकता ही क्या है ऐसा प्रश्न होनेपर 'जह ण वि सक्कमणज्जो' इत्यादि गाथामें दृष्टान्त द्वारा उसके कार्यक्षेत्रकी व्यवस्था की गई है और नौवीं तथा दशवीं गाथामें दृष्टान्तको दार्ष्टान्तमें घटित करके बतलाया गया है। इन तीनों गाथाओंका सार यह है कि व्यवहारनय निश्चयनयके विषयका ज्ञान करानेका साधन (हेतु) होनेसे प्रतिपादन करने योग्य तो अवश्य है, परन्तु मोक्षमार्गमें अनुसरण करने योग्य नहीं है। क्यों अनुसरण करने योग्य नहीं है इस बातका समर्थन करनेके लिए ११वीं गाथामें निश्चय-नयकी भूतार्थता और व्यवहारनयकी अभूतार्थता स्थापित की गई है। यहाँपर जब व्यवहारनय है और उसका विषय है तो निश्चयनयके समान यथावसर उसे भी अनुसरण करने योग्य मान लेनेमें क्या आपत्ति है ऐसा प्रश्न होनेपर १२वीं गाथा द्वारा उसका समाधान करते हुए बतलाया गया है कि मोक्षमार्गमें उपादेयरूपसे व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य तो कभी भी नहीं है। हाँ गुणस्थान परिपाटीके अनुसार वह जहाँ जिस प्रकारका होता है उतना जाना गया प्रयोजनवान् अवश्य है। इस प्रकार इस वक्तव्य द्वारा भी व्यवहारनय और उसका विषय है यह स्वीकार करके तथा उसका त्रिकाली ध्रुवस्वभावमें असत्त्व दिखलाते हुए अनेकान्तकी ही प्रतिष्ठा की गई है।

४. गाथा १३में जीवादिक नौ पदार्थ हैं यह कहकर व्यवहारनयके विषयको स्वीकृति देकर भी भूतार्थरूपसे जाने गये सम्यग्दर्शन हैं सो प्रकृतमें भूतार्थरूपसे उनका जानना यही है कि जीवपदार्थ नौ तत्त्वगत होकर भी अपने एकत्वमें व्याप्त रहता है यह कहकर मोक्षमार्गमें एकमात्र निश्चयनयका विषय ही उपादेय है यह दिखलाया गया है। इसके बाद गाथा १४में भूतार्थरूपसे नौ पदार्थोंके देखनेपर एकमात्र अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत अविशेष और असंयुक्त आत्माका ही अनुभव होता है, अतएव इस प्रकार आत्माको देखनेवाला जो नय है उसे शुद्धनय कहते हैं यह कहकर व्यवहारनयके विषयको गौण और निश्चयनयके विषयको मुख्य करके पुनः अनेकान्तकी ही प्रतिष्ठा की गई है।

५. १५वीं गाथामें उक्त विशेषणोंसे उक्त आत्माको जो अनुभवता है उसने पूरे जिनशासनको अनुभवा यह कहकर पूर्वोक्त प्रतिपादित निश्चय मोक्षमार्गकी महिमा गाई गई है। व्यवहारनय है

और उसका विषय भी है, परन्तु उससे मुक्त होनेके लिए व्यवहारनयके विषय परसे अपना लक्ष्य हटाकर निश्चयनयके विषयपर अपना लक्ष्य स्थिर करो। ऐसा करनेसे ही व्यवहाररूप बन्धपर्याय छूट कर निश्चय रत्नत्रयस्वरूप मुक्तिकी प्राप्ति होगी। जिस महान् आत्माने व्यवहाररूप बन्धपर्यायको गौण करके निश्चय रत्नत्रयकी आराधना द्वारा साक्षात् निश्चय रत्नत्रयको प्राप्त किया है उसीने तत्त्वतः पूरे जिनशासनको अनुभवा है। सोचिये तो कि इसके सिवा जिनशासनका अनुभवना और क्या होता है। जैनधर्मके विविध शास्त्रोंको पढ़ लिया, किसी विषयके प्रगाढ़ विद्वान् हो गये यह जिनशासनका अनुभवना नहीं है। जिनशासन तो रत्नत्रयस्वरूप है और उसकी प्राप्ति व्यवहारको गौण किये बिना तथा निश्चयपर आरूढ़ हुए बिना हो नहीं सकती, अतः जिसे पूरे जिनशासनको अपने जीवनमें अनुभवना है उसे हेय या बन्धमार्ग जानकर व्यवहारको गौण और मोक्षमार्गमें उपादेय जानकर निश्चयको मुख्य करना ही होगा तभी उसे निश्चय रत्नत्रय-स्वरूप जिनशासनके अपने जीवनमें दर्शन होंगे। यह इस गाथाका भाव है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस गाथा द्वारा भी गौण-मुख्यभावसे उसी अनेकान्तका उद्घोष किया गया है।

६. 'दंसण-णाण-चरित्ताणि' यह सोलहवीं गाथा है। इसमें सर्वप्रथम साधु अर्थात् ज्ञानीको निरन्तर दर्शन, ज्ञान और चारित्रके सेवन करनेका उपदेश देकर व्यवहारका सूचन किया है। परन्तु विचार कर देखा जाय तो ये दर्शन, ज्ञान और चारित्र आत्माको छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं है, इसलिए इस द्वारा भी तत्स्वरूप अखण्ड आत्मा सेवन करने योग्य है यह सूचित किया गया है। तात्पर्य यह है कि निश्चयका ज्ञान करानेके लिए व्यवहार द्वारा ऐसा उपदेश दिया जाता है इसमें सन्देह नहीं, पर उसमें मुख्यता निश्चयकी ही रहती है। इसके विपरीत यदि कोई उस व्यवहारकी ही मुख्यता मान ले तो उसे तत्स्वरूप अखण्ड और अविचल आत्माकी प्रतीति त्रिकालमें नहीं हो सकती। इस गाथाका यही भाव है।

इस विषयको स्पष्टरूपसे समझनेके लिए गाथाके उत्तरार्धपर ध्यान देनेकी आवश्यकता है, क्योंकि गाथाके पूर्वार्धमें जो कुछ कहा गया है उसका उत्तरार्धमें निषेध कर दिया है। सो क्यों ? इसलिए नहीं कि दर्शन, ज्ञान और चारित्र आदि पर्यायदृष्टिसे भी अभूतार्थ है, बल्कि इसलिए कि व्यवहारनयसे देखनेपर ही उनकी सत्ता है। निश्चयनयसे देखा जाय तो एक ज्ञायकस्वरूप आत्मा ही अनुभवमें आता है, ज्ञान, दर्शन चारित्र नहीं। इसलिए इस कथन द्वारा भी एक अखण्ड और अविचल आत्मा ही उपासना करने योग्य है यही सूचित किया है। इस प्रकार विचार करके देखा जाय तो इस गाथा द्वारा भी व्यवहारको गौण करके और निश्चयको मुख्य करके अनेकान्त ही सूचित किया गया है।

इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्दने व्यवहारसे क्या कहा जाता है और निश्चयसे क्या है इसकी सन्धि मिलाते हुए सर्वत्र अनेकान्तकी ही प्रतिष्ठा की है। इतना अवश्य है कि बहुत सा व्यवहार तो ऐसा होता है जो अखण्ड वस्तुमें भेदमूलक होता है। जैसे आत्माका ज्ञान, दर्शन और चारित्र आदिरूपसे भेद-व्यवहार या बन्धपर्यायकी दृष्टिसे आत्मामें नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव, मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, स्त्री, पुरुष और नपुंसक आदिरूपसे पर्यायरूप भेदव्यवहार। ऐसे भेदद्वारा एक अखण्ड आत्माका जो भी कथन किया जाता है, पर्यायकी मुख्यतासे आत्मा वैसा है इसमें सन्देह नहीं, क्योंकि आत्मा जब जिस पर्यायरूपसे परिणत होता है उस समय वह तद्रूप होता है, अन्यथा आत्माके संसारी और मुक्त ये भेद नहीं बन सकते, इसलिये जब भी आत्माके ज्ञायक स्वभावमें उक्त व्यवहारका 'नास्तित्व' कहा जाता है तब भेदमूलक व्यवहार गौण है और त्रिकाली ध्रुवस्वभावकी मुख्यता है यह दिखलाना ही उसका प्रयोजन रहता है।

परन्तु बहुत-सा व्यवहार ऐसा भी होता है जो आत्मामें बाह्य निमित्तादिकी दृष्टिसे या प्रयोजन विशेषसे आरोपित किया जाता है। यह व्यवहार आत्मामें है नहीं, पर परसंयोगकी दृष्टिसे उसमें कल्पित किया

गया है यह उक्त कथनका भाव है । इस विषयको ठीक तरहसे समझनेके लिए स्थापना निक्षेपका उदाहरण पर्याप्त होगा । जैसे किसी पाषाणकी मूर्तिमे इन्द्रकी स्थापना करनेपर यही तो कहा जायगा कि वास्तवमें वह पाषाणकी मूर्ति इन्द्रस्वरूप है नही, क्योंकि उसमें जीवत्व, आज्ञा, ऐश्वर्य आदि आत्मगुणोका अत्यन्ताभाव है। फिर भी प्रयोजनविशेषसे उसमें इन्द्रकी स्थापना की गई है उसी प्रकार बाह्य निमित्तादिकी अपेक्षा आरोपित व्यवहार जानना चाहिए । बाह्य निमित्तादिकी दृष्टिसे आरोपित व्यवहार, जैसे कुम्हारको घटका कर्ता कहना। प्रयोजन विशेषसे आरोपित व्यवहार, जैसे शरीरकी स्तुतिको तीर्थंकरकी स्तुति कहना या सेनाके निकलनेपर राजा निकला ऐसा कहना आदि ।

विचार कर देखा जाय तो रागादिरूप जीवके परिणाम और कर्मरूप पुद्गल परिणाम ये एक दूसरेके परिणमनमे निमित्त (उपचरित हेतु) होते हुए भी तत्त्वत जीव और पुद्गल परस्परमे कर्तृ-कर्मभावसे रहित है । ऐसा तो है कि जब विवक्षित मिट्टी अपने परिणामस्वभावके कारण घटरूपसे परिणत होती है तब कुम्हारकी योग-उपयोगरूप पर्याय स्वयमेव उसमे निमित्त व्यवहारको प्राप्त होती है। ऐसी वस्तुमर्यादा है। परन्तु कुम्हारकी उक्त पर्याय घट पर्यायकी उत्पत्तिमे व्यवहारसे निमित्त होनेमात्रसे उसकी कर्ता नही होती, और न घट उसका कर्म होता है, क्योंकि अन्य द्रव्यमे अन्य द्रव्यके कर्तृत्व और कर्मत्व धर्मका अत्यन्त अभाव है । फिर भी लोक-व्यवहारवश कुम्हारकी विवक्षित पर्यायने मिट्टीकी घट पर्यायको उत्पन्न किया इस प्रकार उस पर मिट्टीकी घट पर्यायके कर्तृत्व धर्मका और घटमे कुम्हारके कर्मत्वधर्मका आरोप किया जाता है । यद्यपि शास्त्रकारोंने भी इसके अनुसार लौकिक दृष्टिसे वचन प्रयोग किये है, परन्तु है यह व्यवहार असत् ही । यह तो बाह्य निमित्तादिकी दृष्टिसे आरोपित व्यवहारकी चरचा हुई ।

अब प्रयोजनविशेषसे आरोपित व्यवहारके उदाहरणोंका विश्लेषण कीजिए—जितने भी संसारी जीव है उनके एक कालमे कमसे कम दो और अधिकसे अधिक चार शरीरोंका संयोग अवश्य होता है । यहाँ तक कि तीर्थंकर सयोगी-अयोगी जिन भी इसके अपवाद नही है । अब विचार कीजिए कि जीवके साथ एकक्षेत्रावगाहीरूपमे सम्बन्धको प्राप्त हुए उन शरीरोंमे जो अमुक प्रकारका रूप होता है, उनका यथासम्भव जो अमुक प्रकारका संस्थान और संहनन होता है इसका व्यवहार हेतु पुद्गल विपाकी कर्मोका उदय ही है, जीवकी वर्तमान पर्याय नही तो भी शरीरमे प्राप्त हुए रूप आदिको देखकर उस द्वारा तीर्थंकर केवली जिनकी स्तुतिकी जाती है और कहा जाता है कि अमुक तीर्थंकर केवली लोहित वर्ण है, अमुक तीर्थंकर केवली शुक्ल वर्ण है और अमुक तीर्थंकर केवली पीतवर्ण है आदि । यह तो है कि जब शरीर पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है तो उसका कोई न कोई वर्ण अवश्य होगा । पुद्गलकी पर्याय होकर उसमे कोई न कोई वर्ण न हो यह नही हो सकता । परन्तु विचार कर देखा जाय तो तीर्थङ्कर केवलीकी पर्यायमे उसका अत्यन्त अभाव ही है क्योंकि तीर्थङ्कर केवली जीवद्रव्यकी एक पर्याय है जो अनन्त ज्ञानादि गुणोंसे विभूषित है । उसमे पुद्गलद्रव्यके गुणोका सद्भाव कैसे हो सकता है ? अर्थात् त्रिकालमे नही हो सकता । फिर भी तीर्थङ्कर केवलीमे संयोगको प्राप्त हुए शरीरमें अन्य तीर्थङ्कर केवलीसे संयोगको प्राप्त हुए शरीरमे वर्णका भेद दिखलानेरूप प्रयोजनसे यह व्यवहार किया जाता है कि अमुक तीर्थङ्कर केवली लोहित वर्ण है और अमुक तीर्थङ्कर केवली पीतवर्ण है आदि । जैसा कि हम लिख आये है कि तीर्थङ्कर केवली जीव द्रव्यकी एक पर्याय है । उसमे वर्णका अत्यन्त अभाव है । फिर भी लोकानुरोधवश प्रयोजन विशेषवश तीर्थङ्कर केवलीमे उक्त प्रकारका व्यवहार किया जाता है जो तीर्थङ्कर केवलीमे सर्वथा असत् है, इसलिए प्रयोजन विशेषसे किया गया यह आरोपित असत् व्यवहार ही जानना चाहिये ।

सेनाके निकलनेपर राजा निकला ऐसा कहना भी आरोपित असद् व्यवहारका दूसरा उदाहरण है। विचार कर देखा जाय तो सेना निकली यह व्यवहार स्वयं उपचरित है। उसमें भी सेनासे राजामें अत्यन्त भेद है। वह सेनाके साथ गया भी नहीं है। अपने महलमें आराम कर रहा है। फिर भी लोकानुरोधवश प्रयोजनविशेषसे सेनाके निकलनेपर राजा निकला या राजाकी सवारी निकली यह व्यवहार किया जाता है जो सर्वथा असत् है इसलिये प्रयोजन विशेषमें किये गये इस व्यवहारको भी आरोपित असद् व्यवहार ही जानना चाहिए।

इसी प्रकार लोकमें और भी बहुतसे व्यवहार प्रचलित है, क्योंकि वे किसी द्रव्यके न तो गुण ही हैं और न पर्याय ही हैं. इसलिए जो व्यवहार विवक्षित पदार्थोंमें पर्यायदृष्टिसे प्रतीतिमें आता है वह मोक्षमार्गमें अनुपादेय होनेसे आश्रय करने योग्य नहीं माना गया है अतएव उसे गौण करके अनेकान्तमूर्ति ज्ञायकस्वभाव आत्माकी स्थापना करना तो उचित है।

किन्तु जो व्यवहार वस्तुभूत न होनेसे सर्वथा असत् है, मात्र लौकिकदृष्टिसे ज्ञानमें उसकी स्वीकृति है। उसका मोक्षमार्गमें सर्वथा निषेध ही करना चाहिये। वस्तुमें अनेकान्तकी प्रतिष्ठा करते समय आत्मामें ऐसे व्यवहारको गौण करनेका प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि जो व्यवहार भूतार्थ होता है उसे ही नय विशेषके आश्रयसे गौण किया जाता है। किन्तु जिसकी विवक्षित वस्तुमें सत्ता ही नहीं है उसे गौण करनेका अर्थ ही उसकी सत्ताको स्वीकार करना है जो युक्तियुक्त नहीं है। इसलिए जितना भी असत् व्यवहार है उसे दूरसे ही त्यागकर और जितना पर्यायदृष्टिसे भूतार्थ व्यवहार है उसे गौण करके एकमात्र ज्ञायकस्वभाव आत्माकी उपासना ही मोक्षमार्गमें तरणोपाय है ऐसा निर्णय यहाँपर करना चाहिए।

यहाँपर यह प्रश्न होता है कि वर्णादि तो पुद्गलके धर्म है, इसलिए आत्मामें ज्ञायकस्वभावके अस्तित्वको दिखलाकर उसमें उनका नास्तित्व दिखलाना तो उचित प्रतीत होता है। परन्तु आत्मामें ज्ञायकभावके अस्तित्वका कथन करते समय उसमें प्रमत्तादि भावोंके नास्तित्वका कथन करना उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि ये दोनों भाव (ज्ञायक भाव और प्रमत्तादि भाव) एक द्रव्यके आश्रयसे रहते है, इसलिए एक द्रव्यवृत्ति होनेसे ज्ञायकभावके अस्तित्वके कथनके समय इन भावोंका निषेध नहीं बन सकता, अतएव इस दृष्टिसे अनेकान्तका कथन करते समय 'कथंचित् आत्मा ज्ञायक भावरूप है और कथंचित् प्रमत्तादि भावरूप है' ऐसा कहना चाहिए। यह कहना तो बनता नहीं कि आत्मामें प्रमत्तादि भावोंकी सर्वत्र व्याप्ति नहीं देखी जाती, इसलिये आत्मामें उनका निषेध किया है, क्योंकि कहींपर (प्रमत्तगुणस्थान तक) प्रमत्तभावकी और आगे अप्रमत्तभावकी व्याप्ति बन जानेसे आत्मामें ज्ञायकभावके साथ इनका सद्भाव मानना ही पड़ता है।

यह एक प्रश्न है। समाधान यह है कि इस अनेकान्तस्वरूप प्रत्येक पदार्थका कथन शब्दोंसे दो प्रकारसे किया जाता है। एक क्रमिकरूपसे और दूसरा यौगपद्यरूपसे। कथन करनेका तीसरा कोई प्रकार नहीं है। जब अस्तित्व आदि अनेक धर्म कालादिकी अपेक्षा भिन्न-भिन्न अर्थरूप विवक्षित होते हैं उस समय एक शब्दमें अनेक धर्मोंके प्रतिपादनकी शक्ति न होनेसे क्रमसे प्रतिपादन होता है। इसे विकलादेश कहते है। परन्तु जब उन्ही अस्तित्वादि धर्मोंकी कालादिकी दृष्टिसे अभेद विवक्षा होती है तब एक ही शब्दके द्वारा एक धर्ममुखेन तादात्म्यरूपसे एकत्वको प्राप्त सभी धर्मोंका अखण्डभावसे युगपत् कथन हो जाता है। यह सकलादेश कहलाता है। विकलादेश नयरूप है और सकलादेश प्रमाणरूप। इसलिए वस्तुके स्वरूपके स्पर्शके लिए सकलादेश और

विकलादेश दोनों ही कार्यकारी हैं ऐसा यहाँ समझना चाहिए । एक ही वचनप्रयोग जिसे हम सकलादेश कहते हैं वह विकलादेशरूप भी होता है और सकलादेश रूप भी । यह वक्ताके अभिप्रायपर निर्भर है कि वह विवक्षित वचन प्रयोग किस दृष्टिसे कर रहा है। यथावसर उसे समझनेकी चेष्टा तो की न जाय और उसपर एकान्त कथनका आरोप किया जाय यह उचित नहीं है । अतएव वक्ता कहाँ किस अभिप्रायसे वचनप्रयोग कर रहा है इसे समझकर ही पदार्थका निर्णय करना चाहिए ।

'कथंचित् जीव है ही' यह वचनप्रयोग सकलादेश भी है और विकलादेशरूप भी । यदि इस वाक्यमें 'स्थित 'है' पद अन्य अशेष धर्मोको अभेदवृत्तिसे स्वीकार करता है तो यही वचन सकलादेशरूप हो जाता है और इस वाक्यमें स्थित 'है' पद मुख्यरूपसे अपना ही प्रतिपादन करता है तथा शेष धर्मों को 'कथंचित्' पद द्वारा गौणभावसे ग्रहण किया जाता है तो यही वचन विकलादेशरूप हो जाता है । कौन वचन सकलादेशरूप है और कौन वचन विकलादेशरूप यह वचन प्रयोगपर निर्भर न होकर वक्ताके अभिप्रायपर निर्भर करता है । अतएव 'जीव ज्ञायकभावरूप ही है' ऐसा कहनेपर यदि इस वचनमें अभेदवृत्तिकी मुख्यता है तो यही वचन सकलादेशरूप हो जाता है और इस वचनमें कथंचित् पद द्वारा गौणभावसे अन्य अशेष धर्मोंको स्वीकार किया जाता है तो यही वचन विकलादेशरूप भी हो जाता है ऐसा यहाँपर समझना चाहिए ।

यद्यपि यह बात तो है कि सम्यग्दृष्टिके ज्ञानमें जहाँ ज्ञायकस्वभाव आत्माकी स्वीकृति है वहाँ उसमें संसार अवस्था और मुक्ति अवस्थाकी भी स्वीकृति है । वह जीवकी संसार और मुक्त अवस्थाका अभाव नहीं मानता । संसारमें जो उसकी नर-नारकादि और मतिज्ञान-श्रुतज्ञानादि रूप विविध अवस्थायें होती है उनका भी अभाव नहीं मानता । यदि वह वर्तमानमें उनका अभाव माने तो वह मुक्तिके लिए प्रयत्न करना ही छोड़ दे । सो तो वह करता नहीं, इसलिए वह इन सबको स्वीकार करके भी इन्हें आत्मकार्यकी सिद्धिमें अनुपादेय मानता है, इसलिए वह इनमें रहता हुआ भी इनका आश्रय न लेकर त्रिकाली नित्य एकमात्र ज्ञायकस्वभावका आश्रय स्वीकार करता है। निश्चयनय और व्यवहारनयके विषयोंको जानना अन्य बात है और जानकर निश्चयनयके विषयका अवलम्बन लेना अन्य बात है । मोक्षमार्गमें इस दृष्टिकोणसे हेयोपादेयका विवेक करके स्वात्मा और परमात्माका निर्णय किया गया है । यदि लौकिक उदाहरण द्वारा इसे समझाना चाहें तो यों कहा जा सकता है कि जैसे किसी गृहस्थका एक मकान है । उसमें उसके पढ़ने-लिखने और उठने-बैठनेका स्वतन्त्र कमरा है । वह घरके अन्य भागको छोड़कर उसीमें निरन्तर उठता-बैठता और पढ़ता-लिखता है । वह कदाचित् मकानके अन्य भागमें भी जाता है । उसकी सार-सम्हाल भी करता है । परन्तु उसमें उसकी विवक्षित कमरेके समान आत्मीय बुद्धि न होनेसे वह मकानके शेष भागमें रहना नहीं चाहता । ठीक यही अवस्था सम्यग्दृष्टि की होती है । जो उसे वर्तमानमें नर-नारक आदि वर्तमान पर्याय मिली हुई है वह उसीमें रह रहा है । अभी उसका पर्यायरूपसे त्याग नहीं हुआ है । परन्तु उसने अपनी बुद्धि द्वारा द्रव्यार्थिकनयका विषयभूत ज्ञायकस्वभाव आत्मा ही मेरा स्वात्मा है ऐसा निर्णय किया है, इसलिए वह व्यवहारनयके विषयभूत अन्य अशेष परभावोंको गौण कर मात्र उसीका आश्रय लेता है । कदाचित् रागरूप पर्यायकी तीव्रतावश वह अपने स्वात्माको छोड़कर परमात्मामें भी जाता है तो भी वह उसमें क्षणमात्र भी टिकना नहीं चाहता । उस अवस्थामें भी वह अपना तरणोपाय स्वात्माके अवलम्बनको ही मानता है। अतएव इस दृष्टिकोणसे विचार करनेपर सम्यग्दृष्टिका विवक्षित आत्मा स्वात्मा अन्य परात्मा यही अनेकान्त फलित होता है । इसमें 'आत्मा कथंचित् ज्ञायक भावरूप है और कथंचित् प्रमत्तादि भावरूप है' इसकी स्वीकृति आ ही जाती है, परन्तु ज्ञायकभावमें प्रमत्तादिभावोंकी 'नास्ति' है, इसलिए इस अपेक्षासे यह अनेकान्त फलित होता है कि 'आत्मा

ज्ञायक भावरूप है अन्य रूप नहीं।' आचार्य अमृतचन्द्रने आत्माको ज्ञायकभावरूप माननेपर अनेकान्तकी सिद्धि किस प्रकार होती है इसका निर्देश करते हुए लिखा है—

तत्स्वात्मवस्तुनो ज्ञानमात्रत्वेऽप्यन्तश्चकचकायमानज्ञानस्वरूपेण तत्त्वात् बहिरुन्मिषदनन्तज्ञेयतापन्नस्वरूपातिरिक्तपररूपेणातत्त्वात् सहक्रमप्रवृत्तानन्तचिदंशसमुदयरूपाविभागद्रव्येणैकत्वात् अविभागैकद्रव्यव्याप्तसहक्रमप्रवृत्तानन्तचिदंशरूपपर्यायैरनेकत्वात् स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावभवन-शक्ति-स्वभावत्वेन सत्त्वात् परद्रव्यक्षेत्र-काल-भावाभवनशक्तिस्वभाववत्त्वेनासत्त्वात् अनादिनिधनाविभागैकवृत्तिपरिणतत्वेन नित्यत्वात् क्रमप्रवृत्तैकसमयावच्छिन्नानेकवृत्त्यंशपरिणतत्वेनानित्यत्वात्तदतत्त्वमेकानेकत्वं सदसत्त्व नित्यानित्यत्व च प्रकाशत एव।

आत्माके ज्ञानमात्र होनेपर भी भीतर प्रकाशमान ज्ञानरूपसे तत्पना है और बाहर प्रकाशित होते हुए अनन्त ज्ञेयरूप आकारसे भिन्न पररूपसे अतत्पना है। सहप्रवृत्त और क्रमप्रवृत्त अनन्त चैतन्य अंशोंके समुदायरूप अविभागी द्रव्यकी अपेक्षा एकपना है और अविभागी एक द्रव्यमें व्याप्त हुए सदप्रवृत्त और क्रमप्रवृत्त अनन्त चैतन्य-अंशरूप पर्यायोंकी अपेक्षा अनेकपना है। स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप होनेकी शक्तिरूप स्वभाववाला होनेसे सत्पना है और परद्रव्य, क्षेत्र काल और भावरूप नहीं होनेकी शक्तिरूप स्वभाववाला होनेसे असत्पना है तथा अनादिनिधन अविभागी एक वृत्तिरूपसे परिणत होनेके कारण नित्यपना है और क्रमशः प्रवर्तमान एक समयवर्ती अनेक वृत्त्यंशरूपसे परिणत होनेके कारण अनित्यपना है, इसलिए ज्ञानमात्र आत्मवस्तुको स्वीकार करनेपर तत्-अतत्पना, एक-अनेकपना, सदसत्पना और नित्यानित्यपना स्वयं प्रकाशित होता ही है।

अतएव अनेकान्तके विचारके प्रसंगसे मोक्षमार्गमें निश्चयनयके विषयको आश्रय करने योग्य माननेपर एकान्तका दोष कैसे नहीं आता इसका विचार किया। इसके विपरीत जो बन्धु अनेकान्तको एक वस्तुके स्वरूपमें घटित न करके 'भव्य भी है और अभव्य भी है' इत्यादि रूपसे या कुछ पर्यायें अमुक कालमें अमुकरूप हैं और कुछ पर्यायें तद्भिन्न दूसरे कालमें दूसरेरूप हैं' इत्यादि रूपसे अनेकान्तको घटित करते हैं उन्हें अनेकान्तको शब्द श्रुतमें बाँधनेवाली स्याद्वादकी अगभूत सप्तभंगीका यह लक्षण ध्यानमें ले लेना चाहिये।

प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यवरोधेन विधि प्रतिषधकल्पना सप्तभंगी।

प्रश्नके अनुसार एक वस्तुमें प्रमाणसे अविरुद्ध विधि और प्रतिषेधरूप धर्मोंकी कल्पना सप्तभंगी है।

सप्तभंगीमें प्रथम भंग विधिरूप होता है और दूसरा भंग निषेधरूप होता है। विधि अर्थात् द्रव्यार्थिक तथा प्रतिषेध्य अर्थात् पर्यायार्थिक। आचार्य कुन्दकुन्दने द्रव्यार्थिकको प्रतिषेधक और व्यवहारको प्रतिषेध्य इसी अभिप्रायसे लिखा है। जिस दृष्टिमें भेदव्यवहार है उसके आश्रयसे बन्ध है और जिसमें भेदव्यवहारका लोप है या अभेदवृत्ति है उसके आश्रयसे बन्धका अभाव है यह उनके उक्त कथनका तात्पर्य है। इस प्रकार अनेकान्त और उसे वचनव्यवहारका रूप देनेवाला स्याद्वाद है। उसकी संक्षेपमें मीमांसा की।



भावमन सम्बन्धी वाद और खुलासा

वी० सं० २४६३में फलटणमें श्री १०५ क्षु० विमलसागर जी महाराज आदि ४ क्षुल्लक और श्रीयुत ब्र० देवप्पा कापसीकर व ब्र० नन्दलालजी इनका चतुर्मास था। चतुर्मासमें समयसारके ऊपर ब्र० नन्दलालजीका प्रवचन होता था। समयसारमें निश्चय दृष्टिसे कर्म निमित्तक भावोंको पर-पुद्गलरूप कहा गया है इसलिए समयसारका व्याख्यान करनेवाले निश्चयदृष्टिसे भावमनको पौद्गलिक कहते हैं। नन्दलालजी भी अपने व्याख्यानमें इसी विषयका उल्लेख करते होंगे इसके ऊपर श्री १०५ क्षुल्लक सूरिसिंह महाराजने यह प्रश्न किया है कि भाव मन पौद्गलिक न होकर आत्माका धर्म है। आगे यही विषय बारम्बार निकलनेके कारण वादका विषय हो गया तथा यह वाद उन दोनोंमें सीमित न रहकर बाहिर फैलने लगा। इसी कारणसे श्री १०५ क्षु० सूरिसिंहजी महाराजने शान्तिसिन्धुमें श्रीयुक्त तलकचन्द वेणीचन्दजी शहा वकील इनके नामसे भावमनके सम्बन्धमें प्रकाशनार्थ एक लेख भेजा था। जिसके ऊपर दोनों दृष्टिकोणोंको बिलकुल स्पष्ट करनेके लिये मैंने एक टिप्पणी दे दी थी।

इस लेखके प्रकाशित हो जानेके कारण फलटणकी परिस्थिति और भी अधिक विषम हो गई और अन्तमें इस विषयके योग्य निर्णयके लिए श्रीमान् तलकचन्द वेणीचन्द शहा वकीलने तार द्वारा मुझे और श्रीयुक्त पं० बाहुबलिजी शास्त्रीका बुलाया। रात्रिको इस विषयका विचार करनेके लिए श्री १००८ आदिनाथ भगवान्के मन्दिरमें विचार विनिमय हुआ।

प्रारम्भमें श्रीयुत शहा तलकचन्द वेणीचंद वकील सा० से पूछने पर कि आपने हम लोगोंको बुलाया है इसका क्या कारण है ? उसके उत्तरमें आपने कहा कि हमारे यहाँ भावमनके सम्बन्धमें वाद चालू है इसलिये शास्त्राधारसे इस विषयका उचित निर्णय करानेके लिये आप लोगोंको बुलाया गया है।

इसके बाद श्रीयुक्त वकील सा० ने भावमनके सम्बन्धमें—उनको जो कुछ कहना था—अत्यन्त पद्धति पूर्वक प्रश्नरूपमें हम लोगोंके सामने रक्खा।

श्रीयुत् वकील सा० का कहना यह था कि भावमन यह लब्धिरूप या ज्ञानरूप होनेके कारण एकेंद्रियसे लेकर केवली पर्यंत सब जीवोंके व्यक्त और अव्यक्त रूपमे होता है। यदि एकेंद्रियादिक जीवोंके भावमन न माना जावे तो उनके कर्मबंध कैसे हो सकता है। उसी प्रकार ज्ञानरूप होनेके कारण वह केवली अवस्थामें भी नष्ट नही होता। इस कथनसे श्रीमान् १०५ क्षु० सूरिसिंह महाराज सहमत थे। इसके बाद हम लोगोंने श्रीयुक्त, ब्र० नन्दलालजी सा० से पूछा कि आपको इस विषयमें कुछ कहना हो तो कहिये। जिसके ऊपर ब्र० जीने कहा कि हमें विशेष कुछ नही कहना है। इसी कथनपर आपलोग विचार करिए।

तदनन्तर मैंने वकील सा. से कहा कि भावमन यह ज्ञानकी पर्याय अथवा लब्धिरूप होते हुए भी सभी जीवोंके नही पाया जाता है। कर्मबन्धका कारण भावमन न होकर मिथ्यात्व आदिक ही समझना चाहिए। भावमन यह क्षायोपशमिक भाव होनेके कारण सभी जीवोंकी सभी अवस्थाओंमें उसका रहना कोई आवश्यक बात नहीं है। जहाँ नोइंद्रियावरण कर्मका क्षयोपशम रहता है, वहींपर भावमन होता है। नोइन्द्रियावरण कर्मका क्षयोपशम संज्ञिपंचेंद्रिय जीवके मिथ्यात्व गुणस्थानसे लेकर १२वें गुणस्थान तक ही होता है, अतएव

भावमनका सद्भाव वहीं तक पाया जाता है। एकेंद्रिय जीवसे लेकर असंज्ञिपंचेन्द्रिय जीव तक और तेरहवें गुणस्थानसे लेकर सिद्ध परमेष्ठी तक भावमनका सद्भाव नही पाया जाता है। भावमन यह ज्ञान सामान्य न होकर उसकी एक पर्याय विशेष है। और पर्याय विशेष द्रव्यकी सभी अवस्थाओमे उपलब्ध होनी ही चाहिये, ऐसा नियम नही किया जा सकता है। इस तरह और भी बहुत कुछ चर्चा होकर १२ बजेके करीब सभी महाराजोंके चले जानेपर आजकी चर्चा बन्द कर दी गई।

दूसरे दिन सुबह यह विचार करके कि इस मनोमालिन्यका कारण केवल भावमन सम्बन्धी चर्चा न होकर और भी कुछ होना चाहिए इसलिए इस विषयके विचारके लिए एक अनुभवी वयोवृद्ध बुद्धिमान्की और आवश्यकता है। अतएव फलटणके प्रसिद्ध वकील, अध्यात्मप्रेमी श्रीमान् दोशी चन्दूलालजी सा० को और बुलाया गया। प्रसन्नताकी बात है कि आपने इस निवेदनको स्वीकार कर लिया। इस समय श्रीयुक्त पं० बाहुबलीजी शास्त्रीके न आ सकनेके कारण वकील सा० और मैं इस तरह हम दोनो उभय पक्षके कथनको सुन आये। बाद सायंकालको हम तीनोंने मिलकर यह निश्चय किया कि मनोमालिन्यके ऐसे कोई विशेष कारण नहीं हैं, केवल अपने-अपने पक्षकी पुष्टिके लिये यह वाद बढ गया है। अथवा पूज्य महाराजोकी दूसरी बातोंके विचार करनेका श्रावकोंको विशेष अधिकार नही है अथवा इसमे विशेष स्वारस्य नही है। अतएव शास्त्रीय दृष्टिसे भावमनके सम्बन्धमें उचित निर्णय दे दिया जावे और वह शांतिसिंधुमे जाहिर कर दिया जावे ताकि यह वाद अपने आप शान्त हो जावेगा। इस तरह हम तीनोका एक मत हो जानेपर तीनों जनोंका शास्त्रीय दृष्टिसे विचार-विनिमय चालू हो गया। यहांपर इस बातका विशेषरूपमे उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि सहूलियतकी दृष्टिसे श्रीयुक्त शास्त्री बाहुबलिजी शर्माने पूर्वपक्ष और मैंने उत्तर पक्षका काम लिया था तथा श्रीयुत वकील सा० मध्यस्थीका काम करते थे। चर्चाका विषय हमारी टिप्पणी रक्खी गई थी। चर्चाका प्रारम्भ करते हुए श्रीशास्त्रीजीने भावमन सयोगज धर्म है इस वाक्यके ऊपर आपत्ति उपस्थित की। इस विषयमें उनका कहना यह था कि यदि भावमन आत्माका निजभाव है, तो वह सयोगज कभी भी नहीं हो सकता है। इसके ऊपर मैंने कहा कि भावमन निजभाव न होकर आत्माका वैभाविक भाव है। अतएव उसे संयोगज मानना ही इष्ट है। वह वैभाविक भाव कैसे है? आत्माकी सभी अवस्थाओमे क्यों नही हो सकता है। इसके लिये मैंने गोमट्टसार और सर्वार्थसिद्धिके आधार निकाल कर दिखलाये। अन्तमें भावमन तेरहवें गुणस्थानमें नही पाया जाता है। इस प्रकारके स्पष्ट शास्त्रोल्लेख सहित इसका निर्णय शांतिसिन्धुमे प्रकाशित कर दिया जावे, ऐसा अधिकार दोनों महानुभावोंने मुझे दिया। जिस अधिकारसे उस समयकी चर्चाको ध्यानमें रखकर मैंने यह निर्णय शांतिसिन्धुमे प्रकाशित कर दिया था। इस निर्णयमे पक्षविशेषकी पुष्टिका ध्यान न रखकर शास्त्र-मर्यादाका ही ध्यान रक्खा गया है।

निर्णय

इस निर्णयमे भावमनका लक्षण, भावमन किस ज्ञानका भेद है, भावमनका स्वामी, भावमनका भाव, उसको जीव सम्बन्धी माननेमें हेतु, उसको पौद्गलिक माननेमे हेतु इत्यादि विषयोंका क्रमसे विवेचन किया गया है।

लक्षणविचार

ज्ञानावरण कर्मके भेदोंमेसे नोइन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमको लब्धिरूप भावमन कहते है और उसीके वस्तु ग्रहणरूप प्रवृत्तिको उपयोगरूप भावमन कहते हैं। गोमट्टसार जीवकाडके संज्ञिमार्गणा प्रकरणमे यही कहा है।

'नो इंद्रियं मनः तदावरणक्षयोपशमः तज्जनितबोधनं वा संज्ञा'

नोइन्द्रिय मनको कहते हैं। उस नोइन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमसे अथवा उससे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानको संज्ञा कहते हैं। यहाँपर यह ध्यानमें रखना चाहिये कि संज्ञा और भावमन एकार्थवाची शब्द हैं।

'वीर्यान्तरायनोइन्द्रियावरणक्षयोपशमापेक्षया आत्मनो विशुद्धिर्भावमनः।' — सर्वार्थसिद्धि.

वीर्यान्तराय और नोइन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमसे जो आत्मामें विशुद्धि उत्पन्न होती है उसको भावमन कहते है। इस लक्षणमें जो वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपशमका उल्लेख किया है, उसका कारण इतना ही समझना चाहिये कि किसी भी ज्ञानकी प्रवृत्ति सामर्थ्यवीर्यके बिना नही हो सकती है। अतएव प्रत्येक ज्ञानमें वीर्यका सम्बन्ध जोड़ा है।

भावमन किस ज्ञानका भेद है ?

'तत्रान्द्रियप्रत्यक्षमवग्रहादिधारणापर्यंततया चतुर्विधमपि बह्वादिद्वादशभेदमष्टचत्वारिंशत्संख्यं प्रतीन्द्रियं प्रतिपत्तव्यम्। अनिन्द्रियप्रत्यक्षस्य चोक्तप्रकारेणाष्टचत्वारिंशद्भेदेन मनोनयनरहितानां चतुर्णामपीन्द्रियाणां व्यंजनावग्रहस्याष्टचत्वारिंशद्भेदेन च समुदितस्येन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षस्य षट्त्रिंशदुत्तरा त्रिशती संख्या प्रतिपत्तव्या।" —प्रमेयरत्नमाला.

शास्त्रकारोंने मतिज्ञानके ३३६ भेद किये हैं। अवग्रह आदि चारको पाँच इन्द्रिय और मनसे गुणा करके बहु आदिक १२ प्रकारके पदार्थोंसे गुणा करनेपर अर्थके २८८ भेद होते हैं और मन तथा नेत्र इन्द्रियसे रहित शेष चार इन्द्रियोंसे बहु आदिक १२ प्रकारके पदार्थोंका गुणा करनेपर व्यजनावग्रहके ४८ भेद होते है। इस तरह कुल मतिज्ञानके भेद ३३६ होते है। इस तरह यह पता चल जाता है कि भावमन यह मतिज्ञानका एक भेद है। उसी भावमनका विषय श्रुतज्ञानके द्वारा जाना हुआ पदार्थ भी पड़ता है। इस कथनसे भावमनका आलंबन श्रुतज्ञानके लिये भी होता है। यह जाना जाता है। इस तत्त्वकी पुष्टि "श्रुतमनिन्द्रियस्य" इस सूत्रसे होती है।

भावमनका स्वामी ?

मनसहित जीवको संज्ञी कहते हैं और मन रहित जीवको असंज्ञी कहते हैं।

'मनो व्याख्यातं सह तेन ये वर्तंते ते समनस्काः संज्ञिन इत्युच्यन्ते। पारिशेष्यादितरे संसारिण प्राणिनोऽसंज्ञिन इति सिद्धम्। —सर्वार्थसिद्धि

मनका व्याख्यान पहिले कर आये, जो मनसहित है उन्हें समनस्क अर्थात् सज्ञी कहते है। तथा बाकीके जो संसारी प्राणी हैं वे अमनस्क अर्थात् असंज्ञी समझना चाहिये। एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यंत अमनस्क समझना चाहिये और समनस्कता भी बारहवें गुणस्थान पर्यंत होती है।

सण्णी सण्णिप्पहुदी खीणकसाओत्ति होदि णियमेण।
थावरकायप्पहुदी असण्णित्ति हवे असण्णी हु॥६९७॥

'संज्ञिमार्गणायां संज्ञिजीवः संज्ञिमिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायांतं भवति'। —जीवकांड.

संज्ञिमार्गणामें संज्ञीजीव सज्ञिमिथ्यादृष्टिसे लेकर बारहवे गुणस्थान पर्यंत होता है और असंज्ञी एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पर्यंत होता है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि सयोगकेवलीके भावमन नही होता है, फिर भी इसकी पुष्टिके लिये और खुलासा किया जाता है।

योगिनो हि द्रव्यमनःसदपि न भावमनःसहितं द्रव्येंद्रियं च न भावेंद्रिययुक्तं क्षायिकज्ञानेन सह क्षायोपशमिकस्य भावमनोज्ञस्य विरोधात्। —श्लोकवार्तिक.

सयोगकेवलीके द्रव्यमन होने हुए भी भावमनसहित द्रव्यमन नही होता है। उसी तरह भावेन्द्रिय सहित द्रव्येन्द्रिय न हो कर केवल द्रव्येन्द्रिय ही होती है। कारण क्षायिकज्ञानके साथ क्षायोपशमिक भावमन और भावेन्द्रियोंके रहनेका विरोध है। अर्थात् जहाँपर क्षायिकज्ञान होता है, वहाँपर क्षायोपशमिक ज्ञान नही रह सकता है। भावमन यह क्षायोपशमिक ज्ञानका एक भेद है अतएव सयोगकेवली अवस्थामे उसका सद्भाव बिल्कुल ही नहीं हो सकता है। गोमट्टसार जीवकाडमें भी कहा है।

पज्जत्ती पाणा विय सुगमा भाविंदियं ण जोगिम्हि।
तहि वाचुस्सासाउगकायत्तिगदुगमजोगिणो आऊ॥

सयोगिजिने भावेंद्रियं न, द्रव्येंद्रियापेक्षया षट् पर्याप्तयः वागुच्छ्वासनिःश्वासायुःकायप्राणाश्चत्वारि भवंति। शेषेंद्रियमनःप्राणाः षट् संति।

सयोगी जिनमें भावेंद्रिय अर्थात् पाँच भाव इन्द्रियाँ और भावमन नही होता हैं। द्रव्येन्द्रियकी अपेक्षासे सयोगी भगवान्के छह पर्याप्तियाँ कही जा सकती है। वचन, उच्छ्वास, आयु और कायबल इस तरह केवल चार ही प्राण जिन भगवान्के होते हैं। बाकीके पांच इन्द्रिय प्राण और एक मनप्राण इस तरह छह प्राण उनके नही होते हैं।

झाणं तह झायारो झेयवियप्पा य होंति मणसहिए।
तं णत्थि केवलीदुगे तम्हा झाण ण सभवई। —भावसंग्रह.

ध्यान, ध्याता व ध्येयांचे विकल्प हे मनसहित जीवाच्या ठिकाणी संभवतात। हे विकल्प सयोगकेवली व अयोगकेवली यांच्या ठिकाणी सभवत नाहीत याचे कारण हे आहे की उपर्युक्त केवलिद्वयाच्या ठिकाणी मन नाही। वीर्यांतराय कर्माच्या क्षयोपशम व नो इंद्रियावरण कर्माचा क्षयोपशम आला म्हणजे आत्म्याचे प्रदेश मन स्वरूपानें परिणत होता त। या केवलीद्वयानी अंतराय कर्माचा य वीर्यांतराय कर्माचा नाश केल्यामुळे त्याचा ठिकाणी मन कसे असणार ? अर्थात् केवली अमनस्क असतात। 'अमनस्काः केवलिनः' असे आगमात लिहिले आहे मनसहित जीवामध्यें ध्यान होते। पृष्ठ ३·५ अनु० पं० जिनदास पार्श्वनाथजी फडकुले न्यायतीर्थ। इस कथनमे बिल्कुल ही स्पष्ट हो जाता है कि भाव मनका स्वामी मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थानतक एक संज्ञी पंचेंद्रिय ही होता है। एकेंद्रियसे लेकर असंज्ञी पंचेंद्रिय पर्यंत भावमन नही पाया जा सकता है।

भाव विचार—

जीवके पाँच भाव कहे गये है। उनमेंसे भावमनका सद्भाव क्षायोपशपिक भावमे ही होता है जो उसके लक्षणसे ही स्पष्ट है। भावमन यह मतिज्ञान का एक भेद है। और मतिज्ञान यह क्षायोपशमिक है अतएव भावमन यह क्षायोपशमिक ही ठहरता है। इसकी पुष्टि ऊपरके कथन से भले प्रकार हो जाती है। अतएव इसके लिये स्वतंत्र प्रमाण देनेकी विशेष आवश्यकता नही है।

भावमन जीवका धर्म है इसमे हेतु—

भावमन यह ज्ञान विशेष होनेके कारण वह जीवका धर्म है, ऐसा मान लेनेमे विशेष कुछ भी आपत्ति नही है। 'चेतनालक्षणो जीव.' जीवका लक्षण ही चेतना अर्थात् ज्ञान और दर्शन किया है, अतएव वह जीवका धर्म ठहर जाता है।

भाव मनको पौद्गलिक माननेमे हेतु—

ऊपर हम भावमनको ज्ञान विशेष है, ऐसा स्वीकार कर आये है। फिर भी यहाँपर उसे पौद्गलिक सिद्ध करना यह परस्पर विरोध है। परन्तु दृष्टिभेदसे विचार करनेपर यह विरोध अपने आप नष्ट हो जाता

है। कारण ऊपर ज्ञानकी विभावरूप अवस्था विशेषको भावमन कहा गया है और यहाँपर निमित्तकी मुख्यतासे वर्णन किया जा रहा है; जब कि भावमन यह जीवकी शुद्ध अवस्थामें नही पाया जाता है और क्षयोपशमरूप है तो वह नैमित्तिक होना ही चाहिए. इसमे कुछ भी संदेह नही है। स्वर्णमें किट्ट कालिमाके निमित्तसे उत्पन्न हुई जो विरूपता है वह स्वर्णकी मानी जावे अथवा उस प्रकारका श्रद्धान किया जावे, तो इससे अपनी श्रद्धा मिथ्या कही जावेगी। कारण कि यह निमित्तजन्य अवस्था है; शुद्ध स्वर्णकी निज परणति नही है। उसी प्रकार भावमन यह जीवकी अशुद्ध अवस्थामे उत्पन्न हुई कर्मनिमित्तक परणति है। अतएव वह जीवकी नही कही जा सकती है। यदि जीवको कहना भी हो, तो विभावरूपसे ही उसे जीवकी कहनी होगी; स्वभावरूपसे नही। परन्तु विभाव यह जीवका निजभाव-स्वभाव नहीं है। वह तो परके निमित्तसे उत्पन्न हुआ विकारी भाव है।

अब देखना यह है कि इस विभाव अवस्थामें निमित्त कौन है ?

यह सबको ही विदित है कि संसारी आत्मा कर्मबद्ध है। अतएव अपने-अपने विरोधी कर्मका सद्भाव रहते हुए जितने भी भाव उत्पन्न होते है, वे सबके सब विभाव है। कारण कि उनमे कर्मके उदयादि कारण पड़ते है। अतएव यह सिद्ध हो जाता है कि विभाव अवस्थामे निमित्त कर्म है। भावमन भी अपने विरोधी नो-इन्द्रियावरण कर्मके सद्भावमे ही उत्पन्न होता है। अतएव वह ज्ञानकी पर्यायविशेष होते हुए भी स्वभाव नही है। इसीलिए तो उसे पौद्गलिक कहा जाता है। भगवान् पूज्यपादने जो उसे 'पुद्गलावलंबनात् पुद्गलम्' ऐसा कहा है उसका भी यही कारण समझना चाहिये।

यहाँपर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि सर्वार्थसिद्धिकारको जब वह केवलज्ञानरूप इष्ट था, तो उसी जगह उसे 'पुद्गलावलंबनात् पुद्गलम्' ऐसा कहनेकी क्या आवश्यकता थी। परन्तु थोड़ा सूक्ष्मदृष्टिसे विचार किया जावे, तो यह बात उसी समय समझमे आ जाती है कि पूज्यपाद स्वामीको एक ही जगह उपादान और निमित्त इन दोनों कारणोंका वर्णन करना इष्ट था। अतएव उन्होंने पुद्गलोपकार्य पदार्थोंमें निमित्त की मुख्यतासे भावमनका भी संग्रह कर लिया। यदि भावमन केवलज्ञानरूप ही है। उसमे कर्मका थोड़ा भी सम्बन्ध नही है, तो उसे पुद्गलोपकार्य नही कहना चाहिये था। संसारी आत्माको जब कि कथंचित् मूर्ति स्वीकार किया है, तो भावमनको कथंचित् पौद्गलिक मान लेनेमे विशेष आपत्ति नही दिखाई देती है।

संसारी आत्माको कथंचित् मूर्तिक माननेमे प्रमाण—

बंधं प्रत्येकत्वं लक्षणो भवति तस्य नानात्वम्। तस्मादमूर्तिभावो नैकांताद्भवति जीवस्य।

—श्लोकवार्तिक

कर्म और आत्माके बंधकी अपेक्षासे एकपना है और लक्षणकी अपेक्षासे दोनोके भिन्नपना है। इसलिये आत्माके अमूर्तिपना एकांतसे नही हो सकता है। वह कथंचित् ही मानना चाहिये।

अब विचार करिये कि यदि कोई कर्मके निमित्तसे होनेवाले गुणधर्मोको सर्वथा आत्माका मानने लगे, तो क्या उसकी यह मान्यता समीचीन कही जा सकेगी ? समयसारका प्रयोजन भी तो इसी दूषित दृष्टिको हटानेका है। हाँ, यदि कोई किसी आत्माको अशुद्ध अवस्थामे रहते हुए भी उस समय उसे शुद्ध मानने लगे,

तो उसकी वह मान्यता मिथ्या ही कही जावेग। । अशुद्धताके रहते हुए भो शुद्धताको न मानना दूसरी बात हैं और स्वरूप दृष्टिसे शुद्धताका अनुभव करना, दूसरी बात हैं।

इस तरह यह सिद्ध हो जाता है कि नयभेदसे यह सब कथन परस्पर विरोधी नहो है। यदि भावमन सर्वथा जीवका मान लिया जावे, तो वह आत्माकी शुद्ध अवस्थामे, क्यो उपलब्ध नही होता है ? यह प्रश्न खड़ा ही रहता। उसी प्रकार बद्ध अवस्था किसकी है। ऐसा प्रश्न किया जावे तो सहज ही कोई यही उत्तर देगा कि यह जीवकी पुद्गलके योगसे हुई है। तो इससे यह भी समझ लेना चाहिये कि उस अवस्थाके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले जितने भी गुणधर्म हैं वे सब एकके न होकर भी निमित्तके सद्भावमे ही होते है। उन गुण-धर्मोंमें कहीं आत्मा उपादान रहता है और कही पुद्गल उपादान रहता है। मुझे विश्वास है कि इस ऊपरके कथनसे भावमानके संबंधमें दोनों दृष्टिकोणोंका उत्तम प्रकार से खुलासा हो गया होगा।





भावमन और द्रव्यमन

भावमन आत्माका स्वभाव नहीं है। वह ज्ञानकी एक पर्याय है जो लब्धिरूप भी है और उपयोगरूप भी। ज्ञानावरणी कर्मके क्षयोपशम रूप होनेके कारण उसे संयोगज माना गया हैं। अतः भावमन विभाव भाव है। यहाँ आत्मा ही भावमनका आत्मा ही उपादान कारण है; द्रव्यमन उपादान कारण नहीं है। क्योंकि द्रव्यमन पुद्गल की पर्याय है और अंगोपांग नामकर्मके उदयके निमित्तसे उसकी रचना हुई है। जैसे मिट्टीके घड़ेमें मिट्टी उसका उपादान कारण है, वैसे ही ज्ञान (आत्मा) ही भावमनका उपादान कारण है। 'घी का घड़ा लाओ' यह कहना व्यवहार है। यहाँ जैसे घी के निमित्तसे घड़ेको घी का घड़ा कहा जाता है, वैसे ही भावमनके निमित्तसे द्रव्यमनको भी मन कहनेका व्यवहार है।

सिद्धान्त शास्त्रोंमें उपादान कारणकी मुख्यतासे भावमन ज्ञानात्मक कहा जाता है—इसमें किसीका भी विरोध नहीं है। परन्तु अध्यात्म शास्त्रोंमें कार्य-कारण और व्याप्य-व्यापक सम्बन्धकी मुख्यतासे भावमनको पौद्गलिक कहा गया है। यदि ऐसा न माना जाय और इसकी उपेक्षा की जाय तो इससे तत्त्वहानिकी सम्भावना है। प्रमाणके लिए आचार्योंके वाक्य उद्धृत है—

"मिथ्यादृष्ट्यादीनि गुणस्थानानि हि पौद्गलिकमोहकर्मप्रकृतिविपाकपूर्वकत्वे सति नित्यमचेतनत्वात् कारणानुविधायीनि कार्याणीति कृत्वा यवपूर्विका यवा यवा एवेति न्यायेन पुद्गला एव, न तु जीवः।

जो ये मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान हैं वे पुद्गलरूप मोहकर्मकी प्रकृतिके उदय होनेसे होते हैं इसलिये नित्य ही अचेतन है क्योंकि जैसा कारण होता है उसीके अनुसार काम होता है जैसे-जैसे जौ होते हैं वे यव ही हैं इसी न्यायकर वे पुद्गल ही हैं जीव नहीं है।

यः खलु मोहरागद्वेषसुखदुःखादि रूपेणांतरुत्प्लवमानं कर्मणः परिणामं स्पर्शरसगंधवर्णशब्दबंधसंस्थानस्थौल्यसौक्ष्म्यादिरूपेण बहिरुत्प्लवमानं नोकर्मणः परिणामं च समस्तमपि परमार्थतः पुद्गलपरोणामपुद्गलयोरेव घटमृत्तिकयोरिव व्याप्यव्यापकभावसद्भावात् कर्मत्वेन क्रियमाणं पुद्गलपरिणामात्मनोर्घटकुम्भकारयोरिव व्याप्यव्यापकभावाभावात् कर्तृकर्मत्वासिद्धौ न नाम करोत्यात्मा।

निश्चयकर मोह, राग, द्वेष, सुख, दुःख आदि स्वरूपकर अंतरंगमे उत्पन्न होता है वह तो कर्मका परिणाम है और स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द, बंध, संस्थान, स्थौल्य, सूक्ष्म आदि रूपकर बाहर उत्पन्न होता है वह नोकर्मका परिणाम है। इस प्रकार ये सभी, परमार्थसे पुद्गल और पुद्गल परिणामका ही घट और मिट्टीके समान व्याप्यव्यापकभाव होनेसे स्वतंत्र व्यापक कर्तारूप पुद्गल द्रव्यके द्वारा स्वयं व्याप्यमान होनेके कारण कर्मके ही कार्य समझना चाहिये। पुद्गल परिणाम राग द्वेषादि और कुम्भकारकी तरह व्याप्यव्याप्यकभाव नहीं होनेके कारण कार्यकारणभाव सिद्ध न हो सकनेसे इन राग द्वेषादिका कर्ता आत्मा नहीं हो सकता है।

इससे यह पता चल जाता है कि द्वेष आदि भावोंका उपादान कारण आत्माका चारित्र गुण होते हुए भी वे स्वतंत्र आत्माके न होनेके कारण और पुद्गल कर्मके साथ उनका व्याप्यव्यापक सम्बन्ध होनेके कारण वे पुद्गलके कहे जाते हैं उसी प्रकार भावमनका उपादान कारण आत्माका ज्ञान गुण होते हुए भी भावमन स्वतंत्र आत्मामें उपलब्ध न होनेके कारण और पुद्गलके साथ उसका व्याप्यव्यापकसम्बन्ध होनेके कारण भावमन यह पौद्गलिक कहा जाता है। घटोत्पत्तिमें निमित्त यद्यपि कुम्भकार है फिर भी कुम्भकार और घटका व्याप्य-

व्यापक सम्बन्ध नहीं है इसलिये घटका कर्ता कुम्भकार नही कहा जाता है। इसलिये उपादान कारण ज्ञान गुण होते हुए भी व्याप्यव्यापक और कार्यकारणसम्बन्ध होनेसे भावमनको पौद्गलिक मान लेनेमे विशेष कुछ आपत्ति नहीं है। नही तो वह आत्माका स्वाभाविक धर्म ठहर जावेगा। यदि दो वस्तुओंके संयोगजन्य कार्य और स्वतंत्र एक वस्तुके कार्यको ध्यानमे लाया जावे तो यह भेद उसी समय ध्यानमे आ सकता है। अध्यात्मशास्त्रोंमें आत्माके निजस्वरूपके दिखानेका प्रयोजन रहता है। पुद्गलके निजस्वरूपके दिखानेका प्रयोजन नही है अतएव भावमन संयोगजधर्म होनेके कारण निश्चयदृष्टिसे वह आत्माका नही कहा जा सकता है। प्रत्येक संयोगजधर्ममें इसी दृष्टिको सामने रखने पर शुद्ध वस्तुका बोध हो सकता है। विचार करिये यदि कोई भी स्वरूपका चिंतवन करने वाला भव्य राग द्वेष जीवका है, मिथ्याज्ञान जीवका है, मतिज्ञान जीवका है, भावमन जीवका है, औपशमिकभाव जीवका है, गुणस्थान आदि जीवके है ऐसा चितवन करता रहे तो क्या उसे शुद्ध स्वरूपका बोध अथवा उसकी प्राप्ति हो सकती है ? कभी नही। स्वरूप प्राप्तिके लिये तो उसे दिव्यदृष्टि ही होना पड़ेगा। ये सब पर्यायदृष्टिके विषय है इसलिये आत्माको सर्व कालीन ऐसा नही माना जा सकता है। और जो जिसके सर्वकालमें नही होते है वे उसके नही कहे जा सकते है। भावमनके सम्बन्धमे भी यही समझना चाहिये। इसीसे—कुम्भकार निमित्त होते हुए भी घट कुम्भकार क्यों नही कहा जाता है और भावमन पौद्गलिक क्यों कहा जाता है—इसका स्पष्ट खुलासा हो जाता है। रह गई घीके घटकी बात सो घी और घटका कोई व्याप्यव्यापक और कार्यकारण सम्बन्ध नही है अतएव भावमनके लिये यह दृष्टान्त उपयोगी नही है। 'भावमन पौद्गलिक है और घीका घडा' इन दोनों वचनोंके व्यवहार करनेमे बडा भारी अन्तर है। घीका घडा यहाँ पर केवल आधार आधेय सम्बन्धसे घीका घड़ा यह वचन व्यवहार प्रवृत्त होता है अतएव ऐसे उदाहरणोंसे मूल कथनका खंडन नही होता है।

भावमन क्षायोपशमिक भाव है यह तो पंडितजीको इष्ट ही होगा। अब हम यहाँपर यह पूछते है कि जब के भावमन आत्माका निजभाव है फिर उस क्षायोपशमिक ज्ञानको हेय क्यो बताया है। यदि आप कहेंगे कि वह सर्वथा निजभाव नही है तो फिर उसे पौद्गलिक मान लेनेमें आपत्ति ही क्यो होनी चाहिये।

जलमें सूर्यका प्रतिबिंब पडता है। अब यदि वह केवल जलका कहा जावे तो सूर्यके अभावमें भी जलमें सूर्यका प्रतिबिंब दिखना चाहिये ? परन्तु ऐसा नही होता है इसीलिये वह प्रतिबिम्ब सूर्यका कहा जाता है कारण प्रतिबिंब और सूर्यका व्याप्यव्यापक और कार्यकारण संबंध है। यहाँ पर यद्यपि जल उपादान कारण है फिर भी वस्तुके मूलस्वरूपके लिये उपर्युक्त कथन ही उपयोगी है। आशा है इससे पंडितजीको दूसरे दृष्टिकोणका पता लग जावेगा।

तत्त्वार्थ सूत्रके दूसरे अध्यायका पहला सूत्र है—'औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकश्च'।

तत्त्वार्थसूत्रके दूसरे अध्यायका पहिला सूत्र 'औपशमिकक्षायिकौ' इत्यादि है। इसमे औपशमिक आदि पांच भाव जीवके स्वत.के स्वरूप है ऐसा भगवान् उमास्वामीने कहा है। 'स्वतत्त्वं आत्मनः स्वभावाः श्रद्धेया' ऐसा स्वतत्त्व शब्दका खुलासा है।

विचार—पंडितजीने भावमनको क्षायोपशमिक भाव होनेके कारण तत्त्वार्थसूत्रका उल्लेख करके आत्माका निजभाव कहा है इसका हम निषेध भी तो नही करते है। परन्तु यह कथन पर्यायदृष्टिसे है। इधर पंडितजीका लक्ष्य ही नही जाता है और इसलिये अध्यात्म शास्त्रोंमें दिव्यदृष्टिसे प्रतिपादित विषयको वे सर्वथा भुला देना चाहते है। हम पंडितजीसे ही पूछते हैं कि ये औदायिक, क्षायोपशमिक आदि भाव यदि सर्वथा जीव-

के हैं तो अध्यात्मशास्त्रोंमें 'ये हेय हैं' ऐसा उपदेश क्यों दिया जाता है। 'ये सब आत्माके निजस्वरूप हैं इनका श्रद्धान करना चाहिये' इत्यादि उपदेश देना चाहिये था। उसी तरह तत्त्वार्थसूत्रके दशवें अध्यायमें 'औपशमिकादिभव्यत्वानां च' ऐसा कथन करके सिद्धजीवके इनका निषेध क्यों किया जाता है, मेरी प्रार्थना है कि पंडितजी दोनों दृष्टिकोणोंको प्रतिपादन करनेवाले दोनों शास्त्रोंका समन्वय करके इस विषयका विचार करेंगे। यह तो निश्चित ही है कि क्षायोपशमिक और औपशमिक आदि भावोंमें आत्मा उपादान कारण है तथा औदयिक भावोंमें जितने जीवविपाकी हैं उनमें आत्मा और पुद्गलविपाकी भावोंमें पुद्गल उपादान कारण है इसलिये उपादान कारणकी मुख्यतासे वे भाव उस उसके कहे जावेंगे। परन्तु यहाँपर प्रयोजन शुद्ध जीवके स्वरूपके प्रतिपादन करनेका होनेके कारण पुद्गलनिमित्तक अथवा पुद्गलउपादान कारणका जितने भी भाव हैं उन सबको पौद्गलिक कहा जाता है कारण उन भावोंका व्याप्यव्यापक संबंध कर्मके साथ है। इसका हम पहले ही खुलासा कर आये हैं। क्षायोपशमिक आदि भाव हेय हैं इसमें प्रमाण—

कम्मुदयज पज्जाया हेयं खाओवमियणाणं खु। सगदव्वमुवादेयं णिच्छित्ति होदि सण्णाणं ॥४॥

—द्वादशानुप्रेक्षा.

कर्मके उदयसे उत्पन्न होनेवाली पर्यायें और क्षायोपशमिक ज्ञान हेय हैं। तथा निज द्रव्य उपादेय है ऐसा निश्चय होना सम्यग्ज्ञान है।

पदार्थ जिस समय जिस परिणाम—अवस्थारूपसे परिणत होता है उस समय वह तत्स्वरूप माना जाता है। इस नियमसे वह उस समय तन्मय होता है। वह अवस्था उस पदार्थसे अभिन्नरूप रहती है। जैसे धर्म परिणत आत्मा धर्म माना जाता है। यह भावमन जीवसे कथंचित् अभिन्न है कारण नोइन्द्रियाकरणकर्मके क्षयोपशमसे आत्मप्रदेश भावमनरूपसे परिणत होते हैं। इसलिये मन यह आत्मासे और आत्मा मनसे कथंचित् अभिन्न है। और मनके अभाव होनेपर भी आत्मा रहता है [वह भावमन आत्मामें रहता है] उस (भावमन) का अभाव [अत्यन्ताभाव] नहीं होता है इसलिये वह भावमन कथंचित् भिन्न है [संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन इसकी अपेक्षासे भिन्न है]

विचार—जो पदार्थ जिस समय जिस अवस्था रूपसे परिणत होता है वह पदार्थ उस समय उस रूप माना जाता है इसमें मुझे कुछ भी विशेष विवाद नहीं है। परन्तु आगे चलकर पंडितजी ने जो भावमनको कथंचित् अभिन्न सिद्ध करनेके लिये नोइंद्रियावरण कर्मके क्षयोपशमसे भावमनरूप आत्मप्रदेश परिणत होते है ऐसा लिखा है इस विषयमें जरूर आपत्ति है वह यह कि आत्मप्रदेशोंको तो भावमन कहींपर भी नही कहा है। हाँ आत्मप्रदेश द्रव्यमनरूप अवश्य परिणत होते हैं उसमें भी कारण नोइन्द्रियावरण कर्मका क्षयोपशम न होकर पुद्गल विपाकी अंगोपांगनामकर्मका उदय ही समझना चाहिये। नोइन्द्रियावरणकर्मके क्षयोपशमसे भावमन अवश्य होता है। परन्तु वह ज्ञानविशेष है आत्माके प्रदेश विशेष नहीं। भावमन वह ज्ञान विशेष होते हुए भी निश्चय दृष्टिसे उसे आत्माका न कहना इसमें कारण उसका विभावरूप होना ही है। यहाँपर उसे आत्मासे कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न सिद्ध करनेमें विशेष प्रयोजन ही नहीं है। यह कथन तो तब उपयोगी था जब कि मनको आत्मासे सर्वथा भिन्न माना जाता अथवा गुण गुणी आदिमें सर्वथा भेद या अभेद माना जाता। यहाँपर तो तत्त्वचर्चाका दृष्टिकोण ही दूसरा है। यहाँपर तो यह विचार करना है कि पर वस्तुके सम्बन्धसे रहित ऐसा शुद्ध आत्मा और परवस्तुसे सम्बन्धको प्राप्त ऐसा अशुद्ध आत्मा इन दोनोंमें जब भेद देखना होगा तो सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाले धर्मोंको किसका कहना चाहिये। यदि स्वरूपदृष्टिसे उन धर्मोंको आत्माका कहा जाय तो स्वतन्त्र शुद्ध अवस्थाका अशुद्ध अवस्थासे क्या फरक रहेगा।

यदि फरक न माना जावे तो मुक्तिके लिये प्रयत्न करना ही निष्फल ठहर जावेगा। इसलिये अध्यात्मशास्त्रमें संयोगसे उत्पन्न होनेवाले धर्मोको जिसके संयोगसे वे उत्पन्न होते है उसका कहा जाता है। ऐसा मानने अथवा श्रद्धान करनेपर तत्त्व हानि न होकर तत्त्व प्राप्ति ही होती है।

आगे चलकर पंडितजीने जो यह लिखा है कि मनका अभाव हो जानेपर भी आत्मा रहता है। (भावमन आत्मामे रहता है) उसका अभाव (अत्यन्ताभाव) नही होता है।

इस वाक्यके ऊपरसे तो सचमुचमें मुझे ऐसा मालूम पडता है कि इस लेखके लेखक स्वयं पंडितजी नहीं हैं। हो सकता है कि इस प्रकार लिखनेमें मेरा अज्ञान कारण हो परन्तु मुझे जैसा समझमें आता है उस प्रकार लिख देना अनुचित भी नही है।

भावमनका अभाव हो जानेपर भी आत्मा रहता है इसका पं० जी ने जो कोसमें खुलासा किया है कि वह मन आत्मामे रहता है। इधर उसका अभाव बताते हैं दूसरी ओर उसका सद्भाव बताते है। मेरी समझसे ऐसा लिखनेके दो कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि भावमन विशिष्ट आत्मप्रदेश रूप है और दूसरा यह कि वह सामान्यज्ञान स्वरूप है। परन्तु ये दोनों कल्पनाये बराबर नही है इसका खंडन हमारे ऊपरके कथनसे हो जाता है। भावमन यह ज्ञान विशेष है। इसलिये उसका सद्भाव सर्वदा रहना ही चाहिये ऐसा कोई नियम नही है। क्रमभावी पर्याय होती है और सहभावी गुण होता है इस नियमके अनुसार भावमनको क्रमभावी समझना चाहिये, कारण वह ज्ञान गुणकी विशेष पर्याय है। सामान्यज्ञान गुण नही। दूसरे पंडितजीने जो अत्यन्ताभावका निषेध किया है सो पर्यायके अभावमें अत्यन्ताभाव कारण नही होना है। अत्यन्ताभाव तो भिन्न दो द्रव्योंमे होता है यहाँ उसका विधान कौन करेगा। यहाँ तो प्रध्वंसाभाव समझना चाहिये। परन्तु प्रध्वंसाभाव हो जानेपर भी वह पर्याय उस वस्तुमे रहती ही है यह कल्पना कुछ नई है। इस तरहसे तो संसार अवस्था का प्रध्वंस हो जानेपर भी मुक्तजीवमे ससार अवस्थाका सद्भाव मानना पड़ेगा। परन्तु ऐसा नही है।

भावमन यह सर्वथा पौद्गलिक माननेपर उसको ज्ञानस्वरूप नही कहा जा सकता है। उसको अचेतन कहना पड़ेगा। अकलंकादिक आचार्योंने भावमनका आत्मामे अन्तर्भाव किया है। द्रव्यमन मात्र रूपादिक पुद्गल गुणोंसे सहित होनेके कारण वह पौद्गलिक है। पुद्गल विपाकी कर्मके उदयसे द्रव्यमन होता है। द्रव्यमनका (भेद) जो निर्वृत्ति युक्त द्रव्यमन है वह आत्माके प्रदेशरूप अष्टदल कमलाकार बनता है उसको अभ्यन्तर निर्वृतियुक्त मन कहते है। अर्थात् इस आकारके आत्मप्रदेशोको अर्थात् मनको आत्मा माननेमे कुछ हानि नहीं है। अर्थात् अभ्यन्तर निर्वृत्ति, क्षयोपशममे उत्पन्न होनेवाली विशुद्धि और उसकी सहायतासे पदार्थको माननेके लिये होनेवाली प्रवृत्ति यह सब (तीनों) आत्मस्वरूप ही है ऐसा समझना चाहिये। इस अष्टदल कमलाकार आत्मप्रदेशोंके ऊपर गुणदोषोंका विचार करनेके लिये सहायता करनेवाले जिन पुद्गल परमाणुओंकी रचना होती है उसको पौद्गलिक कहते है। अर्थात् बाह्य निवृत्ति पौद्गलिक है।

विचार—"भावमनको सर्वथा पौद्गलिक माननेपर उसको ज्ञानरूप नही कहा जा सकता है" पडितजीके इस वाक्यका तो यही अर्थ होता है कि वह सर्वथा पौद्गलिक तो नही है किन्तु कथंचित् पौद्गलिक है। यदि पंडितजीको यह अर्थ इष्ट हो तो अकलंकादिक आचार्योंने उसका जो केवल आत्मामे अन्तर्भाव किया है वह पंडितजीके उपर्युक्त कथनसे तो कभी भी नही बन सकता है। यदि पंडितजीको उसे केवल ज्ञानस्वरूप मानना इष्ट था तो 'सर्वथा पौद्गलिक माननेपर' इस प्रकारका वचन प्रयोग नही करना चाहिये था। क्योंकि उनके ऊपरके कथनसे तो वह कथंचित् अचेतन और कथंचित् चेतन ही सिद्ध होता है। पंडितजी यदि इस विषयका स्पष्ट खुलासा कर दें तो बड़ी अच्छी बात हो। इस विषयमें मेरी तो यह समझ है कि कोई भी

विशेष धर्म भिन्न दो द्रव्योंका कभी भी नही हो सकता है। वह किसी एक द्रव्यका ही होना चाहिये। इस दृष्टिसे विचार करनेपर ज्ञान यह आत्माका धर्म होनेके कारण और भावमन यह ज्ञानविशेष होनेके कारण वह आत्माका ही ठहरता है। उसे पौद्गलिक कभी भी नही कहा जा सकता है। ऐसे स्थलोंमें 'भावमनको सर्वथा पौद्गलिक माननेपर' यह वाक्य प्रयोग ही अयोग्य है। अब जो अध्यात्मशास्त्रोंमे भावमनको पौद्गलिक कहा जाता है इसका अर्थ यह नही है कि वह पुद्गलके धर्म है, पुद्गलमे और इन धर्मोमे गुणगुणी सम्बन्ध है। यह कुछ भी नही होते हुए भी निश्चयदृष्टि इन औपाधिक भावोंको आत्माका ग्रहण नही करता है अतएव वे उपाधिजन्य अर्थात् पौद्गलिक कहे जाते हैं।

आगे चलकर पंडितजीने "द्रव्यमन मात्र रूपादिगुणानी युक्त असले मुळे ते पौद्गलिक आहे' ऐसा लिखा है सो पंडितजीके इस एकान्तका खंडन आगे चलकर स्वयं पंडितजीके द्वारा ही आभ्यन्तर निर्वृत्ति रूप द्रव्यमनको आत्माके प्रदेश रूप स्वीकार लेनेसे हो जाता है। इसके आगे जो कुछ लिखा गया है उस विषयमें विशेष कुछ लिखनेकी आवश्यकता नही है।

यदि भावमन पौद्गलिक होता तो वह मूर्तिक पदार्थको ही जानता परन्तु शुद्ध आत्मानुभव यह इंद्रियका विषय नही है। इस आत्मानुभवरूप विषयमे स्पर्शनादिक इन्द्रियोंका उपयोग नही होता है परन्तु भावमनका मात्र उपयोग होता है। कारण वह मूर्त और अमूर्त दोनोंको जानता है। पंचाध्यायीकारने तो आत्मानुभवके समय मन यह ज्ञान ही होता है ऐसा स्पष्ट कहा है। इस सम्बन्धमे पंचाध्यायीके आधार यहाँपर देनेमे विशेष कुछ हानि नही है।

पंडितजीने जो यह लिखा है कि 'यदि भावमन पौद्गलिक होता तो वह मूर्तिक पदार्थको ही जानता' इस वाक्यका सीधे शब्दोमे यही अर्थ होता है कि जो विचारे ज्ञान केवल मूर्तिक पदार्थको जानते है वे पौद्गलिक है। ऐसा अर्थ करनेपर अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और इन्द्रियज्ञान ये सब पौद्गलिक ठहर जावेंगे। परन्तु पंडितजी ऐसा कथन करते समय यह बिल्कुल ही भूल जाते है कि ये ज्ञान भी भावमनकी तरह आत्मोपादानकारणक और क्षायोपशमिक है। फिर भावमन तो पौद्गलिक नही और ये ज्ञान विचारे पौद्गलिक ? यह कैसा न्याय है। सब जगह न्याय एक ही लागू होता है। आशा है पंडितजी अपने उपर्युक्त वाक्यका योग्य विचार करेंगे। आगे चलकर पंडितजीने जो यह लिखा है कि आत्मानुभवमे इंद्रियोंका उपयोग नही होता है यह बात हमें भी मान्य है परन्तु इससे इन्द्रियज्ञान पौद्गलिक और भावमन आत्मीक नही सिद्ध हो सकता है, यह विशेषता क्षयोपशमकी समझना चाहिये। श्रेणी तो दोनोकी एक ही है। भावमन ऐसा क्षायोपशमिक ज्ञान है कि उसमें अनुभव करने और विचार करनेकी सामर्थ्य उत्पन्न होती है इतने मात्रसे वह क्षयोपशम रूप जातिको उल्लंघन नहीं कर सकता है। वह तो विषय भेद है जाति भेद नही। मतिज्ञान आदि चारों ज्ञानोमे विषय भेदसे ही भेद है जाति तो चारोंकी क्षायोपशमिक ही है।

आगे चलकर पंडितजीने जो यह लिखा है कि आत्मानुभवके समय भावमन स्वयं ज्ञान ही होता है। यहाँपर इतना अवश्य पूछना है कि जिसको आत्मानुभव नहीं होता है उसका भावमन क्या ज्ञानरूप होता है या नहीं ? यदि होता है तो फिर यहाँ और कौनसी विशेषता उत्पन्न हो गई। यदि नही होता है तो आत्मानुभवको छोड़कर शेष दशामें भावमन यह पौद्गलिक ही ठहरेगा।

●

महाबंध : एक अध्ययन

१. षट्खण्डागमका मूल आधार और विषयनिर्देश

चौदह पूर्वोंमें अग्रायणीय पूर्व दूसरा है। इसके चौदह अर्थाधिकार हैं। पाँचवाँ अर्थाधिकार चयनलब्धि है, वेदनाकृत्स्नप्राभृत यह इसका दूसरा नाम है। इसके चौबीस अर्थाधिकार हैं। जिनमेंसे प्रारम्भके छह अर्थाधिकारोंके नाम हैं—कृति, वेदना, स्पर्श, कर्म, प्रकृति और बन्धन। इन्हीं छह अर्थाधिकारोंको प्रकृत षट्खण्डागम सिद्धान्तमें निबद्ध किया गया है। मात्र चूलिका अनुयोगद्वार सहित जीवट्ठाण इसका अपवाद है। एक तो जीवस्थान चूलिकाकी सम्यक्त्वोत्पत्ति नामक आठवीं चूलिका दृष्टिवाद अंगके दूसरे सूत्र नामक अर्थाधिकारसे निकली है। दूसरे गति-आगति नामक नौवीं चूलिका व्याख्याप्रज्ञप्तिसे निकली है।

यह षट्खण्डागम सिद्धान्तको प्रातःस्मरणीय आचार्य पुष्पदन्त भूतबलिने किस आधारसे निबद्ध किया था इसका सामान्य अवलोकन है। प्रत्येक खण्डका अन्तःस्पर्श करने पर विहित होता है कि परमागममें बन्धन अर्थाधिकारके बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान नामक जिन चार अर्थाधिकारोंका निर्देश किया गया है उनमेंसे बन्ध नामक अर्थाधिकारमें प्रारम्भकी सात चूलिकाएँ निबद्ध की गई हैं। इन सब चूलिकाओंमें प्रकृतमें उपयोगी होनेसे कर्मोंकी मूल व उत्तर प्रकृतियोंको उस उस कर्मकी उत्तर प्रकृतियोंके बन्ध व अधिकारी भेदसे बननेवाले स्थानोंको, कर्मोंकी जघन्य व उत्कृष्ट स्थितियोंको तथा गति भेदसे प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्ति के सन्मुख हुए जीवोंके बंधनेवाली प्रकृतियोंसम्बन्धी तीन महादण्डकोंको निबद्ध किया गया है।

षट्खण्डागमका दूसरा खण्ड क्षुल्लक बन्ध है। इसमें सब जीवोंमें कौन जीव बन्धक है और कौन जीव अबन्धक है इसका सुस्पष्ट खुलासा करना प्रयोजन होनेसे बन्धक नामक दूसरे अर्थाधिकारको निबद्ध कर जो जीव बन्धक हैं वे क्यों बन्धक हैं और जो जीव अबन्धक हैं वे क्यों अबन्धक हैं इसे स्पष्ट करने के लिये चौदह मार्गणाओंके अवान्तर भेदोंसहित सब जीव कर्मके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमसे यथासम्भव बद्ध और अबद्ध होते हैं इसे निबद्ध किया गया है। आगे छठवें खण्डमें बन्धनके चारों अर्थाधिकारोंको निबद्ध करना प्रयोजन होनेसे इस खण्डको क्षुल्लक बन्ध कहा गया है। इस खण्डमें उक्त दो अनुयोगद्वारोंको छोड़कर अन्य जितने भी अनुयोगद्वार निबद्ध किये गये हैं, प्रकृतमें उनका स्पष्टीकरण करना प्रयोजनीय नहीं होनेसे उनके विषयमें कुछ भी नहीं लिखा जा रहा है।

षट्खण्डागमका तीसरा खण्ड बन्ध स्वामित्वविचय है। यद्यपि क्षुल्लक बन्धमें सब जीवोंमेंसे कौन जीव बन्धक है और कौन जीव अबन्धक है इसे स्पष्ट किया गया है पर वहाँ अधिकारी भेदसे बन्धको प्राप्त होने वाली प्रकृतियोंका नाम निर्देश नहीं किया गया है और न यही बतलाया गया है कि उक्त जीव किस गुणस्थान तक किन प्रकृतियोंका बन्ध करते हैं और उसके बाद वे उन प्रकृतियोंके अबन्धक होते हैं यह सब ओघ और आदेशसे सप्रयोजन स्पष्ट करनेके लिए इस खण्डको निबद्ध किया गया है।

षट्खण्डागमका चौथा खण्ड वेदना है और पाँचवें खण्डका नाम वर्गणा है। इन दोनों खण्डोंमेंसे प्रथम खण्डमें कर्म प्रकृति प्राभृतके कृति और वेदना अर्थाधिकारोंको तथा दूसरे खण्डमें स्पर्श, कर्म और प्रकृति अर्थाधिकारोंके साथ बन्धन अर्थाधिकारके बन्धनीय अर्थाधिकारको निबद्ध किया गया है।

इस प्रकार उक्त पाँच खण्डोंमें निबद्ध विषयका सामान्य अवलोकन करनेपर विदित होता है कि उक्त पाँचों खण्डोंमें कर्म विषयक सामग्रीका भी यथासंभव अन्य सामग्रीके साथ यथास्थान निबद्धीकरण हुआ है। फिर भी बन्धन अर्थाधिकारके बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान इन चारों अर्थाधिकारोंको समग्र भावसे निबद्धीकरण नही हो सका है। अतः इन चारो अर्थाधिकारोंको अपने अवान्तर भेदोके साथ निबद्ध करनेके लिए छठवें खण्ड महाबन्धको निबद्ध किया गया है।

वर्तमानमे जिस प्रकार प्रारम्भके पांच खण्डोंपर आचार्य वीरसेनकी धवला नामक टीका उपलब्ध होती है उस प्रकार महाबन्धपर कोई टीका उपलब्ध नही होती। इसका परिमाण अनुष्टुप् श्लोकोंमें चालीस हजार श्लोक प्रमाण स्वीकार किया गया है। आचार्य वीरसेनके निर्देशानुसार यह आचार्य भूतबलीकी अमर कृति है। यद्यपि इसका मूल आधार बन्धन नामक अर्थाधिकार है, परन्तु उसके आधारसे आचार्य भूतबलीने इसे निबद्ध किया है, इसीलिए यहाँ उसे उनकी अमर कृति कहा गया है।

२ महाबन्ध इस नामकरणकी सार्थकता

यह हम पहले ही बतला आये हैं कि षट्खण्डागम सिद्धान्तमे दूसरे खण्डका नाम क्षुल्लक बन्ध है और तीसरे खण्डका नाम बन्धस्वामित्वविचय है। किन्तु उनमें बन्धन अर्थाधिकारके चारों अर्थाधिकारोंमे से मात्र बन्धक अर्थाधिकारके आधारसे विषयको सप्रयोजन निबद्ध किया गया है। तथा वर्गणाखण्डमे वर्गणाओंके तेईस भेदोंका सांगोपाग विवेचन करते हुए उनमेसे प्रसंगवश ज्ञानावरणादि कर्मोंके योग्य कार्माण वर्गणाएँ है यह बतलाया गया है। वहाँ बन्ध तत्त्वके आश्रयसे बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान इन चारोंको एक शृंखलामे बाँधकर निबद्ध नही किया गया है जिसकी पूर्ति इस खण्ड द्वारा की गई है, अतः इसका महाबन्ध यह नाम सार्थक है।

३. निबद्धीकरण सम्बन्धी शैलीका विचार

किसी विषयका विवेचन करनेके लिए तत्सम्बन्धी विवेचन के अनुसार उसे अनेक प्रमुख अधिकारोंमें विभक्त किया जाता है। पुनः अवान्तर प्रकरणों द्वारा उसका सर्वांग विवेचन किया जाता है। प्रकृतमे भी इमी पद्धतिसे द्रव्यकर्म बन्ध तत्त्वको प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध इन चार प्रमुख अधिकारोमे विभक्त कर उनमेसे प्रत्येकका ओघ और आदेशसे अनेक अनुयोग द्वारोंका आलम्बन लेकर विचार किया गया है। इससे द्रव्यकर्म बन्ध तत्त्व सम्बन्धी समग्र मीमासाको निबद्ध करनेमे सुगमता आ गई है। समग्र षट्खण्डागम इसी शैलीमे निबद्ध किया गया है। अत. महाबन्धको निबद्ध करनेमे भी यही शैली अपनाई गई है। ऐसा करते हुए मूलमे कही भी किसी पारिभाषिक शब्दकी व्याख्या नही की गई है। मात्र प्रकरणानुसार उसका उपयोग किया गया है। किन्तु एक पारिभाषिक शब्द एक स्थलपर जिस अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, सर्वत्र उसी अर्थमे उसका प्रयोग हुआ है।

४. कर्म शब्दके अर्थकी व्याख्या

कर्म शब्दका अर्थ कार्य है। प्रत्येक द्रव्य, उत्पाद, व्यय और ध्रुव स्वभाववाला होनेसे अपने ध्रुव-स्वभावका त्याग किये बिना प्रत्येक समयमे पूर्व पर्यायका व्यय होकर जो पर्याय रूपसे नया उत्पाद होता है वह उस द्रव्यका कर्म कहलाता है। यह व्यवस्था द्रव्योंके समान जीव और पुद्गल द्रव्यमे भी घटित होती है। किन्तु यहाँ जीवके मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगमे से क्रमसे यथासम्भव पाँच, चार, तीन, दो या एकको निमित्त कर कार्मणवर्गणाओका जो ज्ञानावरणादिरूप परिणमन होता है उसे 'कर्म' कहा गया

हैं। ज्ञानावरणादिरूपसे स्वयं कार्मणवर्गणायें परिणमी, इसलिए नोआगम भावकी अपेक्षा तो वह कर्मरूप परिणाम स्वयं पुद्गलका है। किन्तु उन कार्मणवर्गणाओंके परिणमनमें जीवके मिथ्यात्व आदि भाव निमित्त होते हैं, इसलिए निमित्त होनेकी अपेक्षा उसे उपचारसे जीवका भी कर्म कहा जाता है। इस प्रकार इन ज्ञानावरणादि कर्मोंको जीवका कहना यह नोआगम द्रव्यनिक्षेपका विषय है, नोआगम भाव निक्षेपका विषय नहीं, इसलिए आगममें इसे द्रव्य कर्मरूपमें स्वीकार किया गया है। काल-प्रत्यासत्ति या बाह्यव्याप्ति वश विवक्षित दो द्रव्योंमें एकता स्थापित कर जब एक द्रव्यके कार्यको दूसरे द्रव्यका कहा जाता है तभी नोआगमनयकी अपेक्षा ज्ञानावरणादिरूप पुद्गल परिणामको जीवका कार्य कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं; यह उक्त कथनका तात्पर्य है। इस प्रकार प्रकृतमें उपयोगी कुछ तथ्योंका निर्देश करनेके बाद अब महाबन्ध परमागममें निबद्ध विषयपर सांगोपांग विचार करते हैं।

५. महाबन्ध परमागममें निबद्ध विषय

यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान इन चारों विषयोंको ध्यानमें रखकर महाबन्धमें बन्ध तत्त्वको निबद्ध किया गया है। यह प्रत्येक द्रव्यगत स्वभाव है कि प्रत्येक द्रव्यके कार्योंमें बाह्य और आभ्यन्तर उपाधिकी समग्रता होती है। यत ज्ञान-दर्शन स्वभाववाला जीव स्वतन्त्र द्रव्य है और प्रत्येक जीव द्रव्य पृथक् पृथक् सत्ता-सम्पन्न होनेसे सब जीव अनन्त हैं तथा पर्यायदृष्टिसे वे संसारी और मुक्त ऐसे दो भागोंमें विभक्त हैं। जो चतुर्गतिके परिभ्रमणसे छुटकारा पा गये हैं उन्हें मुक्त कहते हैं। किन्तु जो चतुर्गति परिभ्रमणसे मुक्त नहीं हुए हैं उन्हें संसारी कहते हैं। अब प्रश्न यह है कि जीवोंकी ये दो प्रकारकी अवस्थायें कैसे होती हैं ? यद्यपि इस प्रश्नका समाधान पूर्वोक्त इस कथनसे हो जाता है कि प्रत्येक द्रव्यके कार्योंमें बाह्य और अन्तरंग उपाधिकी समग्रता होती है फिर भी यहाँ उस बाह्य सामग्रीकी सांगोपांग मीमांसा करनी है, आभ्यन्तर उपाधिके साथ जिसकी प्राप्ति होनेपर जीवोंकी संसार (चतुर्गति परिभ्रमणरूप) अवस्था नियमसे होती है। भगवान् भूतबलीने इसी प्रश्नके उत्तरस्वरूप महाबन्ध परमागमको निबद्ध किया है। इसमें जीव सम्बद्ध उस बाह्य सामग्रीकी कर्म संज्ञा रख कर और उसे व्यवहारनय (नैगमनय) से जीवका कार्य स्वीकार कर बतलाया गया है कि वे कर्म कितने प्रकारके है, उनकी प्रकृति, स्थिति और अनुभाग क्या है। संख्यामें वे प्रदेशोंकी अपेक्षा कितने होते है। बन्धकी अपेक्षा ओघ और आदेशसे कौन जीव किन कर्मोंका बन्ध करते है। वे सब कर्म मूल और अवान्तर भेदोंकी अपेक्षा कितने प्रकारके हैं। क्या सभी पुद्गल कर्मभावको प्राप्त होते है या नियत पुद्गल ही कर्मभावको प्राप्त होते है। उनका अवस्थान काल और क्षेत्र आदि कितना है, आदि प्रकृत विषय सम्बन्धी प्रश्नोंका समाधान विधि रूपसे महाबन्ध परमागम द्वारा किया गया है। इसमें सब कर्मोंके प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध ऐसे चार भेद करके उक्त विधिसे बन्ध तत्त्वकी अपेक्षा सब कर्मोंका विचार किया गया है ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

१. प्रकृति बन्ध

प्रकृति बन्ध यह पद प्रकृति और बन्ध इन दो शब्दोंसे मिलकर बना है। प्रकृति, शील और स्वभाव ये एकार्थवाची शब्द है। इससे ज्ञात होता है कि जीवके मिथ्यादर्शन आदिको निमित्त कर जो कार्मण वर्गणायें कर्म भावको प्राप्त होती हैं उनकी मूल प्रकृति जीवकी विविध नर-नरकादि अवस्थाओंके होनेमें तथा मिथ्यादर्शनादि भावके होनेमें निमित्त होती है। अर्थात् जब जीव अपनी पुरुषार्थहीनताके कारण आभ्यन्तर उपाधिवश जिस अवस्थाको प्राप्त होता है उसकी उस अवस्थाके होनेमें ये ज्ञानावरणादि कर्म निमित्त (व्यवहार हेतु) होते हैं यह उनकी प्रकृति है।

किन्तु कार्मण वर्गणाओंके, मिथ्यादर्शन आदिके निमित्तसे कर्म भावको प्राप्त होने पर वे कर्म जीवसे सम्बद्ध होकर रहते हैं या असम्बद्ध होकर रहते हैं इसीके उत्तर स्वरूप यहाँ बन्ध-तत्त्वको स्वीकार किया गया है। परमागममें बन्ध दो प्रकारका बतलाया है—एक तादात्म्य सम्बन्ध रूप और दूसरा संयोग सम्बन्धरूप। इनमेंसे प्रकृतमें तादात्म्य सम्बन्ध विवक्षित नहीं है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्यका अपने गुण पर्यायके साथ ही तादात्म्य-रूप बन्ध होता है, दो द्रव्यों या उनके गुण-पर्यायोंके मध्य नहीं। संयोग सम्बन्ध अनेक प्रकारका होता है सो उसमें भी दो या दोसे अधिक परमाणुओं आदिमें जैसा श्लेष बन्ध होता है वह भी यहाँ विवक्षित नहीं है, क्योंकि पुद्गल स्पर्शवान द्रव्य होने पर भी जीव स्पर्शादि गुणोंसे रहित अमूर्त द्रव्य है, अतः जीव और पुद्गल-का श्लेष बन्ध बन नहीं सकता। स्वर्णका कीचड़के मध्य रह कर दोनोंका जैसा संयोग सम्बन्ध होता है ऐसा भी यहाँ जीव और कर्मका संयोग सम्बन्ध नहीं बनता, क्योंकि स्वर्णके कीचड़के मध्य होते हुए भी स्वर्ण कीचड़-से अलिप्त रहता है, क्योंकि कीचड़के निमित्तसे स्वर्णमें किसी प्रकारका परिणाम नहीं होता। मात्र परस्पर अवगाहरूप संयोगसम्बन्ध भी जीव और कर्मका नहीं स्वीकार किया जा सकता, क्योकि जीव प्रदेशोंका विस्र-सोपचयोंके साथ परस्पर अवगाह होने पर भी विस्रसोपचयोंके निमित्तसे जीवमें नरकादिरूप व्यञ्जन पर्याय और मिथ्यादर्शनादि भावरूप किसी प्रकारका परिणाम नहीं होता। तब यहाँ किस प्रकारका बन्ध स्वीकार किया गया है ऐसा प्रश्न होने पर उसका समाधान यह है कि जीव के मिथ्यादर्शनादि भावोंको निमित्त कर जीव प्रदेशोंमें अवगाहन कर स्थित विस्रसोपचयोंके कर्म भावको प्राप्त होने पर उनका और जीव प्रदेशोंका परस्पर अवगाहन कर अवस्थित होना यही जीवका कर्मके साथ बन्ध है। ऐसा बन्ध ही प्रकृतमें विवक्षित है। इस प्रकार जीवका कर्मके साथ बन्ध होने पर उसकी प्रकृतिके अनुसार उस बन्धको प्रकृति बन्ध कहते हैं। इसी प्रकृति बन्धको ओघ और आदेशसे महाबन्धके प्रथम अर्थाधिकारमें विविध अनुयोग द्वारोंका आलम्बन लेकर निबद्ध किया गया है।

वे अनुयोग द्वार इस प्रकार है—(१) प्रकृति समुत्कीर्तन (२) सर्वबन्ध (३) नोसर्वबन्ध (४) उत्कृष्ट-बन्ध (५) अनुष्टकृष्टबन्ध (६) जघन्यबन्ध (७) अजघन्यबन्ध (८) सादिबन्ध (९) अनादिबन्ध (१०) ध्रुवबन्ध (११) अध्रुवबन्ध (१२) बन्धस्वामित्वविचय (१३) एक जीवकी अपेक्षा काल (१४) एक जीवकी अपेक्षा अन्तर (१५) सन्निकर्ष (१६) भंगविचय (१७) भागाभागानुगम (१८) परिमाणानुगम (१९) क्षेत्रानुगम (२०) स्पर्शनानुगम (२१) नाना जीवोंकी अपेक्षा कालानुगम (२२) नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तरानुगम (२३) भावानु-गम (२४) जीव अल्पबहुत्वानुगम और (२५) अद्धा-अल्पबहुत्वानुगम।

१. प्रकृति समुत्कीर्तन

प्रथम अनुयोग द्वार प्रकृति समुत्कीर्तन है। इसमें कर्मोकी आठों मूल और उत्तर प्रकृतियोंका निर्देश किया गया है। किन्तु महाबन्धके प्रथम ताडपत्रके त्रुटित हो जानेसे महाबन्धका प्रारम्भ किस प्रकार हुआ है इसका ठीक ज्ञान नहीं हो पाता है। इतना अवश्य है कि इस अनुयोग द्वारका अवशिष्ट जो भाग मुद्रित है उसके अवलोकनसे ऐसा सुनिश्चित प्रतीत होता है कि वर्गणाखण्डके प्रकृति अनुयोग द्वारमें ज्ञानावरणकी पाँच प्रकृतियोंका जिस विधिसे निरूपण उपलब्ध होता है, महाबन्धमें भी ज्ञानावरणकी पाँच प्रकृतियोंके निरूपणमें कुछ पाठ भेदके साथ लगभग वही पद्धति अपनाई गई है। प्रकृति अनुयोग द्वारके ५९वें सूत्रका अन्तिम भाग इस प्रकार है—

संवच्छर-जुग-पुव्व-पव्व-पलिदोवम-सागरोव मादओ विधओ भवंति ॥५९॥

इनके स्थानमें महाबंधमें इस स्थलपर पाठ है—

अयणं संवच्छर-पलिदोवम-सागरोवमादओ भवंति।

इसी प्रकार प्रकृति अनुयोग द्वारके अवधिज्ञान सम्बन्धी जो सूत्र गाथाएँ निबद्ध है वे सब यद्यपि महाबन्धके प्रकृति समुत्कीर्तनमें भी निबद्ध है, पर उनमें पाठभेदके साथ व्यतिक्रम भी देखा जाता है। उदाहरणार्थ प्रकृति अनुयोग द्वारमें 'काले चउण्ण उड्ढी' यह सूत्र गाथा पहले है और 'तेजाकम्म सरीरं' यह सूत्र गाथा बाद में। किन्तु महाबन्धमें 'तेजाकम्म सरीरं' सूत्र गाथा पहले है और 'काले चदुण्हं वुड्ढी' यह सूत्र गाथा बाद मे। इसी प्रकार कतिपय अन्य सूत्र गाथाओंमें भी व्यतिक्रम पाया जाता है।

आगे दर्शनावरणसे लेकर अन्तरायतक शेष सात कर्मोकी किसकी कितनी प्रकृतियाँ है मात्र इतना उल्लेख कर प्रकृति समुत्कीर्तन अनुयोग द्वार समाप्त किया गया है। इतना अवश्य है कि नाम कर्मकी बन्ध प्रकृतियोंकी ४२ संख्याका उल्लेख कर उसके बाद यह वचन आया है।

'यं तं गदिणामं कम्मं तं चदुविधं—णिरयगदि याव देवगदि त्ति। यथा पगदिभंगो तथा कादव्वो।' इसमे आये हुए 'पगदिभंगो कादव्वो' पदसे विदित होता है कि सम्भव है इस पदद्वारा वर्गणाखण्ड के प्रकृति अनुयोगद्वारके अनुसार जाननेकी सूचना की गई हैं।

समस्त कर्म विषयक वाङ्मयमें ज्ञानावरणादि कर्मोका जो पाठ विषयक क्रम स्वीकार किया गया है उसके अनुसार ज्ञानकी प्रधानताको लक्ष्यमें रखकर ज्ञानावरण कर्मको सर्वप्रथम रखकर तदनन्तर दर्शनावरण कर्मको रखा है—यत दर्शनपूर्वक तत्वार्थोका ज्ञान होनेपर ही उनका श्रद्धान किया जाता है, अत दर्शनावरणके बाद मोहनीय कर्मका पाठ स्वीकार किया है। अन्तराय यद्यपि घातिकर्म है, पर वह नामादि तीन कर्मोके निमित्तसे ही जीवके भोगादि गुणोंके घातनेमे समर्थ होता है इसलिए उसका पाठ अघाति कर्मोके अन्तमें स्वीकार किया है। आयु भवमे अवस्थितिका निमित्त है इसलिए नाम कर्मका पाठ आयुकर्मके बाद रखा है तथा भवके होनेपर ही जीवका नीच-उच्चपना होना सम्भव है, इसलिए गोत्र कर्मका पाठ नाम कर्मके बाद स्वीकार किया है। यद्यपि वेदनीय अघातिकर्म है पर वह मोहके बलसे ही सुखदुःखका वेदन करनेमे समर्थ है, अन्यथा नही, इसलिए मोहनीय कर्मके पूर्व घातिकर्मके मध्य उसका पाठ स्वीकार किया है। यह आठों कर्मोके पाठक्रमको स्वीकार करने विषयक उक्त कथन गोम्मटमार कर्मकाण्डके आधारसे किया है। बहुत सम्भव है कि इस पाठकर्मका निर्देश स्वय प्रातःस्मरणीय आचार्य भूतबलीने प्रकृत अर्थाधिकारके प्रारम्भमे किया होगा। पर उमके प्रथय ताडपत्रके त्रुटित हो जानेके कारण ही हमने गोम्मटसार कर्मकाण्डके आधारसे यह स्पष्टीकरण किया है।

यह तो सुनिश्चित है कि २३ प्रकारकी पुद्गल वर्गणाओंमेसे सत्स्वरूप सभी वर्गणाओसे ज्ञानावरणादि कर्मोका निर्माण नही होता। किन्तु उनमेसे मात्र कार्मण वर्गणाएँ ही ज्ञानावरणादि कर्म भावको प्राप्त होती है। उसमे भी अपने निश्चय उपादानके अनुसार ही वे वर्गणाएँ मिथ्यादर्शनादि बाह्य हेतुको प्राप्त कर कर्मभावको प्राप्त होती है, सभी नही। जिस प्रकार यह नियम है उसी प्रकार उपादान भावको प्राप्त हुई सभी कार्मणवर्गणाएँ ज्ञानावरणादि रूपमे कर्मभावको प्राप्त नही होती। किन्तु जैसे गेहूरूप परिणमन करनेवाले बीजरूप स्कन्ध अलग होते है और चनेरूप परिणमन करनेवाले बीजरूप स्कन्ध अलग होते है यह सामान्य नियम है वैसे ही ज्ञानावरणरूप परिणमन करनेवाली कामण वर्गणाएँ जुदी है और दर्शनावरणादिरूप परिणमन करनेवाली कार्मणवर्गणाएँ अलग है। इन ज्ञानावरणादि कर्मोका अपनी-अपनी जातिको छोडकर अन्य कर्म रूप संक्रमित नही होनेका यही कारण है। तथा इसी आधारपर दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीयका परस्पर संक्रमण नही होता यह स्वीकार किया गया है। चारों आयुओंका भी परस्पर संक्रमण नही होता, बहुत सम्भव है इसका भी यही कारण हो।

२. सर्वबन्ध–नोसर्वबन्ध अनुयोगद्वार

यह प्रकृति समुत्कीर्तन अनुयोगद्वारका सामान्य अवलोकन है। आगे जितने भी अनुयोगद्वार आये हैं उनद्वारा इसी प्रकृति समुत्कीर्तन अनुयोगद्वारको आलम्बन बनाकर विशेष ऊहापोह किया गया है। उनके नाम पहले ही दे आये हैं। जिस अनुयोग-द्वारका जो नाम है उसमें अपने नामानुरूप ही विषय निबद्ध किया गया है। यथा सर्वबन्ध और नोसर्वबन्ध इन दो अनुयोग द्वारोंको लें। इनमें यह बतलाया गया है कि ज्ञानावरणादि आठों कर्मोंमेसे ज्ञानावरण और अन्तराय कर्मका बन्ध व्युच्छित्ति होने तक सर्वबन्ध होता है, क्योंकि इन दोनों कर्मोंकी जो पाँच-पाँच प्रकृतियाँ हैं उनका अपने बन्ध होनेके स्थल तक सतत बन्ध होता रहता है। दर्शनावरण कर्मका सर्व बन्ध भी होता है और नोसर्वबन्ध भी होता है। सासादन गुणस्थान तक इसकी सभी प्रकृतियोंका बन्ध होनेसे सर्वबन्ध होता है, आगेके गुणस्थानोंमें नोसर्वबन्ध होता है, क्योंकि दूसरे गुणस्थानके अन्तमे स्त्यान-गृद्धित्रिककी बन्ध व्युच्छित्ति हो जाती है। और अपूर्वकरणके प्रथम भागमे निद्रा और प्रचलाकी बन्ध व्युच्छित्ति हो जाती है। इसी प्रकार मोहनीय और नामकर्मके विषयमे भी जानना चाहिए। इन दो कर्मोंमे सर्वबन्धसे तात्पर्य जो प्रकृतियाँ अधिकसे अधिक युगपत् बँध सकती है उनकी विवक्षासे है। तथा उनसे कर्मका बन्ध जब होता तब वह नोसर्वबन्ध कहलाता है। वेदनीय, आयु, गोत्र इन तीन कर्मोंका नोसर्वबन्ध ही होता है, क्योंकि इन कर्मोंकी एक कालमे अपनी-अपनी विवक्षित एक प्रकृतिका ही बन्ध होता है। यह उक्त दो अनुयोग द्वारोंका स्पष्टीकरण है। इसी प्रकार अन्य अनुयोग द्वारोंका स्पष्टीकरण समझना चाहिए। इस अल्प निबन्धमे समग्र विवेचन सम्भव नही है। दिशा मात्रका ज्ञान कराया गया है। इतना अवश्य है कि महाबन्धमे जो बन्धस्वामित्व-विचय अनुयोगद्वार निबद्ध है उसीके अनुसार बन्धस्वामित्वविचय तीसरे खण्डकी रचना हुई है। दोनोंका विषय एक है, और शैली भी एक है। मात्र अन्तर इतना है कि बन्धस्वामित्वविचयमे ओघके समान प्रत्येक मार्गणामे और उसके अवान्तर भेदोंमे किन प्रकृतियोंका कौन बन्धक है और कौन अबन्धक है इसको प्रकृतियोंके नाम निर्देश पूर्वक निबद्ध किया गया है, जब कि महाबन्धके बन्ध स्वामित्व विचयमे जिस मार्गणास्थानके विषयकी पहले कहे गये जिस ओघ या मार्गणास्थानके विषयके साथ समानता है उसका 'एव' के साथ उस मार्गणास्थानका निर्देश करके संक्षेपीकरण कर दिया गया है। यथा—एव ओघ मंगो पंचिदिय—तम० २ मनसि। इतना अवश्य है कि महाबन्धमे इस अनुयोगद्वारका बहुत कुछ भाग और एक जीवकी अपेक्षा काल अनुयोगद्वारका प्रारम्भका कुछ भाग इस विषय सम्बन्धी ताडपत्रके नष्ट हो जानेसे त्रुटित हो गया है। जिसकी पूर्ति बन्धस्वामित्व विषय, वर्गणाखण्ड तथा अन्य उपयोगी सामग्रीके आधारसे की जा सकती है। पहले जिस एक ताडपत्रके नष्ट होनेका निर्देश कर आये है उसकी भी यथासम्भव वर्गणाखण्डके प्रकृति समुत्कीर्तन अनु-योगद्वार आदिसे पूर्ति की जा सकती है।

२. स्थितिबन्ध

अवस्थान कालको स्थिति कहते है। ज्ञानावरणादि मूल और उनकी उत्तर प्रकृतियोंका बन्ध होनेपर उनका जितने काल तक अवस्थान रहता है उसे स्थितिबन्ध कहते है यह उक्त कथनका तात्पर्य है। वह मूल प्रकृति स्थितिबन्ध और उत्तर प्रकृति स्थितिबन्धके भेदसे दो प्रकारका है। उन्ही दोनों स्थितिबन्धोका इस अर्थाधिकारमें निरूपण किया गया है। सर्वप्रथम मूल प्रकृति स्थितिबन्धके प्रसंगसे ये चार अनुयोगद्वार निबद्ध किये गये हैं—स्थितिबन्धस्थान प्ररूपणा, निषेक प्ररूपणा, आबाधाकाण्ड प्ररूपणा और अल्पबहुत्व। इन चारों अनुयोगद्वारोंको वेदना खण्डके वेदना काल विधानमे जिस विधिसे निबद्ध किया है वही विधि यहाँ अपनाई गई है। दोनों स्थलोंपर सूत्र रचना सदृश है। मात्र महाबन्धमे परम्परोपनिधाके प्रसंगसे बहुत स्थल त्रुटित हो गया

है ऐसा प्रतीत होता है। महाबन्धमे इस स्थलपर इसका कोई संकेत दृष्टिगोचर नही होता। संक्षेपमे स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

१४ जीव समासोंमें स्थितिबन्धस्थान स्थितिबन्धस्थान—प्ररूपणा सक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तकसे लेकर संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक तक उत्तरोत्तर कितने गुणे होते है यह स्थितिबन्धस्थान प्ररूपणा इस अनुयोग-द्वारमे निबद्ध किया गया है। तथा इसी अनुयोगद्वारके उक्त चौदह जीवसमासोंमे संक्लेश विशुद्धिस्थानोके अल्प बहुत्वको निबद्ध किया गया है। यहाँ पर जिन परिणामोंसे कर्मोंकी स्थितियोंका बन्ध होता है उनकी स्थितिबन्ध संज्ञा करके इस अनुयोगद्वारमे स्थितिबन्धके कारणोके आधारसे अल्प बहुत्वका विचार किया गया है यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

परिवर्तमान असाता, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति और नीच गोत्र प्रकृतियोंके बन्धके योग्य परिणामोंको संक्लेश स्थान कहते है। तथा साता, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति और उच्चगोत्र प्रकृतियोंके बन्ध योग्य परिणामोंका विशुद्धिस्थान कहते हैं। यहाँ पर वर्धमान कषायका नाम सक्लेश और हीयमान कषायका नाम विशुद्धि यह अर्थ परिगृहीत नही है, क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर दोनो स्थानों-को एक समान स्वीकार करना पड़ता है और ऐसी अवस्थामे जघन्य कषाय स्थानोको विशुद्धिरूप, उत्कृष्ट कषाय स्थानोको संक्लेष रूप तथा मध्यके कषाय स्थानोको उभयरूप स्वीकार करना पड़ता है। दूसरे सक्लेश स्थानोंसे विशुद्धि स्थान थोड़े है इस प्रकार जो प्रवाह्यमान गुरुओंका उपदेश चला आ रहा है, इस कथनके साथ उक्त कथनका विरोध आता है। तीसरे उत्कृष्ट स्थिति बन्धके कारणभूत विशुद्धि स्थान अल्प है और जघन्य स्थिति बन्धके कारणभूत विशुद्धि स्थान बहुत है यह जो गुरुओंका उपदेश उपलब्ध होता है इस कथनके साथ भी उक्त कथनका विरोध आता है, इसलिए हीयमान कषाय स्थानोको विशुद्धि कहते है यह मानना समीचीन नही है।

यद्यपि दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीयकी उपशमना और क्षपणामे प्रति समय अव्यवहित पूर्व समयमे उदयागत अनुभाग स्पर्धकोसे अगले समयमे गुणहीन अनुभाग स्पर्धकोके उदयसे जो कषाय उदय स्थान उत्पन्न होते है उन्हे विशुद्धि स्वरूप स्वीकार किया गया है, इसलिए हीयमान कषायको विशुद्धि कहते है यह नियम यहाँ बन जाता है यह ठीक है। परन्तु इस नियमको जीवोकी अन्यत्र संसार स्वरूप अवस्थामे लागू नही किया जा सकता है, क्योकि उस अवस्थामे छह प्रकारकी वृद्धि और छह प्रकारकी हानि द्वारा कषाय उदय स्थानोंकी उत्पत्ति देखी जाती है।

माना कि संसार अवस्थामे भी अनन्तगुण हानिका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त स्वीकार किया गया है, इसलिए वहाँ भी अन्तर्मुहूर्त काल तक अनुभाग स्पर्धकोको हानि होनेसे उतने ही काल तक विशुद्धि बन जाती है यह कहा जा सकता है। परन्तु यहाँ विशुद्धिका यह अर्थ विवक्षित नही है। किन्तु यहाँ पर साता आदिके बन्धके योग्य परिणामोंको विशुद्धि कहते है। और असाता आदिके बन्धके योग्य परिणामोका सक्लेश कहते है यही अर्थ विवक्षित है। अन्यथा उत्कृष्ट स्थितिके बन्धके योग्य विशुद्धिस्थान अल्प होते है यह नियम नही बन सकता। इसलिए जघन्य स्थिति बन्धसे लेकर उत्कृष्ट स्थिति बन्ध तक सक्लेश स्थान उत्तरोत्तर अधिक होते है और उत्कृष्ट स्थिति बन्धसे लेकर जघन्य स्थिति बन्ध तक विशुद्धि स्थान उत्तरोत्तर अधिक होते है यह सिद्ध हो जाता है और ऐसा सिद्ध हो जानेपर लक्षण भेदसे दोनो प्रकारके परिणामों को पृथक् पृथक् ही मानना चाहिए। इन दोनों प्रकारके परिणामोंका पृथक् पृथक् लक्षण पूर्वमे किया ही है।

इस प्रकार १४ जीव समासोंमे संक्लेश, विशुद्धि स्थानोंकी अपेक्षा अल्प बहुत्वके समाप्त होने पर इसी अनुयोग द्वारमे सयतो सहित १४ जीव समासोमे पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों प्रकारके जीवोको विवक्षित कर जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबन्धके अल्प बहुत्वका निर्देश करके इस अनुयोग द्वारको समाप्त किया है।

२. निषेक प्ररूपणा

दूसरा अनुयोग द्वार निषेक प्ररूपणा है। इसको अनन्तरोपनिधा और परम्परोपनिधा के आधारमे निबद्ध कर इस अनुयोग द्वारको समाप्त किया गया है। स्पष्टीकरण इस प्रकार है—आयु कर्मको छोडकर अन्य कर्मोका जितना-जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति बन्ध होता है उसमेसे आबाधाको कम कर जितनी स्थिति शेष रहती है उसके प्रथम समयमे लेकर अन्तिम समय तक स्थितिके प्रत्येक समयमे उत्तरोत्तर एक एक चयकी हानि होते हुए प्रत्येक समयमे बद्ध द्रव्य निषेक रूपसे विभक्त होता है। इसे विशेष रूपसे समझनेके लिए जीवस्थान चूलिका (पृ० १५० से १५८ तक) को देखिए। प्रत्येक समयमे जितना द्रव्य बँधता है उसकी समय प्रबद्ध सज्ञा है। स्थिति बन्धके समय आबाधाको छोड़कर स्थितिके जितने समय शेष रहते हैं उनमेसे प्रत्येक समयमें समय प्रबद्ध मेसे जितना द्रव्य निक्षिप्त होता है उसकी निषेक संज्ञा है तथा स्थिति बन्धके होने पर उसके प्रारम्भके जितने समयोंमे समय-प्रबद्ध सम्बन्धी द्रव्यका निक्षेप नही होता उसकी आबाधा संज्ञा है। प्रथम निषेकसे दूसरे निषेक मे, दूसरे निषेकसे तीसरे निषेकमे इत्यादि रूपसे अन्तिम निषेक तक उत्तरोत्तर जितने द्रव्यको कम करते जाते हैं उसकी चय सज्ञा है। इसी प्रकार अन्य विषयोको समझ कर प्रकृत प्ररूपणाका स्पष्टीकरण कर लेना चाहिए।

३. आबाधाकाण्डक प्ररूपणा

तीसरा अनुयोग द्वार आबाधाकाण्डक प्ररूपणा है। आयुकर्मको छोडकर शेष कर्मोका जितना उत्कृष्ट स्थितिबन्ध हो उसकी स्थितिके सब समयोमे वहा प्राप्त आबाधाके समयोका भाग देनेपर जितना लब्ध आवे उतने समयोंका एक आबाधाकाण्डक होता है। अर्थात् उत्कृष्ट स्थितिबन्धसे लेकर उत्कृष्ट स्थितिमेसे जितने समय कम हुए हों वहाँ तक स्थितिबन्धके प्राप्त होनेपर उस सब स्थितिबन्ध सम्बन्धी विकल्पोंकी उत्कृष्ट आबाधा होती है। अत. इन्ही सब स्थितिबन्धके विकल्पोंका नाम एक आबाधाकाण्डक है। ये सब आबाधाकाण्डक प्रमाण स्थितिबन्धके भेद पल्योपमके असंख्यातवे भाग प्रमाण होते हैं। इसी विधिसे अन्य आबाधाकाण्डक जानने चाहिए। यह नियम स्थितिबन्धमे वही तक समझना चाहिए जहां तक उक्त नियमके अनुसार आबाधाकाण्डक प्राप्त होते है। आयु कर्मके स्थितिबन्ध मे उसकी आबाधा परिगणित नहीकी जाती, वह अतिरिक्त होती है, इसलिए कर्म भूमिज मनुष्य और तिर्यचोंमे उत्कृष्ट या मध्यम किसी भी प्रकारकी आयुका बन्ध होनेपर आबाधा पूर्व कोटिके त्रिभागसे लेकर आसंक्षेपाद्धाकाल तक यथा सम्भव कुछ भी हो सकती हैं। नारकियों, भोगभूमिज तिर्यचों और मनुष्यो तथा देवोंमे भुज्यमान आयुमे छह महिना अवशिष्ट रहने पर वहाँ से लेकर आसक्षेपाद्धा-काल तक आबाधा कुछ भी हो सकती है। अतः आयुकर्ममे उक्त प्रकारके आबाधाकाण्डकके सम्भव होनेका प्रश्न ही नही उठता।

३. अल्पबहुत्व प्ररूपणा

इस अनुयोग द्वारमें १४ जीवसमासोंमे जघन्य और उत्कृष्ट-आबाधा, आबाधास्थान, आबाधाकाण्डक, नानागुण हानिस्थान, एकगुण हानिस्थान जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबन्ध और स्थितिबन्धस्थान पदोंके आलम्बन-से जिस क्रमसे इन पदोंमे अल्प बहुत्व सम्भव है उसका निर्देश किया गया है।

४. चौवीस अनुयोगद्वार

आगे उक्त अर्थपदके अनुसार २४ अनुयोगद्वारोंका आलम्बन लेकर ओघ और आदेशसे स्थितिबन्धको विस्तारके साथ निबद्ध किया गया है। अनुयोगद्वारोके नाम वही है जिनका निर्देश प्रकृतिबन्धके निरूपणके प्रसंग-से कर आये हैं। मात्र प्रकृतिबन्धमे प्रथम अनुयोग द्वारका नाम प्रकृतिसमुत्कीर्तन है और यहाँ उसके स्थानमे

प्रथम अनुयोगद्वारका नाम अद्धाच्छेद है। अद्धा नाम कालका है। ज्ञानावरणादि किस कर्मका जघन्य और उत्कृष्ट कितना स्थितिबन्ध होता है, किसकी कितनी आबाधा होती है और आबाधाको छोड़कर जहाँ जितनी कर्मस्थिति अवशिष्ट रहती है उसमें निषेक रचना होती है, इस विषयको इस अनुयोगद्वारमें निबद्ध किया गया है। शेष अनुयोगद्वारोंमें अपने-अपने नामानुसार विषयको निबद्ध किया गया है। सर्व स्थितिबन्ध और उत्कृष्ट स्थितिबन्धमें यह अन्तर है कि सर्वस्थितिबन्ध अनुयोगद्वारमें उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होनेपर सभी स्थितियोंका बन्ध विवक्षित रहता है और उत्कृष्ट स्थितिबन्ध अनुयोगद्वारमें उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होनेपर मात्र अन्तकी उत्कृष्ट स्थिति परिगृहीत की जाती है। यहाँ इतना विशेष और जान लेना चाहिए कि अनुत्कृष्टमें उत्कृष्टको छोडकर जघन्यसहित सबका परिग्रह हो जाता है तथा अजघन्यमें जघन्यको छोड़कर उत्कृष्ट सहित सबका परिग्रह हो जाता है। उक्त नियम प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्धमें सर्वत्र लागू होते हैं। मात्र जहाँ प्रकृति आदि जिस बन्धका कथन चल रहा हो वहाँ उसके अनुसार विचार कर लेना चाहिए।

५. सादि-अनादि-ध्रुव-अध्रुव स्थितिबन्ध

स्थितिबन्ध चार प्रकारका होता है— उत्कृष्ट स्थिति बन्ध, अनुत्कृष्ट स्थिति बन्ध, जघन्य स्थिति बन्ध और अजघन्य स्थिति बन्ध। इन चारों प्रकारके स्थिति बन्धोंमेंसे कौन स्थितिबन्ध सादि आदिमेंसे किस प्रकारका होता है इसका विचार इन चारों अनुयोग द्वारोंमें किया गया है। यथा ज्ञानावरणादि सात कर्मोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तकके अपने योग्य स्वामित्वके प्राप्त होनेपर ही होता है। इसलिए वह सादि है और चूंकि वह नियतकाल तक ही होता है उसके बाद पुनः जब उसके योग्य स्वामित्व प्राप्त होता है तभी वह होता है, मध्यके कालमें नहीं, इसलिए वह उत्कृष्ट स्थिति बन्ध अध्रुव है। तथा मध्यके कालमें जो उससे न्यून स्थिति बन्ध होता है वह सब अनुत्कृष्ट स्थितिबन्ध है। यतः वह उत्कृष्ट स्थिति बन्धके बाद ही सम्भव है और तभी तक सम्भव है जब तक पुनः उत्कृष्ट स्थिति बन्ध प्राप्त नहीं होता। इसलिए यह भी सादि और अध्रुव है। जघन्य स्थिति बन्ध क्षपक श्रेणीमें मोहनीयका नौवें गुणस्थानमें और शेष छहका दसवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें होता है। इसलिए यह भी सादि और अध्रुव है। किन्तु पूर्व अनादि कालसे उक्त सातों कर्मोंका अनादिसे जो स्थितिबन्ध होता है वह जघन्य स्थितिबन्ध कहलाता है। क्योंकि इसमें जघन्य स्थिति बन्धको छोड़कर शेष सबका परिग्रह हो जाता है। इसलिए तो वह अनादि है और ध्रुव है। तथा उपशम श्रेणीमें ग्यारहवें गुणस्थानसे गिरनेपर पुनः इन कर्मोंका यथा स्थान बन्ध प्रारम्भ हो जाता है। इसलिए वह सादि और अध्रुव है। आयुकर्मका बन्ध कादाचित्क होनेसे उसमें सादि और अध्रुव ये दो ही विकल्प बनते हैं। विशेष जानकारी हो जाय इसलिए इन चारों अनुयोग द्वारोंका यहाँ स्पष्टीकरण किया है।

६. बन्ध स्वामित्व प्ररूपणा

स्थिति बन्धके स्वामित्वको समझनेके लिए कुछ तथ्योंका यहाँ विचार किया जाता है। यथा—

सामान्य नियम यह है कि सातावेदनीय आदि प्रकृतियोंके बन्ध योग्य परिणामोंको विशुद्धि कहते हैं और असाता वेदनीय आदि प्रकृतियोंके बन्ध योग्य परिणामोंको संक्लेश कहते हैं। इस नियमके अनुसार ज्ञानावरणादि सभी कर्मोंका स्थिति बन्ध किस प्रकार होता है इसका यहाँ विचार करना है।

बन्ध चार प्रकारका है—प्रकृति बन्ध, स्थिति बन्ध, अनुभाग बन्ध और प्रदेश बन्ध। इनमेंसे प्रकृति बन्ध और प्रदेश बन्ध योगसे होता है तथा स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध कषायसे होता है। ऐसा होते हुए भी यदि कषाय—उदय स्थानोंको ही स्थितिबन्धाध्यवसान स्थान मान लिया जावे तो कषाय उदय स्थानके बिना मूल प्रकृतियोंका बन्ध न हो सकनेसे सब प्रकृतियोंके स्थितिबन्धाध्यवसानस्थान समान हो जावेंगे। अतएव सब मूल

प्रकृतियोंके अपने-अपने उदयसे जो परिणाम उत्पन्न होते हैं वे अपने-अपने स्थितिबन्धके कारण हैं, अतः उन्हें ही यहाँ स्थितिबन्धाध्यवसानस्थान स्वीकार किया गया है।

श्री समयसार आस्रव अधिकार (गाथा १७१) मे बतलाया है कि ज्ञान गुणका जब तक जघन्यपना है तब तक वह यथाख्यात चारित्रके पूर्व अन्तर्मुहूर्त-अन्तर्मुहूर्तमे पुन पुनः परिणमन करता है, इसलिए उसके साथ रागका सद्भाव अवश्यंभावी होनेसे वह बन्धका हेतु होता है। आगे (गाथा १७२ मे) इसे और भी स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि यद्यपि ज्ञानीके बुद्धिपूर्वक अर्थात् मैं रागादि भावोंका कर्ता हू और वे भाव मेरे कार्य है इस प्रकार रागादिके स्वामित्वको स्वीकार कर राग, द्वेष और मोहका अभाव होनेसे वह निरास्रव ही है, फिर भी जबतक वह अपने ज्ञान (आत्मा) को सर्वोत्कृष्ट रूपसे अनुभवने, जानने और उसमें रमनेमें असमर्थ होता हुआ उसे जघन्य भावसे अनुभवता है, जानता है और उसमें रमता है तब तक जघन्य भावकी अन्यथा उत्पत्ति न हो सकनेके कारण अनुभीयमान अबुद्धिपूर्वक कर्म कलंकके विपाकका सद्भाव होनेसे उसके पुद्गल कर्मका बन्ध होता ही है।

यह आगम प्रमाण है। इससे ज्ञात होता है कि केवल कषाय-उदयस्थानोंकी स्थिति बन्धाध्यवसानस्थान संज्ञा न होकर कषाय-उदयस्थानोंसे अनुरंजित ज्ञानावरणादि कर्मोंमेंसे अपने-अपने कर्मके उदयसे होनेवाले परिणामोंकी स्थितिबन्धाध्यवसानस्थान संज्ञा है। अब इन स्थितिबन्धाध्यवसानस्थानोके सद्भावमें ज्ञानावरणादि कर्मोंका उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य स्थितिबन्ध किसके होता है इसका विचार करते हैं। ज्ञानावरणका बन्ध करनेवाले जीव दो प्रकारके हैं—सातबन्धक और असातबन्धक, क्योंकि जो जीव ज्ञानावरणीय कर्मोंका बन्ध करते हैं वे यथासम्भव सातावेदनीय और असातावेदनीय इनमेंसे किसी एकका बन्ध अवश्य करते है। उनमेंसे सातबन्धक जीव तीन प्रकारके हैं—चतुःस्थानबन्धक, त्रिस्थानबन्धक और द्विस्थानबन्धक। जघन्य स्पर्धकसे लेकर उत्कृष्ट स्पर्धक तक सातावेदनीयका अनुभाग चार भागोमे विभक्त है। उनमेसे प्रथम खण्ड गुडके समान है। दूसरा खण्ड खाँडके समान है, तीसरा खण्ड शर्कराके समान है और चौथा खण्ड अमृतके समान है। जिसमे ये चारों स्थान होते हैं उसे चतुःस्थानबन्ध कहते हैं, जिसमे अन्तिम खण्डको छोड़कर प्रारम्भके तीन स्थान होते है उसे त्रिस्थानबन्ध कहते है तथा जिसमे प्रारम्भके दो स्थान होते है उसे द्विस्थानबन्ध कहते है। जिसमे प्रारम्भका एक भाग हो ऐसे अनुभागसहित सातावेदनीयका बन्ध नही होता, सत्त्व होता है, इसलिए यहाँ सातावेदनीयका एक स्थान बन्ध नही कहा। उक्त प्रकारसे सातावेदनीयके बन्धक जीव भी तीन प्रकारके हो जाते हैं।

असातबन्धक जीव भी तीन प्रकारके हैं—द्विस्थानबन्धक, त्रिस्थानबन्धक, और चतुःस्थानबन्धक। जघन्य स्पर्धकसे लेकर उत्कृष्ट स्पर्धक तक असातावेदनीयका अनुभाग चार भागोमे विभक्त है। उनमेंसे प्रथम खण्ड नीमके समान है, दूसरा खण्ड काजीरके समान है, तीसरा खण्ड विषके समान है और चौथा खण्ड हालाहलके समान है। जिसमे प्रारम्भके दो स्थान होते हैं उसे द्विस्थानबन्ध कहते हैं, जिसमें प्रारम्भके तीन स्थान होते हैं उसे त्रिस्थानबन्ध कहते हैं तथा जिसमें चारों स्थान होते है उसे चतुःस्थानबन्ध कहते हैं। इस प्रकार असाताके उक्त स्थानोंके बन्धक जीव भी तीन प्रकारके होते है।

यहाँ सातावेदनीयके चतुःस्थानबन्धक जीव सबसे विशुद्ध होते है। यहाँ अत्यन्त तीव्र कषायके अभावस्वरूप मन्द कषायका नाम विशुद्धता है। वे अत्यन्त मन्द संक्लेश परिणामवाले होते है यह इसका तात्पर्य है। उनसे सातावेदनीयके त्रिस्थानबन्धक जीव संक्लिष्टतर होते हैं अर्थात् उत्कट कषायवाले होते है। उनसे सातावेदनीयके द्विस्थानबन्धक जीव संक्लिष्टतर होते है। अर्थात् सातावेदनीयके त्रिस्थानबन्धक जीव जितने उत्कट कषायवाले होते हैं उनसे द्विस्थानबन्धक जीव और अधिक संक्लेशयुक्त कषायवाले होते है।

असातावेदनीयके द्विस्थानबन्धक जीव सबसे विशुद्ध होते हैं। अर्थात् मन्द कषायवाले होते हैं। उनसे त्रिस्थानबन्धक जीव संक्लिष्टतर होते हैं। अर्थात् अति उत्कट संक्लेश युक्त होते हैं। उनसे चतुःस्थानबन्धक जीव संक्लिष्टतर होते हैं। अर्थात् अत्यन्त बहुत कषायवाले होते हैं।

इस कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि केवल कषायकी मन्दता होना इसका नाम विशुद्धि और कषायकी तीव्रताका होना इसका नाम संक्लेश नही है, क्योंकि कषायकी मन्दता और तीव्रता विशुद्धि और संक्लेश दोनोंमें देखी जाती है, अत आलम्बन भेदसे विशुद्धि और संक्लेश समझना चाहिए। जहाँ सच्चे देव, गुरु और शास्त्र तथा दया दानादिका आलम्बन हो वह कषाय विशुद्धि स्वरूप कहलाती है तथा जहां संसारके प्रयोजन भूत पंचेन्द्रियोंके विषयादि आलम्बन हो वह कषाय संक्लेश स्वरूप कहलाती है। कषायकी मन्दता और तीव्रता दोनों स्थलोंपर सम्भव है।

इस हिसाबसे ज्ञानावरणीय कर्मके स्थिति बन्धका विचार करनेपर विदित होता है कि साता वेदनीयके चतुःस्थान बन्धक जीव ज्ञानावरणीयका जघन्य स्थिति बन्ध करते हैं। यहाँ दो बात विशेष ज्ञातव्य है। प्रथम यह कि उक्त जीव ज्ञानावरणीयका जघन्य स्थिति बन्ध ही करते हैं ऐसा एकान्तसे नही समझना चाहिए। किन्तु ज्ञानावरणका अजघन्य स्थितिबन्ध भी उक्त जीवोंके देखा जाता है। द्वितीय यह कि यहाँ ज्ञानावरण कहनेसे सभी ध्रुव प्रकृतियोंको ग्रहण करना चाहिए।

साता वेदनीयके त्रिस्थान बन्धक जीव ज्ञानावरणका अजघन्य अनुत्कृष्ट स्थितिबन्ध करते हैं। यहाँ यद्यपि अजघन्यमे उत्कृष्टका और अनुत्कृष्टमे जघन्यका परिग्रह हो जाता है, पर उक्त जीव ज्ञानावरणकी उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिका बन्ध नही करते हैं, क्योंकि उक्त जीवोमे इन दोनो स्थितियोंके बन्धकी योग्यता नही होती है।

साता वेदनीयके द्विस्थान बन्धक जीव सातावेदनीयका ही उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करते हैं। यहां उक्त जीव सातावेदनीयका ही उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करते हैं इस कथनका यह आशय है कि वे ज्ञानावरण कर्मकी उत्कृष्ट स्थितिका बन्ध नही करते। यह आशय नही कि वे मात्र सातावेदनीय कर्मकी उत्कृष्ट स्थितिका ही बन्ध करते हैं। किन्तु वे साता वेदनीयकी अनुत्कृष्ट स्थितिका भी बन्ध करते हैं। उक्त कथनका यह आशय यहाँ समझना चाहिए।

असातावेदनीयके द्विस्थान बन्धक जीव ज्ञानावरणीयकी वहाँ सम्भव जघन्य स्थितिका बन्ध करते है त्रिस्थान बन्धक जीव ज्ञानावरणकी अजघन्य अनुत्कृष्ट स्थितिका बन्ध करते हैं, क्योंकि इनके उत्कृष्ट संक्लेशरूप ओर अति विशुद्ध दोनों प्रकारके परिणाम नही पाये जाते। चतुस्थान बन्धक जीव असाताके ही उत्कृष्ट स्थिति बन्धके साथ ज्ञानवरणका भी उत्कृष्ट स्थिति बन्ध करते है।

यहाँपर ज्ञानवरण कर्मकी मुख्यतासे उसके जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबन्धके स्वामीका विचार किया। उक्त तथ्योंको ध्यानमें रखकर इसी प्रकार अन्य सात कर्मोंके विषयमे भी जान लेना चाहिए।

७. एक जीवकी अपेक्षाकाल–अन्तरप्ररूपणा

स्थितिबन्ध चार प्रकारका है—जघन्यस्थितिबन्ध, उत्कृष्टस्थितिबन्ध, अजघन्यस्थितिबन्ध और अनुत्कृष्टस्थितिबन्ध। हम पहले सादि आदि चारों अनुयोग द्वारोकी अपेक्षा उत्कृष्ट आदि चारों स्थितिबन्धोका तथा स्वामित्वका ऊहापोह कर आये है उसे ध्यानमे रखकर किस कर्मके किस स्थितिबन्धका जघन्य और उत्कृष्ट काल कितना होता है यह एक जीवकी अपेक्षा काल ओर अन्तरप्ररूपणामे बतलाया गया है। इसी प्रकार नाना जीवोकी अपेक्षा क्षेत्र आदि शेष अनुयोग द्वारोका विचार कर लेना चाहिए।

८. भुजगार–पदनिक्षेप–वृद्धि अर्थाधिकार

भुजगार स्थितिबन्ध—पिछले समयमें कम स्थितिबन्ध होकर अगले समयमे अधिक स्थितिका बन्ध होना भुजगार स्थितिबन्ध कहलाता है। पिछले समयमे अधिक स्थितिबन्ध होकर अगले समयमे कम स्थितिबन्ध होना अल्पतर स्थितिबन्ध कहलाता है। पिछले समयमें जितना स्थितिबन्ध हुआ हो, अगले समयमे उतना ही स्थितिबन्ध होना अवस्थित स्थितिबन्ध कहलाता है तथा पिछले समयमे स्थितिबन्ध न होकर अगले समयमे पुनः स्थितिबन्ध होने लगना अवक्तव्य स्थितिबन्ध कहलाता है। इस अनुयोगद्वारमे इन चारों स्थितिबन्धोंकी अपेक्षा समुत्कीर्तना, स्वामित्व, एक जीवकी अपेक्षा काल, अन्तर, नाना जीवोंकी अपेक्षा भंग विचय, भागाभाग, परिमाण क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर भाव और अल्पबहुत्व इन अनुयोगद्वारोका आलम्बन लेकर ज्ञानावरणादि आठों कर्मोके स्थितिबन्धका विचार किया गया है।

पदनिक्षेप—भुजगार विशेषको पदनिक्षेप कहते है। इसमें स्थितिबन्धकी उत्कृष्ट वृद्धि, उत्कृष्ट हानि और उत्कृष्ट अवस्थान तथा जघन्य वृद्धि, जघन्य हानि और जघन्य अवस्थान इन छह पदों द्वारा समुत्कीर्तना, स्वामित्व और अल्पबहुत्व इन तीन अनुयोग द्वारोंका आलम्बन लेकर स्थितिबन्धका विचार किया गया है।

वृद्धि—पदनिक्षेपविशेषको वृद्धि कहते है। इसमे स्थितिबन्ध सम्बन्धी चार वृद्धि, चार हानि, अवस्थित और अवक्तव्य इन पदों द्वारा समुत्कीर्तना आदि १३ अनुयोग द्वारोंका आलम्बन लेकर ज्ञानावरणादि कर्मोकी स्थितिबन्धका विचार किया गया है।

९. अध्यवसान बन्ध प्ररूपणा

इसमे मुख्यतया तीन अनुयोग द्वार है—प्रकृति, समुदाहार, स्थिति समुदाहार, और जीव समुदाहार।

प्रकृति समुदाहारमे किस कर्मकी कितनी प्रकृतियाँ हैं इसका निर्देश करनेके बाद उनका अल्पबहुत्व बतलाया गया है।

स्थिति समुदाहारमे प्रमाणानुगम, श्रेणिप्ररूपणा और अनुकृष्टि प्ररूपणा इन तीन अधिकारोंके द्वारा ज्ञानावरणादि कर्मोकी जघन्य स्थितिसे लेकर उत्कृष्ट स्थिति तक सभी स्थितिके अध्यवसान स्थानोंका ऊहापोह किया गया है। साधारणतः स्थितिबंधाध्यवसान स्थानोंका स्वरूप निर्देश हम पहले कर आये है। समयसारके *आस्रव अधिकारमे बन्धके हेतुओंका निर्देश करते हुए वे जीव परिणाम और पुद्गल परिणाम के भेदसे दो* प्रकारके बतलाकर लिखा है कि जो मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगरूप पुद्गलके परिणाम है वे कर्मबन्ध के हेतु है तथा जो राग, द्वेष और मोहरूप जीवके परिणाम है वे पुद्गलके परिणामरूप आस्रवके हेतु होनेसे कर्मबन्धके हेतु कहे गये है। यह सामान्य विवेचन है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस कर्मके जितने उदयविकल्प हैं उनसे युक्त होकर ही ये द्रव्य और भावरूप आस्रवके भेद कर्मबन्धके हेतु होते है, इसलिए प्रकृतमें स्थितिबंधाध्यवसान स्थानोमे प्रत्येक कर्मके उदयविकल्पोंको ग्रहण किया गया है ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

जीवसमुदाहारमे ज्ञानावरणादि कर्मोके बन्धक जीवोंको सातबन्धक और असातबन्धक ऐसे दो भागोंमे विभक्त कर और उनके आश्रयसे विशद विवेचन कर इस अर्थाधिकारको समाप्त किया गया है। इस सम्बन्धमे स्पष्ट विवेचन हम पहले ही कर आये हैं। इस समग्र कथनको हृदयगम करनेके लिए वेदनाखण्ड पुस्तक ११ की द्वितीय चूलिकाका सागोपाग अध्ययन करना आवश्यक है।

१०. उत्तर प्रकृति स्थितिबन्ध अर्थाधिकार

पूर्वमें मूल प्रकृतियोंकी अपेक्षा स्थितिबन्धका प्रकृतमे प्रयोजनीय जैसा स्पष्टीकरण किया है उसी प्रकार उत्तर प्रकृतियोंकी अपेक्षा स्पष्टीकरण जानना चाहिए। जो मूल प्रकृतियोंके स्थितिबन्धका विवेचन

करते हुए अनुयोगद्वार स्वीकार किये गये है वे ही यहाँ स्वीकार कर उत्तर प्रकृति स्थितिबन्धकी प्ररूपणाकी गई है।

अनुभागबन्धकी अपेक्षा ज्ञानावरणादि कर्मोंकी सब प्रकृतियाँ दो भागोंमें विभक्त है। पुण्य प्रकृतियाँ और पाप प्रकृतियाँ। पुण्य प्र तियोंको प्रशस्त प्रकृतियाँ और पाप प्रकृतियोंको अप्रशस्त प्रकृतियाँ भी कहते हैं। किन्तु स्थितिबन्धकी अपेक्षा तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु और देवायुको छोड़कर शेष ११७ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध यथासम्भव उत्कृष्ट संक्लेश या तत्प्रायोग्य संक्लेश परिणामोंमें होता है, इसलिए शुभ और अशुभ इन सब प्रकृतियोंकी स्थिति अशुभ ही मानी गई है। मात्र पूर्वोक्त तीन आयुओंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध यथा सम्भव तत्प्रायोग्य विशुद्ध परिणामोंसे होता है, इसलिए इन तीन आयुओंकी उत्कृष्ट स्थिति शुभ मानी गई है। यहाँ इतना विशेष समझना चाहिए कि उक्त ११७ प्रकृतियोंमेंसे जिन प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध साता-वेदनीयके बन्धकालमें होता है वहाँ उत्कृष्ट संक्लेश या तत्प्रायोग्य संक्लेशका अर्थ सातावेदनीयके बन्ध योग्य जघन्य या तत्प्रायोग्य जघन्य विशुद्धिके अन्तर्गत संक्लेश परिणाम लिया गया है। तथा जिन प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध असातावेदनीयके बन्धकालमें होता है वहाँ उत्कृष्ट संक्लेश या तत्प्रायोग्य संक्लेशका अर्थ असाता-वेदनीयके बन्ध योग्य उत्कृष्ट संक्लेश या तत्प्रायोग्य उत्कृष्ट संक्लेशके अन्तर्गत संक्लेश परिणाम लिया गया है। इन ११७ प्रकृतियोंके अतिरिक्त शेष तीन आयुओंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध यथास्थान सातावेदनीयके बन्ध योग्य तत्प्रायोग्य विशुद्धिरूप परिणामोंके कालमें होता है।

यह सब प्रकृतियोंके उत्कृष्ट स्थितिबन्धके स्वामित्वका विचार है। सब प्रकृतियोंके जघन्य स्थिति-बन्धके स्वामित्वका विचार करते समय यह विशेषरूपसे ज्ञातव्य है कि जिन प्रकृतियोंका जघन्य स्थिति-बन्ध क्षपकश्रेणिके जीव करते है उनके लिए जिन विशेषणोंका प्रयोग किया गया है उनमें वे सर्व विशुद्ध होते है या तत्प्रयोग्य विशुद्ध होते है, इस प्रकारका कोई भी विशेषण नहीं दिया गया है। जब कि ऐसे जीवोंके उत्तरोत्तर प्रति समय अनन्तगुणी विशुद्धि होती जाती है। ऐसा क्यों किया गया है यह एक प्रश्न है? समाधान यह है कि ये जीव शुद्धोपयोगी होते है, इसलिए इनके जितना कषायांश पाया जाता है वह सब अबुद्धि-पूर्वक ही होता है। यही कारण है कि इन्हे उक्त प्रकारके कषायांशकी अपेक्षा 'सर्व विशुद्ध या तत्प्रायोग्य विशुद्ध' विशेषणसे विशेषित नहीं किया गया है। इतना अवश्य है कि इनके प्रति समय उत्तरोत्तर अनन्तगुणी हानिको लिए हुए वह कषायांश पाया अवश्य जाता है, इसलिए इस अपेक्षासे उनके उत्तरोत्तर प्रति समय अनन्तगुणी विशुद्धिका भी सद्भाव बतलाता गया है। शेष प्रकृतियोंके जघन्य स्थितिबन्धके स्वामित्वके विषय-में ऐसा समझना चाहिए कि जिन प्रकृतियोंका जघन्य स्थितिबन्ध सातावेदनीयके बन्धकालमें होता है वहाँ उन प्रकृतियोंके जघन्य स्थितिबन्धके योग्य जो परिणाम होते है वे सातावेदनीयके बन्धयोग्य विशुद्धिकी जातिके होते हैं और जिन प्रकृतियोंका जघन्य स्थितिबन्ध असातावेदनीयके बन्धकालमें होता है वहाँ उन प्रकृतियोंके जघन्य स्थितिबन्धके योग्य जो परिणाम होते है वे असातावेदनीयके बन्ध योग्य सक्लेश परिणामोंकी जातिके होते हैं।

यह सब प्रकृतियोके स्थितिबन्धके स्वामित्वका विचार है। अन्य अनुयोग द्वारोंका ऊहापोह इस आधारसे कर लेना चाहिए, क्योंकि यह अनुयोगद्वार शेष अनुयोगद्वारों की योनि है।

३. अनुभाग बन्ध

फल-दान शक्तिको अनुभाग कहते हैं। ज्ञानावरणादि मूल और उनकी उत्तर प्रकृतियोंका बन्ध होने पर उनमें जो फलदान शक्ति प्राप्त होती है उसे अनुभाग बन्ध कहते है। वह मूल प्रकृति अनुभाग बन्ध और उत्तर

प्रकृति अनुभाग बन्धके भेदसे दो प्रकारका है। उन्हीं दोनों अनुभाग बन्धोंका इस अर्थाधिकारमें निरूपण किया गया है। सर्वप्रथम मूलप्रकृति अनुभाग बन्धके प्रसंगसे ये दो अनुयोग द्वार निबद्ध किये गयेहैं— निषेक प्ररूपणा और स्पर्धक प्ररूपणा। ज्ञानावरणादि कर्मोंमेंसे जिसमें देशघाति या सर्वघाति जो स्पर्धक होते है वे आदि वर्गणासे लेकर आगेकी वर्गणाओमें सर्वत्र पाये जाते हैं। इस विषयका प्रतिपादन निषेक प्ररूपणामें किया गया है। अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेदोंका एक वर्ग होता है, सिद्धोंके अनन्तवे भाग और अभव्योंसे अनन्त गुणे वर्गोंकी एक वर्गणा होती है, तथा उतनी ही वर्गणाओंका एक स्पर्धक होता है इस विषय-का विवेचन स्पर्धक प्ररूपणामें किया गया है।

२४. अनुयोग द्वार

आगे उक्त अर्थपदके अनुसार २४ अनुयोग द्वारोंका आलम्बन लेकर ओघ और आदेशसे अनुभाग बन्ध-को विस्तारसे निबद्ध किया गया है। अनुयोग द्वारोके नाम वे ही हैं जिनका निर्देश प्रकृति बन्धके निरूपणके प्रसंगसे कर आये है। मात्र प्रकृति बन्धमें प्रथम अनुयोग द्वारका नाम प्रकृति समुत्कीर्तन है और इस अर्था-धिकारमें प्रथम अनुयोग द्वारका नाम संज्ञा हैं।

१ संज्ञा अनुयोग द्वार

संज्ञाके दो भेद है— घाति संज्ञा और स्थान संज्ञा। ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंमेसे कौन कर्म घाति है और कौन अघाति है इस विषयका ऊहापोह करते हुए बतलाया है कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्त-राय ये चार घाति कर्म है। तथा शेर चार अघाति कर्म हैं। जो आत्माके ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र सुख, वीर्य, दान, लाभ, भोग, और उपभोग आदि गुणोंका घात करते हैं उन्हें घाति कर्म कहते है तथा जो इन गुणोंके घातनेमें समर्थ नही है उन्हे अघाति कर्म कहने है। अघाति कर्मोंमेंसे वेदनीय कर्मके उदयसे पराश्रित सुख, दुःखकी उत्पत्ति होती है। आयु कर्मके उदयसे नारक आदि भावोंमे अवस्थिति होती है। नाना कर्मके उदयसे नारकादि गतिरूप जीव भावोंकी तथा विविध प्रकारके शरीरादिकी उत्पत्ति होती है तथा गोत्र कर्मके उदयसे जीवमे ऊँच और नीच आचारके अनुकूल जीवभावकी उत्पत्ति होती है।

स्थान संज्ञाद्वारा घाति और अघाति कर्म विषयक अनुभागके तारतम्यको बतलानेवाले स्थानोंका निर्देश किया गया है। उनमेसे घाति कर्म सम्बन्धी स्थान चार प्रकार के है—एकस्थानीय, द्विस्थानीय, त्रिस्थानीय और चतुःस्थानीय। जिसमे लताके समान लचीला अति अल्प फलदान शक्तियुक्त अनुभाग पाया जाता है वह एक स्थानीय अनुभाग कहलाता है। जिसमें दारुके (काष्ठके) समान कुछ सघन और कठिन फलदान शक्ति-युक्त अनुभाग पाया जाता है वह द्विस्थानीय अनुभाग कहलाता है। जिसमें हड्डीके समान सघन होकर अति कठिन फलदान शक्तियुक्त अनुभाग पाया जाता है वह त्रिस्थानीय अनुभाग कहलाता है, तथा जिसमे पाषाणके समान अति कठिनतर सघन फलदान शक्तियुक्त अनुभाग पाया जाता है वह चतुःस्थानीय अनुभाग कहलाता है। इस प्रकार उक्त विधिसे घाति कर्मोंका अनुभाग चार प्रकारका है। उसमेंसे एकस्थानीय अनुभाग और द्विस्थानीय अनुभागके प्रारम्भका अनन्तवा भाग यह देशघाति है, शेष सर्व अनुभाग सर्वघाति है।

प्रशस्त और अप्रशस्तके भेदसे अघाति कर्म दो प्रकारके हैं। उनमेंसे प्रत्येक कर्ममे चार-चार प्रकारका अनुभाग पाया जाता है। पहले हम सातावेदनीय और असातावेदनीय इन दो कर्मोंमें वह चार-चार प्रकारका अनुभाग कैसा होता है इसका स्पष्ट उल्लेख कर आये हैं उसी प्रकार वहाँ भी घटित कर लेना चाहिए। यहाँ यह निर्देश करना आवश्यक प्रतीत होता है कि अनुभागबन्धके प्रारम्भका एक ताडपत्र त्रुटित हो गया है। इस कारण प्ररूपणा तथा इससे आगेकी छह अनयोग द्वार सम्बन्धी प्ररूपणा उपलब्ध नहीं है। साथ ही सादि,

अनादि, ध्रुव और अध्रुव इन अनुयोग द्वारोंकी प्ररूपणाका बहुभाग भी उपलब्ध नही है। किन्तु इनके जो नाम हैं उनके अनुरूप ही उनमे विषय निबद्ध किया गया है। विशेष वक्तव्य न होनेसे यहाँ स्पष्टीकरण नही किया गया है।

२. स्वामित्व अनुयोगद्वार

इस अनुयोग द्वारके अन्तर्गत ज्ञानावरणादि कर्मोके जघन्य और उत्कृष्ट अनुभाग बन्धके स्वामित्वका विचार करनेके पूर्व विशेष स्पष्टीकरणकी दृष्टिसे प्रत्ययानुगम, विपाकदेश और प्रशस्त-अप्रशस्त प्ररूपणा इन तीन अनुयोग द्वारोंको निबद्ध किया गया है।

प्रत्ययानुगम—प्रत्ययका अर्थ निमित्त, हेतु, साधन और कारण है। जीवोंके किन परिणामोंको निमित्त कर इन ज्ञानावरणादि मूल व उत्तर प्रकृतियोका बन्ध होता है इस विषयको इस अनुयोग द्वारमे निबद्ध किया गया है। वे परिणाम चार प्रकारके है—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। परमार्थस्वरूप देव, गुरु, शास्त्र और पदार्थोंमे अयथार्थ रुचिको मिथ्यात्व कहते है। निदानका अन्तर्भाव मिथ्यात्वमे ही होता है। प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, अब्रह्मसेवन, परिग्रहका स्वीकार, मधु-मांस-पांच उदंबर फलका सेवन, अभक्ष्य-भक्षण फूलोंका भक्षण, मद्यपान तथा भोजनवेलाके अतिरिक्त कालमे भोजन करना अविरति है। असंयम इसका दूसरा नाम है। क्रोध, मान माया और लोभ तथा राग और द्वेष ये सब कषाय है। तथा जीवोंके प्रदेश परिस्पंदका नाम योग है। इनमेसे मिथ्यात्व अविरति और कषाय ये ज्ञानावरणादि छह कर्मोके बन्धके हेतु है तथा उक्त तीन और योग ये चारो वेदनीय कर्मके बन्धके हेतु है।

यहाँ प्रारम्भके छह कर्मोके बन्ध—हेतुओमे योगको परिगणित न करनेका यह कारण है कि ग्यारवें आदि गुणस्थानोमे योगका सद्भाव रहने पर भी उक्त कर्मोका बन्ध नही होता। वैसे ऋजुसूत्र नयकी अपेक्षा सामान्य नियम यह है कि आठों कर्मोका प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योगसे होता है तथा स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषायसे होता है। पर उस नियमकी यहां विवक्षा नही है। यहा जिस कर्मके साथ जिसकी त्रैकालिक अन्वय-व्यतिरेक रूप बाह्य व्याप्ति है उसके साथ उसका कार्यकारणभाव स्वीकार किया गया है। योगके साथ ऐसी व्याप्ति नही बनती, क्योकि ग्यारवे आदि तीन गुणस्थानोमे योगके रहने पर भी ज्ञानावरणादि छह कर्मोका बन्ध नही होता, इसलिए इन छह कर्मोके बन्धके हेतु मिथ्यात्व, अविरति और कषायको कहा है। यहाँ आयु कर्मके बन्धके हेतु जीवके कौन परिणाम है इसका उल्लेख उपलब्ध नही होता। आगे उत्तर प्रकृतियो की प्ररूपणामे नरकायुको मिथ्यात्व प्रत्यय तथा तिर्यचायु और मनुष्यायुको मिथ्यात्व प्रत्यय और असंयम प्रत्यय तथा देवायुको मिथ्यात्व प्रत्यय, असंयम प्रत्यय और कषाय प्रत्यय बतलाया है। इससे विदित होता है कि आयु कर्मका बन्ध मिथ्यात्व प्रत्यय, असंयम प्रत्यय और कषाय प्रत्यय होना चाहिए। अपनी-अपनी बन्ध व्युच्छित्तिको ध्यानमें रखकर उत्तर प्रकृतियोंके बन्ध प्रत्ययोंका विचार इसी विधिसे कर लेना चाहिए।

विपाक देश—छह कर्म जीवविपाकी है आयुकर्म भवविपाकी है तथा नामकर्म जीवविपाकी और पुद्गलविपाकी है। यहाँ जो कर्म जीवविपाकी है उनमे जीवकी नोआगम भावरूप विविध अवस्थाएँ उत्पन्न होती है ओर नाम कर्मकी जो प्रकृतियाँ पुद्गलविपाकी है उनसे जीवके प्रदेशोमे एक क्षत्रावगाही शरीरादिकी रचना होती है। पुद्गल-विपाकी कर्मोके उदयसे जीवके नोआगमभावरूप अवस्था नही उत्पन्न होती। लेश्या कर्मका कार्य है और धनादिका संयोग लेश्याका कार्य है, अर्थात् व्यक्त या अव्यक्त जैसा कषायांश और योग (मन, वचन और कायकी प्रवृत्ति) होता है उसके अनुसार धनादिका संयोग होता है। इस विवक्षाको ध्यानमें रख कर ही धनादिककी प्राप्तिको कर्मका कार्य कहा जाता है।

प्रशस्त-अप्रशस्तप्ररूपणा—चारों घातिकर्म अप्रशस्त है तथा शेष चारो अघाति कर्म प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों प्रकारके है। उत्तर भेदोकी अपेक्षा प्रशस्त कर्म प्रकृतियाँ ४२ है और अप्रशस्त कर्म प्रकृतियाँ ८२ हैं।

वर्ण चतुष्क प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों प्रकारके होते हैं, इसलिए उन्हें दोनोंमें सम्मिलित किया गया है। सरल होनेसे यहाँ उनके नामोंका निर्देश नहीं किया गया है।

इस व्यवस्थाके अनुसार उक्त ४२ प्रशस्त प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध यथास्थान अपने-अपने योग्य उत्कट विशुद्धिके कालमें होता है और ८२ अप्रशस्त प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध अपने-अपने योग्य उत्कट संक्लेश परिणामवाले मिथ्यादृष्टिके होता है। किन्तु जघन्य अनुभागबन्धके लिए इससे विपरीत समझना चाहिए। अर्थात् प्रशस्त प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध यथास्थान अपने-अपने योग्य संक्लेशके प्राप्त होने पर होता है और अप्रशस्त प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध यथास्थान अपने-अपने योग्य विशुद्धिके प्राप्त होनेपर होता है। यहाँ प्रथम इस बातका उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है कि सातावेदनीय, असातावेदनीय, स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ और यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति इन चार युगलोंके जघन्य अनुभागबन्धके स्वामी क्रमसे चारों गतिके परिवर्तमान मध्यम परिणामवाले मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टिको बतलाया गया है। जबकी गोम्मटसार कर्मकाण्डमें परिवर्तमान मध्यम परिणामवाले जीवोंके स्थानमें अपरिवर्तमान मध्यम परिणामवाले जीव लिये गये हैं। वेदनाखण्ड में जो अनुभागबन्धके अल्पबहुत्वको सूचित करनेवाला ६४ पदवाला अल्पबहुत्व आया है उसमें मध्यम परिणामवाला इन प्रकृतियोंका जघन्य अनुभागबन्ध करता है ऐसा उल्लेख नहीं किया है। किन्तु वहाँ अयशःकीर्ति सर्वविशुद्ध यशःकीर्तिका अति तीव्र संक्लिष्ट और सातावेदनीयका सर्वविशुद्ध जीव जघन्य अनुभागबन्ध करता है ऐसा बतलाया है। इतना ही नहीं, किन्तु आगे चलकर त्रसादि दश युगलके जघन्य अनुभागबन्धके स्वामीको सातासाता-वेदनीयके समान जाननेकी सूचनाकी है, जबकि महाबन्धमें इन प्रकृतियोंके जघन्य अनुभागबन्धका स्वामी मध्यम परिणामवाला ही लिया गया है। गोम्मटसार कर्मकाण्डमें विषयमें अनियम देखा जाता है। प्रति समय उत्तरोत्तर वर्धमान या हीयमान जो संक्लेश या विशुद्धिरूप परिणाम होते हैं वे अपरिवर्तमान कहलाते हैं तथा जिन परिणामोंमें स्थित यह जीव परिणामान्तरको प्राप्त होकर एक, दो आदि समयों द्वारा पुनः उन्हीं परिणामोंको प्राप्त करता है उसके वे परिणाम परिवर्तमान परिणाम कहलाते हैं। इस दृष्टिसे उक्त पूरा प्रकरण विचारणीय है। यह संक्षेपमें मूल व उत्तर प्रकृतियोंकी अपेक्षा उत्कृष्ट और जघन्य स्वामित्वकी मीमांसा है। विस्तार भयसे अन्य अनुयोगद्वारों व भुजगार आदि अर्थाधिकारोंका ऊहापोह यहाँ नहीं किया गया है।

अनुभागबन्धाध्यवसानस्थान प्ररूपणा

जिन परिणामोंसे अनुभागबन्ध होता है उन्हें अनुभागबन्धाध्यवसानस्थान कहते हैं। वे एक-एक स्थितिबन्धाध्यवसानस्थानोंके प्रति असंख्यात लोक प्रमाण होते हैं। किन्तु यहाँ पर कारणमें कार्यका उपचार करके अनुभागबन्धाध्यवसानस्थानोंसे अनुभाग स्थान लिये गये हैं। प्रकृतमें १२ अनुयोगद्वार ज्ञातव्य हैं—अविभाग प्रतिच्छेदप्ररूपणा, स्थानप्ररूपणा, काण्डकप्ररूपणा, ओजयुग्मप्ररूपणा, षट्स्थानप्ररूपणा, अधस्तनस्थानप्ररूपणा, समयप्ररूपणा, वृद्धिप्ररूपणा, यवमध्यप्ररूपणा, पर्यवसानप्ररूपणा और अल्पबहुत्वप्ररूपणा।

अविभागप्रतिच्छेदप्ररूपणा—एक परमाणुमें जो जघन्यरूपसे अवस्थित अनुभाग है उसकी अविभागप्रतिच्छेदसंज्ञा है। इस दृष्टिसे विचार करने पर एक कर्मप्रदेशमें सब जीवोंसे अनन्तगुणे अविभागप्रतिच्छेद पाये जाते हैं। उनकी वर्ग संज्ञा है। ऐसे सदृश अविभागप्रतिच्छेदवाले जितने कर्मप्रदेश उपलब्ध होते हैं उनकी वर्गणा संज्ञा है। इससे एक अधिक अविभागप्रतिच्छेदोंसे युक्त जितने कर्मप्रदेश पाये जाते हैं उनसे दूसरी वर्गणा बनती है। प्रत्येक वर्गणामें अभव्योंसे अनन्तगुणे और सिद्धोंके अनन्तवें भागप्रमाण वर्ग पाये जाते हैं। इस प्रकार उत्तरोत्तर एक-एक अविभागप्रतिच्छेदकी वृद्धि हुए, अभव्योंसे अनन्तगुणी और सिद्धोंके अनन्तवें भागप्रमाण वर्गणाएँ उत्पन्न होती हैं। उन सब वर्गणाओंके समूहको स्पर्धक कहते हैं। इसी विधिसे दूसरा स्पर्धक

उत्पन्न होता है। इसनी विशेषता है कि प्रथम स्पर्धककी अन्तिम वर्गणाके एक वर्गमें जितने अविभागप्रतिच्छेद होते हैं उससे दूसरे स्पर्धककी प्रथम वर्गणाके एक वर्गमें सब जीवोंसे अनन्तगुणे अविभागप्रतिच्छेद होते है। इस प्रकार अभव्योंसे अनन्तगुणे और सिद्धोंके अनन्तवें भागप्रमाण स्पर्धकोंका एक स्थान होता है।

स्थानप्ररूपणा—एक समयमें एक जीवमें जो कर्मका अनुभाग दृष्टिगोचर होता है उसकी स्थानसंज्ञा है। नानाजीवोंकी अपेक्षा ये अनुभाग बन्धस्थान असंख्यात लोकप्रमाण होते हैं।

अन्तरप्ररूपणा—पूर्वमें जो अनुभागबन्ध स्थान बतलाये हैं उनमेंसे एक अनुभागबन्धस्थानसे दूसरे अनुभागबन्धस्थानमें अविभागप्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा सब जीवोंसे अनन्तगुणा अन्तर पाया जाता है। उपरितन स्थानमेंसे अधस्तन स्थानको घटाकर जो लब्ध आवे उसमें एक कम करने पर उक्त अन्तर प्राप्त होता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

काण्डकप्ररूपणा—अनन्तभाग वृद्धिकाण्डक, असंख्यात भाग वृद्धिकाण्डक, संख्यात भाग वृद्धिकाण्डक, संख्यातगुणवृद्धिकाण्डक, असंख्यातगुणवृद्धिकाण्डक और अनन्तगुणवृद्धिकाण्डक इस प्रकार इन छहके आधारसे इसमें वृद्धिका विचार किया गया है।

ओजयुग्मप्ररूपणा— इस द्वारा वर्ग, स्थान और काण्डक ये कृतयुग्मरूप है या बादर युग्मरूप है, या कलि (?) ओजरूप है, तेजोजरूप है इसका ऊहापोह करते हुए अविभाग प्रतिच्छेद, स्थान और काण्डक ये तीनों कृतयुग्मरूप हैं यह बतलाया गया है।

षट्स्थानप्ररूपणा— अनन्तभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि यह छह वृद्धियाँ है इनका प्रमाण कितना है यह इस प्ररूपणामें बतलाया गया है।

अधस्तन स्थानप्ररूपणा—कितनी बार अनन्तभाग वृद्धि होनेपर एक बार असंख्यातभाग वृद्धि होती है इत्यादि विचार इस प्ररूपणामें किया गया है।

समय प्ररूपणा— जितने भी अनुभाग बन्धस्थान है उनमेंसे कौन अनुभाग बन्धस्थान कितने काल तक बन्धको प्राप्त होता है इसका ऊहापोह इस प्ररूपणामें किया गया है।

वृद्धिप्ररूपणा—षड्गुणी हानि-वृद्धि और तत्सम्बन्धी कालका विचार इस प्ररूपणामें किया गया है।

यवमध्यप्ररूपणा—यवमध्य दो प्रकारका है—जीव यवमध्य और काल यवमध्य। यहाँ काल यवमध्य विवक्षित है। यद्यपि समयप्ररूपणाके द्वारा ही यवमध्यकी सिद्धि हो जाती है फिर भी किस वृद्धि या हानिसे यवमध्यका प्रारम्भ और समाप्ति होती है इस तथ्यका निर्देश करनेके लिए यवमध्यप्ररूपणा पृथक्‌से की गई है।

पर्यवसान प्ररूपणा—सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवके जघन्य अनुभागस्थानसे लेकर समस्त स्थानोंमें अनन्त गुणके ऊपर अनन्तगुणा होना यह इस प्ररूपणामें बतलाया गया है।

अल्पबहुत्वप्ररूपणा—इसमें अनन्तरोपनिधा और परम्परोपनिधा इन दो अनुयोग द्वारोंका आलम्बन लेकर अनन्तगुण वृद्धिस्थान और असंख्यात गुणवृद्धिस्थान आदि कौन कितने होते है इसका ऊहापोह किया गया है।

इस प्रकार उक्त बारह अधिकारों द्वारा अनुभागबन्धाध्यवसान स्थानोंका ऊहापोह करनेके बाद जीव समुदाहार सम्बन्धी आठ अनुयोग द्वारोंका ऊहापोह किया गया है। वे आठ अनुयोगद्वार इस प्रकार हैं—एकस्थान जीव प्रमाणानुगम, निरन्तरस्थान जीव प्रमाणानुगम, सान्तरस्थान जीव प्रमाणानुगम, नाना जीव कालप्रमाणानुगम, वृद्धिप्ररूपणा, यवमध्यप्ररूपणा, स्पर्शनप्ररूपणा, और अल्पबहुत्व प्ररूपणा।

एकस्थान जीवप्रमाणानुगम--एक-एक अनुभाग बन्धाध्यवसान स्थानमें अनन्त जीव पाये जाते हैं यह बतलाया गया है। यहाँ यह विचार सब सकषाय जीवोंकी अपेक्षा किया जा रहा है, केवल त्रस जीवोंकी अपेक्षा नहीं, इतना विशेष समझना चाहिए।

निरन्तरस्थान जीवप्रमाणानुगम—इसमें सब अनुभाग बन्धाध्यवसान स्थान जीवोंसे विरहित नही हैं यह बतलाया गया है।

सान्तरस्थान जीवप्रमाणानुगम—इसमे ऐसा कोई अनुभागबन्धाध्यवसान स्थान नहीं है जो जीवोंसे विरहित हो यह बतलाया गया है।

नानाजीवकालानुगम—एक-एक अनुभागबन्धाध्यवसान स्थानमे नाना जीव सर्वदा पाये जाते है यह बतलाया गया है।

वृद्धिप्ररूपणा—इसमे अनन्तरोपनिधा और परम्परोपनिधा इन दो अनुयोगद्वारोंका आलम्बन लेकर किस अनुभागबन्धाध्यवसान स्थानमें कितने जीव होते है यह ऊहापोह किया गया है।

यवमध्यप्ररूपणा—इसमें सब अनुभागबन्धाध्यवसान स्थानोंके असंख्यातवें भागमें यवमध्य होता है तथा यवमध्यके नीचे अनुभागबन्धाध्यवसान स्थान थोडे होते है और उसके ऊपर असंख्यातगुणे होते हैं यह बतलाया गया है।

स्पर्शप्ररूपणा—इसमे किस अपेक्षासे कितना स्पर्शनकाल होता है इसका विचार किया गया है।

अल्पबहुत्वप्ररूपणा—इसमें किसमें कितने जीव पाये जाते हैं इसका ऊहापोह किया गया है।

उत्तर प्रकृति अनुभागबन्धके प्रसंगसे अध्यवसान समुदाहारका विचार करते हुए ये तीन अनुयोगद्वार निबद्ध किये गये है—प्रकृतिसमुदाहार, स्थितिसमुदाहार, और तीव्र मन्दता। इनमेसे प्रकृतिसमुदाहारके एक अवान्तर भेद प्रमाणानुगके अनुसार सब प्रकृतियोंके अनुभागबन्धाध्यवसान असंख्यात लोक प्रमाण बतलाकर यह विशेष निर्देश किया गया है कि अपगतवेद मार्गणा और सूक्ष्मसाम्पराय संयतमार्गणामे एक-एक ही परिणाम स्थान होता है। इसका कारण यह है कि नौवां गुणस्थान अनिवृत्तिकरण है। उसके प्रत्येक समयमे अन्य-अन्य एक ही परिणाम होता है। इसी प्रकार सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमे भी प्रत्येक समयमे अन्य-अन्य एक ही परिणाम होता है, दोनो गुणस्थानोंमे जो प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धिको लिये हुए होता है। यही कारण है कि उक्त दोनो मार्गणाओंमे वहाँ बन्ध योग्य प्रकृतियोंका एक-एक परिणामस्थान स्वीकार किया गया है। आगे पूर्वोक्त तीनो अनुयोगद्वारोको निबद्ध कर अनुभाग बन्ध अर्थाधिकार समाप्त किया गया है।

४. प्रदेशबन्ध

कार्मण वर्गणाओंका योगके निमित्तसे कर्मभावको प्राप्त होकर जीव प्रदेशोंमे एकक्षेत्रावगाह होकर अवस्थित रहनेको प्रदेशबन्ध कहते है। इस विधिसे जो कर्मपुञ्ज जीव प्रदेशोमे एक क्षेत्रावगाहरूपसे अवस्थित होता है वह सिद्धोंके अनन्तवें भाग प्रमाण और अभव्योंसे अनन्त गुणा होता है। इस प्रकार प्रत्येक समयमें बन्धको प्राप्त होने वाले कर्मपुञ्जकी समयबद्ध संज्ञा है। मूल प्रकृति प्रदेशबन्ध और उत्तर प्रकृति प्रदेशबन्धके भेदसे वह दो प्रकारका है।

अब किस कर्मको किस हिसाबसे कर्मपुंज मिलता है इसका सकारण निर्देश करते है। जब आठों कर्मोंका बन्ध होता है तब आयु कर्मका स्थितिबन्ध सबसे स्तोक होनेके कारण उसके हिस्सेमे सबसे कम कर्मपुंज आता है। वेदनीयको छोड़कर शेष कर्मोंको अपने-अपने स्थिति बन्धके अनुसार कर्मपुञ्ज बटवारेमे आता है।

इसलिए नाम कर्म और गोत्र कर्ममेंसे प्रत्येकको उससे विशेष अधिक कर्मपुञ्ज प्राप्त होता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्ममेंसे प्रत्येकको उससे विशेष अधिक कर्मपुंज प्राप्त होता है। मोहनीय कर्मको उससे विशेष कर्मपुंज प्राप्त होता है। तथा वेदनीय कर्मके निमित्तसे सभी कर्म जीवोंमें सुख-दुःखको उत्पन्न करनेमें समर्थ होते हैं, इसलिए वेदनीय कर्मको सबसे अधिक कर्मपुंज प्राप्त होता है।

जब आयु कर्मको छोड़कर सात कर्मोंका बन्ध होता है तब सात कर्मोंमें और जब आयु तथा मोहनीय कर्मको छोड़कर यथास्थान छह कर्मोंका बन्ध होता है तब छह कर्मोंमें उक्त विधिसे प्रत्येक समयमें बन्धको प्राप्त हुए कर्मपुञ्जका बटवारा होता है। यह प्रत्येक समयमें बन्धको प्राप्त हुए समय प्रबद्धमेंसे किस कर्मको कितना द्रव्य मिलता है इसका विचार है। उत्तर प्रकृतियोंमेंसे जहाँ जितनी प्रकृतियोंका बन्ध होता है उनमें अपनी-अपनी मूल प्रकृतियोंको मिले हुए द्रव्यके अनुसार बटवारा होता रहता है। वेदनीय, आयु और गोत्र कर्मकी यथासम्भव एक समयमें एक प्रकृतिका ही बन्ध होता है, इसलिए जब जिस प्रकृतिका बन्ध हो तब उक्त कर्मोंका पूरा द्रव्य उसी प्रकृतिको मिलता है। शेष कर्मोंका आगमानुसार विचार कर लेना चाहिए। तथा आयु कर्मके बन्धके विषयमें भी आगमानुसार विचार कर लेना चाहिए।

इस अर्थाधिकारके वे सब अनुयोगद्वार हैं जो प्रकृतिबन्ध आदि अर्थाधिकारोंमें निबद्ध कर आये हैं। मात्र प्रथम अनुयोगद्वारका स्थानप्ररूपणा है, इसके दो उप अनुयोगद्वार हैं—योगस्थान प्ररूपणा और प्रदेशबन्ध प्ररूपणा।

योगस्थानप्ररूपणा—मन, वचन और कायके निमित्तसे होनेवाले जीव प्रदेशोंके परिस्पन्दको योग कहते हैं। योग शरीर नामकर्मके उदयसे होता है। इसलिये यह औदयिक है। परमागममें इसे क्षायोपशमिक कहनेका कारण यह है कि उक्त कर्मोंके उदयमें शरीर नामकर्मके योग्य पुद्गल पुञ्जके सञ्चयको प्राप्त होनेपर वीर्यान्तिराय कर्मके क्षयोपशमसे वृद्धिको और हानिको प्राप्त हुए वीर्यके निमित्तसे जीव प्रदेशोंका सकोच-विकोच, वृद्धि और हानिको प्राप्त होता है, इसलिए उसे परमागममें क्षायोपशमिक कहा गया है। परन्तु है वह औदायिक ही। यद्यपि वीर्यान्तिराय कर्मका क्षय होनेसे अरहंतोंके क्षायोपशमिक वीर्य नहीं पाया जाता यह यथार्थ है। परन्तु जैसा कि हम पहले कह आये हैं कि योग औदयिक ही है, क्षायोपशमिक नहीं, क्षायोपशमिकपनेका तो उसमें उपचार किया गया है, इसलिए अरहन्तोंका वीर्य क्षायिक होनेपर भी उक्त लक्षणके स्वीकार करनेमें कोई दोष नहीं प्राप्त होता और इसीलिए अयोग केवलियों और सिद्धोंमें अतिप्रसंग भी नहीं प्राप्त होता।

अब एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि सब संसारी जीवोंके सब प्रदेश व्याधि और भय आदिके निमित्तसे सदा काल चलायमान ही होते रहते हैं ऐसा कोई एकान्त नियम नहीं है। ऐसे समयमें कुछ प्रदेश चलायमान भी होते हैं और कुछ प्रदेश चलायमान नहीं भी होते। उनमेंसे जो प्रदेश चलायमान न होकर स्थित रहते हैं उनमें योगका अभाव होनेसे कर्मबन्ध नहीं होगा। उस समय जो प्रदेश स्थित रहते हैं उनमें परिस्पन्द नहीं होनेसे योग नहीं बन सकेगा यह स्पष्ट ही है। यदि परिस्पन्दके बिना उनमें भी योग स्वीकार किया जाता है तो आयोग केवलियों और सिद्धोंके भी योगका सद्भाव स्वीकार करनेका प्रसङ्ग प्राप्त होता है। समाधान यह है कि मन, वचन और कायकी क्रियाकी उत्पत्तिके लिए जो जीवका उपयोग होता है उसे योग कहते हैं और वह कर्मबन्धका कारण है। यह उपयोग कुछ जीव प्रदेशोंमें हो और कुछमें न हो यह तो बनता नहीं, क्योंकि एक जीवमें उपयोगकी अखण्डरूपसे प्रवृत्ति होती है। और इस प्रकार सब जीव प्रदेशोंमें योगका सद्भाव बन जानेसे कर्मबन्ध भी सब जीवप्रदेशोंमें बन जाता है। यदि कहा जाय कि योगके निमित्तसे सब जीव प्रदेशोंमें

परिस्पन्द होना ही चाहिए सो यह एकान्त नियम नही है। किन्तु नियम यह है कि जो भी परिस्पन्द होता है वह योगके निमित्तसे ही होता है, अन्य प्रकारसे नहीं। इसी प्रकार यह बात भी ध्यानमें रखनी चाहिए कि जीवका एक क्षेत्रको छोडकर क्षेत्रान्तरमें जाना इसका नाम योग नही है, क्योंकि ऐसा माननेपर सिद्ध जीवोंका सिद्ध होनेके प्रथम समयमें जो ऊर्ध्व लोकके अन्त तक गमन होता है उसे भी योग स्वीकार करना पड़ेगा। अत एव यही निश्चित होता है कि जहाँ तक शरीर नामकर्मका उदय है योग वही तक होता है। अत. सयोग केवली गुणस्थानके अन्तिम समय तक यथासम्भव उक्त कर्मोका उदय नियमसे पाया जाता है, अत. योगका सद्भाव भी वही तक स्वीकार किया गया है।

वह योग तीन प्रकारका है—मनोयोग, वचनयोग और काययोग। भावमनकी उत्पत्तिके लिए होनेवाले प्रयत्नको भावमन कहते है, वचनकी प्रवृत्तिके लिए होनेवाले प्रयत्नको वचनयोग कहते है, तथा शरीकी क्रियाकी उत्पत्तिके लिए होनेवाले प्रयत्नको काययोग कहते है। इन तीनों योगोंकी प्रवृत्ति क्रमसे होती है। इन तीनोंमेसे जब जिसकी प्रधानता होती है तब उस नामका योग कहलाता है। यद्यपि कही मन, वचन और कायकी युगपत् प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है सो इस प्रकार युगपत् प्रवृत्ति होनेमे विरोध नही है। किन्तु उनके लिए युगपत् प्रयत्न नही होता, अतः जब जिसके लिए प्रथम परिस्पन्दरूप प्रयत्न विशेष होता है तब वही योग कहलाता है ऐसा समझना चाहिए।

एक जीवके लोकप्रमाण प्रदेश होते हैं उनमे एक कालमे परिस्पन्दरूप जो योग होता है उसे **योगस्थान** कहते है। उसकी प्ररूपणामें ये दस अनुयोगद्वार ज्ञातव्य है—अविभागप्रतिच्छेदप्ररूपणा, वर्गणाप्ररूपणा, स्पर्धक-प्ररूपणा, अन्तप्ररूपणा, स्थानप्ररूपणा, अन्तरोपनिधा, परम्परोपनिधा, समयप्ररूपणा, वृद्धिप्ररूपणा, और अल्पबहुत्व।

एक-एक जीव प्रदेशमें जो जघन्य वृद्धि होती है वह योग अविभागप्रतिच्छेद कहलाता है। इस विधिसे एक जीव प्रदेशमें असख्यात लोक प्रमाण योग—अविभागप्रतिच्छेद होते है। इस प्रकार यद्यपि जीवके सब प्रदेशोमे उक्त प्रमाण ही योग—अविभागप्रतिच्छेद होते है। फिर भी एक जीव प्रदेशमे स्थित जघन्य योगसे एक जीव प्रदेशमे स्थित उत्कृष्ट योग असख्यात गुणा होता है।

सब जीव प्रदेशोमें समान योग-अविभागप्रतिच्छेद नही पाये जाते, इसलिए असंख्यात लोकप्रमाण योग-अविभागप्रतिच्छेदोकी एक वर्गणा होती है। सब वर्गणाओका सामान्यसे यही प्रमाण जानना चाहिए। आशय यह है कि जितने जीव प्रदेशोमे समान योग-अविभागप्रतिच्छेद पाये जाते हैं उनकी एक वर्गणा होती है। तथा दूसरे एक अधिक समान योग-अविभागप्रतिच्छेदवाले जीव प्रदेशोकी दूसरी वर्गणा होती है। यही विधि एक स्पर्धकके अन्तर्गत तृतीयादि वर्गणाओके विषयमे भी जानना चाहिए। ये सब वर्गणाएँ एक जीवके सब प्रदेशोमे श्रेणीके असंख्यातवें भागप्रमाण होती है। इतना विशेष है कि प्रथम वर्गणासे द्वितीयादि वर्गणाये जीव प्रदेशोंकी अपेक्षा उत्तरोत्तर विशेष हीन होती है। एक वर्गणामें कितने जीव प्रदेश होते हैं इसका समाधान यह है कि प्रत्येक वर्गणामे जीव प्रदेश असख्यात प्रतरप्रमाण होते है।

जहाँ क्रमवृद्धि और क्रमहानि पाई जाती है उसकी स्पर्धक संज्ञा है। इस नियमके अनुसार जगत् श्रेणीके असख्यातवे भाग प्रमाण वर्गणाओका एक स्पर्धक होता है। इस स्पर्धकके अन्तर्गत जितनी वर्गणायें होती है उनमेसे प्रथम वर्गणाके एक वर्गमें जितने योग अविभाग प्रतिच्छेद होते है उससे दूसरी वर्गणाके एक वर्गमे एक अधिक योग-अविभागप्रतिच्छेद होते है। यही क्रम प्रथम स्पर्धककी अन्तिम वर्गणा तक जानना चाहिए। इसके आगे उक्त क्रमवृद्धिका विच्छेद हो जाता है। इस विधिसे एक जीवके सब प्रदेशोमे जगत् श्रेणीके असख्यातवे भाग प्रमाण स्पर्धक प्राप्त होते है। इतना विशेष है कि प्रथम स्पर्धकके ऊपर ही प्रथम स्पर्धककी ही वृद्धि होनेपर दूसरा स्पर्धक प्राप्त होता है, क्योकि प्रथम स्पर्धककी प्रथम वर्गणाके एक वर्गसे

दूसरे स्पर्द्धककी प्रथम वर्गणाका एक वर्ग दूना होता है। प्रथम स्पर्धक और दूसरे स्पर्धककी चौडाई (विस्तार) बराबर है। मात्र द्वितीय स्पर्द्धकका आयाम प्रथम स्पर्द्धकके आयामसे विशेष हीन है। यद्यपि ऐसी स्थिति है फिर भी यह कथन एकदेश विकृतिको ध्यानमें न लेकर द्रव्यार्थिक नयसे किया गया है। इस प्रकार दो स्पर्धकोंके मध्य कितना अन्तर होता है इसका यह विचार है। आगेके स्पर्धकोंमे इसी विधिसे अन्तर जान लेना चाहिए। इस प्रकार एक जीवके सब प्रदेशोंमे जगत् श्रेणीके असंख्यातवें भाग प्रमाण स्पर्धक प्राप्त होते है। इन्हीं सबको मिलाकर एक योगस्थान कहलाता है। सब जीवोके नाना समयोकी अपेक्षा ये योगस्थान भी जगत् श्रेणीके असंख्यातवें भाग प्रमाण होते हैं।

अनन्तरोपनिधा और परम्परोपनिधाका विचार सुगम है। सब योगस्थान तीन प्रकारके हैं—उपपाद-योगस्थान, एकान्तानुवृद्धि—योगस्थान और परिणाम योगस्थान। इनमेसे प्रारम्भके दो योगस्थानोंका जघन्य और उत्कृष्ट काल एक समय ही है। सब परिणाम योगस्थानोका जघन्य काल एक समय है। उत्कृष्ट काल अलग-अलग है। किन्हीका दो समय हैं, किन्होंका तीन समय है और किन्हीका अलग-अलग चार, पाँच, छह, सात और आठ समय है। ये सब योगस्थान अलग-अलग जगत् श्रेणीके असख्यातवे भाग प्रमाण होते है। तथा सब मिलाकर भी जगत् श्रेणीके असंख्यातवें भाग प्रमाण होते है।

उनमेसे आठ समय वाले योगस्थान अल्प होते है। यवयमध्यके दोनों ही पार्श्व भागमे होने वाले योगस्थान परस्पर समान होकर भी उनसे असंख्यात गुणे होते है। इसी प्रकार छह, पाँच और चार समय वाले योगस्थानोके विषयमे जान लेना चाहिए। तीन और दो समय वाले योगस्थान मात्र ऊपरके पार्श्व भागमे ही होते हैं।

इन योगस्थानोंमे चार वृद्धि और चार हानियाँ होती है। अनन्तभाग वृद्धि और अनन्तगुण वृद्धि तथा ये ही दो हानियाँ नही होती। इनमेसे तीन वृद्धियों और तीन हानियोंका जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल आवलिके असंख्यातवें भाग प्रमाण होता है। तथा असंख्यात गुण वृद्धि और असंख्यात गुणहानिका जघन्य-काल एक समय और उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त होता है।

यहाँ प्रश्न है कि जिस प्रकार कर्म प्रदेशोंमें अपने जघन्यगुणके अनन्तवें भागकी अविभागप्रतिच्छेद संज्ञा होती है उसी प्रकार यहाँ भी एक जीव प्रदेशसम्बन्धी जघन्य योगके अनन्तवें भागकी अविभागप्रतिच्छेद संज्ञा क्यों नहीं होती ? समाधान यह है कि जिस प्रकार कर्म गुणमे अनन्तभाग वृद्धि पायी जाती है वैसा यहाँ सम्भव नहीं है, क्योंकि यहाँपर एक-एक जीव प्रदेशमे असंख्यात लोक प्रमाण ही योग-अविभाग प्रतिच्छेद पाये जाते है, अनन्त नहीं।

जीव दो प्रकारके है पर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त। इनमेंसे उक्त दोनों प्रकारके जीवोंके नूतन भवग्रहणके प्रथम समयमें उपपाद योगस्थान होता है, भवग्रहणसे दूसरे समयसे लेकर लब्ध्यपर्याप्त जीवोंके आयुबन्धके प्रारम्भ होनेके पूर्व समय तक तथा पर्याप्त जीवोंके शरीर पर्याप्तिके पूर्ण होनेके अन्तिम समय तक एकान्तानुवृद्धि योग-स्थान होता है तथा आगे दोनोंके भवके अन्तिम समय तक परिणाम योगस्थान होता है।

अल्पबहुत्वका विचार करने पर सूक्ष्म एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तका जघन्य सबसे स्तोक है। उससे बादर एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तका जघन्य योग असंख्यातगुणा है। उससे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय असंज्ञी और संज्ञी लब्ध्यपर्याप्तकका जघन्य योग उत्तरोत्तर असंख्यात गुणा है। उससे सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त और बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्तका और बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तका जघन्य योग क्रमसे असंख्यात गुणा है। उससे सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त और बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तका उत्कृष्ट योग क्रमसे असंख्यातगुणा है। उससे सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त और बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तका उत्कृष्ट योग क्रमसे असंख्यातगुणा है। उससे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरि-

न्द्रिय, पंचेन्द्रिय संज्ञी और असंज्ञी अपर्याप्तका उत्कृष्ट योग, पर्याप्त उन्हींका जघन्य योग तथा पर्याप्त उन्हीका उत्कृष्ट योग उत्तरोत्तर असंख्यात गुणा है। यहाँ प्रत्येकका उत्तरोत्तर योगगुणकार पल्योपमके असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। यहाँ जिस प्रकार योगका अल्पबहुत्व कहा है उसी प्रकार बन्धको प्राप्त होनेवाले प्रदेशपुञ्जका अल्पबहुत्व जानना चाहिए। गुणकार भी वही है।

२. प्रदेशबन्ध स्थानप्ररूपणा

पहले जितने योगस्थान बतला आये हैं उतने प्रदेशबन्धस्थान होते हैं। इतनी विशेषता है कि योगस्थानों से प्रदेशबन्धस्थान प्रकृति विशेषकी अपेक्षा विशेष अधिक होते हैं। खुलासा इस प्रकार है कि जघन्य योगसे आठ कर्मोंका बन्ध करने वाले जीवके ज्ञानावरणीय कर्मका एक प्रदेश बन्धस्थान होता है। पुनः प्रक्षेप अधिक योगस्थ नसे बन्ध करने वाले जीवके ज्ञानावरणीय कर्मका दूसरा प्रदेशबन्धस्थान होता है। इसी प्रकार उत्कृष्ट योगस्थान तक जानना चाहिये। इससे जितने योगस्थान हैं उतने ही ज्ञानावरणीयके प्रदेश बन्धस्थान प्राप्त होते है। इसी प्रकार आयुकर्मको छोड़कर शेष सात कर्मोंके योगस्थान प्रमाण प्रदेश बन्धस्थान घटित कर लेना चाहिये। उपपाद योगस्थानों और एकान्तानुवृद्धि योगस्थानोंके कालमें आयु कर्मका बन्ध नहीं होता, इसीलिए आयुकर्मके उतने ही प्रदेश बन्धस्थान प्राप्त होते है जितने परिणाम योगस्थान होते हैं। यहाँ योगस्थानोंसे प्रदेशबन्धस्थान प्रकृति विशेषकी अपेक्षा अधिक होते हैं इसका विचार आगमानुसार करना चाहिए। इतना अवश्य है कि यह नियम आयुकर्मको छोड़कर शेष सात कर्मोंपर ही लागू होता है, आयु कर्म पर नहीं, क्योंकि उसके जितने परिणाम योगस्थान होते हैं उतने ही प्रदेशबन्धस्थान पाये जाते हैं।

'प्रकृति विशेषकी अपेक्षा अधिक होते है' इस वचनका दूसरा अर्थ यह है कि ऐसी प्रकृति अर्थात् स्वभाव है कि आठों कर्मोंका बन्ध होते समय आयुकर्मको सबसे अल्पद्रव्य प्राप्त होता है। उससे नाम और गोत्र प्रत्येक को विशेष अधिक द्रव्य प्राप्त होता है। उससे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय प्रत्येकको विशेष अधिक द्रव्य प्राप्त होता है। उससे मोहनीय कर्मको विशेष अधिक द्रव्य प्राप्त होता है। उससे वेदनीयको विशेष अधिक द्रव्य प्राप्त होता है। आयुकर्मके बिना सात कर्मोंमें तथा आयु और मोहनीय कर्मको छोड़कर छह कर्मोंमें उक्त विधिसे ही द्रव्य प्राप्त होता है। यहाँ जिस प्रकार मूल प्रकृतियोंको ध्यानमें रखकर विचार किया उसी प्रकार आगमानुसार उत्तर प्रकृतियोंमें भी विचार कर लेना चाहिए।

इस अर्थाधिकारमें मूल व उत्तर प्रकृतियोंका अन्य जितने अनुयोगद्वारोंका अवलम्बन लेकर विचार किया गया है उन सबका इस निबन्धमें उहापोह करना सम्भव नहीं है। मात्र मूल प्रकृतियोंकी अपेक्षा ओघसे बन्धस्वामित्वका स्पष्टीकरण यहाँ किया जाता है।

३. बन्धस्वामित्वप्ररूपणा

स्वामित्व दो प्रकारका है—जघन्य और उत्कृष्ट। पहले उत्कृष्ट स्वामित्वका विचार करते हैं। वह इस प्रकार है—जो उपशामक और क्षपक उत्कृष्ट योगके द्वारा सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें छह कर्मोंका बन्ध करता है उसके मोहनीय और आयुकर्मको छोड़कर शेष छह कर्मोंका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होता है। जो सब पर्याप्तियोंसे पर्याप्त है तथा उत्कृष्ट योगसे सात कर्मोंका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध कर रहा है ऐसा चारों गतियोंमें स्थित संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि जीव मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करता है। आयुकर्मके विषयमें भी ऐसा ही समझना चाहिए। मात्र वह आठ कर्मोंका बन्ध करनेवाला होना चाहिए।

जघन्य स्वामित्वका विचार इस प्रकार है—जो तद्भवस्थ होनेके प्रथम समयमें स्थित है और जघन्य योगसे जघन्य प्रदेशबन्ध कर रहा है ऐसा सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव आयुकर्मको छोड़कर सात कर्मोंका जघन्य प्रदेशबन्ध करता है। जो सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव क्षुल्लक भवके तीसरे त्रिभागके प्रथम समयमें जघन्य योगसे आयुकर्मका जघन्य प्रदेशबन्ध कर रहा है वह आयु कर्मके जघन्य प्रदेशबन्धका स्वामी होता है।

बन्धका प्रमुख कारण : मिथ्यात्व

तत्त्वार्थसूत्र अ० ८ सू० १ तथा आत्मानुशासन आदि ग्रन्थोंमें बन्धका उल्लेख कर अनेक स्थलोंपर संसारके जिन कारणोंका उल्लेख दृष्टिगोचर होता है उनमें मिथ्यात्व मुख्य है। अदेवमें देवबुद्धि, अगुरुमें गुरुबुद्धि और अतत्त्व या उनके प्रतिपादक कुशास्त्रमें तत्त्व या शास्त्रबुद्धिका होना मिथ्यात्व है।

(१) षट्खण्डागम धवला पुस्तक १२में बन्ध प्रत्ययोंका निर्देश करनेवाला एक प्रत्यय नामका अनुयोगद्वार आया है। उसमें नयदृष्टिसे कर्मबन्धके कारणोंका विचार किया गया है। नैगम, संग्रह और व्यवहार नयसे ज्ञानावरणादि कर्मोंके बन्धके कारणोंका निर्देश करते हुए सूत्र ८ मे[1] मोहके साथ क्रोध, मान, माया और लोभ-को भी बन्धके कारणोंमें परिगणित किया गया है। तथा उन तीन नयोंसे सूत्र १०मे[2] मिथ्यादर्शन और मिथ्या-ज्ञानके साथ योगको भी बन्धके कारणोंमे परिगणित किया गया है। इससे स्पष्ट है कि जैसे क्रोधादि कषाय और योग नैगमादि तीन नयोंसे बन्धके कारण हैं वैसे ही मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान भी इन्ही तीनों नयोकी अपेक्षा बन्धके कारण है। इस अपेक्षासे इनमे समान रूपसे कारणता स्वीकार करनेमे किसी प्रकारका प्रत्यवाय नही है। आठ कर्मोंके बन्धके कारणोंका मात्र ऋजुसूत्र नयमे विचार करनेपर प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योगमे तथा स्थिति-बन्ध और अनुभागबन्ध कषायसे होते है, यह स्वीकार किया गया है। इसलिये नैगम, संग्रह और व्यवहार नयमे मिथ्यात्व आदि पाँचों बन्धके कारण है जो यह आगममें स्वीकार किया गया है उसकी संगति बैठ जाती है। तथा ऋजुसूत्र नयसे योग और कषाय ये दो बन्धके कारण हैं इस कथनमे भी कोई बाधा नही आती। दोनों ही कथन अपनी-अपनी जगह आगमानुसार ही है। इनमेसे किसी एकका भी अपलाप नही किया जा सकता, क्योंकि किसी एक कथनके अपलाप करनेका अर्थ होता है उस नय दृष्टिको अस्वीकार करना।

(२) आगे इसपर विस्तारसे विचार करनेके पहले कर्मबन्धके जो पाँच कारण कहे गये है उनमेंसे मिथ्यात्वमें बन्धकी कारणता क्यो स्वीकार की गई है इस विषयपर संक्षेपमे प्रकाश डालेंगे।

यह तो सुप्रसिद्ध सत्य है कि जो पहला गुणस्थान मिथ्यात्व है उसमे उत्पादानुच्छेदकी अपेक्षा जिन प्रकृ-तियोंकी बन्ध व्युच्छित्ति होती है वे प्रकृतियाँ १६ हैं। उनमेसे एक मिथ्यात्व ध्रुवबन्धिनी प्रकृति है। मिथ्यात्व-रूप परिणामके साथ उसका बन्ध नियमसे होता ही रहता है। अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना करनेवाला जीव सम्यक्त्व आदिरूप परिणामोंसे च्युत होकर यदि मिथ्यात्व गुणस्थानमे आता है तो उसके प्रारम्भमे ही अनन्ता-नुबन्धी चतुष्कका बन्ध होकर भी एक आवलि काल तक अपकर्षणपूर्वक उसकी उदय-उदीरणा नही होती ऐसा नियम है।[3] अत ऐसे जीवके एक आवलि काल तक अनन्तानुबन्धी क्रोधादिरूप परिणामके न होनेपर भी मिथ्यात्व परिणामनिमित्तक मिथ्यात्व प्रकृतिका बन्ध होता ही है। साथ ही शेष १५ प्रकृतियोंका भी यथासम्भव बन्ध होता है।

(३) यद्यपि वहाँ एक अनन्तानुबन्धी क्रोधादिरूप परिणामको छोड़कर बन्धके अन्य सब कारण उपस्थित अवश्य हैं पर मिथ्यात्व प्रकृतिके बन्धका अविनाभाव सम्बन्ध जिस प्रकार मिथ्यात्व परिणामके साथ पाया जाता

---

१. ध० पु० १२ पृ० २८३।

२. वही पृ० २८७।

३. संजोजिदअणंताणुबंधीणमावलियामेत्तकालमुदीरणाभावादो।—ध० पु० १५ पृ० ७५।

है वैसा अन्य प्रत्ययोंके साथ नहीं पाया जाता, इसीलिये ही मिथ्यात्व कर्मके बन्धका प्रधान कारण मिथ्यात्व परिणाम होनेसे बन्धके कारणोमें मिथ्यात्वको परिगणित किया गया है, अन्यको नही।

(४) दूसरे अन्य जिन हुंडक संस्थान आदि १५ प्रकृतियोकी बन्ध व्युच्छित्ति मिथ्यात्व गुणस्थानमें होती है वे सबकी सब सप्रतिपक्ष प्रकृतियाँ है। इसलिये यह तो माना जा सकता है कि जब मिथ्यात्व गुणस्थानमें उन प्रकृतियोके बन्धके कारणरूप परिणाम नही होते तब उनका बन्ध न होकर उनकी सप्रतिपक्ष प्रकृतियोका बन्ध होने लगता है। फिर भी अन्य सप्रतिपक्ष प्रकृतियोंका बन्ध तो मिथ्यात्वरूप परिणामोंके अभावमे भी होना सम्भव है। परन्तु उन १५ प्रकृतियोका जब भी बन्ध होगा तब मिथ्यात्वरूप परिणामके होनेपर ही होगा, अन्यथा नहीं। तब उस जीवके अनन्तानुबन्धीका उदय रहे या न रहे, इससे उन १५ प्रकृतियोके बन्ध होने और न होनेमें कोई फरक नही पड़ता। जब भी उनका बन्ध होगा, मिथ्यात्व परिणामके होनेपर ही होगा यह अकाट्य नियम है। इसलिये इन १५ प्रकृतियोके बन्धका भी प्रधान कारण मिथ्यात्व होनेसे मिथ्यात्वको प्रमुखरूपसे बन्धके कारणोंमें परिगणित किया गया है।

(५) सामान्यतया प्रकृतिबन्धकी अपेक्षा तो आगमका यह अभिप्राय है ही, स्थितिबन्ध और अनुभाग-बन्धकी अपेक्षा भी विचार करनेपर जिन १६ प्रकृतियोंका मात्र मिथ्यात्व गुणस्थानमे बन्ध होता है उनका उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य किसी भी प्रकारका स्थितिबन्ध या अनुभागबन्ध क्यों न हो उसका अविनाभाव सम्बन्ध भी जैसा मिथ्यात्व परिणामके साथ पाया जाता है वैसा अविरति आदि अन्य परिणामोंके साथ नहीं पाया जाता, क्योंकि महाबन्धमें जहाँ भी इन १६ प्रकृतियोके उत्कृष्टादि स्थितिबन्ध और अनुभागबन्धके स्वामीका विचार किया गया है वहाँ उसका मिथ्यादृष्टि होना अवश्यंभावी कहा गया है। उसके संक्लेश आदिरूप परिणामोमे भेद हो सकता है पर उसे मिथ्यादृष्टि होना ही चाहिये।

(६) (प्रसंगसे) यहाँ यह बात विशेषरूपसे उल्लेखनीय है कि मिथ्यात्व आदि प्रत्ययों (बन्धकारणो) का विचार अनुभागबन्धकी अपेक्षा करते हुए महाबन्धमे लिखा है—

मिच्छ०-णवुंस०-णिरयाय०- णिरयगइ-चदुजादि-हुंड० – असंप०-णिरयाणु०-आदाव-थावरादि० ४ मिच्छत्तपच्चय।—महाबंध पु० ४ पृ० १८६।

आशय यह है कि मिथ्यात्व आदि उक्त १६ प्रकृतियोंका बन्ध मिथ्यात्व निमित्तक ही होता है। उनके बन्धमे अनन्तानुबन्धी क्रोधादिरूप असंयम परिणामका होना अनिवार्य नही है। इसलिये जो बन्धके कारणोंमे मिथ्यात्वको अकिंचित्कर कहकर वहाँ अनन्तानुबन्धी क्रोध आदिकी प्रधानताको सूचित करते हैं उनका वह चिन्तन आगमानुसार नही है, इतना उक्त आगमके परिप्रेक्ष्यमे स्पष्टरूपसे स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है।

(७) यह तो सब स्वाध्यायी बन्धु जानते हैं कि मिथ्यात्व परिणामके अभावस्वरूप जो सम्यग्दर्शनरूप स्वभाव परिणाम होता है वह तथा अनन्तानुबन्धी आदि १२ कषायोंके अभावस्वरूप जो वीतराग स्वरूप चारित्र परिणाम होता है वह मात्र निर्जराका ही कारण स्वीकार किया गया है, बन्धका कारण नही। फिर भी यह देखकर कि तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध सम्यग्दृष्टिके होता है, मिथ्यादृष्टिके नही, इसलिये तो महाबन्धमे तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धको सम्यक्त्व-निमित्तक कहा गया है और यह देखकर कि आहारकद्विकका बन्ध संयमीके ही होता है, असंयमीके नहीं, आहारकद्विकके बन्धको संयमनिमित्तक कहा गया है। यथा—

आहारदुगं संजमपच्चयं। तित्थयरं सम्मत्तपच्चयं।—महाबन्ध पु० ४, पृ० १८६।

यहाँ यह शंका नही की जा सकती कि यदि तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध सम्यक्त्व निमित्तक होता है तो सभी सम्यग्दृष्टियोंके उसका बन्ध होना चाहिये और यदि आहारकद्विकका बन्ध संयमनिमित्तक होता है तो सभी संयमियोंके आहारकद्विकका बन्ध होना चाहिये, क्योंकि ऐसी व्याप्ति तो है कि जो भी तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध करेगा उसको कमसे कम सम्यग्दृष्टि तो होना ही चाहिये। तथा जो भी आहारकद्विकका बन्ध करेगा उसे कमसे कम अप्रमत्तसंयत तो होना ही चाहिये। इन दोनोंके इन प्रकृतियोंका बन्ध नियमसे होता ही है ऐसा नही है। होगा तो ऐसी योग्यताके होनेपर ही उनके बन्धके कारणोसे होगा, अन्यथा नही होगा।

आगमके इस कथनका तात्पर्य यह है कि अन्यत्र न होकर जिस भूमिकामे जिस कर्मका बन्ध होता है उसमे नयदृष्टिसे कारणता स्वीकार करना अनिवार्य है। यदि ऐसा न माना जाय तो जिसके भी तीर्थंकर प्रकृति-का बन्ध होगा उसे कमसे कम सम्यग्दृष्टि तो होना ही चाहिये यह कथन युक्तिसगत नही माना जा सकेगा। एक कार्यके होनेमे कारण अनेक होते हैं, कोई साधारण कारण होता है और कोई असाधारण कारण होता है। यहाँ मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियोंके बन्धमे मिथ्यात्व असाधारण कारण है, क्योकि जो भी उनका बन्ध करेगा उसका मिथ्यादृष्टि होना अनिवार्य है, उन प्रकृतियोके बन्ध होनेमे अनन्तानुबन्धी क्रोधादिरूप परिणामका होना अनिवार्य नही है।

(८) उक्त १६ प्रकृतियोंका प्रदेशबन्धकी अपेक्षा विचार करनेपर भी इनका उत्कृष्टादिके भेदसे किसी भी प्रकारका प्रदेशबन्ध क्यो न हो उसका भी मिथ्यादृष्टि होना अनिवार्य है। मिथ्यादृष्टि न हो और केवल योगके निमित्तसे इन प्रकृतियोंका किसी भी प्रकारका प्रदेशबन्ध हो जाय ऐसा नही है।

(९) यहाँ यह कहा जा सकता है कि मिथ्यादृष्टि तो हो, परन्तु उसके योग और कषाय न हो तो उन प्रकृतियोंका केवल मिथ्यात्वके निमित्तसे बन्ध नहीं होगा। परन्तु जिसका ऐसा कहना है सो उसका वैसा कहना इसलिए युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि आगमके अनुसार यह तो कहा जा सकता है कि योग और कषाय तो हो, परन्तु मिथ्यात्व न हो। पर यह नहीं कहा जा सकता कि मिथ्यात्व तो हो और योग और कषाय न हो। हाँ कोई कहे कि मिथ्यात्व तो हो और अनन्तानुबन्धी न हो तो यह कहना जैसे बन जाता है। वैसे ही अनन्तानुबन्धी तो हो और मिथ्यात्व न हो, गुणस्थान भेदसे यह कहना भी बन जायगा। अतः आगमके अनुसार यही मानना युक्ति संगत प्रतीत होता है कि आगममे जो बन्धके पाँच कारण कहे गये हैं उनमे मिथ्यात्व मुख्य है।

(१०) अब प्रश्न यह है कि जब मिथ्यात्व भी बन्धका कारण है तब ऋजुसूत्रनयसे स्थितिबन्ध और अनुभागबन्धका कारण मात्र कषायको तथा प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्धका कारण मात्र योगको क्यों कहा। ऋजुसूत्रनयसे मिथ्यात्वका बन्धके कारणोंमे क्यों नही परिगणित किया गया? समाधान यह है कि कषायकी वृद्धि और हानिके साथ तो स्थितिबन्ध और अनुभागबन्धकी वृद्धि और हानि देखी जाती है, इसलिये तो ऋजुसूत्रनयसे कषायको स्थितिबन्ध और अनुभागबन्धका कारण कहा[1] तथा योगकी वृद्धि और हानिके साथ प्रदेशबन्धकी वृद्धि और हानि होती है, इसलिये ऋजुसूत्र नयसे योगको प्रदेशबन्धका कारण कहा।[2] यहाँ जिस

१. णाणावरणीयट्ठिदिवेयणा अणुभागवेयणा च कसायपच्चएण होदि, कसायवड्ढिहाणीहिंतो ट्ठिदि-अणु-भागाणं वड्ढि-हाणिदंसणादो। —ध० पु० १२ पृ० २८८।

२. ण च जोगवड्ढि-हाणीओ मोत्तूण अण्णेहिंतो णाणावरणीयपदेसबंधस्स वड्ढि हाणि वा पेच्छामो। —ध० पु० १२ पृ० २२८।

प्रकार प्रदेशबन्धका कारण योग है उसी प्रकार प्रकृतिबन्धका कारण भी योग है, क्योंकि उसके बिना उसकी उत्पत्ति नही हो सकती, और ऐसा नियम है कि जिसके बिना जिसकी उत्पत्ति नहीं होती वह उसका कार्य व दूसरा कारण होता है[१]।

(११) फिर भी यह प्रश्न तो खड़ा ही रहता है कि जब ऋजुसूत्रनयसे प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्धका कारण योग तथा स्थितिबन्ध और अनुभाग बन्धका कारण कषाय है तो फिर शेष क्या बचता है जिसका कारण माननेके लिए मिथ्यात्वको स्वीकार किया जाय ? समाधान यह है कि प्रत्येक कार्यकी उत्पत्तिमें कारण दो प्रकारके होते हैं—एक सामान्य (व्यापक) कारण और दूसरा विशेष (व्याप्य) कारण। प्रकृतमें नैगमादि तीन नयोंसे बन्धके जितने भी कारण कहे गये हैं वे सब सामान्य कारण हैं तथा ऋजुसूत्रनयसे जो कारण कहे गये हैं वे विशेष कारण है। जैसे हमारे-आपके चलनेमें पृथ्वी सामान्य कारण है, वह न हो तो हम एक डग भी नही चल सकते। तथा विहायोगति नामकर्मका उदय आदि विशेष कारण है। पृथिवीपर हम भी चलते है, आप भी चलते है, ऊँट भी चलता है और सर्प आदि भी चलते है सो यहाँ प्रत्येककी चालमें जो अन्तर पड़ता है उसका कारण अलग-अलग होकर भी पृथ्वी सबके चलनेके लिए सब अवस्थाओंमें कारण है वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए। मिथ्यात्वमें बंधनेवाली सभी प्रकृतियोंके चारों प्रकारके बंधका सामान्य कारण मिथ्यात्व होकर भी बन्धमें जो तारतम्य दिखाई देता है उसका कारण विवक्षित योग और कषाय है ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

(१२) प्रदेशबन्धके प्रसंगसे आगममें जो यह कहा गया है कि जो योगस्थान हैं वे ही प्रदेशबन्धस्थान है। इतनी विशेषता है कि प्रकृतिविशेषकी अपेक्षा वे प्रदेश बन्धस्थानविशेष अधिक है। सो इसका अर्थ है कि भले ही योग वही रहे पर प्रकृति भेदके कारण जो प्रदेशबन्धमें फरक पड़ता है, उसका कारण प्रकृति भेद ही है। क्योंकि एक कालमें विवक्षित योगसे जितनी प्रकृतियोंका बन्ध होता है, उन सब प्रकृतियोंमें मिलनेवाले प्रदेश सबको समान नही मिलते हैं। इसका कारण वह योग न होकर कथंचित् प्रकृतिभेद ही इसका कारण रहता है। फिर भी यदि कोई यह माने कि यहाँ प्रकृति भेदसे उन प्रकृतियोंके प्रदेशबन्धमें योग अकिंचित्कर है, प्रकृतिभेद ही उसका कारण है तो जैसे उसका यह मानना मिथ्या है वैसे ही बन्धमें मिथ्यात्वको अकिंचित्कर मानना भी मिथ्या ही है।

(१३) इस प्रकार नयभेदसे मिथ्यात्व आदि पाँचों ही बन्धके कारण है ऐसा यहाँ वेदनाखण्ड प्रत्यय अनुयोगद्वारके अनुसार समझना चाहिए। आचार्य गृद्धपिच्छने भी इसी बातको ध्यानमें रखकर ही तत्त्वार्थसूत्रके ८वें अध्यायमें प्रारम्भके दो सूत्रोंकी रचना की है। वहाँ प्रथम सूत्र नैगमादि तीन नयोंकी अपेक्षा रचा गया है और दूसरे सूत्रकी रचना ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा की गई है। मात्र उत्तरकालीन आचार्योंने नयविवक्षाको गौण-कर आगमकी संकलना की है; इसलिये मादृशः जनोंको नयज्ञान न होनेसे ऐसी विडम्बनाकी स्थिति बन जाती है जो युक्तियुक्त नही है। अतः आगमके सर्वांग कथनको स्वीकार करना ही मोक्षमार्गमें प्रयोजनीय माना गया है ऐसा मानकर ही मुनि या श्रावकको अपने श्रद्धानको आगमानुकूल बना कर दृढ़ करना चाहिये।

आत्मानुशासनमें भदन्त गुणभद्रने सम्यग्दर्शनके जो दस भेद किये है सो उन भेदोंके करनेमें मिथ्यात्व आदि कर्मोंके उपशमादिकी विवक्षा न होकर ज्ञानावरण कर्मके क्षय क्षयोपशम आदिकी विशेषता स्पष्टतः परिलक्षित होती है। मात्र जो औपशमिक आदि तीन भेद किये गये है उनके होनेमें अवश्य ही मिथ्यात्व आदि कर्मोंका उपशम, क्षय, क्षयोपशम मुख्य है। उनमें प्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शन है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीवके सबसे

१. याणि चेव योगट्ठाणाणि ताणि चेव पदेसबंधट्ठाणाणि। णवरि पदेसबंधट्ठाणाणि पगदिविसेसेण विसेसाधि-याणि। म० बं, भा० ६ पृ० १०१।

पहले प्रथमोपशम सम्यग्दर्शनकी ही उत्पत्ति होती है। यदि एक बार सम्यग्दर्शन होनेके बाद वह मिथ्यादृष्टि हो भी जाय और वेदककालके भीतर वेदक सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति न होकर वह मिथ्यादृष्टि ही बना रहे तो पुन: वह प्रथमोपशम सम्यग्दर्शनको प्राप्त करके ही सम्यग्दृष्टि हो सकता है।

अनादि मिथ्यादृष्टि जीवके एक मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय कर्मके साथ २६ प्रकृतियोकी सत्ता होती है, किन्तु सादि मिथ्यादृष्टि जीवके २८, २७ और २६ प्रकृतियोंकी सत्ता बन जाती है। जिस सादि मिथ्यादृष्टि जीवने सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृतिकी उद्वेलना नही की है उसके २८ प्रकृतियोंकी सत्ता होती है। जिसने सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिकी उद्वेलना कर ली है उसके २७ प्रकृतियोकी सत्ता होती है और जिसने सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति दोनोकी उद्वेलना कर ली है वह सादि मिथ्यादृष्टि होते हुए भी उसके २६ प्रकृतियोंकी सत्ता होती है। ये तीनों ही प्रकारके जीव प्रथमोपशम सम्यग्दर्शनको प्राप्त करनेके अधिकारी है।

इस सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति दर्शनमोहनीय कर्मके अन्तरकरण उपशमपूर्वक होती है। अनन्तानुबन्धीकर्मका अन्तरकरण उपशम नही होता। मात्र जिस समय यह सातिशय मिथ्यादृष्टि जीव अध:प्रवृत्तकरण आदि तीन करण करके अन्तरकरण उपशमपूर्वक दर्शनमोहनीय कर्मकी प्रथम स्थितिको गलाकर प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि होता है उसी समय इस जीवके अनन्तानुबन्धीका अनुदय होनेमे इसकी भी अनुदयोपशमके रूपमे परिगणना की जाती है। अत: इसी तथ्यको व्यक्त करते हुए यह कहा जाता है कि दर्शनमोहनीयकी तीन और अनन्तानुबन्धीकी चार इन ७ प्रकृतियोके उपशमसे उपशमसम्यग्दर्शन होता है। परन्तु दर्शनमोहनीयके समान इसके अनन्तानुबन्धीका अन्तरकरण उपशम नही होता इतना सुनिश्चित है।

यह प्रथमोपशम सम्यग्दर्शनका स्वरूप है। इसके सिवाय उपशमसम्यग्दर्शनका एक भेद द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन भी है जो अप्रमत्तसंयत वेदकसम्यग्दृष्टि जीव उपशमश्रेणिपर चढनेके सन्मुख होता है उसके अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजनाके साथ दर्शनमोहनीयके अन्तःकरण उपशमपूर्वक होता है। यह सामान्यसे उपशम सम्यग्दर्शनके दोनों भेदोंका स्वरूप निर्देश है।

सम्यग्दर्शनके दूसरे भेदका नाम क्षयोपशम सम्यग्दर्शन है। यह सम्यक्त्वमोहनीयके उदयपूर्वक होनेसे इसका दूसरा नाम वेदक सम्यक्त्व भी है। यह उपशम सम्यग्दर्शन पूर्वक भी होता है और मिथ्यादर्शनपूर्वक भी होता है। इतनी विशेषता है कि जो सम्यग्दर्शनसे च्युत होकर मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त हुआ है उसके वेदक कालके भीतर ही इस सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होना सम्भव है। किन्तु वेदक कालके व्यतीत होनेपर वह मात्र प्रथमोपशमसम्यक्त्वको प्राप्त करके ही सम्यग्दृष्टि हो सकता है।

इसके अनेक भेद हैं। प्रथम भेदमें अनन्तानुबन्धी ४, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्वका अनुदय रहता है और सम्यक् प्रकृतिका उदय रहता है। दूसरे भेदमे अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना रहती है, तथा मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्वका अनुदय और सम्यक् प्रकृतिका उदय रहता है। तीसरे भेदमे अनन्तानुबन्धी ४ की विसंयोजना, मिथ्यात्वकी क्षपणा होकर सम्यग्मिथ्यात्वका अनुदय और सम्यक्प्रकृतिका उदय रहता है तथा चौथे भेदमे अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजनापूर्वक मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्वकी क्षपणा होकर सम्यक् प्रकृतिका उदय रहता है। कृतकृत्यवेदक सम्यग्दर्शन इस चौथे भेदकी ही संज्ञा है। इन चार भेदोंमेसे अन्तिम दो भेद, जो वेदक सम्यग्दृष्टि जीव दर्शनमोहनीयकी क्षपणा करता है उसीके होते है। इस प्रकार आगमानुसार वेदक सम्यक्त्वके चार भेद जानने चाहिये।

जो प्रव्रज्या देनेमे समर्थ योग्य गुरुकी शरणमे जाकर चरणानुयोगके अनुसार २८ मूलगुणोंको अंगीकार करते हैं, ऐसे कोई द्रव्यलिंगी साधु प्रव्रज्या लेनेके अनन्तर या कालान्तरमे आगमानुसार जीवादि तत्त्वोंके अभ्यास-

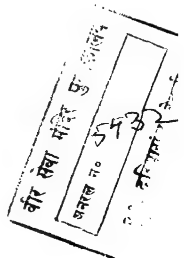
पूर्वक प्रथमोपशम सम्यग्दर्शनके साथ या वेदक सम्यग्दर्शन (प्रथमभेद) के साथ अप्रमत्तसंयत गुणस्थानको प्राप्त करनेके अधिकारी होते हैं, इसी प्रकार जिस व्यक्तिने गुरुकी साक्षीपूर्वक चरणानुयोगोंके अनुसार श्रावकके निरतिचार १२ व्रत स्वीकार किये है वे भी जीवादि तत्वोके सम्यक् अभ्यासपूर्वक उक्त दोनों सम्यग्दर्शनोंमेंसे किसी एक सम्यग्दर्शनके साथ विरताविरत गुणस्थानके अधिकारी होते हैं। तथा जिन्होंने विधिवत् महाव्रतों या अणुव्रतोंको नही स्वीकार किया है। मात्र जो चतुर्थ गुणस्थानके समान प्रवृत्ति करनेमे सावधान है वे उक्त दोनों सम्यग्दर्शनामेसे किसी एक सम्यग्दर्शनके साथ चौथे गुणस्थानके अधिकारी होते हैं।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि उपशम सम्यग्दर्शनमे दर्शन मोहनीयकी उपशामना अधःप्रवृत्त-करण आदि तीन करणपूर्वक ही होती है। परन्तु वेदकसम्यक्त्वकी प्राप्तिमे जो सम्यग्दर्शन छूटनेके दीर्घकाल बाद इस सम्यग्दर्शनको प्राप्त करते हैं वे प्रारम्भके दो करण करके ही इसके अधिकारी होते है। और जो अतिशीघ्र इसे प्राप्त करते है वे करणपरिणामोके बिना भी इसे प्राप्त करनेके अधिकारी होते है। उपशम सम्यग्दर्शनपूर्वक वेदक सम्यग्दर्शनको प्राप्त किया जा सकता है इसमे किसी प्रकारका प्रत्यवाय नही है। इसीप्रकार सम्यग्मि-थ्यात्व गुणस्थानसे या प्रथमोपशम सम्यक्त्वसे भी कई जीव वेदक सम्यग्दर्शनको प्राप्त करनेके अधिकारी होते है इसमे भी किसी प्रकारका प्रत्यवाय नही है।

तथा सम्यग्दर्शनके तीसरे भेदका नाम क्षायिक सम्यग्दर्शन है। यह अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोज-नापूर्वक दर्शनमोहनीयकी तीनों प्रकृतियोकी क्षपणा करके प्राप्त होता है, इसलिये इसका क्षायिक सम्यग्दर्शन यह नाम सार्थक है। इतना अवश्य है कि चारों गतियोंके जीव इसे प्रारम्भ करनेके अधिकारी नही होते, मात्र कर्मभूमिज मनुष्य ही केवली श्रुतकेवलीके पादमूलमे वेदकसम्यक्त्वपूर्वक इसका प्रारम्भ करते है, हाँ पूर्ति इसकी चारों गतियोमेसे किसी भी एक गतिमे हो सकती है। एक तो जिस मनुष्यने इसका प्रारम्भ जहाँ किया है वही इसकी पूर्ति हो जाती है। कदाचित् मरण हो जाय तो परभवसम्बन्धी जिस आयुका बन्ध किया हो वहाँ जाकर यह जीव उसकी पूर्ति करता है। फिर भी इसका प्रस्थापक जीव जब अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना करनेके बाद मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्वकी क्षपणा करके कृतकृत्यवेदक सम्यग्दृष्टि हो जाता है तभी उसका मरण होकर अगले भवमे उसकी पूर्णता होती है ऐसा नियम है।

●





श्रमण-परम्पराका दर्शन

संस्कृत साहित्यमे जिसे श्रमण पदसे अभिहित किया गया है[1] मूलमे वह 'समण' संज्ञापद है।[2] उसके संस्कृत छायारूप तीन[3] होते है—श्रमण, शमन और समन। श्रमणो—जैन साधुओंकी चर्चा इन तीनों विशेषताओंको लिये हुए होती है। जिन्होंने पंचेन्द्रियोंको संवृत कर लिया है, कषायोंपर विजय प्राप्त कर ली है जो शत्रु मित्र, दुःख-सुख, प्रशंसा-निन्दा, मिट्टी-सोना तथा जीवन-मरणमे समभाव सम्पन्न है और जो सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्रकी आराधनामे निरन्तर तत्पर है वे श्रमण है और उनका धर्म ही श्रमण धर्म है।[4] वर्तमानमे जिसे हम जैन धर्म या आत्मधर्मके नामसे सम्बोधित करते है वह यही है। यह अखण्डभावसे समण संस्कृतिका प्रतिनिधित्व करता है।

लोकमे जितने भी धर्म प्रचलित है उनका लिखित या अलिखित दर्शन अवश्य होता है। इसका भी अपना दर्शन है जिसके द्वारा श्रमण धर्मकी नीवके रूपमे व्यक्ति स्वातंत्र्यकी अक्षुण्ण भावसे प्रतिष्ठाकी गई है। इसे समझनेके लिये इसमे प्रतिपादित तत्त्व प्ररूपणाको हृदयंगम कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। जैसाकि समग्र आगमपर दृष्टिपात करनेमे विदित होता है इसमें तत्त्व प्ररूपणाके दो प्रकार परिलक्षित होते है—एक लोक की संरचनाके रूपमे तत्त्व प्ररूपणाका प्रकार और दूसरा मोक्ष मार्गकी दृष्टिसे तत्त्व प्ररूपणाका प्रकार। ये दोनों ही एक– दूसरेके इतने निकट है जिससे इन्हे सर्वथा जुदा नही किया जा सकता, केवल प्रयोजन भेदसे ही तत्त्व प्ररूपणाको दो भागोमे विभक्त किया गया है।

प्रथम प्ररूपणाके अनुसार जातिकी अपेक्षा द्रव्य छह है। वे अनादि अनन्त और अकृत्रिम है। उन्हीके समुच्चयका नाम लोक है। इसलिए जैन दर्शनमे लोक भी स्वप्रतिष्ठ और अनादि अनन्त माना गया है। छह द्रव्योंके नाम हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश। इनमेसे काल द्रव्य सत्स्वरूप होकर भी शरीरके समान बहु प्रदेशी नही है, इसलिए उसे छोडकर शेष पाँच द्रव्य अस्तिकाय माने गये है। पुद्गल द्रव्य शक्ति या योग्यताकी अपेक्षा बहु प्रदेशी माना गया है। सख्याकी अपेक्षासे जीव द्रव्य अनंत है, पुद्गल उनसे अनन्त गुणे हैं, धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य एक-एक है, और काल द्रव्य असंख्य है।

ये सब द्रव्य स्वरूप सत्ताकी अपेक्षा भिन्न-भिन्न हैं। फिर भी इन सबमें घटित हो ऐसा इनका एक सामान्य लक्षण है, जिस कारण ये सब द्रव्य पद द्वारा अभिहित किये जाते हैं। वह हैं—उत्पादव्ययध्रौव्य-युक्तं सत्। सद् द्रव्यलक्षणम्।[5] जो सत्स्वरूप हो वह द्रव्य है या सत्स्वरूप होना द्रव्यका लक्षण है। यहाँ सत् और द्रव्यमे लक्ष्य और लक्षणकी अपेक्षा भेद स्वीकार करनेपर भी वे सर्वथा दो नही है, एक हैं—चाहे

१. येषा च विरोधः शाश्वतिकः (२।४।१) इत्यस्यावकाश श्रमणब्राह्मणम्। पातञ्जलभाष्य।

२. प्रवचनसार गाथा २२६

३. पारवतमददमतृष्णओं खो समण शब्द पृ० १०८३

४. प्रवचनसार गा० २४०-४१

५. तत्वार्थसूत्र ५-२९-३०

सत् कहो या द्रव्य दोनोंका अर्थ एक है। इसी कारण जैनदर्शनमें अभावको सर्वथा अभावरूप न स्वीकार करके उसे भावान्तर स्वभाव स्वीकार किया गया है।[1]

नियम यह है कि सत्का कभी नाश नहीं होता और असत्का कभी उत्पाद नहीं होता। ऐसा होते भी वह (सत्) सर्वथा कूटस्थ नहीं है—क्रियाशील है[2] यही कारण है कि प्रकृतमें सत्को उत्पाद व्यय और ध्रौव्य रूपसे क्रियात्मक स्वीकार किया गया है। अपने अन्वय स्वभावके कारण जहाँ वह ध्रौव्य है वही व्यतिरेक (पर्यायरूप धर्मके कारण वही उत्पाद व्यय स्वरूप है।[3] इन तीनोंमें काल भेद नहीं है[4] जिसे हम नवीन पर्यायका उत्पाद कहते है यद्यपि वही पूर्व पर्यायका व्यय है, पर इनमें लक्षण भेद होनेसे ये दो स्वीकार किये गये है।[5] इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य एक ही कालमें क्रियात्मक है यह सिद्ध होता है।

इस क्रियात्मक द्रव्यमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य उसके ये तीनों ही अंश सत् हैं। इनमें कथंचित् अभेद है, क्योंकि तीनोंकी सत्ता एक है। जो तीनोंमेंसे किसी एककी सत्ता है वही अन्य दो की है। यह द्रव्यका सामान्य आत्मभूत लक्षण है। इससे प्रत्येक द्रव्य परिणामी नित्य है यह सिद्ध होता है, क्योंकि समय-समय जो उत्पाद व्यय होता है वह उसका परिणामीपना है और ऐसा होते हुए भी वह अपने ध्रुवरूप मूल स्वभावको नही छोडता, उसके द्वारा वह सदा ही उत्पाद व्यय रूप परिणामको व्यापता रहता है। यह उसकी नित्यता है। आगममे प्रत्येक द्रव्यको जो अनेकान्त स्वरूप कहा गया है उसका भी यही कारण है।

द्रव्यमें उत्पाद-व्यय ये कार्य हैं। वे होते कैसे हैं यह प्रश्न है—स्वयं या परसे। किसी एक पक्षके स्वीकार करनेपर एकान्तका दोष आता है, उभयतः स्वीकार करनेपर जीवका मोक्ष, स्वरूपमे कथंचित् स्वाश्रित है और कथंचित् पराश्रित है ऐसा मानना पड़ता है। जो युक्तियुक्त नहीं है। अतः वस्तुस्थिति क्या है यह विचारणीय है।

समाधान यह है कि किसी भी द्रव्यको अन्य कोई बनाता नहीं वह स्वयं होता है। अतः उत्पाद व्यय रूप कार्यको प्रत्येक द्रव्य स्वयं करता है। वही स्वयं कर्ता है और वही स्वयं कर्म है। करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण भी वही स्वयं है। अविनाभाव सम्बन्धवश उसकी सिद्धि मात्र परसे होती है, इसीलिये उसे कार्य (उपचार) का साधक कहा जाता है। परने किया यह व्यवहार है, परमार्थ नहीं, क्योंकि परने किया इसे परमार्थ माननेपर दो द्रव्योंमें एकत्वकी आपत्ति आती है जो युक्तियुक्त नही है। अतः प्रकृतमें अनेकान्त इस प्रकार घटित होता है।

उत्पाद-व्यय कथंचित् स्वयं होते है, क्योंकि वे द्रव्यके स्वरूप है। कथंचित् परसे होनेका व्यवहार है, क्योंकि अविनाभाव सम्बन्धवश पर उनकी सिद्धिमे निमित्त है।[6]

जैनधर्ममें प्रत्येक द्रव्यको स्वरूपसे जो स्वाश्रित (स्वाधीन) माना गया है उसका कारण भी यही है। जीवने परमे एकत्व बुद्धि करके अपने अपराधवश अपना भवभ्रमण रूप संसार स्वयं बनाया है।

---

१. भवत्यभवो हि भावधर्मः युक्त्यनु०।
२. प्रवचनसार गा० १०४
३. सर्वार्थसिद्धि—३०
४. प्रवचनसार गा० १०२
५. आप्तमीमांसा कारिका ५८
६. आप्तमीमांसा कारिका ७५

कर्मरूप पुद्गल द्रव्यका परिणाम उसके अज्ञानादि रूप संसारका कर्ता नही होता। पर-परको करे ऐसा वस्तु स्वभाव नहीं। वह स्वयं अज्ञानादि रूप परिणामको जन्म देता है, इसलिए स्वयं उसका कर्ता होता है। फिर भी इसके जो ज्ञानावरणादि रूप पुद्गल कर्मका बन्ध होता है उस सम्बन्धमें नियम यह है कि प्रति समय जैसे ही यह जीव स्वरूपसे भिन्न परमें एकत्वबुद्धि या इष्टानिष्ट बुद्धि करता है वैसे ही ज्ञानावरणादिरूप परिणमनकी योग्यता वाले पुद्गल स्कन्ध स्वयं उससे एक क्षेत्रावगाहरूप बन्धको प्राप्त होकर फल कालके प्राप्त होनेपर तदनुरूप फल देनेमें निमित्त होते है। जीव कर्मका यह बनाव अनादिकालमे निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धवश स्वयं बना चला आ रहा है। इसके अनादिमें निमित्त नही।

पहले जिन छह द्रव्योंका हम निर्देश कर आये है। उनमेंसे चार द्रव्य तो सदा ही अपने स्वभावके अनुकूल ही कायको जन्म देते हैं, शेष जो जीव और पुद्गल दो द्रव्य है उनमेंसे पुद्गलका स्वभाव तो ऐसा है कि वह कदाचित् स्वभावमें रहते हुए भी बन्धके अनुकूल अवस्थाके होनेपर दूसरे पुद्गलके साथ बन्धको प्राप्त हो जाता है और जब तक वह इस अवस्थामे रहता है तब तक वह अपनी इकाईपनेसे विमुख होकर स्कन्ध संज्ञासे व्यवहृत होता रहता है।

इसके अतिरिक्त जो जीव है उसका स्वभाव ऐसा नही है कि वह स्वयंको कर्मसे आबद्ध कर दुर्गतिका पात्र बने। अनादिसे वह स्वयको भूला हुआ है। उसकी इस भूलका ही परिणाम है कि वह दुर्गतिका पात्र बना चला आ रहा है। उसे स्वयंमे यही अनुभव करना है और उसके मूल कारणके रूपमे अपने अज्ञानभाव और राग-द्वेषको जानकर उनसे मुक्त होनेका उपाय करना है। यही एक मुख्य प्रयोजन है जिसे ध्यानमे रखकर जिनागममें तत्त्व प्ररूपणाका दूसरा प्रकार परिलक्षित होता है।

आत्मानुभूति, आत्मज्ञान और आत्मचर्या इन तीनो रूप परिणत आत्मा मोक्षमार्ग है। उनमे सम्यग्दर्शन मूल है। (दंसणमूलो धम्मो[1]) उसी प्रयोजनसे जीवादि नौ पदार्थ या सात तत्त्व कहे[2] गये हैं। इनमे आत्मा मुख्य है। विश्लेषण द्वारा उसके मूल स्वरूपपर प्रकाश डालना इस कथनका मुख्य प्रयोजन है। उसीसे हम जानते है कि मैं चिन्मात्र ज्योतिस्वरूप अखण्ड एक आत्मा हूँ। अन्य जितनी उपाधि है, वह सब मै नही हूँ। वह मुझसे सर्वथा भिन्न है। इतना ही नही, वह यह भी जानता है कि यद्यपि नर-नारकादि जीव विशेषतः अजीव, पुण्य, पाप आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष स्वरूप इन नौ पदार्थोंमे ही व्यापता हूं।[3] जीवनके रंग मंचपर कभी मै नारकी बनकर अवतरित होता हूँ तो कभी मनुष्य बनकर। कभी पुण्यात्माकी भूमिका निभाता हूँ तो कभी पापीकी आदि। इतना सब होते हुए भी मैं चिन्मात्र ज्योतिस्वरूप अपने एकत्वको कभी नही छोडता हूँ। यही वह संकल्प है जो इस जीवको आत्म स्वतन्त्रताके प्रतीक स्वरूप मोक्ष मार्गमे अग्रसर कर आत्माका साक्षात्कार करानेमे साधक होता है। ज्ञान वैराग्य सम्पन्न मोक्षमार्गके पथिककी यह प्रथम भूमिका है।

यह जीवोंके आयतन जानकर पाँच उदुम्बर फलों तथा मद्य, मांस और मधुका पूर्ण त्यागी होता है। इन्हें आठ मूल गुण[4] कहते है जो इसके नियममे होते हैं। साथ ही वीतराग देव, निर्ग्रन्थ गुरु और वीतराग

१. समयसार गा० १३
२. तत्त्वार्थसूत्र १-४
३. समयसार कलश ७
४. सागारधर्मामृत २-३

वाणी स्वरूप जिनागम इसके आराध्य होते[1] हैं। यह आजीविकाके ऐसे ही साधनोंको अपनाता है जिनमें संकल्पपूर्वक हिंसाकी सम्भावना न हो[2]।

दूसरी भूमिकाका श्रमणोपासक व्रती होता है। व्रत बारह हैं—पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत। यह इनका निर्दोष विधिसे पालन करता है। कदाचित दोषका उद्भव होनेपर गुरुकी साक्षीपूर्वक लगे दोषोंका परिमार्जन करता है और इनमें उत्तरोत्तर वृद्धि करते हुए उस भूमिका तक वृद्धि करता है जहाँ जाकर लंगोटी मात्र परिग्रह शेष रह जाता है।

तीसरी भूमिका श्रमण की है। यह महाव्रती होता है। यह बनमें जाकर गुरुकी साक्षीपूर्वक जिन व्रतोंको अंगीकार करता है उन्हें गुण कहते हैं। वे[3] २८ होते हैं—५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इन्द्रियजय, ६ आवश्यक और ७ शेष गुण, शेष गुण[4] जैसे—खड़े होकर दिनमें एक बार भोजन-पानी लेना, दोनों हाथोंको पात्र बनाकर लेना, केश लुंच करना, नग्न रहना आदि।

इनका जितना भी कार्य हो वह स्वावलम्बन पूर्वक हो किया जाय, मात्र इसीलिये ही यह हाथोंको पात्र बनाकर आहार ग्रहण करता है, हाथोंसे ही केशलुंच करता है। रात्रिमें एक करवटसे अल्प निद्रा लेता है।

यह सब इसलिए नहीं किया जाता है कि शरीरको कष्ट दिया जाय। शरीर तो जड़ है, कुछ भी करे उसे तो कष्ट होता ही नहीं, यदि कष्ट हो भी तो करने वालेको ही हो सकता है। किन्तु श्रमणका राग-द्वेषके परवश न होकर शरीरसे भिन्न आत्माकी सम्हाल करना मुख्य प्रयोजन होता है, इसीलिए वे सब क्रियाएँ उसे, जिन्हें हम कष्टकर मानते हैं, कष्टकर भासित न होकर अवश्य करणीय भासित होती हैं।

यह जैनधर्म—दर्शनका सामान्य अवलोकन है। इसे दृष्टिपथमें लेनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि इसका मुख्य प्रयोजन वेद, ईश्वर कर्तृत्व और यज्ञीय हिंसाका विरोध करना पूर्वमें कभी नहीं रहा है। इसके मूल साहित्य षट्खण्डागम, कषायप्राभृत, आ० कुन्दकुन्द द्वारा रचित साहित्य, मूलाचार, रत्नकरण्डश्रावकाचार, भगवती आराधना आदिपर दृष्टिपात करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है। इसलिए जो मनीषी इस सुधारवादी धर्म कह कर इसे अर्वाचीन सिद्ध करना चाहते हैं, जान पड़ता है वस्तुतः उन्होंने स्वय अपने धर्म ग्रन्थोंका हो ठीक तरहसे अवलोकन किये बिना अपना यह मत बनाया है। उन्हें यह नहीं भूलना चाहिए कि जो वर्तमानमें भारतीय सस्कृतिका स्वरूप दृष्टिगोचर होता है उसे न केवल ब्राह्मण या वैदिक संस्कृति कहा जा सकता है और न तो श्रमण सस्कृति कहना उपयुक्त होगा। यह एक ऐसा तथ्य है जिसे स्वीकार कर लेनेपर श्रमण संस्कृतिसे अनुप्राणित होकर भारतीय संस्कृतिमें जो निखार आया है उसे आसानीसे समझा जा सकता है।

इससे जिन तथ्योंपर विशेष प्रकाश पड़ता है वे हैं—

१. इसमें सदासे प्रत्येक द्रव्यका जो स्वरूप स्वीकार किया गया है उसके अनुसार जड, चेतन प्रत्येक द्रव्यमें अर्थक्रियाकारीपना सिद्ध होनेसे ही व्यतिरेक रूपमें ही परकर्तृत्वका निषेध होता है।

---

१. रत्नकरण्डश्रावकाचार ४

२. सागारधर्मामृत १-१४

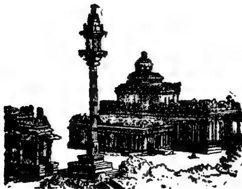
३. वही अ० ४

४. प्रवचनसार गा० २०४-२०९

२. व्यक्तिके जीवनमें वीतरागता अर्जित करना मुख्य है। अहिंसा आदि उसके बाह्य साधन हैं। मात्र इसीलिए जैनधर्ममें अहिंसा आदिको मुख्यता दी गई है। यज्ञादि विहीन हिंसाका निषेध करना इसका मुख्य प्रयोजन नहीं है। जीवनमें अहिंसाके स्वीकार करनेपर उसका निषेध स्वयं हो जाता है।

ये कतिपय तथ्य हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सुधारवादकी दृष्टिसे जैनधर्मकी संरचना नहीं हुई है। किन्तु भारतीय जनजीवनपर जैन संस्कृतिकी अमिट छाप अवश्य है यह माना जा सकता है। और यह स्वाभाविक भी है। जो पड़ोसी होते हैं उनमें आदान प्रदान न हो यह नहीं हो सकता।





केवली जिन कवलाहार नहीं लेते

नियमसारकी गाथा ६ और ७ में बतलाया है कि "जो क्षुधा, तृषा, भय, रोष, राग, मोह, चिन्ता, जरा, रोग, मृत्यु, स्वेद, खेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा, जन्म और उद्वेग इन सब दोषोंसे रहित है तथा केवलज्ञान आदि परम वैभवसे युक्त है वह परमात्मा[१] है।"

आचार्य समन्तभद्रने भी रत्नकरण्डश्रावकाचारमें उच्छिन्नदोषके विश्लेषण द्वारा परमात्माका लक्षण[२] करते हुए इसी बातको दुहराया है।

(१) कुछ विद्वानोंका कहना है कि ९ वीं शताब्दीके पूर्व अन्य ग्रन्थोंमें रत्नकरण्डश्रावकाचारके उल्लेख नहीं पाये जाते। इसलिये यह ग्रन्थ समन्तभद्र स्वामीका न होकर किसी अन्य समन्तभद्रका है।

(२) एक यह भी दलील दी जाती है कि जब समन्तभद्र स्वामीने 'आप्तेनोच्छिन्न' इत्यादि श्लोक द्वारा आप्तका स्वरूप कह दिया और वहाँ यह भी बतला दिया कि इन बातोंको छोड़ कर अन्य प्रकारसे आप्तपना नहीं प्राप्त होता तो फिर इस दूसरे लक्षणकी क्या आवश्यकता थी, इससे तो 'वदतो व्याघात' दोष आता है।

(३) एक यह भी दलील दी जाती है कि समन्तभद्र स्वामीने अन्यत्र आप्तके विषयमें पर्याप्त विचार किया है वहाँ उसे इन क्षुधादि दोषोंसे रहित क्यों नहीं बतलाया? इससे भी ज्ञात होता है कि आप्त क्षुधादि दोषोंसे रहित होता है यह मान्यता साम्प्रदायिक है और पीछे से गढ़ी गई है।

ये तीन दलीलें हैं जिनपर प्रसंगवश संक्षेपमें विचार कर लेना आवश्यक है।

प्रथम दलीलका उत्तर

(१) सन्मतिके कर्ता सिद्धसेनके द्वात्रिंशतकामें रत्नकरण्डका "आप्तोपज्ञ—" यह श्लोक पाया जाता है, इससे ज्ञात होता है कि सिद्धसेनके सामने रत्नकरण्ड था। ये आचार्य सातवी शताब्दीके विद्वान् हैं।

(२) सर्वार्थसिद्धिके कर्ता पूज्यपादके सामने समन्तभद्र स्वामीके जो ग्रन्थ रहे उनमें रत्नकरण्डश्रावकाचार भी है। यहाँ दो चार ऐसे प्रमाण दिये जाते हैं जिससे इस विषय की पुष्टि हो—

(३) पूज्यपादने जो नयका सामान्य[३] लक्षण किया है उस लक्षणको करते समय उनके सामने आप्तमीमांसा रही[४] है।

(४) तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ९ सूत्र १ की सर्वार्थसिद्धि टीकामें जो 'तीर्थाभिषेकदीक्षाशीर्षोपहारदेवताराधनादयः, यह पंक्ति लिखी गई है सो यह पंक्ति लिखते समय स्वामी समन्तभद्रकृत युक्त्यनुशासनका यह श्लोक सामने अवश्य रहा है—

'शीर्षोपहारादिभिरात्मदुःखैर्देवान् किलाराध्य सुखाभिगृद्धाः।'

---

१. देखो कुन्दकुन्द कृत नियमसार।

२. देखो रत्नकरण्डश्रावकाचार ६ वाँ श्लोक।

३. देखो सर्वार्थसिद्धि १, ३३।

४. देखो १०६ श्लोक।

इन व ऐसे ही अन्य प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि स्वामी समन्तभद्रके ग्रन्थ आ० पूज्यपादके सामने रहे है तब भी उन्होंने उन ग्रन्थोंमेसे कोई श्लोक उद्‌धृत नही किया है। ठीक यही अवस्था रत्नकरण्डश्रावकाचारकी रही है। यह ग्रन्थ पूज्यपाद स्वामीके समक्ष अवश्य था जिसके कुछ प्रमाण इस प्रकार हैं—

पूज्यपादने तत्त्वार्थसूत्र अध्याय सात सूत्र १ की व्याख्या लिखते हुए यह वाक्य लिखा है—

'व्रतमभिसन्धिकृतो नियमः।'

यह वाक्य रत्नकरण्डश्रावकाचारके इस श्लोकके आधारसे लिखा गया है—

'अभिसन्धिकृता विरतिर्विषयाद्योग्याद्व्रतं भवति।'

पूज्यपादने तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ७ सूत्र २२ की व्याख्यामें जो अनर्थदण्डोंका स्वरूप लिखा है सो वह स्वरूप लिखते समय उनके सामने रत्नकरण्डश्रावकाचारके अध्याय ३ के ३० से लेकर ३४ तकके श्लोक रहे है।

इन प्रमाणोंके रहते हुए यह कहना निःसार है कि '९ वी शताब्दिके पहलेके ग्रन्थोंमे रत्नकरण्डश्रावकाचारके उल्लेख नही पाये जाते, अतः इसके कर्ता समन्तभद्र स्वामी नही है।'

हमने जो प्रमाण दिये है उनसे स्पष्ट है कि इसके कर्ता समन्तभद्र स्वामी ही हैं। इतना ही नही किन्तु यह ग्रन्थ पूज्यपाद और उनके बाद हुए सिद्धसेनके सामने रहा है।

द्वितीय दलीलका उत्तर

आप्तका पहला लक्षण कहते समय उसमे 'उच्छिन्नदोष' यह भी विशेषण है अतः अगले श्लोक द्वारा वे दोष गिना दिये गये है और उनसे जो रहित है वह आप्त है यह बतला दिया है। इस प्रकार यह दूसरा लक्षण पहले लक्षणका पूरक ही है। इस दूसरे श्लोक द्वारा कुछ आप्तका अन्य प्रकारसे लक्षण नही किया गया है।

तीसरी दलीलका उत्तर

स्वामी समन्तभद्रने आप्तके स्वरूपका विचार करनेके लिये 'आप्तमीमासा' लिखी है। आप्तका मुख्य अर्थ है अरहन्त देव। इसलिये अरहन्तदेवकी स्तुतिमे अरहन्तके शरीर और आत्मा दोनोंकी स्तुति आ जाती है। रत्नकरण्डश्रावकाचारमे इन दोनों बातोंको ध्यानमे रखकर दोष गिनाये गये है और उन दोषोसे रहित आप्तको बतलाया है। परन्तु आप्तमीमासामें शरीरकी स्तुतिको अरहंतकी स्तुति न मान कर शरीरातिशयों द्वारा यह कह कर कि ये शरीरातिशय[1] तो रागी देवोंमे भी देखे जाते है, आप्तताको अस्वीकार कर दिया है। पर इससे यह बात तो फलित हो ही जाती है कि समन्तभद्र स्वामी की यह दृष्टि रही है कि आप्तके शरीरमे विशिष्ट अतिशय होते हैं। 'भीतरी और बाहिरी ये शरीरादिकके अतिशय दिव्य है और सही हैं' उनके इस कथनसे क्या इसकी पुष्टि नही हो जाती अर्थात् अवश्य हो जाती है। समन्तभद्र क्षुधादि दोषोसे रहित आप्त को अवश्य मानते है यही इसका भाव है।

इस कथनसे स्पष्ट हो जाता है कि अन्यत्र जहाँ भी समन्तभद्र स्वामीने आप्तकी मीमांसाकी है वहाँ आप्तको क्षुधादि दोषोंसे रहित सर्व प्रथम स्वीकार कर लिया है और उसके बाद ही उन्होंने आप्तके आत्मिक गुणोंका विश्लेषण किया है। आप्तमीमांसाके १ से लेकर ६ श्लोक देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उन श्लोकोंके व रत्नकरण्डश्रावकाचारमें वर्णित आप्तके स्वरूपके प्रतिपादक श्लोकोंके रचयिता एक ही व्यक्ति हैं। रत्नकरण्डश्रावकाचार आचार ग्रन्थ होनेसे उसमे वर्णनात्मक दृष्टि रही है और आप्तमीमासा दर्शन ग्रन्थ होनेसे उसमें विश्लेषणात्मक दृष्टि रही है।

---

१. देखो आप्तमीमांसा श्लोक २।

अब इस तीसरी दलीलके अन्तर्गत दो बातोंका और विचार करना है। पहली यह कि यह मान्यता साम्प्रदायिक है और दूसरी यह कि यह मान्यता पीछेसे गढ़ी गई है। सो जब आचार्य कुन्दकुन्द और समन्तभद्र जैसे प्राचीन आचार्योंने आप्तको क्षुधादि दोषोंसे रहित माना है तब यह तो कहा नही जा सकता कि यह मान्यता पीछेसे गढी गई है।

अब रही साम्प्रदायिक दृष्टिकी बात सो हम इसका आगे ही विचार करने वाले है, कि क्या इसके पीछे कोई आध्यात्मिक पृष्ठभूमि है या सम्प्रदाय विशेषने ही इसे खड़ा कर दिया है।

इस प्रकार तीनों दलीलोंका संक्षेपमे उत्तर हुआ।

अब प्रतिज्ञानुसार केवली क्षुधादि दोषोंसे रहित होते हैं इसकी आध्यात्मिक पृष्ठभूमि क्या है उसका विचार करते है।

जीवकाण्डमे बतलाया है कि पृथ्वी[1], जल, अग्नि, वायु, केवली, आहारक, देव और नारकी इनके शरीरमे निगोदिया जीव नही रहते। इनका शरीर निगोदियोसे अप्रतिष्ठित है।

केवली जिनका शरीर निगोद जीवोंसे रहित है इसकी पुष्टि षट्खण्डागमके मूल सूत्रोसे भी होती है। वहाँ बतलाया है कि बारहवे गुणस्थानमें सब निगोद जीवोंका अभाव हो जाता है। अभाव होनेका क्रम यह है कि 'क्षीणमोह गुणस्थानके पहले समयमें भी निगोदिया जीव मरते है, दूसरे समयमे भी मरते है, तीसरे समयमें भी। इस प्रकार क्षीणमोहके अन्तिम समय तक निरन्तर मरते रहते है। पहले समयमे मरने वाले अनन्त जीव है, दूसरे समयमे भी मरनेवाले अनन्त जीव है। क्षीणमोहके अन्तिम समय तक यही क्रम जानना चाहिये'। यथा—

'अत्थि खीणकसायपढमसमए मदजीवा। विदियसमए मदजीवा वि अत्थि। तदियसमए मरंतजीवा वि अत्थि एवं णेयव्वं जाव खीणकसायचरिमसमओ त्ति। खीणकसायपढमसमए मदजीवा केत्तिया ? अणंता। विदियसमए मदजीवा केत्तिया ? अणंता। एवं णेयव्वं जाव खीणकसायचरिमसमओ त्ति।'

यहाँ निगोद जीवोंका प्रकरण होनेसे केवल उनका ही निषेध किया है। फलितार्थ यह है कि केवली जिनका शरीर त्रस और स्थावर सब प्रकारके जीवोंसे रहित है। इसका यह अभिप्राय है कि केवली जिनके शरीरमे केवल वे ही तत्त्व रहते है जिनमे जीव पैदा नही होते। वे सब तत्त्व नष्ट हो जाते है जिनमें त्रस और स्थावर जीव पैदा होते रहते है। आहार पानीका लेना और उनसे मल, मूत्र, कफ, पित्त आदिका बनना ये ऐसे तत्त्व है जिनमे निरन्तर त्रस और स्थावर जीव पैदा होते रहते हैं। इसलिये केवली जिनके शरीरमें निगोदिया जीव नही होते इस मान्यता द्वारा पर्यायान्तरसे केवलीके भूख, प्यास और मल-मूत्र आदि दोषोंका ही निषेध किया है। हम संसारी जीवोंके शरीरमें त्रस और निगोदिया जीव भरे पडे है। वे निरन्तर शरीरका शोषण कर रहे है, जिससे शरीरमे उष्णता पैदा होकर आहार पानीकी आवश्यकता पडती है। पर केवलीके शरीरमे इस प्रकारकी उष्णताका कारण नही रहा। उनके शरीरका शोषण अब अन्य त्रस व निगोदिया जीवोंके कारण नही होता, अतः शरीरमे आन्तर उष्णता पैदा होकर उनके शरीरका अपक्षय नही होता। और इसलिये प्रति समय उनके शरीरके जितने परमाणु निर्जीर्ण होते है उतना नवीन परमाणुओका ग्रहण हो जानेसे कवलाहारके बिना भी उनके शरीरकी स्थिति बनी रहती है। जिस प्रकार कर्म वर्गणाओंके आने और जानेसे

१. देखो जीवकाण्ड गाथा २००।

कार्मण शरीरकी स्थिति होती है उसी प्रकार अब उनके नोकर्म वर्गणाओंके आने और जानेसे शरीरकी स्थिति होती है । इस प्रकार आध्यात्मिक पृष्ठभूमिसे विचार करने पर भी यही ज्ञात होता है कि केवली जिन क्षुधादि दोषोंसे रहित है इसलिये वे कवलाहार नही लेते ।

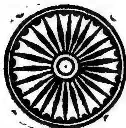
यहाँ एक शंका की जाती है कि जब केवलीके क्षुधादि दोष नहीं होते तो तत्वार्थसूत्रमें उनके क्षुधादि ग्यारह परीषह क्यों बतलाई गई हैं ?

बात यह है कि केवलीके वेदनीयका उदय माना जाता है, इसलिये कारणमें कार्यका उपचार करके केवलीके ग्यारह परीषह बतलाई है ।

अब प्रश्न यह होता है कि क्या अन्यत्र भी तत्त्वार्थसूत्रकारने उपचारसे कथन किया है ?

तत्त्वार्थसूत्रकारने एकाग्रचिन्ता निरोधको ध्यान कहा है । ध्यानका यह लक्षण शुक्ल ध्यानके पहले दो भेदोंमें घटता है, अन्तिम दो भेदोंमें नहीं, क्योंकि तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें चिन्ता ही नहीं रहती फिर निरोध किसका । तब भी ध्यानका कार्य कर्मक्षय देख कर तत्त्वार्थसूत्रकारने जिस प्रकार तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें ध्यानका उपचारसे कथन किया है उसी प्रकार केवलीके ग्यारह परीषहोंका कथन भी उपचारसे जानना चाहिये।

एक बात और है वह यह कि जो भाई सर्वथा यह समझते हैं कि असाताके उदयसे भूख प्यास लगती है उनका ऐसा समझना गलत है । भूख व प्यास अपने कारणोंसे उत्पन्न होती हैं । हाँ भूख व प्यासमें असाता वेदनीयकी उदीरणा निमित्त हो सकती है, पर उनके असाता-वेदनीयकी उदीरणा नही होती क्योंकि उसकी उदीरणाकी व्युच्छित्ति ६वें गुणस्थानके अन्तिम समयमें हो जाती है । इसलिये उनको भूख प्यासकी बाधा नही होती । हम संसारी जीवोंकी शरीर स्थिति भिन्न प्रकारकी है और केवली जिनके भिन्न प्रकारकी, अतः यही निष्कर्ष निकलता है कि उन्हें हम संसारी जनोंके समान कवलाहारकी आवश्यकता नही पड़ती ।



षट्कारक-व्यवस्था

आचार्यकल्प पं० टोडरमल जी निश्चय षट्कारकके सम्बन्धमें स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि षट्कारक-रूप परिणमना प्रत्येक वस्तुका अपना स्वभाव है। यथा—

स्वाश्रित स्वरूप षट्कारक विचारौ ऐसे।
निश्चयकरि आनकौ विधान न बखानिए॥

लोकमें जीवादि जितने भी द्रव्य हैं उनमेंसे प्रत्येक द्रव्यमें कर्ता, कर्म आदि छह कारक रूप शक्तियाँ होती ही है। उनसे जीवादि द्रव्योंका अभेद स्वीकार करके उन द्वारा कार्य द्रव्यको स्वीकार करना स्वाश्रित कथन है। प्रत्येक द्रव्य प्रति समय ऐसा ही है। इसलिए प्रकृतमें इसे स्वीकार करने वाला विकल्प और वचन निश्चयनय कहलाता है। निश्चयनय वस्तुके स्वरूपको स्वीकार करता है और उसमें पर रूपका निषेध करता है। इसलिए उस द्वारा परसापेक्ष कथनका निषेध होना स्वाभाविक है। क्योंकि जिस प्रकार निश्चय कथनका विषय वस्तुस्वरूप होनेसे यथार्थ संज्ञाको धारण करता है, उस प्रकार परसापेक्ष कथनका विषय वस्तु स्वरूप न होनेसे; अतएव उपचरित होनेसे यथार्थ संज्ञाको नहीं धारण कर सकता। यही कारण है कि पंडितजी ने इस तथ्यको ध्यानमें रखकर 'निश्चय करि आनकौ विधान न बखानिए' यह वचन कहा है।

'जैन दर्शनमें कार्य-कारण भाव और कारक व्यवस्था' में लेखकका कथन है—इसका यह तात्पर्य है कि कार्योत्पत्तिमें निमित्त कारण अकिंचित्कर होकर व्यवहारनयका विषय नहीं होता है, किन्तु स्वयं (आप) कार्य रूप-परिणत न होकर उपादानका सहायक होनेके आधार पर व्यवहारनयका विषय होता है।'

यहाँ पर इसके पूर्व निश्चयनय और व्यवहारनयके कतिपय भेदोंका निर्देश करके व्यवहारनयका एक लक्षण यह भी लिखा है (पृ० १८४)—'और वस्तुकी परतः सिद्धि या पराश्रित स्थिति ग्रहण करनेवाला व्यवहारनय होता है।'

निश्चय ही इस लक्षणको लिखते समय लेखककी दृष्टि असद्भूत व्यवहारनय पर रही होगी। इसलिए आगम प्रसिद्ध असद्भूत व्यवहारनयके लक्षणका निर्देश कर उक्त लक्षणकी समीक्षा करनी होगी। 'आलाप पद्धतिमें असद्भूत व्यवहारनयका यह लक्षण उपलब्ध होता है—

अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्य अन्यत्र समारोपणम्—सद्भूतव्यवहारः। असद्भूतव्यवहार एव उपचारः।

अन्य वस्तुमें प्रसिद्ध धर्मका अन्य वस्तुमें समारोप करना असद्भूत व्यवहार है और असद्भूत व्यवहारका नाम ही उपचार है।

इसका यह अर्थ है कि जब विवक्षित किसी एक वस्तुके धर्मका अविनाभाव या बाह्य व्याप्तिवश अन्वय-व्यतिरेकको सूचित करने वाली कालप्रत्यासत्तिको लक्ष्यमें रखकर दूसरी वस्तुमें समारोप कर उस द्वारा विवक्षित वस्तुकी प्रसिद्धि की जाती है, तब वह असद्भूत व्यवहारनयका विषय होता है। यथा—

कुम्भकार घटकार्यका कर्त्ता निमित्त है यह कहना और ऐसा ही विकल्प असद्भूत व्यवहारनयका विषय है।

यहाँ कुम्भकार स्वतन्त्र वस्तु है और मिट्टी स्वतन्त्र वस्तु है। दोनों ही अपनी-अपनी षट्कारक रूप शक्तियोंसे युक्त हैं। इसलिए बाह्यव्याप्तिवश मिट्टीके कर्तृत्व धर्मका कुम्भकारके कर्तृत्व धर्ममें समारोप कर यह वचन कहा गया है कि कुम्भकारने घटकार्यको किया।

यहाँ कुम्भकारका वास्तविक कार्य योग और विकल्प है तथा मिट्टीका वास्तविक कार्य घटपरिणाम है। यह वस्तुस्थिति है। किन्तु इस वस्तुस्थितिको गौण कर व्यवहारी जन बाह्य व्याप्तिवश ऐसा विकल्प करते हैं कि 'कुम्भकारने घट बनाया' जो असद्भूत होनेसे उपचरित ही है। पराश्रित कथन इसीका दूसरा नाम है। कोई भी वस्तु स्वरूपसे पराश्रित नहीं हुआ करती, अन्यथा किसी भी वस्तुको स्वरूपसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक नहीं सिद्ध किया जा सकता। जैसे वस्तुका ध्रुवपना स्वरूप है, वैसे ही उसका उत्पाद और व्यय भी स्वरूप है। इसलिए कौन वस्तु कब क्या है? इसकी सिद्धिका बाह्य-व्याप्ति या कालप्रत्यासत्तिवश जब जो हेतु बनता है तब उसमें विवक्षित अन्य वस्तुके कर्तृत्व आदि धर्मोंका आरोप कर वैसा व्यवहार किया जाता है। यहाँ उक्त प्रकारके व्यवहार करनेका अन्य कोई प्रयोजन नहीं है।

इस प्रकार इतने विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखकने व्यवहारनय सामान्य शब्द रख कर अपने विकल्पके अनुसार असद्भूतव्यवहारनयका जो पूर्वोक्त लक्षण कल्पित किया है, वह आगमबाधित है। युक्ति और अनुभवसे विचार करने पर भी उसमें बाधा आती है। खुलासा पहले कर ही आए हैं। यद्यपि व्यवहार नयसे वस्तुको पराश्रित कहा जाता है। किन्तु व्यवहारनयका लक्षण क्या है? जिसे ध्यानमें रख कर वस्तुको पराश्रित कहा जाता है। इसको ध्यानमें न लेकर पहले उन्होंने प्रत्येक वस्तुकी पराश्रित स्थितिको यथार्थमें स्वीकार किया और फिर उसे ग्रहण करने वाले नयको व्यवहारनय कहा। यहीं उनकी विपरीत मान्यता है। असद्भूत व्यवहारनयका कहाँ आगम सम्मत लक्षण और कहाँ व्याकरणाचार्य द्वारा कल्पित लक्षण इन दोनोंमें कितना अन्तर है? इस पर आगमाभ्यासियोंको ध्यान देना चाहिए।

इस प्रकार आगम प्रसिद्ध व्यवहारनयके लक्षणको साक्षी रख कर विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि पर वस्तु अन्य वस्तुके कार्यमें वास्तविक रूपसे सहायक नहीं हुआ करती, किन्तु बाह्य व्याप्तिवश उसमें अन्यके कार्यमें सहायक होनेका व्यवहार किया जाता है। इस लिए वह अपनेसे भिन्न अन्य वस्तुका कार्य करनेमें स्वरूपसे असमर्थ होनेके कारण उस अन्य वस्तुके कार्यके प्रति अकिंचित्कर ही होती है। क्योंकि जिस समय मिट्टी अपने क्षेत्रमें अपनी परिणाम शक्ति द्वारा घट परिणाम को करती है, उसी समय कुम्भकार उससे बाह्य अपने क्षेत्रमें योग और विकल्पको करता है। इस प्रकार इन दोनोंमें प्रतिविशिष्ट कालप्रत्यासत्ति होनेसे मिट्टीने घट कार्यको किया, इस निश्चयकी प्रसिद्धिका हेतु हो, तभी कुम्भकारमें घटके कर्तापनेका व्यवहार करना बनता है। दूसरी वस्तुके कार्यमें यथार्थ सहायक होनेसे नहीं। वास्तवमें कोई भी अन्य वस्तु अपनेसे भिन्न दूसरी वस्तुके कार्यमें सहायता नहीं करती, यह परमार्थ सत्य है। इस परमार्थ सत्यका अपलाप न हो, इस दृष्टिको सामने रख कर ही व्यवहार नयके वक्तव्यकी स्थिति स्पष्टकी जानी चाहिए। इससे भिन्न अन्य प्रकारसे जितना भी लिखा जाता है, उसकी असत्यकी कोटिमें ही परिगणना होती है।

यह निश्चय षट्कारकका संक्षिप्त विवरण है। व्यवहार षट्कारकका स्वरूप निर्देश करते हुए पंडितजीने व्यवहारसे जिनदेव, गणधरदेव, नेमिचन्द सिद्धान्तचक्रवर्ती आदिको गोम्मटसार ग्रन्थका कर्ता कहा है। जो ग्रन्थरूप कार्य हुआ उसे कर्म कहा है। इस कार्यके होनेमें जो सहायक हुए उन्हें करण कहा है। भव्योंके लिए इसकी रचना हुई, अतः उसे सम्प्रदान कहा है। अन्य कार्योंसे निवृत हो इसकी रचनाकी, अतः इन दोनोंका आधार एक होनेसे उसे अपादान कहा है और जिस स्थान पर इसकी रचना हुई, उसे अधिकरण कहा है। यह व्यवहार षट्कारक व्यवस्था है।

यहाँ इसे व्यवहार षट्कारक इसलिए कहा गया है कि वस्तुतः स्वयंसिद्ध श्रुत ही आप कर्ता होकर परिणाम शक्ति युक्त अपने द्वारा जिन शासन रूप प्रयोजनके लिए अपने अन्य कार्यसे निवृत होकर अपनेमें गोम्मटसार रूप कर्मको जब प्राप्त हुआ, तब प्रतिविशिष्ट कालप्रत्यासत्तिवश अन्य जिस-जिसमें जिस रूपसे व्यवहार हेतुता कल्पितकी गई, उस-उसमे कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण रूपसे स्वीकार की गई है। इस प्रकार एक कालमें निश्चय षट्कारकके साथ व्यवहार षट्कारककी व्यवस्था बन जानेसे स्वामी समन्तभद्रने यह वचन कहा है—

बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयम् । कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः ॥

'अर्थात् लोकमें जितने भी कार्य होते हैं, उन सबमें बाह्य और अभ्यन्तर उपाधिकी समग्रता पाई जाती है। यह द्रव्यगत स्वभाव है।

यहाँ उपादान कारण और बाह्य निमित्त दोनोंको उपाधि कहा गया है। साथ ही यह भी बतलाया है कि यह द्रव्यगत स्वभाव है कि प्रत्येक द्रव्यका जब जो कार्य होता है, उसमे बाह्य और अभ्यन्तर उपाधिकी समग्रता नियमसे पाई जाती है। इस प्रकार प्रत्येक कार्य और उसकी बाह्य-अभ्यन्तर सामग्री इन तीनोंकी युगपत् प्राप्ति प्रत्येक समयमे होती रहती है; ऐसी वस्तु व्यवस्था है। इसमेंसे किसी एककी प्राप्ति हो और दूसरेकी न हो, ऐसा नही है। क्योंकि इनमें परस्पर अविनाभाव स्वीकार किया गया है। उसमें भी उपादान-उपादेयभावके विषयमे क्रमभावी अविनाभावका निर्देश करते हुए स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षामे यह वचन दृष्टिगोचर होता है—

कारण-कज्जविसेसा तीसु वि कालेसु होंति वत्थूणं ।
एक्केक्कम्मि य समये पुव्वुत्तरभावमासिज्ज ॥२२३॥

वस्तुके पूर्व और उत्तर परिणामको लेकर तीनों ही कालोंमेंसे प्रत्येक समयमें कारण-कार्य भाव होता है।

यहाँ उपादान—उपादेय रूपसे कारण कार्यभावका निर्देश किया गया है। इसी तथ्यका निर्देश करते हुए 'प्रमेयरत्नमाला'में यह वचन आया है—

"अव्यवहितपूर्वोत्तरक्षणयोः हेतु-फलभावदर्शनात् ।"

अव्यवहित पूर्व और उत्तर क्षणमें क्रमसे हेतुभाव और फलभाव देखा जाता है।

अब प्रश्न यह है कि जब पूर्व क्षणका ध्वंस (व्यय) होकर ही उत्तर क्षणकी उत्पत्ति होती है, तो उन दोनोंमे कारण-कार्यपना क्यों स्वीकार किया गया है। क्योंकि जब पूर्व क्षणका सद्भाव है, तब उत्तर क्षण नहीं पाया जाता और जब उत्तर क्षण पाया जाता है तब पूर्व क्षणका अभाव रहता है। ऐसी अवस्थामें पूर्वक्षणने उत्तरक्षणको उत्पन्न किया, ऐसा कैसे कहा जा सकता है ?

इसका समाधान यह है कि पूर्व क्षण और उत्तर क्षण इन दोनोंमे अविनाभाव सम्बन्धवश परस्पर कारण-कार्यभाव स्वीकार किया गया है। और इसी आधारपर उपादान कारणको अपने उपादेय (कार्य) का नियामक स्वीकार किया गया है। इतना अवश्य है कि नैगमनयसे उपादान और उपादेयमें कालकी अपेक्षा अभेद स्वीकार कर उपादानको उपादेयका जनक कहा गया है। ऋजुसूत्रनयसे विचार करनेपर प्रत्येक कार्य

अपने कालमें स्वयं होता है, ऐसी वस्तु व्यवस्था है। यही कारण है कि कारण और कार्यका लक्षण करते समय आचार्योंने यह वचन कहा है—

यदनन्तरं यद् भवति तत् तस्य कारणम्, इतरत् कार्यम्।

जो जिसके बाद होता है वह कारण है और जो होता है वह कार्य है।

कारण—कार्यका यह लक्षण जहाँ द्रव्य-भावप्रत्यासत्तिवश उपादान-उपादेयमें घटित हो जाता है, वहाँ प्रतिविशिष्ट काल प्रत्यासत्तिवश बाह्य सामग्री और उसको निमित्त कर होने वाले कार्यमें भी घटित हो जाता है। सर्वत्र प्रत्येक कार्यके प्रति जो व्यवहार हेतुको स्वीकार किया गया है, वह भी इसी आधारपर ही स्वीकार किया गया है। वह अन्यके कार्यमें वास्तवमें सहायक होता है या उसमें अतिशय उत्पन्न करता है, इस आधार-पर नहीं। आगे इस विषयका विशेष रूपसे स्पष्टीकरण करेंगे।

शंका—चारों अनुयोग द्वादशाग श्रुतके आधारपर निबद्ध हुए हैं। ऐसी अवस्थामें आप द्रव्यानुयोग द्वारा प्ररूपित निश्चयनयके विषयको ही यथार्थ क्यों मानते हो? चरणानुयोग और कारणानुयोग जो कि मुख्य रूपसे कर्म और शुभाचारका कथन करते हैं, उनके इस कथनको यथार्थ क्यों नहीं मानते?

समाधान—ज्ञानावरणादि कर्म है और शुभाचार भी है, वे दोनों वास्तविक हैं, वे असद्भूत नहीं हैं। किन्तु ज्ञानावरणादिको जीवका कार्य कहना यह असद्भूत है। क्योंकि जीव शुभ, अशुभ या शुद्ध जिस परिणाम-को करता है वह जीवका कर्म (कार्य) है और जीवके उन शुभ और अशुभ भावोंको निमित्त कर जो कार्मणवर्ग-णाएँ स्वयं ज्ञानावरणादि परिणामको प्राप्त होती है, वह पुद्गलका कर्म (कार्य) है। इसी तथ्यको समयसार कलशमें इन शब्दोंमें स्पष्ट किया है—

यदि पुद्गल कर्मको जीव नहीं करता, तो फिर उसे कौन करता है? ऐसी आशंका होनेपर तीव्र वेग-वाले मोहका नाश करनेके लिए आचार्य कहते है कि सुनो! पुद्गल ही अपने ज्ञानावरणादि कर्मका कर्ता है।

यह वस्तुस्थिति है। कर्मशास्त्र भी ज्ञानावरणादिको पुद्गलमय ही प्ररूपित करता है। फिर भी उसे जीवका कार्य कहना यह असद्भूत होनेसे उपचरित है।

इसी प्रकार शुभ या अशुभ जितने भी भाव होते है, वे जीवके ही भाव हैं। जीव ही परके लक्ष्यसे स्वयं ही उन्हें उत्पन्न करता है। यह कथन सद्भूत है। फिर भी शुभाचारको मोक्षमार्ग कहना यह असद्भूत होनेसे उपचरित है, क्योंकि शुभाचारसे सम्यग्दर्शनादिरूप स्वभाव पर्याय भिन्न है और उसकी उत्पत्ति भी स्वभावकी अराधना द्वारा तन्मय होनेपर ही होती है, शुभाचार और उनके बाह्य निमित्तोंको सतत लक्ष्यमें रखनेसे नहीं।

शंका—निश्चयनयके समान व्यवहार नयकी परिगणना श्रुतज्ञानमें की जाती है। इसलिए उसका विषय असद्भूत कैसे हो सकता है?

समाधान—वह उपचरितको उपचरित रूपमे ही जानता है, इसलिए असद्भूत अर्थ उसका विषय बन जाता है। उदाहरणार्थ—'ज्ञानावरणादि कर्मका कर्ता जीव है' यह उपचरित कथन है, व्यवहारनयसे ऐसा कहा जाता है। बाधा तो इसे यथार्थ माननेमे है। क्योंकि परमार्थसे वह जीवका कार्य न होकर पुद्गलका ही कार्य है और इसीलिए निश्चयनय इस कथनको अपरमार्थरूप होनेसे उसका निषेध ही करता है।

शंका—जीवके राग, द्वेष, मोह और योगकी सहायतासे पुद्गलने ज्ञानावरणादिरूप कार्य किया, ऐसा मानना तो यथार्थ है?

समाधान—सहायता और सहयोग ये पर्यायवाची नाम हैं। इसका इतना ही अर्थ है कि प्रत्येक कार्यमे बाह्य और आभ्यन्तर सामग्रीकी समग्रता नियमसे होती है। इससे अधिक इस शब्दका जो भी अर्थ किया जाता है वह केवल कल्पनाका विषय है, यथार्थ नही। समयसार गाथा ८४ की आत्मख्याति टीकामें कुम्भकारको कुम्भकी उत्पत्तिके अनुकूल व्यापार करने वाला तब कहा गया है जब मिट्टी और कुम्भकारमे बाहरसे व्याप्य-व्यापक भाव स्वीकार कर लिया गया है। अर्थात् नैगमनयमे इन दोनोंको एक मान लिया गया है। परमार्थसे विचार करनेपर मिट्टी और कुम्भकार इन दोनाके स्वचतुष्टय भिन्न-भिन्न है। दोनों ही द्रव्य अपनी-अपनी क्रिया करते हैं, एक दूसरेकी क्रिया करते नहीं। केवल उन दोनोंकी उक्त प्रकारकी क्रियाएँ एक कालमें होनेका नियम है और इसीलिए कुम्भकारके व्यापारको कुम्भकी उत्पत्तिके अनुकूल व्यवहारसे कहा जाता है। परमार्थसे न तो एक द्रव्य किसीके अनुकूल होता है और न प्रतिकूल ही। किसीको किसीके अनुकूल या प्रतिकूल मानना यह विकल्पका विषय है और इसीलिए अन्य अपेक्षा किये बिना प्रत्येक द्रव्य स्वभावसे ही अपना कार्य करता है, इसे परमार्थरूपमे स्वीकार किया गया है।

शंका—स्वयंभूस्तोत्र मे, अध्यात्ममे रमण करने वाले जीवोंके जीवनमे जिस बाह्य वस्तुमें निमित्त व्यवहार होता है वह गौण है, यह भगवानका शासन है, ऐसा कथन करनेके बाद फिर यह कहा गया है कि सभी कार्योंमे बाह्य और आभ्यन्तर उपाधिकी समग्रता होती है सो उक्त दोनों प्रकारके कथनोंका क्या आशय है ?

समाधान—उक्त कथनोंका यह आशय है कि मोक्षमार्गी जीवको मोक्षमार्गकी प्राप्ति स्वभावके सन्मुख रहनेपर ही होती है। क्योंकि वस्तुतः परभावका ग्रहण-त्याग तो होता नही, फिर भी, लौकिक जनोंके इष्टानिष्ट या हिताहित बुद्धिसे जो परभावके ग्रहण त्यागका विकल्प होता है उससे विरत होनेपर ही मोक्षमार्ग पर चलनेके अभिप्राय वालेके स्वभाव सन्मुख होना बनता है, अन्यथा नही। इसलिए अध्यात्मदृष्टिमे, जिस वस्तुमे निमित्त व्यवहार होता है, वह गौण है, यह कथन किया गया है। परन्तु इसका यदि कोई यह अर्थ फलित करता है कि वहाँ बाह्य और आभ्यन्तर उपाधिकी समग्रता नही होती, सो उसकी वह मान्यता जिनागमके विरुद्ध है। यह वस्तु-स्थिति है। इसीको ध्यानमे रखकर 'स्वयभूस्तोत्र' मे उसके आगे दूसरा वचन कहा गया है, ऐसा यहाँ समझना चाहिए। आशय यह है कि लोकमे जितने भी कार्य होते है, उन सबमे बाह्य और आभ्यान्तर उपाधिकी समग्रता तो नियमसे होती है पर अध्यात्म वृत्त बाह्य उपाधिका आश्रय न करके मात्र अपने स्वभावका ही आश्रय करता है। उसके जो सम्यग्दर्शनादि स्वभाव पर्यायकी उत्पत्ति होती है वह मात्र इस सुनिश्चित मार्गपर चलनेसे ही होती है। स्वभाव पर्यायकी उत्पत्ति इससे भिन्न दूसरे मार्गपर चलनेमे होती होगी, ऐसा त्रिकालमें सम्भव नही है।

●

स्वभाव-परभाव-विचार

जैनशासनमें प्रत्येक द्रव्यको अर्थक्रियाकारी स्वीकार किया गया है। उन सब द्रव्योंमें पूर्वाकारका परिहार, उत्तराकारकी प्राप्ति तथा इन दोनों अवस्थाओंमें स्थिति लक्षणवाले परिणामोंके द्वारा अर्थ-क्रिया सम्पन्न होती है। इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर सब द्रव्योंको गुण-पर्याय स्वभाव वाला स्वीकार किया गया है। गुण सहभावी होते हैं और पर्याय क्रमभावी, ऐसी वस्तु व्यवस्था है। अमृतचन्द्र देव ने समयसारकी आत्मख्याति टीकामें पर्यायोंको जो क्रम नियमित कहा है वह इसी आधारपर कहा है।
पर्याय निरपेक्ष होती है।

यहाँ प्रकृतमें पर्यायोंके आधारसे विचार करना है। लोकमें समुच्चय रूपसे छह द्रव्य स्वीकार किये गये हैं। उनमेंसे धर्मअधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य निष्क्रिय है अर्थात् क्षेत्रके क्षेत्रान्तरित न होते हुए भी प्रदेशपरिस्पन्दरूप क्रियासे रहित हैं। उनमें मात्र परिणाम लक्षण क्रिया होती है तथा जीवो और पुद्गलोंमें यथासम्भव दोनों प्रकारकी क्रिया पाई जाती है।

अब देखना यह है कि इन द्रव्योंकी यह क्रिया स्वय होती है या दूसरे द्रव्योकी सहायतासे होती है। यह प्रश्न बहुत गम्भीर है इसका विचार नयदृष्टिसे करना होगा। यह प्रमाण ज्ञानका विषय नही है। नय दो प्रकारके है – द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय। पर्यायार्थिकनयके भेदोमें मुख्य ऋजुसूत्र नय है, शेष तीन शब्दनय इसीके विषयको शब्द प्रयोगकी मुख्यतासे विषय करते है। ऋजुसूत्रका विषय वर्तमान पर्याय मात्र है। वह किसी भी प्रकारके दो सम्बन्धको स्वीकार नही करता। इसलिए इस नयकी दृष्टिसे विचार करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक उत्पाद स्वयं होता है और विनाश भी स्वयं होता है। अन्य किसी कारणसे उत्पाद और व्यय नही होते। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए जयधवला (पुस्तक १ पृष्ठ २०८) मे कहा गया है—

उत्पाद रूप पर्याय भी निर्हेतुक होती है तथा जो उत्पन्न हो रहा है, वह तो उत्पन्न करता नही है। क्योंकि इसे स्वीकार करनेपर उत्तर क्षणमे तीनों लोकोंके अभावका प्रसग प्राप्त होता है। जो उत्पन्न हो चुका है वह उत्पन्न करता है, यह भी नही है। क्योकि इसे स्वीकार करनेपर क्षणिक पक्ष नही बन सकता। जो विनष्ट हो गया है, वह उत्पन्न करता है यह भी कहना ठीक नही है, क्योंकि अभावसे भावकी उत्पत्ति माननेमे विरोध आता है। तथा पूर्वका विनाश और उत्तरका उत्पाद इन दोनोंमे कार्य-कारण-भावका समर्थन करने वाली समानकालता भी नही बनती। अतीत पदार्थके अभावसे उत्पाद होता है, यह कहना तो बनता नहीं, क्योंकि भाव और अभावमें कार्य-कारण भावका विरोध है। अतीत पदार्थके सद्भावसे उत्पाद होता है, यह कहना भी नही बनता। क्योंकि इसे स्वीकार करने पर अतीत पदार्थके कालमें ही नवीन पदार्थकी उत्पत्तिका प्रसंग प्राप्त होता है। दूसरे चूँकि पूर्व क्षणकी सत्ता अपनी सन्तानमें होनेवाले उत्तर अर्थक्षणकी विरोधिनी है, इसलिए वह उसकी उत्पादक नही हो सकती। क्योंकि विरुद्ध दो सत्ताओंमें उत्पाद्य-उत्पादक भावके स्वीकार करनेमें विरोध आता है। अतएव ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा उत्पाद निर्हेतुक होता है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए।

शंका—अष्टसहस्री (पृष्ठ १००) मे तो प्रागभावका निर्देश करते हुए पूर्व, अनन्तर क्षण स्वरूप जो कार्यका उपादान परिणाम है, वह ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा प्रागभाव है, ऐसा कहा है। सो उक्त कथनका विचार करते हुए यह कथन कैसे घटित होता है?

समाधान—ऋजुसूत्रनय वर्तमान क्षणको या तो कारणरूपसे स्वीकार करता है या कार्यरूपसे स्वीकार करता है, पर पूर्व और उत्तर दो क्षणोंमें सम्बन्धको स्वीकार नही करता। इसलिए 'जयधवला'के कथनसे उक्त कथनमें कोई विरोध नहीं आता।

यहाँ जिस प्रकार उत्पादको निर्हेतुक सिद्ध किया गया है, उसी प्रकार व्ययको भी निर्हेतुक ही जानना चाहिए। इसका स्पष्टीकरण करते हुए वहीं (पृ० २०६-२०७) पर यह बतलाया है कि ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा विनाश भी निर्हेतुक होता है। यथा—यहाँ विनाशसे प्रसज्यरूप (सर्वथा अभाव) अभाव लिया गया है या पर्युदासरूप (एक वस्तुके अभावमें दूसरी वस्तुका सद्भाव)। प्रसज्य रूप अभाव तो परसे उत्पन्न होता नहीं, क्योंकि कारकके प्रतिषेधमें व्यापार करने वाले परसे घटका अभाव माननेमें विरोध आता है। पर्युदास अभाव रूप भी विनाश नहीं बनता, क्योंकि वह घटसे भिन्न उत्पन्न होता है या अभिन्न भिन्न उत्पन्न होना तो बनता नहीं, क्योंकि पर्युदासरूप अभावसे भिन्न घटकी उत्पत्ति माननेपर विवक्षित घटका विनाश माननेमें विरोध आता है। घट कार्यसे अभिन्न उत्पन्न होता है, यह कहना भी नहीं बनता। क्योंकि उत्पन्नकी उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है। इसलिए ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा विनाश भी निर्हेतुक होता है यह सिद्ध हुआ।

अन्य नयोंकी दृष्टिमें

इस प्रकार जबकि ऋजुसूत्र दोके सम्बन्धको स्वीकार ही नहीं करता। उसकी अपेक्षा बन्ध्य-बन्धक-भाव, वध्य-घातकभाव, दाह्य-दाहकभाव, विशेषण-विशेष्यभाव, ग्राह्य-ग्राहकभाव और वाच्य-वाचकभाव आदि कुछ नहीं बनते, तो कार्य-कारणभाव कैसे बन सकता है? अर्थात् नहीं बन सकता।

अब रह गए नैगम, संग्रह और व्यवहारनय। सो इन नयोंमेंसे संग्रहनय तो किसी एक धर्मकी मुख्यतासे अशेष पदार्थोंका संग्रह करता है। सत् सामान्यकी अपेक्षा संग्रह करना इष्ट हुआ, तो वह सद्रूपसे स्वीकार करेगा। द्रव्यगुणकी अपेक्षा संग्रह करना इष्ट हुआ, तो सबको द्रव्य रूपसे स्वीकार करेगा। इसी प्रकार कारणत्वकी अपेक्षा संग्रह करना इष्ट हुआ, तो वह सबको कारण रूपसे स्वीकार करेगा और कार्यत्व सामान्यकी अपेक्षा संग्रह करना इष्ट हुआ, तो सबको कार्य रूपसे स्वीकार करेगा। कौन किसका कारण है और कौन किसका कार्य है, यह इस नयका विषय नहीं है। तथा व्यवहारनय संग्रहनयसे गृहीत विषयमें यथाविधि भेद करेगा। कौन किसका कारण है और कौन किसका कार्य है यह इस नयका भी विषय नहीं है। तात्पर्य यह है कि अनेक वस्तुओंमें किसी एक धर्मका सर्वत्र अन्वय देखकर अभेदकी मुख्यतासे संग्रह नयकी प्रवृत्ति होती है। इसी अभिप्रायसे संग्रहनयको शुद्ध द्रव्यार्थिक कहा गया है और उस धर्मकी अपेक्षा अनेक वस्तुओंमें भेद करके भेद द्वारा उन्हें ग्रहण करने वाला व्यवहार नय स्वीकार किया गया है। इसलिए इसे पर्याय कलंकसे अंकित अशुद्ध द्रव्यार्थिक कहा गया है।

इन दो के अतिरिक्त द्रव्यार्थिक रूप एक नैगमनय है। इसका व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है 'जो है वह दोको उलंघन कर नहीं रहता' अर्थात् जो 'नैकंगमः' केवल एकको प्राप्त न हो, उसे नैगम कहते है। यह संकल्प प्रधान नय है। यह अनिष्पन्न भावी पदार्थको निष्पन्नवत् कहता है। अतीतको वर्तमानवत् कहता है तथा जो निष्पन्न हो रहा है, उसे भी निष्पन्नवत् कहता है। पृथक् कालवर्ती दोमें या पृथक् सत्ताके दो सम्बन्ध कल्पित करना यह भी इसका विषय है (यह सब वस्तुके आलम्बनसे किया जाता है) तथा इससे व्यवहारकी प्रसिद्धि होती है। इसलिए इसकी समीचीन नयोंमें परिगणना की जाती है। इस दृष्टिसे कारण-कार्यभाव नैगम-नयका विषय ठहरता है। जयधवला (पु० १ पृ. २०१) में कारण-कार्यभाव आदि नैगमनयका विषय है और वह उपचार रूप है, ऐसा स्वीकार भी किया है।

व्यवहारनयका विषय

श्री 'समयसार'में अनेक स्थलोंपर व्यवहारनय और उपचारनय इन दोनोंको एकार्थक स्वीकार किया है। अमृतचन्द्रदेव 'समयसार' (गाथा १०७) की आत्मख्याति टीकामें लिखते है—यह आत्मा व्याप्य-व्यापक भावके अभावमें भी प्राप्य, विकार्य और निर्वृत्य कर्मको करता है। इत्यादि रूप जो विकल्प होता है, वह नियमसे असद्भूत है। इसका कारण यह है कि परमागममें जो निक्षेपके चार भेद किए गए है, उनमेंसे कर्म

और नोकर्मका तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्य निक्षेपमें ही अन्तर्भाव होता है और द्रव्य निक्षेप मुख्यतया द्रव्यार्थिकनयका विषय है। यह उस निक्षेपार्थपर दृष्टि डालनेसे ही स्पष्ट हो जाता है। अतएव बाह्य वस्तुकी अपेक्षा यह कहना कि कषाय कर्मके उदयसे आत्मामे कषायभाव होता है या कर्म आत्माको स्वर्ग ले जाता है, नर्क ले जाता है आदि, कर्म बड़ा बलवान है आदि, वह सब नैगमनयका विषय होनेसे विकल्प ही है और वह उपचरित अर्थको विषय करनेवाला होनेसे उपचार ही है।

'आलापपद्धति' मे छहों द्रव्योंके जिन स्वभावोका निर्देश किया गया है, उनमे एक उपचरित स्वभाव भी है। उपचरित स्वभावका अर्थ ही यह है कि जो स्वयं द्रव्यका स्वरूप तो है नही, किन्तु प्रयोजन विशेषसे उस पर आरोपित कर उसका कहा जाय वह उपचरित स्वभाव कहलाता है। और इस स्वभावको स्वीकार करने वाले नयको उपचारनय या नैगमनय कहते है। आचार्य सिद्धसेनने अपने 'सन्मति तर्क' मे नैगमनयको स्वीकार नहीं किया है, उसका कारण भी यही है।

जयधवला (भाग १ पृ० २७०-२७१) में यह प्रश्न उठाया गया है कि सत्व, प्रमेयत्व, पुद्गलत्व, निश्चेतनत्व और मिट्टी स्वभावरूपसे मिट्टीके पिण्डमें घट भले ही स्वीकार किया जाय, परन्तु दण्डादिकमे घट नही पाया जाता। क्योंकि दण्डादिकमे तद्भावलक्षण सामान्यका अभाव है। तब इस प्रश्नका उत्तर देते हुए वहाँ बतलाया है कि दण्डादिकमे भी प्रमेयत्व आदि रूपसे घटका अस्तित्व स्वीकार किया गया है। सो इस शंका-समाधानसे भी यही ज्ञात होता है कि दण्डादिकको जो घटका कारण कहा जाता है, वह कालप्रत्यासत्तिवश (एक कालमे दोनोका सगम) बाह्य व्याप्तिको देखकर ही कहा जाता है, अतएव दण्डादिकसे घटकी उत्पत्ति होती है, इस कथनको उपचरित ही जानना चाहिए। इस प्रकार इतने विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि असद्भूत व्यवहारनयका जितना भी विषय है, उसका परिग्रह सकल्पप्रधान नैगमनयके विषयके अन्तर्गत ही होता है।

इसके अतिरिक्त जो सद्भूत व्यवहारनय और उसका विषय है, सो उसके विषयमे भी इसी न्यायसे विचार कर लेना चाहिए। यद्यपि कार्यकारण-परम्पराके अन्तर्गत उपादान कारणको भी यथार्थ माना गया है और उपादेय कार्यको भी यथार्थ माना गया है। क्योंकि आगममे अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याययुक्त द्रव्यको कारण और अव्यवहित उत्तर क्षणवर्ती पर्याययुक्त द्रव्यको कार्य कहा गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उपादान कारण भी वास्तविक है और उपादेयरूप कार्य भी वास्तविक है। ऐसा होते हुए भी इन दोनोमे काल-भेद होनेके कारण जिस समय उपादान कारण है, उस समय उपादेयरूप कार्य नही और जिस समय उपादेयरूप कार्य है उस समय उसका उपादान कारण नही है। अतः उपादान कारणसे उपादेय कार्य उत्पन्न होता है यह कहना भी व्यवहार-उपचार है। वस्तुतः स्वरूपकी अपेक्षा विचार करने पर विदित होता है कि उपादान कारण स्वरूपसे स्वयं है और उपादेयरूप कार्यभी स्वरूपसे स्वयं है। क्योंकि धर्म या धर्मीकी सिद्धि परसापेक्ष भले ही हो, वे स्वरूपकी अपेक्षा परसापेक्ष नही हुआ करते, ऐसी वस्तु-व्यवस्था है।

उत्पाद-व्यय-क्रिया परनिरपेक्ष ही है

इस प्रकार पूर्वोक्त विवेचनसे यह भले प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक द्रव्यमे जो उत्पाद और व्ययरूप क्रिया होती है, वह स्वयं ही हुआ करती है। चाहे परिणाम लक्षण क्रिया हो और चाहे प्रदेश परिस्पन्दनरूप क्रिया हो या देशान्तरगति हो; होती है वह स्वयं ही। किसी अन्यकी सहायतासे यह क्रिया होती हो, ऐसी वस्तु-व्यवस्था नही है। इतना अवश्य है कि उसकी सिद्धि परसापेक्ष होनेसे उसमे परकी सहायताका व्यवहार किया जाता है। एकको साधन और दूसरेको साध्य या एकको उपकारक और दूसरेको उपकार्य कहा जाता है। यह सब असद्भूत व्यवहार ही है।

"जैनतत्त्वमीमांसाकी मीमांसा" मे "जैन तत्त्वमीमांसा" के कतिपय वचनोंको उद्धृत कर (पृ० २२२ आदि) उक्त तथ्यके विषयमें बहुत कुछ लिखा गया है। उसमें विवक्षित अभिप्रायको व्यक्त करने वाली मूल बात

इतनी ही है कि व्यवहार रत्नत्रय मोक्षका परम्परा निमित्त है और निमित्त कारणको जो उपचरित शब्द द्वारा पुकारा जाता है वह इसलिए पुकारा जाता है कि निमित्त कारण स्वयं (आप) कार्य परिणत न होते हुए भी उपादानके कार्यरूप परिणत होनेमें सहायक होता है।

वहाँ इस प्रसंगमें दो-तीन बातें और लिखी हैं। एक बात तो यह लिखी है कि उपचार पदार्थमें होता है और शब्द उस उपचरित अर्थका प्रतिपादन करता है। दूसरी बात यह लिखी है कि कुम्भकार व्यक्तिमें कुम्भ निर्माणका सहायक होने रूप व्यवहार कर्तृत्व अर्थात् निमित्तकर्तृत्व पाया जाता है। फलितार्थरूपमें तीसरी बात यह लिखी है कर्तृत्व दो प्रकारका है—एक उपादान कर्तृत्व और दूसरा निमित्त कर्तृत्व।

व्यवहार कारण क्या वास्तविक कारण है?

उपचारके विषयमें समग्र वक्तव्य का यह सार है। इसमें वहीं जो यह कहा गया है कि 'उपचार पदार्थमें होता है'—सो इसका अर्थ तो यह हुआ कि वचन और बुद्धिके द्वारा किसी विवक्षित पदार्थमें किसी अन्य पदार्थका उपचार किया जाता है वह पदार्थ स्वयं स्वरूपसे उपचरित नहीं हुआ करता। और जब उसमें उपचार कर लिया जाता है, तो उसे व्यवहारसे मुख्यके समान कार्यकारी भी मान लिया जाता है। और इसीलिए कार्य कारण परम्परामें जितना कथन सद्भूतव्यवहारनयसे किया जाता है वह सब कथन असद्भूत व्यवहारनयसे भी किया जाता है। उदाहरण स्वरूप श्री समयसारकी गाथा १०७ पर दृष्टिपात कीजिए। इसमें व्यवहारनयसे (असद्भूत व्यवहारनयसे) जीवको पुद्गल कर्मका उत्पादक, उसे करने वाला, बाँधने वाला, परिणमानेवाला और ग्रहण करने वाला कहा गया है। परमार्थसे पुद्गल कार्मणवर्गणाएँ ही कर्मकी उत्पादक, उसे करनेवाली बाँधनेवाली, परिणमाने वाली और ग्रहण करने वाली होती है, जीव नहीं। फिर भी अमुक प्रकारके जीवके होनेपर अमुक प्रकारकी कार्मणवर्गणाओंके परिणमनके नियमको देखकर उक्त प्रकारका वचन कहा गया है। यही यहाँ उपचार है। इससे स्पष्ट है कि कोई भी पदार्थ स्वरूपसे उपचरित नहीं हुआ करता, किन्तु जब जिस द्वारा निश्चयकी प्रसिद्धि हो उसे ख्यालमें रखकर उसमें निमित्तपनेका उपचार किया जाता है या प्रयोजन विशेष बतलाया जाता है।

उस पुस्तकके अनुसार जिसे अविनाभाववश असद्भूत व्यवहारनयसे निमित्त कारण कहा गया है 'वह उपादान कारणके कार्यमें सहायक होता है।' इसके स्थानमें असद्भूत व्यवहारनयसे वहाँ यह भी कहा गया है कि वह स्वयं अन्य द्रव्यके कार्यको करता है तो भी कोई आपत्ति नहीं थी। किन्तु वहाँ नय विवक्षाको ध्यानमें लिए बिना उक्त प्रकारकी प्ररूपणाकी गई है यही मुख्य आपत्ति है। उस पुस्तकके उस कथनसे ऐसा भासित होता है कि 'व्यवहार हेतु उपादानके कार्यमें वास्तवमें सहायक होता है' जो जिनागमके सर्वथा विरुद्ध है। जबकि वस्तुस्थिति यह है कि बाह्य हेतु अन्यके कार्यका वास्तवमें हेतु नहीं है। उसमें अविनाभाववश हेतुता आरोपित की गई है। वह उपादानके कार्यमें वास्तवमें सहायक नहीं है, उसे व्यवहारसे सहायक कहा गया है। विचार कर देखा जाय तो वह एकने दूसरेका कार्य किया इस व्यवहारका हेतु है, इसलिए वह अन्यके कार्यका व्यवहार हेतु कहलाता है।

क्या बन्धका कारण ही मोक्षका कारण है?

इस दृष्टिसे व्यवहार मोक्षमार्गके विषयमें जब विचार करते हैं तो उससे भी यही फलित होता है कि मन, वचन और कायकी शुभ प्रवृत्तिरूप व्रत-संयमादिकमें वास्तवमें मोक्षमार्गपना नहीं है। यह ठीक है कि जब तक ज्ञान (आत्मा) का कर्म (शुभाशुभ भाव) विरति भलीभाँति पूर्णताको प्राप्त नहीं होती है तब तक ज्ञान और कर्मका समुच्चय भी रहता है, इसमें कोई हानि नहीं है। किन्तु यहाँ भी आत्मामें अवशपने जो कर्म प्रगट होता है वह बन्धका ही हेतु है और जो एक परमज्ञान है वही एक मोक्षका कारण है।

यद्यपि आगममें शुभभाव रूप व्रत, संयम, दान, पूजा आदिको परम्परा मोक्षका कारण कहा गया है सो इसका आशय क्या है इसे भी यहाँ समझ लेना चाहिए। कर्मशास्त्रमें यह वचन आया है कि अणुव्रत और

महाव्रतको वह जीव स्वीकार करता है जिसके बध्यमान आयुकी अपेक्षा नरकायु, तिर्यञ्चायु और मनुष्यायुकी सत्ता नहीं पाई जाती। यदि बध्यमान आयुकी अपेक्षा किसी आयुकी सत्ता उसके होवे भी तो वह एकमात्र देवायुकी ही सत्ता बनती है। इसका आशय यह है कि ऐसा जीव नियमसे देवयोनिका अधिकारी होता है। बाह्यमें निरतिचार रूपसे व्रतोंको पालनेवाला ज्ञानी ही देवगतिका अधिकारी बनता है, वह यदि प्रशस्त रागवश परभव सम्बन्धी आयुका बन्ध करेगा तो नियमसे देवायुका ही बन्ध करेगा। कर्मशास्त्रकी व्यवस्था ही ऐसी है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि ज्ञानी जीव प्रशस्त रागवश यदि आयुबन्ध करे या आयुबन्धके बाद अणुव्रत-महाव्रत धारण करे तो स्वर्ग जाता है, और ऐसा जीव स्वर्गसे च्युत होकर तथा मनुष्य पर्याय प्राप्त कर और अपनी आत्मभावना द्वारा पूर्णरूपसे रत्नत्रय स्वरूप होकर मोक्षका पात्र बनता है।

पर्याय दो प्रकार की है—स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय। धर्म अधर्म, आकाश और काल द्रव्यकी केवल स्वभाव पर्यायें होती हैं। तथा जीव और पुद्गलकी दोनों प्रकारकी पर्यायें होती हैं। जिनपर विकल्प द्वारा परकृतपनेका व्यवहार लागू होता है वे विभाव पर्यायें हैं। अर्थात् जिन पर्यायोंके होनेमें उनके बाह्य निमित्तोंमें विकल्प द्वारा प्रयोजकता स्वीकार की जाती है वे सब विभाव पर्यायें कहलाती हैं। और जिन पर्यायोंपर विकल्प द्वारा परकृतपनेका व्यवहार लागू नहीं होता वे स्वभाव पर्यायें हैं। विभाव पर्यायोंमें विभावका अर्थ ऐसे बाह्य निमित्त है जिनमें विकल्प द्वारा परकर्तृत्व, प्रयोजकता या प्रेरकता स्वीकार की जाती है। अतः धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्योंकी जितनी भी पर्यायें अनादि कालसे होती आ रही हैं, हो रही हैं और होवेंगी उन सबपर विकल्प द्वारा परकृतपनेका व्यवहार लागू नहीं होता, उनके ऐसे बाह्य निमित्त नहीं हैं जिनसे विकल्प द्वारा प्रयोजकता स्वीकार की जावे, अतः उन चारों द्रव्योंकी सब पर्यायोंको स्वभाव पर्याय रूपसे स्वीकार किया गया है।

मोक्षमार्गमें प्रवृत्त हुए या मुक्त जीवोंकी निश्चय सम्यग्दर्शन आदि रूप जितनी पर्यायें होती हैं उनपर भी विकल्प द्वारा परकृतपनेका व्यवहार लागू नहीं होता, इसलिए वे भी स्वभाव पर्यायें हैं ऐसा आगममें स्वीकार किया गया है। पुद्गल द्रव्यके प्रत्येक परमाणुकी परमाणु रूपसे रहते हुए जो पर्यायें होती हैं उनके विषयमें भी उक्त व्यवस्था जान लेनी चाहिए। इसके अतिरिक्त जीवों और पुद्गलोंकी जितनी भी पर्यायें होती हैं उनपर विकल्प द्वारा परकृतपनेका व्यवहार लागू होनेसे वे सब विभाव पर्यायें कहलाती हैं।

यह सब द्रव्योंकी पर्याय व्यवस्था है। इतना विशेष है कि सब द्रव्योंकी जितनी भी पर्यायें होती हैं वे सब बाह्य और आभ्यन्तर सामग्रीके सद्भावमें होती है। पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा सब पर्यायें क्रम नियमितपनेसे स्वयं होकर भी नैगमनयकी अपेक्षा उनके प्रत्येक समयमें बाह्य और आभ्यन्तर साधन स्वीकार किये गये हैं। आगममें कार्यकारणभावको स्वीकार करनेका यह रहस्य है। मात्र इस व्यवस्थाके दो अपवाद हैं। एक तो आकाशके स्वयंके अवकाशदानके लिए बाह्य निमित्त नहीं स्वीकार किया गया गया है। दूसरे काल द्रव्यके प्रत्येक समयके परिणमनके लिए भी कोई बाह्य निमित्त नहीं स्वीकार किया गया हैं। इस कथनकी पुष्टि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और अनगारधर्मामृत आदि ग्रन्थोंसे भले प्रकारसे होती है।

यद्यपि आगममें इन सब तथ्योंका निर्देश स्पष्ट रूपसे दृष्टिगोचर होता है, फिर भी उनकी उपेक्षा कर जैनतत्त्वमीमांसाकी मीमांसा पुस्तकमें ऐसे स्वकल्पित मन्तव्योंका निर्देश किया गया है जिन्हें पढ़कर, यह विश्वास नहीं होता कि ये सब तथ्य वहाँ आगमका मन्थन कर निर्दिष्ट किये गये हैं। उदाहरणार्थ उक्त पुस्तकके पृ० १४१ पर लिखा है—

'अगुरुलघुगुणके शक्त्यंशों (अविभाग प्रतिच्छेदों) में षड्गुणहानिवृद्धिरूप स्वभाव या गुणपर्यायें ही स्वप्रत्यय अर्थपर्यायें हैं तथा इन्हें छोड़ कर जितनी स्वभाव या गुणपर्यायें है वे सब स्वपरप्रत्यय अर्थपर्यायें हैं।

जैसे आकाश उन सब पदार्थोंको अवगाहित कर रहा है जो विश्वमें विद्यमान हैं लेकिन आकाशका पदार्थोंको अवगाहित करनेका स्वभाव असीमित है। अर्थात् विश्वमे जितने पदार्थ विद्यमान हैं उनसे भी अनन्तगुणे पदार्थ यदि विद्यमान होते तो उन्हें भी आकाश अपने अन्दर अवगाहित कर सकता है। इससे जाना जाता है कि आकाशका पदार्थोंको अवगाहित करने रूप परिणमन पदार्थाधीन होनेसे स्वपरप्रत्यय है। यही बात धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालद्रव्य और जीवद्रव्यके स्वभावके विषयमें भी जान लेना चाहिए।'

पुनः पृ० २९४ मे यहाँ लिखा है—

'मुक्ति भी जीवकी स्वपरप्रत्यय पर्याय है, अतः उसकी प्राप्तिके लिए भी निमित्त-नैमित्तिक भावरूप कार्यकारण भावपर दृष्टि रखना अनिवार्य हो जाता है।'

इन दो उद्धरणोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस पुस्तकके अनुसार सब द्रव्योंकी तीन प्रकारकी पर्यायें होती हैं—(१) स्वप्रत्यय पर्याय (२) स्व-परप्रत्यय स्वभाव पर्याय और (३) स्व-परप्रत्यय विभाव पर्याय।

जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चाके समय भी दूसरे पक्षकी ओरसे यह स्वकल्पित मान्यता प्रस्तुत की गई थी। मालूम नही कि उस पक्षके सब विद्वानोंका यह मत रहा है या किसी एक विद्वानका। यह सब अभी तक गर्भमे है कि दूसरे पक्षकी ओरसे जितना कुछ लिखा गया है उससे उस पक्षके कितने विद्वान् सहमत है। तीसरे दौरकी जो प्रतिशंकाएँ हमे प्राप्त हुई थी उनमे न तो मध्यस्थके ही हस्ताक्षर थे और न पं० बन्शीधर जी व्या० आ० को छोड कर अन्य विद्वानोके ही हस्ताक्षर थे इतना हम अवश्य जानते है। अस्तु,

इन तीन प्रकारकी पर्यायोंकी कल्पना मुख्यतया तत्त्वार्थसूत्रके 'निष्क्रियाणि च' इस सूत्रपर लिखी गई सर्वार्थसिद्धि टीकाके वचनके आधारपर की गई है ऐसा जैनतत्त्वमीमांसाकी मीमासाके पृ० ४८ से ज्ञात होता है। इसके समर्थनमे वहा नियमसार गाथा १४ की टीकाके अंशको भी उद्धृत किया गया है। सर्वार्थसिद्धिका वह वचन इस प्रकार है—

द्विविध उत्पादः—स्वनिमित्तः परप्रत्ययश्च। स्वनिमित्तस्तावदनन्तानामगुरुलघुगुणानामागमप्रामाण्यादभ्युगम्यमानानां षट्स्थानपतितया वृद्धया हान्या च प्रवर्तमानानां स्वभावादेव तेषामुत्पादो व्ययश्च। परप्रत्ययोऽपि अश्वादिगति-स्थित्यवगाहनहेतुत्वात् क्षणे क्षणे तेषां भेदात् तद्धेतुत्वमपि भिन्नमिति परप्रत्ययापेक्ष उत्पादो विनाशश्च व्यवह्रियते।

उत्पाद दो प्रकारका है – स्वनिमित्त और परप्रत्यय। स्वनिमित्त-उत्पाद क्या है इसे बतलाते हुए आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं—आगम प्रमाण द्वारा स्वीकृत तथा षट्स्थानपतित वृद्धि और हानिके द्वारा प्रवर्तमान अनन्त अगुरुलघु गुणोंका स्वभावसे उत्पाद और व्यय होता है। परप्रत्यय उत्पाद और व्ययका व्यवहार किस प्रकार किया जाता है इसका स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य देव लिखते है कि अश्वादिकी गति, स्थिति और अवगाहनके वे धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य क्रमसे हेतु होनेसे तथा क्षण-क्षणमे उनमे भेद होनेसे उनके हेतु भी क्षण क्षणमे अन्य अन्य होते है इस प्रकार परप्रत्ययकी अपेक्षा भी उत्पाद और व्ययका व्यवहार किया जाता है।

सर्वार्थसिद्धिका यह उल्लेख बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इससे कई तथ्योंपर प्रकाश पडता है। यथा—

(१) आगममें काल द्रव्यके साथ धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य निष्क्रिय माने गये हैं, इसी प्रसंगमे 'निष्क्रियाणि च' सूत्र आया है। यहाँ काल द्रव्य प्रकरण प्राप्त नहीं है, इसलिए उसका निर्देश तो आचार्य देवने नहीं किया है, परन्तु धर्मादि तीनों द्रव्योंके समान वह भी निष्क्रिय द्रव्य है, इसलिए उसकी परिगणना इन तीनों द्रव्योंके साथ हो जाती है।

(२) जब ये चारों द्रव्य निष्क्रिय हैं तो इनमे उत्पाद और व्यय कैसे घटित होता है? इसी प्रश्नके उत्तर स्वरूप 'द्विविधः उत्पादः' इत्यादि वचन आया है। इसमें बतलाया गया है कि इनमें स्वभावमें ही उत्पाद और व्यय होता है अर्थात् इनके उत्पाद और व्ययमें परकृतपनेका व्यवहार लागू नहीं होता है।

(३) इनमें वह उत्पाद और व्यय कैसे बनता है इसीके समर्थनमें 'अनन्तानामगुरुलघुगुणाना' इत्यादि वचन आया है। इस वचनमें अगुरुलघुगुणोंको अनन्त कह कर उनका उत्पाद व्यय स्वीकार किया गया है। किन्तु यदि प्रकृतमें 'अगुरुलघुगुण' पदसे इस नाम वाले गुण लिए जायें तो प्रत्येक द्रव्यमें एक तो वे अनन्त नहीं बनते, दूसरे स्वयं उनकी हानि-वृद्धि नहीं बनती क्योंकि गुण अन्वय स्वभाव वाले होनेसे नित्य होते हैं। इसलिए स्वयं उनका उत्पाद-व्यय मानना आगम विरुद्ध है। अतः प्रकृतमें अगुरुलघुगुण पदसे अविभाग प्रतिच्छेदोंको ग्रहण करना चाहिए। इन चार द्रव्योंमें व्यंजन पर्यायें तो होती नहीं, मात्र अर्थपर्यायें ही होती हैं। और उनमें अविभाग प्रतिच्छेदोंके आधारपर स्वभावसे ही उत्पाद व्यय स्वीकार किया गया है। षड्गुणी हानि-वृद्धिके अनुसार किस समय अनन्तभाग वृद्धि आदिमेंसे पूर्व पर्यायकी अपेक्षा उत्तर पर्यायमें कब कौन सी हानि या वृद्धि होती है उसी आधारपर उस पर्यायको अनन्तभाग वृद्धि या अनन्तभाग हानि आदि रूप स्वीकार किया जाता है। उदाहरणार्थ क्षीणकषाय गुणस्थानके अन्तिम समयमें जो श्रुतज्ञान होता है उससे सयोग केवलीके प्रथम समयमें केवलज्ञानको अनन्तगुणवृद्धि रूप स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार सर्वत्र छहों द्रव्योंकी चाहे स्वभाव पर्यायें हों या जीवों और पुद्गलोंकी उक्तरूपमें विभाव पर्यायें हों उनमें उत्पाद व्ययकी यह व्यवस्था घटित कर लेनी चाहिए।

(४) इस प्रकार यद्यपि इन द्रव्योंमें पर्यायोंका स्वभावसे ही उत्पाद और व्यय बन जाता है। किन्तु जबकि ये निष्क्रिय द्रव्य हैं तो इनमेंसे प्रारम्भके तीन द्रव्यों, जीवों और पुद्गलोंकी गति आदिमें व्यवहार हेतु कैसे हो सकते हैं, क्योंकि लोकमें क्रियावान् जलादिमें ही मछली आदिके गमन आदिमें व्यवहार हेतुता देखी जाती है। इसी प्रश्नके उत्तरमें आचार्य देवने यह उत्तर दिया है कि ये तीनों द्रव्य, मछली आदिका जो गमन आदि होता है, उसमें बलाधानके व्यवहार हेतु होनेसे इनके निमित्तसे जीवों और पुद्गलोंकी गति आदि होती है ऐसा व्यवहार बन जाता है।

(५) अब प्रश्न यह है कि इनमें यदि पर प्रत्यय व्यवहार घटित करें तो किस प्रकार घटित किया जा सकता है ? इस प्रश्नका समाधान करते हुए आचार्य देव लिखते हैं कि अश्वादिकी गति आदिमें व्यवहारसे ये आश्रय निमित्त हैं। यतः अश्वादिकी गति आदिमें समय-समयमें भेद दिखलाई देता है और ये तीनों द्रव्य उसमें आश्रय निमित है अतः इनकी पर्यायोंमें भी प्रति समय भेद होना चाहिए, इस प्रकार इनमें भी पर प्रत्ययपनका व्यवहार किया जा सकता है।

यहाँ उक्त कथनसे जो सबसे मौलिक बातका स्पष्टीकरण मिलता है वह यह है कि आचार्य देव अश्वादि की गति आदिके भेदके आधारपर इन द्रव्योंकी पर्यायोंके भेदको स्वीकार करके भी वे अश्वादिकी गति आदि धर्मादि द्रव्योंकी पर्यायोंके होनेमें व्यवहार हेतु है इसे नहीं स्वीकार कर रहे हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्मादि चारों द्रव्योंकी सब स्वभाव पर्यायोंमें यथा जीवों और पुद्गलोंकी जितनी भी स्वभाव पर्यायें होती हैं उनमें ये परकी प्रेरणासे हुई या ये परकृत हैं ऐसा व्यवहार लागू नहीं होनेसे इनकी स्वप्रत्यय पर्यायोंमें ही परिगणना की जाती है। आगममें कहीं भी इन पर्यायोंको स्व-पर प्रत्यय नहीं बतलाया गया है। यह केवल जैनतत्त्वमीमासाकी मीमासामेंकी गयी अपनी कल्पना है। जैनतत्वमीमांसाकी समालोचनामें इतनी बड़ी पुस्तक लिखी गयी पर वहाँ यह भेद नहीं किया जा सका कि विभाव पर्यायोंको स्व-पर प्रत्यय कहनेमें गर्भित तथ्य क्या है और आगममें सर्वत्र स्वभाव पर्यायोंको मात्र स्वप्रत्यय कहनेमें क्या हेतु है।

हम पहले उस पुस्तकसे दो अंश उद्धृत कर आए हैं, उनमें केवल अगुरुलघुगुणकी अर्थपर्यायोंको मात्र स्वप्रत्यय पर्याय स्वीकार किया गया है। पर इसकी पुष्टिमें कोई स्वतन्त्र आगम प्रमाण नहीं दिया गया है। इतना अवश्य है कि इसी पुस्तकके पृष्ठ ४८ में सर्वार्थसिद्धिके 'द्विविधः उत्पादः' इस वचनको उद्धृत कर 'अनन्तानामगुरुलघुगुणानां' का वहाँ ब्रेकेटके भीतर 'अगुरुलघुगुणके अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद रूप शक्त्यंशों'

अर्थ किया गया है और उस आधारपर इस मान्यताकी पुष्टि की गयी हैं कि केवल अगुरुलघुगुणकी अर्थपर्याय मात्र स्वप्रत्यय होती है। जबकि उक्त आगमका यह आशय नहीं है।

नयचक्रके पृष्ठ १२में यह गाथा है—

अगुरुलहुगाणता समयं समयं समुब्भवा जे वि।
दव्वाणं ते भणिया सहावगुणपज्जया जाण ॥२१॥

अगुरुलघु अनन्त हैं और जो प्रति समय उत्पन्न होते हैं और व्ययको प्राप्त होते हैं। उन्हें द्रव्योंकी स्वभाव गुण पर्याय जानों।

नयचक्रकी इस गाथामे गुण शब्द नही दिया है। प्रत्येक द्रव्यमें अनन्त अगुरुलघु गुण होते हैं, यह भी इसका आशय नही है। 'गुण' शब्द भाग या अंशके अर्थमे भी आता है, अतः सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिकमें गुण शब्दका 'पर्याय' अर्थ करना ही संगत प्रतीत होता है। संक्षेपमे स्पष्टीकरण पहले ही कर आये हैं। उत्पन्न ध्वंसी पर्यायें होती हैं, गुण नहो। अगुरुलघुगुणकी मात्र स्वप्रत्यय पर्यायें होती हों अन्यकी नहीं, ऐसा भी नहीं है। आगममे तो जीव और पुद्गलको छोड़ कर अन्य चारों द्रव्योंके सभी गुणोंकी मात्र स्वभाव पर्याये ही स्वीकार की गई है और वे परनिरपेक्ष ही होती हैं। इसी ग्रन्थकी १८वी गाथामें जीवों और पुद्गलोंकी स्वभाव और विभाव दो प्रकारकी पर्यायें स्वीकार की है। जीवोंके विषयमें १९वी गाथामे लिखा है कि जीवमें जो स्वभाव पर्यायें हैं कर्म-कृत होनेसे वे ही विभाव पर्यायें है। इससे यह साफ स्पष्ट हो जाता है कि जीवकी जिन पर्यायोंके होनेमें 'कर्म ने की' ऐसा व्यवहार होता है वे सब विभाव पर्यायें है। तथा जिनमे ऐसा व्यवहार नहीं होता वे सब स्वभाव पर्यायें हैं। इसी प्रकार पुद्गलमे भी बन्धरूप पर्यायोको विभाव पर्यायें जानना चाहिए, क्योंकि इनमें पर बन्धके नियमानुसार 'अधिक गुणवाले हीन गुणवालोंको परिणमाते हैं।' यह व्यवहार लागू होता है। इनके अतिरिक्त परमाणु अवस्थामें रहते हुए परमाणुओंकी जितनी भी पर्यायें होती हैं, वे सब स्वभाव पर्यायें हैं, क्योंकि उनपर उक्त प्रकारका व्यवहार लागू नही होता।

उस पुस्तकमे स्वभाव पर्यायोंको दो प्रकारका बतलाते हुए यह तो लिख ही दिया गया है कि "अगुरुलघुगुणके शक्त्यंशों अविभाग प्रतिच्छेदो) मे षड्गुणी हानि-वृद्धिरूप स्वभाव या गुण पर्यायें ही स्वप्रत्यय अर्थ पर्यायें हैं तथा इन्हे छोड कर जितनी स्वभाव या गुण पर्याये है वे सब स्व-परप्रत्यय अर्थ पर्याये है।" पर वहाँ ऐसा लिख जानेसे जो अनेक प्रश्न उत्पन्न होते है उनका उस पुस्तकमे आगमके अनुसार कोई समाधान नही है? यथा—

(१) अपने-अपने गुण पर्यायो सहित अन्य पाँच द्रव्योंको अवगाहित करनेमे आकाश द्रव्य व्यवहार हेतु है तो क्या इसमे उनके अगुरुलघुगुणोका ग्रहण नही होता। आकाश द्रव्य अन्य पाँचों द्रव्योंको तो पूरी तरहसे अवगाहित करे और अगुरुलघुगुण तथा उनकी पर्यायें अवगाहित न हों यह कैसे हो सकता है? यदि इनका भी आकाशमें अवगाहित होना माना जाता है तो ऐसा होते हुए भी जिस प्रकार वहाँ अगुरुलघुगुणोंकी गुण पर्यायोंको मात्र स्वप्रत्यय रूपसे स्वीकार किया गया है उसी प्रकार सब स्वभाव पर्यायोंको भी स्वप्रत्यय स्वीकार कर लिया गया होता।

(२) काल द्रव्य अन्य पाँच द्रव्योंकी पर्यायोंके होनेमें व्यवहार हेतु है। तो क्या इसमें उनके अगुरुलघु गुणकी पर्यायोंका ग्रहण नहो होता? क्या ऐसा कोई आगम वचन है जिससे यह समझा जा सके कि अगुरुलघुगुणोंकी पर्यायोंके होनेमे कालद्रव्यको व्यवहार हेतु माना गया है तो ऐसा होते हुए भी जिस प्रकार अगुरुलघुगुणोंकी पर्यायोंको मात्र स्वप्रत्यय स्वीकार किया गया है उसी प्रकार सब स्वभाव पर्यायोंको भी स्वप्रत्यय स्वीकार कर लिया गया होता।

गमन करते हुए जीवों और पुद्गलोंके गमन करनेमें धर्म द्रव्य व्यवहार हेतु है तो क्या इसमें उनके अगुरुलघुगुणों और उनकी पर्यायोंका ग्रहण नहीं होता ? क्या वे क्षेत्रसे क्षेत्रान्तरित नही होते ? यदि कहो कि वे भी अपने-अपने द्रव्योंके साथ क्षेत्रसे क्षेत्रान्तरित होते है, इसलिए उनमें धर्मद्रव्यकी व्यवहारहेतुता बन जाती है। यदि ऐसा है तो ऐसा होते हुए भी जिस प्रकार वहाँ अगुरुलघु गुणोंकी स्वभाव पर्यायोंको मात्र स्वप्रत्यय स्वीकार किया गया है उसी प्रकार वहाँ अन्य सब स्वभाव पर्यायोंको भी स्वप्रत्यय स्वीकार किया गया होता।

गमन करके स्थित होने वाले जीवों और पुद्गलोंके ठहरनेमें अधर्म द्रव्य व्यवहार हेतु है तो क्या इसमें अगुरुलघु गुण और उनकी पर्यायोंका ग्रहण नही होता। क्या वे अपने-अपने आश्रयभूत जीवों और पुद्गलोंके साथ स्थित नहीं होते ? यदि कहो कि वे भी स्थित होते हैं, क्योंकि आश्रयके बिना वे पाए नही जाते, इसलिए उनके स्थित होनेमें अधर्मद्रव्यको व्यवहार हेतु माननेमें कोई बाधा नही आती। यदि ऐसा है तो ऐसा होते हुए भी जिस प्रकार वहाँ अगुरुलघु गुणोंकी स्वभाव पर्यायोंको मात्र स्वप्रत्यय स्वीकार कर लिया गया है उसी प्रकार अन्य सब स्वभाव पर्यायोंको भी स्वप्रत्यय स्वीकार कर लिया गया होता।

यह तो सर्वसाधारण आश्रय हेतुओंके आधारपर विचार है। अब थोड़ा इस दृष्टिसे विचार कीजिए कि यह अगुरुलघु गुण (केवल जिसकी स्वभाव पर्यायोंको उस पुस्तकमें स्वप्रत्यय स्वीकार किया गया है) सामान्य गुण है या विशेष गुण है ? विशेष गुण तो हो नहीं सकता, क्योंकि यह सब द्रव्योंमें पाया जाता है, अतः सामान्य गुण होना चाहिए। ऐसी अवस्थामें मात्र इस गुणकी होने वाली सब स्वभाव पर्यायें तो केवल स्वप्रत्यय हों तथा अन्य समस्त अस्तित्व आदि सामान्य गुणोंकी स्वभाव पर्यायें स्व-परप्रत्यय हों यह कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता है। हमे तो यह उस पुस्तकके रचयिताकी मात्र कल्पना ही समझमें आती है। हमें यह खेद होता है कि उस पुस्तकमें व्यवहार पक्षके समर्थनका बीड़ा अवश्य उठाया गया, पर उस लिखानमें आगमका निर्वाह न कर कल्पनाका ही अधिक सहारा लिया गया। जैनतत्त्वमीमांसाके विरोधमें उस लिखानसे कुछ मनीषी भले ही सन्तोषका अनुभव करते हों, पर जब वे तथ्योंपर दृष्टिपात करेंगे, तब वे असमंजसमें पड़े बिना नहीं रहेंगे।

उस पुस्तकके उक्त वक्तव्यमें आकाश द्रव्यके पदार्थोंको अवगाहित करने रूप परिणमनको पदार्थाधीन स्वीकार किया है। मालूम पड़ता है उस पुस्तकमें इस कथन द्वारा एक अगुरुलघु गुणको छोड़कर शेष सब पदार्थोंको पराधीन सिद्ध करनेका प्रयत्न है। जब कि आगमकी यह स्पष्ट घोषणा है कि धर्म या धर्मीकी सिद्धिके लिए परकी अपेक्षासे कथन किया जाता है, वे स्वरूपसे स्वयं हैं, क्योंकि किसीका स्वरूप पराश्रित नहीं हुआ करता। प्रत्येक द्रव्यकी प्रत्येक पर्याय जिस कालमें जैसी है स्वयं है। वह वैसी क्यों है उसकी वैसी होनेमें परकी सहायता नहीं हुआ करती। यहाँ आप्तमीमांसाकी 'धर्मधर्म्यविनाभावः' इत्यादि कारिका और उसकी अष्टसहस्री टीकाको हृदयंगम कर लेना चाहिए। तभी सभी व्यवहारनय और निश्चयनयके विषय और वक्तव्यको भले प्रकार हृदयंगम कर सकेंगे। उसमें कारकांग और ज्ञापकांग दोनोंको उदाहरण रूपमें स्वीकार कर लिया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि विकल्प और कथनमें परसापेक्षता बनती है, वस्तु या उसकी पर्याय परसापेक्ष नहीं हुआ करती।

जब कि अगुरुलघु गुणकी स्वभाव पर्यायके समान सभी द्रव्योंकी स्वभाव पर्यायें स्वप्रत्यय ही होती हैं ऐसी अवस्थामें मुक्तिकी प्राप्तिके लिए अपनी पराश्रित वृत्तिको दृष्टिमें गौण करके स्वभावका आलम्बन लेकर स्व-समय प्रवृत्त होना ही एक मात्र मुक्ति प्राप्त करनेका यथार्थ मार्ग है। अन्य सब कल्पनाएँ आदि अनादि कालसे आई पराश्रित वृत्तिका परिणाम है।

●

इतिहास तथा पुरातत्त्व





श्रुतधर-परिचय

प्रथमं करणं चरणं द्रव्यं नमः

यह शान्तिभक्तिका वचन है। इस द्वारा प्रथमानुयोग आदि चार अनुयोगोंमें विभक्त श्रुतको नमस्कार किया गया है। प्रवाहकी अपेक्षा श्रुत अनादि है। इसकी महिमाका व्याख्यान करते हुए जीवकाण्डमें श्रुतज्ञानकी मुख्यतासे कहा है कि केवलज्ञान और श्रुतज्ञानमें प्रत्यक्ष और परोक्षका ही भेद है, अन्य कोई भेद नहीं। ऐसा नियम है कि केवलज्ञानविभूतिसे सम्पन्न भगवान् तीर्थंकर परमदेव अपनी दिव्यध्वनि द्वारा अर्थरूपसे श्रुतकी प्ररूपणा करते हैं और मत्यादि चार ज्ञानके धारी गणधरदेव अपनी सातिशय प्रज्ञाके माहात्म्यवश अंग-पूर्वरूपसे अन्तर्मुहूर्तमें उसका संकलन करते हैं। अनादि कालसे सम्यक् श्रुत और श्रुतधरोंकी परम्पराका यह क्रम है।

इस नियमके अनुसार वर्तमान अवसर्पिणीके चतुर्थ कालके अन्तिम भागमें अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर और उनके ग्यारह गणधरोंमें प्रमुख गणधर गौतमस्वामी हुए। भावश्रुत पर्यायसे परिणत गौतम गणधरने ग्यारह अंग और चौदह पूर्वोकी रचना कर लोहाचार्यको दिया। लोहाचार्यने जम्बूस्वामीको दिया। इसके बाद विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पाँचों आचार्य परिपाटी क्रमसे चौदह पूर्वके धारी हुए। तदनन्तर विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयाचार्य, नागाचार्य, सिद्धार्थदेव धृतिसेन, विजयाचार्य, बुद्धिल, गंगदेव और धर्मसेन ये ग्यारह आचार्य परिपाटी क्रमसे ग्यारह अंग और उत्पादपूर्व आदि दस पूर्वोके धारक तथा शेष चार पूर्वोके एकदेश धारक हुए। इसके बाद नक्षत्राचार्य, जयपाल, पाण्डुस्वामी, ध्रुवसेन और कंसाचार्य ये पाँचों ही आचार्य परिपाटी क्रमसे सम्पूर्ण ग्यारह अंगोंके और चौदह पूर्वोके एकदेश धारक हुए। तदनन्तर सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहार्य ये चारों आचार्य सम्पूर्ण आचारांगके धारक और शेष अंगों तथा पूर्वोके एकदेशके धारक हुए।

आचार्य धरसेन–पुष्पदन्त–भूतबलि

तदनन्तर सब अंग–पूर्वोका एकदेश आचार्य परम्परासे आता हुआ धरसेन आचार्यको प्राप्त हुआ। ये सौराष्ट्र देशके गिरिनगर पत्तनके समीप ऊर्जयन्त पर्वतकी चन्द्रगुफामें निवास करते हुए ध्यान अध्ययनमें तल्लीन रहते थे। इनके गुणोंका ख्यापन करते हुए वीरसेन स्वामीने (धवला पु० १) लिखा है कि वे परवादीरूपी हाथियोंके समूहके मदका नाश करनेके लिए श्रेष्ठ सिंहके समान थे और उनका मन सिद्धान्तरूपी अमृत-सागरकी तरंगोंके समूहसे धुल गया था। वे अष्टांग महानिमित्त शास्त्रमें भी पारगामी थे। वर्तमानमें उपलब्ध श्रुतकी रक्षाका सर्वाधिक श्रेय इन्हींको प्राप्त है। अपने जीवनके अन्तिम कालमें यह भय होने पर कि मेरे बाद श्रुतका विच्छेद होना सम्भव है, इन्होंने प्रवचन वात्सल्यभावसे महिमा नगरीमें सम्मिलित हुए दक्षिणापथके आचार्योंके पास पत्र भेजा। उसे पढ़कर उन आचार्योंने ग्रहण और धारण करनेमें समर्थ नानाप्रकारकी उज्ज्वल और निर्मल विनयसे विभूषित अंगवाले, शीलरूपी मालाके धारक, देश-कुल-जातिसे शुद्ध, समस्त कलाओंमें पारंगत ऐसे दो साधुओंको आन्ध्रदेशमें बहनेवाली वेणानदीके तटसे भेजा।

जब ये दोनों साधु मार्गमें थे, आचार्य धरसेनने अत्यन्त विनयवान् शुभ्र दो बैलोंको स्वप्नमें अपने चरणोंमें विनतभावसे पड़ते हुए देखा। इससे सन्तुष्ट हो आचार्य धरसेनने 'श्रुतदेवता जयवन्त हो' यह शब्द

उच्चारण किया। साथ ही उन्होंने 'मुझे सम्यक् श्रुतको धारण और ग्रहण करनेमें समर्थ ऐसे दो शिष्योंका लाभ होनेवाला है' यह जान लिया।

जिस दिन आचार्य धरसेनने यह स्वप्न देखा था उसी दिन वे दोनों साधु आचार्य धरसेनको प्राप्त हुए। पादवन्दना आदि कृतिकर्मसे निवृत्त हो और दो दिन विश्राम कर तीसरे दिन वे दोनों साधु पुन: आचार्य धरसेन-के पादमूलमें उपस्थित हुए। इष्ट कार्यके विषयमे जिज्ञासा प्रगट करने पर आचार्य धरसेनने आशीर्वादपूर्वक दोनोंको सिद्ध करनेके लिए एकको अधिक अक्षरवाली और दूसरेको हीन अक्षरवाली दो विद्यायें दी और कहा कि इन्हें षष्ठभक्त उपवासको धारण कर सिद्ध करो। विद्यायें सिद्ध होने पर उन दोनों साधुओने देखा कि एक विद्याकी अधिष्ठात्री देवीके दाँत बाहर निकले हुए हैं और दूसरी विद्याकी अधिष्ठात्री देवी कानी है। यह देखकर उन्होंने मन्त्रोंको शुद्ध कर पुन: दोनों विद्याओंको सिद्ध किया। इससे वे दोनों विद्यादेवतायें अपने स्वभाव और अपने सुन्दररूपमें दृष्टिगोचर हुईं। तदनन्तर उन दोनों साधुओंने विद्यासिद्धिका सब वृत्तान्त आचार्य धरसेनके समक्ष निवेदन किया। इससे उन दोनों साधुओं पर अत्यन्त प्रसन्न हो उन्होंने योग्य तिथि आदिका विचार कर उन्हें ग्रन्थ पढ़ाना प्रारम्भ किया। आषाढ शुक्ला ११के दिन पूर्वाह्णकालमें ग्रन्थ समाप्त हुआ।

जब इन दोनों साधुओंने विनयपूर्वक ग्रन्थ समाप्त किया तब भूतजातिके व्यन्तर देवोंने उनकी पूजा की। यह देख आचार्य धरसेनने एकका नाम पुष्पदन्त और दूसरेका नाम भूतबलि रखा।

बादमें वे दोनों साधु गुरुकी आज्ञासे वहाँसे रवाना होकर अकलेश्वर आये। और वहाँ वर्षाकाल तक रहे। वर्षायोग समाप्त होने पर पुष्पदन्त आचार्य बनवास देशको चले गये और भूतबलि भट्टारक द्रमिल देशको गये।

बादमें पुष्पदन्त आचार्य जिनपालितको दीक्षा देकर तथा बीसदि सूत्रोंकी रचना कर और जिनपालित-को पढ़ाकर भूतबलि आचार्यके पास भेज दिया। भूतबलि आचार्यने जिनपालितके पास बीसदि सूत्रोंको देखकर और पुष्पदन्त आचार्य अल्पायु हैं ऐसा जिनपालितसे जानकर महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका विच्छेद होनेके भयसे द्रव्यप्रमाणानुगमसे लेकर शेष ग्रन्थकी रचना की।

यह आचार्य धरसेन प्रभृति तीन प्रमुख आचार्योंका संक्षिप्त परिचय है। इस समय जैन परम्परामें पुस्तकारूढ़ जो भी श्रुत उपलब्ध है उसमें षट्खण्डागम और कषायप्राभृतकी रचना प्रथम है। षट्खण्डागमके मूल श्रोतके व्याख्याता हैं आचार्य धरसेन तथा रचयिता हैं आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि।

आचार्य गुणधर–यतिवृषभ

जैन परम्परामें षट्खण्डागमका जो स्थान है वही स्थान कषायप्राभृतका भी है। इन आगमग्रन्थोंका मूल स्रोत क्या है यह तो श्रुत परिचयके समय बतलावेंगे। यहाँ तो मात्र कषायप्राभृतके रचयिता आचार्य गुण-धर और उसपर वृत्तिसूत्रोंकी रचना करनेवाले आचार्य यतिवृषभके बारेमें लिखना है। कषायप्राभृतकी प्रथम गाथासे सुस्पष्ट विदित होता है कि आचार्य धरसेनके समान आचार्य गुणधर भी अंग–पूर्वोंके एकदेशके ज्ञाता थे। उन्होंने कषायप्राभृतकी रचना पाँचवें पूर्वकी दशवीं वस्तुके तीसरे प्राभृतके आधारसे की है। इससे विदित होता है कि जिस समय पाँचवें पूर्वकी अविच्छिन्न परम्परा चल रही थी तब आचार्य गुणधर इस पृथिवी-तलको अपने वास्तव्यसे सुशोभित कर रहे थे। ये अपने कालके श्रुतधर आचार्योंमें प्रमुख थे।

आचार्य यतिवृषभ उनके बाद आचार्य नागहस्तीके कालमें हुए हैं, क्योंकि आचार्य वीरसेनने इन्हें आचार्य आर्यमंक्षुका शिष्य और आचार्य नागहस्तीका अन्तेवासी लिखा है। ये प्रतिभाशाली

महान् आचार्य थे यह इनके कषायप्राभृत पर लिखे गये वृत्तिसूत्रों (चूर्णिसूत्रों)से ही ज्ञात होता है। वर्तमानमें उपलब्ध त्रिलोकप्रज्ञप्ति इनकी अविकल रचना है यह कहना तो कठिन है। इतना आवश्यक है कि इसके सिवा त्रिलोकप्रज्ञप्ति और होनी चाहिये। सम्भव है उसकी रचना इन्होंने की है।

यह तो हम पहले ही लिख आये है कि सम्यक् श्रुतके अर्थकर्ता तीर्थंकर केवली होते है और ग्रन्थकर्ता गणधरदेव होते हैं। इस तथ्यको ध्यानमें रख कर आनुपूर्वी क्रमसे विचार करने पर विदित होता है कि सिद्धान्त-ग्रन्थों और तदनुवर्ती श्रुतके सिवा अन्य जो भी श्रुत वर्तमानकालमें उपलब्ध होता है उसके रचयिता आचार्योंने परिपाटी क्रमसे प्राप्त हुए श्रुतके आधारसे ही उसकी रचना की है। इसलिये यहाँ पर कुछ प्रमुख श्रुतधर आचार्योंका नाम निर्देश कर देना भी इष्ट है जिन्होंने अन्य अनुयोगोंकी रचना कर सर्वप्रथम श्रुतके भंडारको भरा है। द्रव्यानुयोगको सर्वप्रथम पुस्तकारूढ करनेवाले प्रमुख आचार्य भगवान् कुन्दकुन्द हैं। इनकी और इनके द्वारा रचित श्रुतकी महिमा इसीसे जानी जा सकती है कि भगवान् महावीर और गौतम गणधरके बाद इनका स्मरण किया जाता है। उत्तरकालमें आचार्य गृद्धपिच्छ, बट्टकेर, शिवकोटि समन्तभद्र, पूज्यपाद, भट्टाकलंकदेव, विद्यानन्दि और योगीन्द्रदेव प्रभृति सभी आचार्योंने तथा राजमलजी, बनारसीदासजी आदि विद्वानोंने इनका अनुसरण किया है। आचार्य अमृतचन्द्रके विषयमें तो इतना ही लिखना पर्याप्त है कि मानो इन्होंने भगवान् कुन्दकुन्दके पादमूलमे बैठकर ही समयसार आदि श्रुतकी टीकायें लिखी हैं।

चरणानुयोगको पुस्तकारूढ करनेवाले प्रथम आचार्य वट्टकेरस्वामी हैं। इनके द्वारा निबद्ध मूलाचार इतना सागोपाग है कि आचार्य वीरसेन इसका आचारांग नाम द्वारा उल्लेख करते हैं। उत्तरकालमें जिन आचार्यों और विद्वानोंने मुनि आचार पर जो भी श्रुत निबद्ध किया है उसका मूल स्रोत मूलाचार ही है। आचार्य वसुनन्दिने इस पर एक टीका लिखी है। भट्टारक सकलकीर्तिने भी मूलाचारप्रदीप नामक एक ग्रन्थकी रचना की है। उसका मूल स्रोत भी मूलाचार ही है। इसी प्रकार चार आराधनाओंको लक्ष्य कर आचार्य शिवकोटिने आराधनासार नामक श्रुतकी रचना की है। श्रुतके क्षेत्रमे मूल श्रुतके समान इसकी भी प्रतिष्ठा है।

श्रावकाचारका प्रतिपादन करनेवाला प्रथम श्रुतग्रन्थ रत्नकरण्डश्रावकाचार है। यह आचार्य समन्तभद्रकी कृति है, जिसका मूल आधार उपासकाध्ययनाग है। इसके बाद अनेक अन्य आचार्यों और विद्वानोंने गृहस्थधर्मके ऊपर अनेक ग्रन्थोंकी रचनायें की हैं।

प्रथमानुयोगमें महापुराण, पद्मपुराण और हरिवंशपुराण प्रसिद्ध हैं। इनकी रचना भी यथासम्भव परिपाटी क्रमसे आये हुए अंग-पूर्व श्रुतके आधारसे की गई है। जिन आचार्योंने इस श्रुतको सम्यक् प्रकारसे अवधारण कर निबद्ध किया है उनमें आचार्य जिनसेन (महापुराणके कर्ता) आचार्य रविषेण और आचार्य जिनसेन (हरिवंशपुराणके कर्ता) मुख्य है।

इस तरह चारों अनुयोगोंमे विभक्त समग्र मूल श्रुतकी रचना आनुपूर्वीसे प्राप्त अंगपूर्वश्रुतके आधारसे ही इन श्रुतधर आचार्योंने की है ऐसा यहाँ समझना चाहिए। जैन परम्परामे पूर्व-पूर्व श्रुतकी अपेक्षा ही उत्तर-उत्तर श्रुतको प्रमाण माना गया है सो सर्वत्र इस तथ्यको ध्यानमें रखकर श्रुतकी प्रमाणता स्वीकार करनी चाहिए।



सम्यक्श्रुत-परिचय

इस समय इस भरतक्षेत्रमे केवली, श्रुतकेवली और अभिन्न दशपूर्वियोका तो सर्वथा अभाव है ही। उत्तर कालमे विशिष्ट श्रुतधर जो ज्ञानी आचार्य हो गये हैं उनका भी अभाव है। फिर भी उन आचार्यों द्वारा लिपिबद्ध किया गया जो भी आगम साहित्य हमें विरासतमें मिला है उसका पूरी तरहसे मूल्याकन करना हम अल्पज्ञोंकी शक्तिके बाहर है।

पूर्व कालमें अरिहन्त परमेष्ठीकी वाणीके रूपमें जिस श्रुतका गणधरदेवने संकलन किया था वह अंगबाह्य और अंगप्रविष्टके भेदसे दो भागोंमें विभक्त किया गया था। अगबाह्य श्रुत मुख्यरूपसे चौदह प्रकारका है—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्प्याकल्प्य, महाकल्प्य, पुण्डरीक, महापुण्डरीक और निषिद्धिका। तथा अंगप्रविष्ठ श्रुत बारह प्रकारका है—आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तःकृद्दशा, अनुत्तरौपपादिकदशा, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद। इनमेसे दृष्टिवाद श्रुतके पाँच अर्थाधिकार है—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। परिकर्म पाँच प्रकारका है—चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति। पूर्वगतके चौदह अर्थाधिकार है—उत्पादपूर्व, आग्रायणीय, वीर्यानुप्रवाद, अस्ति-नास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यानप्रवाद, विद्यानुवाद, कल्याणनामधेय, प्राणावाय, क्रियाविशाल और लोकबिन्दुसार। तथा चूलिका पाँच प्रकारकी है—जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगता।

यह मूल श्रुत है। किन्तु कालदोषवश उत्तरोत्तर उसका ह्रास होने पर आजसे लगभग साधिक दो हजार वर्ष पूर्व अन्तमे धरसेन आचार्य हुए। उन्हे अंग-पूर्वसम्बन्धी अवशिष्ट जो भी ज्ञान प्राप्त था, उसका उन्होंने पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्यको अध्ययन कराया। परिणामस्वरूप इन दोनो आचार्योंने मिलकर षट्खण्डागम श्रुतको निबद्ध कर पुस्तकारूढ किया।

षट्खण्डागम

इन दोनों आचार्योंने षट्खण्डागम श्रुतकी रचना किस आधारसे की इसका विशेष ऊहापोह आचार्य वीरसेनने धवला टीकामें किया है। यहाँ संक्षेपमे इतना लिखना पर्याप्त है कि आग्रायणीय पूर्वको २० वस्तुओंमेसे ५वी वस्तु चयनलब्धिके २० प्राभृतोंमेसे चौथा प्राभृत महाकर्मप्रकृति है। मुख्यतया उसीसे षट्खण्डागमकी उत्पत्ति हुई है। इतना अवश्य है कि इसके कृति आदिक ३४ अधिकार है उनमेसे प्रारम्भके ६ अधिकारोंमे ही इन खण्डोंकी उत्पत्ति हुई है। मात्र जीवस्थानकी सम्यक्त्वोत्पत्तिचूलिकाका मूल आधार दृष्टिवादका दूसरा भेद सूत्र है और गति-अगति चूलिकाका मूल आधार व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग है।

यह समस्त षट्खण्डागमकी रचनाका मूल स्रोत है। इससे विदित होता है कि षट्खण्डागमके रूपमे इस समय जो भी श्रुत उपलब्ध है वह मात्र आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलिकी स्वनिर्मित कृति न होकर अंग-पूर्व श्रुतका ही अवशिष्ट भाग है। इसलिए आगममें इसकी मूल अंग-पूर्व साहित्यके समान ही प्रामाणिकता स्वीकार की गई है। वर्तमान कालमे यह हमारा महान् भाग्य है कि शेष बचे अंग-पूर्व श्रुतके विच्छेदके भय और प्रवचनवत्सलताके कारण आचार्यवर्य धरसेनके मनमें जो अवशिष्ट अंग-पूर्वश्रुतकी सुरक्षाका भाव उदित हुआ था उसीके परिणामस्वरूप इस समय अंग-पूर्वश्रुतके उस अवशिष्ट अंशके दर्शन, श्रवण और मनन करनेका सौभाग्य

प्राप्त हो सका है। इस महान् प्रयासमें आचार्य धरसेन तो श्रेयोभागी हैं ही। साथ ही आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि भी कम श्रेयोभागी नहीं हैं, जिनकी बिलक्षण प्रतिभा और प्रयासके फलस्वरूप अंग-पूर्वश्रुतका यह अवशिष्ट भाग पुस्तकारूढ़ हुआ। भाव विभोर होकर मन-पूर्वक हमारा उन भावप्रवण परम सन्त आचार्योंको नो आगमभाव नमस्कार है। सम्यक् श्रुतके प्रकाशक वे तो धन्य है ही, उनकी षट्खण्डागमस्वरूप यह अनुपम कृति भी धन्य है।

षट्खण्डागमके जो छह खण्ड है उनमें प्रथम खण्डका नाम जीवस्थान है। उसके सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व ये आठ अनुयोगद्वार तथा प्रकृति समुत्कीर्तना, स्थान समुत्कीर्तना, तीन महादण्डक, जघन्य स्थिति, उत्कृष्ट स्थिति, सम्यक्त्वोत्पत्ति और गति-आगति ये नौ चूलिकाएँ हैं। इन अधिकारोंके जो नाम है उनके अनुसार ही गुणस्थानों और मार्गणाओंका आश्रय लेकर इसमें जीवोंका वर्णन किया गया है।

दूसरा खण्ड क्षुल्लकबन्ध है। इसके स्वामित्वादि ग्यारह अधिकार हैं। उनके द्वारा इस खण्डमें बन्धक और अबन्धक जीवोंका संक्षेपसे निरूपण किया गया है। इस खण्डकी एक चूलिका भी है। उक्त अर्थका और साथ ही अनुक्त अर्थका विशेष रूपसे कथन करनेवाले प्रकरणको चूलिका कहते है। इसमें महादण्डक सूत्रोंका समावेश कर सब जीवोंकी अपेक्षा अल्पबहुत्वका निरूपण किया गया है।

तीसरा खण्ड बन्धस्वामित्वविचय है। इसमें चौदह गुणस्थानों और चौदह मार्गणाओंकी अपेक्षा ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंकी उत्तर प्रकृतियोंका कौन जीव बन्धक है और कौन जीव अबन्धक है इसका विस्तारसे विचार किया गया है।

चौथा खण्ड वेदना है। इसमे सर्वप्रथम वेदना खण्डकी उत्पत्तिके मूल स्रोतका निर्देश करते हुए मूलमें ही बतलाया है कि आग्रायणीय पूर्वकी पाँचवी वस्तुके कर्मप्रकृति नामक चौथे प्राभृतके कृति और वेदना आदि २४ अनुयोगद्वार हैं। कृति और वेदनामें वेदनाकी प्रधानता होनेसे इस खण्डको वेदनाखण्ड कहते हैं। उनमेंसे कृतिका निरूपण करते हुए उसके १ नामकृति, २ स्थापनाकृति, ३ द्रव्यकृति, ४ गणनाकृति, ५ ग्रन्थकृति, ६ करणकृति और ७ भावकृतिका प्रथम अधिकार द्वारा निरूपण किया गया है। तथा वेदनाका निरूपण करते हुए उसका वेदनानिक्षेप आदि १६ अधिकारों द्वारा निरूपण किया गया है। इस प्रकार इन दो अधिकारोंके आश्रयसे वेदनाखण्डमें कृति और वेदनाका निरूपण हुआ है।

पाँचवा खण्ड वर्गणा है। इसमें स्पर्श, कर्म, प्रकृति तथा बन्धनके बन्धविधान भेदको छोड़कर बन्ध, बन्धक और बन्धनीयका कथन हुआ है। विशेष खुलासा इस प्रकार है—

१. स्पर्शअनुयोगद्वारके स्पर्शनिक्षेप, स्पर्शनयविभाषणता आदि १६ अनुयोगद्वार है। उनमेंसे स्पर्शनिक्षेपके नामस्पर्श, स्थापनास्पर्श, द्रव्यस्पर्श, एकक्षेत्रस्पर्श, अनन्तरक्षेत्रस्पर्श, देशस्पर्श, त्वक्स्पर्श, सर्वस्पर्श, स्पर्शस्पर्श, कर्मस्पर्श, बन्धस्पर्श, भव्यस्पर्श और भावस्पर्श इन तेरह प्रकारके स्पर्शोंका, किस स्पर्शको कौन नय स्वीकार करता है यह स्पष्टीकरण करके कथन किया गया है।

२. कर्मअनुयोगद्वारके कर्मनिक्षेप, कर्मनयविभाषणता आदि सोलह अधिकार हैं। उनमेंसे कर्मनिक्षेपके नामकर्म, स्थापनाकर्म, द्रव्यकर्म, प्रयोगकर्म, समवदानकर्म, अधःकर्म, ईर्यापथकर्म, तपःकर्म, क्रियाकर्म और भावकर्म ये दस भेद हैं। इनमेंसे किस कर्मको कौन नय स्वीकार करता है इसका निर्देश करनेके बाद इस अनुयोगद्वारमें उक्त दस कर्मोंका कथन किया गया है।

३. प्रकृति अनुयोगद्वारके भी प्रकृतिनिक्षेप, प्रकृतिनयविभाषणता आदि सोलह अधिकार हैं। उनमेंसे प्रकृतिनिक्षेपके चार भेद हैं। कौन नय किस निक्षेपको स्वीकार करता है यह बतला कर इसमें प्रकृतिनिक्षेपके चार भेदोंका तथा प्रसंगसे मतिज्ञान आदि ज्ञानोंके अवान्तर भेदोंका सांगोपांग कथन किया गया है।

४. बन्धकके चार भेद हैं—बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान। इनमेंसे बन्धके नामबन्ध, स्थापनाबन्ध, द्रव्यबन्ध और भावबन्ध ये चार भेद हैं। नैगम, व्यवहार और सग्रहनय इन सब बन्धोंको स्वीकार करता है। ऋजुसूत्रनय स्थापनाको स्वीकार नहीं करता, शेषको स्वीकार करता है। तथा शब्दनय नामबन्ध और भावबन्धको स्वीकार करता है। इस प्रकार ये चार प्रकारके बन्ध हैं। इनका विस्तृत विवेचन तो बन्धन अनुयोगद्वारमें किया ही है। साथ ही बन्धकका एक उदाहरण देकर तदनुसार 'महादण्डक जानने चाहिए' यह संकेतकर बन्धनीयका विस्तारके साथ विचार करते हुए वर्गणा, वर्गणासमुदाहार, अनन्तरोपनिधा, परम्परोपनिधा, अवहार, यवमध्य, पदमीमांसा और अल्पबहुत्व इन आठ अधिकारोंका आश्रय लेकर २३ प्रकारकी वर्गणाओंका इस अनुयोगद्वारमें निरूपण किया गया है। इसके बाद इसकी चूलिका प्रारम्भ होती है। इसमें निगोदका, बारहवें गुणस्थानवर्ती वीतराग साधुके शरीरमेंसे उनके अभाव होनेके क्रमका तथा अन्य अनेक उपयोगी विषयोंका विस्तारके साथ प्रतिपादन किया गया है। अन्तमें बन्धनके चौथे भेद 'बन्धविधानके चार भेद हैं—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध।' इतना संकेत मात्र किया है। मात्र इस सूत्रकी टीका करते हुए वीरसेन स्वामी लिखते हैं—'इन चार बन्धोंका विधान भूतबलि भट्टारकने महाबन्धमें विस्तारके साथ लिखा है, इसलिए हमने यहाँपर नहीं लिखा है। अतः सकल महाबन्धको यहाँ कथन करनेपर बन्धविधान समाप्त होता है।

छठा खण्ड महाबन्ध है। इसमें बन्धनके चौथे भेद बन्धविधानका प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध इन चार अधिकारों द्वारा विस्तारसे वर्णन किया गया है। खुलासा इस प्रकार है—

१ प्रकृतिबन्ध—इस नामके अनुयोगद्वारमें प्रकृतिबन्धका विवेचन ओघ और आदेशसे प्रकृतिसमुत्कीर्तना आदि २४ अनुयोगद्वारोंका आश्रय लेकर विस्तारके साथ किया गया है। यह दुर्भाग्यकी बात है कि इस अनुयोगद्वारके मूल ताड़पत्रीय प्रतिका प्रारम्भिक भाग त्रुटित हो जानेके कारण प्रकृति समुत्कीर्तनाका प्रारम्भका कुछ भाग तथा ताडपत्रका २८वां पत्र त्रुटित हो जानेके कारण बन्धस्वामित्वविचयका मध्यका भाग वर्तमानमें उपलब्ध नहीं है। इससे यह ज्ञान सहज हो जाता है कि किस प्रकृतिके बन्धका स्वामी कौन है, कितना काल और अन्तर है आदि। साथ ही इससे हमें यह ज्ञान भी हो जाता है कि किस प्रकृतिका बन्ध होते समय अन्य किन प्रकृतियोंका बन्ध होता है। इसके अल्पबहुत्व अनुयोगद्वारका विवेचन करते हुए उसके जीवअल्पबहुत्व और अद्धाअल्पबहुत्व ऐसे दो भेद कर दिये है, इससे किस प्रकृतिके बन्धक जीवोंसे तद्भिन्न प्रकृतियोंके बन्धक जीवोंके अल्पबहुत्वका क्या क्रम है इसका ज्ञान तो हो ही जाता है। साथ ही कालकी अपेक्षा भी परिवर्तमान प्रकृतियोंके बन्धकालका परस्पर अल्पबहुत्व किस प्रकारका है यह ज्ञान भी हो जाता है।

२. स्थितिबन्ध—इस अनुयोगद्वारमें पहले मूलप्रकृतिस्थितिबन्धकी प्ररूपणा करके बादमें उत्तरप्रकृतिस्थितिबन्धकी प्ररूपणा की गई है। मूलप्रकृतिस्थितिबन्धकी प्ररूपणा करते समय पहले स्थितिबन्धस्थानप्ररूपणा, निषेकप्ररूपणा, आबाधाकाण्डकप्ररूपणा और अल्पबहुत्व इन चार अनुयोगद्वारोंके आश्रयसे उसकी प्ररूपणा की गई है। तथा इसके बाद २४ अनुयोगद्वारोको आधार बनाकर ओघ और आदेशसे स्थितिबन्धकी प्ररूपणा की गई है। उत्तरप्रकृतिस्थितिबन्धके कथनमें भी यही पद्धति स्वीकार की गई है। अन्तर केवल इतना है कि

मूलप्रकृतिस्थितिबन्धकी प्ररूपणामें ज्ञानावरणादि आठ मूलप्रकृतियोंका अवलम्बन लिया गया है और उत्तर-प्रकृतिस्थितिबन्धकी प्ररूपणामें मूलप्रकृतियोंके अवान्तर भेदोंको अवलम्बन बनाया गया है।

स्थितिबन्धस्थानका कथन करते समय चौदह जीवसमासोंमें स्थितिबन्धस्थानोंका, संक्लेशविशुद्धिस्थानोंका और स्थितिबन्धका अल्पबहुत्व बतलाया गया है। निषेकप्ररूपणाका अनन्तरोपनिधा और परम्परोपनिधा इन दो अधिकारोंका आलम्बन लेकर विचार किया गया है। विवक्षित निषेकसे समनन्तर स्थितिमें स्थित निषेकमें कितनी हानि होती है इसका विचार अनन्तरोपनिधा अधिकार द्वारा किया गया है। तथा विवक्षित निषेकसे पल्यके असंख्यातवें भागप्रमाण स्थान आनेपर कितनी हानि होती है इसका विचार परम्परोपनिधा अधिकार द्वारा किया गया है।

आबाधाका विवेचन करते हुए बतलाया है कि मोहनीयका सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर स्थितिबन्ध होने पर सात हजार वर्षप्रमाण आबाधा प्राप्त होती है। आबाधाका विचार इसी अनुपातसे सर्वत्र करना चाहिए। मात्र अन्तःकोडाकोड़ी प्रमाण स्थितिबन्ध होनेपर अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आबाधा प्राप्त होती है। आयुकर्मकी अबाधा परभवसम्बन्धी आयुका बन्ध होते समय जो भुज्यमान आयु शेष रहती है तत्प्रमाण होती है।

आबाधाकाण्डकका विवेचन करते हुए बतलाया है कि आयुके सिवा शेष सात कर्मोंका अपने-अपने उत्कृष्ट स्थितिसे लेकर पल्यके असंख्यातवें भाग कम स्थितिबन्धके प्राप्त होने तक प्राप्त स्थितियोंका एक आबाधाकाण्डक होता है। अर्थात् इतनी स्थितियोंमेंसे किसी भी स्थितिका बन्ध होनेपर उन सब स्थितियोंकी एक समान आबाधा प्राप्त होती है। अर्थात् इतने स्थिति विकल्पोंकी अपने-अपने अनुपातसे उत्कृष्ट आबाधा प्राप्त होती है। इसके बाद इतने ही स्थितिविकल्पोंकी एक समय कम आबाधा होती है। इसी प्रकार यथायोग्य शेष स्थितिबन्धमें भी आबाधा जाननी चाहिए। यहाँ जितने स्थितिविकल्पोंकी एक आबाधा होती है उनकी एक आबाधाकाण्डक संज्ञा है। इसे लानेका क्रम यह है कि उत्कृष्ट आबाधाका भाग उत्कृष्ट आबाधान्यून उत्कृष्ट स्थितिमें देनेपर एक आबाधाकाण्डकका प्रमाण आता है। सब जीवसमासोंमें आबाधाकाण्डकका प्रमाण इसी विधिसे प्राप्त कर लेना चाहिए। मात्र आयुकर्ममें यह नियम लागू नहीं होता, क्योंकि वहाँ स्थितिबन्धके अनुपातसे आबाधा नहीं प्राप्त होती।

अल्पबहुत्वकी प्ररूपणा करते हुए आबाधा, आबाधास्थान आदिके अल्पबहुत्वका निर्देश किया है।

इस प्रकार स्थितिबन्धके सम्बन्धमें सामान्य प्ररूपणा करके आगे उसका अद्धाच्छेद आदि चौबीस अनुयोगद्वारों तथा भुजगार, पदनिक्षेप और वृद्धि अनुयोगद्वारोंके आश्रयसे कथन किया गया है। यह मूल-प्रकृतिबन्धकी मीमांसा है। उत्तरप्रकृतिस्थितिबन्धका विचार भी इसी प्रक्रियासे किया गया है। अन्तर है तो केवल इतना ही कि मूलप्रकृतिस्थितिबन्धमें आठ मूल प्रकृतियोंके आश्रयसे विचार किया गया है और उत्तर-प्रकृतिस्थितिबन्धमें १२० उत्तर प्रकृतियोंके आश्रयसे विचार किया गया है। यद्यपि प्रकृतियाँ १४८ हैं तथापि दर्शनमोहकी सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व ये दो अबन्ध प्रकृतियाँ हैं। पाँच बन्धनों और पाँच संघातोंका पाँच शरीरोंमें अन्तर्भाव हो जाता है। तथा स्पर्शादिकके बीस भेदोंके स्थानमें सामान्यसे स्पर्शादिक चारका ही ग्रहण किया है इसलिए २८ प्रकृतियाँ कम होकर बन्धमें १२० प्रकृतियाँ ही ली गई हैं।

स्थितिबन्धके मुख्य भेद चार हैं यह हम पहले लिख आये हैं। स्थिति और अनुभाग बन्धका मुख्य कारण कषाय है। कहा भी है—ठिदि-अणुभागा कसायदो होंति।

स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषायसे होता है।

यहाँ स्थितिबन्धके कारणभूत कषायोंकी कषायाध्यवसानस्थान संज्ञा बतलाई है। इन्हें ही स्थितिबन्धाध्यवसानस्थान भी कहते हैं। साता और असाता वेदनीयके स्थितिबन्धके साथ अन्य कर्मोंके स्थितिबन्धका प्रकार क्या है इसका निर्देश करते हुए यहाँ बतलाया है—

वहाँ जो ज्ञानावरणीय कर्मके बन्धक जीव हैं वे दो प्रकारके हैं—सातबन्धक और असातबन्धक। जो वे सातबन्धक जीव हैं वे तीन प्रकारके हैं—चतुःस्थानबन्धक, त्रिस्थानबन्धक और द्विस्थानबन्धक। वहाँ जो वे असातबन्धक जीव हैं वे तीन प्रकारके हैं—द्विस्थानबन्धक, त्रिस्थानबन्धक और चतुःस्थानबन्धक। सर्वविशुद्ध साताके चतुःस्थानबन्धक जीव है। त्रिस्थानबन्धक जीव संक्लिष्टतर हैं। द्विस्थानबन्धक जीव उनसे भी संक्लिष्टतर हैं। सर्वविशुद्ध असाताके द्विस्थान बन्धक जीव है। त्रिस्थानबन्धक जीव संक्लिष्टतर है। चतुःस्थानबन्धक जीव उनसे भी संक्लिष्टतर है।

साताके चतुःस्थानबन्धक जीव ज्ञानावरण कर्मकी जघन्य स्थितिका बन्ध करते है। त्रिस्थान बन्धक जीव ज्ञानावरण कर्मकी अजघन्यानुत्कृष्ट स्थितिका बन्ध करते है। द्विस्थानबन्धक जीव सातावेदनीयकी ही उत्कृष्ट स्थितिका बन्ध करते है। असाताके द्विस्थान बन्धक जीव स्वस्थानकी अपेक्षा ज्ञानावरण कर्मकी जघन्य स्थितिका बन्ध करते है। त्रिस्थानबन्धक जीव ज्ञानावरण कर्मकी अजघन्यानुत्कृष्ट स्थितिका बन्ध करते हैं। चतुःस्थानबन्धक जीव असातावेदनीयकी ही उत्कृष्ट स्थितिका बन्ध करते है।

यह स्थितिबन्धका प्रकरण है, अनुभाग बन्धका नही। इसमे जिन परिणामोमे सब कर्मोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है उनकी संक्लेश संज्ञा रखी है और जिन परिणामोसे जघन्य स्थितिबन्ध होता है उनकी विशुद्धि संज्ञा रखी है। मात्र तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु और देवायु इस नियमके अपवाद है। उन तीन आयुओंके उत्कृष्ट स्थितिबन्धके योग्य परिणामोंकी विशुद्धि संज्ञा और जघन्य स्थितिबन्धके योग्य परिणामोंकी संक्लेश संज्ञा रखी है। पूर्वमें जो हम महाबन्धका उद्धरण दे आये है उसमे साता और असातावेदनीयके किस प्रकारके अनुभागबन्धके साथ शेष कर्मोंके स्थितिबन्धकी क्या प्रक्रिया है यह मिलान करके बतलाया गया है। इससे विदित होता है कि अनुभागबन्धमे जिन परिणामोंकी संक्लेश और विशुद्धि संज्ञा है, स्थितिबन्धके प्रकरणमे उनकी वे संज्ञाएँ दूसरे प्रकारसे रखी गई है। इसे विशेषरूपसे समझनेके लिए जीवसमुदाहार अनुयोगद्वार द्रष्टव्य है।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि क्षपकश्रेणिमे जिन प्रकृतियोंका जघन्य स्थितिबन्ध होता है वहाँ बन्धके योग्य परिणामोंके लिए संक्लेशरूप या विशुद्धिरूप किसी प्रकारकी संज्ञाका प्रयोग नही किया गया है। उदाहरणार्थ सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमे पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, सातावेदनीय, यशःकीर्ति, उच्चगोत्र और पाँच अन्तराय इन १७ प्रकृतियोंका जघन्य स्थितिबन्ध होता है, सो इसके स्वामित्वका निर्देश करते हुए लिखा है कि 'जो अन्यतर क्षपक सूक्ष्मसाम्परायिक जीव अन्तिम जघन्य स्थितिबन्ध कर रहा है वह इन प्रकृतियोंके जघन्य स्थिति बन्धका स्वामी है।' इस पद्धतिमे यह कथन स्थितिबन्ध अधिकारमे ही किया गया हो यह बात नहीं है, अनुभागबन्ध अधिकारमें भी इस पद्धतिको स्वीकार किया गया है। यथा—

'सातावेदनीय—यशःकीर्ति-उच्चगोत्रका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध किसके होता है? अन्तिम समयमे उत्कृष्ट अनुभागबन्ध करनेवाले अन्यतर क्षपक सूक्ष्मसाम्परायिक जीवके होता है।'

'ओघसे पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, पाँच अन्तरायका जघन्य अनुभागबन्ध किसके होता है? अन्तिम समयमे जघन्य अनुभागबन्ध करनेवाले अन्यतर क्षपक सूक्ष्मसाम्परायिक जीवके होता है। निद्रा-प्रचलाका जघन्य अनुभागबन्ध किसके होता है? निद्रा-प्रचलाके बन्धके अन्तिम समयमे विद्यमान अपूर्वकरण क्षपकके

होता है। क्रोध संज्वलनका जघन्य अनुभागबन्ध किसके होता है ? क्रोधसंज्वलनका अन्तमें अनुभागबन्ध करनेवाले अन्यतर क्षपक अनिवृत्तिकरण जीवके होता है।

ये महाबन्धके स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध अधिकारके महत्त्वपूर्ण उल्लेख हैं। इनको दृष्टिपथमें लेनेसे विदित होता है कि श्रेणि आरोहणके समयसे लेकर कषायविकल्प विश्रान्त होकर उपयोग परिणति वीतराग-स्वरूप हो जाती है। यही कारण है कि वहाँ द्रव्यानुयोगमें ध्यानकी एकतानताका निर्देश करते हुए बतलाया है कि जहाँ अन्तर्जल्प और बहिर्जल्पका अभाव होकर अनुभूतिमात्र आत्माकी अवस्था होती है वही परम उत्कृष्ट ध्यान है।

३ अनुभागबन्ध—इस अनुयोगद्वारके मूलप्रकृतिअनुभागबन्ध और उत्तरप्रकृतिअनुभागबन्ध ये दो विभाग हैं। मूलप्रकृतिअनुभागबन्धका विवेचन करते हुए सर्वप्रथम निषेकप्ररूपणा और स्पर्धकप्ररूपणाका विवेचन किया है।

निषेकप्ररूपणा—प्रति समय जो मूल और तदनुरूप उत्तर प्रकृतियोंका बन्ध होता है उसका दो प्रकारसे होता है—एक तो स्थितिबन्धकी अपेक्षा और दूसरा अनुभागबन्धकी अपेक्षा। आबाधा कालको छोड़कर शेष स्थितियोंके प्रत्येक समयमें जो कर्मपुञ्ज प्राप्त होता है उसे स्थितिबन्धकी अपेक्षा निषेक कहते हैं। इस प्रकार प्रत्येक समय बंधनेवाला कर्म अपनी-अपनी स्थितिके अनुसार आबाधासे ऊपरके सब स्थिति-विकल्पोंमें उत्तरोत्तर एक-एक चयकी हानिके क्रमसे विभाजित होता रहता है। मात्र आबाधाका जितना काल परिमाण होता है उसमें निषेक रचना नहीं होती। यह तो स्थितिबन्धके अनुसार बँधनेवाले कर्मके विभाजनका क्रम है। अनुभागकी अपेक्षा जघन्य अनुभागवाले कर्म परमाणुओंकी प्रथम वर्गणा होती है। तदनुसार प्रत्येक परमाणुको वर्ग कहते हैं। क्रमवृद्धिरूप अनुभागशक्तिको लिए हुए अन्तर रहित ये वर्गणायें जहाँ तक पाई जाती है उन सबको मिलकर स्पर्धक संज्ञा है। ये स्पर्धक देशघाति और सर्वघाति दो प्रकारके होते हैं। ये दोनों प्रकारके स्पर्धक स्थितिबन्धके अनुसार जो निषेक रचना कही है उसके प्रथम निषेकसे लेकर अन्त तक पाये जाते हैं।

स्पर्धकप्ररूपणा—पर्यायशक्तिके अविभागी अंशका नाम अविभागप्रतिच्छेद है। ऐसे अनन्त अविभाग-प्रतिच्छेद एक वर्गमें पाये जाते हैं। तथा वे वर्ग मिलकर एक वर्गणा बनती है और ऐसी अनन्तानन्त वर्गणाएँ मिलकर एक स्पर्धक होता है। इतना अवश्य है कि प्रथम वर्गणाके प्रत्येक वर्गमें समान अविभागप्रतिच्छेद होते हैं। दूसरी वर्गणाके प्रत्येक वर्गमें एक अधिक अविभागप्रतिच्छेद होते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक स्पर्धककी अन्तिम वर्गणा तक जानना चाहिए।

ये दो अनुयोगद्वार आगेकी प्ररूपणाके मूल आधार हैं। उनके अनुसार अनुभागबन्धका विचार संज्ञा आदि २४ अधिकारों द्वारा किया गया है।

संज्ञाका विचार करते हुए बतलाया है—संज्ञा दो प्रकारकी है—घातिसंज्ञा और स्थानसंज्ञा। जो ज्ञानावरणादि आठ कर्म हैं वे घाति और अघाति इन दो भागोंमें विभाजित हैं। घातिकर्म भी दो प्रकारके हैं—देशघाति और सर्वघाति। घातिकर्मोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध सर्वघाति ही होता है। अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध सर्वघाति और देशघाति दोनों प्रकारका होता है। जघन्य अनुभागबन्ध देशघाति ही होता है। अजघन्य अनुभागबन्ध देशघाति और सर्वघाति दोनों प्रकारका होता है। तथा अघातिकर्मोंका अनुभागबन्ध देशघाति ही होता है।

स्थानसंज्ञाका कथन करते हुए बतलाया है—चारों घातिकर्मोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध चतुःस्थानिक होता है। अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध चतुःस्थानिक, त्रिस्थानिक, द्विस्थानिक और एकस्थानिक होता है। जघन्य अनुभागबन्ध एकस्थानिक होता है। अजघन्य अनुभागबन्ध द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक होता है। चार अघाति कर्मोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध चतुःस्थानिक होता है। अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध चतुःस्थानिक, त्रिस्थानिक और द्विस्थानिक होता है। जघन्य अनुभागबन्ध द्विस्थानिक होता है। अजघन्य अनुभागबन्ध द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक होता है।

आगे सर्वबन्ध और नोसर्वबन्ध आदि १० अनुयोगद्वारोंका निर्देश करके स्वामित्वका विचार करते हुए बतलाया है कि इसको समझनेके लिए प्रत्ययानुगम, विपाकदेश तथा प्रशस्ताप्रशस्तप्ररूपणा ये तीन अधिकार ज्ञातव्य है। विवरण इस प्रकार है—

प्रत्ययानुगमका विचार करते हुए कर्मबन्धके मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग ये चार प्रत्यय कहे है। उनमेंसे छह कर्म मिथ्यात्वप्रत्यय, असंयमप्रत्यय और कषायप्रत्यय होते है। वेदनीयकर्म मिथ्यात्वप्रत्यय, असंयमप्रत्यय, कषायप्रत्यय और योगप्रत्यय होता है। तात्पर्य यह है कि वेदनीयका केवल योगके निमित्तसे भी बन्ध होता है, इसलिए उसके बन्धके हेतु चार कहे है। किन्तु ज्ञानावरणादि छह कर्मोंका केवल योगके निमित्तसे बन्ध नहीं होता, इसलिए उनके बन्धके हेतु तीन कहे है। यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि पूर्व पूर्व हेतुके सद्भावमे आगे आगेके हेतु होते ही है। किन्तु आगे आगेके हेतुके सद्भावमे पूर्व पूर्वके हेतु होते भी हैं और नही भी होते। यहाँ आयुकर्मका बन्ध किस प्रत्ययसे होता है इसका निर्देश नही किया।

विपाकदेशका विचार करते हुए छह कर्मोंको जीवविपाकी, आयुकर्मको भवविपाकी तथा नामकर्मको जीवविपाकी, पुद्गलविपाकी और क्षेत्रविपाकी बतलाया है।

प्रशस्ताप्रशस्तप्ररूपणाका विचार करते हुए चार घातिकर्मोंको अप्रशस्त तथा अघाति कर्मोंको प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों प्रकारका बतलाया है।

इस प्रकार स्वामित्वके लिए उपयोगी इन तीन अधिकारोंका प्ररूपण कर बादमे स्वामित्व आदि शेष अधिकारोंका तथा १३ अधिकारों द्वारा भुजगारका, ३ अधिकारो द्वारा पदनिक्षेपका और १३ अधिकारो द्वारा वृद्धिका विचार किया है। तथा सबके अन्तमें अध्यवसानसमुदाहार और जीवसमुदाहारका अपने अवान्तर अधिकारोंके आश्रयसे कथन कर मूलप्रकृतिअनुभागबन्ध प्ररूपणा समाप्त की है। उत्तरप्रकृति अनुभागबन्ध प्ररूपणाका विचार भी इसी विधिसे किया है। मात्र वहाँ मूल प्रकृतियोके स्थानमे उत्तर प्रकृतियोंके आश्रयसे यह प्ररूपणा की है।

४ प्रदेशबन्ध—महाबन्धका चौथा भाग प्रदेशबन्ध है। इसमे प्रदेशबन्धके क्रमका निर्देश करते हुए बतलाया है कि सुख-दुःखके निमित्तसे वेदनीयकर्मकी अधिक निर्जरा होती हैं, इसलिए इसे सबसे अधिक प्रदेश मिलते है। उसके बाद स्थितिबन्धके प्रतिभागके अनुसार मोहनीय आदि कर्मोंको प्रदेश मिलते है। इस प्रकार इस अनुयोगद्वारमे प्रदेशबन्धका सागोपाग विचार किया गया है।

अनुपलब्ध चार टीकाएँ

षट्खण्डागमका समस्त जैन वाङ्मयमे जो महत्त्वपूर्ण स्थान है और उनमें जीवसिद्धान्त तथा कर्म-सिद्धान्तका जैसा विस्तारसे सांगोपाग विवेचन किया गया है उसे देखते हुए इतने महान् ग्रन्थ पर सबसे पूर्व आचार्य वीरसेनने ही टीका लिखी होगी यह बुद्धिग्राह्य प्रतीत नही होता। इस दृष्टिसे इन्द्रनन्दिके श्रुतावतार-पर दृष्टिपात करनेसे विदित होता है कि सर्व प्रथम षट्खण्डागम और कषायप्राभृत इन दोनों सिद्धान्तोंका

ज्ञान गुरुपरिपाटीसे कुण्डकुन्दपुरमें पद्मनन्दि मुनिको प्राप्त हुआ और उन्होंने सबसे पहले षट्खण्डागमके प्रथम तीन खण्डोंपर बारह हजार श्लोक प्रमाण परिकर्म नामकी एक टीका लिखी। यह तो स्पष्ट है कि इन्द्रनन्दिने प्रकृतमें जिन पद्मनन्दि मुनिका उल्लेख किया है वे प्रातःस्मरणीय कुन्दकुन्द आचार्य ही होने चाहिए।

इन्द्रनन्दिने दूसरी जिस टीकाका उल्लेख किया है वह शामकुण्ड आचार्यकृत थी वह छठे खण्डको छोड़कर पाँच खण्डों और कषायप्राभृत इस प्रकार दोनों सिद्धान्त ग्रन्थोंपर लिखी गई थी। इसका नाम पद्धति था। भाषा प्राकृत, संस्कृत तथा कानडी थी। प्रमाण बारह हजार श्लोक था।

इन्द्रनन्दिने तीसरी जिस टीकाका उल्लेख किया है वह तुम्बुलूर ग्रामनिवासी तुम्बुलूर आचार्य कृत थी। यह महाबन्ध नामक छठे खण्डको छोड़ कर दोनों सिद्धान्त ग्रन्थोंकी टीकाके रूपमें लिखी गई थी। नाम चूडामणि और प्रमाण चौरासी हजार श्लोक था। भाषा कानडी थी।

तथा इन्द्रनन्दिने चौथी जिस टीकाका उल्लेख किया है वह तार्किकार्क समन्तभद्रद्वारा अत्यन्त सुन्दर मृदुल संस्कृत भाषामें महाबन्धको छोड़ कर शेष पाँच खण्डोंपर लिखी गई थी। उसका प्रमाण ४८ हजार श्लोक था।

ये चार टीकाएँ हैं जिनका उल्लेख इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें किया है। किन्तु धवला टीका लिखते समय वीरसेन स्वामीके समक्ष आचार्य कुन्दकुन्द रचित परिकर्मको छोड़कर अन्य तीन टीकाएँ उपस्थित थी यह धवला टीकासे ज्ञात नहीं होता। उत्तर कालमें इनका क्या हुआ यह कहना बड़ा कठिन है। परिकर्म भी वही है जिसका इन्द्रनन्दिने परिकर्म टीकाके रूपमें उल्लेख किया है यह कहना भी कठिन है।

धवला टीका

वर्तमान समयमें हमारे समक्ष षट्खण्डागमके प्रारम्भके पाँच खण्डोंपर लिखी गई एकमात्र धवला टीका ही उपलब्ध है। इसकी रचना सिद्धान्तशास्त्र, छन्दशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, व्याकरणशास्त्र और प्रमाणशास्त्रके पारगामी तथा भट्टारक पदसे समलंकृत वीरसेन आचार्यने की है। यह प्राकृत-संस्कृत भाषामें लिखी गई है। यह तो धवला टीकासे ही ज्ञात होता है कि षट्खण्डागमसे प्रथम खण्ड जीवस्थानपर यह टीका १८ हजार श्लोक प्रमाण है और चौथे वेदनाखण्डपर १६ हजार श्लोकप्रमाण है। किन्तु इसका पूरा प्रमाण ७२ हजार श्लोक बतलाया है। इससे विदित होता है कि दूसरे, तीसरे और पाँचवें खण्डको मिला कर तीन खण्डों तथा निबन्धन आदि १८ अनुयोगद्वारोंपर सब मिला कर इसका परिमाण ३८ हजार श्लोक है। यहाँ यह निर्देश कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि निबन्धन आदि १८ अनुयोगद्वारोंपर आचार्य पुष्पदन्त-भूतबलिकृत सूत्ररचना नहीं है। इसलिए वर्गणाखण्डके अन्तिम सूत्रको देशामर्षक मानकर इन अठारह अनुयोगद्वारोंका विवेचन आचार्य वीरसेनने स्वतन्त्ररूपसे किया है।

इसका 'धवला' यह नाम स्वयं आचार्य वीरसेनने निर्दिष्ट किया नहीं जान पड़ता। यह टीका वद्दिग उपनामधारी अमोघवर्ष (प्रथम) के राज्यके प्रारम्भकालमें समाप्त हुई थी और अमोघवर्षकी एक उपाधि 'अतिशय धवल' भी मिलती है। सम्भव है इसीको ध्यानमें रखकर इसका नाम धवला रखा गया हो। यह धवल पक्षमें पूर्ण हुई थी, इस नामकरणका यह भी एक कारण हो सकता है।

धवला टीकाका प्रमाण बहुत अधिक है। साथ ही उसमें षट्खण्डागमके पाँच खण्डोंमें प्रतिपादित विषयका और निबन्धनादि अठारह अनुयोगद्वारोंका विस्तारसे विवेचन किया गया है, इसलिए यहाँ उसमें प्रतिपादित सभी विषयोंका सांगोपांग परिचय कराना सम्भव नहीं है। यहाँ तो मात्र उसकी शैलीका उल्लेख करके संक्षेपमें उसका जो भी परिचय कराना इष्ट माना जा सकता है, वह षट्खण्डागमका परिचय कराते समय लिख ही आये हैं।

मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्ताका निर्देश करनेके बाद व्याख्यान करनेकी पद्धति पुरानी है। श्री वीरसेन आचार्यने धवला टीकाका प्रारम्भ करते समय इसी पद्धतिका स्वीकार कर षट्खण्डागमके प्रतिपाद्य विषयका विवेचन किया है। यहाँ यह प्रश्न होता है कि जीवस्थानके प्रारम्भमें जब इस पद्धतिका विवेचन कर दिया गया तब फिर वेदनाखण्डका प्रारम्भ करते समय इस पद्धतिका पुनः अनुसरण क्यों किया गया ? समाधान यह है कि जीवस्थान खण्डका संकलन अंग-पूर्वसम्बन्धी प्रारम्भके किसी एक अधिकारसे नहीं हुआ है। यही कारण है कि आचार्य पुष्पदन्त-भूतबलिने इस खण्डके मूलस्रोतका उल्लेख स्वयं अपनी कृतिमें नहीं किया। किन्तु षट्खण्डागमका प्रथम खण्ड जीवस्थान है यह जानकर आचार्य वीरसेनने अपनी टीकाके प्रारम्भमें उक्त पद्धतिका स्पष्टीकरण किया। परन्तु वेदनाखण्डका प्रारम्भ आग्रायणीय पूर्वकी चयनलब्धि वस्तुके महाकर्मप्रकृति प्राभृतके कृति नामक प्रथम अधिकारसे हुआ है और इस तथ्यका स्पष्टीकरण स्वयं आचार्य पुष्पदन्त-भूतबलिने किया है, इसलिए आचार्य वीरसेनको उसका विवेचन करते समय भी पुनः उक्त पद्धतिका स्पष्टीकरण करना पड़ा।

षट्खण्डागममें विविध विषयोंका विवेचन करते समय १४ गुणस्थान और १४ मार्गणाओंका आश्रय लिया गया है। कहीं कहीं चौदह जीवसमासोंके आश्रयसे भी प्रकृत विषयका विवेचन हुआ है। प्रश्न यह है कि यहाँ चौदह मार्गणाओंमें काय, योग और वेद पदमें किसका ग्रहण हुआ है—भावमार्गणाका या द्रव्यमार्गणाका ? क्योंकि अर्वाचीन साहित्यमें कहीं-कहीं कायपदसे औदारिकादि शरीरोंका, योगपदसे द्रव्य मन, वचन और कायकी क्रियाका तथा वेदपदमें द्रव्यवेदका ग्रहण किया गया है, इसलिए यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि सिद्धान्त ग्रन्थोंमें और तदनुसारी गोम्मटसार प्रभृति ग्रन्थोंमें इन पदोंसे किनका ग्रहण हुआ है ? इस प्रश्नके समाधान स्वरूप सत्प्ररूपणाके दूसरे सूत्रमें आये हुए 'इमाणि' पदकी व्याख्या करते हुए आचार्य वीरसेन लिखते हैं—

'इमानि' इस पदसे प्रत्यक्षीभूत भावमार्गणास्थानोंका ग्रहण करना चाहिए, द्रव्यमार्गणाओंका नहीं, क्योंकि द्रव्यमार्गणाएँ देश, काल और स्वभावकी अपेक्षा दूरवर्ती हैं।

यहाँ षट्खण्डागममें अन्य मार्गणाओंके समान काय, योग और वेद ये तीनों भी भावमार्गणाएँ ही ली गई हैं इसका निर्णय क्षुल्लकबन्धसे स्वामित्वानुयोगद्वारके सूत्र १५ से लेकर ३० क्रमांक तकके सूत्रोंमें भले प्रकार हो जाता है।

इसी प्रसंगसे गतिमार्गणामें 'मनुष्यिनी' पद भी विचारणीय है। कुछ भाई ऐसा मानते हैं कि जीवस्थान सत्प्ररूपणाके ९३ संख्याक सूत्रमें 'संयत' पद नहीं है, क्योंकि वह सूत्र द्रव्यस्त्रियोंको लक्ष्यमें रखकर रचा गया है। किन्तु उनकी इस मान्यताका निषेध इसी सूत्रकी धवला टीकासे हो जाता है। उस द्वारा जहाँ उक्त सूत्रके आधारसे सम्यग्दृष्टियोंकी स्त्रियोंमें उत्पत्तिका निषेध किया है वहाँ उसी सूत्रके आधारसे 'मनुष्यिनी' पदका अर्थ द्रव्यस्त्री नहीं है यह भी स्पष्ट कर दिया गया है।

गतिमार्गणामें जीवकी नोआगमभाव पर्याय ली गई है, शरीर नहीं यह क्षुल्लकबन्ध-स्वामित्व अनुयोगद्वारके गतिमार्गणाका विवेचन करनेवाले सूत्रोंसे तथा वर्गणाखण्डके १५वें सूत्रमें भी भली-भाँति सिद्ध है। अतएव गतिमार्गणामें मनुष्योंके सामान्य मनुष्य, मनुष्य पर्याप्त, मनुष्यिनी और अपर्याप्त मनुष्य ये जो चार भेद किये हैं वे जीवविपाकी मनुष्यगति, वेदनोकषाय और पर्याप्त-अपर्याप्त नामकर्मके उदयसे होनेवाली नोआगमभावपर्यायको ध्यानमें रखकर ही किये गये हैं, ऐसा यहाँ जानना चाहिए। गोम्मटसार कर्मकाण्डके उदय प्रकरण (गाथा २९८ से ३०१) का सम्यक् अवलोकन करने पर भी यही ज्ञात होता है कि ये भेद उक्त प्रकृतियोंको ध्यानमें रखकर ही किये गये हैं।

सत्प्ररूपणाके ९३वें सूत्रमें 'मनुष्यिनी' पदका द्रव्यस्त्री अर्थ करनेवाले महानुभावोंको भय यह है कि षट्खण्डागम दिगम्बर परम्पराका अंग-पूर्वगत मूल आधार श्रुत होनेसे यदि उसमे कही भी 'मनुष्यिनी' पदका अर्थ द्रव्यस्त्री' किया गया नहो माना जाय तो द्रव्यस्त्रियोंकी मुक्तिसिद्धिके साथ सवस्त्र मुक्तिकी सिद्धि हो जायगी। किन्तु उनके द्वारा इस भयके कारण मूल आगममे सशोधन किया जाना आगमके आशयको न समझनेका ही कुफल है। आचार्य वीरसेनने इस शंकाको स्वतन्त्र मानकर दो स्थलों पर इसका उत्तर दिया है।

प्रथम तो उन्होंने इस प्रश्नका समाधान जीवस्थान-सत्प्ररूपणाके ९३वें सूत्रकी टीकामे ही कर दिया है। वहाँ वे स्पष्ट लिखते है कि द्रव्यस्त्रियाँ सवस्त्र होनेसे अप्रत्याख्यान गुणस्थानवाली होती है, इसलिए उनके संयमभावकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। इस पर पुनः शंका की गई है कि वस्त्रके रहते हुए भी उनके भाव-संयम बन जानेमें आपत्ति ही क्या है? इसका समाधान करते हुए वे लिखते है कि जब वे भावअसंयमके अवि-नाभावी वस्त्रादिको स्वीकार किये रहती है, ऐसी अवस्थामे उनके भावसंयम नही बन सकता।

दूसरा स्थल वेदनाकालविधानके १२वें सूत्रको टीका है। यहाँ पर सिद्धान्त ग्रन्थोंमें स्त्रीवेद शब्दका वाच्यार्थ भाववेद है, द्रव्यस्त्रीवेद नही है इस अभिप्रायको दो प्रमाण देकर स्पष्ट किया गया है। यहाँ वेदना-कालविधानके इस सूत्रमे अन्य वेदवालोंके साथ स्त्रीवेदी जीव भी नारकियों और देवोंसम्बन्धी तेंतीस सागर आयुका बन्ध करते है यह कहा गया है। इस पर यह शका हुई कि इस सूत्रमे स्त्रीवेद शब्दका वाच्यार्थ क्या है—भावस्त्रीवेद या द्रव्यस्त्रीवेद। वीरसेन स्वामीने एक अन्य प्रमाण देकर इस शंकाका समाधान किया है। अन्य प्रमाणमें स्त्रियों (द्रव्यस्त्रियों) का छठी पृथ्वी तक मर कर जाना बतलाया है। किन्तु इस सूत्रमे स्त्री-वेदीके तेतीस सागर आयुबन्धका विधान किया है। इस परसे वीरसेन स्वामीने यह निष्कर्ष फलित किया है कि सिद्धान्त ग्रन्थोंमे स्त्रीवेद शब्दका वाच्यार्थ भावस्त्रीवेद ही विवक्षित है। यदि ऐसा न होता तो यहाँ पर इस सूत्रमे आचार्य पुष्पदन्त-भूतबलि अधिकसे अधिक बाईस सागर आयुबन्धका ही विधान करते, क्योंकि द्रव्यस्त्री छठे नरकसे आगे नही जाती और छठे नरकमे उत्कृष्ट आयु बाईस सागर होती है। कदाचित् यह कहा जाय कि देवोंकी उत्कृष्ट आयुबन्धकी अपेक्षा इस सूत्रमें स्त्रीवेद शब्दका वाच्यार्थ द्रव्यस्त्रीवेद लिया जाय तो क्या हानि है? परन्तु वीरसेन स्वामी यह कहना भी उचित नही मानते, क्योंकि देवों सम्बन्धी उत्कृष्ट आयुका बन्ध निर्ग्रन्थ भावनिर्ग्रन्थ) के ही होता है और द्रव्यस्त्री निर्ग्रन्थ हो नही सकती, क्योंकि द्रव्यस्त्री और (द्रव्य-नपुसक) वस्त्रादिका त्याग किये बिना भावनिर्ग्रन्थ नही हो सकते ऐसा छेदसूत्रका वचन है।

यह तो हम पहले ही बतला आये है कि आचार्य पुष्पदन्त-भूतबलिने महाकर्मप्रकृतिके कृति आदि २४ अनुयोग द्वारोंमेंसे प्रारम्भके छह अनुयोगद्वारों पर ही सूत्र रचना की है, निबन्धन आदि अन्तके अठारह अनु-योगद्वारों पर नही। वीरसेन स्वामीके समक्ष यह स्थिति थी ही, इसलिए उन्होने स्वय पिछली सूत्र रचनाको देशामर्षक मानकर निबन्धन आदि शेष अठारह अनुयोगद्वारोंकी रचना की है। इसका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

७. निबन्धन—जो द्रव्य जिसमे निबद्ध है उसकी निबन्धन सज्ञा है। वह अनेक प्रकारका है। प्रकृतिमें अध्यात्मविद्याकी प्ररूपणा होनेसे कर्मनिबन्धका ग्रहण किया गया है। कर्मनिबन्धनके मूल और उत्तर प्रकृतियोंके भेदसे अनेक भेद है। उनमेंसे जिस प्रकृतिका निमित्त कथनकी अपेक्षा जिस कार्यके लिए व्यापार होता है उसमें वह निबद्ध है यह उक्त कथनका तात्पर्य है। उदाहरणार्थ ज्ञानावरण कम सब द्रव्यों और असर्व पर्यायोंमे निबद्ध है। तात्पर्य यह है कि केवलज्ञान सब द्रव्योको विषय करता है, इसलिए उसका विरोधी होने-से केवलज्ञानावरणको सब द्रव्योंमे निबद्ध कहा है। तथा शेष ज्ञान कुछ पर्यायोको विषय करते है, इसलिए शेष ज्ञानावरणोंको असर्वपर्यायोंमें निबद्ध कहा है। शेष कर्मोंके विषयमे जान लेना चाहिए।

इस अनुयोगद्वारकी रचना सूत्र और उनकी टीका उभयरूपसे दृष्टिगोचर होती है। सूत्र किस महाभागकी रचना है यह धवला टीकासे ज्ञात नहीं होता।

८. प्रक्रम—प्रक्रम अनेक प्रकारका है। उनमेसे कर्मप्रक्रम प्रकृत है। प्रक्रमका अर्थ प्रचय है। कर्मपुद्‌गलोंका प्रचय कर्मप्रक्रम है। कर्मपुद्‌गल कर्मरूपसे कैसे परिणत होते है इसका अनेक दर्शनोंका ऊहापोह करते हुए फलितार्थरूपमे कार्यकारणपरम्पराके विषयमे न्यायशैलीसे स्वमतका प्रस्थापन कर उत्तर भेद बतलाये गये हैं—प्रकृतिप्रक्रम, स्थितिप्रक्रम और अनुभागप्रक्रम। प्रकृतिप्रक्रममे मूल तथा उत्तर किस प्रकृतिको कितना द्रव्य मिलता है, स्थितिप्रक्रममें किस स्थितिमे कितने द्रव्यका निक्षेप होता है यह बतलाकर अनुभागप्रक्रमका संक्षेपमे निरूपण किया है। इसमें अनुभागकी अपेक्षा किस वर्गणामे कितने प्रदेश होते है यह बतलाया है।

९. उपक्रम—नामउपक्रम, स्थापनाउपक्रम इत्यादिरूपसे उपक्रम अनेक प्रकारका है। प्रकृतमे कर्मउपक्रमका प्रकरण है। वह चार प्रकारका है—बन्धन उपक्रम, उदीरणा उपक्रम, उपशामना उपक्रम और विपरिणाम उपक्रम। प्रक्रम अनुयोगद्वार प्रकृति, स्थिति और अनुभागको प्राप्त होनेवाले कर्मोंकी प्ररूपणा करता है परन्तु उपक्रम अनुयोगद्वार बन्धके द्वितीय समयसे लेकर सत्त्वरूपसे स्थित कर्मपुद्‌गलोंके व्यापारकी प्ररूपणा करता है।

१. बन्धन उपक्रम—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशके भेदसे बन्धन उपक्रम चार प्रकारका है। दूधके साथ पानीके समान जीव प्रदेशोके साथ परस्पर अनुगत प्रकृतियोंके बन्धके क्रमकी प्ररूपणा करना प्रकृति बन्धन उपक्रम है। उन्ही सत्त्वरूप प्रकृतियोंके एक समयसे लेकर सत्तर कोडाकोड़ी सागर काल तक कर्मरूपसे रहनेकी कालकी प्ररूपणाको स्थिति बन्धन उपक्रम कहते है। उन्ही सत्त्वरूप प्रकृतियोंके जीवके साथ एकताको प्राप्त हुए अनुभाग सम्बन्धी, वर्ग, वर्गणा, स्थान और अविभागप्रतिच्छेद आदिकी प्ररूपणाको अनुभाग बन्धन उपक्रम कहते है। तथा उन्ही प्रकृतियोके क्षपित कर्मांशिक, गुणितकर्मांशिक और उनके घोलमान जीवका आश्रय कर सञ्चयको प्राप्त हुए उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट प्रदेशोंकी प्ररूपणाको प्रदेशबन्धन उपक्रम कहते हैं। उपक्रम अनुयोगद्वारमे इन चार प्रकारके कर्मोकी प्ररूपणा सत्कर्म प्रकृतिप्राभृतके अनुसार करनी चाहिए, महाबन्धके अनुसार नही, क्योंकि महाबन्धकी प्ररूपणा प्रथम समयमे होनेवाले बन्धको लक्ष्यमे रखकर की गई है।

२. उदीरणा उपक्रम—अपक्वपाचनको उदीरणा कहते हैं। तात्पर्य यह है कि नूतन बन्धमे बन्ध समयसे लेकर एक आवलिकाल तक तो उदीरणा होती ही नही। साथ ही उदयावलिमे स्थित प्रदेशोंकी भी उदीरणा नही होती। अतएव उदयावलिमे बाहिर स्थित प्रदेशोका उदयावलिमे देना उदीरणा है। यह प्रकृति उदीरणा आदिके भेदसे चार प्रकारकी है। उस सबका इस अनुयोगद्वारमें विस्तारके साथ निरूपण हुआ है।

अनुभाग उदीरणाका व्याख्यान करते हुए लिखा है कि यद्यपि तिर्यंचोमें नीचगोत्रकी ही उदीरणा होती है ऐसा सर्वत्र बतलाया है और यहाँ उनमे उच्चगोत्रकी उदीरणाकी भी प्ररूपणा की गई है सो कैसे? इसका समाधान यह किया है कि जो तिर्यञ्च संयमासंयमको स्वीकार करते है उनमे उच्चगोत्रकी प्राप्ति बन जाती है। इसी प्रकार आगे यह भी बतलाया है कि नीचगोत्रकी उदीरणा एकान्तसे भवप्रत्यय होती है। तथा उच्चगोत्रकी उदीरणा गुणप्रतिपन्न जीवोमे गुणप्रत्यय होती है और अगुणप्रतिपन्न जीवोमे भवप्रत्यय होती है। गुणसे यहाँ संयम और संयमासंयमका ग्रहण किया है।

३. उपशामना—उपक्रम उपशामनाका निक्षेप करते हुए कर्मउपशामनाके दो भेद किये हैं—करण उपशामना और अनुदीर्णोपशामना। करणोपशामनाके दो भेद है—देशकरणउपशामना और सर्वकरण उपशा-

मना। उनमेंसे सर्वकरणोपशामनाके अन्य दो नाम हैं—गुणोपशामना और प्रशस्तोपशामना। तथा जो देशकरणोपशामना है उसके अन्य दो नाम है—अगुणोपशामना और अप्रशस्तोपशामना। प्रकृत अनुयोगद्वारमें इसी अप्रशस्तोपशामनाका विवेचन किया गया है। उसके अर्थपदका निरूपण करते हुए बतलाया है कि अप्रशस्त उपशामनाके द्वारा उपशमको प्राप्त हुआ जो प्रदेशाग्र अपकर्षणके लिए भी शक्य है, उत्कर्षणके लिए भी शक्य है तथा अन्य प्रकृतिमे संक्रमणके लिए भी शक्य है, किन्तु केवल उदयावलिमे प्रविष्ट करानेके लिए शक्य नही है, वह अप्रशस्तोपशामना है।

४. विपरिणाम उपक्रम—इसके प्रकृति, स्थिति आदिके भेदसे चार भेद हैं। उसमें भी इन चारोंको देशविपरिणामणा और सर्वविपरिणामणा इस प्रकार दो-दो प्रकारका बतलाया है।

१०. उदय—प्रकृतमें कर्मउदयका प्रकरण है ऐसा लिखकर उसके प्रकृति उदय आदि चार भेद किये हैं और स्वामित्व आदिके द्वारा इसका विशेष व्याख्यान किया है।

११. मोक्ष—मोक्ष पदका निक्षेप करके कर्मद्रव्यमोक्षके प्रकृतिमोक्ष आदि चार भेदोंका इस अनुयोगद्वारमे विवेचन किया है।

१२. संक्रम—संक्रम पदका निक्षेप करके प्रकृतमे कर्मसंक्रमका निरूपण करते हुए उसका प्रकृतिसंक्रम आदि चार प्रकारसे निरूपण किया है। एक प्रकृतिका अन्य प्रकृतिमें संक्रमित होना यह प्रकृतिसंक्रम है। यहाँ इतना विशेष है कि मूल प्रकृतिमे संक्रम नही होता है। साथ ही दर्शनमोहनीयका चारित्रमोहनीयमे और चारित्रमोहनीयका दर्शनमोहनीयमे तथा चार आयुओंका परस्परमें संक्रम नहीं होता। शेष उत्तर प्रकृतियोंमें सजातीय प्रकृतियोमे संक्रम होता है। स्थिति उत्कर्षण, स्थितिअपकर्षण तथा अन्य प्रकृतिको प्राप्त स्थितिका नाम स्थितिसंक्रम है। अनुभाग संक्रम भी इसी तरह अनुभागकी अपेक्षा तीन प्रकारका है। प्रदेशसंक्रमके पाँच भेद है—उद्वेलना, विध्यात, अधःप्रवृत्त, गुण और सर्व। जहाँ जिन प्रकृतियोंका बन्ध सम्भव है वहाँ उन प्रकृतियोका बन्ध होते हुए और नही होते हुए अधःप्रवृत्तसंक्रम होता है। सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व अबन्ध प्रकृतियोके लिए यह नियम नही है। जिन प्रकृतियोंका जहाँ नियमसे बन्ध सम्भव नही है वहाँ उन प्रकृतियोंका विध्यातसंक्रम होता है। यह भी नियम मिथ्यादृष्टिसे लेकर अप्रमत्त गुणस्थानतक ही ध्रुव स्वरूपसे है। अप्रमत्त गुणस्थानसे आगे बन्धरहित प्रकृतियोंका गुणसंक्रम और सर्वसंक्रम होता है। यह कथन अप्रशस्त प्रकृतियोंकी अपेक्षासे किया है। प्रशस्त प्रकृतियोंकी अपेक्षा तो उपशम और क्षपकश्रेणिमे उनका भी अधःप्रवृत्त संक्रम होता है। उद्वेलना संक्रम मात्र १३ प्रकृतियोंका होता है।

१३. लेश्या—इस अनुयोगद्वारमे लेश्याका निक्षेप करके द्रव्य और भावलेश्याका स्वरूप बतलाया है कि बंधे हुए पुद्गल स्कन्धोंके चक्षुद्वारा ग्रहण करने योग्य वर्णको द्रव्यलेश्या कहते है। तथा मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगसे उत्पन्न हुए जीवके संस्कारको भावलेश्या कहते है।

१४. लेश्याकर्म—मारना, विदारना, दया करना आदि लेश्याकर्म है। इस प्रकार इस अनुयोगद्वारमे छहों लेश्याओंके अपने अपने कर्मका निर्देश किया है।

१५. लेश्यापरिणाम—कौन लेश्याएँ किस स्वरूपसे किस वृद्धि या हानिद्वारा परिणमन करती हैं इस बातका विशेष ज्ञान इस अनुयोगद्वारमें कराया गया है। उदाहरणार्थ कृष्ण लेश्यामें संक्लेशवृद्धि स्वस्थानमें ही होती है। संक्लेशहानि स्वस्थानमे तो होती ही है। इस द्वारा नील लेश्यामें भी गमन होता है इसलिए वह परस्थानमें जानेसे भी सम्भव है। इसी प्रकार सर्वत्र जान लेना चाहिए।

१६. सातासात—इस अनुयोगद्वारमें साता और असाताका विशेष व्याख्यान करते हुए प्रत्येकके दो दो भेद बतलाये हैं । यथा—एकान्त सात और अनेकान्त सात । एकान्त असात और अनेकान्त असात । जो साता या असाता कर्म जिस रूपमें बँधता है, बिना परिवर्तनके उसका उसी रूपमें भोगा जाना एकान्त सात और एकान्त असातकर्म है । तथा इससे विपरीत अनेकान्त सात और अनेकान्त असातकर्म है ।

१७. दीर्घ-ह्रस्व—कर्म प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशके भेदसे चार प्रकारका है । उसका बन्ध, उदय और सत्त्वका आश्रय कर दीर्घ-ह्रस्वका विचार इस अनुयोगद्वारमें किया गया है । उदाहरणार्थ मूल प्रकृतियोंकी अपेक्षा आठ कर्मोंका बन्ध होनेपर दीर्घबन्ध संज्ञा है और इससे कमका बन्ध होनेपर ह्रस्वबन्ध संज्ञा है ।

१८. भवधारणीय—भवका विचार करते हुए उसे तीन प्रकारका बतलाया है—ओघभव, आदेशभव और भवग्रहणभव । आठ कर्म या आठ कर्मोंसे उत्पन्न हुए परिणामको ओघभव कहते हैं । चार गति नामकर्म और उनसे उत्पन्न हुए परिणामको आदेशभव कहते हैं । यह चार प्रकारका है—नरकभव, तिर्यञ्चभव, मनुष्यभव और देवभव । भुज्यमान आयुके निर्जीर्ण होनेके बाद अपूर्व आयुके उदयके प्रथम समयमें उत्पन्न हुए व्यञ्जनसंज्ञावाले जीव परिणामको अथवा पूर्व शरीरके परित्याग पूर्वक उत्तर शरीरके ग्रहण करनेको भवग्रहण कहते हैं ।

१९. पुद्गलात्त—इसका निक्षेप निरूपणके बाद स्वरूपका कथन करते हुए बतलाया है कि आत्मसात् किये गये पुद्गलोंकी पुद्गलात्त संज्ञा है । वे छह प्रकारसे आत्मसात् किये जाते हैं । यथा—ग्रहणसे, परिणामसे, उपभोगसे, आहारसे, ममत्वसे और परिग्रहसे । हाथ या पैरसे जो दण्ड आदि पुद्गल ग्रहण किये जाते हैं वे ग्रहणसे आत्त पुद्गल कहलाते हैं । मिथ्यात्व आदि परिणामोंके द्वारा जो पुद्गल अपने किये जाते हैं वे परिणामसे आत्त पुद्गल कहे जाते हैं । जो गन्ध और ताम्बूल आदि पुद्गल उपभोगरूपसे अपने किये जाते हैं वे उपभोगसे आत्त पुद्गल कहलाते हैं । भोजन-पान आदिके द्वारा जो पुद्गल अपने किये जाते हैं वे आहारसे आत्त पुद्गल कहे जाते हैं । जो पुद्गल अनुरागसे गृहीत होते हैं वे ममत्वसे आत्त पुद्गल कहलाते हैं तथा जो आत्माधीन पुद्गल हैं वे परिग्रहसे आत्त पुद्गल कहलाते हैं ।

२०. निधत्त-अनिधत्त—इसका विवेचन करते हुए बतलाया है कि जो प्रदेशाग्र निधत्तीकृत है अर्थात् उदयमें देनेके लिए शक्य नहीं है, अन्य प्रकृतिमें संक्रान्त होनेके लिए शक्य नहीं है, किन्तु अपकर्षण व उत्कर्षणके लिए शक्य है उसकी निधत्त संज्ञा है । उपशामक और क्षपकके सब कर्म अनिवृत्ति गुणस्थानमें प्रविष्ट होनेपर अनिधत्त हैं । अनन्तानुबन्धीचतुष्ककी विसंयोजना करनेवालेके अनिवृत्तिकरणमें अनन्तानुबन्धी-चतुष्क अनिधत्त है । शेष कर्म निधत्त व अनिधत्त है । दर्शनमोहनीयके उपशामक व क्षपकके अनिवृत्तिकरणमें दर्शनमोहनीय कर्म अनिधत्त है । शेष कर्म निधत्त व अनिधत्त है ।

२१. निकाचित-अनिकाचित—इसका विवेचन करते हुए बतलाया है कि जो प्रदेशाग्र उत्कर्षणके लिए तथा अपकर्षणके लिए शक्य नहीं है, अन्य प्रकृतिमें संक्रमणके लिए शक्य नहीं है और उदय (उदयावलि)में देनेके लिए शक्य नहीं है उसकी निकाचित संज्ञा है । अनिवृत्तिकरणमें प्रविष्ट हुए जीवके सब कर्म अनिकाचित हैं । इसके पूर्व निकाचित और अनिकाचित दोनों प्रकारके हैं । शेष व्याख्यान निधत्त-अनिधत्तके समान है ।

२२. कर्मस्थिति—कर्मकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिकी प्ररूपणा अथवा कर्मस्थितिसे संञ्चित हुए सत्कर्मकी प्ररूपणा कर्मस्थिति कहलाती है । इसका इस अनुयोगद्वारमें विवेचन है ।

२३. पश्चिमस्कन्ध—अन्तिम भवकी प्राप्ति होनेपर जीवके सब कर्मोंका बन्ध, उदय, उदीरणा, संक्रमण और सत्ता इन पाँचकी प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशोंके आश्रयसे मार्गणा करते हुए इस

अनुयोगद्वारमें आयुके अन्तर्मुहूर्त शेष रहनेपर सर्व प्रथम यह जीव आवर्जित करण करता है। उसके बाद दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्घात करते हुए जिस समुद्घातमें तथा उसके बाद जो जो क्रिया करता है उसका विवेचन किया गया है।

२४. अल्पबहुत्व—इसमें सत्कर्मके आश्रयसे किस प्रकृतिके सत्कर्मका कौन स्वामी है यह विवेचन कर तथा एक जीवकी अपेक्षा काल आदिको जाननेका संकेत कर अल्पबहुत्वका निर्देश किया गया है।

इस प्रकार पूर्वोक्त परिचयसे ज्ञात होता है कि महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके जो २४ अनुयोगद्वार हैं उनमेंसे कृति और वेदनाको वेदनाखण्डमें, स्पर्श, कर्म, प्रकृति तथा बन्धनके बन्ध, बन्धक और बन्धनीयको वर्गणाखण्डमें तथा बन्धनके बन्धविधानको महाबन्धमें आचार्य पुष्पदन्त-भूतबलिने सूत्र रूपसे निबद्ध किया है। तथा निबन्धन आदि शेष अठारह अनुयोगद्वारोंका आचार्य वीरसेनने धवला टीकाके अन्तमें स्वयं विवेचन करते हुए उसे सत्कर्म संज्ञा दी है। जिसकी पुष्टि 'वोच्छामि संतकम्मे पंजियरूवेण विवरणं सुमहत्थं।' इस वचनसे होती है। (देखो धवला पु० १५ संतकम्मपंजिया।)

सत्कर्मपञ्जिकाविवरण

धवला पुस्तक १५के अन्तमें मुद्रित होकर एक 'सत्कर्मपञ्जिका' जुड़ी हुई है। यह निबन्धन, प्रक्रम और उपक्रम इन तीन अनुयोगद्वारोंपर लिखी गयी धवला टीकाके कुछ विशेष पदोंका स्पष्टीकरणमात्र है। जिसने इसे निबद्ध किया है उसने अपने नामका कहीं भी उल्लेख नहीं किया। इतना अवश्य है कि जिन विशेष पदोंपर इसमें विवरण प्रस्तुत किया गया है वह महत्त्वपूर्ण और उपयोगी है।

कषायप्राभृत

पहले हम यह बतला आये हैं कि इस पञ्चम कालमें अंग-पूर्व श्रुतकी परम्परा अविच्छिन्न न रह सकी। धीरे-धीरे उसका विच्छेद होता गया। इसे समग्र जैन परम्पराका महान् भाग्य ही समझना चाहिए कि जिस प्रकार आग्रायणीय पूर्वकी चयनलब्धि नामक वस्तुका चतुर्थ प्राभृत कर्मप्रकृति किसी प्रकार सुरक्षित रह गया उसी प्रकार ज्ञानप्रवादपूर्वके दसवें वस्तु अधिकारके अन्तर्गत तीसरा पेज्जदोसप्राभृत भी सुरक्षित रहा आया। आचार्य गुणधरने वर्तमानमें उपलब्ध जिस कषायप्राभृतकी रचना की है उसका मूल आधार यही पेज्ज-दोषप्राभृत है। दिगम्बर जैन परम्परामें इस समय अन्य जितना मूल श्रुत उपलब्ध होता है उसका भी मूल आधार अन्य-अन्य अंग-पूर्व श्रुत ही है यह इससे स्पष्ट विदित होता है।

जैसा कि कषायप्राभृत इस नाम से ही सुस्पष्ट विदित होता है इस महान् ग्रन्थमें एकमात्र मोहनीयकर्मको माध्यम बनाकर ही विवेचन किया गया है। इसका दूसरा नाम पेज्जदोषप्राभृत भी है सो इससे भी यही विदित होता है कि इसमें एकमात्र राग-द्वेष अर्थात् मोहनीयकर्मके आश्रयसे ही विवेचन किया गया है। ग्रन्थकी मूल गाथाएँ १८० हैं यह बात 'गाहासदे असीदे' (पु० १ पृ० १५१) इत्यादि दूसरी गाथासे विदित होती है। परन्तु इसमें मूल गाथाएँ २३३ उपलब्ध होती हैं। इसलिए यह प्रश्न होता है कि एक ओर कषायप्राभृतकी मूल गाथाएँ १८० बतलाई गई हैं और दूसरी ओर उसमें २३३ गाथाएँ उपलब्ध होती हैं सो इसका क्या कारण है? यह प्रश्न आचार्य वीरसेनके सामने भी था। उन्होंने इसका समाधान करते हुए (पु. १ पृ. १८२) जो कुछ लिखा है उसका आशय यह है कि पन्द्रह अर्थाधिकारोंमेंसे इस अर्थाधिकारमें इतनी गाथाएँ निबद्ध हैं इस प्रकारका ज्ञान करानेके लिए गुणधर भट्टारकने 'गाहासदे असीदे' इस प्रकारकी प्रतिज्ञा की है। शेष ५३ गाथाओंका समावेश इन अर्थाधिकारोंमें नहीं होता, इसलिए उनका उल्लेख स्वयं आचार्य गुणधरने नहीं किया।

समग्र कषायप्राभृत जिन पन्द्रह अर्थाधिकारोंमें विभक्त है उनका नामनिर्देश आचार्य गुणधरने गाथा १३-१४में स्वयं किया है। वे अर्थाधिकार ये हैं—१. पेज्जदोषविभक्ति, २. स्थितिविभक्ति, ३. अनुभागविभक्ति, ४. बन्ध (अकर्मबन्ध) अथवा प्रदेशविभक्ति, क्षीणाक्षीण और स्थित्यन्तिक, ५. संक्रमण (कर्मबन्ध अथवा बन्धक, ६. वेदक, ७. उपयोग, ८. चतुःस्थान, ९. व्यञ्जन, १०. दर्शनमोहोपशामना, ११. दर्शनमोहक्षपणा १२. संयमासंयमलब्धि, १३. चारित्रलब्धि, १४. चारित्रमोहोपशामना और १५. चारित्रमोहक्षपणा। इनके सिवा अद्धापरिमाणका निर्देश करनेवाली ६ गाथाएँ (१५ से २०) इसमें उपलब्ध होती हैं। पर यह स्वतन्त्र अधिकार न होनेसे इसका अलगसे निर्देश नहीं किया।

ये कषायप्राभृतकी मूल गाथाओंमें वर्णित विषयसम्बन्धी अधिकारोंके नाम हैं। इससे जिस अधिकारमें जिस विषयका वर्णन है उसकी सूचना मिल जाती है। इसकी मूल गाथाओंमें कहीं प्रश्नरूपमें और कहीं संकेत-रूपमें सूचनामात्र की गई है। सूत्रका लक्षण है—'जिसमें अल्प अक्षर हों, जो असंदिग्ध हो, जिसमें प्रतिपाद्य विषयका सार भर दिया गया हो, जिसका विषय गूढ हो, जो निर्दोष सयुक्तिक और तथ्यभूत हो उसे सूत्र कहते हैं।' सूत्रके इस लक्षणके अनुसार कषायप्राभृतकी सब गाथाएँ सूत्ररूप हैं इसमें सन्देह नहीं। आचार्य यतिवृषभ और आचार्य वीरसेनने तो इन्हें सूत्रगाथारूपसे स्वीकार किया ही है। स्वयं आचार्य गुणधर 'वोच्छामि सुत्तगाहा' (गाथा २) इस पदद्वारा उक्त तथ्यको स्वीकार करते हैं।

चूर्णिसूत्र

आचार्य वीरसेनने जयधवलाके प्रारम्भमें मंगलाचरण करते हुए जो आठ गाथाएं निबद्ध की हैं उनमें तीन गाथाएँ कषायप्राभृतके कर्ता गुणधर आचार्यका, कषायप्राभृतका सम्यक् प्रकारसे अवधारण करनेवाले आचार्य आर्यमंक्षु और नागहस्तिका तथा आर्य आर्यमक्षुके शिष्य और नागहस्तिके अन्तेवासी कषायप्राभृत वृत्तिसूत्रोंके रचयिता आचार्य यतिवृषभका स्मरण करती हैं।

यह जयधवलाका उल्लेख है। इससे ये चारों आचार्य थोडे बहुत कालके अन्तरसे आगे पीछे हुए जान पड़ते हैं। मालूम पडता है कि जिसप्रकार आचार्य यतिवृषभको आचार्य आर्यमक्षुका शिष्य और आर्य नागहस्ति-का अन्तेवासी होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ उसी प्रकार इन दोनों आचार्योंको भी आचार्य गुणधरके सानिध्यका लाभ मिला। किन्तु सर्व प्रथम कषायप्राभृतपर वृत्तिसूत्र या चूर्णिसूत्रके रूपमें विस्तृत विवेचन आचार्य यतिवृषभ-ने ही लिखा, आर्य आर्यमंक्षु और नागहस्तिने नहीं। उन्होंने तो मात्र कषायप्राभृतके अर्थको सम्यक् प्रकारसे अवधारण कर इसका पाठ आचार्य यतिवृषभको दिया और उन्होंने उसपर वृत्तिसूत्रोंकी रचना की। आचार्य वीरसेन जहाँ उन्हें वृत्तिसूत्र इस नामसे सम्बोधित करते हैं वहाँ वे उनका चूर्णिसूत्र यह नामकरण भी करते हैं। मालूम पडता है कि पूर्वकालमें ये दोनों नाम एक ही अर्थमें प्रयुक्त होते रहे हैं।

जैसा कि हम पूर्वमें संकेत कर आये हैं कषायप्राभृतकी मूल गाथायें प्रकृत विषयका संकेतमात्र करती हैं। उनमें वर्णित विषयका सर्वप्रथम संक्षिप्त होते हुए भी विशद और अर्थपूर्ण विवेचन करनेवाली यदि कोई रचना है तो ये चूर्णिसूत्र ही। चूर्णिसूत्रोंकी रचनाकी यह विशेषता है कि जिस विषयपर स्पष्ट और विशद विवेचन करना आवश्यक हुआ वहाँ पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है और गाथाओंमें वर्णित जिस विषय पर विशेष विवेचन करना आवश्यक प्रतीत नहीं हुआ उन्हें विवेचनके बिना वैसा ही रहने दिया है। उदाहरणार्थ कषाय-प्राभृतमें १५ से २० तककी गाथाओं द्वारा अनाकार उपयोगसे लेकर उपशामक तकके कतिपय पदोंका अल्प-बहुत्व बतलाया गया है। यतः यह विषय सुगम है, इसलिए इन गाथाओं पर आचार्य यतिवृषभने चूर्णिसूत्रोंकी रचना नहीं की। यह बात २ से १२ तककी गाथाओं पर भी लागू होती है, क्योंकि इन गाथाओं द्वारा मात्र

इतना निर्देश किया गया है कि किस अधिकारके विषय-विवेचनमें कितनी गाथायें निबद्ध हैं। संक्रमण अनुयोग-द्वारमें २७ से लेकर ५८ तककी गाथाओं पर भी चूर्णिसूत्र नहीं है। परन्तु इन गाथाओंके प्रारम्भमें 'तत्थ पुव्वं गमणिज्जा सुत्तसमुक्कित्तणा तं जहा' यह चूर्णिसूत्र आया है और इन गाथाओंके अन्तमें 'सुत्तसमुक्कित्तणाए समत्ताए इमे अणुयोगद्दारा' यह चूर्णिसूत्र आया है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि आचार्य यतिवृषभके समक्ष ये गाथाये रही अवश्य हैं, परन्तु विशेष विवेचन करना इष्ट न होनेसे इन पर उन्होंने चूर्णिसूत्रोंकी रचना नही की।

आचार्य गुणधरने पन्द्रह अर्थाधिकारोंमें विभक्त जिन १८० गाथाओंका उल्लेख किया है उनमें पूर्वोक्त ६ + ११ + ३२ – ४९ गाथाये सम्मिलित नही है। तथा इनके सिवा १७, २५, २६ तथा २७ क्रमाक की गाथाएँ भी सम्मिलित नही हैं, पर इन चारों गाथाओं पर चूर्णिसूत्र उपलब्ध होते है। इससे विदित होता है कि १८० गाथाओंके अतिरिक्त शेष ५३ गाथाओंकी रचना की तो थी आचार्य गुणधर ने ही, पर सरल समझ कर आचार्य यतिवृषभने उनमेसे कतिपय २ से १२ तथा १५–२० गाथाओं पर चूर्णिसूत्रोंकी रचना नही की और संक्रमवृत्ति-सम्बन्धी गाथाओंकी चूर्णिसूत्रों द्वारा स्वीकृति मात्र दी।

इनके सिवा शेष सब गाथाओं पर आचार्य यतिवृषभके चूर्णिसूत्र है। इन द्वारा उन्होने मूल सूत्रगाथाओं-मे निबद्ध दुरूह विषयोंका जो सुगम और सुस्पष्ट व्याख्यान किया है वह उनके रचनासौष्ठवके साथ विषयस्पर्शी अगाध पाण्डित्यको ही सूचित करता है।

यह तो सुविदित सत्य है कि आचार्य यतिवृषभने अपने चूर्णिसूत्रोंमे उन्ही विषयोंका सम्यक् विवेचन किया है जिनकी सूचना आचार्य गुणधरने कषायप्राभृतके स्वरचित पन्द्रह अधिकारोंमें दी है। किन्तु मूल गाथाओंको ध्यानमे रखकर आचार्य यतिवृषभने अपने चूर्णिसूत्रोंमें मूल कषायप्राभृतमे प्रतिपादित पन्द्रह अधि-कारोको तदनुरूप भिन्न प्रकारसे विभक्त कर स्थान दिया है। यथा—१. पेज्जदोषविभक्ति, २, प्रकृति-स्थिति-अनुभाग-प्रदेशविभक्ति, क्षीणाक्षीण और स्थित्यन्तिक, ३. बन्ध (अकर्मबन्ध), ४, संक्रमण (कर्मबन्ध), ५. उदय, ६. उदीरणा, ७. उपयोग, ८. चतुःस्थान, ९. व्यञ्जन, १०. दर्शनमोहोपशामना, ११. दर्शनमोहक्षपणा, १२. देशविरति, १३. चारित्रमोहोपशामना, १४. चारित्रमोहक्षपणा और १५. अद्धापरिमाणनिर्देश।

टीका ग्रन्थ

जैन परम्परामें षट्खण्डागमका जितना महत्त्व है, कषायप्राभृतका उससे कम महत्त्व नही है। अति प्राचीन कालमें इसकी रचना होनेके बाद इस पर भी षट्खण्डागमके समान अनेक आचार्योंने विस्तृत टीकायें रची है। उनमेसे अनेकका उल्लेख हम पूर्वमें ही कर आये है। इस पर लिखी गई वर्तमानमे उपलब्ध टीका जयधवला है। उसका सम्यक् प्रकारसे अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि जयधवलाकी रचना करते समय जयधवलाकारके सामने उच्चारणवृत्ति, मूलोच्चारणा, वप्पदेवविरचित उच्चारणा, स्वयं आचार्य वीरसेन द्वारा लिखित उच्चारणा और लिखित उच्चारणा इस प्रकार पाँच उच्चारणायें रही हैं। साथ ही कुछ ऐसे व्याख्यानाचार्य भी हो गये हैं जिनके अभिप्रायोंसे भी वे परिचित थे। जयधवलाका कलेवर इन्ही पाच उच्चारणाओ और व्याख्यानाचार्योंके अभिप्रायोसे पुष्ट हुआ है। इनके सिवा कषायप्राभृतका अन्य कोई टीका साहित्य जयधवला-कारके सामने था यह लिखना बहुत कठिन है।

जयधवला

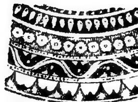
कषायप्राभृत और उस पर लिखे गये चूर्णिसूत्रोंका परिचय हम पूर्वमें करा आये है। उन दोनोंका विस्तृत व्याख्यान करनेवाली यह जयधवला टीका है। यह टीका आचार्य वीरसेन और जिनसेनकी कृति है।

यह भी संस्कृत मिश्र प्राकृतमें लिखी गई है। टीकाका परिमाण सब मिलाकर साठ हजार श्लोक प्रमाण है। साधारणतः धवला टीकामें जिस प्रकार षट्खण्डागमके प्रारम्भके पाच खण्डोमें प्रतिपादित विषयका विशदरूपसे स्पष्टीकरण किया गया है उसी प्रकार जयधवला टीकामें भी कषायप्राभृत और चूर्णिसूत्रों द्वारा प्रतिपादित विषयका विस्तारसे विवेचन किया गया है। इतना अवश्य है कि प्रारम्भके पेज्जदोसविभक्ति, प्रकृतिविभक्ति और स्थिति विभक्ति इन तीन अधिकारोंमें जिस प्रकार विषयका विवेचन चौदह मार्गणाओंके आश्रयमें किया गया है उस प्रकार अनुभागविभक्ति आदि अधिकारोंमें चौदह मार्गणाओंका आश्रय लेकर विषयका विवेचन न करके मात्र गतिमार्गणाका आश्रय लेकर ही स्वामित्वादि प्ररूपणाओंका विवेचन किया गया है। यह टीका भी प्रमेयबहुल होनेसे इसमें अनेक महत्त्वपूर्ण विषयोंका विवेचन दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणार्थ उत्कर्षण अपकर्षण और संक्रमणके लिए कषायप्राभृत चूर्णिसूत्र और जयधवला टीका विशेषरूपसे द्रष्टव्य है।

आचार्य कुन्दकुन्द साहित्य

जैन परम्परामें भगवान् कुन्दकुन्दका जो स्थान है उनके द्वारा रचित परमागमका वही स्थान है। भगवान् सर्वज्ञदेवकी दिव्यध्वनि श्रवण कर उसके साररूपमें उसकी रचना हुई है। समग्र द्वादशांगमें स्वसमयकी ही मुख्यता है और आचार्य कुन्दकुन्द रचित परमागम मुख्यरूपसे स्वसमयकी ही प्ररूपणा करता है, इसलिए यह मंगलस्वरूप है। प्रत्येक व्यक्तिके जीवनमें स्वतन्त्रताका जो महत्त्वपूर्ण स्थान है उसका तात्त्विक भूमिकासे उद्घाटन करनेवाला जो परमागम विश्वमें उपलब्ध होता है उसमें यह मुख्य है। कुन्दकुन्दरचित इस एक परमागमके जान लेनेसे पूरा जिनागम ज्ञात हो जाता है। अनादि कालसे संसारी जीवका निमित्त और रागकी पकड़ बनी चली आ रही है। किन्तु इसके स्वाध्याय और मननसे राग और निमित्तकी पकड़ छूट कर मोक्षका द्वार अनावृत्त हो जाता है। परके कर्ता रूपमें ईश्वरका निषेध करना अन्य बात है किन्तु ईश्वरवादकी पकड़को तिलाजलि देना अन्य बात है। जो स्वाश्रयी वृत्तिको जीवनमें स्थान देनेमें असमर्थ है वह आचार्य कुन्दकुन्दके परमागमको समझनेका पात्र नहीं हो सकता। यह परमागम साक्षात् केवली जिनकी वाणीको अवधारण कर लोककल्याणकी भावनासे लिखा गया है, इसलिए तो प्रमाण है ही। साथ ही श्रुतकेवली द्वारा रचित द्वादशांग श्रुतको क्रम परम्परासे प्राप्त कर इसकी रचना हुई है, इसलिए भी प्रमाण है। क्षेत्रभेद या कालभेदके होने पर भी ज्ञानियोंके उपदेशमें अन्तर नहीं होता यह इससे सिद्ध होता है। यो तो भगवान् कुन्दकुन्दने विपुल साहित्यकी रचना की थी।

•



अंगश्रुतके परिप्रेक्ष्यमें पूर्वगत श्रुत

ज्ञान आत्माका स्वभाव है और वह उसका आत्मभूत लक्षण भी है। उसके पाँच भेद हैं।[1] उनमें केवलज्ञान और श्रुतज्ञान ये दो ज्ञान मुख्य हैं। सर्व तत्त्वोंके प्रकाशनमें केवलज्ञानको जो स्थान प्राप्त है, छद्मस्थके जीवनमें वही स्थान श्रुतज्ञानका है।[2] अन्तर्मुख हुआ यह आत्मप्राप्तिका प्रधान साधन है। यह श्रुतज्ञान ही है जिसके माध्यमसे संसारी प्राणी अबद्ध-स्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त आत्माको स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे जानकर स्वावलम्बन द्वारा जीवनमें व्यक्ति-स्वातंत्र्यकी प्रतिष्ठा करनेमें समर्थ होता है।[3] जहाँ तक द्रव्यश्रुतका प्रश्न है, उसके अभ्याससे ही विशेष श्रुतज्ञानकी प्राप्ति होती है, इसलिए आगममें श्रुत-ज्ञानका प्रतिपादन द्रव्यश्रुतके रूपमें भी किया गया है।[4]

१. सादि-अनादि विचार

जिस श्रुतकी सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकर महावीरने अर्थरूपसे प्ररूपणा की है और उनके प्रथम दीक्षित शिष्य गौतम गणधरने उसे ग्रंथबद्ध किया है, अर्थरूपमें उसी श्रुतकी प्ररूपणा पर्यायक्रमसे होनेवाले तीर्थंकरोंके माध्यम से होती आ रही है, इसलिए वह सादि होकर भी अनादि है।[5]

२. श्रुतके भेद

उसके अक्षरश्रुत और अनक्षरश्रुत ये दो भेद हैं। उनमें अक्षरश्रुत मुख्य है। वह भी अंग बाह्य और अंगप्रविष्टके भेदसे दो प्रकारका है। अंगबाह्यके मुख्य भेद १४ हैं। वैसे आरातीय आचार्यों द्वारा जो तदनुरूप श्रुत निबद्ध किया गया है उसकी भी अंगबाह्य संज्ञा है।[6]

अंगप्रविष्ट श्रुतके १२ भेद हैं। अन्तिम भेद दृष्टिवाद है।[7] यह अनेक प्रकारकी दृष्टियोंका कथन करता है, इसलिए इसका दृष्टिवाद यह गुणनाम है।[8] इसमें पर समयकी स्थापना करके उसके निरसनपूर्वक मुख्यतासे स्वसमयकी स्थापना की गई है, इसलिए इसकी वक्तव्यता उभयरूप है।[9] इसके पाँच अर्थाधिकार हैं। चौथा अर्थाधिकार पूर्वगत है।[10] प्राकृतमें इसका विचारक्रम प्राप्त है, अतः आगे उसे माध्यम बनाकर विशेष ऊहापोह किया जाता है।

३. पूर्वगतश्रुत और उसकी महत्ता

पूर्वगत श्रुत अंगश्रुतका प्रमुख भाग है। अंग शब्दकी निरुक्ति है जो त्रिकालगोचर समस्त द्रव्य और उनकी पर्यायोंको "अगति" अर्थात् प्राप्त होता है या व्याप्त करता है वह अंग है।[11] वस्तुतः अंग शब्दकी यह निरुक्ति पूर्वगत श्रुतपर समग्र रूपसे घटित होती है। पूर्वगत श्रुतके उत्तर भेदोंके जो नाम हैं और उनमें तत्त्वज्ञान विषयक जिस प्रकारके विषयका विवेचन किया गया है, यह इसीसे स्पष्ट है। शरीरमें रीढ़का या

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, अ० २, सू० ८
२. आप्तमीमांसा, का० १०५
३. समयसार, गा० १५
४. त० सू०, अ०, सू २०
५. सर्वार्थसिद्धि, अ० १, सू० २०, विशेषावश्यक भाष्य; गाथा ५३६ आ
६. त० सू०, अ० १ सू० २०
७. धवला पु० ९, पृ० २०४
८. वही, पृ० २०५
९. धवला, पु० ९, पृ० २०५
१०. वही, पृ० २०५
११. धवला, पृ० १९३

आँखोंका जो स्थान है, अंगश्रुतमें पूर्वगत श्रुतका वही स्थान है। इस कालमे तत्त्वज्ञान विषयक जितना श्रुत उपलब्ध होता है, मुख्यतया उसका योनि स्थान पूर्वगत श्रुत ही है।

जातिकी अपेक्षासे द्रव्य छः हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। ये स्वतःसिद्ध है, अतएव अनादि-अनन्त हैं और स्वसहाय हैं।[1] समग्र लोक इनमे व्याप्त या रचित होनेके कारण उसे अनादि, अनिधन या अकृत्रिम कहा गया। अर्थरूपसे पूर्वगत श्रुतकी प्ररूपणाका मुख्य विषय यही है, इसलिए इसका पूर्वगत यह नाम सार्थक है।

दृष्टिवादके जिन पाँच भेदोंका हम पहले उल्लेख कर आये हैं, उनके नाम हैं—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत या पूर्वकृत और चूलिका। इनमे दूसरा भेद जो सूत्र है उसमे संकलनारूपसे ३६३ एकान्त दृष्टियोंका विवेचन होनेसे दृष्टिवादकी वक्तव्यता जहाँ स्वसमय-परसमयकी दृष्टिमे उभयरूप है वहाँ पूर्वगत श्रुतमें मात्र अनेकान्त स्वरूप स्वसमयकी ही प्ररूपणा हुई है, इसलिए आगमोंमे इसकी वक्तव्यता स्वसमयरूप ही स्वीकार की गई है।[2]

पूर्वानुपूर्वीसे १२ अंगोंके नाम हैं—आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञाताधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरोपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र, और दृष्टिवाद।[3] इनकी वाचनाका क्रम भी यही है। सर्वप्रथम गुरु या आचार्य अपने उत्तराधिकारी शिष्यको आचारागकी वाचना देता है। और इस प्रकार क्रमसे ११ अगोकी वाचना देनेके बाद ही गुरु शिष्यको दृष्टिवादकी वाचना देते हुए सबके अन्तमे पूर्वगतकी वाचना देता है।[4] वस्तुतः चूलिकाका अन्तर्भाव पूर्वगतके अन्तर्गत होता है। क्योंकि इसमे विद्यानुवाद सम्बन्धी विद्याओंका ही प्रमुखतासे विवेचन हुआ है। इसका चूलिका यह नाम भी इसीलिए सार्थक है।[5]

पूर्वगत श्रुतके १४ भेद हैं—उत्पादपूर्व, अग्रायण, वीर्यप्रवाद, अस्ति-नास्ति प्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्याननामधेय, विद्यानुप्रवाद, कल्याणनामधेय, प्राणावाय, क्रियाविशाल और लोकबिन्दुसार।[6] पूर्वगत श्रुतके जिस क्रमसे ये नाम है गुरु अधिकारी शिष्यको उनकी वाचना भी उसी क्रमसे देता है, यह शाश्वत नियम है। इसकी पुष्टि वेदना खण्ड कृति अनुयोगद्वारमे निबद्ध दो मंगलसूत्रोंसे भी होती है।

प्रथम मंगल सूत्र द्वारा अभिन्न दशपूर्वी जिनोंको नमस्कार किया गया है।[7] उसके बाद चौदहपूर्वी जिनोंको नमस्कार किया गया है।[8] इनमेंसे प्रथम मंगलसूत्रकी व्याख्या करते हुए आचार्य वीरसेनने यह शंका उठाई है कि पहले चौदहपूर्वी जिनोंको नमस्कार न कर दशपूर्वी जिनोंको क्यों नमस्कार किया गया है? इसका समाधान स्वयं उन्होंने दो प्रकारसे किया है। अन्तिम समाधानमे उन्होंने पहले दशपूर्वियोको नमस्कार करनेका मुख्य कारण श्रुत परिपाटीको ही बतलाया है।[9]

इन्द्रभूति गौतम गणधरने आचारागादि सूत्र पठित क्रमसे द्वादशागश्रुत निबद्ध किया, मात्र इतना ही यहाँ श्रुतपरिपाटीसे तात्पर्य नही है। किन्तु प्रकरणके अनुसार उक्त वचनसे विदित होता है कि गुरु-शिष्य

१. पंचाध्यायी १।६
२. धवला, पु० ९, पृ० २१९
३. धवला, पु० ९, पृ० १९७
४. वही, पृ० ७१
५. वही, पृ० २०९
६. वही, पृ० २१२
७. धवला, पु०, पृ० ६९
८. वही, पु० ७०
९. वही, पु० ७०

परम्पराको दृष्टिपथमें रखकर उसकी वाचनाका क्रम भी यही है, इसकी पुष्टि दूसरे मंगलसूत्रकी व्याख्यामें स्वीकार किए गए इस वचनसे भी होती है।

सेसहेठ्ठिमपुव्वीणं णमोक्कारो किण्ण कदो ? ण, तेसिं पि कदो चेव, चेहि विणा चोद्दस पुव्वाणुववत्तीदो।

—धवला, पु० ९, पृ० ७१

शंका—अधस्तन शेष पूर्वियोंको नमस्कार क्यों नहीं किया ?

समाधान—नहीं, उनको भी नमस्कार किया ही है, क्योंकि जो अधस्तनपूर्वी जिन नहीं हुए है उनका चौदहपूर्वी जिन होना संभव नहीं है।

इससे स्पष्ट है कि सर्वप्रथम आचारांगकी वाचना दी जाती है और इस प्रकार सूत्र पठित क्रमसे बारह अंगोंकी वाचना देते समय सबके अन्तमें सूत्र पठित क्रमसे ही उत्पाद आदि चौदह पूर्वोंकी वाचना दी जाती है। इस प्रकार जो चौदहपूर्वी जिन होते हैं, उन्हींको श्रुतकेवली जिन कहा गया है। ये गिरकर मिथ्यात्वको प्राप्त तो होते ही नहीं, उस भवमें असंयमको भी प्राप्त नहीं होते।[1] इससे पूर्वगत श्रुतकी क्या महत्ता है यह स्पष्ट होनेके साथ उसकी वाचनाका क्रम क्या है ? यह भी स्पष्ट हो जाता है।

४. वाचनाका अधिकारी

व्रती श्रावकको ग्यारह अंगोंकी वाचना दी जाय, इसमें कोई बाधा नहीं है। इतना अवश्य है कि व्रती श्रावकको सूत्रपठित क्रमसे ही वाचना देनी चाहिए, अन्यथा वाचना देने वाला आचार्य निग्रह स्थानका भागी होता है।[2] किन्तु १४ पूर्वोंकी वाचना व्रती श्रावकको तो दी नहीं जा सकती जिसने उपचरित महाव्रतोंको अंगीकार किया है, ऐसी आर्यिकाको भी नहीं दी जा सकती।

जो वाचना देने वाले आचार्यके द्वारा दीक्षित होकर महाव्रतधारी निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि होते हैं वे ही १४ पूर्वोंकी वाचना लेनेके अधिकारी हो सकते है, इन दोनो तथ्योंकी पुष्टि उस इतिहाससे भी होती है जो धवला पृष्ठ ७१ मे निबद्ध है। वहाँ लिखा है कि जब आचार्य पुष्पदन्तने जीवस्थान सत्प्ररूपणाकी रचना कर ली और स्वयंको अल्पायु जाना, तब उन्होंने सर्वप्रथम जिनपालितको मुनि दीक्षा देकर अपना शिष्य बनाया और उसके बाद ही उन्होंने सत्प्ररूपणाके सूत्र पढ़ाकर उन्हें अपने समानधर्मा सहपाठी भूतबलि आचार्यके पास भेजा। तभी उनके द्वारा सत्प्ररूपणा प्रमुख समग्र षट्खण्डागमकी रचना होकर ज्येष्ठ शुक्ला पंचमीको वह पुस्तकारूढ़ हो सका। आगममें वाचनाके जो लक्षण उपलब्ध होते हैं, उनसे भी उक्त तथ्यका समर्थन होता है।[3]

इससे मालूम पड़ता है कि वाचनाका अर्थ संकलना नहीं है, किन्तु तीर्थंकर महावीरसे लेकर गुरु-शिष्य परिपाटीका अनुसरण करते हुए उत्तरोत्तर गुरुके द्वारा अपने-अपने शिष्यको आम्नायके अनुसार जो पाठ देकर पढ़ाया जाता है उसका नाम ही वाचना है। इससे न केवल उत्तरोत्तर मूल पाठकी सुरक्षा बनी रहती है; अपितु आम्नायके अनुसार निर्दोष अर्थ भी सुरक्षित रहा आता है।[4]

इस कालमें यद्यपि अग्रायणीय पूर्व[5] और ज्ञानप्रवाद पूर्व[6] के आधारसे षट्खण्डागम और कषायप्राभृतका अध्ययन-अध्यापन भले ही प्रमुखतासे चल रहा है, परन्तु उसके पीछे वाचनाका बल न होनेसे उनके कहीं-

---

१. धवला पु० ९, पृ० ७१

२. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, श्लोक १८

३. सर्वार्थसिद्धि, अ० ९, सू० २५

४. धवला, पु० १, पृ० ६६

५. धवला पु० ९, पृ० १३४, मूल सूत्र ४५

६. कषाय प्राभृत सूत्र, गाथा १

यहीं मूल पाठमें आम्नायके अनुसार उनका अर्थ करनेमें जो विसंगतियाँ उत्पन्न होती हैं या वर्तमानकालमें उत्पन्न की गई है, उनको जानकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। अस्तु, इतने विवेचनसे पूर्वश्रुतकी वाचना देनेका अधिकारी कौन है और किसको वाचना दी जानी चाहिए, यह स्पष्ट हो जाता है।

५. विषय परिचय

साधारणतः धवला आदि अनेक ग्रन्थ है, जिनमें बारह अंग और उनके उत्तर भेदोंमें वर्णित विषयका विशद रूपसे परिचय लिपिबद्ध हुआ है। उसमें चौदह पूर्वोका भी विषय-परिचय गर्भित है। वहाँसे लेकर उसे लिपिबद्ध करना हमारा प्रयोजन नहीं है। बहुतकर जिस पूर्वका जो नाम है उसीसे पूर्वके विषयपर विशद प्रकाश पड़ जाता है। कुछ पूर्वोके नाम ऐसे अवश्य है, जिनमें उस-उस पूर्वमें वर्णित विषयपर विशद् प्रकाश नहीं पड़ता। मात्र इस बातको ध्यानमें रखकर प्रकृतमें कतिपय पूर्वोके विषयको स्पष्ट किया जा रहा है। उदाहरणार्थ प्रथम पूर्वका नाम मात्र उत्पाद अवश्य है, परन्तु उसमें जीव, पुद्गल और काल आदि द्रव्योंमें उत्पाद, व्यय और ध्रुवपना किस प्रकार घटित होता है ? इस विषयपर सर्वांग रूपमें प्रकाश डाला गया है।[१] दूसरा पूर्व अग्रायणीय है। यहाँ 'अग्र'का अर्थ मुख्य है ओर अयनका अर्थ मार्ग या ज्ञान है। इससे ज्ञात होता है कि इस पूर्वमें सभी अंगोंके मुख्य-मुख्य विषयका संकलन हुआ है।[२] षट्खण्डागममें निबद्ध विषयका योनिस्थान यही पूर्व है।[३]

पाँचवाँ ज्ञानप्रवाद पूर्व है। यद्यपि इसका मुख्य विषय पाँच ज्ञान और तीन अज्ञानका विशद विवेचन है, परन्तु प्रसंगसे इसमें पेज्ज दोस प्रमुख मोहनीय कर्मके बन्ध, उदय और सत्त्व आदिका भी सर्वांग रूपसे विवेचन किया गया है।[४] कषायप्राभृतमें निबद्ध विषयका योनिस्थान यही पूर्व है।[५]

ग्यारहवाँ पूर्व कल्याणवाद है। नामके अनुसार इसमें तीर्थंकरोंके पाँच कल्याणक तथा चक्रवर्ती, बलदेव आदिके गर्भावतरण आदिका विवेचन तो हुआ ही है। साथ ही वह ग्रह, नक्षत्र आदिके चार क्षेत्र, गति आदिका भी विवेचन करता है।[६]

बारहवाँ प्राणावाय पूर्व है। नामके अनुसार इसमें प्राण-वायु और अपान वायु आदिका विवेचन तो हुआ ही है। साथ ही इसमें प्रसंगसे कायचिकित्सा, अष्टांग आयुर्वेद और विषविद्या आदिका भी विवेचन हुआ है।[७]

तेरहवाँ क्रियाविशाल पूर्व है। नामके अनुसार इसमें मोक्षकी कारणभूत शुभ आदि क्रियाका विवेचन न होकर प्रायः सभी प्रकारकी कलाओंका विवेचन हुआ है। इसमें पुरुषकी बहत्तर कला, स्त्रियोंके चौसठ गुण और छन्दनिर्माणकला आदि भी सम्मिलित हैं।[८]

लोकबिन्दुसार चौदहवाँ पूर्व है। तत्त्वार्थवार्तिक (मूल पृ० ५४) में इसका नाम त्रिलोक विन्दुसार दिया है। इसमें आठ व्यवहार, चार बीज, मोक्षगमनमें निमित्तभूत क्रिया और मोक्ष सुखका वर्णन उपलब्ध है।[९] इसके अनुसार तीनों लोकोंके विन्दु अर्थात् अवयव या सारका भी विवेचन इसमें हुआ है।[१०] इस प्रकार कतिपय पूर्वोमें प्ररूपित विषय जानना चाहिए।

---

१. धवला, पु० १, पृ० ११५
२. वही, पृ० ११६
३. वही, पु० ९ पृ० १३५
४. धवला, पु०, पृ० ११५
५. कषायप्राभृत सूत्र, गा० १
६. धवला, पु० १, पृ० १२२
७. वही, पृ० १२३
८. वही, पृ० १२३
९. वही, पृ० १२३
१०. धवला, पु० १, पृ० १२३ टिप्पण

६, श्रुत प्ररूपणाके दो प्रकार

आगममें श्रुतज्ञानकी प्ररूपणा दो प्रकारसे उपलब्ध होती है—एक निवृत्यक्षर या स्थापनाक्षरकी मुख्यतासे और दूसरी लब्ध्यक्षरकी मुख्यतासे । इन तीनोंमें परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है । इतना अवश्य है कि तीर्थंकर महावीरकी धर्म देशनाका आप्यायन कर इंद्रभूति गौतम गणधरने जिस अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य श्रुतको निबद्ध किया, वह सदा ही गुरु परम्परासे वाचना द्वारा प्राप्त होकर ज्ञानगम्य ही रहा है, पुस्तकारूढ कभी भी नहीं हो सका ।

७. प्रथम प्ररूपणा

प्रथम प्ररूपणाके अनुसार जितने मूल अक्षर और उनके संयोग हैं उतने श्रुतज्ञानके भेद है ।[1] स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

२७ स्वर, २३ व्यंजन और ४ अयोगवाह ये ६४ श्रुतके मूल अक्षर हैं । इन्हें एक संयोगी भी कहते हैं । इनके साथ दो संयोगीसे लेकर ६४ संयोगी तकके श्रुतके कुल अक्षर १८४४६७४४०७३७०९५५१६१५ होते हैं । इन्हें प्राप्त करनेके लिए ६४ बार ११११ (एक-एक) इस प्रकार विरलन कर तत्पश्चात् प्रत्येक विरलन रूप १ को दूना कर परस्पर गुणित करने पर जो संख्या निष्पन्न हो, उसमेंसे एक अंकके कम करनेपर श्रुतज्ञानके उक्त संख्या प्रमाण अक्षर प्राप्त होते हैं ।[2]

(१) प्रकृतमें संयोगका अर्थ दो या दोसे अधिक अक्षरोंका एक रूप परिणमन नहीं लिया गया है, क्योंकि संयोजनका यह अर्थ स्वीकार करनेपर उसमे दो अक्षरोंका संयोग, तीन अक्षरोंका संयोग इत्यादि व्यवहार करना सम्भव नहीं होगा और न दो या दोसे अधिक अक्षरोंका एक साथ उच्चारण करना ही संयोगका अर्थ लिया गया है, क्योकि दो या दोसे अधिक अक्षरोंका एक साथ उच्चारण करना कभी भी सम्भव नहीं, अतः जितने अक्षर एक साथ मिलकर एक अर्थको कहते हैं उतने अक्षरोंका एक संयोग होता है, संयोग पदका यह अर्थ प्रकृतमें लिया गया है ऐसा यहाँ समझना चाहिए ।[3]

(२) प्रकृतमें दूसरी बात यह ज्ञातव्य है कि यहाँ श्रुतज्ञानके जितने अक्षर कहे गये हैं, उनकी प्ररूपणा अनुलोमविधिसे ही की गई है, क्योंकि प्रतिलोमविधिसे या अनुलोमप्रतिलोम विधिसे जो अक्षर बनते है, उनका अन्तर्भाव अनुलोम विधिसे परिगणित किये गये अक्षरोंमें ही हो जाता है ।[4]

(३) तीसरी बात यह ज्ञातव्य है कि प्रकृतमें संयोगका अर्थ मात्र व्यंजन अक्षरका संयोग ही इष्ट नहीं है । किन्तु जितने प्रकारके संयोगाक्षर होते है, उनमेंसे कोई संयोगाक्षर व्यंजन अक्षरोके संयोगसे बनता है । कोई संयोगाक्षर दो या दोसे अधिक स्वरोंके संयोगसे बनता है आदि ।[5]

(४) चौथी बात यह ज्ञातव्य है कि लोकमें यद्यपि अर्थपद और प्रमाणपद ही रूढ़ हैं, परन्तु इन्द्रभूति गौतम गणधरने जो अंगप्रविष्ट श्रुत निबद्ध किया था, उसमे निबद्ध श्रुतकी जिस पदसे परिगणना की गई है आगममें उसे मध्यम पद कहा गया है । यहाँ जिन तीन पदोका उल्लेख किया गया है, उनमेसे जो अर्थपद हैं वह अनियत अक्षरों वाला होता है, क्योकि एक या एकसे अधिक अक्षरोंके संयोगसे निष्पन्न पद द्वारा एक अर्थ सूचित होता है, लोकमें उसकी अर्थपद संज्ञा है । प्रमाणपद आठ अक्षरोंका होता है, क्योंकि लोकमे

१. वही, पु० १३, पृ० २४७ मूलसूत्र विशेषावश्यक भाष्य गाथा ४४३
२. वही पु० १३, पृ० २४८ मूलसूत्र
३. धवला, पु० १३. पृ० २५०
४. वही, पृ० २५१
५. वही, पृ० २५८

ऐसे चार पदोंसे निष्पन्न श्लोकके द्वारा किसी भी ग्रन्थकी परिगणना की जाती है। किन्तु १२ अंगोंमें जिस पदके द्वारा उस-उस अंग या उसके उत्तर भेदोंके प्रमाणकी परिगणना की जाती है, उसकी आगममें एक मात्र मध्यम पद संज्ञा है।[1]

इस हिसाबसे एक मध्यम पदमें श्रुतज्ञानके कुल अक्षर १६३४८३०७८८८ होते है, और बारह अंगोंके कुल पद ११२८३५८००५ होते हैं।[2]

यह इतना विशेष जानना चाहिए कि प्रकृतमें एक-एक मध्यम पदमें अक्षरोंकी अपेक्षासे जो समानता कही गई है, सो वह संयोगाक्षरोंकी अपेक्षासे ही कही गई है। एक-एक संयोगाक्षरमें जो अवयव अक्षर कम अधिक होते है, उनकी अपेक्षासे नहीं, क्योंकि कोई संयोगाक्षर मात्र दो प्रत्येक अक्षरोंके सुमेलसे बनता है और कोई संयोगाक्षर अधिकसे अधिक ६४ अक्षरोंके सुमेलसे बनता है। इसलिए कोई भी संयोगाक्षर कितने ही प्रत्येक अक्षरोंके संयोगसे भले ही बने, पर वह एक अक्षर ही माना जायेगा। अतः संयोगाक्षरको एक मानकर उनकी अपेक्षा सब मध्यम पदोंके अक्षर समान ही होते हैं ऐसा यहाँ समझना चाहिए।[3]

यहाँ जिन तथ्योंका हमने निर्देश किया है उन्हें प्रकृतमें एक दो उदाहरणो द्वारा स्पष्ट किया जाता है— "अ" का[4] अर्थ विष्णु है या 'अ सि आ ऊ सा' मन्त्रमें उसका अर्थ 'अरहन्त' है। यह मध्यम पदमें जहाँ सार्थक एक संयोगी अक्षर है वहाँ उक्त तीन पदोंकी अपेक्षासे इसे अर्थ पदका भी उदाहरण माना जा सकता है। "या श्रीः सा गौः[5] जहाँ यह मध्यपदकी अपेक्षासे अनुलोम विलोम उभयरूप सार्थक एक संयोगाक्षरका उदाहरण है वहाँ अर्थपदकी अपेक्षासे "या श्री सा गौ'" ये चारों प्रत्येक अर्थ पद हैं।

८. द्वितीय प्ररूपणा

यहाँ तक अक्षरोंके भेदसे श्रुतज्ञानकी प्ररूपणा की गई है उसकी अपेक्षासे मूल अक्षर ६४ होनेसे श्रुत ज्ञान भी ६४ प्रकारका है तथा मूल अक्षरोंके साथ संयोगी अक्षरोंके संख्यात होनेसे श्रुतज्ञान भी उतने प्रकारका हो जाता है। इस प्रकार श्रुतके अक्षरोंकी अपेक्षासे श्रुतज्ञानके भेदोंकी प्ररूपणा करके आगे क्षयोपशमकी अपेक्षा-से श्रुतज्ञानके भेदकी प्ररूपणा की गई है।

इस अपेक्षासे श्रुतज्ञानके मूल भेद २० है। श्रुतज्ञानमें सबसे जघन्य ज्ञानका नाम लब्ध्यक्षर है। यह केवलज्ञानके अनन्तवें भाग प्रमाण है।[6] यह नित्य उद्घाटित और निरावरण है। इसमें सब जीव राशिका भाग देने पर जो भाग लब्ध आवे, उसे उसी लब्ध्यक्षर ज्ञानमें मिलाने पर श्रुतज्ञानके प्रथम भेद पर्यायज्ञानकी उत्पत्ति होती है।[7] लब्ध्यक्षर और पर्यायज्ञानके मध्य श्रुतज्ञानका अन्य कोई भेद नहीं है यह इसका तात्पर्य है।

श्रुतज्ञानका दूसरा भेद पर्यायसमास है। इसके असंख्यात लोक प्रमाण भेद है, जो अनन्तभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धिके क्रमसे उत्पन्न होते हैं।[8] यहाँ अनन्तका भाग देनेके लिए या गुणा करनेके लिए सर्व जीव राशिका जितना प्रमाण हो, अनन्तका प्रमाण उतना लेना चाहिए। असंख्यातका भाग देनेके लिए या गुणा करनेके लिए उत्कृष्ट असंख्यात-

---

१. वही, पृ० २६६
२. वही, पृ० २६६
३. धवला, पु० १३, पृ० २६७
४. वही, पृ० २६७
५. वही पृ० २५९।
६. वही, पृ० २६५।
७. धवला, पु० ५३ पृ० २६५।
८. वही, पृ० २६३।

का जितना प्रमाण हो, उतना लेना चाहिए। तथा संख्यातका भाग देनेके लिए या गुणा करनेके लिए उत्कृष्ट संख्यातका जितना प्रमाण हो उतना लेना चाहिए।[1]

नियम यह है कि सूच्यंगुलके असंख्यातवें भागका जितना प्रमाण हो उतनी बार पर्यायज्ञानके ऊपर अनन्त भागवृद्धियोंके होने पर एक बार असंख्यात भागवृद्धि होती है। पुन: इस विधिसे प्राप्त हुए ज्ञान पर उतनी ही बार अनन्त भागवृद्धिके होने पर दूसरी बार असंख्यात भागवृद्धि होती है।[2] इस क्रमसे जब असंख्यात भाग भी सूच्यंगुलके असंख्यातवें भाग बार हो लेती है, तब वहाँ प्राप्त हुए ज्ञान पर सूच्यंगुलके असंख्यातवें भाग बार अनन्त भागवृद्धिके होने पर वहाँ असंख्यात भागवृद्धिका स्थान संख्यातभागवृद्धि ले लेती है। इसके आगे पुन उक्त विधिसे दूसरी बार संख्यात भागवृद्धि होती है और इस प्रकार जब सूच्यंगुलके असंख्यातवें भाग बार संख्यातभागवृद्धियाँ हो लेती है तब उक्त विधिसे ही क्रमशः शेष वृद्धियाँ होती है। इनका नाम एक षट्गुणीवृद्धि है। यहाँ एक षट्गुणीवृद्धिमें जितनी बार ये छहों वृद्धियाँ प्राप्त होती है, उतने ही पर्यायसमास ज्ञानके भेद होते है। इस प्रकार उत्तरोत्तर षड्गुणीवृद्धियोंके क्रमसे पर्यायसमास ज्ञानके असंख्यात लोक प्रमाण भेद उत्पन्न होते है।

इस विधिमे यहाँ जो श्रुतज्ञानके भेद उत्पन्न किए गये है, इन सबकी पर्यायसमास-ज्ञान संज्ञा है। इन सबकी पर्यायज्ञान और अक्षरज्ञानके मध्यमे परिगणना की गई है, इसलिए इन सब श्रुतज्ञानके भेदोको आगममे पर्यायसमास कहा गया है। यह श्रुतज्ञानका दूसरा भेद है। श्रुतज्ञानका तीसरा भेद अक्षरज्ञान है। पर्यायसमास ज्ञानका जो अन्तिम भेद है।[3] उसमे सब जीव-राशिका भाग देने पर जो लब्ध आवे, उसे पर्यायसमासज्ञानके अन्तिम भेदमे मिला देने पर प्रथम अक्षर ज्ञानकी उत्पत्ति होती है। वह आगेके श्रुतज्ञानके भेदोकी अपेक्षा सबसे जघन्य अक्षर श्रुतज्ञान है। इनके ऊपर दूसरे अक्षरज्ञानकी उत्पत्ति होने पर पर्यायसमास ज्ञानका प्रथम भेद उत्पन्न होता है। इस विधिसे एक-एक अक्षरज्ञानकी वृद्धि द्वारा संख्यात अक्षरज्ञानोंकी वृद्धि होने तक उन सबकी समासज्ञान सज्ञा है। यह श्रुतज्ञानका चौथा भेद है।[4]

इसके आगेके श्रुतज्ञानके भेदोंके नाम हैं—पद, पद-समास, संघात, संघातसमास, प्रतिपत्ति, प्रतिपत्ति-समास, अनुयोगद्वार, अनुयोगद्वारसमास, प्राभृत-प्राभृत, प्राभृतप्राभृतसमास, प्राभृत, प्राभृतसमास, वस्तु, वस्तु वस्तु समास, पूर्व और पूर्व समास। इस प्रकार क्षयोपशमके भेदोकी मुख्यतासे श्रुतज्ञानके समुच्चयरूप भेदोंकी संख्या २० है।[5]

ये सब ज्ञान एक-एक अक्षरज्ञानकी वृद्धिसे उत्पन्न होते है। स्पष्टीकरण जिस विधिसे अक्षरसमास ज्ञानका किया गया है, उसी विधिसे आगेके समास ज्ञानोंका कर लेना चाहिए।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि (१) अक्षरज्ञानके ऊपरकी छह प्रकारकी वृद्धि नही होती। कारण कि एक अक्षरज्ञान सकल श्रुतज्ञानके संख्यातवें भाग प्रमाण ही होता है, इसलिए अक्षरज्ञानसे आगेके सब ज्ञानोंमे छह वृद्धियाँ न होकर यथासंभव संख्यातभागवृद्धि और संख्यातगुणवृद्धि ही होती है।

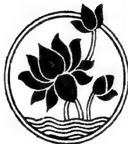
(२) यहाँ पर्यायज्ञानसे लेकर आगेके सब ज्ञानोंकी उत्पत्तिका जो क्रम स्वीकार किया गया है वह मात्र उत्तरोत्तर एक ज्ञानसे दूसरे ज्ञानमे तारतम्य दिखलानेके लिए ही स्वीकार किया गया है। किन जीवके कब

१. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गाथा ३३४; २. वही गाथा ३२६।
३. धवला, पृ० १३, पृ० २६४ ४. वही, पृ० २६४
५. वही, पृ० २६१, सूत्र ४८

कम अधिक कितना ज्ञान उत्पन्न होना सम्भव है इसकी यहाँ मीमांसा नहीं की गई है। (३) दूसरी प्ररूपणामें श्रुतज्ञानके जो बीस भेद किये गये है वे भेद मुख्यतया पूर्वगत श्रुतको ध्यानमें रखकर ही किये गये है। इसलिये यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि पूर्वगतके चौदह भेदोंमेसे ग्यारह अंग, परिक्रम, सूत्र प्रथमानुयोग और चूलिकाका अन्तर्भाव हो नही सकता। ऐसी अवस्थामे उनका अन्तर्भाव श्रुतज्ञानके किस भेदमे होता है? इस प्रश्नका समाधान करते हुए वीरसेन स्वामीने लिखा है कि उक्त श्रुतके भेदोंका अनुयोगद्वार-समासमे अन्तर्भाव हो जाता है।[1] (४) हम पहले अक्षरके तीन भेद कर आये है—प्रथम भेद लब्ध्यक्षरको दृष्टिमें रखकर श्रुतज्ञानके उक्त २० भेदोंकी प्ररूपणा मुख्यतया श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमको निमित्त कर उत्पन्न हुए ज्ञानको मुख्यतासे ही की गई है। फिर भी इनका निवृत्यक्षर और स्थापनाक्षरके साथ किस विधिसे निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध बनता है, इसे समझनेके लिए गोम्मटसार ज्ञान मार्गणाका उक्त प्रकरण द्रष्टव्य है। (५) श्रुतके सब अक्षरोंमे मध्यम पदका भाग देनेपर अन्तमें जो अक्षर शेष रहते है, उनके आलम्बनसे इन्द्रभूति गौतम गणधरने सामायिक आदि चौदह अंगबाह्य श्रुतकी रचना की है, इतना यहाँ विशेष जानना चाहिए।

इस प्रकार अंगश्रुतके परिप्रेक्ष्यमें पूर्वगत श्रुतके कितने भेद है, उनका स्वरूप क्या है, और उनकी वाचना लेने-देनेका अधिकारी कौन है, आदि विषयोंको इस निबन्धमे सक्षेपमे निरूपण किया गया है।

●



१. धवला पुस्तक १३, पृ० २७६

ऐतिहासिक आनुपूर्वीमें कर्म-साहित्य

कर्म साहित्यमें जिन[1] ८ या १०[2] करणोंका उल्लेख दृष्टिगोचर होता है उनमें एक उपशमनाकरण भी है। उसके दो भेद हैं—करणोपशामना और अकरणोपशामना। करणोपशामनाके भी देशकरणोपशामना और सर्वकरणोपशामना ये दो भेद है। ये दोनों भेद श्वेताम्बर कर्मग्रन्थोंमें भी दृष्टिगोचर होते है।

कषायपाहुड और उसकी जयधवला टीकामें देशकरणोपशामनाका खुलासा करते हुए लिखा है कि देशकरणोपशामनाके दो नाम[3] है—देशकरणोपशामना और अप्रशस्तउपशामना। इसका स्पष्टीकरण करते हुए जयधवलामें बतलाया है कि यह संसारी जीवोंके अप्रशस्त परिणामोंके निमित्तसे होती है, इसलिये इसका पर्यायवाची नाम अप्रशस्त उपशामना भी है। और यह कथन असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि अति तीव्र संक्लेश परिणामोके कारण अप्रशस्त उपशामनाकरण, निधत्तीकरण, और निकाचनाकरणकी प्रवृत्ति होती है। क्षपक श्रेणि और उपशम श्रेणिके विशुद्धतर परिणामोंके कारण इसका विनाश भी देखा जाता है, इसलिये भी यह अप्रशस्त है यह सिद्ध हो जाता है।[4] इसका विशेष विवेचन कषायप्राभृत चूर्णिके अनुसार दूसरे अग्रायणीय नामक पूर्वकी ५वीं वस्तु अधिकारके चौथे महाकर्मप्रकृति नामक अनुयोगद्वारमें देखना चाहिये[5]।

यह कषायप्राभृत चूर्णि और उसकी जयधवला टीकाका वक्तव्य है। किन्तु श्वेताम्बर कर्म-प्रकृति और उसकी चूर्णिमें इसके उक्त दो नामोंके अतिरिक्त अगुणोपशामना और अप्रशस्तोपशामना ये दो नाम और दृष्टि-गोचर होते हैं। जब कि इनमेसे अगुणोपशामना यह नाम कषायप्राभृतचूर्णिमें आगे पीछे कहीं भी उपलब्ध नही होता। यहाँ देशोपशामनाका अप्रशस्तोपशामनाके समान अगुणोपशामना यह नाम लेना चाहिये या नहीं, विचारका यह मुख्य मुद्दा नहीं है। यहाँ विचार तो इस बातका करना है कि यदि कषायप्राभृतचूर्णि लिखते समय यतिवृषभ आचार्यके सामने श्वेताबर कर्म प्रकृति उपस्थित थी तो वे देशोपशामनाके पर्यायवाची नामोंका उल्लेख करते समय उसका एक नाम अगुणोपशामनाका उल्लेख क्यो भूल गये? इससे स्पष्ट है कि देशोपशा-मनाका विवेचन देखनेके लिये जो आचार्य यतिवृषभने अपनी चूर्णिमे "एसा कम्मपयडीसु" पदका उल्लेख किया है उससे उनका आशय दूसरे पूर्वकी ५वीं वस्तुके चौथे प्राभृतसे ही रहा है, श्वेताबर कर्मप्रकृतिसे नहीं।

इस विषयमे स्व० पं० श्री हीरालालजी सि० शास्त्रीने जो कल्पनाओंका जाल बिछाया है वह उन्हींको शोभा देता है। यहाँ उक्त पंडितजीको इस विषयपर एक पक्षमे अपनी मोहर लगाते समय कई दृष्टियोंसे विचार करना चाहिये था। पहिले तो भाषाकी दृष्टिसे विचार करना चाहिये था, दूसरे विषय विवेचनकी दृष्टिसे विचार करना चाहिये था और तीसरे पारिभाषिक शब्दोंकी दृष्टिसे भी विचार करना चाहिये था।

भाषाकी दृष्टिसे विचार करनेपर तो दोनोंकी प्ररूपणामे जो भेद दृष्टिगोचर होता है वह स्पष्ट ही है। जब कि दिगंबर परम्परामें पूरा आगमसाहित्य सौरसेनी प्राकृतमे लिखा गया है, वहाँ श्वेतांबर आगम

---

१. क० पा० भाग १४ पृ० ३२

२. गो० क० गाथा ४३७

३. क० पा० भाग १४ पृ० ८

४. क० पा० भाग १४ पृ० ८

५. वही पृ० ८

साहित्यमें सौरसेनी प्राकृतको स्पर्श तक नही किया गया है, उसे श्वेतांबर विद्वान् अर्धमागधी कहते अवश्य हैं पर उसमें वह रूप भी पूरी तरहसे दिखायी नही देता।

विषय विवेचनकी दृष्टिसे विचार करनेपर दिगंबर परंपराके कर्म साहित्यमे जो गुणस्थान और मार्गणा-स्थानोंकी दृष्टिसे जिस क्रमको स्वीकार करके विवेचन किया गया है वह क्रम श्वेतांबर कर्म साहित्यमे दृष्टि-गोचर नहीं होता।

पारिभाषिक शब्दोंकी दृष्टिसे भी विचार करनेपर दोनो परंपराओंके कर्म विषयक शास्त्रोमे कतिपय ऐसे शब्द प्रयोग पाये जाते है जो अपनी-अपनी परंपरामे ही स्वीकार किये गये है। जैसे—(१) श्वेतांबर कर्म-प्रकृतिमें और उसकी चूर्णिमे प्रदेशपुञ्जके स्थानपर 'दलिय" दलक शब्दका प्रयोग हुआ है।[1] किन्तु कषायप्राभृत मूल और उसकी चूर्णिमे इस शब्दके स्थानमे मात्र 'अग्ग' अग्र शब्दका प्रयोग दृष्टिगोचर होता है।[2] किन्तु अग्र शब्दके स्थानमे दलिय शब्दका प्रयोग भूलसे भी कषायप्राभृत और उसकी चूर्णिमे कही भी दृष्टिगोचर नहीं होता।

(२) श्वेतांबर कर्मप्रकृति और उसकी चूर्णिमे नपुंसक वेदके अर्थमे नपुंसकवेद शब्दका प्रयोग तो हुआ ही है। साथ ही इस अर्थमे 'वरिसवर' शब्दका भी प्रयोग हुआ है। जबकि कषायप्राभृत मूल और उसकी चूर्णिमे एकमात्र नपुंसकवेद शब्दका ही प्रयोग हुआ है।[3]

श्वेतांबर कर्मप्रकृतिमे अविरतसम्यग्दृष्टिके लिये 'अजऊ' शब्दका प्रयोग हुआ है तथा इसकी चूर्णिमे इसके स्थानमे 'अजत' शब्द दृष्टिगोचर होता है।[4] जबकि कषायप्राभृत और उसकी चूर्णिमे अविरत सम्यग्दृष्टिके अर्थमे इस शब्दका प्रयोग नही ही हुआ है।

शब्द प्रयोगके ये कतिपय उदाहरण है जिनको दृष्टिमे लेनेसे भी यहाँ निश्चित होता है कि इन दोनो चूर्णियोंके कर्ता आचार्य यतिवृषभ नही हो सकते, यह स्पष्ट ही है।

स्व० श्री पं० हीरालालजीने कषायपाहुड़ सुत्तकी प्रस्तावनामे एक मुद्दा यह भी उपस्थित किया है कि श्वेतांबर कर्मप्रकृतिमे गाथा ६६ से ७१वी गाथा तककी इन ६ (छह) गाथाओ द्वारा देशोपशामनाका विस्तृत विवेचन किया गया है, इसलिये उसमे यह स्वीकार किया है कि आ० यतिवृषभके सामने श्वेतांबर कर्मप्रकृति रही है। उन्होने देशोपशामनाके स्वरूप आदिके समझनेके लिये 'एसा कम्मपयडीसु' लिखकर जिस कर्मप्रकृतिकी ओर संकेत किया है वह श्वेतांबर कर्मप्रकृति ही है।

किन्तु श्वेतांबर कर्मप्रकृतिकी जिन ६ गाथाओंमे सब कर्मोंके उत्तरभेदोंकी प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश भेदसे जिस देशोपशामनाका निर्देश किया गया है उसका आशय इतना ही है कि देशोपशामना अपूर्व-करणके अन्तिम समय तक ही होती है, अनिवृत्तिकरणके प्रथम समयमे देशोपशामनाकी व्युच्छित्ति ही रहती है, सो यह अभिप्राय तो कषायप्राभृत और उसकी चूर्णिमे प्रतिपादित दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयकी उपशमना और क्षपणाके कथनसे ही फलित हो जाता है। यतिवृषभाचार्यने अनिवृत्तिकरणके प्रथम समयमे अप्रशस्त उपशामनाकरण, निधत्तीकरण और निकाचनाकरणका स्वयं निषेध किया ही है। अतः मात्र इतने अभि-

---

१. गाथा २२ और उसकी चूर्णि।
२. गाथा ६२ और उसकी चूर्णि।
३. गाथा ६५ और उसकी चूर्णि।
४. गाथा २७ और उसकी चूर्णि।

प्रायको स्पष्ट करनेके लिये आचार्य यतिवृषभने देशोपशामनाके स्वरूपपर प्रकाश डालनेके लिये 'एसा कम्मपयडीसु' लिखकर श्वेताबर कर्मप्रकृतिकी ओर इशारा किया होगा इसे कोई भी परीक्षक स्वीकार नहीं करेगा ।

स्व० श्री पं० हीरालालजीने कषायपाहुडसुत्तकी प्रस्तावनामे एक बात यह भी स्वीकार की है कि श्वेतांबर आम्नायमें प्रसिद्ध शतक, सप्ततिका और कर्मप्रकृति चूर्णिके कर्ता भी आचार्य यतिवृषभ ही है, सो उनका ऐसा लिखना भी युक्तियुक्त प्रतीत नही होता । यद्यपि इस समय शतक और सप्ततिकाकी चूर्णियाँ तो हमारे सामने नहीं हैं, कर्मप्रकृतिकी चूर्णि अवश्य ही हमारे सामने है । अत उसके आधारसे ही यहाँ इस बातका विचार किया जाता है कि श्वेताबर कर्मप्रकृति चूर्णिके लेखक यतिवृषभाचार्य हैं या नही । यथा—

(१) दिगम्बर परम्परामें संक्रमको बन्धका एक प्रकार मानकर उद्वेलना प्रकृतियाँ १३ स्वीकार की गयी हैं—आहारकद्विक, सम्यक्त्व, मिश्र, देवगतिद्विक, नरकगतिद्विक, वैक्रियिकद्विक, उच्चगोत्र और मनुष्यगतिद्विक । (गो० क० गाथा ४१५) ।

किन्तु श्वेताम्बर कर्मप्रकृति चूर्णिमे २७ उद्वेलना प्रकृतियाँ स्वीकार की गई हैं । यथा—अनन्तानुबन्धी चतुष्क, सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व, देवद्विक, नरकद्विक, वैक्रियिक सप्तक, आहारक सप्तक, मनुष्यद्विक और उच्चगोत्र । (कर्मप्रकृतिचूर्णि-प्रदेश संक्रम पत्र ९५ आदि) ।

(२) अपूर्वकरणमे स्थितिकाण्डकघात आदि कार्य प्रारम्भ हो जाते हैं । इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर कषायप्राभृत चूर्णिमें स्थितिकाण्डकघातकी प्रक्रियापर प्रकाश डालते हुए दर्शनमोहनीयका जो स्थितिकाण्डकघात होता है उसमे उद्वेलना संक्रम नही स्वीकार करके मात्र यह उल्लेख दृष्टिगोचर होता है—

पढमट्ठिदिखंडयं बहुअं, विदियट्ठिदिखंडयं, तदियं ट्ठिदिखंडयं विसेसहीणं । एदेण कमेण ट्ठिदिखंडय सहस्सेहि बहुएहिं गदेहिं अपुव्वकरणद्धाए चरिमसमयं पत्तो । (भा० १३ पृ० ३६-३७)

किन्तु इसके स्थानमे इसी स्थितिकाण्डकघातको श्वेताबर कर्मप्रकृति चूर्णिमे उद्वेलना संक्रमपूर्वक लिखा है । यथा—

अन्नं च उव्वलणालक्खणेण पढमट्ठिदिखंडयं सव्वमहन्तं । वितिय विसेसहीणं, ततिय विसेसहीणं जाव अपुव्वकरणस्स अंतिमट्ठितिखंडगं विसेसहीणं । (उपशमनाकरण अधिकार पृ० २५)

यह दोनों चूर्णियोंका एक-एक उल्लेख है । इनमेसे जहाँ कर्मप्रकृति चूर्णिमे दर्शन मोहनीयके स्थितिकाण्डकघातको उद्वेलना संक्रम पूर्वक स्वीकार किया गया है वहाँ कषायप्राभृतचूर्णि इस तथ्यको स्वीकार ही नहीं करती । इस प्रकार दोनों चूर्णियोका यह अन्तर उपेक्षा करने योग्य नही है । प्रथम कारण तो यह है कि एक तो दोनों परम्पराओके अनुसार मिथ्यात्वकर्म उद्वेलना प्रकृति नही है । दूसरे इस तथ्यको कर्मप्रकृति स्वीकार करती है कि सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व ये दो कर्म उद्वेलना प्रकृतियाँ होकर भी २७ प्रकृतियोंकी सत्तावाला ही मिथ्यात्वदशामे इन दोनो प्रकृतियोकी उद्वेलना करता है । श्वेताम्बर कर्मप्रकृतिने इसे स्वीकार करते हुए लिखा है—

एवं मिच्छदिट्ठि अट्ठावीससंतकम्मितो पुव्वं सम्मत्तं एतेण विहिणा उव्वलेति । ततो सम्मामिच्छत्तं ते चेव विहिणा ।

इसी तथ्यको दिगम्बर परम्परा भी स्वीकारती है । यथा—

मिच्छे सम्मिस्साणं अधापवत्तो मुहुत्तअंतो त्ति ।
उव्वेलणं तु तत्तो दुचरिमकंडो त्ति णियमेण ॥४१२॥ गो० क०

(२) यह दोनों चूर्णियोंका एक-एक उदाहरण है जो इस तथ्यकी पुष्टि करनेके लिये पर्याप्त है कि दोनों चूर्णियोंका कर्ता एक व्यक्ति नहीं हो सकता। आगे भी हम इन दोनों चूर्णियोंमें मतभेदके कतिपय उदाहरण उपस्थित कर रहे हैं जिनसे इस तथ्यकी पुष्टिमें और भी सहायता मिलेगी। श्वेताम्बर कर्मप्रकृति चूर्णिके इस उल्लेखपर दृष्टिपात कीजिये—

इदाणीं सम्मदिट्ठिस्स उव्वलमाणितो भण्णंति—'अहाणियट्टिमि छत्तोसाए' अहसद्दो अण्णाहियारे। किमण्णं ? भण्णई–कालओ अन्तमुहुत्तेण उव्वलति त्ति। तं दरसेति—अणियट्टिखवगो छत्तीसं कम्मपगतीतो एएणेव विहिणा उव्वलेति। —कर्मचूर्णि।

आशय यह है कि अनिवृत्तिकरण नौवें गुणस्थानमें जिन ३६ प्रकृतियोंकी क्षपणा होती है वह उद्वेलना संक्रमपूर्वक ही होती है। इसीप्रकार इस चूर्णिमें अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजना तथा मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्वकी क्षपणा भी उद्वेलनापूर्वक स्वीकार की गई है। जबकि कषायप्राभृत चूर्णिमें इस बातका अणुमात्र भी उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता।

(३) कषायप्राभृत चूर्णिके अनुसार जो जीव कषायोंकी उपशामना करता है वह अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें लोभ संज्वलनके मात्र पूर्वस्पर्धकोंसे ही सूक्ष्म कृष्टियोंकी रचना करता है। उल्लेख इस प्रकार है—

से काले विदियतिभागस्स पढमसमए लोभसंजलणाणुभागसंतकम्मस्स जं जहण्णफद्दयं तस्स हेट्ठदो अणुभागकिट्टीओ करेदि।

किन्तु श्वेताम्बर कर्मप्रकृति चूर्णिमें पूर्वस्पर्धकोंसे अपूर्व स्पर्धकोंकी रचनाका विधान कर पुन. उनसे कृष्टियोंके करनेका विधान किया गया है। यथा—

अस्सकनकरणद्धाते वट्टमाणो लोभसंजलनस्स पुव्वफद्दयेहितो समते-समते अपुव्वाणि फड्डगाणि करेति।....जावएणठाणं न पावति ताव पुव्वफड्डगं अपुव्वफड्डगस्स रूपेणेव अणुभागसंतकम्मं आसि, तीर पढमसमते किट्टीओ पकरेइ।

(४) उक्त पंडितजीका यह ख्याल है कि आचार्य यतिवृषभने अपनी चूर्णि लिखते समय श्वेताम्बर कर्मप्रकृति और उसकी चूर्णिका पदानुसरण किया है सो यह बात नहीं है। कारण कि कषायप्राभृत और उसकी चूर्णिमें क्षीनाक्षीन अधिकार और स्थितिक या स्थित्यंतिक आदि ऐसे अनेक अनुयोगद्वार हैं जो श्वे० कर्मप्रकृति और उसकी चूर्णिमें नाममात्रको भी उपलब्ध नहीं होते। अत यह स्पष्ट है कि उक्त विषयोंपर चूर्णि लिखते समय जिन गुरुओं और मूल पूर्व आगमको आधार बनाकर उन्होंने उन विषयोंपर चूर्णिसूत्र लिखे हैं, उन्हीं गुरुओं और पूर्व आगमको मूल आधार बनाकर ही उन्होंने शेष चूर्णि सूत्रोंकी भी रचना की है। अत कसायपाहुडसुत्तकी उक्त प्रस्तावनामें स्व० श्री पं० हीरालालजी द्वारा यह स्वीकार करना भी हास्यास्पद प्रतीत होता है कि—

'यतिवृषभके सम्मुख षट्खण्डागमके अतिरिक्त जो दूसरा आगम उपस्थित था वह है कर्म साहित्यका महान् ग्रन्थ कम्मपयडी। इसके संग्रहकर्ता या रचयिता शिवशर्मा नामके आचार्य हैं और उस ग्रन्थ पर श्वेताम्बराचार्योंकी टीकाके उपलब्ध होनेसे अभी तक यह श्वेताम्बर सम्प्रदायका ग्रन्थ समझा जाता रहा है किन्तु हालमें ही उसकी चूर्णिके प्रकाशमें आनेसे तथा प्रस्तुत कषायपाहुडकी चूर्णिका उसके साथ तुलनात्मक अध्ययन करनेसे इस बातमें कोई सन्देह नहीं रह जाता है कि कम्मपयडी एक दिगम्बर परम्पराका ग्रन्थ है और अज्ञात आचार्यके नामसे मुद्रित और प्रकाशित उसकी चूर्णि भी एक दिगम्बराचार्य इन्हीं यतिवृषभकी ही कृति है''। पृ० ३१।

(५) हाँ उपशमना प्रकरणकी इन दोनों चूर्णियोंके अध्ययनसे इतना अवश्य ही स्वीकार किया जा सकता है कि जिस श्वेताम्बर आचार्यने कर्मप्रकृति चूर्णिकी रचना की है उसके सामने कषायप्राभृत चूर्णि अवश्य रही है। प्रमाणस्वरूप कषायप्राभृत गाथा १२२ की चूर्णि और श्वे० कर्मप्रकृति गाथा ५७ की चूर्णि द्रष्टव्य है—

कदिविहो पडिवादो—भवक्खएण च उवसामणक्खएण च भवक्खएण पदिदस्स। सव्वाणि करणाणि एगसमएण उग्घाडिदाणि। पढमसमए चेव जाणि उदीरज्जंति कम्माणि ताणि उदयावलियं पवेसदाणि, जाणि ण उदीरज्जंति ताणि वि ओकड्डिदूण आवलियबाहिरे गोवुच्छाए सेढीए णिक्खित्ताणि। —क० पा० सुत्त पृ० ७१४।

यह कषायप्राभृतचूर्णि का उल्लेख है। इसके प्रकाशमें श्वे० कर्मप्रकृति उपशमनाप्रकरणकी इस चूर्णिपर दृष्टिपात कीजिए—

इयाणि पडिपातो सो दुविहो—भवक्खएण उवसमद्धक्खएण य। जो भवक्खएण पडिवज्जइ तस्स सव्वाणि एतसमएण उग्घाडिदाणि भवंति। पढमसमये जाणि उदीरंज्जति कम्माणि ताणि उदयावलियं पवेसियाणि, जाणि ग उदीरिज्जंति ताणि उकड्डिऊण उदयावलियबाहिरतो उवरिं गोपुच्छागितीते सेढीने रतेति। जो उवसमद्धाक्खंएण परिपडति तस्स विहासा। —पत्र ६९।

दोनों चूर्णियोके उन दो उल्लेखोंमेसे कषायप्राभृत चूर्णिको सामने रखकर कर्मप्रकृति चूर्णिके पाठपर दृष्टिपात करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्मप्रकृति चूर्णिकारके सामने कषायप्राभृत चूर्णि नियमसे रही है। प्रथम तो उसका कारण कर्मप्रकृतिचूर्णिके उक्त उल्लेखमे पाया जानेवाला पाठ 'तस्स विहाए' पाठ है, क्योंकि किसी मूलसूत्र गाथाका विवरण उपस्थित करनेके पहले 'एत्तो सुत्तविहासा' या 'तस्स विहासा' या मात्र 'विहासा' पाठ देनेकी परम्परा कषायप्राभृतचूर्णिमे ही पाई जाती है। किन्तु श्वे० कर्मप्रकृति चूर्णिमे किसी भी गाथा चूर्णि लिखते समय 'तस्स विहासा' यह लिखकर उसका विवरण उपस्थित करनेकी परिपाटी इस स्थलको छोड़कर अन्यत्र कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती।

एक तो यह कारण है कि जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्वे० कर्मप्रकृति चूर्णिकारके सामने कषायप्राभृतचूर्णि नियमसे उपस्थित रही है। दूसरे श्वे० कर्मप्रकृतिकी इस चूर्णिमें 'गोपुच्छागितीते' पाठका पाया जाना भी इस तथ्यका समर्थन करनेके लिये पर्याप्त कारण है। हमने श्वे० कर्मप्रकृति मूल और उसकी चूर्णिका यथासम्भव अवलोकन किया है, पर हमें उक्त स्थलकी चूर्णिको छोड़कर अन्यत्र कही भी इस तरहका पाठ उपलब्ध नहीं हुआ जिसमें निषेक क्रमसे स्थापित प्रदेश रचनाके लिये गोपुच्छाकी उपमा दी गई हो।

तीसरे उक्त दोनों चूर्णियोंमें रचनाके जिस क्रमको स्वीकार किया गया है उससे भी इसी तथ्यका समर्थन होता है कि श्वे० कर्मप्रकृतिचूर्णिके लेखकके सामने कषायपाहुडसुत्तकी चूर्णि नियमसे रही है।

इस प्रकार दोनों चूर्णियोंके उपशामना अधिकारपर दृष्टिपात करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यतिवृषभ आचार्य न तो कर्मप्रकृतिचूर्णिके कर्ता ही है और न ही कषायप्राभृतचूर्णको निबद्ध करते समय उनके सामने श्वे० कर्मप्रकृतिमूल ही उपस्थित रहा है। उन्होंने अपनी चूर्णिमें 'एसा कम्मपयडीसु' लिखकर जिस कर्मप्रकृतिका उल्लेख किया है वह प्रस्तुत कर्मप्रकृति न होकर अग्रायणीय पूर्वकी पाँचवी वस्तुका चौथा अनुयोगद्वार महाकम्मपयडिपाहुड ही है। उसके २४ अवान्तर अनुयोगद्वारोंको ध्यानमें रखकर आ० यतिवृषभने 'कम्मपयडीसु' इस प्रकार बहुवचनका निर्देश किया है।

पौरपाट (परवार) अन्वय

१. जैन जातियोंके प्रारम्भ का काल

भारतवर्ष अगणित जातियोंका देश है। भगवान् महावीरके कालमें यह जाति परम्परा प्रचलित थी, पुराणों पर दृष्टिपात करनेसे इसका आभास नहीं मिलता। यद्यपि पुराणोंमें वंशों और कुलोंके नाम तो आते है, यहाँ तक की मुनियोंमें भी कुल परम्परा चालू रही है। पर पुराणोंमें प्रचलित जातियोका उल्लेख कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। अभी तक आगमोंमें जितने भी उल्लेख मिलते हैं उनके अनुसार पूरे जैन संघको चार भागोंमें विभक्त किया गया था—मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका।

जैन परम्परामे समवसरणकी व्यवस्था इतिहासातीत भगवान् आदिनाथके कालसे ही चली आ रही है। उसके अनुसार मनुष्य, देव और तिर्यंचोंके बैठनेके लिये जिन बारह कोठोकी रचना की जाती थी उनमेंसे आर्यिका और श्राविकाओंके बैठनेके लिये एक ही कोठा निश्चित रहता था। इसलिये उक्त आधारोंको ध्यान-में रखकर यह तो निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि तीर्थंकर महावीरके कालके बाद ही जैन परम्परामें जाति व्यवस्थाको स्थान मिल सका है, इसके पूर्व वर्तमान जातियोमेंसे कुछ जातियाँ रही भी हों तो धार्मिक दृष्टिसे उनको महत्त्व नही दिया गया।

किन्तु इस परम्परामे यह जाति व्यवस्था कबसे चालू हुई इसे ठीक तरहसे समझनेके लिये हमे पुराण साहित्यके अतिरिक्त अन्य जैन साहित्यके ऊपर भी दृष्टि डालनी होगी। इस अपेक्षासे सबसे पहले हमारी दृष्टि रत्नकरण्डश्रावकाचार पर जाती है। उसके अनुसार सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिमे बाधक जिन पच्चीस दोषोका उल्लेख दृष्टिगोचर होता है, उनमे आठ मद मुख्य है। उनके नाम है—ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, वृद्धि, तप और शरीर।[1] इसका अर्थ है कि जिस कालमे स्वामी समन्तभद्रने रत्नकरण्डश्रावकाचारकी रचना की है उस काल तक जैन समाजमे भी जाति प्रथा चालू हो गई थी, तभी तो उक्त आठ मदोंमें जातिमद और कुल मदको अलगसे स्थान दिया गया है।

जैसा कि पहले लिख आये है कि कुल परम्परा तो पुराण-कालमे ही चालू थी। जिसे आठ मदोमे जाति-मद कहा गया है, सम्भवतः उससे मतलब ब्राह्मणत्व आदि जातियोंमे हो सकता है, क्योंकि मनुस्मृति आदि ब्राह्मण साहित्यके ऊपर दृष्टिपात करनेसे यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि जैनधर्ममें जिन ब्राह्मणादि वर्णोको कर्मसे स्वीकार किया गया है उन्हें ही ब्राह्मण धर्ममें जातिरूपसे स्वीकार कर लिया गया था। फलस्वरूप मैं ब्राह्मण हूँ, उच्च जातिका हूँ, यह क्षत्रिय है, हमसे हलकी जातिका है' इत्यादि व्यवहार लोकमे चालू हो गया था। जैनधर्म भी उससे अछूता नही बच सका। यही कारण है कि रत्नकरण्डश्रावकाचारमे कुल मदके समान जातिमदका भी निषेध किया गया है।

मूलाचार पिण्डशुद्धि अधिकार पर दृष्टिपात करनेसे भी उक्त अर्थकी पुष्टि होती है। उसमे लिखा है कि जाति, कुल, शिल्प, कर्म, तप-कर्म और ईश्वरपना इनकी आजीव संज्ञा है। इनके आधारसे आहार प्राप्त करना आजीव नामका दोष है।[2]

---

१. रत्नकरण्ड-श्रावकाचार श्लोक पृ० २५।

२, मू० पि० अ० गाथा ३०।

मूलाचार और रत्नकरण्डश्रावकाचार, ये शास्त्र विक्रमकी प्रथम शताब्दिके समयमें या उससे पूर्व लिखे गये हैं। इससे लगता है कि इस कालमें जातिव्यवस्था प्रचलित होकर तिर्यंच योनिमें हाथी, घोड़ा और गौ आदि भेदोंके समान मनुष्य समाज भी अनेक भागोंमें विभक्त कर दिया गया था। एक-एक वर्णके भीतर जो अनेक जातियाँ और उपजातियाँ दिखायी देती हैं, यह उसी व्यवस्थाका परिणाम है।

यद्यपि यहाँ यह कहा जा सकता है कि मूलाचार और रत्नकरण्डश्रावकाचारमें जिन जातियोंको उल्लिखित किया गया है वे वर्तमानमें एक-एक वर्णके भीतर प्रचलित अनेक जातियाँ न होकर उन वर्णोंको ही उन ग्रन्थोंमें जाति शब्द द्वारा अभिहित किया गया है। इसलिये वर्तमान कालमें एक-एक वर्णके भीतर प्रचलित अनेक जातियोंको उतना पुराना नहीं मानना चाहिये। किन्तु वर्तमानमें जितनी भी जातियाँ प्रचलित हैं इनकी पूर्वावधि अधिकसे अधिक सातवीं-आठवी शताब्दी हो सकती है' ऐसा अनेक ऐतिहासिकोंका मत है। आचार्य क्षितिमोहनसेन उनमें मुख्य हैं।

प्राग्वाट इतिहास (प्रथम भाग) की भूमिकामें पृ० १३ पर श्री अगरचन्द नाहटा लिखते हैं—"राजपुत्रोंकी आधुनिक ज्ञातियों और वैश्योंकी अन्य ज्ञातियोंके नामकरणका समय भी विद्वानोंकी रायसे ८वी शतीके लगभगका ही है। सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् श्री चिंतामणि विनायक वैद्यने अपनी 'मध्ययुगीन भारत' मे लिखा है—"विक्रमकी ८वी शताब्दी तक ब्राह्मण और क्षत्रियोंके समान वैश्योंकी सारे भारतमे एक ही जाति थी।"

श्री सत्यकेतु विद्यालंकार क्षत्रियोंकी ज्ञातियोंके सम्बन्धमें अपने ग्रन्थ 'अग्रवाल ज्ञातिके प्राचीन इतिहास' के पृ० २०८ पर लिखते हैं—भारतीय इतिहासमें ८वी सदी एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तनकी सदी है। इस कालमें भारतकी राजनैतिक शक्ति प्रधानतया उन ज्ञातियोंके हाथमें चली गई, जिन्हें आजकल राजपुत्र कहा जाता है। भारतकी पुराने व राजनैतिक शक्तियोंका इस समय प्राय: लोप हो गया। पुराने मौर्य, पांचाल, अंधकवृष्णि, क्षत्रिय, भोज आदि राजकुलोंका नाम अब सर्वथा लुप्त हो गया और उनके स्थान पर चौहान, राठौर, परमार आदि नये राजकुलोंकी शक्ति प्रकट हुई[1]।

स्वर्गीय पूर्णचन्द्रजी नाहरने भी ओसवाल वंशकी स्थापनाके सम्बन्धमे लिखा है कि "वीर-निर्वाणके ७० वर्षमें ओसवाल-समाजकी सृष्टिकी किंवदन्ती असंभवसी प्रतीत होती है"। जेसलमेर-जैन-लेख-संग्रहकी भूमिकाके पृ० २५ मे "संवत् पाँच सौके पश्चात् और एक हजारसे पूर्व किसी समय उपकेश (ओसवाल) जातिकी उत्पत्ति हुई होगी', ऐसा अपना मत प्रकट किया है।

किन्तु ७वी-८वी शताब्दीके पूर्व वर्ण ही जाति संज्ञासे अभिहित किये जाते रहे हों, ऐसा एकान्तसे तो नहीं कहा जा सकता। यह बात ठीक है कि ब्राह्मणोंने अपने वर्णकी उत्कृष्टता बनाये रखनेके लिये उसे पाणिनीय कालमें ही कर्मसे न मानकर जन्मसे मानना प्रारम्भ कर दिया और इस प्रकार ब्राह्मण आदि वर्णोंके स्थानमें वे जातियां कहलाने लगीं, फिर भी प्रदेश-भेद और आचार-भेदसे उनमें ८वी-९वी शताब्दीके पूर्व इन वर्णोंके भीतर उत्तर-भेदोंकी सृष्टि न हुई हो, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जितने हम पिछले (पूर्व) कालकी ओर जाते हैं उतना ही उनमे प्रदेशभेद और आचारभेदसे भेद होता हुआ अनुभवमे आता है।

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल अपने 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' ग्रन्थकी भूमिकामें लिखते हैं—

१. भिन्न-भिन्न देशोंमें बस जानेके कारण ब्राह्मणोंके अलग-अलग नामोंकी प्रथा चल पड़ी थी।

---

१. प्राग्वाट-इतिहास, प्र० भाग भूमिका पृ० १३।

२. इसी प्रकार क्षत्रियोंके विषयमें भी वे लिखते हैं "अनेक जनपदोंके नाम वही थे जो उनमें बसनेवाले क्षत्रियोंके। (जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ् (पा० सू० ४।१।१६७)। जैसा कि हम ऊपर दिखा चुके हैं पंचाल क्षत्रिय-जनके बसनेके कारण ही आरम्भमें जनपदका भी पंचाल नाम पड़ा था। पीछे जनपद नामकी प्रधानता हुई और जनपदके नामसे वहाँके प्रशासक क्षत्रियोंके नाम जिन्हें अष्टाध्यायीमें जनपरिषद् कहा गया है लोक प्रसिद्ध हुए। पहली स्थितिके कुछ अवशेष आज तक बच गये है—जैसे यौधेयों (वर्तमान जोहिये) का प्रदेश जोहिया-बार (बहावलपुर रियासत), मालवोंका (वर्तमान मलवई लोगोंका), मालवा (फिरोजपुर लुधियाना जिलोंका भाग), दरद क्षत्रियोंका दरिदस्थान, यों तो तत्कालीन संघों और जनपदोंमें क्षत्रियोंके अतिरिक्त और वर्णोंके लोग भी थे, उदाहरणार्थ—मालव जनपदके क्षत्रिय मालव्य तथा ब्राह्मण एवं क्षत्रियेतर मालव्य कहलाते थे—...........राजन्यका हिंदी रूप राणा है।"

३. "पाणिनि-व्याकरणमें गृहस्थके लिये गृहपति शब्द है। मौर्यशुंग युगमें गृहपति समृद्ध वैश्य व्यापारियोंके लिये प्रयुक्त होने लगा था।.........उन्हींसे गहोई वैश्य प्रसिद्ध हुए" (पृ० ९२)।

"पतंजलिके अनुसार मृतप, चाण्डाल आदि निम्न शूद्र जातियाँ प्रायः ग्राम, घोष नगर आदि आर्य-बस्तियोंमें घर बनाकर रहती थी। पर जहाँ गाँव और शहर बहुत बड़े थे, वहाँ उनके भीतर भी वे अपने मुहल्लोंमें रहने लगे थे। ये समाजमें सबसे नीची कोटिके शूद्र थे। इनसे ऊपर बढ़ई, लोहार, बुनकर, धोबी, तक्षा, अयस्कार, तन्तुवाय, रजक आदि जातियोंकी गणना भी शूद्रोंमें थी। वे यज्ञ सम्बन्धी कुछ कार्योंमें सम्मिलित हो सकते थे, पर इनके साथ खानेके बर्तनोंकी छुआछूत बढ़ती जाती थी। इनसे भी ऊँची कोटिके शूद्र वे थे जो आर्योंके घरका नेवता होनेपर उन्ही बर्तनोंमें खा-पी सकते थे जिनमें कि घरके लोग खाते-पीते थे।"

ये पाणिनि व्याकरण और कातन्त्रके कुछ उदाहरण हैं जो इस बातके साक्षीरूपमें प्रस्तुत किये गये हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि तीर्थंकर महावीरके कालमें या उसके कुछ काल बाद आजीविका आदि कर्मोंके आधारपर चारों वर्णोंके अन्तर्गत प्रदेशभेद और आचारभेद आदिके कारण विविध जातियाँ बनने लगी थी। आजीविका भेद भी इन जातियोंके बननेमें एक मुख्य कारण है।

'तत्त्वार्थसूत्र'में परिग्रह-परिमाणके प्रसगसे कुछ ऐसे संकेत मिलते हैं जिनसे हम जानते हैं कि उस कालमें मानवसमाज नीच-ऊँचके भेदोंमें बँट गई थी। परिग्रह-परिमाण व्रतके जिन पाँच अतिचारोंका नामोल्लेख उसमें दृष्टिगोचर होता है उनमें इक अतिचारका नाम दास-दासी-व्यतिक्रम भी है। जो व्रती गृहस्थ दास-दासियोंके रखनेकी मर्यादा करके उसका उल्लंघन करता है, वह व्रती गृहस्थ दास-दासी-व्यतिक्रम नामक अतिचार दोषका भागी होता है। इससे हम जानते है कि तत्त्वार्थसूत्रकी रचनाकालके बहुत पहिलेसे समाज नीच-ऊँचके भेदसे अनेक भागोंमें विभक्त हो गया था।

कौटिल्यने भी अपने अर्थशास्त्रमें दास-प्रथाका उल्लेख कर इससे छूटनेके उपायका भी निर्देश किया है। यद्यपि व्रती जैन गृहस्थ स्वेच्छासे इस प्रथाको बन्द करनेमें सहायक होते रहे है, पर कौटिल्यके अनुसार छुट-कारेके रूपमें रुपया देकर भी दास या दासी उससे मुक्त होकर समानताका स्थान पाते रहे है।

यह लगभग दो हजार वर्ष पूर्वके भारतकी एक झाकी है, जिससे हम जानते है कि उस समय मानव समाज अनेक भागोंमें विभक्त हो गया था। अतः इसपरसे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वर्तमानमें एक-एक वर्णके भीतर जो अनेक जातियाँ और उपजातियाँ दृष्टिगोचर होती है उनकी नीव बहुत पहले पड़ गयी थी।

जो जैनधर्म जाति-प्रथाका अत्यन्त विरोधी रहा है, वह भी इस दोषसे अपनेको नहीं बचा सका। कहनेके लिये इस समय जैन समाजमें ८४ जातियाँ प्रसिद्ध हैं। मेरी रायमें उनमें कुछ ऐसी भी है जो दो हजार वर्षसे पहले ही अस्तित्वमें आ गयी थीं।

पौरपाट (परवार) जाति

(१) इसी प्रसंगसे मैं स्व० श्री पं० झम्मनलाल जी जैन तर्कतीर्थ द्वारालिखित 'श्री लंमेचू दिगम्बर जैन समाजका इतिहास' देख रहा था। उन्होंने उसके पृ० ३८ पर लिखा है'—"प्रमार (परमार) वंशमें राजा विक्रम हुए, उनका संवत् चालू है। उनके नाती (पोता) गुप्तिगुप्त मुनि थे जिन्होंने सहस्र परवार थापे।"

श्री गुप्तिगुप्त मुनिके विषयमे विशेष उल्लेख करते हुए उक्त पंडितजीने उसी ग्रन्थके पृ० ३३ पर यह भी लिखा है कि—"गुप्तिगुप्त मुनि भी परमार जाति क्षत्रियवंश जो चन्द्रगुप्त राजाका वंश होता है—यह भी यदुवंशमे ही है। उसी वंशमें विक्रम-सम्वत् २६ में हुए हैं।"

श्री जैन समाज सीकर द्वारा वीर नि० सं० २५०१ में प्रकाशित चारित्रसारके अन्तमें नागौर-शास्त्र-भण्डारसे प्राप्त एक पट्टावलि छपी है। उसमें इन आचार्योंके विषयमें लिखा है—

(क) मिति फाल्गुन शुक्ला १४ वि० सं० २६ मे जाति राजपूत पंवारोत्पन्न श्रीगुप्तिगुप्त हुए। उनका गृहस्थावस्थाकाल २२ वर्ष रहा, दीक्षाकाल ३४ वर्ष और पट्टस्थकाल ९ वर्ष छह मास २५ दिन एवं विरहकाल दिन ५ रहा। इस प्रकारसे इनकी सम्पूर्ण आयु ६५ वर्ष सात माह की थी। (पट्टावलिके अनुसार इनका क्रमांक २ है।)

(ख) मिति आषाढ़ शुक्ला १४ वि० सं० ४० मे चौसखा पोरवाड़ जात्युत्पन्न श्री जिनचन्द्र हुए। इनका गृहस्थावस्थाका काल २४ वर्ष, ९ माह रहा। दीक्षाकाल ३२ वर्ष ३ माह, पट्टस्थकाल ८ वर्ष ९ माह, ६ दिन और विरहदिन ३ रहा। इस प्रकारसे इनकी सम्पूर्ण आयु ६५ वर्ष, ९ माह और ९ दिन की थी। इनका पट्टस्थ क्रम ४ है।

(ग) मिति आश्विन शुक्ला १० वि० सं० ७६५ मे पोरवाल द्विसखा जात्युत्पन्न श्री अनन्तवीर्य मुनि हुए। इनका गृहस्थावस्थाकाल ११ वर्ष, दीक्षाकाल १३ वर्ष, पट्टस्थकाल १९ वर्ष, ९ माह, २५ दिन और अन्तरालकाल दिन १० रहा। इनकी सम्पूर्ण आयु ४३ वर्ष, १० माह, ५ दिन की थी। इनका पट्टस्थ होनेका क्रम ३३ है।

(घ) मिति आषाढ़ शुक्ला १४ वि० सं० १२५६ मे अठसखा पोरवाल आत्युत्पन्न श्री अकलंकचन्द्र मुनि हुए। इनका गृहस्थावस्थाकाल १४ वर्ष, दीक्षाकाल ३३ वर्ष, पट्टस्थकाल ५ वर्ष, ३ माह, २४ दिन और अन्तराल काल ७ दिनका रहा। इनकी सम्पूर्ण आयु ४८ वर्ष, ४ माह १ दिन की थी। इनका पट्टस्थ रहनेका क्रम ७३ है।

(ङ) मिति अश्विन ३ वि० सं० १२६४ मे अठसखा पोरवाल जात्युत्पन्न श्री अभयकीर्ति मुनि हुए। इनका गृहस्थावस्था काल ११ वर्ष २ माह, दीक्षा काल ३० वर्ष ५ माह, पट्टस्थकाल ४ माह, १० दिन और अन्तराल काल ७ दिनका रहा। इनकी सम्पूर्ण आयु ४१ वर्ष ११ माह, १७ दिन की थी। क्रमांक ७८ है।

इसी प्रकार 'प्राग्वाट-इतिहास'के पृ० १२ पर श्री दौलत सिंहजी लोढ़ा लिखते है—"श्री मालपुर इन दिनोंमें बहुत ही बड़ा और अत्यन्त समृद्ध नगर था। यह अवन्ती और राजगृहीकी स्पर्धा करता था। आज दिल्ली और प्रभासपत्तन, सिन्धुनदी तथा सोननदी तक फैला हुआ जितना भूभाग है, उन दिनोंमे रहे हुए

---

१. पट्टावली सूरीपुर बटेश्वर क्षेत्र।

भारतवर्षके इस भागमें श्रीमालपुर ही सबसे बडा नगर था। इस नगरमें अधिकांशतः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य बसते थे और वे भी उच्चकोटिके। नगरकी रचना 'श्रीमाल माहात्म्य'मे इस प्रकार वर्णित की गई है कि उत्कट धनपति अर्थात् कोटीश जिनको धनोत्कटा कहा गया है, श्रीमालपुरकी दक्षिण दिशामे बसते थे और इनसे कम धनी (श्रीमंत) उत्तर और पश्चिम दिशामे बसते थे और वे श्रीमाली कहे गये हैं। (मानो वह) स्वयं लक्ष्मीदेवीका क्रीडास्थल ही हो। श्रीमालपुरका ऐसा जो समृद्ध और वनराजिसे सुशोभित पूर्व भाग था, जो श्रीमालपुरका पूर्वबाट कहा गया है उसमे बसने वाले प्राग्वाट कहे गये है।''

ये कतिपय लेख हैं जिनसे ऐसा लगता है कि आजसे लगभग दो हजार वर्षसे पूर्व भी कतिपय जातियों-का निर्माण हो चुका था। पौरपाट (परवार) जाति उनमेसे एक हैं।

हम पहले ही गुप्तिगुप्त आचार्यका उल्लेख कर आये हैं। उनका दूसरा नाम अर्हद्बलि भी रहा है। क ते हैं कि पंचवर्षीय युग प्रतिक्रमणके समय उन्होंने एक विशाल मुनि-सम्मेलनका आयोजन किया था जिसमें सौ योजन तककी दूरीके मुनि एकत्र हुए थे। उनकी भावनाओं परसे उन्होंने यह जान लिया था कि अब पक्ष-पातका युग आ गया है। फलस्वरूप उन्होंने पूरे संघको अनेक भागोंमे विभक्त कर दिया था। मेरी रायमे जैन समाजमे विविध जातियोंकी उत्पत्तिका यही काल होना चाहिये और इसलिये यह सम्भव है कि उन्होने पौरपाट जातिको स्वीकार करनेके बाद ही मुनि दीक्षा अंगीकारकी थी। बहुत सम्भव है कि उन्होंने उसके बाद परवारोंके एक हजार घरोंकी स्थापना भी की हो।

(२) हमारे पास जो थोडे बहुत प्रतिमा लेख है, उनमेसे एक प्रतिमा-लेख ऐसा भी है जो विक्रम-संवत् १८९ का होकर भी जिसमे अठसखा अन्वयके अन्तर्गत जिन बिम्बकी प्रतिष्ठा करानेवालेको डेरियामूरी कहा गया है। पूरा लेख इस प्रकार है—



''संवत् १८९ माघ शुक्ला ८ आष्टासाखे प्रतिष्ठितम् डेरियामूरो श्रीकरठाकेन''

यह जिनबिम्ब मथुरासे वृन्दावनको जो मार्ग जाता है उसमे एक टीलेकी खुदाईमें स्वप्न देकर उपलब्ध हुआ था। यह जिन-बिम्ब चौरासी (मथुरा) के जिन मन्दिरमे मूलवेदीके पीछेकी वेदीमे स्थापित है।

(३) श्री पं० दयाचन्द शास्त्री उज्जैनसे प्राप्तकर श्री डॉ० हरीन्द्रभूषणजी ने हमारे पास द्वितीय भद्रबाहुके कालसे लेकर लगभग १८वी शताब्दि तककी एक पट्टावलि भेजी है। उसमें आचार्य गुप्तिगुप्तके सम्बन्धमें लिखा है—

संवत् २६ फाल्गुण सुदि १४ गुप्तिगुप्तजी गृहस्थ वर्ष, २२, दीक्षा वर्ष ३४, पट्टस्थवर्ष ९, मास ६, दिन २५, विरहदिन ५, सर्वायु (वर्ष) ६५, मास ७, जाति परवार।

इस पट्टावलीसे भी उसी अर्थकी पुष्टि होती है, जिसका उल्लेख हम श्री लमेचू जातिके इतिहासमे कर आये है।

(४) फरवरी १९४० परवारबन्धुके अंकमे सरस्वतीगच्छकी एक पट्टावलि मुद्रित हुई है। उसमें भी श्री गुप्तिगुप्त मुनि वि० सं० २६ में हुए ऐसा लिखकर उन्हे परवार सूचित किया गया है।

इस प्रकार इन सब प्रमाणों पर दृष्टिपात करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जिसे श्री लोढाजीने प्राग्वाट शब्द द्वारा अभिहित किया है वही अनेक भागोंमें विभक्त होकर उनमेंसे एक भेदका नाम ही पौरपाट (परवार) प्रसिद्ध हुआ। उन सब भेदोंके नाम हैं (१) सोरठिया पौरवाल, (२) कपोला पौरवाल, (३) पद्मावती पौरवाल, (४) गूर्जर (पौरवाल) (५) जांगड़ा पौरवाड़, (६) मेवाड़ी और मल्कापुरी पौरवाल. (७) मारवाड़ी पौरवाल, (८) पुरवार और (९) परवार।

किन्तु परवार इस भेदको दौलतसिंह लोढ़ाजी प्राग्वाट या पौरवाड़ अन्वयके अन्तर्गत नहीं मानते। उन्होंने 'प्राग्वाट इतिहास' (प्रथम भाग) पृ० ५४ पर इस सम्बन्धमें अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है—

''इस ज्ञातिके कुछ प्राचीन शिलालेखोंसे सिद्ध होता है कि 'परवार' शब्द 'पौरपाट' या 'पौरपट्ट' का अपभ्रंश रूप है। 'परवार', 'पौरवाल' और 'पुरवाल' शब्दोंमें वर्णोंकी समता देखकर बिना ऐतिहासिक एवं प्रमाणित आधारोंके उनको एक ज्ञाति वाचक कह देना निरी भूल है। कुछ विद्वान् 'परवार' और 'पौरवाल' ज्ञातिको एक होना मानते है, परन्तु यह मान्यता भ्रमपूर्ण है। पूर्व लिखी गई शाखाओंके परस्परके वर्णनोंमे एक दूसरेकी उत्पत्ति, कुल, गोत्र, जन्मस्थान, जनश्रुतियो, दन्तकथाओमे अतिशय समता है, वैसी परवार ज्ञातिके इतिहासमें उपलब्ध नही है। यह ज्ञाति समूची दिगम्बर जैन है। यह निश्चित है कि परवार ज्ञातिके गोत्र ब्राह्मण ज्ञातीय है और इससे यह सिद्ध है कि यह ज्ञाति ब्राह्मण ज्ञातिसे जैन बनी है। प्राग्वाट अथवा पौरवाल, पौरवाड कही जानेवाली ज्ञातिसे सर्वथा भिन्न और स्वतंत्र ज्ञाति है और इसका उत्पत्ति-स्थान राजस्थान भी नही है। अतः प्राग्वाट इतिहासमें इस ज्ञातिका इतिहास भी नही गूंथा गया है।''

ये श्री दौलतसिंहजी लोढाके अपने विचार है। उन्होंने इसी पुस्तकके पृ० ५५ की टिप्पणीमें श्री अगरचंद नाहटाके विचारोंको व्यक्त करते हुए लिखा है—

''प्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्री अगरचंदजी नाहटा भी पौरवाड़ और परवार जातिको एक नही मानते है। देखो उनका लेख 'क्या परवार और पौरवाढ़ ज्ञाति एक ही है ?'' परवार बन्धु वर्ष ३ सं० ४ मई १९४१ पृ० ४, ५, ६,।

ये परवार जातिको प्राग्वाट या पौरवाल जातिसे भिन्न माननेमें उक्त दोनों विद्वानोके अपने अभिप्राय है। किन्तु मालूम पड़ता है कि उन्होने अपने विचार इतिहासका सम्यक् प्रकारसे अनुशीलन किये बिना प्रकट किए है। जिसने जाति विषयक इतिहासका थोड़ा भी अवलोकन किया है, वह ऐसे अविचारित विचारोंको प्रश्रय देनेके लिए कभी भी तैयार नही हो सकता। हम यहाँ आगे पट्टावलीके एक ऐसे अंशको उद्धृत कर रहे है जिसमें इस बातकी भी भली प्रकार पुष्टि होती है कि अन्य पौरवाल आदि जातियोके समान परवार जातिका भी निकास प्राग्वाट जातिसे ही हुआ है। पट्टावलीका यह अंश इस प्रकार है—

तत्पट्टोदयसूर्य—आचार्य वर्य-नवविधब्रह्मचर्यपवित्रचर्यामंदिर-राजाधिराजमहामंडलेश्वरवज्रांग-गंग-जयसिंह-व्याघ्रनरेंद्रादिपूजितपादपद्मानां अष्टशाखा-प्राग्वाटवंशावतंसानां षड्भाषाकवि चक्रवर्ति-भुवनतलव्याप्तविशदकीर्ति विश्वविद्याप्रसादसूत्रधार-सद्ब्रह्मचारिशिष्यवरसूरि श्री श्रुतसागर-सेवितचरणसरोजानां श्रीजिनयात्राप्रासादोद्धरणोपदेशानैकजीवप्रतिबोधकानां श्रीसम्मेदगिरिचंपापुरिपावापुरीऊर्जयंतगिरि-अक्षयवड आदीश्वरदीक्षासर्वसिद्धक्षेत्रकृतयात्राणां श्रीसहस्रकूटजिनबिंबोपदेशक—हरिराजकुलोद्योतकराणां श्रीविद्यानंदीपरमाराध्यस्वामिभट्टारकाणाम् ॥

(भट्टारक सम्प्रदाय पृ० १७२, लेखांक ४३९)

पट्टावलीका यह अंश मूल संघ कुन्दकुन्दआम्नाय बलात्कारगण, सरस्वतीगच्छके अन्तर्गत सूरत पट्टके द्वितीय भट्टारक श्रीविद्यानंदजी महाराजका है। इस पट्टावलीमें उन्हें अष्टशाखा प्राग्वाटवंशका कहा गया है। यह एक ऐसा प्रमाण है जिससे इस तथ्यकी पुष्टि होती है कि जिसे वर्तमानमें परवार जाति कहा जाता है वह पौरवालों आदिके समान प्राग्वाट जातिका ही एक भेद है। अपने दुराग्रहवश कोई इस तथ्यको न स्वीकार करे, यह बात अन्य है।

इस प्रकार इस विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जिसे हम वर्तमानमें परवार जातिके नामसे जानते-समझते हैं उसका विकास भी पौरवालों आदिके समान उसी जातिसे हुआ है, जिसे कभी 'प्राग्वाट' इस नामसे अभिहित किया जाता रहा है।

२. स्थान

अब देखना यह है कि वह स्थान कौन-सा है जिस स्थानको केन्द्र बनाकर पौरवाट या परवार जाति ने मूर्तरूप लिया। इसके साथ दूसरा यह प्रश्न विचारणीय है कि इस जातिके इस नामकरणका मूल कारण क्या हो सकता है? इन दो मुद्दोंमेंसे सर्व प्रथम हम स्थानका निर्णय करेंगे और उसके बाद ही नामकरणके सम्बन्धमें ऊहापोह करेंगे।

यह तो हम 'भट्टारक सम्प्रदाय' ग्रन्थके आधारसे ही स्पष्ट कर आये हैं कि 'पौरपाट' जिसे वर्तमानमें 'परवार' अन्वय कहा जाता है उसका निकास 'प्राग्वाट' अन्वयसे ही हुआ है। इसलिये यह विचारणीय हो जाता है कि यह 'प्राग्वाट' किसकी संज्ञा है? क्या इस नामका कोई प्रदेश रहा है या अन्य किसी कारणसे किसी अन्वय (जाति) विशेषको यह संज्ञा मिली है?

गुजरात और गुजरातसे लगे हुए प्रदेशमें प्राग्वाट एक अन्वय रहा है जो क्रमसे अनेक भेदोंमें विभक्त होता गया। इसलिये विचारणीय यह है कि इस नामकरणका मूल कारण क्या हो सकता है? प्रश्न मौलिक है। आगे इस पर क्रमसे विचार किया जाता है—

'प्राग्वाट इतिहास' (प्र० भा०) पृ० १२ में श्रीमालपुर (भिन्नमाल या भीनमाल) में बसनेवाली जातियोंका उल्लेख करते हुए लिखा है कि इस नगरीमें बसनेवाले जो 'धनोत्कटा' थे वे धनोत्कटा श्रावक कहलाये। जो उनमें कम श्रीमन्त थे वे श्रीमाल श्रावक कहलाये और जो पूर्ववाटमें रहते थे वे प्राग्वाट श्रावक कहलाये। इनकी परम्परामें हुई इनकी सन्तानें भी श्रीमाली, धनोत्कटा और प्राग्वाट कहलाये।'

वि० सं० १२३६ में श्री नेमिचन्द्र सूरिकृत "महावीर-चरित्र" की प्रशस्तिमें लिखा है—

प्राच्यां वाटो जलधिसुतया कारितः क्रीडनाय,
तन्नाम्नैव प्रथमपुरुषो निर्मिताऽध्यक्षहेतोः।
तत्सन्तानप्रभवपुरुषैः श्रीभृतो संयुतोऽयम्,
प्राग्वाटरूपो भुवनविदितस्तेन वंशः समस्ति॥

पूर्व दिशामें अध्यक्षके निमित्त जो प्रथम पुरुष हुआ उसी नामसे (प्राग्वाट नामसे) एक स्थल बनाया गया। उसकी उत्तरकालमें जो सन्तानें हुईं, वे लक्ष्मी सम्पन्न थीं और वे प्राग्वाट वंशके नामसे प्रसिद्ध हुयीं।

इससे ऐसा लगता है कि भिन्नमालके पूर्व दिशामें जो स्थान निर्मित हुआ था उसका नाम प्राग्वाट था। प्राग्वाट जाति या वंशका विकास उसी स्थानसे हुआ है।

(२) श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा लोढ़ाजीको उत्तर देते हुए अपने पत्रमें लिखते हैं 'प्राग्वाट' शब्दकी उत्पत्ति मेवाड़के 'पुर' शब्दसे है। पुर शब्दसे "पुरवाड़" और "पौरवाड़" शब्दोंकी उत्पत्ति हुई है।

"पुर" शब्द मेवाड़के पुर जिलेका सूचक है और मेवाड़के लिये 'प्राग्वाट' शब्द भी लिखा मिलता है। देखो, प्रा० इ० पृ० १६।

(३) श्री अगरचन्दजी नाहटाका मत है कि वर्तमान 'गौड़वाड़' सिरोही राजके भागका नाम कभी प्राग्वाट प्रदेश रहा है। वही पृ० १६

(४) मुनि श्री जिनविजयजी स्टे० चन्देरिया (मेवाड़) का मत है कि अर्बुदपर्वतसे लेकर गौड़वाड तकके लम्बे प्रान्तका नाम पहिले प्राग्वाट प्रदेश था। वही पृ० १६

इन विविध मतोंसे ऐसा लगता है कि पहिले कभी मेवाड़ प्रदेशके उस भागका नाम प्राग्वाट प्रदेश रहा है जिसके अन्तर्गत अर्बुदपर्वत स्थित है।

हो सकता है कि इस प्रदेशमें मुख्यरूपसे बसने वाली जातिका नाम प्राग्वाट जाति रहा होगा।

जैन हितैषी भाग ११ अंक ५-६ फाल्गुन-चैत्र वि० सं० २४४१ पृ० ५८३—में लिखा है कि पोड़वाड़वंश श्री हरिभद्र सूरिजीने मेवाड़ देशमें स्थापन करा और तिनका वि० सम्वत् स्वर्गवास होनेका ५७५ का ग्रन्थोंमे लिखा है।

(६) 'प्राचीन जैन स्मारक' (मूलचन्द किसन दास कापड़िया, सूरत)—१९२६ के पृ० ३६ पर यह लेख अंकित है—

यह बहुत सम्भव है कि नागपुर और भंडारामें जो वर्तमान परवार जाति है वह उन अधिकारियोंकी सन्तान हो, जिन्हें मालवाके राजाओंने यहाँ नियत किया हो (देखो भंडारा गजट १९०८)

(७) 'जातिभास्कर'[1]—पुस्तकके पृ० २६३ पर लिखा है—पुरावाल गुजरातके पोरवा-पोरबन्दरके पास होनेसे यह पुरावाल कहकर प्रसिद्ध है। इस समय ललितपुर, झाँसी, कालपुर, आगरा, हमीरपुर, बाँदा जिलोंमें इस जातिके बहुतसे लोग रहते हैं। ये यज्ञोपवीत धारण नहीं करते हैं। श्रीमाली ब्राह्मण इनका पौरोहित्य करते हैं। अहमदाबादके विख्यात धनी महाजन भागुभाई पुरोवाल वंशोत्पन्न हैं।

उसी पुस्तकके पृ० २७२ में लिखा है—पौरवाड़ ७३ पूरोजी पेंड परिहार माता भात्री (भातर) गोभनानांस, गुरु सास्वत, त्रिगुणायत्, माता भद्रकाली सती भात्री १ पौरवाड़, २ परवाड़, ३ दागड़ा भैरादामें मेड़ता परगनेमें ख्यात दागड़या लढ़ामें, परतापयामें पौरवालमें ३ खाँप हैं ?

ये कतिपय उल्लेख हैं जिनसे यह निश्चित होता है कि मेवाड़के प्राग्वाट प्रदेशसे लेकर गुजरातके पोरबन्दर तकका प्रदेश इस जातिका (प्राग्वाटका) मूल निवास स्थान रहा है। वहींसे यह जाति विविध प्रदेशोंमें फैली है और यह जाति तीन भागोंमें विभक्त हो गई है—पौरवाड़, परवाड़ और पा (जा) गडा।

(१) यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि 'जातिभास्कर'के उल्लेखानुसार अहमदाबाद आदि प्रदेशोंमें बसनेवाले पोरवाड़ बन्धु और बुन्देलखण्डमें बसनेवाले परवार बन्धु एकही वृक्षकी दो शाखायें हैं। इसलिये जिनका यह मत है कि पोरवाल जातिसे परवार जाति सर्वथा भिन्न है, उनका वह मत समीचीन प्रतीत नहीं होता। इतना अवश्य है कि वर्तमानमें जिस जातिको परवार नामसे सम्बोधित किया जाता है, वह प्रारम्भसे ही दिगम्बर आम्नायको माननेवाली रही है। इसलिये उत्तरकालमे जिन बन्धुओने दिगम्बर आम्नायको छोड़कर राज्यादि बाह्य प्रलोभनवश श्वेताम्बर आम्नायको स्वीकार किया उनमे दिगम्बर परवारोंसे इतना अन्तर अवश्य पड़ गया है जिससे यह समझना कठिन हो गया है कि मूलमे ये दोनों जातियाँ कभी एक रही है।

---

१. वेंकटेश्वर प्रिंटीग प्रेस, बम्बई प्रकाशन

(२) पहिले हम जैनहितैषीके आधारसे यह लिख आये हैं कि श्री हरिभद्रसूरिने पौरवाड़ वंशकी मेवाड़ देशमें स्थापना की। साथ ही उसमें यह भी लिखा है कि सूरिजीका वि० सं० ५८५ मे स्वर्गवास हुआ है।

किन्तु विचार करनेपर विदित होता है कि श्री हरिभद्रसूरिका कार्यकाल श्री भट्टाकलंकदेवके बाद ही आता है और भट्टाकलंकदेवका कार्यकाल बिक्रम-सम्वत् ८वीं शताब्दी माना गया है। इसलिये ऐसा निश्चित मालूम पड़ता है कि हरिभद्रसूरिने पौरवाड़ोंको दिगम्बर आम्नायसे श्वेताम्बर आम्नायकी दीक्षा दी होगी और उसी तथ्यको श्वेताम्बर लेखकों ने पौरवाड़ोको जैनधर्मकी दीक्षा दी यह लिखकर प्रकट कर दिया है।

जैसा कि हम पहिले लिख आये हैं कि प्राग्वाट वंशकी उत्पत्ति लगभग २००० वर्ष पूर्व आचार्य गुप्तिगुप्तके कार्यकालके पूर्व हो गयी थी, अतः विक्रम सं० ५८५ में पौरवाडोकी उत्पत्ति हुई, ऐसा मानना इतिहासकी कोरी कल्पनामात्र है।

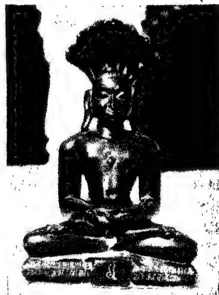
(३) 'जातिभास्कर' पुस्तकमे उसके लेखकने पृ० २७२ पर पौरवाड़ोंके विषयमें जो कुछ लिखा है वह मात्र अजैन पौरवाड़ोंको ध्यानमें रखकर ही लिखा है। जैन पौरवाड़ोको ध्यानमे रखकर नहीं लिखा—इतना यहाँ विशेष जानना चाहिये।

इस प्रकार विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जिन्हे वर्तमानमे पौरवाड और पौरपाट कहा गया है उन्हें ही पहले प्राग्वाट कहते थे और उनका निकास प्राग्वाट प्रदेशसे हुआ है।

नाम २

जैसा कि हम पहले लिख आये हैं, जिसे वर्तमानमें परवार अन्वय (जाति) कहा जाता है, प्रतिमा-लेखों आदिमें उसका पुराना नाम पौरपाट रहा है; जैसा कि साढ़ोरा ग्रामसे वि० सं० ६१० की प्राप्त जिनप्रतिमाके लेखसे ज्ञात होता है। लेख यह है—

संवत् ६१० वर्षे माघ सुदि ११ मूलसंघे पौरपाटान्वये पाट (ल) नपुर संघई।



इसके साथ कुछ प्रतिमा लेख ऐसे भी मिलते हैं, जिनमें इस अन्वयका नाम पौरपट्टान्वय भी पाया जाता है; यथा—

संवत् १५३२ चंदेरी मंडलाचार्यान्वये भ० श्रीदेवेन्द्रकीर्तिदेवा त्रिभुवनकीर्तिदेवा पौरपट्टान्वये अष्टासखे—

यद्यपि विक्रम संवत् १८९के जिस प्रतिमा-लेखका हम पूर्वमे उल्लेख कर आये हैं, उसमे इस अन्वयको 'आष्टा साख' कहा गया है। परन्तु अष्टसखा यह पौरपाट अन्वयका एक भेद है। इसलिये इस आधार पर उसे अष्टसखा अन्वय स्वतंत्र जाति वाचक नही कहा जा सकता।

यहाँ मुख्य रूपसे विचारणीय बात यह है कि इस अन्वयका नाम पौरपाट या पौरपट्ट क्यों प्रसिद्ध हुआ? जब कि प्राग्वाट वंशके अन्तर्गत अन्य जितनी भी उपजातियाँ बनी है, उन सबमे पौर शब्दके साथ यातो 'वाल'

शब्द जुड़ा हुआ है या 'वाड़' शब्द जुड़ा हुआ है। ऐसी अवस्थामें यह अवश्य ही विचारणीय हो जाता है कि इस अन्वयको प्राचीन लेखोंमें पौरपाट या पौरपट्ट क्यों कहा गया है ? इस नामकरणका कोई मुख्य कारण अवश्य होना चाहिये।

यह तो प्राग्वाट इतिहासके विद्वान् लेखक लोढ़ाजीने भी स्वीकार किया है कि पौरपाट (परवार) अन्वयको माननेवाले मात्र दिगम्बर ही पाये जाते हैं। जैसा कि उन्होंने इस इतिहासके पृ० ५४ पर इस बातको स्वीकार करते हुए लिखा भी है—"यह ज्ञाति समूची दिगम्बर जैन है।" इस उल्लेखसे ऐसा लगता है कि इस अन्वयके नामकरणमें इस बातका अवश्य ध्यान रखा गया है कि उससे दिगम्बरत्वके साथ मूल परम्पराका भी बोध हो।

'पौरपाट' शब्द दो शब्दोंके योगसे बना है—पौर + पाट = पौरपाट। 'पौर' शब्द 'पुर' से भी बना हो सकता है और 'पुरा' शब्दसे भी पौर शब्द बन सकता है। 'पुर' से स्थान विशेषका बोध होता है और 'पुरा' शब्द प्राचीनताको सूचित करता है। जिन संगठनकर्ताओंने पौरपाटमें पौर शब्दकी योजना की है उन्होंने इस नामकरणके 'पौर' शब्दमें इन दोनों बातोंको ध्यानमें रखा है ऐसा प्रतीत होता है।

(१) मेवाड़ राज्यके अन्तर्गत प्राग्वाट प्रदेशमें पुर नामका एक नगर रहा है। साथ ही पोरबन्दरके पास भी 'पुरवा' नामक एक कस्बा रहा है। इन दोनों स्थानोंसे इस (परवार) अन्वयका सम्बन्ध आता है, इसलिये लगता है कि इस अन्वयके नामके आदिमें 'पौर' शब्द रखा गया है।

(२) दूसरे जैसा कि मैं पहिले लिख आया हूँ 'पुरा' शब्दसे भी 'पौर' शब्द निष्पन्न हुआ है। 'पुरा' अर्थात् पहिलेका अर्थात् 'मूल'। इससे ऐसा ध्वनित होता है कि 'मूल संघ'को सूचित करनेके लिये भी इस नामकरणमें पहिले 'पौर' शब्द रखा गया है।

'पट्ट' या 'पाट' शब्द परम्परागत अधिकार विशेषको सूचित करता है। इसलिये ऐसा प्रतीत होता है कि समूची पौरपाट (परवार) जाति सदासे मूल संघ कुन्दकुन्द आम्नायको माननेवालोंमें मुख्य रही है। इसलिये इस जातिकी मुख्यता सूचित करनेके लिये इसे 'पौरपाट' या 'पौरपट्ट' कहा गया है।

आजसे लगभग ७-८ सौ वर्ष पूर्वके एक मुनि या भट्टारकने मूल संघका उपहास करते हुए लिखा भी है—

मूलगया पाताल मूल नयने न दीसे।
मूलहि सद्व्रतभंग किम उत्तम होसे॥
मूल पिठा परवार तेने सब काढ़ी।
श्रावक-यतिवर धर्म तेह किम आवी आढ़ी॥
सकल शास्त्र निरखतां यह संघ दीसे नहीं।
चन्द्रकीर्ति एवं वदति मोर पीछ कोठे कही॥

कोई चंद्रकीर्ति नामके मुनि या भट्टारक हो गये हैं, जो नियमसे बीस पंथी (काष्टासंघी) थे। उनका यह मूलसंघी परवार जातके प्रति भयंकर उपहास है।

उनकी समझसे उन्हें कहीं भी मूल संघ दिखायी नहीं देता, वह पातालमें चला गया है। वे यह मानते हैं कि समीचीन व्रत-क्रिया मूल संघमें कहीं नहीं दिखायी देती, इसलिये वह उत्तम कैसे माना जा सकता है ? मूल संघकी पीठपर एक परवार जाति ही है। उसके द्वारा ही मूलसंघ कुन्दकुन्द आम्नायकी यह सब खुरापात चालू की गयी है। श्रावकधर्म और यतिधर्मके विरोधमें वह कैसे खड़ा हो सकता है ? पूरे शास्त्रोंको देखनेपर

उनमें कहीं भी यह दिखायी नहीं देता। इसके साधुओंने जो मोरपीछी ले रखी है, उसका उल्लेख भी कहीं शास्त्रोंमें दिखायी नहीं देता।

यह एक ऐसा उल्लेख है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि परवार जातिके लिये जो 'पौरपाट' या 'पौरपट्ट' कहा गया है, वह सार्थक होनेके साथ ऐतिहासिक दृष्टिसे अर्थ विशेषको सूचित करनेवाला भी है। और यही कारण है कि प्राग्वाटवंशके अन्तर्गत अन्य जितने भी भेद-प्रभेद दिखायी देते हैं, उनसे इस (परवार) अन्वयकी अपनी विशेषता है और उसी विशेषताको सूचित करनेके लिये ही आजसे लगभग २ हजार वर्ष पूर्वसे ही इस अन्वयके एक मात्र मूल संघ कुन्दकुन्द आम्नायका उपासक होनेसे इस अन्वयको ऐतिहासिक लेखोंमें पौरपाट या पौरपट्ट कहा गया है।

यह बात सही है कि उत्तर कालमें इसके मूल नाममें परिवर्तन होकर किसी प्रशस्ति लेखमें इसे 'परवार' लिखा गया है। यथा—

(१) सोनागिर पहाड़से उतरते समय अन्तिम द्वारके पास एक कोठेमें जो भग्न प्रतिमायें विराजमान हैं, उनमेंसे एक प्रतिमापर यह लेख अंकित है—

संवत् ११०१ वकागोत्रे परवार जातिय

(२) विदिशा—के बड़े मन्दिरसे प्राप्त एक जिनबिम्बपर यह लेख अंकित है—(पार्श्वनाथ-सफेद पाषाण–१६ अंगुल)

संवत् १५३४ वर्षे चैत्रमासे त्रयोदश्यां गुरुवासरे भट्टारकजी श्रीमहेन्द्रकीर्ति भद्दलपुरे श्रीराजारामराज्ये महाजन परवाल·········श्रीजिनचन्द्र

(३) कुछ काल पहिले आगरामें एक शिक्षण-शिविर हुआ था। उसमें बाहरसे अनेक विद्वान् आये थे। उस समय जयपुरसे प्रदर्शनीके लिये हस्तलिखित शास्त्र आये थे। उनमें एक पुण्यास्रव हस्तलिखित शास्त्र था। उसके अंतमें यह प्रशस्ति अंकित थी, जो इस प्रकार है—

"सवत् १४७३ वर्षे कार्तिक सुदी ५ गुरुदिने श्रीमूलसघे सरस्वतीगच्छे नंदिसंघे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारकश्रीपद्मनंदिदेवास्तच्छिष्यमुनिश्रीदेवेन्दकीर्तिदेवाः। तेन निजज्ञानवर्णीकर्मक्षयार्थं लिखापित शुभं। श्री मूलसंघे भट्टारक श्री भुवनकीर्ति तत्पट्टे भट्टारिक श्री ज्ञानभूषण पठनार्थं। नरहडो वास्तव्य परवाड़ज्ञातीय सा····काकाल भा० पुण्य श्री सुत सा–नेमिदास ठाकुर एतैः इदं पुस्तकं दत्तं।

(४) साह बखतराम द्वारा लिखित बुद्धिविलास ग्रन्थके पृ० ८६ पर 'खाप वर्णन' शीर्षकके अन्तर्गत कवितामें ७४ जातियोंके नाम गिनाये हैं। उनमें पौरपाट (परवार) जातिका उल्लेख करते हुए लिखा है—

"सात खांप पुरवार कहाये, तिनके तुमको नाम सुनाये" ॥६७६॥

(५) परवार बन्धु मार्च १९४० के अंकमें बाबू ठाकुरदासजी (टीकमगढ़) ने कतिपय मूर्तिलेख प्रकाशित किये हैं। उनमें एक लेख ऐसा भी मुद्रित हुआ है, जिसमें इस अन्वयको 'परिपट' कहा गया है। यथा—

'परपटान्वये शुके साधुनाम्ना महेश्वरः।'

यह लगभग ११-१२वीं शताब्दीका लेख है।

इस प्रकार सूक्ष्मतासे विचार करनेपर प्रतिमालेखों आदिमें इस अन्वयके लिये यद्यपि अनेक नामोंका उल्लेख हुआ है। पर उन सबका आशय एकमात्र पौरपाट अन्वयसे ही रहा है। इस अन्वयके लिये ११वीं शताब्दीसे परवार नामका भी उल्लेख होने लगा था।

प्रभेद ४

भारतवर्षमें जिनधर्मको अंगीकार करनेवाली जिन ८४ जातियोंके नाम विविध ग्रन्थों में लिखे मिलते हैं, उनके नामोंमें बड़ी गडबडी पायी जाती है। 'प्राग्वाट इतिहास' के भूमिका लेखक श्री अगरचन्दजी नाहटाने अपनी भूमिकामें पृ० १४ पर १६१ जातियोंके नाम गिनाते हुए उसके प्रारंभमे लिखा है—

"वैश्योंकी जातियोंकी संख्या चौरासी बतलाई जाती है। पन्द्रहवीं शताब्दीसे पहलेके किसी ग्रन्थमें मुझको उनकी नामावलि देखनेको नही मिली। जो नामावलियाँ पन्द्रहवीसे अट्टारहवी शताब्दीकी मिली है, उनके नामोंमे पारस्परिक बहुत अधिक गड़बड़ है। पाँच चौरासी जातियोंकी नामोकी सूचीसे हमने जब एक अकारादि सूची बनाई तो उनमे आये हुए नामोंकी सूची १६० के लगभग पहुँच गई। इनमेसे कई नाम तो अशुद्ध है और कई का उल्लेख कही भी देखनेमे नही आता और कई विचित्र-से है। अतः इनमेंसे छांटकर जो ठीक लगे उनकी सूची दे रहा हूँ।"

भूमिका-लेखककी इस टिप्पणीको पढ़कर हमें बड़ा आश्चर्य हुआ। लेखकको चौरासी जातियोंकी जो पाँच सूचियाँ मिली थी उनको अविकल उसी रूपमे दे देते, तो संभव था कि उस आधारपर कुछ तथ्यात्मक प्रकाश पडता। किन्तु ऐसा न करके उन्होंने अपनी इच्छानुसार जो विस्तृत सूची बनाई है, उससे वस्तु स्थितिको समझनेमे अवश्य हो कठिनाई आती है; क्योंकि लेखकको जो पाँच सूचियाँ मिली थी वे प्रदेश-भेदकी होनी चाहिये। अतः उन्हे यथावत् रूपमे छाप देते, तो उनके आधारपर प्रदेश-भेदसे किस प्रदेशमें कौन जातियाँ बसती थीं, इसे समझनेमें बडी सहायता मिलती। तत्काल हमारे सामने लेखक द्वारा संकलित की गयी १६१ जातियोंके नामोंकी विस्तृत सूची तो है ही, साथ ही श्री कवि बखतराम द्वारा संकलित ८४ जातियोंकी एक सूची, प्रो० श्री डॉ० विलास आदिनाथ संघवी—राजाराम कॉलेज कोल्हापुर द्वारा संकलित ८३ जातियोंकी एक सूची, तथा उन्हीं के द्वारा संकलित श्री जैन पी० डी० वाली एक सूची, प्रो० एच० एच०-विल्सन द्वारा संकलित एक सूची, गुजरात प्रोविन्सकी एक सूची तथा डेक्कन (दक्षिण)की एक सूची, ऐसी कुल ६-७ सूचियाँ है।

उनमेंसे श्री साह बखतराम कवि द्वारा संकलित जो ८४ जातियोकी सूची है उसमे उन्होने पौरपाट (परवार) जातिके जिन सात खापों (भेदों) की चर्चा की हैं, उनके नाम उन्हीके शब्दोमे इस प्रकार है—

सात खाप पुरवार कहाये, तिनको तुमको नाम सुनावे ॥६७६॥
अठसख्या फुनि है चौसख्या, सेहसरड़ा फुनि है दो सख्या।
सोरठिया अर गांगड़ जानौं, पद्मावत्या सप्तमा मानौ ॥६८७॥

इस कवितामें कविने जिनने सात नामोंको गिनाया है वे इस प्रकार है—१. अठसखा, २. चौसखा, ३. छःसखा, ४. दो सखा, ५. सोरठिया, ६. गागड़ और ७. पद्मावती।

१. श्री प्रो० डा० विलास आदिनाथ संघवी द्वारा सकलित प्रथम सूचीमे उन्होंने पौरपाट (परवार) जातिके सात उपभेदोका उल्लेख न करके मात्र एक परवार नामका ही उसमे उल्लेख किया है और उसका निकास पारानगरसे लिखा है। (इस सूचीमे पोरवाड जातिका अलगसे नाम आया है और उसका निकास पारेवा नगरसे लिखा है।) इसमें अन्य जिन जातियोंसे नाम आये है उनके निकास स्थानका भी निर्देश किया गया है।

२. श्री पी० डी० द्वारा जिन ८४ जातियोंका संकलन किया गया है उनमे परवार जातिके नामका ही एक उल्लेख है।

३. इसी प्रकार प्रो० एच० एच-विलसन द्वारा जिन ८४ जातियोंका संकलन किया गया है, उसमें भी एक परवार नामका ही उल्लेख है।

४. गुजरात प्रदेशमे जिन ८४ जातियोंके नाम आये है उसमें परवार इस नामका कहीं भी उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

५. रही दक्षिण प्रान्तकी चौथी सूची सो उसमें परवाल और पोरवाल ये दोनों नाम आये है। उनमेंसे परवाल यह नाम पौरपाट (परवार) जातिके अर्थमें ही आया है।

हम पहले श्री अगरचंद नाहटा द्वारा जाति सम्बन्धी जिन १६१ नामोका उल्लेख कर आये हैं, उनमें पौरपाट परवारोंके जिन ६ उपभेदोंका उल्लेख किया है उनके नाम इस प्रकार है—१. अठसखा, २. चऊसखा, ३. छःसखा, ४. दो सखा, ५., पद्मावती पौरवाल और ६. सोरठिया।

इन नामोंमे साह बखतराम द्वारा सूचित सात नामोमेसे गागड यह नाम छूटा हुआ है। संभव है कि १६१ नामोंमें जो गुजराती और गुर्जर पौरवाड ये दो नाम आये हे, इन्होंमेंसे कोई एक नाम गागड़ यह हो सकता है

यहाँ विशेष बात यह कहनी है कि जिस प्रकार अन्य जातियोमे कोई उपभेद नही देखा जाता वैसी स्थिति पोरपाट जातिकी नही रही है। इसमे अनेक भेद-प्रभेद और उनमे परस्पर एक जातिपनेका व्यवहार नहीं था। इससे इस जातिकी जो हानि हुई है उसकी कल्पना करनेमात्रसे रोंगटे खडे हो जाते है।

पहले हम ऐसी कल्पना भी नही करते थे कि इस जातिके भीतर अठसखाके सिवाय अन्य और भी भेद हैं, किन्तु इन भेदोंको देखनेसे अवश्य ही हम यह जान पाये है कि इस जातिके भीतर और भी भेद रहे है। बहुत संभव है कि इन उपभेदोंके भीतर बेटी व्यवहार और रोटी-व्यवहारका भी संबंध नही रहा होगा।

हम बहुत समय पहले सिरोंजके जिन-मन्दिरोंमे स्थित जिन-प्रतिमाओं आदिके लेख लेनेके लिए गये थे। हमें स्मरण आता है कि वहाँके बडे मन्दिरकी मूल वेदीमे एक प्रतिमा हमने ऐसी भी देखी थी जिसपर कि मूर्तिलेखमें छःसखा यह नाम अंकित था। उमके बाद अन्य स्थानो सम्बन्धी पच्चीसों जिन-मन्दिरोंके मूर्तिलेख और शास्त्रोंके लेख हमने लिखे है, परन्तु उनमे ऐसा एक भी मूर्तिलेख या शास्त्रोंमे प्रशस्ति लेख नही मिला जिसमें छःसखा यह नाम आया हो।

दो सखाको सूचित करनेवाले मूर्तिलेख या शास्त्रोंके प्रशस्ति लेख तो हमारे देखनेमे कही आये ही नहीं। हाँ, श्री जिनतारण-तरणके अनुयायियोंमे दो सखा अवश्य रहे है। चौसखे समैयोंसे ये भिन्न है। चौसखा परवारोंके विषयमे अवश्य ही हमें कुछ कहना है।

पन्द्रहवीं शताब्दीके पूर्व ये सब चौसखा भाई मूर्तिपूजक रहे हैं, किन्तु इन सब चौसखाओमे श्री जिन-तारणतरणके उत्पन्न होनेके बाद, ये सब पूरेके पूरे चौसखा तारण स्वामीके अनुयायी बन गये। इसका कोई न कोई सामाजिक कारण अवश्य होना चाहिये।

कहते हैं कि आजसे लगभग ६०० वर्ष पूर्व सागरमे परवार सभाका अधिवेशन हुआ था। उसमे पूरे समैया समाज इस बातके लिए राजी था कि हम सबको मिलाकर परवार जातिका एक संगठन बना लिया जाय। किन्तु उस समय परवार समाजके जो प्रमुख महानुभाव थे वे बिना शर्त उन्हे मिलानेके लिए तैयार नहीं हुए। इसका जो फल निष्पन्न हुआ वह सबके सामने है।

ऐसा ही एक प्रयत्न सन् १९२६-२७ मे हमने भी किया था। मल्हारगढ निसईजीका मेला था। आगासौदके सेठ मन्नूलालजीके विशेष आग्रहपर हम उस मेलेमे सम्मिलित हुए थे। उस समय स्थिति यह थी

कि परवार भाई-बहन मेलेके समय निमन्त्रण मिलनेपर भी पक्के खान-पानमें सम्मिलित नहीं होते थे। किसी प्रकार पुनः निमन्त्रण दिलवाकर हम उन्हें पंक्ति-भोजनमें ले गये, क्योंकि हम यह अच्छी तरह जानते थे कि जब तक दोनों ओरके भाई-बहन एक साथ उठेंगे-बैठेंगे नहीं, एक साथ पंक्ति-भोजनमें सम्मिलित होंगे नहीं, तबतक इन सबको मिलाकर एक करना सम्भव नहीं है। यद्यपि उस समय हमने अपनी युक्तिसे पंक्तिभोजनमें सबको अवश्य मिला दिया था पर ऐसे प्रयत्नोंसे जो इष्ट फलकी प्राप्ति होनी चाहिये, उससे पूरा समाज अभी भी वंचित है। अब तो सबका मिलकर एक संगठन बन जाय इसकी किसीको चिन्ता भी नहीं है। चिन्ता हो क्यों, समाजका ह्रास कल होना था तो आज हो जाय, उससे हमारा क्या बनता-बिगड़ता है? आजसे लगभग दो हजार वर्ष पूर्व स्वामी समन्तभद्रने पूरे जैनसंघके सामने एक आदर्श रखा था—"न धर्मो धार्मिकैः विना", पर मालूम पड़ता है कि समाजने उसप चलना सीखा ही नहीं।

अब देखना यह है कि इस भेदका मूल कारण क्या है? ऐसी कौन-सी अड़चन है जो इस समाजको एक करनेमें आड़े आती है। आगे उसीपर सांगोपांग विचार किया जाता है—

सोलहवीं शताब्दीके प्रारम्भमें श्री जिनतारण तरण प्रमुख सन्त हो गये हैं। इनके माता-पिता चौसखे परवार थे। वे विलहरी (पुष्पावती) नगरके रहनेवाले थे। पिताका नाम गढ़ा साहु और माताका नाम वीरश्री था। श्री जिनतारण-तरणका शिक्षण चन्देरीमें भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति और उनके शिष्य भ० त्रिभुवनकीर्तिकी देख-रेखमें हुआ था। लगता है कि भट्टारक श्रुतकीर्ति इनके सहाध्यायी थे। यदि श्रुतकीर्ति आयुमें बड़े रहे हों, तो उनके पास भी उन्होंने प्रारम्भिक शिक्षा ली हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

इनका पूरा जीवन अध्यात्म रससे ओत-प्रोत रहा है। गुरुओंके सन्निकट उन्होंने उसीकी शिक्षा पाई थी और उसीके लिए वे जीवित रहे और उसीका गान करते हुए उन्होंने इहलीलाको समाप्त किया।

उनकी समाधि मल्हारगज निसईजीमें जिस स्थानपर हुई थी वहाँ स्मारक स्वरूप एक छतरी बनी हुई थी। वह अब उसी रूपमें तो नहीं है। कहते हैं कि उसके चारों ओर बारहदरी बना दी गई है। पर जिस रूपमें वह छतरी थी वह उसी रूपमें न रह सकी। इसका जो भी कारण रहा हो। छतरीमें कोई-न-कोई ऐसा चिह्न अवश्य होना चाहिये जो उस पुण्य मूर्ति सन्तका स्मरण करानेमें सहायक माना जाये।

उनके द्वारा प्ररूपित १४-१५ ग्रन्थ माने जाते हैं। उनमें एक "तारणश्रावकाचार" भी है। यह श्रावकाचार की प्ररूपणा करनेवाला महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमें परमार्थ स्वरूप देव, गुरु और शास्त्रका सुन्दर विवेचन किया गया है। इसकी गाथा ७५ में जैसे कुगुरुको ही अगुरु कहा गया है वैसे ही ६० और ६१ क्रमाककी गाथाओंमें कुदेव और अदेव इनको एक माना गया है। ६१ क्रमाककी गाथामें इसी बातको स्पष्ट करते हुए अनेक अर्थात् कुदेवको संगतिका निषेध भी किया गया है।

फिर भी कुछ भाई इसका विपरीत अर्थ करके जिनबिम्बकी पूजाका सर्वथा निषेध करते हैं। यदि उनकी इस बातको ठीक मान लिया जाय तो शास्त्रपूजा और चैत्यालयोंमें उनकी स्थापना नहीं बन सकती है। जैसे शास्त्र अक्षरात्मक और शब्दात्मक संकेत द्वारा आत्मा और परमात्माका बोध करानेमें सहायक होते हैं, वैसे ही जिनबिम्ब भी उस परमात्माका ज्ञान करानेमें समर्थ होते हैं जिनके माध्यमसे यह संसारी प्राणी ज्ञानानन्दस्वरूप अपने आत्माका अनुभव करनेमें समर्थ होता है।

स्वामीजीने कहीं भी जिनपूजाका निषेध नहीं किया है। जो भव्यजीव समवसरणमें जाते हैं, उन्हें भी आँखोंसे सौम्यमूर्तिस्वरूप आत्माके दर्शन न होकर शरीरके ही दर्शन होते हैं। फिर भी भव्य जीव उसे माध्यम बनाकर कर्मकलंकसे भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप अपने आत्माके दर्शन कर लेते हैं। आलम्बन क्या है यह मुख्य नहीं।

वह आलम्बन जड़ भी होता है और चेतन भी। इससे क्या? लोकमें जितने भी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको जाना है वह यह अच्छी तरहसे जानता है कि कार्यकी सिद्धि जडको निमित्तकर भी होती है और चेतनको निमित्तकर भी होती है। कार्यकी सिद्धि मुख्य है।

इसी बातको ध्यानमे रखकर आगममें आलम्बनको चार भागोंमे विभक्त किया गया है—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। कार्य सिद्धिमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धवश कोई भी द्रव्य निमित्त बन जाता है। चैत्यालय क्या है? जड़का परिणाम ही तो है। पर उसे निमित्तकर विवेकी पुरुष धर्मका साधन करते ही हैं। क्षेत्र कहनेसे शिखरजी, गिरनारजी तथा निसईजी आदिका ग्रहण होता है। तो वे भी धर्मसाधनके निमित्त हैं। कालसे २४ तीर्थंकरोंके पाँचों कल्याणकों की तिथियों, स्वामीजीके जन्मदिन आदिका ग्रहण होता है। पंचागसे इन तिथियों-को जानकर उस दिन सभी भाई-बहिन व्रत-उपवास आदि द्वारा धर्मकी आराधना करते ही हैं। भावोंकी बात स्पष्ट ही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रयोजनके अनुसार धर्म साधनमे व्यवहारसे जड-चेतन सभीकी उप-योगिता है। स्वामीजीने इसी बातको ध्यानमे रखकर पण्डितपूजामे लिखा भी है—

एतत्सम्यक्त्वपूज्यस्य पूज्य-पूजा समाचरेत्।
मुक्तिश्रियं पथं शुद्धं व्यवहार-निश्चयशाश्वतम् ॥३२॥

ऐसे यथार्थ पूज्य पंचपरमेष्ठीकी पूजा करनी चाहिये। यह शाश्वत मुक्तिश्रीको प्राप्त करनेके लिये व्यवहार-निश्चयस्वरूप मोक्षमार्ग है ॥३२॥

स्वामीजीने अपने उपदेशों द्वारा इसी मार्गका उपदेश दिया है इसमे सन्देह नही है। उन्होंने व्यवहारको सर्वथा गौण नहीं किया है।

फिर भी परवार समाज और समैया समाज एक होकर इन दो भागोंमे विभक्त क्यों हो गये? इसका मूल कारण अध्यात्म नही है; किन्तु मात्र व्यवहार मार्गकी अनभिज्ञता ही इसका मूल कारण है। जिन तारण-तरण श्रावकाचारमे दो गाथाएं आती हैं जो इस प्रकार है—

अशुद्धं प्रोक्तं चैव देवलि देव पि जानते।
क्षेत्र अनन्त हिंडंते अदेवं देव उच्यते ॥३१०॥
देहह देवलि देवं च उवइट्टो जिनवरिंहि।
परमेष्ठी संजुतं पूजं च सुद्धसम्यक्तं ॥३२५॥

लगभग इसी प्रकारकी एक गाथा योगसारमे भी आई है। वह इस प्रकार है—

तित्थहि देवलि देउ णवि इम सुइकेवलि वुत्तु।
देहदेवलु देउ जिणु एहउ णाणि णिमतु ॥

यह तो स्पष्ट है कि जब योगसारकी गाथा स्वाश्रित ध्यानके सम्बन्धमे उसमे दी गई है। ऐसी अवस्थामे श्री जिनतारण-तरण श्रावकाचारमे जो उक्त दो गाथाएँ आयी हैं वे क्या स्वाश्रित ध्यानके सम्बन्धसे आई है या क्या बात है इसे स्पष्ट समझे बिना यह समस्या हल नही हो सकती।

'योगसार' तो ध्यान विशेषकी प्ररूपणा करनेवाला ग्रन्थ है। किन्तु वही स्थिति श्री जिनतारण-तरण श्रावकाचार की नहीं है। वह मुख्यतया श्रावकोंकी अन्तरंग परिणामोंके अनुरूप बाह्य क्रियाकी प्ररूपणा करने-वाला ग्रन्थ है। ऐसी अवस्थामे उसमे देवता (मन्दिर) में स्थित देवको अशुद्ध कहनेका क्या कारण हो सकता है? क्या इसका यह अर्थ है कि श्री जिन मन्दिरमें जिनदेवके प्रतिबिम्बकी स्थापना न की जाय। यदि इसका

यह अर्थ किया जाय कि श्री जिन तारण-तरणने इस द्वारा श्री जिनमन्दिरमें जिनबिम्बकी स्थापनाका सर्वथा निषेध किया है तो फिर उन्हें उसे अशुद्ध न कहकर अपनी उक्त गाथामें उसका सर्वथा निषेध करना चाहिये था। पर उन्होंने ऐसा न लिखकर उसे अशुद्ध कहा है। इसलिये यह सवाल खड़ा हो जाता है कि आगममें अशुद्ध और शुद्ध शब्दोंका प्रयोग किस अर्थमें किया गया है।

सवाल मार्मिक है। इस प्रकार गहराईसे विचार करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि आगममें जहाँ भी 'अशुद्ध' शब्दका प्रयोग हुआ है वह या तो परके आलम्बनसे विवक्षित वस्तुके समझनेके अर्थमें हुआ है या फिरसे पदार्थोंको मिलाकर एक कहनेके अर्थमें हुआ है। तथा 'शुद्ध' शब्दका प्रयोग अन्यको बुद्धिमें गौणकर जो वस्तु मूलमें जैसी है उसे उसी रूपमें देखनेके अर्थमें हुआ है या फिर केवल अकेली वस्तुके अर्थमें हुआ है।

अब देखना यह है कि यहाँ जो श्री जिन तारण-तरणने उक्त गाथामें 'अशुद्ध' शब्दका प्रयोग किया है, सो किस अर्थमें किया है? विचार कर देखा जाय तो इससे यह अर्थ स्पष्ट हो जाता है कि इस गाथामें उन्होंने पर अर्थात जिन-बिम्बके आलम्बनसे अपने स्वरूपके जाननेके अर्थमें ही 'अशुद्ध' शब्दका प्रयोग किया है। इससे यह सुतरा फलित हो जाता है कि गाथासे आया हुआ 'अशुद्ध' शब्द असद्भूत व्यवहारको ही सूचित करता है। वे उस द्वारा ऐसे व्यवहारका निषेध नहीं कर रहे है, किन्तु उनका कहना है कि ऐसे व्यवहार-के कालमें भी अपनी दृष्टि पर आलम्बनको गौण कर निश्चय पर रहनी चाहिये। तभी वह क्रिया यथार्थ कही जा सकेगी; अन्यथा निमई आदिको तीर्थ मानना निरर्थक हो जायगा।

यह तो चरणानुयोगका ग्रन्थ है, फिर भी इसमे किसी भी क्रियाकी जो व्याख्या की गई है वह अध्यात्मपरक ही की गई है। इससे उस क्रियाका करता निरर्थक नहीं जाना जा सकता है। उदाहरणार्थ—अनस्तमित किसे कहना? इसकी व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं—

अनस्तमितं कृतं येन मनवचकाययोगभिः।
शुद्धं भावं च भावं च अनस्तमितं प्रतिपालनम् ॥२९८॥

जिसने मन, वचन और काय इन तीनों योगोंके द्वारा शुद्धभावकी भावनाकी उसने अनस्तमित किया। यह अनस्तमितका पालन है।

यह श्री जिन तारण-तरणका कथन है। क्या इस परसे हम यह अर्थ फलित करें कि शुद्ध भावना करना ही अनस्तमित धर्म है। विचार कर देखा जाय तो वे इस द्वारा शुद्ध भावना करनेका उपदेश अवश्य दे रहे है, उस कालमे होनेवाली क्रियाका निषेध नही कर रहे है।

यह एक उदाहरण है। इससे हम यह अच्छी तरह जानते है कि स्वामीजीके कथन करनेकी शैली ही अध्यात्मपरक रही है। किन्तु इससे कोई यह माने कि उन्होंने व्यवहारका सर्वथा निषेध किया है, तो यह उनके व्यक्तित्वपर सबसे बड़ा लाछन होगा। हम सब उनकी महत्ताको जानते-मानते हैं। अब समय आ गया है कि हम सब उनके व्यक्तित्वको उजागर करें, उसपर आवरण डालनेकी चेष्टा न करें।

यह हमारी आचार-व्यवहार विषयक सबसे बड़ी भूल है कि जो हमारे परिवारके एक अंग है, उनको हमने दूर कर दिया। अब समय आ गया है कि हम सब एक हो जाँय। इसके लिये जितने चैत्यालय हैं, उनको हम स्वाध्याय मन्दिर मानकर स्वीकार करें और जितने जिनमन्दिर हैं, उन्हे वे धर्मायतन मानकर अंगीकार करें।

सोरठिया और गांगड परवारोंका क्या हुआ? यह अबतक इतिहास और अनुसन्धानकी वस्तु बनकर रह गई है। पद्मावती पोरवाल (परवार) अभी भी हमारे अंग बने हुए है। मात्र उन्हें अपने पास लाने भरकी आवश्यकता है। वे और हम यह नहीं जानते कि हम सबका एक ही वंश है और वह है—पौरपाटवंश।

गोत्र ५

गोत्र शब्द अनादि है। आठ कर्मोंमें भी गोत्र नामका एक कर्म है। इसे आगममें जीवविपाकी कहा गया है। और इस परसे यह अर्थ फलित किया गया है कि परम्परासे आये हुए आचारका नाम गोत्र है। उच्च आचारकी उच्चगोत्र संज्ञा है और नीच आचारकी नीचगोत्र संज्ञा है। साथ ही आगममें इसके सम्बन्धमें यह भी लिखा है कि नीचगोत्र एकान्तसे भवप्रत्यय है और उच्चगोत्र परिणामप्रत्यय होता है। इससे यह अर्थ फलित किया गया है कि यदि कोई नीचगोत्री मनुष्य हो और वह उच्च आचारवालोंकी संगति करके अपने जीवनको बदल ले तो वह मुनिधर्मको स्वीकार करते समय उच्चगोत्री हो जाता है। मात्र उच्चगोत्री आचारकी दृष्टिसे कितना भी गिर जाय, फिर भी वह उच्चगोत्री ही बना रहता है।

गोत्रकर्मका यह सैद्धान्तिक अर्थ है, इसका एक सामाजिक रूप भी है। किसी भी समाजके निर्माणमें इसका विशेष ध्यान रखा जाता है। कहते हैं कि जैन समाजके भीतर जितनी भी उपजातियाँ बनी हैं वे सब उन्हीं कुटुम्बोंको लेकर बनी हैं जो आचारकी दृष्टिसे लोकप्रसिद्ध रहे हैं। इसका मूल कारण जैन आचार है, क्योंकि कोई भी कुटुम्ब जैनाचारकी दीक्षामें दीक्षित हो और वह हीन आचारवाला हो, यह नहीं हो सकता।

इस दृष्टिसे हमने पौरपाट अन्वयके भीतर जो गोत्र प्रसिद्ध है, उनके विषयमें गहराईसे विचार किया है कि वे सब गोत्रवाले कुटुम्ब मुख्यतया क्षत्रिय अन्वयसे सम्बन्ध रखनेवाले रहे हैं। पौरपाट अन्वयमें जो १२ गोत्र प्रसिद्ध हैं, उनके नाम हैं—

(१) गोइल्ल, (२) वाछल्ल, (३) वासल्ल, (४) वाझल्ल, (५) कासिल्ल, (६) कोइल्ल, (७) खोइल्ल, (८) कोछल्ल, (९) भारिल्ल, (१०) माडिल्ल, (११) गोहिल्ल और (१२) फागुल्ल।

अब देखना यह है कि इन गोत्रोंके पीछे कोई इतिहास है या ब्राह्मणोंमें प्रसिद्ध गोत्रोंको ध्यानमें रखकर ही इस अन्वयमें गोत्रोंके ये नाम कल्पित कर लिये गये हैं। प्रश्न मार्मिक है। आगे इसी पर विचार किया जाता है।

यह तो सुप्रसिद्ध बात है कि ब्राह्मण सदासे जैनधर्मके विरुद्ध रहे है। क्योंकि ब्राह्मण धर्ममें जहाँ परावलम्बनके प्रतीक स्वरूप ईश्वरवादकी प्राणप्रतिष्ठाकी गई है वहाँ जैनधर्म स्वावलम्बनप्रधान धर्म होनेसे उसमें सदासे ही व्यक्ति स्वातंत्र्यकी प्राणप्रतिष्ठा हुई है। ऐसी अवस्थामें जैनधर्ममें दीक्षित होनेवाले कुटुम्ब ब्राह्मणोंके गोत्रोंका अनुसरण करेंगे, यह कभी भी सम्भव नहीं दिखाई देता। इसलिये यह तो निश्चित है कि इन गोत्रोंके नामकरणमें इस अन्वयने ब्राह्मणोंका भूलकर भी अनुकरण नहीं किया है। इस परसे यह सहज ही समझमें आ जाता है कि इस अन्वयके इन गोत्रोंके नामकरणमें क्षत्रियोंमें प्रचलित गोत्रोंको अपनाया गया है। इस परसे यदि यह निष्कर्ष फलित किया जाय कि जिन क्षत्रिय कुलोंने जैनधर्मको अंगीकार किया उनके जो गोत्र रहे हैं, वे ही गोत्र इस अन्वयमें रूढ हो गये है, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

उदाहरणार्थ जिन गुहिलवंशीय क्षत्रिय कुलोंने जैनधर्म अंगीकार किया उन्हें ही गोहिल्ल गोत्रीय पौरपाट कहा गया है। यह एक उदाहरण है। इसी प्रकार इस अन्वयमें प्रसिद्ध अन्य गोत्रोंके विषयमें भी जानना चाहिये।

प्राग्वाट इतिहासके अध्ययनसे पता लगता है कि प्राग्वाट अन्वयमें राठोड़, परमार, चौहान आदि अनेक वंशके क्षत्रिय जिनधर्मको स्वीकार कर दीक्षित हुए थे। सोलंकी क्षत्रियोंसे तो इस अन्वयका निकटका सम्बन्ध रहा ही है। इसलिये ऐसा लगता है उनमें जो गोत्र प्रसिद्ध रहे हैं, कुछ शब्द भेदसे वे ही गोत्र पौरपाट

वंशमें भी प्रचलित हो गये हैं; जैसे—चौहानोंमें कासिद्रा गोत्रकी एक शाखा रही है। मालूम पड़ता है कि उसीने पौरपाट अन्वयमें कासिल्ल गोत्र प्रसिद्ध हुआ है। इसी प्रकार बहुतसे राठोड़ कासव गोत्री थे। इसलिये इस गोत्रके जिन राठोड बन्धुओंने जैनधर्मके साथ पौरपाट अन्वयको स्वीकार किया उनमें वासल्ल गोत्र प्रसिद्ध हुआ। इसी प्रकार परमारोंमें भी गोयल गोत्र प्रसिद्ध रहा है। इसलिये इस गोत्रके जिन परमारोंने इस अन्वयको स्वीकार किया, वे गोइल्लगोत्री कहलाये। ये कतिपय उदाहरण हैं। अन्य गोत्रोंके सम्बन्धमें भी इसी न्यायसे विचार कर लेना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि जैन धर्मसे क्षत्रियोंका निकटका सम्बन्ध रहा है। इसलिये उनका समय-समय पर जैनधर्ममें दीक्षित होना स्वाभाविक था। यह स्थिति ऐसे कई अन्वयोंकी रही है। इसलिये उक्त गोत्रवाले जिन क्षत्रियोंने जैनधर्मको स्वीकार किया, प्रदेश भेद आदिसे वे अनेक अन्वयोंमें विभक्त होते गये। यहाँ प्रसंगवश हम एक ऐसी सूची दे रहे हैं जिनमें शब्द भेद किये बिना या थोड़े-बहुत फरकसे कई अन्वयोंमें उक्त गोत्र पाये जाते हैं—

परवार	चरनागरे	गहोई	अग्रवाल
१. गोहिल्ल	गोहिल्ल	गागल, गंगल, गालव	गोभिल
२. गोइल्ल	गोइल्ल	गोल, गोयल, गोभिल	गोयल
३. वाछल्ल	वाछल्ल	वाछल, वाछिल, वारिछल	वत्सिल
४. वासल्ल	वासल्ल	काछल, काछिल, काच्छिल	कासिल
५. वांझल्ल	वांझल्ल	बादल, बंदिल, वदल	
६. कासिल्ल	कासिल्ल	काठल, काठिल, काच्छिल	
७. कोइल्ल	कोइल्ल	काहिल, काहल, कौहिक	
८. खोइल्ल	खोइल्ल	कासिल, कासिव, कासव	
९. कोछल्ल	कोछल्ल	कोछल, कोशल, कोच्छल	
१०. भारिल्ल	भारिल्ल	भाल, भारिल, भूरल	
११. भाडिल्ल	भाडिल्ल	जैतल	माडल
१२. फागुल्ल	फागुल्ल	बादरायण या सिंगल	

इसी सूचीपर दृष्टिपात करनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि किसी समय पौरपाट (परवार) और चरनागरे एक रहे है। गहोई अन्वयकी भी लगभग वही स्थिति है। यद्यपि इस अन्वयमें दो गोत्र ऐसे अवश्य है जो न तो पौरपाट अन्वयमें पाये जाते हैं और न ही चरनागरे अन्वयमें ही पाये जाते है। शेष सब गोत्र उक्त दोनों अन्वयोंसे मिलते-जुलते है। इससे ऐसा लगता है कि गहोई अन्वय यद्यपि जैन तो अवश्य रहा है। पर बादमें जब उस अन्वयने जैनधर्म छोड़ दिया तो धीरे-धीरे वह गोत्रोके मूल नामोंको भूलने लगा और इस प्रकार इन गोत्रोंका मूल नाम क्या है, इसकी जानकारी न रहनेसे उसमें गोत्रोंके नामोंके स्थानमें तत्सम अनेक शब्द प्रयोगमें आने लगे। इतना ही नहीं, दो गोत्रोंके नामोंमें बदल भी हो गया।

मैं 'गहोई समाचार'का सितम्बर १९७० का १२वां अंक देख रहा था। उसके पृ० २१–२३ पर क्या गहोई और चरनागर जैन कभी एक थे?' एक लेख पढ़ रहा था। लेखक श्री डॉ० गंगाप्रसाद बरसैयाँ रायपुर है, उन्होंने अपने उक्त लेखमें जनगणना विभागके उपसंचालक श्री भोलाप्रसाद जैन एवं उनके पण्डित श्री

जयकुमार राजेन्द्रप्रसादसे भेट होने पर उनके कथनानुसार जो कुछ लिखा है उसका सार यह है कि 'गहोई समाजके जो बन्धु जैनधर्मकी विशिष्टताओसे आकर्षित होकर उसे स्वीकार किया, वे अपने आचरण, चरित्र तथा साधनामे सबसे आगे थे, अतः उनका गहोई नाम बदल कर 'चरनागर' कर दिया गया।

उक्त दोनों महाशयोंके कथनानुसार यह घटना श्री जिनतारण-तरणके कालकी है। अब देखना यह है कि इसमे कितनी सचाई है। यह तो ऐतिहासिक सत्य है कि अहारक्षेत्रमे जो भगवान् शान्तिनाथका मन्दिर और खड्गासन जिनबिम्ब है, वह गृहपति (गहोई) वंशके द्वारा निर्मापित हुआ है। इसका वि. सं.'' है। इसी प्रकार बानपुरके बाह्य भागमे जो जिनमन्दिर निर्मापित होकर उसमे जिनबिम्ब विराजमान है, वे भी इस वंशके द्वारा निर्मापित हुए है। उनका सम्वत् लगभग वही है। इससे इस नामके साथ ही गहोईयोंका जैन होना १५-१६वीं शताब्दीसे पहले ही सिद्ध होता है। नाम बदले नहीं और जैन रहा आवे, इसमे हमें कोई बाधा दिखाई नही देती।

दूसरे गहोईयोंके सब गोत्र चरनागरोंमें नही पाये जाते। जैतल और बादरायण ये दो गोत्र ऐसे है जो मात्र गहोईयोंमे ही रूढ है और इनके विपरीत माडिल्ल और फागुल्ल ये दो गोत्र ऐसे है जो पौरपाट (परवार) अन्वयमें भी पाये जाते है। तो इससे ऐसा लगता है कि चरनागर पौरपाटों (परवारों) के अति निकट है, गहोईयोंके उतने निकट नही है। फिर भी इन तीन जातियोका उद्‌गम कभी ऐसे क्षत्रियोंमेसे हुआ है, जिनमे ये गोत्र प्रसिद्ध रहे है।

वर्तमानमें 'मूल' के अर्थमें 'मूर' या 'शाख' शब्द प्रचलित है। अब देखना यह है कि पौरपाट (परवार) अन्वयमे जो १४४ मूल प्रसिद्ध है, वे क्या है? पिछली बार सोनगढमे जो पंचकल्याणक प्रतिष्ठा हुई थी, उसमे हमारे सिवाय श्री जगन्मोहनलालजी आदि विद्वान् भी सम्मिलित हुए थे। इसी प्रसगसे एक दिन कानजी स्वामीके कुटुम्बके भाई-बहन उमरालामे कहांसे आकर बसे थे—इस बातका उल्लेख करते हुए उस गाँव का नाम लिया गया था जो उनका 'मूल' गाँव रहा है। इससे दो बाते निश्चित होती है। एक तो यह कि पौरपाट (परवार) अन्वयका निकास मूलमें गुजरातके उस भागसे हुआ है जो 'प्राग्वाट' कहा जाता है। दूसरी इससे यह बात फलित होती है कि जिस ग्राम, कस्बा या नगरसे आकर जो कुटुम्ब इस अन्वयमे दीक्षित हुए है उनका 'मूल' वही स्वीकार कर लिया गया है। इसका यह अर्थ हुआ कि महाराष्ट्रमे जिस अर्थमे 'कर' शब्दका प्रयोग किया जाता है, उसी अर्थमे पौरपाट अन्वयमे 'मूल' शब्दका प्रयोग किया जाता है।

इस अन्वयके समान बुंदेलखण्डमें एक गहोई और दूसरे चरनागर अन्वय भी निवास करते है। परन्तु उनमे 'मूल' के स्थानमे 'आंकने' प्रचलित है। ये आंकने क्या है, इस पर जब ध्यान दिया जाता है, तो उनको देखने से मालूम पड़ता है कि उनमें कुछ नाम तो ऐसे है जिनसे गाँव विशेषकी सूचना मिलती है। कुछ नाम ऐसे हैं, जिनसे व्यापार विशेषकी सूचना मिलती है और उनमे कुछ नाम ऐसे भी है जो सम्मानसूचक मालूम पड़ते हैं। किन्तु यह स्थिति पौरपाट अन्वयकी नहीं है। इससे ऐसा लगता है कि पौरपाट अन्वय उस कालका अवशेष है जब इस देशमें गणतन्त्र प्रचलित था। कौटिल्यने ऐसे संगठनोंको 'वार्ताशस्त्रोपजीवी' लिखा है। मालूम पड़ता है कि पहले इस तरहसे बने विभिन्न संगठन कृषि, वाणिज्य और पशुपालन आदिमे अपनी आजीविका करते हुए अपने अन्वयकी रक्षाके लिये शस्त्र भी धारण करते थे। किन्तु धीरे-धीरे राजनैतिक स्थितिमे परिवर्तन होने पर इनमे शस्त्र धारण करना न रहकर केवल आजीविकाके मात्र अन्य साधन रह गये।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि ऐसे अन्वयोंने क्षात्रवृत्तिको छोड़कर मात्र वार्ताकर्मको ही क्यों स्वीकार कर लिया? समाधान यह है कि जब धीरे-धीरे अन्वयों (गणों)की स्वाधीनता छिन कर एकतन्त्र राज्योंका

उदय हो गया तब उन्होंने आजीविकाके साधनके रूपमें कृषि, पशुपालन और वाणिज्यको स्वीकार करना ही उचित समझा।

कुछ मनीषी कहते हैं कि जैनधर्म अहिंसा प्रधान धर्म है, इसलिये अहिंसाके साथ क्षात्रवृत्तिका मेल नहीं बैठता। पर यह उनकी कोरी कल्पनामात्र है। इतिहास इसका साक्षी है। मौर्य चन्द्रगुप्त भारतका प्रथम सम्राट् था यह सुविदित सत्य है। समय-समय पर और भी अनेक राजा-महाराजा हुए हैं जिन्होंने क्षात्रधर्मका सुन्दर निर्वाह करते हुए अपने राज्यमें सुव्यवस्था बनाये रखी है। धर्म इसमें बाधक नहीं है। संकल्प पूर्वक हिंसा आदिको त्याग देना गृहस्थ धर्मका लक्षण है। चोर, डाकू और समाजविरुद्ध आचरण करनेवालोंसे समाजकी रक्षा करना क्षात्रधर्मका प्रमुख लक्षण है। यही कारण है कि जो जैनधर्मका पालन करते हुए शस्त्र धारण कर समाजकी रक्षा करता है, वह समाजमें महनीय माना जाता है।

यह हमारे पूर्वजोंके जीवनकी एक झांकी है। इससे पौरपाट अन्वयको अनेक गणोंमें विभक्त कर उसका संगठन किस प्रकार किया गया था, उसका पता लगता है। यह (पौरपाट) अन्वय १२ गोत्रोंमें विभक्त था, यह तो हम पहले ही बतला आये हैं। अब देखना यह है कि प्रत्येक गोत्रके अन्तर्गत जो १२, १२ मूल गिनाये गये है वे कौन-कौन है आगे इसकी सूची दी जाती है—

गोत्र	परवारबन्धु	जबलपुर	अशोकनगर
गोहिल्ल	सुहला, उदया, गाहे, बार, छिनए, कठोरा, बडे मारग, दुहाऐ, झमला महुडिम्म, तावा, नगाडिम्म।	सहारमडिम्म, माहो, अंधियरो वारू, किडमा, बडोमारग ममला रुहारो, अंडेला, छितरा नगाडिम्म, तका	जबलपुर और अशोक नगरके मूल मिलते-जुलते है
गोइल्ल	वैसाख, सोला, करकच, खारल्ले, बरहद, गोसिल्ल, गांगरो, गोधू, खाठी, चाची, छोडव, वारी।	वारद, गोसिल, गोट्ठू, किर-किच, वांदे, सिदुआ, छोड़ा, वैसाखिया, वार, सहोला, खराइच, गागरे	जबलपुरके और अशोक नगरके मूल एक ही है।
वाछल्ल	पंचलौर, नाहछ, छमछल, पाहू, छोटा, रकाडिम्म कदोहा, बड़ोसर, अहियाडिम्म कठोहा, जगेसर, नागच।	धमाछल, छोहर, भाभरी, भभारो, बहूहठी किठोदा, अओडिम, पंचरतन, कदोहा, सांझी, बडेसुर, नारद, बडेसुर	मात्र कवितामे बहुहठी है और अर्थमें बहूटी है।
ड्याडिम्म	देदा, डेरिया, ड्याडिम्म, डुही, चन्दाडिम्म, रमाडिम्म, अही-डिम्म, रका, वाला, छिनकन, सकेसरा	देदा, डुही, डेरिया, धतकत, चन्द्राडिम्म, दका, रामडिम्म, कठा सकेसर, सदावदा वाला	एक ही है दोनोंके
वांझल्ल	वासो, ईडरी, रकिया, लालू, शिह्लम्मडिला, देवमा, सेवती, दुगायत, बीबीकुट्टम, कनहा, उजए, पद्मावत।	वीवीकुद्दम, रकया, बंसी, लालु, ऐंडरी, वागु, दुगाइच, पद्मावती, द्योतीस्योती, कनहा, शिलाडिम।	दोनोंके एक ही हैं
कासिल्ल	उजिया, धना, दीपाकर, लोटा, पठवल, सीग, उठा, धघर,	धना, दिवाकर, लोटा, उजया, उटा, डंगारौ, सिगा, सिवारौ,	कवितामे चोवर अर्थ मे चोवर तथा पट-

	डड़िया, डोंगर, सिरवार पचा-वत ।	कोवर, घूंघर, डंडिया, पटबार	वारके स्थानमें पटवा छपा है।
कोइल्ल	पलावत, बुद्धवारी, चाची, गगाडिम्म, उदाडिम्म, कस-वारो, भामार, पाहूडिम्म, ईंगली चिंगुली सिंघवारो, फठा, पपहृद ।	चुचा, चांचरौ, पंपिद, कठिया, सिसयारौ, कुशवाल, विमहा, उदहा, इंदारौ, खेंकवार, मिडला, गहोटी	दोनोंके मिलते-जुलते हैं।
लोइल्ल	सेतगागर, कलगा, गढ़िया, छोड़ाडिम्म, ल्हारौडिम्म नंगाइ-चडिम्म, बसुहाडिम्म, खटहा-डिम्म, बगहा डिम्म-घोघठ, लुहाइच, वराहन	सेतगागर, ठाड़िया, मनहारो, किरवार, इंगलीचिंगली, कोइल्ल रहारो, खरहन, सुराइच, लुहारच, खकोटा, नगावत	एक ही हैं
भरिल्ल	विग, खोना, अंग, कुवा, पगुवा, मारू, कुनाडिम्म, भगवत, विगहा, गाहेडिम्म, हारूडिम्म ।	भगवंता, विगहा, विग, खौना, इंग, अगा, पुनहौरा, मारू, पहुना, कुवा कुहारी, हिणडिम्म ।	वही है
माडिल्ल	माडू, रूदा, उदहा, वाहिल-डिम्म, सिकाडिम्म, गमलाडिम्म, वरायचडिम्म, झांझाडिम्म, भटियाडिम्म, भटोहाडिम्म, लालडिम्म, रूपाडिम्म ।	माड, हंसारौ, सकती, रोदा, खितवा, वेलाडिम, भटारौ, खोखर, सितावर, स्विताागर, इंगली, नगाइच ।	भटारो और भटारी दोनों है। शेष दोनो एक है।
कोछल्ल	बहुरिया, सर्वछोला, मसता, स्त्रि कुछाछरो, उछिल्ल, गग-वारो, सुपहाडिम्म, वसवाल, घिया, सिरपरो वगुयाडिम्म	बहुरिया, मसो, रेंचा, गंगवा, वसबल, कुछाछरे, सर्वछोला, ध्याइच, सुवहा, ओछल, विसासर, बुधवारौ ।	
फागुल्ल	छीनर, मालेडिम्म, भगीली, वराइच, वड़ोहाडिम्म, जाजा-डिम्म, कफाडिम्म, सिहूर गांगरो, पुनहीरो, नाहडिम्म, कण्हा, फागुल्ल ।	झिझारो छोवर, फागुल, कुटहटी रिहारौ, कठल, मंगला, वलासदा, पटहारौ बुधारौ, जजेसुर, वसाइच	

ये बारह गोत्रोंके १४४ मूर (मूल) या शाखा है। इनमें बड़ी गडबड़ है।

जैसा कि हम पहले सूचित कर आये हैं, इस अन्वयके १२ गोत्रोंमेंसे प्रत्येक गोत्रके अन्तर्गत जो १२, १२ मूल है वे ग्रामोंके नामोंके आधार पर ही है। अर्थात् जिस ग्रामके रहवासी जिस कुटुम्बने इस अन्वयको स्वीकार किया उस कुटुम्बका वही मूल हो गया। इसकी पुष्टिमे हम यहाँ पर एक तुलनात्मक सूची दे रहे हैं। वह इस प्रकार है—

१. ईडरीमूल ईडरशहरमे रहने वालोंका मूल ईडर है।

२. रक (ख) या मूल रखयाल ग्राम (सौराष्ट्र) मे रहनेवालों का मूल रखयाल है।

३. नारद मूल मारवाड़के मेड़ना जिलेके पार्श्वनाथ मन्दिरमे नारदपुरीका उल्लेख है।

४. कठिया मूल काठ्याबाड़के निवासियोंको इस अन्वयमे सम्मिलित होनेपर उनका मूल 'कठिया' प्रसिद्ध हुआ।

५. दुगायत मूल	दो नदियोंका संगमस्थान (गुजरात) उसके आस-पास रहनेवालोंका मूल दुगायत हुआ ।
६. पदमावतमूर	गुजरातके इस शहरमे रहनेवाले ।
७. बंसी मूल	बंसी पहाड़पुर स्टेशनमें रहनेवालों ।
८. बेला	बेला स्टेशन (सौराष्ट्र) डिम या डिम्बका अर्थ छोटा होता है । बेलाडिम, बेला नामका छोटा ग्राम ।
९. बहुरिया मूल	बहेरिया रोड़ स्टेशन है । बहेरियामें रहनेवाले ।
१०. मांडू	माडलगढका संक्षिप्त नाम मांडू हैं । यहाँ रहनेवाले ।
११. कुआ	गुजरातमें एक ग्रामका नाम कुआ या पाटना कुआ एक दूसरा गाँव रानकुआ भी है ।
१२. कठा	कठासा स्टेशन (यहाँ रहनेवाले)
१३. पटवा मूला	पटवारा स्टेशन ,, ,,
१४. लोटा मूल	लोटासा स्टेशन ,, ,,
१५. छना मूल	छना खडा स्टेशन ,, ,,
१६. बाला मूल	बाला रोड स्टेशन, ग्रामका नाम बाला या गुजरात का बल्लापुर ग्राम ।
१७. डेरिया मूल	डेरोन स्टेशन (तत्सम)
१८. डंडिया मूल	डंडिया एक खेलका नाम है उस परसे इस नामसे प्रसिद्ध ।
१९. देदा मूल	दुद्दा स्टेशन
२०. किड मूल	किडिया नामका नगर हैं (तत्सम)
२१. घना मूल	घनाखडा स्टेशन का नाम इस ग्रामके रहवाली
२२ सर्वछोला मूल	छोला ग्राम ,, ,,
२३ उजया मूल	उजेडिया ग्राम (तत्सम) ,, ,,
२४. किड मूल	किडिमा नगरका नाम (तत्सम) ,,
२५. डेरिया मूल	डेरोन स्टेशन ,, ,,
२६ सर्व छोला मूल	छोला स्टेशन ,, ,,
२७ गोदू मूल	गोदी ग्राम (गोदी ग्रामः)
२८. तका मूल	टाका टुक्का ग्राम (तत्सम) ,, ,,
२९. पद्मावती मूल	पद्मावती शहर (गुजरातमें) ,, ,,

ये कतिपय मूल है । जिनमेंसे कई ग्रामोके नाम तो गुजरातमे उसी रूपमे पाये जाते है । कई मूल ऐसे हैं जिनमे ग्रामका पूरा नाम प्रयुक्त हुआ है । कई मूल ऐसे भी है जिनमे ग्रामके प्रारम्भ या अन्तके भागको छोड़कर मूलके रूपमें उसे स्वीकार किया गया है । जैसे 'सत्यभामामें' सत्य पदको छोडकर 'भामा' पदसे ही सत्यभामाका ग्रहण हो जाता है । कई मूल ऐसे भी हैं जिनमें तत्सम ग्रामके नामसे ही उसका मूल ग्रहण हो जाता है । यदि गुजरात और मेवाड़ प्रदेशके ग्रामोंके पूरे नामोंकी सूचीके आधारसे मूलोंके नामोंकी खोज की जाय तो बहुत ही कम ऐसे मूलोंके नाम शेष रह जावेगे जिन मूलोंके नामपर ग्रामोंका नाम वर्तमानमें उपलब्ध नहीं हो सकेगा । उन ग्रामोंका या लोप हो गया होगा या नाम बदल गया होगा ।

निष्कासन

मैं 'प्राग्वाट इतिहास को पूरी तरहसे देख रहा था । उससे ऐसा लगता है कि वहाँके राजाओंसे मिल कर श्वेताम्बरोंने गुजरातसे दिगम्बरोंका निष्कासन कराया था । प्राग्वाट इतिहासमें पृ० २१२ और २२० में

लिखा है कि कर्णावती नगरमे दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्र और श्वेताम्बराचार्य देवसूरिके चातुर्मासके समय दोनों आचार्योका सम्पर्क होनेपर दोनों आचार्योंने वाद करना निश्चित करके श्वेताम्बर आचार्यके आग्रह पर दिगम्बर आचार्यने अनहिल-पुरपत्तनमें गूर्जर सम्राट् सिद्धराज जयसिंहकी विद्वत्परिषद्‌मे आना स्वीकार कर लिया था।

अन्तमें वि० सं० ११८१ वैसाख सुदी १५के दिन यह वाद प्रारम्भ हुआ। विषय स्त्री निर्वाण रखा गया। वादका निर्णय देनेमे सहायता करनेवाले सभासद् महर्षि, उत्साह सागर और राम निश्चित हुए। श्वेताम्बराचार्यको महाकवि श्रीपाल, महापण्डित भानु एवं उदीयमान प्रसिद्ध विद्वान् हेमचन्द्राचार्य सहायता कर रहे थे। दूसरी ओर तीन कैतव दिगम्बराचार्यकी सहायता कर रहे थे। वादका प्रारम्भ करते हुए देवसूरिने अनेक ज्ञानिनी और अनेक सती स्त्रियोके उदाहरण प्रस्तुत कर ऐतिहासिक ढंगसे स्त्री मुक्तिके सम्बन्धमें पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया। किन्तु दिगम्बराचार्य श्वेताम्बराचार्यके इस वक्तव्यको सुनकर निस्तेज पड गये। ऐतिहासिक ढंगसे प्रस्तुत किये गये उनके वक्तव्यका निरसन नही कर सके और इस प्रकार इस वादमे 'प्राग्वाट इतिहासके' अनुसार श्वेताम्बर मतकी विजय हुई। उक्त ग्रन्थमे लिखा है कि देवसूरिने कुमुदचन्द्रके साथ सद्व्यवहार किया (पृ० २१३)। परन्तु पृ० २२० के अनुसार दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्रको, एक चोरके समान उनका तिरस्कार करके, पत्तनपुरसे बाहर निकाल दिया।

इस विषयपर श्वेताम्बर परम्परामे अनेक ग्रन्थ और नाटक लिखे गये है। कुमारपाल प्रतिबोधमे भी इसके सम्बन्धमे विशेष लिखा गया है। श्वेताम्बर मुनि जिनविजयजी अपनी प्रस्तावनामे इस ग्रन्थके वाक्योंको अनूदित करके लिखते है कि इस वादके फलस्वरूप दिगम्बरोंका श्रीपुरपत्तनमें प्रवेश निषिद्ध कर दिया गया। उस ग्रन्थमे लिखे गये वचन इस प्रकार हैं—

'वादिदेवसूरिभिः श्रीमदनहिल्लपुरपत्तने जयसिंहदेवराजस्य राजसभायां दिगम्बरचक्रवर्तिनं कुमुदचन्द्राचार्यवादे निर्जित्य श्रीपत्तने दिगम्बरप्रवेशो निवारितः।'

इस विषयमे यह श्वेताम्बर ग्रन्थोंका कथन है। किन्तु इसमे कितनी ऐतिहासिकता है यह अवश्य ही विचारणीय है। दिगम्बर परम्परावादी कुमुदचन्द्र अवश्य हुए है। वे चतुर्विध पाण्डित्य चक्रवर्ती थे और श्री माघनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्तीके पुत्र थे। उन्होंने अपना परिचय देते हुए प्रतिष्ठाकल्पके कनाडी भाषामे लिखे गये टिप्पणमें लिखा भी है। यथा—

श्रीमाघनन्दिसिद्धान्तचक्रवर्तितनूभवः।
कुमुदेन्दुरहं वच्मि प्रतिष्ठाकल्पटिप्पणम्॥

परन्तु उनका समय १४वी शताब्दिका प्रथम या द्वितीय पाद है, क्योंकि इनके पिता माघनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्तीका समय ई० सन् १२६५ वि० सं० १३२२ निश्चित है। और श्वेताम्बर लेखकोंके अनुसार यह वाद वि० सं० ११८० मे हुआ था। इस प्रकार वादके और कुमुदचन्द्रके मध्य लगभग १५० वर्षका अन्तर पडता है। इसलिये यहाँ ऐसा समझना चाहिये कि या तो श्वेताम्बराचार्य वादिदेवके समयमे चतुर्विध पांडित्य चक्रवर्ती कुमुदचन्द्र हुए हैं। या फिर कुमुदचन्द्रके समयमे वादिदेव हुए हैं। या फिर इन दोनोंका एक समय न होनेसे यह वाद हुआ ही नहीं। केवल अपने सम्प्रदाय, मे दिगम्बरोके प्रति अनास्था उत्पन्न करनेके लिये श्वेताम्बर लेखकों द्वारा दिगम्बर और श्वेताम्बरोके मध्य वाद हुआ और उसमें वादिदेव सूरिने विजय प्राप्त की ऐसी मन गढ़न्त कल्पना कर ली गई।

यहाँ दो बातें अवश्य ही विचारणीय है कि एक तो यह वाद यदि हुआ है तो सिद्धान्तके आधार पर न होकर बादमें ऐतिहासिक घटनाको आधार क्यों बनाया गया। दूसरे कर्णावतीमें वाद न होकर अनहिलपुरपत्तनमें वादको मूर्तरूप क्यों दिया गया। जब कि कुमुदचन्द्र जानते थे कि वर्तमानमें गुजरातका राजा श्वेता-

म्बरोंका पक्षधर है। उसके पास तक श्वेताम्बर आचार्योंकी पहुँच है साथ ही उसका महामात्य भी श्वेताम्बर आम्नायको माननेवाला ही है। ऐसी अवस्थामें उस नगरमें जाकर वादमें विजय पाना कैसे सम्भव है। इसलिए एक तो निष्कर्ष निकलता है कि यह वाद हुआ ही नहीं। दूसरे हुआ भी है तो दिगम्बर आचार्यको छला गया है। वास्तवमें देखा जाय तो कार्य ही ऐसे थे जिनके कारण जैनधर्म न केवल कलंकित हुआ, देवसूरिके अपितु उसका पतन भी हुआ। जिसे इसके कारनामोंको जानना हो उसे कनैयालाल मुनशी द्वारा लिखित 'गुजरातनो नाथ' पुस्तक पढ़नी चाहिये। इसी प्रकार इन्हींके द्वारा लिखी गई 'पाटतनी प्रभुता' पुस्तक भी पढ़नी चाहिये। इनके पढ़नेसे ही ज्ञान हो जायगा कि देवसूरिका जीवन कैसा था और उनके गुरु आनन्दसूरि अपनी मोक्षमार्गकी भूमिकाको छोड़कर राजकारणमें पड़कर कैसे अमानुषिक कार्य करनेमें लगे हुए थे। एक स्थलपर दूसरेसे बातचीत करते हुए वे (आनन्दसूरि) कहते हैं—'मारे हाथे जिन भगवानना शत्रुओं ठेकाने थवानाछे' दूसरी जगह वे कहते है—'अमारा श्रावकोए पाठनथी कंटालो चन्द्रावती स्थाप्युं अनेअहींया पण तेमनु चाले तो राजाने उठाडी महाजनानुं राज्यस्थाप्युं।'[1] आदि। ये है आनन्दसूरि के विचार। देवसूरि इनसे भी गये बीते थे। उसमें उदा-सेठका इन्हें बल मिला हुआ था। वह भी इसी विचारका था। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह वाद एक नाटक है। जैसे वंसीमें अन्नके लोभसे मछली फसती रहती है वैसे ही वादमे न्यायके लोभसे कुमुदचन्द्रको देवसूरिने फँसाया। उद्देश्य इतना ही था कि किसी प्रकार पाटन और उसके आस-पासके प्रदेशसे दिगम्बरोंका निष्कासन किया जाय। जिनको परिस्थितिवश वहाँ रहना पड़े उनका श्वेताम्बरीकरण किया जाय।

यह तो इतिहासकी साक्षीसे स्पष्ट ही है कि शाखाबन्ध परवार (पौरपाट) तो बहुत कुछ वहाँसे निकल आये थे और धीरे-धीरे वहाँसे निकल कर चन्देरी और उसके आस-पासके ग्रामोंमें बसते रहे हैं। उनके वहाँसे आनेका यह क्रम १६वी शताब्दी तक चलता रहा है। इस प्रकार चन्देरीको केन्द्र बनाकर बुन्देलखण्डमें बस गये थे। उनमे जो गांगड परवार और सोरठिया परवार बच गए थे उन सभीका ऐसा लगता है कि धीरे-धीरे श्वेताम्बरीकरण हो गया होगा। इनमेंसे बहुतसे भाई अजैन बन गये हो तो कोई आश्चर्य नही, क्योंकि प्रतिमालेखों और ग्रन्थ प्रशस्तियोंके देखनेसे यही निश्चय होता है कि उक्त दोनों प्रकारके परवार श्वेताम्बरोंके इस मायाजालसे कभी भी नहो निकल सके और उनका श्वेताम्बरीकरण होकर रह गये।

चंदेरी-सिरोंज (परवार) पट्ट ७

मूलसंघ नन्दि-आम्नायकी परम्परामें भट्टारक पद्मनन्दीका जितना महत्त्वपूर्ण स्थान है, उनके पट्टधर भट्टारक देवेन्द्रकीर्तिका उससे कम महत्वपूर्ण स्थान नही है। इनका अधिकतर समय गुजरातकी अपेक्षा बुन्देलखण्डमें और उससे लगे हुए मध्यप्रदेशमें व्यतीत हुआ है। चंदेरी पट्टकी स्थापनाका श्रेय इन्हीको प्राप्त है। श्री मूलचन्द किशनदासजी कापडिया द्वारा प्रकाशित 'सूरत और सूरत जिला दिगम्बर जैन मन्दिर लेख संग्रह' संक्षिप्त नाम 'मूर्ति लेख संग्रह' के पृष्ठ ३५ के एक उल्लेखमें कहा गया है कि 'गंधारकी गद्दी टूट जानेसे सं० १४६१ में भट्टारक देवेन्द्रकीर्तिने इस गद्दीको रांदेरमें स्थापित किया। जिसे सं० १५१८ मे भट्टारक विद्यानंदीजीने सूरतमें स्थापित किया।' किन्तु अभी तक जितने मूर्तिलेख उपलब्ध हुए हैं उनसे इस तथ्यकी पुष्टि नहीं होती कि देवेन्द्रकीर्ति १४६१ वि० में या इसके पूर्व भट्टारक बन चुके थे। साथ ही उक्त पुस्तकमें जितने भी मूर्ति लेख प्रकाशित हुए है उनमें केवल इनसे सम्बन्ध रखनेवाला कोई स्वतन्त्र मूर्ति लेख भी उपलब्ध

१. पाटतनी प्रभुता पृ० १३, वही पृ० २६

नहीं होता। इसके विपरीत उत्तर भारतमें ऐसे लेख अवश्य पाये जाते हैं जिनसे यह ज्ञात होता है कि इनका लगभग पूरा समय उत्तर भारतमें ही व्यतीत हुआ था। यहाँ हम ऐसी एक प्रशस्ति जयपुरके एक जैन मन्दिरमें स्थित पुण्यास्रव (संस्कृत) की हस्तलिखित ग्रन्थसे उद्धृत कर रहे हैं। इसमें इन्हें भ० पद्मनन्दिका शिष्य स्वीकार किया गया है। प्रशस्ति इसप्रकार है :

सं० १४७३ वर्षे कार्तिक सुदी ५ गुरुदिने श्री मूलसंघे सरस्वतीगच्छे नन्दिसंघे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारक श्री पद्मनन्दीदेवास्तच्छिष्य मुनिश्री देवेन्द्रकीर्तिदेवा। तेन विजज्ञाया वर्णीकर्मक्षयार्थं लिखापितं शुभं।

इस लेखमें इन्हें मुनि कहा गया है। इसके अनुसार यह माना जा सकता है कि इस समय तक ये पट्टधर नहीं हुए होंगे। किन्तु मुनि भी भट्टारकोंके शिष्य होते रहे हैं। इतना ही नहीं, मुनि दीक्षा भी इन्हींके तत्वावधानमें दी जानेकी प्रथा चल पड़ी थी। मेरा ख्याल है कि वर्तमानमें जिस विधिसे मुनि दीक्षा देनेकी परिपाटी प्रचलित है वह भट्टारक बननेके पूर्वकी मुनि-दीक्षाका रूपान्तर है। इसीसे उसमें विशेष रूपसे सामाजिकताका समावेश दृष्टिगोचर होता है।

जो कुछ भी हो, उक्त प्रशस्तिसे इतना निष्कर्ष तो निकाला ही जा सकता है कि सम्भवतः उस समय तक इन्होंने किसी भट्टारक गद्दीको नहीं सम्हाला होगा। किन्तु 'भट्टारक सम्प्रदाय' पृ० १६९ के देवगढ़ (ललितपुर) से प्राप्त एक प्रतिमा-लेखसे इतना अवश्य ज्ञात होता है कि ये वि० सं० १४९३ के पूर्व भट्टारक पदको अलंकृत कर चुके थे।

देवगढ बुंदेलखण्डमें है और चंदेरीके सन्निकट है। साथ ही इनके प्रमुख शिष्य विद्यानन्दी परवार थे। इससे ऐसा तो लगता है कि वि० सं० १४९३ के पूर्व ही चंदेरी पट्ट स्थापित किया जा चुका होगा। फिर भी उनकी गुजरातमें भी पूरी प्रतिष्ठा बनी हुई थी और उनका गुजरातसे सम्बन्ध विच्छिन्न नहीं हुआ था, सूरतके पास रादेर पट्टका प्रारम्भ होना और उसपर उनके शिष्य विद्यानन्दीका अधिष्ठित होना तभी सम्भव हो सका होगा। 'भट्टारक सम्प्रदाय' पुस्तकमें चंदेरी पट्टको जेरहट पट्ट कहा गया है, वह ठीक नहीं है। हो सकता है कि वह भट्टारकोंके ठहरनेका मुख्य नगर रहा हो। पर वहाँ कभी भट्टारक गद्दी स्थापित नहीं हुई, इतना सुनिश्चित प्रतीत नहीं होता।

विद्यानन्दी कब रादेर पट्टपर अधिष्ठित हुए इसका कोई स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। 'भट्टारक सम्प्रदाय' पुस्तकमें वि० सं० १४९९ से लेकर अधिकतर लेखोंमेंसे किसीमें इनको देवेन्द्रकीर्तिका शिष्य, किसीमें दीक्षिताचार्य, किसीमें आचार्य तथा किसीमें गुरु कहा गया है। परन्तु भावनगरके समीप स्थित घोघानगरके सं० १५११ के एक प्रतिमा लेखमें इन्हें भट्टारक अवश्य कहा गया है। यह प्रथम लेख है जिसमें सर्वप्रथम ये भट्टारक कहे गए हैं। इससे ऐसा लगता है कि रादेर पट्टकी स्थापना इसके पूर्व ही हो गयी होगी।

यदि हमारा यह अनुमान सही हो तो ऐसा स्वीकार करनेमें कोई आपत्ति नहीं कि चंदेरी पट्टकी स्थापनाके बाद ही रादेरसे बदलकर सूरत पट्टकी स्थापना हुई होगी। ऐसा होते हुए भी बुन्देलखण्ड और उसके आस-पासका बहुभाग चंदेरी मण्डल कहा जाता था, यह उल्लेख वि० सवत् १५३२ के पूर्वके किसी प्रतिमा लेखमें दृष्टिगोचर नहीं हुआ। इसमें चंदेरी मण्डलाचार्य देवेन्द्रकीर्तिको स्वीकार किया गया है। यह प्रतिमा लेख हमें विदिशाके बड़े मन्दिरसे उपलब्ध हुआ है। पूरा लेख इसप्रकार है :

संवत् १५३२ वर्षे वैशाख सुदी १४ गुरौ श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे नंदिसंघे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० श्री प्रभाचन्द्रदेव त० श्री पद्मनंदिदेव त० शुभचंद्रदेव भ० श्री जिनचन्द्रदेव

भ० श्री सिंहकीर्तिदेव चंदेरीमंडलाचार्य श्री देव्यंद्रकीर्तिदेव त० श्री त्रिभुवन-कीर्तिदेव पौरपट्टान्वे अष्टन्वये सारवन पु० समवेतस्य पुत्र रउत पाये त० पुत्र सा० अर्जुन त० पुत्र सा० नेता पुत्र सा० धीरजु भा० विरेजा पुत्र सघे संघ तु० भा०……सघे……सघे।

ठीक इसी प्रकारका एक लेख कारंजाके एक मन्दिरमें भी उपलब्ध हुआ है। इसके पूर्व जिनमे चंदेरी मण्डलका उल्लेख है ऐसे दो लेख वि० सं० १५३१ के गंजवासोदा और गुना मन्दिरोंके तथा दो लेख वि० सं० १५४२ के भी उपलब्ध हुए है। किन्तु वि० सं० १५३१ को चंदेरी मण्डलकी स्थापनाकी पूर्वावधि नही समझनी चाहिए। कारण कि ललितपुरके बड़े मन्दिरसे प्राप्त वि० सं० १५२५ के एक प्रतिमा लेखमें त्रिभुवन-कीर्तिको मंडलाचार्य कहा गया है। इसमे भ० देवेन्द्रकीर्तिका नामोल्लेख नही है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वि० सं० १५२५ के पूर्व ही त्रिभुवनकीर्ति चंदेरी पट्टपर अभिषिक्त हो गए थे। साथ ही यहाँ भ० जिनचन्द्र और भ० सिंहकीर्तिकी भी आम्नाय चालू थी यह भी इससे पता लगता है। पूरा लेख इसप्रकार है :

संवत् १५२५ वर्षे माघ सुदि १० सोमदिने श्री मूलसंघे भट्टारक श्री जिनचन्द्रदेवस्तत्पट्टे भट्टारक श्री सिंहकीर्तिदेव मंडलाचार्य त्रिभुवनकीर्तिदेवा गोलापूर्वान्वये सा० श्री तम तस्य भार्या संघे इति।

इसके पूर्व बडा मन्दिर चंदेरीमें भ० त्रिभुवनकीर्ति द्वारा प्रतिष्ठित वि० सं० १५२२ की एक चौबीसी पट्ट और है। इसके पूर्वके किसी प्रतिमा लेखमें इनके नामका उल्लेख नही हुआ है। इससे मालूम पड़ता है कि वि० सं० १५२२ के आसपासके कालमें ये पट्टासीन हुए होंगे। यतः भ० देवेन्द्रकीर्ति भी चंदेरी मंडलके मंडलाचार्य रहे हैं, अतः सर्वप्रथम वे ही चंदेरी पट्टपर आसीन हुए होंगे यह स्पष्ट हो जाता है। वि० सं० १५२२ का उक्त प्रतिमा लेख इसप्रकार है :

सं० १५२२ वर्षे फाल्गुन सुदि ७ श्री मूलसघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्यन्वये भट्टारक श्री देवेन्द्रकीर्ति त्रिभुवन—ति……

भानुपुराके बड़े मन्दिरके शास्त्र भण्डारमे शान्तिनाथ पुराणकी एक हस्तलिखित प्रति पाई जाती है। उसके अन्तमे जो प्रशस्ति अंकित है उसमे देवेन्द्रकीर्ति आदिकी भट्टारक परम्पराको मालवाधीश कहा गया है। इससे मालूम पडता है कि चंदेरी पट्टको मालवा पट्ट भी कहा जाता था। यह भी एक ऐसा प्रमाण है जिससे स्पष्टतः इस तथ्यका समर्थन होता है कि चंदेरी पट्टके प्रथम भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति ही रहे होंगे। उक्त प्रशस्ति इस प्रकार है।

अथ संवत्सरे स्मिन् नृपतिविक्रमादित्यराज्ये प्रवर्तमाने संवत् १६६३ वर्षे चैत्र द्वितीयपक्षे शुक्ले पक्षे द्वितीया दिने रविवासरे……सिरोंजनगरे चन्द्रप्रभचैत्यालये श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वती-गच्छे श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये तत्परंपरायेन मालवादेशाधीश भट्टारक श्री श्री श्री देवेन्द्रकीर्तिदेवाः तत्पट्टे भट्टारकश्री त्रिभुवनकीर्तिदेवा. तत्पट्टे भट्टारक श्री सहस्रकीर्तिदेवाः तत्पट्टे भट्टारकश्री पद्मनंदि-देवा तत्पट्टे भट्टारक श्री जलकीर्ति नामधेया तत्पट्टे भट्टारकश्री श्री ललितकीर्तिदेवा. तत्शिष्य ब्रह्म बालचन्द्रमिद्रं ग्रन्थ लिष्यतं स्वपठनार्थं।

सिरोंजके टोरीका दि० जैन मन्दिरमें वि० सं० १६८८ का एक प्रतिमा लेख है। उसमें चंदेरी पट्टके सहस्रकीर्तिके स्थानमें रत्नकीर्ति और पद्मनंदिके स्थानमें पद्मकीर्ति यह नाम उपलब्ध होते हैं। भ० ललित-कीर्तिके शिष्य भ० रत्नकीर्तिने इस प्रतिमाकी प्रतिष्ठा कराई थी। उक्त प्रतिमालेख इसप्रकार है :

सं० १६८८ वर्षे फागुन सुदि ५ बुधे श्री मूलसंघे बलात्कारगण सरस्वतीगछे कुन्दकुन्दाचार्या-न्वये भट्टारक श्री देवेन्द्रकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भ० श्री त्रिभुवनकीर्तिदेवा तत्पट्टे श्री रत्नकीर्ति तत्पट्टे भ०

श्री पद्मकीर्तिदेवा तत्पट्टे भ० यशकीर्तिदेवा तत्पट्टे भ० श्री ललितकीर्ति रत्नकीर्ति देवा तस्यो—मालवदेशे सरोजनगरे गोलाराडचैत्यालये गोलापूर्वान्वये—तस्य प्रतिष्ठायां-प्रतिष्ठितं।

यहांके दो प्रतिमालेखोंमें भ० रत्नकीर्तिको मंडलेश्वर और मंडलाचार्य भी कहा गया है। लेख इस प्रकार है :

सं० १८७२ फा० सु० ३ मूलसंघे भ० श्री ललितकीर्ति तत्पट्टे मंडलाचार्य श्री रत्नकीर्त्युपदेशात् गोलापूर्वान्वये सं० सनेजा……… ।

ये कहांके मंडलाचार्य थे यह नही ज्ञात होता है। ये भी भ० ललितकीर्तिके पट्टधर थे। यह भट्टारक सम्प्रदाय पुस्तकसे भी ज्ञात होता है। इनके पट्टधर चन्द्रकीर्ति थे इसके सूचक दो प्रतिमालेख यहां भी पाए जाते हैं।

चन्देरी पट्टके भट्टारकोंकी सूची इस प्रकार है। १ देवेन्द्रकीर्ति, २ त्रिभुवनकीर्ति, ३ सहस्रकीर्ति, ४ पद्मनन्दी, ५ यशःकीर्ति, ६ ललितकीर्ति, ७ धर्मकीर्ति, ८ पद्मकीर्ति, ९ सकलकीर्ति और सुरेन्द्रकीर्ति। जान पड़ता है कि सुरेन्द्रकीर्ति चदेरी पट्टके अन्तिम भट्टारक थे। इसके बाद यह पट्ट समाप्त हो गया।

भट्टारक पद्मकीर्तिका स्वर्गवास वि० सं० १७१७ मार्गशीर्ष सुदि १४ बुधवारको हुआ था ऐसा चंदरी खंदारमे स्थित उनके स्मारकसे ज्ञात होता है। सम्भवतः इसके बाद ही इनके पट्टपर भ० सकलकीर्ति आसीन हुए होंगे। 'भट्टारक सम्प्रदाय' पुस्तक पृ० २०५ मे वि० सं० १७१२ और वि० सं० १७१३ के लेखोंमे इनके नामके जो दो लेख संगृहीत किए गए है वे दूसरे सकलकीर्ति होने चाहिए। मैंने चंदरी और सिरोज दोनो नगरोंके श्री दि० जैन मन्दिरोंके प्रतिमालेखोका अवलोकन किया है। पर भ० सुरेन्द्रकीर्ति द्वारा प्रतिष्ठापित कोई मूर्ति या यंत्र वहां मेरे देखनेमे नही आया। हो सकता है इनके कालमे कोई पंचकल्याणक प्रतिष्ठा न हुई हो।

उक्त दोनों नगरोके मूर्ति लेखोंके अवलोकनसे प्रतीत होता है कि भ० धर्मकीर्तिके दूसरे शिष्य भ० जगत्कीर्ति थे। सम्भवतः सिरोंज पट्टकी स्थापना इन्हीके निमित्त हुई होगी। इनका दूसरा नाम यशकीर्ति भी जान पड़ता है। इनके पट्टधर त्रिभुवनकीर्ति और उनके शिष्य भ० नरेन्द्रकीर्ति थे। नरेन्द्रकीर्तिके पट्टाभिषेकका विवरण सिरोंजके एक गुटिकामे पाया जाता है। उसका कुछ अंश इस प्रकार है :

मुनिराजकी दिक्ष्याको परभाव। श्रावक सब मिलि आनिके जैसो कियो चाउ ॥६॥ धनि नरेन्द्रकीर्ति मुनिरा। भई जगमे बहुत बढ़ाई॥ जहाँ पौरपट्ट सुखदाई। परवारवंस सोई आई॥ बहुरिया मूर तहाँ साई। धनि मथुरामल्ल पिताई॥ माता नाम रजौती कहाई। जाके है घनश्यामसे भाई॥ तप तेज महा मुनिराई। कापै महिमा वरनी जाई॥ ……कहा कहों मुनिराजके गुणगण सकल समाज। जो महिमा भविजन करे भट्टारक पदराज॥ भट्टारक पदराजकी कीरति सकल भवि आई। अलप बुद्धि कवि कहा कहै बुधिजन थकित रहाई॥ विधि अनेक सो सहर सिरोंजमें भयो पट्ट अपना चारु। सिंघई माधवदास भवन ते निकसे महा महोच्छव मारु॥

यहाँसे वस्त्राभूषणसे सुसज्जित कर चांदा सिंघईके देवालयमे ले गये। वहाँ सब वस्त्राभूषण उतारकर केशलोंचकर मुनिदीक्षा ली। उस समय १०८ कलशसे अभिषेक किया। सर्वप्रथम भेलसाके पूरनमल्ल बडकुर आदि ने किया।

जगत्कीर्ति पद उधरन त्रिभुवनकीर्ति मुनिराई।
नरेन्द्रकीर्ति तिस पट्ट भये गुलाल ब्रह्म गुन गाई॥

शुभकीर्ति, जयकीर्ति, मुनि उदयसागर, ब्र० परसराम, ब्र० भयासागर, रूपसागर, रामश्री आर्यिका, बाई षिभौनी, चन्द्रामती, पं० रामदास, पं० जगमनि, पं० घनश्याम, पं० बिरधी, पं० मार्नासह, पं० जयराम…… परगसेनि भाई दोनों, पं० मकरंद, पं० कपूरे, पं० कल्याणमणि।

संवत् सत्रहसै चालिस अन इक तहं भयो।
उज्वल फागुन मास दसमि सो मह गयो॥
पुनरवसू नक्षत्र सुद्ध दिन सोदयो।
पुनि नरेन्द्रकीरति मुनिराई सुभग संजम लह्यो॥

वि० सं० १७४६ माघ सुदि ६ सोमवारको चांदखेडीमें हाडा माधोसिंहके अमात्य श्री कृष्णदास बघेरवालने आमेरके भट्टारक श्री जगत्कीर्तिके तत्त्वावधानमे बृहत्पंचकल्याणक प्रतिष्ठा कराई थी। उसमे चंदेरी पट्टके भट्टारक श्री सुरेन्द्रकीर्ति भी सम्मिलित हुए थे। इस सम्बन्धकी प्रशस्ति चाँदखेडीके श्री जिनालयमें प्रदेश द्वारके बाहर बरामदेके एक स्तम्भपर उत्कीर्ण है। उसमें चंदेरी, सिरोंज और विदिशा (भेलसा) पट्टको परवारपट्ट कहा गया है। उसका मुख्य अंश इस प्रकार है :

॥१॥ संवत् १७४६ वर्ष माह सुदि ५ षष्ठयां चन्द्रवासरान्वितायां श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये सकलभूमंडलबलयैकभूषण सरोजपुरे तथा चेदिपुर-भद्दिलपुर—वनंम परिवारपट्टान्वये भट्टारक श्री धर्म्मकीर्तिस्तत्पट्टे भ० श्री पद्मकीर्तिस्तत्पट्टे भट्टारक श्रीसकलकीर्तिस्तत्पट्टे ततो भट्टारक श्री सुरेन्द्रकीर्ति तदुपदेशात्····· ॥

मालूम पड़ता है कि चंदेरी और सिरोंज भट्टारक पट्टोंकी स्थापना परवार समाजके द्वारा ही की जाती थी, इसलिए इन पट्टोंको परवारपट्ट कहा गया है। इस नामकरणसे ऐसा भी मालूम पडता है कि इन दोनों पट्टोंपर परवार समाजके व्यक्तिको ही भट्टारक बनाकर अधिष्ठित किया जाता था। सिरोंजके लिए पट्टाभिषेकका विवरण हमने प्रस्तुत किया ही है। उससे भी इसी तथ्यकी पुष्टि होती है। विदिशामे कोई स्वतन्त्र भट्टारक गद्दी नही थी किन्तु वहां जाकर भट्टारक महीनों निवास करते थे और वह मुख्य रूपसे परवार समाजका ही निवास स्थान रहा चला आ रहा है, इसलिए उक्त प्रशस्तिमें भद्दलपुर (विदिशा) का भी समावेश किया गया है।

चंदेरी पट्टकी अपेक्षा उत्तरकालमे सिरोजपट्ट काफी दिनो तक चलता रहा इसकी पुष्टि गुनाके दि० जैन मन्दिरसे प्राप्त इस यत्र लेखसे भी होती है। यंत्र लेख इसप्रकार है.

सं० १८७१ मासोत्तममासे माघमासे शुक्लपक्षे तिथौ ११ चन्द्रवासरे श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये सिरोंजपट्टे भट्टार्कश्री राजकीर्ति आचार्य देवेन्द्रकीर्ति उपदेशात् ग्याति परिवारि राउत ईडरोमूरी चौधरी घासीरामेन इदं यंत्रं करापितं।

सिरोंज पट्टके ये अन्तिम भट्टारक जान पड़ते है।

पौरपाट (परवार) भट्टारक

श्री भट्टारक पद्मनंदीके तीन शिष्य थे—शुभचद्र, सकलकीर्ति और देवेन्द्रकीर्ति। इनमेसे भ० देवेन्द्रकीर्तिने सबसे पहले गाधार (गुजरात) मे भट्टारक पट्टकी स्थापनाकी थी। उसके बाद वे उस पट्टको रादेर ले आये थे। यही पर उन्होंने विद्यानंदीको पट्टपर स्थापित करके वे स्वय चंदेरी चले आये थे और यहाँ उन्होंने भट्टारक पट्टको स्थापित किया था। इसका विशेष विवरण मूर्तिलेख संग्रह (मूलचंद किसनदास कापड़ियाने वीर सं० २४९० ता० १४-८-६४) गुजराती प्रकाशन देखनेको मिलता है।

उसके पृ० ३५ पर लिखा है कि वि० संवत् १४६१ मे भ० देवेन्द्रकीर्तिने गाधारसे भट्टारक पट्टको लाकर रांदेरमें स्थापित किया और भ० विद्यानंदी उसी पट्टको वि० संवत् १५१८ मे सूरत ले आये। चंदेरीके

प्रतिमा लेखोंको देखनेसे यह भी पता लगता है कि श्री भ० देवेन्द्रकीर्ति अठसखा परवार थे। वह लेख इस प्रकार है—

'संवत् १५३२ वर्षे वैशाख सुदी १४ गुरौ श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे नंदिसंघे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० श्री प्रभाचन्द्रदेव तं० श्री पद्मनंदिदेव त० शुभचन्द्रदेव भ० श्री जिनचंद्रदेव भ० श्री सिंहकीर्तिदेव चंदेरीमंडलाचार्य श्री देव्यंद्रकीर्तिदेव त० श्री त्रिभुवनकीर्तिदेव पौरपट्टान्वये अष्टन्वयेसाखनपु-समवेतस्य पुत्र····।'

वे परवार थे इसकी पुष्टि चंदेरीके भट्टारक पट्टको परवार भट्टारक पट्ट कहा गया है इस बातसे होती है। इसकी पुष्टि प्रमाण हम 'चंदेरी-सिरोंज (परवार) पट्ट' इस लेखमें दे आये है। (देखो पृ० ४२)। इससे मालूम पड़ता है कि इस पट्ट पर बैठनेवाले जितने भी भट्टारक हुये है वे सब परवार थे। उनके नाम इस प्रकार है—भ० देवेंद्रकीर्ति, त्रिभुवनकीर्ति, सहस्रकीर्ति पद्मनंदि, यश:कीर्ति, ललितकीर्ति, धर्मकीर्ति, सकलकीर्ति और सुरेन्द्रकीर्ति। यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि भ० ललितकीर्तिके एक शिष्यका नाम रत्नकीर्ति था और रत्नकीर्तिके बाद उनके शिष्यका नाम चंद्रकीर्ति था।

ये दोनों किस पट्टके पट्टधर भट्टारक थे इसका अभी तक मूर्तिलेखोंसे कोई पता नही चलता। इतना अवश्य है कि सिरोंजके कई मन्दिरोमे ऐसे मूर्तिलेख अवश्य पाये जाते हे जिनमे इनके नामोंका उल्लेख हुआ है। इससे ऐसा भी माना जा सकता है कि बहुत सम्भव है कि सिरोंजमे जिस परिवार पट्टकी स्थापना हुई थी कि वह इनके द्वारा ही प्रारम्भ किया गया जान पड़ता है।

वैसे भ० धर्मकीर्तिके सकलकीर्तिके सिवाय एक दूसरे शिष्यका नाम जगत्कीर्ति था। इसलिये यह भी सम्भावनाकी जाती है कि सिरोंज पट्टकी स्थापना इन्हीके द्वारा हुई है। इनके उत्तराधिकारीका नाम त्रिभुवनकीर्ति था। इनके पट्टाभिषेककी एक चर्चा छंदोंके संकलनमे विशेष रूपसे देखनेको मिलती है। इसके लिए चंदेरी-सिरोंज (परवार) पट्ट शीर्षकसे लिखे गये लेखमें हमने उद्धृत की हैं। इनके उत्तराधिकारी शिष्य उत्तरोत्तर कौन-कौन हुए इसका विशेष उल्लेख इस समय उपलब्ध नही है। किन्तु संवत् १८७१ मे राजकीर्ति नामक एक भट्टारक हुए है जिन्हें एक प्रतिमा लेखमे सिरोंज पट्टका अधिकारी कहा गया है। बहुत सभव है कि ये ही सिरोंज पट्टके अन्तिम भट्टारक हों।

इस भट्टारक परम्परामे जो भट्टारक धर्मकीर्ति नामके हुए है, उन्होंने हरिवंशपुराणकी रचना अपभ्रंश भाषामे की ही थी साथ ही उनका लिखा हुआ एक धर्मपरीक्षा नामका एक ग्रन्थ भी पाया जाता है।

यहाँ हमें दो बातें और विशेष रूपसे कहनी है—एक तो भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति शिष्य भट्टारक विद्यानंदिके विषयमें। ये सूरतपट्टके दूसरे भट्टारक थे, ये परवार थे, इनकी उस प्रदेशमे बहुत ख्याति रही है।

सूरतके पास कातार नामका एक स्थान है जहाँपर इनके चरणचिह्न पादुकायें पाई जाती है। साथ ही इन्होंने संस्कृतमें सुदर्शनचरित्र नामके एक ग्रन्थकी रचना भी की है। दूसरे भट्टारक त्रिभुवनकीर्ति शिष्य भ० श्रुतकीर्तिके विषयमें कहना है। यद्यपि इनका भट्टारक सम्प्रदायग्रथमे उल्लेख तो नही है फिर भी ये अपभ्रंश भाषाके असाधारण विद्वान हो गये है। इस भाषामे उनका लिखा हुआ एक पद्मपुराण नामका ग्रन्थ अनेक ग्रन्थागारोंमें पाया जाता है। इस प्रकार देखनेसे मालूम पडता है कि इन भट्टारकोंने बुन्देलखण्ड क्षेत्रमे धर्मप्रभावनामे अच्छा योगदान किया है। इनके विषयमे विशेष ऊहापोह अगर समय मिल सका तो आगे कभी करेंगे। इस समय तो संक्षेपरूप ये परवार भट्टारक हैं इस रूपमे दिया गया है।

पद्मावती पुरवाल

बखतराम शाहका 'बुद्धिविलास' ग्रन्थ हमारे सामने है। इसमें ८४ खाँपों (जातियों) का नामोल्लेख करते हुए पुरवार (परवार) जातिके सात भेद किये गये हैं—(१) अठसखा परवार, (२) चौसखा परवार, (३) छैसखापरवार, (४) दोसखा परवार, (५) सोरठिया परवार, (६) गांगड़ परवार और (७) पद्मावती परवार। उल्लेख इस प्रकार है—

अठसक्खा फुनि है चौसक्खा, सेहसरडा फुनि है दो सक्खा।
सोरठिया अर गांगड़ जानो, पद्मावत्या सप्तम मानो[1] ॥६८७॥

यद्यपि पौरपाट (परवार) जाति मूलमें एक है और उसके ये सात भेद है, पर ८४ जातियोंकी गणना मे इन्हे स्वतन्त्र मान लिया गया है। 'प्राग्वाट इतिहास प्रथम भाग'[2] की भूमिका पृष्ठ १४-१५ में जिन १६१ जातियोंका उल्लेख किया गया है उनमे परवार जातिके कुल ५ नामोंका ही उल्लेख दृष्टिगोचर होता है। उस सूचीमे गांगड़ और सोरठिया ये दो नाम नही हैं। ८४ जातियोंका नामोल्लेख करनेवाली ३-४ सूचियाँ और भी हमारे पास है। उनमे भी सात नाम पूरे नही उपलब्ध होते, किसीमे किन्ही नामोंको छोड़ दिया गया है और किसीमे किन्हीं नामोंको। मात्र पद्मावती नाम यह सब सूचियोंमे है।

जिस मूल जातिसे इस जातिका निकास माना जाता है उसे आजसे हजार आठ सौ वर्ष पूर्व 'प्राग्वाट' भी कहा जाता था। के० एं० मुंशीने 'गुजरात नो नाथ'[3] नामक एक उपन्यास लिखा है, उसमे उन्होंने इस जातिके लिये पोरवाल, पुरवाल या परवार (पौरपट्ट) नामका उल्लेख न कर इसे 'प्राग्वाट' ही कहा है। ऐसा लगता है कि पूर्व कालमे इसके लिए 'प्राग्वाट' शब्दका व्यवहार बहुलतासे होता रहा है।

भट्टारक देवेन्द्रकीर्तिने सूरतके पास रादेरमें मूलसंघ आ० कुन्दकुन्द आम्नायके जिस भट्टारक पट्टपर विद्यानंदीको प्रतिष्ठित किया था उन्हे एक प्रशस्तिमे (अष्टशाखाप्राग्वाटवंशावतंसानाम्) अष्टशाखा प्राग्वाटवंशका आभूषण'[4] कहा गया है। स्पष्ट है कि जिस परवार जातिको पहले प्राग्वाट कहा जाता था उसके ही वे ज्ञाति-भेद है जिनका हम प्रारम्भमे ही उल्लेख कर आये है।

तत्काल अ० भा० दि० जैन विद्वत्परिषदने स्व० डॉ० नेमिचन्द्रजी शास्त्री, ज्योतिषाचार्य द्वारा लिखित 'भारतीय संस्कृतिके विकासमें जैन वाङ्मयका अवदान' ग्रंथ प्रकाशित किया है। उसमे पृष्ठ ४५२ से लेकर एक पट्टावलि दी हुई है। यह पट्टावलि स्व० आचार्य महावीरकीर्तिके एक गुटिकेसे ली गयी है। उसमे विक्रमकी चौथी पाँचवी शताब्दीमें हुए सर्वार्थसिद्धि आदि महान् ग्रन्थोंके कर्ता आ० पूज्यपाद और विक्रमकी दशवी शताब्दीमे हुए आ० माघचन्द्रको पद्मावती पोरवाल उल्लिखित किया गया है। यह भी इस तथ्यको सूचित करता है कि पद्मावती पुरवार यह भी उस वंशका एक भेद है जिसे पूर्वमे प्राग्वाट कहा गया है।

यह तो हम पहले ही लिख आये हैं कि शाह बखतरामने पुरवार या परवार जातिकी जिन सात खांपोंका उल्लेख किया है उनमे एक खाप पद्मावतीपुरवार भी है। परवार जातिमें १४४ मूर और १२ गोत्र प्रसिद्ध है इनमें वासल्ल गोत्रके अन्तर्गत एक पद्मावती मूर भी है। 'मूरको' शाख भी कहते है। जैसे अठशखा,

१. प्रकाशन—राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान जोधपुर।
२. प्राग्वाट इतिहास प्रकाशक समिति स्टेशन राणी (मारवाड़ राजस्थान)।
३. प्रकाशन—गुर्जर ग्रन्थरत्न कार्यालय गांधी मार्ग, अहमदाबाद।
४. 'भट्टारक सम्प्रदाय पृ० १७३' जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर।

चौसखा आदि। 'मूर' शब्द 'मूल' शब्दका अपभ्रंश रूप है। गुजरात और उसके आस-पासके प्रदेशमें अपने पूर्व पुरुषोंके मूल निवासका ज्ञान करनेके लिये इस शब्दका प्रयोग अब भी किया जाता है। अर्थात् जैसे महाराष्ट्रमें अपने पूर्व पुरुषोंके मूल निवासस्थानका ज्ञान करनेके लिए 'कर' शब्दका प्रयोग किया जाता है। जैसे फलटनकर, पंढरपुरकर आदि। उसी प्रकार गुजरात और उसके आस-पासके प्रदेशमें इसी अर्थमें 'मूल' शब्दका प्रयोग किया जाता है। परवारोंके जो १४४ 'मूर' प्रसिद्ध हैं वे इसी बातके साक्षी हैं। जैसे जिस परिवारके पूर्व पुरुष ईडरमें रहते थे वे ईडरी मूर कहे जाते हैं और जिस परवारके पूर्व पुरुष नारदनगरमें रहते थे वे नारदमूरी कहे जाते हैं। पद्मावती पुरवाल या पद्मावती परवार यह नाम भी इसी तथ्यका द्योतक है। इतना अवश्य है कि यह एक स्वतन्त्र जाति बन जानेसे 'पद्मावती' यह शब्द भी जातिवाची नामके साथ जुड़ गया है। यह परवार जातिकी एक स्वतन्त्र उपजाति है।

ये कतिपय ऐसे प्रमाण हैं जिनके अनुसार प्राग्वाट जातिके जितने स्वतन्त्र भेद-प्रभेद दृष्टिगोचर होते हैं वे सब पूर्वकालमें एक जातिके होनेसे सबन्धु रहे हैं। प्राग्वाट इतिहास पृ० ४४ में इन सबको नौ भेदोंमें विभाजित किया गया है। यथा—

(१) सोरठिया पौरवाल, (२) कपोला पौरवाल, (३) पद्मावती पौरवाल, (४) गूर्जर पौरवाल, (५) जांगडा पौरवाल, (६) नेमाड़ी और मलकापुरी पोरवाल, (७) मारवाडी पौरवाल, (८) पुरवार और (९) परवार।

प्राग्वाट इतिहास पृ० ४६ में इस जातिके इतिहास पर संक्षेपमें प्रकाश डालते हुए लिखा है कि भिन्नमाल और उसके समीपवर्ती प्राग्वाट प्रदेशपर वि० सं० १११९ में जब भयंकर आक्रमण हुआ था, उस समय अपने जन-धनकी रक्षाके हेतु इस शाखाके प्रायः अधिकाश कुल अपने स्थानोंका त्याग करके मालवा प्रदेशमें और राजस्थानके अन्य भागोंमें जाकर बसे थे। इस शाखाके कुल राजस्थानमें बूँदी और कोटा राज्यके हाजती, सपाड और हूँढाड़पट्टोंमें, इन्दौर और आस-पासके नगरोंमें अधिकांशतः बसते हैं। लगभग सौ वर्षोंसे कुछ कुल दक्षिणमें बीडशहर, परण्डा नामक कस्बोंमें भी जा बसे हैं और वहीं व्यापार-धन्धा करते हैं। इस शाखामें भी जैन और वैष्णव दोनों मतोंके माननेवाले कुल हैं। जो जैन हैं वे अधिकतर दिगम्बर आम्नायके माननेवाले हैं। श्वेताम्बर आम्नायके माननेवाले कुल इस शाखामें बहुत ही कम हैं। इस शाखाके कुलोंके गोत्र पीछेसे बने हैं।[1]

इस शाखामें आरम्भसे ही ऐसे पुण्य पुरुष होते आ रहे हैं जिनसे इस शाखाका गौरव बढ़ा है। पूर्वमें हम दो महान् आचार्योंका नामोल्लेख कर आये हैं। आगे ऐसे भी श्रावक हो गये हैं जिन्होंने जिन-धर्मकी प्रभावनाके अनेक कार्य किये हैं। किसीने जिनालयका निर्माण कराया, किसीने जिनबिम्बकी प्रतिष्ठा कराई और किसीने ग्रन्थ रचना की। हमारे सामने सेठका कूचा बड़ा मन्दिरमें विराजमान चौबीसी मूर्तिपट्ट (धातु)में अंकित एक ऐसा लेख है जिसमें इस शाखाको पद्मावती पौरपाटान्वयका कहा गया है। पूरा लेख इस प्रकार है—

संवत् १४४४ वर्षे वैशाख सुदी १२ सोमे दिने श्रीचन्द्र वाठदुर्गे चाहुवाणराज्ये श्री अभयचन्द्रदेव सुपुत्र श्री जयचन्द्रदव राज्ये श्री काष्ठासंघे माथुरान्वये आचार्य श्री अनन्तकीर्ति देवास्तत्पट्टे क्षेमकीर्तिदेवा पद्मावतीपौरपाटान्वये साहु माहण पुत्र सा० देवराज भार्या प्रभा पुत्रा पंच करणसोह

१. आभास सभागमें भी इस शाखाके कुल बहुतायतसे पाये जाते हैं। वे सब दिगम्बर हैं।

नरसीह हरिसिंह वीरसिंह रामसिंह एतैः कर्म-कर्मक्षयार्थं चतुर्विंशतिकाप्रतिष्ठा कारिता पंडितभास शुभं भवतु ।

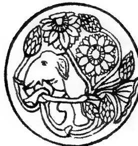
इसमें मूर्तिप्रतिष्ठाकारको काष्ठासंघी कहा गया है। परन्तु मूलमें यह शाखा मूलसंघ कुन्दकुन्दान्वयी ही रही है। इस शाखाके प्रारम्भमें पद्मावती विशेषण लगा है, इससे पाठक यह न समझें कि ये पद्मावती देवीके उपासक रहे हैं। वस्तुतः इस शाखाका मूल निकाय पद्मावती नगरसे हुआ है इसलिए इस शाखाके नाममे पद्मावती विशेषण लगा हुआ है।

ललितपुरके बड़े मन्दिरके शास्त्रागारमें कविताबद्ध चारुदत्त चरितकी हस्तलिखित एक प्रति पाई जाती है। उसकी रचना कवि भारामल गोलालारे और कवि विश्वनाथ पद्मावती पुरवार इन दोनोंने मिलकर की थी। अपनी प्रशस्तिमें कवि भारामल लिखते हैं—

नगर जहानाबाद रहाई। पद्मावती पुरवार कहाई।
विश्वनाथ संगति शुभ पाय। तब यह कीनी चरित बनाई ॥

यह इस शाखाका संक्षिप्त उपलब्ध पुराना इतिहास है।

●



सिद्धक्षेत्र कुण्डलगिरि

भारतवर्ष आर्यावर्तका वह भाग है जहाँसे अवसर्पिणीके चौथे कालमे और उत्सर्पिणीके तीसरे कालमें अनंतानंत मुनि मोक्ष गये हैं व जाते रहते हैं और जाते रहेंगे, इसलिये इस देशके प्राय. सभी प्रदेशोंमे जैन सिद्ध क्षेत्रोंका पाया जाना निश्चित है।

इस कालमें भगवान् महावीर स्वामीके मोक्षगमनके अनन्तर गौतम स्वामी, सुधर्माचार्य और जम्बूस्वामी मोक्ष गये हैं। ये तीनों अनुबद्ध केवली थे। त्रिलोक प्रज्ञप्तिके उल्लेखसे मालूम पडता है कि श्रीधर नामके एक मुनिराज श्री कुण्डलगिरिसे मोक्ष गये हैं। ये अननुबद्ध केवली थे, इसलिये अनुबद्ध केवलियोंमे इनकी गणना नहीं की गयी है। पूर्वोक्त तीन केवलियोंसे ये भिन्न है। त्रिलोक प्रज्ञप्तिका वह उल्लेख इस प्रकार है—

कुण्डलगिरिम्मि चरिमो केवलणाणीसु सिरिधरो सिद्धो।
चारणरिसीसु चरिमो सुपासचंदाभिधाणो य ॥४-१४७९॥

"केवलज्ञानियोंमे अन्तिम केवली, श्रीधर मुनि कुण्डलगिरिसे सिद्ध हुए तथा चारणऋद्धिधारी ऋषियोंमे अन्तिम सुपार्श्वचन्द्र नामक ऋषि हुए"

यह त्रिलोक प्रज्ञप्तिका पाठ है। इसकी पुष्टि प्राकृतनिर्वाण भक्तिके "णिवणकुडली वंदे" (॥२६॥) पाठसे भी होती है। इसमे कहा गया है कि निर्वाणक्षेत्र कुण्डलगिरिसे जो मुनि सिद्ध हुए हैं उनको मैं वन्दना करता हूँ।

इसीके अनुरूप संस्कृत निर्वाण भक्तिमें भी कुण्डलगिरिको सिद्धक्षेत्र स्वीकार करते हुए वह गिरि कहाँ पर है, इसका भी भले प्रकार निर्देश कर दिया गया है। संस्कृत निर्वाण भक्तिका वह पाठ इस प्रकार है—

द्रोणीमति प्रबलकुंडलमेंढ़के च वेभारपर्वततले वरसिद्धकूटे।
ऋष्याद्रिके च विपुलाद्रिबलाहके च विन्ध्ये च पौदनपुरे वृषदीपके च ॥२९॥

द्रोणीगिरि, कुण्डलगिरि, मुक्तागिरि कुण्डलगिरिका तल भाग सिद्धवरकूट ऋषिगिरि, विपुलगिरि, बागहकगिरि विन्ध्य, पोदनपुर और वृषदीपसे जो सिद्ध हुए उनकी मैं वन्दना करता हूँ।

यह संस्कृत निर्वाण भक्तिका पाठ है। इसमे द्रोणगिरि और मुक्तागिरिके मध्यमे कुण्डलिगिरिका नाम आया है। आचार्य पूज्यपादका यह कथन सोद्देश्य होना चाहिये। उससे निश्चित होता है कि इन दोनो गिरियों के मध्यमे कहीं कुण्डलगिरि अवस्थित है।

इस प्रकार उक्त तीन आगमिक उल्लेखोसे हम जानते है कि इन आगमोंमे जिस कुण्डलगिरिको सिद्धक्षेत्र स्वीकार किया गया है, वह यही कुण्डलगिरि है और श्रीधर मुनिराज यहीसे मोक्ष गये है।

प्रदेशका निर्णय

इस प्रकार निर्वाण भक्तिके उक्त उल्लेखसे यह तो निर्णय हो जाता है कि दमोहके पासका कुण्डलगिरि ही श्रीधर स्वामीका निर्वाण स्थान है। फिर भी अन्य प्रमाणोंमे भी हम यह निर्णय करेगे कि वह कुंडलगिरि दमोह जिलेमे ही अवस्थित है या उसका अन्य प्रदेशमे होना संभव है। आगे इसका सागोपाग विचार करते हैं।

पहले मध्यप्रदेशमें दमोहके पासके सिद्धक्षेत्रको कुण्डलपुर कहा जाता था, इसलिये भी कुण्डलगिरि कहाँ पर है यह विवादका विषय बना हुआ था। क्योंकि अभीतक कुंडलपुर नामके चार स्थान स्वीकार किये जाते रहे हैं। उनमेंसे प्रकृत कुण्डलपुर कहाँ पर है यह विचारणीय हो जानेसे यहाँ पर विचार किया जाता है।

१. जहाँ भगवान् महावीर स्वामीका जन्म हुआ था, उसका नाम तो वास्तवमें कुण्डलग्राम है किन्तु लोकभाषामें उसे कुण्डलपुर कहा जाता है। कुछ आचार्योंने भी इसे कुण्डलपुर नामसे स्वीकार किया है।

२. नालन्दाके निकट बडागाँवको कुण्डलपुर मानकर, उसे वर्तमानमें भगवान् महावीरका जन्म स्थान मानती है। इसलिए वहाँ एक जिन मन्दिर भी बना हुआ है। साधारण जनता वन्दनाकी दृष्टिसे वहाँ पहुँचती रहती है।

३. एक कुंडलपुर सातारा जिलेमें स्थित है। पूनासे सातारावाले रेलमार्गपर किर्लोस्कर वाड़ीसे ५ मील पर यह स्थान स्थित है। यहाँ स्थित पहाड़पर दो जिन मन्दिर भी बने हुए हैं, इसलिये यह तीर्थक्षेत्रके रूपमे माना जाता है।

४. मध्यप्रदेश दमोह जिलेके अन्तर्गत ३५ कि० मी० दूर ईशान दिशामें जो क्षेत्र अवस्थित है उसके पास कुंडलपुर नामका गाँव होनेसे, क्षेत्रको भी कुंडलपुर कहा जाता रहा है। पर वहाँ स्थित क्षेत्रका नाम वास्तवमे कुण्डलगिरि ही है।

इस प्रकार कुंडलपुर नामके ये चार स्थान प्रसिद्ध हैं। इनमेसे दो ही ऐसे स्थान हैं जो विचार कोटिमे लिये जा सकते हैं। एक महाराष्ट्रमें सातारा जिलेके अन्तर्गत कुण्डलपुर स्थान और म० प्र०मे दमोह जिलेके अन्तर्गत कुण्डलपुर स्थान। इन दोनों स्थानोंपर जो पर्वत है उन पर जिन मन्दिर बने हुए है। इसलिये दोनों ही स्थान क्षेत्रके रूपमे प्रसिद्ध है। अब देखना यह है कि इन दोनों स्थानोंमेसे सिद्धक्षेत्र कौन हो सकता है?

१. जैसाकि हम त्रिलोक प्रज्ञप्तिका प्रमाण उपस्थित कर आये है, उससे तो यही मालूम पड़ता है कि जो कुंडलाकार गिरि है वही सिद्धक्षेत्र हो सकता है, दूसरा नहीं। और इस बातको ध्यानमें रखकर जब हम विचार करते है तो इससे यही सिद्ध होता है कि दमोह जिलेमें कुंडलपुरके अतिनिकटका पहाड़ ही कुंडलगिरि सिद्धक्षेत्र होना चाहिए। यह गिरि स्वयं तो कुंडलाकार है ही, किन्तु इस गिरिसे लगकर कुण्डलाकार गिरियों की एक शृंखला चालू हो जाती है। दमोहसे कटनीके लिये जो सडक जाती है, उसपर अवस्थित जो प्रथम कुण्डलाकार गिरि है वही प्राचीन कालसे सिद्धक्षेत्र माना जा रहा है। इसलिये उस गिरिपर स्थित पूरे सिद्ध-क्षेत्रके दर्शन हो जाते हैं। किन्तु उससे लगकर जुड़ा हुआ जो कुण्डलाकार दूसरा गिरि मिलता है उसकी रचना भी ऐसी बनी हुई कि जिसके उससे मध्यमे सड़कसे चार-पाँच जिन मन्दिरोंके दर्शन हो जाते है। यही स्थिति तीसरे, चौथे और पाँचवें कुण्डलाकार गिरियोंकी है। मात्र उन गिरियोंपर स्थित जिन मन्दिरोंका दर्शन सड़क से उत्तरोत्तर संख्यामे कम होता जाता है। इसलिये इन गिरियोंकी ऐसी प्राकृतिक रचनाको देखकर यह निश्चय होता है कि त्रिलोक प्रज्ञप्तिमें जिस कुण्डलगिरि सिद्धक्षेत्रका उल्लेख है वह यही होना चाहिये।

२. इंडियन एन्टीक्वेयरीमे नन्दिसंघकी एक पट्टावलि अंकित है, जिसे जैन सिद्धान्त भास्कर भाग १ ग्रंथ ४ पृ० ७९ स० १९१३ में मुद्रितकी गयी है। यह पट्टावलि द्वितीय भद्रबाहुसे चालू होती है। इसमे बतलाया गया है कि विक्रम सं० ११४०मे महाचन्द्र या माधवचन्द्र नामके जो पट्टधर आचार्य हुए है उनका मुख्य स्थान कुण्डलपुर (दमोह जिले) था। इनका पट्ट पर बैठनेका क्रमांक ५२ है।

यह भी एक प्रमाण है, इसलिए इससे भी यही सिद्ध होता है कि दमोह जिलेमें कुण्डलपुरके पासका कुण्डलगिरि १२वीं शताब्दीमें भी इसी रूपमें माना जाता रहा है।

यहाँ जिस पट्टावलिका हमने उल्लेख किया है उसका सम्बन्ध सीधा गौतम गणधर तक पहुँचता है। यह पट्टावलि गौतमगणधरसे प्रारम्भ होती है फिर भी इस पट्टावलिको जो द्वितीय भद्रबाहूसे प्रारम्भ किया गया है उसका कारण यह प्रतीत होता है कि द्वितीय भद्रबाहुके कालमें ही बलात्कारगणकी स्थापना हो गयी थी। इसीलिये इस पट्टावलिको बलात्कारगणकी पट्टावली भी कहा जाता है।

पहिले तो पट्टधर जितने भी आचार्य होते थे वे सब मुनि ही होते थे। और यह परम्परा १३वी शताब्दी तक अक्षुण्ण चालू रही आई। किन्तु वसंतकीर्ति मुनिके कालमें पट्टपर बैठने वाले मुनियों द्वारा वस्त्र ग्रहण करना प्रारम्भ हो जानेसे[1], वे भट्टारक शब्द द्वारा अभिहित किये जाने लगे। इस पट्टावलिको केवल भट्टारक पट्टावलि कहना उपयुक्त नहीं है। अतः १२ वी शताब्दीमें कुण्डलगिरिके जो पट्टधर आचार्य महाचन्द्र हुए हैं वे भट्टारक न होकर मुनि ही थे, भट्टारक नही, यह स्पष्ट है।

इतने विवेचनसे भी निश्चित हो जाता है कि दमोह जिलेका कुण्डलपुरके पासका कुण्डलगिरि ही सिद्ध-क्षेत्र है। त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें जिस सिद्ध कुण्डलगिरिका उल्लेख है वह यही है, अन्य नही, अन्तिम केवली श्रीधर मुनिराज यहींसे मोक्ष गये हैं।

२. कुण्डलगिरि सिद्धक्षेत्र लगभग २५०० वर्ष पुराना है। यहाँ पहाड पर एक प्राचीन जिनमन्दिर है। इसे बड़े बाबाका मन्दिर कहते हैं। यहाँ एक कुण्डलपुर ग्रामके परिसरमें और दूसरा कुण्डलगिरि पहाडके तलभागमें दो मठाकार प्राचीन जिनमन्दिर भी बने हुए है। सरकारी पुरातत्त्व विभाग द्वारा इन मन्दिरोंको ब्रह्ममन्दिर कहा गया है। ये तीनों ६वी शताब्दी या उसके पहलेके है इन्हें सूचित करनेवाला एक शिलापट्ट दमोह रेलवे स्टेशनपर लगा हुआ है। शिलापट्टमें जो इबारत लिखी गई है उसका हिन्दी रूप इस प्रकार है—दि० जैन तीर्थस्थान कुण्डलपुर।

जैनियोंका तीर्थस्थान कुण्डलपुर दमोहसे लगभग २० मील ईशानकी तरफ है। यहांपर छठवीं सदीके दो प्राचीन ब्रह्ममन्दिर हैं। इनके सिवाय ५८ जैन मन्दिर है। मुख्य मन्दिरमें १२ फीट ऊँची पद्मासन महावीरकी प्रतिमा है। यहांपर हर साल माघ महीनेके अन्तमें जैनियोका बड़ा भारी मेला भरता है।

KUNDALPUR

"About 20 miles to the north east of Damoh is Kundalpur, A Scred Place of the Jains Besides two early Brahmanical temples of the 6th centrury A. D. There are 58 modern Jaina temples at this place. The principal temple contains 12 feet high Image of Mahavira in meditation."

A very large fair is held here in the month of Magh (February-March) Every Year.

Note : For site plan see drg No. R–36275.

यह दमोह स्टेशनपर लगे हुए शिलापट्टकी अविकल प्रतिलिपि है। उसमें ५८ जिनमन्दिरोंके साथ दो ब्रह्ममन्दिरोंका उल्लेख कर उन्हें पुरातत्त्व विभाग द्वारा छठवी सदीका स्वीकार किया गया है। इतना अवश्य है कि ५८ जिनमन्दिरोंमें बड़े बाबाका मुख्य मन्दिर और दो ब्रह्ममन्दिर छठवी सदीके है। शेष जिन मन्दिर

१. भट्टारक सम्प्रदाय पृ० ९३।

अर्वाचीन हैं। इसलिये यहाँ 'बड़े बाबा' के मुख्य मन्दिर सहित दो ब्रह्म मन्दिरोंका परिचय दे देना इष्ट प्रतीत होता है।

(क) 'बड़े बाबा' का जो मुख्य मन्दिर है उसका क्रमांक ११ है। जैसा उसका नाम है, उतना ही वह विशाल है। उसका गर्भालय पाषाण निर्मित है। पहले गर्भालयका प्रवेश द्वार पुराने ढंगका बहुत छोटा था। और तलभाग बहुत गहरा था। उसमे सिंहासनपर विराजमान जो 'बड़े बाबा'को मूर्ति हैं, उसे कई शताब्दियों तक तीर्थंकर महावीरकी मूर्ति कहा जाता रहा। गर्भालयके बाहर दीवालमें जो शिलापट्ट लगाया गया है, उसमे भी उसे भगवान् महावीरकी मूर्ति कहा गया है। किन्तु वस्तुतः यह भगवान् महाबीरकी मूर्ति न होकर भगवान् ऋषभदेवकी मूर्ति है। क्योंकि बड़े बाबाकी मूर्तिमे दोनों कंधोंसे कुछ नीचे तक बालोंकी दो-दो लटें लटक रही हैं और आसनके नीचे सिंहासनमे भगवान् ऋषभदेवके यक्ष-यक्षि अंकित किये गये हैं। मूर्ति पद्मासन मुद्रामे १२ फुट ६ इंच ऊँची है और उसकी चौड़ाई ११ फुट ४ इंच है। इसके दोनों पार्श्व भागोंमें ११ फुट १० इंच ऊँचे खड्गासन मुद्रामें ७ फणी भगवान पार्श्वनाथके दो जिनबिम्ब अवस्थित हैं। साथ ही प्रवेश द्वारको छोड़कर तीनों ओर दीवालके सहारे प्राचीन जिनबिम्ब स्थापित किये गये हैं। मूल नायक बड़े बाबा 'अर्थात् भगवान ऋषभदेवको छोड़कर ये सब जिनबिम्ब दोनों ब्रह्ममन्दिरोंसे और बर्रट गाँवसे लाकर यहाँ विराजमान किये गये हैं। (क्षेत्रके अन्य जिनमन्दिरोंमे भी प्राचीन प्रतिमायें अवस्थित हैं। वे भी इन्ही स्थानोंसे लायी गयी जान पड़ती है)। इस कारण गर्भालयकी शोभा अपूर्व और मनोज्ञ बन गयी है। क्षेत्रकी शोभा बड़े बाबासे तो है ही, अन्य भी ऐसी अनेक विशेषतायें हैं जिनके कारण यह क्षेत्र अपूर्व महिमासे युक्त प्रतीत होता है। इस कारण प्रत्येक वर्ष वहाँ माघ माहमे मेला लगता है।

श्री बलभद्रजी 'मध्यप्रदेशके जैनतीर्थ' पृ० १८९ में लिखते हैं कि 'ध्यानसे देखनेपर प्रतीत होता है कि बड़े बाबा और पार्श्ववर्ती दोनों पार्श्वनाथ प्रतिमाओंके सिंहासन मूलतः इन प्रतिमाओंके नहीं है। बड़े बाबाका सिंहासन दो पाषाण खण्डोंको जोड़कर बनाया गया प्रतीत होता है। इसी प्रकार पार्श्वनाथ प्रतिमाओंके आसन किन्ही खड्गासन प्रतिमाओंके अवशेष जैसे प्रतीत होते हैं।'

किन्तु यह वस्तुस्थिति नही है। बड़े बाबाका पृष्ठभाग जिस शिलाको काटकर यह मूर्ति बनायी गयी है, उससे जुड़ा हुआ प्रतीत होता है और यह हो सकता है कि सिंहासन दो पाषाण खण्डोंसे बनाया गया है। पर मेरी नम्र रायमे उसे उसी स्थानपर निर्मित किया गया है। बारीकीसे देखनेपर जिस आसनपर बड़े बाबा विराजमान हैं, वह अन्यत्रसे नही लाया गया है।

वहाँ आनेवाले दर्शनार्थियोंका कहना है कि सिंहासनमें गोल्कके लिये एक सुराक बना हुआ था। उस सुराकमें रुपया पैसा डालनेपर तलभागमें वह कहाँ चला जाता था, इसका आजतक पता नही चला; इस कारण अब वह सुराक बन्द कर दिया गया है। वह स्थान कुछ भाइयोंने हमें भी दिखाया था। इससे तो ऐसा ही प्रतीत होता है कि बड़े बाबाका जिनबिम्ब और सिंहासन आदि जो कुछ भी निर्मित हुआ है वह वहीं हुआ है। फिर भी हमारी राय है कि पुरातत्वविदों व इंजीनियरोंको बुलाकर इन सब बातोंकी समीक्षा एक बार अवश्य करा लेना चाहिये ताकि इस सम्बन्धमे होनेवाले भ्रमको दूर किया जा सके।

(ख) प्रथम ब्रह्म मन्दिर कुण्डलगिरिकी तलहटीमे स्थित है। मैं अनेक भाइयोंके साथ उसके अभ्यन्तर भागका अवलोकन करनेके लिये वहाँ गया था। उनमे समाजके प्रसिद्ध विद्वान् श्री पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री भी थे। किन्तु मन्दिरके द्वारपर कुछ भाइयोंने ताला लगा रखा है। इसलिये उसके भीतर प्रवेश

करके उसके भीतर क्या है यह हम नही देख सके। फिर भी उन भाइयोंका कहना था कि मन्दिरके भीतर जो देवीकी मूर्ति है वह पद्मावतीदेवीकी ही है।

(ग) दूसरा ब्रह्मंदिर जिसे रुक्मिणी मठ भी कहा जाता है, वह भी छठी सदीका है। यह कुण्डलपुर ग्रामके परिसरमें अवस्थित है। इसे रुक्मिणी मठ क्यों कहा जाता है, इसके पीछे एक इतिहास है। उसकी यहाँ विशेष चर्चा न करके मात्र इस मन्दिरका परिचय देना ही यहाँ मुख्य है। यह ब्रह्म मन्दिर जीर्णशीर्ण अवस्थामें है। वहाँ पहले जो जिनबिम्ब विराजमान थे, उन्हें यहाँसे ले जाकर बड़े बाबाके मन्दिरमें स्थापित कर दिया गया है। इस मंदिरके मध्य भागमें ३ हाथ ४ अंगुल चौड़ा शिलापट्ट है। उसमें अंकित आम्रवृक्षके मूलमें भगवान नेमिनाथ सहित यक्ष-यक्षिणीकी एक मूर्ति प्रतिष्ठित है। यक्षिणीकी गोदीमें बालक है और दूसरा बालक आम्रवृक्षपर चढ़ता हुआ दिखाया गया है।

इस ब्रह्ममन्दिर सिरदल रखा हुआ है। उसमें भी जैन मूर्तियाँ अंकित है। बड़े बाबाका मन्दिर तो समाजके अधिकारमें होनेसे उसकी भले प्रकार देख-रेख होती रहती है। परन्तु इन दोनों ब्रह्म मन्दिरोंकी नहीं होती। यद्यपि कुण्डलगिरिकी तलहटीमें जो ब्रह्ममंदिर है, उस पर अन्य भाइयोंने कब्जा अवश्य कर रखा है, परन्तु दूसरे ब्रह्म मन्दिरके समान इसकी भी समुचित देखरेख नही हो पाती। न तो समाजका इस ओर ध्यान है और न पुरातत्त्व विभागका ही।

(घ) बड़े बाबाके मन्दिरका जो गर्भालय है उससे लग कर जो मण्डप है उसके मध्यमें एक चबूतरा बना हुआ है। उस पर मध्यमें पुराने चरण चिह्न विराजमान हैं। वे कितने प्राचीन है, यह कहना कठिन है। पर जिस पाषाण खण्डको काटकर उन्हें बनाया गया है उसे देखते हुए ये चरण चिन्ह हजार आठ सौ वर्ष पुराने नियमसे होने चाहिये, ऐसा प्रतीत होता है। सम्भव है कि यहाँ पर सन् ११८० में महाचन्द्र नामके जो पट्टधर आचार्य हो गये है उनके अनुरोध पर हो, यह निश्चय होनेसे कि यही वह कुण्डलगिरि है जहाँसे श्रीधर स्वामी मोक्ष गये है, इन चरणचिह्नोंकी स्थापनाकी गयी है। उन पर 'कुण्डलगिरौ श्रीधर स्वामी' यह लिखा होनेसे भी यही प्रतीत होता है कि उन्होने ही श्रीधर स्वामीके इन चरण चिह्नोंकी स्थापना कराई होगी। श्री पं० बलभद्रजीने 'मध्यप्रदेशके दिगम्बर जैन तीर्थ' के पृ० १९३ पर जो इन चरण चिह्नोंको १२-१३वीं शताब्दीका सूचित किया है, उससे भी इस बातकी सत्यता प्रमाणित होता है।

(च) जैसा कि हम पहले सूचित कर आये है कि दोनो ब्रह्ममन्दिरोमे जो प्रतिमाएँ लाई गई थी उनमें-से बहुत-सी प्रतिमायें तो गर्भालयमें ही स्थापित कर दी गई है। उनके आकार और निर्माण शैलीको देखते हुए उक्त कथनको स्वीकार कर लेनेमें हमें कोई आपत्ति नही दिखाई देती। ये सब मूर्तियाँ पद्मासन संख्यामें १४ है और प्रत्येक पुष्पवर्णी देव और चरमवाहक है। ये सब मूर्तियाँ कमसे कम उतनी प्राचीन प्रतीत होती है जितने प्राचीन ब्रह्ममन्दिर है।

(छ) इनके सिवाय बरंट आदि स्थानोंसे लाई गई मूर्तियाँ अन्य मन्दिरोंमे स्थापित की गई है। उनमें खड्गासन और पद्मासन दोनों प्रकारकी प्रतिमायें है। उदाहरणार्थ ८, ९, ११, १३, १४, १६, १९, २०, २९, ४० और ५० संख्याक जिनमन्दिरोंमें देशी पाषाण निर्मित प्रतिमाये विराजमान है। इसप्रकार ३, ५ और ६ संख्यक मन्दिरोंमें देशी पाषाण निर्मित चरणचि[illegible] पधराये गये है।

(ज) इन सब प्रमाणोंपर दृष्टिपात करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस क्षेत्रका निर्माण ६वीं सदीसे पहले ही हो गया था। यह ठीक है कि यहाँके मन्दिरोंमें बरंटसे देशी पाषाण निर्मित बहुत-सी मूर्तियाँ लाकर प्रतिष्ठित की गयी हैं, परन्तु इससे क्षेत्रकी प्राचीनतामें कोई बाधा नही पड़ती। इनमें बहुत-सी मूर्तियाँ अंग-

भंग भी है। साथ ही बड़े मन्दिरकी परिक्रमाके पृष्ठ खुले भागमे चबूतरे पर दीवालसे लग कर बहुत-सी मूर्तियाँ यहाँ वहाँसे लाकर रखी हुई हैं। इससे भी उक्त तथ्यकी पुष्टि होती है।

श्री डॉ० दरबारीलालजी कोठिया न्यायाचार्य ने 'अनेकान्त' वर्ष ८ माह मार्च ९९४६ किरण ३ में "कौन-सा कुण्डलगिरि सिद्धक्षेत्र है' शीर्षकसे एक लेख लिखा था। उसे पढ़कर पत्र द्वारा मैंने उन्हें ऐसे लेख न लिखनेका आग्रह किया था। उस समय जहाँ तक मुझे याद है, उन्होंने मेरी यह बात स्वीकार भी कर ली थी। किन्तु पुनः कुछ परिवर्तनके साथ उसी लेखको जब मैंने उनके अभिनन्दन ग्रन्थमे देखा तो मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। यही कारण है कि मुझे इस लेख पर सागोपाग विचार करनेके लिए विवश होना पड़ रहा है।

डॉ० सा० का प्रथम लेख सन् १९४६ के मार्च माहके अनेकान्त अंकमे प्रकाशित हुआ था। उसमें वे लिखते है कि सन् १९४६ के पूर्व विद्वत्परिषद्के कटनी अधिवेशनमें क्या दमोह जिलेका कुण्डलगिरि सिद्ध-क्षेत्र है इसका निर्णय करनेके लिये ३ विद्वानोंकी एक उपसमिति बनाई गई थी। उसी आधार पर अपने अनुसन्धान विचार और उसके निष्कर्षको विद्वानोके सामने रखनेके लिये डॉ० साहबने उस समय वह लेख लिखा था।

उनके अभिनन्दन ग्रन्थमे लिखे गये उनके एतद्विषयक इस दूसरे लेखमें भी उन्होंने इस विषयको 'अनु-सन्धेय' भाव यह लेख लिखा है। अत इस विषय पर सागोपांग विचार करना क्रम प्राप्त है।

यह तो त्रिलोक प्रज्ञप्ति ही स्वीकार करती है कि अन्तिम अननुबद्ध केवली श्रीधर स्वामी कुण्डल-गिरिसे मोक्ष गये है। आचार्य पादपूज्य (पूज्यपाद) ने भी स्वलिखित निर्वाण-भक्तिमे कुण्डलगिरिको निर्वाण-क्षेत्र स्वीकार किया है। परन्तु यह कुण्डलगिरि किस केवलीकी निर्वाणभूमि है यह कुछ भी नहीं लिखा है। यही स्थिति 'क्रियाकलाप' में संगृहीत प्राकृत निर्वाण भक्तिकी भी है। इस प्रकार इन तीन उल्लेखोंसे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि कुण्डलगिरि सिद्धक्षेत्र है और त्रिलोक प्रज्ञप्तिके उल्लेखसे भी यह सिद्ध हो जाता है कि कुण्डलगिरिसे अन्तिम अननुबद्ध केवली श्रीधरस्वामी मोक्ष गये हैं।

अब विचार यह करना है कि वह कुण्डलगिरि सिद्धक्षेत्र किस प्रदेशमे अवस्थित है। आचार्य पूज्यपाद-ने अपने स्वलिखित संस्कृत निर्वाण भक्तिके २९ या ९ संख्यक श्लोकमे द्रोणीगिरिके अनन्तर कुण्डलगिरिका उल्लेख करके बादमें मुक्तागिरिका उल्लेख किया है। साथ ही इसमे राजगृहीके पाँच पहाड़ोंमेंसे वैभारगिरि, ऋषिगिरि, विपुलगिरि और बाणहकगिरिका भी उल्लेख किया है और इन सब पहाड़ोंको उस श्लोकमे निर्वाण भूमि स्वीकार किया है। इसी श्लोकमें यद्यपि अन्य सिद्ध क्षेत्रोंका उल्लेख भी दृष्टिगोचर होता है, प्रयोजन न होनेसे उन्हें यहाँ हमने अविवक्षित कर दिया है।

इस उल्लेखसे यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य पूज्यपादकी दृष्टिमें राजगृहीके पाँच पहाड़ोंमेंसे चार पहाड़ ही सिद्धक्षेत्र हैं, पाण्डुगिरि सिद्धक्षेत्र नहीं है। उन्होंने अपने दूसरे लेखमे जो यह लिखा है कि 'पूज्य-पादके उल्लेखसे ज्ञात होता कि उनके समयमें पाण्डुगिरि जो वृत्त (गोल) है कुण्डलगिरि भी कहलाता था' सो इस सम्बन्धमे हमारा इतना कहना पर्याप्त है कि इसकी पुष्टिमें उन्हे कोई प्रमाण देना चाहिये था। सभी आचार्योंने पाण्डुगिरि ही लिखा है। उन्होंने भी वही किया है। इससे यह कहा सिद्ध होता है कि उनके समय पाण्डुगिरि कुण्डलगिरि भी कहलाता था। प्रत्युत् उससे यही सिद्ध होता है कि उनकी दृष्टि स्वतन्त्र ये दो पहाड़ थे।

ये चार पहाड़ सिद्धक्षेत्र हैं। इसका उल्लेख आ० पूज्यपाद रचित संस्कृत निर्वाण भक्तिमे ही है। यह उल्लेख न तो त्रिलोक-प्रज्ञप्तिमे ही दृष्टिगोचर होता है और न प्राकृत निर्वाण भक्तिमे ही।

किन्तु कोठियाजीका विचार है कि जब आ० पूज्यपादने राजगृहके पाँच पहाडोंमेसे चारको सिद्धक्षेत्र माना है तो पाण्डुगिरि भी सिद्धक्षेत्र होना चाहिये और इसे सिद्धक्षेत्र सिद्ध करनेके लिए उन्होंने जो तर्क प्रणाली अपनायी है वह अवश्य ही विचारणीय हो जाती है। आगे इसी बातको ध्यानमें रखकर विचार किया जाता है—

वे अपने प्रथम लेखमे लिखते है कि 'जिस कुण्डलगिरिका नामोल्लेख पूज्यपाद स्वामी कर रहे है वह कौन-सा है और कहाँ है ? क्या उसके दूसरे भी नाम है ?' इतना लिखनेके बाद उन्होंने त्रिलोकप्रज्ञप्ति हरिवंश पुराण और धवला-जयधवलाके प्रमाण देकर पाँच पहाड़ोंका विशेष वर्णन प्रस्तुत किया है। त्रिलोक प्रज्ञप्तिके अनुसार ऋषिगिरि, वैभारगिरि, विपुलगिरि, छिन्नगिरि और पाण्डुगिरि ये पाँच पहाड़ोंके नाम हैं। धवला व जयधवलाके अनुसार पाँच पहाड़ोंके ये ही नाम हैं जो त्रिलोक प्रज्ञप्तिमे दिये गये हैं। मात्र हरिवंशपुराणके अनुसार छिन्नगिरिके स्थानमे बलाहकगिरि कहा गया है। शेष चार पहाडोंके नाम वही हैं जो त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें स्वीकार किये गये है। यहाँ इतना विशेष जानना कि त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें पाण्डुगिरिका कोई आकार नही दिया गया है, किन्तु शेष उल्लेखोंमे उसे गोल लिखा है।

एक बात यहाँ ध्यान देने योग्य है कि इन सभी ग्रन्थोंमे जो ये पाँच पहाड़ोंके नाम आये है वे उनका परिचय करानेके अभिप्रायसे ही आये है। वे सिद्ध क्षेत्र है, इस अभिप्रायसे उनका उल्लेख उन ग्रन्थोंमे नहीं किया गया है। इसलिए उन ग्रन्थोंका आधार देकर पाण्डुगिरिको सिद्धक्षेत्र ठहराना उपयुक्त प्रतीत नही होता।

और त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें जहाँ कुण्डलगिरिको श्रीधरस्वामीका निर्वाण क्षेत्र कहा गया है वह प्रकरण ही दूसरा है। वहाँ यह बतलाया गया है कि भगवान् महावीर स्वामीके मोक्ष जानेके बाद कितने केवली मोक्ष गये है। यहाँ इस भारतभूमिमे कितने सिद्धक्षेत्र है और वे कहाँ-कहाँ है यह नहीं बतलाया गया है। मात्र प्रसङ्गवश कुण्डलगिरि नामका उल्लेख आया है। इसलिए इसपरसे कुण्डलगिरिको पाण्डुगिरि सिद्ध करके उसे सिद्धक्षेत्र ठहराना उचित प्रतीत नही होता। यह वस्तुस्थिति है।

इसे दृष्टिओझल करके कोठियाजी प्रथम लेखमे लिखते हैं कि—'यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि बलाहकको छिन्न भी कहा जाता है। अतः एक पर्वतके ये दो नाम है और उल्लेख ग्रन्थकारोने छिन्न अथवा बलाहक दोनों नामोंसे किया है। जिन्होंने बलाहक नाम दिया है। उन्होने छिन्न नाम नहीं दिया और जिन्होंने छिन्न नाम दिया है उन्होंने बलाहक नाम नही दिया और अवस्थान सभीने एक-सा बतलाया तथा पंच पहाड़ोंके साथ उसकी गिनती की है। अतः बलाहक और छिन्न दोनों पर्यायवाची नाम हैं इसी तरह ऋष्यद्रिक और ऋषिगिरि ये भी पर्याय नाम है।' आगे वे पुनः लिखते है—

अब इधर ध्यान दें कि जिन वीरसेन और जिनसेन स्वामीने पाण्डुकगिरिका नामोल्लेख किया है उन्होंने फिर कुण्डलगिरिका उल्लेख नहीं किया इसी प्रकार पूज्यपादने जहाँ सभी निर्वाणक्षेत्रोंको गिनाते हुए कुण्डलगिरिका नाम दिया है फिर उन्होंने पाण्डुकगिरिका उल्लेख नही किया। हाँ, यतिवृषभने अवश्य पाण्डुक-गिरि और कुण्डलगिरि दोनों नामोंका उल्लेख किया है। लेकिन दो विभिन्न स्थानोंमे किया है। पाण्डुगिरिका तो पाँच पहाड़ोंके साथ प्रथम अधिकारमे और कुण्डलगिरिका चौथे अधिकारमे किया है। अतएव पाण्डुगिरि भिन्न कुण्डलगिरि अभीष्ट हो ऐसा नही कहा जा सकता। किन्तु ऐसा जान पडता है कि यतिवृषभने पूज्यपादकी निर्वाणभक्ति देखी होगी और उसमें पूज्यपादके द्वारा पाण्डुगिरिके लिए नामातर रूपमें प्रयुक्त कुण्डलगिरिको पाकर इन्होंने कुण्डलगिरिका भी नामोल्लेख किया है। प्रतीत होता है कि पूज्यपादके समयमे पाण्डुगिरिको कुण्डलगिरि भी कहा जाता जाता था। अतएव उन्होंने पाण्डुगिरिके स्थानमें कुण्डलगिरि नाम दिया है।'

इस उल्लेखसे ऐसा लगता है कि पंच पहाड़ोंमें सभी पहाड़ सिद्धक्षेत्र हैं ऐसा मानकर ही कोठियाजी कुण्डलगिरिको पाण्डुगिरि समझकर उसे (पाण्डुगिरिको) सिद्धक्षेत्र सिद्ध कर रहे हैं। अपने इस कथनकी पुष्टिमें जैसे छिन्नगिरिका दूसरा नाम बलाहकगिरि है वैसे ही पाण्डुगिरिका दूसरा नाम कुण्डलगिरि भी है यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। साथ ही कुण्डलगिरि कुण्डलाकार हैं और पाण्डुगिरि गोल है यह बता करके भी दोनोंको एक लिखा है। किन्तु उनके ये तर्क तभी संगत माने जा सकते है जब अन्य किसी ग्रन्थमें वे पाण्डु-पाण्डुगिरिका पर्यायनाम कुण्डलगिरि बता सके। रही कुण्डलाकार और गोल आकारकी बात सो पाण्डुगिरि गोल होकर ठोस है और कुण्डलगिरि ऐसा ठोस नही हैं। बलाहक (छिन्न) पहाड़को अवश्य ही धनुषाकार बतलाया गया है। यदि पाण्डुगिरि भी धनुषाकार होता तो उसे गोल नहीं लिखा जाता। इसलिए जहाँ पाण्डुगिरिको कुण्डलगिरि ठहराना तर्कसंगत नही प्रतीत होता वहाँ पाण्डुगिरिको धनुषाकार ठहराना भी तर्कसंगत प्रतीत नही होता। इसलिए प्रकृतमे यही समझना चाहिये कि कुण्डलगिरि ही सिद्धक्षेत्र है पाण्डुगिरि नहीं। भले ही उसकी गणना राजगृहोंके पंच पहाड़ोंमें की गई हो।

यहाँ इतना विशेष कहना है कि आ० वीरसेन और जिनसेनने प्रसंगवश पाँच पहाड़ोंके नाम गिनाये, सिद्धक्षेत्रोंके नही। इसलिये उन्होंने उन नामोंमें कुण्डलगिरि न होनेसे उसका उल्लेख नही। तथा आ० यतिवृषभ वीरसेनसे बहुत पहले हुए हैं।

आगे परिशिष्ट लिखकर कोठियाजी लिखते हैं कि 'जब हम दमोहके पार्श्ववर्ती कुण्डलगिरि या कुण्डलपुरकी ऐतिहासिकतापर विचार करते है तो उसके कोई पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं होते। केवल विक्रम की १७वी शताब्दीका उत्कीर्ण हुआ एक शिलालेख प्राप्त होता है जिसे महाराज छत्रशालने वहाँ चैत्यालयका जीर्णोद्धार कराते समय खुदवाया था। कहा जाता है कि कुण्डलपुरमें भट्टारककी गद्दी थी। उस गद्दीपर छत्र-शालके समकालमे एक प्रभावशाली मन्त्रविद्याके ज्ञाता भट्टारक कब प्रतिष्ठित थे तब उनके प्रभाव एवं आशीर्वादसे छत्रशालने एक बड़ी भारी यवन सेनापर काबू करके उसपर विजय पाई थी। इससे प्रभावित होकर छत्रशालने कुण्डलपुरका जीर्णोद्धार कराया था, आदि।'

उनके इस मतको पढ़कर ऐसा लगता है कि वे एक तो कभी कुण्डलपुर गये ही नहीं और गये भी हैं तो उन्होंने वहाँका बारीकीसे अध्ययन नही किया है। वे यह तो स्वीकार करते है कि छत्रशालके कालमें वहाँ एक चैत्यालय था और वह जीर्ण हो गया था। फिर भी वे कुण्डलगिरिकी ऐतिहासिकताको स्वीकार नहीं करते। जबकि पुरातत्व विभाग कुण्डलगिरिकी ऐतिहासिकताको ८वीं शताब्दी तकका स्वीकार करता गया है। उसके प्रमाण रूपमें कतिपय चिह्न आज भी वहाँ पाये जाते है। और सबसे बड़ा प्रमाण तो भगवान् ऋषभदेव (बडे बाबा) की मूर्ति ही है। उसे १८वी सदीसे १०० वर्ष पुरानी बताना किसी स्थानके इतिहासके साथ न्याय करना नहीं कहा जायगा।

जिन लोगोंका क्षेत्रसे कोई सम्बन्ध नहीं, जो जैनधर्मके उपासक भी नहीं, वे पुरातत्वका भले प्रकार अनुसन्धान करके क्षेत्रको छठी शताब्दीका लिखें और उसके प्रमाणस्वरूप दमोह स्टेशनपर एक शिलापट्ट द्वारा उसकी प्रसिद्धि भी करें और हम है कि उसका सम्यक् प्रकारसे अवलोकन तो करें नही। वहाँ पाये जानेवाले प्राचीन अवशेषोंको बुद्धिगम्य करें नहीं फिर भी उसकी प्राचीनताको लेखों द्वारा संदेहका विषय बनावें यह प्रवृत्ति अच्छी नही कही जा सकती।

कोठियाजीने अपने दोनों लेखोंमें प्रसंगतः दो विषयोंका उल्लेख किया है। एक तो निर्वाणकाण्डके विषयमें चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'प्रभाचन्द्र (११वीं शती) और श्रुतसागर (१५वीं-१६वीं शती)के

मध्यमें बने प्राकृत निर्वाणकाण्डके आधारसे बने भैया भगवतीदास (सं० १७४१) के भाषा निर्वाणकाण्डमें जिन सिद्ध व अतिशय क्षेत्रोंकी परिगणना की गई है उसमें भी कुण्डलपुरकी सिद्ध क्षेत्र या अतिशय क्षेत्रके रूपमें परिगणित नहीं किया गया। इससे यही प्रतीत होता है कि यह सिद्धक्षेत्र तो नही है अतिशय क्षेत्र भी १५ वीं-१६वीं शताब्दीके बाद प्रसिद्ध होना चाहिये।'

यह कोठियाजीका वक्तव्य है। इससे मालूम पडता है कि उन्होंने निर्वाणकाण्डके दोनों पाठोंका सम्यक् अवलोकन नही किया है। निर्वाणकाण्डका एक पाठ ज्ञानपीठ पूजाजलिमे छपा है। उसमे कुल २१ गाथाएँ हैं। दूसरा पाठ क्रियाकलापमे छपा है। उसमे पूर्वोक्त २१ गाथाएँ तो है ही उनके सिवाय ८ गाथाएँ और हैं। इसलिये कोठियाजीका यह लिखना कि निर्वाणकाण्डमे कुंडलगिरिका किसी भी रूपमे उल्लेख नही है, ठीक प्रतीत नहीं होता। निर्वाणकाण्डका जो दूसरा पाठ मिलता है उसकी २१ + ५ = २६वी गाथामे 'णिवणकुंडली वंदे' इस गाथाके चौथे पाद (चरण) द्वारा निर्वाण क्षेत्र कुण्डलगिरिकी ही वन्दना की गई है। यहाँ 'णिवण' पद निर्वाण अर्थको सूचित करता है और 'कुण्डली' पद कुण्डलगिरि अर्थको सूचित करता है। 'विवण' पदमे 'आइम-अंतवण्णसरलोवो' इस नियमके अनुसार 'व्' व्यजन और 'आ' का लोप होकर 'णिवण' पद बना है जो प्राकृतके नियमानुसार ठीक है। रही भैया भगवतीदासके भाषा निर्वाणकाण्डकी बात सो उन्हे २१ माथावाला निर्वाणकाण्ड मिला। इसलिये यदि उन्होने भाषा निर्वाणकाण्डमे किसी भी रूपमे कुण्डलगिरिका उल्लेख नही किया तो इससे यह कहाँ सिद्ध होता है कि वह निर्वाणक्षेत्र नही है। आप प्राकृत या भाषा निर्वाणकाण्ड पढिये, उनमे यदि राजगृहीके पाँच पहाडोंमेंसे वैभार आदि चार पहाडोको सिद्धक्षेत्र रूपमें स्वीकार नही किया गया है तो क्या यह माना जा सकता है कि उक्त चार पहाड सिद्धक्षेत्र नही ही है। वस्तुत. सिद्धक्षेत्रो या अतिशय क्षेत्रोंके निर्णय करनेका यह मार्ग नही है। किन्तु इस सम्बन्धमे यह मान कर चला जाता है कि जिन आचार्यको जितने सिद्धक्षेत्रो या अतिशय क्षेत्रोके नाम ज्ञात हुए उन्होने उतने सिद्धक्षेत्रो और अतिशय क्षेत्रो-का संकलन कर दिया।

दूसरे सोनागिरिके विषयमे चर्चा करते हुए उन्होंने अपने प्रथम लेखके अन्तमें लिखा है कि 'अत: मेरे विचार और खोजसे कुण्डलगिरिको सिद्धक्षेत्र घोषित करने या करानेकी चेष्टा की जायगी तो एक अनिवार्य भ्रान्त परम्परा इसी प्रकारकी चल उठेगी जैसी कि वर्तमान केरीसिदीगिर और सोनागिरकी चल पड़ी है।'

उसीमे हेर-फेर करके जो उनका दूसरा लेख उनके अभिनन्दन ग्रन्थमें छपा है उसके अन्तमे वे लिखते हैं कि 'अत. मेरे विचार और खोजसे दमोहके कुण्डलपुर या कुण्डलगिरिको सिद्धक्षेत्र घोषित करना जल्दबाजी होगी और एक भ्रान्त परम्परा चल उठेगी।'

इसप्रकार कोठियाजीके ये दो उल्लेख है। पहले उल्लेखमे तो उन्होंने वर्तमान केरीसिदीगिरि और सोनागिरको भी ले लिया है और दूसरे उल्लेखमे इन दोनोको छोड दिया है।

इन दो उल्लेखोसे ऐसा लगता है कि पहले तो व केरीसिदीगिर, सोनागिर और कुण्डलगिरि इन तीनोंको सिद्धक्षेत्र नहो मानते रहे। और बादमे उन्होंने केरीसिदीगिर और सोनागिरको तो सिद्धक्षेत्र मान लिया है। मात्र कुण्डलगिरिको सिद्धक्षेत्र माननेमें उन्हे विवाद है। पर किस कारणसे उन्होंने केरीसिदीगिर और सोना-गिरको सिद्धक्षेत्र मान लिया है इस सम्बन्धमे वे मौन है। मात्र कुण्डलगिरिको सिद्धक्षेत्र न माननेमें उन्होंने जो तर्क दिये है वे कितने प्रमाणहीन है यह हम इसी लेखमे पहले ही स्पष्ट कर आये है। अतः हमारे लेखमें दिये गये तथ्योंके आधारपर यही मानना शेष रह जाता है कि सब ओरसे विचार करनेपर कुण्डलगिरि भी सिद्धक्षेत्र सिद्ध होता है।

अब केवल बडे बाबाके गर्भालयके बाहर दीवालपर एक शिलापट्टमें जो प्रशस्ति उत्कीर्ण है उसे अविकल देकर उससे जो तथ्य सामने आते हैं उनपर प्रकाश डाल देना क्रमप्राप्त है। प्रशस्तिका वह रूप इस प्रकार है—

सम्वत् १७५७ वर्षे माघसुदी १५ सोमवासरे।
संवत्सरे पर्वत-बाणयुक्ते सप्तशते चैव सहस्रमेके ॥
श्रीमाघमासे सितपूर्णिमायां श्रीचन्द्रवारे च मघानक्षत्रे ॥१॥
याते यदा विक्रमराज्यकाले तदान्वये श्री जिनमन्दिरे वै।
कृत समाप्तं बहुपुण्यहेतुः श्रीवर्धमानस्य जगद्गुरोः हि ॥२॥
मूलसंघे बलात्कारगणे गच्छे सरस्वत्याः।
यो बभूव मुनिः श्रीमान् कुन्दकुन्दौ मुनिश्वरः ॥३॥
तस्यान्वये च संजातो ज्ञानवान गुणसागरः।
मनस्वी संघसंपूज्यो यशःकीर्तिमहामुनिः ॥४॥
पट्टे तदीये ललितादिकीर्तिः ज्ञानी सुधीः श्रीजिनतत्ववेदी।
संसारभीतो जिनमार्गदेशी सुराधिपैर्पूजितपादपद्मः ॥५॥
तत्पट्टधारी जिनधर्मनिष्ठः श्रीधर्मकीर्तिः शुभज्ञानमूर्तिः।
श्रीरामदेवस्य पुराणकर्त्ता ज्ञानी विवेकी च हितोपदेशी ॥६॥
तत्पट्टपकेरूहे भानुमूर्तिः पद्मालयः श्रीमुनिपद्मकीर्त्तिः।
दमी व्रती सत्त्वहितोपदेशी संसारपाथो निधितारसेतुः ॥७॥
तत्पुण्यभोक्ता गुणवान सुधीरः श्रीशब्दशब्दार्णवपारप्राप्तः।
सुधीः तपस्वी सुसुरेन्द्रकीर्तिः दयावगाही च क्षमी मनस्वी ॥८॥
तच्छिष्ययातो सुचन्द्रकीर्तिः दमी क्षमी श्री·········गणोयः।
सुरेन्द्रकीर्त्ति स्वगुरोपदेशात् आदाय भिक्षाटनद्रव्यभारम् ॥९॥
कारापितं तेन जिनेश्वरस्य श्रीसन्मतेः मगलकारणस्य।
जीर्णं समालोक्य महामनोज्ञम् श्रीनूतनं पुण्यविवर्धनाय ॥१०॥

धर्मसागरो यदा टीलाग्रामे स्वायुःक्षयं कृत्वा किंचित् वेदिकादिकं न्यूनं चैत्यालयं विहाय स्वर्गं गतः तदा त्वागत्य नभिसागरेण ब्रह्मचारिणां विदुषा स्वधर्मस्य गुरुवेऽधुना वेदादिकं सर्वं पूर्णं कारापयित्वा इदम् संवत्सरम् लिखित्वा स्थापितम् ॥

श्रीमहाराजाधिराजः काशीश्वरगहिरवारान्वयस्य प्रचण्डशासनस्य अखिलावनीभृत्शतखंडकरणस्य सकलप्रबलावनीपालसमूहमस्तकातिमालाचुंबितचरणारविंदस्य जिनधर्ममहिमानिरतचेतसः प्रबलतरकठोरभुजदण्ड-विशिष्टनिजविग्रहस्य षट्दर्शनविशिष्टाम्यासागमसंभाषणकरणसद्धर्मसंभाषणसमर्थस्य याजिनः शूरवीरस्य देवशास्त्रगुरुः (पूजन) तत्परस्य श्रीसमशासनस्य सकलसंयतसंयुक्तप्रजा (जनस्य) चैत्यालयस्य निर्मापितं। शुभम् भवतु मंगलम्।

जिसे भट्टारक सम्प्रदाय ग्रन्थमें जेहरटशाला कहा गया है वह वास्तवमें जेहरटशाखा न होकर चंदेरी शाखा है। यह शाखा भट्टारक देवेन्द्रकीर्तिसे प्रारम्भ होती है। इसके छठे पट्टधर भट्टारक ललितकीर्ति थे। उसी पट्टपर बैठनेवाले ७वें भट्टारक धर्मकीर्ति और ८वें भट्टारक पद्मकीर्ति हुए हैं। धर्मकीर्तिने ही श्रीरामदेव

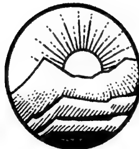
पुराणकी रचना की है। यह पट्ट मूलसंघ कुंदकुंदाम्नायके अन्तर्गत सरस्वतीगच्छ बलात्कारगणके आम्नायको माननेवाला था। वादखेड़ीके एक शिलालेखमे इसे परवार भट्टारक पट्ट भी कहा गया है। श्री भट्टारक पद्मकीर्तिके समकक्ष दूसरे भट्टारकका नाम भी चन्द्रकीर्ति था। सम्भवतः ये (   )के पट्टधर भट्टारक थे। चंदेरी पट्टके १०वें भट्टारक श्री सुरेन्द्रकीर्ति थे। उन्होंने ही अपने गुरु श्री सुरेन्द्रकीर्तिके उपदेशसे भिक्षाटन द्वारा बड़े बाबाके मन्दिरका जीर्णोद्वार करानेका विचार किया था। बादमें उनकी आयु पूर्ण हो जानेपर जो वेदी आदिका कार्य थोड़ा न्यून रह गया था उसे नमिसागर ब्रह्मचारीने पूरा कराया।

जिस समय यह कार्य सम्पन्न हो रहा था बुन्देलखण्डके प्रसिद्ध राजा छत्रसाल वहीं रह रहे थे। कारण कि मुसलमानोके आक्रमणसे त्रस्त होकर वहाँ उन्हें बहुत काल तक रहना पड़ा। इससे प्रभावित होकर उन्होंने कुण्डलगिरिके तलभागमे एक विशाल सरोवरका निर्माण कराया और श्री मंदिरके लिये अनेक उपकरण भेंट किये। उनमे दो मनका पीतलका घण्टा भी था।

बड़े बाबाके मंदिरके बाहर दीवालमें लगे हुये विशालपट्टका यह सामान्य परिचय है। इससे इतना ही ज्ञात होता है कि वहाँ कुंडलगिरिके ऊपर एक प्राचीन जिनमंदिर था, उसमे जो बड़े बाबाकी मूर्ति विराजमान थी उसे ब्रह्मचारी नमीसागरने भगवान् महावीरकी मूर्ति समझकर इस शिलालेखमे बड़े बाबाको भगवान् महावीरकी मूर्ति कहा है। यह जिनमंदिर और दोनो ब्रह्ममदिर इस लेखसे मालूम पड़ता है कि उसी कालमे प्रसिद्धिमे आये है और उसके फलस्वरूप वहाँ जनताका आना-जाना प्रारम्भ हुआ है।

इस लेखका सार यह है कि बड़े बाबाका मंदिर और दोनो ब्रह्ममन्दिर ६वी शताब्दी या उसके पूर्वके हैं। फिर भी क्षेत्ररूपमें उनकी प्रसिद्धि यद्यपि १२वी शताब्दीमे हो गयी होगी तो भी घोर जंगल होनेसे वहाँ जनताका आना-जाना रुका हुआ था। बादमे जब बुन्देलखण्डके प्रसिद्ध महाराजा छत्रसालको मुसलिम साम्राज्यपर विजय पानेके लिये कुछ कालतक यहाँ रहना पड़ा तबसे यह क्षेत्र प्रसिद्धिमे आया और वन्दनाकी दृष्टिसे जनताका आना-जाना प्रारम्भ हुआ। क्षेत्रपर जो मन्दिर निर्मित हुए है उनके बादमे बननेका यही कारण है।

●



अहार क्षेत्र : एक अध्ययन

मैं काफी समय पूर्व मवई ग्रामसे बैलगाड़ी द्वारा श्री अतिशयक्षेत्र अहारजीकी वन्दनाके लिए गया था। श्रीयुत पं० श्रीजगन्मोहनलालजी शास्त्री और मेरे बहनोई सा० के लघु भ्राता श्री लाला परमानन्दजी सर्राफ मेरे साथ थे। क्षेत्रकी सुषुमा अवर्णनीय है। इससे थोड़ी दूर पर मदनेशसागर नामसे प्रसिद्ध एक बृहत् सरोवर है। क्षेत्रके चारों ओर वनराजि फैली हुई है। इससे इस क्षेत्रकी शोभा द्विगुणित हो गई है। इस बीच इतना अधिक काल बीत जाने पर भी क्षेत्रका मनोहारी वह भव्य स्वरूप इस समय भी प्रत्यक्ष-सा भासित हो रहा है।

१. अन्वय या जाति परम्परा

इस क्षेत्रपर वर्तमानमे जितने भी मूर्तिलेख उपलब्ध हैं उनमे जातिके अर्थमे तीन नाम आये हैं—१. अन्वय, २, वंश और ३. जाति। इनमेंसे प्रायः अधिकतर लेखोंमे अन्वय शब्द बहुतायतसे पाया जाता है। वि० सं० १५२४ के एक लेखमें वंश शब्द आया है तथा वि० सं० २०वीं शताब्दीके कई लेखोंमें जाति शब्द आया है। लगता है कि प्राचीन कालमें जातीय अहंकारके विषसे धार्मिक क्षेत्रको अछूता रखनेके अभिप्रायसे जातिशब्दका व्यवहार नहीके बराबर होता रहा है।

यहाँके लेखोंमें अन्वय या जातिवाची जिन नामोंका उल्लेख हुआ है वे हैं—१. गृहपति (गहोई), २. मेडवाल—मड़कतवाल, मड़वाल, या मेडलवाल, ३. पौरपाट (परवार), ४. पुरवार, ५. खंडेलवाल, ६. माधुव, ७. लंबकंचुक, ८. गोलापूर्व, ९. गोलाराड, १०, जैसवाल या जायसवाल, ११. गर्गराट्, १२. कुटक, १३. अवधपुरा, १४. वैश्य, १५. माथुर, १६. देउवाल और १७. सोहितवाल।

इनमे कई नाम तो ऐसे हैं जिनके अस्तित्वका अब पता ही नही चलता। जैसे माधु, कुटक, वैश्य, माथुर, देउवाल और सोहितवाल। हम देवगढ़के विषयमे तो कुछ भी लिखनेकी स्थितिमे नही है। मुख्यतया ललितपुरका समाज उसकी देख-रेख करता है। वहाँका ऐतिहासिक सर्वेक्षण कराकर वहाँ शिलापट्टोंपर और मूर्तियोंपर पाई जानेवाली लेख आदि सामग्रीको संकलित कराकर वह प्रकाशित कर दे इस दिशामें थोड़ा भी सक्रिय नही जान पड़ता। एक जर्मनी विद्वान्ने वहाँका गहरा अध्ययनकर जर्मनी भाषामें एक अनुसंधान ग्रन्थ अवश्य लिखा है। हमने प्रयत्न भी किया था कि वह हमें मिल जाय तो उसका अनुवाद कराकर प्रकाशित करा दें, पर उसमें हम सफल नहीं हो सके।

गृहपति—पहले जिन अन्वयोंका हम नाम निर्देश कर आये है उनमें एक जाति गृहपति है। इस जातिके गृहस्थों द्वारा प्रतिष्ठित कराये गये कई जिनबिम्ब यहाँ विराजमान है। उनकी लेखाक संख्या २, ९, ३७, ४६, ५१, ५३, ५५, ६३, ६४ और ६६ है। यहाँ भ० शान्तिनाथकी खड्गासन जो विशालकाय प्रतिमा विराजमान है उसकी प्रतिष्ठा भी इसी अन्वयके परिवार द्वारा कराई गई है। यहाँसे नातिदूर बानपुर नगरके बाह्य परसिरमे जो भव्य रचना निर्मित हुई है उसे मूर्तरूप देनेवाला भी यही परिवार है। इस अन्वयमे जो गोत्र प्रचलित है उनमेंसे अधिकांश वही हैं जो पौरपाट (परवार) अन्वयमे पाये जाते है। गृहपति यह शब्द अर्थ गर्भ प्रतीत होता है। पाणिनिने अपने व्याकरण शास्त्रमें इस शब्दका प्रयोग गृहस्थके अर्थमे किया है। किन्तु उत्तर कालमें इसका प्रयोग जातिके अर्थमें होने लगा है।

(२) दूसरी जैसवाल जाति है। १२८ लेखोंमेंसे इस अन्वयके क्रमांक १२, १५, २०, (२) २१, २४, २६, २९, ४३, ४४, ५२ (२) ६२ और ११२ कुल १५ मूर्तिलेख हैं। क्रमांक १५ संख्याक मूर्तिलेखमें इस अन्वयका दूसरा नाम जायसवाल भी अंकित है। वर्तमानमें इस अन्वयका एक भी घर बुंदेलखण्डमें नहीं पाया जाता। हो सकता है कि ११वीं, १२वीं शताब्दिमें इस अन्वयका मुख्य निवास आगरा सम्भागके समान बुन्देलखण्ड भी रहा होगा।

(३) तीसरी जाति गोलापूर्व है। इस अन्वयके अहारजीमें क्रमांक ११, २२, २५, ३२, ३४, ३८, ४०, ४१, ५८, ६०, ६४, ८०, ९०, १०१, १०८, १११, आदि २५ मूर्तिलेख हैं। इन मूर्तिलेखोंमें ३२ संख्यांक लेख वि० सं० १२०२ का और ११ संख्याक लेख वि० स० १२०३ का है। बहोरीबन्द गांवमें भ० शान्तिनाथके पादपीठपर जो लेख अंकित है वह भी लगभग इसी समयका है। इससे इतना तो स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि लगभग १२वीं-१३वी शताब्दिसे यह सम्भाग इस अन्वयका मुख्य निवास स्थान बना चला आ रहा है। दक्षिणका एक प्रदेश पुराने कालमें गोल्लदेशके नामसे प्रसिद्ध रहा है। यदि इस अन्वयका निकास राजनैतिक या धार्मिक-क्रान्तिवश उसी प्रदेशमें हुआ निश्चित हो जाता है तो १०वीं, ११वीं शताब्दिके आस-पास इस अन्वयके परिवार वहाँसे आकर महोबा सम्भागमें आकर बसे होंगे यह माना जा सकता है। अभी यह अनुसन्धानका विषय है। ऐतिहासिकोंको इस ओर ध्यान देना चाहिये।

(४) चौथी जाति खण्डेलवाल है। इस क्षेत्रपर इस अन्वयके ६, १६, ४८, ६५, ७० और ९७ संख्याक छह प्रतिमा लेख पाये जाते हैं। १६ संख्याक एक प्रतिमालेखमें तो इसे खण्डेलान्वय नामसे भी अभिहित किया गया है। इससे इस अन्वयका विकास खण्डेला नगर और उसके आस-पासके प्रदेशसे हुआ है यह निश्चित करनेमें सहायता मिलती है। जिस समयके ये लेख हैं, उस समय व्यापारादिके निमित्तसे इस अन्वयके परिवार इस सम्भागमें आकर बस गये होंगे ऐसा प्रतीत होता है।

(५) पाँचवी जाति पौरपाट (परवार) है। इस क्षेत्रपर ले० ५, ४२ ५० और १०२ लेख ऐसे हैं जिनमें इस अन्वयका पुराना नाम पौरपाट ही अंकित है। इनके सिवाय ११५ संख्याक एक प्रतिमालेख ऐसा अवश्य है जिसमें इस अन्वयका वर्तमानमें प्रचलित नाम परवार लिखा गया है। इन प्रतिमा लेखोंमें १०० और १०२ संख्याक दो लेख ऐसे अवश्य है जिनमें क्रमशः पुरवार और पौरवाल नाम उल्लिखित हैं। इन दोनों शब्दोंका अर्थ परवार अन्वयके अर्थमें भी हो सकता है। वैसे पुरवार और पौरवाल नामसे प्रख्यात दो अलग जातियाँ बन गई है। कहींके किन्हीं परिवारोंने यहाँ आकर जिनबिम्ब प्रतिष्ठा कराकर यहीं विराजमान कर दी हों यह भी सम्भव है। वैसे परवार, पोरवाल पद्मावतीपुरवाल, पुरवार और जांगडा पोरवाल मूलमें एक अन्वयके ही नाम हैं। इस अन्वयका मूल निवास स्थान गुजरात और मेवाडका कुछ भाग प्राग्वाट देश था, इस कारण इसका पुराना नाम प्राग्वाट भी रहा है। यह बाहरसे आकर मुख्यतया चदेरी सम्भागमें आकर बसी है। इसी कारण इस अन्वयके बहुत ही कम लेख अहारक्षेत्रमें पाये जाते है, क्योंकि टीकमगढ और उसके आसपासके प्रदेशमें इस अन्वयका फैलाव बादमें हुआ है।

(६) एक जातिका नाम मेडवाल है। इसके लिए लेखक ४ मे मेडवालान्वय, लेखाक २७ से मइडत-वालान्वय, लेख ३३ में मेडतवंश और ले० ४९ में मडवालान्वय अंकित हैं। सम्भवतः ये चारो नाम एक ही अन्वयके लिए आये जान पड़ते हैं। खंडवाके जिनमन्दिरकी छतपर वि० सं० १२४२ का एक खण्डित जिन-बिम्ब रखा हुआ है। उसकी आसनपर 'मइडतवालगुर्जरान्वे' अंकित है। इससे इस अन्वयका मूल नाम मेडत या मइडत नामके साथ इसका सम्बन्ध गुजरातसे भी जान पड़ता है।

मारवाडमें एक नगरका नाम मेडता है। इसलिए जान पड़ता है कि इस नगरके नामपर ही इस अन्वयका नाम मेडतवाल पड़ा होगा और इस अन्वयके जो परिवार गुजरातमें बसते होंगे उनकी गुजरात अन्वयके अन्तर्गत परिगणना होने लगी होगी। परवार अन्वयके जो गोत्र प्रचलित हैं। उनमें एक गोत्रका नाम माडिल्ल गोत्र है। वर्तमानमें कोई मेडतवाल नामकी जाति तो दृष्टिगोचर होती नहीं। यदि ये माडिल्लगोत्री परवार ही मेडतवाल हों तो कोई आश्चर्य नहीं है। यह अनुमानमात्र है। माडिल्लगोत्रका सम्बन्ध माडूसे भी हो सकता है।

(७) इस पुस्तिकामें ले० १७ गर्गरटान्वय और ले० ७१में गर्गराटान्वय ये दो नाम आये हैं। 'गर्ग' यह अग्रोतक (अग्रवाल) अन्वयका एक गोत्र है। 'गर्ग' इस नामका पाणिनि व्याकरणमें भी उल्लेख हुआ है। 'गर्ग' नामके साथ 'राट्' शब्द जुड़नेका यह कारण प्रतीत होता है कि जिस प्रदेशमें मुख्यतया इस गोत्रके परिवार निवास करते होंगे उसे ही इन लेखोंमें गर्गराट् कहा गया है।

(८) इस पुस्तिकामें ले० २३, ७६ और ७८ ऐसे ३ प्रतिमालेख उपलब्ध होते हैं जिनमें अवध-पुरान्वय यह नाम अंकित है। अवधपुरान्वयके नामसे एक जाति अवश्य रही है। सम्भवतः वर्तमानमें जो श्री जिनतारणतरणके अनुयायी अयोध्यावासी अन्वयके परिवार बुन्देलखण्डमें बसते हैं वे पहले कभी अवधपुरा नामसे पुकारे जाते रहे हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

(९) इस पुस्तिकामें गोलाराड् अन्वय (गोलालारे) का ले० १२ संख्याक एक ही प्रतिमालेख उपलब्ध होता है। इस अन्वयका मुख्य निवास स्थान भिण्ड-भदावर सम्भाग है। इस कारण इस अन्वयके अधिक प्रतिमालेख इस क्षेत्रपर नहीं पाये जाना स्वाभाविक है, क्योंकि इस अन्वयके बहुत ही कम परिवार धीरे-धीरे इस प्रदेशमें आकर बसते गये हैं।

इस पुस्तिकामें ले० ७ और ५० में माधुवान्वयका, ले० ३५ में कुटकान्वयका, ले० २९ और ५१ में क्रमशः वैश्यान्वय और वैश्यवालान्वयका ले० ५६ में माथुरान्वयका और लेख १२९ में सोहितवालान्वयका भी उल्लेख दृष्टिगोचर होता है। इन अन्वयोंके ये ऐसे नाम हैं जो इस समय अनुसन्धानके विषय बने हुए हैं। पुराने कालमें जितने अन्वय (जातियाँ) प्रचलित रहे हैं उनमेंसे वर्तमानमें कितने अन्वयोंका अस्तित्व है और कितने नामशेष हो गये इस और व्यक्तिका तो छोड़िये किसी संस्थाका ध्यान भी नहीं गया है। सम्भवतः भविष्यमें इस कमीको अनुभव करके समाजका ध्यान इस ओर चला जाय। यदि ऐसा हो सके तो यह समाजकी बहुत बडी सेवा होगी ऐसा मैं मानता हूँ।

२. भट्टारक परम्परा

(१०) बुन्देलखण्डमें भट्टारक परम्पराका बहुत बादमें उदय हुआ है, अतः जिन प्रतिमा-लेखोंमेंसे जिनमें इस परम्पराका उल्लेख दृष्टिगोचर होता है उनमेंसे ऐसे ४६ ही लेख उपलब्ध होते हैं। उदाहरणार्थ लेखांक ७३में भट्टारक माणिक्यदेव और गुण्यदेवके नाम आये हैं। इन्होंने वि० सं० १२१३ से इस क्षेत्रपर एक जिन-बिम्बकी प्रतिष्ठा कराई थी। ये दोनों किस स्थानके पट्टपर अवस्थित थे यह कहना कठिन है। ले० ९७ और १०९ में भ० जिनचन्दका नाम आया है। ये मूलसंघ कुन्दकुन्द आम्नायकी दिल्ली-जयपुर शाखाके पट्टाधीश थे। बिम्बप्रतिष्ठा आदि कार्यों द्वारा धर्मप्रभावनामें इनका बडा योगदान रहा है। इन्होंने सिद्धान्तसार ग्रन्थकी रचना भी की है। लेखांक १०७ में भ० धवलकीर्तिका नाम आया है।

उक्त प्रतिमालेख वि० सं० १७१३ का है। इस पुस्तिकाके अनुवादकने इस नामके साथ सकलकीर्तिका नाम और जोड़ दिया है। ऐसा उन्होंने किस आधार पर किया है यह कह सकना कठिन है। सकलकीर्ति चंदेरी पट्टके भट्टारक थे। हो सकता है कि प्रतिमा लेखमें असावधानीसे यह नाम छूट गया हो। लेखांक १२५ में

धर्मकीर्ति तथा उनके शिष्य, प्रशिष्य शीलसूत्र और ज्ञानसूत्रके नाम आये है। भ० धर्मकीर्तिके प्रशिष्य ज्ञानसूत्रने वि० सं० १६४२ मे पैराजाबादमें मूलसंघ कुन्दकुन्द आम्नायके अन्तर्गत चौकोर यन्त्रकी प्रतिष्ठा कराई थी। ले० ७५ में भ० जगन्द्रषेणका नाम आया है। ये वि० सं० १६८८ में अवस्थित थे। लेख त्रुटित हो जानेसे विशेष जानकारी नही मिल सकी। ले० १२७ मे भ० धर्मकीर्तिका नाम आया है। जिस बिम्ब पर यह लेख है उसकी प्रतिष्ठा वि० सं० १६८३ मे हुई थी। स्पष्ट है कि ये उस समय चंदेरी परवार भट्टारकपट्टके पट्टाधीश थे। अपभ्रंशमें लिखित एक हरिवंशपुराण इनकी अमर कृति है। ले० १२५ मे भ० सकलकीर्तिका नाम आया है ये भी चंदेरी परवार भट्टारक पट्ट के पट्टाधीश रहे है। इन्होंने ही वि० स० १७२० मे इस बिम्बकी प्रतिष्ठा कराई थी। ले० १२८ मे विशालकीर्ति और उनके शिष्य भ० पद्मकीर्तिका नाम आया है ये दोनों भट्टारक मूलसंघ कुन्दकुन्द आम्नायके अन्तर्गत लालूरशाखाके पट्टाधीश थे।

३. मुनि, आर्यिका, पण्डित परम्परा

(११) इस पुस्तिकाके लेख २६ मे सिद्धान्तश्री सागरसेन आर्यिका जयश्री, रिषि रतनऋषि ये तीन नाम आये हैं। यह लेख वि० सं० १२१६ का है। लेख ३१ मे पण्डितश्री विशालकीर्ति आर्यिका त्रिभुवनश्री शिष्यणी पूर्णश्री और धर्मश्रीके नाम आये है। इनमे विशालकीर्ति किसी भट्टारकके पंडित मालूम देते हैं। ले० ३५ मे पण्डित लक्ष्मणदेव शिष्य आर्यदेव आर्यिका लक्ष्मश्री ऐलिका चारित्रश्रीके नाम आये है। इनमे लक्ष्मणदेव और आर्यदेव कहीके भट्टारक पंडित मालूम देते है। ले० ३६ मे पण्डित श्रीजसकीर्ति तथा शीलदिवाकरनी पद्मश्री और रत्नश्रीके नाम आये है। इनमे भी जसकीर्ति कहीके भट्टारक पंडित जान पडते हैं। ले० ४४ मे सिद्धान्तश्री सागरसेन आर्यिका जयाश्री और दयाश्रीके नाम आये है। इनमे सागरसेन मुनि होने चाहिये। ले० ७७ में पण्डित महवर्म्म और आर्यिका श्रीमती शिवणीके नाम आये है। तथा ले० ८८ मे सिद्धान्ती देवश्रीका नाम आया है। ये मुनि होने चाहिये। ये सब लेख वि० सं० १२१५ के आसपास के है। इससे पता लगता है कि उस कालमें भट्टारकोंके आश्रयसे मुनि और आर्यिका और पंडित रहते रहे हैं और वे जिनबिम्ब प्रतिष्ठा आदि कार्योंमें सहयोग करते रहे है।

४. आम्नाय

(१२) इस पुस्तिकामें सब मिलाकर १२८ लेख सकलित है। कुछ लेख ऐसे भी है जिनपर क्रमाक अंकित नही है। इन सब लेखोंमें सबसे प्राचीन लेख वि० सं० ११०८ का है। इसमे ऐसे बहुत कम लेख है जिनमें आम्नायका उल्लेख किया गया है। फिर भी इस प्रदेशमें चिरकालसे मूलसघ कुन्दकुन्द आम्नाय ही प्रचलन रहनेसे यहाँ अन्य आम्नायका कभी भी प्रचार नही हो सका। अब काल बदला हुआ है। समाजमें अपने मूलसंघ आम्नायका गौरव घटता हुआ प्रतीत होता है। कई ऐसे विद्वान् भी देखे जाते है जो तत्कालीन प्रतिष्ठा और लाभको सामने रखकर मूलसंघ आम्नायको भूलसे गये है। कलिकाल है, आगे क्या होगा, कहा नहीं जा सकता।

यह 'प्राचीन शिलालेख' पुस्तिकाके आधारपर लिपिबद्ध किया गया अहारक्षेत्रका यह संक्षिप्त इतिहास है। इसका पुराना नाम मदनेशसागरपुर (ले० १) मालूम पड़ता है। इस लेखमें वानपुर आनन्दपुर और वसुहाटिका ये तीन नाम और आये है। इस क्षेत्रका नाम अहारजी कैसे प्रचलित हुआ यह कहना कठिन है। इस पुस्तिकामें इस नामका उल्लेख करनेवाला सबसे पहला प्रतिमा लेख वि० सं० १८८१ का है। इसका लेखांक ९१ है। इस लेखमें 'अहारमें ये' मुद्रित हुआ है। मूल पाठ 'अहारमध्ये' होना चाहिये। अस्तु अब इस क्षेत्रके सर्वांगीण विकासकी ओर पूरे समाजका ध्यान आकर्षित हुआ है यह प्रशंसा योग्य है। यह हमारा पुराना सांस्कृतिक वैभव है। इसकी भले प्रकार सम्हाल करनी चाहिये।

श्री जिन-तारण-तरण और उनकी कृतियाँ

श्री जिन तारण-तरण बुन्देलखण्ड और मध्यप्रदेशकी विभूति थे। जब चन्देरी नगरमें भट्टारक परम्परा-का उदय हुआ, इनके उदय और धर्म प्रचारका वही समय है। वे प्रतिभाशाली, भगवान् कुन्दकुन्द द्वारा प्ररूपित वीतराग मार्गका अनुसरण करनेवाले थे। अपनी दिव्य वाणी द्वारा व्यवहार-निश्चयस्वरूप वीतराग मोक्षमार्गका वे अपने जीवनके अन्तिम क्षण तक प्रचार करते रहे। इसी तथ्यको सूचित करते हुए वे पण्डित पूजाके अन्तमें कहते हैं—

एतत सम्यक्त्वपूज्यस्य, पूजा पूज्य समाचरेत।
मुक्तिश्रियं पथं शुद्धं व्यवहार-निश्चय शाश्वतं ॥३२॥

इस गाथामें वे मुक्तिश्रीकी प्राप्तिके व्यवहार-निश्चयस्वरूप शाश्वत शुद्ध मोक्षमार्ग पर चलनेका उपदेश देते हुए कहते है कि सब प्रकारके मल-दोषोंसे रहित पूज्य सम्यग्दृष्टिके योग्य पूजा करनी चाहिए।

जो वर्तमानमें मुद्रित उक्त गाथा मिलती है उसे हमने थोड़ा परिवर्तन करके लिखा है, क्योंकि तीनों ठिकानेसार ग्रन्थोंके अवलोकनसे यह आभास मिलता है कि उत्तर कालमें भाषा और मूल विषयसे अपरिचित लेखकोंकी कृपासे मूल ग्रन्थोंमें भाषाकी दृष्टिसे भारी परिवर्तन हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि वे ग्रन्थ अभी तक सुरक्षित बने रहे। भारी छानबीनके बाद भी इनकी रचनाओंकी प्राचीन प्रतियाँ हम उपलब्ध नही कर सके। अस्तु,

इसमें सन्देह नही कि स्व० ब्रह्मचारी श्री शीतलप्रसादजीने प्रत्येक ग्रन्थका ही नही, प्रत्येक गाथाका शब्दानुवाद करके जैन समाजका असाधारण उपकार किया है। शिक्षा, धर्म, साहित्य, वर्तमानपत्र और समाज ऐसा कोई अंग नही जिसे उन्होंने अपने लेखन और प्रचारका अंग न बनाया हो। वे कर्मठ कार्यकर्ता थे। सोते-जागते उनके जीवनका प्रत्येक क्षण प्रत्येक अंगकी पूर्तिके लिये निश्चित था। श्री जिन तरण-तारणस्वामीको प्रकाशमें लानेका अधिकतर श्रेय भी उन्हीको है। वर्तमान कालीन साधारण मत-भेदको गौण करके देखा जाय तो उनका ही सर्वप्रथम ध्यान श्री तरण-तारणस्वामीजी रचित इस अमूल्य सम्पत्तिकी ओर गया और उनके माने गये १४ ग्रन्थोमेसे ९ ग्रन्थोंका शब्दानुवाद करके उन्हे प्रकाशमे लाये। वे वर्तमानकालमे हमारे बीचमे नही हैं। पर उनकी पुनीत स्मृति चिरकाल तक बनी रहेगी इसमे सन्देह नही है।

२. तीन ठिकानेसार ग्रन्थ

स्वामीजीकी रचनाओंसे उनके जीवन पर कुछ प्रकाश पडे इसके लिये तो उनकी कृतियोंका सूक्ष्म अध्ययन आवश्यक है। छद्मस्थवाणीमें जो कुछ गूढ भाषामे कहा गया है उसका ऊहापोह हम श्री ज्ञान समुच्चय-सारकी प्रस्तावनामें कर आये हैं। किन्तु उनकी रचनाओंका इस दृष्टिसे अभी भी सम्यग् अध्ययन आवश्यक है।

जो तीन ठिकानेसार ग्रन्थ उपलब्ध होते है उनमें जो-जो सूचनाएँ की गई है उनपर विस्तृत प्रकाश तो योग्य समय आनेपर ही कर सकेंगे। तत्काल तीन बत्तीसीयोंके सम्बन्धमे जो सूचनाएँ की गई है उनकी सागो-पांग चर्चा यहाँ हम कर देना चाहते हैं।

१. हमे इस ग्रन्थकी एक प्रतिकी उपलब्धि श्रीयत् ब्र० गुलाबचन्दजीके पाससे मल्हारगढ निमईजीसे हुई। यह गुटका ग्रन्थ है। इसकी लम्बाई लगभग १९ अंगुल और चौड़ाई १० अंगुल है। पत्र संख्या १३८ है।

ठिकानेसार ७९ पत्रसे भी आगे है। ८०वें पत्रसे १०८ तक सूची तथा विशेष विवरण है। १०९ पत्रसे १३८ पत्र तक ठिकानेसार सम्बन्धी तथा दूसरे विषयोंका संकलन है। इसकी लिपि द्वि० भादों सुदी १४ शनिवार सन् १८९०को कुन्डावासी टीकारामने की है।

२. दूसरा ठिकानेसार गंजबासौदामे प्राप्त हुआ। इसकी लम्बाई १९ अंगुल तथा चौडाई ९ अंगुल है। कुल पत्र संख्या ४२ है। इसकी लिपि जेठ सुदी ८ सम्वत् १९६९ मे की गई है।

३ तीसरा ठिकाने सारकी प्राप्ति खुरई (सागर) चैत्यालयसे हुई। इसकी लम्बाई लगभग १३ अंगुल, चौड़ाई ९ अंगुल और पत्र संख्या ९८ है। पत्र संख्या ८ मे विवरण व सूची है। शेष पत्रोंमें विशेष विषयोंका संकलन है। इनपर पत्र संख्या अंकित नही है। इसके लिपिबद्ध होनेकी वही तिथि सम्वत् है जो मल्हारगढ़ निसईके गुटिकाकी है। लेखकका नाम भी वही है।

इन तीनों ठिकानेसार ग्रन्थोंमें विषयका संकलन एक क्रमसे नही है। किन्तु खुरई चैत्यालय और मल्हारगढ़ निसईजीसे प्राप्त दोनों ठिकानेसार ग्रन्थोंकी लिपिकी तिथि और लिपिकार ये एक ही हैं। इससे इस बातका तो पता चलता है कि सम्भव है खुरई चैत्यालयकी प्रतिको देखकर मल्हारगढ निसईजीके गुटिकाकी प्रतिलिपि की गई है क्योंकि खुरई चैत्यालयका गुटिका कुछ प्राचीन लगता है। इतना अवश्य है कि विषयके संकलनमें लिखानेवालेकी रुचिको ध्यानमें रखा गया है। जिस ठिकानेसारके आधारसे ये तीनो प्रतियाँ तैयार की गई है वह कहीं हैं या नहीं इसका अभी तक कही पता नही चल सका। ये तीनों प्रतियाँ किन्हीं प्राचीन प्रतियोंकी लिपि है, इसका लिपिकारने एक दोहा लिखकर उल्लेख भी किया है। दोहा इस प्रकार है—

जैसी प्रत देखी हमन, तैसी लई उतार।
हमको दोष न दीजिये, बुधजन लीजो सुधार॥

३. तीनों बत्तीसियोंके विषयमें

तीनों ठिकानेसार ग्रन्थोंमे तीनों बत्तीसियोंके विषयमें जो उल्लेख मिलते हैं उनकी चर्चा करना यहाँ इष्ट हैं। मुद्रित बड़े गुटिकामे प्रथम बत्तीसी मालारोहण छपी है। इसके बाद पण्डित पूजा और इसके बाद कमलबत्तीसी छपी है। मालारोहणका श्री जिनतारण-तरण स्वामीके अनुयायियोंमे विशेष स्थान है। विवाहकी सम्पन्नता इसीके पाठसे की जाती है। इसकी सूचना गजबासौदाकी प्रतिसे होती है। इसमे कहा गया है—

माला करेसं रजपुत्र व्याहण चले नृत्यरंज तिनिके समय मालारोहिणी उत्पन्न भई। पत्र सं. ३५।

इससे पता चलता है कि किसी राजपुत्रके विवाहके समय मालारोहिणी बत्तीसी लिखी गई थी।

किन्तु मल्हारगढ निसईजीकी प्रति पत्र सं० १२ मे यह उल्लेख मिलता है—

खिमलासे पद्मकमलकी बेटी मंनसिरिमाला उत्पन्न भई। परवर मैडीसी चौधरी नाऊनपुरको। ३६।

साथ ही इसी गुटिकाके पत्र संख्या ११७ मे यह उल्लेख मिलता है—

अस्थान खिमलासौ पद्म कमनजू कौ प्रसाद भयौ। सुहगसि रमन फूलना पहली गाथा प्रसाद पद्मकमलकौ। आचरीकी गाथामें सुहगावती रुइया जिनकौ प्रसाद ॥११॥

किन्तु यह फूलनाओंके समयके निर्णयका प्रसग है, इसलिये गंजबासौदाका उल्लेख विशेष प्रामाणिक लगता है, क्योंकि इसके विरुद्ध खुरई चैत्यालयकी प्रतिमे यह उल्लेख है—

अस्थान खिमलासौ पद्मकमलकौ प्रसाद भयौ सुहगंमि रमन फूलना पहिली गाथा प्रसाद पद्मकमलजूकौ आचरीकी गाथा मैं सुहगावति रुइया जिनकौ प्रसाद ॥११॥

लगभग इसी प्रकारका उल्लेख गंजबासौदाकी प्रतिमें भी देखनेको मिलता है—

स्यान खिमलासा पद्मकमल जू के निवति सुहिगम्य रमण फूलना उत्पन्न भयौ।

खुरईके ठिकानेसारमें पांच मतियोंका निरूपण हुआ है। वे हैं—विचारमति, आचारमति, सारमति, ममलमति और केवलमति। यथा—आचारमतिमे श्रावकाचार उत्पन्न भयौ। विचारमतसौं तिनईबत्तीसी छांनवे माषंड जिने ॥९६॥ सारमतमे तीन सार कहिये १—न्यायसमुच्चयसार। २—त्रभंगीसार। ३—उवसिधसार (उपदेशसार) उत्पन्न भए। ममलमतमैं खिपनक १—ममलपाहुड ग्रन्थ। २—चौबीसजानौ। केवलमतिमें ग्रन्थ ५—छद्मस्तवानी १, नाममाला २, खातिकाविशेष ३, सिघसुभाव ४, सुनसुभाव ५।

इस उल्लेखसे पता चलता है कि तीनों बत्तीसियोंका विचारमतमें समावेश होता है। स्वयं जीवनमें कैसा चिन्तवन और अनुभव करनेसे यह जीव ज्ञानमार्गका अनुसरण कर अन्तमे मोक्षका पात्र बनता है तथा निराकुल लक्षण स्वाश्रयी अनन्त सुखका पात्र बनता है। इन बत्तीसियोंमे खासकर ऐसे निरूपणपर ही विशेष बल दिया गया है। यहाँ इन पांच मतोंमे मति और मत इन दोनो शब्दोंका प्रयोग किया गया है। हमने जहाँ जैसा पाठ है वही रखा है। आम तौरसे ये पाँचो मत कहे जाते है, मति नही। फिर भी हमने उक्त ठिकानेसारके पाठकी सुरक्षाकी दृष्टिसे उक्त पाठमे परिवर्तन नहीं किया है। मूल पाठ उद्धृत कर दिया है।

प्रसंगसे यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि तीनों ठिकानेसार ग्रन्थोंमे मूल ग्रन्थोंके परिचयमे तो थोडा बहुत भेद है ही। शेष विषयोंके संकलनमे काफी फरक है। इससे ऐसा भी लगता है ये तीनों प्रतियोंके मूल आधारभूत मूल ठिकानेसार ग्रन्थ भी अनेक रहे है तथा अन्य कई विषयोंका समावेश भी बादमें कर दिया गया होना चाहिये। इस समय सब अंधकारमें हैं। स्वयं उनके अनुयायियों द्वारा इस विषयमे हमें उपेक्षा होती हुई जान पडती है। आदरणीय श्रीमन्त सेठ श्री भगवानदास शोभालालजी तथा उनके बड़े पुत्र भी श्रीमन्त सेठ श्री डालचन्दजी ऐसे महानुभाव हैं, जो कुछ हो रहा है वह उनके प्रयत्नविशेषसे ही हो रहा है। अस्तु,

आगे तीनों बत्तीसियोंमें क्या विषय है इसपर ऊहापोह करेंगे। उनमे प्रथम मालारोहणपर विचार करते हैं—

मालारोहण

जैसा कि हम पहले लिख आये है, स्वामीजीने इसकी रचना एक विवाहके अवसरपर की थी। यह बात तो समझमे इसलिये आती है कि उस प्रसंग पर समाजके अनेक प्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित स्त्री-पुरुष सम्मिलित होते है अतएव स्वामीजीने अपने अध्यात्म-प्रचारका सबसे अधिक उपयुक्त समय यही समझा होगा। यह शुद्ध अध्यात्मकी प्ररूपणा करनेवाला ग्रन्थ है। प्रारम्भमे मंगलाचरणके बाद आत्माके विशुद्ध गुणोके रूपमे मालाके इस ग्रन्थकी रचना हुई। भले ही इसमें ३२ गाथाएँ हों पर सभी गाथाएँ अध्यात्मके रससे भरपूर है।

भाषाकी दृष्टिसे जिसरूपमें यह उपलब्ध होता है, ठीक उसी रूपमे स्वामीजीने इसकी रचनाकी हो या नहीं इसमें संदेह है। इसकी प्रथम गाथाको ही लीजिये—

उंवकार वेदंति सुद्धात्म तत्त्वं प्रनमामि नित्यं तत्त्वार्थसार्थं।
न्यानंमयो सम्यक्‌दर्श नित्यं संमिक्त चरण चैतन्यरूपं ॥१॥

थोड़ा बदलकर इसका परिमार्जित रूप यह हो सकता है

ॐकार वेदंति शुद्धात्मतत्त्वं, प्रणमामि नित्यं तत्त्वार्थसार्थं।
ज्ञानमयं सम्यक्‌दर्शं नित्यं, सम्यक्त्वचरणं चैतन्यरूपं ॥

अस्तु, यह अनुपम ग्रन्थ है। इस प्रथम गाथामें ओंकार स्वरूप पंचपरमेष्ठीको द्रव्य-भाव नमस्कार किया गया है, जो पंचपरमेष्ठी शुद्ध आत्मस्वरूपको प्राप्त हुए या उसकी स्वानुभूतिसे सम्पन्न हैं, सभी पदार्थोंमें वे सारभूत हैं, निरन्तर ज्ञानमय है, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रके साथ जो आत्मस्वरूपको प्राप्त हुए हैं ॥१॥ दूसरी गाथामें अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीरको द्रव्य-भाव से नमस्कार किया गया है, जिनके अनन्त चतुष्टय पूर्णरूपसे व्यक्त हो गये हैं। साथ ही मैं (स्वामीजी) सभी केवलियों और अनन्त सिद्धोंको नमस्कार कर तुम्हारे प्रबोधके लिए गुणमालाका कथन करूंगा ॥२॥ आगे शुद्ध सम्यग्दृष्टि कैसा होता है इसका निरूपण करते हुए लिखा है—जिसका आत्मा शरीरप्रमाण है, जो भावमे निरंजन है, जिसका लक्ष्य निरंतर चेतन आत्मा पर बना रहता है, भावसे जो निरन्तर ज्ञानस्वरूप हैं, यथार्थ वीर्यके धारी वे शुद्ध सम्यग्दृष्टि है ॥३॥ जो मनुष्य संसारको दुःखरूप समझकर उससे विरक्त है वे शुद्ध समयसार है ऐसा जिनदेवने कहा है। जो मिथ्यात्व, आठ मद और रागादिभावोंसे आत्मभावको दूर कर चुके है, सभी तत्त्वार्थोंमे सारभूत वे शुद्ध सम्यग्दृष्टि हैं ॥४॥ आत्माके शुद्ध स्वरूपको बतलाते हुए स्वामीजी कहते हैं कि—जो तीन शल्योंमे रहित हैं, जिसने अपने चित्तका निरोध किया है, जो निरन्तर अपने हृदयमें जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित वाणीकी भावना करता रहता है और जो झूठे देव, गुरु और धर्मसे अत्यन्त दूर है ऐसा सभी तत्त्वार्थोंमे सारभूत आत्माका शुद्ध स्वरूप है ॥ ॥ जो कोई मनुष्य मुक्ति सुखके साथ शुद्ध सम्यग्दर्शनका धारी है, जो पुण्य-पाप और रागादि-भावोंसे विरक्त है, जो निरन्तर इस भावनासे सम्पन्न है कि मेरा आत्मा स्वभावसे ध्रुव शुद्ध और ज्ञान-दर्शन स्वभाववाला है ॥६॥ केवलज्ञान सदा काल समस्त पदार्थोंको जाननेवाला है और शुद्ध प्रकाश स्वरूप है। अभेददृष्टिसे शुद्ध आत्मतत्त्व है। वह आत्मतत्त्व सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और अनन्त सुखका भोक्ता है ऐसा सभी तत्त्वार्थोंमें सारभूत शुद्ध आत्माकी तुम निरन्तर भावना करो ॥७॥

शुद्ध सम्यग्दर्शन मेरे हृदयमें अर्थात् आत्मामें सदा प्रकाशित रहो। उसकी गुणमाला गूँथनेमे वीर्य समर्थ देवाधिक अरहन्तदेव, निर्ग्रन्थ गुरु, वीतरागवाणी, सिद्ध परमेष्ठी, अहिंसा धर्म और उत्तम क्षमा यह गुण उसके मोती या मणि है ॥८॥ यथार्थ तत्त्वोंका तुम निरन्तर मनन करो, जिससे २५ मलदोषोंमे रहित शुद्ध सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होवे। शुद्ध ज्ञान, शुद्ध चारित्र और वीर्यगुण युक्त शुद्ध आत्मतत्त्वको मैं द्रव्य-भाव नमस्कार करता हूँ ॥९॥ देवोंका देव श्रुतज्ञान स्वरूप आत्मतत्त्व है जो सात तत्त्व, छह द्रव्य, नव पदार्थ, पाँच अस्तिकाय, सामान्य-विशेषगुण, चेतन आत्माके वर्णनसे युक्त है तथा विश्वको प्रकाशित करनेवाला और तत्त्वोंमें सारभूत तत्त्व आत्माको अनुभवने वाला है ॥१०॥ देव, गुरु, शास्त्र, सिद्ध, सोलहकारण, धर्म, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके गुणोंसे यह माला गूँथी गयी है जो सदा प्रशस्त है ॥११॥

ग्यारह प्रतिमा, सात तत्त्व, चार निक्षेप, बारह व्रत, सात शील, बारह तप, चार दान, शुद्ध सम्यक्त्व-ज्ञान-चारित्र, मलरहित शुद्ध सम्यग्दर्शन, आठ मूलगुण इनका यथासम्भव विशुद्ध रीतिसे पालन करते हैं और जो अत्यन्त शुद्ध ज्ञानके धारी हैं वे शुद्ध आत्मस्वरूपके अनुभवने वाले शुद्ध सम्यग्दृष्टि हैं ॥१२-१३॥ सम्यग्ज्ञानी जीव शंकादि आठ दोष और आठ भेदोंके अहंकारसे मुक्त होता है। उसके तीन मूढता, मिथ्यात्व और माया-शल्य नहीं देखी जाती इससे वह निदानसे रहित होता है ऐसा भी समझ लेना चाहिये। अज्ञान, छह अनायतन, पच्चीस मलका वह त्यागी होता है। वह सदोष कर्मका भी त्यागी होता है ॥१४॥

रत्नत्रयधारी मुनि शुद्ध आत्मतत्त्वरूप शुद्ध प्रकाशका धारी होता है, आकाशके समान निरावरण विश्व-स्वरूपका धारी होता है, यथार्थ तत्त्वार्थकी बहुत भक्तिसे युक्त होता है ॥१५॥

जो धर्ममे लीन हैं, आत्मगुणोंका चिन्तन करते हैं वे समस्त दुःखोंसे मुक्त शुद्ध सम्यग्दृष्टि है। उसीसे आत्मतत्त्वका पोषण होता है वे ज्ञानस्वरूप हुए है तथा क्षणमात्रमें मोक्षको प्राप्त करेंगे ॥१६॥ जो शुद्ध

सम्यग्दर्शनके धारी शुद्ध सम्यग्दृष्टि हैं तथा जिनके गलेमें अर्थात् कण्ठमें आत्मगुणोंकी माला झूल रही है और जो सत्यार्थस्वरूप आत्मतत्त्वकी भावना करते हैं वे संसारसे मुक्त होकर निराकुल सुख और अनन्त वीर्यके धारी सिद्ध होते हैं ॥१७॥ ज्ञानगुणकी जिस मालामें हे आत्मन् तेरे अनन्त गुण गूँथे गये हैं वह प्रशस्त रत्नत्रयसे अलंकृत है। इस प्रकार श्री जिनेन्द्रदेवने यथार्थ तत्त्वका निरूपण किया ॥१८॥ श्री वीरनाथको देखकर श्रेणिक राजा, धरणेन्द्र, इन्द्र, गन्धर्व, यक्ष, राजाओंका समूह तथा विद्याधर ज्ञानमय सुशोभित मालाकी प्रार्थना करते हैं ॥१९॥ अनेकविध अनन्त रत्नोंसे क्या प्रयोजन, अनेक प्रकारके धनसे भी क्या प्रयोजन, राज्यका त्याग कर यदि वनवास लिया तो भी क्या लाभ हुआ, अनेक प्रकारके तप तपे तो उससे भी क्या कार्य साधा ॥२०॥ श्री वीर भगवान् श्रेणिक राजासे शुद्ध मन-वचन-कायसे मालाके गुणोंको प्राप्त करनेके लिये हमारे कथनको सुनो ! यदि तुमने गुणमाला नहीं देखी तो इन रत्नोंसे क्या प्रयोजन, इस धनसे भी क्या लाभ, यदि राजा हुए तो क्या हुए, यदि तुमने तप तपा तो भी वह किस कामका ॥२१॥ अर्थसे क्या प्रयोजन ? उससे आत्माका क्या कार्य सधा ? बड़े भारी राज्यसे क्या प्रयोजन ? कामदेवके समान रूप मिला तो वह किस कामका ? सम्यग्दर्शनके बिना तप तपनेसे क्या सधा ? ॥२२॥

जिनेन्द्रदेवने कहा कि यदि गुणमालाका अनुभव नहीं किये तो नाना प्रकारके इन्द्र, धरणेन्द्र, गन्धर्व, यक्ष आदि पदोंसे क्या लाभ ॥२३॥ समस्त तत्त्वार्थोंमें सार्थक जो निश्चय सम्यग्दर्शन सहित शुद्ध सम्यग्दृष्टि हैं और जो आशा, भय, लोभ और स्नेहसे रहित हैं; उनके हृदयमें और कण्ठमें ही गुणमाला सुशोभित होती है ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥२४॥ नाना प्रकारकी समृद्धिमे युक्त तथा निश्चय सम्यग्दृष्टि शुद्ध दृष्टि है उन्होंने ही हृदय और कण्ठमें सुशोभित गुणमालाको जाना है—ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥२५॥ जो मिथ्यात्व, लज्जा, भय और तीन गारवोंसे विरक्त होकर शुद्ध सम्यग्दृष्टि हैं उनके हृदय और कण्ठमें गुणमाला सुशोभित होती है। वास्तवमें वे ही मुक्तिगामी हैं ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥२६॥ जो शुद्ध दर्शन-ज्ञान-चारित्रसे सम्पन्न हैं मिथ्यात्व, रागादि दोष और असत्यका त्याग कर चुके हैं उन्हींके हृदयमें—गलेमें गुणमाला सुशोभित होती है। वास्तवमें वे सम्यग्दृष्टि मिथ्यात्व आदि कर्मोंसे रहित हैं ॥२७॥ जो पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानसे युक्त हैं तथा जिन्होंने रौद्र और आर्त्तध्यानसे रहित होकर आठ मद मानका त्याग किया है उन्हींके हृदय और कण्ठमें गुणमाला सुशोभित होती है ॥२८॥

उपशमभाव और क्षायिकभावसे शुद्ध जिनदेवने जो मार्ग कहा है उसपर चलनेवाले तथा तीनों प्रकारके मिथ्यात्व, मलदोष और रागसे मुक्त हैं उन्हीके हृदय और कण्ठमें सुशोभित माला देखी जाती है ॥२९॥ जो चेतना तत्त्वको चेतते हैं, अचेतन विनाशिक है और असत्य है, उन्होंने उसका त्याग किया है, जिन्हें जिनेन्द्रदेव कथित सार्थक तत्त्वोंका प्रकाश मिला है उन्हींके हृदय और कण्ठसे माला स्वयं अनुभूत होती है ॥३०॥ जिन्हें प्रशस्त रूप शुद्ध-बुद्ध गुण उपलब्ध हुए हैं तथा जिन्हें धर्मका प्रकाश हुआ है वे ही मोक्षमें प्रवेश करते हैं तथा उनके हृदय और कण्ठमें माला निरन्तर डोलती रहती है ॥३१॥ जिन्होंने सिद्ध होकर अनन्त मुक्तिमें प्रवेश किया है, स्वरूपभूत शुद्ध अनन्त गुणोंसे गूँथी हुई माला उन्हें प्राप्त होती है जो कोई भव्यात्मा शुद्ध सम्यग्दर्शन-के धारी हैं वे मोक्षको प्राप्त होते हैं ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥३२॥

उपसंहार

यह गुणमालाका भावानुवाद है। इसमें उन सभी अवस्थाओं और गुणोंका निरूपण हुआ है जिन गुण-रूपी फूलोंसे यह माला पिरोई गई है। इसमें बहुलतासे माला शब्दका प्रयोग हुआ है। तीन गाथाएँ ऐसी हैं जिनमें गुणमाला शब्द आया है। स्वामीजीकी दृष्टिसे यह इसका पूरा नाम है। इसमें सर्वत्र 'हृदय केन्द्र

सल्ति' शब्द आया है। कण्ठ और गलेमे अन्तर है। कण्ठ गलेका भीतरी अवयव है और गला बाहिरी। इससे स्वामीजीके समग्र जीवनपर प्रकाश पड़ता है। मालूम पडता है कि वे हृदय द्वारा स्वभावभूत अनन्त गुणोंसे सुशोभित आत्माका निरन्तर चिंतन करते रहते थे और कण्ठ द्वारा उनका गुण-गान करते रहते थे। उनके द्वारा रचित शास्त्र उन्ही दोनोंके कण्ठ और हृदयके उच्छ्वासमात्र हैं। यह उनका २४ घण्टोंका प्राकृतिक जीवन बन गया था। उन्हें इसकी चिन्ता नही कि कौन उनका समर्थन करता है और कौन उनका विरोध करता है। उन्होंने बाह्यमे विधि-निषेधसे अपनेको परे बना लिया था। इतना अवश्य है कि जो उनसे अनुप्राणित होते थे उन्हे उनकी बाह्य परिणतिके उपदेशके साथ ही अध्यात्मका घूट पिलाते थे। जो जिसका अनुषंगी है उसका उपदेश वे अवश्य देते थे। वे किसी वेशके पुजारी नही थे, आत्मधर्मके पुजारी थे। घर-बार छोड़ना और बात है, अध्यात्मका पुजारी होना और बात है।

गुणमाला बत्तीसीके अन्तमे ग्रन्थ समाप्ति वचन आया है। यथा—

इति श्री मालारोहण जो नाम ग्रन्थ जिन तारण तरण विरचित समुत्पन्नता ॥

लोकमे इसे मालारोहण भी कहते हैं। स्वामीजीने इसे गुणमाला" कहा है। मेरे ख्यालसे यह ग्रन्थका उपयुक्त नाम है। स्वामीजीने इसमे इसी नामका उल्लेख किया है। अस्तु।

श्री पण्डित पूजा

उपोद्घात

यह स्वामीजी द्वारा रचित दूसरी बत्तीसी है। खुरई चैत्यालयके ठिकानेसारमे ग्रन्थका परिचय मात्र दिया है। लिखा है—

पंडित पूजाकी बिधि—पंडित पूजाकी पहचत्तरि पुंजनिरूपणं। ओंमकारमे पंच परमेष्ठी देवकी पूजा पंच अषिर (अक्षर) संयुक्ता गाथा चारलौ ४, श्रुतपूजा पंचई गाथा ५, छठी गाथा गुरुपूजा वारा पुंज पूरे। सातइ गाथा संभिक्त विर्ज सिद्धकौ जंत्र त्रिलोकं लोकीनं ध्रुवं अरिहंतको जंत्र रत्नं त्रय मयं सुधं ये तीन जत्र साधुके गाथा ७, आठई गाथामें धर्मं सुधं च वेदंते आचार्ज उपायदेवकौ जंत्रु।

मल्हारगढ निसईजीकी प्रतिमें पण्डित पूजा बत्तीसीके विषयमे लिखा है—ॐकारमे पंच परमेष्ठीदेवकी पूजा पंच अषिर संजुक्त ।। गाथा चार लौ ।।४।। श्रुतपूजा ।। पंचैइ गाथा ।।५।। छटि गाथा गुरुपूजा ।। बारह पुंज पूरे। सातइ गाथा ।। संभिक्त बीजुं ।। सिद्धको जंत्रु ।। मातइ गाथा ।। त्रिलोक लोकीतं ध्रुवं ।। अरहंतको जंत्रु ।। सातई गाथा मैं रत्नत्रयं मये सुधं ।। ये तीन जत्रु साधुके गाथा सातई ।।७।। आठई गाथामैं धर्मं सुखं च वेदंते ।। आचार्य उपायदेवको जंत्रु ।। पूजा जंत्रुकी विधि।

पंडित पूजाके ठिकाने गंज बासौदा—चार गाथा देवकी पूजा पूजा पंच परमेष्ठी संयुक्तं ।४। पाचई गाथामैं श्रुतपूजा चारनियोग संयुक्तं ।५। छठई गाथामैं गुरुकी पूजा तीन रत्नसंयुक्तं ।६। बारह पुंज संयुक्तं। सातई गाथामें सम्यकत्व वीर्य सिद्धिकौ जंत्र अष्टगुण संयुक्त सिद्धके ।१। त्रिलोकं लोकन्त ध्रुवं। अर्हन्तको जंत्र येक ।१। सोलहि कारण संयुक्त ।१६। रत्नत्रियमयं सुधं साधुके तीनि जंत्र दर्शणके अंग। न्याणके अंग ।८। तेरहि विधि चारित्र। साधु जंत्र संयुक्तं। सातई गाथामैं धर्म शुद्धः व्यंवन्दते: उपादेव आचार्यको जंत्र दसविधो धर्म संयुक्तं। गाथा अठाईमैं ।।८।। नमई गाथामे स्नापतिकी जुक्ति कही चार विधको जल नौमैं प्रवाहुजल कही, ध्यानसेमैं श्रीवरजल कही ।। गाथा दसईमैं न्याणंभयजलं शुद्धं। व्यापकि जल कहो। गाथा ग्यारहिमैं सम्यक्तं-जलं-शुद्धं कूप जल कही। वारहि गाथामैं ।।१२।। आत्मसौधन दृष्टिसोधन तेरही गाथामें प्रक्षाल्की जुक्ति कही पन्द्रवीं गाथामें वस्तरिकी जुक्ति कही। पाग पिछौरी धोती अंदोगी वस्त्रभेद ।।४।। सोरही गाथामैं

आभरणकी जुक्ति कही । चारित्र संयुक्त मुद्रकी जुक्ति कही । सीलि सम्यक् सप्राणि मुद्रका मुकटं । पंच न्यांण सिरिमुकटि सोहै सतरही अठारही गाथामैं दृष्टि युद्धनः दृष्टिं निपजै तो मिथ्यादृष्टी चः त्यक्तयं । उनीसवीं गाथामै बीसवी गाथामै पच्चीस मलको भरतिय कहौ ।।२५।। इकईस गाथामैं वेदिकाकी जुक्ति कही । बाइसवीं गाथामै उच्चारणकी जुक्ति कही । ऊर्ध्वगुणके शुद्धिगुण तेईसवीं गाथामें अविकास । चौबीसइ गाथामैं आकार पूजाका स्थूल पूजा कुगुरुके लक्षण कहियौ पच्चीसईं गाथामैं अविकास कहियो छब्बीसई गाथामैं । इन्द्रपति इन्द्रकी जुक्ति कही सताईसवीं गाथामैं दाताकी जुक्ति कही । अट्ठाईस गाथामैं अवकास उनतीसई गाथामैं चार संगकी विधि कही । तीसई गाथामैं सताई तत्त्वकी विधि कही । तत्त्व आराधन भेदचारा सत्वई तत्त्व दर्पणके निर्णय । नव पदार्थ न्याणके निर्णय षट्द्रव्य चारित्रके निर्णय । पंचास्तिकाय तपके निर्णय । दर्शणदृष्टि न्यांणा-कर्ष । तप हृदया चारित्र कमल गाथा ।।३०।। इकतीसई गाथामें मिथ्यात्वक्त कुन्याण त्यक्त । बत्तीसई गाथामैं ओकास ।।३२।। इति श्री पण्डित पूजा सम्पूर्ण ।।६।।

ये तीनों ठिकानेसार ग्रन्थोंमें पंडित पूजाके विषयमें जो कुछ लिखा उसे अविकल यहाँ दिया गया है। इसकी उत्पत्तिके विषयमे गंजबासौदाकी प्रतिमे लिखा है—पंडित पूजाको समय उत्पन्न भयौ ।। अनुवृत समार्थ षिपकि विशेष्य ।। न्यांण प्रयोजनि ।। अहार हो कित जऔ । माहि किति उपज्जै हो कब बुलायो हो किनि जायौ । मोहि किनि उपजै हो किनि बुलायौ ।। अवरिकी जाई । अवरिकी जाई उपजै अबरकी बुलाय । इति अनुवृत्तिकी परीक्षा तारण तरण कही ।।

यह तीनों ठिकानेसार ग्रन्थोंमें पंडित पूजा बत्तीसीके विषयमें जो कुछ लिखा गया है उसका अविकल उल्लेख है। इसपर तत्काल कुछ टीका-टिप्पणी नही करेंगे। आगे पण्डित पूजा भावानुवाद दे रहे हैं जिससे उसके अध्यात्मस्वरूपको समझनेमें पाठकोंको सुगमता होगी।

संपादकीय नोट—पंडित पूजा सम्बन्धी जो विशेष विवरण गंजबासौदाकी ठिकानेसारमे मिलता है, उसको देखनेसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्राचीन कालमें जिन तारणतरण समाजमे द्रव्य-भावरूप पूजाका प्रचलन रहा है।

पण्डित पूजाका भावानुवाद

ओंकार मंत्र ऊर्ध्वलोकके सबसे ऊपर ओंकारके बिन्दु समान शाश्वत सिद्ध परमेष्ठी विराजमान हैं जो निरन्तर ज्ञानभावके साथ ध्रुव है ।।१।। निश्चयसे वे युद्ध आत्मतत्त्वको जानते हुए वर्तते हैं। मेरा आत्मा स्वभाव शुद्ध है ध्रुव है ऐसा अनुभवना निश्चय नमस्कार है ।।२।। ओंकार स्वरूप आत्माको योगीजन अनुभवते है। जो विवेकशालिनी बुद्धिवाले पण्डित है वे ही उसे अनुभवते है। उसके द्वारा ही देव-पूजा परमार्थ पूजा है ।।३।। ज्ञानके अस्तित्व रूप ह्रींकार है और ओंकार भी ज्ञानस्वरूप है। वह अनुभवका विषय है। ऐसा अरहन्त सर्वज्ञदेवने कहा है। यह अचक्षुदर्शन पूर्वक मतिज्ञान-श्रुतज्ञानका विषय है ।।४।। जिसके सम्पूर्णरूपसे मतिज्ञान-श्रुतज्ञान होता है वह नियमसे पाँचवें ज्ञान केवलज्ञानमें स्थित होता है। इसे पण्डितजन भले प्रकार जानते है वे ज्ञानस्वरूप शास्त्रको नियमसे पूजते है ।।५।। ओंकार और श्रीकारका अनुभवन ही ध्रुव ज्ञान-स्वरूप है। देव-शास्त्र और गुरु, सम्यक्चारित्र और शाश्वत सिद्ध परमेष्ठी हैं ।।६।। शुद्ध वीर्य ध्रुव तीन लोकके ज्ञाता सिद्ध परमेष्ठीकी उत्पत्तिका मूल है। जो सिद्ध परमेष्ठी शुद्ध रत्नत्रयस्वरूप है। पण्डितजन ऐसे गुणवाले सिद्धोंकी सच्ची पूजा करते है ।।७।। जो सच्चे देव, गुरु और शास्त्रकी वन्दना करते हैं वे ही शुद्ध धर्मको अनुभवते हैं। वे ही रत्नत्रयके धारी हैं। यही उनका शुद्ध जलसे स्नान है ।।८।। चेतना लक्षण धर्म है, बुधजन सदा अनुभवते हैं। ध्यान ही शुद्ध जल है। ऐसे जलसे ज्ञानरूप स्नान करते हैं ।।९।। पंडितजन

शुद्ध आत्मतत्त्वको अनुभवते हैं, तीनलोक तालाब स्वरूप है, ज्ञानसे वह भरा हुआ है, ऐसा ज्ञानमय शुद्ध जल है। ज्ञानभावसे परिणत पण्डितोंका यही स्नान है ॥१०॥ सम्यग्दर्शन शुद्ध जल है, आत्मारूपी तालाब उससे पूरी तरह भरा हुआ है। ऐसे जलमें स्नान करके गणधर देव उसीका पान करते हैं। ज्ञानरूपी तालाब अनन्त और ध्रुव है ॥११॥ आत्मा शुद्ध चेतनास्वरूप है, वह शुद्ध सम्यग्दर्शनके समान ध्रुव है। ऐसे शुद्ध भावमें स्थिर होकर पण्डितजन उस ज्ञानभावरूप स्नान करते हैं ॥१२॥ तीन प्रकारका मिथ्यात्व, तीन शल्य, कुज्ञान और राग-द्वेषरूप होना यह सब अशुद्ध भावना है ॥१३॥ ऐसी भावनावालेने अनन्तानुबन्धी चार कषायोंका पालन किया, पुण्य-पाप भावका पालन किया तथा दुष्ट आठ कर्मोंका पालन किया। किन्तु इसके विपरीत पंडितजन ज्ञानभावरूप स्नान करते हैं ॥१४॥ अशुद्ध भावनावालेने चपल मनको पोषा, द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मको पोषा। किन्तु पण्डितजन कैसे वस्त्रोंका परिधान करते हैं। उनके आभरण और अलंकार कैसे होते हैं ॥१५॥ धर्मका होना ही उनके वस्त्र हैं रत्नत्रय ही आभरण हैं, समभावसे मुद्रित होना मुद्रिका है और ध्रुव ज्ञानमय मुकुट है ॥१६॥

शुद्ध दृष्टिका अनुभव कार्यकारी है, मिथ्यादृष्टि और असत्यसे दूर रहना चाहिए। अचेतन पदार्थोंमें इष्टानिष्ट बुद्धि न करे ॥१७॥ शुद्ध स्वरूपका अनुभव करना चाहिए, वही ध्रुव और शुद्ध सम्यग्दर्शन है, वह पूर्ण ज्ञानमय है इस प्रकार बुद्धिमान जनोंकी सदा निर्मल बुद्धि होती है ॥१८॥ लोक मूढता, देव मूढता और पाखण्ड मूढतासे सदा दूर रहे। अज्ञान, शरीर आदि आठ मद और शंकादि आठ दोषोंका सेवन न करें ॥१९॥ शुद्ध और प्रयोजनीय आत्मपद ही अनुभवने योग्य हैं; शंकादि मलोंसे रहित सम्यग्दर्शन ही अनुभवने योग्य है। ज्ञानमय आत्मा शुद्ध सम्यग्दर्शन है। बुद्धिमान जनोंकी दृष्टिमें ऐसा व्यक्ति ही पण्डित है ॥२०॥ जो आत्माको सदा रागादि परिग्रहसे रहित और तीनलोकमें एक शुद्ध आत्माको अनुभवते हैं ऐसा अनुभव करनेवाले जो पण्डित हैं वे अनुभवियोंमें अग्रस्थानीय हैं ॥२१॥ केवल पंच परमेष्ठीयोंकी ही स्तुति करनी चाहिए तथा शुद्ध आत्मतत्त्वकी भावना करनी चाहिए। जो लोकपूज्य पंच परमेष्ठी है, पण्डित जन उन्हींको आराध्य मानते हैं। ऐसे पण्डितोंने ही जिन समयकी पूजाकी ॥२२॥ जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित आगमकी जिसने पूजाकी वह पण्डित सदा पूजित होता है। उसीने शुद्ध आत्माकी पूजाकी—अनुभव किया, क्योंकि वही मोक्ष प्राप्तिका अपूर्व साधन है ॥२३॥ अपूज्य, अदेव, अज्ञान, तीन मूढता और अगुरुको पूजना मिथ्यात्व है यह सकल जन जानते हैं, ऐसी पूजा अनन्त संसारका कारण है ॥२४॥ शुद्ध तत्त्वका प्रकाशन ही शुद्ध पूजा है ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है। पण्डितकी वन्दना पूजा है ऐसा पण्डित नियमसे मोक्ष जाता है इसमें संशय नहीं है ॥२५॥ जिसके शुद्धात्माकी शुद्ध भावना है वही परिपूर्ण शुद्ध आत्मा है, वही शुद्ध अर्थरूप शुद्ध समय है। उसीने शुद्ध आत्मा—अनुभवा ॥२६॥ जो समीचीन दाता है, जिसका शुद्ध हृदयसे दिया गया दान है, शुद्ध भावना सहित पूजा है तथा जिसके हृदयमें शुद्ध सम्यग्दर्शन है उसीको शुद्ध आत्माकी भावना होती है ॥२७॥ जो कार्यकारी ज्ञानमय और ध्रुव सम्यग्दर्शनको अनुभवता है, आराध्य शुद्ध आत्मतत्त्वकी आराधना करता है, क्योंकि ऐसी वन्दना करने योग्य है ॥२८॥ चारसंघ, शुद्ध आत्मा और शुद्ध समयकी भावना करता है उसे जिनेन्द्रदेवने प्रयोजनीय कहा है ॥२९॥ प्रयोजनीय सात तत्त्व, छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय तथा ध्रुव निश्चयस्वरूप चेतन आत्मा इनकी प्ररूपणा केवलीजिननेकी है ॥३०॥ तीन प्रकारके मिथ्यात्वका त्याग और तीन प्रकारके कुज्ञानका त्याग होना चाहिये तथा शुद्ध आत्माकी शुद्ध भावना होनी चाहिये। जो भव्यजन ऐसा करते हैं उनका जीवन सफल है ॥३१॥ ऐसे यथार्थ पूज्य पंच परमेष्ठीकी शुद्ध पूजा करनी चाहिये। यह शाश्वत मोक्षश्रीको प्राप्त करनेके लिये व्यवहारनिश्चय स्वरूप मोक्षमार्ग है ॥३२॥

उपसंहार

पण्डित पूजा भावना रूपसे जीवनमें चरितार्थ करनेके लिये यह अत्युपयोगी बत्तीसी है। इसके अन्तमें व्यवहार और निश्चय दोनों मोक्षमार्गोंका स्पष्ट उल्लेख किया गया है। निश्चय मोक्षमार्ग वस्तुका स्वरूप है और व्यवहार मोक्षमार्ग सकषाय जीवकी सालम्बन मन-वचन-कायकी बाह्य प्रवृत्ति-रूप है। अतः निश्चय मोक्षमार्गका अनुगामी होनेसे या सहचर होनेसे वह आत्माके स्वाभाविक स्वरूपकी अपेक्षा मोक्षमार्ग नहीं है। परमार्थसे उसे मोक्षमार्ग मानना परमार्थकी अवहेलना करना मात्र है। इतना अवश्य है कि स्वानुभूति या शुद्धोपयोगके कालमें बाह्य मन-वचन-कायकी प्रवृत्ति न होने पर अप्रत्याख्यान आदि कषायोंका सद्भाव बना रहता है, इसलिये ज्ञानी मोक्षमार्गी जीवके सविकल्प अवस्थाके समान निर्विकल्प अवस्थामें अबुद्धिपूर्वक शुभभाव स्वीकार करके इस अपेक्षासे सकषाय अवस्थामें सालम्बन व्यवहार मोक्षमार्गको स्वीकार किया जाता है।

इस बत्तीसीमें पण्डित पूजाको स्पष्ट किया है। सर्वप्रथम पंचपरमेष्ठी और देव, गुरु तथा शास्त्रका संक्षिप्त स्वरूप बतलाकर स्वानुभूतिसे सनाथ जो व्यक्ति इन तीनोंकी उपासना करता है वह पण्डित है यह स्पष्ट किया गया है क्योंकि भावके बिना द्रव्यका कोई स्थान नहीं है। फिर भी पूजकके अन्तरंग और बहिरंग वेशका इसमे बड़ी ही अध्यात्म शैलीमें समर्थन किया गया है। इसके द्वारा अन्तरंगमें आत्माके रत्नत्रय धर्मको स्नानका शुद्ध जल बनाया गया है, साथ ही ध्यानको शुद्ध जल और ज्ञानभावको स्नान बताया गया है। तीनलोकको जाननेवाले ज्ञानको तालाब भी बताया गया है। ज्ञानरूपी शुभ जलमें अवगाहन करना ही स्नान है। यही सच्चा अंतरंग स्नान है। ऐसे पण्डितके तीनों प्रकारके मिथ्यात्व, कुज्ञान, राग-द्वेष, अप्रत्याख्यानादि कषाय, अशुद्ध भावना आदि सब दोष दूर हो जाते हैं, यही उत्तम वस्त्रका धारण करना है, यही आभरण, आभूषण और मुकुटका पहनना है ऐसे पण्डित ही देव, गुरु और शास्त्रका सच्चा पूजक है। ऐसे पण्डितके तीन लोक मूढता, कुदेव और कुगुरुकी पूजा, आठ मद आदि दृष्टिगोचर नही होते। ऐसे जिनेन्द्र कथित जिनमार्ग पर चलनेवाला ही पण्डित हैं वह स्वयं लोकमें सदा पूजित होता है। इस प्रकार इस ग्रन्थमें भाव पूजाका सुन्दर विवेचन किया गया है। उससे अनुगत द्रव्य-पूजा कैसी होती है इसका भी इसमें संकेत किया गया है।

स्वामीजीने इसमें अदेव और अगुरुकी पूजाको मिथ्यात्व बतलाया है। मालूम पड़ता है कि उनके कालमें शासन देवताके नाम पर व्यन्तरादि देवोंकी पूजा प्रचलित होने लगी थी और सुगुरुके नाम पर अगुरु स्वरूप भट्टारक पूजे जाने लगे थे। उन्हीकी पूजाका निषेध करनेके लिये स्वामीजीने यहाँ अगुरु और अदेव जैसे शब्दोंका प्रयोग किया गया निश्चित जान पड़ता है। मेरा तो यह भी अनुमान है कि इन गुरु कहलानेवाले भट्टारकोंने समाजको भड़काकर समाजसे उनका बहिष्कार तक करनेका निर्देश किया होगा। किन्तु वे अध्यात्मके रसिया महापुरुष थे। उन्होंने बहिष्कृत होना तो स्वीकार किया किन्तु अपनी दृढ़ श्रद्धासे अणुमात्र भी विचलित नही हुए। इससे वे जगत् पूज्य बन गये इसमें सन्देह नही।

कमलबत्तीसीका भावानुवाद

परम भावको दिखानेवाला परमात्मा ही सब तत्त्वोंमें श्रेष्ठ परम तत्त्व है। वे ही जिन है, वे ही परमेष्ठी हैं ऐसे परम देवके देव जिनदेवकी मैं भाव-द्रव्य वन्दना करता हूँ ॥१॥ जो जिनवचनका श्रद्धान है उसीसे कमलकी शोभावाला रागादि मलसे रहित आत्मभाव प्राप्त होता है, उसीको आर्जव भाव कहते है। इस आर्जवभावसे समभावरूप मुक्तिकी प्राप्ति होती है ॥२॥ ज्ञानस्वभाव आत्मा ही अनुमोदनीय—उपासना करने योग्य, रागादिमल रहित ज्ञानस्वभाव सब रत्नोंमें श्रेष्ठरत्न है, ऐसे रागादि मल रहित अपने निर्मल ज्ञानस्वभाव अर्थात् ज्ञानस्वभाववाले आत्माकी उपासनाके फलस्वरूप सिद्ध पदकी प्राप्ति होती है ॥३॥ तीन

प्रकारके योग द्वारा तीन प्रकारके मिथ्यात्वको जीतना चाहिये, अव्रतभाव और असत्यरूप पर्यायका गलाना चाहिये, कुज्ञानको गलाना चाहिये तथा सब प्रकारके कर्मोको भी गलाना चाहिये ॥४॥ चेतन-आत्मानन्दस्वरूप है आनन्दस्वरूप है और सहजानन्दस्वरूप है। इसके आलम्बनसे संसार पर्यायका अन्त कर देना चाहिये। अपने सहज ज्ञान द्वारा ज्ञान ही उपासना करने योग्य है। समस्त कर्मोका क्षय ज्ञानसे ही होता है ॥५॥ कर्मोका स्वभाव ही क्षय करने योग्य है ॥६॥ जिसकी दृष्टि उत्पाद-व्ययमें समभावरूप है और चेतनभावसे युक्त है उसके उसी दृष्टिसे तीनों प्रकारके कर्मोका बन्ध गल कर विलीन हो जाता है ॥७॥ मन स्वभावसे क्षय करने योग्य है, संसारकी परिपाटी भी स्वभावसे क्षय करने योग्य है, ज्ञानबलसे विशुद्ध हुई निर्मल उपासना कर्मोका क्षय करनेमें समर्थ है ॥८॥ लोकका अनुरजन करनेवाले रागभावसे रहित शरीरको अनुरजन करनेवाले द्वेषभावसे मुक्त और मनको रंजायमान करनेवाले तीन प्रकारके गारबसे रहित होने पर तीन प्रकारका वैराग्य उत्पन्न होता है ॥९॥ दर्शनमोहरूपी अंधकारसे रहित और राग-द्वेष तथा पचेन्द्रियोके विषयोंसे रहित आत्माका निर्मल स्वभाव उत्पन्न हुआ वह अनन्त चतुष्टयको प्राप्त करनेमें समर्थ है ॥१०॥

रत्नत्रयसे ही शुद्ध आत्माका दर्शन है, पांचो ज्ञानोंमे पंचम ज्ञान ही परम इष्ट है तथा पंचाचाररूप सम्यक्चारित्र है। यही सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है ॥११॥ यही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप है वही देवोमे परमदेव है, वही गुरुओमे परम गुरु है और वही समभावसे युक्त धर्मोंमे परम धर्म है ॥१२॥ पाँचवें ज्ञानस्वरूप आत्माके अस्थिर योगको जीतने पर तथा ज्ञानभावमे पूर्ण ज्ञान होने पर स्वभावसे निर्मलस्वभावरूप सिद्धिकी प्राप्ति होती है ॥१३॥ आनन्दस्वभाव और आनन्दमय चिदानन्दका चिंतवन करना, यही स्वभावसे मलस्वरूप कर्मोका क्षय करना है वह स्वभावसे अनुमोदन करनेरूप तथा निर्मल है ॥१४॥ जो परसे भिन्न स्वात्माको अनुभवता है, स्वात्मासे भिन्न पररूप पर्यायोसे तथा तीन प्रकारकी शल्योंसे मुक्त है वह शुद्ध ज्ञानस्वभाव और पर निरपेक्ष शुद्ध चारित्ररूप आत्माको प्राप्त करता है ॥१५॥ अब्रह्मका सेवन नही करना चाहिये, चारों प्रकारकी विकथा और सातों प्रकारके व्यसनोका त्याग कर देना चाहिये, क्योंकि ज्ञायकस्वभाव आत्मा ज्ञानस्वभाव है ऐसा निर्मल समयका सहकार ही उपासने योग्य है ॥१६॥ जिनवचन स्वभावरूप है अर्थात् वस्तुस्वभावका दर्शन करनेमे समर्थ है। उसीके अनुगमनसे मिथ्यात्व कषाय और कर्मोको जीतो। इसीसे यह आत्मा शुद्ध आत्मा और परमात्माका निर्मल दर्शन होता है ॥१७॥

इष्ट अर्थात् जो मोक्षमार्गमे उपादेयभूत जो शुद्ध आत्मा है उसी पर जिनदेवकी दृष्टि है, अथवा जिसका जिनदेवने उपदेश दिया है वही हमारा इष्ट शुद्ध आत्मा है। उस इष्टमे उपयोगको युक्त करना चाहिये और अनिष्ट जो संसारके प्रयोजन है उनका बुद्धिपूर्वक त्याग कर देना चाहिये जो इष्ट है वह सदा इष्ट स्वरूप है। वह निर्मल स्वभाव है अतः उसमे उपयुक्त होनेसे कर्मोका स्वयं क्षय होता है ॥१८॥ अज्ञानसे जो अत्यन्त दूर है, क्योंकि ज्ञानस्वभावसे अनुपम और निर्मल स्वभाववाला है। ज्ञानपर्याय दृष्टिका विषय नहीं है, क्योंकि वह पर्यायदृष्टि है, अतः अति शीघ्र अन्तर दृष्टि होना चाहिये ॥१९॥ आत्मा आत्मस्वरूप है, आत्माके शुद्धात्मा होने पर वही विमल परमात्मा हो जाता है क्योंकि आत्मा स्वभावसे परमस्वरूप है वह बाह्य रूपसे रहित है और निर्मल ज्ञानस्वरूप है ॥२०॥ वह निर्मल है, निर्मलस्वभाव है, ज्ञान-विज्ञानरूप है। सम्यग्ज्ञानको उत्पत्तिका हेतु है। यह जिनदेवने कहा है, यही जिनदेवका वचन है। क्योंकि जिनदेवको निमित्त कर मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥२१॥ षट्काय जीवों पर विमलभाव को निमित्त कर कृपा करनी चाहिये, क्योकि प्राणीमात्रके जीव समान ज्ञान-दर्शन स्वभाववाले है। क्लिष्ट जीवों पर वह कृपा भी विमल भावरूप होनी चाहिये ॥२२॥ अत्यन्त अनिष्ट वस्तुका संयोग होने पर विमल शुद्ध स्वभावके बलसे मध्यस्थ हो जाना चाहिये। जीव स्वभावसे शुद्ध कहा गया है ऐसी शुद्ध दृष्टि होनेसे कर्मोका स्वयं क्षय होता है ॥२३॥ सब

संसारी जीव विलष्ट-दुःखी हो रहे हैं। उसकी अनुमोदनाके निमित्तसे दुर्गतिमें गमन होता है। जो विरोध स्वभाववाले जीव हैं वे दुःखरूप मार्गपर चलते हुए संसार परम्परामें पड रहे है ॥२५॥ सुखमय अर्थात् आत्मा ज्ञानस्वभाव है, ज्ञानस्वभावकी उपासना करने पर उसके योगसे निर्मल अवस्थाको प्राप्त हो जाते है। ज्ञान सदा-काल ज्ञानस्वरूप है। उससे निर्मल सिद्धिकी प्राप्ति होती है ॥२६॥ जो परम इष्ट है वही इष्ट है, इष्टकी उपासना वह अनिष्ट अर्थात् संसारके प्रयोजनसे रहित है। वह पर द्रव्योंकी पर्यायसे रहित है, क्योंकि ज्ञानस्वभावसे कर्मोंपर विजय प्राप्त होती है ॥२७॥ जिनवचन शुद्धसे भी शुद्ध है, उसकी उपासनासे विविधकर्म रहित शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होती है। आत्मा स्वभावसे निर्मल है, निर्मलस्वरूप है, क्योंकि जो रत्न होता है वह रत्नस्वरूप ही होता है ॥२८॥ सुगुणोंकी उत्पत्ति श्रेष्ठ है, उनके निमित्तसे कर्मोंका क्षय होता है यह श्रेष्ठ कार्य है। कमल अर्थात् आत्मा श्रेष्ठ और इष्ट दोनों है। यह आत्मा कमलकी शोभावाला है और कमलके समान कोमल तथा निर्मल होता है ॥२९॥ जिनवचनके निमित्तसे मिथ्यात्व, अज्ञान और तीनों शल्योंका अभाव होता है। विषय और कषायोंका अभाव होता है तथा उसीसे सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्ति होती है और कर्मोंका क्षय होता है ॥३०॥ आत्मा आत्मस्वरूप है, वह षट्कमल, रत्नत्रय और निर्मल आनन्द स्वरूप है। दर्शनज्ञानस्वरूप है। वही निर्मल चारित्र है तथा कर्मोंका क्षय करनेवाला है ॥३१॥ जिसने अपने ज्ञानस्वभावसे संसारपरिपाटीकी ओर दृष्टि नही की तथा संसारी मलिन पर्यायकी ओर दृष्टि नही दी है ऐसा कमलके समान निर्मल जो ज्ञान है वही निर्मल ज्ञान-विज्ञान उपासने योग्य है ॥३२॥ जिनदेवके कहे वचनका श्रद्धान करनेसे यथा निर्मल शुद्ध आत्मा और परमात्माकी श्रद्धा करनेसे परमभावकी उपलब्धि होती है, इस प्रकार धर्मस्वभावकी प्राप्ति होनेपर नियमसे कर्मोंका क्षय होता है ॥३३॥ जिनदेवने कहा है कि शुद्ध दृष्टिकी प्राप्ति होने पर तीन प्रकारके योगसे तीनों प्रकारके कर्मोका क्षय होता है। अनुपम ज्ञान ही विज्ञान है। वह निर्मलस्वरूप है और उससे मुक्तिकी प्राप्ति होती है ॥३०॥

उपसंहार

यह कमलबत्तीसीका भावानुवाद है। इसकी मात्र दो-चार गाथाओमे कमल शब्द आया है। कमल और आत्मा दोनोंके अर्थमें इसका उपयोग हुआ है। एक गाथामे षट्कमल शब्द आया है। गंजबासौदाके ठिकानेसार ग्रन्थ पत्र सं० १४ मे कमलोंका उल्लेख है—१. मसुठी लवनु (मसूडे), २. इष्ट उष्ट (ओठ), ३. इष्ट कठु उत्पन्न कंठु, २. इष्ट तालु उत्पन्न तालु, २ इष्ट दर्श उत्पन्न दर्श। गंजबासौदा श्री निसईजीके ठिकानेसार पत्र सं० २३ मे चतुर्मुख भगवान्के चारमुखोंके लिये उत्पन्न कमल, देवकमल, दत्तकमल और तारकमल ये चार नाम आये है। मल्हारगंज श्री निसईजीके ठिकानेसार पत्र स० ३२ में इष्ट कण्ठ, उत्पन्न कण्ठ, इष्ट तालु, उत्पन्न तालु, इष्ट लखि (नेत्र), उत्पन्न लखि (नेत्र), इष्ट गमि (चरण), उत्पन्न गमि चरण ये नाम आये है। इन सबको कमलके भेद कहा गया है। अभी तक तीनो ठिकानेसार ग्रन्थोंमें षट्कमलका उल्लेख मेरे देखनेमे नही आया। किन्तु बत्तीसीमे यह शब्द आत्माके विशेषण रूपमे आया है। मालूम पड़ता है इससे स्वामीजीने ज्ञायकस्वभाव आत्मा और पाँचों परमेष्ठी इन छहको ग्रहण किया है। इनमेंसे ज्ञायक आत्मा स्वभावसे निर्मल और पाँच परमेष्ठी कमलके समान निर्मल परिणामवाले होते हैं, सम्भव है इसीलिये इनका षट् कमल शब्द द्वारा स्वामीजीने उल्लेख किया है। जो हो, उनके जीवन अध्यात्ममें ऐसे रम गया था जैसे कमलमे सुगंध। उन्होंने अपने ग्रन्थोंमें आत्माको नन्द, आनन्द, चिदानन्द, सहजानन्द और परमानन्द स्वरूप बतलाया है। इस बत्तीसीमें भी आत्माके अर्थमें एकादि शब्दको छोड़कर इन शब्दों द्वारा तत्स्वरूप बतलाया है। वे इष्ट क्या है और अनिष्ट क्या है, इस संसारी जीवको देव, शास्त्र और गुरुका या मुख्यतः से अपने आत्माका विशदरूपसे विवेचन करते है और अनिष्टरूप संसारके प्रयोजनोंसे दूर रहनेका उपदेश देते

है। उनकी वाणीमें जादू है। उन्होंने अध्यात्मको जीवनमें उतारकर तथा अपने उपदेशों और ग्रन्थरचना द्वारा ऐसे वातावरणका निर्माण किया जिससे इस प्रदेशमें पुराने कालसे चली आयी शुद्ध व्यवहार निश्चय स्वरूप तेरापंथ रूप अध्यात्मप्रवृत्ति की पुष्टि हुई।

मुझे तो ये तीनो बत्तीसियां तीन रत्न प्रतीत हुए। जैसे रत्नोंका हार गले और छातीकी शोभा बढ़ाता है वैसे ही ये तीनो बत्तीसियाँ कण्ठ और हृदयमे धारण करने लायक है। जिनागमसे इनमे व्यवहार निश्चय स्वरूप किसी प्रकारका विरुद्ध कथन किया हो ऐसी कल्पना करना अपने अज्ञानको ऊजागर करना मात्र है। इनका सभी स्वाध्यायप्रेमी मनन और अनुगमन करे ऐसी भावना है।

ज्ञानसमुच्चयसार

(अ) जिन उवएसं सारं, किंचित् उवएस कहिय सद्भावं।
तं जिन तारन रहयं, कम्मक्षय मुक्तिकारनं सुद्धं ॥९०६॥

श्री जिनेन्द्रदेवका जो साररूप उपदेश है, उसके कुछ अंशको लेकर 'जिन तारन' नामसे प्रसिद्ध इस ग्रन्थकी मैंने रचना की है। भगवानका यह उपदेश कर्मक्षयके साथ मोक्षप्राप्तिका निमित्त है और पूर्वापर समस्त दोषोंसे रहित है ॥९०६॥

(आ) आगे इसी ग्रन्थकी पुष्पिकामे उनका पूरा नाम जिन तारनतरन दिया है। यथा—

इति ज्ञानसमुच्चय सार ग्रन्थ जिन तारण तरण विरचित समुत्पन्निता।

(इ) प्रत्येक ग्रन्थकी अंतिम पुष्पिकाके समान छद्मस्थवाणीके अतिम अध्यायमे भी स्वामीजीके पूरे नामका इसप्रकार उल्लेख दृष्टिगोचर होता है।

'जिन तारण—तरण शरीर छूटो'

इन सबको देखनेसे विदित होता है कि प्रकृत ग्रन्थके रचयिताका पूरा नाम 'जिन तारण' न होकर 'जिन तारण-तरण' ही प्रचलित था। उनका 'जिन तारण' यह संक्षिप्त नाम है।

ठिकानेसार ग्रन्थके देखनेसे विदित होता है कि आम जनता इनको 'स्वामीजी' इस नामसे विशेष रूपसे सम्बोधित करती रही है।

(१) मालूम पड़ता है कि उनका 'जिन तारण तरण' नाम जन्मनाम न होकर ग्रन्थ-रचनाकालमे या ग्रन्थरचनाके पूर्व ही ध्यान-अध्ययनसे ओतप्रोत उनकी अध्यात्मवृत्त अवस्थाको देखकर साधारण जनताके द्वारा रखा गया होना चाहिये।

(२) यह भी सम्भव है कि अपनी रचनाओंमें स्वामीजीने जिनदेव और जिन गुरुके लिये 'तारण-तरण' पदका बहुलतासे प्रयोग किया है. इसलिये अपना गुरु मानकर उन्हे भी जनता द्वारा 'जिन तारण-तरण' नामसे सम्बोधित किया जाने लगा हो।

जो कुछ भी हो, इतना स्पष्ट है कि अपनी विपुल रचनाके पूर्व ही वे 'जिन तारण तरण' इस नामसे जाने माने लगे होंगे। यही कारण है कि अपनी कई रचनाओंके अन्तमे उन्होंने 'जिन तारण विरइयं' तथा मुक्ति श्री फूलनामें 'मन हरषिय हो जिन तारण' इस रूपमें अपने नामका स्वयं उल्लेख किया है।

जन्मतिथि निर्णय

हमारे सामने तीन ठिकानेसार उपलब्ध है। उन सबमें भगवान् महावीरके कालसे लेकर इसप्रकार विवरण मिलता है :—

'वीरनाथकी आयु वर्ष बहत्तर, काय हाथ सात एवं काल चौथौ। पंचमो कालको आर्वलि इकीस हजार वर्ष। कालि कौ नाम दुषमा। मनुष्यकी काया हाथ साढ़े तीन। मनुष्यकी आर्वलि वर्षकी बीसा सौ, तामे घटि बढ़। उन्नीस सौ पचहत्तरि वर्ष गये ते 'तार काल' हु है।

जहाँ तक मेरा अनुमान है कि ठिकानेसारके उक्त उल्लेखमें 'तार काल' पदसे उसके रचयिताको 'जिन तारण तरण काल' ही इष्ट है। वह मानते हैं कि वीर-निर्वाणसे १९७५ वर्ष गत होने पर स्वामीजीका जन्म हुआ। जैसा कि पट्टावलियोंसे ज्ञात होता है कि वीर जिनके निर्वाणलाभके बाद ४७० वर्ष गत होने पर विक्रम सम्वत् प्रारम्भ हुआ। अतः १९७५ वर्षमेसे ४७० वर्ष कम कर देने पर वि० सं० १५०५ में स्वामीजीका जन्म हुआ यह निश्चित होता है। १९७५–४७० = १५०५ वि० सं० को जन्म।

अब इस सम्वत्के किस माहकी किस तिथिको स्वामीजीका जन्म हुआ, यह देखना है। छद्मस्थवाणीमें स्वामीजीके शरीरत्यागके विषयमें यह उल्लेख आता है—

"संवत पन्द्रह सौ बहत्तर वर्ष जेठ वदी छठकी रात्रि सातएँ शनिवार दिन जिन तारण तरण शरीर छूटो।"

इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि स्वामीजीने जेठ वदी ७ शनिवार वि० सं० १५७२ को इह-लीला समाप्त की।

अब यह देखना कि इस तिथि तक स्वामीजीका कितना काल वर्तमान पर्यायमें व्यतीत हुआ। इसके लिये इसी छद्मस्थवाणीके प्रथम अध्याय पर[1] दृष्टिपात करनेसे विदित होता है कि स्वामीजी कुल ६६ वर्ष पाँच माह पन्द्रह दिन तक वर्तमान पर्यायमें रहे। इसलिये इस कालको शरीर-त्यागके कालमेसे घटा देने पर जन्मकाल अगहन सुदी ७ गुरुवार वि० सं० १५०५ आ जाता है। क्योंकि अगहन सुदी ७ से जेठ वदी ७ तक गणना करने पर कुल ५ माह १५ दिन होते है। तथा उक्त जन्मतिथिसे शरीरत्यागकी तिथि तक वर्षोंकी गणना करने पर ६६ वर्ष होते हैं।

यद्यपि अगहन सुदी ७ से जेठ वदी ७ तक कुल ५ माह १६ दिन होते हैं। परन्तु स्वामीजीने जेठ वदी ६ की रात्रिमे ही शरीर त्याग कर दिया था, इसलिये छद्मस्थवाणीमें जो ५ माह १५ दिनका उल्लेख है वह ठीक है।

छद्मस्थवाणीमें एक यह उल्लेख दृष्टिगोचर होता है—

सिद्ध धुव उन्नीस सौ तेंतीस वर्ष दिन रयनसे तीन उत्पन्न।

इसमें प्रथम अंश 'सिद्ध धुव' है, द्वितीय अंश 'उन्नीस सौ तेंतीस वर्ष दिन रयनसे' है और तीसरा अंश 'तीन उत्पन्न' है।

स्वामीजीका जन्म वीर नि० सम्वत्से १९७५ वर्ष गत होने पर हुआ था, यह हम पहले ही बतला आये हैं तथा प्रकृत वचन उन्नीस सौ तेंतीस वर्षका उल्लेख करना है। इसलिये प्रश्न होता है कि किस सम्वत्से १९३३ वर्ष बाद ? विक्रम संवत्से तो हो नहीं सकता, क्योंकि विक्रम सम्वत्से १९३३ के कई शताब्दी पूर्व ही स्वामीजीका जन्म हो चुका था। अत परिशेष न्यायसे इस कालकी गणना वीर निर्वाण सम्वत्से ही की जानी चाहिये। उक्त उल्लेखमें प्रथम अंश 'सिद्ध धुव' है। मालूम पडता है कि छद्मस्थवाणीमे 'सिद्ध धुव' पद द्वारा वीर जिनका निर्वाण ही अपेक्षित है। अत पूरे उल्लेखका यह अर्थ हुआ कि वीर निर्वाण सम्वत्से १९३३ वर्ष गत होने पर स्वामीजी उत्पन्न हुए। १९७५ मेसे १९३३ कम करनेपर ४२ लब्ध जाते है। अतः इस उल्लेखमें जिन तीनके उत्पन्न होनेका निर्देश किया गया है वे तीन स्वामीजीके जन्मसे ४२ वर्ष पूर्व उत्पन्न हुए, यह निश्चित होता है। पर वे तीन कौन ? यह प्रश्न फिर भी शेष रहता है।

यदि स्वामीजीके जन्मके समय माता-पिताकी आयु लगभग ४२ वर्षकी थी, यह अर्थ लिया जाता है तो यह प्रश्न होता है कि वह तीसरा कौन व्यक्ति होगा जिसका स्वामीजीने जन्मसे ४२ वर्ष पूर्व जन्म हुआ हो..।

१. श्री ता० त० अध्यात्मवाणी पृ० ४०९।

तीसरे व्यक्तिके रूपमें स्वयं स्वामीजीको तो गिना नहीं जा सकता, क्योंकि स्वामीजीका जन्म वीर नि०संवत् १९३३ से ४२ वर्ष बाद हुआ था। अतः मालूम पड़ता है कि छद्मस्थवाणीके उक्त उल्लेखमें किन्हीं महत्वपूर्ण अन्य तीनका उल्लेख किया गया होना चाहिये। इस विषयमें अनुसन्धान होना चाहिये। इससे अनेक ऐतिहासिक तथ्योंपर प्रकाश पडना सम्भव है। मेरी रायमें तो वे तीन महान् विभूति ईडरके प्रथम भट्टारक दिल्ली जयपुरके प्रथम भट्टारक और गुजरात और बुन्देलखण्डके प्रथम भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति ही होने चाहिये। ये तीनों भट्टारक मूलसंघ कुंदकुंद आम्नायके अनुसार सरस्वतीगच्छ बलात्कारगणके अन्तर्गत क्रमसे ईडर, गुजरात–बुन्देलखण्ड और दिल्ली-जयपुर पट्टकी स्थापना करनेवाले थे।

स्वामीजीका जन्म अगहन सुदी ७ गुरुवार वि० सवत् १५०५ को हुआ था। इसका निर्णय छद्मस्थवाणीसे हो जाने पर भी उससे उनके माता-पिताका नाम क्या था? जाति, कुल, गाँव क्या था? किस नगरी मे उन्होंने जन्म लिया था? इत्यादि बातोंपर कोई विशेष प्रकाश नही पडता। एक आध्यात्मिक पुरुष अपने वर्तमान जीवनकी लौकिक घटनाओं आदि पर लिखता बैठे यह सम्भव भी नही है। अत इन बातोंके निर्णयके लिए 'निर्वाण हुण्डी' रचना ही एकमात्र सहारा है। इसकी भाषा मिली-जुली है। उसमे स्वामीजीकी माताका नाम 'वीरश्री' और पिताका नाम 'गढ़ा साह' बतलाया है। उसमे यह भी बतलाया है कि वे जातिसे गाहाभूरी वासल्ल गोत्र परवार (पौरपट्ट) थे। जन्म नगरीका उल्लेख करते हुए लिखा है कि वे पुष्पावती नगरीमे जन्मे थे। इस विषयमे स्व० ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीको छोडकर अन्य सभीका मत है कि कटनीके पास 'बिलहरी' ग्राम ही पुष्पावती है। पूर्व कालमें पुरातत्त्वकी दृष्टिसे यह ऐतिहासिक स्थान रहा है, इसलिए पुष्पावतीका नाम बदलकर उत्तरकालमे बिलहरी हो गया है, यह बहुत कुछ सम्भव है।

निर्वाण हुण्डीसे इन बातोंके सिवाय उनके शेष जीवनपर उल्लेखनीय प्रकाश नही पडता। हाँ, छद्मस्थवाणी (प्रथम अध्याय) मे कुछ वचन ऐसे अवश्य ही लिपिबद्ध हुए है जिनसे उनके जीवनकी खास-खास घटनाओंपर प्रकाश पडना सम्भव है। इन वचनोंका सम्बन्ध स्वामीजीके जीवनसे होना चाहिए। यह इसलिए भी ठीक लगता है, क्योंकि इन वचनोंके बाद उनके सं० १५७२ मे शरीर त्यागका उल्लेख किया गया है। वे समग्र वचन इस प्रकार है—

सहजादि मुक्त भेष उत्पन्न ॥१६॥ मिथ्याविलि वर्ष ग्यारह ॥१७॥ समय मिथ्या विलि वर्ष दस ॥१८॥ प्रकृति मिथ्या विलि वर्ष नौ ॥१९॥ माया विलि वर्ष सात ॥२०॥ मिथ्या विलि वर्ष सात ॥२१॥ निदान विलि वर्ष सात ॥२२॥ आज्ञा उत्पन्न वर्ष दो ॥२३॥ वेदक उत्पन्न वर्ष दो ॥२४॥ उपशम उत्पन्न वर्ष तीन ॥२५॥ क्ष्यायिक उत्पन्न वर्ष दो ॥२६॥ एवं उत्पन्न वर्ष नौ ॥२७॥ उत्पन्न भेष उवसग्ग सहन वर्ष छह् मास, पाँच दिन, पंच दम, पन्द्रह सौ बहत्तर गत तिलक।

सहज ही नग्न (बाल) रूपमें स्वामीजीका जन्म हुआ ॥१६॥ ११ वर्षकी उम्रमें मिथ्यात्व (गृहीत मिथ्यात्वका) विलय हुआ ॥१७॥ उसके बाद १० वर्षमे समय (जीवादि पदार्थ या आत्मा विषयक) मिथ्यात्वका विलय हुआ ॥१८॥ उसके बाद नौ वर्षमें प्रकृति (आन्तरिक रुचि विषयक) मिथ्यात्वका विलय हुआ ॥१९॥ उसके बाद २१ वर्षमे क्रमसे माया, मिथ्यात्व और निदान इन तीन शल्योंका विलय हुआ ॥२०-२२॥ उसके बाद गृहीत व्रतोंको उत्तरोत्तर जिनाज्ञाके अनुसार पालन करते हुए अपने परिणामोंमें मुनिपदके योग्य विशुद्धि उत्पन्न की ॥२३-२६॥ उसके बाद उपसर्गोंको सहन करनेके साथ छह वर्ष, पाँच माह और पन्द्रह दिन तक 'उत्पन्न भेष' अर्थात् मुनिपदका पालन करते हुए वि० सं० १५७२में इहलीला समाप्त की।

यह छद्मस्थवाणीके उक्त वचनोंका आशय है। इस आधार पर स्वामीजीके समग्र जीवनको पाँच भागोंमें विभक्त किया जा सकता है :—

(१) बाल जीवन (२) शास्त्राभ्यास जीवन (३) स्वात्मचिन्तन-मनन जीवन (४) ब्रह्मचर्य सहित निरतिचार व्रती जीवन (५) मुनि जीवन।

१. बालकाल

बाल जीवनमें स्वामीजीके ११ वर्ष व्यतीत हुए। इस कालमें स्वामीजीने लौकिक और प्रारम्भिक धार्मिक शिक्षा द्वारा एतद्विषयक मिथ्यात्व (अज्ञान) को दूर किया। हो सकता है कि वे ५ वर्षकी अवस्थामें अपने पिताजीके साथ अपने मामाजीके यहाँ गये हों और गढ़ौला ग्राममें उनकी चन्देरी पट्टके अधीश भ० देवेन्द्रकीर्तिसे भेंट[१] हुई हो। यह भी सम्भव है कि उस भेंटके समय भ० देवेन्द्रकीर्तिने यह अभिमत प्रकट किया हो कि आपका यह बालक होनहार है। इसके शारीरिक चिह्न और हस्तरेखायें ऐसी हैं जो स्पष्ट करती हैं कि यह बालक महान् तपस्वी होकर लाखोंका कल्याण करेगा[२]।

प्रसंगसे यहाँ मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि भ० श्रुतकीर्ति भ० देवेन्द्रकीर्तिके प्रशिष्य और भ० त्रिभुवनकीर्तिके शिष्य थे। उन्होंने स्वयं इस तथ्यका उल्लेख वि० सं० १५५२ में स्वरचित हरिवंश पुराणकी प्रशस्तिमें किया है।[३] और भ० त्रिभुवनकीर्ति स्वामीजीके जन्म समयके पूर्व या बाद वि० सं० १५०१ से लेकर वि० सं० १५२२के मध्य कभी चन्देरी पट्टके मंडलाचार्य बने, क्योंकि ललितपुरके वि० सं० १५२२के एक प्रतिमालेखमें उनका मंडलाचार्य रूपमें उल्लेख है। इससे पूर्वका हमें ऐसा कोई प्रतिमालेख या प्रशस्ति नहीं मिली है जिसमें भ० त्रिभुवनकीर्तिका इस रूपमें उल्लेख किया गया हो। अतएव स्वामीजीके बाल-जीवनके समय या शास्त्राभ्यासके समय श्रुतकीर्तिका मुनि या भट्टारक होकर विचरना सम्भव ही नहीं दिखाई देता। वि० सं० १५२२ के पूर्व जब भ० त्रिभुवनकीर्ति चन्देरी पट्टपर बैठे होंगे, उसके बाद ही कभी श्रुतिकीर्तिने उनसे दीक्षा ली होगी। श्रुतकीर्ति स्वामीजीके शास्त्राभ्यासके कालमें सहाध्यायी रहे हों और परस्पर मिलकर तत्त्वचर्चा करते रहे हों यह सम्भव है।

यहाँ इस बातका संकेत कर देना चाहता हूँ कि भट्टारक सम्प्रदायमें जिस भट्टारक परम्पराका जेरहटशाखाके रूपमें उल्लेख है वह वास्तवमें चन्देरी शाखा थी। चन्देरीमें इस शाखाके अनेक भट्टारकोंकी छतरी बनी हुई है तथा चन्देरी ललितपुर आदिके कई प्रतिमालेखों और चाँदखेड़ीके स्तम्भ लेखमें भ० देवेन्द्रकीर्तिसे लेकर इस शाखाको चन्देरी शाखा या पट्ट कहा गया है। यह अवश्य है कि "जेरहट" होकर भट्टारकोंका कुण्डलगिरि (कुण्डलपुर) आना-जाना होता रहा है, इसलिए भ० श्रुतकीर्ति किसी कारणवश वहाँ चले गये और अपनी साहित्यरचना जेरहटमें की। यह दमोह जिलेके अन्तर्गत एक ग्राम है।

इन्हीं सब बातोंका विचार कर हमने स्वामीजीकी बालकालमें भ० देवेन्द्रकीर्तिसे भेंट हुई, यह अभिमत प्रगट किया है।

२. शास्त्राभ्यास काल

स्वामीजीकी भेंट भ० देवेन्द्रकीर्तिसे या त्रिभुवनकीर्तिसे तो पहले ही हो गई होगी और उन्होंने अपने कानोंमें अपने विषयमें उनका अभिमत भी जान लिया होगा, इससे सहज ही स्वामीजीका मन उनके (भ०

---

१. भट्टारक सम्प्रदाय ग्रन्थमें इन्हें सूरत पट्टका लिखा है। किन्तु उस समय तक वे चँदेरी आ गये थे। चंदेरी पट्टकी स्थापना उन्होंने ही की थी और वे उस पट्टके प्रथम भट्टारक हुए थे।

२. विमलवाणी पृष्ठ १७।

३. भट्टारक सम्प्रदाय लेखांक ५१३

देवेन्द्रकीर्तिके) सम्पर्कमें रह कर शास्त्राभ्यास करनेका हुआ हो तो इसमें कोई आश्चर्य नही। अतएव लगता है कि ११ वर्षके होनेपर वे अपने परिवारसे विदा होकर उनके पास शास्त्राभ्यासके लिए चले गये होंगे। समय शब्द, छह द्रव्य नौपदार्थ और द्रव्य श्रुत दोनोंके अर्थमें आता है। अतः 'समय मिथ्या विली वर्ष इससे प्रकृतमें यही अर्थ फलित होता है कि ११ वर्षके होनेपर २२ वर्षकी उम्रके होगे तब स्वामीजीने अपने शिक्षागुरुकी शरणमें रहकर शास्त्रीय अभ्यास द्वारा अपने शास्त्र विषयक मिथ्यात्व (अज्ञान) को दूर किया।

४. स्वात्मचिन्तन मनन जीवन

स्वामीजीका जीवन तो दूसरे साचेमें ढलना था, उन्हें कोई भट्टारक तो बनना नही था, इसलिये लगता है कि वे २१ वर्षकी उम्र होनेपर अपने शिक्षागुरुका सानिध्य छोड़कर सेमरखेडी अपने मामाके घर चले आये होंगे और वहाँके शान्त निर्जन प्रदेशको पाकर एकान्तमें स्वात्मचिन्तन मननमें लग गये होंगे। यहाँ सेमरखेड़ीसे कुछ दूर पहाड़ी प्रदेश है, उसके परिसर और ऊपरी भागमे चार गुफाओंके सन्निकट एक पहाडी नदी है। प्रदेश बड़ा मनोहर और चित्ताकर्षक है। सम्भव है छद्मस्थवाणीका प्रकृति मिथ्या विली वर्ष नौ' यह वचन इसी अर्थको सूचित करता है कि स्वामीजीने ऐसा एकान्त निर्जन प्रदेश पाकर ध्यान, चिन्तन, मनन द्वारा अपनी उत्तर-कालीन जीवन-रेखा यहीपर स्पष्ट और पुष्ट की। उनके स्वभावमें मार्गके निर्णय विषयक जो अस्पष्टता थी उसे भी इन नौ वर्षोंके चिन्तन-मनन द्वारा दूर किया। अब उनके सामने एक स्पष्ट ध्येय था, जिसपर चलनेके लिये वे बलपरिपक्व हो गये।

वैसे तो ठिकानेसारकी तीनो प्रतियोंमें स्वामीजीके अनेक स्थानोंपर विचरनेका उल्लेख मिलता है, उनमें एक सेमरखेड़ी भी है. पर उन सब उल्लेखोंसे सेमरखेडी विषयक उल्लेखमें अन्तर है। यह उनके मामाका निवासस्थान भी था। इससे लगता है कि स्वामीजोके निवासका सेमरखेडी खास स्थान रहा होगा ? और वहींसे वे धर्मकी प्रभावना निमित्त अन्य ग्रामो या नगरोंमें जाते रहे होंगे। मात्र इसलिये हमने उनके सेमरखेड़ीके निर्जन प्रदेशमें गिरि गुफाओंमें स्वस्थचित्त हो ध्यान-अध्ययन करनेका विशेष रूपसे उल्लेख किया है।

४. ब्रह्मचर्य सहित निरतिचार व्रतो जीवन

जैसा कि हम पहले बतला आये है अपने जन्म-समयसे लेकर पिछले ३० वर्ष स्वामीजीको शिक्षा और दूसरे प्रकार अपनी आवश्यक तैयारीमें लगे। इस बीच उन्होने यह भी अच्छी तरह जान लिया कि मूल सघ कुन्दकुन्द आम्नायके भट्टारक भी किम गलत मार्गसे समाजपर अपना वर्चस्व स्थापित करते है। उसमें उन्हे मार्गविरुद्ध क्रियाकाण्डको भी प्रतीति हुई। अतः उन्होने ऐसे मार्गपर चलनेका निर्णय लिया जिसपर चलकर भट्टारकोंके पूजा आदि सम्बन्धी क्रियाकाण्डकी अयथार्थको समाज हृदयंगम कर सके। किन्तु इसके लिये उनकी अब तक जितनी तैयारी हुई थी उसे उन्होंने पर्याप्त नही समझा। इन्होने अनुभव किया कि जब तक मै अपने वर्तमान जीवनको सयमसे पुष्ट नही करता तब तक समाजको दिशावान करना सम्भव नही है। यही कारण है कि ३० वर्षकी जवानीकी उम्रमें सर्वप्रथम वे स्वयंको व्रती बनानेके लिये अग्रसर हुए। छद्मस्थवाणीके 'मिथ्या-विली वर्ष सात' इत्यादि वचनोंसे ज्ञात होता है कि उन्होने मिथ्यात्व, माया और निदान इन तीन शल्योके त्यागपूर्वक इस उम्रमे व्रत स्वीकार किये। जिनमे उत्तरोत्तर विशुद्धि उत्पन्न करते हुए वे इस पदपर सात वर्ष तक रहे।

उन्होने अपनी रचनाओंमें जनरंजन राग, कलरंजन दोष और मनरंजन दोष और मनरंजन गारवको त्यागनेका पद-पदपर उपदेश किया है। यहां जनरंजन रागसे चारों प्रकारकी विकथाये ली गई है। कलरंजन दोषसे दस प्रकारके अब्रह्मको ग्रहण किया गया है और मनरंजन गारवसे सम्यक्त्वके २५ मल[1] लिये गये है

१. ठिकानेसार (ब्र० जी)

इससे मालूम पड़ता है कि अपने व्रती जीवनमें उन्होंने इन सब दोषोंके परिहारपूर्वक पूर्ण ब्रह्मचर्यका भी सम्यक् प्रकारसे पालन किया।

५. मुनि-जीवन

स्वयंको अध्यात्ममय सांचेमें ढालनेके लिए और अपने संकल्पके अनुसार समाजको मार्गदर्शन करनेके लिए उन्हें जो भी करणीय था उसे वे ६० वर्षकी उम्र होने तक सम्पन्न कर चुके थे। संयमके अभ्यास द्वारा उन्होंने अपने चित्तको पूर्ण विरक्त तो बना ही लिया था, अतः वे अन्य सब प्रयोजनोंसे मुक्त होकर पूरी तरहसे आत्मकार्य सम्पन्न करनेमे जुट गये (१) ठिकानेसार (खुरई) पत्र २२१ (३) ठिकानेसार (ब्र० जी०) पत्र ८५। अर्थात् उन्होने श्रावक पदकी निवृत्ति पूर्वक मुनि पद अंगीकार कर लिया। छद्मस्थवाणीके उत्पन्न भेष उवसग्ग सहन इत्यादि वचनसे भी यही ध्वनित होता है कि साठ वर्षकी उम्र होनेपर उन्होने नियमसे श्रावक पदसे निवृत्ति ले ली होगी और मुनिपद अंगीकार कर वे पूर्ण रूपसे संयमी बन गये होंगे। इस पदपर वे अनेक प्रकारके मानवीय तथा दूसरे प्रकारके उपसर्गोंको सहन करते हुए ६ वर्ष, ५ माह १५ दिन रहे और जेठ वदी सप्तमी सं० १५७२ को इहलीला समाप्त कर स्वर्गवासी हुए।

यह स्वामीजीका संक्षिप्त जीवन-परिचय है। इसे हमने छद्मस्थवाणीके मिथ्याविलि वर्ष ग्यारह इत्यादिके आधार पर लिपिबद्ध किया है। यद्यपि छद्मस्थवाणीके उक्त वचन गूढ़ है। पर उनमें स्वामीजीकी जीवन-कहानी ही लिपिबद्ध हुई है, यह पूरे प्रकरण पर दृष्टिपात करनेमे स्पष्ट हो जाता है। उनकी जीवनीको लिपिबद्ध करते समय हमने छद्मस्थवाणीके उक्त वचनोंको और तात्कालिक परिस्थितिको विशेष रूपसे ध्यानमें रखा है। इसमे हमने अपनी ओरसे कुछ भी मिलाया नही है और न उनके विषयमें फैली अनेक उलट पुलट मान्यताओंकी ही चर्चा की है।

स्वामीजीका जीवन गौरवपूर्ण था। वे छल प्रपंचसे बहुत दूर थे। भय उनके जीवनमें कहीं भी नही था। उन्हें अनादिनिधन अपने ज्ञायकस्वभाव आत्माका पूर्ण बल प्राप्त था। वे उसके लिये ही जिये और उसकी भावनाके साथ ही स्वर्गवासी हुए। ऐसे दृढ़ निश्चयी महान् आत्माके अनुरूप हमारा जीवन बने, यह भावना है।

स्वामीजीने अपने जीवनमें अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंकी रचना की। उनमे आचारकी दृष्टिसे श्रावकाचार मुख्य है और अध्यात्मकी दृष्टिसे भयखिपनिक, ममल पाहुड, उपदेश शुद्धसार तथा ज्ञानसमुच्चयसार मुख्य है। तीन बत्तीसीकी रचना भी प्रायः इसी दृष्टिकोणसे हुई है। सिद्धि स्वभाव ग्रन्थका अपना अलग स्थान है। मुख अध्यात्मकी ओर ही है। अन्य सब ग्रन्थोंकी भिन्न-भिन्न प्रयोजनोंको लक्ष्यमे रखकर रचना हुई है। स्वामीजीका समग्र जीवन अध्यात्मस्वरूप होनेसे उन सब रचनाओंके द्वारा पुष्टि अध्यात्मकी ही होती है। उक्त सब रचनाओंमेसे ९ रचनाएँ गद्यमय है। भाषाकी स्वतन्त्रता है। स्वामीजीने किसी एक भाषा और व्याकरणके नियमोंमें अपनेको जकड़ कर रचनाऐं नही की है। जहाँ जिस भाषामे अपने हृदयके भावोंको व्यक्त करना स्वामीजीको उचित प्रतीत हुआ वहाँ उस भाषाका अवलम्बन लिया गया है। रचनाओंमे प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और बोलचालकी हिन्दी इन चारों भाषाओके शब्दोंका समावेश किया गया है। अनेक स्थलों पर मुहावरेके वाक्योंको भी स्थान दिया गया है। कई स्थलों पर रचनाका प्रवाह गूढ़ हो जानेसे स्वामीजीके हृदयकी थाह लेनेके लिये अथक परिश्रम अपेक्षित है।

स्वामीजी मर्मज्ञ तत्त्ववेत्ता होनेके साथ संगीतज्ञ भी रहे है। लगता है कि वे अपने स्वात्मचिन्तन-मनन और जनसम्पर्कके समय अपनी इस सहज प्राप्त सर्वजनप्रिय कोमल कलाका बहुलतासे उपयोग करते रहे होंगे।

ठिकानेसारकी तीनों प्रतियोंमें ममलपाहुडका कौन फूलना किस निमित्त किस ग्राममें रचा गया, इसका कुछ विवरण लिपिबद्ध किया गया है। उससे उक्त तथ्यकी पुष्टिको पूरा बल मिलता है। इस परसे मुझे लगता है कि स्वामीजीने अपनी ग्रन्थ-रचनाका प्रारम्भ ममलपाहुड़से ही किया होगा। मुनिपद अंगीकार करनेके बाद अवश्य ही उन्होंने अपने यातायातके क्षेत्रको सीमित कर दिया होगा। श्रावकके सात शीलोंको स्वामीजीने पाँच महाव्रतोंके साथ मुनि-पदमें रहते हुए अपने अधिकतर समयको ध्यान अध्ययनमें ही लगाया होगा। स्पष्ट है कि उन्होंने अधिकतर मौलिक रचनाओंका सृजन श्रावक अवस्थामें ही कर लिया होगा।

श्री जिन तारण तरणने जिन १५ ग्रन्थोंकी रचनाकी थी उनमेंसे १४ ग्रन्थ मुद्रित भी हो चुके हैं। उनके नाम हैं—

१. तारण श्रावकाचार २. पण्डित पूजा ३. मालारोहण ४ कमलबत्तीसी ५. ज्ञान समुच्चयसार ६. ममलपाहुण ७. उपदेश शुद्धसार ८. त्रिभंगीसार ९. चौबीसठाणा १०. सिद्धिस्वभाव ११. शून्य स्वभाव १२. रुकतिका विशेष १३. नाममाला और १४. धर्मस्थवाणी।

इनमेंसे प्रारंभके ९ ग्रन्थोंकी स्व० ब्र० शीतल प्रसाद जी लिखित अन्वयार्थ सहित टीका भी प्रकाशित हो चुकी है। वे ग्रन्थ किस क्रमसे अनूदित होकर मुद्रित हुए उनका आनुपूर्वी क्रम इस प्रकार है।

क्र० ग्रन्थ नाम	मुद्रण संवत्			गाथा संख्या
१. श्री तारण तरण श्रावकाचार	वीर	नि०	सं० २४५९	४६२
२. ज्ञान समुच्चय सार	,,	,,	,, २४६१	९०७
३. उपदेश शुद्धसार	,,	,,	,, २४६२	५८९
४. ममलपाहुड भाग १	,,	,,	,, २४६३	४९ फूलना तक
५. ममलपाहुड भाग २	,,	,,	,, २४६४	१०६ फूलना तक
६. त्रिभंगीसार	,,	,,	,, २४६५	७१ गाथा
७. कमल बत्तीसी	,,	,,	,, २४६५	३२
८. ममलपाहुड भाग ३	,,	,,	,, २८	१६४ फूलना तक

अभी ३-४ वर्ष पूर्व हमें श्रीमन्त सेठ भगवानदासजीके बड़े सुपुत्र श्री भाई डालचन्द्रजीने एक गुटकेका फोटो प्रिंट भेजा था। पत्र संख्या १४७ है। उसके बाद दूसरी कलमसे लिखे हुए १-२ पत्र और हैं। उनमेंसे दूसरे पत्रका प्रथम पृष्ठ त्रुटित है। प्रत्येक पत्र लगभग १३-१४ अंगुल लम्बा और ७ अंगुल चौड़ा है। हाँसिया छोड़ दिया गया है। प्रत्येक पृष्ठोंमें कमसे कम १४ और अधिकसे अधिक १८ पंक्तियाँ हैं तथा एक पंक्तिमें अक्षर किसीमें कमसे कम १८ और किसीमें अधिकसे अधिक ३० हैं। इस कारण किसी पृष्ठमें अक्षर मोटे हैं और किसीमें सूक्ष्म हैं। इससे यह अन्तर पड़ा है। यह गुटका कब लिपिबद्ध किया गया इसका उल्लेख करते हुए श्रावकाचारके (पत्र ३११) के अन्तमें यह लेख लिपिबद्ध हुआ है—

इति सवगयारू जिन तरन नाम विरचित सम उत्पनिता ११ संवत् सोरहस्यो वृषे वैसा भाग ६ सुदि लिखत।

लगता है कि वैसाख सुदी ६ संवत् १६०० को श्रावकाचारकी प्रतिलिपि पूर्ण हुई होगी। कारण कि जिस तिथिको यह गुटका लिपिबद्ध होकर पूरा हुआ उसका प्रतिलिपिकारने स्वतन्त्र रूपसे उल्लेख करते हुए अन्तमें लिखा है—

कुवरू सुदि ग्यारास वर्षे सोरहसै दिवनरास्य............अलासान पंडे...... ......।

मतलब यह है कि किसी अलासान पांडेने कुवार सुदी ६ रविवार वि० सं० १६०० को इस गुटकाकी प्रतिलिपि समाप्त की थी। इससे यह साफ मालूम पड जाता है कि आजसे लगभग ४३७ वर्ष पूर्व यह गुटका लिपिबद्ध किया गया था। उक्त उल्लेखसे प्रतिलिपिकार विशेष शिक्षित नही जान पड़ता इसलिए संभव है कि जिस प्रतिके आधारसे प्रतिलिपिकारने इस गुटकाको लिपिबद्ध किया होगा वह अपेक्षाकृत परिष्कृत भाषामें रहा होगा। यह भी सम्भव है कि स्वामीने अपनी समस्त रचनाओंके लिये उक्त गुटकामें निबद्ध भाषाको ही अपनाया होगा। जो कुछ भी हो इतना अवश्य है कि आगे स्वामीजीकी किसी भी रचनाको मुद्रित करते समय उसका मिलान गुटकामे निबद्ध रचनासे अवश्य करा लेना चाहिये। क्योंकि ऐसा करनेसे उक्त ग्रन्थकी भाषाके सुधारमे थोड़ा बहुत लाभ मिल सकता है। जिसमें लिपिबद्ध हुए ग्रन्थोंका क्रम इस प्रकार है—

ग्रन्थ का नाम	पत्र संख्या	गाथा संख्या
१. श्रावकाचार	६ से ३१	९५ से ४६२
२. उपदेश शुद्धसार	३१ से ७५	५८८
३. ज्ञानसमुच्चयसार	७१ से १३३	९०७
४. त्रिभंगीसार	१३३ से १३८	७१
५. पंडितपूजा	१३९	१० प्रारंभके
७. कमलबत्तीसी	१४३ से १४५	३२
७. ज्ञानपिंड	१४५ से १४७	×

इस प्रकार उक्त गुटका पर दृष्टिपात करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस गुटकेके प्रारम्भके पाँच पत्र त्रुटित हो जानेसे इसमें श्रावकाचारके ९४ पद्य उपलब्ध नही होते। इसी प्रकार पत्र १३८ का उत्तरार्ध और पत्र १३९ का पूर्वार्ध तथा पत्र १४०, १४१, १४२ और १४३ का पूर्वार्ध त्रुटित हो जानेसे इसमें पंडित पूजाके प्रारंभिक १० से लेकर ३२ तकके पद्य और मालारोहण नही उपलब्ध होते। पद्य शेष जो ग्रन्थ इसमें संकलित किये गये है वे सब अथसे लेकर इति पर्यन्त पूर्ण रूपसे उपलब्ध होते है। यह इस गुटकेका परिचय है।

इसमें सबके अन्तमें ज्ञानपिंड नामक एक स्वतंत्र प्रकरण लिपिबद्ध है। उसके प्रारंभमे यह पद्य उपलब्ध होता है।

इय जिनवर भासओ विहुपयसिओ सुनिसेनिय समयित्तथिरू संस्तर निवाग्न्तु सवगे कारनु धर्मधरा..................

तथा इसके अन्तमें यह पद्य उपलब्ध होता है—

इय न्यानपिंड................न्यान विन्यान संजुल।
इय न्यानपिंड............... लहै सुरयते मुक्तिवरं॥

गजबासौदाके बीचके चैत्यालयमें भी एक ज्ञानपिंड माल्हडी नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ पाया जाता है। मेरे ख्यालसे ये दोनों एक होने चाहिये। फिर भी मेरी जिज्ञासा समाप्त नहीं हुई। अतः मेरे द्वारा भी डा० कस्तूर चन्दजी द्वारा सम्पादित कतिपय शास्त्र भंडारोंकी हस्तलिखित ग्रन्थ शास्त्रियोंका अवलोकन करने पर मालूम हुआ कि इस ज्ञानपिंडके अतिरिक्त इसी नामका एक ग्रन्थ और है। किन्तु उसका विषय इससे भिन्न चार आराधना है, उसका प्रारंभिक अंश इस प्रकार है।

कर्णापिंड गुणसायर भुवण दिवायर पणविवि सिद्ध जिणेसर।
वोछा में आराहण सिव सुहसाहण यह अखिय जिणवर वर॥

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी ने एक स्वतन्त्र ज्ञानपिंड या ज्ञानपिण्ड पद्धाडिका नामक लघुकाय ग्रन्थ लिखा था। अतः इस सहित स्वामीजी द्वारा रचे गये ग्रन्थ १५ हो जाते हैं। यहाँ ऐसा समझना।

श्री ब्रह्मचारीजीने अनुवादके लिए जो क्रम स्वीकार किया था वह गुटकेमें लिपिबद्ध हुए ग्रन्थोंके क्रमसे थोड़ा भिन्न है। इस आधारपर यह कह सकना थोड़ा कठिन है कि स्वामीजीने इन ग्रन्थोंको मूर्त रूप देनेमें क्या क्रम स्वीकार किया होगा। फिर भी तीनों ठिकानेमारोंके आधार पर इतना तो निश्चय पूर्वक कहा ही जा सकता है कि ममलपाहुड और तीन बत्तीसियोंको कालके आधार पर रचनाके किसी क्रममें बाधना संभव नहीं है। विशेष स्पष्टीकरण उस-उस ग्रन्थका परिचय लिखते समय करेंगे ही।

२. चार अनुयोग

इस समय जितना भी जैन साहित्य उपलब्ध होता है उसे मुख्यतया चार भागोंमें विभक्त किया गया है। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग कहा भी है—

प्रथमं करणं चरणं द्रव्य नमः।

प्रथमो व्युत्पन्नो मिथ्यादृष्टिः, तस्मै योऽनुयोगः स प्रथमानुयोग। अर्थात् जिसे तत्त्वज्ञानकी खबर नहीं है, किन्तु उसे जाननेके लिए उत्सुक है उसको तत्त्वज्ञानमें प्रवेश करानेमें प्रधान साधनभूत अनुयोगको प्रथमानुयोग कहते हैं। अर्थात् जो व्यक्ति जैन धर्मकी प्रारम्भिक शिक्षा लेना चाहते हैं उन प्राथमिक श्रावकोंके लिए कथा-पुराण सर्वोत्तम उपाय है। उसके माध्यममें पुण्य पापका ज्ञान होनेपर भी परिणामोंकी जातिके परिज्ञान पूर्वक किस प्रक्रियासे मोक्षमार्गमें प्रवेश होकर मोक्षकी प्राप्ति होती है इसका सम्यक् परिज्ञान करानेके लिये प्रथमानुयोगके बाद करणानुयोग रखा गया है। किन्तु चरणानुयोग और द्रव्यानुयोगका निकटका सम्बन्ध है क्योंकि जिसने मोक्षमार्गमें प्रयोजनीय समझकर उत्तरोत्तर रागभावकी हानि पूर्वक तदनुरूप आचारमें आनुपूर्वीसे निपुणता प्राप्त करता जाता है वही स्वावलम्बन पूर्वक आत्मस्थ होनेका अधिकारी होता है, इसलिए तीसरे स्थानपर चरणानुयोग और चौथे स्थानपर द्रव्यानुयोगको रखा गया है।

ग्रंथ रचना क्रम विचार

स्वामीजी द्वारा रचित समग्र साहित्यपर दृष्टिपात करनेसे यह नहीं मालूम पड़ता कि उन्होंने सर्वप्रथम किस ग्रन्थ की रचनाकी थी और उसके बाद आगे अन्य ग्रन्थोंकी रचनामें क्या क्रम स्वीकार किया था। इस-लिए कालके आधारपर ग्रन्थ रचनाके क्रमको स्वीकार करना तो सम्भव नहीं है फिर भी भगवान् महावीरके प्रधान-शिष्य गौतम गणधरने ११ अंग और १४ पूर्वोको मूर्त रूप देते हुए सर्वप्रथम आचारांगकी रचना की थी। उसके बाद सूत्रकृतांग आदि ११ अंगोंकी रचना करके सबके अन्तमें १४ पूर्व गर्भ दृष्टि अंगकी रचना की थी। पूर्वकालमें गुरु अपने शिष्यको वाचना भी इसी क्रमसे देते थे। गुरुके द्वारा शिष्यको निर्दोष रूपसे शब्द और अर्थ दोनोंका प्रदान करना इसका नाम वाचना था। धवला पुस्तक ९ निबद्ध ४४ मंगल सूत्र और उनकी धवला टीका द्रष्टव्य है।

उसमें वे लिखते हैं कि इस अनुयोगद्वारमें जो ४४ मंगलसूत्र निबद्ध हैं उनकी रचना महाकम्मपयडि पाहुडके प्रारम्भमें स्वयं गौतम गणधरने की थी। उनमेंसे १२-१३ सख्याक मंगलसूत्र हैं। उनमेंसे प्रथम मंगल

१ धवला पुराण ९, पृ० १०४।

सूत्र द्वारा अभिन्न १० पूर्वियोंको नमस्कार किया गया है तथा इनको नमस्कार करते हुए १३वें सूत्रमें १४ पूर्वियोंको नमस्कार किया है। वहाँ (प्रथम सूत्रकी व्याख्या करते हुए) यह शंका उठाई गई है कि सर्वप्रथम चौदह पूर्वियोंको नमस्कार न कर दशपूर्वी जिनोंको नमस्कार क्यों दिया गया है। इसका समाधान स्वयं वीरसेन स्वामीने दो प्रकारसे किया है। प्रथम समाधानके प्रसंगसे वे लिखते हैं—

तत्थ एक्कारसंगाणि पढिदूण पुणो परियम्म-सुत्त-पढमाणि योगपुव्वगय-चूलिया त्ति पंचाहियाणिवद्ध-दिवादे पढिज्जमाणे उप्पादपुव्वमादि कादूण पढंताणं दसपुव्वीए विज्जाणुवादे समत्ते रोहिणी आरिपंचसम महाविज्जायो सत्तसयदहरविज्जायाहि अणुगयाओ किं भयवं आणावेदि त्ति दुक्कंति। एवं दुक्काणं सव्वविज्जाणं जो लोभं गच्छदि सो भिण्णदसपुव्वी। जो पुण तासुं ण लोभं करेदि कमक्खय त्थी होंतो सो अभिण्णदस्स-पुव्वीणाम। तत्थ अभिण्णदसपुव्वी जिणाण णमोक्कारं करेमि त्ति उत्तं होदि।

किं भयव आणावेदि विठुक्कंति एवं ठक्काण सव्वविज्जाणं जो लोभं गच्छादि सो भिण्णदसपुव्वी। जो पुण तासु ण लोभं करेदि कम्मक्खयत्थी होतों सो अभिण्णदस्सपुव्वीणाम। तत्थ अभिण्णदसपुव्वीजिणाणं णमोक्कारं कामित्ति उत्तं होदि।

इसका अर्थ है—वहाँ ग्यारह अंगोंको पढकर पुनः परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका इन पाँच अधिकारोंमें निबद्ध दृष्टिवादको पढ़ते हुए उत्पाद पूर्वसे लेकर पढने वालेके दशम पूर्व विद्यानुवादके समाप्त होनेपर ७०० क्षुल्लक विद्याओंसे अनुगत रोहिणी आदि ५०० महाविद्याएं भगवन्! क्या आज्ञा देते हैं ऐसा कहकर उपस्थित होती है। इस प्रकार उपस्थित हुई सब विद्याओंके अनुसार जो लोभको प्राप्त होता है वह भिन्न दशपूर्वी है और जो कर्मक्षयका अर्थी होता हुआ उनमे लोभ नही करता वह अभिन्नदशपूर्वी है। उनमेंसे यहाँ अभिन्न दशपूर्वी जिनोंको मैं नमस्कार करता हूँ यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

इस उल्लेखसे यह स्पष्ट है कि गौतमगणधरने सर्वप्रथम आचारांगकी रचना की थी। तदनन्तर सूत्र-कृताग आदि १२ अंगोंकी रचना की थी। गुरु शिष्यको वाचना भी इसी क्रमसे देता है यह भी इससे स्पष्ट हो जाता है।

यदि दूसरे मंगलसूत्रपर दृष्टि डालते है तो उसकी टीकासे भी इसी अर्थकी पुष्टि होती है। लिखा है—

सेसहेट्ठिल्ल पुव्वीणं णमोक्कारो किं ण कदोंरणु, तेंसि चि कदो चेव, तेहि विणा चौदसपुव्वाणुववत्तीयों।

शंका—अस्वस्तन शेष पूर्वियोंको नमस्कार क्यों नही किया ?

समाधान—नही उनको नमस्कार किया ही है, क्योंकि जो अधस्तन पूर्वी जिन नहो हुए है उनका चौदस पूर्वी जिन होना सम्भव नही है।

यह अध्ययन-अध्यापन और ग्रंथ रचनाका क्रम है। इसे ध्यानमे रखकर विचार करनेपर ऐसा लगता है कि इसी परिपाटीका अनुसरण करते हुए स्वामीजीने भी सर्व प्रथम श्रावकाचारकी रचना की होगी। यह कहना कि आचारांग तो मुनि-आचारका ग्रन्थ है और स्वामीजी द्वारा रचित ग्रन्थ मुख्यतया श्रावकाचार सम्बन्धी है, इसलिए पूर्वोक्त तर्कके अनुसार स्वामीजीने मूल परम्पराका अनुसरण करके सर्वप्रथम श्रावका-चारकी रचना क्यों की उन्होंने, यति-आचार सम्बन्धी ग्रन्थकी रचना क्यों नहीं की। इसके दो समाधान हो सकते हैं—प्रथम तो यह कि यह भले ही मुख्यतया श्रावकाचार सम्बन्धी ग्रन्थ हो, पर है तो यह आचार विषयक ही साथ ही। देश-कालको देखते हुए इतिहासपर दृष्टिपात करनेसे मालूम पड़ता है कि उनके कालमे आचार विषयक शिथिलता बहुत कुछ बढ़ गई थी इसलिए भूलमे सुधार करनेके अभिप्रायसे उन्होंने सर्वप्रथम श्रावकाचारकी रचना करना ही इष्ट माना होगा। दूसरे ऐसा लगता है कि उन्होंने जो कुछ भी लिखा है

वह प्रायः ब्रह्मचर्य पूर्वक व्रती अवस्थामे ही लिखा है इसलिए भी उन्होंने मुख्यतया श्रावकाचारकी रचना करना इष्ट रखा होगा।

यह कहना कि उनके काल तक इस आगमिक परम्पराका लोप हो गया होगा जैसा कि बहुलतासे इस कालमें देखा जाता है, ठीक नही है क्योकि पण्डित प्रवर आशाधरजी १३वी शताब्दीमें मनीषी विद्वान् हो गये है। वे भी स्वरचित सागारधर्मामृतमे आडंगर्फधर्मथार्थ सग्रहमधीर्य्य इन शब्दो द्वारा उसी परम्पराका स्मरण कराते हैं। अत यह माननेमे आपत्ति नही है कि स्वामीजीने वे धर्मभीरु समाजको मार्गी बनाये रखनेके लिए सर्वप्रथम श्रावकाचारकी रचना की होगी।

अब देखना यह है कि स्वयं अपने द्वारा रचित अन्य ग्रन्थोंकी रचनाका उन्होंने क्या क्रम स्वीकार किया होगा। स्वामीजीने ज्ञानपिण्ड पद्धडिकाको मिलाकर जिन पन्द्रह ग्रन्थोकी रचना की है उनमेसे एक ग्रंथके अन्तमे तो पाहुड शब्द लगा हुआ है और तीन ग्रन्थोंके अन्तमे सार शब्द लगा हुआ है। जिन ग्रन्थोंके अन्तमे सार शब्द लगा हुआ है वे है—ज्ञान समुच्चयसार, उपदेश शुद्धसार और त्रिभंगीसार। यह सार शब्द समयसार, प्रवचनसार और नियमसारके अन्तमे भी लगा हुआ है। हैं ये तीनो ग्रन्थ पाहुड ही। इस आधार पर यह माना जा सकता है कि स्वामीजीने भी स्वरचित तीन ग्रन्थोंके अन्तमे पाहुडके अर्थमे ही सार शब्दका प्रयोग किया होगा। और ऐसा माननेमे कुछ अपवादको छोडकर कोई आपत्ति भी नही दिखाई देती, क्योंकि चौदह पूर्वोके अन्तर्गत जिस साहित्यकी परिगणना की जा सकती है उसके अधिकतर लक्षण स्वामीजी द्वारा रचित उक्त तीन ग्रन्थोंमें बहुलतासे उपलब्ध होते है।

पाहुड शब्दका जब "पदोंमे स्फुट" अर्थ लिया जाता है तब जिस अर्थका हमने पूर्वमे स्पष्टीकरण किया है वह अर्थ इन ग्रन्थोंमें बहुलतासे घटित हो जाता है इसमे सन्देह नही। किन्तु जब पाहुडशब्दका उपहार अर्थ लिया जाता है तब आनन्दको उत्पन्न करने वाले होनेसे इन तीन ग्रथोंको इस अर्थमे भी प्रभृत माननेमे आपत्ति नहीं, क्योंकि जो भव्य जीव अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीरकी दिव्यध्वनिको केन्द्रमें रखकर इन ग्रन्थोंका स्वाध्याय करता है वह अवश्य ही अक्षयानन्त आनन्दका भागी होता है। मात्र दृष्टि किसी सीमामे बंधी हुई न होकर सम्यक् पूर्व परम्पराको अनुसरण करने वाली होनी चाहिए।

यह तो तीनों ठिकानेसारोंके उल्लेखसे ही स्पष्ट हो जाता है कि ममलपाहुडके सभी फूलनोंकी रचना एक कालमें नहीं हुई थी। साथ ही "मुखसे फूल झडे" इस अर्थमे ही सम्भवत. सभी फूलनोंको फूलना कहा जाने लगा जान पड़ता है, इसलिए ममलपाहुड एक कालकी रचना न होनेके कारण श्रावकाचारके बाद ज्ञानसमुच्चयसार स्वीकार कर लेना उपयुक्त प्रतीत होता है। लगता है कि स्वामीजीने ज्ञान समुच्चय यह नामकरण मुख्यतया समयसारके ही अन्तिम अधिकार सर्वविशुद्धिज्ञानाधिकारके अर्थमे ही किया जान पड़ता है इसलिए उमे तीसरे स्थानपर रखा गया है। इसके बाद त्रिभंगीसार क्रम प्राप्त है, इसलिए उसे चौथे स्थान-पर रखा है।

अब रहे शेष ग्रन्थ सो उनमेसे चौबीसठाणा यह करणानुयोग सम्बन्धी ग्रन्थ होनेसे इसका भी अन्तर्भाव पूर्वश्रुतमे होता है, इसलिए उसकी परिगणना पांचवे स्थानपर करना न्यायसंगत है। इसके बाद ममलपाहुड, पण्डितपूजा, मालारोहण और कमल बत्तीसीको क्रमसे रखा जा सकता है। यद्यपि इस क्रममे कुछ विचार है जिसका निर्देश हम उन ग्रन्थोंका विस्तृत परिचय लिखते समय करावेंगे।

स्वामीजी द्वारा रचित सब ग्रन्थोमे उक्त नौ ग्रन्थ मुख्य है, इसलिए हमने इन नौ ग्रन्थोंके रचनाक्रमपर ही मुख्यरूपसे प्रकाश डाला है। आगे रचना क्रम विचारके लिए जो ग्रन्थ रह जाते है उनमेसे छद्मस्थ-

१. सारसर धर्मामृतअ. २, श्लो. २१।

वाणीको सबके अन्तमे रखना उचित प्रतीत होता है, कारण कि उसमे कुछ ऐसे वचन भी संग्रहीत किये गये हैं जिन्हें स्वामीजीके अन्तिम उद्गारके रूपमे स्वीकार किया जा सकता है। इससे उसका छद्मस्थवाणी यह नामकरण भी सार्थक सिद्ध हो जाता है, क्योंकि उसके द्वारा स्वामीजीसे सम्बन्धित लगभग पूरे इतिहासपर प्रकाश पड़ता है। उसमे प्रायः उन सभी नामों और ग्रामोके नामोंका संकलन हुआ है जो उनसे लाभान्वित हुए हैं। फिर भी जो कुछ नाम छूट गये या उनके धार्मिक प्रचारमें सहायक रहे उन्हें छद्मस्थवाणीमें संकलित कर दिया गया है।

अब शेष रहे ज्ञानपिण्डपद्धडिकाके साथ चार ग्रन्थ—सो उन्हें १० खातिका विशेष, ११ सिद्धिस्वभाव, १२ शून्यस्वभाव और १३ ज्ञानपिण्डपद्धडिका इस क्रमसे रखना उपयुक्त होगा। यह क्रम हमने इसलिए स्वीकार किया है, क्योंकि उत्तरोत्तर स्वामी जी धर्म-प्रचार आदि सम्बन्धी विकल्पोंको गौण कर आत्मभावनाकी ओर विशेष रूपसे झुकते गये होंगे और इसलिए यह माना जा सकता है कि सिद्धिस्वभाव और शून्यस्वभाव यह उनके अन्तिम उच्छ्वासके रूपमें लिपिबद्ध हुए होंगे।

ठिकानेसार :

जैसा कि हम पहले लिख आये हैं जो तीन ठिकानेसार हमारे सामने हैं उनमें उक्त चौदह ग्रन्थोंको पाँच मतो (मतियो) मे विभाजित किया गया है—आचारमत, विचारमत, ममलमत और केवलमत (१) आचारमत-श्रावकाचार। (२) विचारमत-मालारोहण, पण्डितपूजा और कमलबत्तीसी। (३) सारमत-ज्ञानसमुच्चयसार उपदेशशुद्धसार और त्रिभंगीसार (४) ममलमत-ममलपाहुड और चौबीसठाणा तथा (५) केवलमत छद्मस्थवाणी, नाममाला, खतिका विशेष, सिद्धिस्वभाव और शून्यस्वभाव।

ठिकानेसारमे मतके स्थानमे मतिशब्दका भी प्रयोग हुआ है। यद्यपि पहले हमने इसपर विचार नही किया था कि मन शब्दका प्रयोग किया या मति शब्द का। लगता तो यही है कि उसने मन शब्द न रख कर मति शब्द रख कर ही यह विभाग किया होगा, क्योंकि स्वरचित ग्रन्थोमे जिन विषयोका संकलन हुआ है वे अलग-अलग मतोंमे विभक्त हों ऐसा नही है हाँ नय विशेषको ध्यानमे रखकर अवश्य ही कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ श्रावकाचार यतः चरणानुयोगका ग्रन्थ है, इसलिए यह अध्यात्मगर्भ व्यवहार नयकी मुख्यतासे लिखा गया है। पण्डितपूजा यह ज्ञानीव्यवहार-निश्चय उभयरूप पूजा ठिकावसारेक लेख ने किस विधिसे करे इसका प्रतिपादक है, इसलिए वह व्यवहारगर्भ निश्चयनयी मुख्यतासे लिपिबद्ध हुआ है। ये उदाहरण मात्र है, अतः अन्य ग्रन्थोंका भी इसी न्यायसे विचार कर लेना चाहिये। इसलिए ऐसा लगता है कि मूल ठिकानेसारके लेखकने स्वामी जी द्वारा रचित ग्रन्थोको नय विशेषकी दृष्टिसे विभक्त करते समय मति शब्द ही रखा होगा। मन शब्दकी अपेक्षा मति शब्द नया शब्दके अधिक सन्निकट है।

तदनुसार यहाँ ऐसा अर्थ लेना चाहिये कि धर्माचरणमे तत्पर श्रावक या श्राविकाका बाह्य आचार कैसा हो इसका निर्देश स्वामीजीने श्रावकाचारमें किया है, इसलिए ठिकानेसारके लेखकने उसकी परिगणना आचारगति अर्थात् व्यवहार नयके विषय रूपमे दी है। इसी प्रकार सारमति, विचारमति, ममलमति और केवलमतिके विषयमें भी विचार कर लेना चाहिए अथवा नयके अर्थमें मत शब्दको स्वीकार कर लेनेपर उनके अर्थ फलित दहों जाता है।

प्रकृतमें सार पदका अर्थ है हितकारी या उपादेय। हितकारी या उपादेय एक आत्मा है क्योकि अन्य जितनी प्रकृतियाँ हैं या विकल्प परम्परा है परमार्थसे वह संसारकी ही प्रयोजक है यह जानकर जो आत्माकी शरण लेता है वही कल्याणका भागी होता है इस प्रकार इस दृष्टिको सामने रखकर स्वामीजीने व्यावहारिक

गर्भ निश्चयनय प्रधान ज्ञानसमुच्चयसार, उपदेशसुद्धसार और त्रिभंगीसारकी रचना की है। इसीलिए ठिकाने-सारके लेखकने इन तीन ग्रन्थोंकी परिगणना सारमति अर्थात् व्यवहारगर्भ निश्चयनयके विषय रूपमें की है।

विचारका अर्थ है प्रकृति विषयमे मनोयोगपूर्वक उपयुक्त होना। पण्डितपूजा आदि तीन बत्तीसियोंमें जिन विषयोंकी संकलता है वह अर्थ गर्भ है। लगता है इसे ठिकानेसारके लेखकने अवश्य ही हृदयंगत किया होगा। इसीलिए उसने इन तीन ग्रन्थोंको भी विचारमति अर्थात् व्यवहार गर्भ निश्चयनयके विषय रूपमे परिगणित किया है।

ममल यह स्वामीजीका निर्मल या अमलके अर्थमे आया हुआ पारिभाषिक शब्द है। ठिकानेसार और चौबीसठाणा ये आत्ममग्नताकी ओर ले जाने वाले शुभोपयोग बहुल ग्रन्थ है, इस अभिप्रायको साधकर ही ठिकानेसारके लेखकने इनकी परिगणना ममलमति अर्थात् अध्यात्मगर्भ व्यवहारनयके विषय रूपमे की है।

केवलमतिमें केवल पदसे स्वामीजीको जो इष्ट रहा है यह ठिकानेसारके लेखककी दृष्टिसे रहस्यपूर्ण है। मेरी नम्र रायमे वह रहस्य यह हो सकता है यथा जब हम सिद्धिस्वभाव और शून्यस्वभावके विषयकी दृष्टिसे विचार करते हैं तब तो केवल पदका अर्थ होता है, अकेला आत्मा। संयोग और संयोगी भावोसे भिन्न अकेले आत्माको देखनेपर यह आत्मा सिद्धोंके समान स्वत सिद्ध, अनादि अनन्त विज्ञानघन चिन्मात्र प्रतीत होता है। और जब खातिका विशेषके विषयकी दृष्टिसे विचार करते है तब केवल पदका अर्थ होता है कि अकेला आत्मा ही अपने अपराधके कारण नरकादि योनियोंका पात्र होता है और जब नाममाला तथा छद्मस्थवाणीके विषयकी दृष्टिसे विचार करते है तब केवल पदका अर्थ होता है अपने इतिवृत्तको इतिहास सजोया जाना क्योंकि इन दोनों ग्रन्थोंमे स्वामीजीके कालके उन सम्बन्धी मौलिक इतिहासको ही यथा सम्भव संजोया है। इस प्रकार ठिकानेसारके लेखकने स्वामीजीकी सब रचनाओंको जो पाँच भागोंमे विभक्त किया है उसका यह आशय प्रतीत होता है।

भाषा

दो-तीन ग्रन्थोंको छोड़कर स्वामीजी द्वारा रचित ग्रन्थोंकी भाषा अपनी है। यह ऐसा सिक्का है जो अलगसे टकसालमें ढाला गया है किन्तु है वह सरस और मूल विषयको स्पर्श करने वाली ही। साधारणतः प्रत्येक ग्रन्थकार प्राकृत, पाली, संस्कृत, अपभ्रंश या देशीय किसी एक भाषामे अपने ग्रन्थकी रचना करता है। यदि दो भाषाओंका भी आलम्बन लेना है तो उनकी अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखना है। किन्तु स्वामीजीने भाषा विषयक इन परतन्त्रताको भी स्वीकार नही किया है। यह तो है कि वे मूलतः मध्यप्रदेशमें जन्मे थे, वहीं बड़े हुए साथ ही वही रहते हुए उन्होने धर्मग्रन्थोंका अध्ययन किया था इसलिए उनकी रचनाओंमें जहाँ बुन्देलखण्डमें बोली जानेवाली भाषाका समावेश दृष्टिगोचर होता है वहाँ प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश भाषाका भी योगदान दिखाई देता है। इस प्रकार यह स्वामीजी द्वारा स्वीकृत अपनी भाषा होते हुए भी ऐसी अटपटी भी नही है कि कोई भी तत्वज्ञानमे सुपरिचित स्वाध्याय प्रेमी या अध्ययनशील व्यक्तिको अध्ययन करते समय विवक्षित ग्रन्थ, वाक्य या पदका अर्थ हृदयगम करनेमे किसी प्रकार कठिनाईका अनुभव करना पड़े। किसी एक सिक्केके समान किसी भी वाक्य या पदको एकबार समझ लीजिए, उसके बाद निर्बाधरूपसे पूरे ग्रन्थका स्वाध्याय कीजिए, उतना ही आनन्द आयेगा जितना उनसे पूर्ववर्ती मनीषियोके ग्रन्थोंका स्वाध्याय करते समय आता है।

•

अतिशयक्षेत्र निसईजी

१. प्रस्तावना

श्री जिन तारणतरणकी पुण्य स्मृतिमें जिन धर्म-स्थानोंको चिरकालसे मूर्तिरूप मिला हुआ चला आ रहा है उन्हें निसई कहा जाता है। वे तीन हैं—निसई मल्हारगढ़, निसई सेमरखेड़ी और सूखा निसई। प्राप्त तथ्योंसे मालूम पड़ता है कि इन तीनोंकी स्थापना भी तीन कारणोंसे हुई थी। निसई मल्हारगढ़ वह पुनीत स्थान है जहाँ स्वामीजीने आहार और ईहितसे विरत हो समाधिपूर्वक इस भवसे चिरविश्रान्ति ले परलोककी यात्राको सुगम बनाया था। निसई सेमरखेड़ी उनके दीक्षा, ध्यान, अध्ययनके साक्षीके रूपमें निर्मित हुआ है तथा सूखा निसई कहते हैं कि वह क्षेत्र प्रचारके केन्द्र रूपमें निर्मित हुआ है।

इस प्रकार श्री जिन तारण-तरणकी पुण्यस्मृतिमें निर्मित ये तीन धर्मस्थान हैं। उनमें निसई मल्हारगढ़ यह अर्थगर्भ नाम है। ऐसा नियम है कि जिस स्थानपर कोई साधु आदि महापुरुष समाधिपूर्वक देह त्याग करते हैं उनकी पुण्यस्मृतिको चिरस्थायी बनाये रखनेके लिए उसके चिह्नस्वरूप जिस धरती आदिका निर्माण किया जाता है उसे निषद्या कहते हैं। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए अनगारधर्मामृतमें लिखा भी है कि सिद्धान्तके जानकार साधुके इहलीला समाप्त करनेपर उनके शरीरके समक्ष और निषद्यामें सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, योगि-भक्ति और शान्तिभक्तीः कुर्यात्। अनगारधर्मामृत अध्ययन ९-श्लोक ७२-७३।

इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए षट्खण्डागम वेदनाखण्डमें स्वयं गौतम गणधर द्वारा रचित ४४ मंगल-सूत्रोंको निबद्ध करते हुए आचार्य पुष्पदंत-भूतबलिने एक वह मंगलसूत्र निबद्ध किया है—

णमो लोए सव्वसिद्धायदाणं ॥४३॥

लोकमें सब सिद्धायननोंको नमस्कार हो ॥४३॥

इस सूत्रकी टीका करते हुए आचार्य वीरसेन लिखते हैं—

सव्वसिद्धियरेण पुव्वं परूविदासे सजिणाणं गहणं कायव्वं, जिणेहितों पुछभूद देस-सव्वसिद्धा-णामणुवलंभादो। सव्वसिद्धारणमायदणाणि सव्व सिद्धायदणाणि। एदेण कट्टिमाकट्टिम जिणहृष्णं जिणपडिमाण भी सिपब्भारूजंत-चंपा-पावाणयरादि विसयणिसीहियाणं च गहणं।

"सब सिद्ध" इस वचनसे पूर्वमें कहे हुए समस्त जिनोंका ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि जिनोंसे पृथग्भूत देश जिन और सर्वजिन नहीं पाये जाते। जो सब सिद्धोंके आयतन हैं वे सब सिद्ध आयतन कहलाते हैं। इससे कृत्रिम और अकृत्रिम जिनघर, जिनप्रतिमाएँ, ईषत्प्राग्भार भूमि, ऊर्जयन्त, चम्पापुरी और पावानगर आदि निषीधिकाओंका ग्रहण हो जाता है। धवका० पुस्तक ९ सूत्र ४३ टीकाका श्री भगवती आराधना समाधि-का प्रमुख आगम ग्रन्थ है। इसमें स्पष्ट बतलाया है कि जहाँ क्षपकके शरीरको स्थापित किया जाना है उसे निषीधिका कहते हैं। वह कैसी होनी चाहिए इसका विवेचन करते हुए लिखा है कि वह एकान्त स्थानमें होनी चाहिए। जनशून्य स्थानपर होनी चाहिए, नगर आदि से न अतिदूर हो न अति सन्निकट हो, विस्तीर्ण होनी चाहिए, प्रासुक और अतिदृढ़ होनी चाहिए, सूक्ष्म त्रसजीवोंके संचारसे रहित होनी चाहिए, प्रकाशवाली होनी चाहिए, समभूमि होनी चाहिये, गीली नहीं होनी चाहिए, छिद्र रहित होनी चाहिए तथा बाधा रहित होनी चाहिए। यथा—

एगंमा सालोगा णादिविकिट्ठाण चावि आसण्णा।
वित्थिण्णा विद्धता णिसीहिया दूरभागाढ़ा ॥१९६२॥
अविसुय समुचिर अधसा सा उभ्रोवा बहुसमो असिणिद्धा।
णिज्जतुगा अरहिदा अविला या तहा अणाबाधा ॥१९६३॥

आगे जिस स्थानपर क्षपक समाधि स्वीकार करता है वह स्थान तीर्थ हो जाता है इसका उल्लेख इन शब्दोंमें करते हुए लिखा है—

गिरिणदीयादियदेसा तित्थाणि तवोधणेहिं जदि उसिदा।
तित्थं कधंण हुज्जो तवगुणरासी सयं खवड ॥२००१॥

यदि तपस्वियोंके द्वारा सेवित पहाड, नदी आदि प्रदेश तीर्थ हो जाते हैं तो तपस्या आदि गुणोंकी राशिस्वरूप वह क्षपक तीर्थ क्यों नहीं होगा—असत् अवश्य होगा।

इस द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि क्षपकका समाधिमरण होनेपर आपका शरीर भी सायकशरीर नोआगमद्रव्य निक्षेपा पूज्य होता है। अब इसमेंसे क्षपकका आत्मा निर्गमन कर गया है, इसलिये उसकी उपेक्षा नहींकी जा सकती है।

इस उल्लेखसे इन दो बातोंपर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। प्रथम तो यह कि जो सिद्धभूतियाँ या तदितर भूतियाँ है जहाँ तीर्थंकरादि महापुरुषोंने निर्वाण लाभ लिया है और जहाँ श्रमण-मुनियोंने जो संन्यास पूर्वक देहत्याग किया है उन्हें तो निषीधिका कहते ही है साथ ही जो उक्त महापुरुषोंकी पुण्यस्मृति स्वरूप अन्य धर्मस्थानोंका निर्माण किया जाता है उन्हें भी निषीधिका कहते हैं।

इस दृष्टिसे जिस स्थानको हम निसई कहते हैं वह निषीधिका या निषद्यका ही बोलचालकी भाषामें चालू नाम है जो उपयुक्त है। उसमे भी जो स्वामीजीका समाधिस्थान है वह तो मुख्य निसई है ही किन्तु इसके अतिरिक्त जो निसई सेमरखेडी और सूखा निसई ये दो धर्मस्थान है उन्हें भी निसई कहनेमें बुराई नहीं है।

यह वस्तुस्थिति है। ऐसा होते हुए भी कुछ कालसे उक्त अर्थमें निसई शब्दोंको उपयुक्त न मानकर उसके स्थानमें निश्रेयी या निःश्रेणि शब्दका प्रयोग होने लगा है। पता नहीं कि उक्त अर्थमे निसई शब्दको ठीक न मानकर उसके स्थानमे निःश्रेणि शब्दका प्रयोग क्यों किया जाने लगा है। हम तो इसे कौन शब्द प्राचीन कालसे किस अर्थमें प्रयुक्त होता आ रहा है इसका ठीक ज्ञान न होनेका ही नतीजा समझते है। किसी महापुरुष या धर्मस्थानके प्रति आदर विशेष होना और बात है पर इससे मात्रसे उसके मूल स्वरूपको बदल कर अपने मनसे अन्य कल्पना करना और बात है। समझदार पुरुष भूलसे भी ऐसी गलती नही करते हैं। इसके विपरीत समझदारोंका यही कर्तव्य होता है कि प्राचीन कालसे जो शब्द जिस अर्थमें प्रयुक्त होता आ रहा है उसके पीछे एक छिपा हुआ इतिहास होनेके कारण उसमे परिवर्तन नहीं करते वस्तुतः निषद्यका निसई ही एक ऐसा परिवर्तित रूप है जिससे हम जानते हैं कि स्वामीजीने निर्ग्रन्थ अवस्थामे समाधिपूर्वक इह लीला समाप्त कर इसी स्थानसे परलोक गमन किया था और इसी स्थानपर उनके शरीरका अन्तिम संस्कार होकर उनकी स्मृतिस्वरूप पुरानी परिपाटीके अनुसार निषद्याके रूपमें एक छतरीका निर्माण किया गया था जिसे उत्तर कालमें निसई कहा जाने लगा। मारवाड़में जो निसईके स्थानमे नसिया कहनेकी परिपाटी चल पड़ी है सो यह भी उसीका देशी रूप हैं।

अब हम देखें कि ये तीनों जिस रूपमें उपलब्ध होती हैं उनका प्रारम्भिक रूप क्या रहा होगा। इसके लिए हमने तीनों निसईका स्वयं जानकर अवलोकन किया है। यह तो सभी कहते हैं कि प्रारम्भमें तीनों स्थानों पर मात्र एक-एक छतरी थी। उसे केन्द्रमें रखकर जो कुछ भी निर्माण हुआ है वह बादकी रचना है। पर उनके इस कथनकी पुष्टि कैसे हो इसके लिए हमने तीनों निसई धर्म स्थानोंका बारीकीसे अवलोकन किया। खुरई, बासौदा, मल्हारगढ निसई और सिरोंजके चैत्यालयोंमें स्थित शास्त्र भण्डारोंकी छानबीन भी की। फलस्वरूप हमें उनमें जो प्रमाण मिले हैं उनमेंसे मुख्य है :—

(१) घसरपुरा बासोधा दि० जैन चैत्यालयसे प्राप्त एक गुटकामें लिपिबद्ध हुए भयखिपनिक ममल पाहुड ग्रन्थके अन्तमें पाई जानेवाली प्रशस्ति।

(२) प्राचीन सम्मति रजिस्टर : प्रथम प्रमाण इस प्रकार है—

नं० ३११९८ इति भयखिपनिक ममलपाहुड ग्रन्थ स्वामी तारण-तरन-विरचितं एम उत्यनिता। संवतु सोलहसें १६८० वर्षे फागुनमासे सुकल्पखे फागुन सुदी दसमी बुधवासरे शास्त्र लिखितं भटगंगाधर सीरोंज-स्थाने साहु ममला तस्य पुत्र रैनचन्द चिरंजीव कलु चिरंजीव जिनदास जिरंजीव सुभं भवतु मगलं ददाति पुस्तकं लिखितं परोपकार नारथं पांडे सुमति चेताले प्रतिष्ठिनं जादिस पुस्तकं द्रष्टवा ताऊसं लिखितं मम॥ जदि सुध असुधंवा लेखक दोष न दीपते मनता रये तैल रखते॥ रखे सिलिबन्धनं॥ मूर्ख हस्ते न दातव्यं एवं वदति पुस्तिकः॥ सुभमस्तु।

यह विक्रम संवत् १६८० मे लिखित भयखिपनिक ममलपाहुड ग्रन्थके अन्तमें पाई जानेवाली प्रशस्ति है। इससे इस बातका पता तो अवश्य लगता है कि फाल्गुन शुक्ल १० वि० सं० १६८० के पूर्व ही सिरोंजमें चैत्यालयकी स्थापना हो गई थी। पर इससे किसी भी रिसईके स्वरूप पर प्रकाश नहीं पड़ता। अधिकसे अधिक इस आधार पर यह अनुमान अवश्य ही किया जा सकता है कि सिरोंजमें जब भी चैत्यालयकी स्थापना हुई होगी इसके पूर्व ही सेमरखेड़ीमें किसी न किसी रूपमें निसईजीकी स्थापना हो गई होगी। साथ ही इससे यह भी अनुमान किया जा सकता है कि सेमरखेड़ीमें जो निसई निर्मित हुई होगी वह मल्हारगढके नातिदूर नातिसन्निकट समाधि स्थानके रूपमें निर्मित पाई जानेवाली निसईके अनुरूप ही बनी होगी। इसलिए मुख्य रूपमें यह विचारणीय हो जाता है कि मल्हारगढके पास समाधि स्थानपर जिस निसईका निर्माण हुआ था उसका निर्णय होनेपर शेष दो निसईयोंके विकासकी प्रक्रियाको सुनिश्चित करनेमें आसानी हो जायगी। इसके लिए हमने बहुत छानबीन की। मल्हारगढकी वर्तमान निसईका हमने बारीकीसे अवलोकन भी किया। पर उसमें इतना रूपान्तर हो गया है कि उसे देखकर मूल निसईके स्वरूपके विषयमें कुछ निर्णय करना सम्भव न हो सका। मूल रूप क्या रहा होगा यह कैसे समझा जाय इस उलझनमें थे ही कि इतनेमें शास्त्रागारका अवलोकन करते समय हमारी नजर एक पुराने रजिस्टर पर पड़ गई। यह सम्मति रजिस्टर है। इसका उल्लेख हम क्रमांक दो में कर ही आये हैं। यह बहुत ही जीर्ण-शीर्ण अवस्थामें है, इस कारण इसके प्रारम्भिक कुछ पन्नोंके नष्ट हो जानेसे नहीं मालूम कि कितने इतिहास पर पानी फिर गया होगा फिर भी रजिस्टरका जो भाग शेष बच गया है उससे निसईजीके पुराने इतिहासको समझनेमें बहुत कुछ आसानी हो गई। आगे उसके अनुसार निसईके इतिहास पर प्रकाश डाला जाता है :—

"समाधि स्थानस्वरूप अतिशय क्षेत्र निसई जी"

(१) स्वामीजीके समाधिस्थान पर स्मारक स्वरूप एक छतरी प्रारम्भमें ही बनाई गई थी। उस पर सिरपुर (खानदेश) के निवासी श्री डा० लीलाचन्द व मदनलाल मेहन्त (मुनीम) के पूर्वजोंने लगभग

३५० वर्ष पूर्व एक छतरी, जिसमें चार कोणोंमें चार खम्भे थे, जो अभी भी चैत्यालयकी वेदीके चारों कोणोंमें लगे हुए हैं। बनवा दी। छतरी वही पुरानी है।

(२) वि० सं० १८७४ जो मल्जशादी नागपुरवालोंकी ओरसे मेला भराया गया था उसमे पूरे समाज-के साथ श्री केसरी दाऊ नौने गोरेलाल, बाबूलाल और गरीबदास भी आये थे। जिनका मेलाके समय ही धर्मध्यान पूर्वक स्वर्गवास हो गया था। उनमेंसे श्री केसरी दाऊका स्वर्गवास विशेष उल्लेखनीय है।

सम्मति रजिस्टरमे लिखा है कि जब श्री दाऊ श्री चैत्यालयमें वन्दना पूर्वक तीन प्रदक्षिणा देकर साष्टांग नमस्कार कर रहे थे तब समस्तके भूमि स्पर्श करते समय मंगल पाठ पढते हुए उनका स्वर्गवास हुआ था। आज भी इस घटनाको इन शब्दोंमें स्मरण किया जाता है—

दीनी परिक्रमा अर तिलक कौ विचार बाँध महाबुधवान ऐसे बहुगुणभगे हैं, दर्शनको नाये शीश धीध्र देव-गुरु वन्दन कीन्हे लेकर जिननाम परमहितकारे हैं।

आगे सबल निसान बाजे पीछे गजराज साजे उसंघ मिलका क्रिया उचारे है, केसरी दाउकी करनोंकी बरजी कहाँ तोक कहो स्वामीसे विदा माग परमधामको सिधारे हैं।

यह एक ऐसी घटना थी इससे पूरा समाज तो प्रभावित हुआ ही, श्री केसरी दाउके कुटुम्बीजन भी प्रभावित हुए बिना न रह सके। फलस्वरूप उनके छोटे भाईने श्री केसरी दाउको हिस्सेकी परी सम्पतिसे लगा कर समाजकी मार्फत छतरीके चारों और बारह दरीका मण्डप बनवा दिया।

यह निर्माण कार्य होनेसे छत्तरी सहित छतरीका मूल्य रूप दृष्टि ओझल हो गया, पर उसे बदला नहीं गया।

(३) आज वेदीके ऊपर जो शिखर बनी अदृष्टिगोचर होता है वह बारह दरी बननेके बाद नागपुर वाले सेठ मल्लू सावने बनवाया है। साथ ही पूर्व दिशाका मुख्य द्वार भी उन्हीकी ओरसे बनवाया गया है।

(४) इसके बाद पूर्व दिशाके दरवाजेके पीछे पश्चिमकी ओर दरवाजेसे लगी हुई पीले पत्थरोंकी तिहयारी वि० सं० १९५६ में आगासोद निवासी सेठ हरचन्दने बनवाई है।

(५) निसईजीके चारो ओर पक्का परकोटा, दहलान चारों दिशाओंमे बने हुए आटा और दक्षिणकी ओर बड़ा हाथी दरवाजा बना हुआ है वह सब निर्माण कार्य वि० सं० १९३० से लेकर १९६० के भीतर खुरई निवासी चौधरी दयाचन्दजीकी देखरेखमे समाजकी ओरसे अठा बना हुआ है वह मिर्जापुर निवासी सेठ जमुनादास पन्नालालकी ओरसे बनवाया गया है तथा हाथी दरवाजेके ऊपरका शिखर टिमरनी निवासी भाई ठाकुरसी लालने बनवाया है।

(६) इसके बाद सं० २०१० में सागर निवासी समाज भूषण श्रीमन् सेठ भगवानदासजीकी ओरसे (१) स्वाध्याय भवन, (२) छात्रावासके कमरे, (३) वेदीजीकी उत्तर दिशामे ब्रह्मचारी निवास और वेदीका विस्तार करनेके अभिप्रायसे उसके चारों ओर १२ कमरे यह सब निर्माण कार्य कराया गया।

(७) श्रीनिसईजीसे पश्चिम दिशामें लगभग २५० गज दूर श्रीमन्त सेठ कुन्दन लाल हजारीबालजी मानोरावालोंने ब्रह्मचारी कुटीका निर्माण करा उसकी सेल्लास बड़े समारोहसे उद्घाटन विधि सम्पन्न कराई।

(८) श्री ब्र० गुलाब चन्दजीने वि० स० मे ब्रह्मचर्य दीक्षा ली थी। अतः उसको पुण्यस्मृतिमे वारी टोडा निवासी श्री लक्ष्मीचन्दजीने क्षेत्रकी दक्षिण दिशामें एक सुन्दर निवास स्थानका निर्माण कराया। तथा इसकी पश्चिम दिशामे गंज बासौदा निवासी सेठ चुन्नीलाल जवाहरलालने ३०,००० रु० व्यय करके अतिथि भवनका निर्माण कराया।

इन सब निर्माण कार्योंके अतिरिक्त स्वामीजीके अनन्य भक्त श्री लुकमानशाहके निवासस्थानके रूपमें चबू-तरासह एक कुटी बनी हुई चिरकालसे आ रही है।

भेंट व अभिप्राय

श्री महाराज माधोराव सिंधियाने ता० २२ फरवरी सन् १९०३ की शुभ वेलामें श्री निसईजी क्षेत्र पर आकर क्षेत्रके दर्शन किये थे। उस समय खुरई निवासी चौधरी दयानन्दजी उपस्थित थे। दर्शन करनेके बाद महान जनताने इच्छा व्यक्तकी कि क्षेत्रके लिए जो अपेक्षित हो उसकी हमें जानकारी दे। चौधरी सा०ने आप क्षेत्र पर दर्शनार्थ पधारें आपकी इतनी कृपा बनी रहे इसमें हमे सन्तोष है। इसके सिवाय और कोई इच्छा प्रकट नहीं की फिर भी श्री महाराज साहबने क्षेत्रके चारों ओरकी पाठर भूमि स्वेच्छासे क्षेत्रको प्रदान कर दी। क्षेत्रका निर्माण और विस्तार उसी पर हुआ है।

अन्तमे महाराज साहबने सम्मति रजिस्टर पृ० १५१ मे अपनी सम्मति देते हुए लिखा है—

प्रशस्ति-लेख

श्री निसईजीकी पूर्व दिशाके दरवाजेकी तिदुवारीके भीतर दीवालमें जडा हुआ शिलापट्ट प्रशस्ति लेख—

श्री सन्त महाराजजी श्री मल्हारगढमें स्थान श्री निसईजी है ताहां तीरथके परवान तीरथके परवान ताहां देहलान सुहाई धरमशाला नाम रानगढ सेवनबाई श्री सेंठे हरीदास केसनचन्द नाम है तिनको सेठानीको नाम कहत हैं जमुनाजीको श्री वेदीजीके सामने पुरव दक्षन कौन रामचन्द कारंदा हते मागौर ब्रामन तीन स्वपंचोंको तरफसे सबकि खुरई गाओ दयाचन्द तिनिते कहें चौधरीआटको काम चैत्र मास महीना हतौ इक-तालीसकी साल ती दिनको पूरी भई तिथ पाचे गुरुवार दसकत कालुगो लीषे मुनीलाल है नाम हात जोर सबसे कहै जै जै जै सियाराम कारीगिर दस पाँचने बनाओ पूरो काम पुभानामालीकी तरफ लिषे कोनको नाम मी० चैत वदी ५ सन् १८८५ गुले कारीगर गुरुवार सं० १९४१।

सामायिक बारादरी नदी तट

श्री निसईजी क्षेत्रकी दिशामे लगभग एक मीलके फासले पर बेतवा नदी है पूरबके तट पर एक पक्का घाट और सामायिक मंदिर बना हुआ है। कहते है कि स्वामी इसी स्थान पर आकर सामायिक स्वाध्याय आदि किया करते थे। इसीके स्मृतिस्वरूप सामायिक मंदिरका निर्माण पूरे समाजकी ओरसे घाटका निर्माण वि० सं० २००२ मे बादा निवासी उजयामूरी श्री सेठ बल्देवप्रसाद गुलाबचन्दने कराया है इसके अतिरिक्त अनेक दानी महानुभावोंकी ओरसे वहां सम्भवतः ये कोठे बाहरसे आने-जाने वाले अतिथि लोगोंकी सुविधाकी दृष्टिसे बनाये गये है।

जनश्रुति

यहाँ घाटके सामने नदीमें स्वाभाविक तीन टापू निकले हुए है। उनके विषयमे यह जनश्रुति प्रसिद्ध है कि भट्टारक पन्थका विरोध करनेके कारण अनेक भाई-बहिन स्वामीजीके विरोधी हो गये थे फलस्वरूप विरो-धियोंने तीन बार नदीमे डुबोया पर प्रत्येक बार डुबाये जाने पर वहाँ एक टापू बनता गया। यह भी कहा जाता है स्वामीजी नदीमें डुबाये जाते समय यह गाथा पढ़ते रहे—

परमानंद बिलासी मोहि लेचल अगम अथासी।

मेला

श्री निसईजीमें एक तो फाग फूलनाका मेला होता है जिसके प्रतिवर्ष भराये जानेके नियम है दूसरा नैमित्तिक मेला भी भराया जाता है इसके प्रतिवर्ष भराये जानेका नियम नही है किन्तु जिस वर्ष किसी व्यक्ति विशेषने इच्छा व्यक्त की उस वर्ष उसकी ओरसे यह मेला भराया जाता है।

श्री निसईजी क्षेत्र पर एक बीजक लगा हुआ है। उसकी अविकल प्रतिलिपि—

विज्ञप्ति १००८ श्री निश्रेयीजी तीर्थ क्षेत्र तपोभूमि एवं अंतिम समाधि स्मारक भूमि पर निर्मान मेला भराने वालोंकी नामावलि श्री क्षेत्र वि० सं० १५७२ में स्थापित।

मेला भराने वालोंकी नामावलि—

१. श्री सेठ ताराचन्दजी मल्लूसावजी दो सके नागपुर वि० सं० १८७४।

२. श्री सेठ............समजी मल्लजी वैशाखिया बादा वि० सं० १९००।

३. श्री सेठ घासीरामजी परमानंद खूबचंदजी बादा वि० सं० १९१६।

इस मेलामें जयपुरसे एक धर्मात्मा भाई आये थे। किन्तु इन्होंने अपना नाम उजागर नहीं किया। सम्मति रजिस्टरसे श्री सिंघई निशानचंद माणिकचन्दकी धर्म सेवा आदि कार्य—

क. मेला भराने वालोंको आर्थिक व दूसरे प्रकारका सहयोग देना।

ख. होशंगाबादके चैत्यालयके निर्माणमें मुख्य रूपसे भाग लेना।

ग. प्रतिदिन कमसे कम ५ साधर्मी बन्धुओंके साथ भोजन करना।

घ. समाजके आजीविकाहीन बन्धुओंको आर्थिक सहायता देकर रोजगारमें लगाना।

ङ. प्रतिवर्ष साधर्मी भाइयोंको प्रीतिभोज देना।

च. साधर्मी भाइयोंको आर्थिक व दूसरे प्रकारकी सहायता देकर १०१ घरोंको स्थिर स्थावर करना।

छ. स्वयं अपनी ओरसे पाठशाला खोली जानेमें सर्वाधिक सहयोग करना।

ज. प्रतिवर्ष मेलामें पैदल नंगे पैर आते रहना (सम्मति रजिस्टरसे)।

५. श्री सेठ घासीरामजी परमानन्द खूबचन्दजी बादा वि० सं० १९२८।

६. श्री सेठ मदनलाल बालचन्द बिहारी लालजी सागर वि० स० १९२९।

७. श्री सेठ बरनजू बालचन्दजी सागर वि० सं० १९३०।

८. श्री सेठ चन्द्रभान नाथूरामजी खानीमूरी होशंगाबाद वि० सं० १९३६।

९. ....''................''.........वि० सं० १९४७।

१०. श्री सेठ मोदी बालचन्द रामप्रसाद गुलाबचन्दजी आगासौद वि० सं० १९६२।

११. श्री सेठ बसंतलालजी मुरलीधर बंशीधरजी बादा वि० सं० १९७३।

१२. श्री सेठ छुन्नीलाल मानिकचंदजी टिमरनी वि० सं० १९९०।

विशेष—इस मेले पर इसी क्षेत्र पर श्री जिन तारण-तरण पाठशालाकी स्थापना हुई थी।

●

अनुसन्धान तथा शोधपरक





कषायप्राभृत दिगम्बर आचार्योंकी ही कृति है

श्वेताम्बर-मुनि श्री गुणरत्नविजयजीने कर्मसाहित्य तथा अन्य कतिपय विषयोंके अनेक ग्रंथोंकी रचना की है। उनमेंसे एक खवगसेढी ग्रन्थ है। इसकी रचनामें अन्य ग्रंथोंके समान कषायप्राभृत और उसकी चूर्णिका भरपूर उपयोग हुआ है। वस्तुत श्वेताम्बर परम्परामें ऐसा कोई एक अन्य ग्रन्थ नहीं है जिसमें क्षपकश्रेणीका सांगोपांग विवेचन उपलब्ध होता हो। श्री मुनि गुणरत्नविजयजीने अपने सम्पादकीयमें इस तथ्यको स्वयं इन शब्दोंमें स्वीकार किया है—

समाप्त थयाबाद क्षपकश्रेणीने विषय संस्कृतमा गद्यरूपे लखवो शरूकर्यो। ४थी ५ हजार श्लोक प्रमाण लखाण थयाबाद मने विचार आव्यो.के जुदा ग्रंथोमां छूटी छपाई वर्णवायेली क्षपक श्रेणी व्यवस्थित कोई एक ग्रंथमा जोवामा आवती नथी। जैनशासनमां महत्वनी गणती 'क्षपक श्रेणी' ना जुदा ग्रन्थोंमा संगृहीत विषयनो प्राकृतभाषामाँ स्वतन्त्र ग्रन्थ तैयार थाय, तो ते मोक्षाभिलाषी भव्यात्माओंने घणो लाभदायी बने'।

उनके इस वक्तव्यसे स्पष्ट ज्ञान होता है कि इस ग्रंथके प्रणयनमें जहाँ उन्हें कषायप्राभृत और उसकी चूर्णिका भरपूर सहारा लेना पडा, वहाँ उनके सहयोगी तथा प्रस्तावना लेखक श्री श्वे० मुनि हेमचन्द्रविजयजी कषायप्राभृत और उसकी चूर्णिको अपने मनगढन्त तर्कों द्वारा श्वेताम्बर परम्पराका सिद्ध करनेका लोभ संवरण न कर सके। आगे हम उनके उन कल्पित तर्कों पर संक्षेपमें क्रमसे विचार करेंगे, जिनके आधारसे उन्होंने इन दोनोंको श्वेताम्बर परम्पराका सिद्ध करनेका असफल प्रयत्न किया है।

उनमे भी सर्वप्रथम हम मूल कषायप्राभृतके ग्रंथ परिमाण पर विचार करेंगे, क्योंकि श्वे० मुनि हेम-चन्द्रविजयजीने अपनी प्रस्तावना ८ पृष्ठ. २९मे कषायप्राभृतके पन्द्रह अधिकारोंमे विभक्त १८० गाथाओंके अतिरिक्त शेष ५३ गाथाओंके प्रक्षिप्त होनेकी सम्भावना व्यक्तकी है। किन्तु उसके चूर्णि सूत्रों पर दृष्टिपात करनेसे विदित होता है कि आचार्य श्री यतिवृषभके समक्ष पन्द्रह अर्थाधिकारोंमे विभक्त १८० सूत्र गाथाओं के समान कषायप्राभृतके अंगरूपसे उक्त ५३ सूत्र गाथायें भी रही है। इन पर कहीं उन्होंने चूर्णिसूत्रोंकी रचनाकी है और कहीं उन्हे प्रकरणके अनुसार सूत्ररूपमें स्वीकार किया है।

जिनके विषयमे श्वे० मुनि हेमचन्द्रजीने प्रक्षिप्त होनेकी सम्भावना व्यक्तकी है उनमेंसे 'पुव्वम्मि पंचमम्मि दु' यह प्रथम सूत्र गाथा है जो ग्रन्थके नाम निर्देशके साथ उसकी प्रामाणिकताको सूचित करती है। इस पर चूर्णिसूत्र है—

णाणप्पवादस्स पुव्वस्स दसमस्स वत्थुस्स तदियस्स पाहुडस्स' इत्यादि।

अब यदि इसे कषायप्राभृतकी मूलगाथा नहीं स्वीकार किया जाता है तो—

(१) एक तो ग्रंथका नामनिर्देश आदि किये बिना ग्रन्थके १५ अर्थाधिकारोंसे कुछका निर्देश करनेवाली नं० १३ की 'पेज्ज-दोस विहत्ती' इत्यादि सूत्र गाथासे हमें ग्रन्थका प्रारम्भ माननेके लिए बाध्य होना पड़ता है जो संगत प्रतीत नहीं होता।

(२) दूसरे उक्त प्रथम गाथाके अभावमें नं० १३की उक्त सूत्रगाथाके पूर्व चूर्णि सूत्रों द्वारा पाँच प्रकारके उपक्रमके साथ 'अत्थाहियारो पण्णारसविहो' इस प्रकारका निर्देश भी संगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि

उक्त प्रकारसे चूर्णिसूत्रोंकी रचना तभी संगत होती है जब उनके रचे जाने वाले ग्रन्थका मूल या चूर्णिमें नामोल्लेख किया गया हो।

इस प्रकार सूक्ष्मतासे विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि 'पुव्वम्मि पंचमम्मि दु' इत्यादि गाथा प्रक्षिप्त न होकर अन्य १८० गाथाओंके समान ग्रन्थकी मूल गाथा ही है।

दूसरी सूत्रगाथा है—'गाहासदे असीदे' इत्यादि। इसके पूर्व पाँच प्रकारके उपक्रमके भेदोंका निर्देश करते हुए अन्तिम चूर्णिसूत्र है—

'अत्थाहियारो पण्णारसविहो।'

यह वही गाथा है जिसके आधारसे यह कहा जाता है कि कषायप्राभृतकी कुल १८० सूत्र गाथायें हैं। अब यदि इसे प्रक्षिप्त माना जाता है तो ऐसे कई प्रश्न उपस्थित होते हैं जिनका सम्यक् समाधान इसे मूल गाथा मानने पर ही होता है। यथा—

१—प्रथम तो गुणधर आचार्यको कषायप्राभृतके १५ ही अर्थाधिकार इष्ट रहे हैं इसे जाननेका एक मात्र उक्त सूत्र गाथा ही साधन है, अन्य नहीं। क्रमांक १३ और १४ सूत्र गाथाएँ मात्र अर्थाधिकारोंका नामनिर्देश करती हैं। वे १५ ही हैं इसका ज्ञान मात्र इसी सूत्र गाथामें होता है और तभी क्रमांक १३ और १४ सूत्र गाथाओंके बाद 'अत्थाहियारो पण्णारसविहो अण्णेण पयारेण' इस प्रकार चूर्णि सूत्रकी रचना उचित प्रतीत होती है।

२—दूसरे उक्त गाथासे ही हम यह जान पाते हैं कि कषायप्राभृतकी सब गाथाएँ उसके १५ अर्थाधिकारोंके विवेचनमें विभक्त नहीं हैं। किन्तु उनमेंसे कुल १८० गाथाएँ ही ऐसी हैं जो उनके विवेचनमें विभक्त हैं। उक्त गाथा प्रकृतका विधान तो करती है, अन्यका निषेध नहीं करती। यहाँ प्रकृत १५ अर्थाधिकार है। उनमें १८० सूत्रगाथाएँ विभक्त हैं। इतना मात्र निर्देश करनेके लिए आचार्य गुणधरने इस सूत्र गाथाकी रचनाकी है। १५ अर्थाधिकारोंसे सम्बद्ध गाथाओंका निषेध करनेके लिए नहीं।

इस प्रकार इस दूसरी सूत्रगाथाके भी ग्रन्थका मूल अंग सिद्ध हो जाने पर इससे आगेकी क्रमांक ३ से लेकर १२ तककी १० सूत्रगाथाएँ भी कषायप्राभृतका मूल अंग सिद्ध हो जाती हैं, क्योंकि उनमें १५ अर्थाधिकारों सम्बन्धी १८० गाथाओंमेंसे किस अर्थाधिकारमें कितनी सूत्रगाथाएँ आई हैं एक मात्र इसीका विवेचन किया गया है जो उक्त दूसरी सूत्रगाथाके उत्तरार्धके अनुसार ही है। उसमें उन्हें सूत्रगाथा कहा भी गया है। यथा—

'वोच्छामि सुत्तगाहा जयि गाहा जम्मि अत्थम्मि।

इसी प्रकार संक्रम अर्थाधिकारकी जो 'अट्ठावीस' इत्यादि ३५ सूत्रगाथाएँ आई हैं वे भी मूल कषायप्राभृत ही हैं और इसीलिए आचार्य यतिवृषभने उनके प्रारम्भ में—

'एत्तो पयडिट्ठाणसंकमो तस्स पुव्वं गमणिज्जा सुत्तसमुक्तित्तणा'

इस चूर्णिसूत्रकी रचनाकर और उनसे अन्तमें 'सुत्तसमुक्कित्तणाएसमत्ताए' इस चूर्णिसूत्रकी रचना कर उन्हें सूत्ररूपमें स्वीकार किया है।

इस प्रकार सब मिलाकर उक्त ४७ सूत्रगाथाओंके मूल कषायप्राभृत सिद्ध हो जाने पर क्रमांकसे लेकर 'आबलिय अणायारे' इत्यादि ६ सूत्रगाथाएँ भी मूल कषायप्राभृत ही सिद्ध होती है, क्योंकि यद्यपि आचार्य यतिवृषभने इनके प्रारम्भमे या अन्तमे इनकी स्वीकृति सूचक किसी चूर्णिसूत्रकी रचना नहीं की है। फिर भी कषायप्राभृत पर दृष्टि डालनेसे और खासकर उपशमना-क्षपणा प्रकरण पर दृष्टि डालनेसे यही प्रतीत होता कि समग्र भावसे अल्पबहुत्वकी सूचक इन सूत्र गाथाओंकी रचना स्वय गुणधर आचार्यने ही की है। इसके लिए प्रथमोपशम सम्यक्त्व अर्थाधिकारकी क्रमांक १८ गाथा पर दृष्टिपात कीजिये।

इतने विवेचनसे स्पष्ट है कि आचार्य यतिवृषभको ये मूल कषायप्राभृत रूपसे ही इष्ट रही हैं। अतः सूत्रगाथाओंके संख्याविषयक उत्तरकालीन मतभेदोंको प्रामाणिक मानना और इस विषय पर टीका-टिप्पणी करना उचित प्रतीत नही होता। आचार्य वीरसेनने गाथाओंके संख्याविषयक मतभेदको दूर करनेके लिए जो उत्तर दिया है उसे इसी संदर्भमें देखना चाहिए।

इस प्रकार श्वे० मुनि हेमचंद विजयने कषायप्राभृतका परिमाण कितना है इस पर खवसेढि ग्रन्थकी अपनी प्रस्तावनामे जो आशका व्यक्त की है उसका निरसन कर अब आगे हम उनके उन कल्पित तर्कों पर सागोपाग विचार करेंगे जिनके आधारसे उन्होंने कषायप्राभृत को श्वेताम्बर आम्नायका सिद्ध करनेका असफल प्रयत्न किया है।

(१) इस विषयमे उनका प्रथम तर्क है कि दिगंबर ज्ञान भण्डार मूडबिद्रीमे कषायप्राभृत मूल और उसकी चूर्णि उपलब्ध हुई है, इसलिए वह दिगम्बर आचार्यकी कृति है यह निश्चय नही किया जा सकता। (प्रथम पृष्ठ ३०)

किन्तु कषायप्राभृत मूल और उसकी चूर्णि ये मूडबिद्रीसे दिगम्बर ज्ञान भण्डारमें उपलब्ध हुए हैं मात्र इसीलिए तो किसीने उन दोनोंको दिगम्बर आचार्योकी कृति है ऐसा नही कहा है। किन्तु उक्त दोनोंके दिगंबर आचार्यो द्वारा प्रणीत होनेके अनेक कारण है। उनमेंसे एक कारण एतद्विषयक ग्रन्थोमे श्वेताम्बर आचार्योंकी शब्द योजना परिपाटीसे भिन्न उसमे निबद्ध शब्दयोजना परिपाटी है। यथा—

(अ) श्वेताम्बर आचार्यों द्वारा लिखे गए सप्ततिकाचूर्णि कर्मप्रकृति और पंचसंग्रह आदिमे सर्वत्र जिस अर्थमें 'दलिय' शब्दका प्रयोग हुआ है उसी अर्थमे दिगम्बर आचार्यों द्वारा लिखे गये कषायप्राभृत आदिमे 'पदेसग्ग' शब्दका प्रयोग हुआ है। यथा—

'तं वेयंतो बितियकिट्टीओ ततियकिट्टीओ य
दलियं घेत्तूणं सुहुमसांपराइयकिट्टीओ करेइ।'

सप्ततिका चूर्णि पृ० ६६ अ०।
(देखो उक्त प्रस्तावना पृ० ३२।)

'इच्छियठितिठाणाओ आवलियं लंघऊण तद्दलियं
सव्वेसु वि निक्खिवइ ठितिठाणेसु उवरिमेसु ॥२॥'

—पंचसंग्रह उद्वर्तनापवर्तनाकरण

'उवसंतद्धा अंते विहिणा ओकड्डियस्स दलियस्स।
अज्झवसाणणुरूवस्सुदओ तिसु एक्कयरयस्स ॥२२॥'

—कर्मप्रकृति उपशमनाकरण पत्र १७

अब दिगम्बर परम्पराके ग्रन्थों पर दृष्टि डालिए—

'विदियादी पुण पढमा संखेज्जगुणा भवे पदसग्गे ।
विदियादो पुण तदिया कमेण सेसा विसेसाहिया ॥१७०॥'

क० प्रा० मूल

'ताधे चेव लोभस्स विदियकिट्टीदो च तदियकिट्टीदो च पदेसग्गमोकड्डियूण सुहुमसांपराइय-किट्टीओणाम करेदि ।

—कषाय प्राभृत चूर्णि मूल पृ० ८६२ ।

लोभस्स जहण्णियाए किट्टीए पदेसग्गं बहुअं दिज्जदि ।

—षट्खण्डागम धवला पु० ६ पृ० ३७९

(आ) श्वेताम्बर आचार्यों द्वारा लिखे गये कर्म-प्रकृति और पंच संग्रहमे 'अवरित'के लिए 'अजय' या 'अजत' शब्दका प्रयोग हुआ है, किन्तु दिगम्बर आचार्यों द्वारा लिखे गये कषायप्राभृत और षट्खण्डागममे यह शब्द इस अर्थमें दृष्टिगोचर नही होता । इनके लिए कर्मप्रकृति (श्वे०) पर दृष्टिपात कीजिए—

वेयगसम्मद्दिट्ठी चरित्तमोहुवसमाइ चिट्ठंतो ।
अजउ देशजई वा विरतो व विसोहिअद्धाए ।

उपश० करण ॥२७॥

इसीप्रकार पञ्चसंग्रहमे भी इस शब्दका इसी अर्थमें प्रयोग हुआ है ।

इनके अतिरिक्त 'वरिसवर' 'उव्वलण' आदि शब्द है जो श्वेताम्बर परंपराके कार्मिक ग्रथोंमे ही दृष्टि-गोचर होते है, दिगम्बर परम्पराके ग्रंथोंमे नही । ये कतिपय उदाहरण है । इनसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि कषायप्राभृत और उसकी चूर्णि ये दोनों श्वेताम्बर आचार्योंकी कृति न होकर दिगम्बर आचार्योंकी ही अमर कृति है ।

(२) कषायप्राभृत और उसकी चूर्णिको श्वेताम्बर आचार्योंकी कृति सिद्ध करनेके लिए उनका दूसरा तर्क है कि दिगम्बर आचार्यकृत ग्रन्थों पर श्वेताम्बर आचार्योंकी टीकाएँ और श्वेताम्बर आचार्यकृत ग्रन्थों पर दिगम्बर आचार्योंकी टीकाये है आदि । उसी प्रकार कषायप्राभृत मूल तथा उसकी चूर्णि पर दि० आचार्यो की टीका होने मात्रसे उन्हे दिगम्बर आचार्योंकी कृति रूपसे निश्चित नही किया जा सकता । (प्रस्तावना पृ० ३०)

यह उनका तर्क है । किन्तु श्वेताम्बर आचार्यों द्वारा रचित कर्मग्रन्थोंसे कषायप्राभृत और उसकी चर्णिमे वर्णित पदार्थ भेदको स्पष्ट रूपसे जानते हुए भी वे ऐसा असत् विधान कैसे करते है इसका किसीको भी आश्चर्य हुए बिना नही रहेगा ।

'मुद्रित कषायप्राभृत चूर्णिनी प्रस्तावनामां रजु थयेलो मान्यतानी समीक्षा' इस उपशीर्षकके अन्तर्गत उन्होने पदार्थ भेदके कतिपय उदाहरण स्वयं उपस्थित किये है । इन उदाहरणोंको उपस्थित करते हुए उन्होंने कषायप्राभृतके साथ कषाप्राभृतचूर्णि कर्मप्रकृतिचूर्णि इन ग्रन्थोंके उद्धरण दिये है । किन्तु श्वेताम्बर पंचसंग्रहको दृष्टि पथमे लेने पर विदित होता है कि उक्त ग्रन्थ भी कषायप्राभृत चूर्णिका अनुसरण न कर कर्मप्रकृति चूर्णि का ही अनुसरण करता है । यथा—

(१) मिश्रगुणस्थानमें सम्यक्त्व प्रकृति भजनीय है इस मतका प्रतिपादन करने वाली पञ्चसंग्रहके सत्कर्मस्वामित्वकी गाथा इस प्रकार है—सासयणंमि नियमा सम्मं भज्जं दससु संतं ॥१३५॥

कर्मप्रकृति चूर्णिसे भी इसी अभिप्रायकी पुष्टि होती है । (चूर्णि सत्ताधिकार पृ० ३५) [प्रदेशसंक्रम पृ० ९४]

(२) संज्वलन क्रोधादिका जघन्य प्रदेशसंक्रम अन्तिम समयप्रबद्धका अन्यत्र संक्रम करते हुए क्षपकके अन्तिम समयमें सर्वसंक्रमसे होता है। यह कर्मप्रकृति चूर्णिकारका मत है और यही मत श्वेताम्बर पंचसंग्रहका भी है। यथा—

पंसंजलणतिगाणं जहण्णजोगिस्स खवगसेढीए।
सगचरिमसमयबद्धं जं छुभइ सगंतिमे समए ॥११९॥

(२) प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टिके, सम्यक्त्वकी प्राप्तिके समय मिथ्यात्वके तीन पुंज होने पर एक आवलि काल तक सम्यग्मिथ्यात्वका सम्यक्त्वमें संक्रम नहीं होता यह कर्मप्रकृति चूर्णिकारका मत है। पञ्चसंग्रह प्रकृति संक्रम गाथा ११ की मलयगिरि टीकासे भी इसी मतको पुष्टि होती है। यथा—

तस्यैव चौपशमिकसम्यग्दृष्टी विंशतिसत्कर्मणः आवलिकाया अभ्यन्तरे वर्तमानस्य सम्यग्मिथ्यात्वं सम्यक्त्वे न संक्रामति। प्रकृति सं० पत्र १०

(४) पुरुषवेदकी पतद्ग्रहता कब नष्ट हो जाती है इस विषयमें कर्मप्रकृति चूर्णिकारका जो मत है उसी मतका निर्देश पंचसंग्रहणकी मलयगिरि टीकामें दृष्टिगोचर होता है। यथा—

पुरुषवेदस्य प्रथमस्थितौ द्व्यावलिकाशेषायां प्रागुक्तस्वरूपं आगालो व्यवच्छिद्यते, उदीरणा तु भवति, तस्मादेव समयादरभ्य षण्णां नोकषायाणां सत्कं दलिकं पुरुषवेदे न संक्रमयति।

—पंच० चा० मो० ड० पत्र १९१

श्वे० पचसंग्रहके ये उद्धरण है जो मात्र कर्मप्रकृतिचूर्णिका पूरी तरह अनुसरण करते हैं, किन्तु कषायप्राभृत और उसकी चूर्णिका अनुसरण नही करते। इससे स्पष्ट है कि कषायप्राभृत और उसकी चूर्णिकाको श्वेताम्बर आचार्योंने कभी भी अपनी परम्पराकी रचना रूपमें स्वीकार नही किया।

यहाँ हमारे इस बातके निर्देश करनेका एक खास कारण यह भी है कि मलयगिरिके मतानुसार जिन पाँच ग्रन्थोंका पंचसंग्रहमे समावेश किया गया है उनमें एक कषायप्राभृत भी है। यदि चन्द्रर्षिमहत्तरको पंचसंग्रह श्वेताम्बर आचार्यकी कृति रूपमें स्वीकार होता तो उन्होंने जैसे कर्मप्रकृति और चूर्णिको अपनी रचनामें प्रमाण रूपसे स्वीकार किया है वैसे हो वे कषायप्राभृत और चूर्णिको भी प्रमाण रूपमे स्वीकार करते। और ऐसी अवस्थामे जिन-जिन स्थलोंपर उन्हे कषायप्राभृत और कर्मप्रकृतिमें पदार्थ भेद दृष्टिगोचर होता उसका उल्लेख वे अवश्य करते। किन्तु उन्होंने ऐसा न कर मात्र कर्मप्रकृति और उसकी चूर्णिका अनुसरण किया है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि चन्द्रर्षिमहत्तर कषायप्राभृत और उसकी चूर्णिको श्वेताम्बर परम्पराका नहीं स्वीकार करते रहे।

यहाँ हमने मात्र उन्ही पाठोंको ध्यानमें रखकर चर्चाकी है जिनका निर्देश उक्त प्रस्तावनाकारने किया है। इनके सिवाय और भी ऐसे पाठ है जो कर्मप्रकृति और पंचसंग्रहमे एक ही प्रकारकी प्ररूपणा करते हैं। परन्तु कषायप्राभृत चूर्णिमें उनसे भिन्न प्रकारकी प्ररूपणा दृष्टिगोचर होती है। उसके लिए हम एक उदाहरण उद्वेलना प्रकृतियोंका देना इष्ट मानेंगे। यथा:—

कषायप्राभृतचूर्णिमे मोहनीयकी मात्र दो प्रकृतियाँ उद्वेलना प्रकृतियाँ स्वीकारकी गई हैं—सम्यक्प्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति। किन्तु पंचसंग्रह और कर्मप्रकृतिमें मोहनीयकी उद्वेलना प्रकृतियोंकी संख्या २७ है। यथा दर्शनमोहनीयकी ३, लोभसंज्वलनको छोड़कर १५ कषाय और ९ नोकषाय। कषायप्राभृतचूर्णिका पाठ:—

५८ सम्मामिच्छत्तस्य जहण्णट्ठिदिविहत्ति कस्स ? चरिमसमयउव्वेल्लमाणस्स। (पृ० १०१)
३६ एवं चेवं सम्मत्तस्स वि। (पृ० १९०)

पंचसंग्रह-प्रदेशसंक्रमका पाठ—

एवं उव्वलणासंकमेण नासेइ अविरओहारं।
सम्मोऽर्णामिच्छमीसे सछत्तीसऽनियट्ठि जा माया ॥७४॥

इसके सिवाय पञ्चसग्रहके प्रदेशसंक्रमप्रकरणमे एक यह गाथा भी आई है जिससे भी उक्त विषयकी पुष्टि होती है।

सम्म-मीसइं मिच्छो सुरदुगवेउव्विछक्कमेगिदी।
सुहुमतसुच्चमणुदुगं अंतमुहुत्तेण अणियट्टी ॥७५॥

इसमे बतलाया है कि सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वकी मिथ्यादृष्टि जीव उद्वेलना करता है, पंचानवे प्रकृतियोंकी सत्तावाला एकेन्द्रिय जीव देवद्विकको उद्वेलना करता है, उसके बाद वही जीव वैक्रियकषट्की उद्वेलना करता है, सूक्ष्म त्रस अग्निकायिक और वायुकायिक जीव क्रमसे उच्चगोत्र और मनुष्यद्विककी उद्वेलना करता है तथा अनिवृत्तिबादर जीव एक अन्तर्मुहूर्तमे पूर्वोक्त ३६ प्रकृतियोंकी उद्वेलना करता है।

यहाँ पंचसंग्रह निरूपित पाठका उल्लेख किया है कर्मप्रकृतिकी प्ररूपणा इससे भिन्न नही है। उदाहरणार्थ जिस प्रकार पञ्चसंग्रहमे अनन्तानुबन्धीचतुष्ककी परिगणना उद्वेलना प्रकृतियोंमे की गई है उसी प्रकार कर्मप्रकृतिमे भी उन्हे उद्वेलना प्रकृतियाँ स्वीकार किया है। कर्मप्रकृति चूर्णिमें प्रदेशसंक्रमकी सादि-अनादि प्ररूपणा करते हुए लिखा है—

अणंताणुबंधीणं खवियकम्मसिगस्स उव्वलंतस्स एगठितिसेसजहन्नगं पदेससं तं एगसमयं होति।

यह एक उदाहरण है। अन्य प्रकृतियोंके विषयमे मूल और चूर्णिका आशय इसी प्रकार समझ लेना चाहिए। किन्तु जैसा कि पूर्वमे निर्देश कर आये है कषायप्राभृत और उसकी चूर्णिमे सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन दो प्रकृतियोंको छोडकर मोहनीयकी अन्य किसी प्रकृतिकी उद्वेलना प्रकृतिरूपसे परिगणना नही की गई है।

मतभेद सम्बन्धी दूसरा उदाहरण मिथ्यात्वके तीन भाग कौन जीव करता है इससे सम्बन्ध रखता है। श्वेताम्बर आचार्यों द्वारा लिखे गये कर्मप्रकृति और पंचसग्रहमे यह स्पष्ट रूपसे स्वीकार किया है कि दर्शनमोहकी उपशमना करनेवाला मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व गुणस्थानके अन्तिम समयमे मिथ्यात्व कर्मको तीन भागोमे विभक्त करता है। पचसंग्रह उपशमना प्रकरणमे कहा भी है—

उवरिमठिइअणुभाग तं च तिहा कुणइ चरिममिच्छुदए देसघाईण सम्मं इयरणं मिच्छमीसाइं ॥२३॥

कर्मप्रकृति और उसकी चूर्णिमे लिखा है—

तं कालं बीयठिइं तिहाणुभागेण देसघाइ त्थ।
सम्मत्तं सम्मिस्सं मिच्छत्तं सव्वघाईओ ॥१९॥

चूर्णि—चरिमसमयमिच्छद्दिट्ठिसे काले उवसम्मदिट्ठि होहि त्ति ताहे बितीयट्ठितीते तिहा अणुभागं करेति।

अब इन दोनोंके प्रकाशमे कषायप्राभृत चूर्णिपर दृष्टिपात कीजिए। इसमे प्रथम समयवर्ती प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि जीवको मिथ्यात्वको तीन भागोमे विभाजित करनेवाला कहा गया है। यथा:—

१०२. चरिमसमयमिच्छाइट्ठी से काले उवसमसम्मत्तमोहणीओ १०३. ताधे चेव तिण्णि कम्मंसा उप्पादिदा। १०४. पढमसमय उवसंतदंसणमोहणीओ मिच्छत्तादो सम्मामिच्छत्ते बहुगं पदेसग्गं देदि। (पृ० ६२८)

यहाँ कर्मप्रकृति और उसकी चूर्णिके विषयमें संकेत कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि गाथामें 'तं कालं बीयठिइं' पाठ है उसका चूर्णिकारने जो अनुवाद किया है वह मूलानुगामी नहीं हैं। मालूम पड़ता है चूर्णिका अनुकरणमात्र है। इतना अवश्य है कि कषायप्राभृत चूर्णिका वाक्यरचना पीछेके विषयविवेचनके अनुसन्धानपूर्वककी गई है और कर्मप्रकृति चूर्णिकी उक्त वाक्यरचना इससे पूर्वकी गाथा और उसकी चूर्णिके विषय विवेचनको ध्यानमें न रखकर की गई है। जहाँ तक कर्म प्रकृतिकी उक्त मूल गाथाओंपर दृष्टिपात करनेसे विदित होता है कि उन दोनों गाथाओं द्वारा दिगम्बर आचार्यो द्वारा प्रतिपादित मतका ही अनुसरण किया है, किन्तु उक्त चूर्णि और उसको टीका मूलका अनुसरण न करती हुई श्वेताम्बर आचार्यों द्वारा प्रतिपादित मतका ही अनुसरण करती है। फिर भी यहाँ विसंगतिकी सूचक उल्लेखनीय बात इतनी है कि श्वेताम्बर आचार्योंने उक्त टीकाओंमें व अन्यत्र मिथ्यात्वके तीन हिस्से मिथ्यात्व गुणस्थानके अन्तिम समयमें स्वीकार करके भी उनमे मिथ्यात्वके द्रव्यका विभाग उसी समय न बतलाकर प्रथमोपशम सम्यक्त्वके प्रथम समयमें स्वीकार किया है। यहाँ विसंगति यह है कि मिथ्यात्व गुणस्थान अन्तिम समयमें तो तीन भाग होनेकी व्यवस्था स्वीकार की गई और उन तीनो भागोंमें कर्मपुंजका बँटवारा प्रथमोपशम सम्यक्त्वके प्रथम समयसे स्वीकार किया गया।

इस प्रकार इन दोनो परम्पराओंके प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि कषायप्राभृत और उसकी चूर्णि पर दिगम्बर आचार्योंने टीका लिखी, केवल इसलिए हम उन्हे दिगम्बर आचार्योंकी कृति नही कहते। किन्तु उनकी शब्द-योजना, रचना शैली और विषय विवेचन दिगम्बर परम्पराके अन्य कार्मिक साहित्यके अनुरूप है, श्वेताम्बर परम्पराके कार्मिक साहित्यके अनुरूप नही, इसलिए उन्हे हम दिगम्बर आचार्योंकी अमर कृति स्वीकार करते हैं।

अब आगे जिन चार उपशीर्षकोंके अन्तर्गत उन्होंने कषायप्राभृत और उसकी चूर्णिको श्वेताम्बर आचार्योंकी कृति सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है उनपर क्रमसे विचार करते है—

उन्होंने सर्वप्रथम 'दिगम्बर परम्पराने अमान्य तेवा कषायप्रभात चूर्णि अन्तर्गत पदार्थो', इस उप-शीर्षकके अन्तर्गत क० प्रा० चूर्णिका ऐसे दो उल्लेख उपस्थित किये है जिन्हे वे स्वमतिसे दिगम्बर परम्पराके विरुद्ध समझते है।

प्रथम उल्लेख है—"सव्वलिंगेसु भज्जाणि।" इस सूत्रका अर्थ है कि अतीतमें सर्व लिंगोमें बँधा हुआ कर्म क्षपकके सत्तामें विकल्पसे होता है। इस पर उक्त प्रस्तावना लेखकका कहना है कि 'क्षपक चारित्रवेषमां होय पण खरो अने न पण होय चारित्रवान वेष वगर अर्थात् अन्य तापसादिना वेशमा रहेल जीव पण क्षपक थई शके छे, एटले प्रस्तुत सूत्र दिगम्बर मान्यता थी विरुद्ध छे।' आदि

अब सवाल यह है कि उक्त प्र० लेखकने उक्त सूत्र परसे यह निष्कर्ष कैसे फलित कर लिया कि 'क्षपक चारित्रवे-षमा होय पण खरो अने न पण होय चारित्रना वेष वगर अर्थात् अन्य तपासादिना वेशमा रहले जीव पण क्षपक थई शके छे।' कारण वर्तमानमें जो क्षपक है उसके अतीत कालमें कर्मबन्धके समय कौन-सा लिंगमें बाँधा गया कर्म क्षपकके वर्तमानमें सत्तामें नियमसे होता है या विकल्पसे होता है? इसी अन्तर्गत शंकाको ध्यानमें रखकर यह समाधान किया गया है कि विकल्प होता है।' इस परसे कहाँ फलित होता है कि वर्तमानमें वह क्षपक किसी भी वेशमें हो सकता है। मालूम पड़ता है कि अपने सम्प्रदायके व्यामोह और अपने कल्पित वेशके कारण ही उन्होंने उक्त सूत्र परसे ऐसा गलत अभिप्राय फलित करनेकी चेष्टा की है।

थोड़ी देरके लिये उक्त (श्वे.) मुनिजीने जो अभिप्राय फलित किया है यदि उसीको विचारके लिए ठीक मान लिया जाता है तो जिस गति आदिमें पूर्वमें जिन भावोंके द्वारा बाँधे गये कर्म वर्तमानमें क्षपकके विकल्पसे बतलाये हैं, वे भाव भी वर्तमानमे क्षपकके विकल्पसे मानने पड़ेंगे। उदाहरणार्थ पहले सम्यग्मिथ्यात्वमे बाँधे गये कर्म वर्तमानमें जिस क्षपकके विकल्पसे बतलाये है तो क्या उस क्षपकके वर्तमानमें विकल्पसे सम्यग्मिथ्यात्व भी मानना पड़ेगा। यदि कहो कि नही, तो सम्यग्मिथ्यात्वमे बँधे हुए जो कर्म सत्तारूपसे वर्तमानमें क्षपकके विकल्पसे होते हुए भी अतीत कालमे उन कर्मोंके बन्धके समय सम्यग्मिथ्यात्व भाव था इतना ही आशय जैसे सम्यग्मिथ्यात्व भावके विषयमें लिखा जाता है उसी प्रकार सर्वलिंगोंके विषयमे भी यह आशय यहाँ लेना चाहिए।

हम यह स्वीकार करते है कि जैसे अतीत कालमे अन्य लिंगोंमें बाँधे गये कर्म वर्तमानमे क्षपकके विकल्पसे बन जाते हैं वैसे ही अतीत कालमे जिनलिंगमे बाँधे गये कर्मोंके वर्तमानमे क्षपकके विकल्पसे स्वीकार करनेमें कोई प्रत्यवाय नही दिखाई देता। कारण संयमभावका उत्कृष्ट अन्तरकाल कुछ कम अर्धपुद्गल परिवर्तनप्रमाण और जघन्य अन्तरकाल अन्तर्मुहूर्तप्रमाण बतलाया है। यथाः—

संजमाणुवादेण संजद-सामाइय-च्छेदोवट्ठावणसुद्धिसंजद-परिहारसुद्धि संजद-संजदासंजद दाणमंतरं केवचिरं कालादो होदि ॥१०८॥ जहण्ण अंतोमुहुत्तं ॥१०९॥ उक्कस्सेण अद्ध पोग्गल-परियट्टं देसूणं ॥११०॥—खुद्दाबंध पृ० ३२१-३२२।

यहाँ जयधवला टीकाकारने उक्त सूत्रकी व्याख्या करते हुए 'णिग्गंथवदिरित्तसेसाणं' यह लिखकर 'सर्वलिंग' पदसे निर्ग्रन्थ लिंगके अतिरिक्त जो शेष सविकार सर्व लिंगोंका ग्रहण किया है वह उन्होंने क्षपकश्रेणिपर आरोहण करनेवाला जीव अन्य लिंगवाला न होकर वर्तमानमे निर्ग्रन्थ ही होता है और इस अपेक्षासे उसके निर्ग्रन्थ अवस्थामे बाँधे गये कर्म भजनीय न होकर नियमसे पाये जाते है। यह दिखलानेके लिए ही किया है, क्योंकि जो जीव अन्तरंगमे निर्ग्रन्थ होता है। किन्तु इन दोनोंके परस्पर अविनाभावको न स्वीकार कर जो श्वेताम्बर सम्प्रदायवाले इच्छानुसार वस्त्र-पात्रादि सहित अन्य वेशमे रहते हुए भी वर्तमानमे क्षपकश्रेणि आदि पर आरोहण करता या रत्नत्रयस्वरूप मुनि लिंगकी प्राप्ति मानते है, उनके उस मतका निषेध करनेके लिए जयधवला टीकाकारने 'णिग्गंथवदिरित्तसेसाणं' पदकी योजना की है। विचार कर देखा जाय तो उनके इस निर्देशमें किसी भी प्रकारकी साम्प्रदायिकताको गन्ध न होकर वस्तुस्वरूपका उद्घाटन मात्र है, क्योंकि भीतरसे जीवनमें निर्ग्रन्थ वही हो सकता है जो वस्त्र-पात्रादिका बुद्धिपूर्वक त्यागकर बाह्यमे जिनमुद्राको पहले ही धारण कर लेता है। कोई बुद्धिपूर्वक वस्त्र-पात्र आदिको स्वीकार करे, उन्हें रखे, उनकी सम्हाल भी करे फिर भी स्वयंको वस्त्र-पात्र आदि सर्व परिग्रहका त्यागी बतलावे, इसे मात्र जीवनकी विडम्बना करनेवाला ही कहना चाहिए। अतः वर्तमानमें जिसने वस्त्र-पात्रादि सर्व परिग्रहका त्याग कर निर्ग्रन्थ लिंग स्वीकार किया है वही क्षपक हो सकता है और ऐसे क्षपकके निर्ग्रन्थ लिंग ग्रहण करनेके समयसे लेकर बाँधे गये कर्म सत्तामें अवश्य पाये जाते हैं यह दिखलानेके लिये ही श्री जयधवला टीकाकारने अपनी टीकामे 'सर्व लिंग' पदका अर्थ 'निर्ग्रन्थ लिंग व्यतिरिक्त अन्य सब लिंग' किया है जो 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः।' इस नीतिवचनको अनुसरण करनेवाला होनेसे उपयुक्त ही है।

दूसरा उल्लेख है—२४. 'णेगम-संगह-ववहार सव्वे इच्छंति। २५. उजुसुदो ठवणवज्जे। (क. प्रा. पृ. १७) इसका व्याख्यान करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि नैगम, संग्रह और व्यवहार ये तीन द्रव्यार्थिक

नय है और ऋजुसूत्र आदि चार पर्यायार्थिक नय है। इस विषयमे दिगम्बर परम्परामे कही किसी प्रकार मतभेद दिखलाई नहीं देता। कषायप्राभृतचूर्णिसूत्रोंमे सर्वत्र ऋजुसूत्रनयका पर्यायार्थिकनयमे ही समावेश करते हैं। फिर भी उक्त (श्वे) मुनिजीने अपनी प्रस्तावनामें यह उल्लेख किस आधारसे किया है कि 'कषायप्राभृत-चूर्णिकार ऋजुसूत्रनयको द्रव्यार्थिकनय स्वीकार करते है। यह समझके बाहर है। उक्त कथनकी पुष्टि करने-वाला उनका वह वचन इस प्रकार है—'अहीं कषायप्राभृत चूर्णिकार ऋजुसूत्रनयनो द्रव्यार्थिकनयमां समावेश करवा द्वारा श्वेताम्बराचार्योनो सैद्धान्तिक परम्पराने अनुसरे छे कारणके श्वेताम्बरोमें सैद्धान्तिक परम्परा ऋजुसूत्रनयनो द्रव्यार्थिक नयमां समावेश करे छे.'

•



तत्त्वार्थसूत्र और उसकी टीकाएँ

इस अवसर्पिणी कालमें अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीरके मोक्षलाभ करनेके बाद अनुबद्ध केवली तीन और श्रुतकेवली पाँच हुए हैं। अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। इनके काल तक अंग-अनंग श्रुत अपने मूल रूपमें आया है। इसके बाद उत्तरोत्तर बुद्धिबल और धारणाशक्तिके क्षीण होते जानेसे तथा मूल श्रुतके प्रायः पुस्तकारूढ किए जानेकी परिपाटी न होनेसे क्रमशः वह विच्छिन्न होता गया है। इस प्रकार एक ओर जहाँ मूल श्रुतका अभाव होता जा रहा था वहाँ दूसरी ओर श्रुत परम्पराको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिए और उसका सीधा सम्बन्ध भगवान् महावीरकी दिव्यध्वनिसे बनाये रखनेके लिए जो अनेक प्रयत्न हुए हैं उनमेंसे अन्यतम प्रयत्न तत्त्वार्थसूत्रकी रचना है। यह एक ऐसी प्रथम उच्च कोटिकी रचना है जब जैन परम्परामें जैन साहित्यकी मूल भाषा प्राकृतका स्थान धीरे-धीरे संस्कृत भाषा लेने लगी थी, इसके संस्कृत भाषामें लिपिबद्ध होनेका यही कारण है।

१. नाम

इसमें सम्यग्दर्शनके विषयरूपसे जीवादि सात तत्त्वोंका विवेचन मुख्य रूपसे किया गया है, इसलिए इसकी मूल संज्ञा 'तत्त्वार्थ' है। पूर्व कालमें इसपर जितने भी वृत्ति, भाष्य और टीका ग्रन्थ लिखे गये हैं उन सबमें प्रायः इसी नामको स्वीकार किया गया है[१]। इसकी रचना सूत्र शैलीमें हुई है, इसलिए अनेक आचार्यों ने 'तत्त्वार्थसूत्र' इस नामसे भी इसका उल्लेख किया है[२]।

श्वेताम्बर परम्परामें इसके मूल सूत्रोंमें कुछ परिवर्तन करके इसपर वाचक उमास्वातिने लगभग सातवीं शताब्दिके उत्तरार्धमें या ८वीं शताब्दिके पूर्वार्धमें[३] तत्त्वार्थाधिगम नामके एक लघु ग्रन्थकी रचनाकी[४], जो उत्तर कालमें तत्त्वार्थाधिगम भाष्य इस नामसे प्रसिद्ध हुआ। श्वेताम्बर परम्परामें इसे तत्त्वार्थाधिगम सूत्र इस नामसे प्रसिद्धि मिलनेका यही कारण है। किन्तु वह परम्परा भी इसके 'तत्त्वार्थ' और 'तत्त्वार्थसूत्र' इन पुराने नामोंका सर्वथा विस्मृत न कर सकी[५]। उत्तर कालमें तो प्रायः अनेक श्वेताम्बर टीका-टिप्पणीकारों द्वारा एकमात्र 'तत्त्वार्थसूत्र' इस नामको ही एक स्वरसे स्वीकार कर लिया गया है[६]।

श्रद्धालु जनतामें इसका एक नाम मोक्षशास्त्र भी प्रचलित है। इस नामका उल्लेख इसके प्राचीन टीकाकारोंने तो नहीं किया है। किन्तु इसका प्रारम्भ मोक्षमार्गकी प्ररूपणासे होकर इसका अन्त मोक्षकी प्ररूपणाके साथ होता है। जान पड़ता है कि एकमात्र इसी कारणसे यह नाम प्रसिद्धिमें आया है।

१. ग्रन्थका परिमाण

वर्तमानमें तत्त्वार्थसूत्रके दो पाठ (दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा मान्य) उपलब्ध होनेसे इसके परिमाणके विषयमें ऊहापोह होता आया है। किन्तु जैसा कि आगे चलकर बतलानेवाले हैं, सर्वार्थसिद्धिमान्य पाठ ही मूल

---

१. सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदिके प्रत्येक अध्यायकी समाप्ति सूचक पुष्पिका आदि।

२. जीवस्थान कालानुयोग द्वार, पृ० ३१६।

३. प्रस्तावना, सर्वार्थसिद्धि, पृ० ७२ से।

४. तत्त्वार्थाधिगम भाष्य, उत्थानिका, श्लोक २।

५. सिद्धसेनगणि टीका, अध्याय १ और ६ की अन्तिम पुष्पिका।

६. प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी द्वारा अनूदित तत्त्वार्थसूत्र।

तत्त्वार्थसूत्र है। तदनुसार इसके दसों अध्यायोंके सूत्रोंकी संख्या ३५७ है। यथा–अ० १ में सूत्र ३३, अ० २ में सूत्र ५३, अ० ३ में सूत्र ३९, अ० ४ में सूत्र ४२, अ० ५ में सूत्र ४२, अ० ६ में सूत्र २७, अ० ७ में सूत्र ३९, अ० ८ में सूत्र २८, अ० ९ मे सूत्र ४७ और अ० १० मे सूत्र ९, कुल ३५७ सूत्र।

श्वेताम्बर परम्परामें तत्त्वार्थाधिगम भाष्यकी रचना होने पर मूलसूत्र पाठमें संशोधन कर दसों अध्यायों में जो सूत्र संख्या निश्चित हुई उसका विवरण इस प्रकार है—अ० १ में सूत्र ३५, अ० २ में सूत्र ५२, अ० ३ मे सूत्र १८, अ० ४ मे सूत्र ५३, अ० ५ में सूत्र ४४, अ० ६ में सूत्र २६, अ० ७ में सूत्र ३४, अ० ८ में सूत्र २६, अ० ९ में सूत्र ४९, अ० १० में सूत्र ७, कुल ३४४ सूत्र[1]।

३. मंगलाचरण

तत्त्वार्थसूत्रकी प्राचीन अनेक सूत्र पोथियोंमे तथा सर्वार्थसिद्धि वृत्तिमें इसके प्रारम्भमें यह प्रसिद्ध मंगल श्लोक उपलब्ध होता है—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये॥

किन्तु तत्त्वार्थसूत्रकी प्रथम वृत्ति सर्वार्थसिद्धि है, उसमें तथा उत्तरकालीन अन्य भाष्य और टीका ग्रन्थोंमे उक्त मंगल श्लोककी व्याख्या उपलब्ध न होनेसे कतिपय विद्वानोंका मत है कि उक्त मंगल श्लोक मूल ग्रन्थका अंग नही है। सर्वार्थसिद्धिकी प्रस्तावनामें हमने भी इसी मतका अनुसरण किया है। किन्तु दो कारणोंसे हमे स्वयं वह मत सदोष प्रतीत हुआ। स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

१ आचार्य विद्यानन्द उक्त मंगल श्लोकको सूत्रकारका स्वीकार करते हुए आप्तपरीक्षाके प्रारम्भमे लिखते है—

'किं पुनस्तत्परमेष्ठिनो गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ सूत्रकाराः प्राहुरिति निगद्यते।'

आप्तपरीक्षाका उपसंहार करते हुए वे पुनः उसी तथ्यको दुहराते है—

श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य,
प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत्।
स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुपथं स्वामिमीमांसितं तत्।
विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्धयै॥१२३॥

प्रकृष्ट सम्यग्दर्शनादिरूपी श्लोकोंकी उत्पत्तिके स्थान भूत श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्ररूपी अद्भुत समुद्रकी रचनाके आरम्भ कालमे महान मोक्ष पथको प्रसिद्ध करनेवाले और तीर्थोपमस्वरूप जिस स्तोत्रको शास्त्रकारोंने समस्त कर्ममलका भेदन करनेके अभिप्रायसे रचा है और जिसकी स्वामी (समन्तभद्र आचार्य) ने मीमांसा की है उस स्तोत्रके सत्य वाक्यार्थकी सिद्धिके लिए विद्यानन्दने अपनी शक्तिके अनुसार किसी प्रकार निरूपण किया है॥१२३॥

इसी तथ्यको उन्होंने पुनः इन शब्दोंमें स्वीकार किया है—

इति तत्त्वार्थशास्त्रादौ मुनीन्द्रस्तोत्रगोचरा।
ऽणीताप्तपरीक्षेयं विवादविनिवृत्तये॥१२४॥

इस प्रकार तत्त्वार्थशास्त्रके प्रारम्भमें मुनीन्द्रके स्तोत्रको विषय करनेवाली यह आप्तपरीक्षा विवादको दूर करनेके लिए रची गई है॥१२४॥

१. विशेषके लिए देखो, सर्वार्थसिद्धि प्र०, पृ० १७ से।

आप्त परीक्षाके ये उल्लेख असंदिग्ध हैं। इनसे विदित होता है कि आचार्य विद्यानन्दके समय तक उक्त मंगल श्लोक सूत्रकारकी कृतिके रूपमे ही स्वीकार किया जाता रहा है।

२. एक और आचार्य विद्यानन्दने तत्त्वार्थसूत्रपर तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक नामक विस्तृत भाष्य लिखकर भी उसके प्रारम्भमे इस मंगल श्लोककी व्याख्या नही की और दूसरी ओर वे आप्तपरीक्षामे उसे सूत्रकारका स्वीकार करते हैं। इससे इस तर्कका स्वयं निरसन हो जाता है कि तत्त्वार्थ सूत्रके वृत्ति, भाष्य और टीकाकारोंने उक्त मंगल श्लोककी व्याख्या नही की, इसलिए वह सूत्रकारका नहो है।

स्थिति यह है कि स्वामी समन्तभद्र द्वारा तत्त्वार्थसूत्रके उक्त मंगल श्लोककी स्वतन्त्र व्याख्याके रूपमें आप्त मीमांसा लिखे जानेपर उत्तरकालीन पूज्यपाद आचार्यने तत्त्वार्थसूत्रपर वृत्ति लिखते हुए उसके प्रारम्भमें उक्त मंगल श्लोककी पुनः व्याख्या लिखनेका उपक्रम नही किया। भट्ट अकलंकदेवने आप्तमीमांसापर अष्टशती लिखी ही है, इसलिए तत्त्वार्थसूत्रपर अपना तत्त्वार्थ भाष्य लिखते समय उन्होंने भी उक्त मंगल श्लोककी स्वतन्त्र व्याख्या नहो लिखी। यद्यपि आचार्य विद्यानन्दने उक्त मंगल श्लोककी व्याख्याके रूपमें स्वतन्त्र रूपसे आप्त परीक्षा लिखी है। परन्तु उसका कारण अन्य है। बात यह है कि आप्तमीमांसापर भट्ट अकलंकदेव द्वारा निर्मित अष्टशतीके समान स्वयं द्वारा निर्मित अष्टसहस्रीको अति कष्टसाध्य जानकर ही उन्होंने उक्त मंगल श्लोककी स्वतन्त्र व्याख्याकी रूपमे आप्तपरीक्षाकी रचना की। स्पष्ट है कि उक्त मंगल श्लोकको सूत्रकारकी ही अनुपम कृतिके रूपमे स्वीकार करना चाहिए।

४. सूत्रकार और रचनाकालनिर्देश

आचारशास्त्रका नियम है कि अर्हत धर्मका अनुयायी साधु अन्तः और बाहर परम दिगम्बर और सब प्रकारकी लौकिकताओसे अतीत होता है। यही कारण है प्राचीन कालमे सभी शास्त्रकार शास्त्रके प्रारम्भमे या अन्तमें अपने नाम, कुल, जाति और वास्तव्य स्थान आदिका उल्लेख नही करते थे। वे परमार्थसे स्वयको उस शास्त्रका रचयिता नही मानते थे। उनका मुख्य प्रयोजन परम्परासे प्राप्त वीतरागताकी प्रतिपादक द्वादशाग वाणीको संक्षिप्त, विस्तृत या भावान्तर कर सकलन कर देना मात्र होता था। उसमे भी उस कालमे उस विषयका जो अधिकारी विद्वान् होता था उसे ही सघ आदिके ओरसे यह कार्य सौपा जाता था। अन्यथा प्ररूपणा न हो जाय इस बातका पूरा ध्यान रखा जाता था। वे यह अच्छी तरहसे जानते थे कि किसी शास्त्रके साथ अपना नाम आदि देनेसे उसकी सर्व ग्राह्यता और प्रामाणिकता नही बढ़ती। अधिकतर शास्त्रोमे स्थल-स्थलपर 'जिनेन्द्रदेवने ऐसा कहा है[1]', 'यह जिन देवका उपदेश है[2]', 'सर्वज्ञ देवने जिस प्रकार कहा है उस प्रकार हम कहते हैं[3]', इत्यादि वचनोंके उल्लेखोके साथ ही प्रतिपाद्य विषयोके लिपिबद्ध करनेकी परिपाटी थी। प्राचीन कालमे यह परिपाटी जितनी अधिक व्यापक थी, श्रुतधर आचार्योका उसके प्रति उतना ही अधिक आदर था। तत्त्वार्थसूत्रकी रचना उसी परिपाटीका एक अंग है, इसलिए उसमे उसका सकलयिता कौन है इसका उल्लेख न होना स्वाभाविक है। अतः अन्य प्रमाणोंके प्रकाशमे ही हमें इस तथ्यका निर्णय करना होगा कि आगमिक दृष्टिसे सर्वांगसुन्दर इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थका संकलयिता कौन है ?

इस दृष्टिसे सर्वप्रथम हमारा ध्यान आचार्य वीरसेन और आचार्य विद्यानन्दकी ओर जाता है। आचार्य वीरसेन जीवस्थान कालानुयोग द्वारा पृ० ३१६ मे लिखते हैं—

---

१. समयसार, गाथा ७०। २. समयसार, गाथा १५०। ३. बोधपाहुड, गाथा ६१।

'तह गिद्धपिंच्छाइरियप्पयासिदतच्चत्थसुत्ते वि' वर्तना-परिणामक्रियापरत्वापरत्वेच कालस्य' इदि दव्वकालो परूविदो'।

इस उल्लेखमें तत्त्वार्थसूत्रको गृद्धपिच्छाचार्य द्वारा प्रकाशित कहा गया है।

आचार्य विद्यानन्दने भी अपने तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकमें इन शब्दों द्वारा तत्त्वार्थसूत्रको आचार्य गृद्धपिच्छकी रचनाके रूपमें स्वीकार किया है—'गणाधिप-प्रत्येकबुद्ध-श्रुतिकेवल्यभिन्न दर्शपूर्वधर सूत्रेण स्वयंसम्मतेन व्यभिचार इति चेत् ? न, तस्याप्यर्थतः सर्वज्ञवीतराग प्रणेतकत्वसिद्धेरर्हद्भाषितार्थं गणधरदेवैर्ग्रंथितमिति वचनात् एतेन गृद्धपिच्छाचार्यपर्यन्तमुनिसूत्रेण व्यभिचारता निरस्ता।'

ये दोनों समर्थ आचार्य विक्रम ९वीं शताब्दीके पूर्वार्धमें हुए हैं। इससे विदित होता है कि इनके कालतक आचार्य कुन्दकुन्दके पट्टधर एकमात्र आचार्य गृद्धपिच्छ ही तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता स्वीकार किए जाते थे। उत्तर कालमें भी इस तथ्यको स्वीकार करनेमें हमें कहीं कोई मतभेद नहीं दिखलाई देता, जिसकी पुष्टि वादिराजसूरिके पार्श्वनाथचरितसे भी होती है। वहाँ वे शास्त्रकारके रूपमें आचार्य गृद्धपिच्छके प्रति बहुमान प्रकट करते हुए लिखते हैं—

'अतुच्छगुणसम्पातं गृद्धपिच्छं नतोऽस्मितम्।
पक्षी कुर्वन्ति यं भव्या निर्वाणायोत्पतिष्णवः॥'

वादिराजसूरि शास्त्रकारोंका नामस्मरण कर रहे हैं। उसी प्रसंगमें यह श्लोक आया है। इससे विदित होता है कि वे भी तत्त्वार्थसूत्रके रचयिताके रूपमें आचार्य गृद्धपिच्छको स्वीकार करते रहे।

यद्यपि श्रवणबेल्गोलाके चन्द्रगिरी पर्वत पर कुछ ऐसे शिलालेख पाये जाते हैं जिनमें आचार्य गृद्धपिच्छ और उमास्वातिको अभिन्न व्यक्ति मानकर[1] शिलालेख १०५ में उमास्वातिको तत्त्वार्थसूत्रका कर्ता स्वीकार किया गया है। किन्तु इनमेंसे शिलालेख ४३ अवश्य ही विक्रमकी १२वी शताब्दिके अन्तिम चरणका है। शेष सब शिलालेख १३वी शताब्दि और उसके बादके हैं। जिस शिलालेखमें उमास्वातिको तत्त्वार्थसूत्रका रचयिता कहा गया है वह तो १५वी शताब्दिका है। किन्तु मालूम पडता है कि ८वी ९वीं शताब्दि या उसके बाद श्वेताम्बर परम्परामें तत्त्वार्थसूत्रके रचयिताके रूपमें उमास्वातिकी प्रसिद्धि होनेपर कालान्तरमें दिगम्बर परम्परामें उक्त प्रकारके भ्रमकी सृष्टि हुई है। अतः उक्त शिलालेखोंसे भी यही सिद्ध होता है कि तत्त्वार्थसूत्र अन्य किसीकी रचना न होकर मूलमें एकमात्र गृद्धपिच्छाचार्यकी ही अमर कृति है। शिलालेख १०५ में जिन उमास्वातिको तत्त्वार्थसूत्रका रचयिता कहा गया है वे अन्य कोई न होकर आचार्य कुन्दकुन्दके पट्टधर आचार्य गृद्धपिच्छ ही है। श्वेताम्बर परम्पराके वाचक उमास्वाति इनसे सर्वथा भिन्न व्यक्ति है। आचार्य गृद्धपिच्छ और वाचक उमास्वातिके वास्तव्य कालमें भी बडा अन्तर है। आचार्य गृद्धपिच्छका वास्तव्य काल जबकि पहली शताब्दिका उत्तरार्ध और दूसरी शताब्दिका पूर्वार्ध निश्चित हुआ है।[2] इसलिए श्वेताम्बर परम्परामें जो तत्त्वार्थाधिगम भाष्यमान्य सूत्रपाठ पाया जाता है वह मूल सूत्रपाठ न होकर सर्वार्थसिद्धिमान्य

---

१. शिलालेख ४०, ४२, ४३, ४७ व ५०।

२ धर्मघोष सूरीकृत दुःषमकाल श्रमण संघस्तव, धर्मसागर गणिकृत तपागच्छ पट्टावलि और जिनविजय सूरीकृत लोक प्रकाश ग्रन्थ।

सूत्रोंको ही मूल सूत्रपाठ समझना चाहिए[1]। जोकि आचार्य कुन्दकुन्द विक्रमकी प्रथम शताब्दिके मध्यमें हुए अन्वयमें हुए उन्हीके अन्यतम शिष्य आचार्य गृद्धपिच्छकी अनुपम रचना है।

५. विषय परिचय

मूल तत्त्वार्थसूत्रमें १० अध्याय और ३५७ सूत्र हैं यह पहले बतला आये हैं। उसका प्रथम सूत्र है—'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' इसका समुच्चय अर्थ है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपसे परिणत आत्मा मोक्षमार्ग है। मोक्षमार्गका ही दूसरा नाम आत्मधर्म है। इसका आशय यह है कि रत्नत्रय परिणत आत्मा ही मोक्षका अधिकारी होता है, अन्य नही। वहाँ इन तीनोंमें सम्यग्दर्शन मुख्य है, इसीलिए भगवान् कुन्दकुन्दने दर्शन प्राभृतमें इसे धर्मका मूल कहा है। अतः सर्वप्रथम इसके स्वरूपका निर्देश करते हुए वहाँ बतलाया है—'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।' जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्वार्थ हैं। पुण्य और पाप आस्रव और बन्धके विशेष होनेसे यहाँ उनकी पृथक्से परिगणना नहीं की गई है। इनका यथावस्थित स्वरूप जानकर आत्मानुभूति स्वरूप आत्म रुचिका होना सम्यग्दर्शन है यह उक्त सूत्रका तात्पर्य है।

परमागममें सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके जिन बाह्य साधनोंका निर्देश किया गया है उनमें देशनालब्धि मुख्य है। छह द्रव्य और नौ पदार्थोंके उपदेशका नाम देशना है। उस देशनारूपसे परिणत आचार्यादिका लाभ होना और उपदिष्ट अर्थके ग्रहण, धारण तथा विचार करनेरूप शक्तिका समागम होना देशनालब्धि है[2]।

प्रथमादि तीन नरकोंमें प्रथमोपशम सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके जिन तीन बाह्य कारणोंका निर्देश किया गया है उनमें एक धर्मश्रवण भी है। इस पर किसी शिष्यका प्रश्न है कि प्रथमादि तीन नरकोंमें ऋषियोंका गमन न होनेसे धर्मश्रवणरूप बाह्य साधन कैसे बन सकता है? इसका समाधान करते हुए बतलाया है कि वहाँ पूर्व भवके सम्बन्धी सम्यग्दृष्टि देवोंके निमित्तसे धर्मोपदेशका लाभ हो जाता है।[3] इस उल्लेखमें 'सम्यग्दृष्टि' पद ध्यान देने योग्य है। इससे विदित होता है कि मोक्षमार्गके प्रथम सोपानस्वरूप सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमें सम्यग्ज्ञानीका उपदेश ही प्रयोजनीय होता है। इतना अवश्य है कि जिन्हे पूर्व भवमें या कालान्तर में धर्मोपदेश-की उपलब्धि हुई है उनके जीवनमें उसका संस्कार बना रहनेसे वर्तमानमें साक्षात् धर्मोपदेशका लाभ न मिलने पर भी आत्म जागृति होनेसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो जाती है। इन्हीं दोनों तथ्योंको ध्यानमें रखकर तत्त्वार्थ सूत्र में—'तन्निसर्गादधिगमाद्वा' इस तीसरे सूत्रकी रचना हुई है।

वे तत्त्वार्थ कौन-कौन है जिनके श्रद्धानसे सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति होती है इस बातका ज्ञान करानेके लिये 'जीवाजीवास्रव'—इत्यादि सूत्रकी रचना हुई है। मोक्षमार्गमें निराकुलता लक्षण सुखकी प्राप्ति जीवका मुख्य प्रयोजन है, इसलिये सात तत्त्वार्थोंमें प्रथम स्थान चैतन्य लक्षण जीवका है। अजीव (स्व से भिन्न अन्य) के प्रति अपनत्व होनेसे जीवकी संसार परिपाटी चली आ रही है, इसलिये सात तत्त्वार्थोंमें दूसरा स्थान अजीवका है। ये दो मूलतत्त्वार्थ है। इनके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले शेष पाँच तत्त्वार्थ है[4]। जिनमें संसार और उनके कारणों तथा मोक्ष और उनके कारणोंका निर्देश किया गया है।

---

१. इस विषयके विशेष ऊहापोहके लिए सर्वार्थसिद्धिकी प्रस्तावना पर दृष्टिपात कीजिए।

२. जीवस्थान चूलिका पृ० २०४।८, जीवस्थान चूलिका, नौवी चूलिका सूत्र ७ व ८।

३. जीवस्थान चूलिका, पृ० ४२२।

४. पंचास्तिकाय, गाथा १०८, समय व्याख्या टीका।

एक-एक शब्दमें अनेक अर्थोंको द्योतित करनेकी शक्ति होती है। उसमें विशेषणकी सामर्थ्यसे प्रति-नियत अर्थके प्रतिपादनकी शक्तिको न्यस्त करना प्रयोजन है। पहले सम्यग्दर्शनादि और जीवादि पदार्थोंका उल्लेख कर आये हैं। उनमेंसे प्रकृतमें किस पदका कौन अर्थ इष्ट है इस तथ्यका विवेक करनेके लिये 'नाम—स्थापना' इत्यादि पाँचवें सूत्रकी रचना हुई है। किन्तु इस निर्णयमें सम्यग्ज्ञानका स्थान सर्वोपरि है। इस तथ्यको ध्यानमें रख कर निक्षेप योजनाके प्ररूपक सूत्रके बाद 'प्रमाण—नयैरधिगमः' रचा गया है।

प्रमाण—नयस्वरूप सम्यग्ज्ञान द्वारा सुनिर्णीत निक्षिप्त किस पदार्थकी व्याख्या कितने अधिकारोंमें करनेसे वह सर्वांगपूर्ण कही जायगी इस तथ्यको स्पष्ट करनेके लिये 'निर्देश-स्वामित्व' इत्यादि और 'सत्संख्या' इत्यादि दो सूत्रोंकी रचना हुई है। इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्रमें ये आठ सूत्र मुख्य हैं। अन्य सब सूत्रों द्वारा शेष सब कथन इन सूत्रोंमें प्रतिपादित अर्थ का विस्तार मात्र है। उसमें प्रथम अध्यायमें अन्य जितने सूत्र हैं उन द्वारा सम्यग्ज्ञान तत्त्वकी विस्तारसे मीमांसाकी गई है। उसमें जो ज्ञान विधि निषध उभयस्वरूप वस्तुको युगवत् विषय करता है उसे प्रमाण कहते हैं और जो ज्ञान गौण मनुष्यस्वभावसे अवयवको विषय करता है उसे नय कहते है। नयज्ञानमें इतनी विशेषता है कि वह एक अंश द्वारा वस्तुको विषय करता है, अन्यका निषेध नहीं करता। इसीलिये उसे सम्यग्ज्ञानकी कोटिमें परिगृहीत किया गया है।

दूसरे, तीसरे और चौथे अध्यायमें प्रमुखतासे जीवपदार्थका विवेचन किया गया है। प्रसंगसे इन तीनों अध्यायोंमें पाँच भाव, जीवका लक्षण, मनका विषय, पाँच इन्द्रियाँ, उनके उत्तरभेद और विषय, पाँच शरीर, तीन वेद, नौयोनि, नरकलोक, मध्यलोक और उर्ध्वलोक, चारो गतियोंके जीवोंकी आयु आदिका विस्तारसे विवेचन किया गया है। दूसरे अध्यायके अन्तमें एक सूत्र है जिसमें जिन जीवोंकी अनपवर्त्य आयु होती है उनका निर्देश किया गया है।

विषभक्षण, शस्त्रप्रहार, श्वासोच्छ्वास, निरोध आदि बाह्य निमित्तोंके सन्निधानमें भुज्यमान आयुमें ह्रास होनेको अपवर्त कहते हैं। किन्तु इस प्रकार जिनकी आयुका ह्रास नहीं होता उन्हें अनपवर्त्य आयुवाला कहा गया है। प्रत्येक तीर्थंकरके कालमें ऐसे दस उपसर्ग केवली और दस अन्त कृत केवली होते हैं जिन्हें बाह्य मे भयंकर उपसर्गादिके संयोग बनते है, परन्तु उनके आयुका ह्रास नही होता। इससे यह सिद्धान्त निश्चित होता है कि अन्तरंग जिस आयुमें अपने कालमे ह्रास होनेकी पात्रता होती है, बाह्यमे उस कालमें काल प्रत्यासत्तिवश व्यवहारसे ह्रासके अनुकूल अन्य विषभक्षण आदि बाह्य सामग्रीका सन्निधान होनेपर उस आयुका ह्रास होता है। अन्तरंगमें आयुमें ह्रास होनेकी पात्रता न हो और उसके ह्रासके अनुकूल बाह्य सामग्री मिलने पर उसका ह्रास हो जाय ऐसा नही है।

चौथे अध्यायमें देवोंके अवान्तर भेदोंके निरूपणके साथ उनके निर्देश किया गया है। उससे यह सिद्धान्त फलित होता है कि भोगोपभोगकी बहुलता और परिग्रहकी बहुलता, साता आदि पुण्यातिशयका फल न होकर सात परिणामकी बहुलता उसका फल है, इसलिये कर्मशास्त्रमें बाह्य सामग्रीको सुख-दुःख आदि परिणामोंके निमित्तरूपमें स्वीकार किया गया है। देवोंकी लेश्या और आयु आदिका विवेचन भी इसी अध्यायमें किया गया है।

पाँचवें अध्यायमें छह द्रव्यों और उनके गुण-पर्यायोंका सागोपाग विवेचन करते हुए उनके परस्पर उपकारका और गुणपर्यायके साथ द्रव्यके सामान्य लक्षणका भी निर्देश किया गया है। यहाँ उपकार शब्दका अर्थ बाह्य साधनसे है। प्रत्येक द्रव्य जब अपने परिणाम स्वभावके कारण विवक्षित एक पर्यायसे अपने तत्कालीन उपादानके अनुसार अन्य पर्याय रूपसे परिणमता है तब उसमें अन्य द्रव्यकी निमित्तता कहाँ किस रूपमें स्वी-

कारकी गई है यह इस अध्यायके उपकार प्रकरण द्वारा सूचित किया गया है। यहाँ द्रव्यके सामान्य लक्षणमें उत्पाद व्यय और ध्रौव्य इन तीनोको द्रव्यके अंशरूपमें स्वीकार किया गया है। इसका अर्थ यह कि जैसे ध्रौव्यांश अन्वयरूपसे स्वयं सत् है उसी प्रकार अपने-अपने कालमे प्रत्येक उत्पाद और व्यय भी स्वयं सत् है। इन तीनोंमें लक्षण भेद होने पर भी वस्तुपनेसे भेद नहीं है। इसलिये अन्यके कार्यकी परमें व्यवहारसे निमित्तता स्वीकार करके भी उसमें अन्यके कार्यकी यथार्थ कर्तृता आदि नहीं स्वीकारकी गई है और न की जा सकती है।

छठे और सातवें अध्यायमें आस्रव तत्त्वके विवेचनके प्रसंगसे पुण्य और पाप तत्त्वका भी विवेचन किया गया है। संसारी जीवोंके पराश्रित भाव दो प्रकारके हैं शुभ और अशुभ। देव-गुरु-शास्त्रकी भक्ति तथा व्रतों का पालन करना आदि शुभ भाव है और पंचेन्द्रियोंके विषयोंमें प्रवृत्ति तथा हिंसादि रूप कार्य अशुभ भाव हैं। इन परिणामोंके निमित्तसे योग प्रवृत्ति भी दो भागोंमे विभक्त हो जाती है, शुभ योग और अशुभ योग। योग को स्वयं आस्रव कहनेका यही कारण है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस समय जीवके शुभ या अशुभ जैसे भाव होते हैं, योग द्वारा तदनुरूप कर्मोंका ही आस्रव होता है। छठे अध्यायमें आस्रवके भेद-प्रभेदोंका निरूपण करनेके बाद जीवके किन भावोंसे मुख्य रूपसे किस कर्मका आस्रव होता है इसका निर्देश किया गया है। आयुकर्मके आस्रवके हेतुके निर्देशके प्रसंगसे सम्यक्त्व, संयमासंयम और सराग संयमको आस्रवका हेतु बतलाया गया है। सो इस परसे यह अर्थ फलित नहीं करना चाहिए कि इससे देवायुका आस्रव होता है। किन्तु इस कथनका इतना ही प्रयोजन समझना चाहिए कि यदि उक्त विशेषताओंसे युक्त यथा सम्भव मनुष्य और तिर्यञ्च आयुबन्ध करते हैं तो सौधर्मादि सम्बन्धी आयुका ही बन्ध करते हैं। सम्यग्दर्शन आदि कुछ आयु-बन्धके हेतु नहीं है। उनके साथ जो प्रशस्त राग है वही बन्धका हेतु है।

सातवें अध्यायमे शुभ भावोंका विशेष रूपसे स्पष्टीकरण किया गया है उनमें व्रतोंकी परिगणना करते हुए हिंसादि पाँच पाप-भावोंकी आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुतकी गई है। आशय यह है कि प्रमाद बहुत या इच्छापूर्वक असद्विचारसे जो भी क्रियाकी जाती है उसका तो यथा योग्य हिंसादि पाँच पापोंमें अन्तर्भाव होता ही है। साथ ही बाह्य क्रियाके न करने पर भी जो अन्तरंगमें मलिन परिणाम होता है उसे भी अपने-अपने प्रयोजनके अनुसार हिंसादि पाँच पाप रूप स्वीकार किया गया है। इस कथनसे ऐसा आशय भी फलित होता है कि अन्तरंगमें मलिन परिणाम न हो, किन्तु बाह्यमे कदाचित् विपरीत क्रिया हो जाय तो मात्र वह क्रिया हिंसादि रूपसे परिगणित नहीकी जाती।

आठवें अध्यायके प्रकृति बन्ध आदि चारों प्रकारके कर्मबन्ध और उनके हेतुओंका निर्देश किया गया है। बन्धके हेतु पाँच हैं, मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इनमे कषाय और योग ये दो मुख्यतासे पर्यायार्थिक नयके विषय हैं, क्योंकि योगको निमित्तकर प्रकृतिबन्ध और प्रदेश बन्धमे विशेषता आती है तथा कषायको निमित्तकर स्थितिबन्ध और अनुभाग बन्धमे विशेषता आती है। फिर भी यहाँपर मिथ्यादर्शन, अविरति और प्रमाद आदि पाँचको जो बन्धका हेतु कहा है उसका कारण यह है कि ये पाचो द्रव्यार्थिकनयसे बंधके सामान्य कारण हैं तथा मिथ्यादर्शनके सद्भावमें जो बन्ध होता है वह सर्वाधिक स्थिति आदिको लिये हुए होता है। अविरतिके सद्भावमें जो बन्ध होता है वह मिथ्यादर्शनके कालमे होनेवाले बन्धसे यद्यपि अल्प स्थितिवाला होता है, पर वह व्रती जीवके प्रमादके सद्भावमें होनेवाले बन्धसे अधिक स्थितिको लिये हुए होता है। कारण यह है पूर्व-पूर्वके गुणस्थानोसे आगे-आगेके गुणस्थानोंमें संक्लेश परिणामोंकी हानि होती जाती है और विशुद्धि बढ़ती जाती है। अशुभ प्रकृतियोंके अनुभाग बन्धकी स्थिति इससे भिन्न प्रकार की है, क्योंकि

उत्तरोत्तर अशुभ भावोंमें हानि होनेके साथ जीवोंके परिणामोंमें विशुद्धि बढ़ती जाती है, तदनुसार शुभ प्रकृतियोंके अनुभागमें वृद्धि होती जाती है। प्रयोजनकी बात इतनी है कि यहाँ सर्वत्र स्थितिबन्ध और अनुभाग बन्धका मुख्य कारण कषाय है।

जीव रूप-रस-गन्ध और स्पर्शसे रहित है, किन्तु पुद्गल रूप-रस-गन्ध और स्पर्शवाला है। इसलिए पुद्गल पुद्गलमें जो स्पर्श निमित्तक संश्लेष बन्ध होता है वह जीव और पुद्गलमें नही बन सकता, क्योंकि जीवमें स्पर्श गुणका सर्वथा अभाव है। यही कारण है कि जीव और द्रव्य कर्मका अन्योन्य प्रदेशानुप्रदेशरूप बन्ध बतलाया गया है। जीवका कर्मोंके साथ संश्लेष बन्ध नहीं होता क्योंकि संश्लेष बन्ध पुद्गलों पुद्गलोंमें होता है इत्यादि अनेक विशेषताओंकी इस अधिकार द्वारा सूचना मिलती है।

नौवें अध्यायमें संवर और निर्जरा तत्वका तथा उनके कारणोंका सांगोपांग विवेचन किया गया है। शुभाशुभ भावका नाम आस्रव है, अतः उन भावोका निरोध होना संवर है। यों तो गुणस्थान परिपाटीके अनुसार विचार करने पर विदित होता है कि मिथ्यात्वके निमित्तसे बन्धको प्राप्त होनेवाले कर्मोंका सासादन गुणस्थानमे द्रव्य संवर है, किन्तु संवरमे भाव संवरकी मुख्यता होनेसे उसका प्रारम्भ चतुर्थ गुणस्थानसे ही समझना चाहिए, क्योंकि एक तो सम्यग्दृष्टिके अनुभूतिके कालमे शुभाशुभ भावोंका वेदन न होकर रत्नत्रय परिणत ज्ञायक स्वभाव आत्माका अनुभव होता है, दूसरे शुभाशुभ भावोंमे हेय बुद्धि हो जाती है, और तीसरे उसके दर्शन मोहनीय तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभरूप कषाय परिणामका सर्वथा अभाव हो जाता है। यद्यपि इसके वेदकसम्यक्त्वके कालमे सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय बना रहता है, पर उस अवस्थामे भी सम्य दर्शनस्वरूप स्वभाव पर्यायका अभाव नहीं होता। फिर भी यहाँ पर नौवें अध्यायमे संवरको जो गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्र स्वरूप कहा है सो वह संवर विशेषको ध्यानमें रखकर ही कहा है। यहाँ संवरके प्रकारोंमे गुप्ति मुख्य है। इससे यह तथ्य सुतरां फलित हो जाता है कि समिति आदिमे जितना निवृत्यंश है व संवर स्वरूप है, आत्मातिरिक्त अन्यके व्यापारस्वरूप प्रवृत्यंश नहीं। यद्यपि तपका धर्ममे ही अन्तर्भाव हो जाता है, परन्तु वह जैसे संवरका हेतु है वैसे ही निर्जराका भी हेतु है यह दिखलानेके लिये उसका पृथक्से निर्देश किया है।

आचार्य गृद्धपिच्छने कहाँ कितने परीषह होते हैं इस विषयका निर्देश करते हुए उनका कारण परीषह और कार्य परीषह ये दो विभाग स्वीकार कर विचार किया है। इस अध्यायमे परीषह सम्बन्धी प्ररूपणा ८ वें सूत्रसे प्रारम्भ होकर वह १७वें सूत्र पर समाप्त होती है। ८वें सूत्रमे परीषहका लक्षण कहा गया है। ९ वें सूत्रमे परीषहोंका नाम निर्देश करते हुए ६ वीं परीषहके लिये स्पष्टतः नाग्न्य शब्दका ही उल्लेख किया गया है। इससे सूत्रकार एक मात्र दिगम्बर सम्प्रदायके पट्टधर आचार्य थे इसका स्पष्ट बोध हो जाता है। इसके बाद १०, ११ और १२ संख्याक सूत्रोंमे कारणोंकी अपेक्षा किसके कितने परीषह सम्भव है इस बातका निर्देश किया गया है। १३, १४, १५ और १६ संख्याक सूत्रोंमें उनके कारणोंका निर्देश किया गया है। इस प्रकार १०, ११ और १२ संख्याक सूत्रोंमे कारणकी अपेक्षा कारण परीषह होकर तथा १३, १४, १५ और १६ संख्याक सूत्रोंमे उनके कारणोंका निर्देश कर आगे मात्र १७ वें सूत्रमें कार्य परीषहोंका उल्लेख करते हुए बतलाया गया है कि एकजीवके कमसे कम एक और अधिकसे अधिक १९ परीषह होते हैं। उदाहरणस्वरूप हम बादरसाम्पराय जीवको लेते हैं। एक कालमें कारणोंकी अपेक्षा इसके सब परीषह बतलाकर भी कार्यकी अपेक्षा कमसे कम एक और अधिकसे अधिक १९ परीषह बतलाये है। स्पष्ट है कि 'एकादश जिने' इस सूत्रमे जिनके जो ग्यारह परीषह

बतलाये हैं वे तेरहवें चौदहवें गुणस्थानमें असाता वेदनीयके पाये जानेवाले उदयको देखकर ही बतलाये गये हैं। वहाँ क्षुधादि ११ परीषह होते हैं यह उक्त कथनका तात्पर्य नहीं है। 'एकादश जिने' यह कारणकी अपेक्षा परीषहोंका निर्देश करनेवाला सूत्र है, कार्यकी अपेक्षा परीषहोंका निर्देश करनेवाला सूत्र नहीं।

इस अध्यायमें प्रसंगसे संयतोंके भेदोंका निर्देश करते हुए बतलाया है कि ये पुलाकादि नैगमादि नयोंकी अपेक्षा संयत कहे गये है। इसका आशय यह है कि पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक इन पांच भेदोंमें-से निर्ग्रन्थ और स्नातक ये दोनों भाव निर्ग्रन्थ होनेसे एकमात्र एवं भूतनयकी अपेक्षासे ही निर्ग्रन्थ है। शेष तीन निर्ग्रन्थ काल भेदसे नैगमादि अनेक नयसाध्य है। निर्ग्रन्थ सामान्यकी अपेक्षा विवक्षा भेदसे पाँचों ही सम्यग्-दर्शनके साथ नग्नतारूप जिन लिंगके धारी होनेसे निर्ग्रन्थ है यह इस कथनका अभिप्राय है।

एक बात यहाँ निर्जराके विषयमें भी स्पष्ट करनी है। उत्तरोत्तर असंख्यात गुणी निजराके इन दस स्थानोंमेंसे श्रावक और प्रमत्त विरतके प्रकृतमें पूर्वकी अपेक्षा जिस असंख्यात गुणी द्रव्य-कर्म निर्जराका निर्देश किया गया है वह इन दोनोंके विशुद्धिकी अपेक्षा एकान्तानुवृद्धिके कालकी जाननी चाहिए क्योंकि इसके सिवाय अन्य कालमें संक्लेश और विशुद्धिके अनुसार उक्त निर्जरामें तारतम्य देखा जाता है। विशुद्धिके कालमें विशुद्धिके तारतम्यके अनुसार कभी असंख्यात गुणी, कभी संख्यात गुणी, कभी असंख्यातवाँ भाग अधिक और कभी संख्यातवाँ भाग अधिक निर्जरा होती है यहां पूर्व समयकी अपेक्षा अगले समयमें कितनी निर्जरा होती है इस दृष्टिसे निर्जराका यत्क्रम बतलाया गया है।

इस अध्यायमे ध्यानका विस्तारसे विचार करते हुए ध्याता, ध्यान, ध्येय, ध्यानका फल और ध्यानके काल इन पाँचों विषयों पर सम्यक् प्रकाश डाला गया है। ध्यानके दो भेद है—प्रशस्त और अप्रशस्त। यहाँ अप्रशस्त ध्यानका विचार न कर प्रशस्त ध्यानका विचार करना है। प्रशस्त ध्यानके भी दो भेद हैं—धर्मध्यान और शुक्लध्यान। श्रेणि आरोहणके पूर्व जो ध्यान होता है उसे धर्मध्यान कहते हैं श्रेणि और आरोहणके बाद जो ध्यान होता है उसको शुक्लध्यान संज्ञा है। इसका यह तात्पर्य है कि धर्मध्यान चौथे गुणस्थानसे प्रारम्भ होकर सातवें गुणस्थान तक होता है। साधारणतः तत्त्वार्थसूत्रमे धर्मध्यानके आलम्बनके प्रकार चार बतलाये है—आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान। इन सभी पर दृष्टिपात कर सामान्य रूपसे यदि आलम्बनको विभक्त किया जाय तो वह दो भागोंमे विभाजित हो जाता है—एक स्वात्मा और दूसरे स्वात्मासे भिन्न अन्य पदार्थ। ध्यानका लक्षण करते हुए यह तो बतलाया ही गया है कि अन्य ध्यानमे अशेष विषयोसे चित्तको परावृत्त कर किसी एक विषय पर चित्त अर्थात् उपयोगको स्थिर किया जाता है अतः आत्मज्ञानस्वरूप है, इसलिये यदि उपयोगको आत्मस्वरूपमें युक्त किया जाता है तो उपयोग स्वरूपका वेदन करनेवाला होनेसे निश्चय ध्यान कहलाता है और यदि उपयोगको विकल्पदशा पर-पदार्थमें युक्त किया जाता है तो वह स्वरूपसे भिन्न अन्य पदार्थरूप विशेषणसहित होनेके कारण व्यवहार ध्यान कहलाता है। इसमेसे निश्चय ध्यान कर्म निर्जरा स्वरूप है, अतः कर्म निर्जराका हेतु भी है और व्यवहार ध्यान इससे विपरीत स्वभाववाला होनेसे न तो स्वयं निर्जरा स्वरूप है और न तो साक्षात् कर्म निर्जराका हेतु ही है। अन्यत्र धर्म ध्यानके जो सविकल्प और निर्विकल्प ये दो भेद दृष्टिगोचर होते हैं वे इसी अभिप्रायसे किये गये जानने चाहिये। यहाँ यह बात विशेष जाननी चाहिये की ५वें और ६ठें गुणस्थानमें विकल्पके कालमे भी जो स्वभाव पर्याय होती है, उसके निमित्तसे होनेवाली कर्म निर्जरा यथावत् चालू रहती है।

सामान्य नियम यह है कि जब आत्मा मोक्षमार्गके सन्मुख होता है तब उसके अपने उपयोगमें मुख्य रूपसे एकमात्र आत्माका ही अवलम्बन रहता है, अन्य अशेष अवलम्बन गौण होते जाते है, क्योंकि मोक्षका

अर्थ ही आत्माका अकेला होना है, अतः मोक्षमार्ग वह कहलाया जिस मार्गसे आत्मा अकेला बनता है। देव-शास्त्र-गुरुकी भक्ति या व्रतादिरूप परिणामको आगममें व्यवहार धर्मरूपसे इसीलिए स्वीकार किया गया है कि वह जीवका परलक्षी संयोगी परिणाम है, स्वरूपानुभूतिरूप आत्माश्रयी अकेला परिणाम नहीं।

शंका—स्व-परका प्रकाशन करना यह ज्ञानका स्वरूप है। ऐसी अवस्थामें प्रत्येक उपयोग परिणाममें परलक्षीपना बना रहेगा, उसका वारण कैसे किया जा सकता है?

समाधान—ज्ञानके स्व-पर प्रकाशक होनेसे प्रत्येक निश्चय नयात्मक उपयोग परलक्षी या पराश्रित ही होता है ऐसी बात नही है।

एकत्वपनमें या इष्टानिष्टपनसे बुद्धिपूर्वक परलक्षी या पराश्रित ज्ञान परिणाम है और स्वरूपके वेदन कालमें अपने उपयोग परिणामरूपसे पर भी जाननेमें आना ज्ञानका स्व-पर प्रकाशकपना है।

शंका—ज्ञानके उपयोग परिणामकी ऐसी स्थिति कहाँ बनती है?

समाधान—केवल ज्ञानमें।

शंका—छद्मस्थके स्वरूपका वेदन करते समय जो परिणाम होता है उसमे ऐसी स्थिति बनती है कि नही?

समाधान—छद्मस्थके स्वसन्मुख होकर स्वरूपका वेदन करते समय प्रमाण ज्ञानकी प्रवृत्ति न होकर नयज्ञानकी प्रवृत्ति होती है, इसलिये उस कालमे उपयोगमे पर गौण होनेसे लक्षित नहीं होता। पण्डितप्रवर आशाधरजी (अनगारधर्मामृत, अध्याय, श्लोक १०८-१०९ की स्वोपज्ञ टीकामें) लिखते है—

तदनन्तरमप्रमत्तादिक्षीणकषायपर्यन्तं जघन्य-मध्यमोत्कृष्टभेदेन विवक्षितैकदेशेन शुद्धनयरूपः शुद्धोपयोगो वर्तते।

अर्थ—तदनन्तर अप्रमत्त गुणस्थानसे लेकर क्षीण कषाय गुणस्थान पर्यन्त जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेदरूप विवक्षित एक देशरूपसे शुद्धनयरूप शुद्धोपयोग प्रवर्तता है।

इसी तथ्यको सुस्पष्ट करते हुए वे इसी स्थल पर आगे लिखते है—

अत्र च शुद्धनये शुद्धबुद्धैकस्वभावो निजात्मा ध्येयस्तिष्ठतीति। शुद्धध्येयत्वाच्छुद्धावलम्बनत्वाच्छुद्धात्मस्वरूपसाधकत्वाच्च शुद्धोपयोगो घटते। स च भाव संवर इत्युच्यते। एष च संसारकारणभूतमिथ्यात्वरागाद्यशुद्धपर्यायवदशुद्धो न स्यात्, नापि फलभूतकेवलज्ञानलक्षणशुद्धपर्यायवच्छुद्धः स्यात्। किन्तु ताभ्यामशुद्ध-शुद्धपर्यायाभ्यां विलक्षणं शुद्धात्मानुभूतिरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकं मोक्षकारणमेकदेशव्यक्तिरूपमेकदेशनिवारणं च तृतीयमवस्थान्तरं भण्यते।

और यहाँ पर शुद्धनयमें शुद्ध, बुद्ध, एकस्वभाव निज आत्मा ध्येय है इसलिए शुद्ध ध्येय होनेसे, शुद्धका अवलम्बन होनेसे तथा शुद्ध आत्मस्वरूपका साधक होनेसे शुद्धोपयोग बन जाता है। इसीका नाम भाव-संवर है। यह संसारके कारणभूत मिथ्यात्व और रागादि अशुद्ध पर्यायोंके समान अशुद्ध नहीं है और फलभूत केवलज्ञान लक्षण शुद्ध पर्यायके समान शुद्ध भी नहीं है। किन्तु उन दोनों अशुद्ध और शुद्ध पर्यायोंसे विलक्षण शुद्ध आत्मानुभूतिरूप निश्चय रत्नत्रयात्मक मोक्षकारण एक देश व्यक्तिरूप और एकदेश निवारण तीसरी अवस्थारूप कहा जाता है।

यहाँ अप्रमत्त संयम नामक सातवें गुणस्थानसे शुद्धोपयोगकी प्रवृत्तिका ज्ञापन किया गया है और सातवें गुणस्थानमें धर्म ध्यान होता है, क्योंकि आरोहणके पूर्व धर्मध्यान होता है और दोनों श्रेणियोंमें

शुक्लध्यान होता है ऐसा आगमवचन है। अतः इस कथनसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि धर्मध्यान सविकल्प और निर्विकल्पके भेदोंसे दो प्रकारका होता है। जहाँ शुद्धात्मा ध्येय, शुद्धात्मा आलम्बन और तत्स्वरूप उपयोग एकरस होकर प्रवृत्त होते हैं उसे निर्विकल्प ध्यान कहते हैं और जहाँ ध्येय और आलम्बनके आश्रयसे विचाररूप उपयोगकी प्रवृत्ति होती है उसे सविकल्प ध्यान कहते हैं। स्वानुभूति और निर्विकल्प धर्मध्यान इनमें शब्दभेद है, अर्थभेद नहीं। इतना अवश्य है कि जो मिथ्यादृष्टि जीव स्वभाव सन्मुख होकर सम्यग्दर्शनको उत्पन्न करता है उसके सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके समय होनेवाले निर्विकल्प ध्यानको स्वानुभूति कहते हैं। आगे सातवें आदि गुणस्थानोंसे उसीका नाम शुद्धोपयोग है इन दोनोंमें भी शब्दभेद है अर्थभेद नहीं है। यद्यपि प्रत्येक संसारी जीवके कषायका सद्भाव दसवें गुणस्थान तक पाया जाता है, परन्तु निर्विकल्प धर्मध्यान और पृथक्त्व वितर्क वीचार शुक्ल ध्यानमें उसे आगम अबुद्धिपूर्वक स्वीकार करता है।

शंका—शुक्ल ध्यानका प्रथम भेद सवीचार है। उसमें अर्थ, व्यञ्जन और योगकी संक्रान्ति नियमसे होती है। ऐसी अवस्थामें उक्त शुक्लध्यानमें तथा उससे पूर्ववर्ती निर्विकल्प धर्म ध्यानमें शुद्धात्मा ध्येय और शुद्धात्मा आलम्बन कैसे बन सकता है और वह न बननेसे निरन्तर शुद्धनयकी प्रवृत्ति कैसे बन सकती है ?

समाधान—यद्यपि शुक्ल ध्यानके प्रथम भेदमें अर्थ, व्यञ्जन और योगकी संक्रान्ति होती है, परन्तु निरन्तर आत्माश्रित स्वभाव सन्मुख रहनेके कारण अन्य ज्ञेय पदार्थमें इष्टानिष्ट बुद्धि नहीं होती, इसलिये उसके इस अपेक्षासे शुक्ल ध्यानके प्रथम भेदमें भी शुद्धात्मा ध्येय और शुद्धात्मा आलम्बन बनकर शुद्धात्माके साधक शुद्धात्मानुभव स्वरूप शुद्धनयकी प्रवृत्ति बन जाती है।

श्री समयसार आस्रव अधिकारमें छद्मस्थ ज्ञानीके जघन्य ज्ञान होनेसे उसका पुनः पुनः परिणाम होता है और इसलिये उसे जहाँ ज्ञानावरणादि रूप कर्मबन्धका भी हेतु कहा गया है, वहाँ इसके मुख्य कारणका निर्देश करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र देवने बतलाया है कि जो ज्ञानी है वह बुद्धिपूर्वक राग, द्वेष मोहरूप आस्रव भावका अभाव होनेसे निरास्रव ही है। किन्तु वह भी जबतक ज्ञानको सर्वोत्कृष्ट रूपसे देखने जानने और आचरण करनेमें अशक्त वर्तता हुआ जघन्यरूपसे ही ज्ञानको देखता जानता और आचरण करता है तब तक उसके भी, जघन्य भावकी अन्यथा उत्पत्ति नहीं हो सकती। इस अन्यथा उत्पत्ति नहीं हो सकती इसके द्वारा अनुमीयमान, अबुद्धि पूर्वक कलङ्कविपाकका सद्भाव होनेसे पुद्गल कर्मबन्ध होता है। (समयसार गाथा १७२ आत्मख्याति टीका)

यह तो स्पष्ट है कि ज्ञानी सदाकाल आस्रव भावकी भावनाके अभिप्रायसे रहित होता है, इसलिए उसके सविकल्प अवस्थामें भी राग-द्वेषरूप प्रवृत्ति अबुद्धिपूर्वक ही स्वीकार की गई है, निर्विकल्प अवस्थामें तो वह अबुद्धिपूर्वक होती ही है। फिर भी रागभाव चाहे बुद्धिपूर्वक हो और चाहे अबुद्धिपूर्वक, उसके सद्भावमें बन्ध होता ही है। इसका यहाँ विशेष विचार नहीं करना है। यहाँ तो केवल इतना ही निर्देश करना है कि ज्ञानीके ज्ञेयमें अभिप्रायपूर्वक कभी भी इष्टानिष्टबुद्धि न होनेसे वह ध्यान कालमें निर्विकल्प स्वानुभूतिसे च्युत नहीं होता। इसलिए उसके शुद्धनयस्वरूप शुद्धोपयोगकी प्रवृत्ति बनी रहती है।

दसवें अध्यायमें मोक्षतत्त्वके निरूपणके प्रसंगसे प्रथम सूत्रमें केवलज्ञानकी उत्पत्तिका निरूपण कर दूसरे सूत्र द्वारा सकारण मोक्ष तत्त्वका निरूपण किया गया है। यहाँ प्रथम सूत्रमें घातिकर्मोंके नाशके क्रमको भी ध्यानमें रखा गया है और दूसरे सूत्रमें संवर और निर्जरा-द्वारा समस्त कर्मोंका वियुक्त होना मोक्ष है ऐसा न कहकर संवरके स्थानमें जो 'बंधहेत्वभाव' पदका प्रयोग किया है सो उस द्वारा आचार्य गृद्धपिच्छने यह

तथ्य उद्घाटित किया है कि 'संवर' को ही यहाँपर व्यतिरेक मुखसे 'बन्धहेत्वभाव' कहा गया है, क्योंकि जितने अंशमें बन्धके हेतुओका अभाव होता है उतने ही अंशमे संवरकी प्राप्ति होती है। उसे ही दूसरे शब्दोंमें हम यों भी कह सकते हैं कि जितने अंशमें संवर अर्थात् स्वरूपस्थिति होती है उतने ही अंशमें बन्धके हेतुओंका अभाव होता है।

पहले दूसरे अध्यायमें जीवके पाँच भावोंका निर्देश कर आये हैं। क्या वे पाँचों प्रकारके भाव मुक्त जीवोंके भी पाये जाते है या उनमें कुछ विशेषता है ऐसी आशंकाको ध्यानमें रखकर सूत्रकारने उसका निरसन करनेके अभिप्रायसे ३ रे और ४ थे सूत्रोंकी रचना की है। तीसरे सूत्रमे तो यह बतलाया गया है कि मुक्त जीवोंके कर्मोंके उपशम, क्षयोपशम और उदयके निमित्तसे जितने भाव होते हैं उनका अभाव तो हो ही जाता है। साथ ही भव्यत्व भावका भी अभाव हो जाता है। जैसे किसी उड़दमे कारणरूपसे पाकशक्ति होती है और किसी विशेष उड़दमे ऐसी पाक शक्ति नही होती उसी प्रकार अधिकतर जीवोंमे रत्नत्रयको प्रकट करनेकी सहज योग्यता होती है और कुछ जीवोंमें ऐसी योग्यता नही होती। जिनमे रत्नत्रयको प्रकट करनेकी सहज कारण योग्यता होती है उन्हे भव्य कहते है और जिनमें ऐसी कारण योग्यता नही होती उन्हें अभव्य कहते हैं। स्पष्ट है कि जिन जीवोंने मुक्ति लाभ कर लिया है उनके रत्नत्रयरूप कार्य परिणामके प्रकट हो जानेसे भव्यत्व भावरूप सहज कारण योग्यताके कार्यरूप परिणम जानेसे वहाँ इसका अभाव स्वीकार किया गया है। उदाहरणार्थ जो मिट्टी घट परिणामका कारण है उसका घट परिणामस्वरूप कार्य हो जानेपर उसमें जैसे वर्तमानमें वह कारणता नही रहती उसी प्रकार प्रकृतमें समझना चाहिये।

चौथे सूत्रमें मुक्त जीवके जो भाव शेष रहते है उन्हें स्वीकार किया है यद्यपि उक्त सूत्रमें ऐसे कुछ ही भावोंका नामनिर्देश किया गया है जो मुक्त जीवोंमे पाये जाते है। पर वहाँ उनका उपलक्षण रूपसे ही नाम-निर्देश किया गया जानना चाहिए। अतः इससे उन भावोंका भी ग्रहण हो जाता है जिनका उल्लेख उक्त सूत्रमें नही किया गया है, पर मुक्त जीवोंमे पाये अवश्य जाते है। यहाँ यह बात विशेषरूपसे ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि ये भाव कर्मक्षयको निमित्तकर होते है, इसलिए इन्हे क्षायिक भाव भी कहते है। उनमे क्षायिक चारित्र भी गर्भित है। परन्तु सूत्रमे इनका क्षायिक भावरूपसे उल्लेख नही किया गया है। इसका कारण यह है कि ये सब भाव स्वभावके आश्रयसे उत्पन्न होते है, इसलिए इस अपेक्षासे ये वास्तवमे स्वभाव भाव ही है। उन्हे क्षायिक भाव कहना यह उपचार है। सूत्रकारने अपने इस निर्देश द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि मुमुक्षु जीवको मोक्ष प्राप्तिके लिये बाह्य सामग्रीका विकल्प छोड़कर अपने उपयोग द्वारा स्वभाव सन्मुख होना ही कार्यकारी है।

मुक्तिलाभ होनेपर यह जीव जिस क्षेत्रमे मुक्तिलाभ करता है वही अवस्थित रहता है या क्षेत्रान्तरमे गमन कर जाता है? यदि क्षेत्रान्तरमे गमन करके जाता है तो वह क्षेत्र कौनसा है जहाँ जाकर यह अवस्थित रहता है? साथ ही वही इसका गमन क्यों होता है? मुक्त होनेके बाद भी यदि गमन होता है तो नियत क्षेत्र तक ही गमन होनेका कारण क्या है? इत्यादि अनेक प्रश्न है जिनका समाधान ५ से लेकर ८वें तकके सूत्रोंमे किया गया है।

प्रयोजनीय बात यहाँ यह कहनी है कि सातवे सूत्रमे 'तथागतिपरिणामात्' पद द्वारा तो मुक्त जीवकी स्वभाव ऊर्ध्व गतिका निर्देश किया गया है और ८वें सूत्र द्वारा उसके बाह्य साधनका उल्लेख किया गया है।

यहाँ पर कुछ विद्वान् यह शंका किया करते है कि मुक्त जीवका उपादान तो लोकान्तरके ऊपर जानेका भी है, पर आगे धर्मास्तिकायका अभाव होनेसे लोकान्तसे ऊपर उसका गमन नहीं होता। किन्तु

उनका इस विषयमें यह वक्तव्य तथ्यकी अनभिज्ञताको ही सूचित करता है। उक्त शंकाका समाधान यह है—

(१) बाह्य और आभ्यन्तर उपाधिकी समग्रतामें कार्य होता है यह नियम है। इसके अनुसार जिस समय जो कार्य होता है उसके अनुरूप ही द्रव्यपर्याय योग्यता (उपादान कारणता) होती है। न न्यून और न अधिक। तथा बाह्य निमित्त भी उसके अनुकूल ही होते है। उनका उस समय होना अवश्यंभावी है। वह न हो तो उपादानके रहते हुए भी कार्य नही होता ऐसा नही है, क्योंकि जिस प्रकार विवक्षित कार्यकी अपने उपादानके साथ उस समय आभ्यन्तर व्याप्ति नियमसे होती है उसी प्रकार उस समय उसकी बाह्य साधनोंके साथ बाह्य व्याप्तिका होना भी अवश्यंभावी है। तभी इनकी विवक्षित कार्यके साथ काल प्रत्यासत्ति बन सकती है। इससे सिद्ध है कि मुक्त जीवका लोकान्तके ऊपर गमनाभाव वास्तवमें तो वैसा उपादान न होनेसे नही होता। धर्मास्तिकायका अभाव होनेसे नही होता यह मात्र व्यवहार वचन है जो मुक्त जीव अपने उपादानके अनुसार कहाँ तक जाता है इस तथ्यको सूचित करता है। सर्वत्र व्यवहार और निश्चयका ऐसा ही योग होता है।

(२) मुक्त जीव ऊर्ध्वगति स्वभाव है इस कथनका यह आशय नही कि वह निरन्तर ऊपर ही ऊपर गमन करता रहे। किन्तु इस कथनका यह आशय है कि वह तिर्यक् रूपसे अन्य दिशाओंकी ओर गमन न कर लोकान्त तक ऊर्ध्व ही गमन करता है। तत्त्वार्थवार्तिकमें 'धर्मास्तिकायाभावात्' इस सूत्रकी उत्थानिकामें बतलाया है कि—'मुक्तस्योर्ध्वमेव गमन न दिगन्तरगमनमित्यय स्वभावः नोर्ध्वगमनमेवेति।' 'मुक्त जीवका ऊपरकी ओर ही गमन होता है, अन्य दिशाओंको लक्ष्य कर गमन नही होता यह स्वभाव है, उत्तरोत्तर ऊपर-ऊपर गमन होता रहे यह स्वभाव नही है।' सो इस वचनसे भी उक्त तथ्यकी ही पुष्टि होती है।

(३) मुक्त जीवकी एक ऊर्ध्वगति होती है जो स्वाभाविकी होनेसे स्वप्रत्यय होती है। साथ ही लोकान्तमें उसकी अवस्थिति भी स्वाभाविकी होनेसे स्वप्रत्यय होती है इसलिए उसपर यह व्यवहार कथमपि लागू नहीं पड़ता कि लोकान्तसे और आगे धर्मास्तिकायका अभाव होनेसे उसे वहाँ बलात् रुकना पडता है। किन्तु अपने उपादानके अनुसार मुक्तजीव लोकान्त तक ऊपरकी ओर ऋजुगतिसे स्वय गमन करता है और लोकान्तमें स्वयं अवस्थित हो जाता है। व्यवहारनयसे लोकालोकके विभागका कारण धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायको बतलाया गया है उसीको ध्यानमे रखकर सूत्रकारने यह वचन कहा है कि आगे धर्मास्तिकाय न होनेसे मुक्तजीव लोकान्तसे और ऊपर नही जाता। परमार्थसे देखा जाय तो षट् द्रव्यमयी यह लोक स्वभावसे रचित है, अतएव अनादि-निधन है, इसलिए जिस प्रकार मानुषोत्तर पर्वतके परभागमें मनुष्यका स्वभावसे गमन नही होता उसी प्रकार एक मुक्त जीव ही क्या किसी भी द्रव्यका लोककी मर्यादाके बाहर स्वभावसे गमन नहीं होता।

(४) जैसे कोई परमाणु एक प्रदेश तक गमन कर स्वयं रुक जाता है। कोई परमाणु दो या दो से अधिक प्रदेशों तक गमन कर स्वयं रुक जाता है। आगे धर्मास्तिकाय होने पर भी एक या एकसे अधिक प्रदेशोंतक गमन करनेवाले परमाणुको वह बलात् गमन नही कराता। वैसे ही मुक्त जीव अपने ऊर्ध्वगति स्वभावका उत्कृष्ट विपाक लोकान्त तक जानेका होनेके कारण वहाँ तक जाकर वह स्वयं रुक जाता है ऐसा यहाँ परमार्थसे समझना चाहिए। 'धर्मास्तिकायाभावात्' यह व्यवहार वचन है जो इस तथ्यको सूचित करता है कि इससे और ऊपर गमन करनेकी जीवमें उपादान शक्ति ही नही है।

यहाँ सूत्रकारने ७वें और ८वें सूत्रमें जितने हेतु और उदाहरण दिए हैं उन द्वारा मुक्त जीवका एक-मात्र ऊर्ध्वगति स्वभाव ही सिद्ध किया गया है ऐसा यहाँ समझना चाहिए। ९वें सूत्रमें ऐसे १२ अनुयोगोंका निर्देश किया गया है जिनके माध्यमसे मुक्त होनेवाले जीवोंके विषयमें अनेक उपयोगी सूचनाओंका परिज्ञान हो जाता है। उनमे एक चारित्र विषयक अनुयोग है। प्रश्न है कि किस चारित्रसे सिद्धि होती है? उसका समाधान करते हुए एक उत्तर यह दिया गया है कि नाम रहित चारित्रसे सिद्धि होती है। इस पर कितने ही मनीषी ऐसा विचार रखते है कि सिद्धोंमें कोई चारित्र नहीं होता। किन्तु इसी तत्त्वार्थसूत्रमे जीवके जो नौ क्षायिक भाव परिगणित किए गये हैं उनमे एक क्षायिक चारित्र भी है। और ऐसा नियम है कि जितने भी क्षायिक भाव उत्पन्न होते हैं वे सब परनिरपेक्ष भाव होनेसे प्रतिपक्षी द्रव्यभाव कर्मोंका क्षय होनेपर एकमात्र स्वभावके आलम्बनसे ही उत्पन्न होते हैं, अतः वे सिद्ध पर्यायके समान अविनाशी होते हैं। अतः सिद्धोंमें केवल ज्ञान आदिके समान स्वरूप स्थिति अर्थात् स्वसमय प्रवृत्तिरूप अनिवच सहज चारित्र जानना चाहिए। उसकी कोई संज्ञा नहीं है, इसलिए उनमे उसका अभाव स्थापित करना उचित नहीं है। लोकमें एक यह बात भी प्रचारितकी जाती है कि कालमें इस क्षेत्रसे कोई मुक्त नही होता सो यह बात भी ठीक नहीं है क्योंकि मुक्ति प्राप्तिके लिए न तो कोई काल ही बाधक है और न मनुष्य लोक सम्बन्धी कोई क्षेत्र ही बाधक है। इतना अवश्य है कि चौथे काल और उत्सर्पिणीके तीसरे काल सम्बन्धी इन भरत क्षेत्रमे ऐसे मनुष्य भी जन्म लेते है जो चरम शरीरी होते है यह सहज नियम है। इस क्षेत्र सम्बन्धी प्रायः अवसर्पिणीके चौथे कालमें और उत्सर्पिणीके तीसरे कालमे ही ऐसे मनुष्य जन्म लेते है जो चरम शरीरी होते है यह प्राकृतिक नियम हैं। अतः इस क्षेत्र और इस कालको दोषी बतलाकर मोक्षमार्गके अनुरूप उद्यम न करना योग्य नहीं है ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्रमे किन विषयोंका निर्देश किया गया है इसका संक्षेपमे विचार किया।

वृत्ति, भाष्य और टीका ग्रन्थ

१. सर्वार्थसिद्धि

दिगम्बर परम्परामे सूत्र शैलीमे लिपिबद्ध हुई तत्त्वार्थसूत्र और परीक्षामुख ये दो ऐसी मौलिक रचनाएँ है जिनपर अनेक वृत्ति भाष्य और टीका ग्रन्थ लिखे गये है। वर्तमान कालमे उपलब्ध 'सर्वार्थसिद्धि' यह तत्त्वार्थसूत्र पर लिखा गया सबसे पहला वृत्ति ग्रन्थ है। यह स्वनामधन्य आचार्य पूज्यपादकी अमर कृति है। यह पाणिनि व्याकरण पर लिखे गये पातञ्जल भाष्यकी शैलीमे लिखा गया है। यदि किसीको शान्त रस गर्भित साहित्यके पढ़नेका आनन्द लेना हो तो उसे इस ग्रन्थका अवश्य ही स्वाध्याय करना चाहिए। आचार्य पूज्यपादके सामने इस वृत्ति ग्रन्थकी रचना करते समय षट्खण्डागम प्रभृति बहुविध प्राचीन साहित्य उपस्थित था। उन्होंने इस समग्र साहित्यका यथास्थान बहुविध उपयोग किया है[1]। साथ ही उनके इस वृत्ति ग्रन्थके अवलोकनसे यह भी मालूम पड़ता है कि इसकी रचनाके पूर्व तत्त्वार्थसूत्र पर (टीकाटिप्पणीरूप) और भी अनेक रचनाएँ लिपिबद्ध हो चुकी थी[2]। वैसे वर्तमान में उपलब्ध यह सर्वप्रथम रचना है। श्वेताम्बर परम्परामान्य तत्त्वार्थाधिगमभाष्य इसके बादकी रचना है। सर्वार्थसिद्धिके अवलोकनसे इस बातका तो पता लगता है कि इसके पूर्व श्वेताम्बर आगम साहित्य रचा जा चुका था[3], परन्तु तत्त्वार्थाधिगमभाष्य लिखा जा चुका था

१. देखो, प्रस्तावना, सर्वार्थसिद्धि, पृ० ४६ आदि।
२. देखो, प्रस्तावना, सर्वार्थसिद्धि, पृ० ४२।
३. देखो, अ० ७ सू० १३।

इसका यत्किंचित् भी पता नहीं लगता। इतना अवश्य है कि भट्टाकलंकदेवके तत्त्वार्थवार्तिकमें ऐसे उल्लेख अवश्य ही उपलब्ध होते हैं जो इस तथ्यके साक्षी हैं कि तत्त्वार्थाधिगमभाष्य उनके पूर्वकी रचना है। इसलिए सुनिश्चित रूपसे यह माना जा सकता है कि वाचक उमास्वातिका तत्त्वार्थाधिगम भाष्य इन दोनों आचार्योंके मध्य कालमें किसी समय लिपिबद्ध हुआ है।[1]

सर्वार्थसिद्धि वृत्तिकी यह विशेषता है कि उसमे प्रत्येक सूत्रके सब पदोंकी व्याख्या नपे-तुले शब्दोंमें सांगोपांग की गई है। यदि किसी सूत्रके विविध पदोमें लिंगभेद और वचनभेद है तो उसका भी स्पष्टीकरण किया गया है[2]। यदि किसी सूत्रमें आगमका वैमत्य होनेका सन्देह प्रतीत हुआ तो उसकी सन्धि बिठलाई गई है[3] और यदि किसी सूत्रमें एकसे अधिक बार 'च' शब्दकी[4] तथा कहीं 'तु' आदि शब्दका[5] प्रयोग किया गया है तो उनकी उपयोगिता पर भी प्रकाश डाला गया है। तात्पर्य यह है कि यह रचना इतनी सुन्दर और सर्वांगपूर्ण बन पड़ी है कि समग्र जैन वाङ्मयमें उस शैलीमे लिखे गये दूसरे वृत्ति, भाष्य या टीका ग्रन्थका उपलब्ध होना दुर्लभ है। यह वि० सं० की पाँचवी शताब्दिके उत्तरार्धसे लेकर छठी शताब्दिके पूर्वार्धमें इस बीच किसी समय लिपिबद्ध हुई है। अनेक निर्विवाद प्रमाणोसे आचार्य पूज्यपादका यही वास्तव्यकाल सुनिश्चित होता है। इतना अवश्य है यह उनके द्वारा रचित जैनेन्द्र व्याकरणके बादकी रचना होनी चाहिए[6]।

२. तत्त्वार्थवार्तिकभाष्य

तत्त्वार्थसूत्रके विस्तृत विवेचनके रूपमे लिखा गया तत्त्वार्थवार्तिकभाष्य यह दूसरी अमर कृति है। सर्वार्थसिद्धिके प्रायः सभी मौलिक वचनोंको भाष्यरूपमें स्वीकार कर इसकी रचना की गई है। इस आधारसे इसे तत्त्वार्थसूत्रके साथ सर्वार्थसिद्धिका भी विस्तृत विवेचन स्वीकार करनेमें अत्युक्ति प्रतीत नही होती। समग्र जैन परम्परामें भट्ट अकलंक देवकी जैसी ख्याति है उसीके अनुरूप इसका निर्माण हुआ है इसमें सन्देह नहीं। इसमें कई ऐसे नवीन विषयोंपर प्रकाश डाला गया है जिनका विशेष विवेचन सर्वार्थसिद्धिमे उपलब्ध नही होता। उदाहरणस्वरूप प्रथम अध्यायके ८वें सूत्रको लीजिए। इसमें अनेकान्त विषयको जिस सुन्दर अर्थगर्भ और सरल शैलीमें स्पष्ट किया गया है वह अनुपम है। इसी प्रकार दूसरे अध्यायमें ५ भावोके प्रसंगसे सान्निपातिक भावोंका विवेचन तथा चौथे अध्यायके अन्तमें पुनः अनेकान्तका गम्भीर विवेचन इस रचनाकी अपनी विशेषता है। अनेक प्रमाणोंसे भट्ट अकलंक देवका वास्तव्य काल वि० सं० ८वी शताब्दिका पूर्वार्ध स्वीकार किया गया है, इसलिये यह रचना उसी समयकी माननी चाहिए।

३. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकभाष्य

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकभाष्य यह तत्त्वार्थसूत्रकी विस्तृत व्याख्याके रूपमे लिखी गई तीसरी अमर कृति है। इसके रचियता आचार्य विद्यानन्द है। इनकी अपनी एक शैली है जो उन्हे आचार्य समन्तभद्र और भट्ट अकलंक देवकी विरासतके रूपमें प्राप्त हुई है। यही कारण है कि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकभाष्यकी समग्र रचना दार्शनिक शैलीमें हुई है। इस रचनाका आधेसे अधिक भाग प्रथम अध्यायको दिया गया है और शेष भागमें नौ अध्याय समाप्त किये गये है। उसमे भी प्रथम अध्यायके प्रथम सूत्रकी रचनाकी अपनी खास विशेषता है। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र तीनों मिलकर मोक्षमार्ग है यह सामान्य वचन है। इसके विस्तृत और यथावत् स्वरूपका

१. देखो तत्त्वार्थ भाष्य अ० ३ सू० १ आदि।
२. अ० देखो, १, सू० १ आदि।
३. देखो, अ० ४, सू० २२।
४. अ० २, सू० १।
५. देखो, अ० ४, सू० ३१।
६. देखो, सर्वार्थसिद्धि प्रस्तावना, पृ० ८८।

परिज्ञान इसमें बहुत ही विशद रूपसे कराया गया है। वर्तमान समयमें निश्चय—व्यवहारकी यथावत मर्यादाके विषयमें बड़ी खींचातानी होती रहती है। उसे दूर करनेके लिए इससे बड़ी सहायता मिलती है। विवक्षित कार्यके प्रति अन्यको निमित्त किस रूपमें स्वीकार करना चाहिए इसका स्पष्ट खुलासा करनेमें भी यह रचना बेजोड़ है। ऐसे अनेक सैद्धान्तिक और दार्शनिक प्रश्न हैं जिनका सम्यक् समाधान भी इससे किया जा सकता है। ऐतिहासिक तथ्योंके आधारपर आचार्य विद्यानन्दका वास्तव्य काल वि० सं० ८ वी शताब्दिका उत्तरार्ध और ९ वी शताब्दिका पूर्वार्ध निश्चित होनेसे यह रचना उसी समयकी समझनी चाहिए।

४. अन्य टीकासाहित्य

दिगम्बर परम्परामें तत्त्वार्थसूत्रका विस्तृत और सांगोपांग विवेचन करनेवाली ये तीन रचनाएं मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त तत्त्वार्थवृत्ति आदि और भी अनेक प्रकाशित और अप्रकाशित रचनाएँ हैं। हिन्दी, मराठी और गुजराती आदि अन्य अनेक भाषाओंमें भी तत्त्वार्थसूत्रपर छोटे-बड़े अनेक विवेचन लिखे जा चुके हैं। यदि तत्त्वार्थसूत्रपर विविध भाषाओंमें लिखे गये सब विवेचनोंकी सूची तैयारकी जाय तो उनकी संख्या सौ से अधिक हो जायगी। इसलिए उन सबपर यहाँ न तो पृथक् रूपसे प्रकाश ही डाला गया है और न वैसी सूची ही दी गई है।

श्वेताम्बर परम्परा

दिगम्बर परम्परामें तत्त्वार्थसूत्रका क्या स्थान है यहाँ तक इसका विचार किया। आगे संक्षेपमें श्वेताम्बर परम्पराने तत्त्वार्थसूत्रको किस रूपमें स्वीकार किया है इसका ऊहापोह कर लेना इष्ट प्रतीत होता है।

आचार्य गृद्धपिच्छ आचार्य कुन्दकुन्दके पट्टधर शिष्य थे। उन्होंने किसी भव्य जीवके अनुरोधपर तत्त्वार्थसूत्रकी रचना की है। वर्तमानमें उपलब्ध सर्वार्थसिद्धि यह उसकी प्रथम वृत्ति है। सर्वार्थसिद्धिके रचियता आचार्य पूज्यपादका लगभग वही समय है जब श्वेताम्बर परम्परामें देवर्धिगणिकी अध्यक्षतामें श्वेताम्बर आगमोंका संकलन हुआ था। किन्तु उससे साहित्यिक क्षुधाकी निवृत्ति होती हुई न देखकर श्वेताम्बर परम्पराका ध्यान दिगम्बर परम्पराके साहित्य की ओर गया। उसीके फलस्वरूप ७वी ८वी शताब्दिके मध्य किसी समय उमास्वाति वाचकने तत्त्वार्थसूत्रमें परिवर्तन कर भाष्यसहित तत्त्वार्थाधिगमकी रचना की। उनका यह संग्रह ग्रन्थ है इसका उल्लेख उन्होंने स्वयं स्वरचित एक कारिकामें किया है। वे लिखते हैं—

तत्त्वार्थाधिगमाख्यं बह्वर्थं संग्रहं लघुग्रन्थम्।
वक्ष्यामि शिष्यहितमिममर्हद्वचनैकदेशस्य॥२२॥

इससे यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि वाचक उमास्वातिकी यह स्वतन्त्र रचना नहीं है। किन्तु अन्य द्वारा रचित रचनाओंके आधारसे इसका संकलन किया गया है। इनके स्वनिर्मित भाष्यमें कुछ ऐसे तथ्य भी उपलब्ध होते हैं जिससे विदित होता है कि तत्त्वार्थाधिगम और उसके भाष्यको लिपिबद्ध करते समय इनके सामने तत्त्वार्थसूत्र और उसकी सर्वार्थसिद्धिवृत्ति उनके सामने रही है।[1] उत्तर कालीन स्तुतिस्तोत्रोंमें स्तुतिकारों द्वारा गुणानुवाद आदिमें अपनी असमर्थता व्यक्त करनेके लिए जैसी कविता लिपिबद्धकी गई उसका

१. देखो, सर्वार्थसिद्धि प्रस्तावना ४४-४५ आदि।

पदानुसरण इन्होंने स्वरचित कारिकाओंमें बहुलतासे किया है। इससे भी ऐसा प्रतीत होता है कि इनकी यह रचना ७वीं ८वीं शताब्दिसे बहुत पहलेकी नहीं होनी चाहिए। उदाहरण देखिए।

व्योम्नीन्दुं चिक्रमिषेन्मेरुगिरिं पाणिना चिकम्पयेत्।
गत्यानिलं जिगीषेच्चरमसमुद्रं पिपासेच्च ॥

इन्होंने अपनी रचनामें यह भी बतलाया है कि जिस जिनवचन महोदधिपर अनेक भाष्य लिखे गये उसको पार करनेमें कौन समर्थ है। यह तो सुनिश्चित है कि श्वेताम्बर आगम साहित्यपर जो भाष्य लिखे गये वे सब सातवीं शताब्दिके पूर्वके नहीं है। अतः यह स्वयं उन्हीके शब्दोंसे स्पष्ट हो जाता है कि तत्त्वार्थाधिगम मान्य सूत्रपाठ और भाष्य ये दोनों श्वेताम्बर आगमोंपर लिखे गये भाष्योंके पूर्वकी रचनाएँ नहीं है।

यह श्वेताम्बर परम्परामान्य तत्त्वार्थाधिगमसूत्र और उसके भाष्यकी स्थिति है। इनके ऊपर हरिभद्र और सिद्धसेनगणिकी विस्तृत टीकाएँ उपलब्ध होती हैं। ये दोनों टीकाकार भट्ट अकलंक देवके कुछ काल बाद हुए प्रतीत होते हैं, क्योंकि इनकी टीकाओंमें ऐसे अनेक उल्लेख पाये जाते हैं जो तत्त्वार्थवार्तिकभाष्यके आभारी हैं। इनके बाद ऐसी छोटी बडी और भी अनेक टीकाएँ समय-समयपर लिखी गई हैं जिनपर विशेष ऊहापोह प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजीने तत्त्वार्थसूत्रके विवेचनमें किया है।

●



समयसारकलशकी टीकाएँ

राजस्थानके जिन प्रमुख विद्वानोंने आत्म-साधनाके अनुरूप साहित्य आराधनाको अपना जीवन अर्पित किया है उनमे कविवर राजमल्लजीका नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं। इनका प्रमुख निवासस्थान ढूंढाहड़ प्रदेश और मातृभाषा ढूंढारी रही है। संस्कृत और प्राकृत भाषाके भी ये उच्चकोटिके विद्वान् थे। सरल बोध-गम्य भाषामे कविता करना इनका सहज गुण था। इन द्वारा रचित साहित्यके अवलोकन करनेसे विदित होता है कि ये स्वयंको इस गुणके कारण 'कवि' पद द्वारा संबोधित करना अधिक पसन्द करते थे। कविवर बनारसी-दासजीने इन्हे 'पाँडे' पद द्वारा भी सम्बोधित किया है। जान पड़ता है कि भट्टारकोंके कृपापात्र होनेके कारण ये या तो गृहस्थाचार्य विद्वान् थे, क्योंकि आगराके आसपास क्रियाकाण्ड करनेवाले व्यक्तिको आज भी 'पाँडे' कहा जाता है। या फिर अध्ययन अध्यापन और उपदेश देना ही इनका मुख्य कार्य था। जो कुछ भी हो, थे ये अपने समयके मेधावी विद्वान् कवि।

जान पड़ता है कि इनका स्थायी कार्य क्षेत्र वैराट नगरका पार्श्वनाथ जिनालय रहा है। साथ ही कुछ ऐसे भी तथ्य उपलब्ध हुए है जो इस बातके साक्षी हैं कि ये बीच-बीचमे आगरा मथुरा और नागौर आदि नगरोंसे भी न केवल अपना सम्पर्क बनाये हुये थे बल्कि उन नगरोंमे भी आते-जाते रहते थे। इसमें संदेह नही कि ये अति ही उदाराशय परोपकारी विद्वान् कवि थे। आत्म-कल्याणके साथ इनके चित्तमे जनकल्याणकी भावना सतत जागृत रहती थी। एक ओर विशुद्धतर परिणाम और दूसरी ओर समीचीन सर्वोपकारिणी बुद्धि इन दो गुणोंका सुमेल इनके बौद्धिक जीवनकी सर्वोपरि विशेषता थी। साहित्यिक जगतमें यही इनकी सफलताका बीज है।

ये व्याकरण, छन्दशास्त्र, स्याद्वाद विद्या आदि सभी विद्याओंमे पारंगत थे। स्याद्वाद और अध्यात्मका तो इन्होंने तलस्पर्शी गहन परिशीलन किया था। भगवान् कुन्दकुन्द-रचित समयसार और प्रवचनसार प्रभृति प्रमुख ग्रन्थ इन्हें कण्ठस्थ थे। इन ग्रन्थोंमे प्रतिपादित अध्यात्मतत्त्वके आधारसे जनमानसका निर्माण हो इस सदभिप्रायसे प्रेरित होकर इन्होंने मारवाड़ और मेवाड़ प्रदेशको अपना प्रमुख कार्य क्षेत्र बनाया था। जहाँ भी ये जाते, सर्वत्र इनका सोत्साह स्वागत होता था। उत्तरकालमें अध्यात्मके चतुर्मुखी प्रचारमे इनकी साहित्यिक व अन्य प्रकारकी सेवाएं विशेष कारगर सिद्ध हुई।

कविवर बनारसीदासजी वि० १७ वीं शताब्दीके प्रमुख विद्वान् हैं। जान पड़ता है कि कविवर राज-मल्लजीने उनसे कुछ ही काल पूर्व इस वसुधाको अलंकृत किया होगा। अध्यात्मगंगाको प्रवाहित करनेवाले इन दोनों मनीषियोंका साक्षात्कार हुआ है ऐसा तो नहीं जान पड़ता, किन्तु इन द्वारा रचित जम्बूस्वामीचरित और कविवर बनारसीदासजीकी प्रमुख कृति अर्द्ध कथानकके अवलोकनसे यह अवश्य ही ज्ञात होता है कि इनके इह लीला समाप्त करनेके पूर्व ही कविवर बनारसीदासजीका जन्म हो चुका था।

रचनाएँ

इनकी प्रतिभा बहुमुखी थी इसका संकेत हम पूर्वमें ही कर आये हैं। परिणामस्वरूप इन्होंने जिन ग्रन्थोंका प्रणयन किया या टीकाएँ लिखीं वे महत्त्वपूर्ण हैं। उनका पूरा विवरण तो हमें प्राप्त नही, फिर भी

इन द्वारा रचित साहित्यमें जो संकेत मिलते हैं उनके अनुसार इन्होंने इन ग्रन्थोंकी रचना की होगी ऐसा ज्ञात होता है। विवरण इस प्रकार है :—

१. जम्बूस्वामीचरित, २. पिंगल ग्रन्थ—छंदोविद्या, ३. लाटीसंहिता, ४. अध्यात्मकमल-मार्त्तण्ड, ५. तत्त्वार्थसूत्र टीका, ६. समयसार कलश बालबोध टीका और ७. पंचाध्यायी। ये उनकी प्रमुख रचनाएँ या टीका ग्रन्थ हैं। यहाँ जो क्रम दिया गया है, संभवत इसी क्रमसे इन्होंने जनकल्याणहेतु ये रचनाएँ लिपबद्ध की होंगी। संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

१. कविवर अपने जीवनकालमे अनेक बार मथुरा गये थे। जब ये प्रथमबार मथुरा गये तब तक इनकी विद्वत्ताके साथ कवित्वशक्ति पर्याप्त प्रकाशमें आ गई थी। अतएव वहाँ की एक सभामे इनसे जम्बूस्वामीचरितको लिपिबद्ध करनेकी प्रार्थना की गई। इस ग्रन्थके रचे जानेका यह संक्षिप्त इतिहास है। यह ग्रन्थ वि० सं० १६३३ के प्रारम्भके प्रथम पक्षमें लिखकर पूर्ण हुआ है। इस ग्रन्थकी रचना करानेमे भटानियाकोल (अलीगढ) निवासी गर्गगोत्री अग्रवाल टोडर साहू प्रमुख निमित्त हैं। ये वही टोडर साहू हैं जिन्होंने अपने जीवन कालमे मथुराके जैनस्तूपोंका जीर्णोद्धार कराया था। इनका राजपुरुषोंके साथ अतिनिकटका संबंध (परिचय) था। उनमें कृष्णामंगल चौधरी और गढमल्ल साहू मुख्य थे।

इसके बाद पर्यटन करते हुए कविवर कुछ कालके लिये नागौर भी गये थे वहाँ इनका संपर्क श्रीमाल-ज्ञातीय राजा भारमल्लसे हुआ। ये अपने कालके वैभवशाली प्रमुख राजपुरुष थे। इन्हींकी सत्प्रेरणा पाकर कविवरने पिंगल ग्रन्थ—छंदोविद्या ग्रन्थका निर्माण किया था। यह ग्रन्थ प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और तत्कालीन हिन्दीका सम्मिलित नमूना है।

३. तीसरा ग्रन्थ लाटीसंहिता है। मुख्य रूपसे इसका प्रतिपाद्य विषय श्रावकाचार है। जैसा कि मैं पूर्वमें निर्देश कर आया हूँ कि ये भट्टारक परम्पराके प्रमुख विद्वान् थे। यही कारण है कि इसमें भट्टारकों द्वारा प्रचारित परम्पराके अनुरूप श्रावकाचारका विवेचन प्रमुख रूपसे हुआ है। २८ मूलगुणोंमें जो षडावश्यक कर्म हैं, पूर्वकालमें व्रती श्रावकोंके लिये वे ही षडावश्यक कर्म देशव्रतके रूपमें स्वीकृत थे। उनमें दूसरे कर्मका नाम चतुर्विंशतिस्तव और तीसरा कर्म वन्दना है। वर्तमान कालमें जो दर्शन-पूजनविधि प्रचलित है, यह उन्हीं दो आवश्यक कर्मोका रूपान्तर है। मूलाचारमे वन्दनाके लौकिक और लोकोत्तर ये दो भेद दृष्टिगोचर होते हैं। उनमेंसे लोकोत्तर वन्दनाको कर्मक्षपणका हेतु बतलाया गया है। स्पष्ट है कि लौकिक वन्दना मात्र पुण्य बन्धका हेतु है। इन तथ्यों पर दृष्टिपात करनेसे विदित होता है कि पूर्वकालमे ऐसी ही लौकिक विधि प्रचलित थी जिसका लोकोत्तर विधिके साथ सुमेल था। इस समय उसमे जो विशेष फेरफार दृष्टिगोचर होता है वह भट्टारकीय युगकी देन है। लाटीसंहिताकी रचना वैराटनगरके श्री दि० जैन पार्श्वनाथ मंदिरमे बैठकर की गई थी। रचनाकाल वि० स० १६४१ है। इसकी रचना करानेमें साहू फामन और उनके वंशका प्रमुख हाथ रहा है।

४. चौथा ग्रन्थ अध्यात्मकमलमार्त्तण्ड है। यह भी कविवरकी रचना मानी जाती है। इसकी रचना अन्य किसी व्यक्तिके निमित्तसे न होकर स्वसंवित्तिको प्रकाशित करनेके अभिप्रायसे की गई है। यही कारण है कि इसमे कविवरने न तो किसी व्यक्ति विशेषका उल्लेख किया है और न अपने सम्बन्धमें ही कुछ लिखा है। इसके स्वाध्यायसे विदित होता है कि इसकी रचनाके काल तक कविवरने अध्यात्ममे पर्याप्त निपुणता प्राप्त कर ली थी। यह इसीसे स्पष्ट है कि वे इसके दूसरे अध्यायका प्रारम्भ करते हुए यह स्पष्ट संकेत करते हैं कि पुण्य और पापका आस्रव और बन्ध तत्त्वमें अन्तर्भाव होनेके कारण इन दो तत्त्वोंका अलगसे विवेचन नहीं

किया है। विषय प्रतिपादनकी दृष्टिसे जो प्रौढ़ता पंचाध्यायीमें दृष्टिगोचर होती है उसकी इसमें एक प्रकारसे न्यूनता ही कही जायेगी। आश्चर्य नहीं कि यह ग्रन्थ अध्यात्मप्रवेशकी पूर्वपीठिकाके रूपमें लिखा गया हो। अस्तु,

५ से ७ जान पड़ता है कि कविवरने पूर्वोक्त चार ग्रन्थोंके सिवाय तत्त्वार्थसूत्र और समयसारकलशकी टीकाएँ लिखनेके बाद पंचाध्यायीकी रचनाकी होगी। समयसार-कलशकी टीकाका परिचय तो हम आगे कराने वाले हैं, किन्तु तत्त्वार्थसूत्र टीका हमारे देखनेमें नहीं आई, इसलिये वह कितनी अर्थगर्भ है यह लिखना कठिन है। रहा पंचाध्यायी ग्रन्थराज सो इसमें संदेह नहीं कि अपने कालकी संस्कृत रचनाओंमें विषय प्रतिपादन और शैली इन दोनों दृष्टियोंसे यह ग्रन्थ सर्वोत्कृष्ट रचना है। इसे तो समाजका दुर्भाग्य ही कहना चाहिये कि कवि-वरके द्वारा ग्रन्थके प्रारम्भमेंकी गई प्रतिज्ञाके अनुसार पाँच अध्यायोंमें पूरा किया जानेवाला यह ग्रन्थराज केवल डेढ़ अध्याय मात्र लिखा जा सका। इसे भगवान् कुन्दकुन्द और आचार्य अमृतचन्द्रकी रचनाओंका अविकल दोहन कहना अधिक उपयुक्त है। कविवरने इसमें जिस विषयको स्पर्श किया है उसकी आत्माको स्वच्छ दर्पणके समान खोलकर रख दिया है। इसमें प्रतिपादित अध्यात्मनयों और सम्यक्त्वकी प्ररूपणामें जो अद्भुत विशेषता दृष्टिगोचर होती है उसने ग्रन्थराजकी महिमाको अत्यधिक बढ़ा दिया है इसमें संदेह नहीं।

श्री समयसार परमागम

कविवर और उनकी रचनाओंके सम्बन्धमें इतना लिखनेके बाद समयसारकलश बालबोध टीकाका प्रकृतमें विशेष विचार करना है। यह कविवरकी अध्यात्मरससे ओतप्रोत तत्सम्बन्धी समस्त विषयोंपर सांगो-पांग तथा विशद प्रकाश डालनेवाली अपने कालकी कितनी सरल, सरस और अनुपम रचना है यह आगे दिये जानेवाले उसके परिचयसे भलीभाँति सुस्पष्ट हो जायगा।

इसमें अणुमात्र भी संदेह नहीं कि श्रीसमयसार परमागम एक ऐसे आत्मज्ञानी महात्माकी वाणीका सुखद प्रसाद है जिनका आत्मा आत्मानुभूति स्वरूप निश्चय सम्यग्दर्शनसे सुवासित था, जो अपने जीवनकालमें ही निरन्तर पुनः पुनः अप्रमत्त भावको प्राप्त कर ध्यान ध्याता और ध्येयके विकल्पसे रहित परम समाधिरूप आत्मीक सुखका रसास्वादन करते रहते थे जिन्हें अरिहन्त भट्टारक भगवान् महावीरकी वाणीका सारभूत रहस्य गुरु परम्परासे भले प्रकार अवगत था, जिन्होंने अपने वर्तमान जीवनकालमें ही पूर्वमहाविदेहस्थित भगवान् सीमंधर स्वामीके साक्षात् दर्शनके साथ उनकी दिव्यध्वनिको आत्मसात् किया था तथा अप्रमत्त भावसे प्रमत्तभावमें आनेपर जिनका शीतल और विवेकी चित्त करुणाभावसे ओतप्रोत होनेके कारण संसारी प्राणियोंके परमार्थ स्वरूप हितसाधनमें निरन्तर सन्नद्ध रहता था। आचार्यवर्य्यने श्रीसमयसार परमागममें अनादि मिथ्यात्वसे प्लावित चित्तवाले मिथ्यादृष्टियोंके गृहीत और अगृहीत मिथ्यात्वको छुडानेके सदभिप्रायवश द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मसे भिन्न एकत्वस्वरूप जिस आत्माके दर्शन कराये हैं और उसकी प्राप्तिका मार्ग सुस्पष्ट किया है वह पूरे जैनशासनका सार है। जिसके प्राप्त होने पर सिद्धस्वरूप आत्माकी साक्षात् प्राप्ति है।

आत्मख्याति वृत्ति

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस प्रकार साररूप अपूर्व प्रमेयको सुस्पष्ट करनेवाला यह ग्रन्थराज है उसी प्रकार इसके हार्दको सरल, भावमयी और सुमधुर किन्तु सुस्पष्ट रचना द्वारा प्रकाशित करनेवाली तथा बुधजनों द्वारा स्मरणीय आचार्यवर्य्य अमृतचन्द्रकी आत्मख्याति वृत्ति है। यदि इसे वृत्ति न कहकर नय

नय विशेषसे श्रीसमयसार परमागमके स्वरूपको प्रकाशित करनेवाला उसका आत्मभूत लक्षण कहा जाये तो कोई अत्युक्ति न होगी। श्रीसमयसार परमागमकी यह वृत्ति किस प्रयोजनसे निबद्धकी गई है इस तथ्यको स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र तीसरे कलशमे स्वयं लिखते है कि इस द्वारा शुद्धचिन्मात्र मूर्तिस्वरूप मेरे अनुभवरूप परिणतिकी परमविशुद्धि अर्थात् रागादि विभाव परिणति रहित उत्कृष्ट निर्मलता होओ। स्पष्ट है कि उन द्वारा स्वयं आत्मख्याति वृत्तिके विषयमे ऐसा भाव व्यक्त करना उसी तथ्यको सूचित करता है जिसका हम पूर्वमें निर्देश कर आये है। वस्तुत आत्मख्यातिवृत्तिका प्रतिपाद्य विषय श्रीसमयसार परमागममे प्रतिपादित रहस्यको सुस्पष्ट करना है। इसलिये श्रीसमयसार परमागम और आत्मख्यातिवृत्तिमे प्रतिपाद्य-प्रतिपादक सम्बन्ध होनेके कारण आत्मख्यातिवृत्ति द्वारा श्रीसमयसार परमागमका आत्मा ही सुस्पष्ट किया गया है। इस लिये नय विशेषसे इसे श्रीसमयसार परमागमका आत्मभूत लक्षण कहना उचित ही है। इसकी रचनाकी अपनी मौलिक विशेषता है। जहाँ यह श्रीसमयसार परमागमकी प्रत्येक गाथाके गूढ़तम अध्यात्म विषयको एक-लोलीभावसे आत्मसात् करनेमे दक्ष है वहाँ यह बीच-बीचमे प्रतिपादित श्री जिनमन्दिरके कलशस्वरूप कलशों द्वारा विषयको साररूपमे प्रस्तुत करनेकी क्षमता रखती है। कलशकाव्योंकी रचना आसन्न भव्य जीवोंके हृदय-रूपी कुमुदको विकसित करनेवाली चन्द्रिकाके समान इसी मनोहारिणी शैलीका सुपरिणाम है। यह अमृतका निर्झर है और इसे निर्झरित करनेवाले चन्द्रोपम आचार्य अमृतचन्द्र हैं। लोकमे जो अमरता प्रदान करनेवाले अमृतकी प्रसिद्धि है, जान पडता है कि अमृतके निर्झर स्वरूप इस आत्मख्यातिवृत्तिसे प्राप्त होनेवाली अमरता-को दृष्टिमे रखकर ही उक्त ख्यातिने लोकमे प्रसिद्धि पाई है। धन्य है वे भगवान् कुन्दकुन्द, जिन्होंने समग्र परमागमका दोहन कर श्रीसमयसार परमागम द्वारा पूरे जिनशासनका दर्शन कराया। और धन्य है वे आचार्य अमृतचन्द्र, जिन्होंने आत्मख्यातिवृत्तिकी रचना कर पूरे जिनशासनके दर्शन करानेमे अपूर्व योगदान प्रदान किया।

समयसारकलश बालबोध टीका

ऐसे हैं ये दोनों श्री समयसार परमागम और उसके हार्दको सुस्पष्ट करनेवाली आत्मख्यातिवृत्ति। यह अपूर्व योग है कि कविवर राजमल्लजीने परोपदेशपूर्वक या तदनुरूप पूर्व संस्कारवश निसर्गतः उनके हार्दको हृदयंगम करके अपने जीवनकालमे प्राप्त विद्वत्ताका सदुपयोग साररूपसे निबद्ध कलशोंकी बालबोध टीकाको लिपिबद्ध करनेमें किया। यह टीका मोक्षमार्गके अनुरूप अपने स्वरूपको स्वयं प्रकाशित करती है, इसलिए तो प्रमाण है ही। साथ ही वह जिनागम, गुरु-उपदेश, युक्ति और स्वानुभव प्रत्यक्षको प्रमाण कर लिखी गई है, इसलिए भी प्रमाण है; क्योंकि जो स्वरूपसे प्रमाण न हो उसमे परतः प्रमाणता नही आती ऐसा न्याय है। यद्यपि यह ढूँढारी भाषामें लिखी गई है, फिर भी गद्यकाव्य सम्बन्धी शैली और पदलालित्य आदि सब विशेषताओंसे ओत-प्रोत होनेके कारण वह भव्यजनोके चित्तको आह्लाद उत्पन्न करनेमे समर्थ है। वस्तुतः इसकी रचनाशैली और पदलालित्य अपनी विशेषता है।

इसकी रचनामे कविवर सर्व प्रथम कलशगत अनेक पदोंके समुदायरूप वाक्यको स्वीकारकर आगे उसके प्रत्येक पदका या पदगत शब्दका अर्थ स्पष्ट करते हुए उसका मथितार्थ क्या है यह लिपिबद्ध करनेके अभिप्रायसे 'भावार्थ इस्यो' यह लिखकर उस वाक्यमे निहित रहस्यको स्पष्ट करते है। टीकामें यह पद्धति प्रायः सर्वत्र अपनाई गई है। यथा—

तत् नः अयं एकः आत्मा अस्तु—तत् कहता तिहि कारण तहि, नः कहता हम कहुँ अयं कहतां विद्यमान छै, एकः कहता शुद्ध, आत्मा कहता चेतन पदार्थ, अस्तु कहतां होउ। भावार्थ इस्यो—जो जीव

वस्तु चेतना लक्षण तौ सहज ही छै। परि मिथ्यात्व परिणाम करि भम्यो होता अपना स्वरूप कहु नहीं जाने छै। तिहि सहि अज्ञानी ही कहिजे। तहि तहि इसौ कह्यौ जो मिथ्या परिणामके गया थी यौ ही जीव अपना स्वरूपकौ अनुभवनशीली होहु। कलश ६।

स्वभावतः खण्डान्वयरूपसे अर्थ लिखनेकी पद्धतिमें विशेषणों और तत्सम्बन्धी सन्दर्भका स्पष्टीकरण बादमें किया जाता है। ज्ञात होता है कि इसी कारण उत्तर कालमें प्रत्येक कलशके प्रकृत अर्थको 'खण्डान्वय सहित अर्थ' पद द्वारा उल्लिखित किया जाने लगा है। किन्तु इसे स्वयं कविवरने स्वीकार किया होगा ऐसा नहीं जान पड़ता, क्योंकि इस पद्धतिसे अर्थ लिखते समय जो शैली स्वीकारकी जाती है वह इस टीकामें अविकलरूपसे दृष्टिगोचर नहीं होती।

टीकामें दूसरी विशेषता अर्थ करनेकी पद्धतिसे सम्बन्ध रखती है, क्योंकि कविवरने प्रत्येक शब्दका अर्थ प्रायः शब्दानुगामिनी पद्धतिसे न करके भावानुगामिनी पद्धतिसे किया है। इससे प्रत्येक कलशमें कौन शब्द किस भावको लक्ष्यमें रखकर प्रयुक्त किया गया है इसे समझनेमें बड़ी सहायता मिलती है। इस प्रकार यह टीका प्रत्येक कलशके मात्र शब्दानुगामी अर्थको स्पष्ट करनेवाली टीका न होकर उसके रहस्यको प्रकाशित करनेवाली भावप्रवण टीका है।

इसमें जो तीसरी विशेषता पाई जाती है वह आध्यात्मिक रहस्यको न समझनेवाले महानुभावोंको उतनी रुचिकर प्रतीत भले ही न हो पर इतने मात्रसे उसकी महत्ता कम नहीं की जा सकती। उदाहरणार्थ तीसरे कलशको लीजिये। इसमें षष्ठयन्त 'अनुभूतेः' पद और उसके विशेषणरूपसे प्रयुक्त हुआ पद स्त्रीलिंग होनेपर भी उसे 'मम' का विशेषण बनाया गया है। कविवरने ऐसा करते हुए 'जो जिस समय जिस भावसे परिणत होता है, तन्मय होता है' इस सिद्धान्तको ध्यानमें रखा है। प्रकृतमें सार बात यह है कि कवि अपने द्वारा किये गये अर्थद्वारा यह सूचित करते हैं कि यद्यपि द्रव्यार्थिक दृष्टिसे आत्मा चिन्मात्रमूर्ति है, तथापि आनुभूतिमें जो कल्मषता शेष है तत्स्वरूप मेरी परम विशुद्धि होओ अर्थात् रागका विकल्प दूर होकर स्वभावमें एकत्व बुद्धिरूप मैं परिणमूं। सम्यग्दृष्टि द्रव्यदृष्टि होता है, इसलिए वह स्वभावके लक्ष्यसे उत्पन्न हुई पर्यायको तन्मयरूपसे ही अनुभवता है। आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा भेद विवक्षासे किये गये कथनमें यह अर्थ गर्भित है यह कविवरके उक्त प्रकारसे किये गये अर्थका तात्पर्य है। यह गूढ़ रहस्य है जो तत्त्वदृष्टिके अनुभवमें ही आ सकता है।

इस प्रकार यह टीका जहाँ अर्थगत अनेक विशेषताओंको लिये हुए है वहाँ इस द्वारा अनेक रहस्योंपर भी सुन्दर प्रकाश डाला गया है। यथा—

नमः समयसाराय (क० १)—समयसारको नमस्कार हो। अन्य पुद्गलादि द्रव्यों और संसारी जीवों-को नमस्कार न कर अमुक विशेषणोंसे युक्त समयसारको ही क्यों नमस्कार किया है? वह रहस्य क्या है? प्रयोजनको जाने बिना मन्द पुरुष भी प्रवृत्ति नहीं करता ऐसा न्याय है। कविवरके सामने यह समस्या थी। उसी समस्याके समाधान स्वरूप वे 'समयसार' पदमें आये हुए 'सार' पदसे व्यक्त होनेवाले रहस्यको स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—

'शुद्ध जीवके सारपना घटता है। सार अर्थात् हितकारी, असार अर्थात् अहितकारी। सो हितकारी सुख जानना, अहितकारी दुख जानना। कारण कि अजीव पदार्थ पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, कालके और संसारी जीवके सुख नहीं, ज्ञान भी नहीं, और उनका स्वरूप जानने पर जाननहारे जीवको भी सुख नहीं,

ज्ञान भी नहीं, इसलिए इनके सारपना घटता नहीं। शुद्ध जीवके सुख है, ज्ञान भी है, उनको जानने पर—अनुभवने पर जाननहारेको सुख है, ज्ञान भी है, इसलिए शुद्ध जीवके सारपना घटता है।'

ये कविवरके सप्रयोजन भावभरे शब्द है। इन्हे पढ़ते ही कविवर दौलतरामजीके छहढालाके ये वचन चित्तको आकर्षित कर लेते है—

तीन भुवनसे सार वीतराग विज्ञानता।
शिवस्वरूप शिवकार नमहुँ त्रियोग सम्हारके ॥१॥
आतमको हित है सुख, सो सुख आकुलता बिन कहिये।
आकुलता शिवमांहि न, तातैं शिवमग लाग्यो चहिये॥

मालूम पड़ता है कि कविवर दौलतरामजीके समक्ष यह टीका वचन था। उसे लक्ष्यमे रखकर ही उन्होंने इन साररूप छन्दोंकी रचनाकी है।

प्रत्यगात्मनः (क० २)—दूसरे कलश द्वारा अनेकान्त स्वरूप भाववचनके साथ स्याद्वादमयी दिव्यध्वनिकी स्तुतिकी गई है। अतएव प्रश्न हुआ कि वाणी तो पुद्गलरूप अचेतन है, उसे नमस्कार कैसा ? इस समस्त प्रसंगको ध्यानमे रखकर कविवर कहते है—

'कोई वितर्क करेगा कि दिव्यध्वनि तो पुद्गलात्मक है, अचेतन है, अचेतनको नमस्कार निषिद्ध है। उसके प्रति समाधान करनेके निमित्त यह अर्थ कहा कि वाणी सर्वज्ञस्वरूप-अनुसारिणी है। ऐसा माने बिना भी बने नहीं। उसका विवरण—वाणी तो अचेतन है। उसको सुनने पर जीवादि पदार्थका स्वरूप ज्ञान जिस प्रकार उपजता है उसी प्रकार जानना—वाणीका पूज्यपना भी है।'

कविवरके इस वचनसे दो बातें ज्ञात होती है—प्रथम तो यह कि दिव्यध्वनि उसीका नाम है जो सर्वज्ञके स्वरूपके अनुरूप वस्तुस्वरूपका प्रतिपादन करती है। इसी तथ्यको स्पष्ट करनेके अभिप्रायमे कविवरने 'प्रत्यगात्मन्' शब्दका अर्थ सर्वज्ञ वीतराग किया है जो युक्त है। दूसरी बात यह ज्ञात होती है कि सर्वज्ञ वीतराग और दिव्यध्वनि इन दोनोके मध्य निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। दिव्यध्वनिकी प्रामाणिकता भी इसी कारण व्यवहार पदवीको प्राप्त होती है। स्वतःसिद्ध इसी भावको व्यक्त करनेवाला कविवर दौलतरामजीका यह वचन ज्ञातव्य है—

भविभागनि वचिजोगे वसाय।
तुम धुनि ह्वै सुनि विभ्रम नसाय॥

जिनवचसि रमन्ते (क० ४)—इस पदका भाव स्पष्ट करते हुए कविवरने जो कुछ अपूर्व अर्थका उद्घाटन किया है वह हृदयंगम करने योग्य है। वे लिखते हैं—

'वचन पुद्गल है उसकी रुचि करने पर स्वरूपकी प्राप्ति नहीं। इसलिये वचनके द्वारा कही जाती है जो कोई उपादेय वस्तु उसका अनुभव करने पर फल प्राप्ति है।'

कविवरने 'जिनवचसि रमन्ते' पदका यह अर्थ उसी कलशके उत्तरार्द्धको दृष्टिमे रखकर किया है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि दोनों नयोंके विषयको जानना एक बात है और जानकर निश्चयनयके विषयभूत शुद्ध वस्तुका आश्रय लेकर उसमें रममाण होना दूसरी बात है। कविवरने उक्त शब्दों द्वारा इसी आशयको अभिव्यक्त किया है।

प्राक्पदव्यां (क० ५)—अर्वाचीनपदव्यां[1]—व्यवहारपदव्यां[2]। ज्ञानी जीवको दो अवस्थाएँ होती हैं—सविकल्प दशा और निर्विकल्प दशा। प्रकृतमें 'प्राक्पदवीं' पदका अर्थ 'सविकल्प दशा' है। इस द्वारा यह अर्थ स्पष्ट किया गया है कि यद्यपि सविकल्प दशामें व्यवहारनय हस्तावलम्ब है, परन्तु अनुभूति अवस्थामें (निर्विकल्प दशामें) उसका कोई प्रयोजन नहीं। इसी भावको कविवर इन शब्दोंमें स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—

'जो कोई सहजरूपसे, अज्ञानी (मन्दज्ञानी) है, जीवादि पदार्थोंका द्रव्य-गुण पर्यायस्वरूप जाननेके अभिलाषी हैं, उनके लिये गुण-गुणी भेदरूप कथन योग्य है।'

नवतत्त्वगतत्वेऽपि यदेकत्वं न मुञ्चति (क० ७)—जीववस्तु नौ तत्त्वरूप होकर भी अपने एकत्वका त्याग नहीं करती इस तथ्यको समझानेका कविवरका दृष्टिकोण अनूठा है। उन्हींके शब्दोंमें पढ़िये—

'जैसे अग्नि दाहक लक्षणवाली है, वह काष्ठ, तृण, कण्डा आदि समस्त दाह्यको दहती है, दहती हुई अग्नि दाह्याकार होती है, पर उसका विचार है कि जो उसे काष्ठ, तृण और कण्डेकी आकृतिमें देखा जाये तो काष्ठकी अग्नि, तृणकी अग्नि और कण्डेकी अग्नि ऐसा कहना साँचा ही है। और अग्निकी उष्णतामात्र विचारा जाये तो उष्णमात्र है। काष्ठकी अग्नि, तृणकी अग्नि और कण्डेकी अग्नि ऐसे समस्त विकल्प झूठे हैं। उसी प्रकार नौ तत्त्वरूप जीवके परिणाम हैं। वे परिणाम कितने ही शुद्धरूप हैं, कितने ही अशुद्धरूप हैं। जो नौ परिणाममें ही देखा जाये तो नौ ही तत्त्व साँचे हैं और जो चेतनामात्र अनुभव किया जाये तो नौ ही विकल्प झूठे है।'

इसी तथ्यको कलश ८ में स्वर्ण और बानभेदको दृष्टान्तरूपमें प्रस्तुत कर कविवरने और भी आलंकारिक भाषा द्वारा समझाया है। यथा—

'स्वर्णमात्र न देखा जाये, बानभेदमात्र देखा जाय तो बानभेद है; स्वर्णकी शक्ति ऐसी भी है। जो बानभेद न देखा जाय, केवल स्वर्णमात्र देखा जाय तो बानभेद झूठा है। इसी प्रकार जो शुद्ध जीव वस्तुमात्र न देखी जाय, गुण-पर्यायमात्र या उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमात्र देखा जाय तो गुण-पर्याय है तथा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है, जीव वस्तु ऐसी भी है। जो गुण-पर्याय भेद या उत्पाद व्यय-ध्रौव्य भेद न देखा जाय, वस्तुमात्र देखी जाय तो समस्त भेद झूठा है। ऐसा अनुभव सम्यक्त्व है।'

उदयति न नयश्रीः (क० ९)—अनुभव क्या है और अनुभवके कालमें जीवकी कैसी अवस्था होती है उसे स्पष्ट करते हुए कविने जो वचन प्रयोग किया है वह अद्भुत है। रसास्वाद कीजिये—

'अनुभव प्रत्यक्ष ज्ञान है। प्रत्यक्ष ज्ञान है अर्थात् वेद्य-वेदकभावसे आस्वादरूप है और वह अनुभव परसहायसे निरपेक्ष है। ऐसा अनुभव यद्यपि ज्ञानविशेष है तथापि सम्यक्त्वके साथ अविनाभूत है, क्योंकि यह सम्यग्दृष्टिके होता है, मिथ्यादृष्टिके नहीं होता है ऐसा निश्चय है। ऐसा अनुभव होने पर जीववस्तु अपने शुद्धस्वरूपको प्रत्यक्षरूपसे आस्वादती है, इसलिये जितने कालतक अनुभव होता है उतने कालतक वचन व्यवहार सहज ही बन्द रहता है।'

इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए वे आगे पुनः लिखते हैं—

'जो अनुभवके आने पर प्रमाण-नय-निक्षेप ही झूठा है। वहाँ रागादि विकल्पोंकी क्या कथा। भावार्थ इस प्रकार है—जो रागादि तो झूठा ही है, जीवस्वरूपसे बाह्य है। प्रमाण-नय-निक्षेपरूप बुद्धिके द्वारा एक ही जीवद्रव्यका द्रव्य-गुण-पर्यायरूप अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप भेद किया जाता है, वे समस्त झूठे हैं। इन सबके झूठे होने पर जो कुछ वस्तुका स्वाद है सो अनुभव है।'

---

१. पद्मनन्दीपंचविंशतिका एकत्वसप्तति अधिकार श्लोक १६। २. उसकी टीका।

इसी तथ्यको कलश १० की टीकामें इन शब्दोंमें व्यक्त किया है—

'समस्त संकल्प-विकल्पसे रहित वस्तुस्वरूपका अनुभव सम्यक्त्व है।'

रागादि परिणाम अथवा सुख-दुःख परिणाम स्वभाव परिणतिसे बाह्य कैसे हैं इसका ज्ञान कराते हुए कलश ११ की टीकामें कविवर कहते हैं—

'यहाँ पर कोई प्रश्न करता है कि जीवको तो शुद्धस्वरूप कहा और वह ऐसा ही है, परन्तु राग-द्वेष-मोहरूप परिणामोंको अथवा सुख-दुःख आदि रूप परिमाणोंको कौन करता है, कौन भोगता है? उत्तर इस प्रकार है कि इन परिणामोंको करे तो जीव करता है और जीव भोगता है। परन्तु यह परिणति विभावरूप है, उपाधिरूप है। इस कारण निजस्वरूप विचारने पर यह जीवका स्वरूप नहीं है ऐसा कहा जाता है।'

शुद्धात्मानुभव किसे कहते हैं इसका स्पष्टीकरण कलश १३ की टीकामें पढ़िये—

'निरूपाधिरूपसे जीव द्रव्य जैसा है वैसा ही प्रत्यक्षरूपसे आस्वाद आवे इसका नाम शुद्धात्मानुभव है।'

द्वादशाङ्गज्ञान और शुद्धात्मानुभवमें क्या अन्तर है इसका जिन सुन्दर शब्दोंमें कविवरने कलश १४ की टीकामें स्पष्टीकरण किया है वह ज्ञातव्य है—

'इस प्रसङ्गमें और भी संशय होता है कि द्वादशाङ्गज्ञान कुछ अपूर्व लब्धि है। उसके प्रति समाधान इस प्रकार है कि द्वादशाङ्गज्ञान भी विकल्प है। उसमें भी ऐसा कहा है कि शुद्धात्मानुभूति मोक्षमार्ग है, इसलिए शुद्धात्मानुभूतिके होनेपर शास्त्र पढ़नेकी कुछ अटक नहीं है।'

मोक्ष जानेमें द्रव्यान्तरका सहारा क्यों नहीं है इसका स्पष्टीकरण कविवरने कलश १५ की टीकामें इन शब्दोंमें किया है—

'एक ही जीव द्रव्य कारणरूप भी अपनेमें ही परिणमता है और कार्यरूप भी अपनेमें परिणमता है। इस कारण मोक्ष जानेमें किसी द्रव्यान्तरका सहारा नहीं है, इसलिए शुद्ध आत्माका अनुभव करना चाहिए।'

शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है मात्र ऐसा जानना कार्यकारी नहीं। तो क्या है इसका स्पष्टीकरण कलश २३ की टीकामें पढ़िये—

'शरीर तो अचेतन है, विनश्वर है। शरीरसे भिन्न कोई तो पुरुष है ऐसा जानपना ऐसी प्रतीति मिथ्यादृष्टि जीवके भी होती है पर साध्यसिद्धि तो कुछ नहीं। जब जीव द्रव्यका द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप प्रत्यक्ष आस्वाद आता है तब सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, सकल कर्मक्षय मोक्ष लक्षण भी है।'

जो शरीर सुख-दुःख राग-द्वेष-मोहकी त्यागबुद्धिको कारण और चिद्रूप आत्मानुभवको कार्य मानते हैं उनको समझाते हुए कविवर क० २९ में क्या कहते हैं यह उन्हींके समर्पक शब्दोंमें पढ़िये—

'कोई जानेगा कि जितना भी शरीर, सुख, दुख, राग, द्वेष, मोह है उसकी त्यागबुद्धि कुछ अन्य है—कारणरूप है। तथा शुद्ध चिद्रूपमात्रका अनुभव कुछ अन्य है—कार्यरूप है। उसके प्रति उत्तर इस प्रकार है कि राग, द्वेष, मोह, शरीर, सुख, दुःख आदि विभाव पर्यायरूप परिणति हुए जीवका जिस कालमें ऐसा अशुद्ध परिणामरूप संस्कार छूट जाता है उसी कालमें इसके अनुभव है। उसका विवरण—जो शुद्धचेतनामात्रका आस्वाद आये बिना अशुद्ध भावरूप परिणाम छूटता नहीं और अशुद्ध संस्कार छूटे बिना शुद्ध स्वरूपका अनुभव होता नहीं। इसलिए जो कुछ है सो एक ही काल, एक ही वस्तु, एक ही ज्ञान, एक ही स्वाद है।'

जो समझते हैं कि जैनसिद्धान्तका बारबार अभ्यास करनेसे जो दृढ़ प्रतीति होती है उसका नाम अनुभव है। कविवर उनकी इस धारणाको कलश ३० में ठीक न बतलाते हुए लिखते हैं—

'कोई जानेगा कि जैनसिद्धान्तका बारबार अभ्यास करनेसे दृढ़ प्रतीति होती है उसका नाम अनुभव है सो ऐसा नहीं है। मिथ्यात्वकर्मका रसपाक मिटनेपर मिथ्यात्व भावरूप परिणमन मिटता है तो वस्तुस्वरूपका प्रत्यक्षरूपसे आस्वाद आता है, उसका नाम अनुभव है।'

विधि प्रतिषेधरूपसे जीवका स्वरूप क्या है इसे स्पष्ट करते हुए कलश ३३ की टीकामें बतलाया है—

'शुद्ध जीव है, टंकोत्कीर्ण है, चिद्रूप है ऐसा कहना विधि कही जाती है। जीवका स्वरूप गुणस्थान नहीं, कर्म-नोकर्म जीवके नहीं, भावकर्म जीवका नहीं ऐसा कहना प्रतिषेध कहलाता है।'

हेय-उपादेयका ज्ञान कराते हुए कलश ३६ की टीकामें कहा है—

'जितनी कुछ कर्मजाति है वह समस्त हेय है। उसमें कोई कर्म उपादेय नहीं है।

इसलिए क्या कर्त्तव्य है इस बातको स्पष्ट करते हुए उसीमें बतलाया है—

'जितने भी विभाव परिणाम हैं वे सब जीवके नहीं हैं। शुद्ध चैतन्यमात्र जीव है ऐसा अनुभव कर्त्तव्य है।'

कलश ३७ की टीकामें इसी तथ्यको पुनः स्पष्ट करते हुए लिखा है—

'वर्णादिक और रागादि विद्यमान दिखलाई पड़ते हैं। तथापि स्वरूप अनुभवने पर स्वरूपमात्र है, विभाव-परिणतिरूप वस्तु तो कुछ नहीं।'

कर्मबन्ध पर्यायसे जीव कैसे भिन्न है इसे दृष्टान्त द्वारा समझाते हुए कलश ४४ की टीकामें कहा है—

'जिस प्रकार पानी कीचड़के मिलनेपर मैला है। सो वह मैलापन रंग है, सो रंगको अंगीकार न कर बाकी जो कुछ है सो पानी है। उसी प्रकार जीवकी कर्मबन्ध पर्यायरूप अवस्थामें रागादिभाव रंग है, सो रंगको अंगीकार न कर बाकी जो कुछ है सो चेतन धातुमात्र वस्तु है। इसीका नाम शुद्धस्वरूप अनुभव जानना जो सम्यग्दृष्टिके होता है।'

इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए कलश ४५ की टीकामें लिखा है—

'जिस प्रकार स्वर्ण और पाषाण मिले हुए चले आ रहे हैं और भिन्न-भिन्नरूप हैं। तथापि अग्निका संयोग जब ही पाते हैं तभी तत्काल भिन्न-भिन्न होते है। उसी प्रकार जीव और कर्मका संयोग अनादिसे चला आ रहा है और जीव कर्म भिन्न-भिन्न हैं। तथापि शुद्धस्वरूप अनुभव बिना प्रगटरूपसे भिन्न-भिन्न होते नहीं, जिस काल शुद्धस्वरूप अनुभव होता है उस काल भिन्न-भिन्न होते है।'

विपरीत बुद्धि और कर्मबन्ध मिटनेके उपायका निर्देश करते हुए कलश ४७ की टीकामें लिखा है—

'जैसे सूर्यका प्रकाश होनेपर अंधकारको अवसर नहीं, वैसे शुद्धस्वरूप अनुभव होनेपर विपरीतरूप मिथ्यात्व बुद्धिका प्रवेश नहीं। यहाँपर कोई प्रश्न करता है कि शुद्ध ज्ञानका अनुभव होनेपर विपरीत बुद्धिमात्र मिटती है कि कर्मबन्ध मिटता है? उत्तर इस प्रकार है कि विपरीत बुद्धि मिटती है, कर्मबन्ध भी मिटता है।'

कर्ता-कर्मका विचार करते हुए कलश ४९ की टीकामें लिखा है—

'जैसे उपचारमात्रसे द्रव्य अपने परिणाममात्रका कर्त्ता है, वही परिणाम द्रव्यका किया हुआ है वैसे अन्य द्रव्यका कर्ता अन्य द्रव्य उपचारमात्रसे भी नहीं है क्योंकि एकसत्त्व नहीं, भिन्न सत्त्व है।'

जीव और कर्मका परस्पर क्या सम्बन्ध है इस तथ्यको स्पष्ट करते हुए कलश ५० की टीकामें लिखा है—

'जीव द्रव्य ज्ञाता है, पुद्गल कर्म ज्ञेय है ऐसा जीवको कर्मको ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है, तथापि व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध नहीं है, द्रव्योंका अत्यन्त भिन्नपना है, एकपना नहीं है।'

कर्ता-कर्म-क्रियाका ज्ञान कराते हुए कलश ५१ की टीकामें पुनः लिखा है—

'कर्ता-कर्म-क्रियाका स्वरूप तो इस प्रकार है, इसलिये ज्ञानावरणादि द्रव्य पिण्डरूप कर्मका कर्ता जीव-द्रव्य है ऐसा जानना झूठा है, क्योंकि जीवद्रव्यका और पुद्गलद्रव्यका एक सत्त्व नहीं; कर्ता-कर्म-क्रियाकी कौन घटना ?'

इसी तथ्यको कलश ५२-५३ में पुनः स्पष्ट किया है—

'ज्ञानावरणादि द्रव्यरूप पुद्गलपिण्ड कर्मका कर्ता जीववस्तु है ऐसा जानपना मिथ्याज्ञान है, क्योंकि एक सत्त्वमें कर्ता-कर्म-क्रिया उपचारसे कहा जाता है। भिन्न सत्त्वरूप है जो जीवद्रव्य-पुद्गलद्रव्य उनको कर्ता-कर्म-क्रिया कहाँसे घटेगा ?'

'जीवद्रव्य-पुद्गलद्रव्य भिन्न सत्तारूप है सो जो पहले भिन्न सत्तापन छोडकर एक सत्तारूप होवें तो पीछे कर्ता-कर्म-क्रियापना घटित हो। सो तो एकरूप होते नहीं, इसलिये जीव-पुद्गलका आपसमें कर्ता-कर्म-क्रियापना घटित नहीं होता।'

जीव अज्ञानसे विभावका कर्ता है इसे स्पष्ट करते हुए कलश ५८ की टीकामें लिखा है—

'जैसे समुद्रका स्वरूप निश्चल है, वायुसे प्रेरित होकर उछलता है और उछलनेका कर्ता भी होता है, वैसे ही जीव द्रव्यस्वरूपसे अकर्ता है। कर्म संयोगसे विभावरूप परिणमता है, इसलिये विभावपनेका कर्ता भी होता है। परन्तु अज्ञानसे, स्वभाव तो नहीं।'

जीव अपने परिणामका कर्ता क्यों है और पुद्गल कर्मका कर्ता क्यों नहीं इसका स्पष्टीकरण कलश ६१ की टीकामें इसप्रकार किया है—

'जीवद्रव्य अशुद्ध चेतनारूप परिणमता है, शुद्ध चेतनारूप परिणमता है, इसलिये जिस कालमें जिस चेतनारूप परिणमता है उस कालमें उसी चेतनाके साथ व्याप्यव्यापकरूप है, इसलिये उस कालमें उसी चेतना-का कर्ता है। तो भी पुद्गल पिण्डरूप जो ज्ञानावरणादि कर्म है उसके साथ तो व्याप्य-व्यापकरूप तो नहीं है। इसलिये उसका कर्ता नहीं है।'

जीवके रागादिभाव और कर्म परिणाममें निमित्त-नैमित्तिकभाव क्यों है, कर्ता-कर्मपना क्यों नहीं इसका स्पष्टीकरण कलश ६८की टीकामें इसप्रकार किया है—

'जैसे कलशरूप मृत्तिका परिणमती है, जैसे कुम्भकारका परिणाम उसका बाह्य निमित्त कारण है, व्याप्य-व्यापकरूप नहीं है उसीप्रकार ज्ञानावरणादि कर्म पिण्डरूप पुद्गलद्रव्य स्वयं व्याप्य-व्यापकरूप है। तथापि जीवका अशुद्धचेतनारूप मोह, राग, द्वेषादि परिणाम बाह्य निमित्त कारण है, व्याप्य-व्यापकरूप तो नहीं है।'

वस्तुमात्रका अनुभवशीली जीव परम सुखी कैसे है इसे स्पष्ट करते हुए कलश ६९ की टीकामें कहा है—

'जो एक सत्त्वरूप वस्तु है, उसका द्रव्य-गुण-पर्यायरूप, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप विचार करनेपर विकल्प होता है, उस विकल्पके होनेपर मन आकुल होती है, आकुलता दुःख है, इसलिये वस्तुमात्रके अनुभवने पर विकल्प मिटता है, विकल्पके मिटनेपर आकुलता मिटती है, आकुलताके मिटनेपर दुःख मिटता है, इससे अनु-भवशीली जीव परम सुखी है।'

स्वभाव और कर्मोपाधिमें अन्तरको दिखलाते हुए कलश ९१ की टीकामें लिखा है—

'जैसे सूर्यका प्रकाश होनेपर अंधकार फट जाता है उसीप्रकार शुद्ध चैतन्यमात्रका अनुभव होनेपर यावत् समस्त विकल्प मिटते हैं। ऐसी शुद्ध चैतन्यवस्तु है सो मेरा स्वभाव, अन्य समस्त कर्मकी उपाधि है।'

नय विकल्पके मिटनेके उपायका निर्देश करते हुए कलश ९२-९३ की टीकामें लिखा है—

'शुद्ध स्वरूपका अनुभव होनेपर जिसप्रकार नयविकल्प मिटते हैं उसीप्रकार समस्त कर्मके उदयसे होनेवाले जितने भाव हैं वे भी अवश्य मिटते हैं ऐसा स्वभाव है।'

'जितना नय है उतना श्रुतज्ञानरूप है, श्रुतज्ञान परोक्ष है, अनुभव प्रत्यक्ष है, इसलिये श्रुतज्ञान बिना जो ज्ञान है वह प्रत्यक्ष अनुभवता है।'

जीव अज्ञान भावका कब कर्ता है और कब अकर्ता है इसका स्पष्टीकरण करते हुए कलश ९५ की टीकामें लिखा है—

'कोई ऐसा मानेगा कि जीव द्रव्य सदा ही अकर्ता है उसके प्रति ऐसा समाधान कि जितने काल तक जीवका सम्यक्त्व गुण प्रगट नही होता उतने काल तक जीव मिथ्यादृष्टि है। मिथ्यादृष्टि हो तो अशुद्ध परिणामका कर्ता होता है। सो जब सम्यक्त्व गुण प्रगट होता है तब अशुद्ध परिणाम मिटता है, तब अशुद्ध परिणामका कर्ता नहीं होता।'

अशुभ कर्म बुरा और शुभ कर्म भला ऐसी मान्यता अज्ञानका फल है इसका स्पष्टीकरण करते हुए कलश १०० की टीकामें लिखा है—

'जैसे अशुभकर्म जीवको दुःख करता है उसी प्रकार शुभकर्म भी जीवको दुःख करता है। कर्ममें तो भला कोई नहीं है। अपने मोहको लिये हुए मिथ्यादृष्टि जीव कर्मको भला करके मानता है। ऐसी भेद प्रतीति शुद्ध स्वरूपका अनुभव हुआ तबसे पाई जाती है।'

शुभोपयोग भला, उससे क्रमसे कर्मनिर्जरा होकर मोक्ष प्राप्ति होती है यह मान्यता कैसे झूठी है इसका स्पष्टीकरण करते हुए कलश १०१ की टीकामें लिखा है—

'कोई जीव शुभोपयोगी होता हुआ यतिक्रियामें मग्न होता हुआ शुद्धोपयोगको नहीं जानता, केवल यतिक्रियामात्र मग्न है। वह जीव ऐसा मानता है कि मैं तो मुनीश्वर, हमको विषय-कषाय सामग्री निषिद्ध है। ऐसा जानकर विषय कषाय सामग्रीको छोड़ता है, आपको धन्यपना मानता है, मोक्षमार्ग मानता है। सो विचार करनेपर ऐसा जीव मिथ्यादृष्टि है। कर्मबन्धको करता है, कांई भलापन तो नही है।'

क्रिया संस्कार छूटनेपर ही शुद्धस्वरूपका अनुभव संभव है इसका स्पष्टीकरण कलश १०४ की टीकामें इसप्रकार किया है—

'शुभ-अशुभ क्रियामें मग्न होता हुआ जीव विकल्पी है, इससे दुःखी है। क्रिया संस्कार छूटकर शुद्धस्वरूपका अनुभव होते ही जीव निर्विकल्प है, इससे सुखी है।'

कैसा अनुभव होनेपर मोक्ष होता है इसका स्पष्टीकरण कलश १०५ की टीकामें इस प्रकार किया है—

'जीवका स्वरूप सदा कर्मसे मुक्त है। उसको अनुभवने पर मोक्ष होता है ऐसा घटता है, विरुद्ध तो नहीं।'

स्वरूपाचरण चारित्र क्या है इसका स्पष्टीकरण कलश १०६ की टीकामें इस प्रकार किया है—

'कोई जानेगा कि स्वरूपाचरण चारित्र ऐसा कहा जाता है जो आत्माके शुद्ध स्वरूपको विचारे अथवा चिन्तवे अथवा एकाग्ररूपसे मग्न होकर अनुभवे। सो ऐसा तो नही, उसके करने पर बन्ध होता है, क्योंकि ऐसा तो स्वरूपाचरण चारित्र नही है। तो स्वरूपाचरण चारित्र कैसा है? जिस प्रकार पन्ना (सुवर्ण पत्र) पकानेसे सुवर्णमें की कालिमा जाती है, सुवर्ण शुद्ध होता है उसी प्रकार जीव द्रव्यके अनादिसे अशुद्ध चेतनारूप

रागादि परिणम था, वह जाता है, 'शुद्ध स्वरूपमात्र शुद्ध चेतनारूप जीव द्रव्य परिणमता है, उसका नाम स्वरूपाचरण चारित्र कहा जाता है, ऐसा मोक्षमार्ग है।'

शुभ-अशुभ क्रिया आदि बन्धका कारण है इसका निर्देश करते हुए कलश १०७ की टीकामें लिखा है—

'जो शुभ-अशुभ क्रिया, सूक्ष्म-स्थूल अन्तर्जल्प बहि:जल्परूप जितना विकल्परूप आचरण है वह सब कर्मका उदयरूप परिणमन है, जीवका शुद्ध परिणमन नहीं है, इसलिए समस्त ही आचरण मोक्षका कारण नहीं है, बन्धका कारण है।'

विषय-कषायके समान व्यवहार चारित्र दुष्ट है इसका स्पष्टीकरण करते हुए कलश १०८ में लिखा है—

'यहाँ कोई जानेगा कि शुभ-अशुभ क्रियारूप जो आचरणरूप चारित्र है सो करने योग्य नहीं है उसी प्रकार वर्जन करने योग्य भी नहीं है ? उत्तर इस प्रकार है—वर्जन करने योग्य है। कारण कि व्यवहार चारित्र होता हुआ दुष्ट है, अनिष्ट है, घातक है, इसलिए विषय-कषायके समान क्रियारूप चारित्र निषिद्ध है।'

(कलश १०९) ज्ञानमात्र मोक्षमार्ग कहनेका कारण—

'कोई आशंका करेगा कि मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनका मिला हुआ है, यहाँ ज्ञानमात्र मोक्षमार्ग कहा सो क्यों कहा ? उसका समाधान ऐसा है—शुद्धस्वरूप ज्ञानमें सम्यग्दर्शन सम्यक्चारित्र सहज ही गर्भित है, इसलिए दोष तो कुछ नहीं, गुण है।

(कलश ११०) मिथ्यादृष्टिके समान सम्यग्दृष्टिका शुभ क्रियारूप यतिपना भी मोक्षका कारण नहीं है इसका खुलासा—

'यहाँ कोई भ्रान्ति करेगा जो मिथ्यादृष्टिका यतिपना क्रियारूप है सो बन्धका कारण है, सम्यग्दृष्टि है जो यतिपना शुद्ध क्रियारूप सो मोक्षका कारण है। कारण कि अनुभव ज्ञान तथा दया व्रत तप संयमरूप क्रिया दोनों मिलकर ज्ञानावरणादि कर्मका क्षय करते है। ऐसी प्रतीति कितने ही अज्ञानी जीव करते है। वहाँ समाधान ऐसा—जितनी शुभ-अशुभ क्रिया, बहिर्जल्परूप विकल्प अथवा अन्तर्जल्परूप अथवा द्रव्योंका विचाररूप अथवा शुद्ध स्वरूपका विचार इत्यादि समस्त कर्म बन्धका कारण है। ऐसी क्रियाका ऐसा ही स्वभाव है। सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टिका ऐसा भेद तो कुछ नहीं। ऐसी करतूतिसे ऐसा बन्ध है। शुद्धस्वरूप परिणमन-मात्रसे मोक्ष है। यद्यपि एक ही कालमें सम्यग्दृष्टि जीवके शुद्ध ज्ञान भी है, क्रियारूप परिणाम भी है। तथापि क्रियारूप है जो परिणाम उससे अकेला बन्ध होता है, कर्मका क्षय एक अंशमात्र भी नहीं होता है। ऐसा वस्तुका स्वरूप, सहारा किसका। उसी समय शुद्ध स्वरूप अनुभव ज्ञान भी है। उसी समय ज्ञानसे कर्मक्षय होता है, एक अंशमात्र भी बन्ध नहीं होता है। वस्तुका ऐसा ही स्वरूप है।'

(कलश ११२) समस्त क्रियामें ममत्वके त्यागके उपायका कथन—

'जितनी क्रिया है वह सब मोक्षमार्ग नहीं है ऐसा जान समस्त क्रियामें ममत्वका त्यागकर शुद्धज्ञान मोक्षमार्ग है ऐसा सिद्धान्त सिद्ध हुआ।'

(कलश ११४) स्वभावप्राप्ति और विभावत्यागका एक ही काल है—

'जिस काल शुद्ध चैतन्य वस्तुकी प्राप्ति होती है उसी काल मिथ्यात्व-राग-द्वेषरूप जीवका परिणाम मिटता है, इसलिए एक ही काल है, समयका अन्तर नहीं है।'

(कलश ११५) सम्यग्दृष्टि जीवके द्रव्यास्रव और भावास्रवसे रहित होनेके कारणका निर्देश—

'आस्रव दो प्रकारका है। विवरण—एक द्रव्यास्रव है, एक भावास्रव है। द्रव्यास्रव कहनेपर कर्मरूप बैठे हैं आत्माके प्रदेशोंमें पुद्गलपिण्ड, ऐसे द्रव्यास्रवसे जीव स्वभाव ही से रहित है। यद्यपि जीवके प्रदेश, कर्मपुद्गलपिण्डके प्रदेश एक ही क्षेत्रमें रहते हैं तथापि परस्पर एक द्रव्यरूप नहीं होते हैं, अपने अपने द्रव्य-गुण-पर्यायरूप रहते हैं। इसलिए पुद्गलपिण्डसे जीव भिन्न है। भावास्रव कहनेपर मोह, राग, द्वेषरूप विभाव अशुद्ध चेतन परिणाम सो ऐसा परिणाम यद्यपि जीवके मिथ्यादृष्टि अवस्थामें विद्यमान ही था तथापि सम्यक्त्वरूप परिणमने पर अशुद्ध परिणाम मिटा। इस कारण सम्यग्दृष्टि जीव भावास्रवसे रहित है। इससे ऐसा अर्थ निपजा कि सम्यग्दृष्टि जीव निरास्रव है।'

(कलश ११९) सम्यग्दृष्टि कर्मबन्धका कर्ता क्यों नहीं इसका निर्देश—

'कोई अज्ञानी जीव ऐसा मानेगा कि सम्यग्दृष्टि जीवके चारित्रमोहका उदय तो है, वह उदयमात्र होने पर आगामी ज्ञानावरणादि कर्मका बन्ध होता होगा? समाधान इस प्रकार है—चारित्रमोहका उदयमात्र होने पर बन्ध नहीं है। उदयके होने पर जो जीवके राग, द्वेष, मोह, परिणाम हो तो कर्मबन्ध होता है, अन्यथा सहस्र कारण हो तो भी कर्मबन्ध नहीं होता। राग, द्वेष, मोह परिणाम भी मिथ्यात्व कर्मके उदयके सहारा है, मिथ्यात्वके जाने पर अकेले चारित्रमोहके उदयके सहाराका राग, द्वेष, मोह परिणाम नहीं है। इस कारण सम्यग्दृष्टिके राग, द्वेष, मोह परिणाम होता नही, इसलिए कर्मबन्धका कर्ता सम्यग्दृष्टि जीव नहीं होता।'

(कलश १२१) सम्यग्दृष्टिके बन्ध नही है इसका तात्पर्य—

'जब जीव सम्यक्त्वको प्राप्त करता है तब चारित्रमोहके उदयमें बन्ध होता है, परन्तु बन्धशक्ति हीन होती है, इसलिए बन्ध नही कहलाता।'

(कलश १२४) निर्विकल्प अर्थ काष्ठके समान जड़ नही इस तथ्यका खुलासा—

'शुद्धस्वरूपके अनुभवके काल जीव काष्ठके समान जड है ऐसा भी नही है, सामान्यतया सविकल्पी जीवके समान विकल्पी भी नहीं है, भावश्रुतज्ञानके द्वारा कुछ निर्विकल्प वस्तुमात्रको अवलम्बता है, अवश्य अवलम्बता है।'

(कलश १२५) शुद्धज्ञानमें जीतपना कैसे घटता है—

'आस्रव तथा संवर परस्पर अति ही वैरी हैं, इसलिए अनन्त कालसे लेकर सर्व जीवराशि विभाव मिथ्यात्वरूप परिणमता है, इस कारण शुद्ध ज्ञानका प्रकाश नहीं है। इसलिए आस्रवके सहारे सर्व जीव हैं। काललब्धि पाकर कोई आसन्न भव्य जीव सम्यक्त्वरूप स्वभाव परिणति परिणमता है, इससे शुद्ध प्रकाश प्रगट होता है, इससे कर्मका आस्रव मिटता है, इससे शुद्ध ज्ञानका जीतपना घटित होता है।'

(कलश १३०) भेदज्ञान भी विकल्प है इसका सकारण निर्देश—

'निरन्तर शुद्ध स्वरूपका अनुभव कर्त्तव्य है। जिस काल सकल कर्मक्षय लक्षण मोक्ष होगा उस काल समस्त विकल्प सहज ही छूट जायेंगे। वहाँ भेदविज्ञान भी एक विकल्परूप है, केवलज्ञानके समान जीवका शुद्ध स्वरूप नहीं है, इसलिए सहज ही विनाशीक है।'

(कलश १३३) निर्जराका स्वरूप—

'संवरपूर्वक जो निर्जरा सो निर्जरा, क्योंकि जो संवरके बिना होती है सब जीवोंको उदय देकर कर्मकी निर्जरा सो निर्जरा नहीं है।'

(कलश १३९) हेयोपादेय विचार—

शुद्ध चिद्रूप उपादेय, अन्य समस्त हेय।

(कलश १४१) विकल्पका कारण—

'कोई ऐसा मानेगा कि जितनी ज्ञानकी पर्याय हैं वे समस्त अशुद्धरूप है सो ऐसा तो नहीं, कारण कि जिस प्रकार ज्ञान शुद्ध है उसी प्रकार ज्ञानकी पर्याय वस्तुका स्वरूप है, इसलिए शुद्धस्वरूप है। परन्तु एक विशेष—पर्यायमात्रका अवधारण करनेपर विकल्प उत्पन्न होता है, अनुभव निर्विकल्प है, इसलिए वस्तुमात्र अनुभवने पर समस्त पर्याय भी ज्ञानमात्र है इसलिए ज्ञानमात्र अनुभव योग्य है।'

(कलश १४४) अनुभव ही चिन्तामणि रत्न है—

'जिस प्रकार किसी पुण्यवान् जीवके हाथमे चितामणि रत्न होता है, उसमे सब मनोरथ पूरा होता है, वह जीव लोहा, तांबा, रूपा ऐसी धातुका संग्रह करता नही उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीवके पास शुद्ध स्वरूप अनुभव ऐसा चिन्तामणि रत्न है, उसके द्वारा सकल कर्मक्षय होता है। परमात्मपदकी प्राप्ति होती है। अतीन्द्रिय सुखकी प्राप्ति होती है। वह सम्यग्दृष्टि जीव शुभ अशुभरूप अनेक क्रियाविकल्पका संग्रह करता नहीं, कारण कि इनसे कार्यसिद्धि होती नही।'

(कलश १५३) सम्यग्दृष्टिके दृष्टान्त द्वारा वांछापूर्वक क्रियाका निषेध—

'जिस प्रकार किसीको रोग, शोक, दारिद्र बिना ही वाछाके होता है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीवके जो कोई क्रिया होती है सो बिना ही वाछाके होती है।'

(कलश १६३) कर्मबन्धके मेटनेका उपाय—

'जिस प्रकार किसी जीवको मदिरा पिलाकर विकल किया जाता है, सर्वस्व छीन लिया जाता है, पदसे भ्रष्ट कर दिया जाता है उसी प्रकार अनादि कालसे लेकर सर्व जीवराशि राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्ध परिणामसे मतवाली हुई है। इससे ज्ञानावरणादि कर्मका बन्ध होता है। ऐसे बन्धको शुद्ध ज्ञानका अनुभव मेटनशील है, इसलिए शुद्ध ज्ञान उपादेय है।'

(कलश १७५) द्रव्यके परिणामके कारणोंका निर्देश—

'द्रव्यके परिणामका कारण दो प्रकारका है—एक उपादान कारण है, एक निमित्त कारण है। उपादान कारण द्रव्यके अन्तर्गर्भित है अपने परिणाम-पर्यायरूप परिणमनशक्ति वह तो जिस द्रव्यकी उसी द्रव्यमें होती है, ऐसा निश्चय है। निमित्त कारण—जिस द्रव्यका संयोग प्राप्त होनेसे अन्य द्रव्य अपनी पर्यायरूप परिणमता है, वह तो जिस द्रव्यकी उस द्रव्यमें होती है, अन्य द्रव्यगोचर नही होती ऐसा निश्चय है। जैसे मिट्टी घट पर्यायरूप परिणमती है। उसका उपादान कारण है मिट्टीमे घटरूप परिणमनशक्ति। निमित्त कारण है बाह्यरूप कुम्हार, चक्र दण्ड इत्यादि। वैसे ही जीवद्रव्य अशुद्ध परिणाम मोह राग द्वेषरूप परिणमता है। उसका उपादान कारण है जीवद्रव्यमे अन्तर्गर्भित विभावरूप अशुद्ध परिणामशक्ति है।'

(कलश १७६-१७७) अकर्ता-कर्ता विचार

'सम्यग्दृष्टि जीवके रागादि अशुद्ध परिणामोका स्वामित्वपना नही है, इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव कर्ता नहीं है।'

'मिथ्यादृष्टि जीवके रागादि अशुद्ध परिणामोंका स्वामित्वपना है, इसलिए मिथ्यादृष्टि जीव कर्ता है।'

(कलश १८०) मात्र भेदज्ञान उपादेय है—

'जिस प्रकार करोंतके बार बार चालू करनेसे पुद्‌गल वस्तु काष्ठ आदि दो खण्ड हो जाता है उसी प्रकार भेदज्ञानके द्वारा जीव पुद्‌गलको बार-बार भिन्न-भिन्न अनुभव करने पर भिन्न-भिन्न हो जाते हैं, इसलिए भेद-ज्ञान उपादेय है।'

(कलश १८१), जीव कर्मको भिन्न करनेका उपाय—

'जिस प्रकार यद्यपि लोहसारकी छैनी अति पैनी होती है तो भी सन्धिका विचारकर देने पर छेद कर दो कर देती है उसी प्रकार यद्यपि सम्यग्दृष्टि जीवका ज्ञान अत्यन्त तीक्ष्ण है तथापि जीव-कर्मकी है जो भीतरमें सन्धि उसमें प्रवेश करने पर प्रथम तो बुद्धिगोचर छेदकर दो कर देता है। पश्चात् सकल कर्मका क्षय होनेसे साक्षात् छेदकर भिन्न-भिन्न करता है।'

(कलश १९१) मोक्षमार्गका स्वरूप निरूपण—

सर्व अशुद्धपना के मिटनेसे शुद्धपना होता है। उसके सहाराका है शुद्ध चिद्रूपका अनुभव, ऐसा मोक्ष-मार्ग है।

(कलश १९३) स्वरूप विचारकी अपेक्षा जीव न बद्ध है न मुक्त है—

'एकेन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रियतक जोवद्रव्य जहाँ तहाँ द्रव्य स्वरूप विचारकी अपेक्षा बन्ध ऐसे मुक्त ऐसे विकल्पसे रहित है। द्रव्यका स्वरूप जैसा है वैसा ही है।'

(कलश १९३) कर्मका (भावकर्मका) कर्तापन-भोक्तापन जीवका स्वभाव नहीं—

'जिस प्रकार जीवद्रव्यका अनन्तचतुष्टय स्वरूप है उस प्रकार कर्मका कर्तापन भोक्तापन स्वरूप नहीं है। कर्मकी उपाधिसे विभावरूप अशुद्ध परिणतिरूप विकार है। इसलिए विनाशीक है। उस विभाव परिणति-के विनाश होने पर जीव अकर्ता है, अभोक्ता है।'

(कलश २०३) भोक्ता और कर्ताका अन्योन्य सम्बन्ध है—

'जो द्रव्य जिस भावका कर्ता होता है वह उसका भोक्ता भी होता है। ऐसा होने पर रागादि अशुद्ध चेतन परिणाम जो जीव कर्म दोनोंने मिलकर किया होवे तो दोनों भोक्ता होंगे सो दोनों भोक्ता तो नही हैं। कारण कि जीव द्रव्य चेतन है तिस कारण सुख दुःखका भोक्ता होवे ऐसा घटित होता है, पुद्‌गल द्रव्य अचेतन होनेसे सुख दुःखका भोक्ता घटित नहीं होता। इसलिए रागादि अशुद्ध चेतन परिणमनका अकेला संसारी जीव कर्ता है, भोक्ता भी है।'

(कलश २०९) विकल्प अनुभव करने योग्य नहीं—

'जिस प्रकार कोई पुरुष मोतीकी मालाको पोना जानता है, माला गूँथता हुआ अनेक विकल्प करता है सो वे समस्त विकल्प झूठे हैं, विकल्पोंमें शोभा करनेकी शक्ति नहो है। शोभा तो मोतीमात्र वस्तु है, उसमें है। इसलिए पहिननेवाला पुरुष मोतीकी माला जानकर पहिनता है, गूँथनेके बहुत विकल्प जानकर नही पहि-नता है, देखनेवाला भी मोतीकी माला जानकर शोभा देखता है, गूँथनेके विकल्पोंको नही देखता है उसी प्रकार शुद्ध चेतनामात्र सत्ता अनुभव करने योग्य है। उसमें घटते है जो अनेक विकल्प उन सबकी सत्ता अनुभव करने योग्य नही है।'

(कलश २१२) जानते समय ज्ञान ज्ञेयरूप नहीं परिणमता—

'जीवद्रव्य समस्त ज्ञेय वस्तुको जानता है ऐसा तो स्वभाव है, परन्तु ज्ञान ज्ञेयरूप नही होता है, ज्ञेय भी ज्ञानद्रव्यरूप नहीं परिणमता है ऐसी वस्तुकी मर्यादा है।'

(कलश २१४) एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको करता है यह झूठा व्यवहार है—

'जीव ज्ञानावरणादि पुद्‌गल कर्मको करता है, भोगता है। उसका समाधान इस प्रकार है कि झूठे व्यवहारसे कहनेको है। द्रव्यके इस रूपका विचार करनेपर परद्रव्यका कर्ता जीव नहीं है।'

(कलश २२२) ज्ञेयको जानना विकारका कारण नहीं—

'कोई मिथ्यादृष्टि जीव ऐसी आशंका करेगा कि जीव द्रव्य ज्ञायक है, समस्त ज्ञेयको जानता है, इसलिए परद्रव्यको जानते हुए कुछ थोड़ा बहुत रागादि अशुद्ध परिणतिका विकार होता होगा ? उत्तर इस प्रकार है कि परद्रव्यको जानते हुए तो एक निरंशमात्र भी नहो है, अपनी विभाव परिणति करनेसे विकार है। अपनी शुद्ध परिणति होने पर निर्विकार है।'

इत्यादि रूपसे अनेक तथ्योंका अनुभवपूर्ण वाणी द्वारा स्पष्टीकरण इस टीकामें किया गया है। टीकाका स्वाध्याय करनेसे ज्ञात होता है कि आत्मानुभूति पूर्वक निराकुलत्व लक्षण सुखका रसास्वादन करते हुए कविवरने यह टीका लिखी है। यह जितनी सुगम और सरल भाषामे लिखी गई है उतनी ही भव्य जनोंके चित्तको आह्लाद उत्पन्न करनेवाली है। कविवर बनारसीदास जी ने इसे बालबोध टीका इस नामसे सम्बोधित किया है। इसमे संदेह नही कि यह अज्ञानियों या अल्पज्ञोंको आत्मसाक्षात्कारके सम्मुख करनेके अभिप्रायसे ही लिखी गई है। इसलिए इसका बालबोध यह नाम सार्थक है। कविवर राजमल्लजी और इस टीकाके सम्बन्धमे कविवर बनारसीदासजी लिखते हैं—

'पांडे राजमल्ल जिनधर्मी। समयसार नाटकके मर्मी॥
तिन्हें ग्रन्थकी टोका कीन्ही। बालबोध सुगम करि दीन्ही॥
इस विधि बोध वचनिका फैली। समै पाइ अध्यातम सैली॥
प्रगटी जगत मांही जिनवाणी, घर घर नाटक कथा बखानी॥

कविवर बनारसीदास जीने कविवर राजमल्लजी और उनकी इस टीकाके सम्बन्धमें थोड़े शब्दोंमे जो कुछ कहना था, सब कुछ कह दिया है। कविवर बनारसीदासजीने छन्दोंमे नाटक समयसारकी रचना इसी टीकाके आधारसे की है। अपने इस भावको व्यक्त करते हुए कविवर स्वयं लिखते हैं—

नाटक समैसार हितजीका, सुगमरूप राजमल टीका॥
कवितबद्ध रचना जो होई, भाषा ग्रंथ पढ़े सब कोई॥
तब बनारसी मनमें आनी, कीजे तो प्रगटे जिनवानी॥
पंच पुरुषकी आज्ञा लीनी। कवितबन्धकी रचना कीनो॥

जिन पाँच पुरुषोंको साक्षी करके कविवर बनारसीदासजीने छन्दोंमे नाटक समयसारकी रचना की है। वे हैं—१. पं० रूपचंद जी, २. चतुर्भुजी जी, ३. कविवर भैया भगवतीदास जी, ४. कोरपालजी और ५. धर्मदास जी। इनमें पं० रूपचंद जो और भैया भगवतीदास जी का नाम विशेषरूपसे उल्लेखनीय है। स्पष्ट है कि इन पाँचों विद्वानोंने कविवर बनारसीदास जीके साथ मिलकर कविवर राजमल्ल जी की समयसार कलश बालबोध टीकाका अनेक बार स्वाध्याय किया होगा। यह टीका अध्यात्मके प्रचारमे काफी सहायक हुई यह इसीसे स्पष्ट है। पं० श्री रूपचन्द जी जैसे सिद्धान्ती विद्वान्‌को यह टीका अक्षरशः मान्य थी यह भी इससे सिद्ध होता है।

●

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय : एक अनुशीलन

ऐसा शिष्ट सम्प्रदाय है कि सर्वप्रथम इष्टदेवकी द्रव्य-भाव वन्दनापूर्वक प्रयोजनीय कार्यको प्रारम्भ करना चाहिए। प्रकृतमें उल्लेखनीय कार्य ग्रन्थ रचना है, क्योंकि क्रमसे मूल श्रुतके विच्छिन्न होनेपर इस कालमें मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति अक्षुण्ण बनी रहे इस इष्ट प्रयोजनको सामने रखकर, आरातीय आचार्योंने भव्य जीवोंके हितार्थ आगमानुसारी विविध शास्त्रोंकी रचनाकर मोक्षमार्गकी प्रवृत्तिको अक्षुण्ण बनाये रखा है।

उनमें चरणानुयोगके अनुसार प्रवृत्ति बनाये रखनेके लिये चारित्रपाहुड, मूलाचार और रत्नकरण्ड-श्रावकाचार आदि जितने मूल और तदनुसारी शास्त्र लिखे गये हैं, उनमें अन्यतम ग्रन्थ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय एक है। यह आचार्य अमृतचन्द्र की मौलिक कृति है।

मंगलाचरण

इसका 'तज्जयतिपरं ज्योतिः' इत्यादि प्रथम मंगल श्लोक है। इस द्वारा सर्वोत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप केवलज्ञान जय-जयकार करते हुए इस द्वारा समग्र जिनागमके सारको सूचित कर दिया गया है।

इस मंगलसूत्रमे ज्ञानको दर्पणकी उपमा दी गई है। जो पदार्थ दर्पणमे प्रतिबिम्बित होते है वे न तो दर्पणके पास आते है, और न ही दर्पण ही उनके पास जाता है। किन्तु उन पदार्थोंमे प्रतिबिम्बित होनेकी सहज योग्यता है और अपने स्वच्छरूप गुणके कारण दर्पणमे 'योग्य' क्षेत्रमें स्थित उन पदार्थोंको प्रतिबिम्बित करनेकी योग्यता है। उनके दर्पणमे प्रतिबिम्बित होनेका यही कारण है। ठीक यही स्थिति ज्ञानकी है। तीनों कालों और तीनो जगत्मे स्थित जितने भी पदार्थ थे, है और रहेंगे। उनका ज्ञानके साथ सहज ही ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है। ज्ञानमें सहज ही ऐसी सामर्थ्य है कि वह स्वभाव विप्रकृष्ट, कालविप्रकृष्ट और क्षेत्र विप्रकृष्ट किसी प्रकारके पदार्थ क्यों न हों उन सबको वर्तमानवत् जानता है। ज्ञानकी एक उपमा दीपककी भी दी जाती है। जैसे दीपक परको प्रकाशित करते हुए स्वयंको भी प्रकाशित करता है। ज्ञानका भी वही स्वभाव है। वह अन्य समस्त ज्ञेयोंको अपने ज्ञान पर्याय रूपसे जाननेके साथ स्वयंको भी जानता है। ऐसे मंगलस्वरूप सम्यग्ज्ञानकी हमें प्राप्ति हो और ऐसी कामना करना ही उसका जय-जयकार है।

एकान्तनयोंके विलास अनन्त हैं। एक मात्र अनेकान्त ही उनके विरोधको दूर करनेमे समर्थ है। यह एक सिद्धान्त भी है और स्वयं वस्तुका स्वरूप भी। जैनदर्शनका यह प्राण है। जैनसिद्धान्तको हृदयंगम करनेके लिए अनेकान्तके स्वरूपका सम्यग्ज्ञान होना जरूरी है। इसी तथ्यको हृदयंगम कर आचार्यदेवने ज्ञानस्वरूप आत्माका या केवलज्ञानका जय-जयकार करनेके अनन्तर अनेकान्त सिद्धान्तको द्रव्य-भाव नमस्कार किया है।

आगे तीनों लोकोंके नेत्रस्वरूप परमागमको बुद्धिपूर्वक जाननेका निर्देश करके आचार्यदेवने पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय नामक शास्त्र (आगम) का उद्धार करनेकी मंगल सूचना की है। इस शास्त्रको कहनेकी प्रतिज्ञा सूचक श्लोकमें उपाध्रियते' क्रियाका प्रयोग हुआ है। इस द्वारा शास्त्रकार यह सूचित कर रहे हैं कि इस द्वारा हम अपने अभिप्रायको नहीं व्यक्त कर रहे है। किन्तु भगवान् महावीर और गौतम गणधरसे लेकर आचार्य परम्परासे पुरुष अर्थात् चेतनस्वरूप आत्माके प्रयोजनको सिद्ध करनेका जो उपाय निरूपित होता आ रहा है, उसका ही मैं (अमृतचन्द्र आचार्य) उद्धार करने वाला हूँ, इस द्वारा कोई नई बात नही कही जा रही है।

आगे श्लोक ४ में धर्मतीर्थकी प्रवृत्तिका निर्देश करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि व्यवहार और निश्चयके जानकार पुरुष (आचार्य) ही उसकी प्रवृत्ति करनेमें समर्थ होते हैं, क्योंकि आगममें निश्चयनयको भूतार्थ और व्यवहारनयको अभूतार्थ कहा गया है। परन्तु भूतार्थके ज्ञानसे विमुख प्रायः सभी संसारी जीव हैं। फिर भी अज्ञानीके अज्ञानको दूर करानेके अभिप्रायसे व्यवहार द्वारा परमार्थका ज्ञान कराया जाता है। किन्तु जो मात्र व्यवहारको ही मोक्षमार्ग मानते हैं उनके लिए जिनागमकी प्ररूपणा नहो है। इसी तथ्यको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करके आगे देशनाके फलको कौन प्राप्त होता है इसे समझाते हुए इस ग्रन्थकी उत्पत्तिका ८ मंगलसूत्रों द्वारा समाप्त की गई है।

सम्यक् पुरुषार्थ और उसका फल

ग्रन्थके नामके अनुसार ग्रन्थको प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम पुरुष शब्दके अर्थको स्पष्ट किया गया है, क्योंकि जहाँ अध्यात्ममें निश्चयनयकी मुख्यतासे पुरुष (आत्मा) का अर्थ स्वतःसिद्ध है अतएव अनादि, अनन्त, विशद ज्योति और नित्य उद्योतरूप एक ज्ञायक आत्मा लिया गया है, वहाँ चरणानुयोगमें उभयनयसाध्य ऐसे आत्माको विवक्षित किया गया है, जो चेतन गुण-पर्यायवाला तथा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप होकर भी स्पर्शादि गुणवाले पुद्गल द्रव्य आदि समस्त परद्रव्योंसे अत्यन्त भिन्न है, क्योंकि जहाँ अध्यात्ममें ध्येय अर्थात् आलम्बनकी मुख्यतासे आत्माको लक्षित किया गया है वहाँ चरणानुयोगमें प्रवृत्ति-निवृत्तिकी मुख्यतासे कैसा आत्मा अपने इष्ट प्रयोजनको सिद्धि करनेमें सफल होता है इस तथ्यकी मुख्यता है। यही कारण है कि इस शास्त्रमें उभय नयकी मुख्यतासे पुरुष शब्दका अर्थ करके तथा उसे (जीवको) परिणामस्वरूप सिद्ध करके भवका बीज क्या है, जिससे यह जीव चतुर्गतिरूप परिभ्रमणका पात्र बना हुआ है, यह स्पष्ट किया गया है।

जैसा कि पूर्वमें कह आये हैं कि जैसे जीव ध्रुवस्वभाव है वैसे ही वह स्वभावसे उत्पाद-व्ययरूप भी है। एक जीव ही क्या प्रत्येक द्रव्य अपने अन्वय स्वभावके कारण जहाँ नित्य है वहीं वह अपने व्यतिरेकस्वभावके कारण उत्पादव्ययरूपसे परिणमनशील भी है। नित्य होकर परिणमन करते रहना जड़ चेतन प्रत्येक द्रव्यका स्वभाव है। इसलिये जहाँ यह जीव व्याप्य-व्यापकभावसे प्रतिसमय अपने विवक्षित परिणामका कर्ता है वहीं वह भाव्य भावक भावसे स्वयं अपने परिणामका भोक्ता भी है। उसके रहते हुए भी जब यह आत्मा परलक्षी रागादि भावोंसे भिन्न अपने ज्ञान स्वरूप आत्माके अनुभवके द्वारा निश्चल अपने चैतन्य स्वरूपको प्राप्त कर लेता है, तब इसने अपना करणीय कार्य कर लिया यह निश्चित होता है। इसीका नाम सम्यक् पुरुषार्थकी सिद्धि है और इसीका नाम अपने अपराधके कारण प्राप्त हुए संयोगी जीवनसे मुक्ति है। स्वभावकी प्राप्ति इसीका दूसरा नाम है।

संसार और उसका कारण

किन्तु इस जीवका और कर्मका अनादि सम्बन्ध होनेसे, संसार अवस्थामें यह जीव स्वयं अपने ज्ञान स्वभावको भूलकर अज्ञान और रागादिरूपसे परिणमन करता रहता है। अतः इन भावोंको निमित्तकर कार्मणवर्गणायें स्वयं ज्ञानावरणादि कर्मरूपसे परिणमन करती रहती है और उन ज्ञानावरणादि कर्मोंको निमित्तकर जीवभी स्वयं अज्ञान रागादिरूपसे परिणमन करता रहता है। यह संसारकी अनादि परंपरा है। इसका मूल कारण अपना अज्ञान है। उस कारण यह जीव अपने ज्ञानदर्शन स्वभावके कारण परसे भिन्न होनेपर भी उससे तन्मय जैसा अपनेको अनुभव करता रहता है। यही संसारका मूल कारण है।

पुरुषार्थसिद्धिका उपाय

लोकमें जड़ और चेतन दोनों प्रकारके पदार्थ पाये जाते हैं। उनका स्वरूप भी भिन्न-भिन्न है। अपने अज्ञानके कारण अनादिसे यह जीव विपरीताभिनिवेशके वशीभूत होकर निजतत्वको भूला हुआ है। किन्तु जब यह जीव पर और परके निमित्तसे होनेवाले परभावोंसे भिन्न, अपने ज्ञातादृष्टा स्वरूपको जानकर उसमें अविचल स्थितिको प्राप्त होता है तब ही इस जीवने पुरुषार्थकी सिद्धिका उपाय अपनेमें हृदयंगम किया, यह कहा जा सकता है। जो पूर्वरूपसे रत्नत्रय स्वरूप होनेसे, पाप क्रियासे भिन्न आत्मकार्यको साधनेमें समर्थ मुनियोंमें पूर्णरूपसे लक्षित होता है। सम्यक् प्रकारसे पुरुषार्थकी सिद्धिका, इससे भिन्न, अन्य कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

उपदेश देनेका क्रम

जिनागममें जिन चार अनुयोगोंकी प्ररूपणाकी गयी है, उनमेंसे प्रथमानुयोगमें तो पुण्य पुरुषोंकी कथा की मुख्यतासे प्ररूपणा है। इसका प्रयोजन इतना ही है कि संसारी जीव पुण्य-पापके फलको जानकर, उनसे विरक्त हो परमार्थके मार्गमें लगे। करणानुयोगमें लोकालोककी प्ररूपणाके साथ गुणस्थान और मार्गणा स्थान आदिको माध्यम बनाकर परिणामोंकी जातिकी प्ररूपणा मुख्यतासेकी गयी है। चरणानुयोगमें कैसे उठे कैसे बैठे, कैसे बोले, दूसरेसे कैसा व्यवहार करे आदिकी मुख्यतासे वह सब प्रवृत्ति प्ररूपितकी गयी है जो निमित्त-रूपसे स्वरूप प्राप्तिमें व्यवहारसे साधक मानी गयी है। द्रव्यानुयोगका क्षेत्र बड़ा है। उसमें छह द्रव्य पाँच अस्तिकाय आदिकी विवेचनाके साथ अध्यात्मके रूपमें साक्षात् मोक्षमार्गकी प्ररूपणा भी उसका विषय है।

इन चारों अनुयोगोंमें पठन पाठनकी दृष्टिसे भी चरणानुयोगको प्रथम स्थान प्राप्त है। तथा मोक्षमार्ग में प्रवेश करनेकी दृष्टिसे भी जीवनका निर्माण हो इसमें चरणानुयोगके अनुसार प्रवृत्ति करना प्रथम कर्त्तव्य माना गया है। क्योंकि आगममें उपयोगको तीन प्रकारका निरूपित किया गया है—अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग। विषयकषायरूप प्रवृत्ति कार्योंमें उपयोगका लगना ही अशुभोपयोग है। शुभोपयोगमें शुभाचारकी मुख्यता है। अशुभोपयोगी तो मोक्षमार्गका अधिकारी होता ही नहीं। यद्यपि शुभाचाररूप प्रवृत्ति स्वयं धर्म अथवा परमार्थ मोक्षमार्ग नही है और न शुद्धोपयोगका साक्षात् साधक ही है, फिर भी शुभोपयोग शुद्धोपयोगका व्यवहारसे साधक होनेसे मोक्षमार्गमें उसकी उपयोगिता प्रमुखतासे स्वीकारकी गयी है।

इसी पद्धतिको ध्यानमें रखकर प्रारंभसे ही गुरुजन अपने शिष्योंको सर्वप्रथम पूर्ण आचारकी शिक्षा तो देते ही थे। उसमें प्रवृत्त होनेके लिये प्रेरणा भी करते थे। इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर आ० अमृतचन्द्र देवने पाप क्रियासे विरुद्ध व्रतरूप चारित्रको अंगीकार करनेका और उसकी शिक्षा देनेका निर्देश प्रस्तुत ग्रंथमें किया है। यह मुनियोंकी आलौकिक वृत्ति है। जो शिष्य कदाचित् इसे धारण करनेमें अपनी असमर्थता व्यक्त करता है उसे ही श्रावकाचारका उपदेश देनेकी परंपरा है। कदाचित् कोई आचार्य इसके विरुद्ध उपदेश देता है तो वह ग्रन्थकारके अभिप्रायानुसार जिनमार्गमें गणनीय अपराध माना गया है।

इस कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि आचारकी शिक्षाको गौण करके मात्र करणानुयोग या द्रव्यानुयोगगर्भ अध्यात्मका पठन-पाठन करना कराना मोक्षमार्गमें हितावह नहीं है। उससे कदाचित् शिष्यके उन्मार्गी बननेकी संभावना अधिक लगी रहती है।

प्ररूपणामें क्रमभंगका कारण

आगे समग्र ग्रंथ दो अध्यायोंमें विभक्त है। प्रथम अध्यायमें श्रावकधर्मकी प्ररूपणाकी गयी है और दूसरेमें मुनिधर्मकी। सवाल यह है कि स्वयं ग्रन्थकार जब यह लिखते हैं कि सर्वप्रथम मुनिधर्मका उपदेश देना चाहिये। ऐसी अवस्थामें वे ही स्वयं मुनिधर्मकी प्राथमिकताको गौणकर सर्वप्रथम गृहस्थधर्मके उपदेशका निर्देश

क्यों कर रहे हैं ? प्रश्न मार्मिक है। समाधान यह है कि जिनागममें जो जीवादि सात तत्त्वों और पुण्य-पाप सहित नौ पदार्थोंकी प्ररूपणाकी गयी है, उनमें आस्रव तत्त्वके बाद ही संवर तत्त्वकी प्ररूपणा आती है। संवर तत्त्वके स्वरूप पर जहाँ तक दृष्टिपात करते हैं, उससे भी ऐसा ही फलित होता है कि आस्रव तत्त्वकी प्ररूपणा करनेके बाद ही, उसके विरोधी, संवर तत्त्वकी प्ररूपणा करना संगत माना जा सकता है। इसी आधार पर संवर तत्त्वका लक्षण भी इस प्रकार किया गया है—आश्रव निरोध संवरः।

यही कारण है कि आचार्यदेवने पूर्वोक्त क्रमको स्वीकार करते हुए भी तत्त्वार्थसूत्रके अनुसार आस्रव तत्त्वगर्भ श्रावकचारको प्रथम स्थान दिया है। और तदनंतर इस ग्रंथमे संवर तत्त्वगर्भ मुनिधर्मकी प्ररूपणा की गयी है।

सम्यग्दर्शनकी मुख्यता

जैसा कि पहले निर्देश कर आये है, कोई चाहे मुनिधर्म अंगीकार करे या श्रावकधर्म अगीकार करे। उसमें सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान मुख्य है। क्योंकि इनके होनेपर ही मुनिधर्म या गृहस्थधर्म स्वीकार करना यथार्थ माना गया है।

विपरिताभिनिवेश रहित जीवादि पदार्थोका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। वह पर और परभावोसे भिन्न आत्माका निजरूप है। आगममें इसके कर्म संयोगके अभावकी विवक्षामे तीन भेद किये गये है—उपशम सम्यग्दर्शन, क्षयोपशम सम्यग्दर्शन और क्षायिक सम्यग्दर्शन। ये तीनो ही उपाधिके अभावमे ही होते है, इसलिये हैं तो वे आत्माके निजरूप ही, फिर भी उनमे क्षायिक सम्यग्दर्शन उपाधिके सर्वथा अभावमें होता है, इसलिये उसका सद्भाव सिद्धोंमे भी पाया जाता है। उपशम सम्यग्दर्शनमे उपाधिका अभाव तो पूरी तरहसे रहता है परंतु इसमे उपाधि सत्ताके रूपमे आत्माके एकक्षेत्रावगाहमें बनी रहती है। इसलिये जबतक (अन्त-मुहूर्त तक) उपाधिकी उदय-उदीरणा नही होती है, तभीतक आत्मामे सम्यग्दर्शनका अस्तित्व स्वीकार किया गया है। क्षयोपशम सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति होती तो उपाधिके अभावमे ही है, फिर भी इसके कालमे देशघाती सम्यक् प्रकृतिका उदय बना रहनेसे, सम्यग्दर्शनके साथ आत्मामे चल मलिन और अगाढ दोष पैदा होते रहते हैं। इस प्रकार विचार करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि तीनों ही सम्यग्दर्शन आत्मस्वरूप ही है। निःशंकितादि आठ अंगोंकी प्राप्ति इन्हीके सद्भावमे सम्यक् प्रकारसे होती है।

इसके होनेपर जो सम्यग्ज्ञान अनेकान्तगर्भ जीवादि पदार्थ विषयक ज्ञान होता है, वह सम्यक्ज्ञान है। सम्यग्दर्शन कारण है और यह कार्य है। यद्यपि इन दोनोंकी उत्पत्ति एक साथ होती है फिर भी दीप और प्रकाशके समान इन दोनोंमे कार्यकारणभाव बन जाता है। जैसे सम्यग्दर्शनके आगममे निःशंकितादि आठ अंग कहे गये हैं, उसी प्रकार सम्यक्ज्ञानके भी आठ अंग है—उनके नाम है--व्यंजनाचार, अर्थाचार, उभयाचार, कालाचार, विनयाचार, उपधानाचार, बहुमानाचार, अनिह्नवाचार।

इस प्रकार जिसने दर्शन मोहनीयका अभाव करनेके साथ जीवादि पदार्थ विषयक सम्यक्ज्ञान प्राप्त किया है, वही भले प्रकार सम्यक्चारित्रके आराधन करनेका अधिकारी माना गया है। चारित्र सर्व सावद्ययोगके परिहारपूर्वक होता है और उसमे कषायोंका अस्तित्व अनुभवमे नही आता, ऐसा जो जीवका पर पदार्थोंसे विरक्ततारूप आत्म परिणाम होता है वही सम्यक्चारित्र है। उसीके सकलचारित्र और विकलचारित्र ये दो भेद हैं। यह क्रमसे मुनियोंको और गृहस्थोंको होता है।

विकलचारित्र

गृहिधर्मकी प्ररूपणा आगममें दो प्रकारसे परिलक्षित होती है—एक बारहव्रतोंके रूपमें और दूसरी ग्यारह प्रतिमाके रूपमे प्रस्तुत ग्रन्थमें बारहव्रतरूप प्ररूपणा मुख्यरूपसेकी गयी है। उसके तीन भेद है—पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत। इनकी प्ररूपणा करनेके बाद अन्तमें सल्लेखनाकी स्वतंत्ररूपसे प्ररूपणा दृष्टिगोचर होती है। जबकि आचार्य कुन्दकुन्दने स्वरचित चारित्रपाहुड़में सल्लेखनाको चार शिक्षाव्रतोंमें ही सम्मिलित कर लिया है।

इन बारह व्रतोंके मूलमें अहिंसा मुख्य है। जैसे खेतमें धानकी रक्षाके लिए बाड़ी (बागड़) होती है वही स्थान अहिंसाके परिकरके रूपमें शेष व्रतोंका है। अहिंसाका अर्थ अपने निमित्तसे केवल दूसरे जीवोंका प्राणोंसे वियुक्त कर देना नहीं है। उसमें प्रमादरूप परिणतिका न होना मुख्य है। इसी बातको ध्यानमें रखकर जिनागमके सारको संक्षेपमें बतलाते हुए आचार्यदेवने अहिंसाका लक्षण करते हुए लिखा है कि रागादि भावोंका नहीं उत्पन्न होना ही अहिंसा है और उनकी उत्पत्ति होना ही हिंसा है। और इसी आधारपर हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसा-फल—इन चारोंको सम्यक् प्रकारसे जानकर जिसमें आत्माकी हानि न हो इसरूपसे प्रवृत्ति करनेका आचार्यदेवने निर्देश किया है। शेष व्रतोंके स्वरूपको इसी पद्धतिसे समझ लेना चाहिए।

यहाँ ५०वें मगलसूत्रमे प्रांजल रूपसे यह सूचना की गई है कि जो निश्चयको तो जानता नहीं फिर भी उसीको निश्चयसे अंगीकार करता है वह बाह्यकरण चरणमें आलसी हुआ उसका नाश करता है। सो इसकी व्याख्या पण्डित प्रवर टोडरमलजीने दो प्रकारसे की है। प्रथम व्याख्या करते हुए वे कहते है कि 'जो कोई केवल निश्चयका श्रद्धानी होकर यह कहता है कि यदि मैं परिग्रहादि रखूँ अथवा भ्रष्टाचाररूप प्रवर्तन करूँ तो इससे क्या हुआ ? मेरे परिणाम ठीक होना चाहिये। ऐसा कहकर जो स्वच्छन्द प्रवर्तन करता है उस जीवने दयाके आचरणका नाश किया। वह बाह्यमें तो निर्दय हुआ ही तथा अंतरंग निमित्त पाकर परिणाम अशुद्ध होते ही होते हैं, इसलिए अन्तरंगकी अपेक्षा भी निर्दय हुआ। कैसा है वह जीव ? बाह्य द्रव्यरूप अन्य जीवकी दयामे आलसी है, प्रमादी है।'

यह एक अर्थ है। इसी श्लोकका दूसरा अर्थ करते हुए वे लिखते हैं—'जो जीव निश्चयके स्वरूपको न जानकर व्यवहाररूप बाह्य परिग्रहादिके त्यागको ही निश्चयसे मोक्षमार्ग जानकर अंगीकार करता है वह जीव शुद्धोपयोगरूप दयाका नाश करता है।'

ये दो अर्थ है जो यहाँ उक्त मंगल श्लोकके किये गये है। सो ऐसा करते हुए यहाँ अन्तिम चरणमें जो 'करणालसो' पाठ आया है सो वहाँ उक्त अर्थ 'करुणालसो' पाठ मानकर किया गया है।

जिनदेशनाका पात्र कौन

श्रावकको जैनधर्ममें दीक्षित होनेके साथ ही सर्वप्रथम आठ मूलगुण अंगीकार करने चाहिये। इनका उल्लेख आचार्य समन्तभद्रने भी रत्नकरण्डश्रावकाचारमें किया है। मात्र वहाँ पांच उदुम्बर फलोंके त्यागके स्थानपर अहिंसा आदि पांच अणुव्रत लिये गये हैं। लगता है कि उत्तरकालमें अहिंसा आदि पाँच अणुव्रतोंका व्रत प्रतिमामें अंगीकार हो जानेसे यहाँ उनके स्थानपर पाँच उदुम्बर फलोंके त्यागको मुख्यता दी गई है, क्योंकि इन पाँच उदुम्बर फलोंके भक्षणमें स्पष्टतः त्रसहिंसा होती हुई दिखाई देती है। इसी प्रकार जो दोष इन आठ पदार्थोंके भक्षणमे लगता है वही दोष नवनीत (मक्खन) के खानेमें भी लगता है। यही कारण है कि इस ग्रन्थमें मद्य, मांस और मधुके साथ नवनीतको भी सम्मिलित कर लिया गया है (७३)। आगे इन आठोंको अनिष्ट, दुस्तर और पापके आयतन स्वीकार करके यह स्पष्ट सूचना की गई है कि जो विवेकी इन आठका त्याग कर देता है वही जिनधर्मकी देशनाको ग्रहण करनेका पात्र होता है (७४)।

यहाँ आठ मूलगुण उपलक्षणके रूपमें कहे गये हैं। विचार करके देखा जावे तो इस प्रकार जिन पदार्थोंको निमित्तकर त्रस जीवोंकी हिंसा सम्भव है या स्थावर कायिकों सम्बन्धी बहुत जीवोंकी हिंसा होना संभव है, ऐसे सब पदार्थोंके भोगोपभोगका नियमरूपमें या अभ्यासरूपमें त्याग कर देना चाहिये। इसी तत्त्वको ध्यानमें रखकर जिनपदार्थोंका सेवन करनेसे बहुत जीवोंका घात होता है उनके सेवनमें लाभ कुछ भी नहीं होता। ऐसे मूली, गाजर, आलू, सकरकंद, मीठा, अदरक, लहसुन, नीम व केतकीके फूल आदिका नियमसे त्याग कर देना चाहिये, श्लोक ३९। इसके साथ ही उसमें जो प्रकृति विरुद्ध आहार है तथा जो मूल शंख भस्म आदि अनिष्ट व अनुसेव्य पदार्थ है उन्हें भी उपभोगमें नहीं लाना चाहिये। तथा मर्यादाके बाहर अचार, पापड़, बड़ी आदिका ग्रहण इन्हीं सब पदार्थोंमें हो जाता है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि भोगोपभोग परिमाणव्रतका निर्देश करते समय आ० समन्तभद्रने इन सब पदार्थोंके त्यागका विधान किया है, फिर यहाँ अविरत सम्यग्दृष्टिके इन सबके त्यागका निर्देश क्यों किया जा रहा है? समाधान यह है कि जैनधर्मके अनुसार श्रावककी भूमिका तब ही बनती है जब वह श्रावकोचित आहार-विहारमें सावधान होता है। दूसरी बात यह है कि भोगोपभोग परिमाण व्रतका निरतिचार पालन किया जाता है। जबकि अभ्यास दशामें विवेककी मुख्यता रहती है।

प्रायः एलोपैथिक पद्धति आदिसे जो दवाईयाँ तैयार होती हैं उनमें प्राणियोंके सत्व आदिके मिश्रणकी अधिक संभावना रहती है। इनमें अलकोहलका उपयोग तो होता ही है। और अलकोहल शराबका छोटा भाई है। आसव, अरिष्ट आदि भी इसी श्रेणीमें आते है। इसलिए आहार-विहारमें इन सबका विचार करके ही श्रावकको अपना जीवनयापन करना चाहिये। तब ही जाकर उसके द्वारा अहिंसा व्रतका पालन हो सकता है। भले ही अभ्यासरूपमें हो, आहार-विहारमें इन सब बातोंका ध्यान रखना आवश्यक है।

धर्म-दया-सुखके नाम पर हिंसाका निषेध

अहिंसाधर्म, अमृतत्वकी प्राप्तिमें परम रसायनके समान है। इसलिये हमारे द्वारा किसी भी प्रयोजनसे हिंसा न हो जाये, इस बातको ध्यानमें रखकर देवताके निमित्त बकरे आदिकी हिंसा नहीं करनी चाहिये। दूसरे जीवोंकी दया पालनेके अभिप्रायसे हिंस्र सिंहादि जीवोंकी हिंसा नहीं करनी चाहिये। तथा परलोकमें यह अधिक सुखका भोक्ता बनेगा, इस खोटे अभिप्रायसे गुरु आदिकी हिंसा नहीं करनी चाहिये। तात्पर्य यह है कि किसी भी प्रयोजनसे की गई हिंसा दुर्गतिका ही कारण बनती है।

सकलचारित्र

पहले हम विकल चारित्रका संक्षेपमें निर्देश कर आये है। वह अपवाद मार्ग है। उत्सर्ग मार्ग इससे भिन्न है। सकल चारित्र उसका दूसरा नाम है। इसे यदि पूर्ण स्वावलम्बनकी दीक्षा कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

श्रावककी ग्यारह प्रतिमाएँ है। अन्तिम प्रतिमाका नाम उद्दिष्ट त्याग है। श्रावकने अन्य किसीको निमित्त कर आहार न बनाकर उसने स्वयके लिए जो आहार बनाया है, इस प्रतिमा वाला ऐसे आहारको ही स्वीकार करता है, मात्र इसीलिए इस प्रतिमाका नाम उद्दिष्ट त्याग है। इस प्रतिमाके दो भेद है—क्षुल्लक और ऐलक। क्षुल्लकके उत्तरीय वस्त्रके साथ लंगोटी मात्र परिग्रह शेष रहता है। जब कि ऐलकके उत्तरीय वस्त्रका भी त्याग हो जाता है। फिर भी अभी उसके घरसे मुनिकी शरणमें जानेपर भी लंगोटीका विकल्प बना हुआ रहता है। जब कि जिसने पूर्ण स्वावलम्बनकी दीक्षाके साथ मुनि धर्मको अपना जीवन बनाया है उसके लंगोटी भी छूट जाती है। वह किसी जीर्ण-शीर्ण मकानमें रहे या गिरि गुफामें किन्तु वह दोनोंको

पुद्गलका परिणाम जान कर उनमें ममत्व नहीं करता। वह व्रती जीवनका बाह्य साधन जान कर प्रासुक आहार लेता अवश्य है, पर उसमें खट्टे-मीठेका विकल्प नहीं करता। वह खड़े-खड़े भले ही आहार ले लेता है, पर इसके लिए आसनको स्वीकार नहीं करता। वह सम्मूर्च्छन जीवोंका आश्रय स्थान जानकर दो से लेकर चार माहके भीतर स्वयं हाथोंसे उखाड़कर भले ही बालोंको अलग कर देता है, पर इसके लिए कैंची या उस्तरेका सहारा नहीं लेता। यह है मुनियोंकी स्वावलम्बन प्रधान अलौकिकी वृत्ति। जिसके भीतर परका आश्रय तो रहता ही नहीं, प्रवृत्तिमें भी बाहर भी पीछी कमण्डलु और पुस्तकको छोड़कर अन्यका आश्रय नहीं रह जाता है।

प्रस्तुत ग्रन्थमें मुनिधर्मके २८ मूलगुणोंका विधिवत् विवेचन तो दृष्टिगत नहीं होता फिर भी उसमें सकल चारित्रके विवेचनके प्रसंगसे १२ तप, ६ आवश्यक, ३ गुप्ति, ५ समिति, १० धर्म, १२ भावना और २२ परिषहजयका संक्षेपमें निर्वचन किया गया है।

साथ ही इसी प्रसंगसे अन्य बातोंका निर्देश करते हुए यह स्पष्ट रूपसे खुलासा किया गया है कि रत्नत्रय बंधका कारण नहीं है। जो पुरुष अपूर्ण रत्नत्रयकी उपासना करते हैं, उनको जो कर्म बन्ध होता है उसका कारण राग है। रत्नत्रय तो मोक्षका ही उपाय है बन्धका उपाय नहीं। इस प्रकार सम्यक् पुरुषार्थकी सिद्धिका उपाय पूर्ण रत्नत्रय ही है।

अंशरूपमें रत्नत्रयका उदय चौथे गुणस्थानसे प्रारम्भ होकर चौदहवें गुणस्थानमें पूर्णता होती है, क्योंकि ऐसा नियम है कि जहाँ इन तीनोंमेंसे कोई एक होता है वहाँ तीनों नियमसे होते हैं। यह कहना कि चौथे गुणस्थानमें सम्यग्दर्शनके साथ सम्यग्ज्ञान तो होता है परन्तु अव्रत होनेसे उसके चारित्रको एक कण भी नहीं पाया जाता है, उपयुक्त नहीं जान पड़ता, क्योंकि चौथे गुणस्थानमें संयमाचरण चारित्रका निषेध अवश्य किया है, परन्तु इससे सम्यक्चारित्रका निषेध हो गया ऐसा नहीं समझना चाहिए, अन्यथा उसकी देवपूजा, गुरुपूजा, स्वाध्याय आठ मूल गुणोंका धारण करना दान देना आदि सब आचार मिथ्या हो जायेगा। आ० कुन्दकुन्दने अपने चारित्र पाहुड़में चारित्रके जो सम्यक्त्वाचरण चारित्र और संयमाचरण चारित्र ये दो भेद किये हैं, वे इसी अभिप्रायसे किये गये हैं कि चौथे गुणस्थानमें भी अंशतः चारित्रका उदय हो जाता है।

ग्रन्थकर्ता

आचार्य अमृतचन्द्र जैनाकाशमें ध्रुवताराकी तरह निरंतर प्रकाशमान होते रहेंगे। यों तो सर्वांग सूत्रको ग्रन्थारूढ करनेमें आ० कुन्दकुन्द नाम गौतम गणधरके बाद लिया जाता है परन्तु उनके पूरे साहित्यका आलोडन कर उनपर भावपूर्ण सरस टीका लिखनेका पूरा श्रेय सर्वप्रथम आ० अमृतचन्द्रको ही प्राप्त है।

यद्यपि आ० गृद्धपिच्छने अपने तत्त्वार्थसूत्रमें द्रव्यके दोनों लक्षणोंका निर्देश करते हुए आ० कुन्दकुन्दके प्रवचनसार आदि ग्रन्थोंका ही अनुसरण किया है, इसी प्रकार आ० समन्तभद्रने 'धर्म-धर्म्यविनाभावः' इत्यादि कारिका लिखकर पूरे समयसारके भावको एक कारिकामें ही अभिव्यक्त कर दिया है। आ० पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि-टीका व समाधितंत्र आदि ग्रन्थोंपर दृष्टिपात करनेसे भी इसी तथ्यकी पुष्टि होती है। यही स्थिति आ० अकलंकदेव और विद्यानन्दकी भी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि समग्र जैन साहित्यपर आ० कुन्दकुन्दका ही पदानुसरण किया गया है। इसलिए यह लिखना तो उपयुक्त प्रतीत नहीं होता कि आ० कुंदकुंदके बाद एक हजार वर्ष तक किसीकी भी दृष्टि समयसार जैसे महानतम अध्यात्म ग्रंथपर नहीं गयी होगी। इन आचार्यों द्वारा जितने भी भावग्राही साहित्यकी रचना हुई है वह सब समयसारसे अनुप्राणित होकर ही हुई है। यह दूसरी बात है कि आ० अमृतचन्द्र देवने एक हजार वर्ष बाद इन ग्रन्थोंकी टीका की है।

साधारणतः इनका समय ११वीं शताब्दिका प्रथम चरण माना जाता है। इन्हें पं० प्र० आशाधरजीने 'ठक्कुर' शब्दसे सम्बोधित किया है। गुजरातमे ऐसी अनेक जातियाँ पायी जाती थी और वर्तमानमें भी पायी जाती हैं जिनमेंसे कई घराने अपनेको ठक्कुर शब्दमे सम्बोधित करते रहे हैं। इसलिए यह बहुत सम्भव है कि ये मूलत गुजरातके रहनेवाले हों। साधारणतः गुजरातकी पुरानी तीन जातियाँ मुख्य हैं—प्राग्वाट, ओसवाल और श्रीमाल—इनमेसे ओसवाल और श्रीमाल दो जातियाँ तो १०वीं शताब्दिके लगभगसे ही या उनके पूर्वमे श्वेताम्बर सम्प्रदायको मानने वाली रही है। जो तीसरी जाति प्राग्वाट है, वह अवश्य ही श्वेताम्बर और दिगम्बर-दोनों परम्पराओंको मानने वाली चली आ रही है। पौरपाट (परवार) सोरठिया पद्मावती पुरवाल और पोरवाल आदि—ये सब प्राग्वाट जातिके उपभेद हैं। इनमे से एक पौरपाट जाति अवश्य ही ऐसी है जो प्रारम्भसे ही दिगम्बर परम्परामे भी केवल कुंदकुंद आम्नायकी ही उपासक रही है। इसलिए बहुत सम्भव है कि आ० अमृतचन्द्रका जन्म इस जातिमे हुआ हो तो कोई आश्चर्य नही। यह हम अतिशयोक्तिमें नहीं लिख रहे है, किन्तु गुजरातकी पूर्ण स्थितिका अध्ययन करके ही लिख रहे हैं। इसलिए आ० अमृतचन्द्रदेव काष्ठासंघी न होकर मूलसंघी ही होने चाहिए।

इन्होंने सम्यग्दर्शनके आठ अंगोंका विवेचन करते हुए अमूल दृष्टि अंगका जो स्वरूपनिर्देश किया है वह हमारे इस तथ्यकी पुष्टि करनेके लिए पर्याप्त है। इस अंगका विवेचन करते हुए वे लिखते हैं—

लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे।
नित्यमपि तत्त्वरुचिना कर्तव्यममूढदृष्टित्वम् ॥२६॥

तत्त्वमें रुचि रखनेवाले जीवको लोकमें शास्त्राभासमें, समयाभासमें और देवताभासमें सदा ही मूढ़ता रहित होकर श्रद्धान करना चाहिए।

स्पष्ट है कि आचार्य अमृतचन्द्रदेवने अमूढ दृष्टिके इस लक्षण द्वारा लोक मूढता, देव मूढ़ताका और गुरु मूढ़ताका स्पष्ट शब्दोंमें निषेध कर दिया है।

सम्यक्त्वके आठ अंग है इस परम्पराको विशेष प्रश्रय मूलसंघने ही दिया है। मेरी दृष्टिमे काष्ठासंघके ग्रन्थोंमे इस परम्पराके विशेष दर्शन नही होते।

वैसे सम्यक्त्वके २५ दोष हैं, उत्तर कालमे इस विषयका विशेष उल्लेख पण्डित प्रवर आशाधरजीने स्वरचित अनगार धर्मामृतके अ० २ श्लोक १०३ की टीकामे अवश्य किया है। और वही सम्यक्त्वकी विशुद्धिके कारण रूपमे उपगूहन, स्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावनाका भी स्वरूपनिर्देश किया है तथा सम्यक्त्वके पाँच अतीचारोंका कथन करनेके प्रसंगसे शका, काक्षा और विचिकित्सा दोषका निषेध भी किया है। इससे ऐसा निष्कर्ष अवश्य निकलता है कि सम्यक्त्वके आठ अंगोंकी परम्परा सर्वत्र निर्विवाद रूपसे स्वीकार की गई है। फिर भी जिस स्पष्टतासे मूलसंघने इस परम्पराको प्रश्रय दिया है वह स्थिति काष्ठासंघकी नही प्रतीत होती है।

एक बात विशेषरूपसे उल्लेखनीय है। वह यह कि शासनदेवताके नामपर काष्ठासघमे राग-द्वेषसे मेरे व्यंतरादिक देव-देवियोंकी जो पूजा दृष्टिगोचर होती है वह स्थिति पुरुषार्थसिद्धयुपाय ग्रन्थकी नही है। इस लिये पुरुषार्थसिद्धि उपायके रचयिता आ० अमृतचंद्रदेवको काष्ठासंघी स्वीकार करना उनका अवर्णवाद करना ही कहलायेगा।

इनकी रचनायें अनेक हैं, जैसे—समयप्राभृत, प्रवचनसार और पंचास्तिकायकी टीकायें और तत्त्वार्थसूत्र और लघुतत्वस्फोट। पुरुषार्थसिद्धयुपाय भी उन्हींकी सारगर्भित रचनायें हैं।

विविध टीकायें

(१) पुरुषार्थसिद्धयुपायकी संस्कृतमें एक टीका मिलती है। यह श्री दि० जैन उदासीन आश्रम, तुकोगंज इंदौरके शास्त्र भण्डारकी अनुपम निधि है। इसकी कुल पत्र संख्या ५५ है, साइज २० × १२ अंगुल है। प्रत्येक पृष्ठमें १४ पंक्तियाँ हैं। प्रत्येक पंक्तिमें लगभग ४४-४५ अक्षर हैं। बीच-बीचमें मूल श्लोक बड़े-बड़े अक्षरोंमें लिखे गये हैं। उसका प्रथम मंगलाचरण है—

चंद्रप्रभं जिनं वाणी नत्वा गुरुपदांबुजम्।
पुरुषार्थसिद्धयुपाये कुर्वे टीकां मनोहराम्॥

इसके बाद पुरुषार्थसिद्धयुपायके मंगल श्लोकको उत्थानिकाका निर्देश करके टीकाकार लिखता है—

"अथ श्रीमन्निर्ग्रंथाचार्यवर्यः श्रीमदमृतचंद्रभट्टारकः कलिकाल गणधरदेवः भव्यपुंडरिकेभ्यः पुरुषार्थसिद्धयुपायं प्रकाशयन्निष्ठदेवताविशेष आशिर्वादात्मकमंगल कथयन्नमस्करोति।"

टीकाके अन्तमें लिखा है—

"अयं पुरुषार्थसिद्धयुपायः ग्रन्थः इति। अमृतचन्द्रसूरीणा अमृतचन्द्रभट्टारकाणा इयं कृतिः यं कर्तव्यता। अस्य पुरुषार्थसिद्धयुपायस्यापरनाम जिनरहस्यकोशः वर्तते इति कथनेन समाप्तम्॥२२॥ इति व्याख्या समाप्ता। इत्यमृतचन्द्रसूरीणा कृति पुरुषार्थसिद्धयुपायोऽयम्। नाम जिनप्रवचनरहस्यकोशः। समाप्तमिति॥२२७॥"

मंगलश्लोकको इस उत्थानिका और समाप्ति सूचक अंतिम प्रशस्तिसे पता लगता है कि मूलग्रन्थके लेखक निर्ग्रन्थाचार्य थे और उस समय इनकी ख्याति कलिकाल गणधरदेवके रूपमें की जाती थी। इस उत्थानिकासे ऐसा भी मालूम होता है कि इनका मूल निवास गुजरात प्रदेश होना चाहिये, क्योंकि 'आचार्य'के स्थानपर 'सूरि' पदका उपयोग गुजरातमें विशेष रूपसे होता रहा है। हमारे सामने मूलसंघ और काष्ठासंघ दोनोंकी आचार्य तथा भट्टारक पट्टावलियाँ उपस्थित हैं। उनके देखनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि इन्हें भट्टारक विशेषण पूज्यके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। ये किसी पट्टके भट्टारक नहीं थे।

ग्रन्थका नाम पुरुषार्थसिद्धयुपाय तो है ही। ग्रन्थकारने स्वयं ही इस नामका तीसरे श्लोकमें उल्लेख किया है। संस्कृत टीकाकी अन्तिम प्रशस्तिपर दृष्टिपात करनेसे ऐसा भी प्रतीत होता है कि इसका दूसरा नाम 'जिन प्रवचन रहस्यकोश' भी रहा है ऐसा इसपर लिखी गई संस्कृत टीकाकी अन्तिम प्रशस्तिसे ज्ञात होता है।

प्रकृतमें ऐसा लगता है कि आचार्य अमृतचन्द्रदेवने जितनी भी अपनी स्वतन्त्र रचनाओंको मूर्त रूप दिया है उनकी मौलिकताको ध्यानमें रखकर उनको दूसरा नाम देनेकी पुरानी परम्परा रही है। किन्तु यहाँ यह कहना कठिन है कि इसका निर्वाह वे स्वयं करते रहे या अन्यके द्वारा उनकी स्वतन्त्र रचनाओंका दूसरा नाम सूचित किया गया है। उदाहरणार्थ लघुतत्त्वस्फोट ग्रन्थका दूसरा नाम 'शक्तिमणितकोश' उसके प्रत्येक अध्यायकी समाप्ति सूचक अञ्चलिकामें दिया गया है तथा प्रस्तुत ग्रन्थ (पुरुषार्थसिद्धयुपाय) का दूसरा नाम इसपर लिखी गई संस्कृत टीकाकी समाप्तिसूचक प्रशस्तिसे ज्ञात होता है। है यह महत्त्वकी बात कि इनकी जो यह दो रचनाएँ हैं उनको दूसरा नाम देनेकी परम्परा पुरानी जान पड़ती है।

वैसे इन्होंने जो समयप्राभृतकी आत्मख्याति टीका लिखी है उसके प्रथम मंगलसूत्रकी टीकामें उसे (समयप्राभृतको) ये 'अर्हत्प्रवचनका अवयव' जैसे गरिमागम शब्दों द्वारा स्वयं सम्बोधित कर रहे हैं। लगता है कि तत्त्वार्थवार्तिकमें 'गुण-पर्ययवद्द्रव्यम्' (सू० ३७) सूत्रकी व्याख्या करते हुए जो शंका समाधान आयी है,

उसमें 'उक्तं हि' कह करके जो 'अर्हत्प्रवचनने द्रव्याश्रया निर्गुणगुणाः' कहा गया है, वह अन्य किसी शास्त्रके विषयमें न कहकर पूर्वोक्त न्यायसे लगता है कि स्वयं भट्टाकलंकदेवने तत्त्वार्थसूत्र अ० ५के ४१वें शंकाके इसी सूत्रके लिये कहा है।

इस ग्रन्थकी जो संस्कृत टीका हमारे सामने है, वह साधारण संस्कृतमें लिखी गयी है। फिर भी इससे कुछ महत्त्वपूर्ण श्लोकोंके अर्थ पर जो प्रकाश पड़ता है, उसे संक्षेपमें यहाँ दे रहे है—

उदाहरणार्थ ५वें श्लोककी टीका करते हुए लिखा है "इहास्मिन् ग्रन्थे जिनमते वा भूतार्थं सत्यं निश्चयं प्रदेशभेद रहितं वर्णयंति। अपरं अभूतार्थं असत्यं व्यवहारं प्रदेशभेदसहितं वर्णयंति।" निश्चयनया द्रव्यस्थिताः व्यवहारनया पर्यायस्थिता.। द्रव्यस्थितं सत्यं पर्यायस्थितमसत्यम्।

६ठें श्लोककी टीका करते हुए लिखा है—"अबुधस्य मूर्खस्यबोधनार्थं ज्ञानार्थं अभूतार्थं व्यवहारमार्गं देशयंति। यः केवलं एकंव्यवहारमेव अवैति जानाति तस्यव्यवहारज्ञस्य देशनानास्ति उपदेशोनास्ति।"

८वें श्लोककी टीका करते हुए लिखा है—"यः शिष्यः बुद्धिमान् व्यवहारं च निश्चयं च व्यवहार-निश्चयौ नयौ प्रबुद्धयज्ञात्वातत्त्वेन निश्चयेन मध्यस्थः भवतिकर्म्मभि. अनाश्रितो भवति स एव शिष्य. देशनायाः उपदेशस्य अविकलं पूर्णफलं अविनश्वरं प्राप्नोति लभते। भावार्थोऽयं बुद्धिमान् शिष्यः यथार्थ रहस्येन मध्यस्थो-भूत्वा कर्मास्रव रहितो भवति। सुबुद्धिमान् पुण्यपापरूपपरिणतित्यागात् मध्यस्थः सन् मोक्षादिरूपं फलं प्राप्नोति इत्यर्थः।

२१८वें श्लोककी टीका करते हुए लिखा है—"सम्यक्त्वेचारित्रे सति तीर्थंकरस्य आहारक-शरीरस्यबंधकौबंधौभवतः सम्यक्त्व चारित्राभ्याविनांतीर्थंकराहारकौनस्यातां इत्यर्थः। यत्र तौ द्वौ योगकषायौ नास्ति न तिष्ठेत्। पुनरस्मिन् दर्शनज्ञानचारित्रे सति तत् पूर्वोक्तं तीर्थंकराहारकक्रर्म्म-बंधरूपंउदासीनं योगकषायाभ्यां दर्शनादौसत्यपि तीर्थंकराहारक कर्म्मबंधो न भवतीत्यर्थः।

यह कतिपय श्लोकोंकी संस्कृत टीकाका आशय है। इसपर दृष्टिपात करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत टीकाकार मूल श्लोकोंके भावको स्पष्ट करनेमे सफल रहा है। मात्र २१८वें श्लोकका अर्थ प्राजल शब्दोंमें स्पष्ट नही हो सका। लिपिकारकी असावधानीसे ऐसा हुआ हो तो कोई आश्चर्य नही।

अन्य टीकाएँ

(१) अन्य टीकाओंमे सबसे प्रमुख आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल जी सा० की टीका है। यह ढूंढारी भाषामें लिखी गई है। वह हमारे सामने नहीं है। मात्र उसका हिन्दी अनुवाद हमारे सामने अवश्य है। गुजरातीसे हिन्दीमे इसका अनुवाद श्री वैद्य गम्भीरचन्द जैन, अलीगंज एटा वालोंने किया है। ढूँढारीसे गुजराती भाषामें इसका अनुवाद ब्र० भाई श्री ब्रजलाल गिरधरलालजी शाहने किया था। हिन्दी अनुवाद हमारे सामने है। इसमें पं० जी ही के शब्दोंमे मंगलाचरण दिया गया है। उसके बाद एक कवित्त द्वारा 'निश्चयैकान्त और व्यवहारैकान्तका निषेध करके जो निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्गको भिन्न-भिन्न दो जानते हैं उसका निषेध करके दान, पूजा, व्रत आदिको मोक्षमार्ग मानना व्यवहार है ऐसा जानकर साक्षात् मोक्षमार्गके निमित्तरूपमे उन्हें स्वीकार करते हैं वे ही परमार्थके भागी होते है" यह तथ्य स्पष्ट किया गया है।

आगे ग्रन्थके प्रत्येक श्लोकका अन्वयार्थ, टीका और भावार्थ देकर ग्रन्थका हार्द स्पष्ट किया गया है।

पहिले हम संस्कृत टीकाके कतिपय श्लोकोंका आशय स्पष्ट कर आये है। यहाँ अध्ययनकी दृष्टिसे क्रमसे उन्ही श्लोकोंका हार्द पंडितजी ही के शब्दोंमें दे रहे है।

५वें श्लोकके आशयको स्पष्ट करते हुए लिखा है—भूतार्थ नाम सत्यार्थका है। भूत अर्थात् जो पदार्थमें पाया जावे, और अर्थ अर्थात् 'भाव।" उनको जो प्रकाशित करे तथा अन्य किसी प्रकारकी कल्पना न करे उसे भूतार्थ कहते हैं।''''अभूतार्थ नाम असत्यार्थका है। अभूत अर्थात् जो पदार्थमें न पाया जावे और अर्थात् "भाव" उनको जो अनेक प्रकारकी कल्पना करके प्रकाशित करे उसे अभूतार्थ कहते हैं।

६वें श्लोककी टीकामें पंडितजी लिखते हैं—मुनीश्वर अर्थात् आचार्य अज्ञानी जीवोंको ज्ञान उत्पन्न करनेके लिये अभूतार्थ ऐसा जो व्यवहार उसका उपदेश करते हैं। जो जीव केवल व्यवहार ही का श्रद्धान करता है उसके लिये उपदेश नहीं है।

८वें श्लोककी टीकामें वक्ता कैसा होना चाहिये और श्रोता कैसा होना चाहिये, इस प्रयोजनको ध्यानमें पंडितजी लिखते हैं—जो जीव व्यवहारनय और निश्चयनयके स्वरूपको यथार्थ रूपसे जानकर पक्षपात रहित होता है वही शिष्य उपदेशका सम्पूर्ण फल प्राप्त करता है।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि संस्कृत टीकाकारने "तत्वेन भवति मध्यस्थः" का जो यह अर्थ फलित किया है कि "जो जीव निश्चयसे मध्यस्थ होता है अर्थात् कर्मोंसे अनाश्रित होता है (निर्विकल्प होता है) वही देशनाके पूर्णफल अविनश्वर फलको प्राप्त करता है।" वह यथार्थ है।

२१७वें श्लोककी टीका करते हुए पंडितजी लिखते हैं—सम्यक्त्व और चारित्रके प्रगट होनेपर ही मन, वचन, कायके योग तथा अनन्तानुबन्धीको छोड़कर शेष तीन कषायोंकी उपस्थितिमें तीर्थंकर और आहारकद्विकका बन्ध होता है। अतः रत्नत्रय है वह तो बन्धक नहीं है, बन्धमें उदासीन है।

इसकी संस्कृत टीकाका भी यही आशय है। जो हस्तलिखित प्रति हमारे सामने है, उसमें जो वाक्य रचना लिपिबद्ध हुई है उससे यह भाव स्पष्ट नहीं होता, इतना अवश्य है।

(२) इस ग्रंथकी पं० श्री मक्खनलालजी शास्त्री तथा ब्र० पं० श्री मुन्नालालजी काव्यतीर्थ रांधेलीय-की टीकायें और हैं, जो हमारे सामने नहीं होनेसे, हम उनके आधारपर तुलनात्मक रूपसे लिखनेमें असमर्थ हैं।

●



जैनसिद्धान्तदर्पण : एक अनुचिन्तन

गुरु श्री पं० गोपालदासजी वरैया श्रुतधरोंकी उस शृंखलाकी कड़ी हैं, जिसमें कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, अकलंक और प्रभाचन्द्र जैसे आगमानुसारी आचार्योंकी गणना की जाती है और जिन आचार्योंकी अमर लेखनीका स्पर्श पाकर श्रुतदेवताका कार्य संवर्द्धन हुआ है। गुरुजी विचारक होनेके साथ शास्त्रीय विद्वान भी थे; उन्होंने जहाँ सुशीला उपन्यास जैसा रसमय कथा ग्रन्थ लिखा है, वहाँ जैनसिद्धान्तदर्पण जैसी गहन शास्त्रीय, पाण्डित्यपूर्ण रचना भी लिखी। सार्वधर्म, जैन जागरफी प्रभृति अनेक निबन्धोंके साथ (१) जैनसिद्धान्तदर्पण (२) जैनसिद्धान्तप्रवेशिका और (३) सुशीला उपन्यास इन तीन ग्रन्थोंकी रचना भी उन्होंने की है। इनमे प्रथम दो रचनाएँ सैद्धान्तिक हैं और तीसरी कथा कृति। प्रस्तुत निबन्धमें प्रथम ग्रन्थका अनुचिन्तन उपस्थित किया जा रहा है।

प्रास्ताविक

जैनसिद्धान्तदर्पणमें सिद्धान्त और न्यायके महत्त्वपूर्ण विषयोंका प्रतिपादन किया गया है। यह गुरुजीकी सर्वप्रथम कृति है, पर भाषा और प्रतिपादन शैलीमे इतनी प्रौढता समाविष्ट है, जिससे इसे प्रथम रचना स्वीकार करनेमे विप्रतिपत्ति प्रतीत होती है। इस ग्रन्थको गुरुजीने 'जैनमित्र' मे क्रमश प्रकाशित करना आरम्भ किया था। पश्चात् जैनमित्र कार्यालयमे अपने पाठकोंको उपहार स्वरूप वितरित करनेके लिये 'जैनसिद्धान्तदर्पण-पूर्वार्ध' के नामसे इसे प्रकाशित किया। कुछ वर्षोंके पश्चात् मुनि श्री अनन्तकीर्ति दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बईकी ओरसे वीर निर्वाण सवत् २४५४, जनवरी सन् १९२८ ई० में इसका संशोधित और परिवर्धित सस्करण प्रकाशित हुआ, जो अनुचिन्तनके हेतु हमारे समक्ष है। इस संस्करणमे गुरुजीकी लिखी हुई प्रस्तावना भी है। उसमे बताया है—

'यद्यपि जैनसिद्धान्तका रहस्य प्रकट करनेवाले बड़े-बडे श्री कुन्दकुन्दाचार्य समान महानाचार्योंके बनाये हुए अब भी अनेक ग्रन्थ मौजूद हैं, पर उनका असली ज्ञान प्राप्त करना असम्भव नही, तो दुस्साध्य अवश्य है। इसलिए जिस तरह मुचतुर लोग जहाँ पर कि सूर्यका प्रकाश नही पहुँच सकता, वहाँपर भी बडे-बडे चमकीले दर्पण आदि पदार्थोंके द्वारा रोशनी पहुँचा कर अपना काम चलाते हैं, उसी तरह जटिल जैन सिद्धान्तोंके पूर्ण प्रकाशको किसी तरह इन जीवोंके हृदय-मंदिरमे पहुँचानेके लिए जैनसिद्धान्तदर्पणकी आवश्यकता है। शायद आपने ऐसे पहलदार दर्पण (शैरवानि) भी देखे होंगे, जिनके द्वारा उलट फेरकर देखनेसे भिन्न-भिन्न पदार्थोंका प्रतिभास होता है। उसी तरह इस 'जैनसिद्धान्तदर्पण'के भिन्न-भिन्न अधिकारों द्वारा सिद्धान्त विषयक भिन्न-भिन्न पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त किया जा सकेगा।'

गुरुजीके पूर्वोक्त कथनसे तत्त्वज्ञानकी जानकारीके लिए उक्त ग्रन्थकी उपयोगिता स्पष्ट है। जिसे संस्कृत प्राकृत, अपभ्रंश आदि प्राचीन भारतीय भाषाओंका सम्यक् ज्ञान नहीं है, ऐसा हिन्दी भाषाका ज्ञाता पाठक भी बड़े-बड़े सैद्धान्तिक विषयोंका ज्ञान इस ग्रन्थके अध्ययनसे प्राप्त कर सकता है। जैनसिद्धान्तोंकी जानकारी इस ग्रन्थसे सहजमें प्राप्त की जा सकती है।

प्रस्तुत संस्करणमे विषय-सूचीके पूर्व गुरुजीका निवेदन मुद्रित है, जिसमे इस कृतिके प्रणयनका संक्षिप्त इतिहास अंकित किया गया है। गुरुजीने अपने उक्त वक्तव्यमे बताया है कि जैनमित्रकार्यालयसे ग्रन्थ संशोधन-परिवर्धनके हेतु पत्र मिला, जिसमें लिखा था—

'जैनसिद्धान्तदर्पणके द्वितीय संस्करणकी (दूसरे बार छपनेकी) अत्यन्त आवश्यकता है, इसलिए आप इसमें हीनाधिक करके और जिन बातोंकी इसमें त्रुटि रह गई, उनको पूर्ण करके इसको शीघ्र ही भेज दीजिएगा।' इसलिए अब इसमें आकाशद्रव्यके निरूपणमें सृष्टिकर्तृत्वमीमांसा और भूगोलमीमांसा की गई है और कालद्रव्यका विशेषरूपसे वर्णन किया गया है। तथा और भी जहाँ कहीं हीनाधिकता करनी थी, कर दी गई है। अब भी जो कुछ इसमें त्रुटि रह गई हो, उसके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ। इस संस्करणमें मुझको मेरे शिष्य महरौनी (झाँसी) निवासी पण्डित बंशीधरने बहुत सहायता दी है जिसका मुझे अत्यन्त हर्ष है।'

गुरुजीके उक्त वक्तव्यसे स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ गुरुजीकी आद्य रचना है और इसे सर्वाङ्गपूर्ण बनानेके लिए उन्होंने पर्याप्त श्रम किया है।

प्रतिपाद्य विषयका समीक्षात्मक परिचय

प्रस्तुत ग्रन्थ आठ अधिकारोंमें विभक्त है। प्रत्येक अधिकारका नामकरण निरूपित विषयके आधारपर किया गया है। लेखकने जिस अधिकारमें जिस विषयका प्रतिपादन किया है, उस विषयके अध्ययनसे तद्विषयक जिज्ञासा शान्त हो जाती है। अधिकारोंके नाम निम्नलिखित है :—

(१) लक्षण-प्रमाण-नय-निक्षेपनिरूपण, (२) द्रव्यसामान्यनिरूपण, (३) अजीवद्रव्यनिरूपण, (४) पुद्गल-द्रव्यनिरूपण, (५) धर्म और अधर्मद्रव्यनिरूपण, (६) आकाशद्रव्यनिरूपण, (७) कालद्रव्यनिरूपण और (८) सृष्टिकर्तृत्वमीमांसा।

प्रथम अधिकारमें लक्षण, प्रमाण, नय और निक्षेपकी विस्तारपूर्वक (पृ० १—३८ तक) मीमांसाकी गयी है। पदार्थोंके विशेष स्वरूपका विचार उक्त चारों विषयोंको ठीक तरहसे जाने बिना सम्भव नहीं है। अतः गुरुजीने सर्वप्रथम आधारभूत सिद्धान्तोंका विवेचन किया है। धवलाटीकाके निम्न पद्यसे भी उक्त कथनकी सिद्धि होती है—

प्रमाण-नय-निक्षेपैर्योऽर्थो नाभिसमीक्ष्यते।
युक्तं चायुक्तवद्भाति तस्यायुक्तं च युक्तवत्॥ —धवला० पु० १ पृ० १६

जिस पदार्थका प्रमाण, नय और निक्षेपके द्वारा ठीक तरहसे विचार नहीं किया जाता, वह कभी युक्त—तर्कसंगत होते हुए भी अयुक्त-सा प्रतीत होता है और कभी अयुक्त होते हुए भी युक्त-सा प्रतीत होता है।

स्पष्ट है कि किसी भी पदार्थकी समीक्षा (मीमांसा) करते समय वह किस निक्षेपका विषय है, यह जानकर ही प्रमाण और नयदृष्टिसे उसका निर्णय करना चाहिए। पदार्थका विवेचन करते समय उसके लक्षण-की अनुवृत्ति तो हो ही जाती है, अतएव किसी भी पदार्थके निर्णयमें उक्त चारों उपयोगी हैं। इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर गुरुजीने अपने इस प्रथम अधिकारमें लक्षणादि चारों विषयोंका निरूपण किया है। प्रतिपादनकी यह शास्त्रीय शैली पाठक और विचारक दोनोंके लिए ही हृदयको आह्लादित करनेवाली है।

यहाँ प्रकरण संगत होनेसे यह निर्देश कर देना उपयुक्त प्रतीत होता है कि मूल आगम परम्परामें किसी भी विषयकी प्ररूपणाके पूर्व आरम्भमें उस विषयका वाचक शब्द कितने अर्थोंमें पाया जाता है, निक्षेपविधिसे प्ररूपण करनेपर कौन निक्षेपार्थ किस नयका विषय है, यह दिखलाकर प्रकृत निक्षेपार्थकी प्ररूपणाकी जाती रही है।[1] इससे अध्येता उस ग्रन्थ या प्रकरणके अध्ययनके पूर्व निम्न तथ्योंको स्पष्ट रूपसे जान लेता है।

१. धवलाटीका पु० १३ पृ० ३–४, पु० ३८ तथा पृ० १९८।

१. प्रकृत प्ररूपणा किस निक्षेपार्थका अवलम्बन लेकर की जा रही है।

२. वह निक्षेपार्थ किस नयका विषय है।

अध्येता नय-निक्षेपकी उक्त प्रक्रियाका अवलम्बन ग्रहण कर अप्रकृत अर्थका निराकरण और प्रकृत अर्थका ग्रहण कर सके, यही उक्त कथनका उद्देश्य है। प्राचीन ग्रन्थोंमें इस परम्पराका निर्वाह अक्षुण्ण रूपसे पाया जाता[1] है, किन्तु उत्तरकालीन ग्रन्थोंमें इसका निर्वाह क्वचित्-कदाचित् ही हुआ है। पर गुरुजीने अपने इस ग्रन्थमें लक्षण, प्रमाण, नय और निक्षेपार्थका ज्ञान कराना आवश्यक समझकर सर्वप्रथम इन विषयोंका स्वरूप विवेचन किया है। अतएव प्रत्येक विचारक समीक्षकको अधिकार नियोजनके क्रममें औचित्य स्वीकार करना पड़ेगा। गुरुजी सिद्धान्त विषयके मर्मज्ञ विद्वान् थे, अतः विषयनियोजनमें उन्होंने शास्त्रीय क्रमका पालन किया है। सिद्धान्तोंकी प्रतिष्ठापना सरल और सहजरूपमें की गयी है। सामान्यस्तरके पाठक भी गूढ़ विषयोंको हृदयंगम कर सकते हैं।

किसी भी वस्तुका ज्ञान दो प्रकारसे किया जाता है—एक तो उसके ज्ञान करानेमें प्रयोजक स्वरूपकी जानकारी द्वारा और दूसरे उसके अविनाभावी परिकर द्वारा। इनमेंसे प्रथमकी आत्मभूत लक्षणसंज्ञा है और दूसरेकी अनात्मभूत। विवक्षित वस्तुका वर्तमानमें ज्ञान करते समय ये दोनों ही लक्षण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव इन तीनों दोषोंसे रहित होने चाहिए; तभी उन द्वारा विवक्षित वस्तुका ठीक तरहसे ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। प्रस्तुत ग्रन्थके प्रारम्भमें (१–४ पृ० तक) गुरुजीने उक्त तथ्यका स्पष्ट निरूपण किया है।

२ ज्ञानके दो भेद हैं—सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान। ये दोनों ही ज्ञान प्रमाण और नयके भेदसे दो-दो प्रकारके हैं। आचार्य पूज्यपादने सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञानमें क्या अन्तर है इसका ठीक तरहसे ज्ञान करानेके अभिप्रायसे तीन प्रकारके विपर्यासोंका निर्देश किया है—कारणविपर्यास, भेदाभेदविपर्यास और स्वरूपविपर्यास।[2] जो ज्ञान इन तीन प्रकारके विपर्यासोंको लिये हुए है उसकी मिथ्याज्ञानसंज्ञा है और इससे भिन्न दूसरे प्रकारके ज्ञानकी सम्यग्ज्ञान संज्ञा है यह उक्त कथनका तात्पर्य है। इस दृष्टिसे सम्यग्ज्ञानके पाँच भेद हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान। तथा मिथ्याज्ञानके तीन भेद हैं—कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और विभंगज्ञान। इन्हीं दोनों प्रकारके ज्ञानोंको क्रमसे प्रमाणज्ञान और प्रमाणाभास कहते हैं। 'श्रुतविकल्पो नयः' इस वचनके अनुसार नयज्ञानका अन्तर्भाव श्रुतज्ञानमें ही होता है। तदनुसार श्रुतज्ञानके सम्यक् और मिथ्या ये दो भेद होनेसे नयज्ञान भी दो भागोंमें विभक्त हो जाता है। उनमेंसे प्रथमकी नय संज्ञा है और दूसरेको नयाभास कहते है।

प्रमाणज्ञान और नयज्ञानको थोड़ेमें इन शब्दों द्वारा समझा जा सकता है—अंश, अंशीका भेद किये बिना समग्ररूपसे वस्तुका ज्ञान करानेवाले सम्यग्ज्ञानको प्रमाणज्ञान कहते हैं और अंश द्वारा वस्तुका ज्ञान करानेवाला सम्यग्ज्ञान नयज्ञान कहलाता है। आगम परम्परामें इन ज्ञानोंका इसी रूपमें निरूपण हुआ है। प्रत्येक वस्तु अनेकान्तस्वरूप है, इसलिए तत्स्वरूप वस्तुको समग्र भावसे ग्रहण करनेवाला ज्ञान प्रमाणज्ञान है और विवक्षित एक धर्मको मुख्यतासे वस्तुको ग्रहण करनेवाला सम्यग्ज्ञान नयज्ञान है यह समग्र कथनका निचोड़ है।

गुरुजीने प्रस्तुत ग्रन्थ (४ से २९ पृ० तक) में प्रमाणकी मीमांसा करते हुए अर्थ, आलोक, सन्निकर्ष और इन्द्रियवृत्ति ये प्रमाण न होकर सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है इसका सम्यक् प्रकारसे मीमांसा करनेके बाद प्रमाणमें प्रमाणता अभ्यस्त दशामें स्वतः और अनभ्यस्त दशामें परतः आती है इस तथ्यकी स्थापना की है। आगे प्रमाणज्ञान कितने प्रकारका है इस तथ्यका स्पष्टीकरण करते हुए उसके प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो भेद

१. धवलाटीका पु० १३ पृ० ३–४, पृ० ३८ तथा पृ० १९८। २. सर्वार्थसिद्धि अ० १ सू० ३२।

करके प्रत्यक्षके दो भेद किये हैं—सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और पारमार्थिक प्रत्यक्ष। इनमेंसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्षमें मतिज्ञान और उसके अवान्तर भेदोंको लिया है। तथा पारमार्थिक प्रत्यक्षके विकल और सकल ये दो भेद करके विकल प्रत्यक्षमें अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानको तथा सकलप्रत्यक्षमें केवलज्ञानको लिया है। परोक्षज्ञानका निरूपण करते हुए उसके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये पाँच भेद किये हैं। प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रमेयरत्नमाल आदि न्याय-दर्शनशास्त्रके ग्रन्थोंमें इन ज्ञानोंकी जिस ढंगसे प्ररूपणा की गई है उसी सरणिको अपनाकर गुरुजीने इन ज्ञानोंका निरूपण किया है। यही कारण है कि उनके इस निरूपणमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इन दो ज्ञानोंका इस प्रसंगसे कहीं पर नामोल्लेख भी दृष्टिगोचर नहीं होता। स्पष्ट है कि उन्होंने मतिज्ञानको सांव्यवहारिक प्रत्यक्षरूपसे और श्रुतज्ञानको परोक्षज्ञानरूपसे स्वीकारकर इन ज्ञानोंकी प्रमाणज्ञानरूपसे प्ररूपणा की है। गुरुजी किसी भी प्रमेयका अव्यभिचारी लक्षण निर्दिष्ट करनेमें बड़े पटु रहे हैं यह इस प्रकरणपर दृष्टि डालनेसे स्पष्ट ज्ञात हो जाता है।

३. नयज्ञानका निरूपण (२२ से ३५ पृ० तक) करते हुए सर्वप्रथम गुरुजीने अनेकान्तस्वरूप वस्तुकी स्थापना करके और साथ ही ज्ञानकी स्वार्थ और परार्थ इन दो भेदोंमें स्थापना करके वाक्योंको सकलादेश और विकलादेश इन दो भागोंमें विभक्त किया है और अन्तमें बतलाया है कि विकलादेश वाक्यकी ही नयवाक्य संज्ञा है तथा इसमें जो ज्ञान होता है उसे ही भावनय कहते हैं। नयके निरूपणमें गुरुजीने श्रीदेवसेनके नयचक्रको मुख्य आलम्बन बनाया है। आगम प्रमाणोंको उद्धृत करते हुए आचार्य पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि और स्वामी कार्तिकेयकी द्वादशानुप्रेक्षाके उद्धरण भी यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होते हैं। नयज्ञान क्या है इसकी सामान्य मीमांसा करनेके बाद उसके उत्तर भेदोंका निरूपण करते हुए गुरुजीने जो वाक्य अंकित किये हैं वे हृदयंगम करने योग्य हैं। वे लिखते हैं—

'नयके मूल भेद दो हैं—एक निश्चयनय और दूसरा व्यवहारनय। इस ही व्यवहारनयका दूसरा नाम उपनय है। 'निश्चयमिह भूतार्थंव्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्' इस वचनसे निश्चयका लक्षण भूतार्थ और व्यवहारका लक्षण अभूतार्थ है। अर्थात् जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा ही कहना यह निश्चयनयका विषय है। और एक पदार्थको परके निमित्तसे व्यवहारसाधनार्थ अन्यरूप कहना व्यवहारनयका विषय है।'

यहाँपर गुरुजीने व्यवहारकी जो परिभाषा दी है वह मुख्यतया असद्भूत व्यवहार या उपचरित व्यवहार पर ही घटित होती है, सद्भूत व्यवहारकी परिभाषा इससे भिन्न प्रकारकी है। यहाँ व्यवहारका प्रयोग उपचारके अर्थमें हुआ है। सद्भूत व्यवहारमें अखण्ड द्रव्यमें गुण-गुणी आदिके भेदसे भेदविवक्षा मुख्य है। इतना अवश्य है कि भेदव्यवहारका भी यदि अन्यके साथ सम्बन्धको दिखलाते हुए कथन किया जाता है तो ऐसी अवस्थामें वह सद्भूतव्यवहार भी उपचरितसद्भूतव्यवहार कहलाने लगता है।

नयचक्रमें असद्भूतव्यवहारनयसे उपचरितनयको पृथक् मानकर उसके तीन भेद किये हैं। गुरुजीने भी इसी पद्धतिको स्वीकार कर इन नयोंका विवेचन किया है। किन्तु आलापपद्धतिमें 'उपचारः पृथग् नयो नास्तीति न पृथक् कृतः।' यह लिखकर उसका निषेध किया है। असद्भूत व्यवहारका नाम ही उपचार है,[1] इस तथ्यपर दृष्टि देनेसे विदित होता है कि वस्तुतः उपचार असद्भूत व्यवहारका ही दूसरा नाम है। इनकी परिभाषाओं और उदाहरणोंको देखनेसे भी यही ज्ञात होता है।

१. आलापपद्धति पृ० १६६ (बनारससे मुद्रित गुटिका)।

नयोंके विवेचनके प्रसंगसे आगे (पृ० ३४-३५ में) गुरुजीने अन्य आचार्यके उपदेशानुसार सक्षेपमें इन नयोंका पुनः स्वरूपनिर्देश किया है। किन्तु इस विवेचनमें कोई नई बात नहीं कही गई। इसपर अपना अभिप्राय व्यक्त करते हुए गुरुजीने (पृ० ३५ में) स्वयं लिखा है—

'यद्यपि ये छह भेद किसी आचार्यने अध्यात्मसम्बन्धसे संक्षेपमें कहे हैं, परन्तु ये छह भेद प्रथम कहे हुए ३६ भेदोंमेंसे किसी न किसी भेदमें गर्भित हो जाते हैं।' आदि, (पृ० ३५)

४. निक्षेपका निरूपण करते हुए गुरुजीने सर्वप्रथम 'जुत्तीसु जुत्तमग्गे' यह प्राचीन गाथा उद्धृत कर निक्षेप किसे कहते हैं इसका स्पष्टीकरण किया है। निक्षेपके अनेक भेद हैं। उनमें नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ये चार भेद मुख्य हैं। इनका सर्वार्थसिद्धि और गोम्मटसार कर्मकाण्डमें विस्तृत विवेचन किया है। गुरुजीने उन्हीं ग्रन्थोंके आधारसे यह प्रकरण लिखा है।

एक-एक शब्द अनेक अर्थोंमें पाया जाता है उनमेंसे अप्रकृत अर्थका निराकरण कर प्रकृत अर्थका ज्ञान करानेके लिए निक्षेपविधि की जाती है। जैन परम्परामें एक मात्र इसी अभिप्रायसे इसे मुख्यता मिली हुई है यह इस प्रकरणसे स्पष्ट ज्ञात हो जाता है।

: २ :

दूसरे अधिकारका नाम है—द्रव्यसामान्यनिरूपण (पृ० ३९ से ११८)। यह अधिकार पञ्चाध्यायी, पञ्चास्तिकाय, तत्त्वार्थवार्तिक और अष्टसहस्री आदि अनेक आगम ग्रन्थोंके परिशीलनका सुपरिणाम है। सर्वप्रथम इस अधिकारमें आगमकी प्राचीन दो गाथाएँ उद्धृत कर द्रव्यके तीन लक्षण निर्दिष्ट किये गये हैं। यथा—

१. जो स्वभाव अथवा विभाव पर्यायरूप परिणमे है, परिणमेगा और परिणम्या सो आकाश, जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल भेदरूप द्रव्य है।

२. जो तीन कालमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यस्वरूप सत्करि सहित होवे उसे द्रव्य कहते हैं।

३. तथा जो गुण-पर्यायसहित अनादिसिद्ध होवे उसे द्रव्य कहते हैं।

ये द्रव्यके तीन लक्षण हैं। इस अधिकारका मुख्य विवेच्य विषय इन्हींका स्पष्टीकरणमात्र है।

यहाँ प्रथम लक्षणके अनुसार द्रव्यकी प्रसिद्धि करते हुए गुरुजीने पर्यायको लक्ष्यमें रखकर लिखा है—

(क) 'द्रव्यमें अंशकल्पनाको पर्याय कहते हैं। उस अंशकल्पनाके दो भेद कहे हैं—एक देशांश कल्पना, दूसरी गुणांशकल्पना (पृ० ३९)।'

आगे देशांशकल्पनाको द्रव्यपर्याय और गुणांशकल्पनाको गुणपर्याय बतलाकर गुणपर्यायके दो भेद किये हैं—अर्थगुणपर्याय और व्यञ्जनगुणपर्याय। साथ ही इन दोनोंका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

१. 'ज्ञानादिक भाववती शक्तिके विकारको अर्थगुणपर्याय कहते हैं। २. प्रदेशवत्त्व गुणरूप क्रियावतीशक्तिके विकारको व्यञ्जनगुणपर्याय कहते हैं। इस ही व्यञ्जन गुणपर्यायको द्रव्यपर्याय भी कहते हैं, क्योंकि व्यञ्जनगुणपर्याय द्रव्यके आकारको कहते हैं। सो यद्यपि यह आकार प्रदेशवत्त्व शक्तिका विकार है, इसलिए इसका मुख्यतासे प्रदेशवत्त्वगुणसे सबन्ध होनेके कारण इसे व्यञ्जनगुण पर्याय ही कहना उचित है, तथापि गौणतासे इसका देशके साथ भी सम्बन्ध है, इसलिए देशांशको द्रव्यपर्यायकी उक्तिकी तरह इसको भी द्रव्यपर्याय कह सकते हैं (पृ० ४०)।'

आगे इन दोनों प्रकारकी पर्यायोंमेंसे प्रत्येकके स्वभाव और विभाव ये दो भेद करके लिखा है—

'जो निमित्तान्तरके बिना होवे उसे स्वभाव कहते हैं और जो दूसरेके निमित्तसे होय उसे विभाव कहते है (पृ० ४०)।'

(ख) आगे दूसरे लक्षणके अनुसार द्रव्यकी प्रसिद्धि करते हुए सत्, सत्ता और अस्तित्व इन तीनोंको एकार्थ बतलाकर पञ्चाध्यायीकी 'तत्त्व सल्लाक्षणिकं' इत्यादि कारिका तथा पञ्चास्तिकायकी 'सत्ता सव्व-पयत्था' इत्यादि गाथाका अवलम्बन लेकर सत्ताका विस्तारसे विचार किया है (४१ से ४६)।

इसी प्रसंगसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य किसके होते हैं इसका स्पष्टीकरण करते हुए बतलाया है कि—'उत्पाद, व्यय ध्रौव्य ये तीनों द्रव्यके नहीं होते किन्तु पर्यायोंके होते हैं। परन्तु पर्याय द्रव्यका ही स्वरूप है, इस कारण द्रव्यको भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप कहा है (४६)।'

आगे (पृ० ५६) पर्यायके विशेष स्पष्टीकरणके प्रसंगसे गुणांशका नाम ही अविभागप्रतिच्छेद है यह बतलाकर उसका विशेष स्पष्टीकरण करते हुए एक महत्त्वपूर्ण सूचना की है—

'किसी गुणकी जघन्य अवस्था और उसका जघन्य अन्तर समान होते हैं, उस गुणकी जघन्य अवस्था तथा जघन्य अन्तर इन दोनोंको अविभागप्रतिच्छेद कहते हैं। परन्तु किसी गुणमें उस गुणका जघन्य अन्तर उस गुणकी जघन्य अवस्थाके अनन्तवें भाग होता है। उस गुणमें उस जघन्य अन्तरको ही अविभागप्रतिच्छेद कहते है। ऐसी अवस्थामें उस गुणकी जघन्य अवस्थामें अनन्त अविभागप्रतिच्छेद कहे जाते है (पृ० ५७)।'

(ग) द्रव्यके तीसरे लक्षणमें उसे गुण-पर्यायवाला प्रसिद्ध कर गुणोंको सामान्य और विशेषके भेदसे दो प्रकारका बतलाया गया है। सामान्य गुणोंमें छह गुण मुख्य हैं—अस्तित्व, द्रव्यत्व, वस्तुत्व, अगुरुलघुत्व, प्रमेयत्व और प्रदेशवत्त्व (५७)।

आलापपद्धतिमें इन छह सामान्य गुणोंके सिवाय चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व और अमूर्तत्व ये चार सामान्य गुण और परिगृहीत किये हैं। इनमेंसे प्रत्येक द्रव्यमें आठ-आठ सामान्य गुण होते हैं। स्पष्टीकरण सुगम है। वहाँ विशेष गुणोंकी कुल संख्या १६ दी है उनमें चेतनत्व आदि उक्त चार गुण विशेष गुणोंमें भी परिगणित किये गये है।

यहाँ यद्यपि द्रव्यके उक्त प्रकारसे तीन लक्षण कहे गये है, परन्तु उनमें एकवाक्यता किस प्रकार है इसे स्पष्ट करते हुए गुरुजी लिखते है—

'यद्यपि इन तीनों लक्षणोंमें परस्पर विरोध नहीं है और परस्पर एक-दूसरेके अभिव्यञ्जक है, तथापि ये तीनों लक्षण द्रव्यकी भिन्न-भिन्न शक्तियोंकी अपेक्षासे कहे है। अर्थात् पहले द्रव्यके छह सामान्य गुण कह आये हैं। उनमें एक द्रव्यत्व, दूसरा सत्त्व ओर तीसरा अगुरुलघुत्व है। सो पहला लक्षण द्रव्यत्व गुणकी मुख्यतासे, दूसरा लक्षण सत्त्व गुणकी मुख्यतासे और तीसरा लक्षण अगुरुलघुत्वगुणकी मुख्यतासे कहा है (६२)।'

आगे गुणकी विशेष मीमांसा करते हुए लक्षणभेदसे प्रत्येक गुण द्रव्यके जितने क्षेत्रको व्याप कर रहता है उतने ही क्षेत्रमें समस्त गुण रहते हैं यह स्पष्ट किया गया है। गुण नित्य हैं या अनित्य इसकी मीमांसा करते हुए बतलाया है कि—'जब गुणों। भिन्न द्रव्य अथवा पर्याय कोई पदार्थ नहीं है, किन्तु गुणोंके समूहको ही द्रव्य कहते है तो जैसे द्रव्य नित्यानित्यात्मक है उसी प्रकार गुण भी नित्यानित्यात्मक स्वयं सिद्ध है। वे गुण यद्यपि नित्य है तथापि बिना यत्नके प्रतिसमय परिणमते हैं और वह परिणाम उन गुणोंकी ही अवस्था है, उन परिणामों (पर्यायों) की गुणोंसे भिन्न सत्ता नहीं है (६३)।'

गुणोंके समुदायको द्रव्य कहते हैं, द्रव्यके इस लक्षणके अनुसार जितनी भी पर्यायें होती हैं उन्हें गुणपर्याय कहना ही उचित है। उनके द्रव्यपर्याय और गुणपर्याय ऐसे भेद करना उचित नहीं है? यह एक शंका है। इसका

परिहार करते हुए वहाँ बतलाया है कि 'उन अनन्त शक्तियों (गुणोंमें) दूसरे दो भेद हैं अर्थात् १. क्रियावती शक्ति, २. भाववती शक्ति। प्रदेश अथवा देशपरिस्पन्द (चंचलता)को क्रिया कहते हैं और शक्तिविशेषको भाव कहते हैं। भावार्थ—अनन्त गुणोंमेंसे प्रदेशवत्त्व गुणको क्रियावती शक्ति कहते है और बाकीके गुणोंको भाववती शक्ति कहते हैं। इस प्रदेशवत्त्व गुणके परिणमन (पर्याय)को द्रव्यपर्याय कहते है। इसीका दूसरा नाम व्यञ्जनपर्याय है। शेष गुणोंके परिणमन (पर्याय)को गुणपर्याय कहते हैं। इसहीका दूसरा नाम अर्थपर्याय है (५५)।'

आगे गुणोंको सहभावी या अन्वयी क्यों कहा गया है तथा पर्यायोंको क्रमभावी या व्यतिरेकी क्यों कहा गया है इसका ऊहापोह किया गया है। साथ ही व्यतिरेकको द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके भेदसे चार प्रकार बतलाकर यह सिद्ध किया है कि जैसे पर्यायोंमें परस्पर व्यतिरेकीपना घटित होता है उस प्रकार गुणोंमें वह व्यतिरेकीपना घटित नही होता (६६ से ६८ पृ०)।

आगे पर्यायके स्वरूपपर और भी स्पष्ट प्रकाश डालते हुए व्यतिरेकीपन और क्रमवर्तित्व ये दोनों ही पर्यायके लक्षण होते हुए भी इनमें क्या अन्तर है यह स्पष्ट करते हुए बतलाया है—'स्थूल पर्यायमें जो आकार प्रथम समयमें है उस ही के सदृश आकार दूसरे समयमें है। इन दोनों आकारोमें पहला है सो दूसरा नहीं है और दूसरा है सो पहला नही है। इस हीको व्यतिरेकीपन कहते है। और एकके पीछे दूसरा होना इसको क्रम कहते हैं। यह वह है अथवा अन्य है इसकी यहाँ विवक्षा नही है। 'एकके पीछे दूसरा होना' इस लक्षणरूप क्रम 'यह वह नही है।' इस लक्षणरूप व्यतिरेकका कारण है। इसलिए क्रम और व्यतिरेकमें कार्य-कारण भेद है (६९)।'

आगे सामान्यरूपसे द्रव्य, गुण, पर्यायका विवेचन करनेके बाद प्रसंगसे जैन सिद्धान्तके आधारभूत अनेकान्तका विवेचन किया गया है। प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मस्वरूप है, इसलिए अनेकान्त यह प्रत्येक वस्तुका पर्याय नाम ही है। इसका विग्रह करनेपर भी यही तात्पर्य निष्पन्न होता है। यथा—अनेके अन्ता धर्मा यस्मिन् भावे सोऽयमनेकान्तः—अर्थात् जिस पदार्थमें अनेक धर्म होते है उसे अनेकान्त कहते है। यह अनेकान्त पदका सामान्य निरूपण है। इसे विशेषरूपसे और स्पष्ट समझनेके लिए इसका तात्पर्य है कि प्रत्येक वस्तु सत्-असत्, नित्य-अनित्य, एक-अनेक तथा तत्-अतत् इत्यादि रूपसे परस्पर विरुद्ध सरीखे 'दिखनेवाले' अनेक अर्थात् दो-दो धर्मयुगलोका अधिकरण है, इसलिए वह अनेकान्त स्वरूप है। जैसे एक ही व्यक्ति पिता भी होता है और पुत्र भी, उसी प्रकार प्रकृतमे जानना चाहिये। ये धर्म प्रत्येक वस्तुका स्वरूप है, इसलिए परनिरपेक्ष ही हैं। इनके प्रत्येक वस्तुमें युगपत् रहनेमें कोई विरोध भी नही है, क्योंकि अपेक्षाभेदसे प्रत्येक वस्तुमे इनका अस्तित्व सिद्ध होता है। यहाँ गुरुजीने प्रत्येक वस्तुको अनेकान्तात्मक बतलानेके बाद लिखा है—'क्योंकि वे धर्म अपेक्षा रहित नहो हैं, किन्तु अपेक्षा सहित हैं और वे अपेक्षा भी भिन्न-भिन्न है।' सो उनके ऐसा लिखने-का यही तात्पर्य है कि बुद्धि द्वारा विचार करनेपर अपेक्षा भेदसे प्रत्येक वस्तुमें उन सत्-असत् आदि धर्म-युगलोकी सम्यक प्रकार सिद्धि होती है, इसलिए प्रत्येक वस्तुको तत्स्वरूप माननेमें कोई बाधा नही आती।

गुरुजीने यहाँ (पृ० ७२ से ११८ तक) अनेकान्तका तत्त्वार्थवार्तिक और अष्टसहस्री आदि ग्रन्थोके आधारसे बड़ा ही मार्मिक स्पष्टीकरण किया है। उनका कहना है कि एक शब्द एक समयमे वस्तुके अनेक धर्मोंका प्रतिपादन नही कर सकता और शब्दकी प्रवृत्ति वक्ताकी इच्छापूर्वक होती है, इसलिए वक्ता एक समयमें वस्तुके अनेक धर्मोंमेंसे किसी एक धर्मकी मुख्यतासे वचनका प्रयोग करता है। ऐसे समयमें कथनमे विवक्षित धर्मकी मुख्यता रहती है और शेष धर्मोंकी गौणता, अतः इन गौण धर्मोंका द्योतक स्यात् (कथंचित्) शब्द समस्त वाक्योंके साथ गुप्तरूपसे रहता ही है। आगे शास्त्रप्रसिद्ध छह जन्मान्धोंका दृष्टान्त देकर वस्तुके

अनेकान्त स्वरूपको स्पष्ट करनेके बाद तत्त्वार्थवार्तिक अ० ४ सू० ४२ में दिये गये ग्यारह हेतुओं द्वारा प्रत्येक वस्तुको अनेकान्तात्मक सिद्ध किया गया है (पृ० ७५ से ८० तक)।

तदनन्तर (पृ० ८०) प्रतिपादनके १ 'क्रमसे और २ युगपत्' ये दो प्रकार बतला कर लिखा है कि जिस समय कालादिसे अस्तित्वादिक धर्मोकी भेद विवक्षा हैं उस समय एक शब्द अनेक धर्मोंका प्रतिपादन करनेमें असमर्थ होनेसे वस्तुका निरूपण क्रमसे किया जाता है और जिस समय उन ही धर्मोंका कालादिसे अभेदवृत्तिसे निजस्वरूप कहा जाता है उस समय एक ही शब्द द्वारा एक धर्म प्रतिपादन मुखसे समस्त अनेक धर्मोंकी प्रतिपादकता सम्भव है, इसलिए वस्तुका निरूपण युगपत् रूपसे कहा जाता हैं। यहाँ युगपत् निरूपणका नाम ही सकलादेश है, उस हीको प्रमाण वचन कहते हैं और क्रमसे निरूपणका नाम ही विकलादेश है, उस हीको नय वचन कहते हैं—'सकलादेशो प्रमाणाधीनः, विकलादेशो नयाधीनः' ऐसा आगमका वचन भी है। यहाँ इतना विशेषरूपसे जानना चाहिए कि सकलादेशरूप प्रमाण वचनकी प्रवृत्ति अभेदवृत्ति और अभेदोपचार इस तरह दो प्रकारसे होती है। द्रव्यार्थिकनयसे समस्त धर्म अभिन्न है, इसलिए अभेदवृत्तिको स्वीकार कर प्रमाण वचनका प्रयोग होता है और पर्यायार्थिकनयसे समस्त धर्म परस्पर भिन्न भी हैं, इसलिए विवक्षित धर्ममे शेष धर्मोका अध्यारोप करके प्रमाण वचनका प्रयोग किया जाता है (पृ० ८१)।

इतना स्पष्ट करनेके बाद इन दोनों प्रकारके वचनोंमेंसे प्रत्येकको सात-सात प्रकारका बतलाकर उनकी क्रमश. प्रमाणसप्तभंगी और नयसप्तभंगी ये संज्ञाएँ सूचितकर प्रमाणसप्तभंगीके प्रत्येक भंगको विस्तारके साथ स्पष्ट किया गया है (पृ० ८२ से १०८ तक)।

विकलादेशकी अपेक्षा कथन करते समय निरंश वस्तुमे गुणभेदसे अंशकल्पनाकी मुख्यता रहती है। सकलादेश और विकलादेशमें अन्तर यह है कि सकलादेशमें शब्द द्वारा उच्चरित धर्म द्वारा शेष समस्त धर्मोंका संग्रह है और विकलादेशमे शब्द द्वारा उच्चरित धर्मका ही ग्रहण है। शेष धर्मोंका न विधि है और न निषेध है। इतना अवश्य है कि एकान्तका परिहार करनेके लिए प्रत्येक वाक्यमें 'स्यात्' पद द्वारा उनका द्योतन अवश्य कर दिया जाता है। साथ ही प्रत्येक वाक्यमे अवधारणके लिए 'एवकार'का प्रयोग भी अवश्य किया जाता है।

प्रमाण वचन और नय वचन सात-सात ही क्यों होते हैं इसका स्पष्टीकरण करते हुए वहाँ बतलाया है कि 'वस्तु किसी धर्मकी अपेक्षा कथंचित् अस्तित्वरूप है, उसके प्रतियोगी धर्मकी अपेक्षासे नास्तित्वरूप है और दोनोकी युगपत् विवक्षासे अवक्तव्यस्वरूप है। इस प्रकार वस्तुमें किसी एक धर्म और उसके प्रतियोगीकी अपेक्षासे अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य ये तीन धर्म होते है। इन तीन धर्मोंके संयुक्त और असंयुक्त सात ही भंग होते हैं, न हीन होते हैं और न अधिक होते है (११०)।'

आगे अनेकान्तमें विरोधकी शंकाका परिहार करके भावैकान्त, अभावैकान्त, अद्वैतैकान्त और पृथक्त्वैकान्तका निरसनकर इस अध्यायको समाप्त किया गया है।

: ३ :

तीसरा अधिकार है—अजीव द्रव्य निरूपण (पृ० ११८ से १३५ तक)। यद्यपि इस अधिकारमें अजीव द्रव्यके निरूपणकी प्रतिज्ञा की गई है, परन्तु अलौकिक गणितको ठीक तरहसे बतलाये बिना द्रव्योंके छोटापन, बड़ापन तथा गुणोंकी मन्दता और तीव्रता आदिका निरूपण नही बन सकता, इसलिए इस अधिकारमे सर्व प्रथम अलौकिक गणितका कथनकर अजीव द्रव्यका निरूपण किया गया है।

इस अधिकारमें लौकिक गणितसे अलौकिक गणितके अन्तरका ज्ञान कराते हुए गुरुजी लिखते हैं कि 'लौकिक गणितसे स्थूल और स्वल्प पदार्थोंका परिमाण किया जाता है, किन्तु अलौकिक गणितसे सूक्ष्म और अनन्त पदार्थोंकी हीनाधिकताका बोध कराया जाता है।'

गुरुजीने मानको दो भागों में विभक्त किया है—एक संख्यामान और दूसरा उपमान। संख्यामानके मूल भेद तीन है—संख्यात, असंख्यात और अनन्त। इनके उत्तर भेद इक्कीस हैं।

एककी परिगणना संख्यातमें नहीं होती, क्योंकि एकमें एकका भाग देने पर या एकको एकसे गुणा करने पर लब्ध एक ही आता है, उसमें वृद्धि-हानि नहीं होती, इसलिए संख्यातका प्रारम्भ दोसे माना गया है। इतना अवश्य है कि गणना एकसे ही प्रारम्भ होती है। त्रिलोकसारका वचन भी है—

एयादीया गणना वीयादीया हवंति संखेज्जा।
तीयादीणं णियभा कदि त्ति सण्णा मुणेयव्वा॥

संख्यातमानके उक्त २१ भेदोंका त्रिलोकसारादि ग्रन्थोंके आधारसे विस्तार पूर्वक निरूपण करनेके बाद उपमामानका निरूपण किया है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने लिखा है—'जो प्रमाण किसी पदार्थकी उपमा देकर कहा जाता है उसे उपमामान कहते हैं। उपमामानके आठ भेद हैं—१. पल्योपम (यहाँ पर पल्य अर्थात् खासकी उपमा है), २. सागरोपम (यहाँ पर लवण समुद्रकी उपमा है), ३. सूच्यंगुल, ४. प्रतरांगुल, ५ घनांगुल, ६. जगच्छ्रेणी, ७. जगत्प्रतर और ८. लोक। इन सबका विस्तृत विवेचन भी गुरुजीने उक्त ग्रन्थोंके आधारसे किया है।

इस प्रकार अलौकिक गणितका निरूपण करनेके बाद अजीव द्रव्यके पाँचों उत्तर भेदोंका निरूपण किया गया है। साथ ही जीवद्रव्यका भी निर्देश कर दिया है। इसमें किस द्रव्यका क्या लक्षण है, कौन मूर्त है और कौन अमूर्त है, आकाशके कितने भेद है, लोकाकाश किसे कहते हैं और वह कहाँ है, सख्यामानसे देखनेपर कौन द्रव्य कितने हैं, पुद्गलके उत्तर भेद कितने और किस प्रकार है, परमाणुका प्रमाण कितना है, अस्तिका और अस्तिकायका क्या तात्पर्य है आदि बातोंका संक्षेपमें स्पष्टीकरण करके यह अधिकार समाप्त किया गया है।

: ४ :

चौथे अधिकारका नाम है—पुद्गलद्रव्यनिरूपण (पृ० १३५ से १५० तक)। इसमें बतलाया है कि यद्यपि पुद्गलमें अनन्तगुण है, पर उनमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चार गुण मुख्य हैं। ये चारों पुद्गलके आत्मभूत लक्षण है। आगे इन इन गुणोके उत्तर भेदोंकी चरचा करके पुद्गलकी शब्द, बन्ध आदि दस व्यंजन पर्यायोंका निरूपण किया गया है। उनमेंसे बन्ध पर्यायका निरूपण करते हुए बतलाया है कि 'बन्धके भी दो भेद हैं—एक स्वाभाविक और दूसरा प्रायोगिक। स्वाभाविक (पुरुष प्रयोग अनपेक्षित) बन्ध दो प्रकार है—एक सादि और दूसरा अनादि। स्निग्ध-रूक्षगुणके निमित्तसे बिजली, मेघ, इद्रधनुष आदिक स्वाभाविक सादि-बन्ध है। अनादि स्वाभाविक बन्ध धर्म, अधर्म और आकाशद्रव्योंमें एक एकके तीन-तीन भेद होनेसे नौ प्रकारका है।'

यहाँ गुरुजीने, जिसे आगममें विस्रसा बन्ध कहा गया है, उसे ही स्वाभाविक बन्ध कहा है। रागपूर्वक जो मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति होती है उसीका नाम पुरुषप्रयोग है।

इस प्रसंगमें इस बातका संकेत करना आवश्यक प्रतीत होता है कि यद्यपि गुरुजीने (पृ० ३३७) भाषा-के भेदोंमें दिव्यध्वनिको सम्मिलित कर अन्तमे लिखा है कि 'इस भाषात्मक शब्दके समस्त ही भेद परके प्रयोग-से उत्पन्न होते हैं, इसलिये प्रायोगिक है। पर इसे सामान्य निर्देश ही समझना चाहिए। विशेषरूपसे विचार करनेपर केवलीके रागका अभाव होनेमें दिव्यध्वनिको प्रायोगिक न कह कर स्वाभाविक कहना और मानना ही उचित है।[1] आगमका भी यही अभिप्राय है।

यह अधिकार तत्वार्थसूत्र और उसकी टीकाओंका आलोडनकर लिखा गया है। पुद्गल और उसके उत्तर भेदके सम्बन्धमे उक्त ग्रन्थोंमे जितना विवेचन पाया जाता है उस सबका इसमें ऊहापोह किया गया है।

: ५ :

पाँचवाँ अधिकार है—धर्म और अधर्म द्रव्यनिरूपण (पृ० १५० से १५९ तक)। इस अधिकारमें प्रकृत-में धर्म और अधर्म पदसे पुण्य-पाप नही लिये गये हैं इसका निर्देश करनेके बाद इन दोनो द्रव्योके स्वरूपका निर्देश किया गया है। प्रश्न यह है कि ये दोनों द्रव्य हैं इसे कैसे स्वीकार किया जाय ? इसीके उत्तर स्वरूप गुरुजीने आगम और अनुमानप्रमाणसे इनकी सिद्धि की है। आगमप्रमाणसे सिद्धि करते हुए उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र अ० ५, सूत्र १ को उपस्थित किया है। अनुमानप्रमाणसे सिद्धि करते समय बतलाया है कि लोकमें जितने भी कार्य होते है वे सब कारणपूर्वक होते हुए ही देखे जाते है। ऐसा एक भी कार्य दृष्टिगोचर नहीं होता जो बाह्य और आभ्यन्तर कारणोके अभावमे हुआ हो। इतना सब स्पष्टीकरण करनेके बाद उन्होंने लिखा है—'गति और गतिपूर्वक स्थिति ये दो कार्य जीव और पुद्गल इन दो ही द्रव्योंमें होते है, अन्यमे नही होते। जीव और पुद्गलके गति और गतिपूर्वक स्थितिरूप कार्य अनेक कारणजन्य हैं। उनमें जीव और पुद्गल तो उपादान कारण हैं और धर्म और अधर्म द्रव्य निमित्तकारण है। बस, जीव और पुद्गलके गति और गतिपूर्वक स्थितिरूप कार्य-से धर्म और अधर्मद्रव्यरूप निमित्तकारणका अनुमान होता है। यद्यपि मछली आदिककी गतिमे जलादिक और अश्वादिककी गतिपूर्वक स्थितिमें पृथ्वी आदिक निमित्तकारण है तथापि पक्षियोंके गमनागनादिक कार्योंमें निमित्तकारणका अभाव होनेसे धर्म और अधर्म द्रव्यका सद्भाव सिद्ध होता है। अथवा जलादि पदार्थ मछली आदिकके गमनमे निमित्तकारण है किन्तु धर्म और अधर्म द्रव्य युगपत् समस्त पदार्थोंकी गति-स्थितिमे साधारण कारण हैं। ये धर्म और अधर्मद्रव्य लोकव्यापी हैं, इसलिये ये साधारण कारण हो सकते हैं। अन्य पदार्थ लोक-व्यापी न होनेसे साधारण कारण नही हो सकते।'

आगे आकाशद्रव्यको जीव और पुद्गलोंकी गति-स्थितिका हेतु माननेमे क्या आपत्ति है इस प्रश्नका समाधान कर लोक और अलोकके विभागके हेतुरूपसे भी धर्म और अधर्म द्रव्यकी सिद्धि की गई। लोक और अलोकका विभाग असिद्ध है ऐसा प्रश्न होनेपर लोककी सान्तता सिद्ध कर लोक और अलोककी स्थापना की गई है।

इस अधिकारका अन्त करते हुए गुरुजीने षट्स्थानपतित वृद्धि-हानिका स्वरूप बतलाकर अन्तमे लिखा है कि किन्तु वृद्धि और हानिके उपयुक्त छह-छह स्थानोंमेंसे किसी एक स्थान रूप वृद्धि या हानि होती है।'

: ६ :

छठे अधिकारका नाम है—आकाशद्रव्यनिरूपण (पृ० १५९ से १९३ तक)। इस अधिकारका निरूपण करते हुए गुरुजीने बतलाया है—आकाश भी एक द्रव्य है, क्योंकि इसमें 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' और

---

१. प्रवचनसार गाथा ४४ और उसकी अमृतचन्द्र आचार्य कृत टीका।

'सत् द्रव्यलक्षम्' द्रव्यका यह लक्षण अविकल पाया जाता है। आकाश द्रव्यका मुख्य गुण अवगाहहेतुत्व है। यह पूरे आकाशमें अखण्डभावसे पाया जाता है। यद्यपि अलोकाकाशमें अन्य द्रव्य नहीं है, मात्र इसलिए उसकी वहाँ इस शक्तिका अभाव नही हो जाता। यह आकाशका स्वभाव है और स्वभावका कभी नाश नहीं होता। 'आकाश' यह शब्द ही आकाशके अस्तित्वका सूचक है। जैसे अन्य द्रव्योंमें स्वनिमित्तक और परप्रत्यय उत्पाद बन जाता है उसी प्रकार आकाशमें भी उत्पादका सद्भाव सिद्ध होता है। वास्तवमें आकाश अखण्ड एक द्रव्य है। फिर भी जितने आकाशमें जीवादि अन्य पाँच द्रव्य पाये जाते हैं उसे लोकाकाश कहते हैं और शेष आकाश-की अलोकाकाश संज्ञा है। आकाशका यह विभाग मात्र परसापेक्ष कथन होनेसे व्यवहारनयसे ही कहा गया है। यहाँ 'लोक' यह शब्द जीवादि द्रव्योंसे युक्त आकाशके लिए आया है। इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—लोक्यन्ते यत्र जीवादयः असौ लोकः—जहाँ जीवादि पाँच द्रव्य देखे जाते है उसे लोक कहते है। ये छहों द्रव्य द्रव्या-र्थिकनयसे कथंचित् नित्य हैं, इसलिए लोक भी कथंचित् नित्य हैं और पर्यायार्थिकनयसे कथंचित् अनित्य हैं, इसलिए लोक भी कथंचित् अनित्य है।

आगे लोककी लम्बाई, चौडाई और ऊँचाई बतलाकर तथा उसके अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक ये तीन भाग करके कहाँ कैसी रचना है और किस गतिके जीव रहते है इसका विस्तारसे विवेचन किया गया है। साथ ही प्रसंग पाकर चारो गतियोंमेंसे किस गतिके जीव मर कर किस-किस गतिमें उत्पन्न होते है यह भी बतलाया गया है। मध्यलोकके वर्णनके प्रसंगसे ३० भोगभूमि और १५ कर्मभूमि बतलाकर उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालका भी वर्णन किया गया है। इस प्रकार इस समग्र विवेचनके साथ यह अधिकार पूर्ण होता है।

: ७ :

सातवें अधिकारका नाम है—कालद्रव्य निरूपण (पृ० १९४ से लेकर पृ० २०८ तक)। 'कालो त्ति य ववएसो सब्भावपरूवओ हवदि णिच्चो।' इस आगमवचनको उद्धृत कर गुरुजीका कहना है कि 'काल' यह स्वतन्त्र शब्द है, अतः इसका वाच्य अवश्य होना चाहिए। इससे कालद्रव्यके अस्तित्वकी सिद्धि होती है। यह वर्तमानलक्षण है, द्रव्यदृष्टिसे नित्य होकर भी स्वयं पर्यायक्रमसे उत्पाद-व्ययशील है और अन्य पदार्थोके परि-वर्तनमें हेतु है। लोकाकाशके जितने प्रदेश है उतने ही कालद्रव्य है। यह अलोकाकाशमें नही पाया जाता, फिर भी आकाशके अखण्ड होनेसे उसके पर्यायरूपसे परिवर्तनका हेतु है।

यहाँ यह प्रश्न होने पर कि—धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्यके समान कालका अखण्ड एक द्रव्य क्यों स्वीकार नहीं किया—समाधान करते हुए लिखा है कि—

१. मुख्य काल अनेक हैं। कारण कि प्रत्येक आकाशके प्रदेशोंमें व्यवहार काल भिन्न-भिन्न रीतिसे होता है, क्योंकि कुरुक्षेत्र लंकाके आकाशप्रदेशोंमें दिन आदिका भेद व्यवहारकालके भिन्न-भिन्न हुए बिना बन नहीं सकता।'

२. 'यदि कालको सर्वथा निरवयव अखण्ड एक ही मान लिया जाय तो कालमें अतीतादि व्यवहार नहीं बन सकेगा।'

इससे कालद्रव्य अनेक सिद्ध होते है।

जो समयरूप ही निश्चयकाल है उससे भिन्न कोई अणुरूप काल द्रव्य नही, ऐसा मानते हैं उनका समाधान करते हुए गुरुजी कहते हैं कि 'जो समय है वह उत्पन्न-प्रध्वंसी होनेसे पर्याय है और जो पर्याय होती हैं वह द्रव्यके बिना नही होती', अतएव अणुरूप कालद्रव्यकी सिद्धि होती है।

समय आदिको पुद्गल द्रव्यका परिणाम मानना चाहिए, ऐसा प्रश्न होनेपर गुरुजीका कहना है कि यदि समय, सेकंड आदि पुद्गल द्रव्यके परिणाम माने जाते हैं तो उन्हें, जैसे मिट्टीसे बना हुआ घट मिट्टीरूप अनुभवमें आता है उसी प्रकार पुद्गलरूप अनुभवमें आना चाहिए। यतः ये पुद्गलरूप अनुभवमें नहीं आते, अतः इन्हें पुद्गलरूप मानना उचित नहीं। किन्तु इन्हें स्वतन्त्र द्रव्यका ही परिणाम मानना चाहिए और वह स्वतन्त्र द्रव्य कालाणु ही है।

दूसरे जैसे बिल्ली आदिमें मुख्य सिंहके बिना सिंह व्यवहार नही किया जा सकता वैसे ही मुख्य काल द्रव्यको स्वीकार किये बिना काल यह व्यवहार नहीं बनता। इस हेतुसे भी काल द्रव्यके अस्तित्वकी सिद्धि होती है।

इस प्रकार अनेक तर्कों और आगमप्रमाणोंसे मुख्य कालद्रव्यकी सिद्धि करके गुरुजीने परिणाम, परत्व, अपरत्व और क्रिया इनके द्वारा व्यवहारकालका ज्ञान कराया है। तदनन्तर उत्सर्पिणी-आदि कालोंके भेद और उनका प्रमाण बतलाते हुए कहाँ कौन काल प्रवर्तता है इत्यादि विशेष विचार कर यह अधिकार समाप्त किया है।

: ८ :

आठवाँ अधिकार है—सृष्टिकर्तृत्वमीमांसा (पृ० २०९ से २३८ तक)। इस अधिकारको प्रारम्भ करनेके पूर्व गुरुजीने 'परमागमस्य बीजं' इत्यादि श्लोक उद्धृतकर 'अनेकान्त' को नमस्कार किया है। अनन्तर प्रश्नोत्तररूपसे लोक क्या है, द्रव्यका सामान्य विशेष लक्षण क्या है इत्यादि प्रश्नोंका समाधान करते हुए ईश्वरका अर्थ क्या है इस प्रश्नका मुक्तात्मा ही ईश्वर है यह उत्तर देकर सृष्टि कर्त्ताके रूपमें अनेक तर्कों द्वारा ईश्वरका निषेध किया है।

सर्व प्रथम ईश्वर सृष्टिका उपादान तो हो नहीं सकता इस तथ्यका समर्थन किया है। उसके बाद उसे लोक निर्माणका निमित्तकर्ता स्वीकार करनेपर जो-जो आपत्तियाँ आती हैं उनका निर्देश किया है। प्रथम आपत्ति उपस्थित करते हुए बतलाया है कि जिस प्रकार लोकमें घटादि कार्योंके कुम्भकारादि निमित्त कर्त्ता देखे जाते है उस प्रकार मेघवृष्टि और घासादिकी उत्पत्ति आदि कार्योंके कुम्भकारादिके समान कोई निमित्तकर्ता नही देखे जाते, अतः सृष्टिकर्ताके रूपमें ईश्वरकी सत्ता स्वीकार करनेमें कोई स्वारस्य नही है।

यहाँ ईश्वरवादियोंका कहना है कि जितने भी कार्य हैं वे सब सुव्यवस्थित देखे जाते हैं, अतः उनका कोई बुद्धिमान कर्त्ता अवश्य होना चाहिए और वह बुद्धिमान् ईश्वरके सिवाय अन्य दूसरा नही हो सकता।

इसका समाधान करते हुए गुरुजीका कहना है कि लोकरूप कार्यको सुव्यवस्थित मानना यह कोरी कल्पना है, क्योंकि लोकमें अच्छे-बुरे सब प्रकारके कार्य देखे जाते है। यदि सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और बुद्धिमान् कोई इस लोकका कर्ता होता तो उसमें यह विचित्रता नहीं दिखाई देती। इस विचित्रताका कारण भले बुरे कर्मोंको मानना भी उचित नहीं है, क्योंकि वे भी कार्य है जो उक्त विशेषणोंसे विशिष्ट कर्त्ताके स्वीकार करनेपर दो प्रकारके बन ही नहीं सकते।

दूसरे कार्य-कारणभाव और अन्वय-व्यतिरेक इन दोनोंमें गम्य-गमक अर्थात् व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है। इसके अनुसार ईश्वरको यदि लोक (सृष्टि) का कर्त्ता स्वीकार किया जाता है तो उनमें अन्वय-व्यतिरेक बनना चाहिए। परन्तु ईश्वरका लोकके साथ क्षेत्र और कालरूप दोनों प्रकारका व्यतिरेक नहीं बनता, इसलिए भी ईश्वरको लोकका कर्त्ता मानना उचित नहीं है।

तीसरे 'पृथिवी आदिक बुद्धिमत्कर्तृक हैं, कार्य होनेसे, घटादिकके समान।' इस अनुमितिमें जो कार्यत्व हेतु है उसके चार अर्थ हो सकते हैं—१, सावयवत्व, २—प्राक् असत् पदार्थके स्वकारणसत्ता समवाय,

३—'कृत' ऐसी बुद्धिका विषय और ४—विकारीपना। किन्तु इनका सांगोपांग विचार करनेपर कार्यत्वहेतुसे बुद्धिमान् कर्त्ताकी सिद्धि नहीं हो सकती। विशेष ऊहापोहके लिए पृ० २२१ से २२५ तक देखिए।

इस प्रकार गुरुजीने 'ईश्वर सृष्टिका कर्ता है' इस मतका बड़ी सशक्त युक्तियों द्वारा खण्डन करके इस अधिकारको समाप्त करते हुए अन्तमें सृष्टिकर्तृत्व धर्मसे शून्य देव ही आदर करने योग्य बतलाया है।

मूल्याङ्कन

जैन-सिद्धान्त दर्पणके उक्त विषय विवेचनसे स्पष्ट है कि गुरुजीने तत्त्वार्थराजवार्त्तिक, सर्वार्थसिद्धि, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, अष्टसहस्री, गोम्मटसार लब्धिसार, समयसार और प्रवचनसार प्रभृति आर्षग्रन्थोंके आधार-पर उक्त ग्रन्थका प्रणयन किया है। बड़े-बड़े गम्भीर सैद्धान्तिक विषयोंको हिन्दी भाषा द्वारा सरलरूपमें प्रस्तुत कर अपनी मौलिकताका परिचय दिया है। प्राचीन भाषाओंसे अनभिज्ञ व्यक्ति भी इस ग्रन्थके अध्ययनसे सैद्धान्तिक विषयोंका पाण्डित्य प्राप्त कर सकता है। मौलिकता सम्बन्धी मूल्याकनकी दृष्टिसे इस ग्रन्थकी तुलना आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजीके 'मोक्षमार्गप्रकाश' से की जा सकती है। अत. जितना मौलिक-मूल्य 'मोक्षमार्ग प्रकाश' का है, उतना ही मौलिक 'जैन सिद्धान्तदर्पण'का भी। टोडरमलजीने अनेक आर्ष ग्रन्थोका अध्ययनकर विषय सामग्रीको स्वायत्त किया और मोक्षमार्ग सम्बन्धी निश्चित एव व्यवहारनयोको यथार्थ रूपमे विवेचनकर विषय-सामग्रीको नये रूपमे प्रस्तुत किया। उनका यह कार्य श्रुतपरम्पराके इतिहासमे एक नयी कड़ीके रूपमें माना जा सकता है। इसी प्रकार गुरुजीने भी जैनागमके अनेक ग्रन्थोंसे आधारभूत सामग्री ग्रहण-कर 'जैनसिद्धान्तदर्पण' की रचनाकर अपनी मौलिकताका मानदण्ड स्थापित किया है। प्रतिपादन और प्रथनशैली गुरुजीकी अपनी है। 'नद्या नव घटे जलम्' के समान उनका यह ग्रन्थ मौलिक है तथा श्रुताध्ययनके लिए इसका मूल्य किसी भी प्राचीन या अर्वाचीन ग्रन्थसे कम नही है। एक लम्बे समयतक अनेक ग्रन्थोके अध्ययनसे जिन विषयोंका ज्ञान प्राप्त किया जायगा, उन विषयोंका पाण्डित्य गुरुजीके अकेले 'जैनसिद्धान्त दर्पण' के अध्ययनसे प्राप्त किया जा सकता है। अतः पाण्डित्य प्राप्तिकी दृष्टिसे भी इस ग्रन्थका मूल्य कम नही है।

यहाँ इस बातका स्पष्टीकरण कर देना भी आवश्यक है कि यह ग्रन्थ किसी अन्य रचनाका अनुवाद नहीं है और न अनेक ग्रन्थोंके महत्त्वपूर्ण अंशोंका अनुवाद कर ही इसका कलेवर घटित किया गया है। बल्कि यह तो उन श्रुतधरोंकी परम्परामें आता है, जो आचार्य परम्परासे प्राप्त विषयभूत सामग्रीको लेकर सर्वजनोपयोगी रचनाएँ निबद्ध करते है। जिनकी कृतियोंकी आभा सच्चे मार्ग-माणिक्योके समान कभी भी कम नही होती। जिनका मूल्य शाश्वतिक होता है। प्राचीन कृतियोंमे उत्साहका जो आदर्श और उदात्त रूप वर्तमान है, वही इस रचनामें भी निहित है।

गुरुजीकी यह रचनात्मक प्रक्रिया श्रुतपरम्परामे अभिन्नार्थता प्रस्तुत करनेपर भी नवीन मूल्यों और प्रतिमानोंको स्थापित करती है। उनके, चिन्तनके परिवेशमे शास्त्रार्थोंकी गन्ध भी समाविष्ट है और उनके युगके ज्वलन्त प्रश्न 'सृष्टिकर्तृत्व' की मीमासा भी निहित है। अतः इस कृतिका मूल्याकन निम्न दृष्टि-सूत्रोंमे उपस्थित किया जा सकता है :—

१. मौलिकता 'नद्या नवघटे जलम्' के समान।
२. विषयभूत सामग्रीकी क्रमबद्धता और गम्भीर विषयोकी सरलरूपमे प्रतिपादन-क्षमता।
३. शास्त्रीय दुरूह विषयोंकी स्पष्टता।
४. तात्त्विक अभिव्यञ्जनाकी बोधगम्यता।

सत् प्ररूपणा (धवला के ९३वें सूत्रमें 'संजद' पद

श्री षट्खंडागमके ९३वें सूत्रमें धवलाका संपादनपूर्वक मुद्रण होकर प्रकाशनकी व्यवस्था श्री डा० हीरालालजीकी देखरेखमे हो ऐसा निर्णय होनेपर श्री पं० हीरालालजी सि० शास्त्री डाक्टर साहबके आमंत्रण पर अमरावती पहुँच कर इस काममें लग गये। सत्प्ररूपणा प्रथम पुस्तक उन्होंने मय टिप्पणके तैयार कर ली। किन्तु समितिकी ओरसे मुद्रणकी स्वीकृति न मिलनेके कारण मुझे इस काममे सहयोग करनेके लिये आमन्त्रित किया गया।

मेरे वहाँ पहुँचनेपर मुझसे कहा गया कि आप इसको देखें और इसमें जो कमी हो उसको पूरा करें और चाहे तो अलगसे लिखकर अनुवादकी प्रेस कापी भी तैयार कर ले।

डाक्टर साहबकी ओरसे यह सूचना मिलनेपर मैंने पहले लिखे गये अनुवादको सामने रखकर दूसरी बार अनुवादकी प्रेस कापी तैयार की।

किन्तु उसमे ९३वें सूत्रका अनुवाद लिखते समय 'संजद' शब्दको न देखकर मैंने दोनों विद्वानोंके सामने इस सूत्रमे 'सजद' पद और होना चाहिये यह प्रस्ताव रखा।

यद्यपि डा० हीरालालजी प्रकृत विषयसे अनभिज्ञ थे। परन्तु मैं समझता था कि पंडित श्री हीरालालजी सि० शास्त्री मेरे इस प्रस्तावसे सहमत हो जावेंगे। परन्तु मैं अपने प्रस्तावमें उनकी सहमति प्राप्त न कर सका। परिणाम स्वरूप टिप्पणमे 'अत्र संयत इति पाठशेष. प्रतिभाति' यह टिप्पणी देनी पड़ी। फिर भी मैंने अपने अनुवादमे उस पदकी आवश्यकता समझ कर 'संयत' पद जोड़ दिया और इसकी चर्चा दूसरे सहयोगी विद्वानोंसे नही की।

जैसाकि मैंने पूर्वमे संकेत किया है, दूसरी बार प्रेसकापी तैयार हो जानेपर भी प्रबन्ध समितिसे मुद्रणकी स्वीकृति कैसे ली जाय इसके लिये मैंने डाक्टर साहबके सामने दूसरा यह प्रस्ताव रखा कि यदि आप स्वीकार करे तो हम दोनों द्वारा तैयार किये गये इस अनुवादको १०-१५ दिनमें कारंजा जाकर आ० पं० देवकीनंदनजी सि० शास्त्रीको दिखलाया करेंगे। डाक्टर साहबने मेरे इस प्रस्तावको सहज ही स्वीकार कर लिया। इसलिये मैं १०-१५ दिनमें कारंजा जाकर पण्डितजीको पूरा अनुवाद पढ़कर सुनाता रहा। चर्चा द्वारा जो संशोधन प्राप्त होते थे उनके अनुसार अनुवादमें संशोधन भी करता जाता था और इसप्रकार संशोधित प्रेस कापीको प्रेसमें मुद्रणके लिये दे दिया गया ऐसा करनेसे मुद्रणके लिये प्रबन्ध समितिकी भी स्वीकृति आसानीसे मिल गयी।

यत' प्रूफ देखनेका कार्य स्वेच्छासे मैं ही करता रहा, इसलिये मैंने ९३वें सूत्रके मूल पाठको तो वैसा रहने दिया, किन्तु अनुवादमें 'संजद' पद जोड दिया। यही कारण है कि प्रथम संस्करणके ९३वें सूत्रमें 'संजद' पद नही है, किन्तु उसके अनुवादमे 'संजद' पद जोड़ा हुआ है। पहले बारके प्रकाशनमें देखेंगे कि सूत्रमे 'संजद' पद नही रखा गया है। किन्तु उसके अनुवादमे 'संजद' पद रख दिया गया है। पहले बारके मुद्रित ग्रन्थमें मूल सूत्र और उसका अनुवाद इस प्रकार मुद्रित हुआ है—

सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजदट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ ॥९३॥

अनुवाद—मनुष्यस्त्रिया सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और सयत गुणस्थानोंमें नियमसे पर्याप्तक होती हैं ॥९३॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि मूल सूत्रमें 'संयत' पदके न होनेसे यही सूत्र मुख्यरूपसे विवादका विषय बन गया। एक पक्षका, जिसमें स्व० पं० मक्खनलालजी न्यायालंकार मुख्य थे, कहना था कि यह सूत्र द्रव्य-मार्गणाकी अपेक्षा लिखा गया है, इसलिये इसमे 'संयत' पद नही होना चाहिये, क्योंकि आगममें द्रव्य मनुष्य स्त्रियोंके पांच ही गुणस्थान बतलाये गये है। किन्तु यह वस्तुस्थिति नही है क्योंकि सभी गुणस्थानोंमें और सभी मार्गणाओंमें जीवोंके भेदोंकी ही प्ररूपणा आगममे दृष्टिगोचर होती है इसलिये इस सूत्रमें भाववेदकी अपेक्षा मनुष्यिनियोंकी अपेक्षा ही गुणस्थानोकी प्ररूपणा की गयी है इसलिये इस सूत्रमे 'संयत' पद अवश्य होना चाहिये।

किन्तु स्व० श्री पं० मक्खनलालजी साहब और उनके सहयोगी विद्वान् इसके लिये तैयार नही हुए। इसके लिये बंबई समाजकी ओरसे दोनों पक्षोंके विद्वानोंको बुलाकर चर्चा करनेका प्रस्ताव रखा गया। फलत. बंबई समाजके आमंत्रणपर दोनों पक्षोंके विद्वान् चर्चाके लिये सहमत हो गये।

९३ वे सूत्रमे 'संयत' पद होना चाहिये इस पक्षके विद्वानोंमें स्व० श्री० पं० बंशीधरजी न्यायालंकार, श्री पं० कैलाशचंदजी सि० शास्त्री और मुझे आमंत्रित किया गया था तथा ९३ वें सूत्रमे 'संयत' पद नहीं होना चाहिये इस पक्षके विद्वानोमे स्व० श्री पं० मक्खनलालजी न्यायालंकार, स्व० श्री प० बलराम प्रसादजी शास्त्री और स्व० श्री क्षु० सूरसिंघजीको आमंत्रित किया गया था।

नियत समयपर दोनों पक्षके विद्वान् आये, चर्चा प्रारभ होकर तीन दिन तक चली। स्व० श्री प० मक्खनलालजी अपने पक्षकी ओरसे अपने पक्षको एक कापीमे लिखकर प्रस्तुत करते रहे और मैं अपने पक्षकी ओरसे लिखित उत्तर देता रहा। इस प्रकार तीन दिन तक लिखित चर्चा चलती रही। किन्तु अन्तमे उस पक्षके विद्वानोंने लिखित चर्चाकी कापीको अपने पास रख लिया और समाजसे यह घोषणा करा दी कि समाजने यह सम्मेलन तीन दिनके लिये बुलाया था। तीन दिन पूरे हो गये हैं आगे यह चर्चा बन्द की जाती है। फिर भी अखबारी दुनियामे यह चर्चा चलती रही इसलिये स्व० श्री पं० मक्खनलालजी प्रभृति विद्वानोंने श्री १०८ आचार्य शातिसागरजीसे मिलकर यह घोषणा करा दी कि ९३ वे सूत्रमें द्रव्यवेदका प्रकरण है इसलिये इसमे 'संजद' पद नहीं होना चाहिये।

किन्तु जहाँ तक आगमका सम्बन्ध है उसमें गतिनामकर्मको जीव विपाकी कहा गया है। और गतिनाम-कर्मके उदयसे ही मनुष्यादि गतियोंकी उत्पत्ति होती है। जैसाकि मनुष्यगतिकी अपेक्षा निर्देश करते हुए वर्गणा खण्डमें लिखा भी है—

मणुसगदीए मणुसो णाम कधं भवदि ॥८॥
मणुसगदिणामाए उदएण ॥९॥

मनुष्यगतिकी अपेक्षा मनुष्य किस कारणसे होता है ॥८॥ मनुष्यगति नामकर्मके उदयसे जीव मनुष्य होता है ॥९॥ यह वर्गणाखण्डके दो सूत्रोंका अभिप्राय है ॥

ये गुणस्थान और मार्गणास्थान जीवोंके भेद प्रभेद है। इसलिये इनमे द्रव्यमार्गणाका ग्रहण न होकर भावमार्गणाओंका ही ग्रहण किया गया है ऐसा यहाँ समझना चाहिये।

इतना सब स्पष्ट होते हुए भी स्व० श्री पं० मक्खनलालजी अपने आग्रहपर जमे रहे। उनके सहयोगी विद्वान् स्व० प० श्री पन्नालालजी सोनीने अपने निबन्धों द्वारा ९३ वें सूत्रमें 'संयत' पद अवश्य चाहिये अन्यथा पूरा जिनागम खंडित हो जायगा। फिर भी प० मक्खनलालजीने अपना आग्रह नही छोड़ा। वे इतना

करके ही चुप नहीं रह गये किन्तु ताड़पत्रीय प्रतियोंके आधारसे जो ताम्रपत्र प्रति तैयार की गयी, उसके ९३ वें सूत्रमें भी श्री आ० शान्तिसागरजी महाराजको प्रेरणाकर ९३ वें सूत्रका 'संयत' पदसे रहित ही अंकन कराया।

इसी बीच सागरमें विद्वत्परिषद्की कार्यकारिणीकी बैठक हो रही थी उसमें पू० श्री बड़े वर्णीजी—बाबा और आ० स्व० श्री पं० देवकीनंदनजी साहब भी पधारे हुए थे।

समस्या कठिन थी। 'संजद' पदके विषयमें निर्णयकी पद्धति क्या हो इस विषयमें ऊहापोह चल ही रहा था। विविध विद्वानोंके विविध मत आ रहे थे। इसी बीच श्रद्धेय स्व० पं० देवकीनंदजी साहबको आवश्यक कार्यवश कारंजा जाना था इसलिये मैं उन्हें स्टेशन तक पहुँचानेके लिये चला गया। अन्तमें मैंने पंडितजीसे पूछा कि 'इस विषयका निर्णय किस प्रकार लिया जाय। अनुभवी पंडितजीने बतलाया कि विद्वत्परिषद्का स्थल शंका समाधानके रूपमें निर्णय करनेका नहीं है किन्तु 'संजद' पद चाहिये अथवा नहीं चाहिये इस विषयमें ऊहापोह पूर्वक एक प्रस्ताव द्वारा अपना मन्तव्य प्रगट करनेका है।

पंडितजी तो कारंजा चले गये, किन्तु वहाँसे आकर हमने इसी अभिप्रायको ध्यानमें रखकर 'संजद' पदके पक्षमें विविध प्रमाणोंके प्रकाशमें एक भाषण द्वारा अपना अभिमत व्यक्त किया। साथ ही विविध विद्वानोंकी ओरसे जो शंकायें आयीं उनका समाधान भी किया। इसलिये इस आधारपर विद्वत्परिषद्ने सत्प्ररूपणाके ९३ वें सूत्रमें 'संजद' पद नियमसे होना चाहिए इस आशयका सर्वानुमतिसे एक प्रस्ताव पास किया।

उस समय मेरा वह भाषण इतना प्रभावोत्पादक बन गया जिसकी इन शब्दोंमें पू० श्री बड़े वर्णीजीने अपनी 'मेरी जीवन गाथा' प्रथम भाग पृ० ५४६ पर उल्लेख किया है—

"इन्हीं चार दिनोंमें विद्वत्परिषद्की कार्यकारिणीकी बैठक हुई। 'संजद' पदकी चर्चा हुई, जिसमें श्री पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीका तेरानवें सूत्रमें 'संजद' पदकी आवश्यकतापर मार्मिक भाषण हुआ और उन्होंने सबकी शंकाओंका समाधान भी किया। इसमें श्री पं० वर्द्धमानजी सोलापुरने अच्छा भाग लिया था। अन्तमें सब विद्वानोंने मिलकर निर्णय दिया कि धवल सिद्धान्तके तेरानवें सूत्रमें 'संजद' पदका होना आवश्यक है।"

१ विद्वत्परिषद्का प्रस्ताव

"फाल्गुन शुक्ल ३ वीर निर्वाण संवत् २४७६ को गजपन्थामें आचार्य श्री १०८ शांतिसागरजी महाराज द्वारा की गई जीवस्थान प्ररूपणाके ९३ वें सूत्रसे ताड़पत्रीय मूल प्रतिमें उपलब्ध 'संजद' निष्कासनकी घोषणापर विचार करनेके बाद भारतवर्षीय दि० विद्वत्परिषद्की यह कार्यकारिणी जून सन् ४० में सागर आयोजित विद्वत् सम्मेलनके अपने निर्णयको दुहराती है तथा इस प्रकारसे ताम्रपत्रीय एवं मुद्रित प्रतियोंमें 'संजद' पद निष्कासनकी पद्धतिसे अपनी असहमति प्रकट करती है।"

इस प्रकार यद्यपि तेरानवे सूत्रमें 'संजद' पदकी आवश्यकतापर विद्वत्परिषद्ने अपनी मोहर लगा दी फिर भी स्व० श्री पं० मक्खनलालजीके परिकर द्वारा इस विवादको जीवित बनाये रखा गया। इसलिये इटावामें विद्वत्परिषद्के अधिवेशनके समय उसने तेरानवें सूत्रमें 'संजद' पद होना चाहिये इस आशयका एक प्रस्ताव पुनः पास किया।

इसप्रकार पुनः पुनः विधिनिषेध रूपसे इस चर्चाके चालू रहनेपर अन्तमें आ० श्री १०८ शांतिसागरजी महाराजने दोनों पक्षोंके विचारोंका और प्रमाणोंका अध्ययन करके अन्तमें अपने पूर्व वक्तव्यको वापिस लेते हुए पूरे विद्वत् समाजकी जानकारीके लिये मराठीमें जो अभिमत व्यक्त किया वह इस प्रकार है—

"पण 'संजद' शब्द सूत्रांत नाहीं वहें मूल द्रव्यस्त्रीचे वर्णन करणोर आहे ही खात्री महाराजांची झाली होती".

यानंतर महाराज कुंथलगिरि क्षेत्रावर गेले व तेथे त्यानी सल्लेखना धारणकेली. त्यावेळीं त्यांची सेवा शुश्रुषा करण्याच्या हेतुमे परम आचार्यभक्त ब्र० धर्मनिष्ठ श्री बालचन्द्र सखाराम गांधी हेतेथें सकुटुम्ब गेलें होते.

आचार्य महाराजांचे अन्तिम दर्शनघेण्यासाठीं मीही ब्र० श्री जीवराज गौतमचंददोषी यांच्या बरोबर गेलों होतो.

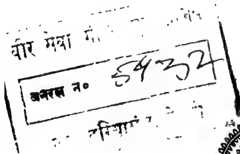
मूलआचार्य महाराजांचे अन्तिमदर्शन घेण्याची तीव्र उत्कण्ठा होती पणमळी त्याच्या जवळ जाव्यास लोक प्रतिबन्ध करीत होते.

श्री ब्र० गुलाबचंदजींना महाराजाचे दर्शन घेण्याची माझीं तीव्र उत्कण्ठा सांगितली तेव्हां त्यानी मला एके दिवशीं आचार्य महाराजांचे दर्शन घेण्या साठी नेले. महाराजाना दिसत नसल्या मुले आवाज ऐकून कोण आहे असा प्रश्न केल. मी विनयानें वंदन करून माझें नांव सांगितले. त्यावेळीं आचार्य महाराज 'अरे जिनदास धवलांतील ९३ वें सुत्र भावस्त्रीचें वर्णन करणारें आहे व तेथें 'संजद' शब्द अवश्य पाहिजे असे वाटते. हें परमपूज्य महाराजांचे वचन ऐकून महाराजांच्या सत्यान्वेषी व निराग्रह वृत्तीबद्दल मला व श्री ब्र० गुलाबचंदजीना फार आनन्द वाहला.

श्रीमान ब्र० गुलाबचंदयांनी अशी सूचना केली आहे. ताम्रपत्रातील ९०० बाल्या सूत्रात संजद शब्द अवश्य जोडावी.

जिनदास पार्श्वनाथ फडकुले गुलाबचंद सखाराम गांधी" ता० २२-७-७९

●





सप्ततिका प्रकरण : एक विवेचनात्मक अध्ययन

परिभाषा—जैनदर्शनमें पुद्गल द्रव्यकी अनेक[1] प्रकारकी वर्गणाएँ बतलाई हैं। इनमेंसे औदारिक शरीर वर्गणा, वैक्रिय शरीर वर्गणा, आहारक शरीर वर्गणा, तैजस वर्गणा, भाषा वर्गणा, श्वासोच्छ्वास वर्गणा, मनोवर्गणा और कार्मण वर्गणा इन वर्गणाओंको संसारी जीवद्वारा ग्राह्य माना गया है। संसारी जीव इन वर्गणाओंको ग्रहण करके विभिन्न शरीर वचन और मन आदिकी रचना करता है। इनमेंसे प्रारम्भकी तीन वर्गणाओंसे औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीन शरीरोंकी रचना होती है। तैजस वर्गणाओंसे तैजस शरीर बनता है। भाषा वर्गणाएँ विविध प्रकारके शब्दोंका आकार धारणा करती हैं। श्वासोच्छ्वास वर्गणा श्वासोच्छ्वासके काम आती है। हिताहितके विचारमें साहाय्य करनेवाले द्रव्यमनकी रचना मनोवर्गणाओंसे होती है। और ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके कर्म कार्मण वर्गणाओंसे बनते हैं। इन सबमें कर्म संसारका मूल कारण माना गया है। वैदिक साहित्यमे जिसका लिंग शरीररूपसे उल्लेख किया गया है वह ही जैनदर्शनमें कर्मशब्द द्वारा पुकारा जाता है।

वैसे तो संसारी जीवकी प्रतिक्षण जो राग, द्वेष आदि रूप परिणति हो रही है उसकी कर्म संज्ञा है। कर्मका अर्थ किया है, यह अर्थ जीवकी राग-द्वेषरूप परिणतिमें अच्छी तरह घटित होता है। इसलिए इसे ही कर्म कहा गया है, क्योंकि अपनी इस परिणतिके कारण ही जीवकी दीन दशा हो रही है। पर आत्माकी इस परिणतिके कारण कार्मण नामवाले पुद्गलरज आकर आत्मासे सम्बद्ध हो जाते हैं और कालान्तरमें वे वैसी परिणतिके होनेमे निमित्त होते है, इसलिए इन्हें भी कर्म कहा जाता है। इन ज्ञानावरणादि कर्मोंके साथ संसारीजीवका एक क्षेत्रावगाही सम्बन्ध है जिससे जीव और कर्मका विवेक करना कठिन हो गया है। लक्षण-भेदसे ही ये जाने जा सकते है। जीवका लक्षण चेतना अर्थात् ज्ञान दर्शन है और कर्मका लक्षण जड़ अचेतन है। इस प्रकारके कर्मका जिस साहित्यमे सांगोपांग विचार किया गया है उसे कर्मसाहित्य कहते हैं।

अन्य आस्तिक दर्शनोंने भी कर्मके अस्तित्वका स्वीकार किया है। किन्तु उनकी अपेक्षा जैन दर्शनमें इस विषयका विस्तृत और स्वतन्त्र वर्णन पाया जाता है। इस विषयके वर्णनने जैन साहित्यके बहुत बड़े भागको रोक रखा है।

मूल कर्म साहित्य—भगवान महावीरके उपदेशोंका संकलन करते समय कर्मसाहित्यकी स्वतंत्र संकलनाकी गई थी। गणधरोंने (पट्टशिष्योने) समस्त उपदेशोको बारह अङ्गोंमे विभाजित किया था। इनमेंसे दृष्टिवाद नामक बारहवाँ अङ्ग बहुत विशाल था। इसके परिकर्म, सूत्र प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका ये पाँच भेद थे। इनमेंसे पूर्वगतके चौदह भेद थे, जिनमेसे आठवें भेदका नाम कर्मप्रवाद था। कर्मविषयक साहित्यका इसीमें संकलन किया गया था।

इसके सिवा अग्रायणीय और ज्ञानप्रवाद इन दो पूर्वोमें भी प्रसंगसे कर्मका वर्णन किया गया था।

पूर्वगत कर्म साहित्यके ह्रासका इतिहास—किन्तु धीरे-धीरे कालदोषसे पूर्व साहित्य नष्ट होने लगा। भगवान् महावीरके मोक्ष जानेके बाद जो अनुबद्ध केवली और श्रुतकेवली हुए उन तक अंग-पूर्वसम्बन्धी

---

१. गोम्मटसार जीवकाण्डमें २३ प्रकारकी वर्गणाएँ बतलाई हैं। उनमेंसे आहार वर्गणा, मनोवर्गणा और कार्मण वर्गणा ये संसारी जीवद्वारा ग्राह्य मानी गई हैं।

ज्ञान व्यवस्थित चला आया, किन्तु इसके बाद इसकी यथावत् परम्परा न चल सकी। धीरे-धीरे लोग इसे भूलने लगे और इस प्रकार मूल साहित्यका बहुत बड़ा भाग नष्ट हो गया। ऊपर हम मूलभूत जिस कर्म साहित्यका उल्लेख कर आये हैं उसमेसे कर्मप्रवादका तो लोप हो ही गया। केवल अग्रायणीय पूर्व और ज्ञानप्रवाद पूर्वका कुछ अंश बच रहा। तब श्रुतधारक ऋषियोंको यह चिन्ता हुई कि पूर्व साहित्यका जो भी हिस्सा शेष है उसका संकलन हो जाना चाहिये। इस चिन्ताका पता उस कथासे लगता है जो धवला प्रथम पुस्तकमें निबद्ध है। श्वेताम्बर परम्परामें प्रचलित अंग साहित्यके संकलनके लिये जिन तीन वाचनाओंका उल्लेख मिलता है वे भी इसी बातकी द्योतक हैं।

वर्तमान मूल कर्मसाहित्य और उसकी सकलनका आधार—अबतक जो भी प्रमाण मिले हैं उनके आधारसे यह कहा जा सकता है कि कर्मसाहित्य व जीवसाहित्यके संकलनमें श्रुतधर ऋषियोंकी उक्त चिन्ता ही विशेष सहायक हुई थी। वर्तमानमें दोनों परम्पराओंमे जो भी कर्मविषयक मूल साहित्य उपलब्ध होता है वह इसीका फल है। आग्रयणीय पूर्वकी पाँचवीं वस्तुके चौथे प्राभृतके आधारसे षट्खण्डागम, कर्मप्रकृति, शतक और सप्ततिका इन ग्रन्थोंका संकलन हुआ था और ज्ञानप्रवाद पूर्वकी दसवी वस्तुके तीसरे प्राभृतके आधारसे कषायप्राभृतका संकलन हुआ था। इनमेसे कर्मप्रकृति यह ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परामें माना जाता है कषायप्राभृत और षट्खण्डागम ये दो दिगम्बर परम्परामे माने जाते हैं। तथा कुछ पाठ भेदके साथ शतक और सप्ततिका ये दो ग्रन्थ दोनों परम्पराओंमें गने जाते हैं।

जैसे इस साहित्यको पूर्व साहित्यका उत्तराधिकार प्राप्त है वैसे ही यह शेष कर्मसाहित्यका आदि स्रोत भी है। आगे टीका, टिप्पणी व संकलन रूप जितना भी कर्मसाहित्य लिखा गया है उसका जनक उपर्युक्त साहित्य ही है।

मूल साहित्यमें सप्ततिकाका स्थान – जैसा कि हम पहले बतला आये हैं कि वर्तमानमे ऐसे पाँच ग्रन्थ माने गये है जिन्हे कर्मविषयक मूल साहित्य कहा जा सकता है। उनमे एक ग्रन्थ सप्ततिका भी है।

सप्ततिकामे अनेक स्थलोंपर मतभेदोंका निर्देश किया है। एक मतभेद[1] उदयविकल्प और पदवृन्दोंकी संख्या बतलाते समय आया है और दूसरा मतभेद[2] अयोगिकेवली गुणस्थानमे नामकर्मकी कितनी प्रकृतियोंका सत्त्व होता है इस सिलसिलेमें आया है। इससे ज्ञात होता है कि जब कर्मविषयक अनेक मतान्तर प्रचलित हो गये थे तब इसकी रचना हुई होगी।

तथापि इसकी प्रथम गाथामें इसे दृष्टिवाद अगकी एक बूंदके समान बतलाया है और इसकी टीका करते हुए सभी टीकाकार अग्रायणीय पूर्वकी पाँचवीं वस्तुके चौथे प्राभृतसे इसकी उत्पत्ति मानते हैं, इसलिए इसकी मूल साहित्यमे परिगणना की गई है।

सप्ततिकाकी थोड़ी सी गाथाओमे कर्मसाहित्यका समग्र निचोड़ भर दिया है। इस हिसाबसे जब हम विचार करते हैं तो इसे मूल साहित्य कहनेके लिए ही जी चाहता है।

२. सप्ततिका व उसकी टीकाएँ

नाम—प्रस्तुत ग्रन्थका नाम सप्ततिका है। गाथाओं या श्लोकोंकी संख्याके आधारसे ग्रन्थका नाम रखनेकी परिपाटी प्राचीन कालसे चली आ रही है। सप्ततिका यह नाम इसी आधारसे रखा गया जान पड़ता है। इसे षष्ठ कर्मग्रन्थ भी कहते है। इसका कारण यह है कि वर्तमानमे कर्म ग्रन्थोंको जिस क्रमसे गणना की जाती है उसके अनुसार इसका छठा नम्बर लगता है।

---

१. देखो गाथा १९-२० व उनकी टीका।

२. देखो गाथा ६६-६७ पृ० ६८।

गाथासंख्या—प्रस्तुत ग्रन्थका सप्ततिका यह नाम यद्यपि गाथाओंकी संख्याके आधारसे रखा गया है तथापि इसकी गाथाओंकी संख्याके विषयमें मतभेद है। अबतक हमारे देखनेमें जितने संस्करण आये हैं उन सबमें इसकी गाथाओंकी अलग-अलग संख्या दी गई है। श्री जैन श्रेयस्कर मण्डलकी ओरसे इसका एक संस्करण म्हेसाणासे प्रकाशित हुआ है, उसमे इसकी गाथाओंकी संख्या ९१ दी गई है। प्रकरण रत्नाकर चौथा भाग बम्बईसे प्रकाशित हुआ है, उसमें इसकी गाथाओंकी संख्या ९४ दी गई है। आचार्य मलयगिरिकी टीकाके साथ इसका एक संस्करण श्री आत्मानन्द जैन ग्रन्थमालासे प्रकाशित हुआ है, उसमें इसकी गाथाओंकी संख्या ७२ दी गई है। और चूर्णिके साथ इसका एक संस्करण श्री ज्ञानमन्दिर डभोईसे प्रकाशित हुआ है, उसमें इसकी गाथाओंकी संख्या[1] ७१ दी गई है। इसके अतिरिक्त ज्ञानमन्दिर डभोईसे प्रकाशित होनेवाले संस्करणमें जिन तीन मूल गाथा प्रतियोंका परिचय दिया गया है उनके आधारसे इसकी गाथाओंकी संख्या ९१, ९२ और ९३ प्राप्त होती है।

अब देखना यह है कि इसकी गाथाओंकी संख्याके विषयमें इतना मतभेद क्यों है। छानबीन करनेके बाद मुझे इसके निम्नलिखित तीन कारण ज्ञात हुए हैं।

१. लेखकों या गुजराती टीकाकारों द्वारा अन्तर्भाष्य गाथाओंका मूल गाथा रूपसे स्वीकार किया जाना।

२. दिगम्बर परम्परामें प्रचलित सप्ततिकाकी कतिपय गाथाओंका मूल गाथारूपसे स्वीकार किया जाना।

३. प्रकरणोपयोगी अन्य गाथाओंका मूल गाथारूपसे स्वीकार किया जाना।

जिन प्रतियोमे गाथाओंकी संख्या ९१, ९२, ९३ या ९४ दी है उनमें दस अन्तर्भाष्य गाथाएँ, दिगम्बर परम्परामें प्रचलित सप्ततिकाकी पाँच गाथाएँ और शेष प्रकरणसम्बन्धी अन्य गाथाएँ सम्मिलित हो गई हैं। इससे गाथाओंकी संख्या अधिक बढ़ गई है। यदि इन गाथाओंको अलग कर दिया जाता है तो इसकी कुल ७२ मूल गाथाएँ रह जाती हैं। इन पर चूर्णि और मलयगिरि आचार्यकी संस्कृत टीका ये दोनों पाई जाती हैं। अतः इस आधारसे मूल गाथाओंकी संख्या ७२ निर्विवाद रूपसे निश्चित होती है। मुनि कल्याणविजयजीने आत्मानन्द जैन ग्रन्थमालासे प्रकाशित होनेवाले ८६वें रत्न[2] 'शतक और सप्ततिकाकी' प्रस्तावनामे इसी आधारको प्रमाण माना है।

किन्तु मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर डभोईसे चूर्णिसहित जो सप्ततिका प्रकाशित हुई है उसमें उसके सम्पादक पं० अमृतलालजीने 'चउ पणवीसा सोलस' इत्यादि २५ नम्बरवाली गाथाको मूल गाथा न मानकर सप्ततिकाकी कुल ७१ गाथाएँ मानी हैं उनका इस सम्बन्धमें यह वक्तव्य है—

'परन्तु अमोए आ प्रकाशनमां सित्तरीनी ७१ गाथाओज मूल तरीके मानी छे। तेनुं कारण ए छे के उपर्युक्त कर्मग्रन्थ द्वितीय विभागमां 'चउ पणुवीसा सोलस' (गा-२५) ए गाथाने तेना सम्पादक श्री ए मूल गाथा तरीके मानी लीधी छे परन्तु ये गाथाने चूर्णिकारे 'पाढंतरं' लखीने पाठान्तर गाथा तरीके निर्देशी छे; एटले 'चउ पणुवीसा सोलस' गाथा मूलनी नथी ए माटे चूर्णिकारनो सचोट पुरावो होवाथी सित्तरी प्रकरणनी

१. यह चूर्णि ७१ गाथाओं पर न होकर ८९ गाथाओं पर है। इससे चूर्णिकारके मतसे सप्ततिकाकी गाथाओंकी संख्या ८९ सिद्ध होती है। इसमें अन्तर्भाष्य गाथाएँ भी सम्मिलित हैं।

२. देखो प्रस्तावना पष्ठ १२ व १३।

७१ गाथाओं घटित थाय छे। आद्य गाथाने मंगल गाथा तरीके समजवाथी सित्तरीनी सित्तेर गाथाओ थई जाय छे।'

किन्तु इस गाथाके अन्तमे केवल 'पाढंतरं' ऐसा लिखा होनेसे इसे मूल गाथा न मानना युक्त प्रतीत नहीं होता। जब इसपर चूर्णि और आचार्य मलयगिरिकी टीका दोनों है तब इसे मूल गाथा मानना ही उचित प्रतीत होता है। हमने इसी कारण प्रस्तुत संस्करणमे ७२ गाथाएँ स्वीकारकी है। इनमेसे अन्तकी दो गाथाएँ विषयकी समाप्तिके बाद आई हैं, अतः उनकी गणना नही करने पर ग्रन्थका सित्तरी यह नाम सार्थक ठहरता है।

ग्रन्थकर्ता—सप्ततिकाके रचयिता कौन थे, अपने पावन जीवनसे किस भूमिको उन्होंने पवित्र किया था, उनके माता-पिता कौन थे, दीक्षागुरु और विद्यागुरु कौन थे, इन सब प्रश्नोंके उत्तर पानेके वर्तमानमें कोई साधन उपलब्ध नहीं हैं। इस समय सप्ततिका और उसकी दो टीकाएँ हमारे सामने है। कर्ताके नाम ठामके निर्णय करनेमे इनसे किसी प्रकारकी सहायता नहीं मिलती।

यद्यपि स्थिति ऐसी है तथापि जब हम शतककी अन्तिम १०४ व १०५ नम्बरवाली गाथाओंसे सप्ततिकाकी मंगल गाथा और अन्तिम गाथाका क्रमशः मिलान करते हैं तो यह स्वीकार करनेको जी चाहता है कि बहुत सम्भव है कि इन दोनों ग्रन्थोके संकलयिता एक ही आचार्य हों।

जैसे सप्ततिकाकी मंगल गाथामे इस प्रकरणको दृष्टिवाद अंगकी एक बूँदके समान बतलाया है वैसे ही शतककी १०४ नम्बरवाली गाथामे भी उसे कर्मप्रवाद श्रुतरूपी सागरकी एक बूँदके समान बतलाया गया है। जैसे सप्ततिकाकी अन्तिम गाथामें ग्रन्थकर्ता अपने लाघवको प्रकट करते हुए लिखते है कि 'अल्पज्ञ मैंने त्रुटित रूपसे जो कुछ भी निबद्ध किया है उसे बहुश्रुतके जानकार पूरा करके कथन करे।' वैसे ही शतककी १०५वी गाथामें भी उसके कर्ता निर्देश करते हैं कि 'अल्पश्रुतवाले अल्पज्ञ मैने जो बन्धविधानका सार कहा है उसे बन्ध-मोक्षकी विधिमें निपुण जन पूरा करके कथन करें।' दूसरी गाथाके अनुरूप एक गाथा कर्म प्रकृतिमें भी पाई जाती है।

गाथाएँ ये है—

वोच्छं सुण संखेवं नीसंदं दिट्ठिवायस्स ॥१॥ सप्ततिका।
कम्मप्पवायसुयसागरस्स णिस्संदमेत्ताओ ॥१०४॥ शतक।
जो जत्थ अपडिपुन्नो अत्थो अप्पागमेण बद्धो त्ति।
तं खमिऊण बहुसुया पूरेऊणं परिकहंतु ॥७२॥ सप्ततिका।
बंधविहाणसमासो रइओ अप्पसुयमंदमइणा उ।
तं बंधमोक्खणिउणा पूरेऊणं परिकहेंति ॥१०५॥ शतक।

इनमें णिस्संद, अप्पागम, अप्पसुयमदमइ, पूरेऊणं परिकहतु ये पद ध्यान देने योग्य है।

इन दोनों ग्रन्थोंका यह साम्य अनायास नही है। ऐसा साम्य उन्हीं ग्रंथोंमें देखनेको मिलता है जो या तो एक कर्तृक हों या एक दूसरेके आधारमे लिखे गये हो। बहुत सम्भव है कि शतक और सप्ततिका इनके कर्ता एक आचार्य हों।

शतककी चूर्णिमे[1] शिवशर्म आचार्यको उसका कर्ता बतलाया है। ये वे ही शिवशर्म प्रतीत होते हैं जो

१. केण कयं ति, शब्दतर्कन्यायप्रकरणकर्मप्रकृतिसिद्धान्तविजाणएण अणेगवायसमालद्धविजएण सिवसम्मायरियणामधेज्जेण कयं, पृ० १।

कर्मप्रकृतिके कर्ता माने गये हैं। इस हिसाबसे विचार करनेपर कर्मप्रकृति, शतक और सप्ततिका ये तीनों ग्रंथ एक कर्तृत्व सिद्ध होते हैं।

किन्तु कर्मप्रकृति और सप्ततिकाका मिलान करने पर ये दोनों एक आचार्यकी कृति हैं यह प्रमाणित नही होता, क्योंकि इन दोनों ग्रन्थोंमे विरुद्ध दो मतोंका प्रतिपादन किया गया है। उदाहरणार्थ—सप्ततिकामें अनन्तानुबन्धी चतुष्कको उपशम प्रकृति बतलाया गया है। किन्तु कर्मप्रकृतिके उपशमना प्रकरणमें 'नंतरकरणं उवसमो वा' यह कहकर अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी उपशमविधि और अन्तरकरण विधिका निषेध किया गया है।

इस परसे निम्न तीन प्रश्न उत्पन्न होते हैं—

१. क्या शिवशर्म नामके दो आचार्य हुए हैं—एक वे जिन्होंने शतक और सप्ततिकाकी रचनाकी है और दूसरे वे जिन्होंने कर्मप्रकृतिकी रचनाकी है?

२. शिवशर्म आचार्यने कर्मप्रकृतिकी रचना की, क्या यह किंवदन्तीमात्र है?

३. शतक और सप्ततिकाकी कुछ गाथाओंमे समानता देखकर एककर्तृक मानना कहाँ तक उचित है?

यह तो सम्भव है कि इनके संकलयिता एक ही आचार्य हों। किन्तु इनका संकलन विभिन्न दो आधारोंसे किया गया हो। जो कुछ भी हो। तत्काल उक्त आधारसे सप्ततिकाके कर्ता शिवशर्म ही है ऐसा निश्चित कहना विचारणीय है।

एक मान्यता यह भी प्रचलित है कि सप्ततिकाके कर्ता चन्द्रर्षि महत्तर हैं। किन्तु इस मतकी पुष्टिमे कोई सबल प्रमाण नही पाया जाता। सप्ततिकाकी मूल ताडपत्रीय प्रतियोंमे निम्नलिखित गाथा पाई जाती है—

'गाहग्गं सयरीए चंदमहत्तरमयाणुसारीए।
टीगाइ निअमिआणं एगूणा होइ नउई ओ॥'

इसका आशय है कि चन्द्रर्षि महत्तरके मतका अनुसरण करनेवाली टीकाके आधारसे सप्ततिकाकी गाथाएँ ८९ है।

किन्तु टबेकारने[1] इसका अर्थ करते समय सप्ततिकाके कर्ताको ही चन्द्रमहत्तर बतलाया है। मालूम पड़ता है कि इसी भ्रमपूर्ण अर्थके कारण सप्ततिकाके कर्ता चन्द्रर्षिमहत्तर हैं इस भ्रान्तिको जन्म मिला है।

प्रस्तुत सप्ततिकाके ऊपर जिस चूर्णिका उल्लेख हम अनेक बार कर आये हैं उसमे १० अन्तर्भाष्य गाथाओंको व ७ अन्य गाथाओंको मूल गाथाओंमें मिलाकर कुल ८९ गाथाओं पर टीका लिखी गई है।

मालूम होता है कि 'गाहग्गं सयरीए' यह गाथा इसी चूर्णिके आधारसे लिखी गई है। इससे दो बातोंका पता लगता है—एक तो यह कि चन्द्रर्षिमहत्तर उक्त चूर्णि टीकाके ही कर्ता है सप्ततिकाके, नही और दूसरी यह कि चन्द्रर्षिमहत्तर इन ८९ गाथाओंको किसी न किसी रूपसे सप्ततिकाकी गाथाएँ मानते थे।

इस प्रकार यद्यपि चन्द्रर्षिमहत्तर सप्ततिकाके कर्ता हैं इस मतका निरसन हो जाता है तथापि किस महानुभावने इस अपूर्व कृतिको जन्म दिया था इस बातका निश्चयपूर्वक कथन करना कठिन है। बहुत सम्भव है कि शिवशर्म सूरिने ही इसकी रचना की हो। यह भी सम्भव है कि अन्य आचार्य द्वारा इसकी रचनाकी गई हो।

रचनाकाल—ग्रन्थकर्ता और रचनाकाल इनका सम्बन्ध है। एकका निर्णय हो जाने पर दूसरेका निर्णय करनेमे बड़ी सहायता मिलती है। ऊपर हम ग्रन्थकर्ताके विषयमें निर्देश करते समय यह सम्भावना प्रकट कर आये हैं कि या तो शिवशर्मसूरिने इसकी रचना की है या इसके पहले ही यह लिखा गया था। साधारणतः शिवशर्म सूरिका वास्तव्यकाल विक्रमकी पाँचवीं शताब्दी माना गया है। इस हिसाबसे विचार करनेपर इसका

१ देखो प्रकरण रत्नाकर ४ था भाग, पृ० ८६९।

रचनाकाल, विक्रमकी पाँचवीं शताब्दी या इससे पूर्ववर्तीकाल ठहरता है। श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने अपनी विशेषणवतीमें[1] अनेक बार सित्तरीका उल्लेख किया है। श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणका काल विक्रमकी सातवीं शताब्दि निश्चित है, अतः पूर्वोक्त कालको यदि आनुमानिक ही मान लिया जाय तब भी इतना तो निश्चित ही है कि विक्रमकी सातवीं शताब्दिके पहले इसकी रचना हो गई थी। इसकी पुष्टि दिगम्बर परम्परामें प्रचलित प्राकृत पंचसंग्रहसे भी होती है। प्राकृत पंचसंग्रहका संकलन विक्रमकी सातवीं शताब्दीके आस-पास हो चुका था। इसमें सप्ततिका संकलित है, अतः इसकी रचना प्राकृत पंचसंग्रहके रचनाकालसे पहले हो गई थी यह निश्चित होता है।

टीकाएँ—यहाँ अब सप्ततिकाकी टीकाओंका संक्षेपमें परिचय करा देना आवश्यक प्रतीत होता है। प्रथम कर्मग्रन्थके पृष्ठ १७५ पर श्वेताम्बरीय कर्म विषयक ग्रन्थोंकी एक सूची छपी है। उसमें सप्ततिकाकी अनेक टीका टिप्पनियोंका उल्लेख है। पाठकोंकी जानकारीके लिये आवश्यक संशोधनके साथ हम उसे यहाँ दे रहे हैं।

टीका नाम	परिमाण	कर्ता	रचनाकाल
अन्तर्भाष्य गा०	गा० १०	अज्ञात	अज्ञात
भाष्य	गाथा १९१	अभयदेव सूरि	वि. ११-१२वीं श.
[2]चूर्णि	पत्र १३२	अज्ञात	अज्ञात
[3]चूर्णि	श्लो० २३००	चन्द्रर्षि महत्तर	अनु० ७वीं श०
वृत्ति	,, ३७८०	मलयगिरि सूरि	वि. १२-१३वीं श.
भाष्यवृत्ति	,, ४१५०	मेरुतुंग सूरि	वि.सं. १४४९
टिप्पन	,, ५७४	रामदेव	वि. १२ वीं. श.
अवचूरि	देखो नव्य कर्म ग्रन्थकी अव०	गुणरत्न सूरि	वि. १५वीं श.

इनमें १ अन्तर्भाष्य गाथा, २ चन्द्रर्षि महत्तरकी चूर्णि और ३ मलयगिरि सूरिकी वृत्ति इन तीनका परिचय कराया जाता है।

अन्तर्भाष्य गाथाएँ—सप्ततिकामें अन्तर्भाष्य गाथाएँ कुल दस हैं। ये विविध विषयोंका खुलासा करनेके लिये रची गई है। इनकी रचना किसनेकी इसका निश्चय करना कठिन है। सम्भव है प्रस्तुत सप्ततिका के संकलयिताने ही इनकी रचनाकी हो। खास खास प्रकरण पर कषायप्राभृतमें भी भाष्यगाथाएँ पाई जाती हैं और उनके रचयिता स्वयं कषायप्राभृतकार है। बहुत संभव है इसी पद्धतिका यहाँ भी अनुसरण किया गया हो। ये चन्द्रर्षिमहत्तरकी चूर्णि और मलयगिरिकी टीका इन दोनोंमें संगृहीत हैं। मलयगिरिकी टीकामें इन्हें स्पष्टतः अन्तर्भाष्य गाथा कह कर संकलित किया गया है। चूर्णिमें प्रारम्भकी सात गाथाओंको तो अन्तर्भाष्य गाथा बतलाया है किन्तु अन्तकी तीन गाथाओंका निर्देश अन्तर्भाष्य गाथारूपसे नहीं किया है। चूर्णिमें इन पर टीका भी लिखी गई है।

१. सयरीय मोहबंधट्ठाणा पंचादओ कया पंच। अनिअट्टिणो छलसा णवादओदीरणा पगए ॥९०॥ आदि। विशेषणवती।

२. इसका उल्लेख जैन ग्रन्थावलिमें मुद्रित बृहट्टिप्पनिकाके आधारसे दिया है।

३. इसका परिमाण २३०० श्लोक अधिक ज्ञात होता है। यह मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर डभोईसे प्रकाशित हो चुकी है।

चूर्णि—यह मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर डभोईसे प्रकाशित हुई है। जैसा कि हम पहले निर्देश कर आये हैं इसके कर्ता चन्द्रर्षिमहत्तर प्रतीत होते हैं। आचार्य मलयगिरिने इसका खूब उपयोग किया है। वे चूर्णिकार की स्तुति करते हुए सप्ततिकाके ऊपर लिखी गई अपनी वृत्तिकी प्रशस्तिमें लिखते है—

'यैरेषा विषमार्था सप्ततिका सुस्फुटीकृता सम्यक्।
अनुपकृतपरोपकृतश्चूर्णिकृतस्तान् नमस्कुर्वे ॥'

जिन्होंने इस विषम अर्थवाली सप्ततिकाको भले प्रकार स्फुट कर दिया है, निःस्वार्थ भावसे दूसरोंका उपकार करनेवाले उन चूर्णिकारको मैं (मलयगिरि) नमस्कार करता हूँ।

सचमुचमें यह चूर्णि ऐसी ही लिखी गई है। इसमें सप्ततिकाके प्रत्येक पदका बड़ी ही सुन्दरतासे खुलासा किया गया है। खुलासा करते समय अनेक ग्रन्थोंके उद्धरण भी दिये गये हैं। उद्धरण देते समय शतक[1], [2]सत्कर्म, कषायप्राभृत[3] और [4]कर्मप्रकृतिसंग्रहणीका इसमें भरपूर उपयोग किया गया है। जैसा कि पहले बतला आये है, इसमें ८९ गाथाओं पर टीका लिखी गई है। ७२ गाथाएँ वे ही हैं जिन पर मलय-गिरि आचार्यने टीका लिखी है। १० अन्तर्भाष्य गाथाएँ हैं और सात अन्य गाथाएँ हैं। ये सात गाथाएँ हम पहले ग्रन्थकर्ताका निर्णय करते समय उद्धृत कर आये हैं। यद्यपि ग्रन्थके बाहरकी प्रकरणोपयोगी गाथाओंकी टीका करनेकी परिपाटी पुरानी है। धवला आदि टीकाओंमें ऐसी कई उपयोगी गाथाओंकी टीका दी गई है। पर वहाँ प्रकरण या अन्य प्रकारसे इसका ज्ञान करा दिया जाता है कि यह मूल गाथा नहीं है। किन्तु इस चूर्णिमें ऐसा समझनेका कोई आधार नहीं है। चूर्णिकार मूल गाथाका व्याख्यान करते समय गाथाके प्रारम्भका कुछ अंश उद्धृत करते है। यथा—

उवरयबंधे चउ पण नवंस० त्ति गाहा।

मलयगिरि आचार्यने जिन गाथाओंको मूलका नही माना है उनकी टीका करते समय भी चूर्णिकारने उसी पद्धतिका अनुसरण किया है।

यथा—

सत्तट्ठ नव० गाहा। सत्तावीसं सुहुमे० गाहा। अणियट्टिबायरे थीण० गाहा। एत्तो हणइ० गाहा। इत्यादि।

इससे यह निर्णय करनेमे बड़ी कठिनाई हो जाती है कि सप्ततिकाकी मूल गाथाएँ कौन कौन है। मालूम होता है कि 'गाहग्गं सयरीए' यह गाथा इसी कारण रची गई है। इसमे सप्ततिकाका इतिहास सन्नि-हित है। वर्तमानमें आचार्य मलयगिरिकी टीका ही ऐसी है जिससे सप्ततिकाकी गाथाओंका परिमाण निश्चित करनेमें सहायता मिलती है। इसीसे हमने गाथा संख्याका निर्णय करते समय आचार्य मलयगिरिकी टीकाका प्रमुखतासे ध्यान रखा है।

वृत्ति—सप्ततिकाके ऊपर एक वृत्ति आचार्य मलयगिरिने भी लिखी है। वैदिक परम्परामे टीकाकारों में जो स्थान वाचस्पतिमिश्रका है। जैन परम्परामे वही स्थान मलयगिरि सूरिका है। इन्होंने जिन ग्रन्थोंपर

१. 'एएसि विवरणं जहा सयगे।' पृ० ४। 'एएसि भेओ सरूवनिरूपणा जहा सयगे' पृ० ५। इत्यादि।

२. संतकम्मे भणियं।' पृ० ७। अण्णे भणंति—सुस्सरं विगलिंदियाण णत्थि, तण्ण, संतकम्मे उक्तत्वात्।' पृ० २२। इत्यादि।

३. जहा कसायपाहुडे कम्मपगडि संगहणीए वा तहा वत्तव्वं।' पृ० ६२।

४. उव्वट्टणाविही जहा कम्मपगडीसंगहणीए उव्वलणसकमे तहा भाणियव्वं पृ० ६१। 'विसेसपवंचो जहा कम्मपगडिसंगहणीए।' पृ० ६३। इत्यादि।

टीकाएँ लिखीं हैं उनकी तालिका बहुत बड़ी है। ऐसी एक तालिका आत्मानन्द जैन ग्रन्थमालासे प्रकाशित होनेवाले ८६वें रत्नकी प्रस्तावनामें छपी है। पाठकोंकी जानकारीके लिये उसे हम यहाँ दे रहे हैं।

नाम	श्लोकप्रमाण
१. भगवती सूत्र द्वितीय शतकवृत्ति	३७५०
२. राजप्रश्नीयोपाङ्गटीका	३७०० मुद्रित
३. जीवाभिगमोपाङ्गटीका	१६००० ,,
४. प्रज्ञापनोपाङ्गटीका	१६००० ,,
५. चन्द्रप्रज्ञप्त्युपाङ्गटीका	९५०० ×
६. नन्दीसूत्रटीका	७७३२ ,,
७. सूर्यप्रज्ञप्त्युपांगटीका	९५०० ,,
८. व्यवहारसूत्रवृत्ति	३४००० ,,
९. बृहत्कल्पपीठिकावृत्ति अपूर्ण	४६०० ,,
१०. आवश्यकवृत्ति ,,	१८००० ,,
११ पिण्डनिर्युक्त टीका	६७०० ,,
१२. ज्योतिष्करण्ड टीका	५००० ,,
१३. धर्मसंग्रहणी वृत्ति	१०००० ,,
१४. कर्मप्रकृति वृत्ति	८००० ,,
१५. पंचसंग्रहवृत्ति	१८८५० ,,
१६. षडशीतिवृत्ति	२००० ,,
१७. सप्ततिकावृत्ति	३७८० ,,
१८. बृहत्संग्रहणीवृत्ति	५००० ,,
१९. बृहत्क्षेत्रसमासवृत्ति	९५०० ,,
२०. मलयगिरिशब्दानुशासन	५००० (?)

अलभ्यग्रन्थ

१. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति टीका
२. ओघनिर्युक्ति टीका
३. विशेषावश्यक टीका
४. तत्त्वार्थाधिगम सूत्र टीका
५. धर्मसारप्रकरण टीका
६. देवेन्द्रनरकेन्द्रकप्रकरण टीका

मलयगिरि सूरिकी टीकाओंको देखनेसे मन पर यह छाप लगती है कि वे प्रत्येक विषयका बड़ी ही सरलताके साथ प्रतिपादन करते हैं। जहाँ भी वे नये विषयका संकेत करते हैं वहाँ उसकी पुष्टिमें प्रमाण अवश्य देते हैं। उदाहरणार्थ मूल सप्ततिकासे यह सिद्ध नहीं होता कि स्त्रीवेदी जीव मरकर सम्यग्दृष्टियोंमें उत्पन्न होता है। दिगम्बर परम्पराकी यह निरपवाद मान्यता है। श्वेताम्बर मूल ग्रन्थोंमें भी यह मान्यता इसी प्रकार पाई जाती है। किन्तु श्वेताम्बर टीकाकारोंने इस मतको निरपवाद नहीं माना है। उनका कहना है कि इस कथनका सप्ततिकामें बहुलताकी अपेक्षा निर्देश किया गया है। आचार्य मलयगिरिने भी अपनी वृत्तिमें इसी पद्धतिका अनुसरण किया है। किन्तु इसकी पुष्टिमें तत्काल उन्होंने चूर्णिका सहारा ले लिया है। इसमें सप्ततिका चूर्णिका उपयोग तो किया ही गया है, किन्तु इसके अलावा सिद्धहेम, तत्त्वार्थाधिगमकी सिद्ध-

सेनीय टीका, शतकबृहच्चूर्णि, सत्कर्मग्रन्थ, पंचसंग्रहमूलटीका, कर्मप्रकृति, आवश्यकचूर्णि, विशेषावश्यकभाष्य, पंचसंग्रह और कर्मप्रकृतिचूर्णि इन ग्रन्थोंका भी भरपूर उपयोग किया गया है। इसके अलावा बहुतसे ग्रन्थोंके उल्लेख 'उक्तं च' कहकर दिये गये हैं। तात्पर्य यह है कि मूल विषयको स्पष्ट करनेके लिए यह वृत्ति खूब सजाई गई है। आचार्य मलयगिरि, आचार्य हेमचन्द्र और महाराज कुमारपालदेवके समकालीन माने जाते हैं। इनकी टीकाओंके कारण श्वेताम्बर जैनवाङ्मयके प्रसार करनेमें बड़ी सहायता मिली है। हमें यह प्रकाशित करते हुए प्रसन्नता होती है कि सप्ततिकाका प्रस्तुत अनुवाद आचार्य मलयगिरिका इसी वृत्तिके आधारसे लिखा गया है।

३. अन्य सप्ततिकाएँ

पंचसंग्रहकी सप्ततिका—प्रस्तुत सप्ततिकाके सिवा एक सप्ततिका आचार्य चन्द्रर्षिमहत्तर कृत पंचसंग्रहमें ग्रथित है। पंचसंग्रह एक संग्रह ग्रंथ है। यह पाँच प्रकरणोंमें विभक्त है। इसके अन्तिम प्रकरणका नाम सप्ततिका है।

एक तो पंचसंग्रहके सप्ततिकाकी अधिकतर मूल गाथाएँ प्रस्तुत सप्ततिकासे मिलती-जुलती हैं, दूसरे पंचसंग्रहकी रचना प्रस्तुत सप्ततिकाके बहुत काल बाद हुई है और तीसरे इसका नाम सप्ततिका होते हुए भी इसमे १५६ गाथाएँ हैं। इससे ज्ञात होता है कि पंचसंग्रहकी सप्ततिका आधार प्रकृत सप्ततिका ही रहा है।

दिगम्बर परम्परामें प्रचलित सप्ततिका—एक अन्य सप्ततिका दिगम्बर परम्परामें प्रचलित है। यद्यपि अब तक इसकी स्वतन्त्र प्रति देखनेमे नही आई है तथापि प्राकृत पंचसंग्रहमें उसके अंगरूपसे यह पाई जाती है।

प्राकृत पंचसंग्रह[1] एक संग्रह ग्रन्थ है। इसमें जीवसमास, प्रकृति-समुत्कीर्तन, बन्धोदयसत्त्वयुक्त पद, शतक और सप्ततिका इन पाँच ग्रन्थोंका संग्रह किया गया है। इनमेंसे अन्तके दो प्रकरणों पर भाष्य भी है। आचार्य अमितिगतिका पंचसंग्रह इसीके आधारसे लिखा गया है। अमितिगतिका पंचसंग्रह संस्कृतमें होनेके कारण इसे प्राकृत पंचसंग्रह कहते हैं। यह गद्य-पद्य उभयरूप है। इसमे गाथाएँ १३०० से अधिक हैं।

इसके अन्तके दो प्रकरण शतक और सप्तिकाका कुछ पाठभेदके साथ श्वेताम्बर परम्परामे प्रचलित शतक और सप्ततिकासे मिलते-जुलते है। तत्त्वार्थसूत्रके बाद ये ही दो ग्रन्थ ऐसे मिले हैं जिन्हें दोनों परम्पराओंने स्वीकार किया है। दिगम्बर परम्परामे प्रचलित इन दोनों ग्रन्थोंका स्वय पंचसंग्रहकारने संग्रह किया है या पंचसंग्रहकारने इन पर केवल भाष्य लिखा है इसका निर्णय करना कठिन है। इसके लिए अधिक अनुसंधानकी आवश्यकता है।

दोनों सप्तिकाओंमें पाठभेद और उसका कारण—प्रस्तुत सप्ततिकामें ७२ और दिगम्बर परम्पराकी सप्ततिकामे ७१ गाथायें है, जिनमेंसे ४० से अधिक गाथाएँ एकसी हैं। १४-१५ गाथाओंमें कुछ पाठभेद है। शेष गाथाएँ जुदी-जुदी है। इसके कारण दो हैं, मान्यता भेद और वर्णन करनेकी शैलीमे भेद।

मान्यता भेदके हमे चार उदाहरण मिले हैं। यथा—

१. प्रस्तुत सप्ततिकामें निद्राद्विकका उदय क्षपकश्रेणिमें नही होता, इस मतको प्रधानता देकर भंग

१. पंचसंग्रहकी एक प्रति हमें हमारे मित्र पं० हीरालाल शास्त्रीने भेजी थी जिसके आधारसे यह परिचय लिखा गया है। पंडितजीके इस कार्यके लिए हम उनका सम्पादकीय वक्तव्यमें आभार मानना भूल गये हैं, इसलिए यहां उनका विशेष रूपसे स्मरण कर लेना हम अपना कर्तव्य समझते है। शतक और सप्ततिकाकी चूर्णि भी उन्हीसे प्राप्त हुई थीं। उनका प्रस्तावनामें बड़ा उपयोग हुआ है।

बतलाये गये हैं, किन्तु दिगम्बर परम्पराकी सप्ततिकामें क्षपकश्रेणिमें निद्राद्विकका उदय होता है, इस मतको प्रधानता देकर भंग बतलाये गये हैं।

२. प्रस्तुत सप्ततिकामें मोहनीयके उदयविकल्प और पदवृन्द दो प्रकारसे बतलाये गये हैं किन्तु दिगम्बर परम्पराकी सप्ततिकामें वे एक प्रकारके ही बतलाये गये हैं।

३. प्रस्तुत सप्ततिकामें नामकर्मके १२ उदयस्थान बतलाये गये हैं। कर्मकाण्डमें भी ये ही १२ उदयस्थान निबद्ध किये गये हैं। किन्तु दिगम्बर परम्पराकी सप्ततिकामें २० प्रकृतिक उदयस्थान छोड़ दिया गया है।

४. प्रस्तुत सप्ततिकामें आहारक शरीर व आहारक अंगोपांग और वैक्रिय शरीर व वैक्रिय अंगोपांग इन दो युगलोंकी उद्वेलना होते समय इनके बन्धन और संघातकी उद्वेलना नियमसे होती है इस सिद्धान्तको स्वीकार करके नामकर्मके सत्वस्थान बतलाये गये हैं। गोम्मटसार कर्मकाण्डके सत्वस्थान प्रकरणमें इसी सिद्धान्तको स्वीकार किया गया है, किन्तु दिगम्बर परम्पराकी सप्ततिकामें उद्वेलना प्रकृतियोंमें आहारक व वैक्रिय शरीरके बन्धन और संघात सम्मिलित नहीं करके नामकर्मके सत्वस्थान बतलाये गये हैं। गोम्मटसार कर्मकाण्डके त्रिभंगी प्रकरणमें इसी सिद्धान्तको स्वीकार किया गया है।

मान्यता भेदके ये चार ऐसे उदाहरण हैं जिनके कारण दोनों सप्ततिकाओंकी अनेक गाथाएँ जुदी-जुदी हो गई हैं और अनेक गाथाओंमें पाठभेद भी हो गया है। फिर भी ये मान्यताभेद सम्प्रदायभेद पर आधारित नहीं हैं।

इसी प्रकार कहीं-कहीं वर्णन करनेकी शैलीमें भेद होनेसे गाथाओंमें फरक पड़ गया है। यह अन्तर उपशमना प्रकरण और क्षपणाप्रकरणमें देखनेको मिलता है। प्रस्तुत सप्ततिकामें उपशमना और क्षपणाकी खास-खास प्रकृतियोंका ही निर्देश किया गया है। दिगम्बर परम्पराकी सप्ततिकामें क्रमानुसार उपशमना और क्षपणा सम्बन्धी सब प्रकृतियोंकी संख्याका निर्देश करनेकी व्यवस्था की गई है।

इस प्रकार यद्यपि इन दोनों सप्ततिकाओंमें भेद पड जाता है तो भी ये दोनो एक उद्गमस्थानसे निकलकर और बीच-बीचमें दो धाराओंमें विभक्त होती हुई अन्तमें एकरूप हो जाती हैं।

दिगम्बर परम्पराकी सप्ततिकाकी प्राचीनता—पहले हम अनेक बार प्राकृत पंचसंग्रहका उल्लेख कर आये हैं। इसका सामान्य परिचय भी दे आये हैं। कुछ ही समय हुआ जब यह ग्रन्थ प्रकाशमें आया है। अमितिगतिका पंचसंग्रह इसीके आधारसे लिखा गया है। अमितिगतिने इसे विक्रम संवत्[1] १०७३ में पूरा किया था। इसमें वही क्रम स्वीकार किया गया है जो प्राकृत पंचसंग्रहमें पाया जाता है। केवल नामकर्मके उदयस्थानोंका विवेचन करते समय प्राकृत पंचसंग्रहके क्रमको छोड़ दिया गया है। प्राकृत पंचसंग्रहमें नाम कर्मका २० प्रकृतिक उदयस्थान नहीं बतलाया है। प्रतिज्ञा करते समय इसमें भी २० प्रकृतिक उदयस्थानका[2] निर्देश नहीं किया है। किन्तु उदयस्थानोंका व्याख्यान करते समय इसे[3] स्वीकार कर लिया है।

गोम्मटसार जीवकाण्ड और कर्मकाण्डमें भी पंचसंग्रहका पर्याप्त उपयोग किया गया है। कर्मकाण्डमें ऐसे दो मतोंका उल्लेख मिलता है जो स्पष्टतः प्राकृत पंचसंग्रहकी सप्ततिकासे लिये गये जान पड़ते हैं। एक मत अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी उपशमनावाला है और दूसरे मतका सम्बन्ध कर्मकाण्डमें बतलाये गये नामकर्मके सत्त्वस्थानोंसे है। दिगम्बर परम्परामें ये दोनों मत प्राकृत पंचसंग्रहकी सप्ततिकाके सिवा अन्यत्र देखनेमें नहीं आये।

१. 'त्रिसप्तत्यधिकेऽब्दानां सहस्रे शकविद्विषः। मसूतिकापुरे जातमिदं शास्त्रं मनोरमम् ॥' अ० पंचसं प्र०।
२. देखो अ० पंचसं, पृ० १६८। ३. देखो अ० पंचसं०, पृ० १७९।

यद्यपि कर्मकाण्डमें अनन्तानुबन्धी चतुष्कका उपशम होता है इस बातका विधान नहीं किया है तथापि वहाँ उपशमश्रेणिमें मोहनीयकी २८ प्रकृतियोंकी भी सत्ता[1] बतलाई है। इससे सिद्ध होता है कि नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती अनन्तानुबन्धीके उपशमवाले मतसे भलीभाँति परिचित थे।

दूसरे मतका विधान करते हुए गोम्मटसारके त्रिभंगी प्रकरणमें निम्नलिखित गाथा आई है—

तिदुइगिणउदी णउदी अडचउदोअहियसीदि सीदी य।
ऊणासीदट्ठत्तरि सत्तत्तरि दस य णव संता ॥६०९॥

यह गाथा प्राकृत पंचसंग्रहकी सप्ततिकासे ली गई है। वहाँ इसका रूप इस प्रकार है—

तिदुइगिणउदिं णउदिं अडचउदुगहियमसीदिमसीदिं च।
उणसीदिं अट्ठत्तरि सत्तत्तरि दस य णव संता ॥२३॥

इन गाथाओंमें नामकर्मके सत्त्वस्थान बतलाये गये हैं। इन सत्त्वस्थानोंका निर्देश करते समय चालू कार्मिक परम्पराके विरुद्ध एक विशेष सिद्धांत स्वीकार किया गया है। चालू कार्मिक परम्परा यह है कि बन्ध और संक्रम प्रकृतियोंमें पाँच बन्धन और पाँच संघात पाँच शरीरोंसे जुदे न गिनाये जाकर भी सत्त्वमें जुदे गिनाये जाते हैं। किन्तु यहाँ इस क्रमको छोड़कर ये सत्त्वस्थान बतलाये गये हैं।

प्राचीन ग्रन्थोंमे यह मत प्राकृत पंचसंग्रहकी सप्ततिकाके सिवा अन्यत्र देखनेमें नहीं आया। मालूम होता है कि नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने प्राकृत पंचसंग्रहके आधारसे ही कर्मकाण्डमें इस मतका संग्रह किया है। ये प्रमाण ऐसे हैं जिनसे हम यह जान लेते हैं कि प्राकृत पंचसंग्रहकी रचना गोम्मटसार और अमितिगतिके पंचसंग्रहके पहले हो चुकी थी। किन्तु इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी प्रमाण मिलते हैं जिनसे यह भी ज्ञात होता है कि इसकी रचना धवला टीका और श्वेताम्बर परम्परामें प्रचलित शतककी चूर्णिकी रचना होनेके भी पहले हो चुकी थी।

धवला चौथी पुस्तकके पृष्ठ ३१५ में वीरसेन स्वामीने 'जीवसमासए वि उत्तं' कहकर 'छप्पंचणव-विहाणं' गाथा उद्धृतकी गई है। यह गाथा प्राकृत पंचसंग्रहके जीवसमास प्रकरणमें १५९ नम्बर पर दर्ज है। इससे ज्ञात होता है कि प्राकृत पंचसंग्रहका वर्तमानरूप धवलाके निर्माणकालके पहले निश्चित हो गया था।

ऐसा ही एक प्रमाण शतककी चूर्णिमें भी मिलता है जिससे जान पड़ता है कि शतक की चूर्णि लिखे जानेके पहले प्राकृत पंचसंग्रह लिखा जा चुका था।

शतककी ९३ वें गाथाकी चूर्णिने दो बार पाठान्तरका उल्लेख किया है। पाठान्तर प्राकृत पंचसंग्रहमें निबद्ध दिगम्बर परम्पराके शतकसे लेकर उद्धृत किये गये जान पड़ते हैं।

शतककी ९३वीं गाथा इस प्रकार है—

'आउक्कस्स पएसस्स पंच मोहस्स सत्त ठाणाणि।
सेसाणि तणुकसाओ बंधइ उक्कोसगे जोगे ॥९३॥'

प्राकृत पंचसंग्रहके शतकमें यह गाथा इस प्रकार पाई जाती है—

'आउसस्स पदेसस्स छच्च मोहस्स णव दु ठाणाणि।
सेसाणि तणुकसाओ बंधइ उक्कस्सजोगेण ॥'

इन गाथाओंको देखनेसे दोनोंका मतभेद स्पष्ट ज्ञात हो जाता है। शतककी चूर्णिमें इसी मतभेदकी चर्चा की गई है। वहाँ इस मतभेदका इस प्रकार निर्देश किया है—

---

१. देखो गो कर्म० गा० ५११।

"अन्ने पढंति आउक्कोसस्स छ त्ति।.........अन्ने पढंति मोहस्स णव उ ठाणाणि।"

शतककी चूर्णि कब लिखी गई इसके निर्णयका अब तक कोई निश्चित आधार नहीं मिला है। मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर डभोई से प्रकाशित होने वाली चूर्णिसहित सित्तरीकी प्रस्तावनामें पं० अमृतलालजीने एक प्रमाण[1] अवश्य उपस्थित किया है। यह प्रमाण खंभातमे स्थित श्री शान्तिनाथजीकी ताडपत्रीय भंडारकी एक प्रतिसे लिया गया है। इसमें शतककी चूर्णिका कर्ता श्रीचन्द्रमहत्तर श्वेताम्बराचार्यको बतलाया है। ये चन्द्रमहत्तर कौन हैं, इसका निर्णय करना तो कठिन है। कदाचित् ये पंचसंग्रहके कर्ता चन्द्रर्षिमहत्तर हो सकते हैं। यदि पंचसंग्रह और शतककी चूर्णिके कर्ता एक ही व्यक्ति हैं तो यह अनुमान किया जा सकता है कि दिगम्बर परम्पराके पंचसंग्रहका संकलन चन्द्रर्षिमहत्तरके पंचसंग्रहके पहले हो गया था।

इस प्रकार प्राकृत पंचसंग्रहकी प्राचीनताके अवगत हो जानेपर उसमे निबद्ध सप्ततिकाकी प्राचीनता तो सुतरां सिद्ध हो जाती है।

प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थमें प० हीरालाल जी सिद्धान्तशास्त्रीका 'प्राकृत और संस्कृत पंचसंग्रह तथा उनका आधार' शीर्षक एक लेख छपा है। उसमें उन्होंने प्राकृत पंचसंग्रहकी सप्ततिकाका आधार प्रस्तुत सप्ततिकाको बतलाया है। किन्तु जबतक इसकी पुष्टिमे कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता तब तक ऐसा निष्कर्ष निकालना कठिन है। अभी तो केवल इतना ही कहा जा सकता है कि किसी एकको देखकर दूसरी सप्ततिका लिखी गई है।

४. विषय परिचय

सप्ततिकाका विषय संक्षेपमें उसकी प्रथम गाथामें दिया है। इसमें आठों मूल कर्मों व अवान्तर भेदोंके बन्धस्थान, उदयस्थान और सत्त्वस्थानोंका स्वतन्त्र रूपसे व जीवसमास और गुणस्थानोंके आश्रयसे विवेचन करके अन्तमें उपशम विधि और क्षपणा विधि बतलाई गई है। कर्मोंकी यथासम्भव दस अवस्थाएँ होती है। उनमेंसे तीन मुख्य है—बन्ध, उदय और सत्त्व। शेष अवस्थाओंका इन तीनमे अन्तर्भाव हो जाता है। इसलिए यदि यह कहा जाय कि कर्मोंकी विविध अवस्थाओं और उनके भेदोंका इसमे सागोपाग विवेचन किया गया है तो कोई अत्युक्ति न होगी। सचमुचमें ग्रन्थका जितना परिमाण है उसे देखते हुए वर्णन करनेकी शैलीकी प्रशंसा करनी ही पड़ती है। सागरका जल गागरमे भर दिया गया है। इतने लघुकाय ग्रन्थमे इतने विशाल और गहन विषयका विवेचन कर देना हर किसीका काम नहीं है। इसमे ग्रन्थकर्ता और ग्रन्थ दोनोंकी ही महानता सिद्ध होती है। इसकी प्रथम और दूसरी गाथामे विषयकी सूचना की गई है। तीसरी गाथामे आठ मूल कर्मोंके संवेध भंग बतलाकर चौथी और पाँचवी गाथामे क्रमसे उनका जीवसमास और गुणस्थानोंमे विवेचन किया गया है। छठी गाथामे ज्ञानावरण और अन्तराय कर्मके अवान्तर भेदोंके संवेध भंग बतलाये हैं। सातवीसे लेकर नौवीके पूर्वार्ध तक ढाई गाथामे दर्शनावरणके उत्तर भेदोंके संवध भंग बतलाये है। नौवी गाथाके उत्तरार्धमे वेदनीय, आयु और गोत्र कर्मके संवेध भंगोंके कहनेकी सूचना मात्र करके मोहनीयके कहनेकी प्रतिज्ञा की गई है। दसवीसे लेकर तेईसवी गाथा तक १४ गाथाओं द्वारा मोहनीयके और २४वी गाथासे लेकर ३२वीं गाथा तक ९ गाथाओं द्वारा नामकर्मके बन्धादि स्थानो व संवेध भंगोंका विचार किया गया है। आगे ३३वी गाथासे लेकर ५२वी गाथा तक २० गाथाओ द्वारा अवान्तर प्रकृतियोके उक्त संवेध भंगोंको जीवसमासों और गुणस्थानोंमें घटित करके बतलाया गया है। ५३वी गाथामे गति आदि मार्गणाओंके साथ सत् आदि आठ अनुयोग द्वारोंमे उन्हें घटित करनेकी सूचना की है। इसके आगे प्रकरण बदल जाता

१. कृतिराचार्य श्रीचंद्रमहत्तरशितांबरस्य शतकस्य। प्रशस्तचू.........दि ६ शनौ लिखितेति ॥६॥

है। ५४वीं गाथामें उदयसे उदीरणाके स्वामीमें कितनी विशेषता है इसका निर्देश करके ५५वीं गाथामें वे ४१ प्रकृतियाँ बतलाई है जिनमे विशेषता है। ५६वीं से लेकर ५९वीं तक ४ गाथाओं द्वारा किस गुणस्थानमें कितनी प्रकृतियोंका बन्ध होता है यह बतलाया गया है। ६०वीं प्रतिज्ञा गाथा है। इसमें गति आदि मार्गणाओंमें बन्धस्वामित्वके जान लेनेकी प्रतिज्ञा की गई है। ६१वीं गाथामें यह बतलाया है कि तीर्थङ्कर प्रकृति, देवायु और नरकायु इनका सत्त्व तीन तीन गतियोंमें ही होता है। किन्तु इनके सिवा शेष प्रकृतियोंका सत्त्व सब गतियोंमें पाया जाता है। ६२वी और ६३वीं गाथा द्वारा चार अनन्तानुबन्धी और तीन दर्शन मोहनीय इनके उपशमना और क्षपणाके स्वामीका निर्देश करके ६४वी गाथा द्वारा क्रोधादि चारकी क्षपणाके विशेष नियमकी सूचना की गई है। अयोगीके द्विचरम समयमें किन प्रकृतियोंका क्षय होता है यह ६५वीं गाथामे बतलाया गया है। अयोगी जिन कितनी प्रकृतियोंका वेदन करते हैं यह ६६वी गाथामें बतलाया गया है। ६७वीं गाथामें नामकर्मकी वे ९ प्रकृतियाँ गिनाई हैं जिनका उदय अयोगीके होता है। अयोगीके अन्तिम समयमें कितनी प्रकृतियोंका उदय होता है यह ६८वी गाथा बतलाती है। ६९वीं गाथामे अयोगीके अन्तिम समयमे जिन प्रकृतियोंका क्षय होता है उनका निर्देश किया है। आगे ७०वी गाथामें सिद्धोंके सिद्ध सुखका निर्देश करके उपसंहार स्वरूप ७१वीं गाथा आई है और ७२वी गाथामे लघुता प्रकट करके ग्रन्थ समाप्त किया गया है। यह ग्रन्थका संक्षिप्त परिचय है। अब आगे प्रकृतोपयोगी समझ कर कर्म तत्त्वका संक्षेपमे विचार करते हैं।

५. कर्म-मीमांसा

कर्मके विषयमे तुलनात्मक ढगसे या स्वतंत्र भावसे अनेक लेखकोंने बहुत कुछ लिखा है। तथापि जैन दर्शनने कर्मको जिस रूपमे स्वीकार किया है वह दृष्टिकोण सर्वथा लुप्त होता जा रहा है। जैन कर्मवादमें ईश्वरवादकी छाया आती जा रही है। यह भूल वर्तमान लेखक ही कर रहे है ऐसी बात नहीं है पिछले लेखकोंसे भी ऐसी भूल हुई है। इसी दोषका परिमार्जन करनेके लिये स्वतंत्र भावसे इस विषय पर लिखना जरूरी समझकर यहाँ संक्षेपमे इस विषयकी मीमांसा की जा रही है।

छह द्रव्योंका स्वरूप निर्देश—भारतीय सब आस्तिक दर्शनोंने जीवके अस्तित्वको स्वीकार किया है। जैनदर्शनमे इसकी चर्चा विशेष रूपसे की गई है। समय प्राभृतमे जीवके स्वरूपका निर्देश करते हुए इसे[1] रस रहित, गन्धरहित, रूपरहित, स्पर्शरहित, अव्यक्त और चेतना गुणवाला बतलाया है। यद्यपि तत्त्वार्थसूत्रमें जीवको[2] उपयोग लक्षणवाला लिखा है पर इससे उक्त कथनका ही समर्थन होता है। ज्ञान और दर्शन ये चेतनाके भेद है। उपयोग शब्दसे इन्हींका बोध होता है।

ज्ञान और दर्शन यह जीवका निज स्वरूप है जो सदा काल अवस्थित रहता है। जीवमात्रमें यह सदा पाया जाता है। इसका कभी भी अभाव नही होता। जो तिर्यंच योनिमे भी निकृष्टतम योनिमे विद्यमान हैं उसके भी यह पाया जाता है और परम उपास्य देवत्वको प्राप्त है उसके भी यह पाया जाता है। यह सबके पाया जाता है। ऐसा कोई भी जीव नहीं है जिसके यह नही पाया जाता है।

जीवके सिवा ऐसे बहुतसे पदार्थ हैं जिनमें ज्ञान-दर्शन नही पाया जाता। वैज्ञानिकोंने ऐसे जड़ पदार्थों-की संख्या कितनी ही क्यों न बतलाई हो पर जैनदर्शनमें वर्गीकरण करके ऐसे पदार्थ पाँच बतलाये गये हैं जो ज्ञानदर्शनसे रहित है। वैज्ञानिकों द्वारा बतलाये गये सब जड़ तत्त्वोंका समावेश इन पाँच तत्त्वोंमे हो जाता है।

---

१. 'अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं। जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।'—समयप्राभृत गाथा ४९।
२. 'उपयोगो लक्षणम्।' त० सू० २-८

वे पाँच तत्त्व ये हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें जीव तत्त्वके मिला देने पर कुल छह तत्त्व होते हैं। जैन दर्शन इन्हें द्रव्य शब्दसे पुकारता है।

जीव द्रव्यका स्वरूप पहले बतलाया ही है। शेष द्रव्योंका स्वरूप निम्न प्रकार है—

जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध और रूप पाया जाता है उसे पुद्गल[1] कहते हैं। जैन दर्शनमें स्पर्शादिककी मूर्त संज्ञा है, इसलिये वह मूर्त माना गया है। किन्तु शेष द्रव्योंमें ये स्पर्शादिक नहीं पाये जाते, इसलिये वे अमूर्त हैं। जो गमन करते हुए जीव और पुद्गलोंके गमन करनेमें सहायता प्रदान करता है उसे धर्म द्रव्य[2] कहते हैं। अधर्म द्रव्यका स्वरूप इससे उलटा है। यह ठहरे हुए जीव और पुद्गलोंके ठहरनेमें [3]सहायता प्रदान करता है। इन दोनों द्रव्योंके स्वरूपका स्पष्टीकरण करनेके लिये जल और छायाका दृष्टान्त दिया जाता है। जैसे मछलीके गमन करनेमें जल और पथिकके ठहरनेमें छाया सहायता प्रदान करते हैं ठीक यही स्वभाव क्रमसे धर्म और अधर्म द्रव्यका है। जो वस्तुकी पुरानी अवस्थाके व्यय और नूतन अवस्थाके उत्पादमें सहायता प्रदान करता है उसे काल द्रव्य[4] कहते है। और प्रत्येक पदार्थके ठहरनेके लिये जो अवकाश[5] प्रदान करता है उसे आकाश द्रव्य कहते है।

इनमेंसे धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य सदा अविकारी माने गये हैं। निमित्तवश इनके स्वभावमें कभी भी विपरिणाम नहीं होता। किन्तु जीव और पुद्गल ये ऐसे द्रव्य हैं जो अविकारी और विकारी दोनों प्रकारके होते हैं। जब ये अन्य द्रव्यसे संश्लिष्ट रहते हैं तब विकारी होते हैं और इसके अभावमें अविकारी होते हैं। इस हिसाबसे जीव और पुद्गलके दो-दो भेद हो जाते हैं। संसारी और मुक्त ये जीवके दो भेद हैं। तथा अणु और स्कन्ध ये पुद्गलके दो भेद हैं। जीव मुक्त अवस्थामें अविकारी है और संसारी अवस्थामें विकारी। पुद्गल अणु अवस्थामें अविकारी है और स्कन्ध अवस्थामें विकारी। तात्पर्य यह है कि जीव और पुद्गल जब तक अन्य द्रव्यसे संश्लिष्ट रहते हैं तब तक उस संश्लेषके कारण उनके स्वभावमें विपरिणति हुआ करती है, इसलिये वे उस समय विकारी रहते हैं और संश्लेषके हटते ही वे अविकारी हो जाते हैं।

बन्धकी योग्यता—इन दोनोंका अन्य द्रव्यसे संश्लिष्ट होना इनकी योग्यता पर निर्भर है। यह योग्यता जीव और पुद्गलमें ही पाई जाती है, अन्य में नहीं। ऐसी योग्यताका निर्देश करते हुए जीवमें उसे मिथ्यात्व[6], अविरति, प्रमाद, कषाय और योगरूप तथा पुद्गलमें उसे स्निग्ध[7] और रूक्ष गुणरूप बतलाया है। जीव मिथ्यात्व आदिके निमित्तसे अन्य द्रव्यसे बन्धको प्राप्त होता है। और पुद्गल स्निग्ध और रूक्ष गुणके निमित्तसे अन्य द्रव्यसे बन्धको प्राप्त होता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

जीवमें मिथ्यात्वादिरूप योग्यता संश्लेषपूर्वक ही होती है, इसलिये उसे अनादि माना है। किन्तु पुद्गलमें स्निग्ध या रूक्षगुणरूप योग्यता संश्लेषके बिना भी पाई जाती है, इसलिये वह अनादि और सादि दोनों प्रकार की मानी गई है।

इससे जीव और पुद्गल केवल इन दोनोंका बन्ध सिद्ध होता है। क्योंकि संश्लेष बन्धका पर्यायवाची है। किन्तु प्रकृतमें जीवका बन्ध विवक्षित है, इसलिये आगे उसी चर्चा करते हैं—

१. 'स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः।'—त० सू० ५-२३।
२. द्रव्य० गा० १८। ३. द्रव्य० गा० १९। ४. द्रव्य गा० २०। ५. द्रव्य गा० २२।
६. त० सू० ८–१। ७. स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः।—त० सू० ५–३३।

जीवबन्धविचार—यों तो जीवकी बद्ध और मुक्त अवस्था सभी आस्तिक दर्शनोंने स्वीकारकी है। बहुतसे दर्शनोंका प्रयोजन ही निश्रेयस प्राप्ति है। किन्तु जैन दर्शनने बन्ध-मोक्षकी जितनी अधिक चर्चाकी है उतनी अन्यत्र देखनेको नहीं मिलती। जैन आगमका बहुभाग इसकी चर्चासे भरा पड़ा है। वहाँ जीव क्यों और कबसे बँधा है, बद्ध जीवकी कैसी अवस्था होती है, बँधनेवाला दूसरा पदार्थ क्या है जिसके साथ जीवका बन्ध होता है, बन्धसे इस जीवका छुटकारा कैसे होता है, बन्धके कितने भेद हैं, बँधनेके बाद उस दूसरे पदार्थ का जीवके साथ कब तक सम्बन्ध बना रहता है, बँधनेवाले दूसरे पदार्थके सम्पर्कसे जीवकी विविध अवस्थाएँ कैसे होती हैं, बँधनेवाला दूसरा पदार्थ क्या जिस रूपमें बँधता है उसी रूपमें बना रहता है या परिस्थितिवश उसमें न्यूनाधिक परिवर्तन भी होता है, आदि सभी प्रश्नोंका विस्तृत समाधान किया गया है। आगे हम उक्त प्रश्नोंके आधारसे इस विषयकी चर्चा कर लेना इष्ट समझते हैं।

संसारकी अनादिता—जैसा कि हम पहले बतला आये हैं कि जीवके संसारी[1] और मुक्त ये दो भेद हैं। जो चतुर्गति-योनियोंमें परिभ्रमण करता है उसे संसारी कहते हैं, इसका दूसरा नाम बद्ध भी है। और जो संसारसे मुक्त हो गया है उसे मुक्त कहते हैं। ये दोनों भेद अवस्थाकृत होते हैं। पहले जीव संसारी होता है और जब वह प्रयत्नपूर्वक संसारका अन्त कर देता है तब वही मुक्त हो जाता है। मुक्त होनेके बाद जीव पुनः संसारमें नही आता। उस समय उसमें ऐसी योग्यता ही नही रहती जिससे वह पुनः कर्मबन्धको प्राप्त कर सके। कर्मबन्धके मुख्य कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग है। जब तक इनका सद्भाव पाया जाता है तभी तक कर्मबन्ध होता है। इनका अभाव होने पर जीव मुक्त हो जाता है। इससे कर्मबन्धके मुख्य कारण मिथ्यात्व आदि हैं यह ज्ञात होता है। ये मिथ्यात्व आदि जीवके वे परिणाम हैं जो बद्धदशामें होते है। अबद्ध जीवके इनका सद्भाव नही पाया जाता। इससे कर्मबन्ध और मिथ्यात्व आदिका कार्यकारण-भाव सिद्ध होता है। बद्ध जीवके कर्मोका निमित्त पाकर मिथ्यात्व आदि होते है और मिथ्यात्व आदिके निमित्तसे कर्मबन्ध होता है यह कार्यकारण भावकी परम्परा है। इसी भावको स्पष्ट करते हुए समयप्राभृतमे लिखा है—

'जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥८८॥

'जीवके मिथ्यात्व आदि परिणामोका निमित्त पाकर पुद्गलोका कर्मरूप परिणमन होता है और पुद्गल कर्मके निमित्तसे जीव भी मिथ्यात्व आदि रूप परिणमता है।'

कर्मबन्ध और मिथ्यात्व आदिकी यह परम्परा अनादि कालसे चली आ रही है। आगममे इसके लिये बीज और वृक्षका दृष्टान्त दिया गया है। इस परम्पराका अन्त किया जा सकता है पर प्रारम्भ नही। इसीसे व्यक्तिकी अपेक्षा मुक्तिको सादि और संसारको अनादि माना है।

संसारका मुख्य कारण कर्म है—संसार और मुक्त ये जीवकी दो दशाएँ है यह हम पहले ही बतला आये हैं। यों तो इन दोनों अवस्थाओंका कर्ता स्वयं जीव है। जीव ही स्वयं संसारी होता है और जीव ही मुक्त। राग-द्वेष आदिरूप अशुद्ध और केवलज्ञान आदिरूप शुद्ध जितनी भी अवस्थाएँ होती है वे सब जीवकी ही होती हैं, क्योंकि जीवके सिवा ये अन्य द्रव्यमे नही पाई जाती। तथापि इनमें जो शुद्धता और अशुद्धताका भेद किया जाता है वह निमित्तकी अपेक्षासे ही किया जाता है। निमित्त दो प्रकारके माने गये है। एक वे जो साधारण कारणरूपसे स्वीकार किये गये है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चार द्रव्योंका सद्भाव इसी

१. 'संसारिणो मुक्तश्च।'—त० सू० २-१०।

रूपसे स्वीकार किया गया है। और दूसरे वे जो प्रत्येक कार्यके अलग-अलग होते हैं। जैसे घट पर्यायकी उत्पत्तिमें कुम्हार निमित्त है और जीवकी अशुद्धताका निमित्त कर्म है आदि। जब तक जीवके साथ कर्मका सम्बन्ध है तभी तक ये राग, द्वेष और मोह आदि भाव होते हैं, कर्मके अभावमें नहीं। इसीसे संसारका मुख्य कारण कर्म कहा गया है। घर, पुत्र, स्त्री, धन आदिका नाम संसार नहीं है। वह तो जीवकी अशुद्धता है जो कर्मके सद्भावमें ही पाई जाती है। इसलिये संसार और कर्मका अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध है ऐसा यहाँ जानना चाहिये। जबतक यह सम्बन्ध बना रहता है तबतक यह चक्र यों ही घूमा करता है। इसी बातको विस्तारसे स्पष्ट करते हुए पंचास्तिकायमें लिखा है—

'जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदीसु गदी ॥१२८॥
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते।
तेहिं दु विसयगहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥१२९॥
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि।

'जो जीव संसारमें स्थित है उसके राग-द्वेषरूप परिणाम होते हैं। परिणामोंसे कर्म बंधते हैं। कर्मोंसे गतियोंमें जन्म लेना पड़ता है। इससे शरीर होता है। शरीरके प्राप्त होनेसे इन्द्रियाँ होती हैं। इन्द्रियोंसे विषयोंका ग्रहण होता है। विषय ग्रहणसे राग और द्वेषरूप परिणाम होते हैं। जो जीव संसार-चक्रमें पड़ा है उसकी ऐसी अवस्था होती है।'

इस प्रकार संसारका मुख्य कारण कर्म है यह ज्ञात होता है।

कर्मका स्वरूप—कर्मका मुख्य अर्थ क्रिया है। क्रिया अनेक प्रकारकी होती है। हँसना, खेलना, कूदना, उठना, बैठना, रोना, गाना, जाना, आना आदि ये सब क्रियाएँ हैं। क्रिया जड़ और चेतन दोनोंमें पाई जाती हैं। कर्मका सम्बन्ध आत्मासे है, अतः केवल जड़की क्रिया यहाँ विवक्षित नहीं है। और शुद्ध जीव निष्क्रिय है। वह सदा ही आकाशके समान निर्लेप और भित्तीमें उकीरे गये चित्रके समान निष्कम्प रहता है। यद्यपि जैन दर्शनमें जड़ चेतन सभी पदार्थोंको उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वभाववाला माना गया है। यह स्वभाव क्या शुद्ध और क्या अशुद्ध सब पदार्थोंका पाया जाता है। किन्तु यहाँ क्रियाका अर्थ परिस्पंद लिया है। परिस्पन्दात्मक क्रिया सब पदार्थोंकी नहीं होती। वह पुद्गल और संसारी जीवके ही पाई जाती है। इसलिये प्रकृतमें कर्मका अर्थ संसारी जीवकी क्रिया लिया गया है। आशय यह है कि संसारी जीवके प्रति समय परिस्पन्दात्मक जो भी क्रिया होती है वह कर्म कहलाता है।

यद्यपि कर्मका मुख्य अर्थ यही है तथापि इसके निमित्तसे जो पुद्गल परमाणु ज्ञानावरणादि भावको प्राप्त होते हैं वे भी कर्म कहलाते हैं। अमृतचन्द्रसूरिने प्रवचनसारकी टीकामें इसी भावको दिखलाते हुए लिखा है—

'क्रिया खल्वात्मना प्राप्यत्वात्कर्म तन्निमित्तप्राप्तपरिणामः पुद्गलोऽपि कर्म।' पृ० १६५।

जैनदर्शनमें कर्मके मुख्यतया दो भेद किये गये हैं द्रव्यकर्म और भावकर्म। ये भेद जातिकी अपेक्षासे नहीं किये जाकर कार्यकारणभावकी अपेक्षासे किये गये हैं। सदाकालसे जीव बद्ध और अशुद्ध इन्हींके कारण हो रहा है। जो पुद्गल परमाणु आत्मामें सम्बद्ध होकर ज्ञानादि भावोंका घात करते हैं और आत्मामें ऐसी योग्यता लानेमें निमित्त होते हैं जिससे वह विविध शरीर आदिको धारण कर सके उन्हें द्रव्यकर्म कहते हैं।

तथा आत्माके जिन भावोंसे इन द्रव्य कर्मोंका उससे सम्बन्ध होता है वे भावकर्म कहलाते हैं। द्रव्यकर्मकी चर्चा करते हुए अकलंक देवने राजवार्तिकमें लिखा है—

'यथा भाजनविशेषे प्रक्षिप्तानां विविधरसबीजपुष्पफलानां मदिराभावेन परिणामः तथा पुद्गलनामपि आत्मनि स्थितानां योगकषायवशात् कर्मभावेन परिणामो वेदितव्यः'।

'जैसे पात्र विशेषमें डाले गये अनेक रसवाले बीज, पुष्प और फलोंका मदिरारूपसे परिणमन होता है उसी प्रकार आत्मामें स्थित पुद्गलोंका भी योग-कषायके कारण कर्मरूपसे परिणमन होता है।'

योग और कषायके बिना पुद्गल परमाणु कर्मभावको नहीं प्राप्त होते, इसलिये योग और कषाय तथा कर्मभावको प्राप्त हुए पुद्गल परमाणु ये दोनों कर्म कहलाते हैं यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

कर्मबन्धके हेतु—यह हम पहले ही बतला आये हैं कि आत्मा मिथ्यात्व[1] (अतत्त्वश्रद्धा या तत्त्वरुचिका अभाव) अविरति (त्यागरूप परिणतिका अभाव) प्रमाद (अनवधानता) कषाय (क्रोधादिभाव) और योग (मन, वचन और कायका व्यापार) के कारण अन्य द्रव्यसे बन्धको प्राप्त होता है। पर इनमें बन्धमात्रके प्रति योग और कषायकी प्रधानता है। आगे बन्धके चार भेद बतलानेवाले हैं—उनमेंसे प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योगसे होता है तथा स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषायसे[2] होता है। आगममें योगको गरम लोहेकी और कषायको गोंदकी उपमा दी गई है। जिस प्रकार गरम लोहेको पानीमे डालने पर वह चारों ओरसे पानीको खींचता है ठीक यही स्वभाव योगका है और जिस प्रकार गोंदके कारण एक कागज दूसरे कागजसे चिपक जाता है ठीक यही स्वभाव कषायका है। योगके कारण कर्म परमाणुओंका आस्रव होता है और कषायके कारण वे बँध जाते हैं। इसलिए कर्मबन्धके मुख्य कारण पाँच होते हुए भी उनमे योग और कषायकी प्रधानता है। प्रकृति आदि चारों प्रकारके बन्धके लिये इन दो का सद्भाव अनिवार्य है।

जब कर्मके अवान्तर भेदोंमें कितने कर्म किस हेतुसे बधते हैं इत्यादि रूपसे कर्मबन्धके सामान्य हेतुओंका वर्गीकरण किया जाता है तब वे पाँच प्राप्त होते हैं और जब प्रकृति आदि चार प्रकारके बन्धोंमें कौन बन्ध किस हेतुसे होता है इसका विचार किया जाता है तब वे दो प्राप्त होते हैं।

ये कर्मबन्धके सामान्य कारण हैं, विशेष कारण जुदे-जुदे हैं।

तत्त्वार्थसूत्रमें विशेष कारणोंका निर्देश आस्रवके स्थानमें किया गया है।

कर्मके भेद—जैनदर्शन प्रत्येक द्रव्यमें अनन्त शक्तियाँ मानता है। जीव भी एक द्रव्य है अतः उसमें भी अनन्त शक्तियाँ हैं। जब यह संसार दशामें रहता है तब उसकी वे शक्तियाँ कर्मसे आवृत रहती हैं। फलतः कर्मके अनन्त भेद हो जाते हैं। किन्तु जीवकी मुख्य शक्तियोंकी अपेक्षा कर्मके आठ भेद किये गये हैं। यथा—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय।

ज्ञानावरण—जीवकी ज्ञानशक्तिको आवरण करनेवाले कर्मकी ज्ञानावरण संज्ञा है। इसके पाँच भेद हैं।

दर्शनावरण—जीवकी दर्शन शक्तिको आवरण करनेवाले कर्मकी दर्शनावरण संज्ञा है। इसके नौ भेद हैं।

वेदनीय—सुख और दुःखका वेदन कराने वाले कर्मकी वेदनीय संज्ञा है। इसके दो भेद हैं।

---

१. 'मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगाः बन्धहेतवः'—त० सू० ८-१।

२. 'जोगा पयडिपदेसा ठ्ठिदिअणुभागो कसायदो होदि।'—द्रव्य० गा० ३३।

मोहनीय—राग, द्वेष और मोहको पैदा करनेवाले कर्मकी मोहनीय संज्ञा है। इसके दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय ये दो भेद हैं। दर्शन मोहनीयके तीन और चारित्र मोहनीय के पच्चीस भेद है।

आयु—नरकादि गतियोंमें अवस्थानके कारणभूत कर्मकी आयु संज्ञा है। इसके चार भेद हैं।

नाम—नाना प्रकारके शरीर, वचन और मन तथा जीवकी विविध अवस्थाओंके कारणभूत कर्मकी नाम संज्ञा है। इसके तिरानवे भेद हैं।

गोत्र—नीच, उच्च सन्तान (परम्परा) के कारणभूत कर्मकी गोत्र संज्ञा है। इसके दो भेद हैं। जैन-धर्म जाति या आजीवकाकृत नीच उच्च भेद न मानकर इसे गुणकृत मानता है। अच्छे आचारवालोंकी परम्परामें जो जन्म लेते हैं या जो ऐसे लोगोंकी सत्संगति करते हैं या जो मानवोचित आचारको जीवनमें उतारते हैं वे उच्चगोत्री माने गये हैं और जिनकी स्थिति इनके विरुद्ध है वे नीचगोत्री माने गये हैं। नीचगोत्री बुरे आचारका त्याग करके उसी पर्यायमें उच्चगोत्री हो सकता है। जैनधर्मके अनुसार ऐसे जीवको श्रावक और मुनि होनेका पूरा अधिकार है।

अन्तराय—जीवके दानादि भाव प्रकट न होनेके निमित्तभूत कर्मकी अन्तराय संज्ञा है। इसके पाँच भेद हैं।

ये सब कर्म मुख्यतः चार भागोंमें बँटे हुए हैं जीवविपाकी, पुद्गलविपाकी, क्षेत्रविपाकी और भवविपाकी। जिनका विपाक जीवमें होता है वे जीवविपाकी हैं। जिनका विपाक जीवसे एकक्षेत्रावगाह सम्बन्धक-प्राप्त हुए पुद्गलोंमें होता है वे पुद्गलविपाकी हैं। जिनका विपाक भवमें होता है वे भवविपाकी हैं और जिनका विपाक क्षेत्र विशेषमें होता है वे क्षेत्र विपाकी है।

ये सब कर्म पुण्य और पापके भेदसे दो प्रकारके है। ये भेद अनुभाग बन्धकी अपेक्षासे किये गये हैं। दान, पूजा, मन्दकषाय, साधुसेवा आदि शुभ परिणामोंसे जिन कर्मोंका उत्कृष्ट अनुभाग प्राप्त होता है वे पुण्यकर्म हैं। और मदिरापान, मांससेवन, परस्त्रीगमन, शिकार करना, जुआ खेलना, रात्रि भोजन करना, बुरे भाव रखना, ठगी दगाबाजी करना आदि अशुभ परिणामोंमें जिन कर्मोंका उत्कृष्ट अनुभाग प्राप्त होता है वे पापकर्म हैं।

अनुभाग-फलदानशक्ति घाति और अघातिके भेदसे दो प्रकारकी है। घातिरूप अनुभागशक्तिके तारतम्यकी अपेक्षासे चार भेद हो जाते है। लता, दारु (लकड़ी) अस्थि और शैल। यह पापरूप ही होती है। किन्तु अघातिरूप अनुभागशक्ति पुण्य और पाप दोनों प्रकारकी होती है। इसमेंसे प्रत्येकके चार-चार भेद हैं। गुड़, खाँड, शर्करा और अमृत ये पुण्यरूप अनुभाग शक्तिके चार भेद है और निम्ब, कंजीर, विष और हलाहल ये पापरूप अनुभागशक्तिके चार भेद है। जिसका जैसा नाम है वैसा उसका फल है।

जीवके गुण (शक्ति) दो भागोंमें बंटे हुए हैं—अनुजीवीगुण और प्रतिजीवी गुण। जिन गुणोंका सद्भाव केवल जीवमें पाया जाता है वे अनुजीवी गुण है और जिनका सद्भाव जीवमें पाया जाकर भी जीवके सिवा अन्य द्रव्योंमें भी यथायोग्य पाया जाता है वे प्रतिजीवी गुण है। इन गुणोंके कारण ही कर्मोंके घाति और अघाति ये भेद किये गये हैं। ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, चरित्र, वीर्य, लाभ, दान, भोग, उपभोग और सुख ये अनुजीवी गुण हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये कर्म उक्त गुणोंका घात करनेवाले होनेसे घातिकर्म हैं और शेष अघाति कर्म हैं।

कर्मकी विविध अवस्थाएँ—जीवकी प्रति समय जो अवस्था होती है उसका निमित्त कर्म है। यद्यपि जीवकी वह अवस्था उसी समय नष्ट हो जाती है अन्य समयमें अन्य होती है पर संस्काररूपसे वह कर्ममें

अंकित रहती है। प्रति समयके कर्म जुदे-जुदे हैं। और जबतक वे फल नहीं दे लेते नष्ट नही होते। बिना भोगे कर्मका क्षय नहीं।

'नाभुक्तं क्षीयते कर्म।'

कर्मका भोग विविध प्रकारसे होता है। कभी जैसा कर्मका संचय किया है उसी रूपमें उसे भोगना पड़ता है। कभी न्यून, अधिक या विपरीत रूपसे उसे भोगना पड़ता है। कभी दो कर्म मिलकर एक काम करते हैं। साता और असाता इनके काम जुदे-जुदे है, पर कभी ये दोनों मिलकर सुख या दुःख किसी एकको जन्म देते हैं। कभी एक कर्म विभक्त होकर विभागानुसार काम करता है। उदाहरणार्थ मिथ्यात्वका मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृतिरूपसे विभाग हो जानेपर इनके कार्य भी जुदे-जुदे हो जाते हैं। कभी नियत कालके पहले कर्म अपना कार्य करता है तो कभी नियत कालसे बहुत समय बाद उसका फल देखा जाता है। जिस कर्मका जैसा नाम, स्थिति और फलदानशक्ति है उसीके अनुसार उसका फल मिलता है यह साधारण नियम है। अपवाद इसके अनेक है। कुछ कर्म ऐसे अवश्य हैं जिनकी प्रकृति नही बदलती। उदाहरणार्थ चार आयुकर्म। आयु कर्मोंमे जिस आयुका बन्ध होता है उसी रूपमे उसे भोगना पड़ता है। उसके स्थिति-अनुभागमें उलट फेर भले ही हो जाय, पर भोग उनका अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार ही होता है। यह कभी सम्भव नही कि नरकायुको तिर्यंचायुरूपसे भोगा जा सके या तिर्यंचायुको नरकायुरूपसे भोगा जा सके। शेष कर्मोंके विषयमे ऐसा कोई नियम नही है। मोटा नियम इतना अवश्य है कि मूल कर्ममे बदल नहीं होता। इस नियमके अनुसार दर्शनमोहनीय और चरित्रमोहनीय ये मूल कर्म मान लिये गये हैं। कर्मकी ये विविध अवस्थाएँ है जो बन्ध समयसे लेकर उनकी निर्जरा होने तक यथासम्भव होती हैं। इनके नाम ये है—

बन्ध, सत्त्व, उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, उदय, उदीरणा, उपशान्त, निधत्ति और निकाचना।

बन्ध—कर्म वर्गणाओंका आत्मप्रदेशोंसे सम्बद्ध होना बन्ध है। इसके प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश ये चार भेद है। जिस कर्मका जो स्वभाव है वह उसकी प्रकृति है। यथा ज्ञानावरणका स्वभाव ज्ञानको आवृत्त करना है। स्थिति कालमर्यादाको कहते हैं। किस कर्मकी जघन्य और उत्कृष्ट कितनी स्थिति पडती है इस सम्बन्धमे अलग-अलग नियम है। अनुभाग फलदान शक्तिको कहते है। प्रत्येक कर्ममें न्यूनाधिक फल देनेकी योग्यता होती है। प्रति समय बँधनेवाले कर्मके परमाणुओंकी परिगणना प्रदेशबन्धमे क जाती है।

सत्त्व—बंधनेके बाद कर्म आत्मासे सम्बद्ध रहता है। तत्काल तो वह अपना काम करता ही नहीं। किन्तु जब तक वह अपना काम नहीं करता है तबतक उसकी वह अवस्था सत्ता नामसे अभिहित होती है। उत्कर्षण आदिके निमित्तसे होनेवाले अपवादको छोडकर साधारणतः प्रत्येक कर्मका नियम है कि वह बँधनेके बाद कबसे काम करने लगता है। बीचमें जितने काल तक काम नही करता है उसकी आबाधाकाल संज्ञा है। आबाधाकालके बाद प्रति समय एक-एक निषेक काम करता है। यह क्रम विवक्षित कर्मके पूरे होने तक चालू रहता है। आगममें प्रथम निषेकको आबाधा दी गई है। शेष निषेकोंकी आबाधा क्रमसे एक-एक समय बढ़ती जाती है। इस हिसाबसे अन्तिम निषेककी आबाधा एक समय कम कर्मस्थिति प्रमाण होती है। आयुकर्मके प्रथम निषेककी आबाधाका क्रम जुदा है। शेष क्रम समान है।

उत्कर्षण—स्थिति और अनुभागके बढ़ानेकी उत्कर्षण संज्ञा है। यह क्रिया बन्धके समय ही सम्भव है। अर्थात् जिस कर्मका स्थिति और अनुभाग बढ़ाया जाता है उसका पुन. बन्ध होने पर पिछले बँधे

हुए कर्मका नवीन बन्धके समय स्थिति-अनुभाग बढ़ सकता है। यह साधारण नियम है। अपवाद भी इसके अनेक हैं।

उपकर्षण—स्थिति और अनुभागके घटानेकी अपकर्षण संज्ञा है। कुछ अपवादोंको छोडकर किसी भी कर्मकी स्थिति और अनुभाग कम किया जा सकता है। इतनी विशेषता है कि शुभ परिणामोंसे अशुभ कर्मोंका स्थिति और अनुभाग कम होता है। तथा अशुभ परिणामोंसे शुभ कर्मोंका स्थिति और अनुभाग कम होता है।

संक्रमण—एक कर्म प्रकृतिके परमाणुओंका सजातीय दूसरी प्रकृतिरूप हो जाना संक्रमण है यथा असाताके परमाणुओंका सातारूप हो जाना। मूल कर्मोंका परस्पर संक्रमण नहीं होता। यथा ज्ञानावरण दर्शनावरण नहीं हो सकता। आयुकर्मके अवान्तर भेदोंका परस्पर संक्रमण नहीं होता और न दर्शनमोहनीयका चारित्रमोहनीयरूपसे या चारित्रमोहनीयका दर्शनमोहनीयरूपसे ही संक्रमण होता है।

उदय—प्रत्येक कर्मका फल काल निश्चित रहता है। इसके प्राप्त होनेपर कर्मके फल देनेरूप अवस्थाकी उदय संज्ञा है। फल देनेके बाद उस कर्मकी निर्जरा हो जाती है। आत्मासे जितने जातिके कर्म सम्बद्ध रहते हैं वे सब एक साथ अपना काम नहीं करते। उदाहरणार्थ साताके समय असाता अपना काम नहीं करता। ऐसी हालतमें असाता प्रति समय सातारूप परिणमन करता रहता है और फल भी उसका सातारूप ही होता है। प्रति समय यह क्रिया उदय कालके एक समय पहले हो लेती है। इतना सुनिश्चित है कि बिना फल दिये कोई भी कर्म जीर्ण नहीं होता।

उदीरणा—फल कालके पहले कर्मके फल देनेरूप अवस्थाकी उदीरणा संज्ञा है। कुछ अपवादोंको छोड़कर साधारणतः कर्मोंका उदय और उदीरणा सर्वदा होती रहती है। त्यागवश विशेष होती है। उदीरणा उन्हीं कर्मोंकी होती है जिनका उदय होता है। अनुदय प्राप्त कर्मोंकी उदीरणा नहीं होती। उदाहरणार्थ जिस मुनिके साताका उदय है उसके अपकर्षण साता और असाता दोनोंका होता है किन्तु उदीरणा साताकी ही होती है। यदि उदय बदल जाता है तो उदीरणा भी बदल जाती है, इतना विशेष है।

उपशान्त—कर्मकी वह अवस्था जो उदीरणाके अयोग्य होती है उपशान्त कहलाती है। उपशान्त अवस्थाको प्राप्त कर्मका उत्कर्षण, अपकर्षण और संक्रमण हो सकता है किन्तु इसकी उदीरणा नहीं होती।

निधत्ति—कर्मकी वह अवस्था जो उदीरणा और संक्रमण इन दो के अयोग्य होती है निधत्ति कहलाती है। निधत्ति अवस्थाको प्राप्त कर्मका उत्कर्षण और अपकर्षण हो सकता है किन्तु इसका उदीरणा और संक्रमण नहीं होता।

निकाचना—कर्मकी वह अवस्था जो उत्कर्षण, अपकर्षण, उदीरणा और संक्रमण इन चारके अयोग्य होती है निकाचना कहलाती है। इसका स्वमुखेन या परमुखेन उदय होता है। यदि अनुदय प्राप्त होता है तो परमुखेन उदय होता है, नहीं तो स्वमुखेन ही उदय होता है। उपशान्त और निधत्ति अवस्थाको प्राप्त कर्मका उदयके विषयमें यही नियम जानना चाहिये।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि सातिशय परिणामोंमें कर्मकी उपशान्त, निधत्ति और निकाचनारूप अवस्थाएँ बदली भी जा सकती है। ये कर्मकी विविध अवस्थाएँ हैं जो यथायोग्य पाई जाती है।

कर्मकी कार्य मर्यादा—कर्मका मोटा काम जीवको संसारमें रोक रखना है। परावर्तन संसारका दूसरा नाम है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावके भेदसे वह पाँच प्रकारका है। कर्मके कारण ही जीव इन पाँच प्रकारके परावर्तनोंमें घूमता फिरता है। चौरासी लाख योनियाँ और उनमें रहते हुए जीवकी जो विविध

अवस्थाएँ होती हैं उनका मुख्य कारण कर्म है। स्वामी समन्तभद्र आप्तमीमांसामें कर्मके कार्यका निर्देश करते हुए लिखते हैं—

'कामादिप्रभवश्चित्रः कर्मबन्धानुरूपतः।'

'जीवकी काम, क्रोध आदि रूप विविध अवस्थाएँ अपने अपने कर्मके अनुरूप होती हैं।'

बात यह है कि मुक्त दशामें जीवको प्रति समय जो स्वाभाविक परिणति होती है उसका अलग-अलग निमित्त कारण नहीं है, नहीं तो उसमें एकरूपता नहीं बन सकती। किन्तु संसारदशामें वह परिणति प्रति समय जुदी-जुदी होती रहती है, इसलिये उसके जुदे-जुदे निमित्त कारण माने गये हैं। ये निमित्त संस्कार रूपमें आत्मासे सम्बद्ध होते रहते हैं और तदनुकूल परिणतिके पैदा करनेमें सहायता प्रदान करते हैं। जीवकी अशुद्धता और शुद्धता इन निमित्तोंके सद्भाव और असद्भावपर आधारित हैं। जब तक इन निमित्तोंका एकक्षेत्रावगाह संश्लेषरूप सम्बन्ध रहता है तब तक अशुद्धता बनी रहती है और इनका सम्बन्ध छूटते ही जीव शुद्ध दशाको प्राप्त हो जाता है। जैन दर्शनमें इन्हीं निमित्तोंको कर्म शब्दसे पुकारा गया है।

ऐसा भी होता है कि जिस समय जैसी बाह्य सामग्री मिलती है उस समय उसके अनुकूल अशुद्ध आत्माकी परिणति होती है। सुन्दर सुस्वरूप स्त्रीके मिलनेपर राग होता है। जुगुप्साकी सामग्री मिलनेपर ग्लानि होती है। धन सम्पत्तिको देखकर लोभ होता है और लोभवश उसके अर्जन करने, छीन लेने या चुरा लेनेकी भावना होती है। ठोकर लगनेपर दुःख होता है और मालाका संयोग होने पर सुख। इसलिये यह कहा जा सकता है कि केवल कर्म ही आत्माकी विविध परिणतिके होनेमें निमित्त नहीं है किन्तु अन्य सामग्री भी उसका निमित्त है, अतः कर्मका स्थान बाह्य सामग्रीको मिलना चाहिये।

परन्तु विचार करनेपर यह युक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि अन्तरंगमें वैसी योग्यताके अभावमें बाह्य सामग्री कुछ भी नहीं कर सकती है। जिस योगीके रागभाव नष्ट हो गया है उसके सामने प्रबल रागकी सामग्री उपस्थित होनेपर भी राग पैदा नहीं होता। इससे मालूम पड़ता है कि अन्तरंगमें योग्यताके बिना बाह्य सामग्रीका कोई मूल्य नहीं है। यद्यपि कर्मके विषयमें भी ऐसा ही कहा जा सकता है पर कर्म और बाह्य सामग्री इनमें मौलिक अन्तर है। कर्म वैसी योग्यताका सूचक है पर बाह्य सामग्रीका वैसी योग्यतासे कोई सम्बन्ध नहीं। कभी वैसी योग्यताके सद्भावमें भी बाह्य सामग्री नहीं मिलती और कभी उसके अभावमें भी बाह्य सामग्रीका संयोग देखा जाता है। किन्तु कर्मके विषयमें ऐसी बात नहीं है। उसका सम्बन्ध तभी तक आत्मासे रहता है जब तक उसमें तदनुकूल योग्यता पाई जाती है। अतः कर्मका स्थान बाह्य सामग्री नहीं ले सकती। फिर भी अन्तरंगमें योग्यताके रहते हुए बाह्य सामग्रीके मिलनेपर न्यूनाधिक परिमाणमें कार्य तो होता ही है। इसलिये निमित्तोंकी परिगणनामें बाह्य सामग्रीकी भी गिनती हो जाती है। पर यह परम्परानिमित्त है इसलिये इसकी परिगणना नोकर्मके स्थानमें की गई है।

इतने विवेचनसे कर्मकी कार्य मर्यादाका पता लग जाता है। कर्मके निमित्तसे जीवकी विविध प्रकारकी अवस्था होती है और जीवमें ऐसी योग्यता आती है जिससे वह योग द्वारा यथायोग्य शरीर, वचन और मनके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण कर उन्हें अपनी योग्यतानुसार परिणमाता है।

कर्मकी कार्यमर्यादा यद्यपि उक्त प्रकारकी है तथापि अधिकतर विद्वानोंका विचार है कि बाह्य सामग्रीकी प्राप्ति भी कर्मसे होती है। इन विचारोंकी पुष्टिमें वे मोक्षमार्ग प्रकाशके निम्न उल्लेखोंको उपस्थित करते हैं—'तहाँ वेदनीय करि तौ शरीर विषै वा शरीर तैं बाह्य नाना प्रकार सुख दुःखनिको कारण परद्रव्यका संयोग जुरै है।' पृ० ३५।

उसीसे दूसरा प्रमाण वे यों देते है—

'बहु र कर्मनि विषै वेदनीयके उदयकरि शरीर विषै बाह्य सुख दुःखका कारण निपजै है। शरीर विषै आरोग्यपनौ रोगीपनौ शक्तिवानपनौ दुर्बलपनौ अर क्षुधा तृषा रोग खेद पीडा इत्यादि सुख दुःखनिके कारण हो हैं। बहुरि बाह्य विषै सुहावना ऋतु पवनादिक वा इष्ट स्त्री पुत्रादिक वा मित्र धनादिक सुख दुःखके कारक हो है।' पृ० ५९।

इन विचारोंकी परम्परा यही तक नही जाती है किन्तु इससे पूर्ववर्ती बहुतसे लेखकोंने भी ऐसे ही विचार प्रकट किये है। पुराणोंमे पुण्य और पापकी महिमा इसी आधारसे गाई गई है। अमितिगतिके सुभाषित रत्नसन्दोहमे दैवनिरूपण नामका एक अधिकार है। उसमे भी ऐसा ही बतलाया है। वहाँ लिखा है कि पापी जीव समुद्रमें प्रवेश करनेपर भी रत्न नही पाता किन्तु पुण्यात्मा जीव तटपर बैठे ही उन्हे प्राप्त कर लेता है। यथा—

जलधिगतोऽपि न कश्चित्कश्चित्तटगोऽपि रत्नमुपयाति।

किन्तु विचार करनेपर उक्त कथन युक्त प्रतीत नही होता। खुलासा इस प्रकार है—

कर्मके दो भेद है—जीवविपाकी और पुद्गलविपाकी। जो जीवकी विविध अवस्था और परिणामोंके होनेमें निमित्त होते है वे जीवविपाकी कर्म कहलाते है। और जिनसे विविध प्रकारके शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वासकी प्राप्ति होती है वे पुद्गलविपाकी कर्म कहलाते है। इन दोनो प्रकारके कर्मोमे ऐसा एक भी कर्म नही बतलाया है जिसका काम बाह्य सामग्रीका प्राप्त कराना हो। सातावेदनीय और असातावेदनीय ये स्वयं जीवविपाकी है। राजवार्तिकमे इनके कार्यका निर्देश करते हुए लिखा है—

'यस्योदयाद् वादिगतिषु शारीरमानससुखप्राप्तिस्तत्सद्वेद्यम्। यत्फलं दुःखमनेकविधं तदसद्वेद्यम्।' पृष्ठ ३०४।

इन वार्तिकोंकी व्याख्या करते हुए वहाँ लिखा है—

'अनेक प्रकारकी देवादि गतियोंमे जिस कर्मके उदयसे जीवोके प्राप्त हुए द्रव्यके सम्बन्धकी अपेक्षा शारीरिक और मानसिक नाना प्रकारका सुखरूप परिणाम होता है वह साता वेदनीय है। तथा नाना प्रकारकी नरकादि गतियोंमे जिस कर्मके फलस्वरूप जन्म, जरा, मरण, इष्टवियोग, अनिष्टसयोग, व्याधि, वध और बन्धनादिसे उत्पन्न हुआ विविध प्रकारका मानसिक और कायिक दुःसह दुख होता है वह असाता वेदनीय है।'

सर्वार्थसिद्धिमे जो साता वेदनीय और असाता वेदनीयके स्वरूपका निर्देश किया है। उससे भी उक्त कथन की पुष्टि होती है।

श्वेताम्बर कार्मिक ग्रन्थोंमे भी इन कर्मोंका यही अर्थ किया है। ऐसी हालतमे इन कर्मोंको अनुकूल व प्रतिकूल बाह्य-सामग्रीके सयोग-वियोगमे निमित्त मानना उचित नही है। वास्तवमे बाह्य सामग्रीकी प्राप्ति अपने-अपने कारणोंसे होती है। इसकी प्राप्तिका कारण कोई कर्म नही है।

ऊपर मोक्षमार्ग प्रकाशकके जिस मतकी चर्चाकी उसके सिवा दो मत और मिलते है जिनमे बाह्य सामग्रीकी प्राप्तिके कारणोका निर्देश किया गया है। इनमेंसे पहला मत तो पूर्वोक्त मतसे ही मिलता-जुलता है। दूसरा मत कुछ भिन्न है। आगे इन दोनोके आधारसे चर्चा कर लेना इष्ट है—

(१) षट्खण्डागम चूलिका अनुयोगद्वारमे प्रकृतियोंका नाम निर्देश करते हुए सूत्र १८ की टीकामे वीरसेन स्वामीने इन कर्मोंकी विस्तृत चर्चा की है। वहाँ सर्वप्रथम उन्होंने साता और असाता वेदनीयका यही स्वरूप

दिया है जो सर्वार्थसिद्धि आदिमें बतलाया गया है। किन्तु शंका समाधानके प्रसंगसे उन्होंने सातावेदनीयको जीव-विपाकी और पुद्गलविपाकी उभयरूप सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है।

इस प्रकरणके वाचनेसे ज्ञात होता है कि वीरसेन स्वामीका यह मत था कि सातावेदनीय और असाता वेदनीयका काम सुख दुखको उत्पन्न करना तथा इनकी सामग्रीको जुटाना दोनों हैं।

(२) तत्त्वार्थसूत्र अध्याय २ सूत्र ४ की सर्वार्थसिद्धि टीकामे बाह्य सामग्रीकी प्राप्तिके कारणोंका निर्देश करते हुए लाभादिको उसका कारण बतलाया है। किन्तु सिद्धोंमें अतिप्रसंग देने पर लाभादिके साथ शरीर नाम-कर्म आदिकी अपेक्षा और लगा दी है।

ये दो ऐसे मत हैं जिनमे बाह्य सामग्रीकी प्राप्तिका क्या कारण है इसका स्पष्ट निर्देश किया है। आधु-निक विद्वान भी इनके आधारसे दोनों प्रकारके उत्तर देते हुए पाये जाते हैं। कोई तो वेदनीयको बाह्य सामग्री-की प्राप्तिका निमित्त बतलाते है और कोई लाभान्तराय आदिके क्षय व क्षयोपशमको। इन विद्वानोंके ये मत उक्त प्रमाणोंके बलसे भले ही बने हों किन्तु इतने मात्रसे इनकी पुष्टि नहीं की जा सकती, क्योंकि उक्त कथन मूल कर्मव्यवस्थाके प्रतिकूल पड़ता है।

यदि थोड़ा बहुत इन मतोको प्रश्रय दिया जा सकता है तो उपचारसे ही दिया जा सकता है। वीरसेन स्वामीने तो स्वर्ग, भोगभूमि और नरकमे सुख दुखकी निमित्तभूत सामग्रीके साथ वहाँ उत्पन्न होनेवाले जीवोंके साता और असाताके उदयका सम्बन्ध देखकर उपचारसे इस नियमका निर्देश किया है कि बाह्य सामग्री साता और असाताका फल है। तथा पूज्यपादस्वामीने संसारी जीवमे बाह्य सामग्रीमे लाभादिरूप परिणाम लाभान्त-राय आदिके क्षयोपशमका फल जानकर उपचारसे इस नियमका निर्देश किया है कि लाभान्तराय आदिके क्षय व क्षयोपशमसे बाह्य सामग्रीकी प्राप्ति होती है। तत्वतः बाह्य सामग्रीकी प्राप्ति न तो साता असाताका ही फल है और न लाभान्तराय आदि कर्मके क्षय व क्षयोपशमका ही फल है। बाह्य सामग्री इन कारणोंसे न प्राप्त होकर अपने-अपने कारणोंसे ही प्राप्त होती है। उद्योग करना, व्यवसाय करना, मजदूरी करना, व्यापारके साधन जुटाना, राजा महाराजा या सेठ साहूकारकी चाटुकारी करना, उनसे दोस्ती जोडना, अर्जित धनकी रक्षा करना, उसे व्याजपर लगाना, प्राप्त धनको विविध व्यवसायोंमे लगाना, खेती बाडी करना, झासा देकर ठगी करना, जेब काटना, चोरी करना, जुआ खेलना, भीख माँगना, धर्मादायको संचित कर पचा जाना आदि बाह्य सामग्री-की प्राप्तिके साधन हैं। इन व अन्य कारणोंसे बाह्य सामग्रीकी प्राप्ति होती है उक्त कारणोंसे नही।

शंका—इन सब बातोंके या इनमेंसे किसी एकके करनेपर भी हानि देखी जाती है सो इसका क्या कारण है?

समाधान—प्रयत्नकी कमी या बाह्य परिस्थिति या दोनों।

शंका—कदाचित् व्यवसाय आदिके नही करनेपर भी धनप्राप्ति देखी जाती है सो इसका क्या कारण है?

समाधान—यहाँ यह देखना है कि वह प्राप्ति कैसे हुई है? क्या किसीके देनेसे हुई या कही पड़ा हुआ धन मिलनेसे हुई है? यदि किसीके देनेसे हुई है तो इसमे जिसे मिला है उसके विद्या आदि गुण कारण है या देनेवालेकी स्वार्थसिद्धि, प्रेम आदि कारण है। यदि कही पड़ा हुआ धन मिलनेसे हुई है तो ऐसी धनप्राप्ति पुण्यो-दयका फल कैसे कहा जा सकता है। यह तो चोरी है। अतः चोरीके भाव इस धन प्राप्तिमे कारण हुए न कि साताका उदय।

शंका—दो आदमी एक साथ एकसा व्यवसाय करते हैं फिर क्या कारण है कि एकको लाभ होता है और दूसरेको हानि?

समाधान—व्यापार करनेमें अपनी-अपनी योग्यता और उस समयकी परिस्थिति आदि इसका कारण है, पाप पुण्य नहीं । संयुक्त व्यापारमे एकको हानि और दूसरेको लाभ हो तो कदाचित् हानि लाभ पाप पुण्यका फल माना भी जाय । पर ऐसा होता नहीं, अतः हानि लाभको पाप पुण्यका फल मानना किसी भी हालतमें उचित नहीं है ।

शंका—यदि बाह्य सामग्रीका लाभालाभ पुण्य पापका फल नहीं है तो फिर एक गरीब और दूसरा श्रीमान् क्यों होता है ?

समाधान—एकका गरीब और दूसरेका श्रीमान् होना यह व्यवस्थाका फल है, पुण्य पापका नहीं । जिन देशोंमें पूँजीवादी व्यवस्था है और व्यक्तिगत संपत्तिके जोड़नेकी कोई मर्यादा नहीं वहाँ अपनी-अपनी योग्यता व साधनोंके अनुसार लोग उसका संचय करते हैं और इसी व्यवस्थाके अनुसार गरीब-अमीर इन वर्गोंकी सृष्टि हुआ करती है । गरीब और अमीर इनको पाप पुण्यका फल मानना किसी भी हालतमे उचित नहीं है । रूसने बहुत कुछ अंशोंमे इस व्यवस्थाको तोड़ दिया है, इसलिये वहाँ इस प्रकारका भेद नहीं दिखाई देता है, फिर भी वहाँ पुण्य और पाप तो है ही । सचमुचमे पुण्य और पाप तो वह है जो इन बाह्य व्यवस्थाओंके परे हैं और वह है आध्यात्मिक । जैन कर्मशास्त्र ऐसे ही पुण्य पापका निर्देश करता है ।

शंका—यदि बाह्य सामग्रीका लाभालाभ पुण्य पापका फल नहीं है तो सिद्ध जीवोंको इसकी प्राप्ति क्यों नहीं होती ?

समाधान—बाह्य सामग्रीका सद्भाव जहाँ है वहीं उसकी प्राप्ति सम्भव है । यों तो इसकी प्राप्ति जड़ चेतन दोनोंको होती है । क्योंकि तिजोडीमें भी धन रखा रहता है, इसलिये उसे भी धनकी प्राप्ति कही जा सकती है । किन्तु जड़के रागादि भाव नहीं होता और चेतनके होता है । इसलिये वही उसमे ममकार और अहंकार भाव करता है ।

शंका—यदि बाह्य सामग्रीका लाभालाभ पुण्य पापका फल नहीं है तो न सही पर सरोगता और नीरोगता यह तो पाप पुण्यका फल मानना ही पडता है ?

समाधान—सरोगता और नीरोगता यह पाप पुण्यके उदयका निमित्त भले ही हो जाय पर स्वयं यह पाप पुण्यका फल नहीं है । जिस प्रकार बाह्य सामग्री अपने-अपने कारणोंसे प्राप्त होती है उसी प्रकार सरोगता और नीरोगता भी अपने-अपने कारणोसे प्राप्त होती है । इसे पाप पुण्यका फल मानना किसी भी हालतमे उचित नहीं है ।

शंका—सरोगता और नीरोगताके क्या कारण हैं ?

समाधान—अस्वास्थ्यकर आहार, विहार व संगति करना आदि सरोगताके कारण है और स्वास्थ्यवर्धक आहार, विहार व संगति करना आदि नीरोगताके कारण है ।

इस प्रकार कर्मकी कार्यमर्यादाका विचार करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्म बाह्य सम्पत्तिके संयोग वियोगका कारण नहीं है । उसकी तो मर्यादा उतनी ही है जिसका निर्देश हम पहले कर आये है । हाँ जीवके विविध भाव कर्मके निमित्तसे होते है और वे कहो कहो बाह्य सम्पत्तिके अर्जन आदिमें कारण पड़ते है इतनी बात अवश्य है ।

नैयायिक दर्शन—यद्यपि स्थिति ऐसी है तो भी नैयायिक कार्यमात्रके प्रति कर्मको कारण मानते है । वे कर्मको जीवनिष्ठ मानते है । उनका मत है कि चेतनगत जितनी विषमताएँ है उनका कारण कर्म तो है ही । साथ ही वह अचेतनगत सब प्रकारकी विषमताओंका और उनके न्यूनाधिक संयोगोंका भी जनक है । उनके

मतसे जगतमें द्वयणुक आदि जितने भी कार्य होते हैं वे किसी न किसीके उपभोगके योग्य होनेसे उनका कर्ता कर्म ही है।

नैयायिकोंने तीन प्रकारके कारण माने हैं—समवायीकारण, असमवायीकारण और निमित्तकारण। जिस द्रव्यमें कार्य पैदा होता है वह द्रव्य उस कार्यके प्रति समवायीकारण है। संयोग असमवायीकारण है। तथा अन्य सहकारी सामग्री निमित्तकारण है। इसमे भी काल, दिशा, ईश्वर और कर्म ये कार्यमात्रके प्रति निमित्तकारण हैं। इनकी सहायताके बिना किसी भी कार्यकी उत्पत्ति नही होती।

ईश्वर और कर्म कार्यमात्रके प्रति साधारण कारण क्यों है इसका खुलासा उन्होंने इस प्रकार किया है कि जितने कार्य होते है वे सब चेतनाधिष्ठित ही होते है, इसलिये ईश्वर सबका साधारण कारण है।

इसपर यह प्रश्न होता है कि जब सबका कर्ता ईश्वर है तब फिर उसने सबको एक-सा क्यों नहीं बनाया। वह सबको एकसे सुख, एकसे भोग और एक-सी बुद्धि दे सकता था। स्वर्ग मोक्षका अधिकारी भी सबको एकसा बना सकता था। दुखी, दरिद्र और निकृष्ट योनिवाले प्राणियोंकी उसे रचना ही नहीं करनी थी। उसने ऐसा क्यों नही किया? जगतमे तो विषमता ही विषमता दिखलाई देती है। इसका अनुभव सभीको होता है। क्या जीवधारी और क्या जड जितने भी पदार्थ है उन सबकी आकृति, स्वभाव और जाति जुदी-जुदी है। एकका मेल दूसरेसे नही खाता। मनुष्यको ही लीजिए। एक मनुष्यसे दूसरे मनुष्यमे बड़ा अन्तर है। एक सुखी है तो दूसरा दुखी। एकके पास सम्पत्तिका विपुल भण्डार है तो दूसरा दाने-दानेको भटकता-फिरता है। एक सातिशय बुद्धिवाला है तो दूसरा निरा मूर्ख। मात्स्यन्यायका तो सर्वत्र ही बोलबाला है। बड़ी मछली छोटी मछलीको निगल जाना चाहती है। यह भेद यही तक सीमित नही है, धर्म और धर्मायतनोंमें भी इस भेदने अड्डा जमा लिया है। यदि ईश्वरने मनुष्यको बनाया है और वह मन्दिरोमे बैठा है तो उस तक सबको क्यों नही जाने दिया जाता है। क्या उन दलालोंका, जो दूसरेको मन्दिरमे जानेसे रोकते हैं, उसीने निर्माण किया है? ऐसा क्यों है? जब ईश्वरने ही इस जगतको बनाया है और वह करुणामय तथा सर्वशक्तिमान है तब फिर उसने जगतकी ऐसी विषम रचना क्यों की? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर नैयायिकोंने कर्मको स्वीकार करके दिया है। वे जगतकी इस विषमताका कारण कर्म मानते है। उनका कहना है कि ईश्वर जगतका कर्ता है तो सही, पर उसने इसकी रचना प्राणियोंके कर्मानुसार की है। इसमे उसका रत्ती भर भी दोष नहीं है। जीव जैसा कर्म करता है उसीके अनुसार उसे योनि और भोग मिलते है। यदि अच्छे कर्म करता है तो अच्छी योनि और अच्छे भोग मिलते हैं और बुरे कर्म करता है तो बुरी योनि और बुरे भोग मिलते हैं। इसीसे कविवर तुलसीदासजीने अपने रामचरितमानसमें कहा है—

करम प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करहि सो तस फल चाखा॥

ईश्वरवादको मानकर जो प्रश्न उठ खड़ा होता है, तुलसीदासजीने उस प्रश्नका इस छन्दके उत्तरार्ध द्वारा समर्थन करनेका प्रयत्न किया है।

नैयायिक जन्यमात्रके प्रति कर्मको साधारण कारण मानते है। उनके मतमें जीवात्मा व्यापक है इसलिये जहाँ भी उसके उपभोगके योग्य कार्यकी सृष्टि होती है वहाँ उसके कर्मका संयोग होकर ही वैसा होता है। अमेरिकामें बननेवाली जिन मोटरों तथा अन्य पदार्थोंका भारतीयों द्वारा उपभोग होता है वे उनके उपभोक्ताओंके कर्मानुसार ही निर्मित होते हैं। इसीसे वे अपने उपभोक्ताओंके पास खिंचे चले आते हैं। उपभोग योग्य वस्तुओंका इसी हिसाबसे विभागीकरण होता है। जिसके पास विपुल सम्पत्ति है वह उसके कर्मानुसार है

और जो निर्धन है वह भी अपने कर्मानुसार है। कर्म बटवारेमें कभी भी पक्षपात नहीं होने देता। गरीब और अमीरका भेद तथा स्वामी और सेवकका भेद मानवकृत नहीं है। अपने-अपने कर्मानुसार ही ये भेद होते है।

जो जन्मसे ब्राह्मण है वह ब्राह्मण ही बना रहता है और जो शूद्र है वह शूद्र ही बना रहता है। उनके कर्म ही ऐसे हैं जिससे जो जाति प्राप्त होती है जीवन भर वही बनी रहती है।

कर्मवादके स्वीकार करनेमें यह नैयायिकोंकी युक्ति है। वैशेषिकोंकी युक्ति भी इससे मिलती जुलती है। वे भी नैयायिकोंके समान चेतन और अचेतन गत सब प्रकारकी विषमताका साधारण कारण कर्म मानते हैं। यद्यपि इन्होंने प्रारम्भमें ईश्वरवादपर जोर नहीं दिया। पर परवर्ती कालमें इन्होंने भी उसका अस्तित्व स्वीकार कर लिया है।

जैन दर्शनका मन्तव्य—किन्तु जैनदर्शनमें बतलाये गये कर्मवादसे इस मतका समर्थन नहीं होता। वहाँ कर्मवादकी प्राणप्रतिष्ठा मुख्यतया आध्यात्मिक आधारोंपर की गई है।

ईश्वरको तो जैनदर्शन मानता ही नहीं। वह निमित्तको स्वीकार करके भी कार्यके आध्यात्मिक विश्लेषणपर अधिक जोर देता है। नैयायिक-वैशेषिकोंने कार्य कारण भावकी जो रेखा खींची है वह उसे मान्य नहीं। उसका मत है कि पर्यायक्रमसे उत्पन्न होना, नष्ट होना और ध्रुव रहना यह प्रत्येक वस्तुका स्वभाव[1] है। जितने प्रकारके पदार्थ है उन सबमें वह क्रम चालू है। किसी वस्तुमें भी इसका व्यतिक्रम नहीं देखा जाता। अनादि कालसे यह क्रम चालू है और अनन्त कालतक चालू रहेगा। इसके मतमें जिस कालमें वस्तुकी जैसी योग्यता होती है उसीके अनुसार कार्य होता है। जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव जिस कार्यके अनुकूल होता है वह उसका निमित्त कहा जाता है। कार्य अपने उपादानसे होता है किन्तु कार्यनिष्पत्तिके समय अन्य वस्तुकी अनुकूलता ही निमित्तताकी प्रयोजक है। निमित्त उपकारी कहा जा सकता है, कर्ता नहीं। इसलिये ईश्वरको स्वीकार करके कार्यमात्रके प्रति उसको निमित्त मानना उचित नहीं है। इसीसे जैन दर्शनने जगत्को अकृत्रिम और अनादि बतलाया है। उक्त कारणसे वह यावत कार्योंमे बुद्धिमानकी आवश्यकता स्वीकार नहीं करता। घटादि कार्यमें यदि बुद्धिमान् देखा भी जाता है तो इससे सर्वत्र बुद्धिमानको निमित्त मानना उचित नहीं है ऐसा इसका मत है।

यद्यपि जैन दर्शन कर्मको मानता है तो भी वह यावत् कार्योंके प्रति उसे निमित्त नहीं मानता। वह जीवकी विविध अवस्थाएँ शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास वचन और मन इन्हींके प्रति कर्मको निमित्त कारण मानता है। उसके मतसे अन्य कार्य अपने-अपने कारणोंसे होते हैं। कर्म उनका कारण नहीं है। उदाहरणार्थ पुत्रका प्राप्त होना, उसका मर जाना, रोजगारमें नफा नुकसानका होना, दूसरेके द्वारा अपमान या सम्मानका किया जाना, अकस्मात् मकानका गिर पड़ना, फसलका नष्ट हो जाना, ऋतुका अनुकूल प्रतिकूल होना, अकाल या सुकालका पड़ना, रास्ता चलते चलते अपघातका हो जाना, किसीके ऊपर बिजलीका गिरना, अनुकूल व प्रतिकूल विविध प्रकारके संयोगोंका मिलना आदि ऐसे कार्य है जिनका कारण कर्म नहीं है। भ्रमसे इन्हें कर्मोंका कार्य समझा जाता है। पुत्रकी प्राप्ति होने पर मनुष्य भ्रमवश उसे अपने शुभ कर्मका कार्य समझता है और उसके मर जाने पर भ्रमवश उसे अपने अशुभ कर्मका कार्य समझता है। पर क्या पिताके अशुभोदयसे पुत्रकी मृत्यु या पिताके शुभोदयसे पुत्रकी उत्पत्ति सम्भव है? कभी नहीं। सच तो यह है कि ये इष्टसंयोग या

१. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५ सूत्र ३०।

इष्टवियोग आदि जितने भी कार्य हैं वे अच्छे बुरे कर्मोंके कार्य नहीं । निमित्त और बात है तथा कार्य और बात । निमित्तको कार्य कहना उचित नहीं है ।

गोम्मटसार कर्मकाण्डमें एक नोकर्म प्रकरण आया है । उससे भी उक्त कथनकी ही पुष्टि होती है । वहाँ मूल और उत्तर कर्मोंके नोकर्म बतलाते हुए [1]इष्ट अन्न पान आदिको असाता वेदनीयका, विदूषक या बहुरूपियाको हास्यकर्मका, सुपुत्रको रतिकर्मका, [2]इष्टवियोग और अनिष्ट संयोगको अरति कर्मका, पुत्रमरणको शोक कर्मका, सिंह आदिको भय कर्मका और ग्लानिकर पदार्थोंको जुगुप्सा कर्मका नोकर्म द्रव्यकर्म बतलाया है ।

गोम्मटसार कर्मकाण्डका यह कथन तभी बनता है जब धन सम्पत्ति और दरिद्रता आदिको शुभ और अशुभ कर्मोंके उदयमें निमित्त माना जाता है ।

कर्मोंके अवान्तर भेद करके उनके जो नाम गिनाये गये हैं उनको देखनेसे भी ज्ञात होता है कि बाह्य सामग्रियोकी अनुकूलता और प्रतिकूलतामे कर्म कारण नही है । बाह्य सामग्रियोंकी अनुकूलता और प्रतिकूलता या तो प्रयत्नपूवक होती है या सहज ही हो जाती है । पहले साता वेदनीयका उदय होता है और तब जाकर इष्ट सामग्रीकी प्राप्ति होती है ऐसा नही है । किन्तु इष्ट सामग्रीका निमित्त पाकर साता वेदनीयका उदय होता है ऐसा है ।

रेलगाडीसे सफर करने पर हमें कितने ही प्रकारके मनुष्योंका समागम होता है । कोई हँसता हुआ मिलता है तो कोई रोता हुआ । इनसे हमें सुख भी होता है और दुख भी । तो क्या ये हमारे शुभाशुभ कर्मोंके कारण रेलगाडीमे सफर करने आये है ? कभी नहीं । जैसे हम अपने कामसे सफर कर रहे है वैसे वे भी अपने-अपने काममे सफर कर रहे है । हमारे और उनके संयोग और वियोगमे न हमारा कर्म कारण है और न उनका ही कर्म कारण है । यह संयोग या वियोग या तो प्रयत्नपूर्वक होता है या काकतालीय न्यायसे सहज होता है । इसमे किसीका कर्म कारण नही है । फिर भी यह अच्छे बुरे कर्मके उदयमें सहायक होता रहता है ।

नैयायिक दर्शनकी आलोचना—इस व्यवस्थाको ध्यानमें रखकर नैयायिकोंके कर्मवादकी आलोचना करने पर उसमे अनेक दोष दिखाई देते है । वास्तवमे देखा जाय तो आजकी सामाजिक व्यवस्था, आर्थिक व्यवस्था और एकतन्त्रके प्रति नैयायिकोंका ईश्वरवाद और कर्मवाद ही उत्तरदायी है । इसीने भारतवर्षको चालू व्यवस्थाका गुलाम बनाना सिखाया । जातीयताका पहाड लाद दिया । परिग्रहवादियोंको परिग्रहके अधिकाधिक संग्रह करनेमे मदद दी । गरीबीको कर्मका दुर्विपाक बताकर सिर न उठाने दिया । स्वामी सेवक भाव पैदा किया । ईश्वर और कर्मके नाम पर यह हमसे कराया गया । धर्मने भी इसमे मदद की । बिचारा कर्म तो बदनाम हुआ ही, धर्मको भी बदनाम होना पड़ा । यह रोग भारतवर्षमे ही न रहा । भारतवर्षके बाहर भी फैल गया ।

यद्यपि जैन कर्मवादकी शिक्षाओं द्वारा जनताको यह बतलाया गया कि जन्मसे न कोई छूत होता है और न अछूत । यह भेद मनुष्यकृत है । एकके पास अधिक पूँजीका होना और दूसरेके पास एक दमडीका न होना, एकका मोटरोंमें घूमना और दूसरेका भीख माँगते हुए डोलना यह भी कर्मका फल नही है, क्योंकि यदि अधिक पूँजीको पुण्यका फल और पूँजीके न होनेको पापका फल माना जाता है तो अल्पसंतोषी और साधु दोनों ही पापी ठहरेंगे । किन्तु इन शिक्षाओंका जनता और साहित्य पर स्थायी असर नही हुआ ।

अजैन लेखकोंने तो नैयायिकोंके कर्मवादका समर्थन किया ही, किन्तु उत्तरकालवर्ती जैन लेखकोंने जो कथा-साहित्य लिखा है उससे भी प्रायः नैयायिक कर्मवादका ही समर्थन होता है । वे जैन कर्मवादके अध्या-

१. गाथा ७३ । २. गाथा ७६ । ३, गाथा ७७ ।

त्मिक रहस्यको एक प्रकारसे भूलते ही गये और उनके ऊपर नैयायिक कर्मवादका गहरा रंग चढता गया। अजैन लेखकों द्वारा लिखे गये कथा साहित्यको पढ जाइये और जैन लेखकों द्वारा लिखे गये कथा साहित्यको पढ़ जाइये पुण्य पापके वर्णन करनेमें दोनोंने कमाल किया है। दोनों ही एक दृष्टिकोणसे विचार करते हैं। अजैन लेखकोंके समान जैन लेखक भी बाह्य आधारोंको लेकर चलते है। वे जैन मानन्यताके अनुसार कर्मोंके वर्गीकरण और उनके अवान्तर भेदोंको सर्वथा भूलते गये। जैन दर्शनमें यद्यपि कर्मोंके पुण्य कर्म और पापकर्म ऐसे भेद मिलते है, पर इससे गरीबी पापकर्मका फल है और सम्पत्ति पुण्य कर्मका फल है यह नही सिद्ध होता। गरीब होकरके भी मनुष्य सुखी देखा जाता है और सम्पत्तिवाला होकरके भी वह दुखी देखा जाता है। पुण्य और पापकी व्याप्ति सुख और दुखसे की जा सकती है, गरीबी अमीरीसे नही। इसीमें जैनदर्शनमे सातावेदनीय और असातावेदनीयका फल सुख-दुख बतलाया है, अमीरी गरीबी नही। जैन साहित्यमे यह दोष बराबर चालू है। इसी दोषके कारण जैन जनताको कर्मकी अप्राकृतिक और अवास्तविक उलझनमे फँसना पडा है। जब वे कथा ग्रन्थोंमे और सुभाषितोंमे यह पढ़ते हैं कि 'पुरुषका[1] भाग जागने पर घर बैठे ही रत्न मिल जाते हैं और भाग्यके अभावमें समुद्रमे पैठने पर भी उनकी प्राप्ति होती नही।' 'सर्वत्र[2] भाग्य ही फलता है, विद्या और पौरुष कुछ काम नहीं आता। तब वे कर्मके सामने अपना मस्तक टेक देते है। वे जैन कर्मवादके आध्यात्मिक रहस्यको सदाके लिये भूल जाते है।

●



१. सुभाषितरत्नसन्दोह, पृ० ४७ श्लोक २५७।

२, भाग्यं फलति सर्वत्र न च विद्या न च पौरुषम्।

समाज एवं संस्कृति





जैन समाजकी वर्तमान सांस्कृतिक परम्परा[1]

सांस्कृतिक और सामाजिक कार्योंकी दृष्टिसे विद्वानोंका इतिहास गौरवमय है। इस समय विविध भाषाओंमें उत्तरकालवर्ती जो भी जैनसाहित्य उपलब्ध होता है, उसकी रचनामें इनका बहुत बड़ा हाथ है। अपने पूर्ववर्ती विद्वानोंका स्मरण करते समय सबसे पहले हमारा ध्यान पण्डितप्रवर आशाधरजीकी ओर जाता है। गृहस्थ होते हुए भी उनके पास मुनि तक शिक्षा लेनेके लिए आते थे। उन्होंने धर्मशास्त्र, न्याय और साहित्य आदि अनेक विषयोंपर उच्चकोटिकी मौलिक रचनाएँ की। कविवर मेधावी और अपभ्रंश भाषामें विविध विषयोंके रचयिता कविवर रइधू भी गृहस्थ ही थे। आगे चलकर भाषा-साहित्यकी दृष्टिसे कविवर बनारसी-दासजी, भगवतीदासजी, टोडरमल्लजी, दौलतरामजी और जयचन्दजी आदि विद्वानोंने जो कार्य किये हैं, वे स्वर्णाक्षरोंमें अङ्कित करने लायक हैं। वस्तुतः इस समय जैनधर्मका जो भी प्रवाह दिखाई देता है, वह उनकी पुनीत ग्रन्थ-रचनाओं और सामाजिक सेवाओंका ही फल है। यदि हम वर्तमान युगका ही विचार करें, तो भी हमें निराश होनेका कोई कारण नहीं दिखाई देता। वर्तमान युगके विद्वानोंकी यह परम्परा पूज्यपाद गुरुवर्य्य पं० गोपालदासजी और पूज्यपाद श्री १०५ गुरुवर्य्य पं० गणेशप्रसादजी वर्णीसे प्रारम्भ होती है। ये दोनों इस युगके ऐसे प्रकाशमान् नक्षत्र हैं जिनके पुनीत प्रकाशसे धर्म और समाजकी चहुँमुखी उन्नति हुई और हो रही है। हमारी सास्कृतिक और सामाजिक परम्पराके प्रतीक पूज्य गुरु पं० देवकीनन्दनजी सा० तो आज हमारे बीचमें नहीं है, पर ज्ञानवृद्ध पूज्य गुरु पं० वंशीधरजी सा० आदि जो दूसरे विद्वान् प्रत्येक क्षेत्रमें कार्य कर रहे हैं, उनकी सेवाएँ क्या कम हैं? वस्तुतः इन सब विद्वानोंकी तपश्चर्याका ही यह फल है कि समाज आज प्रत्येक अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिमें अपनेको खड़ा हुआ पाता है।

संगठनको दृढ़ करनेके मूलभूत आधार

इतना सब होते हुए भी हमें यहाँ एक ऐसे विषयपर गहराईसे विचार करना है जो हमारे सास्कृतिक और सामाजिक जीवनमें सम्बन्ध रखता है। वह विषय है हमारा संगठन। इसके पहले भी विद्वानोंका एक संग-ठन था, किन्तु उसके ढीला पड़नेपर विद्वत्परिषद्के रूपमें पुनः सब विद्वानोंने मिलकर यह संगठन बनाया है। इस संगठनको स्थापित हुए भी लगभग ११ वर्ष हो गये हैं। इस बीच इसके द्वारा दो बार शिक्षणशिविर संचालित किये गये हैं—एक मथुरामें और दूसरा सागरमें। इनसे कुछ विद्वानोंको अपनी योग्यता बढानेमें सहायता तो मिली ही। साथ ही एक दूसरेके सम्पर्कमें आनेसे हमें एक-दूसरेको समझने और अपनी गुणोन्नति करनेमें भी सहायता मिली है। शिक्षणशिविरके अतिरिक्त विद्वत्परिषद्ने कुछ और भी उपयोगी कार्य किये हैं जो इसके शुभारम्भको सूचित करनेके लिए पर्याप्त है। तथापि हमें इतने मात्रसे संतुष्ट नहीं होना चाहिए। किन्तु हमें उन बातोंपर भी विचार करना चाहिए जो संगठनको दृढ़ करनेके लिए आवश्यक होती हैं।

संगठनको दृढ करनेके मुख्य आधार ये हैं—एक दूसरेके हितके लिए कार्य करना, परिचित या अपरि-चित अपने किसी साथीपर किसी प्रकारकी आपत्ति आनेपर यथासम्भव योग्य सहायता द्वारा उसके परिहारके लिए प्रयत्नशील होना, योग्यता और निष्ठाके आधारपर सामाजिक कार्यकर्ताके रूपमें प्रत्येक विद्वान्को आगे

१. श्री भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद्के तत्त्वावधानमें द्रोणगिरि (म० प्र०) में सन् १९५५ में हुए सप्तम अधिवेशनमें पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री, वाराणसीके अध्यक्षीय भाषणका सार प्रस्तुत है।

बढ़ानेमें सहायता करना और जिन कार्योंके करनेसे एक विद्वान्को दूसरे विद्वान्के विषयमें शंका उत्पन्न होना सम्भव है उन कार्योंसे अपनेको दूर रखना आदि।

ये संगठनके कुछ आधारभूत सिद्धान्त हैं जो व्यक्तिके जीवनमें तो उपयोगी है ही, सार्वजनिक क्षेत्रमें भी उपयोगी हैं। इनको जीवनमें स्वीकार कर लेने पर भी अधिकतर मनीषियों द्वारा कार्यक्षेत्रमें कुछ ऐसी भूलें होती हैं जो परस्परके मनोमालिन्यका कारण बन जाती है। मेरी समझसे यहाँ उनकी स्पष्ट चर्चा कर लेना अनुचित न होगा।

१. प्रायः कुछ व्यक्तियोंमें यह मनोवृत्ति देखी जाती है कि जिस संस्थासे उनका निकट सम्बन्ध होता है, मात्र उसीके लिए वे प्रयत्न करते है। वे उस संस्थाकी उन्नतिमें लगे रहे, यहाँ तक तो ठीक है, क्योंकि उसकी उन्नति और सञ्चालनका भार उनपर अवलम्बित है। परन्तु इसके साथ वे दूसरा कार्य यह करने लगते हैं कि यदि उनकी उपस्थितिमें अन्य संस्थाके लिए कोई प्रयत्न होता है, तो वे प्रत्यक्ष या परोक्षमें किसी-न किसी प्रकारसे उसको धक्का पहुँचानेमें जरा भी संकोच नहीं करते। मेरी समझमें इस प्रकारकी मनोवृत्ति सांस्कृतिक क्षेत्रमें हितावह नहीं मानी जा सकती। वस्तुतः जितनी भी सार्वजनिक संस्थाएँ कार्य कर रही हैं वे सब एक ही सांस्कृतिक उद्देश्यकी पूर्तिके लिए स्थापित की गई है, इसलिए वे एक हैं। यदि हम किसी अन्य संस्था या उसके कार्यकर्ताकी निन्दा करते हैं, तो वह केवल उस संस्थाकी निन्दा न होकर हमारे सांस्कृतिक उद्देश्यकी ही निन्दा होती है। ऐसा कौन विद्वान् होगा जो पूज्य श्री १०८ मुनि समन्तभद्रजी महाराज और पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णीको नहीं जानता होगा। इन दोनों महानुभावोंमें जो हमें सबसे बड़ी विशेषता दिखाई देती है वह यह कि इन दोनोंने अपने जीवनमें कभी भी एक संस्थासे दूसरी संस्थामें भेद नहीं होने दिया। यदि जैनत्वके प्राणस्वरूप एक मन्दिरसे दूसरे मन्दिरमें भेद नहीं किया जा सकता, तो फिर संस्कृति का संरक्षण और संवर्द्धन करनेवाली एक संस्थासे दूसरी संस्थामें भेद कैसे हो सकता है? यदि समाजके कुछ व्यक्ति इस प्रकारका भेद करते है तो करें, पर जिन विद्वानोंपर संस्कृति और समाजके संचालनका उत्तरदायित्व है वे ऐसे हलके विचारसे अपनेको बचाकर चलें, यही संस्कृति और समाजके हितमें उचित प्रतीत होता है।

२. प्रायः विद्वानोंमें कई विषयोंमें मतभेद दिखाई देता है। किसी मतभेदका सम्बन्ध केवल आगमसे होता है और किसीका सम्बन्ध आगम और समाज दोनोंसे। जिसका सम्बन्ध मात्र आगमसे होता है, उसे तो हम सह लेते हैं। अथवा वह विशेष बुराईका कारण नहीं बनता। वस्तुतः मतभेद वहीं पर उग्र रूप धारण करता है जिसकी प्रतिक्रिया स्पष्टतः समाजमें दिखाई देती है। ऐसे समयमें अधिकतर विद्वान् अपने संतुलनको खो बैठते हैं और अपने साथियोंपर आग बरसाना प्रारम्भ कर देते है। हम यह तो मानते है कि जो विचार नया प्रतीत होता है, उसकी आलोचना होनी चाहिए। इतना ही नहीं, वह विचार सहसा कार्यान्वित न हो सके, इसके लिए प्रयत्न भी होना चाहिए। हमें इस विषयमें पूज्य पं० देवकीनन्दनजी सा० का स्मरण होता है। उनके जीवनमें हमें बड़ी विलक्षणता देखनेमें आई। वे विचारक थे और सामाजिक कार्यकर्ता भी। जहाँ तक विचारका सम्बन्ध था, वे नाक-मुँह सिकोड़ना और इस आधारसे समाजको भड़काना जानते ही नहीं थे। विचारकके लिए उनके हृदयमें जो उच्च स्थान था, उसमें कहीं अधिक वे सामाजिक कर्त्तव्यका अनुवर्तन करते थे। तत्काल समाजका ढाँचा क्या हो? इस विषयके ऊहापोहमें न पड़ कर हम इतना तो स्वीकार करते हैं कि द्रव्य, क्षेत्र और कालके अनुसार उसमें जो भी परिवर्तन हो वह सोच-समझकर ही होना चाहिए। इसलिए हमारी समझमें समाजके लिये दोनों प्रकारके मनुष्योंकी आवश्यकता है। एक वे जो मार्गदर्शन कराकर समाजको

आगे बढ़ानेमें सहायक होते हैं और दूसरे वे जो समाजको उच्छृंखल होनेसे बचाकर उसकी सीमाओंकी रक्षा करते हैं।

३. लौकिक ख्याति एक बला है। इसके प्रलोभनमें पड़ कर कभी-कभी एक विद्वान् अपने दूसरे साथी को पीछे धकेलता हुआ देखा जाता है। यह हम अच्छी तरहसे जानते हैं कि ऐसी वृत्तिसे स्थायी लाभ नहीं होता, प्रत्युत कालान्तरमें यह विस्फोटका बहुत बड़ा कारण बन जाता है। यह तो हम मानते हैं कि जो व्यक्ति कर्तव्यशील है, व्याख्याता है और नेतृत्व करनेकी क्षमता रखता है, उसे आगे बढ़नेसे कोई भी शक्ति नहीं रोक सकती। पर व्यक्तित्वकी एक मर्यादा होती है। यदि कोई व्यक्ति उस मर्यादाका उल्लंघन करता है, तो ये समस्त गुण दोषमें परिणत हो जाते हैं। वर्तमान कालमें प्रायः सब विद्वानोंने पूज्य १०५ गुरुवर्य्य पं० गणेशप्रसादजी वर्णीका नेतृत्व स्वीकार किया है। इसलिए हमें आँख खोलकर देखना चाहिए कि उनमें वह कौन-सा गुणविशेष है जिसके कारण हम उन्हें अपना केन्द्र बनाते हैं। जहाँ तक हमने उनके दैनिक व्यवहारको देखा है वे किसी भी सामाजिक कार्यकर्ता या विद्वान्के उनके समक्ष पहुँचने पर उसे हर प्रकारसे समाजके सम्पर्कमें लानेका प्रयत्न करते हैं। इतना ही नहीं, उसमें यदि कोई अच्छाई उन्हें दिखाई देती है, तो वे उसे जनताके समक्ष रखनेमें भी नहीं हिचकिचाते। वह किस मतको माननेवाला है, इस बातको वे अपने जीवनमें स्थान नहीं देते हैं।

४. हममें कुछ ऐसे भी मनीषी हैं जो विवेकको छोड़कर मात्र समाजके अनुवर्तनमें अपना लाभ देखते हैं। नेतृत्व किसके हाथमें रहे, इसके लिए सदासे प्रयत्न होता आया है। आज भी यह समस्या सबके सामने है। इस समय साधन और श्रमके मध्य नेतृत्वकी जो होड़ चल रही है, उसका अन्तिम परिणाम क्या होगा, हम नहीं कह सकते। पर जहाँ तक हमारे सांस्कृतिक दृष्टिकोणका प्रश्न है, सब मामलोंमें त्याग और विवेकसे काम लिए जानेकी आवश्यकता है। इसलिए हमें साधन और श्रमका उचित आदर करते हुए विवेकको ही प्राधान्य देना है और यह तभी हो सकता है जब ऐसे विद्वान् अपना दृष्टिकोण बदलें। विद्वान् समाजके मुख और हाथ-पाँव सब कुछ हैं। इस बदली हुई परिस्थितिमें तो उन्हें इस मामलेमें और भी गम्भीरतापूर्वक विचार करना है। ऐसा न हो कि हममेंसे कतिपय विद्वानोंके समाजका अन्धानुकरण करनेके कारण विवेकका बल उत्तरोत्तर घटता जाय और त्याग तथा विवेकमय इस परम्पराके अन्त होनेका दुर्दिन हमें देखना पड़े।

५. हममें एक दोष गुटबन्दीका भी दिखाई देता है। समाज और संस्कृतिके हितमें किसी कार्यक्रमको पूरा करनेके लिए संगठनकी आवश्यकताको हम अनुभव करते हैं। किन्तु जब कार्यक्रमके विषयमें किसी प्रकार का मतभेद न होने पर भी हम गुटबन्दी करते हैं और अपने गुटके व्यक्तिको छोड कर अन्यका अनादर करने पर उतारू हो जाते हैं, तब उसे शुद्ध स्वार्थपूर्तिके सिवाय और क्या कहा जा सकता है। इस दोषके कारण हमारी सांस्कृतिक और सामाजिक प्रवृत्तिको जो हानि पहुँच रही है, वह किसीसे छिपी हुई नहीं है। इस कारण विद्वानोंका बल घटता है, यह बात स्पष्ट है।

ये चन्द ऐसे दोष हैं जो हमारे संगठनको पूरा नहीं होने देते हैं। प्रत्येक विद्वान्का ध्यान इस ओर जाय और वह इन दोषोंको दूर करनेमें सक्रिय सहयोग करके विद्वत्परिषद्के संगठनको दृढ़ करनेमें सहायक बने, इस पुनीत अभिप्रायको ध्यानमें रखकर ही हमने यहाँ इनकी विस्तृत चर्चा की है। क्योंकि हम यह बहुत ही अच्छी तरह जानते हैं कि वर्तमान कालमें विश्वकी बात छोड़िए, भारतवर्षमें जो सामाजिक और सांस्कृतिक क्रान्तिके होनेके लक्षण दिखाई दे रहे हैं, उनमें हमें समुचित स्थान ग्रहण करनेके लिए प्रयत्नशील होना है।

यह कितनी बडी विडम्बनाकी बात है कि भारतवर्षको स्वराज्य दिलानेमे हमारा सांस्कृतिक कार्यक्रम सफल रहा और विश्वके आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक प्रश्नोको सुलझानेमे भारतवर्ष उसी सह-अस्तित्वमूलक अहिंसक व अनेकान्तात्मक दृष्टिकोणसे काम ले रहा है, फिर भी उसका श्रेय हमे यत्किंचित् भी नही मिल रहा है। यद्यपि हम श्रेयके भूखे नही है, पर पूरे तथ्य जनताके समक्ष न आ सकनेके कारण कदाचित् सारी परिस्थिति के उलटनेका भय है। हमारे यहाँ अकम्पन आदि ७०० मुनियोंकी कथा आती है। बलि राजा द्वारा उनकी धार्मिक स्वतन्त्रताके छीननेका प्रयत्न करने पर उन्होने अहिंसक सत्याग्रह द्वारा ही तो उसका प्रतीकार किया था। क्या हमे इस घटना या इसी प्रकारकी अन्य घटनाओके आधार पर सत्यको उद्घाटित करनेका प्रयत्न नहीं करना चाहिए, जो आज भारतवर्षकी राष्ट्रीय थाती मानी जाने लगी है। हमारा विश्वास है कि हमारे सब साथी व समाज इन तथ्योंको ध्यानमें रखकर अपने दृष्टिकोणमे न केवल विशालता लावेंगे, अपितु वे और अधिक संगठित होकर उसका समुचित उपयोग करनेकी दिशामे योग्य कदम उठानेका भी प्रयत्न करेंगे।

समाजके प्रति

अपने भाषणको समाप्त करनेके पहले यदि हम समाजमे दो शब्द कहें, तो अनुचित न होगा। बात यह है कि विद्वान् समाजके एक अङ्ग है। वे जो भी कार्य अपने हाथमे लेते है, उसे पूरा करनेके लिए उन्हे समाजका वाछित सहयोग अपेक्षित है। अत समाजका भी कर्त्तव्य है कि वह वर्तमान गतिविधिको देखते हुए अपने दृष्टिकोणमे मौलिक परिवर्तन करे। प्रथम तो उसे दिखाऊ कार्योकी अपेक्षा स्थायी कार्योके सञ्चालनकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। दूसरे, उसे विद्वानोंके प्रति अपने रुखमे समुचित परिवर्तन करना चाहिये, क्योंकि ये समाजके सक्रिय कार्यकर्त्ता है, वेतनभोगी नही। यह तो अपनी सांस्कृतिक परम्पराके अनुरूप विद्वानो का पुरोहित-वृत्तिको न स्वीकार करनेका फल है, जिससे उन्हे इस स्थितिको स्वीकार कर निर्वाह करना पड रहा है। वस्तुत. यह उनके बडप्पनका सूचक है; हीनवृत्तिका सूचक नही। यदि समाज कार्यकर्त्ताके रूपमे उनके प्रति समुचित आदर व्यक्त करती है, तो इससे समाजका ही हित है। यह इतिहाससिद्ध बात है कि जो समाज अपने कार्यकर्त्ताका आदर करना भूल जाता है, उसकी भगवान् ही रक्षा करते है। तीसरे, वह ऐसे लोगोंके (चाहे वे त्यागी हों या अन्य कोई भी) बहकावेमे न आवे जो मतभेदकी या दूसरे प्रकारकी बाते आगे रखकर समाजकी प्रगतिमे बाधक बनते है। वर्तमान कालमे समाजको यह अनुभव करना है कि हमारी परम्पराकी यह गाडी विद्वानोंको सारथी बनाये बिना आगे नही बढाई जा सकती। यदि यह भाव उसके चित्तमे अङ्कित हो जाता है, तो सब समस्या सुलझ जाती है और विद्वान् व समाज दोनो मिलकर इस महान् परम्पराको आगे ले चलनेमे समर्थ होते है जो कि दोनोका ध्येय है।

●

जिनागमके परिप्रेक्ष्यमें जिनमन्दिर-प्रवेश

शूद्र जिनमन्दिरमें जाएँ इसका कहीं निषेध नहीं

आगम और युक्तिसे यह सिद्ध है कि अन्य वर्णवाले मनुष्योंके समान शूद्रवर्णके मनुष्य भी जिनमन्दिर-में आकर दर्शन और पूजन करनेके अधिकारी हैं। जिस धर्ममें मन्दिरमें जाकर दर्शन और पूजन करनेकी योग्यता तिर्यञ्चोंमें मानी गई हो, उसके अनुसार शूद्रोंमें इस प्रकारकी योग्यता न मानी जाये, यह नहीं हो सकता। कुछ समय पूर्वतक दस्साओंको मन्दिरमें जानेका निषेध था। किन्तु सत्य बात जनताकी समझमें आ जानेसे यह निषेधाज्ञा उठा ली गई है। जब निषेधाज्ञा थी, तब दस्साभाई मन्दिरमें जाकर पूजा करनेकी पात्रता नहीं रखते थे, यह बात नहीं है। यह वास्तवमें धार्मिक विधि न होकर एक सामाजिक बन्धन था जो दूसरोंकी देखादेखी जैनाचारमें भी सम्मिलित कर लिया गया था। किन्तु यह ज्ञात होनेपर कि इससे न केवल दूसरोंके नैसर्गिक अधिकारका अपहरण होता है, अपितु धर्मका भी घात होता है, यह बन्धन उठा लिया गया है। इसी प्रकार शूद्र मन्दिरमें नहीं जा सकते यह भी सामाजिक बन्धन है, योग्यतामूलक धार्मिक विधि नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि आगमके अनुसार तो सबके लिए समवसरणके प्रतीकरूप जिनमन्दिरका द्वार खुला हुआ है। वह न कभी बन्द होता है और न कभी बन्द किया जा सकता है, क्योंकि जिनमन्दिरमें जाकर और जिनदेवके दर्शन कर अन्य मनुष्यों और तिर्यञ्चोंके समान वे भी जिनदेवके दर्शन द्वारा आत्मानुभूति कर सकते हैं। यही कारण है कि आगममें कहीं भी शूद्रोंके मन्दिर प्रवेशके निषेधरूप वचन नहीं मिलता।

वैदिक परम्परामें शूद्रोंको धर्माधिकारसे वञ्चित क्यों किया गया है, इसका एक कारण है। बात यह है कि आर्योंके भारतवर्षमें आनेपर यहाँके मनुष्योंको जीत कर जिनको उन्होंने दास बनाया था उनको ही उन्होंने शूद्र शब्द द्वारा सम्बोधित किया था। वे आर्योंकी बराबरीसे सामाजिक अधिकार प्राप्त न कर सकें, इसलिए उन्हें धर्माधिकार (सामाजिक धर्माधिकार) से वञ्चित किया गया था।[1] किन्तु जैनधर्म न तो सामा-जिक धर्म है और न ही इसका दृष्टिकोण किसीको दासभावसे स्वीकार करनेका ही है। यद्यपि तत्त्वार्थसूत्रमें परिग्रहपरिमाणव्रतका निर्देश करनेके प्रसङ्गसे दास और दासी ये शब्द आये हैं और इस व्रतमें उनका परिमाण करनेकी भी बात कही गई है। किन्तु उसका तात्पर्य किसीको दास-दासी बनानेका नहीं है। जो मनुष्य पहले दास-दासी रखे हुए थे, वे जैन उपासककी दीक्षा लेते समय परिग्रहके समान उनका भी परिमाण कर ले और शेषको दास-दासीके कार्यसे मुक्त कर नागरिकताके पूरे अधिकार दे दे। साथ ही वे ही गृहस्थ जब समस्त परिग्रहका त्याग करें या परिग्रहत्याग-प्रतिमा पर आरोहण करने लगे, तब चाहे दासी-दास हो या अन्य कोई सबको समान भावसे नागरिक समझें और धर्ममें उच्चसे उच्च नागरिकका जो अधिकार है, वही अधिकार सबका माने यह भी उसका तात्पर्य है। प्राचीन कालमें जो नागरिक सामाजिक अपराध करते थे उनमेंसे अधिकतर दण्डके भयसे घर छोड़कर धर्मकी शरणमें चले जाते थे, यह प्रथा प्रचलित थी। ऐसे व्यक्तियोंको या तो बौद्धधर्ममें शरण मिलती थी या जैनधर्ममें। बुद्धदेवके सामने इस प्रकारका प्रश्न उपस्थित होने पर उत्तरकालमें उन्होंने तो यह व्यवस्था दी कि यदि कोई सैनिक सेनामेंसे भाग आवे या कोई सामाजिक अपराध

---

१. देखो मनुस्मृति अ० ४ श्लोक ८० आदि।

करनेके बाद धर्मकी शरणमें आया हो तो उसे बुद्धधर्ममें दीक्षित न किया जाय, परन्तु जैनधर्मने व्यक्तिके इस नागरिक अधिकारपर भूलकर भी प्रतिबन्ध नही लगाया है। इसका कारण यह नहीं है कि वह दोषको प्रश्रय देना चाहता है। यदि कोई इस परसे ऐसा निष्कर्ष निकाले भी तो यह उसकी सबसे बड़ी भूल होगी। वृक्षको काटनेवाला व्यक्ति यदि आतपसे अपनी रक्षा करनेके लिए उसी वृक्षकी छायाकी शरण लेता है, तो यह वृक्षका दोष नहीं माना जा सकता। ठीक यही स्थिति धर्मकी है। काम, क्रोध, मद, मात्सर्य और मिथ्यात्वके कारण पराधीन हुए जितने भी संसारी प्राणी हैं, वे सब धर्मकी जड़ काटनेमे लगे हुए हैं। जो तथाकथित शूद्र है वे तो इस दोषसे बरी माने हो नही जाते, लौकिक दृष्टिसे जो उच्चवर्णी मनुष्य हैं वे भी इस दोषसे बरी नहीं हैं। तीर्थङ्करोंने व्यक्तिके जीवनमें वास करनेवाले इस अन्तरङ्ग मलको देखा था। फलस्वरूप उन्होंने उसीको दूर करनेका उपाय बतलाया था। शरीर और वस्त्रादिमें लगे हुए बाह्यमलका शोधन तो पानी, धूप, हवा और साबुन आदिसे भी हो जाता है। परन्तु आत्मामें लगे हुए उस अन्तरङ्ग मलको धोनेका यदि कोई उपाय है तो वह एकमात्र धर्म ही है। ऐसी अवस्थामें कोई तीर्थङ्कर यह कहे कि हम इस व्यक्तिके अन्तरङ्ग मलको धोनेके लिए इस व्यक्तिको तो अपनी शरणमे आने देगे और इस व्यक्तिको नही आने देंगे, यह नही हो सकता। स्पष्ट है कि जिस प्रकार ब्राह्मण आदि उच्च वर्णवाले मनुष्योंको जिनमन्दिरमे जाकर पञ्चपरमेष्ठीकी आराधना करनेका अधिकार है, उसी प्रकार शूद्रवर्णके मनुष्योको भी किसी भी धर्मायतनमें जाकर सामायिक, प्रमुख भगवद्भक्ति, स्तवन, पूजन और स्वाध्याय आदि करनेका अधिकार है। यही कारण है कि बहुत प्रयत्न करनेके बाद भी हमें किसी भी शास्त्रमें 'शूद्र जिनमन्दिरमें जानेके अधिकारी नही हैं' इसका समर्थन करनेवाला वचन उपलब्ध नही हो सका।

हरिवंशपुराणका उल्लेख

यह जैनधर्मका हार्द है। अब हम हरिवंशपुराणका एक ऐसा उल्लेख उपस्थित करते हैं जिसमे इसकी पुष्टि होनेमें पूरी सहायता मिलती है। बलभद्र विविध देशोंमें परिभ्रमण करते हुए विद्याधर लोकमें जाते हैं और वहाँ पर बलि विद्याधरके वंशमें उत्पन्न हुए विद्युद्वेगकी पुत्री मदनवेगाके साथ विवाह कर सुखपूर्वक जीवन-यापन करने लगते हैं। इसी बीच सब विद्याधरोका विचार सिद्धकूट जिनालयकी वन्दनाका होता है। यह देखकर बलदेव भी मदनवेगाको लेकर सबके साथ उसकी वन्दनाके लिए जाते है। जब सब विद्याधर जिनपूजा और प्रतिमा-गृहकी वन्दना कर अपने-अपने स्थान पर बैठ जाते हैं, तब बलदेवके अनुरोध करने पर मदनवेगा सब विद्याधर निकायोंका परिचय कराती है। वह कहती है—'जहाँ हम और आप बैठे है इस स्तम्भके आश्रयसे बैठे हुए तथा हाथमे कमल लिए हुए और कमलोकी माला पहिने हुए ये गौरक नामके विद्याधर है। लाल मालाको धारण किये हुए और लाल वस्त्र पहिने हुए ये गान्धार विद्याधर गान्धार नामक स्तम्भके आश्रयमें बैठे है। नाना प्रकारके रंगवाले सोनेके रंगके और पीत रंगके रेशमी वस्त्र पहिने हुए ये मानवपुत्रक निकायके विद्याधर मानव नामक स्तम्भके आश्रयसे बैठे हैं। कुछ आरक्त रगके वस्त्र पहिने हुए और मणियोके आभूषणोसे सुसज्जित ये मनुपुत्रक निकायके विद्याधर मान नामक स्तम्भके आश्रयमें बैठे है। नाना प्रकारकी औषधियोंको हाथमें लिए हुए तथा नाना प्रकारके आभरण और मालाओंको पहिने हुए ये मूलवीर्य निकायके विद्याधर औषधि नामक स्तम्भके आश्रयसे बैठे हैं। सब ऋतुओंके फलोंसे सुवासित स्वर्णमय आभरण और मालाओंको पहिने हुए ये अन्तर्भूमिचर निकायके विद्याधर भूमिमण्डक नामक स्तम्भके आश्रयमें बैठे हैं। नाना प्रकारके कुण्डलों और नागाङ्गदों तथा आभूषणोंसे सुशोभित ये शंकुक निकायके विद्याधर शंकु नामक स्तम्भके आश्रयसे बैठे हैं। मुकुटोंको स्पर्श करनेवाले मणिकुण्डलोंसे सुशोभित ये कौशिक निकायके विद्याधर कौशिक नामक स्तम्भके

आश्रयसे बैठे हैं। ये सब आर्य विद्याधर हैं। इनका मैंने संक्षेपमें कथन किया। हे स्वामिन्! अब मैं मातङ्ग (चाण्डाल) निकायके विद्याधरोंका कथन करती हूँ। सुनो! नीले मेघोंके समान नील वर्ण तथा नीले वस्त्र और माला पहिने हुए ये मातङ्ग निकायके विद्याधर मातङ्ग नामक स्तम्भके आश्रयसे बैठे हैं। श्मशानसे प्राप्त हुई हड्डी और चमड़ेके आभूषण पहिने हुए तथा शरीरमें भस्म पोते हुए ये श्मशाननिलय निकायके विद्याधर श्मशान नामक स्तम्भके आश्रयसे बैठे हैं। नील वैडूर्य रंगके वस्त्र पहिने हुए ये पाण्डुरनिकायके विद्याधर पाण्डुरनामक स्तम्भके आश्रयसे बैठे हैं। कालहिरणके चर्मके वस्त्र और माला पहिने हुए ये काल-स्वपाकी निकायके विद्याधर कालनामक स्तम्भके आश्रयसे बैठे हैं। पिङ्गल केशवाले और तप्त सोनेके रंगके आभूषण पहिने हुए ये श्वपाकी निकायके विद्याधर श्वपाकीनामक स्तम्भके आश्रयसे बैठे हैं। पर्णपत्रोंसे आच्छादित मुकुटमें लगी हुई नानाप्रकारकी मालाओंको धारण करनेवाले ये पार्वतेय निकायके विद्याधर पार्वत नामक स्तम्भके आश्रयमें बैठे हैं। बाँसके पत्तोंके आभूषण और सब ऋतुओंमें उत्पन्न होनेवाले फूलोंकी मालाएँ पहिने हुए ये वंशालय निकायके विद्याधर वंशनामक स्तम्भके आश्रयसे बैठे हैं। महाभुजगोंसे शोभायमान उत्तम आभूषणोंको पहिने हुए ये ऋक्षमूक निकायके विद्याधर ऋक्षमूलकनामक स्तम्भके आश्रयसे बैठे हैं।"

यह हरिवंशपुराणका उल्लेख है। इसमें ऐसे विद्याधर निकायोंकी भी चर्चा की गई है जो आर्य होनेके साथ-साथ सभ्य मनुष्योचित उचित वेशभूषाको धारण किये हुए थे और ऐसे विद्याधर निकायोंकी भी चर्चा की गई है जो अनार्य होनेके साथ-साथ चाण्डाल कर्मसे भी अपनी आजीविका करते थे तथा हड्डियों और चमड़ों तकके वस्त्राभूषण पहिने हुए थे। यह तो स्पष्ट है कि विद्याधर-लोकमें सदा कर्मभूमि रहती है, इसलिए वहाँके निवासी असि आदि षट्कर्मसे अपनी आजीविका तो करते ही हैं। साथ ही उनमें कुछ ऐसे विद्याधर भी होते हैं जो श्मशान आदिमें शवदाह आदि करके, मरे हुए पशुओंकी खाल उतारकर और हड्डियोंका व्यापार करके तथा इसी प्रकारके और भी निकृष्ट कार्य करके अपनी आजीविका करते हैं। इतना सब होने हुए भी वे दूसरे विद्याधरोंके साथ जिनमन्दिरमें जाते हैं, सब मिलकर पूजा करते हैं और अपने-अपने मुखियोंके साथ बैठकर परस्परमें धर्मचर्चा करते हैं। यह सब क्या है? क्या इससे यह सूचित नहीं होता कि किसी भी प्रकारकी आजीविका करनेवाला तथा निकृष्टसे निकृष्ट वस्त्राभूषण पहिननेवाला व्यक्ति भी मोक्षमार्गके अनुरूप धार्मिक प्राथमिक कृत्य करनेमें आजाद है। उसकी जाति और वेशभूषा उसमें बाधक नहीं होती। जिन आचार्योंने सम्यग्दर्शनको धर्मका मूल कहा है और यह कहा है कि जो त्रस और स्थावर वधसे विरत न होकर भी जिनोक्त आज्ञाका श्रद्धान करता है, वह सम्यग्दृष्टि है। उनके उस कथनका एकमात्र यही अभिप्राय है कि केवल किसी व्यक्तिकी आजीविका, वेश-भूषा और जातिके आधारपर उसे धर्मका आचरण करनेसे नहीं रोका जा सकता। यह दूसरी बात है कि वह आगे-आगे जिस प्रकार व्रत, नियम और यमको स्वीकार करता जाता है, उसी प्रकार उत्तरोत्तर उसका हिंसाकर्म छूटकर विशुद्ध आजीविका होती जाती है, तथा अन्तमें वह स्वयं पाणिपात्रभोजी बनकर पूरी तरहसे आत्मकल्याण करने लगता है और अन्य प्राणियोंको आत्मकल्याण करनेका मार्ग प्रशस्त करता है। वे पुरुष जिन्होंने जीवन भर हिंसादि कर्म करके अपनी आजीविका नहीं की हैं, सबके लिए आदर्श और वन्दनीय तो हैं ही। किन्तु जो पुरुष प्रारम्भमें हिंसादि कर्म करके अपनी आजीविका करते हैं और अन्तमें उससे विरक्त हो मोक्षमार्गके पथिक बनते हैं, वे भी सबके लिए आदर्श और वन्दनीय हैं।

अन्य प्रमाण

इस प्रकार 'हरिवंशपुराण'के आधारसे यह ज्ञात हो जानेपर भी कि चाण्डालसे लेकर ब्राह्मण तक

प्रत्येक मनुष्य जिन मन्दिरमें प्रवेश कर जिनपूजा आदि धार्मिक कृत्य करनेके अधिकारी हैं, यह जान लेना आवश्यक है कि क्या मात्र 'हरिवंशपुराण'के उक्त उल्लेखसे इसकी पुष्टि होती है या कुछ अन्य प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं जो इसकी पुष्टिमें सहायक माने जा सकते हैं। यह तो स्पष्ट है कि 'महापुराणकी' रचनाके पूर्व किसीके सामने इस प्रकारका प्रश्न ही उपस्थित नहीं हुआ था, इसलिए महापुराणके पूर्ववर्ती किसी आचार्यने इस दृष्टिसे विचार भी नहीं किया है। शूद्र सम्यग्दर्शनपूर्वक श्रावक-धर्मको तो स्वीकार करे, किन्तु वह जिनमन्दिरमें प्रवेश कर जिनेन्द्रदेवकी पूजन-स्तुति न कर सके, यह बात बुद्धिग्राह्य तो नहीं है। फिर भी, जब महापुराणके कर्ता आचार्य जिनसेनने जैनधर्मको वर्णाश्रमधर्मके साँचेमें ढालकर यह विधान किया कि इज्यादि षट्कर्म करनेका अधिकार एकमात्र तीन वर्णके मनुष्यको है, शूद्रको नहीं; तब उत्तरकालीन कतिपय लेखकोंको इस विषयपर विशेष ध्यान देकर कुछ-न-कुछ अपना मत बनाना ही पड़ा है। उत्तरकालीन साहित्य-कारोंमें इस विषयको लेकर जो दो मत दिखलाई देते हैं, उसका कारण यही है। सन्तोषकी बात इतनी ही है कि उनमेंसे अधिकतर साहित्यकारोंने देवपूजा आदि धार्मिक कार्योंको तीन वर्णके कर्तव्योंमें परिगणित न करके श्रावक धर्मके कार्योंमें ही परिगणित किया है और इस तरह उन्होंने आचार्य जिनसेनके कथनके प्रति अपनी असहमति ही व्यक्त की है। सोमदेवसूरि नीतिवाक्यामृतमें कहते हैं—

आचारानवद्यत्वं शुचिरुपस्करः शारीरी च विशुद्धिः करोति शूद्रमपि देवद्विजतपस्विपरिकर्मसु योग्यम्।

तात्पर्य यह है कि जिस शूद्रका आचार निर्दोष है तथा घर, पात्र और शरीर शुद्ध है, वह देव, द्विज और तपस्वियोंकी भक्ति पूजा आदि कर सकता है।

नीतिवाक्यामृतके टीकाकार एक अजैन विद्वान् हैं। उन्होंने भी उक्त वचनकी टीका करते हुए एक श्लोक उद्धृत किया है। श्लोक इस प्रकार है—

गृहपात्राणि शुद्धानि व्यवहारः सुनिर्मलः।
कायशुद्धिः करोत्येव योग्यं देवादिपूजने॥

श्लोकका अर्थ वही है जो नीतिवाक्यामृतके वचनका कर आये हैं। इस प्रकार सोमदेवसूरिके सामने यह विचार उपस्थित होनेपर कि शूद्र जिनमन्दिरमें जाकर देवपूजा आदि कार्य कर सकता है या नहीं ? उन्होंने अपना निश्चित मत बनाकर यह सम्मति दी थी कि यदि उसका व्यवहार सरल है और उसका घर, वस्त्र तथा शरीर आदि शुद्ध हैं, तो वह मन्दिरमें जाकर देवपूजा आदि कार्य कर सकता है।

यहाँपर इतना स्पष्ट जान लेना चाहिए कि सोमदेवसूरिने इस प्रश्नको धार्मिक दृष्टिकोणसे स्पर्श न करके ही यह समाधान किया है, क्योंकि धार्मिक दृष्टिसे देवपूजा आदि कार्य कौन करे, यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। कारण कि कोई मनुष्य ऊपरसे चाहे पवित्र हो और चाहे अपवित्र हो, वह पञ्चपर-मेष्ठीकी भक्ति, विनय और पूजा करनेका अधिकारी है। यदि किसीने पञ्चपरमेष्ठीकी भक्ति, विनय और पूजा की है, तो वह भीतर और बाहर सब तरफसे शुद्ध है और नहीं की है, तो वह न तो भीतरसे शुद्ध है और न बाहरसे ही शुद्ध है। हम भगवद्भक्ति या पूजाके प्रारम्भमें 'अपवित्रः पवित्रो वा' इस आशयके दो श्लोक पढ़ते हैं, वे केवल पाठमात्रके लिए नहीं पढ़े जाते हैं ! स्पष्ट है कि धार्मिक दृष्टिकोण इससे भिन्न है। वह न तो व्यक्तिके कर्मको देखता है और न उसकी बाहरी पवित्रता और अपवित्रताको ही देखता है। यदि वह देखता है तो एकमात्र व्यक्तिकी श्रद्धाको, जिसमेंसे भक्ति, विनय, पूजा और दान आदि सब धार्मिक

कर्म उद्भूत होते हैं। आचार्य अमितिगतिने इस सत्यको हृदयंगम किया था। तभी तो उन्होंने आचार्य जिनसेन द्वारा प्ररूपित छह कर्मोंमेंसे वार्ताके स्थानमें गुरूपास्ति रखकर यह सूचित किया कि ये तीन वर्णके कार्य न होकर गृहस्थोंके कर्तव्य हैं। उन्होंने गृहस्थके जिन छह कर्मोंकी सूचना दी है वे है—

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तप ।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने-दिने ॥

पण्डितप्रवर आशाधरजीने अपने सागारधर्मामृत, (अध्याय १ श्लो० १८) मे इस प्रकारका संशोधन तो नहीं किया है। उन्होंने वार्ताके स्थानमें उसे ही रहने दिया है। परन्तु उसे रखकर भी वे उससे केवल असि, मषि, कृषि और वाणिज्य इन चार कर्मोंसे अपनी आजीविका करनेवालोंको ग्रहण न कर सेवाके साथ छहों कर्मोंसे अपनी आजीविका करनेवालोंको स्वीकार कर लेते हैं। और इस प्रकार इस संशोधन द्वारा वे भी यह सूचित करते है कि देवपूजा आदि कार्य तीन वर्णके कर्तव्य न होकर गृहस्थधर्मके कर्तव्य हैं। फिर चाहे वह गृहस्थ किसी भी कर्मसे अपनी आजीविका क्यों न करता हो। इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्तरकालवर्ती जितने भी साहित्यकार हुए है, प्राय उन्होंने भी यही स्वीकार किया है कि जिनमन्दिरमे जाकर देवपूजा आदि कार्य जिस प्रकार ब्राह्मण आदि तीन वर्णका गृहस्थ कर सकता है, उसी प्रकार चाण्डाल आदि शूद्र गृहस्थ भी कर सकता है। आगममे इसमे किसी प्रकारकी बाधा नही आती। और यदि किसीने कुछ प्रतिबन्ध लगाया भी है, तो उसे सामयिक परिस्थितिको ध्यानमें रखकर सामाजिक ही समझना चाहिए। आगमकी मनसा इस प्रकारकी नहीं है, यह सुनिश्चित है।

इस प्रकार शास्त्रीय प्रमाणोके प्रकाशमे विचार करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि शूद्रोंको श्री जिन-मन्दिरमें जाने और पूजन-पाठ करनेका कही कोई निषेध नहो है। महापुराणमे इज्या आदि षट्कर्म करनेका अधिकार जो तीन वर्णके मनुष्योंको दिया गया है, उसका रूप सामाजिक है धार्मिक नही और उद्देश्य व अभि-प्रायकी दृष्टिसे सामाजिक विधिविधान तथा धार्मिक विधिविधानमें बड़ा अन्तर है, क्योंकि क्रिया एक प्रकारकी होनेपर भी दोनोंका फल अलग-अलग है। ऐसी अवस्थामे आचार्य जिनसेन द्वारा महापुराणमे कौलिक दृष्टिसे किये गये सामाजिक विधिविधानको आत्मशुद्धिमे सहायक मानना तत्त्वका अपलाप करना है। यद्यपि इस दृष्टिसे भगवद्भक्ति करते समय भी पूजक यह भावना करता हुआ देखा जाता है कि मेरे दुःखोंका क्षय हो, कर्मोंका क्षय हो, समाधिमरण हो, रत्नत्रयकी प्राप्ति हो और मैं उत्तम गति जो मोक्ष उसे प्राप्त करूँ। जलादि द्रव्यसे अर्चा करते समय वह यह भी कहता है कि जन्म, जरा और मृत्युका नाश करनेके लिए मै जलको अर्पण करता हूँ, आदि। किन्तु ऐसी भावना व्यक्त करने मात्रसे वह क्रिया मोक्षमार्गका अङ्ग नही बन सकती, क्योंकि जो मनुष्य उक्त विधिसे पूजा कर रहा है, उसकी आध्यात्मिक भूमिका क्या है, प्रकृतमे यह बात मुख्यरूपसे विचा-रणीय हो जाती है।

यदि भगवद्भक्ति करनेवाला कोई व्यक्ति इस अभिप्रायके साथ जिनेन्द्रदेवकी उपासना करता है कि 'यह मेरा कौलिक धर्म है, मेरे पूर्वज इस धर्मका आचरण करते आये है, इसलिए मुझे भी इसका अनुसरण करना चाहिए। मेरा ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कुलमे जन्म हुआ है, अतः मैं ही इस धर्मको पूर्णरूपसे पालन करने-का अधिकारी हूँ। जो शूद्र हैं वे इस धर्मका उस रूपसे पालन नहीं कर सकते, क्योंकि वे नीच हैं। यह मन्दिर भी मैने या मेरे पूर्वजोंने बनवाया है, इसलिए मैं इसमें मेरे समान आजीविका करनेवाले तीन वर्णके मनुष्योंको ही प्रवेश करने दूँगा, अन्यको नहीं। अन्य व्यक्ति यदि भगवद्भक्ति करना ही चाहते हैं, तो वे मन्दिरके बाहर

रहकर मन्दिरकी शिखरोंमें या दरवाजोंके चौखटोंमें स्थापित की गई जिनप्रतिमाओंके दर्शन कर उसकी पूर्ति कर सकते हैं। मन्दिरोंके सामने जो मानस्तम्भ निर्मापित किये गये है, उनमे स्थापित जिनप्रतिमाओंके दर्शन करके भी वे अपनी धार्मिक भावनाकी पूर्ति कर सकते है। परन्तु मन्दिरोंके भीतर प्रवेश करके उन्हे भगवद्भक्ति करनेका अधिकार कभी भी नहीं दिया जा सकता।' तो उसका यह अभिप्राय मोक्षमार्गकी पुष्टिमे और उसके जीवनके सुधारमे सहायक नही हो सकता। भले ही वह लौकिक दृष्टिसे धर्मात्मा प्रतीत हो, परन्तु अन्तरङ्ग धर्मकी प्राप्ति इन विकल्पोंके त्यागमें ही होती है, यह निश्चित है। क्योंकि प्रथम तो यहाँ यह विचारणीय है कि लौकिक दृष्टिसे की गई यह क्रिया क्या संसारबन्धनका उच्छेद करनेमे सहायक हो सकती है? एक तो ऐसी क्रियामें वैसे ही रागभावकी मुख्यता रहती है, क्योंकि उसके बिना अन्य पदार्थके आलम्बनसे प्रवृत्ति नही हो सकती, इसलिए आगममें इसका मुख्य फल पुण्यबन्ध ही बतलाया है, संसारका उच्छेद नही। यदि कही पर इसका फल संसारका उच्छेद कहा भी है, तो उसे उपचार कथन ही जानना चाहिए। और यह स्पष्ट है कि उपचार कथन मुख्यका स्थान नही ले सकता। उपचारका स्पष्टीकरण करते हुए अन्यत्र कहा भी है—

मुख्याभावे सति प्रयोजने च उपचार प्रवर्तते।

आशय यह है कि मुख्यके अभावमे प्रयोजन विशेषकी सिद्धिके लिए उपचार कथनकी प्रवृत्ति होती है। इसलिए इतना स्पष्ट है कि अन्य पदार्थके आलम्बनसे प्रवृत्तिरूप जो भी क्रिया की जाती है, वह उपचारधर्म होनेसे मुख्य धर्मका स्थान नही ले सकता। यद्यपि यह हम मानते है कि गृहस्थ अवस्थामे ऐसे धर्मकी ही प्रधानता रहती है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नही कि गृहस्थ मुख्य धर्मसे अपनी चित्तवृत्तिको हटाकर इसे ही साक्षात् मोक्षका साधन मानने लगता है। स्पष्ट है कि जब मोक्षके अभिप्रायसे किया गया, व्यवहारधर्म भी साक्षात् मोक्षका साधन नही हो सकता। ऐसी अवस्थामें जो आचार लौकिक दृष्टिसे किया जाता है, वह धर्मका स्थान कैसे ले सकता है? उसे तो व्यवहारधर्म कहना भी धर्मका परिहास करना है। अतएव निष्कर्षरूपमें यही समझना चाहिए कि धर्ममे वर्णादिकके भेदसे विचारके लिए रञ्चमात्र भी स्थान नही है और यही कारण है कि जैनधर्मने व्यक्तिकी योग्यताके आश्रयसे उसका विचार किया है, वर्ण और जातिके आश्रयसे नही। जब यह वस्तुस्थिति है तो ऐसी अवस्थामे अन्य वर्णवालोंके समान शूद्र भी जिन मन्दिरमे जाकर जिनदेवकी अर्चा वन्दना करें, यह मानना आगम सम्मत होनेसे उचित ही है।

●



सोनगढ़ और जैनतत्त्वमीमांसा

सोनगढको लक्ष्य कर सोनगढके विरोधी कतिपय पत्रोंमें टीका-टिप्पणी होती रहती है। इसके अन्य कई कारण हैं, पर मैं उन सबकी इस लेखमें चर्चा नही करूँगा। जहाँ तक शास्त्रीय दृष्टिसे विचार करनेकी बात है उसके ये तीन मुख्य कारण प्रतीत होते हैं—

१. सोनगढ कार्य-कारण भावको स्वीकार नहीं करता।

२. सोनगढ व्यवहार धर्मको रागरूप बतलाता है।

३ सोनगढ व्यवहार धर्मका निषेध करता है।

यहाँ सोनगढ़को दृष्टिमें रखकर इन्ही तीनों बातों पर विचार करना है—

१. परमागममें कार्य-कारण भावका ऊहापोह दो प्रकारसे किया गया है—उपादान-उपादेय दृष्टिसे और निमित्त-नैमित्तिक दृष्टिसे। विरोधी पत्रोंमें अभी तक जितने भी लेख मेरे देखनेमे आये हैं, उनमें उपादान-उपादेय भावको तो प्रायः स्पर्श ही नही किया जाता है यदि कार्य-कारण भावका ऊहापोह करते समय बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकारकी सामग्रीके आधारसे कार्यका विचार किया जाय तो रुपयामें पन्द्रह आना समस्या सुलझ जाय। तब केवल एक मात्र इतना ही विचार करना शेष रह जाय कि बाह्य सामग्रीके रहते हुए भी जीवनमें ऐसी क्या कमी रह जाती है जिससे स्वयं जीव उपादान बनकर मिथ्यात्वादिके अभावपूर्वक सम्यग्दर्शनादि परिणामको नहीं उत्पन्न कर पाता।

मोक्षमार्गका प्रारम्भ अबुद्धिपूर्वक होता है इसे मेरे ख्यालमे न तो परमागम ही स्वीकार करता है और न विरोधी विद्वान् ही मानते होंगे। चाहे देव, गुरु और शास्त्र आदिकी भक्ति आदि रूप कार्य हों, चाहे निश्चय रत्नत्रयकी प्राप्तिरूप कार्य हो, होता है इन दानोंका प्रारम्भ बुद्धि पूर्वक ही। अब विचार कीजिए कि कुदेवादिकी भक्ति-पूजा आदिरूप गृहीत मिथ्यात्वका बुद्धिपूर्वक त्यागकर मात्र सच्चे देवादिककी ही शरण स्वीकार करता है, या उसके साथ गृहस्थ और मुनिके आचारको सम्यक् प्रकारसे पालता है उसे निश्चय सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी या श्रावक और मुनिके अनुरूप निश्चय रत्नत्रयकी प्राप्ति उस बाह्य कारणोंके होनेपर भी नियमसे क्यों नहीं होती? यह अनियम होनेका कारण क्या है? यदि विरोधी विद्वान् इस लक्ष्यपर गम्भीरतासे विचार करने लगें और इस मुख्य कारणको दृष्टि ओझल न कर उक्त कारणके अनुसन्धानमें लग जायें तो उन्हें सोनगढ़की प्ररूपणाकी यथार्थता भी समझमे आने लगे।

निश्चय रत्नत्रय जीवका स्वाश्रित भाव है और व्यवहार रत्नत्रय जीवका पराश्रित भाव है। आशय यह है कि जब यह जीव बुद्धिपूर्वक होनेवाले पराश्रित शुभाशुभ अन्य सब विकल्पोंसे निवृत्त होकर भी श्री समयसार आदि द्रव्यानुयोगमें बतलाए गए निज स्वरूपकी ओर अपने उपयोगको मोड़कर उसमे उपयुक्त होता है, तब उसे यथायोग्य निश्चय रत्नत्रयकी प्राप्ति होती है। यदि उक्त जीव गृहीत मिथ्यात्वका बुद्धिपूर्वक त्यागकर तथा सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा सम्पन्न होकर अव्रती श्रावकके अनुरूप जैनाचारका पालन करने वाला है तो स्वात्मोन्मुख होनेपर वह स्वानुभूति स्वरूप निश्चय सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानको प्राप्त करता है, इसके अनंतानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभका अभाव हो जानेसे अंशतः वीतरागता भी प्रगट हो जाती है। यदि उक्त जीव चरणानुयोगके अनुसार अणुव्रतोंका पालन करने वाला है तो स्वात्मोन्मुख होनेपर

वह निश्चय सम्यग्दर्शन और निश्चय सम्यग्ज्ञानके साथ विरताविरत गुणस्थानको प्राप्त कर लेता है और यदि उक्त जीव चरणानुयोग परमागममें प्रतिपादित विधिसे अट्ठाईस मूलगुणोंका धारी है तो स्वात्मोन्मुख होने पर वह निश्चय सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके साथ सातवें गुणस्थानको प्राप्त हो जाता है। मोक्षमार्गमें आरूढ़ होनेका एक मात्र यही मार्ग है, इसके सिवा अन्य मार्ग नही है। जो इस विधिसे मोक्षमार्गपर आरूढ़ होता है उसके यथायोग्य निश्चय रत्नत्रयकी प्राप्ति होते समय करणानुयोगके अनुसार तदनुरूप कर्मोंकी उपशमादि क्रिया भी अवश्य होती है। इसीमे तीनों अनुयोगोंकी प्ररूपणा की सार्थकता है। कार्य-कारण भावको स्वीकार करनेकी आवश्यकता भी इसीमें है।

परमागम ही इसे स्वीकार करता है कि व्यवहार रत्नत्रय पराश्रित भाव है। क्योंकि उसकी प्राप्ति बुद्धिमें परका आलम्बन लेने पर ही होती है। इसमे गृहीत मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्रके त्यागपूर्वक परमार्थ स्वरूप-देव-गुरु-शास्त्र और व्रतोंका अवलम्बन लेकर मन, वचन और कर्मकी प्रवृति करना मुख्य है। उक्त सच्चे देवादिकका अपने उपयोगमें अवलम्बन लिए बिना व्यवहार रत्नत्रयकी प्राप्ति हो जाय, यह त्रिकालमे सम्भव नही है। इसीलिए परमागममे व्यवहार रत्नत्रयको प्रशस्त रागरूप स्वीकार किया है। बुद्धिपूर्वक ऐसा प्रशस्त राग प्रमत्त संयत गुणस्थान तक पाया जाता है, इसलिए वही तक व्यवहार रत्नत्रयकी प्राप्ति, पालन और सम्हालका विकल्प होता हैं। अपने उक्त प्रकारके विकल्पका अभाव होकर दसवे गुणस्थान तक तद्विषयक राग तो पाया जाता है। मन, वचन और कायकी उस रूप प्रवृत्ति नही होती।

मूलाचार आदि परमागममे प्रारम्भके तीन गुणस्थानोंमे अशुभोपयोग बतलाया है। यद्यपि मिथ्यात्व गुणस्थानोंमें ही किन्हीको अव्रती श्रावकके अनुरूप व्यवहार रत्नत्रयकी प्राप्ति हो जाती है, किन्हीको व्रती श्रावकके अनुरूप व्यवहार रत्नत्रयकी प्राप्ति हो जाती है और किन्हीको मुनिपदके अनुरूप व्यवहार रत्नत्रयकी प्राप्ति हो जाती है। परन्तु उन्हें निश्चय सम्यग्दर्शनादिकी प्राप्ति न होनेके कारण उनके इस व्यवहार धर्मको यथार्थ संज्ञा नही प्राप्त होती। कारण कि यह सब करते हुए भी उसके जीवनमे एक तो किसी न किसी जातिकी लौकिक अभिलाषा बनी रहती है और दूसरे वह उस बाह्य प्रवृत्तिको ही अपना हितकारी मानता रहता है।

सोनगढ इस बाह्य व्यवहार धर्मको आगम बाह्य मानता हो ऐसा भी नही है या निश्चय धर्मकी प्राप्तिके पूर्व व्यवहार धर्मको प्राप्ति होती है, ऐसा न मानता हो ऐसा भी नही है या वहाँ इसका उपदेश न होता हो ऐसा भी नही है। वस्तुस्थिति यह है कि प्रत्येक अनुयोगके व्याख्यानकी अपनी मर्यादा है। सोनगढमे उस मर्यादाको ख्यालमें रखकर ही व्याख्यान किया जाता है इतना अवश्य है। उदाहरणार्थ जब चरणानुयोगके अनुसार वहाँ व्याख्यान होता है तब यह स्पष्ट कहा जाता है कि जो कुदेवादिककी भक्ति-पूजन करता है या सात व्यसनका सेवन करता है और आठ मूलगुणोंका पालन नही करता है आदि, वह नामका भी जैन नही है। वह परम अर्हत वाणीको सुननेका भी पात्र नही। सभामें आकर बैठे और सुने यह दूसरी बात है। इस प्रकार वहाँ चरणानुयोगके व्याख्यानकी मर्यादाको ध्यानमे रखकर उसका व्याख्यान किया जाता है। इस प्रकार हम देखते है कि जैसे चरणानुयोगके व्याख्यानकी अपनी मर्यादा है वैसे ही द्रव्यानुयोगके व्याख्यानकी भी अपनी मर्यादा है। पराश्रितको छुडाकर अपने निजस्वरूप उपयुक्त कराना द्रव्यानुयोगके व्याख्यानका मुख्य प्रयोजन है इसलिए इसके व्याख्यानके समय शुभ और अशुभ सभी प्रकारके रागभावका निषेध किया है। उसमे जिस

प्रकार अशुभ रागस्वरूप पञ्चेन्द्रियोंके विषय ग्रहणका निषेध हो जाता है उसी प्रकार व्यवहार रत्नत्रयका भी निषेध हो जाता है। द्रव्यानुयोगके व्याख्यानके समय यदि व्यवहार रत्नत्रयका निषेध होता है तो सुनने वालेको अटपटा नही लगना चाहिए। उन्हें यह समझना चाहिए कि निर्विकल्प अवस्थाके प्राप्त करनेके अभिप्रायसे ही यहाँ उपदेशमे सब प्रकारके विकल्पोंको छोड़नेका उपदेश दिया जाता है। यदि इस उपदेशको सुनकर कोई अपने व्यवहार रत्नत्रयको ही प्रवृत्तिमें त्याग बैठता है तो इससे वह अपना ही अहित करता है। इसमें उपदेष्टाको दोष नही दिया जा सकता और न उस प्ररूपणाको ऐकान्तिक ही कहा जा सकता है।

निश्चय धर्म और व्यवहार धर्मका व्याख्यान नयाश्रित होनेसे एक कालमे एक धर्मका ही व्याख्यान हो सकता है। जिनवाणीका संकलन भी इसी दृष्टिसे भिन्न-भिन्न अनुयोगोंमें मुख्यतासे किया गया है इसे यह नही भूलना चाहिए। स्वाश्रित कथन निश्चयनयका विषय है और पराश्रित कथन व्यवहारनयका विषय है, इसलिए जीवनमे स्वाश्रितपनेकी प्रसिद्धिके लिए पराश्रित व्यवहारका निषेध किया जाता है। दूसरे व्यवहारनय और उसका विषय निषेध्य इसलिए भी है, क्योंकि वह यथावस्थित वस्तुस्वरूप नही है। परमागममे इसीलिए निश्चयनयको प्रतिषेधक और व्यवहारनयको प्रतिषेध्य कहा गया है। एक बात यह भी है कि जीवनमे व्यवहार धर्म रूप प्रवृत्तिको साकार रूप देनेके लिए जैसे अशुभ प्रवृत्ति और अशुभ विकल्पका निषेध किया जाता है, उसे उपादेय नही माना जाता वैसे ही अपने जीवनको निश्चय धर्मस्वरूप बनानेके लिए उसके व्याख्यानमे शुभ अशुभ दोनों प्रकारकी प्रवृत्तियों और उनके विकल्पोंका भी निषेध किया जाता है। उन्हें उपादेय नही बतलाया जाता।

शुभ और अशुभ भावकी निवृत्तिका नाम संवर है। द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग दोनों परमागम स्वीकार करते है। मूलाचारकी टीकामे अहिंसा आदिको व्रत कहनेके कारणका निर्देश करते हुए बतलाया है कि सावद्यकी निवृत्ति पूर्वक मोक्षमार्गके निमित्त रूप आचरणमे व्रत व्यवहार किया जाता है। इससे भी यही ज्ञात होता है कि जो स्वयं मोक्षमार्ग तो नही है, किन्तु जो आचरण उसका बाह्य निमित्त है उसे व्यवहार धर्म कहते है। इस प्रकार इतने ऊहापोहके आधारसे कार्य कारण भावका विचार करनेपर यह सुतरा फलित हो जाता है कि स्वभाव सम्मुख हुआ आत्मा मोक्षमार्गका उपादान निमित्त है। दर्शन मोहनीय आदि कर्मोका उपशमादि उसका अन्तरंग निमित्त है और सच्चे देव-गुरु शास्त्रकी श्रद्धा व व्रतादि परिणाम उसका बाह्य निमित्त है। यहाँ कर्मके उपशमादिको अन्तरंग निमित्त और नोकर्मको बाह्य निमित्त कहा गया है। है वे दोनों जीवसे भिन्न ही और इस अपेक्षासे वे दोनो ही बाह्य निमित्त हैं। बाह्य और आभ्यन्तर उपाधिकी समग्रतामें कार्य होता है, स्वामी समन्तभद्रके इस वचनसे भी उक्त लक्ष्यकी पुष्टि होती है। यहाँ उपादान निमित्तको आभ्यन्तर उपाधि कहा गया है और बाह्य सभी प्रकारकी सामग्रीको बाह्य उपाधि कहा गया है, इसमे कर्म और नोकर्म दोनोंका ग्रहण हो जाता है।

अन्यत्र (श्लोक वार्तिकमें) उपादाननिमित्तको निश्चय कारण भी कहा गया है। समर्थ उपादान कारण यह इसका दूसरा नाम है। इससे यह सुतरा फलित हो जाता है कि निश्चय कारणके अतिरिक्त कार्यके प्रति निमित्तभूत अन्य जितनी भी बाह्य सामग्री होती है वह सब जिनागममे व्यवहारसे ही हेतु मानी गई है। इसका कारण यह है कि जैसे उपादान द्रव्यसे अभिन्न होनेके कारण स्वयं कार्यरूप परिणमता है वैसे बाह्य सामग्री, जो प्रत्येक कार्यमे निमित्त व्यवहारको प्राप्त होती है, स्वयं उस कार्यरूप न परिणम कर उससे भिन्न रहकर ही अपना अन्य कार्य करती है। फिर भी उसमें निमित्त व्यवहार करनेका प्रथम कारण कालप्रत्यासत्ति है। अर्थात् उक्त दोनोंके एक कालमें होनेके कारण इनमें परस्पर निमित्त-नैमित्तिक व्यवहार किया जाता

है। दूसरा कारण यह है कि उक्त दोनोंमें बाह्य व्याप्ति घटित हो जाती है। और इसी आधारपर इन दोनोंमें अन्वय-व्यतिरेक घटित होता है। जहाँ बाह्य सामग्री या अन्तरंग सामग्री हो और कार्य न हो, वहाँ उन दोनोंको उस कार्यका निमित्त कहना स्थूल दृष्टि है। वस्तुतः जब कोई द्रव्य निश्चय उपादान पदवीको प्राप्त होता है तब उसके अनन्तर समयमें जिसका वह उपादान निमित्त होता है वह कार्य अवश्य होता है और उसका जिसकी उस प्रकारके कार्यके साथ त्रैकालिक व्याप्ति होती है ऐसा कोई न कोई बाह्य निमित्त भी होता है। तीसरा कारण यह है कि उपादानके अनुसार जो कार्य होता है, बाह्य सामग्रीका व्यापार व्यवहारनयसे उसके अनुकूल ही होता है। ये तीन कारण हैं जिन्हें लक्ष्यमें रखकर कार्य और उसके अनुकूल बाह्य सामग्रीमें निमित्त-नैमित्तिक व्यवहार किया जाता है।

नय सात हैं—नैगमनय, संग्रहनय, व्यवहारनय, ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढ़िनय और एवंभूत-नय। पर और अपर सत् संग्रहनयका विषय है। संग्रहनयसे गृहीत सत्में भेद करना व्यवहारनयका विषय है। वर्तमान पर्यायको ग्रहण करना ऋजुसूत्रनयका विषय है तथा शब्दादिके भेदसे वर्तमान पर्यायको ग्रहण करना शब्दादि तीन नयोंका विषय है। इससे ज्ञात होता है कि कार्यकारण भाव इन छहों नयोंका विषय तो हो नहीं सकता, क्योंकि इनमेंसे प्रारम्भके दो नय तो सत् और सत्में किये गये परमाणु तक अवान्तर भेदको विषय करते हैं तथा अन्तके चार नय वर्तमान पर्यायको विषय करते हैं। कार्य-कारणभाव दोमें बनता है इसलिए यह कारण है और यह इसका कार्य है इस प्रकार दोमें सम्बन्ध स्थापित करना इन नयोंका विषय नहीं हो सकता। अब केवल नैगमनय रह जाता है। सो उक्त सब नयोंका जितना विषय है वह सब नैगम-नयका विषय है, क्योंकि इसमें संकल्पकी मुख्यता रहती है। नैगमनयकी व्युत्पत्ति है—'नैकगमो नैगम' इसके अनुसार शब्द, शील, कर्म, कार्य, कारण, आधार, आधेय सहचार, मान, मेय, उन्मेय, भूत, भविष्यत् और वर्तमानके आलम्बन द्वारा किया गया उपचार इस नयका विषय है। इसमें यह स्पष्ट हो जाता है कि यह इसका कार्य है और यह इसका कारण है इस प्रकार दोके आलम्बनमें जितना भी व्यवहार किया जाता है वह सब नैगमनयकी अपेक्षा ही बनता है, अतः इस सब व्यवहारको उपचरित ही समझना चाहिए। यही कारण है कि श्री समयसारमें विविध स्थलोंपर आचार्य अमृतचन्द्रदेवने ऐसे सब व्यवहारको विकल्परूप कहकर उसे उपचरित ही बतलाया है। इस प्रकार परमागम प्रसिद्ध नयोंके आधारसे विचार करनेपर भी यहाँ सिद्ध होता है कि प्रयोजन विशेषसे एकको निमित्त और दूसरेको उसका नैमित्तिक कहना व्यवहार (उपचरित) कथन ही है, परमार्थ कथन नहीं।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि ऐसे उपचरित कथनको परमागममें स्थान क्यों दिया गया है और उस आधारसे कार्य कारणभावकी व्यवस्था क्यों की गई है? समाधान यह है कि इस द्वारा परमार्थकी प्रसिद्धि होती है इस प्रयोजनको ध्यानमें रखकर परमागममें इस उपचरित कथनको स्थान दिया गया है। इसकी पुष्टि स्थापना निक्षेप द्वारा सम्यक् प्रकारसे होती है। ध्यान मुद्रामें स्थापित प्रति स्वयं पंचपरमेष्ठी नहीं हैं, किन्तु उपचारसे हम उसमें यथा प्रयोजन पंचपरमेष्ठीकी कल्पनाकर उनकी आराधना करते रहते हैं। यहाँ जिस प्रकार जिनबिम्ब और पुण्यभावमें परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाया गया है उसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए क्योंकि अन्वय-व्यतिरेकके आधारपर कार्य-कारण सम्बन्धकी प्रक्रिया सर्वत्र एक प्रकारसे ही स्वीकार की गई है। फिर चाहे जिसमें निमित्त व्यवहार किया जाता है वह अपनी हलन-चलन रूप क्रिया व्यापारके द्वारा निमित्त हो रहा हो या बुद्धिपूर्वक क्रिया व्यापारके द्वारा निमित्त हो रहा हो या अन्य प्रकारसे निमित्त हो रहा हो। इतना सुनिश्चित है कि किसी भी कार्यके होनेमें उससे भिन्न जिसमें विभिन्न व्यवहार

किया जाता है वह काल प्रत्यासत्ति वश बाह्य व्याप्तिको लक्ष्यमें रखकर अन्वय-व्यतिरेकके आधार पर ही किया जाता है ऐसा यहाँ समझना चाहिए। उसमें तद्व्यतिरिक्त वस्तुके कार्यका परमार्थ रूप कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण रूप एक भी कारक धर्म पाया जाता हो ऐसा नहीं है। यही कारण है कि उसमें तद्व्यतिरिक्त वस्तुके कार्यके कर्ता आदि कारण धर्मका आरोप करके उसे व्यवहार हेतु कहा जाता है। इस विवेचनसे यह सुतरां फलित हो जाता है कि किसी एक वस्तुको किसी दूसरे वस्तुके कार्यका प्रेरक निमित्त कहना या उदासीन निमित्त कहना यह सब उपचरित कथन ही है परमार्थ कथन नहीं, यह व्यवहारनयका कर्तव्य है। निश्चय नयका कर्तव्य इस प्रकार है—

उत्पाद, व्यय और ध्रुव स्वभाव वस्तुको द्रव्य कहते है। यह द्रव्यका अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव दोषोंसे रहित आत्मभूत सामान्य लक्षण है। इसके अनुसार प्रत्येक द्रव्य पर्यायोंमें अपने अन्वय स्वभाव के कारण द्रव्य दृष्टिसे स्वयं अवस्थित और नित्य है तथा व्यतिरेक स्वभावके कारण पर्याय दृष्टिसे स्वयं उत्पाद और व्ययको प्राप्त होनेसे अनित्य है। प्रत्येक द्रव्योंको नित्यानित्यात्मक स्वीकार करनेका यही कारण है। यह त्रैकालिक वस्तु व्यवस्था है। इस प्रकार जब इस तथ्यको स्वीकार किया जाता है तब प्रत्येक द्रव्य में प्रति समय उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यकी व्यवस्था स्वयं बनती है यह निश्चित होता है। इसीलिये श्री समयसारमें परिणामी, परिणाम और परिणमन क्रिया इन तीनोंको तात्त्विक रूपसे अभिन्न—एक कह कर बतलाया है कि पर पदार्थ से भिन्न रह कर सदा काल एक ही वस्तु परिणमन करती है, एक ही परिणाम होता है और एककी ही परिणमन क्रिया होती है, क्योंकि ये अनेक होकर भी एक ही वस्तु हैं—भेद नहीं है। दो द्रव्य एक होकर परिणमन नहीं करते, दो द्रव्योंका एक परिणाम नहीं होता और दो द्रव्योंकी एक परिणमन क्रिया नहीं होती, क्योंकि जो अनेक है वे सदा अनेक ही रहते हैं, वे बदल कर एक नहीं हो जाते। एक परिणामके दो कर्म नहीं होते, एक द्रव्यके दो परिणाम नहीं होते तथा एक द्रव्यकी दो परिणाम क्रिया नहीं होती क्योंकि एक कर्मी भी अनेकरूप नहीं होता। यह वस्तुव्यवस्था है। इसीसे परिणाम स्वभाव वाला होने पर भी प्रत्येक द्रव्यको द्रव्य दृष्टिसे नित्य और अवस्थित स्वीकार किया गया है। प्रत्येक द्रव्य परमार्थसे अपने गुण-पर्यायोंमें ही व्याप्त कर रहता है। वह इस अलंघ्य मर्यादाका उल्लंघन त्रिकालमें नहीं कर सकता। प्रत्येक द्रव्यकी अपने परिणामोंके साथ अन्तःव्याप्ति स्वीकार करनेका भी यही कारण है। यह निश्चयनयका वक्तव्य है।

इस प्रकार असद्भूत व्यवहारनय और निश्चयनयके वक्तव्यका विचार करनेके बाद अब सद्भूत व्यवहारनयके वक्तव्यका निर्देश करनेके साथ सद्भूत व्यवहारनय और असद्भूत व्यवहारनयके वक्तव्यमें परस्पर सामंजस्य किस प्रकार है इसकी मीमांसा करेंगे।

यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि प्रत्येक द्रव्य कथंचित् परिणाम स्वभाव है, इसलिए उसमें प्रति समय उत्पाद-व्यय होता रहता है। यहाँ उत्पादका नाम ही कार्यकी उत्पत्ति है और उसके व्ययका नाम ही कार्यका ध्वंस है। यह उत्पाद-व्यय क्रिया प्रत्येक द्रव्यमें प्रतिसमय होती रहती है। उदाहरणार्थ अपने शरीरको ही लीजिए। वह प्रथम समयमें जिस रूपमें उत्पन्न हुआ है दूसरे समयमें उसमें कुछ परिवर्तन होता या नहीं ? यह तो है नहीं कि प्रथम समयमें जिस रूपमें है, दूसरे समयमें भी उसी रूपमें बना रहता है, क्योंकि इसे स्वीकार करने पर शरीरमें बाल, युवा और वृद्ध आदि रूप अवस्थाएँ नहीं बन सकती है। इससे विदित होता है कि जिस प्रकार प्रति समय शरीरमें स्थूल-सूक्ष्म परिवर्तन होता है उसी प्रकार सब द्रव्योंमें पर्यायरूपसे उत्पाद-व्यय समझ लेना चाहिए।

अब प्रश्न यह है कि प्रत्येक द्रव्यमें जो उत्पाद व्यय रूप कार्य होता है वह केवल बाह्य सामग्रीके मिलनेपर ही होता है या कोई उसका अन्तरंग कारण भी है। इसका कारण केवल बाह्य सामग्री तो हो नहीं सकती,

क्योंकि बाह्य सामग्रीके बलसे कार्यकी उत्पत्ति स्वीकार करनेपर गेहूँसे चनेकी भी उत्पत्ति माननी पड़ती है किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता, अतः इसका द्रव्यगत कोई अन्तरंग कारण होना चाहिए।

यहाँ केवल भाव प्रत्यासत्तिको तो कार्यका कारण माना नही जा सकता, क्योंकि केवल भावप्रत्यासत्ति को कार्यका कारण माननेपर समान आकार वाले समस्त पदार्थोंमे कार्य-कारणभाव (उपादानोपादेयभाव) प्राप्त होता है। कालप्रत्यासत्ति भी कार्यका कारण नही हो सकता, क्योंकि इसे स्वीकार करनेपर पूर्वोत्तर समनन्तर क्षणवर्ती समस्त पदार्थोंमे कार्य-कारणभाव प्राप्त होता हैं। देशप्रत्यासत्ति भी कार्यका कारण नही हो सकता, क्योंकि इसे स्वीकार करनेपर समान देशवर्ती समस्त पदार्थोंमे कार्य कारणभाव प्राप्त होता है। द्रव्यप्रत्यासत्ति भी कार्यका कारण नही हो सकता, क्योकि ऐसा स्वीकार करनेपर सत् द्रव्यत्व आदि साधारण द्रव्यप्रत्यासत्तिसे भी कार्यकी उत्पत्ति स्वीकार करनी पड़ती है। अतः असाधारण द्रव्य प्रत्यासत्ति और अव्यवहित पूर्व समयवर्ती भाव विशेष प्रत्यासत्ति रूप उपादानको ही अपने उपादेय (कार्य)के प्रति कारणरूपमे स्वीकार करना चाहिए। और इसीलिए परमागममे अव्यवहित पूर्व समयवर्ती द्रव्यको उपादान रूपसे और अव्यवहित उत्तर समयवर्ती द्रव्यको उपादान रूपमे और अव्यवहित उत्तर समयवर्ती द्रव्यको उपादेय रूपमे स्वीकार किया गया है। अतः प्रत्येक समयमे प्रत्येक द्रव्यमे पर्यायरूपसे उत्पाद-व्यय रूप कार्यकी प्राप्ति होती है, अत विवक्षाभेदसे प्रति समय वह स्वयं उपादान भी है और स्वयं उपादेय भी है। अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्यायकी अपेक्षा उपादान भी है और अव्यवहित उत्तर क्षणवर्ती पर्यायकी अपेक्षा उपादेय भी है। यह उपादान-उपादेय स्वरूप कार्य-कारण सम्बन्धकी अव्याहत व्यवस्था है। प्रत्येक समयमे जो द्रव्यमें एक परिणामका व्यय होकर दूसरे परिणाम का उत्पाद होता है वह इसी आधार पर होता है। यह सद्भूत व्यवहार नयका वक्तव्य है। जो भी कार्य होता है वह द्रव्यमे अवस्थित अपनी द्रव्य-पर्यायरूप सहज योग्यताके कारण होता है, इसलिए तो इस नयके विषयको सद्भूत कहा है और कारण तथा कार्यमे समय भेद होनेसे उसे व्यवहार कहा है। इस प्रकार उपादान उपादेय भाव सद्भूत व्यवहार नयका विषय है यह निश्चित होता है।

इस प्रकार सद्भूत व्यवहारनयके वक्तव्यका विचार करनेके बाद अब इसके वक्तव्यके साथ असद्भूत व्यवहारनयके अनुसार कार्य-कारणभावको युगपत् प्राप्ति कैसे बनती है इसका कतिपय आगम प्रसिद्ध उदाहरणों के आधारसे विचार करेंगे।

[१] परमागममें सर्वत्र किस कर्मके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमके साथ जीवका औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक कौन सा भाव होता है इसकी जिस प्रकार बाह्य व्याप्ति बतलाई है उसी प्रकार उपादानके साथ आभ्यन्तर व्याप्तिका निर्देश भी दृष्टिगोचर होता है। यथा—१४वे गुणस्थान के अन्तिम समयमे रत्नत्रय परिणामकी पूर्णताको प्राप्त हुआ यह जीव सिद्ध पर्याय युक्त जीव द्रव्यका निश्चय उपादान कारण है और अगले समयमें सिद्ध होने समय चार अघाति कर्मोंका क्षय उसका बाह्य निमित्त है। इस प्रकार सिद्ध पर्याय रूप कार्यमे बाह्य और आभ्यन्तर उपाधिकी समग्रता एक साथ बन जाती है यह सिद्ध होता है।



धर्म और देवद्रव्य

किसी भी धर्मको चिरस्थायी रूप देनेके लिये धार्मिक संस्थाओंकी सबसे पहिले आवश्यकता होती है। संसारमें ऐसे भी धर्म हैं जिन्होंने प्रतिमाके अस्तित्वका निषेध किया है। इतना ही नहीं वे प्रतिमाको धर्मका अंग माननेके लिये भी तैयार नही हैं। जो कुछ भी हो, आज हम प्रतिमाकी उपयोगिताके ऊपर यहांपर कुछ भी नहीं लिख रहे हैं, वह स्वतंत्र विषय है इसलिये उसके ऊपर स्वतंत्र ही लिखा जावेगा। हमें तो यहांपर प्रतिमाको देवरूपमे स्वीकार करके आगेका विचार करना है।

धर्मके साधनभूत दो अंग हैं एक बाह्य और दूसरा आभ्यंतर। आभ्यंतर साधन स्वयं आत्माकी विकासरूप अवस्था है और बाह्य साधन जिन अंगोंसे आत्मधर्मके लिये प्रोत्साहन है, वे हैं। उनमें मंदिर यह सबसे बडा साधन माना गया है। मंदिर एक ऐसा स्थान है जहांपर धर्मके इच्छुक एकत्रित होकर अपने कल्याणके मार्गका सामुदायिक रीतिसे विचार और आचार कर सकते है। इसलिये उसे स्थायीरूप देनेकी समाजको आवश्यकता प्रतीत हुई। स्थायीरूप द्रव्यके बिना किसी भी सस्थाको देना कठिन ही नही असभव है। कोई भी संस्था केवल सद्भावनाके ऊपर अधिक दिन तक नही टिक सकती है। कारण मानव जातिका ऐसा स्वभाव ही है कि परिस्थितिके अनुसार उसके स्वभावमें बदल पड़ता ही है। अतएव विचारोंकी क्रांतिके होनेपर भी संस्थाको अव्याहत रूपसे स्थिर रखनेके लिये द्रव्य सबसे बड़ी पोषक सामग्री है।

प्रायः यह देखा जाता है कि जिस निमित्तसे द्रव्यसंग्रह किया जाता है उसको वही नाम प्राप्त हो जाता है। देवद्रव्य को उपपत्ति इससे और दूसरी क्या हो सकती है।

बहुजनसमाजके लिये संस्थाका नाम निकाला कि उसकी रक्षाके लिये संचित होनेवाला द्रव्य भी सार्वजनिक ही होगा। तिस पर देव द्रव्य तो ऐसी वस्तु है कि उसमे सभीका थोड़ा बहुत अंश रहता है। इसलिये देवद्रव्यकी रक्षाके लिये धर्मग्रन्थोमे स्वतंत्र नियम किये गये है। देवद्रव्यके अपहरणमे सबसे अधिक पाप बतलाया है। एक नही अनेक ग्रंथोंमे इसके ग्रहण करने का निषेध किया है।

परंतु इस द्रव्यके ग्रहण करनेका इतना निषेध क्यो किया है, उस द्रव्यमे और द्रव्यसे क्या विशेषता उत्पन्न हो जाती है। इसका इतना ही उत्तर दिया जा सकता है कि द्रव्यका नाम लिया कि, प्रत्येक मनुष्यके मुखमे पानी आये बिना नहीं रहता है। फिर भी मनुष्य पापसे डरता है इसलिये ही इसका ग्रहण पापका कारण बतलाया गया है।

इतना सब कुछ होने हुए भी लोग किसी न किसी रूपमे उसको ग्रहण करते ही है कोई व्याज देकर तो कोई गहना रख कर उस द्रव्यको अपने कामके चलानेके लिए लेते हो है। यद्यपि इसमे बहुत जगह अनेक झगडे उत्पन्न होते है। इसलिए बहुतसे भाईयोंका यह भी मत दिखता है कि देवद्रव्य किसी भी शर्त पर नहीं देना चाहिये। परन्तु उन भाईयोंकी यह सूचना अव्यवहार्य ही समझना चाहिये द्रव्यका उपयोग संचय करना न होकर उसके द्वारा लोक कल्याण साधना ही है। दूसरे जो तत्त्व समाजमे मान्य हो चुका है उसको नष्ट नहीं किया जा सकता है। तीसरे धार्मिक ग्रन्थोंमें देव द्रव्यके ग्रहण करनेका जो निषेध किया है वह मूल द्रव्यके ग्रहण करनेका निषेध किया है। इसलिये मूलद्रव्यके रहते हुए यदि उस द्रव्यसे अपनी समाजका उपकार हो सकता है तो इस लाभके उठानेमें किसीको भी निषेध नही करना चाहिये। धर्ममर्यादाके अन्दर

रह कर जो कुछ करनेको आता है उसका नहीं करना भी पाप है। ऊपर इस कथनसे इतना तो पता चल जाता है कि देव द्रव्यको ग्रहण करनेका जो निषेध किया है वह स्वार्थकी दृष्टिसे ही किया है अथवा मूलको सुरक्षित रखनेकी अपेक्षासे भी निषेध किया है। यदि समाजकी इच्छा हुई तो वह उस द्रव्यको सुरक्षित रखकर भी उससे समाजकल्याणके बहुत कुछ काम कर सकती है। जैन समाज धीरे धीरे पिछडती जा रही है उसका व्यापार दूसरे लोगोंमें बँटता जा रहा है, बेकारोकी संख्या बढ रही है। फिर भी किसीका उस ओर ध्यान नहीं, यह चिंताकी बात नहीं तो और क्या है। 'न धर्मो धार्मिकैर्विना' धर्मात्मा पुरुषोंके अस्तित्वके बिना धर्म टिक नही सकता है। जैसे दूसरे धर्मायतन है उसी प्रकार धर्मात्मा परुष भी धर्मायतन समझना चाहिये।

यदि हम एक मंदिरकी रक्षाके लिये लाखो रुपया खर्च कर सकते हैं तो धर्मात्मा पुरुषकी रक्षाके लिये भी उतना हो खर्च करनेकी अपनी शक्ति होनी चाहिये। इसका तात्पर्य यही है कि देवद्रव्य धार्मिकताके रक्षणके लिए ही सचित किया जाता है इसलिए यदि जैन समाज विचार करके जिससे अपनी समाजमें कला, विद्या, विज्ञान और रोजगारकी वृद्धि होकर समाज सम्पन्न बने इस ओर भी देवद्रव्यका उपयोग करने लगे तो वह सबसे अधिक धर्मात्मा सिद्ध होगी। जिसदिन समाज पैसेकी अपेक्षा श्रावककी अधिक चिंता करेगी वह सुदिन होगा। जिन भाईयोंको श्रावकोकी दुर्दशा बेकारी और अज्ञानका पता लगाना हो तो उन्हे थोडा शहर छोडकर खेड़ोंमें जाकर देखना चाहिए तब पता लगेगा कि हमारी सस्कृति कितनी अधिक निकृष्ट होती जा रही है। क्या हमारे नेताओंको इस परिस्थितिके देखनेमे आनन्द आता होगा? क्या वे समाजकी सस्कृतिक नष्ट करनेमे ही समाजका कल्याण समझते होंगे? हमारी समझसे यह तो सम्भव नही हैं फिर वे समाजकी संस्कृतिके सुधारनेका प्रयत्न क्यों नही करते है? इन प्रश्नोका यही उत्तर दिया जा सकता है कि समाजको अभी अपने भाईयोंकी रक्षा, उन्नति और संस्कृति सुधारका महत्त्व समझमे ही नही आया है। अथवा वह उसे भूल गई है तभी तो वह इस ओर ध्यान नही देती है। आशा है—समाज देव द्रव्यको भी समाजके उत्थानके लिए खर्च करनेमें अधर्म न समझकर इस ओर विचार करेगी।

●



मूलसंघशुद्धाम्नायका दूसरा नाम ही तेरापन्थ है

दिगम्बर परम्परामें दो आम्नाय मुख्य हैं—एक मूलसंघ और दूसरा काष्ठासंघ। इस परम्परामें शेष जितने भी भेद-प्रभेद प्रचलित हैं वे सब इन दो भेदोंमें ही गर्भित हो जाते हैं। उन सबमें मूलसंघ यह अपने नामके अनुसार सबसे प्राचीन है। इससे जिन शासनकी अनादि परम्पराका बोध होता है। काष्ठासंघ मध्य-कालमें जब लौकिक आचारसे प्रभावित हो दिगम्बर साधुओंने जैन समाजमें अपना स्थान बना लिया था, उस समयसे प्रचलनमें आया है। शिथिलाचार इसकी अपनी विशेषता है।

फिर भी इस कालमें मूलसंघ यह नाम कबसे प्रचलित हुआ तो मालूम पड़ता है कि श्रुतकेवली भद्र-बाहुके कालमें श्रीसंघके दो भागोंमें विभक्त हो जानेके बाद ही यह नाम प्रचलनमें आया है। इससे सिद्ध है कि पूरे श्री संघमें इसके पहले जो आम्नाय प्रचलित थी उसे ही उत्तर कालमें 'मूलसंघ' इस नामसे अभिहित किया जाने लगा। शिलापट्ट और मूर्त्तिलेख आदिमें इस नामका कबसे उल्लेख किया जाने लगा यह कहना तो थोड़ा कठिन है। परन्तु हमारे पास जो मूर्तिलेख आदिका संकलन शेष बचा है उसमें एक ऐसा भी लेख है जिससे यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि ७वीं शताब्दीके पूर्व ही मूर्तिलेखों आदिमें 'मूलसंघ' का उल्लेख किया जाने लगा था। वह लेख इस प्रकार है—

वि० संवत् ६१० वर्षे माघ सुदी ११ मूलसंघे पौरपाटान्वये पाटन (ल) पुठसंघही·····। साढोरा (गुना) म० प्र०।

जैसा कि हम पहले लिख आये है, इस संघके प्रशस्ति आदिमे उल्लेख करनेकी पद्धति भद्रबाहुके कालमें ही चालू हो गयी थी। उत्तर कालमे इस नामके पीछे तीन विशेषण और लगे हुए दृष्टिगोचर होते हैं। किसी लेखमे 'बलात्कारगणे, सरस्वतीगच्छे, कुन्दकुन्दाचार्यान्वये' ये तीनों विशेषण लगे हुए है।

हमारे पास जो लेख संग्रह शेष बचा है उसमें सर्वप्रथम मूलसंघके विशेषणरूपसे 'सरस्वतीगच्छ बला-त्कारगण' ये दो विशेषण लगे हुए दृष्टिगोचर होते है। पूरा लेख इस प्रकार है—

वि० संवत् १००७ मासोत्तममासे फाल्गुनमासे शुक्लपक्षे तिथौ चतुर्थ्यां बुधवासरे श्रीमूलसघ सरस्वतीगच्छ बलात्कारगण ठाकुरसी दास प्रतिष्ठितं।'[1]

बूढी चन्देरी (गुना) स्थित १२वी शताब्दीका एक लेख भी हमारे संग्रहमे है। उसमे मात्र कुन्दकुन्दा-न्वय नन्दिसघका उल्लेख है। लेखका वह अंश इस प्रकार है—

'श्री कुन्दकुन्दान्वय नन्दिसंघे जातो मुनिः श्रीशुभकीर्तिसूरिः।' ये दो उल्लेख हैं। उनके आधारसे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रारम्भमें और बादमें भी मूलसंघके विशेषणके रूपमें उक्त विशेषणोंका लगाया जाना ऐच्छिक रहा है। जैसे जैसे नई परिस्थितियाँ उत्पन्न होती गई वैसे-वैसे इन विशेषणोंका प्रयोग विशेषरूपसे होने लगा।

---

१. भट्टारक सम्प्रदाय पृ० ४४ में प्रो० वी० पी० जोहरापुरकरने यह संकेत किया है कि '१४वी सदीसे मूलसंघके साथ सरस्वतीगच्छ और उसके पर्यायवाची भारती, वागेश्वरी, शारदा आदि नाम जुड़े है।' यह उक्त प्रतिमालेखको देखनेसे ठीक प्रतीत नही होता।

नीतिसारके उल्लेखसे भी ज्ञात होता है कि सब संघोंका मूल स्रोत मूलसंघ ही है।[1] बादमें एक अंगधारी जिनका दूसरा नाम गुप्तिगुप्त है। अर्हद्बलिने देश, काल और परिस्थितिका विचारकर मूलसंघके अन्तर्गत सिंह, नन्दि, सेन और देवसंघकी स्थापना की।

वर्तमानमें जो शुद्धाम्नायके नामसे प्रसिद्ध है यह उसीका दूसरा नाम है। इस समय इसे तेरा—भगवन् आपका पन्थ भी कहा जाता है। यद्यपि मूर्तिलेख आदिमें इसका कहीं उल्लेख तो दृष्टिगोचर नहीं होता है। पर आजकल शुद्धाम्नायको इसी नामसे जाना जाता है। शुद्धाम्नायके जो मूर्तिलेख हमारे देखनेमें आये हैं उनमेंसे एक मूर्तिलेख पालीतानाके दिगम्बर जैन मन्दिरमें स्थित जिनमूर्तिपर अंकित है। वह पूरा लेख इस प्रकार है—

वि० सं० १७३४ वर्षे मूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्री कुन्दकुन्दाचार्याम्नाये भट्टारक सकलकीर्ति तत्पट्टे श्री पद्मनन्दी तत्पट्टे भ० श्री देवेन्द्रकीर्ति तत्पट्टे भ० श्री क्षेमकीर्तिशुद्धाम्नाये वागऽदेश शीतपाड़ानगरे हूँमड़ज्ञातीय लघुशाखायां कमलेश्वरगोत्रे दोषी श्री सूरदास तत् सूरमद तयोः पुत्रदोशी सांगीता सरजाण एनयां. पुत्री।

शुद्धाम्नायके पोषक इस लेखसे यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् कुन्दकुन्द आम्नाय, शुद्धाम्नाय और तेरापन्थ ये तीनों एक ही है। यद्यपि कई शताब्दी पूर्वसे लेकर इस आम्नायके जितने भी भट्टारक पट्ट रहे हैं उन सबने अपने व्यवहारमें शुद्धाम्नाय परम्पराका पूरी तरहसे त्याग कर पूजा-पाठमें काष्ठासंघ परम्पराको भले ही अपना लिया था, पर अपनी शुद्धाम्नाय परम्परासे अनभिज्ञ और यशके भूखे श्रावकों और पण्डितोंका भी इस स्थितिको उत्पन्न करनेमें बहुत बड़ा हाथ रहा है। यह हमारी कोरी कल्पना नहीं है। वर्तमान कालमें इस आम्नायके श्रावकों द्वारा मुनि आचारमें शिथिलाचारको जिस प्रकार बढावा दिया जा रहा है उससे ही इस तथ्यकी पुष्टि होती है। यदि विचार कर देखा जाय तो पता लगेगा कि १०–११वीं शताब्दीसे ही इस बुराईने मूलसंघ शुद्धाम्नायको राहुकी तरह ग्रसना प्रारम्भ कर दिया था। यही कारण है कि समय-समयपर ऐसे सद्गृहस्थ और अपनी श्रमणोचित चर्याके प्रति निष्ठावान् मुनि होते आये हैं जिन्होंने शिथिलाचारी मुनि और उनके अनुवर्ती श्रावकोंकी चिन्ता न कर अपनी पूरी शक्ति इस बुराईको दूर करनेमें लगाई है। यहाँ हम ऐसे दो उदाहरण उपस्थित करते हैं जिनसे हमारे इस कथनकी पुष्टि होती है। पहला उदाहरण पचराई (खनियाधाना) क्षेत्रका है, जिसे उपयोगी जानकर यहाँ दिया जा रहा है—

श्री कुन्दकुन्दसन्ताने देसिके संज्ञिके शुभनन्दिगुरोः शिष्यः सूरि. श्री लीलचन्द्रक.। हरीव भूत्या हरिराजदेवो भीमेव हि तस्य भीमः। सुतस्तदीयो रणपाल नाम एतद्विरान्वये कृतिराजतस्य। परपाटान्वये शुद्धे साधुः नाम्ना महेश्वरः। महेश्वर परेव विख्यातस्तत्सुतो बोधसंज्ञकः। सत्पुत्रो राजनो ज्ञेयः कीर्तिस्तस्यैवमद्भुता। जिनेन्द्रवत्शुभात्यन्तं राजते भुवनत्रये। तस्मिन्नेवान्वयं दिव्ये गोष्ठि कावपरौ शुभौ। पंचमासे स्थितो ह्येको द्वितीयादशभासके॥ आद्योऽसिहडो ज्ञेयः समसाजससा निधिः। भक्तोजनवरस्याद्यो विख्यातो जिनशासने। मंगलं महाश्री.। भद्रमस्तु जिनशासनस्य। संवत् ११२२।

यह वि० सं० ११२२ का लेख है। इस लेखमें आचार्य कुन्दकुन्द आम्नायमें हुए परपट (परवार) अन्वयको शुद्ध कहा गया है। इससे इस तथ्यकी पुष्टि होती है कि शुद्धाम्नायकी परम्पराको लोकमें बनाये रखना परवार (पौरपाट) अन्वयकी अपनी विशेषता तो है ही, दूसरे आम्नायको बुन्देलखण्डमें प्रवेश न करने

१. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग ४, पृष्ठ ३५८।

देना यह भी इस अन्वयकी अपनी विशेषता है। साथ ही इससे यह भी सिद्ध होता है कि शुद्धाम्नायका प्रचलन न तो श्री पं० बनारसीदासजीने ही किया है और न पण्डितप्रवर टोडरमलजीने ही इसको मूर्तरूप दिया है। किन्तु इससे ऐसा लगता है कि इन दोनों विद्वानोंके कालमें भी आगरा और जयपुरमें शुद्धाम्नायके जिनमन्दिर और उसका प्रचार अवश्य रहा है। अतः जैनधर्मका मूलरूप समझकर इन्होंने भी इसे न केवल स्वीकार किया अपितु इस आम्नायके प्रचारमे अपने जीवनका बहुभाग व्यतीत किया।

वस्तुतः इस कालमें यह हजारों वर्षसे चली आ रही सर्वाधिक प्राचीन परम्परा है। यद्यपि मध्यकालमें जन्मी काष्ठासंघ परम्पराको, अपने प्रभाव जमानेमें उपयोगी जानकर, भट्टारकोंने अवश्य ही उसे स्वीकार कर लिया था और इस कारण इस (शुद्ध) आम्नायमें भी शिथिलाचारने किसी हदतक अपना स्थान बना लिया था। पर शुद्धाम्नायका पूरी तरहसे लोप न किया जा सका।

इसकी पुष्टिमे एक लेख तो हम पहले ही उद्धृत कर आये है। ऐसा ही एक लेख बूढ़ी चन्देरीमें भी उपलब्ध हुआ है। इसमें कुन्दकुन्दान्वय नन्दिसंघके एक उपासकको शुद्धाम्नायके अनुसार ही यम नियमके पालन करनेमें दक्ष कहा गया है। लेखका वह अंश इस प्रकार है—

श्री कुन्दकुन्दान्वयनन्दिसंघे जातो मुनिः श्री शुभकीर्तिसूरिः। चरणांबुजापोन्दुमरीचिगौरे विभ्राजितानां तिणोयशोभिः॥ समभवत् शुभनन्दी तस्य शिष्यः रामाबुधजननयालोकैकभानुः। यम-नियम······ ·· शुद्ध सिद्धान्तवली परिगतभवकीर्तिः वीतसंसारचित्तः। बभूव भद्रो वनिजां सनेता कषाय-दोषप्रसरस्य हन्ता॥·········।

हम पहले पचराईमें प्राप्त एक शिलालेखका उल्लेख कर आये है उस लेखसे भी उस लेखमें वर्णित विषयकी पुष्टि होती है। सम्भवतः इन दोनों लेखोंमें अंकित प्रशस्तियाँ लगभग एक ही कालमें आगे-पीछे लिखी गई हैं। पचराईके शिलालेखमें अधिकतर लेख संस्कृत छन्दमें लिखा गया है। यह लेख उसीका अनुसरण करता है। दोनोंमे ही श्री शुभनन्दि गुरुका उल्लेख हुआ है। जान पड़ता है कि ये एक ही व्यक्ति हैं। जैसे पचराईके लेखमें शुद्ध शब्दके द्वारा शुद्धाम्नायको सूचित किया गया है वैसे ही इस लेखमें भी यम-नियमको शुद्ध कहकर शुद्धाम्नायको ही सूचित किया गया है। तथा इस प्रशस्तिमे भद्रनामके व्यापारियोंके जिस नेताका उल्लेख हुआ है, जान पड़ता है कि ये भी पौरपाटान्वयी (परवार) होने चाहिये, क्योंकि इनके गुरु भी वही सूरि हैं जो पचराईके शिलालेखके लेखके गुरु हैं। दोनोंके लिये विशेषण भी एक समान है। ये दोनों उन महानुभावोंमेंसे हो सकते है जिनके नेतृत्वमें इस अन्वयके कतिपय कुटुम्ब मेवाड और गुजरातको छोड़कर इस प्रदेशमें आकर बसे हैं।

यह तो हम पहले ही लिख आये हैं कि कुन्दकुन्दान्वय, शुद्धाम्नाय और तेरापन्थ ये एक ही हैं। केवल इनमें नामभेद अवश्य है। परम्परावली है जो इस कालमें तीर्थंकर भगवान् महावीरके कालसे चली आ रही है। फिर भी मूलसंघको पहले कुन्दकुन्दाचार्यान्वय कहा गया। बादमे काष्ठासंघके लोकमे प्रचलित हो जानेसे इसे शुद्धाम्नाय कहा गया। फिर भी मूलसंघ कुन्दकुन्दाचार्यान्वयको माननेवाले भट्टारकों द्वारा काष्ठासंघकी परिपाटीके अनुसार देवी-देवताकी उपासना करना, बैठकर पूजा करना, निर्ग्रन्थ मुद्राको गन्ध-पुष्प आदि लगाकर परिग्रही बनाना आदिको स्वीकार कर लिया गया तब जाकर निर्दोष आचारवाले मुनियों और गृहस्थोंने शुद्धाम्नायको अंगीकार कर यह कहना प्रारम्भ किया कि हे भगवन्! देवी-देवता आदिकी पूजा करना यह तेरा अर्थात् आपका मार्ग नहीं है। इससे वही मूलसंघ जो पहले कुन्दकुन्दाचार्यान्वयके अन्तर्गत शुद्धाम्नाय कहा

जाता था वही इस कालमें तेरापन्थ कहा जाने लगा। जैन निबन्ध रत्नावलीमें तेरापन्थको ध्यानमें रखकर लिखा है—

तेरापन्थ भयो हरषे बढ़ो चितचाव। विषमपन्थ अब सुगम कराव।।

यह संख्यावाची नहीं।

वहीं बीसपन्थको ध्यानमें रखकर भी लिखा है—

बीसपन्थ अर्थात् विषमपन्थ—टेढ़ापन्थ जिनमतमें मान्य नहीं। यह भी संख्यावाची नहीं। विषमको बीस कहा जाने लगा है।

ज्ञानानन्द श्रावकाचारमें भी तेरापन्थके विषयमें लिखा है—

तेरापन्थी हों। ते सिवाय और कुदेवादिककौ हम नहीं सेवें है। तुम होने सेवों तो तेरापन्थी। सो म्हां तुम्हारौ आज्ञाकारी हौं।

जोधराम गोदीकाने प्रवचनसारके अन्तमें लिखा है—

कहे जोध अहो जिन ! तेरापन्थ तेरा है।

यह सब होते हुए भी १२-१३वी शताब्दीमें एक मुनि या भट्टारक हो गये है जिन्होंने अपना नाम चन्द्रकीर्ति लिखा है। वे मूलसंघको ध्यानमें रखकर लिखते हैं—

मूल गया पाताल मूल नयने न दीसे।
मूलहि सद्व्रत भंग किम उत्तम होसे।।
मूल पिठां परवार तेने सब काढी।
श्रावक यतिवर धर्म तेह किय आवे आढी।।
सकल शास्त्र निरखतां यह पन्थ दीसे नही।
चन्द्रकीर्ति एवं वदति मोरपीछ कोठे कही।।

इससे स्पष्ट है कि बीसपन्थ (काष्ठासंघ) मूलसंघका सदासे विरोधी रहा है। इतना ही नहीं, किन्तु इस कालमें मूलसंघके स्थानमें जो तेरापन्थ प्रचलित है उसमें भी 'तेरा' पदका अर्थ विपर्यास द्वारा तेरह अर्थ करके उसका खण्डन करते हुए श्री पं० पन्नालालजी जयपुरी गद्यमें 'तेरा पन्थ खण्डन' में लिखते हैं—

दस दिक्पाल उत्थापि गुरु चरणा नहिं लागै।
केसर चरणां नहिं धरै पुष्पपूजा फुनि त्यागै।।
दीपक अर्चा छांडि आसिका भाल न करहिं।
जिन न्हवन न करै रात्रिपूजा परिहरहिं।
जिनशासन देव्या तजि रांध्यो अन्न चढ़ोडे नहिं।
फल न चढ़ावै हरित फुनि बैठि पूजा करै नहिं।।
ये तेरह उर धरि पन्थ तेरे उर थाप्ये।
जिनशासन सूत्र सिद्धांत मांहिला वचन उथापै।।

हम पहले तेराका अर्थ लिख आये है। जबसे मूलसंघ कुन्दकुन्दाचार्य और शुद्धाम्नायके अर्थमें तेरापन्थ शब्द प्रयुक्त होने लगा तबसे ही 'तेरा' पदका अर्थ हे भगवन् ! आपका यही अर्थ होता आ रहा है। इसके पोषक कई प्रमाण हम पहले दे ही आये है। फिर भी बीसपन्थी इसका क्या अर्थ करते हैं इसका पण्डित

पन्नालालजी द्वारा लिखित उक्त कविता एक नमूना है। इसमें तेराका किस प्रकार तेरह अर्थ करके तेरापन्थका खण्डन किया गया है यह तेरापन्थियोंको समझने लायक बात है।

पण्डित पन्नालालजीका कहना है कि तेरापन्थी लोग (१) दस दिक्पालोंको अर्घ नहीं चढ़ाते, (२) बीसपन्थी मुनियोंकी चरण वन्दना नही करते, (३) जिनमूर्तिके चरणोंपर केशर नहीं लगाते, (४) फूलोंसे पूजा नहीं करते, (५) दीपकसे पूजा और आरती नही करते (६) आसिकाको मस्तकसे नही लगाते, (७) अभिषेक नही करते, (८) रात्रिमे जिनदेवकी पूजा नही करते, (९) शासनदेवताको नही मानते, (१०) दाल, भात और रोटी नही चढ़ाते, (११) हरे फल नही चढ़ाते, (१२) बैठकर पूजा नही करते, तथा (१३) स्त्रियां सूत्र सिद्धान्त ग्रन्थोंका पठन-पाठन और प्रवचन नही कर सकती।

ये तेरह बाते तेरापन्थी नहीं मानते, इसलिये ही इन्हें तेरापन्थी कहा गया है। किन्तु विचार कर देखा जाय तो ये सब क्रियाएँ मिथ्यात्वकी पोषक होनेसे जिनधर्ममे मान्य नही है। कारण कि हमारे समान दस दिक्पाल और शासनदेवता संसारी ही है, मोक्षमार्गी नही। फिर भी हम सब उनकी पूजा करें यह हमारा अज्ञान है। स्वामी समन्तभद्रने रत्नकरण्डश्रावकाचारमे इसीलिये इनकी उपासना करनेका निषेध किया है। जिनधर्मके शासनदेवता वास्तवमे जिनदेव ही है संसारमें रुलानेवाले देवी-देवता नही।

निर्ग्रन्थ पाँच प्रकारके होते है—पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक। इनको जैसे सचित्त वस्तुका स्पर्श नही कराया जा सकता वैसे ही स्नातकोंके और स्त्रियोंके प्रतिकृतिरूप जिनबिम्बको भी सचित्त वस्तुका स्पर्श कराना योग्य नही है, इसी कारण तेरापन्थी भाई सचित्त पुष्प और फलोंसे पूजा नही करते और न ही पुष्पोंको भगवान्के चरणोंपर चढाते ही है। केशर परिग्रहका प्रतीक है, इसलिये तेरापन्थी भाई भगवान्के चरणोंमे केशर नही लगाते।

वीतराग साधुका कोई पन्थ नही होता। वह सदा वीतराग मार्ग साधुका ही उपासक होता है। फिर भी जो बीसपन्थकी पुष्टि करता है वह सच्चे अर्थमे वीतरागी साधु नही है, इसलिये जो गृहस्थ ऐसे साधुकी वन्दना नही करते वे ठीक ही करते हैं, क्योंकि बीसपन्थमे जिन १३ बातोंको स्वीकार किया है ये सब अज्ञानकी प्रतीक है।

दीपकसे सूक्ष्म जीवोंका वध होता है, कभी-कभी बादर (स्थूल) जीव भी उसकी चपेटमें आ जाते हैं, इसलिये यदि तेरापन्थी, पूजा-आरतीमे दीपकका प्रयोग नही करते तो वे ठीक ही करते हैं। ऐसे आचरणके लिये उनकी तो प्रशंसा ही करनी चाहिये। वीतराग जिन तो सदा ही वीतराग है। उनकी चाहे कोई निन्दा करे या प्रशंसा, उन्हें उससे कोई प्रयोजन नही। दोनोंके प्रति वे समान है। इतना अवश्य है कि जिस विधिसे वे अरहन्त और सिद्धपदको प्राप्त हुए है वह शिक्षा उनसे सहज ही मिल जाती है। इसे यदि आसिका माना जाय तो ऐसा कौन व्यक्ति है जो इसे लेना नही चाहता। उसके लिये सदा ही मस्तक झुका हुआ है। इसके सिवा दूसरी कोई आसिका नही है, जिसके लिये यह अपना मस्तक झुकाता फिरे।

सिजा हुआ अन्न एक मर्यादा तक ही ठीक रहता है। उसके बाद उसमे त्रस जीवोंकी उत्पत्ति होने लगती है। यही कारण है कि तेरापन्थी भाई-बहन प्रासुक द्रव्यसे ही पूजा करते है। हम तो कहेंगे कि पुण्य किसमे है इसका विचारकर बीसपन्थी भाइयोंको भी ऐसा ही करना चाहिए।

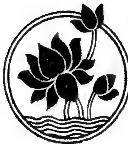
जिन प्रतिमा अरहन्त और सिद्ध पदका प्रतीक है। और इन दो पदोंका अभिषेक होता नहीं, अतः शुद्धिके ख्यालसे उनका प्रक्षाल ही किया जाता है, अभिषेक नही। यह वस्तुस्थिति है। बीसपन्थी भाइयोंको इस विधिका अनुसरण करना चाहिये।

रात्रिमें जब श्रावक ही सब प्रकारके आरम्भसे विरत हो जाता है, ऐसी अवस्थामें वह पूजाका आरंभ कैसे करेगा, अर्थात् नहीं करेगा, क्योंकि इस कालमें स्थूल-सूक्ष्म जीवोंका अधिक संचार होने लगता है। इसे बीसपन्थी भाई भी समझते हैं। हठ और विवेकमें बड़ा अन्तर है। हम तो यही चाहते हैं कि वे हठका मार्ग छोड़कर विवेकका मार्ग अंगीकार करें।

ऐसा नियम है कि पूर्वोका अध्ययन श्राविकाकी बातको छोड़िये आर्यिकाको भी नहीं करना चाहिये ऐसी आगमकी आज्ञा है। प्रवचन उसे बहिनोंमें ही करना चाहिये, क्योंकि जिस गादी पर बैठकर पुरुष प्रवचन करते हैं वह परम्परासे प्राप्त आचार्योंकी गद्दी है। वर्तमान कालमें इस नियमका पालन तो श्वेताम्बर भाई बहिन भी करते हैं। फिर बीसपन्थका नाम लेकर दिगम्बर उसका उल्लंघन करें यह जिनमार्ग नहीं है। आज कल बीसपन्थी बहिनोंने ये सब मर्यादा त्याग दी है। इसका विचार उन्हींको करना है कि किस बातमें हमारे धर्मकी रक्षा होती है। विदुषी होना और बात है और आगमकी आज्ञाका उल्लंघन कर चलना और बात है।

इस प्रकार विचारकर देखा जाय तो मूलसंघ कुन्दकुन्दाचार्यके आम्नायके अन्तर्गत शुद्धाम्नाय तेरापन्थ ही जिनधर्मकी उपासनाका सच्चा मार्ग है, अन्य नहीं यह सिद्ध हुआ।

●



वर्ण व्यवस्थाका आन्तर रहस्य

अन्य देशोंसे भारतवर्षकी स्थिति सर्वथा भिन्न है। वैदिक धर्मकी कृपासे यहाँका मानव समाज मुख्यतः चार वर्णों और अनेक जातियों व उपजातियोंमें विभक्त हो गया है जब कि अन्य देशोंमें ऐसा कोई विभाग नहीं दिखाई देता है। हजारों वर्षोंसे भारतवर्षकी कमजोरी और परतन्त्रताका एक कारण यह भी है। इस जातीय चढ़ाओढ़ने देशके नैतिक बलका तो नाश किया ही है साथ ही वह भौगोलिक दृष्टिसे एक होकर भी भीतरसे अनेक भागोंमें बँट गया है।

इधर कांग्रेसकी बागडोर सम्हालनेके बाद महात्मा गाँधीने जीवनमें श्रम, शम और समकी प्रतिष्ठा करनेके लिये कुछ समान भूमिका तैयार करनेका प्रयत्न किया था और अंशतः वे उसमें सफल भी हुए थे, किन्तु कांग्रेसकी वर्तमान नीति इतनी कमजोर और लचर है जिससे तत्काल इस समस्याका हल होना कठिन ही दिखाई देता है। कांग्रेस हरिजनोंका जीवनस्तर तो सुधारना चाहती है पर वह शेष तीन वर्णोंमें आये हुए अन्तरको दूर करनेके लिये कुछ भी प्रयत्न नही कर रही है। इससे देशके सामाजिक जीवनमें थोड़ा बहुत सुधार होकर भी उसमें क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं हो सकेगा।

भारतीय साहित्यका आलोडन करनेसे ज्ञात होता है कि देशकी वर्तमान सामाजिक व्यवस्थाका मुख्य आधार मनुस्मृति है। उसमें चार वर्णोंकी उत्पत्ति ब्रह्मासे बतला कर उनके अलग-अलग कर्तव्य निश्चित किये गये हैं। इसके अनुसार अध्ययन, अध्यापन, दान और प्रतिग्रह ये ब्राह्मणोंके कर्तव्य हैं, प्रजाकी रक्षा, दान, पूजा, अध्ययन और इन्द्रियोंके विषयोंमें अनासक्ति ये क्षत्रियोंके कर्त्तव्य है, पशुओंकी रक्षा, दान, पूजा अध्ययन, वाणिज्य, धनकी वृद्धि करना और कृषि ये वैश्योंके कर्तव्य है तथा असूया रहित होकर ब्राह्मण आदि तीन वर्णोंकी सेवा करना यह शूद्रोंका कर्तव्य है।

मनुस्मृतिमे दूसरे वर्णोंकी अपेक्षा ब्राह्मणको अनिर्बन्ध अधिकार दिये गये हैं। चरित्रबलमें हीन होनेपर भी वे सबसे श्रेष्ठ मान लिये गये है।

साधारणतः जैन पुराणोंमें भी चार वर्णोंकी चर्चा देखनेको मिलती है। आदि पुराणमे बतलाया है कि युगके आदिमे भगवान् ऋषभदेवने गुण कर्मके अनुसार क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णोंकी स्थापना की थी। इस अवस्थाके अनुसार जो शस्त्र धारण कर आजीविका करते थे वे क्षत्रिय इस नामसे अभिहित किये गये थे, जो खेती, व्यापार और पशुओंका पालन कर आजीविका करते थे वे वैश्य इस नामसे अभिहित किये गये थे और जो क्षत्रियों व वैश्योंकी शुश्रूषा कर आजीविका करते थे वे शूद्र इस नामसे अभिहित किये गये थे।

आदिपुराणके अनुसार ब्राह्मण वर्णकी स्थापना ऋषभदेवने नही की थी किन्तु कुछ काल बाद उनके प्रथम पुत्र भरतने व्रती श्रावकोंको ब्राह्मण संज्ञा दी थी और उन्हें ब्राह्मण वर्णका कहा था।

इसी प्रकार बौद्ध परम्परामे भी चार वर्णोंका उल्लेख देखनेको मिलता है। धम्मपदमे एक गाथा आई है। उसका आशय यह है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये नाम अलग अलग कर्मके अनुसार रखे गये थे। यह गाथा जैन आगम उत्तराध्ययन सूत्रमे भी पाई जाती है। यद्यपि वर्ण व्यवस्थाके सम्बन्धमें जैन और बौद्ध परम्पराका आशय एक है पर वैदिक परम्परासे उसमें मौलिक अन्तर है।

वैदिक परम्पराके अनुसार प्रत्येक वर्णकी प्राप्ति जन्मसे होती है। जो जिस वर्णमें उत्पन्न होता है उसे जीवन भर उस वर्णके कर्त्तव्योंका पालन करना पड़ता है। उसका यही स्वधर्म है। चार पुरुषार्थोंमें उल्लिखित धर्म पुरुषार्थ भी यही है। मोक्ष पुरुषार्थ इससे भिन्न है। इस व्यवस्थाके अनुसार दानका स्वीकार और अध्यापन ये कार्य ब्राह्मण ही कर सकता है। अन्य तीन वर्णके लोग न तो दान ले सकते है और न अध्यापन कार्य ही कर सकते है। शूद्र तो शुश्रूषा करनेके सिवा और किसी बातका अधिकारी माना ही नहीं गया है। अध्ययन, दान और पूजा ये कार्य ऐसे है जो ब्राह्मणोंके सिवा क्षत्रिय और वैश्य भी कर सकते हैं पर शूद्रको इन कार्योंके करनेका भी अधिकार नही दिया गया है। वे सदा मूर्ख और पंगु बने रहें इसकी पूरी व्यवस्था की गई है।

यों तो अब वैदिक परम्पराके अनुसारकी गई व्यवस्थाका अन्त हो रहा है। शूद्रोको वे सब अधिकार मिल रहे हैं जो उनसे छीन लिये गये थे। वे अब मन्दिर जा सकते है, अध्ययन अध्यापनका कार्य कर सकते हैं, आदर सत्कारमें हिस्सा बटा सकते है, सबके साथ बराबरीसे बैठ कर भोजन पान कर सकते है, सदाचारका स्वयं पालन कर सकते है और दूसरोंसे इसका पालन करा सकते है। उनके प्रति ब्राह्मण धर्मने जो घृणा पैदा की थी वह अब दूर होने लगी है। अब अधिकतर लोग यह समझने लगे है कि जैसे हम मनुष्य हैं वैसे वे भी मनुष्य हैं। हमसे उनमे कोई अन्तर नही है। फिर भी अभी ऐसे कितने ही मनुष्य शेष है जो इन परिवर्तनोंका विरोध कर रहे हैं और अपनी पुराणी प्रभुताको जीवित रखना चाहते है। किन्तु अब स्थिति इतनी अधिक बदल गई है जिससे देशका पीछे लौटना असम्भव है। वे राजा, जो इस व्यवस्थाको दृढ़मूल करनेमे सहायक थे अब धूलिधूसरित हो कोनेमे पड़े सिसक रहे है। सामन्तों और परिग्रहवादियोंकी भी यही दशा होनेवाली है और आशा है कि निकट भविष्यमे ईश्वरको भी अपराधियोंके कठघरेमे ला कर खड़ा किया जायगा। अब उसके नामपर निकलनेवाली विज्ञप्तियोंको सुननेवाला कोई नही रहेगा। सब उसे उपेक्षा और तिरस्कारकी दृष्टिसे देखने लगेंगे। अब तो ऐसे समाजका उदय होकर ही रहेगा जिसमे सबको समान रूपसे विकास करनेका अवसर मिलेगा।

इतने विवेचनसे यद्यपि यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक परम्पराके अनुसार जो वर्णव्यवस्था चालू है वह सर्वथा अनुपयुक्त है। उससे मानव समाजका न तो कभी कल्याण हुआ है और न हो सकता है। फिर भी विश्वमें किसी प्रकारकी सामाजिक व्यवस्था ही न हो यह हमारा मत नही है। पश्चिमीय देशोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन शब्दोका व्यवहार न भी किया जाता हो तो भी वहाँ कोई न कोई व्यवस्था तो है ही। हम ऐसी ही व्यवस्थाके पक्षपाती है जिससे मानव समाजका प्रत्येक व्यक्ति अपनी वैयक्तिक स्वतंत्रताका अनुभव करनेमे पूर्ण समर्थ हो। इसमे सन्देह नही कि पहिले हम आदिपुराणके अनुसार जिस व्यवस्थाका निर्देश कर आये हैं उसमे बहुत कुछ अशमें यह गुण मौजूद है।

आदि पुराणमें वर्ण व्यवस्थाका निर्देश करते हुए प्रारम्भमें जो छह कर्म बतला आये है, वे है—असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प। इन छहोंमें पूजा, दान, अध्ययन, अध्यापन और प्रतिग्रह इनका अन्तर्भाव नहीं होता। असिकर्म आदि आजीविकाके साधन है और पूजा आदि धर्मके साधन है। वर्ण व्यवस्थामें मुख्यता आजीविकाकी है धर्मकी नही। वर्णका अर्थ है बाहिरी रूप रंग। जिससे बाहरी रंग ढंगकी पहिचान होती है वह वर्ण है और जिससे आत्माकी आन्तर परिणति जानी जाती है वह धर्म है। वर्ण और धर्ममे यही अन्तर है। आदिपुराणके अनुसार की गई वर्ण व्यवस्थाको समझनेके लिये इस अन्तरको जानना जरूरी है। उसमें किसीके वैयक्तिक अधिकार पर कुठाराघात न हो इस बात पर पूरा ध्यान रखा गया है। इसके अनुसार

जो जब जिस कर्मको करता है उस समय वह उस वर्णका माना जाता है। आजीविकाके साधन बदल जाने पर वर्ण भी बदल जाता है। वर्ण कोई भी हो पर दानका लेना देना, अध्ययन अध्यापन करना और पूजा करना ये कार्य किसीके लिये वर्जित नहीं हैं। केवल इतनी विशेषता है कि ब्राह्मण इस संज्ञाकी प्राप्तिमें चारित्र भी निमित्त है। इसीसे उसका कोई भी कर्म निश्चित नहीं किया गया है। वह अपने चारित्रका अविरोधी कोई भी कर्म कर सकता है। क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र जो भी श्रावक व्रतको स्वीकार करता है वह ब्राह्मण वर्णका कहलाने लगता है।

माना कि उत्तरकालवर्ती कुछ आचार ग्रन्थोंमें अनेक दूषित परम्पराओंने प्रवेश पा लिया है और अधिकतर विद्वान् उनके अनुसार वर्तन करना ही धर्म समझने लगे हैं। आज जैन संघमें जो विविध मत दिखाई देते हैं वे इसीके परिणाम हैं। पर यदि वे किंचित् विवेकसे काम लें तो उन्हें अपने मतके बदलनेमें जरा भी देर न लगे। उन्हें केवल इतना ही विवेक करना है कि ब्राह्मण कहे जाने वाले मनुष्यसे शूद्र कहे जानेवाले मनुष्यमें तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं है। जिस प्रकार एक मनुष्यका पगडी बाँधना और दूसरे मनुष्यका टोपी पहिनना यह रुचिका प्रश्न है, इससे उन दोनों मनुष्योंकी आन्तर योग्यतामें कोई अन्तर नहीं आता। उसी प्रकार बाह्य परिस्थितिवश कर्मभेदसे भी मनुष्योंकी आन्तर योग्यतामें कोई अन्तर नहीं आता। दोनों ही मोक्षके अधिकारी हैं और दोनों ही स्वर्ग नरक आदिके भी अधिकारी हैं। अतः यही निश्चित होता है कि मनुष्यका वर्ण अर्थात् व्यवसाय कुछ भी क्यों न हो इससे वह अन्य मनुष्योंसे किसी भी बातमें न तो हीन ही समझा जा सकता है और न ऊँच ही।

जैन परम्पराके अनुसार वर्ण व्यवस्थाका यह आन्तर रहस्य है। हम समझते हैं कि आजका मानव समुदाय इस प्रकारकी व्यवस्था करनेमें पूरी तरह हाथ बँटायेगा।

●



महिलाओं द्वारा प्रक्षाल करना योग्य नहीं

इस कालमें कोल्हापुर निवासी डा० ए० एन० उपाध्ये एक मनीषी विद्वान् हो गये है। वे साहित्यिक गोष्ठियोंमें सम्मिलित होनेके लिए प्रायः उत्तरप्रदेशमें भी आया करते थे। कई मन्दिरोंके गर्भालयोंमें घुसकर महिलाओंको भगवान्का अभिषेक-प्रक्षाल करते हुए देखकर वे आपसमे कहा करते थे कि उत्तरप्रदेशमें यह प्रथा कबसे चल पड़ी है। हमारे प्रदेशमें तो महिलाएँ गर्भालयमे कभी भी प्रवेश नही करती। जब उन्हे बतलाया जाता कि बीसपन्थका प्रचार करनेवाले साधुओंने ही यह प्रथा चलाई है। तब उन्हे बड़ा आश्चर्य होता और वे यह बात सुनकर अवाक् रह जाते।

इस कालमे ऐसे भी कई मुनिसंघ हैं जिनका संचालन महिलाएँ ही करती है। इतना ही नहीं, उन्हें स्पर्श करनेमे भी वे नही हिचकिचाती। साधु भी ऐसा करनेसे उन्हे नहीं रोकते। आगम क्या है इस ओर वे थोडा भी ध्यान नही देते। शायद उन्हे परलोकका जरा भी भय नही है तभी तो वे ऐसा करते-कराते रहते हैं।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि महिलाएं जिनदेवका पूजन-वन्दन करें, मुनियोंको आहार दें, वे भोजन बनानेका सब काम भी करें, फिर उनमे ऐसी कौनसी कमी है कि वे श्री जिन मन्दिरमे जाकर जिनबिम्बका न तो प्रक्षाल-अभिषेक ही कर सकें और न उसे स्पर्श ही कर सकें। पुरुष साधुओंकी वैयावृत्य तो करे और महिला न करे यह कैसी बात है। भगवान्का प्रक्षाल करना साधुओंकी वैयावृत्य करना ये पूजन-वन्दनके समान ही जब धर्मसाधनके अंग है तब फिर उन्हे ऐसा करनेका निषेध क्यों किया जाता है।

यह एक समस्या है जिसपर आगमके प्रकाशमे विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। मूलाचारका एक समाचार नामका अधिकार है। उसमे लिखा है—

एवंगुणवदिरित्तो जदि गणधारित्त करेदि अज्जाणं।
चत्तारिकालगा से गच्छादिविराहणा होज्ज॥

जो आचार्य क्षमादि गुणोंसे विभूषित नही हैं, धर्ममे स्थिर नही है, वैराग्यप्रवण नही है, संग्रह और अनुग्रह करनेमें कुशल तथा अपने सघकी सम्हाल करनेमें भी समर्थ नही है, वह यदि आर्यिकाओका आचार्य बनता है तो वह गणपोषण, आत्मसस्कार, सल्लेखना आदिकी विराधना करनेवाला होता है।

इससे मालूम पड़ता है कि जिस प्रकार पिता कन्याकी भले प्रकार रक्षा करता है उसी प्रकार पिता स्थानीय आचार्य भी आर्यिकाओको रक्षा करने वाला होना चाहिये। इसीलिये आचार्यको चिरकालका दीक्षित होना चाहिये आगममें यह कहा गया है।

यह सब जानते हैं कि जिस समय कन्या यौवन सम्पन्न हो जाती है उसी समय वही पिता कन्याके शरीरको स्पर्श तक नही करता। जहाँ गृहस्थावस्थामे यह स्थिति है वहाँ साधुको कैसे रहना चाहिये इसका भी विचार करके वहाँ लिखा है—

कण्णं विधवं अंतेउरियं तह सइरिणीं सलिंगं वा।
अचिरेणाल्लियमाणो अपवादं तत्थ पप्पोदि॥१८२॥

जो साधु कन्या, विधवा, गृहिणी, स्वैरिणी और व्रतधारिणीके साथ सम्भाषण करता है, उनके साथ बैठता उठता है वह लोकमें निन्दाका पात्र होता है।

जहाँ पुरुष साधुओंके लिये यह मर्यादा स्थापितकी गई है वहाँ आर्यिकाएँ और गृहस्थ स्त्रियाँ भी साधुओंके साथ किस प्रकार वर्तन करे इसका विचार भी आगममें किया गया है वहाँ लिखा है—

पंच छ सत्त हत्थे सूरी अज्झावगो य साधू य।
परिहरिऊणज्जाओ मवासणेणेव वंदंति ॥१९५॥

आचार्यसे पाँच हाथ दूर, उपाध्यायसे छह हाथ दूर और साधुसे सात हाथ दूर बैठकर आर्यिकाने उनके समक्ष क्रमसे अपनी आलोचना, अध्ययन और उनकी वन्दना करनी चाहिये ॥१९५॥

इससे स्पष्ट है कि आर्यिकाओंके लिये आगममें जब इतनी कड़ी व्यवस्था है तब अन्य गृहस्थ स्त्रियों-को तो इस मर्यादाका और भी कड़ाईसे पालन करना चाहिये। ऐसी अवस्थामें वे जिनबिम्बको स्पर्श करें यह कैसे बन सकता है। पूजन करना, वन्दना करना और बात है और प्रक्षाल-अभिषेक करना और बात है। इन दोनों क्रियाओंमें बड़ा अन्तर है। वन्दना पूजन क्रिया दूर रह ही की जाती है और प्रक्षाल-अभिषेक क्रिया अति निकट रहकर की जाती है। प्रक्षाल-अभिषेक क्रियामें केवल कलश ढारना ही पर्याप्त नहीं है, किन्तु स्वच्छ अंगोछीसे पोंछकर जिनबिम्बको सूखा कर देना भी उसका अंग है। अतः किसी भी महिलाको पुरुषका विग्रह (शरीर) समझकर जिनबिम्बका न तो प्रक्षाल ही करना चाहिये और न स्पर्श ही करना चाहिये। जिन-बिम्ब वीतरागताका प्रतीक हो सकता है, महिला वीतराग नहीं होती। वह पुरुष शरीर है, पता नहीं कब कैसे परिणाम हो जाये। यदि कहा जाय कि दर्शन करते समय भी ऐसा होना सम्भव है। यह सच है, परन्तु शक्य का ही परिहार किया जाता है, अशक्यका नहीं ऐसा समझ कर महिलाको दर्शन-पूजन करनेका निषेध नहीं किया गया है, प्रक्षाल-अभिषेक करनेका निषेध किया गया है।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि कोई भी महिला भगवान्का प्रक्षाल अभिषेक न करे इसका कथन किस आगममें किया गया है। सो इसका समाधान यह है कि जैसे पुरुषको स्वस्त्रीको छोड़कर सचित्त और अचित्त किसी भी प्रकारकी स्त्रीको स्पर्श करने और रागपूर्वक देखने और स्पर्श आदि करनेका आगममें निषेध है उसी प्रकार स्त्रीको भी स्वपुरुषको छोड़कर सचित्त और अचित्त किसी भी पुरुषको स्पर्श करने और रागपूर्वक देखनेका आगममें निषेध है। इस प्रकार जब यह व्यवस्था है तो ऐसी अवस्थामें महिलाओं द्वारा भगवान्की प्रतिकृतिस्वरूप जिनबिम्बके अभिषेकका आगमसे स्वयं निषेध हो जाता है। यह आगम ही तो है जिसका सम्प्रदाय भेदके बिना सबको पालन करना चाहिये। यह किसी खास सम्प्रदायकी बात नहीं है। जीवनको धर्म-मर्यादाके अनुकूल बनाये रखनेकी बात है।

यहाँ कोई कहे कि पुरुषके समान स्त्री भी परपुरुषको न तो रागपूर्वक देखे ही, और न स्पर्श ही करे यह तो समझमें आता है, परपुरुषकी अचित्त मूर्तिको स्त्री न तो स्पर्श करे और न रागपूर्वक देखे ही यह बात समझमें नहीं आती, क्योंकि उस अचित्त मूर्तिके साथ जब संसारको बढ़ानेवाला कार्य किया ही नहीं जा सकता ऐसी अवस्थामें उसे स्पर्श आदि करनेका निषेध क्यों किया जाता है? सो इसका समाधान यह है कि स्पर्श करनेसे मनोविकारका होना अधिक सम्भव है इसलिए उसका सर्वप्रथम त्याग कराया जाता है। जो सबकी उत्पत्तिका निमित्त विशेष है उसका त्याग करनेसे ही वह धर्म उत्तम प्रकारसे पलता है।

स्त्री स्वपुरुषमें सन्तोष रखे और पुरुष स्वस्त्रीमें सन्तोष रखे यह गृहस्थ धर्मकी मर्यादा है। इसका निर्वाह करनेके लिए स्त्रीको पुरुषके समान काष्ठ, पाषाण और लेप आदिसे निर्मित अचित्त पुरुष मूर्तिका सब

प्रकारसे अवश्य ही त्याग कर देना चाहिये। यह विधि है। इस बातको ध्यानमें रखकर दोनोंके लिए बहुतसे नियम बनाये गये हैं। शीलके जो अठारह हजार भेद आगममें बतलाये गये हैं उनके पीछे यह हेतु मुख्य है। वे अच्छी तरहसे तभी पल सकते हैं जब पुरुष और स्त्री दोनों ही अपनी-अपनी मर्यादामें रहते हुए इनमेंसे जिनका पालन करना गृहस्थके लिए शक्य है उनका पालन करनेमें समुचित ध्यान रखें।

यहाँ कोई कहे कि वे तो मुनियोंके लिए आगममें बतलाये हैं गृहस्थोंके लिए नहीं। सो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि जो धर्म मुनियोंके लिए कहा गया है, अंशतः गृहस्थ भी उसका पालन करे यह विधि है। यदि मुनि समग्र भावसे उसका पालन करते हैं तो भले करें, गृहस्थोंको उनके पालन करनेमें सावधान तो रहना ही चाहिये।

जो स्त्री-पुरुष पाँच अणुव्रत लेते हैं वे तो उनका उत्तम प्रकारसे पालन करते ही हैं। कदाचित् उनके पालन करनेमें दोष लगता है तो उसका परिमार्जन भी करते हैं। पर जो पाँच अणुव्रत भी नहीं लेते हैं तो क्या उनके लिए यह छूट है कि वे हिंसा आदिमें यद्वा-तद्वा प्रवृत्ति करें, यदि नहीं, तो सामाजिक दृष्टिसे उन्हें भी हिंसा आदिका ऐसा काम न करना होगा जिसे समाजमें निन्द्य समझा जाय और स्वयंको लोकापवादका पात्र बनना पड़े। इसी दृष्टिको ध्यानमें रखकर लौकिक और पारलौकिकके भेदसे धर्मको दो भागोंमें विभक्त किया गया है। इसी बातको ध्यानमें रखकर सोमदेव सूरि यशस्तिलकमें लिखते भी हैं—

द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः पारलौकिकः।
लोकाश्रयो भवेदाद्यः परः स्यादागमाश्रयः॥

लौकिक और पारलौकिकके भेदसे धर्म दो प्रकारका है। लौकिक धर्मका आधार लोक (समाज) है और पारलौकिक धर्मका आधार आगम है।

इसका अर्थ है कि गृहस्थ चाहे वे स्त्री हो या पुरुष जो पारलौकिक धर्म (गुरुकी साक्षीपूर्वक व्रतादि) स्वीकार नहीं करते, उन्हें सामाजिक मर्यादा बनाये रखनेके लिए उस मर्यादाके अनुरूप आचारका पालन अवश्य ही करना चाहिये। इसके लिए पहले गाँवके स्तरपर या मुहल्ले आदिके स्तरपर सामाजिक संगठन अवश्य रहता था। उसके मुखिया सामाजिक मर्यादाका स्वयं तो पालन करते ही थे, उन मर्यादाओंका दूसरोंसे भी पालन कराते थे। इसके लिए पुराने कालमें दण्ड व्यवस्था भी थी। और जो सदस्य उस व्यवस्थाका उल्लघन करता था वह पंचायत द्वारा दंडका भागी होता था। श्री सोमदेव सूरिने लौकिक धर्मको लौकाश्रित कह कर इसीकी ओर संकेत किया है। इसके लौकिक धर्मका तो पालन होता ही था, पारलौकिक धर्मकी ओर भी आम स्त्री-पुरुषका झुकाव बना रहता था। जैन मात्रको प्रतिदिन श्री जिनमन्दिरमें जाकर भगवान्‌के दर्शन करने चाहिये, छान कर पानी पीना चाहिये और रात्रिमें भोजन नहीं करना चाहिये यह इसी सामाजिक व्यवस्थाका सुखद फल होता था।

मुनि तो मात्र पारलौकिक धर्मका ही आचरण करते हैं। इस कारण वे मात्र आहार-पानीके निमित्त गाँवमें आते हैं। कौन सम्पन्न है और कौन निर्धन, उन्हें इससे कोई मतलब नहीं रहता था। जो धर्मका जिज्ञासु है वह उनके पास जाय और धर्मकी शिक्षा ले। वे वचन न बोलते हुए भी अपने शरीरसे मोक्षमार्गका दर्शन करा देते थे।

किन्तु जो गृहस्थ स्त्री-पुरुष हैं उन्हें सामाजिक मर्यादाओंका अवश्य ही पालन करना चाहिये। इसी आधारपर वे पारलौकिक धर्म स्वीकार करनेके अधिकारी होते हैं। और इसी आधारपर यह परम्परासे स्वीकार

किया जाता रहा है कि जो सामाजिक मर्यादाओंका भले प्रकार पालन करता है, उनमें किसी प्रकारका दोष नहीं लगने देना वही पारलौकिक धर्म स्वीकार करनेका अधिकारी होता है, अन्य नहीं।

मुनिके तो मात्र पारलौकिक धर्म ही होता है। पर गृहस्थके लौकिक धर्मके साथ पारलौकिक धर्म भी होता है और नही भी होता। जो गुरु साक्षीपूर्वक व्रत स्वीकार करते हैं उनके पारलौकिक धर्म अवश्य होता है। लौकिक धर्म उनके गौण रहता है। इसका अर्थ यह कि धर्म सम्बन्धी जो क्रियाएँ वे पहले लौकिक दृष्टिसे पालते थे वे पारलौकिक धर्मका अंग बन जाती हैं। तथा लौकिक क्रियाओंको वे उदासीन भावसे पालन करते हैं, उनका उल्लघन नहीं करते। पर जो अपनी अशक्तिवश पारलौकिक धर्मको नही स्वीकार कर पाते उन्हें लौकिक धर्ममें दृढ़ता बनाये रखनी होती है, इसके बिना सामाजिक व्यवस्था एक क्षण भी नहीं चल सकती।

इसको ध्यानमे रखकर यही समझना चाहिये कि जो मुनि होते हैं उनके तो शीलके अठारह हजार भेद व्रत रूपमे होते हैं, पर गृहस्थ उनका लौकिक दृष्टिसे पालन करते हैं। इसका अर्थ यह है कि जैसे पुरुष सचित्त या अचित्त स्त्रीमूर्तिको न तो रागभावसे देखते ही हैं और न स्पर्श ही करते हैं। उसी प्रकार स्त्रियाँ भी सचित्त और अचित्त पुरुषमूर्तिको न तो रागभावसे देखती ही हैं और न उन्हे स्पर्श ही करती हैं। श्री मन्दिरजीमे विराजमान तीर्थङ्करकी धातु-पाषाण आदिसे निर्मित जिनमूर्ति पुरुषमूर्ति ही है, इसलिये महिलाओंको चाहिये कि वे उनका अभिषेक करनेके लिए लालायित न हों। जो स्त्री धर्म है वे मन, वचन और कायसे उसे भली प्रकार पालन करें।

इसके बाद एक सवाल यह अवश्य उठता है कि यदि ऐसा है तो फिर स्त्रियाँ मुनियाको आहार कैसे देती है। सो इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार स्त्रियाँ अतिथि आदिको आहार कराती हैं उसी प्रकार मुनिको भी आहार करानेको अधिकारिणी है। फिर भी वे एकाकिनी रहकर आहार नही देती, किन्तु सबके साथ रहकर आहार देती हैं। उसमे मुनिके शरीरको स्पर्श करनेका कोई अवसर ही नही आता। मुनि आहारके शोधनमे और उसको लेनेमे व्यस्त रहता है। इसलिए उसे पता ही नही चलता कि आहार देनेवाला कौन है। और महिला साधुको अन्तराय न हो जाय, इसलिए उसकी आँख आहारसे शोधनमे लगी रहती है इसलिए उसका चित्त भी अन्यत्र नही जाता और इस प्रकार आहार विधि सम्पन्न हो जाती है। इसलिए महिला मुनिको आहार देती है अतः वह अभिषेक-प्रक्षाल भी कर सकती है यह सवाल ही नही उठता।

इस प्रकार इतने विवेचनसे यह निश्चित हो जाने पर भी कि महिला भगवान्‌के अभिषेक-प्रक्षाल करनेकी अधिकारिणी नही है थोड़ा अन्य प्रकारसे भी इस विषय पर विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

भावपाहुडमे एक गाथा आती है जिसमे दस प्रकारके अब्रह्मका त्याग कर नौ प्रकारके ब्रह्मचर्यके पालनेका विधान किया गया है। वह गाथा इस प्रकार है—

णवविहबंभं पयडहि अब्बंभं दसविहं पमोत्तूण।
मेहुणसण्णासत्तो भमिओसि भवण्णवे भीमे ॥९८॥

हे जीव तूँ! दस प्रकारके अब्रह्मको छोड़कर नौ प्रकारके ब्रह्मचर्यको प्रगट कर, क्योंकि तूं मैथुन संज्ञामें आसक्त होकर भयंकर भवार्णवमे भ्रमण करता रहा ॥९८॥

यहाँ इस गाथामे दस प्रकारके अब्रह्मके त्यागके साथ नौ प्रकारके ब्रह्मचर्यके पालन करनेका उपदेश दिया गया है। दस प्रकारका अब्रह्म क्या है जिसका पुरुष और महिलाको त्याग करना चाहिये इसका निर्देश

करते हुए लिखा है कि (१) पहले एक-दूसरेका चिन्तन होना, (२) पीछे एक-दूसरेको देखनेकी इच्छा होना, (३) पीछे एक-दूसरेके प्रति निश्वास छोड़ना, (४) पीछे ज्वर होना, (५) पीछे दाह होना, (६) पीछे कामकी रुचि होना, (७) पीछे मूर्च्छा होना, (८) पीछे उन्माद होना, (९) पीछे एक-दूसरेके बिना जीनेमें सन्देह होना और (१०) पीछे एक-दूसरेके बिना मरण हो जाना।

यह दस प्रकारका अब्रह्म है। जो पुरुष या महिला अपनेको भूलकर कामके पीछे लगते हैं उनकी यह दशा होती है। इसीलिए एक कविने लिखा भी है कि—

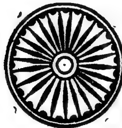
बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वांसमपकर्षति।

चाहे पण्डित हो या मुनि जो पञ्चेन्द्रियोंके विषयोंमे उलझता है उसकी यह दशा होती है। इसलिये एक-दूसरेको स्पर्श करनेकी बात तो छोड़िये, एक-दूसरेको रागभावसे देखना भी जीवनको मटियामेट करनेवाला है। अतः ब्रह्मचर्यकी जो नौ वाड़े आगममे लिखी हैं उनको जीवनका अपना अंग बनाते है उनका जीवन ही सफल होता है। ब्रह्मचर्यकी वे नौ वाड़े इस प्रकार हैं—

(१) पुरुष और महिलामे एक-दूसरेको सेवन करनेकी अभिलाषा न करना, (२) किसी भी प्रयोजनसे एक-दूसरेके अंगोंको स्पर्श नही करना, (३) पुष्ट और गरिष्ठ रसका सेवन नही करना, (४) एक-दूसरेके द्वारा काममें लाये गये शय्या आदिका सेवन नही करना, (५) एक-दूसरेके मुख व शरीरके कामको बढानेवाले अंगोंको देखनेकी इच्छा नही करना, (६) एक-दूसरेका सत्कार-पुरस्कार करना, (७) पहले हम कैसे भोग भोगते थे इसको याद नही करना, (८) आगे वे भोग कैसे प्राप्त होगे इनकी अभिलाषा नही करना और (९) अभीष्ट विषयोंका सेवन नही करना।

ये ब्रह्मचर्यकी नौ बाड़े है। जैसे खेतकी बाड खेतमे बोये हुए धान्यकी रक्षा करनेमें निमित्त है वैसे ही जो गृहस्थ पुरुष या महिला सदाचारपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करना चाहते है उन्हे ब्रह्मचर्यकी इन नौ बाड़ोंको अवश्य पालना चाहिये। मात्र इसी प्रयोजनको ध्यानमे रखकर महिलाओंको जिनबिम्बका प्रक्षाल-अभिषेक नही करना चाहिये यह आगमकी आज्ञा है। पूजन, स्वाध्याय और सामायिक आदि करते समय जब अपने भाव ठीक नही रहते, उनमें विकृति आ जाती है तब प्रक्षाल-अभिषेक करते समय किसी भी महिलाके परिणाम ठीक रहे आवेंगे यह वह स्वयं नहीं जान सकती, अतः महिलाको जिनमूर्तिका प्रक्षाल आदि ऐसे काम नही करना चाहिये, यही राजमार्ग है।

●



शिक्षा और धर्मका मेल

जैन समाजमें धार्मिक शिक्षण संस्थाओंका सब जगह प्रसार है। धार्मिक शिक्षणके नाम पर समाजका भी बहुत कुछ पैसा खर्च होता है। परन्तु इन संस्थाओंसे निकलनेवाले शिक्षितोंकी मनोभूमिका कैसी रहती है इस ओर बहुत ही कम लक्ष्य दिया जाता है। इसका सबसे प्रधान कारण तो यह है कि इन संस्थाओंका खर्च चलानेवाली समाज ही आज उन संस्थाओंकी मालिक है। इसलिये मालिक और नौकरमें जो व्यवहार होना चाहिये या मालिकका नौकरके साथ आज कल जो व्यवहार चालू है प्रायः इसी भूमिकाको लेकर हमारे शिक्षित तैयार होते हैं। इसलिये जगह-जगह पर शिक्षितोंमें मानसिक दुर्बलता नजर आती है। ऐसे एक नही अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनसे इस बातकी पुष्टि बहुत ही अच्छी तरह होती है। जो शिक्षित इस मनोभूमिकाको छोडकर काम करते हैं उन्हें सब जगह धक्के खाने पडते हैं या उन्हें समाज रचनाकी सबसे निकृष्ट स्थितिमें रहकर अपना जीवन व्यतीत करना पड़ता है। सच पूछा जावे तो धर्मज्ञ विद्वान् इतने आदर्श होना चाहिये जिससे उनका समाजके ऊपर सबसे अधिक प्रभाव रहे। परन्तु यह बात लिखनेमें जितनी सरल है प्रत्यक्ष व्यवहारमें उसका उपयोग होना उतना ही कठिन है। एक तो समाज ही अपने इस अधिकारको छोड़नेके लिये तैयार नही हो सकती है। दूसरे विद्वानोंमें संघ शक्ति निर्माण होकर अपने कर्तव्यका ज्ञान नहीं हुआ है।

समाजकी इच्छा

इस विषयमें समाज या समाजके नेताओंकी यह भावना रहित है कि आजकल जो कुछ भी थोड़ी बहुत जागृति दिखाई देती है उसका कारण हमारा पैसा है इसलिए हमारी इच्छाके अनुसार काम करना विद्वानोंका कर्तव्य ही है। समाज यह नहीं चाहती है कि विद्वान् स्वतंत्र होकर धर्म और समाजका काम करें और हम निस्पृहतासे उनके सहायक हों। कोई भी तटस्थ व्यक्ति, जहाँपर स्थानीय या प्रादेशिक पाठशालायें चालू हैं—जाकर इस बातका अनुभव कर सकते हैं कि उन पाठशालाओंके अध्यापकोंको समाजके प्रसन्न रखनेके लिये सबसे अधिक प्रयत्न करना पडता है। इससे हमारे शिक्षितोका सबसे अधिक समय या तो चापलूसीमें व्यतीत होता है या अपनी आजीविकाको स्थिर रखनेके लिये उत्तरदायित्वपूर्ण कार्यसे विमुख रहनेमें ही निकल जाता है। समाजकी इच्छा भी इससे अधिक नही रहती है। उसको ऐसा विद्वान् सबसे अधिक प्रिय मालूम पड़ता है जो स्वतन्त्रता पूर्वक अपने जीवनको व्यतीत करता है।

विद्वानोंकी मनोवृत्ति

अपनी इस जघन्य स्थितिमें समय व्यतीत करनेमें शिक्षित कुछ कम दोषी नहीं हैं। उनका शिक्षण भी विशाल और उदात्त मनोभूमिकाको सामने रखकर नही होता है। कोई व्यक्ति किसी शिक्षणसंस्थामें जाकर रहे तो उसे आजके शिक्षितोंकी मनोभूमिकाका उसी समय पता लग सकता है। वहाँ न तो धार्मिकताके ही पाठ पढ़ाये जाते हैं और न समाजोत्थानके। वहाँ पुस्तकी ज्ञानके रूक्ष वातावरणके अतिरिक्त किसीको और कुछ भी दिखाई नहीं देगा। केवल धार्मिक पुस्तकोंके पढ़ लेनेसे ही धार्मिकता और समाजोत्थानकी भावना जागृत नहीं हुआ करती है इसके लिये एक दूसरे प्रकारके वातावरणकी ही आवश्यकता लगती है जिसका हमारी शिक्षण संस्थाओंमें बिल्कुल ही अभाव है।

हमारी शिक्षण संस्थाओंमें जो अधिकारी होते हैं वे प्रायःकर शिक्षणके ज्ञाता न होकर अशिक्षित ही हुआ करते हैं। इसलिये उनका शिक्षणसंस्थाओंकी अन्तरंग व्यवस्थापर बिल्कुल ही ध्यान नहीं जाता है। उनकी सबसे बड़ी चिंता बजटकी पूर्ति हो रहती है। वे इसका थोड़ा भी विचार नही कर पाते कि इस संस्थासे बालकोंके ऊपर क्या परिणाम होता है। इसमे और क्या सुधार करना चाहिये जिससे इस संस्थासे निकले हुये बालक प्रखर विद्वत्ताके साथ समाजके नेता बनें। इस व्यवहारका बालकोंके ऊपर जो परिणाम होना चाहिये वही होता है और वे भी अपने समयको 'इसको वजीफा अधिक मिलता है मुझे कम मिलता है,' इत्यादि क्षुद्र बातोंमें व्यतीत कर देते है।

उन्हे अपनी बौद्धिक और मानसिक शक्तिके बढ़ानेके लिये थोडा भी अवसर नही मिलता। सभा सासाइटियोंमें कभी यदि विद्यार्थी भाग भी लेते है तो वहाँ पर वे रूक्ष विषय रक्खे जाते हैं जिनका उनके जीवनसे विशेष कुछ सम्बन्ध ही नही होता है। अध्यापकोंका काम किताबी शिक्षणके दे देनेमें और सुपरिन्टेन्डेन्ट-का काम रजिस्टर हाजिरीके भरनेमेही पूरा हो जाता है। यह दोष केवल कर्मचारियोंका ही हो यह बात नहीं है। संस्थाओंकी रचना ही इस ढगसे की गई है कि वहाँपर दूसरे विषयोके विचारके लिये गुंजाईश ही नही है। सरकारी संस्थाओं और इन धार्मिक सस्थाओमे यदि थोडा बहुत भेद कहा जा सकता है तो केवल इतना ही कि सरकारी संस्थाएँ सरकारके नियंत्रणमें चालू है और ये सस्थाएँ समाजके नियत्रणमे चलाई जाती है। उनकी कार्यपद्धतिमे कोई भी अन्तर नही दिखाई देता है। जिस प्रकार सरकारी संस्थाओसे गुलामवृत्तिके और स्वाभिमानको खोये हुये शिक्षित तैयार होते है वही स्थिति तो आज हमारी धार्मिक संस्थाओंकी है। इससे न तो समाजकी ही भूख भग सकती है और न धर्मके सम्बन्धमे कोई ठोस काम ही हो सकता है, ऐसी संस्थाओंसे निकलनेवाले विद्वानोंकी मनोवृत्ति यदि दुबली हो तो इसमे आश्चर्य ही क्या ?

शिक्षणकी कमजोरी

संस्थाओंमें छात्रोको जिन ग्रन्थोंके आधारसे शिक्षण दिया जाता है वे ग्रथ प्रौढ और तात्विक विवेचन करनेवाले हुये तो भी केवल इतनेसे ही विद्यार्थियोकी बुद्धिमें प्रौढता थोडे ही आ सकती है। जहाँ तक अनुभवमे तो यही आता है कि दर्शनशास्त्रके उच्च और आदर्श ग्रंथ अष्टसहस्री जैसे ग्रन्थोंका अध्ययन किया हुआ भी विद्यार्थी दर्शन शब्दकी समग्र व्याख्या करनेमे असमर्थ ही ठहरता है। इसका कारण क्या है, इधर हमारी शिक्षण, संस्थाओंका बिल्कुल ही ध्यान नही जाता है। मनुष्य एक प्रयोगमे असफल हो जानेपर भी उसमें वह सुधारणा करता है परन्तु हमारी संस्थाओंमे इस ओर बिल्कुल ही ध्यान नही दिया जाता है। यही कारण है कि शिक्षणकी कमजोरी विद्यार्थियोके शिक्षण सस्थाको छोड़कर कार्यक्षेत्रमे आ जानेपर भी अंत तक खटकती रहती है। हमे अपने धर्मग्रन्थोंका और उसकी विवेचन पद्धतिका अभिमान होना ही चाहिये परन्तु विद्यार्थी प्रतिपाद्य विषयको अधिकसे अधिक किन तरीकोंसे हृदयंगम कर सकेगा इस ओर ध्यान देना और तदनुकूल साधन सामग्रीका एकत्रित करना भी तो अत्यंत जरूरी है नही तो शिक्षणका निकम्मापन शिक्षितोंके हृदयोंको खोखला किये बिना नही रहेगा।

आजकी भूख

आज कल विद्वानोंका सम्बन्ध केवल अपने धर्म और समाजसे ही न होकर उसका क्षेत्र बढ़ रहा है। एक समय था जबकि मनुष्यकी भावनाएँ प्रादेशिक या अपनी सस्कृतिके अन्दर रहते हुए भी उनका काम चल जाता था। परन्तु आज केवल उतनी भावनाओंसे कोई भी समाज या धर्म आगे आनेका प्रयत्न करे तो यह उसका अट्टहास होगा। आज हम परस्परकी कलहके कारणोंकी मीमांसाको छोड़कर रचना-

त्मक कार्योंकी ओर अधिक लक्ष्य देना होगा। आज प्रत्येक जाति रचनात्मक कार्योंमें ही अपनी शक्तिका व्यय करके अपनी अपनी संस्कृतिको सुदृढ़ करनेमें लगी हुई है। विरोध या मतभेद केवल जैनसमाजमें ही है ऐसा थोड़े ही है। इसका कटुफल तो प्रत्येक समाजको भोगना पड़ रहा है। परन्तु दूसरी समाजके विचारशील शिक्षितोंने अपने दृष्टिकोणको बिल्कुल ही बदल दिया है। वे देख रहे हैं कि आजके जमानेसे हमारी संस्कृतिका मेल कैसे बैठेगा। उन्हें और बातोंकी चिंताकी अपेक्षा आजके जमानेमें अपनी संस्कृतिको सर्वोत्कृष्ट सिद्ध करने की सबसे अधिक चिंता है। परन्तु यह बात केवल संस्कृतिके गुणानुवादसे कभी भी पूरी नहीं हो सकती है। इसके लिए हमें अपनी संस्कृतिमेंसे वे उच्च आदर्शरूप साधारण तत्त्व ढूंढ़ निकालने होंगे जिसका बहुजन समाज के ऊपर प्रयोग करनेपर अनुकूल परिणाम सिद्ध होगा। यदि जैन विद्वान् इस कार्यको कर सकें तो संभव है कि उनकी संस्कृतिका बहुत कुछ अंश सारी समाजे आत्मसात् कर सकती है। यही तो आजकी भूख है। परन्तु यह कब हो, जबकि हमारी शिक्षण संस्थाओंमें सुधार किया जावे। शिक्षणसंस्थाओंके संचालक योग्य विद्वान् नियुक्त किये जावें। पूंजीपतियोंका काम केवल द्रव्य खर्च करनेका हो और शिक्षितोंका काम उनमें योग्य सुधारका।

जब हम इतना कर सकेंगे तभी यह कहा जा सकता है कि हमने धर्मकल्पवृक्षकी मूलको पानी सींचनेका काम किया। इसके बिना हम धर्मकी सच्ची उपासनासे कितने दूर हैं यह बारीकीसे विचार करनेवाले व्यक्ति को उसी समय मालूम पड़ सकता है। मन्दिरोंमें हमें धर्मका शिक्षण मिलता है परन्तु उसका केवल परलोकसे ही सम्बन्ध है। हमें अपने जीवनमें विशेषता उत्पन्न करनेके लिये इन शिक्षालयोंके शिक्षणकी ही आवश्यकता है। समाज सुधार और संस्कृतिका पोषण यह काम केवल शिक्षितोंके द्वारा ही हो सकता है। इसलिये समाज का कर्तव्य है कि उसने योग्य शिक्षित निर्माण करनेके लिये ये इन धर्मदिनोंमे प्रतिज्ञा करनी चाहिये। धर्मायतन समझकर मंदिरोंकी व्यवस्थाकी ओर जितना ध्यान दिया जाता है उतना ही ध्यान इन शिक्षालयोंकी ओर देनेकी आवश्यकता है। धर्म, शिक्षित और समाजका सुधार इसी प्रकार हो सकता है। बाकी सब स्वाग ही समझना चाहिये।

●



अध्यात्म-समाजवाद

भारतको राजनैतिक स्वतन्त्रता मिलनेके बाद जिन परिस्थितियोंका निर्माण हो रहा है उन्हे देखते हुए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि हम जैन संस्कृतिके मूल तत्त्वों पर विचार करें और देखें कि वे तत्त्व वर्तमान परिस्थितिको सम्हालनेमें कहाँ तक उपयोगी हो सकते हैं ।

यों तो जैनसाहित्यमें ग्रन्थोंकी कमी नहीं है पर सांस्कृतिक दृष्टिसे जिस पर अधिक दृष्टि जानी चाहिये वह है भगवान कुन्दकुन्दका समयप्राभृत । इस समय वर्गवादमूलक अध्यात्मवाद और भौतिक समाजवादको विफल करनेका हमारे पास एक ही मार्ग है और वह है अध्यात्म समाजवाद । भगवान कुन्दकुन्दने अपने इस ग्रन्थराजमें इसी तत्त्वका सुन्दरतासे निरूपण किया है । सच पूछा जाय तो जैन संस्कृतिकी यह आत्मा है ।

तत्काल वर्तमान समस्याओंका हल समाजवाद माना जाने लगा है । अधिकतर लोगोंका यह ख्याल होता जा रहा है कि इसे स्वीकार किये बिना सब प्रकारकी बुराइयोंका दूर किया जाना असम्भव है । इसमें सन्देह नहीं कि उनका यह ख्याल बहुत कुछ अंशोंमें सही है, क्योंकि इस समय ईश्वरवाद, वर्गवाद और आर्थिक विषमताने मानवसमाजको इतनी बुरी तरह जकड रखा है कि जिससे उसे साँस लेने तकका अवसर नहीं मिलता । इस तन्त्रजालसे किस प्रकार निकला जा सकता है इसका उसे ज्ञान ही नहीं है । ये बुराइयाँ मानव समाजका कोढ हैं, इसमें जरा भी सन्देह नहीं । मार्क्सने धर्मको अफीम कहा है इसका कारण यही है । उसने देखा कि ये बुराइयाँ धर्मके नाम पर प्रचारितकी जाती है और जनताको पथभ्रष्ट किया जाता है । ईश्वर तो है ही नहीं । यदि वह होता तो विश्वकी इतनी दुरवस्था क्यों होती ? क्यों हिन्दुस्तान और पाकिस्तान बनते ? क्यों मानव मानवमें इतना अन्तर होता ? क्यों गरीबी और अमीरीका भेद होता ? सच पूछा जाय तो मार्क्सने मनुष्यकी बुद्धिपर लगे हुए तालेको खोल दिया है और प्रत्येक मनुष्यको स्वतन्त्र भावसे सोचने का अवसर प्रदान किया है ।

किन्तु उसकी व्यवस्थामें एक दोष है । मार्क्सवाद जहाँ आर्थिक विषमताके दूर करनेका प्रयत्न करता है तथा इस व्यवस्थाके आधारभूत ईश्वरवाद और वर्गवादको जडमूलसे उखाड़ फेंकता है वहाँ वह जीवन संशोधनकी बातको सर्वथा भुला देता है । यह तो कट्टरसे कट्टर मार्क्सवादीको भी स्वीकार करना पड़ेगा कि जो भी व्यवस्थाकी जाती है वह मानव जीवनको सुखी बनानेके लिये ही की जाती है । इसके बिना उसका कोई मूल्य नहीं । पर क्या इतने मात्रसे जीवनमें आई हुई भीतरी और बाहिरी सब प्रकारकी बुराइयोंका अन्त हो जाता है यह एक गम्भीर और मार्मिक प्रश्न है जिसका समाधान मार्क्सवादके आधारसे होना कठिन है । इसलिये इसका समाधान पानेके लिये जब हम मार्क्सवादके सिवा अन्यत्र दृष्टिपात करते हैं तो हमारी दृष्टि अध्यात्म-समाजवादके ऊपर जाती है । हम देखते हैं कि इसमें मार्क्सके वे सब सिद्धान्त तो निहित है ही जिनका उसने केपिटल (Capital) नामक पुस्तकमें विचार किया है । साथ ही उसमें जीवन संशोधनके मूल आधारों और उसकी तात्त्विक प्रक्रियापर भी गहराईसे विचार किया गया है ।

अध्यात्म-समाजवादको दूसरे शब्दोंमें 'अध्यात्म समतावाद' भी कह सकते है । इसका व्यापकसे व्यापक अर्थ है जड चेतन सबकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करना और कार्यकारण भावको सहयोग प्रणालीके आधार पर स्वीकार करके व्यक्तिकी स्वतन्त्रताको आँच न आने देना ।

यह वर्तमान कालीन अव्यवस्थाका समुचित उत्तर है। इसमें एक ओर जहाँ आत्माकी स्वतंत्रता स्वीकारकी गई है वहाँ दूसरी ओर जड़ तत्त्वोंकी स्वतन्त्र सत्ताको भी नहीं भुलाया गया है। यह मुकम्मिल स्वतन्त्रताकी पूरी गारंटी हो जाती है। अन्तरंग समस्या है व्यक्तिगत उन्नति और बहिरंग समस्या है परस्पर के सम्बन्ध की। यह दोनोंका सुन्दरतम हल उपस्थित करता है।

जैसा कि हम देखते हैं विश्व अनेक तत्त्वोंका समुदाय है। इसमें जड़ चेतन सभी तत्त्व मौजूद हैं। उनके सहयोग और सम्मिश्रणसे ही इसकी निर्बाध गति चल रही है। इसमें क्या जड़ और क्या चेतन एक भी तत्त्व परतन्त्र नहीं है। सभी अपनी अपनी स्वतन्त्रताका उपभोग कर रहे हैं। ऐसी हालत में यह मानना 'मैं बड़ा हूँ वह छोटा है, यह मेरा भोग्य है मैं उसका भोक्ता हूँ, यह अछूत है मैं छूत हूँ, मैं स्वामी हूँ वह सेवक है, मैं राजा हूँ वह प्रजा है, मैं राव हूँ वह रंक है' निरा अज्ञान है, अधिकतर ये विकल्प जीवनमें आई हुई कमजोरी के कारण होते हैं। जिन्होंने कमजोरी पर विजय पाई है वे इनसे सदा मुक्त रहते हैं। कमजोरीसे हमारा तात्पर्य राग द्वेष और मोहसे हैं। विश्वमें जितनी भी समस्याएँ उग्ररूप धारण किये हुए हैं या जो नई नई समस्याएँ सामने आ रही हैं उनका एकमात्र कारण यह राग, द्वेष और मोह ही तो है। इसीके कारण विश्वको ये दिन देखने पड रहे हैं।

अध्यात्म-समाजवादका आन्तररूप जितना निर्मल और वस्तुस्पर्शी है उसका बाह्यरूप भी उतना ही मोहक और सब प्रकारकी कल्पित विषमताको दूर करनेवाला है। यह समत्वकी भावनाओंमेंसे प्रसूत होकर जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें अपनी छाप छोडता जाता है। यह ऐसी विषमताको जीवनकी चीज नहीं मानता जिसे हम ऊपरसे स्वीकार करते है। उदाहरणार्थ छूत-अछूत समस्याको लिया जा सकता है। वैदिक धर्मके प्रभावसे कुछ ऐसा प्रघात पड गया है जिससे कुछ भाई छूत और कुछ भाई अछूत माने जाने लगे हैं। जो छूत माने जाते हैं उनके साथ मानवताका व्यवहार किया जाता है, उन्हें बैठनेके लिये उचित स्थान दिया जाता है और मन्दिर आदिमें प्रवेश करनेपर रोका नही जाता। किन्तु जो अछूत माने जाते है उन्हे न तो अपने पास बैठने दिया जाता है, न मन्दिरमे जाने दिया जाता है और न स्पर्श ही किया जाता है। लघुशंकाके बाद हाथ धोनेसे काम चल जाता है पर उनका स्पर्श हो जानेपर सचेल स्नानकी आवश्यकता पडती है। कुत्ते बिल्लीके छू जानेपर किसी प्रकारकी बुराई नही मानी जाती पर उनके छू जानेपर सारा धर्म कर्म बिगड़ जाता है। वे तिर्यंचोंसे भी बदतर मान लिये गये हैं।

यह समस्या देशके सामने हजारों वर्षसे उपस्थित है। इस कारण देशको जो हानि उठानी पड़ी है वह अवर्णनीय है। इस सामाजिक विषमताके परिणामस्वरूप ही देशको अनेक भागोंमें बटना पड़ा है। पंजाब और बंगालका हत्याकाण्ड इसीका परिणाम है फिर भी भारतीयोंकी आँखें नहीं खुल रही हैं। मानाकि वे जब अशुचि अवस्थामें हों तब उनसे दूर रहना चाहिये पर स्नान करनेके बाद जब वे स्वच्छ कपडे पहिन लेते है तब ऐसी कौन सी बाधा रह जाती है जिससे उन्हें स्पर्श नहीं किया जाता ?

जहाँ तक वैदिक धर्मावलम्बियोंका सवाल है यह बात कुछ-कुछ समझमें भी आती है कि वे अपने ही समाजके एक अंगको अपनेसे जुदा रखें, क्योंकि इस धर्मका मुख्य आधार है सामाजिक विषमता। वे जन्मना वर्णव्यवस्थापर जोर भी इसी कारणसे देते हैं और उच्चत्व तथा नीचत्वका आधार कर्मको मानते है। वेद और वेदानुमोदित स्मृति उनका मुख्य धर्मशास्त्र है। इसके अनुसार मनुष्यको अपने-अपने वर्णकी प्राप्ति जन्मसे होती है। वे ब्राह्मणत्व आदि जातिको नित्य मानते हैं इसलिए जिस व्यक्तिसे जिस जातिका समवाय सम्बन्ध हो जाता है वह जीवन भर उसी जातिका बना रहता है। अनेक प्रयत्न करनेपर भी उसकी जाति नहीं बदलती।

ब्राह्मण चाहे जितने भ्रूणहत्या, चोरी हिंसा आदि निम्नतम पाप करे इससे वह कभी भी ब्राह्मणसे-अब्राह्मण नहीं हो सकता और शूद्र चाहे जितने सदाचार पालन आदि उच्चतम कर्म करे इससे वह कभी भी शूद्रसे अशूद्र नहीं हो सकता।

पर जैन धर्मानुयायियोंने तीर्थंकरोंके उपदेशोंको भुलाकर परधर्मको कैसे स्वीकार कर लिया है यह बात जरा भी समझमे नहीं आती। जैन तत्त्वज्ञान उन्हें क्या आज्ञा देता है यह बात उन्हें आँख खोल कर देखनी चाहिये। वे चालू व्यवस्थाके व्यामोहमें पड़कर खीझें नही किन्तु इसके वास्तविक कारणोंपर जाँय। वे देखें कि क्यों हम अपने ही समान एक भाईको छूत और दूसरे भाईको अछूत मानते हैं। एक भाईमे ऐसी कौनसी विशेषता है जिससे वह छूत माना जाता है और दूसरे भाईमें उसकी क्या कमी है जिससे वह अछूत माना जाता है। यदि सचमुचमें वे अन्तर्दृष्टि होकर देखेंगे तो उन्हें मालूम पड़ेगा कि यह केवल हमारे राग, द्वेष और मोहका विपाक है जो हमसे ऐसा मनवा रहा है। उन भाइयोंमे ऐसी छूत और अछूतपनेकी कोई निसानी नही है, दोनों ही समान हैं। यह मालूम पडनेपर कि यह अछूत है हम ग्लानि करने लगते हैं, परन्तु इसके पहले ऐसा कुछ भी भाव नहीं होता। इसलिये आवश्यकता अपने इन विकारोंको त्यागने की है। इन विकारोंके दूर हो जानेपर यह समस्या सुतरा सुलझ जाती है। हममे वह समानताका भाव आने लगता है जिसकी आज विश्वको आवश्यकता है और जिसका निर्देश हजारों क्या लाखों वर्ष पहले जैन तीर्थंकरोने कर दिया था। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की थी कि धर्म तो पशुओ तकके लिये है वह मनुष्य-मनुष्यमे अन्तर कैसे कर सकता है? यही सबब है कि उनकी सभाओंमे सबको समानभावसे आने दिया जाता था और सब उनके उपदेशोंसे लाभ उठानेके लिये स्वतन्त्र थे।

कहा यह जाता है कि वे संस्कारहीन है अतः उनके सम्पर्कसे सदाचारके लोप होनेका भय है। पर इस युक्तिवादमे कोई तथ्य नही। यह भाव केवल अपने जीवनकी कमजोरीको व्यक्त करनेवाला है। वैसे देखा जाय तो सम्पर्क तो उनके साथ बना हुआ है ही और उसके बिना काम भी नही चलता। केवल छूनेका परहेज करके बैठे है और ऐसा मान लिया है कि यह न छूना ही धर्म है। धर्मकी यह कितनी उथली परिभाषा है। जिस धर्मका उपदेश जीवनमे आये हुए विकारको दूर करके अपने स्वभावकी ओर ले जानेके लिये दिया गया था वह धर्म स्वयं विकारीभावमें चरितार्थ हो रहा है। हमने अपने मिथ्या अभिनिवेशके वशीभूत होकर धर्मके स्वरूपकी दिशा ही बदल दी है। इस व्यवहार द्वारा या तो हम रेतमेंसे तेल निकालना चाहते है या रात्रिको दिन बनाना चाहते है। और मजा यह कि गालियाँ देते हैं मार्क्सवादको। मार्क्सवाद हमारी इन भूलोंका ही तो फल है। यदि हम चाहते है कि अध्यात्म-समाजवाद जीवित रहे तो हमे उसके अनुसार अपना जीवन भी बनाना होगा। हमें इस संकुचित मनोवृत्तिको छोड़ कर विस्तृत आधारसे विचार करना होगा।

यदि थोड़ी देरको यह मान भी लिया जाय कि वे संस्कारहीन हैं तो भी हमारा कर्तव्य उनसे पृथक् रहनेका नही होना चाहिये। हमें विश्वास और दृढताके साथ उनके जीवनको सुधारनेका प्रयत्न करना चाहिये, उन्हें मन्दिरमे आने देना चाहिये और तीर्थंकरोंके उपदेशों द्वारा उनके चालू जीवनको बदलनेका प्रयत्न करना चाहिये। इसके लिये हम ईसाई मिसनरियोंसे काफी शिक्षा ले सकते है। जिन भारतवर्षीय ईसाईयोका हम लोग आदर करते हैं उन्हें बैठनेके लिये कुर्सी देते हैं वे कल भंगी और चमार ही तो थे। फिर वे आज ऐसे कैसे बन गये? एक सहवास और सदुपदेश ही तो इसका कारण है।

यदि भारतवर्षने जैन तत्त्वज्ञानके आधारसे इस समस्याको सुलझानेका प्रयत्न किया होता तो इसमें सन्देह नहीं कि इस समस्याके हल होनेमें जरा भी देर नहीं लगती। जैनधर्मने कर्मके आधारसे उच्चता और

नीचता माननेकी कभी भी शिक्षा नहीं दी है। वह तो गर्भज मनुष्यमात्रमें समान योग्यता मानता है। कर्मसे न कोई ऊँच होता है और न कोई नीच। उच्चता और नीचताका यदि कोई आधार है भी तो वह आन्तरिक परिणति ही है जो किसी भी मनुष्यके हो सकती है। इसके लिये जाति पांतिका बन्धन आवश्यक नही है। सच तो यह है कि स्वयं जैनियोंने इस महान् तत्त्वज्ञानको तिलांजलि दे दी है और जिस जाति पाति या सामाजिक उच्चत्व और नीचत्वका विरोध करनेके लिये उनके पूर्वजोंने अनेक संकटोंका सामना किया था आज वे ही उन बुराइयोंके पुजारी बन रहे हैं। क्या हम आशा करें कि आजके जैन बन्धु अपने इस उदार और वस्तु-स्पर्शी तत्त्वज्ञानकी ओर समुचित ध्यान देंगे। मेरा तो विश्वास है कि यदि उन्होंने इस ओर ध्यान दिया और इसके अनुसार आचरण किया तो एक छूत-अछूत समस्या ही क्या विश्वकी अन्य समस्याएँ भी हल हो सकती हैं।

साधारणत: विश्वके सामने छूत-अछूत समस्याके सिवा दूसरी मुख्य समस्या आर्थिक विषमता की है। इस समय विश्वमे जो सघर्ष दिखलाई दे रहा है उसका मूल कारण यही है। इस कारण विश्व स्पष्टतः दो गुटोंमें बटता जा रहा है। यदि हम अध्यात्म समाजवादके आधारसे इस समस्याको भी सुलझानेका प्रयत्न करते है तो इसमें सन्देह नही कि यह समस्या आसानीसे सुलझ जाती है। अध्यात्म समाजवादके सिद्धान्तानुसार कोई भी मनुष्य आवश्यकतासे अधिकका संचय नही कर सकता क्योंकि संचय करना और संचित द्रव्यका अपनेको स्वामी मानना कषायका परिणाम है किन्तु वह इसकी शिक्षा नही देता। उसके अनुसार तो प्रत्येक मनुष्यको परिग्रहका त्याग या परिमाण कर लेना चाहिये क्योंकि परिग्रह पर है और वह मोक्षमार्गमें बाधक है।

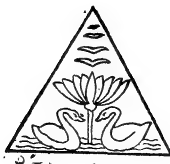
जैसी कि तीर्थंकरोंकी शिक्षा है तदनुसार स्वावलम्बन ही जीवनका सार है। बिना स्वालम्बनके कोई भी मनुष्य आत्मधर्मका अभ्यासी नही हो सकता। यह दूसरी बात है कि कोई मनुष्य इसे पूरी तरहसे जीवनमें उतारनेका अभ्यास करता है और कोई अशंतः। पर धर्मात्मापनकी यह कसौटी है कि वह स्वावलम्बनके साथ जीवन बितानेका प्रयत्न करे। अब देखना यह है कि जो उत्तरोत्तर अधिकाधिक परिग्रहके संचयमे लगा रहता है वह क्या स्वावलम्बनका अभ्यासी कहा जा सकता है। सच पूछा जाय तो ऐसा मनुष्य धर्मका द्रोही होना चाहिये। इसे स्वावलम्बी अर्थात् धर्मात्मा मानना तो त्रिकालमें भी सम्भव नही है। धर्मका वस्तुमें ममकार और अहंकार करनेके साथ तीव्र विरोध है। जहाँपर वस्तुमे ममकार और अहकार है वहाँ धर्म नही और जहाँ धर्म है वहाँपर वस्तुमे ममकार और अहंकार नही। इसलिये परिग्रहकी प्राप्ति धर्मका फल न मानकर कषायका ही परिणाम मा ना चाहिये। यही सबब है कि तीर्थंकरोंने इसके त्यागका उपदेश दिया है। और यह बतलाया है कि जो व्यक्ति जीवनमें आये हुए विकारके कारण परिग्रहका पूर्ण त्याग नहीं कर सकता वह उसका परिमाण अवश्य कर ले। उसका कर्तव्य है कि वह आवश्यकतासे अधिकका संचय न करे।

हम देखते हैं कि विश्व यदि इन शिक्षाओंके अनुसार काम करने लगे तो इस समस्याके हल करनेमें थोड़ी भी देर न लगे और तब राज्यको इस समस्याके सुलझानेमें अपनी शक्ति न लगानी पडे।

तीसरी समस्या स्त्रियों की है। स्त्रियोंका भी समाजमें वही स्थान होना चाहिये जो पुरुषोंका है। वे किसी भी बातमे पुरुषोंसे हीन नही है। यह नहीं हो सकता कि पुरुष उत्तरोत्तर विकारको प्रश्रय देते जाँय और वे जीवन भर अविकारी बनी रहे। कौन मनुष्य विकारपर विजय पाता है और कौन नहीं यह व्यक्तिका प्रश्न है। समाजका निर्माण तो व्यक्तियोंके जीवनमें आई हुई कमजोरीके फलस्वरूप समझौतेके रूपमें ही किया जाता है। यह तो कमजोरियोंको स्वीकार करता है। कमजोरियोंका उच्छेद करना इसका काम नही। समाज

और धर्ममें यही अन्तर है। इसलिये जहातक समाजका प्रश्न है हमें वही अधिकार स्त्रियोंके भी मानने चाहिये जो पुरुषोंको प्राप्त है।

ये हैं अध्यात्म-समाजवादकी शिक्षाएँ। अध्यात्म-समाजवाद अध्यात्ममूलक समाजवादका संक्षिप्त रूप है। इसमें अध्यात्म शब्द व्यक्तिको स्वतंत्रताका सूचक है और समाजवाद सहयोग प्रणालीके आधारपर स्वीकृत कार्यकारण भावको सूचित करता है। कही-कही इसे अध्यात्मवाद भी कहा गया है। इसके द्वारा जहाँ हम एक ओर विकारोंको दूर करनेमे समर्थ होते हैं वहाँ दूसरी ओर परस्परके समझौते द्वारा विकारोंपर नियंत्रण स्थापित करते है। इसके स्वीकार करनेसे व्यक्ति तो प्रतिष्ठित होता ही है पर समाजको भी अपने व्यवहारकी दिशा निश्चित करनेमे सहायता मिलती है। ऐसा सर्वोपयोगी है यह अध्यात्म-समाजवाद। मेरी समझसे यदि विश्व अतीतमे की गई भूलोंपर विजय पाना चाहता है तो उसे इसके स्वीकार करनेमे जरा भी हिचकिचाहट नही होनी चाहिये। हम उस दिनकी प्रतीक्षामे है जिस दिन इस भावनाको चरितार्थ होते हुए देखेंगे।



बुन्देलखण्डका सांस्कृतिक वैभव

भारतीय परम्परामें बुन्देलखण्डका महत्वपूर्ण स्थान है। यहाँके मुरम्य उपवन, कलकल करती हुई अस्खलित धारासे बहने वाली नदियाँ, सघन वृक्षों और मनोहारी उपत्यकाओंसे विभूषित पर्वत श्रेणियाँ तथा उपजाऊ मैदान इनकी शोभामें चार चाँद लगा देते हैं। भौगोलिक दृष्टिसे तो इसका महत्व है ही, राजनैतिक और सामाजिक दृष्टिसे भी इसका महत्व है। दिल्ली और आगराका समीपवर्ती प्रदेश होने पर भी इस प्रदेश-में मुस्लिम संस्कृतिका विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर नही होता इसका कारण इसकी अपनी सभ्यता और स्वाधीन वृत्तिके प्रति विशेष आस्था ही है।

बुन्देलखण्ड तो हमारा निवास स्थान ही है। अन्य प्रदेशोंको भी हमने निकटसे देखा है, किन्तु यहाँके जैनोंमें हमने जो आचार शुद्धि और विचार शुद्धि देखी है उसके अन्यत्र सर्वांगीण दर्शन नही होते। भगवान् महावीर और श्रुतकेवली भद्रबाहुके बाद जैन परम्परामें आचार्य श्री कुन्दकुन्दका विशेष स्थान है। उनके द्वारा प्रतिपादित मोक्षमार्गके अनुरूप बाह्य क्रियाकाण्डको अपने जीवनका अंग बनानेकी यदि किसीकी इच्छा हो तो बुन्देलखण्डसे ही इसकी शिक्षा लेनी होगी। इस दृष्टिसे इसका स्थान सर्वोपरि है।

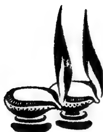
यद्यपि बुन्देलखण्डमें आजीविकाके साधन स्वल्प है। इस कारण यहाँके जैन समाजकी आर्थिक स्थिति बहुत समुन्नत नही कही जा सकती। फिर भी यहाँका जैन समाज कष्टसहिष्णु जीवन बिताकर बचे हुए अर्थका उपयोग संस्कृति निर्माणके कार्योंमें सदासे करता आ रहा है। श्रीपपौराजीके उत्तुंग जिनालय तथा अन्य तीर्थक्षेत्र इसके प्राजल उदाहरण है। यहाँके तीर्थक्षेत्रोंकी मूर्ति निर्माणकला और वास्तुनिर्माणकला बेजोड़ हैं। वह भव्यजनोको अपनी विशेषताके कारण सहज ही अपनी ओर आकर्षित कर मोक्षमार्गका पथ प्रशस्त करती रहती है। आप बुन्देलखण्डके श्री पपौराजी, आहारजी, क्षेत्रपाल ललितपुर, देवगढ, चँदेरी, बूढ़ी चँदेरी, थूबोनजी, खजुराहो, द्रोणगिरि, नैनागिरि, कुण्डलगिरि, स्वर्णगिरि आदि किसी भी तीर्थक्षेत्र पर चले जाइये वहाँके दर्शन करने मात्रसे आपको अपूर्व शांतिका अनुभव होगा। धन्य है वे तीर्थक्षेत्र और धन्य है वे पुण्य-पुरुष जिन्होंने अपनी धर्मभावनावश इन तीर्थक्षेत्रोंको वर्तमान रूप प्रदान किया है। उसके सामने वे महाशय अति तुच्छ है जो लौकिक कामनावश या यशकी लिप्सावश अपने आपको चिरस्थायी बनानेके अभिप्रायसे धार्मिक मनोवृत्तिको दूषित करते रहते है।

तेरापंथ कोई पंथ नहीं है। किन्तु यह मोक्षमार्गकी दृष्टिसे अनादिकालसे प्रचलित गृहस्थोंकी उपासना-का साधन मात्र है। वर्तमान कालमे यद्यपि इसे आचार्य कुन्दकुन्दका शुद्धाम्नाय कहा जाता है। किन्तु इस कालमें इसे आचार्य कुन्दकुन्दने चलाया है ऐसी जिसकी समझ है वह भूल है। मूलाचार आदि आगम ग्रन्थोंका अध्ययन करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह गृहस्थोंकी मोक्षमार्गके अनुरूप वह पूजापद्धति है जो जैनाचार और विचारके अनुरूप होनेके कारण अनादिकालसे जैन परम्परामे प्रचलित रही है। बुन्देलखण्डने अपने नित्य-नैमित्तिक जीवनमे निरपवादरूपसे इसे अपनाया है। अतएव विश्वास है कि वह प्रत्येक अवस्थामे इसकी रक्षा करेगी। इसमें गुण अधिक हैं और दोष कम, यह इसकी विशेषता हैं।

बुन्देलखण्डको जैन समाजने जैसे जैन-संस्कृतिके अन्य साधनोंके संरक्षणकी ओर विशेष ध्यान दिया है वैसे ही उसने शिक्षा प्रचारकी ओर भी विशेष ध्यान दिया है। वर्तमान समयमे संस्कृत, प्राकृत और धार्मिक शिक्षाके प्रचारका बुन्देलखण्ड गढ़ है। यहाँके बहुतसे गाँवोमे आपको धार्मिक और संस्कृत पाठशालाएँ दृष्टिगोचर होंगी। इस विषयमे पूज्य श्री गणेशकीर्ति मुनिराज (पूज्य श्री गणेशप्रसादजी वर्णी) का नाम तो चिरस्मरणीय है हो। पूज्य ब्र० मोतीलालजी वर्णी, श्रेष्ठिवर्य लक्ष्मीचन्दजी बमराना, श्रेष्ठिवर्य मथुरादासजी ललितपुर और सिंघई नाथूरामजी बीना-इटावा आदिके नाम भी विशेष रूपसे उल्लेखनीय है। इन महानुभावों-ने इस क्षेत्रमें जो महान् सेवा की है वह सदा काल अविस्मरणीय रहेगी।

बुन्देलखण्डका प्रत्येक गृहस्थ अपनी उस आचार-विचार और पूजा विधिको अक्षुण्ण बनाये रखेगा जिसने अभी तक उसे अनुप्राणित ही नही किया, किन्तु सद्गृहस्थ भी बनाये रखा है। बुन्देलखण्ड धन्य है और उसकी मोक्षमार्गके अनुरूप आचार-विचार और उपासना विधि भी धन्य है। बुन्देलखण्डका जैन-संस्कृतिके लिए जो यह योगदान है वह पूरे जैन समाजको अनुप्राणित करता है इसमे सन्देह नही।

●



महिला मुक्ति गमनकी पात्र नहीं

दिगम्बरोंसे श्वेताम्बरोंमें मतभेदके मुख्य विषय तीन हैं। (१) सवस्त्र सिद्धि। श्वेताम्बर मानते हैं कि बुद्धिपूर्वक वस्त्रके स्वीकार करनेपर भी मुक्तिलाभ करनेमें उससे कोई बाधा नही आती। जब कि वस्तु स्थिति यह है कि स्वावलम्बनके बिना जीवका परसे मुक्ति प्राप्त करना असम्भव है, इसलिए बुद्धिपूर्वक स्वीकार किये गये वस्त्रका बुद्धिपूर्वक त्याग होना ही चाहिये। इसलिए जैसे घर, जमीन, स्त्री, पुत्र आदिका बुद्धिपूर्वक त्याग किया जाता है वैसे ही वस्त्रका भी बुद्धिपूर्वक त्याग होना चाहिए। यह मुक्तिका मार्ग है जिसे दिगम्बर परम्पराने सदासे स्वीकार किया है।

(२) केवली कवलाहार। श्वेताम्बर मानते है कि भूख-प्यासकी बाधा केवलीको भी होती है, इसलिए केवली भगवान् हम-आपके समान भोजन करते है और पानी पीते है। किन्तु दिगम्बर परम्परा उनकी इस मान्यताको स्वीकार नही करती। इसके कारण कई है। (क) असातावेदनीयकी उदीरणा छठे गुणस्थान तक ही होती है। और असाता वेदनीयकी उदीरणाके बिना भूख-प्यासकी बाधा हो नही सकती, इसलिए केवली भगवान् कवलाहार ग्रहण नही करते। (ख) असातावेदनीय अशुभ प्रकृति है, इसका बन्ध छठे गुणस्थान तक ही होता है, आगे इसका बन्ध नही होता। यद्यपि असातावेदनीयका उदय १४वें गुणस्थान तक होता है। पर सम्यक्त्वके सन्मुख हुए जीवके क्षयोपशम लब्धिके प्रथम समयसे ही इसका अनुभाग घटते-घटते १३वें गुणस्थानके प्रथम समयमे जरी हुई रस्सीके समान अनुभाग इतना कम शेष बचता है कि वह अपना कार्य करनेमे असमर्थ रहता है। इसलिए भी केवली भगवान्के कवलाहारकी कल्पना करना असम्भव है। (ग) क्षपकश्रेणिपर आरूढ हुए जीवके १०वें गुणस्थानके अन्तिम समयमें मोहनीय कर्मका समूल नाश हो जाता है। तथा ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंका बन्ध भी इसी गुणस्थान तक होता है। अकेला सातावेदनीय कर्म शेष रहता है जिसका बन्ध १३वे गुणस्थान तक होता है। परन्तु कषायके बिना उसका बन्ध एक समयकी स्थिति वाला होता है। अतः इसका नाम सातावेदनीय है, अतः उसे जो अनुभाग मिलता है वह यद्यपि उतना तो नही मिलता जितना कषायके सद्भावमे कमसे कम मिलना सम्भव है। फिर भी वह सत्तामे शेष रहे असातावेदनीयके अनुभागसे अनन्तगुणा अवश्य होता है। और वह प्रति समय उदयवाला होता है, इसलिए असातावेदनीयके उदयकालमे भी इसका उदय रहनेसे असातावेदनीयका उदय सातावेदनीय रूपसे परिणम जानेके कारण भी केवली जिनको भूख-प्यासकी बाधा नही होती, इसलिए भी केवली जिन कवलाहार ग्रहण नहीं करते।

यहाँ हमने केवली जिन कवलाहार नहीं लेते इसकी पुष्टिमे जो तीन हेतु उपस्थित किये है उन्हें दोनों परम्पराएँ स्वीकार करती है, क्योंकि इस विषयमे दोनों परम्पराओंमे कर्मशास्त्रकी प्ररूपणा एक समान है।

(३) स्त्रीमुक्ति। श्वेताम्बर मानते हैं कि योनि-कुच आदि शरीररूप स्त्री-पर्यायके मिलनेपर भी उस पर्यायसे मुक्ति लाभ हो सकता है। परन्तु दिगम्बर परम्परा इसे स्वीकार नही करती क्योंकि उक्त प्रकारकी स्त्री कभी भी बुद्धिपूर्वक वस्त्रका त्याग कर पूर्ण स्वावलम्बनकी दीक्षा ग्रहण करनेमे असमर्थ रहती है, इसलिए उसे मुक्तिका लाभ मिलना उसी प्रकार असम्भव है जैसे सूर्यकी किरणोंका शीतल होना असम्भव है।

फिर भी श्वेताम्बर परम्परामें अपने ही आगमको दुर्लक्ष्य करके द्रव्य स्त्रीका मोक्षलाभ करना किस प्रकार स्वीकार किया है और वह उनके ही आगमके अनुसार कैसे नही बनता, आगे इस विषयपर विस्तारसे विचार किया जाता है।

इस अवसर्पिणी कालमे जो २४ तीर्थंकर हुए हैं उनमें १९वे तीर्थंकरका नाम मल्लिनाथ है। किन्तु मल्लिनाथ तीर्थंकर मल्लिबाई (स्त्री) कैसे मान लिए गये इस विषयमे उनके यहाँ लिखा है कि जब ये महाबलके भवमें थे तब इन्होंने इस कारणसे स्त्री नाम गोत्र कर्मकी रचना की थी अर्थात् स्त्री नाम गोत्र कर्मका बन्ध किया था। वह उद्धरण इस प्रकार है—

तते णं से महब्बले अणगारे इमेणं कारणेणं इत्थिणाम गोय कम्मं निव्वत्तेसु। अभिधान-राजेन्द्रकोष भाग० ६ महब्बल शब्द।

अब सवाल यह है कि जब महाबल अनगार थे अर्थात् ६वें ७वे गुणस्थानको प्राप्त थे ऐसी अवस्थामे उनके स्त्री नाम गोत्र कर्मका बन्ध कैसे हो सकता है, क्योकि यहाँ जिसे स्त्री नाम गोत्र कर्म कहा गया है वह औदारिक शरीर आगोपाग नामकर्मका एक भेद है और मनुष्यगतिमे औदारिक शरीर आगोपाग नाम कर्मका बन्ध दूसरे गुणस्थान तक ही होता है। ऐसा अवस्थामे श्वेताम्बरोके कर्मशास्त्रके अनुसार भी ६वे ७वे गुणस्थानवर्ती महाबलके औदारिक शरीर स्त्री आगोपाग नाम कर्मका बन्ध कैसे हो सकता है, अर्थात् नहीं हो सकता है।

यदि कहा जाय कि उस समय वे मिथ्यादृष्टि अनगार थे तो यह कहना भी ठीक नही है, क्योंकि जो तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध करने वाला होता है वह नियमसे कमसे कम सम्यग्दृष्टि तो होता ही है ऐसा कर्म शास्त्रका नियम है, जिसे दोनो परम्पराएँ स्वीकार करती है।

यदि कहा जाय कि जो मनुष्य नरकायुका बन्ध करनेके बाद सम्यग्दृष्टि होकर तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध करता है वह मरण कर यथायोग्य नरकमे जानेके पूर्व अन्तर्मुहूर्तके लिये अन्तमे मिथ्यादृष्टि हो जाता है तो यह कहना भी ठीक नही है, क्योंकि महाबलके जीवने नरकायुका बन्ध न करके देवायुका हो बन्ध किया था। इसलिये वे स्त्री नाम गोत्र कर्मका बन्ध करते समय मिथ्यादृष्टि हो गये थे यह कहना आगमके विरुद्ध है।

इसी प्रकार चूर्णिकार और मलयगिरिका यह कहना नही बनता कि सम्यक्दृष्टि जीव स्त्रियों और नपुंसकोंमे उत्पन्न नहो होते यथा—

मणुस्सेसु सम्मद्दिट्ठी इत्थीनपुंसकेसु न।
उव्वज्जइ त्ति-प्राचुर्यवचनम् कादाचित्काद् भवति॥
सि० चू० पृ० ४३।

तिर्यग-मनुष्येषु स्त्रीवेद-नपुसकवेदिषु,
मध्येऽविरतसम्यग्दृष्टेरुत्पादाभावात्।

एतच्च प्राचुर्यमाश्रित्योक्तम्, तेनमल्लिस्वामिन्यादिभिर्न व्यभिचारः ?—सप्त० टी० पृ २१७।

इस प्रकार इतने विचारसे यह तो निश्चित हो जाता है कि अनगार सम्यग्दृष्टि अवस्थामें महाबलके स्त्री नामगोत्र कर्मका बन्ध होना तो सम्भव नही है। फिर भी यदि ऐसा मान भी लिया जाय कि महाबलके अनगार हो जानेपर भी जब तक उनके सम्यग्दृष्टि होकर तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध नहीं हुआ था तब उसके पहले वे मिथ्यादृष्टि थे, इसलिये उनके दोनों बातें बन जाती हैं मिथ्यादृष्टि अवस्थामे स्त्री नाम गोत्र कर्मका बन्ध भी बन जाता है और बादमे सम्यग्दृष्टि होनेपर तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध भी बन जाता है। और ऐसा माननेमे किसी भी आगमसे बाधा भी नही आती।

सो ऐसा मानना भी ठीक नहो है, क्योंकि ऐसा माननेपर यद्यपि महाबलके जीवनमें दोनों बातें बन तो जाती हैं, पर उनका देवपर्यायसे आकर योनि-कुच सहित स्त्री (महिला) लिंगमें उत्पन्न होना नहीं बन सकता, क्योंकि जो सम्यग्दृष्टिजीव स्त्रीवेद सहित भाव स्त्री पर्यायमें उत्पन्न होनेकी योग्यता नहीं रखता वह योनि-कुचवाली महिला पर्यायमें उत्पन्न हो जाय यह कैसे बन सकता है। अर्थात् नहीं बन सकता है।

यदि कहा जाय कि वेद नोकषायकी अपेक्षा उस देवचर महाबलके जीवके वेद नोकषायकी अपेक्षा भले ही पुरुषवेद रहा आवे, पर उसके योनि-कुचवाली महिला पर्यायको लेकर उत्पन्न होनेमें कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि कर्मभूमिके जीवोंमें वेदवैषम्यके माननेमें आगमसे उसका समर्थन होता है। जैसा कि उनके यहाँ ही कर्म शास्त्रका वचन है—

पुरुषः पुरुषवेदं वेदयति, पुरुषः स्त्रीवेदं वेदयति, पुरुषः नपुंसकवेदं वेदयति। एवं स्त्री नपुंसकयोरपि वेदत्रयो मन्तव्यः। —अभिधान राजेन्द्रकोष महाबल शब्द।

जो भावसे पुरुषवेदी है वह द्रव्यसे पुरुष वेदका तो वेदन करता ही है, द्रव्यसे स्त्रीवेद और नपुंसकवेदका भी वेदन करता है। इसी प्रकार भावसे स्त्रीवेद और नपुंसकवेद वाले जीवोंके भी जान लेना चाहिये।

अतः देवचर महाबलका जीव यदि कर्मशास्त्रके नियमानुसार पुरुषवेद नोकषाय सहित पुरुष पर्यायमें उत्पन्न होता है तो भले ही हो जाओ, पर इससे उसका योनि-कुच सहित महिला पर्यायमें उत्पन्न होनेमे कर्म-शास्त्रके अनुसार कोई बाधा नहीं आती।

सो ऐसा कहना भी ठीक नहो है, क्योंकि इसे एक तो आपका (श्वेताम्बर परम्पराका) आगम ही स्वीकार नही करता। दूसरे कदाचित् ऐसा मान भी लिया जाय तो चूर्णिकारका 'कयाइ होज्ज इत्थिवेयगेसु वि' यह कहना निरर्थक हो जाता है।

अतः इन दोनों प्रकारकी आपत्तियोंको टालनेके लिये यही मानना उचित है कि देवचर महाबलका जीव जब तीर्थंकर नाम कर्म सहित मनुष्य पर्यायमे आये तब वे भाव और द्रव्य दोनों प्रकारसे पुरुषवेदको अनुभवनेवाले पुरुष ही थे। न वे स्त्री ही थे और न नपुंसक ही।

यदि कहो कि परभवसे आनेवाला सम्यग्दृष्टि देव पुरुषवेद सहित मनुष्य पर्यायमे ही उत्पन्न होता है, कर्मशास्त्रकी यह मान्यता निरपवाद नही है, अन्यथा देवचर महाबलके जीवको द्रव्यसे स्त्रीपर्यायमे नहीं उत्पन्न कराया गया होता।

सो इस मान्यताका दोनों सम्प्रदायोंके मूल कर्मशास्त्रसे तो समर्थन होता नही। मूल कर्मशास्त्रमें तो मनुष्य पर्यायकी अपेक्षा यही कहा गया है कि अविरत सम्यग्दृष्टिके औदारिक मिश्र काययोगमे स्त्रीवेद और नपुंसकवेद नही होता। चूर्णिकार और टीकाकारोंने अवश्य ही इसके विरुद्ध मार्ग निकालनेकी चेष्टा की है पर सवस्त्र मुक्तिके समर्थनमें स्त्रीमुक्तिकी सिद्धिके लिये ही की गई है। जबकि दोनों सम्प्रदायके ग्रन्थोंसे यह सिद्ध है कि कर्मभूमिकी महिलाओके अन्तके तीन संहनन ही होते है, आदिके तीन संहनन होते ही नही। ऐसी अवस्थामें देवचर महाबलके जीवका सम्यग्दर्शन और तीर्थंकर नामकर्म सहित महिलापर्यायमे उत्पन्न होना कैसे बन सकता है, अर्थात् नहीं बन सकता।

दोनों सम्प्रदायोंकी अपेक्षा कर्मभूमिकी महिलाके अन्तके तीन संहनन ही होते है इसका पोषक वह वचन इस प्रकार है—

अंतिमतियसंहडणस्सुदओ पुण कम्मभूमिमहिलाणं।
आदिणतियसंहणणं णत्थित्ति जिणेहि णिद्दिट्ठं॥

प्रवचनसारोद्धारमें कहा है—

अरहंत चक्कि केसव बल संभिन्नेय पुव्वा।
गणधर पुलाय आहारंग च न दु भविय महिलाणं ॥

—प्रवचनसारोद्धार ३ पत्र सं० ५।७।७-५।

अर्थात् महिलाओंको अरहंत पद, चक्री, नारायण, बलभद्र, सभिन्न श्रोता, चारणऋद्धि, पूर्वश्रुत, गणधर, पुलाक, आहारकके पद नहीं होते है। इस प्रमाणके आधारपर कहा जा सकता है कि जब महिलाओंके उपर्युक्त पद प्राप्त नही कर सकती तब तीर्थंकर पद प्राप्तिकी कल्पना कैसे की जा सकती है। यह कल्पना तो काफी बादकी प्रतीत होती है। यद्यपि श्वेताम्बर परम्परामें उपसर्ग, गर्भहरण, स्त्रीका तीर्थंकर होना आदि दस अच्छेरग (आश्चर्य) माने है, यथा—

दस अच्छेरगा पण्णत्ता-उवसग्ग गब्भहरणं, इत्थीतित्थं ……।

—(स्थानागसूत्र १०।१६०) पर

इस आधारसे भी यह सिद्ध होता है कि उपर्युक्त कल्पना बाद की है, क्योकि अंगोकी रचना श्वेताम्बरोंने बादमें की है। इसका विशेष खुलासा लेखमे किया ही है।

अब आगे समर्थ समाधान भाग २ में स्त्रीमुक्तिके समर्थनमें जो तर्क और प्रमाण उपस्थित किये गये है उनके आधारसे विचार करते है। उस पुस्तकके पृष्ठ ३२में लिखा है—

'भरत और ऐरावत क्षेत्र सम्बन्धी अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालके सुषम-सुषम, सुषम और सुषम-दुषम आरेके दो भागोंके और अकर्मभूमि क्षेत्रके सभी मनुष्य, मनुष्यिनियोके एक वज्र वृषभ नाराच संहनन ही जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिमें बतलाया है। इसी प्रकार जीवाभिगममें अन्तरद्वीपोंके विषयमें भी बतलाया है।'

सो जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति और जीवाभिगम सूत्रके उक्त कथनसे यदि उक्त पुस्तकका लेखक स्त्रीमुक्तिकी सिद्धि करना चाहे सो बनता नही, क्योंकि भरत और ऐरावत क्षेत्रके सुषम-सुषम, सुषम और सुषम-दुषम कालमे क्रमसे उत्तम भोगभूमि, मध्यम भोगभूमि और जघन्य भोगभूमि ही रहती है, इसलिये इससे यह कहाँ सिद्ध होता है कि उस कालके मनुष्य और मनुष्यिनियोके समान दुषम-सुषम, दुषम और दुषम-दुषम कालके मनुष्य और मनुष्यिनियोंमें भी केवल एक वज्रवृषभनाराच संहनन ही होता है। जब कि दुषम-सुषम कालमे नियमसे छहों संहनन होते है और मुक्तिगमन भी इसी कालमें सम्भव है। यहाँ मनुष्यिनियोंके जो छहों संहनन कहे है सो वे ऐसे द्रव्य पुरुषोंके ही कहे है जिनके स्त्रीवेद नोकषायका उदय पाया जाता है। जो द्रव्यसे मनुष्यिनियाँ होती है उनके मात्र अन्तके तीन संहनन ही होते हैं। इस विषयका पोषक प्रमाण हम पहले ही दे आये हैं। अत जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति और जीवाभिगम सूत्रसे तो ऐसी मनुष्यिनियोके मुक्तिगमन सिद्ध होता नही।

आगे उक्त पुस्तकके लेखकने जो यह लिखा है कि 'बिना सुने व सुनकर यावत् केवलज्ञान तक पैदा करनेवालोंका वर्णन भगवती श० ९ उ० ३१ में आया है। उसमेसे सुनकर केवली होनेवालोंमें स्त्रीवेद भी आया है। उन सभीमें संहनन तो एक प्रथम ही बताया है। अर्थात् तीनों वेदवाले चरमशरीरी वज्रऋषभनाराच संहननवाले ही होते हैं। अतः तीनों ही वेदोंमे यह संहनन कायम होता है।'

यहाँ उक्त पुस्तकके लेखकने चरमशरीरी तीनो वेद वालोंका जो वज्रऋषभनाराचसंहनन लिखा है सो इसका निषेध कौन करता है। दिगम्बर परम्परा भी इसे स्वीकार करती है। प्रश्न यह नही है कि तीनों वेदोंवाले मोक्ष जाते हैं या नहीं। प्रश्न यह है कि तीनो वेदवाले जो मोक्ष जाते है सो यह कथन किस अपेक्षासे बनता है? वेदनोकषायकी अपेक्षा या आंगोपाग नामकर्मकी अपेक्षा। वेदनोकषायकी अपेक्षा माननेमें तो कोई आपत्ति है नही। आपत्ति आगोपाग नाम कर्मकी उदयकी अपेक्षा माननेमें है। जिस महिलाके योग्य आंगोपाग

नामकर्म या नपुंसक (हिंजड़ा) के योग्य आंगोपांग नामकर्मका उदय है उस महिलाके योग्य और नपुंसक (हिजड़े) के उसके योग्य यदि आंगोपांग हैं सो वे तो मुक्तिगमनके योग्य होते नहीं, क्योंकि उन दोनोंके प्रथम संहनन न होकर अन्तमें तीन संहननोंमेसे कोई एक संहनन ही होता है ऐसा श्वेताम्बर आगम भी कहता है। अब रहा पुरुषके योग्य मेहन आदि आंगोपाग नामकर्मके उदयकी बात सो ऐसे मनुष्यके पुरुषवेद नोकषायके उदयसे पुरुषवेद भी बन जाता है और मेहन आदि आंगोपाग नामकर्मके उदयसे मेहन आदि पुरुष चिह्नोंके साथ प्रथम संहनन भी बन जाता है, अतः यदि ऐसा मनुष्य चरमशरीरी है तो वह उसी भवसे मुक्तिका अधिकारी होता है।

यहाँ हम यह बात अवश्य लिखना चाहेंगे कि यदि श्वेताम्बर परम्परा नपुंसकवेदसे मुक्तिगमन मानता है और उसका वह परम्परा हिजड़ा अर्थ करती है तो वह उसे दीक्षाके योग्य क्यों नहीं स्वीकार करती ? जैसे वह परम्परा महिलाको मुक्ति गमनके योग्य मानकर भी उसे दीक्षाके योग्य भी मानती है वैसे नपुंसक अर्थात् हिंजड़े-को उसे योग्य क्यों नहीं मानती। इससे तो यही सिद्ध होता है कि आगममें जो स्त्रीवेद और नपुंसकवेदसे मुक्तिगमनका उल्लेख मिलता है तो वह वेदनोकषायके उदयसे हुए स्त्रीवेद और नपुंसकवेदकी अपेक्षासे ही मिलता है, आगोपाग नामकर्मके उदयसे हुए द्रव्य स्त्रीवेद और द्रव्य नपुंसकवेदकी अपेक्षासे नही।

आगे आगममे जो यह लिखा है कि स्त्रीवेदमें आहारक काययोग और आहारकमिश्रकाययोग नहीं होते, क्योंकि आहारक समुद्घात चौदह पूर्वधारी जीवके ही होता है। परन्तु स्त्रीके चौदह पूर्वोका ज्ञान नही पाया जाता। क्यों नही पाया जाता इसके उत्तरमें उनका कहना है कि 'वे तुच्छ, गारवबहुल, चंचल इंद्रिय और बुद्धिसे दुर्बल होती हैं, वे बहुत अध्ययन नहीं कर सकती। अतः उनके दृष्टिवाद अंगका ज्ञान नहीं पाया जाता।' सप्ततिका प्रकरण, पृ० २४२।

सो इसका समाधान यह है कि जब महिला दृष्टिवाद अंग नहीं पढ़ सकती तो वह मुक्ति लाभ करनेके लिये पात्र कैसे हो जाती हैं, क्योंकि उसको पात्र होनेके लिये पूर्वविद् होना आवश्यक है। अतः यही मानना चाहिये कि भगवती सूत्रका उक्त कथन वेदनोकषायके उदयसे हुए भाववेदकी अपेक्षासे ही वहाँ किया गया है, द्रव्यवेदकी अपेक्षा नही।

आगे उक्त पुस्तकका लेखक लिखता है कि 'स्त्रीमुक्ति गमन तो सूत्रोंमें अनेक स्थानोंपर आया है। जैसे स्थानांग (मरुदेवी आदि) समवायांग, भगवती, ज्ञाता धर्मकथा और अन्तगड़ आदि सूत्रोंमे सभी तीर्थंकरोंके शासनमे स्त्रियाँ मोक्ष जाती है। किसीके शासनमें ज्यादा और किसीके शासनमें कम। मल्लिनाथ और मरुदेवी भरत और ऐरावत क्षेत्रके १९वें तीर्थंकर भी स्वयं स्त्री ही थे। अनुत्तर विमानमे जानेवाले जीवोंमें केवल वज्र ऋषभनाराच संहनन ही भगवती श० २४ उ० २४ में बताया है और पण्णवणा पद २३ उ० २ में स्त्री उत्कृष्ट (३३ सागरका) आयुबन्ध कर सकती है ऐसा बताया है। अतः स्त्रीमें वज्रऋषभनाराचसंहनन होना सिद्ध है। दूसरे कर्म ग्रन्थकी १८वीं गाथाकी टीका व अर्थमें प्रथम संहनन वाला हो क्षपकश्रेणी कर सकता है और प्रथमके तीन संहनन वाले उपशमश्रेणी कर सकते हैं ऐसा बताया है।'

यह उक्त पुस्तकके लेखकने द्रव्य स्त्रीके मुक्तिसिद्धिको लक्ष्यमे रखकर लिखा है। किन्तु इस पूरे कथनपर दृष्टिपात करनेसे द्रव्य स्त्रीका मुक्ति जाना सिद्ध नहीं होता। यथा—

(१) यहाँ जिन स्थानांग, समवायांग, भगवती आदिका उल्लेख कर द्रव्य स्त्रीका मुक्तिगमन लेखकने लिखा है। यहाँ ऐसा समझना चाहिए कि पूर्वोकी रचना अनादिसे सदा काल एकसी चली आ रही है, जब

कि ग्यारह अंगोंकी रचनामें प्रत्येक तीर्थंकरके कालमें किसी हद तक परिवर्तन होता आया है। और कर्म शास्त्रका अन्तर्भाव ज्ञानप्रवाद पूर्व और कर्मप्रवाद पूर्वमें होता है, इसलिए कर्मशास्त्रमे इस सम्बन्धमें जितना भी कथन किया गया है उससे अंगोंका कथन बाधित हो जाता है। अतः पुरानी वस्तुस्थिति यही समझनी चाहिये कि कर्मशास्त्रमें स्त्रीमुक्ति और नपुंसक मुक्तिका जो विधान किया गया है वह भाव वेदकी अपेक्षासे ही किया गया है, द्रव्यवेदकी अपेक्षासे नहीं, क्योंकि चौदह गुणस्थान और चौदह मार्गणाओंकी प्ररूपणा जीवोंके भेद-प्रभेदोंको दृष्टिमें रखकर ही की गई है, शरीरके आंगोपागोंको ध्यानमें रखकर नहीं। इसलिए वेद नोकषायोंके उदयसे हुए भाववेदोंको अर्थ आंगोपांग नामकर्मके उदयसे हुए द्रव्यवेद परक करना ठीक नहीं है ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

इस प्रकार अंगोंके आधारसे द्रव्यस्त्री और द्रव्य नपुंसकका मुक्ति गमन सिद्ध करना तो बनता नहीं। रही कर्मशास्त्रकी बात सो कर्मशास्त्रके टीकाकारोंने आंगोपाग नामकर्मके उदयसे हुए द्रव्यस्त्री और द्रव्य नपुंसकके मुक्तिगमनका विधान भले ही किया हो, पर मूल कर्मशास्त्रसे इसकी सिद्धि नहीं होती ऐसा यहाँ समझना चाहिये।

श्वेताम्बरोंकी ओरसे द्रव्यस्त्रीके मुक्तिगमनके समर्थनमें सवस्त्र मुक्तिको सिद्ध करते हुए एक बात यह कही जाती है कि जैसे दिगम्बर परम्पराके मुनि (श्रमण) के पीछी, कमण्डलु और शास्त्र रखना स्वीकार किया गया है वैसे ही श्वेताम्बर परम्परा यदि इन तीनोंके अतिरिक्त श्रमणके आगमके अनुसार वस्त्र-पात्र रखनेका और समर्थन करती है तो इससे श्रमणको स्वावलम्बी होना चाहिये ऐसा माननेमे कहाँ बाधा आती है ? यह श्वेताम्बर परम्पराका कथन है पर यहाँ देखना यह है कि जिस प्रकार दिगम्बर परम्पराके आगमने प्रयोजन विशेषको ध्यानमें रखकर श्रमणको पीछी, कमण्डलु और शास्त्र रखनेकी अनुमति दी है वैसे श्वेताम्बर परम्परा ने किस प्रयोजनको ध्यानमे रखकर वस्त्र-पात्र रखनेकी स्वीकृति दी यह उसे बतलाना चाहिये।

वह कहे कि लज्जाके निवारणके लिये श्रमण वस्त्र रखता है और आहार ग्रहण करनेके लिये वह पात्र रखता है। सो उसका यह कहना तो बनता नहीं, क्योंकि श्रमणको यदि स्त्री-पुरुषोंके मध्य नग्न रहनेमे लज्जा का अनुभव होता है तो वह श्रमण कहाँ रहा, वह तो गृहस्थ हो गया। इसी प्रकार यदि श्रमण अपने हाथोंको ही पात्र बनाकर आहार ग्रहण नहीं कर सकता, उसे इसके लिए पात्र रखना आवश्यक हो जाता है तो भी वह गृहस्थ हो जाता है। अतः ये दोनों पीछी, कमण्डलु और शास्त्रके समान संयम और ज्ञानाराधनाके अनिवार्य अंग नहीं है, अतः श्रमणके प्रयोजन विशेषको ध्यानमें रखकर इनका होना आवश्यक नहीं है ऐसा यहाँ समझना चाहिये।

इस प्रकार इस पूरे विवेचनसे यही सिद्ध होता है कि महिलाका उसी पर्यायसे मुक्ति लाभ करना उनके आगमसे सिद्ध नहीं होता। यद्यपि यहाँ हमने इस विषयको संक्षिप्त करके लिखा है, पर यदि समय मिला और पूरा साहित्य सामने रहा तो कभी विषयको विस्तारसे लिखेंगे यह हमारा विचार है।

●

पत्रकारिता एवं विविध





आजका प्रश्न

इस बीसवीं शताब्दीमें किसी भी देशमें जितनी अधिक उत्क्रांति दिखाई देती है संभव है इस उत्क्रांतिका इतना अधिक व्यापकरूप पहिले कभी भी नहीं हुआ होगा। यह ठीक है कि पहिले भी उत्क्रांतियाँ और संघर्ष होते थे परन्तु उन सबका उद्देश्य कुछ और ही था। एक काल ऐसा था जब एक जाति दूसरी जातिपर अपनी धार्मिक भावनाओंके प्रचार करनेके लिए अतिक्रमण करती थी। कहीं कहींपर इन अतिक्रमणोंका कारण साम्राज्यपिपासा भी रहा करती थी। यह सब होते हुए उनका परिणाम व्यापक और सुदूर प्रदेश तक नहीं होता था। परन्तु आजकी परिस्थिति कुछ निराली है। आजकी सभ्यताने हमें रेल, तार, हवाई जहाज आदि सब कुछ दिये, पहिलेकी दास्यपद्धतिमें कुछ परिवर्तन भी दिखाई देता है। प्रत्येक जाति और देश स्वतन्त्र होना चाहिए यह भावना भी जागृत हो उठी है। प्रयत्न भी उसी दिशामें चालू हैं। फिर भी जो देश जितना अधिक स्वतन्त्रताकी धडपड करता है वह उतना ही अधिक दास्यताके बन्धनोंमे बँधता जा रहा है। जो देश आज हमें स्वतन्त्र दिखाई देते है वे और कितने दिन अपनी स्वतंत्रताको स्थिर रख सकेंगे इसमें आज सन्देह उत्पन्न होने लगा है। वे बलाढ्य राष्ट्र जिनकी शक्तियाँ दूसरे देशोंके भवितव्यका भी निश्चय करती हैं यही खेल उनको और कबतक खेलनेके लिए मिल सकेगा इसमें आज सन्देह उत्पन्न होने लगा है। जहाँ देखो वहीं संशयका वातावरण फैला हुआ है। राज्यकारभारकी अन्तिम दुहेरी नीतिका सर्वत्र उपयोग होने लगा है। किसी भी राष्ट्रका दूसरे देशपर विश्वास नहीं रहा। एक दूसरे देशोंके परस्पर तह भी होते हैं परन्तु वे शान्तिके तह न होकर अपने चारों ओर फैले हुए दूषित वातावरणके विस्फोट मात्र हैं। परिणाम भी उनका जैसा होना चाहिये वह न होकर उलटा ही होता है। परस्पर विश्वास और प्रेमको उत्पन्न करनेके लिए यूरोपखंडमे राष्ट्रसंघ इस संस्थाका निर्माण हुआ। अमेरिकाको छोड़कर प्रायः सभी बलाढ्य देशोंने उसमें भाग लिया परंतु उससे रक्षाका प्रश्न हल न हो सका। एक दो जगह राष्ट्रसंघको सफलता नहीं मिली होगी यह बात नहीं परन्तु उसका कारण राष्ट्रसंघकी संघठित शक्ति नहीं कही जा सकती है। यदि सफलता राष्ट्रसंघकी संघठित शक्तिका परिणाम कहा जाये तो जापानके मंचूरिया और इटलीने अबसीनियाको अपने पोलादी पंजोंमे जकड़ते समय राष्ट्रसंघ कहाँ गया था। मजा तो यह है कि इटली अबसीनियोंके ऊपर ताण करते समय भी वह राष्ट्रसंघका सदस्य ही बना रहा। राष्ट्रसंघमे इटलीकी सदस्यता नष्ट करनेकी भी सामर्थ्य उत्पन्न न हो सकी। आज स्पेनमे अंतःकलह होते हुए भी जर्मनी और इटली स्पष्ट रूपसे स्पेन सहकारके विरुद्ध सहायता पहुँचा रहा है फिर भी उन्हे तटस्थ कमेटीमें स्थान प्राप्त है। इसीसे पता चल जाता है कि आजकी राजनीति क्या है। आज प्रत्येक देश जो इतनी अधिक उलझनोंमें पड़ता जा रहा है इसका क्या कारण है। क्या सभी देशोंको केवल एक साम्राज्यकी ही इच्छा है या इस साम्राज्यकी वृद्धिमें उनका अंतस्थ कोई दूसरा हेतु है। जिन्होंने आजकी परिस्थितिका सूक्ष्मतासे अध्ययन किया होगा उन्हें यह समझनेमें कुछ भी देरी नहीं लगेगी कि इस समय तो कमसे कम कोई भी राष्ट्र साम्राज्य लिप्साकी अपेक्षा अपने देशके आर्थिक प्रश्नको हल करनेके लिए अधिक चिंतातुर है। साम्राज्य वृद्धि केवल वैभवके लिए न होकर अपने गरजोंके दूर करनेका वह एक साधन होकर बैठा है। अमुक देश कमजोर है, उसके ऊपर परचक्रका भय है, वह अपने पैरों खड़े होनेकी सामर्थ्य नहीं रखता है यह सब भूलभुलैया है। सच पूछा जावे तो आजका झगड़ा पूँजीवाद

और लोकसत्ताका है अनेक देशोंकी सरकारोंने परिस्थिति ही ऐसी निर्माण कर रक्खी है जिससे उनका दूसरे अशक्त देशोंपर हमला किये बिना और उनको अपने काबूमे लाये बिना काम ही नहीं चलता है। यह स्थिति केवल प्रत्येक सरकारकी ही है यह बात नही किन्तु जितने भी पूँजीपति है वे भी उसी मार्गका अनुसरण कर रहे हैं।

उत्पादनशक्ति मजदूरोंके हाथमे होते हुए भी सम्पत्तिके भोक्ता मात्र ये पूँजीपति हैं। कभी-कभी ये अपने इस दोषके छिपानेके लिए दानकी बडी-बडी रकमे भी निकालते है, फिर भी उनसे बहुजन समाजका जितना अधिक फायदा होना चाहिए वह कभी भी सम्भव नही है। परन्तु इस पद्धतिसे भी गरीबोंके कैवारी आपको कितने पूँजीपति मिलेंगे इसका यदि सरासर विचार किया जावे तो सौमेसे एक इस श्रेणीमें आ सकेगा या नहीं इसमें भी संदेह है।

एकको रहनेके लिए सुन्दर मकान, आराम और सुख भोगनेके लिए दूसरी सामग्रियाँ, पहिननेके लिए रेशमी कपड़े और पर्यटनके लिए मोटर आदि साधन उपस्थित है तो दूसरेको अपना शरीर ढाँकनेके लिए वस्त्रका एक टुकडा और पेट भर अन्न भी नही मिलता है। परन्तु इन सब साधनोंके उत्पादक कौन यदि यह प्रश्न किया जावे तो यह कोई भी कह सकता है कि इनके कर्ता वे जिन्हे अपना जीवन रोते हुए बिता देना पड़ता है।

पूर्वऋषियोंने आमदनीका विभाग करते हुए उसका एक चतुर्थांश धर्ममे खर्च करनेके लिए कहा है। वह भी दिखाऊ न होकर जिससे अनन्त अनाथ प्राणियोंका उपकार हो ऐसे कामोंमे खर्च होना चाहिए। किसी भी रूपमें आज जो कुछ भी पूँजीपति धर्ममे खर्च कर रहे है वह अनेक मार्गोंसे संग्रह की हुई संपत्तिका शतांश भी नहीं होगा यह उनकी आमदनी और खर्चके अनुपातसे सहज ही समझमे आ सकता है।

बहुतमे तो ऐसे उदाहरण मिलेंगे कि धर्मादायके नामसे ये पूँजीपति गरीबोंसे एक एक पैसा इकट्ठा करते हैं। परन्तु वह उनके वैभव बढानेमे सहायक होता है। या उस संग्रहकी हुई द्रव्यका वे अपने नामसे विनियोग करते हैं। बहुतसे भाई भी इस द्रव्यके द्वारा ही तीर्थाटन आदि करके पुण्य संचय करना चाहते हैं। यह दोष सबके लिये लागू है यह बात नहीं परन्तु अधिकांश आपको ऐसे उदाहरण मिलेंगे। इधर पैसेकी कीमत बढ़ जानेके कारण गरीबोंको अपनी गरीबीका अधिक अनुभव होने लगा है। उन्हे अपनी प्रतिदिनकी साधारणसे साधारण आवश्यकताओंकी पूर्ति करना कठिन होता जाता है। जो माल गरीब तैयार करते थे। वह सब यंत्रोंसे तैयार होकर इन पूँजीपतियोके द्वारा विदेशोंसे लाकर बाजार भरे जाने लगे हैं। इसलिए आज गरीबोंको पूँजी-पतियोंसे टक्कर लेनेकी आवश्यकता प्रतीत होने लगी है। एक दिन वह था कि मजूर स्वयं सब तरहकी आवश्यकताओंके अनुसार कच्चे और पक्के मालके उत्पादक थे और पूँजीपति उसका विनियोग करनेवाले थे अतएव मजूर और श्रीमंतोमे एक दूसरेकी गजरके अनुसार कार्यभाग होता था। प्रत्येकको दूसरेके अस्तित्वकी आवश्यकता प्रतीत होती थी। परन्तु आजकी परिस्थितिमे श्रीमंत मजूरोंका वही काम यंत्रोंसे करने लगे। थोड़े मजूरोंसे अधिक काम होने लगा। अतएव स्वभावतः विरुद्ध दो शक्तियाँ निर्माण होने लगीं एक दूसरेको एक दूसरेसे टक्कर देनेकी आवश्यकता प्रतीत होने लगी। श्रीमतोका अर्थ शोषणका काम बराबर चालू है। इधर गरीब उसके लिये दिन दिन मुहताज होते जाते है। आज श्रीमंत मजूरोका महत्व भूल गये। उन्हें मजूरोंके स्थानमें पैसेका महत्व अधिक दिखने लगा। वे मनुष्यकी अपेक्षा पैसेकी अधिक कीमत करने लगे। प्रत्येक सरकार भी इन श्रीमंतके हाथकी कठपुतली होनेके कारण उसे भी उन्हींकी चिंता है। इस तरह यदि

विचार किया जावे तो यह बिल्कुल स्पष्ट है कि आजका प्रश्न दूसरा कुछ न होकर पेटका प्रश्न है।

बहुतसे भाई धर्म कारण और समाज सुधारको आगे करते हैं परन्तु जिन्होंने सूक्ष्मतासे विचार किया होगा उन्हें यह बात स्वीकार करनेमें थोडा भी संकोच न होगा कि ये दोनों प्रश्न भी उन विचारे दीन दुबलोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखते हैं। इन विषयोंका आजका वाद श्रीमंतोंसे या उनसे सम्बन्ध रखनेवाले कुछ शिक्षितोंसे ही सम्बन्ध रखता है। हमने धर्मकारण और समाजसुधारका कितना ही गहरा विचार क्यों न किया हो परन्तु इन प्रश्नोंका हल होना तब तक असंभव है जबतक कि बहुजन समाजका आर्थिक प्रश्न हल नहीं हो जाता है।

कुछ भाई समाज सुधारका प्रयत्न करते है परन्तु उन्हे इस बातका थोड़ा भी पता नही है कि जबतक उनका कार्यक्रम बहुजन समाजके आर्थिक प्रश्नको हल करनेवाला नही होगा तब तक हमें किसी भी कार्यक्रममे सफलता नही मिल सकती है। माना कि आपने एक श्रीमंतको विवाहमे फिजूल खर्चीसे बचा दिया। अब आप देखेंगे कि उस श्रीमतकी खर्चकी गरज कम हो गई। इससे उसके पास जो अधिक पूँजी शिल्लक रहेगी उससे उसे अर्थशोषणके लिये सहायता ही मिलेगी इससे बहुजन समाजका कौनसा फायदा हो सकेगा। इसके उत्तरमें एक मुद्दा उपस्थित किया जा सकता है कि श्रीमंतोंने इन सामाजिक कामोमें फिजूल खर्ची बन्द कर दी तो गरीबोंको भी किसी हदतक उन सामाजिक कामोंमे कम खर्च करना पड़ेगा गरीबोंका यही सबसे बड़ा फायदा है परन्तु इस समय प्रश्न तो पेटका है, जिन्हें भरपूर पेटके लिये ही नही मिलता है। उनको तुम्हारे इन सामाजिक सुधारोसे क्या फायदा। इन सुधारोंसे थोड़ा बहुत यदि फायदा होगा तो केवल मध्यमवर्गका ही होगा। परन्तु आजकी परिस्थितिको लक्ष्यमें रखकर हमें सबसे पहिले उन गरीबोका प्रश्न हल करना है जो आज दरदरके भिखारी बनते जा रहे हैं। दूसरे वर्तमानके कार्यक्रममे श्रीमंतोका वर्चस्व कमी नही होता है। आज जरूरत तो इस बातकी है कि सामाजिक रचना ही इस प्रकारकी हो जिसमे दूसरे प्रश्नोंको गौण करते हुए आर्थिक प्रश्नके हल करनेकी प्रधानता रक्खी जावे। हम यह जानते हैं कि बहुतसे भाई हमारे इस प्रश्नके उपस्थित करनेपर चिढेंगे। वे कुछका कुछ अर्थ भी करने लगेंगे परन्तु उन्हे यह ध्यानमे रखना चाहिए कि इस पेटके प्रश्नको आज हम यदि सुलझानेका प्रयत्न नही करेंगे तो वह दिन बहुत दूर नही है जब कि हमें उसके हल करनेके लिये मजबूर होना पडेगा। हमारे शिक्षालयोंमे भी इस प्रकारकी शिक्षा नही दी जाती है कि जो आर्थिक प्रश्नके हल करनेमे समर्थ हो। इसीलिये शिक्षालयोंसे शिक्षित निकल कर भी वे सुख पूर्वक अपना जीवन व्यतीत करनेके लिये और अपनी शिक्षाका स्वतःके लिये तथा बहुजम समाजके लिये उपयोग करनेके लिये असफल सिद्ध होते है। अशिक्षित गरीबोंका तो पूछना ही क्या है। इस तरह ऊपरके विवेचनसे यह भली भाँति सिद्ध हो जाता है कि आजका प्रश्न और सब प्रश्नोकी अपेक्षा पेटका है। आज संपूर्ण समाजको एकचित्त होकर इसीके हल करनेके लिये ही प्रयत्न करना चाहिये।



श्रीवीर स्वामीका जन्म और उनके कार्य

एक समय वह था जब ब्राह्मण धर्मका बोलबाला था और राजे लोग उनके हाथकी कठपुतली थे। यह बात कुछ निरी गप्प नहीं है किन्तु इस बातकी पुष्टि उनके शास्त्रों और पुराणोंसे ही होती है। देखिये शूद्रोंके लिये मनुस्मृतिके आठवें अध्यायमें क्या लिखा है।

एकजातिर्द्विजातीस्तु वाचा दारुणया क्षिपन्।
जिव्हायाः प्राप्नुयाच्छेदं जगन्यप्रभवो हि सः ॥२७०॥
नामजातिग्रहं त्वेषामभिद्रोहेण कुर्वंतः।
निक्षेप्योऽयोमयः शंकुर्ज्वलन्नास्ये दशांगुलः ॥२७१॥
धर्मोपदेशं दर्पेण विप्राणामस्य कुर्वतः।
तप्तमासचेयेत्तैलं वक्त्रे श्रोत्रे च पार्थिवः ॥२७२॥

अर्थ—यदि शूद्र ब्राह्मणोंका कठोर वचनोंके द्वारा तिरस्कार करे तो उसकी जिह्वा काट लेनी चाहिये क्योंकि वह शूद्र है। उसी प्रकार यदि वह ईर्षासे ब्राह्मणोंके नामादिका अनुकरण करे तो तपाई हुई दश अंगुल लम्बी सलाई उसके मुखमें घुसेड देना चाहिए इतना ही क्यों यदि वह अभिमानसे ब्राह्मणोको धर्मका उपदेश करे तो उसके मुख और कानोंमें तपाया हुआ तैल डालना चाहिये। पितरोंके सम्बन्धमे मनुस्मृतिके तीसरे अध्यायमे लिखा है।

तिलैर्व्रीहियैर्वर्माषैरद्भिर्मूलफलेन वा
दत्तेन मासं तृप्यंति विधिवत्परो नृणाम् ॥२६७॥

भावार्थ—तिल आदिके देनेसे पितर लोक एक महीना संतुष्ट रहते हैं और मछलीके मांसका भोजन करानेसे दो महीना, हरिणके मांससे तीन महीना, भेड़के माससे चार महीना, पक्षीके माससे पाँच महीना, बकराके मांससे छह महीना, कबूतरके मांससे सात महीना, विशेष हरिणके मांससे आठ महीना, रौरवके मांससे नव महीना, भैसा और शूअरके मांससे दश महीना, खरगोश और कछवाके माससे ग्यारह महीना, दूध आदि पक्वान्नसे बारह महीना तृप्त रहते हैं यदि उन्हे सर्वदाके लिये तृप्त करना हैं तो लालरंगके मेढेका भोजन कराना चाहिये उसी प्रकार मधु आदि भी देना चाहिये। व्यभिचारके सम्बन्धमे दण्डविधान करते हुये मनुस्मृतिकार आठवें अध्यायमें लिखते हैं।

मौण्ड्यं प्राणांतिको दंडो ब्राह्मणस्य विधीयते।
इतरेषां तु वर्णानां दंडःप्राणांतिको भवेत् ॥३७९॥
शूद्रो गुप्तमगुप्तं वा द्वैजातं वर्णमावसन्।
अगुप्तमंगसर्वस्वैगुप्तं सर्वेण हीयते ॥३७४॥
अगुप्ते क्षत्रियावैश्ये शूद्रां वा ब्राह्मणो व्रजन्।
शतानि पश्चादण्डयःस्यात्सहस्रं त्वन्त्यजस्त्रियम् ॥

भावर्थ—यदि ब्राह्मणने व्यभिचार किया हो तो उसके शिरका मुंडन ही उसका प्रायश्चित है और यदि क्षत्रिय या वैश्य तथा शूद्रने व्यभिचार किया हो तो इसका प्रायश्चित इन्हे प्राणांत देना चाहिये। शूद्रने

यदि द्विजकी स्त्रीके साथ बुरा कर्म किया हो तो लिंगच्छेद, संपत्तिका हरण अथवा प्राणांत शासन करना चाहिये परन्तु यही काम ब्राह्मणने क्षत्रिय अथवा वैश्यस्त्रीके साथ किया हो तो सौ और शूद्रस्त्रीके साथ किया हो तो एक हजार रुपया दंड करके उसे छोड देना चाहिये। भोजनके सम्बन्धमें देखिये।

अमृतं ब्राह्मणस्यान्नं क्षत्रियान्नं पयःस्मृतम्।
वैश्यस्य चान्नमेवान्नं शूद्रान्नं रुधिरं स्मृतम्।

लघु अत्रिस्मृति ५ अ.

अर्थ—ब्राह्मणोंका भोजन अमृत, क्षत्रियोंका भोजन दूध, वैश्योंका भोजन सामान्य अन्न और शूद्रोंका भोजन रुधिर है। महंतताके सम्बन्धमें देखिये।

दैवाधीनं जगत्सर्वं मन्त्राधीनं हि दैवतम्।
ते मन्त्रा ब्राह्मणाधीना ब्राह्मणो मम दैवतम्। भाग०

अर्थ—सम्पूर्ण संसार दैवके आधीन है, दैव मंत्रोंके आधीन है और मंत्र ब्राह्मणोंके आधीन है अतएव ब्राह्मण ही मेरा देवता है। इत्यादि कहाँ तक लिखा जावे। सिंधुके पाठकोंको स्वतंत्र ही विषय पर रसास्वाद करनेको मिलेगा। यहाँ पर भगवान् महावीर स्वामीके समयकी परिस्थितिका दिग्दर्शन करानेके लिये नमक मिर्च न मिलाकर सरल और सीधे शब्दोंमें उन्हींके ग्रन्थोंका आधार लेकर लिख दिया गया है। इससे बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् महावीर स्वामीके समय धर्मके नामपर क्या हो रहा था। भगवान् महावीर स्वामीको किन किन परिस्थितियोंसे झगडना पडा। यद्यपि ब्राह्मण धर्मसे टक्कर लेनेके लिये भगवान् महावीरको बौद्धोंकी थोडी बहुत सहायता अवश्य मिली होगी। परन्तु बौद्धोंके तात्त्विक विचार शिथिल और एकाकी होनेके कारण भगवान् महावीरको उनके विरोधमे भी खड़ा होना पडा। इस तरह भगवान् महावीरके सामने सामाजिक सुधार और सत्य तथा वैज्ञानिक ढंगसे धार्मिक मीमामायें ये दो कार्य थे।

उन्हें ब्राह्मण धर्मके विरुद्ध यह घोषणा करनी पड़ी कि समाज व्यवस्थाके लिए चार वर्ण होते हुये भी उनका सम्बन्ध गुणसे है कर्मसे नही। समाज व्यवस्थाका भंग करनेवाले समान दण्डके भागी है। इसमे वर्ण भेदका कुछ भी सम्बन्ध नही। धर्म पालन करनेका सबको अधिकार है। तर्पण करनेसे पितर संतुष्ट नही होते हैं। यह ब्राह्मणोंका केवल अपनी उपजीविकाका साधन है। यज्ञमे पशुओंके होम करनेसे न तो वे पशु ही स्वर्ग जाते है और न करने करानेवाले। यह केवल ब्राह्मणी लीला है। अश्वमेध यज्ञमें यज्ञ करानेवालेकी स्त्रीको घोड़ाके साथ अनुचित सम्बन्ध कराना तो इस धर्मकी कालिमाको और ही स्पष्ट प्रगट कर देता है। गोरखपुरके राजाने यज्ञमे अपनी रानीको यह नीच कर्म करानेके लिए लगाया था जिससे वह बिचारी उस वेदनाको सहन न कर सकनेके कारण वहींपर तड़प-तड़प करके मर गई थी। यज्ञमें घोड़ेके साथ अनुचित सम्बन्धका यजुर्वेद महीधर भाष्यके तेईसवें अध्यायमें स्पष्ट रूपसे वर्णन आया है। 'अश्वस्यातं हि शिश्नंतु पत्नीग्राह्यं प्रकीर्तितम्' सत्यार्थप्रकाश, मराठी भाषात पृ० ४७३।

इसी प्रकार और बहुतसी रूढ़ियाँ धर्मके नामसे ब्राह्मणोंने प्रचलित कर रक्खी थीं उनके करने करानेमे ही वे अपनी समस्त शक्तिका उपयोग करते थे। भगवान् महावीरसे यह सामाजिक अत्याचार सहन नहीं हुआ उन्हें स्पष्ट रूपसे इस अन्यायके विरुद्ध अपनी आत्मीक शक्तिका उपयोग करना पड़ा। लोग तो पहिलेसे ही त्रस्त थे। उन्हे योग्य ऐसे एक नेताकी आवश्यकता थी ही अतएव भगवान् महावीरके इस काममे प्रवृत्त होनेपर जनताने अति शीघ्र उनके उपदेशका अनुकरण किया। जहाँ तहाँ यज्ञ संस्थाएँ विध्वंसकी जाने लगीं। धर्मके

विषयमें सबको समान अधिकार दिये गये। शूद्रोंको भी धर्म श्रवण करके आत्मकल्याण करनेका अधिकार दिया गया। स्त्रियाँ भी पुरुषोंके समान अपनी योग्यताके अनुसार धर्मके पालन करनेकी अधिकारिणी बनाई गयीं। दण्डविधानकी अतिरेकताका स्पष्ट रूपसे निषेध किया गया तथा सबके साथ समान व्यवहार करनेकी आयोजना की गई। ब्राह्मणोंके द्वारा स्वर्ग और मोक्ष प्राप्तिके कृत्रिम मार्गोंका निषेध करके उसके स्थानमें सच्चे मोक्ष-मार्गमें जनताको प्रोत्साहित किया गया। बुद्धदेव अपने जीवनकालमें कट्टर सुधारणाप्रिय होते हुए भी स्वर्ग और मोक्षके विषयमें वे मुग्ध थे। या तो वे स्वयं ही इस विषयका निर्णय नहीं कर सके होंगे अथवा इधर उनका ध्यान ही नहीं गया होगा। परन्तु भगवान् महावीरकी यह स्थिति नहीं थी। वे बाह्य सुधारणाके साथ आभ्यंतर सुधारणाके कट्टर पुरस्कर्ता थे इतना ही क्यों अपने कार्यकालके पहिले उन्होंने स्वयं खडतर तपश्चर्या और मनोनिग्रहके द्वारा आत्मशुद्धि करली थी। वे पूर्णत्वावस्थाको प्राप्त होकर विकारीभावोंके परे थे। अब उनके सामने एकही कार्य था और वह यह कि इन गरीब प्राणियोंका उद्धार केवल बाह्य परिस्थितिके बदलनेसे न होकर उनके भावोंमें भी परिवर्तन करनेसे होगा। उनके जीवनचरित्रके बाँच लेनेमें इन बातोंका बिल्कुल स्पष्ट खुलासा हो जाता है।

उनके अनुयायी हम और आपने उनकी जयंतीका उत्सव किया ही है। यह आनन्दकी बात है। इससे यह पता लग जाता है कि उनके कार्य मान्य है, उनमें हमारी श्रद्धा है। परन्तु आजकी परिस्थिति हमें बाध्य करती है कि हम इससे कुछ आगे बढ़कर कार्य करें इसके लिये हमें परस्परके विद्राहको तो भूलना ही होगा साथ ही हममें जो अनुचित प्रवृत्तियाँ प्रवृत्त हो गई हैं उनको भी निकालकर दूर करना होगा। हमारे मन्दिर जैनमात्रोंके लिये खुले नहीं है! हम उसमें दसा-बीसाका प्रश्न उपस्थित करते हैं। दण्डविधानका यह दुरुपयोग और कब तक चालू रहेगा किसे मालूम। खुशीकी बात है कि दक्षिण प्रांतमें यह दोष देखनेको नहीं मिलता है। यहाँपर सभी जैनीदेव दर्शन आनन्दसे कर सकते है। अष्ट द्रव्यसे पूजा करनेका अधिकार भी सबको है। इतना ही क्यों बहुतसे अजैन भाई भी आकर देव दर्शन करते हैं। परन्तु उन्हें किसी प्रकारकी रुकावट नहीं की जाती है। बहुतसे स्थानोंपर कुछ भाइयोंको देवदर्शन करनेकी आज्ञा दे दी जाती हैं इससे यह तो स्पष्ट सिद्ध होता है कि आज्ञाका न देना शास्त्र-विरुद्ध है। तभी तो आज्ञा देनेवाले भाइयोंको शास्त्रीय मार्गका अनुकरण करनेके लिये बाध्य होना पड़ता है। जो पाप होता है वह विहित कोटिमें कभी भी नहीं आ सकता है, परन्तु यहाँ यह बात नहीं है अतएव इसीसे इस बातका निश्चय हो जाता है कि उत्तर प्रान्तके जैनियोंने इस अनुचित मार्गका स्वीकार कुछ ही समयसे किया है। आशा है इस दोषको उत्तर प्रांतीय भाई निकालनेका प्रयत्न करेंगे। और भी बहुतसी बातें लिखी जा सकती हैं जो धर्म न होकर धर्मके नामपर जिनका प्रचार चालू है। हम अपने भाइयोंसे प्रार्थना करते हैं कि आगेके वर्ष वीर जयंती आनेतक वे उनको निकालकर विरोचित कार्योंसे वीरजयन्तीका उत्सव मनावेंगे।

●

धवलादि ग्रन्थोंके उद्धारका सत्प्रयत्न और उसमें बाधायें

जबकि इस बीसवी शताब्दीमें प्रत्येक समाज और जातिका लक्ष्य अपने धर्म और समाजके प्राचीन वैभवकी समग्र कथाको बहुजन समाजके समक्ष रखकर उसको प्रकाशमे लानेका है ऐसी हालतमें हमारी जैन समाजका इधर संगठित प्रयत्नका न होना यह दुर्भाग्यकी बात नही तो और क्या है ? फिर भी कुछ धर्मात्मा इस ओर यदि प्रयत्न भी करते हैं तो उनको समाज और पंचायतोंकी जितनी सहायता मिलनी चाहिये वह न मिलकर बाधायें ही उत्पन्न की जाती हैं। अभी हाल श्रीमान् धर्मवीर, दानवीर, जिनवाणी भूषण सेठ रावजी सखाराम दोशी सोलापुर वालोंके साथ मूलविद्रीकी पंचायत और भट्टारकने इस सम्बन्धमें जो अयोग्य व्यवहार किया वह निन्दाके योग्य ही है।

समाजको यह विदित ही है कि मूलविद्रीके भंडारमे धवलादि ग्रन्थ विद्यमान है। मूलविद्रीकी पंचायत उनकी मालिक न होकर रक्षक है परन्तु आज वही पंचायत उनकी रक्षक न होकर भक्षक बन रही है। वहाँके पंच और भट्टारकने समस्त जैन समाजके प्रतिनिधि स्वरूप श्रीमान् उक्त सेठजी सा० के साथ जो व्यवहार किया है इससे यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है। धर्मस्थलके श्रीमान् सेठ मजय्या हेगडेका व्यवहार तो और भी चमत्कारपूर्ण दिखाई दिया। आप जैसे शिक्षित प्रतिष्ठित पुरुषने तो इस कामका मुखियापन ग्रहण करके धवलादि ग्रन्थोंके प्रकाशमे लानेका श्रेय संपादन करना चाहिये था। परन्तु दूसरे लोगोंका बहाना लेकर आप जैसे प्रसिद्ध पुरुष श्रीमान् सेठजी सा०के साथ धर्मका सौदा करने लगे इसे क्या कहा जावे। भट्टारकका व्यवहार तो और भी निन्दाके योग्य है। जिसका एक बार भी श्री सेठ रावजी सखाराम दोशीके साथ परिचय हुआ होगा वह भी उनकी नम्रता निगर्वता और महानुभूति आदि गुणोको देखकर उनका—श्रद्धालु बने बिना नहीं रहेगा। परन्तु मूलविद्रीके भट्टारकको अपने भोजनके आगे सेठजी सा०से महत्वपूर्ण विषयमें बातचीत करनेका भी अवसर प्राप्त न हो सका यह सेठजी सा० का अपमान न होकर सारी जैन समाजका अपमान समझना चाहिये। यह निश्चित है कि मूलविद्रीकी पंचायत और भट्टारकने आज कितनी ही अरेरावीका व्यवहार किया तो भी उसका आज कोई भी समर्थक न होकर निन्दा ही करेगा। हम तो आशा करते हैं कि अब भी समय है कि मूलविद्रीकी पंचायत, श्रीमान् सेठ मज्जय्या हेगड़े और भट्टारकको सारासारका विचार करके धवलादि ग्रन्थोंके प्रकाशमें लानेका श्रेय संपादन करना चाहिये। धर्मात्मा पुरुष यदि धर्मका सौदा करने लगे तो फिर धर्मको आश्रय मिलना ही कठिन हो जावेगा।

●

भगवान् महावीर स्वामीकी जयंती मनाइये

भगवान् महावीरके कार्य अपूर्व थे यह उनके लोकोत्तर चारित्रके बांच लेनेसे ही मालूम पड़ जाता है। वे संसारके लिये एक अपूर्व और सर्वश्रेष्ठ देनगी थे यह उस समयके महापुरुषोंने भी कबूल किया है। उनका जीवन सामाजिक और धार्मिक उत्क्रांतिसे भरा हुआ था, उन्होंने धर्म और समाजका पाया तर्कशुद्ध और बहुजन समाजके लिये कल्याणकारी नियमोंके आधारसे किया था। इस अवसर्पिणीकालमे भगवान् महावीर स्वामीके समान २३ और महापुरुष हो गये हैं। उनके और इनके धार्मिक और सामाजिक नियमोंमें यद्यपि अन्तर नहीं है फिर भी वे एक दूसरेके अनुकर्ता न होकर उन नियमों और सिद्धान्तोंके पुरस्कर्ता थे। उनके जीवनमें एक विशेषता थी जो दूसरेके जीवनमे मिलना संभव नही। उनका बताया हुआ मार्ग इस पर्यायमें तो सुखदाई है ही किन्तु उससे पारलौकिक और अविनाशिक सुखकी भी प्राप्ति होती है। ऐसे लोकोत्तर महापुरुषका किसी निमित्तसे स्मरण करना हमारे जीवनमे स्फूर्ति और पवित्रता उत्पन्न करनेवाला है। आजसे २५३५ वर्ष पहिले मिती चैत्र शुक्ला १३ के दिन भगवान् महावीरने जनकल्याण और आत्मकल्याणकी भावना लेकर इस भूमंडलको सुशोभित किया था। ऐसे पुनीत अवसर पर उस दिव्यमूर्तिका स्मरण करना संसारके प्रत्येक व्यक्तिका काम है। परन्तु दुःख है कि उनकी इस पुण्यतिथिका महत्व उनके उपदेशके अनुयायी जैन लोग भी नही समझते है। यद्यपि यह ठीक है कि भगवान् महावीर स्वामीका उपदेश किसी संप्रदाय विशेषकी पुष्टिके लिये नही हुआ और आज भी उनके उपदेशका वह पवित्र उद्देश्य अनविच्छिन्नरूपसे विद्यमान है। फिर भी वह संसार अनेक धर्मोंकी बजबजपुरी बन गया है इसलिये साम्प्रदायिकता उत्पन्न होना स्वाभाविक बात है। लोग धर्मके महत्व-को भूलकर सम्प्रदायके पीछे दौड़ने लगे है। उन कट्टर धर्मात्माओंमे भी साम्प्रदायिकताका विकारी विष आपको देखनेके लिये मिलेगा। जिससे धर्मका जनकल्याण यह वाणी प्राय लुप्त होता जाता है। भगवान् महावीर जैन लोकोपकारी महापुरुषके नाम लेनेमे भी दूसरे लोग अपना अहित समझते है। यदि जैनी भाई अपने स्वार्थत्याग और धर्मकी सच्ची भावनासे प्रेरित होकर साम्प्रदायिकतासे परे भगवान् महावीरका उपदेश संसारके कोने-कोने तक पहुँचा सके तो यह सच्चे धर्मको विजय होगी। इसके लिये जैनी भाइयोको क्या करना चाहिये इसके लिये नीचे कुछ मार्ग सुझाये जाते हैं।

१. महावीर जयंतीके दिन व्यापार सम्बन्धी काम बन्द करके सार्वजनिक सभाये करनी चाहिये।

२. जहां तक सम्भव हो ऐसी सभाओंके सभापति अजैन विद्वानोंको बनाना चाहिये।

३. जो अजैन विद्वान् सभापतिका पद स्वीकार करनेके लिये स्वीकारता दे दे उनके पास जैन धर्मके मूल तत्वोंको परिचय करनेवाली पुस्तकें पहिले ही भेज देनी चाहिये जहांपर ऐसी पुस्तकें उपलब्ध न हों वहाँ पर अहिंसा कर्म सिद्धांत और स्याद्वाद इत्यादि विषयोंका संक्षिप्तसार किसी योग्य विद्वानसे लिखवा कर उनके पास भेज देना चाहिये जिससे उक्त विद्वानोंको जैन सिद्धान्तके सम्बन्धमें मनन करनेके लिये मदद मिलेगी।

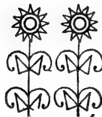
४. महावीर जयंतीके निमित्तमे सार्वजनिक छुट्टीका प्रयत्न भी ऐसी सभाओंके द्वारा करना चाहिये तथा सुसंगठित मध्यवर्ती सभाओंके द्वारा इसकी सूचना सरकारको देनेकी व्यवस्था करनी चाहिये। ऐसे समाचार धार्मिक और सार्वजनिक पत्रोंमें अवश्य प्रकाशित करना चाहिये।

५. आजकल जैन समाजमें वर्तमान पत्र बाचनेकी बहुत ही कम रुचि देखी जाती है। परन्तु समाजको यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि आजके जमानेकी सम्पूर्ण हालचाल इन वर्तमान पत्रोंके द्वारा ही विदित होती है। जैनसमाज उनका ग्राहक होकर वर्तमान पत्रोंके प्रचारमें जितनी अधिक मदद करेगी, कलाकी दृष्टिसे वे उतने ही आगे आ सकेंगे। अतएव समाजका काम है कि उसे ऐसी सभाओंके द्वारा जैनपत्रोंके प्रचारका काम अपने हाथमें अवश्य लेना चाहिये। जैनसमाजमें उत्तम लेखक, कवि और पत्रोंके अभावका दोष पत्रसंचालकोंकी अपेक्षा समाजके ऊपर अधिक है। समाजका पैसा जितना अधिक दूसरे कामोंमें खर्च होता है उतना अधिक विधेय कामोंमें खर्च नहो होता है। क्या समाज इन वीरजयंतीके अवसरपर वीर भगवान्के संपदेशको संसारमें प्रसृत करनेवाले इन पत्रोंके प्रसारकी कोई ठोस योजनाका विचार करेगी।

६. वीर भगवान्का उपदेश संगठन और सहिष्णुताका पाठ पढ़ाता है। समाजने वीर भगवान्के दिव्य उपदेशका स्मरण करके आपसी वैमनस्य भुलानेका ऐसी सभाओं द्वारा अवश्य ही प्रयत्न करना चाहिये।

यही वे मार्ग है जिनके द्वारा हम वीर भगवान्के सच्चे अनुयायी होनेका हक अपनेमें प्रत्यापित करके उनकी जयंतीके सच्चे माननेवाले हो सकते हैं।





फलटणके बीसा हुंबड पंचोंके नाम पत्र

श्री धर्मपरायण, वात्सल्यगुणधारक सर्वोपमालायक सकल सुखदायक बीसा हुंबड पंच फलटण सेठ हीरालाल मोतीलाल गांधीकी सेवामें पं० फूलचंद दरयावलाल शास्त्रीका सविनय जयजिनेंद्र।

सत्य और अहिंसा ये दोनों जैन धर्मके प्राण है, इस तत्वको सामने रखकर जब विचार किया जाता है तो यह लिखनेमें थोडा भी संकोच नही होता है कि जैन समाज अपने इन प्राणोंको खो बैठा है। किसी भी गांवको लीजिये वहांपर आपका विद्वेष और परस्परके कलहकी भावना ही जागृत दिखाई देगी। ऐसा क्यों होता है इसके कारणोंका योग्य विचार किया जावे तो कितनी ही ऐसी बातें बताई जा सकती हैं। जिनका स्वरूप अत्यंत विकृत है। यहांपर मेरा उन सब कारणोंके दिग्दर्शन करानेका प्रयोजन नही है। आपकी सेवामें जिसलिये यह पत्र लिख रहा हूँ विश्वास है आप अब भी इसका सदुपयोग करेंगे।

मैं कोई उपदेष्टा अथवा धर्माधिकारी नही हूँ किन्तु आपका एक तुच्छ सेवक हूँ बस इसी भावनाको लेकर मैं आपके हृदयका परिवर्तन करना चाहता हूँ।

अपनी समाजने अनन्त दोष किये जिनके परिणामस्वरूप जैन समाज सतत नीच नीचे जा रही है। क्या इस लोकशाहीके जमानेमे भी वह अपनी इस भूलकी ओर दुर्लक्ष्य करके अपने निंद्य पूर्व पदपर ही खड़ी रहेगी।

समाज कल्याणके लिये नियम या बन्धन होते है, उनके लिये समाज नही होती है, यह बात अब भी यदि समाजके नेता समझ लें तो अब भी शांतिका साम्राज्य दूर नही है, ऐसी मेरी धारणा है।

जिनको अधर्मी समझा जाता है उन समाजोंके कुछ उदाहरण यदि अपने सामने रक्खे जावे तो अब भी आँखें खुल सकती है। ऐसे उदाहरणोंमे पारसी बोहरा आदि जातियोंके सगठनोंके नियम समझनेके लिये पर्याप्त है।

इन सब बातोंसे मै आपके सामने यही निवेदन करना चाहता हूँ कि आप स्वयं अन्तरदृष्टि होकर विचार करे तो आपको अपनी अक्षम्य भूल उसी समय समझमे आ जावेगी। हो सकता है कि आप मेरे इस निवेदनको तुच्छताकी नजरसे देखेंगे परन्तु विश्वास रखिये कि इससे आपको ही और अधिक अड़चनमे पड़ना होगा। संगठन रखिये परन्तु संगठनका दुरुपयोग आपकी शक्तिको नष्ट भ्रष्ट कर रहा है इस ओर तो आपकी दृष्टि नहीं जाती है।

मेरी समझसे तो आपकी समाजमे इतना साहस होना चाहिये कि जिन नियमोंके आग्रहसे समाजमे फूटका विष बोया जाता हो उन नियमोंको ही आप उदार अंतःकरणसे तिलाजलि देकर सबके सब संगठित होकर एक भूमिका पर खड़े हो जावें।

और कितने दिन आप इस तरह अपनी समाजमे यह विरोधाग्नि देखते रहेंगे। एकबार आप अपने शासनके दुरुपयोगको भूलनेका प्रयत्न कीजिये कि आपको आपकी समाजके संगठनके अनन्त मार्ग दिखाई देंगे।

फलटन यह बीसा हुंबड समाजका केन्द्र समझा जाता है ऐसा होते हुये भी यदि आप अपने इस महत्वके स्थानको नहीं समझते हैं तो यह आपकी समाजका दुर्दैव ही कहना चाहिये ।

आपकी समाजमें फूटके कारण हो सकने हैं परन्तु वे इतने महत्वके नहीं कि जिनके पीछे आपको सर्वदाके लिये चिकट कर रहना ही चाहिये । यदि आप संख्या और बलमें अधिक हैं तो केवल इसको ही अपनी विजयका कारण बनाना बड़ी भारी भूल है ऐसा मेरा विश्वास है । अपने विरोधीकी उचित मार्गका विचार करके शांतिके मार्गका अन्वेषण करना आपका ही काम है । इसका उत्तरदायित्व विरोधी पक्षपर न होकर आपकी समाज पर ही है ।

मैं उत्सुकतापूर्वक उत्तरकी प्रतीक्षामें हूँ कि आप मेरे इस पत्रका किस दृष्टिसे स्वागत करते हैं । यदि आप पिछली सब बातोंको भूलकर एक सूत्रीपनाके मार्गपर चलते हुए दिखाई देंगे तो मेरा मस्तक विनयसे आपकी समाजके चरणोंमें नम्र हुयें बिना नही रहेगा ।

(२)

श्री वात्सल्य गुणधारक धर्मपरायण सर्वोपमालायक श्रेष्ठिगुणविभूषित श्रेष्ठिवर्य बीसाहुमड पंच शेठ गांधी रामचंद लक्ष्मीचंद तर्फे वहिवाटदार हीराचंद गांधी यांसी नातेपुतेहून पं० फूलचंद दरयावल शास्त्री यांचा सविनय जुहार

आपका पत्र मिला उसको बाचकर चातकको जैसे वर्षातके पानीसे और मयूरको मेघगर्जनासे आनंद होता है इतना आनंद हुआ । आपने मेरे लिये अनेक विशेषण लगा गौरवान्वित किया है इस सम्बन्धमें मुझे केवल इतना ही निवेदन करना है कि मैं आपका और आपकी समाजका एक तुच्छ सेवक हूँ । सेवाभावके सिवाय और मेरे पास कुछ भी गुण नही है ।

आपने पिछली सब बातोंके बिसरनेके बावत लिखा यह जानकर मुझे और भी अधिक आनन्द हुआ । इससे आपकी समाज अपने पूर्वपदपर आरही है ऐसा मुझे विश्वास होने लगा है । फिर भी एक नम्र प्रार्थना और है । वह यह कि इतना सब कुछ होते हुए भी एकी क्यों नही होती है इसके कारणका भी आप और आपकी समाज पता लगा लेगी । समाजरूपी शरीरके किसी एक अंगमें दोष उत्पन्न हो जानेपर विचारपूर्वक उसका परिहार करना विवेकियोंका कर्तव्य है । हो सके तो इस विषयमें आप पत्र द्वारा खुलासा करेंगे ।

मेरे आने बावत आपने लिखा सो ठीक है दहिगांवका रथोत्सव हो जानेपर मैं अपने आनेकी सूचना दूँगा । परन्तु इसके साथ थोडी बहुत मेरी विनयसहित प्रार्थनाके सुननेकी जबाबदारी आपके और आपकी समाजके ऊपर पहुँच जाती है । मुझे विश्वास है कि आपकी धार्मिक समाज मेरी इस नम्र प्रार्थनाको ध्यानमें रक्खेगी ।

मेरी ओरसे कृपया अपनी समाजके सभी बाल वृद्ध और तरुण मंडलीको नमस्कार कहिये और उनका चित्त 'धर्मीसौ गौवच्छ प्रीत समकर निजधर्म दिपावे' इस ओर आकर्षित करिये । मुझे भरोसा है कि वे इस तत्वके लिये सब कुछ सहन करनेके लिये तैयार होंगे ।

पंडित फूलचन्द्र शास्त्री

(३)

जिस प्रकार एक पत्र सेठ हीरालाल मोतीचन्द गांधी तर्फे बीसा हुँबड पंच फलटणके नामसे दिया था उसी प्रकार एक पत्र सेठ वीरचन्द कोदरजी गांधी तर्फे बीसा हुँबड पंच फलटणके नामसे भी दिया था । इन

दोनों पत्रोंमें विशेष कुछ अन्तर नहीं था। थी-डेसे अन्तरको छोड़ कर दोनों पत्र समान थे। इसलिये यहाँ पर इस पत्रको छापनेकी विशेष आवश्यकता प्रतीत नही होती है।

इस पत्रके उत्तरमें सेठ वीरचन्द कोदरजी गाधीका जो पत्र आया था वह खाली दिया जाता है। श्रीमान् धर्मप्रेमी पं० फूलचन्द दरयावलाल शास्त्री नातेपुतें यांसी फलटनहून वीसा हुँबड पंच सेठ पानाचन्द जयचन्द तर्फे गांधी वीरचन्द कोदरजी यांचा सविनय जयजिनेन्द्र वि० वि० आपले ता० १५-११-३७ चे पत्र मिळाले वाचून आनन्द झाला। आपण हातो घेतलेले काम महत्त्वाचे आहे। आपले कामात यश येवो अशीं श्री जिनेन्द्र भगवंताचरणीं आमची प्रार्थना आहे। येऊन प्रयत्न करावे। न्याय आणि उचित कोणतीही गोष्ट आम्ही ऐकण्यास केव्हांही तयार आहोत। यावे। कळावे। मिती कार्तिक वद्य १३ सं० १९९४।

आपला

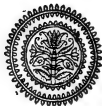
सेठ पानाचन्द जयचन्द तर्फे

वीरचंद कोदरजी गांधी

इस तरह दोनों बाजूके पंचोंके साथ पत्र व्यवहार हो जानेपर मै फलटण गया था। पहिली बार इस एकीके सम्बन्धमें मुझे आठ दिन रहना पडा था। बीचमे श्रीमान् सेठ हीरालाल मोतीचन्दजी गांधीका काम सोलापुर होनेके कारण अधिक दिन रहना पड़ा। सेठजीके सोलापुरसे आनेपर श्रीमान् सेठ रामचन्द धनजी दावडा नातेपुते इनके यहाँ चि० सौ० जयावतीका लग्नसमारम्भ होनेके कारण यह विषय बीचमे ही स्थगित करना पड़ा। लग्नसमारम्भ हो जानेपर दोनों बाजूके पंचोंके आमन्त्रण होनेसे पुन मै फलटन गया। अबकी बार सफलता मिली जिसका खुलासा मै पिछले अंकमे दे चुका हूँ। आशा है फलटनकी धार्मिक समाज अपने कर्तव्यको समझकर आगे प्रेमभावसे रहनेका प्रयत्न करेगी। यदि समाजमे प्रेम न हुआ तो नियमोमें क्या रक्खा है। संगठनके लिये नियम होते है। उसी प्रकार प्राचीन नियमोंमें समयके अनुसार बदल भी करनी पड़ती है इन सब बातोंको लक्ष्यमे रखकर फलटणके पंच परस्पर एक दूसरे हितकी बात सुननेमे संकोच नहीं करेंगे और प्रेमसे दूसरोंके लिये संगठनका पाठ देनेके योग्य बननेका प्रयत्न करेगे। मेरा तो यह निश्चय है ही कि जब तक यह एकीका पौधा दृढ़ नही हुआ है तब उसकी मैं सेवा करूँगा।

नम्र

पं० फूलचंद दरयावलाल शास्त्री



समाजका दुर्भाग्य

समाजकी सामयिक परिस्थितियोंको देखकर सोचा गया था कि जातीय या उपजातीय सभायें समाजको अवनति दशासे ऊपर उठा देंगी। इसी आधारपर इन सभाओंका निर्माण हुआ था। कौन जानता था, कि अभी समाजके फूटे भाग्यमें उन्नतिमय जीवन बिताना बदा ही नहीं है अभी भी समाज अवनति गर्तकी अन्तिम तहतक नही पहुँची है, समाजकी वर्तमान रोमांचकारी दशा ही अवनतिका अन्तिम स्थान नहीं है इससे भी भयानक दुरवस्था जो हमारी कल्पनाके परेकी वस्तु हो सकती है—को समाजके लिये जाना भी शेष है।

यही बात है, कि ये सभायें कलहके दलदलमें फँसकर समाजके लिये केवल भार स्वरूप बन रही हैं जिससे समाजोन्नतिको उत्कृष्ट चाह रखने वालोंको समाजकी चिन्ता तो दूर रही, केवल सभाओंके उत्थानकी चिन्ताने ही घेर लिया है। शान्तिप्रिय लोगोंके हृदयमें तो आज यही भावना पैदा होने लगी है कि इन सभाओंका जीवन ही जल्दीसे जल्दी निःशेष हो जाय तो समाजको चैन मिल सकती है।

अभी-अभी लूणियावासमे खंडेलवाल महासभाका जो अधिवेशन होने जा रहा था उसके जो समाचार सुननेमे आये है इसी प्रकारके और भी समाचार जो आये दिन सुनने व देखनेमे आते रहते है उनसे यदि उल्लिखित विचार सर्व साधारणमे पैदा होने लग जाँय तो इसमें आश्चर्यकी बात ही क्या है।

खंडेलवाल जाति दि० जैनोंमे प्रमुख जाति है दि० जैन समाज उसके धनबल और जनबलपर जितना गर्व करे उतना थोड़ा होगा, ऐसी जातिमे यदि कलहके अंकुर पैदा हो जायँ, इतना ही नही, कलहाग्नि अपना उग्र रूप धारण करके अपनी लपटोंसे समस्त जातिको भस्मसात् करनेके लिये तैयार हो और जिसका दुष्परिणाम समस्त समाजको अत्यन्त शोचनीय स्थितिको पहुँचाने वाला हो, तो समाजका कौन विवेकशील व्यक्ति इसकी कल्पनासे भयभीत न होगा, तथा कौन सहृदय दि० जैन समाजकी इस दयनीय स्थिति पर दो आँसू नहीं गिरायेगा।

'इस अधिवेशनमे लोहडसाजन आदिके प्रश्नको लेकर मार पीट हुई और यहाँ तक गड़बडी पैदा हुई, कि राज्यके अधिकारी वर्गको इस परिस्थितिका सामना करना पडा और उससे भी जब परिस्थिति नहीं सम्हली तो अधिवेशनको ही स्थगित कर देना पड़ा।

इन समाचारोंमे रंचमात्र भी सन्देह नही मालूम पड़ता है। यद्यपि संवाददाता लोग बिरले ही ऐसे होगें जो अपने अधिकार पूर्ण महत्वको समझते हुए समाचारोंका अतिशयोक्तिपूर्ण एकपक्षीय चित्रण न करके संवादोंमें केवल घटित घटनाओंका ही उल्लेख करें, इसलिये "अमुक पक्षने अमुक प्रकारकी त्रुटिकी आदि, इन समाचारोंके विवादमें न पड़ करके समाजके प्रमुख व्यक्तियोंके सामने हम केवल इस बातको रख देना चाहते हैं कि—

(१) ऐसा होता क्यों है ?

(२) क्या हमको ऐसा करना शोभा देता है ?

(३) यदि नहीं तो फिर हमारा कर्तव्य क्या है ? इन प्रश्नोंपर वे गम्भीरतासे मंथन करे।

यद्यपि ये प्रश्न जटिल नही थे, परन्तु हम लोगोंने अपने स्वार्थवासनापूर्ण कार्योंसे इनको जटिल बना दिया है और केवल अपने सामने ही नहो सारे समाजके सामने जीवन मरनकी समस्या उपस्थित कर दी है।

इन प्रश्नोंके विषयमें प्रकाश डालना इन थोड़ी सी पंक्तियोंमे हम अशक्य समझते है इसलिये इन प्रश्नोंपर हम क्रमशः प्रकाश डालनेका प्रयत्न करेंगे फिर भी यहा पर उन लोगोंको जिनके हाथमें आज समाज-को ऊपर उठानेकी या उसको कुचलनेकी सामर्थ्य है—सावधान कर देना चाहते है कि—

ऐ ! समाजके प्रमुख ;नेताओं ? जरा आँखे खोलो हृदय पर हाथ रखकर विचार करो, कि तुम समाजको किस ओर ले जा रहे हो, तुम्हारी पक्षपातपूर्ण एकागी विचारधाराका ही क्या यह फल नही है कि समाजमें चारों ओर विद्वेषाग्नि धधक रही है। जो कार्य समाजके हितके लिये किया जा रहा हो, उससे ही समाजमे कलह पैदा होने लग जाय तो इसमे इसके अतिरिक्त कि तुम्हारी स्वार्थपूर्ण दुर्भावनायें काम कर रही हैं—और क्या कारण हो सकता है ? इसलिये अपनी पक्षपात पूर्ण नीतिको जल्दीसे जल्दी जलाञ्जलि दो और हृदयकी पवित्र भावनाओका समाजके ऊपर प्रभाव डालनेका प्रयत्न करो। विरोधीपक्षका पक्षपात पूर्ण विरोध करके उसके लिये प्रेम पूर्वक मार्ग प्रदर्शक बनो, इसीमे आपकी शान और समाजका सुखपूर्ण जीवन निहित है। क्या समाजका प्रमुख समुदाय हमारी इस प्रार्थनापर ध्यान देगा।

●



हरिजन मन्दिर प्रवेश चर्चा

जबसे हरिजन मन्दिर प्रवेश बिल पास हुआ है तभीसे जैन समाजमें 'जैन हिन्दू नही हैं' इस बिलगाव-वादी विचारधाराने जोर पकड़ा है । इसका एक मात्र उद्देश्य है—इस कानूनसे जैन मन्दिरोंको मुक्त कराना । स्थितिपालक भाई तो यहाँ तक लिखनेका साहस करते हैं कि 'भगवान् महावीरकी वर्णव्यवस्थाको घरपतुआ बच्चोंका खेल बना लिया है ।' ये बन्धु जैन संस्कृतिके इस मूल आधारको ही भुला देते है कि वैदिक संस्कृति जहाँ जन्मजात वर्णव्यवस्थाको स्वीकार करती है वहाँ जैन संस्कृति केवल इसे व्यवहार मात्र मानती हैं । एक ही पर्यायमे गोत्र बदल जाता है और वर्ण भी । भरतने त्रिवर्णोंमेसे ही जिन्होंने व्रत धारण किये थे, उन्हे ब्राह्मण बनाया था और इसीलिए गोत्र परिवर्तनका कारण सकलसयम और संयम-संयम आगम ग्रन्थोंमे बताया गया है । नीचगोत्री सकलसंयमी हो सकता है, म्लेच्छ क्षपक-श्रेणी चढ़ कर मोक्ष जा सकता है फिर भी ये भाई जन्मजात वर्ण व्यवस्थासे चिपटे हुए हे । ये भाई शूद्रोंको अस्पृश्य बता कर उन्हे मन्दिरमे भी नही आने देना चाहते । हमारे कुछ सुधारक भाई व्यवहार बर्तावमे अस्पृश्यता हटानेका समर्थन करके भी मन्दिर कानूनसे मुक्ति पानेके लिए 'जैन हिन्दू नही हैं' यह नारा लगा रहे है । दक्षिण महाराष्ट्र सभाका प्रस्ताव हमारे सामने है । उसने अस्पृश्यता निवारणके बम्बई सरकारके प्रयत्नकी सराहना करके भी हरिजन मन्दिर प्रवेश कानूनसे जैनियोंको बरी करनेकी माग की है । और उसका आधार यह बताया है कि यद्यपि जैन अभी तक प्रायः हिन्दू लासे शासित होते आये है पर जिन बातोमे जैनियोंका विशेष विधि विधान होता है उन बातोंमे जैनोंपर वर्तमान हिन्दू ला भी लागू नही होता, वे हिन्दुओंसे पृथक् है । जहाँ तक बम्बई सरकारके कानूनका सम्बन्ध है वह हरिजनोंकी अयोग्यता निवारण करने वाला है । कोई भी व्यक्ति मात्र हरिजन होनेके कारण मन्दिरमें जानेसे रोका नहीं जा सकता । बम्बईके प्रधान मन्त्रीने स्पष्ट शब्दोंमे कहा है कि 'यदि आप मुझे मन्दिरमें ले जा सकते हैं तो डॉ० अम्बेडकरको नही रोक सकते' इसमे पूजा पाठके सब अधिकार सबको देनेकी बात कहाँ है ? प्रश्न इतना ही है कि हरिजनोंमें अस्पृश्य होनेके कारण जो अयोग्यता आरोपित कर रखी थी उसे हटा कर उन्हे मानवाधिकार दिये गये हैं । यदि हम कानूनमे हिन्दू शब्दसे जैनको भी लिया है तो भी हमें क्यों आपत्ति हैं ? जब आज तक हम अनेक बातोंमे हिन्दूलासे शासित होते आये है तब इसमे हिन्दूलासे शासित होनेमें क्या खतरा है जब कि हमारी संस्कृति हमे जन्मना वर्णव्यवस्था और अस्पृश्यताके मूलोच्छेद की शिक्षा देती हैं । हमारे शास्त्र शूद्रोंको मोक्ष तकका विधान करते है । शूद्रोका क्षुल्लक पदका धारण करना तो कट्टर रूढिचुस्त भी स्वीकार करते ही हैं । ऐसी दशामे शूद्रों द्वारा मन्दिरमे देवदर्शन कर लेनेका कानूनी हक भी प्राप्त कर लेनेमे हमें क्यों बाधा है ? यह तो हमारी संस्कृतिका ही प्रचार हुआ । उससे बचनेका द्राविड़ी प्राणायाम करनेसे क्या लाभ ?

नये शासन विधानकी ११वी धारामे नागरिकताके सामान्य अधिकारोमे ही अस्पृश्यता निवारणका मौलिक अधिकार दिया गया है । २६ जनवरी सन् १९५० से इस कानूनके लागू होनेपर सवर्ण और असवर्ण हिन्दूमे कोई भेद नहीं रह जायगा । हम किसीको हरिजन होनेके कारण अस्पृश्य या नीच नहो समझ सकेंगे । इस मानवाधिकारकी समुज्ज्वल घोषणासे हमे तो मंदिरोंमे घीके दिये जलाने चाहिए कि आज महावीरके शासन-की सच्ची प्रभावना हुई है, उनके और समवशरणके प्रतीक ये जिनालय आज जनालय हुए । इसपर छाया हुआ वैदिक धर्मका तमस्तोम आज नष्ट हुआ । पर आज जैन समाजके ये सुधारक बन्धु भी किसी बहानेसे इस सुधार-से छुटक जाना चाहते हैं ।

जैन धर्मके व्यापक प्रभुत्वको देख कर ही पहिले वैदिक धर्मको खतरा मालूम हुआ था और उसने यह घोषणा की थी कि "हस्तिना ताड्यमानो पि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्" अर्थात् हाथीके पैरके नीचे दब जाना अच्छा पर जैन मन्दिरमें जाना उचित नहीं। आज भी हमलोग इस घोषणाका विरोध करते है और ऐसी घोषणा करने वालोंको भला बुरा कहते हैं पर स्वयं इस मानव समानाधिकारके अहिंसक युगमे "नेतृभि· प्रेर्यमाणो पि नागच्छेज्जैनमन्दिरम्" अर्थात् जन नेताओंसे प्रेरणा हो नेपर भी जैन मन्दिरमें मत आओ यह धर्मविरोधी, अहिंसा विरोधी और मानवता विरोधी नारा लगानेको तैयार हैं। हमारा सास्कृतिक तत्त्व यदि कानूनसे फलित होता है तो उसे हम धर्ममें हस्तक्षेप क्यों मानते है।

भगवान् महावीरने वर्ण-व्यवस्थाका विरोध सामाजिक क्षेत्रमे उतनी तीव्रतासे न भी किया हो क्योंकि सामाजिक व्यवस्थाएँ व्यवहाराधीन थी पर धार्मिक क्षेत्रमे तो उन्होने इस वर्ण व्यवस्थाकी धज्जियाँ ही उड़ा दी थीं। उनके संघमे चांडालका भी वही स्थान था जो किसी ब्राह्मणका। व्रत धारण करनेपर यह सब भेद ही नष्ट हो जाता है। पर आजके हमारे सुधारक बन्धु सामाजिक व्यवहारमे अस्पृश्यताका उच्छेद करनेको तत्पर होकर भी धार्मिक क्षेत्रमे उसे कायम रखना चाहते है, किमाश्चर्यमत· परम्। मन्दिरप्रवेश शुद्ध धार्मिक प्रश्न है, इसमे वर्णभेदके आधारसे कोई समझौता नहीं हो सकता। वहाँ तो मानव मात्रको सम भूमिकापर बैठना ही होगा। हाँ, वहाँके जो नियम होंगे वे सभीको पालने होंगे, वहाँ जन्मगत जातिके कारण किसीको विशेष संरक्षण नही दिया जा सकता। अतः कमसे कम हरिजन मन्दिर प्रवेश वाले सास्कृतिक प्रश्नपर जैन हिन्दूके भेदका नारा लगा कर उससे निकल भागनेका प्रयत्न करना न शास्त्रीय है, न सास्कृतिक है और न सामयिक ही। हमे आश्चर्य होता है जब राष्ट्रीय नेता हमारी समाजको यह कहते है कि "भाई, जैन धर्म तो जाति-पाति मानता नही है, फिर क्यों आप लोग इस हरिजनोद्धारमे बाधक होते हो" जिस बातको हमे कहना चाहिए था और राष्ट्रीय नेताओंके इस मानवोत्थानके प्रयत्नकी सराहना करके उन्हे सहयोग देना चाहिए था वहाँ हम जैन जैनधर्मको विकृत रूपमे देशके सामने उपस्थित करके मानते है कि हमने जैन संस्कृति की सेवा की है।

हमारे कुछ दक्षिणी भाइयोंने यह भय उत्पन्न किया है कि इस बिलसे जैन हिन्दू बन जायेंगे और उन्हें वैदिक बन जाना होगा। बैरि० सावरकरके द्वारा की गयी जैन-बौद्ध-सिख सग्राहक 'हिन्दू' की परिभाषा स्वीकार करनेमें भी उन्हें यही डर है कि जैन लोग वैदिक हो जायेंगे। हमने ज्ञानोदयके चौथे अंकमे ही यह स्पष्ट कर दिया है कि "सावरकर कृत व्याख्याके मान लेनेपर भौगोलिक दृष्टिसे और परम्परागत आर्यत्वकी दृष्टिसे हम हिन्दू होकर भी जैसी कि पं० सुखलाल जी की सूचना है—हिन्दू महासभाके सदस्य हरगिज नही बनना चाहते, क्योंकि वर्तमानमे उसका संघटन वर्णव्यवस्था और ब्राह्मण प्रभुत्वके वर्गोच्चत्वकी भावनापर है, भगवाध्वज उसी श्रुतिस्मृत्यनुमोदित परम्पराका प्रतीक है। अत· हमारा हिन्दू महासभाके कर्णधारोंसे अनुरोध है कि यदि वे 'हिंदू' शब्दकी उक्त व्याख्या जैनोंसे स्वीकार कराना चाहते हैं तो वैदिक संस्कृतिके प्रतीक भगवाध्वजके स्थानपर सर्वानुमोदित ध्वज स्वीकार करे। उसमे रही वर्गोच्चत्वकी भावनाको दूर कर समान आधारोंसे सर्व संग्राहक संगठन करें।" जब हम देखते है कि हमारे ये बन्धु स्वय आनखशिख वैदिक वर्ण-व्यवस्थामे डूबे हुए हैं और उसी वर्ण-व्यवस्थाके घृणित अभिशाप रूप अस्पृश्यताको कायम रखनेके असांस्कृतिक उद्देश्योंसे जैनोंको वैदिक बन जानेका भय दिखा रहे हैं। इतना ही नही 'ज्ञानोदयकारो' को नीति और धर्मका अन्तर समझने की सलाह दे रहे हैं तो हमारे आश्चर्यका कोई ठिकाना नही रहता। 'ज्ञानोदय' ने प्रारम्भमें ही इस प्रश्नको धार्मिक माना है और इसीलिए शास्त्राधारसे इसकी विवेचना की है। और भारतके नव निर्माणके समय जैन धर्मका समुज्ज्वल पतितपावन स्वरूप सामने रखनेका सांस्कृतिक प्रयत्न किया है। यदि हिन्दू शब्दकी मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि-

का संग्रह करनेवाली परिभाषा बनानेका प्रश्न उठता है तो ज्ञानोदय उसका स्वागत करेगा। हमने धर्म गुरुओंसे भी इसीलिए निवेदन किया था और अब भी कर रहे हैं कि वे इस वैदिक वर्ण व्यवस्थाका आग्रह छोड़ कर विशुद्ध मूल जैन संस्कृतिके पुनीत रूपका प्रचार करें। ज्ञानोदयने इस प्रश्नका शास्त्रीय आधार उपस्थित किया ही है। वैदिक धर्मके प्रभावसे अपनी रक्षाके लिए हमें आवश्यक है कि जो बुराइयाँ वैदिकोंके संसर्गवश हममें आ गयी है उन्हें अविलम्ब दूर करके अपनी संस्कृतिके मूल तत्त्वोंको जीवनमें लाएँ और मानव मात्रके समानाधिकारको स्वीकार कर प्राणिमात्रके प्रति अहिंसाकी उच्च भावनाकी उपासना करें।

सावरकरकी परिभाषासे विशाल आर्यसंघ या हिन्दू संघमें शामिल हो जानेसे हम वैदिक नहीं बनेंगे किन्तु हरिजनोद्धार अस्पृश्यता निवारण जैसे जैन तत्त्वोंका विरोध कर अवश्य ही हम सक्रिय वैदिक हो रहे हैं। इस कानूनके विरोधमें कोई सत्याग्रह (?) करना चाहते हैं तो कोई अन्न त्याग कर रहे हैं, कोई फेडरल कोर्टमें न्याय पानेकी सलाह दे रहे हैं। इन धर्मके ठेकेदारोंकी इस करनीसे जैन धर्म, जैन संस्कृति और जैन समाजका जो अहित होगा उसे भावी पीढ़ी क्षमा नहीं कर सकेगी। सी० पी०में इसके लक्षण दिखने लगे हैं। वहाँ हिन्दू ट्रस्टोंका उपयोग जैन नहीं कर पायेंगे। हिन्दू मन्दिर, उनसे लगे हुए तालाबों या अन्य जलाशयोंपर जैन नहीं जा सकेंगे। अर्थात् आजका हरिजन तो वहाँ जा सकेगा, पर ये जैन नहीं जा पायेंगे। और धीरे-धीरे यह विष आर्थिक और अन्य सामाजिक क्षेत्रोंमें व्याप्त होकर हमें योग्यताके बलपर जो राजनैतिक स्वत्व प्राप्त हो जाते हैं वे इस बिलगाववादी प्रवृत्तिकी प्रतिक्रियामें समाप्त हो जाएँगे। अतः हमारा स्थितिपालकों और जैन समाजके प्रमुखोंसे निवेदन है कि वे शास्त्र संस्कृति और समयको पहिचाननेका प्रयत्न करें और इस नव निर्माणके समय ऐसे बीज न बो दें जिससे भावी समाजका जीवन दूभर हो जाए।

●



महावीर जन्म-दिन

२५४८ वर्ष पूर्व आजके ही दिन भगवान् महावीरने वैशालीके कुण्डग्राममें जन्म लिया था। श्रमण परम्परामें यद्यपि सीधा जन्मका कोई विशेष महत्त्व नहीं है क्योंकि यहाँ कोई सर्वशक्तिमान् अनादि सिद्ध प्रभु अवतार नहीं लेता, किन्तु साधारण आत्मा ही अपनी साधनाके द्वारा अन्तरात्मा बन कर अन्तमें स्वरूपस्थित सिद्धात्मा या परमात्मा बन जाता है। इस परम्परामें उसकी वीतरागता, समभावपरिणति, प्राणिमात्रमैत्री अपरिग्रह, तत्त्वज्ञान और अनेकान्तदृष्टिका महत्त्व है। इन्हींके कारण वह तीर्थ शास्ता बनता है। कुल, जाति, वर्ण, सम्प्रदाय आदिके संकुचित बाड़ोंसे तीर्थंकरत्वकी कोई विशेषता नहीं। उसका अर्थ तो—

श्रेयोमार्गानभिज्ञानिह भवगहने जाज्वलद्दु खदाव-
स्कन्धे चङ्क्रम्यमाणान् अनिचकितमिमान् उद्धरेयं वराकान् ॥

अर्थात् त्रिविध दुःखकी दावाग्निमें चारों ओर जलने वाले इस संसाररूपी महाभयानक वनमें श्रेयोमार्ग-आत्मस्वरूपको न समझनेके कारण अत्यन्त चकित होकर इतस्तत भटकने वाले विचारे इन प्राणियोंका आत्मस्वरूप समझा कर उद्धार करूँगा' इस विश्वहितैषिताकी सर्वोदयी भावनामें समाया हुआ है।

यही कारण है कि महाश्रमण वर्धमानने बाल्यकाल या जवानीमें क्या किया इसका विस्तृत विवरण शास्त्रोंमें नहीं मिलता। हाँ जबसे उन्होंने समता-अहिंसाकी साधनारूप सामायिकता व्रत स्वीकार किया तबसे उनके इहलोकीय जीवनका एक-एक क्षण हमारे लिए आदर्श है।

अँगूठेसे मेरुकम्पन हुआ, चण्डकौशिक सर्पको वशमें किया, तथा इन्द्र आकर उनकी सेवा करता था आदि अतिशयोंसे उनके परमात्मत्वकी पहचान नहीं होती। परमात्मत्वकी पहचान तो जो उन्होंने धार्मिक साम्राज्य के उस भीषण युगमें धर्मका प्रत्येक द्वार प्राणिमात्रको जाति, वर्ण, कुल, सम्प्रदाय आदिका कोई बन्धन नहीं मानकर खोला था, उन तिरस्कृत, निर्दलित, शोषित, पीड़ित, बिलबिलाते मानवोंको गले लगाया था, यज्ञबलिका विरोध करके अहिंसाकी भावना जगाई थी और बुद्धिके पंखों पर आसन जमाने वाली पुस्तककी गुलामी को उखाड़ कर उसे स्वतः विचरनेका उन्मुक्त मार्ग प्रशस्त किया था, उससे होती है।

उन्होंने धर्मके पुनीत क्षेत्रकी ठेकेदारीको समाप्त कर प्रत्येक प्राणीको अपना हित अहित समझनेकी स्वावलम्बी प्रवृत्ति उत्पन्न की थी और वर्ण विशेषकी संस्कृत भाषाके कृत्रिम बन्धनोंसे धर्मको मुक्त कर लोक भाषाके द्वारा वे जन-जन तक स्वयं पहुँचे थे। बिहार, वर्धमान, वीरभूमि, नाथनगर जैसे उनके नामांकित क्षेत्र आज भी उनकी गुणगरिमाको पुकार-पुकार कर कह रहे हैं।

इस तरह पुराने बन्धनोंको तोड़ कर अपने श्रम और अपनी साधनासे जीवनमें पूर्ण शम और समत्व को प्राप्त कर वे केवली (केवल अकेला, परम स्वावलम्बी) बने। तीस वर्ष तक उन्होंने अहिंसा समता स्वतन्त्रता और शान्तिका उद्बोधन किया।

उनकी इस परमात्मदशाकी प्राप्तिके बाद उनके जन्म दिन उपदेश दिन और निर्वाण दिनकी भी महत्ता प्रस्थापित हुई।

स्वतन्त्र भारतमें आज उस महा-श्रमणकी पुण्य जयन्ती मनाई जा रही है जिसके अहिंसा विश्वमैत्री और मानवसमत्वके आधार पर भारतका वह नवविधान बना, जिसमें जाति, धर्म, लिंग, कुल आदिके आधारसे

हथियाये गये संरक्षण समाप्त हो गये और मानव केवल मानव रहा। जनभाषा हिन्दीको राष्ट्रभाषाका पद मिला। वर्णव्यवस्थाका निकष्टतम घृणित रूप अस्पृश्यता दफना दी गयी और विश्वके प्रत्येक मानवकी स्वतन्त्रताका पुण्यनाद किया गया।

हमारी भावना है कि उनका सर्वोदय तीर्थ अपने वास्तविक रूपमे हमारे जीवनमे आवे और उनके धर्मबीजको हम अपने मानसमें अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित करें।

हमारा इस अवसर पर भारत सरकारसे अनुरोध है कि वह अहिंसाके इस चरम साधकके जन्मदिनकी सार्वजनिक छुट्टी घोषित करके अहिंसक तत्वोंको प्रोत्साहित करे।

'संजद' पदका बहिष्कार : सूत्रोच्छेदका दुष्प्रयत्न

गजपन्थासे घोषणा हुई है कि ताम्रपत्रोमें लिपिबद्ध किये गये जीवस्थान सत्प्ररूपणाके ९३वे सूत्रमेंसे 'संजद पद अलग किया जाता है। हेतु यह बतलाया गया है कि इस सूत्र में 'संजद' पदके रहनेसे द्रव्यस्त्रीको मुक्तिका प्रसंग आता है जो कि दिगम्बर परम्पराके विरुद्ध है। पत्रोंमें प्रकाशित हुई विज्ञप्तिसे ज्ञात होता है कि यह घोषणा पीछी कमण्डलुको आगे रखकर की गयी है और इसमें माया शल्य खुल कर खेली है। जैन परम्परामें इन चिह्नोंका क्या महत्व है यह किसीसे छिपी हुई बात नही है। व्यवहारतः जो व्यक्ति इन चिह्नोंको धारण करता है वही आदर्श मान लिया जाता है। उसके प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करना प्रत्येक जैनका कर्तव्य हो जाता है और इस कर्तव्यका तब तक निर्वाह करना पड़ता है जब तक कि उक्त व्यक्तिमें चारित्र और सम्यक्त्वको कलंकित करनेवाला व्यवहारतः कोई दोष नहीं दिखाई देता है।

यह तो प्रसन्नताकी बात है कि इस कालमें ऐसे व्यक्तियोंका सद्भाव है और यह भी चाहते हैं कि उनका सद्भाव सदा काल बना रहे, क्योंकि व्यक्तिकी मुक्तिका अन्तिम मार्ग वही है। किन्तु जब हम देखते हैं कि ये व्यक्ति जिस महान उद्देश्यको लेकर इस मार्गके पथिक बनते हैं उस उद्देश्यकी पूर्ति न कर अपने पदके सर्वथा अयोग्य अनधिकार चेष्टा करने लगते है तब हमारा मस्तक लज्जावश झुक जाता है।

वास्तवमें देखा जाय तो इस विवादमे कोई सार नहीं है। इसके दो कारण है। प्रथम तो यह कि ताडपत्रीय प्रतिमे यह पाठ मौजूद है और दूसरा यह कि ९३वे सूत्रमेंसे इस पदके निकाल देने पर षट्खण्डागमके मूल सूत्रोंमे विसंगति आ जाती है। संशोधनकी यह विशेषता मानी गयी है कि प्राचीन पाठकी रक्षा की जाय। जब डॉ० हीरालाल जी सोलापुर गये थे तब उन्होने यही सलाह दी थी। फिर भी इस तथ्यपूर्ण स्थितिकी ओर ध्यान न देकर कुछ भाइयोंने यह सूत्रोच्छेदक अविवेकपूर्ण घोषणा कराई है।

साधुके आदेश और उपदेशकी चर्चा जैन ग्रन्थोंमें की गयी है। हर कोई हर किसीको आदेश नही दे सकता। आदेश चारित्रके विषयमे व्यक्तिगत कारणोंके उपस्थित होने पर ही दिया जाता है। सो भी व्रती पुरुषोंके लिए ही। किन्तु हम देखते हैं कि यहाँ इस व्यवस्थाकी पूरी तरहसे अवहेलनाकी गयी है।

यह सोचा जाता है कि आगममे द्रव्यस्त्रीकी योग्यताका विधायक सूत्र वचन होना चाहिये। इसी वृत्तिके परिणामस्वरूप यह अंग-भंगका कार्य किया गया है। जैसा कि षट्खण्डागम और उसका धवला टीकाके सम्यक् अवलोकनसे ज्ञात होता है कि आगममे मात्र भाव मार्गणाओंका ही विचार किया गया है। क्षुल्लक बन्धके मूल सूत्रोंमें १४ मार्गणाओंका विवेचन किया है। यदि इस आगममे आचार्यको द्रव्य मार्गणाओका विवेचन करना इष्ट होता तो वे वहाँ मात्र भाव मार्गणाओंका ही विवेचन नही करते और न ही आचार्य वीरसेन स्वामी मार्गणाओंके स्वरूप निर्देशके प्रसंगसे यह भी कहते कि आगममे भावमार्गणाओंका ही ग्रहण किया गया है, द्रव्य मार्गणाओका नही। एक बात यह भी कही जाती है कि जहाँ भी पर्याप्त शब्दके साथ मनुष्यणी शब्द आया है

वहाँ द्रव्य स्त्रियोंका ही ग्रहण होता है किन्तु सत्प्ररूपणाके आलाप अधिकारमें पर्याप्त मनुष्यिनियोंके आलापोंका निर्देश करते समय उनके १४ ही गुणस्थान बतलाये हैं। यह बात तभी बन सकती है जब कि पर्याप्त शब्दके साथ मनुष्यनी पदसे भावस्त्रीका ही ग्रहण किया जाता है।

इन सब प्रमाणोंसे आगमकी स्थिति स्पष्ट होते हुए भी कुछ भाइयोंने यह अविवेकपूर्ण कार्य किया और कराया है। यह ऐसा कार्य है जो किसी भी तरह क्षमा करने योग्य नहीं कहा जा सकता। इससे केवली, श्रुत, संघ और धर्मका अवर्णवाद तो हुआ ही, साथ ही जैन परम्परा और भारतीय परम्पराकी श्रुत प्रतिष्ठाको भीषण धक्का लगा है। और दुराग्रह तथा हठवादके काले इतिहासमें 'दिगम्बर परम्परा' को नाम लिखानेका कुप्रसंग उपस्थित हुआ है। ताडपत्र या ताम्रपत्रका पुद्गल किसी व्यक्ति या व्यक्तियोंके अधिकारकी वस्तु हो सकते हैं पर उसमें लिखा गया श्रुत और धर्म तो उन लोकोत्तर महापुरुषोंकी साधनाका श्रेयमार्ग प्रदर्शक फल है जिससे मार्गदर्शन पानेका प्राणी मात्रको अधिकार है।

हम यह जानते हैं कि जिन भाइयोंने यह दुःसाहसका काम किया है वे अपनी भूलको कभी भी स्वीकार करनेवाले नहीं हैं। अतः इस सूत्रोच्छेदसे अपराधके परिमार्जन करनेका एक मार्ग यह हो सकता है कि १०–१५ ऐसे ताम्रपत्र तैयार किये जायें जिनमें ताडपत्रके आधारसे ९३वाँ सूत्र अंकित रहे और इन भाइयोंकी काली करतूतको प्रकट करनेवाला इतिहास भी लिपिबद्ध रहे। इससे भविष्यमें जब भी इस विषयकी गवेषणा होगी तब यह कार्य कुछ व्यक्तियोंकी करनी तक ही सीमित रह जायेगा। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीने गोम्मटसारमें यह गाथा तो उन व्यक्तियोंको लिखी है जो समझाने पर भी दुराग्रहवश सम्यक्-अर्थको नहीं मानना चाहते—

सुत्तादो तं सम्मं दरसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि।
सो चेव हवइ मिच्छाइट्ठी जीवो तदो पहुदी॥

अर्थात् सूत्रसे सम्यक् अर्थ दिखाने पर भी जो श्रद्धान नहीं करता वह व्यक्ति तभीसे मिथ्यादृष्टि है।

पर जिन्होंने इससे भी आगे बढ़कर सूत्रोच्छेदका दुष्कृत्य किया है उन्हें मिथ्यादृष्टि और निह्नवी कहना भी कम है।

सन्तोषकी बात इतनी ही रही कि, इस सूत्रोच्छेदक जमातमें श्री पं० खूबचन्द्रजी शास्त्रीने दृढ़तासे इस जघन्य कृत्यका विरोध किया और त्यागपत्र देकर अपने सम्यक्त्व की रक्षा तो की ही साथ ही समाजकी प्रतिष्ठाको भी बचाया।



सम्प्रदाय जाति और प्रान्तवाद

भारतवर्षके पतनके कारणोंमें सम्प्रदायवाद, जातिवाद और प्रान्तवाद मुख्य है। पुराने इतिहासको देख जाइये कही सम्प्रदाय कही जाति और कही प्रान्तवादने अपना काला रूप दिखा कर भारतको भौगोलिक अखण्डता भी प्राप्त नही होने दी।

सामन्तवादने अपने पनपनेके लिए यही स्तम्भ खड़े किये और सच पूछा जाय तो मानवताको खण्ड-खण्ड करके वर्गविशेषके अहकार और उसे विशेष संरक्षण देनेके लिए ये ही सस्ते आधार रहे हैं। अंगरेजोंने इन्हीं अस्त्रोंके सहारे भेदनीतिसे भारतवर्षको न केवल राजनैतिक गुलामीमें ही जकड़ कर अपना उल्लू सीधा किया किन्तु इसे सदाके लिए सास्कृतिकहीनता और विनाशके गहरे गर्तमे गिरानेका रास्ता खोल दिया। पाकिस्तानकी सृष्टि करके उन्होंने सम्प्रदाय प्रान्त और जाति इन तीनों विषबेलोंकी जड़ें गहरी पहुँचा दी हैं।

इन सबके बावजूद पूज्य बापूके नेतृत्वमें भारतवर्षने खंडित स्वतन्त्रता प्राप्त की। भारतवर्षके नक्शेसे पीला कोढ समाप्त होकर आज वह भौगोलिक इकाई पा गया है। पर, सम्प्रदाय जाति और प्रान्त-वादकी सहस्रमुखी ज्वालाओंसे स्वातन्त्र्यका नव विकसित कुसुम झुलसा जा रहा है। काग्रेस कमेटियोंके चुनाव, जनपद निर्वाचन, विधान सभाओंके चुनाव, नौकरी कन्ट्रोलके लायसेंस आदि जहाँ भी देखिये वहाँ इन्हीके नामपर अपना स्वार्थ साधा जा रहा है। शिक्षाका पुनीत क्षेत्र भी इस गन्दगीसे अछूता नहीं रहा है। आखिर जो विष भारतके हृदय और मस्तिष्कमे पीढ़ियोंसे व्याप्त हो रहा है वह अवसर आनेपर अपना दुष्प्रभाव दिखाये बिना रह ही नही सकता।

इतनी ही आशाकी नवकिरण है, कि काग्रेस तथा भारतकी विधान सभाने सिद्धान्ततः भारतको असाम्प्रदायिक राज्य घोषित किया है और धर्म-जाति वंश और परम्परागत संरक्षणोको समाप्त कर सबको समान अधिकार दिये है।

जैन धर्मने संसारके प्रत्येक पदार्थको अनेक धर्मवाला विविध विशेषताओं और विचित्रताओंका अविरोधी आधार माना है। उसने एकमें अनेकता और अनेकतामे एकताका सुन्दर समन्वय किया है। अहिसाकी उच्च भूमिकाका निर्वाह बिना इस समन्वयके हो ही नही सकता था। उसकी दृष्टिमे भारतवर्ष अनेक जाति सम्प्रदाय और प्रान्त आदिका अविरोधी अखण्ड आधार है, यह अपनेमे एक और अखण्ड है। प्रत्येक सम्प्रदाय जाति और प्रान्तका उसपर समान अधिकार है। हमे इनमे नये दृष्टिसे अविरोध स्थापित करके सबमे अनुस्यूत अखण्ड भारतीयत्वका दर्शन करना है। जाति, सम्प्रदाय और प्रान्तका भेद बुरा नही है, बुरा है इनका अहंकार और उसके कारण पनपने वाला मातवाद। एक सम्प्रदाय जब अपनी बात कहता है और दूसरे सम्प्रदायोंकी बुराई न कर उनके प्रति तटस्थ भाव रखता है तब तक वह सत्सम्प्रदाय है। पर जब वह दूसरे सम्प्रदायोंका तिरस्कार और द्वेष करता है तब वह 'सत्' की सीमासे 'असत्' में जा पहुँचता है। असलमे सम्प्रदायकी जड़ मस्तिष्कमें न हो कर हृदयमें होती हैं और हृदय परिवर्तनके बिना दूसरे सम्प्रदायोंकी बुराई या उनके प्रति घृणाका भाव फैलानेसे हमारी अखण्डताका विनाश ही होता है।

जातिकी जड रक्तमें ही पहुँची है। सबको अपनी जाति अर्थात् रक्तश्रेष्ठताका अभिमान है। वैसे देखा जाय तो पौद्गलिक जड रक्तसे श्रेष्ठताका कोई खास सम्बन्ध नही है। एक ही रक्तसे उत्पन्न दो बालक

विभिन्न वातावरण और परिस्थितियोंके अनुसार भिन्न-भिन्न संस्कारवाले हो जाते हैं। जो छोटा-मोटा अन्तर भी होता है वह इतना बद्धमूल नहीं होता कि उसमें शिक्षा संगति और वातावरणसे बदल न हो सके। जैन परम्पराने उस अन्तरको इतना बड़ा तो माना ही नहीं है कि वह मानव समानाधिकारमें बाधक बन सकता हो। फिर, अनादि कालसे आज तक किसी एक परम्पराकी शुद्धतामें विश्वास किया जा सकता है ? ऐसी दशामें जातिको श्रेष्ठताका ढिंढोरा पीट कर भारतकी अखण्ड राष्ट्रीयताको छिन्न भिन्न करना अपनी संस्कृतिका ही घात करना है। पहिले गाँव पेशा आदिके नामसे अनेक जाति-उपजातियोंकी सृष्टि हुई थी। उस समय यातायातके साधन कम थे और सबकी अपनी छोटी-सी दुनिया थी। उसीमें खानपान शादी-विवाह लेनदेन आदि होता रहता था। पर आजकी दुनिया सबकी एक है। यहाँ सूई पटकिये तो उसकी आवाज उसी समय अमेरिका क्या विश्वके कोने-कोने तकमें पहुँचती है। अतः हमें अब न केवल भारतीयता किन्तु विश्वमानवताकी दृष्टिसे विचार करना है। अपनी शक्ति साधन सामग्रीकी सीमितता आदिके कारण मुख्य-रूपसे अपनी जातिके लोगोंकी उन्नतिमें विशेष लक्ष्य देना उतनी बुरी बात नहीं है, पर जब दूसरी जातिको हीन तुच्छ और नीच समझ कर उसके प्रति घृणाका भाव फैलाया जाता है तब वह 'दुर्जाति' का रूप लेकर 'सत्' की सीमाको लांघ जाती है। जातिका आवरण लेकर शासनकी एकताको ध्वंस करना तो राष्ट्रीय महापाप है।

शासनकी सुविधाके लिए प्रान्तोंकी रचना होती है। इसकी सीमाएँ बनती-बिगड़ती रहती हैं। जब देशकी ही सीमा स्थिर नहीं तब प्रान्तकी तो कथा ही क्या ? यह ठीक है कि विभिन्न प्रान्तोंकी संस्कृतियाँ जुदा-जुदा हैं। पर इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि दूसरे प्रान्तकी संस्कृति भाषा आदिके प्रति हीनताका भाव दर्शाया जाए और भारतीयताके क्षेत्रमें अपने प्रान्तके लोगों को भरनेकी चेष्टा करके प्रच्छन्न रूपसे भारतीयता को नष्ट करनेकी कुचेष्टा की जाए। जब एक प्रान्त दूसरे प्रान्तके प्रति घृणा-द्वेष और नीचत्वके भाव फैलाता है तब वह 'सत्'की परिधिसे बाहर हो जाता है और वह 'असत्'को प्रश्रय देता है।

सारांश यह है कि जैन दर्शनके नयवादमें जिस तरह प्रत्येक नयका अपने विषयभूत अंशको मुख्यता देना तो क्षम्य है पर दूसरेका निराकरण या तिरस्कार किसी तरह क्षम्य नहीं है, उसे दूसरे नयके प्रति बन्धु-भाव और तटस्थता हो रहनी होती है अन्यथा वह सुनय नहीं, दुर्नय कहलाता है उसी तरह सम्प्रदाय जाति और प्रान्तको भी अन्यके प्रति बन्धुत्व और अपनी मुख्यताके समय दूसरोंके प्रति तटस्थताका भाव ही अपनानेमें 'सत्'-पना है अन्यथा ये विषरूप होकर अखण्ड भारतीयताका विनाश ही करते रहेंगे और इस तरह मानव जातिके विकासके महान् रोड़े बनेंगे।

श्रमणधाराके महापुरुषोंने सदासे इनके विष नाश करनेका उपदेश दिया और जीवनमें अहिंसाकी उच्च साधना द्वारा समन्वय सहिष्णुता, उदारता और विशालता का प्रकाश देकर मानव को मानव बनाये रखनेका सतत प्रयत्न किया है।



सेवाव्रत

'सेवा' करना सरल है पर 'सेवाव्रत' साधनाकी वस्तु है। पेटके लिए नौकरी-चाकरी करनेवाले असंख्य लोग हैं। ये उचित अनुचितका विवेक किये बिना मात्र अपने तुच्छ स्वार्थकी सिद्धिके लिए 'जी-हुजूरी' करते रहते हैं। इन पेटपालू लोगोंको सेवाव्रती नही कहा जा सकता क्योंकि सेवाका जो आनन्द और अहिंसाकी भूमिका है वह इन आत्मविस्मृत जीवोंको प्राप्त नही है।

सेवाधर्म और सेवाव्रतकी भावना उस उच्च मानवतामें पनपती है जहाँ अपने आत्मत्वका दायरा विस्तृत विस्तृततर और विस्तृततम होता जाता है। हम अपने बच्चोको प्यार इसलिए नही करते कि वे बच्चे हैं, किन्तु 'अपने' हैं। दूसरेके बच्चेको तांगेसे कुचल जाने पर भी हम लापरवाहीसे बिना किसी अनुकम्पनके चले जाते हैं, यदि उसकी जगह 'अपना' बच्चा होता तो हमारे होश ही गायब हो जाते और ऐसी बेचैनी पैदा होती जिसे दूर करनेके लिए यदि अपनेको मिटाने तकका अवसर आता तो भी पीछे नही हटते। यह अनुकम्पा (कँपते हुए को देखकर हृदयमे कँपकँपी उत्पन्न होना) सच पूछा जाय तो स्वयं कँपकँपी बेचैनी मिटानेके लिए ही की गयी है। पर होती तभी है जब सामनेवालेमें 'आत्मसमत्व'की बुद्धि हो। तो, अपने बच्चेको उठानेकी भावना इसलिए हुई कि 'अपना' है। यह जरूरी नहीं है कि प्रत्येक मनुष्यमे यह स्वाभाविक ही हो। ऐसे भी निकृष्ट स्वार्थियोंकी कमी नही है जो अपने बच्चों की आँख बचाकर रसगुल्ला गप्प कर जाते है, और ऐसे ही नर-पशुओंके मुँहसे यह श्लोक नीति (!) का रूप लेकर निकला है—

"आपदर्थे धनं रक्षेत् दारान् रक्षेत धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेत् दारैरपि धनैरपि॥"

अर्थात् आपत्तिके लिए धन बचावे। धन देकर स्त्रीकी रक्षा करे। पर अपनी रक्षा धन और स्त्री दोनोंसे करे।

नारी जाति और धनका ठीकरा दोनों इन नरराक्षसोंके बराबर है। ऐसे ही नरराक्षस पुरुषोत्तम रामको भी यह सलाह देने पहुँचे थे कि—'जाने दीजिए एक सीताको, हजार सीता मिल जायेगी। एक स्त्रीके लिए इतनी परेशानी और युद्ध क्यों?' पर, अहिंसा और कर्तव्यकी जीवन्तमूर्ति रामने उस समय यही कहा था, मूर्खो, यह सीताका प्रश्न नही है, यह आत्माका प्रश्न है। मानवता और कर्तव्यका प्रश्न है। यदि सीताकी रक्षाके लिए त्रैलोक्य और अन्ततः अपना भी बलिदान करना पड़े तो भी राम करेगा। जीवित रहकर आत्म-हत्या, आत्मपराभव और मानवताका निर्दलन राम नहीं देख सकता। जिन्हे इसके प्रति जीवन्त श्रद्धा हो वे हमारे साथ रहे, दूसरे खुशीसे चले जायें। आज 'राम'का नाम उसी कर्मनिष्ठा और अहिंसाका प्रतीक बन गया।

तात्पर्य यह कि सेवाव्रतके लिए हमें अपने 'आत्मत्व' के दायरे की पुत्र, स्त्री, परिवार, नगर, प्रान्त और देशके छोटे-बड़े दायरोंको पार कर क्रमशः निरुपाधि मानवता तक बढ़ाना होगा। इतना ही नहीं पशु-जगत् और प्राणिमात्र तकको हमें अपने आत्मौपम्यके पुण्यसागरमें समाना होगा। भीतरके संकुचित स्वार्थका

दमन किये बिना यह भूमिका नही आ सकती । अतः सेवाव्रती और सेवाधर्मीको प्रेम, दया, सहानुभूति, संवेदन, सहिष्णुता, स्नेह, क्षण, वत्सलता परदुःख-कातरता आदि अहिंसा परिवारको जीवनमे विकसाना होगा । इसीलिए कहा है—

"सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः"

सेवाधर्म परमगहन है, वह योगियोंके लिए भी अगम्य है । अपने लिए कौआ भी जीता है, पर मानव तो वह है जिसके 'स्व' का क्षेत्र अपनेसे आगे भी विस्तृत हुआ हो । आज देशके लिए कुछ ऐसे ही सेवकोंकी आवश्यकता है जो सेवा सेवाके लिए करनेवाले हों । स्व० विश्वकवि रवीन्द्रनाथसे किसीने पूछा कि "धर्म किसलिए किया जाय ?" उन्होंने कहा कि "यदि धर्ममे भी 'किसलिये' को समाप्त कर धर्म धर्मके लिये, अर्थात् बिना किसी कामनाके किया जाने वाला है । धर्म आत्मानन्द है, वह स्वयं साध्य और साधन है । जिसका सेवाके पीछे कोई अन्य हेतु है वह सेवावृत्ति कही जा सकती है सेवाव्रत या सेवाधर्म नही ।

आशा है हमारा समाज सेवी और देशसेवी वर्ग सेवाधर्मी और सेवाव्रती बननेका प्रयत्न करेगा ।





अहिंसाका प्रतीक रक्षाबन्धन

रक्षा बन्धन पर्व जिन महामुनि विष्णुकुमारकी स्मृतिमें प्रचलित हुआ है वे अकिंचन निष्परिग्रही दिगम्बर साधु थे। उन्हें अपने तपोबलसे जो ऋद्धियाँ प्राप्त हुई थीं उनका भी पता नहीं था, ऐसे थे वे निस्पृह। पर राजा बलिके अत्याचारसे पीडित साधुसंघकी रक्षाके लिये जब उनसे प्रार्थनाकी गयी तो वे अपनी सारी साधनाओंका बल लेकर बलिके पास पहुँचे। वामन रूप लेकर उस नरमेधके पुरोधा बलिसे तीन पैर पृथिवीका दान माँगा और अपने व्यापक रूपसे उसे अपने बलित्व-पशुत्वके त्याग करनेको बाध्य किया। सात सौ मुनियोंकी जो उस समय नरमेधके कुण्डमें पड़े थे रक्षा हुई। और उन्हें सिमईका मृदु आहार गृहस्थोंने 'रक्षा' का सूत हाथमें बाँध दिया। विष्णुकुमारका हृदय 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की महामैत्री रूपसे व्यापक हो चुका था। वे सत्वमैत्रीके महान् अहिंसक प्रतीक थे। और बलि, स्वार्थका पुतला अहंकारकी मूर्ति हिंसाका क्रूरतम पिशाच। जिसने अपने दुर्दान्त अहंकारकी बलिवेदी पर निरीह साधुओंकी बलि देनेका दु:संकल्प किया था। यह द्वन्द्व अहिंसा और हिंसा, 'उत्कृष्ट स्व' और 'अधम स्व' का था। अन्तमें 'अहिंसा' की विजय हुई और उसी अहिंसा रक्षाकी प्रतिज्ञामें बँधनेके लिये रक्षाबन्धन सूत्र बाँधा गया जिसकी पुण्य परम्परा आज तक प्रचलित है। यह घटना हस्तिनापुरकी है। आज भी श्रावणीके दिन जैन श्रावक मुनियोंके चित्र अपने रसोई घरमें बनाते हैं और उन्हें सिमई जिमा कर पीछे भोजन करते हैं। एक दिन सिमई जैसे मृदु भोजनकी परम्परा भी उत्तर प्रान्तके जैनोंमें प्रचलित है। हमें इस पर्वकी इस महान् सांस्कृतिक पृष्ठभूमिको समझना चाहिये और अहिंसा पर्वके रूपमें इसे मानना चाहिये। इस रक्षा सूत्रने भाईको बहिनके प्रति कर्त्तव्य और स्नेहका पाठ पढ़ाया। भारतीय इतिहासके आलोकमय पृष्ठोंसे ऐसी अनेकों घटनाएँ अंकित हैं जिनमें जाति सम्प्रदाय आदि की संकुचित दीवारोंको लाँघकर भी इस रक्षा सूत्रने अहिंसाकी पुण्य धारा प्रवाहितकी है। हममें हरिजनों-के प्रति जो एक प्रकारकी घृणा और पशुसे भी बदतर नीच भावना व्याप्त है उसके सामूहिक प्रायश्चित्तका यह दिन है। हमें इस दिन मिथ्या अहंकारका परित्याग कर मानवताकी उपासना की ओर बढ़नेका शुभ प्रयत्न करना चाहिये।

●



महावीर निर्वाण दिन—दीपावली

कार्तिक कृष्णा अमावस्याके दिन श्रमण महाप्रभु निग्गंठ नाम पुत्र वर्धमान महावीरको निर्वाण गये २४७७ वर्ष पूर्ण हो जाएँगे। इस दिन उनका निर्वाण पावामें हुआ था। उन्होंने अन्तिम समय अपने प्रमुख शिष्य (गणधर) गौतम आदिको यही कहा था—"समयं गोयम मा पमायए"—हे गौतम, क्षण मात्र भी प्रमाद न कर। उनकी इस एक अप्रमादकी चेतावनीने गौतमकी आत्मवीणाके एक एक सूक्ष्म तारको झंकार दिया और वे उसी दिन केवलज्ञानी हो गये, उन्हें 'अर्हत्' पद प्राप्त हुआ। उन्होंने महावीरके धर्मचक्रको सम्हाला और उसी अहिंसा समता और वीतरागताकी उच्च भूमिसे शम, सम और श्रमका जीवन सन्देश दिया।

इसी दिन लिच्छवि वज्जी आदि गणतन्त्रोंने इकट्ठे होकर श्रमण महाप्रभुकी निर्वाण क्रियाकी और गणधर (गणेश) की ज्ञानलक्ष्मीकी पूजा की। दीप जलाकर मनमें सन्तोष किया कि संसारसे आज 'भावदीपक' बुझ गया पर हम उसी ज्योतिको इन द्रव्यदीपों द्वारा देखते रहेंगे। उस अमावस्याकी कालरात्रिमें महावीरके निर्वाणोत्सवमें सम्मिलित होनेवाले गणतन्त्राधिप सुर असुर आदिने दीपक जलाये थे और गणेशकी ज्ञान लक्ष्मीकी पूजाकी थी जिसकी परम्परा आजतक गणेशपूजा और लक्ष्मी पूजनके रूपमें भारतीय सांस्कृतिक पर्वोंके इतिहासका समुज्ज्वल आलोक पृष्ठ है। इस दिन अर्थीके आकारकी दीवाली बनानेका रिवाज भी इसी ओर संकेत करता है। लाजा और मिठाई बाँटना इस क्रियाका आवश्यक अंग है। आज जो विभिन्न प्रकारके पशु पक्षियोंके खिलौने, आतिशबाजी आदिका रिवाज है वह क्रमशः भगवान्की धर्म सभामें पशु पक्षियों तकके रहनेका तथा निर्वाणाग्निकी याद दिलाता है।

कार्तिक कृष्णा त्रयोदशीको धन्वन्तरि पूजा उस घटनाकी याद दिलानेवाली है जब भगवान् महावीरकी जीवरक्षाके लिए इस दिन बिहारके सभी धन्वन्तरि वैद्य जुड़े होंगे और उन्होंने प्रयत्न किया होगा कि महावीरकी जीवन रक्षा हो, पर आयुकी समाप्तिको रोकना स्वयं तीर्थङ्करके लिये भी सम्भव नहीं था। और चतुर्दशी जिस दिन महावीर निर्वाण हुआ लोग शोकमें विकल हो उठे उन्हें महावीरके बिना यह संसार 'नरक' के समान लगने लगा इसीलिये इसे 'नरक चतुर्दशी' संज्ञा दी गयी। अथवा यह संज्ञा साम्प्रदायिक वर्गने विद्वेष वश दी हो। अमावस्याकी शाम तक निर्वाण क्रिया सम्पन्न हुई और उस समय दीपक जलाये गये। सबने अपने घरोंकी शुद्धि की, कूडा कर्कट निकालकर फेंका, पुराने बर्तन बदले और इस तरह शुद्धि क्रिया की जिसका प्रतीक प्रतिपदाके प्रात लोग 'दरिद्र भगाने' की क्रिया करते है। इसी समय लोगोंने अपने तराजू बाँट कलम शस्त्र आदि बदले और साफ किये। और अन्नकूट लगाकर मिठाइयाँ बाँटी, दान दिया। द्वितीयके दिन हर तरह शुद्ध होकर बहिन-बेटियाँ अपने भाइयोको नव-वर्षका टीका करती है। यम का कार्य-निर्वाण हो जानेके बाद चूँकि यह पहिली द्वितीया आती है अत इसे 'यम द्वितीया' नाम दिया गया। इस तरह कार्तिक-कृष्णा त्रयोदशीसे कार्तिक शुक्ला दोज तकके सारे उत्सव महावीरकी निर्वाण-क्रिया शुद्धि, नव वर्षारम्भ आदिकी पुण्य स्मृतियाँ हैं। यह समूचा पर्व महावीर निर्वाणक्रियाका प्रतीक है।

इस पर्वपर हमारा उत्तरदायित्व इसलिये विशेष रूपसे बढ़ जाता है कि इस दिन तीर्थङ्कर महावीर इस संसारमें नहीं रहे थे और हमारे पुरखाओंने दीप-ज्योति जलाकर प्रतिज्ञाएँ की थी कि जिस अहिंसा, समता

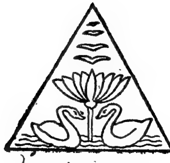
और वीररागताकी पुण्य-ज्योतिको महावीरने अपने जीवनमें जलाया था उसे हम बराबर 'ज्योतिसे ज्योति जले' के अमर नियमानुसार कायम रखेंगे और अपने जीवनसे विषमताओंको हटाकर मानव समत्व और अन्तः सर्वभूत महामैत्री अमृत आलोक फैलायेंगे। और महावीरके जीवन कालका वर्ष समाप्त कर अपने कन्धोंपर आये हुए सांस्कृतिक भारको उल्लास पूर्वक सम्हालनेके लिए नव-वर्षका आरम्भ कर रहे हैं।

हम उन्हींकी सन्तान दीपक जलाते हैं, लक्ष्मीपूजन करते हैं, नव-वर्षका आरम्भ करते हैं पर उनकी अहिंसा ज्योतिको भूल गये। उस महावीर प्रभुका नाम लेकर ही शूद्रोंके मन्दिर प्रवेशका विरोध करते भी नहीं लजाते। जिस परिग्रह पिशाचसे पिंड छुड़ाकर वह ज्ञातृकुलका राजकुमार अपनी भरी जवानीमें निर्द्वन्द्व स्वतन्त्र और बाहर भीतरकी सब गाँठें खोलकर परम निर्ग्रन्थ बना उसी परिग्रह-पिशाचके आवेशोंमें अनेक प्रकारके ऊटपटाँग नाटक करते हैं और धर्मके क्षेत्रमें उसी परिग्रहका प्रदर्शन कर उसीकी महत्ता स्थापनकर धर्मकी, महावीरकी और आत्माकी विडम्बना कर रहे हैं। जिस जन्मना वर्णव्यवस्था जाति-पाँति आदिकी भेदक हिंसामय दीवालोंसे ऊपर उठकर उस सन्मतिको सब मनुष्योंको ही नहीं पशु-पक्षियों और जीव-मात्रको समान रूपसे बैठनेके लिए समवशरण (समानतामें-समतासे बैठनेकी धर्म-सभा) बनाया गया था आज उसी समवशरणके प्रतीक मन्दिरोंमें हमने अनेक प्रकारके निषेध लगा रखे हैं, और बोलते हैं 'महावीरकी जय'। धिग् व्यापकं तपः।

दीपावली हमें वही ज्योति देने आई है यदि हमारी विवेककी आँखें खुली हों। वह प्रतिवर्ष आती है—और कहती है—उत्तिष्ठत, जाग्रत-उठो, जागो और इस दिन महाप्रभुके अन्तिम उपदेश 'समयं गोयम मा पमायए' गौतम, क्षण भर भी प्रमाद न कर, पुण्य सन्देश देती है।

हमें वह ज्योति मिले, हमारा वह नवोदय हो जिससे उस पुण्य पुरुषके समतामय समयसारसे जीवनको शम और समसय बनावे और श्रमसे स्वावलम्बनकी ओर बढ़े।

●



भावना और विवेक

भावना मनकी लहर है और विवेक वस्तुका यथार्थ विज्ञान । भावना सत्य हो सकती है परतथ्य ही नहीं । भक्तको अपनी भावनावश आँखोंके चारों ओर भगवान् ही भगवान् दिखाई देते है । इसीलिए तो कहा जाता है कि भगवान्के दर्शनके लिये भक्तकी भावनामयी आँखें चाहिए । पर विज्ञानकी प्रयोगशालामें तो हाइ-ड्रोजन और आक्सीजनसे ही पानी बन सकता है । नियत कार्यकारण भाव और पदार्थ स्थितिकी उपेक्षा यहाँ नहीं हो सकती । भावनासे कविता हो सकती है और उसके श्रवण मनन और निदिध्यासनसे व्यक्तिकी मुक्ति-भी हो जाय पर यथार्थ विज्ञान और वस्तु व्यवस्था विवेक या विज्ञानसे ही हो सकती है। विवेकका सूर्य किसी भी कोनेमें अन्धकार नहीं रहने देना चाहता । भावना भवनाशिनी भी हो सकती है, पर यदि उसे विवेकसे ज्योति न मिले तो उसके भवपातिनी भी होनेमें सन्देह नही है ।

सर्वधर्म समभाव बहुत सुन्दर लगने वाली भावना है और विभिन्न मत वाले देशमे बुद्धि भेद और मत-भेदके व्यावहारिक समाधानका एक अच्छा रास्ता भी है । यद्यपि 'अनेकान्त दर्शन' ने वस्तुके विराट् स्वरूपके आधारसे वस्तुमें अनेक विरोधी धर्मोंका समन्वय किया है, पर इसने काल्पनिक मतवादोंके वस्तु-स्थिति-विहीन समन्वयका प्रयास नहीं किया । इसने वस्तुमे जो अनेक विरोधी धर्म हैं उनको दिखा कर यह बताया कि विभिन्न दृष्टिकोणोसे वस्तु अनन्त धर्मोका आधार है, उनमे विरोधी भी धर्म हैं । परन्तु संघ रचना और धर्मका स्थायी आधार वे ही तत्व हो सकते है जिनसे व्यक्तिकी मुक्ति और समाजमें स्थायी शान्ति हो सकती है । उन्हीके समन्वयसे ही हम उन्नतिका द्वार खोल सकते हैं । वस्तु स्थितिसे विरुद्ध धर्मोके समन्वयका प्रयास स्थायी कल्याण नहीं कर सकता । उदाहरणार्थ हम ईश्वरकर्तृत्व और व्यक्तिस्वातन्त्र्यको ले लें । ईश्वरवादी जन्मसिद्ध ऊँच नीच व्यवस्था और अनन्त पदार्थोपर प्रभुसत्तामे विश्वास करते है और उसका समस्त मतवाद शास्त्र पंडित प्रचार आदि वर्ग संरक्षणकी ध्रुवकील पर घूमता है जब कि द्रव्यस्वातन्त्र्यवादी प्रत्येक द्रव्यको अपनेमे परिपूर्ण और स्वतन्त्र मानता है । वह एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यपर नैसर्गिक अधिकार नही मानता है । प्रभुसत्ता ही इसके मतसे मिथ्यात्व और हिंसा है, अनधिकार चेष्टा है, चाहे वह जन्मसिद्ध हो या कर्मसिद्ध । यह तो सहयोगमूलक गुणसिद्ध व्यवस्था पर विश्वास करता है । अब इसका समन्वय कीजिए । एक ओर प्रभुसत्ता है और दूसरी ओर व्यक्तिकी स्वतन्त्रता । एक ओर ईश्वर, उसका प्रतिनिधि राजा, उसके सर्वोच्च अंगसे उत्पन्न होने वाला और अपनेको सर्वश्रेष्ठ मानने वाला यज्ञजीवीवर्ग और दूसरी ओर स्वभावसिद्ध सृष्टि, सहयोग पद्धतिसे चुनी हुई गणतन्त्रीय व्यवस्था, गुण कर्मानुसार आजीविकाके लिये स्वीकृत वर्णव्यवस्था और सबको समान अवसर ।

इस ईश्वरवादमेंसे एक भावना तो निकाली जा सकती है कि—' हम सब एक ही ईश्वरकी सन्तान हैं अतः हमें परस्पर भाईचारेसे रहना चाहिए ।'' पर इसके तत्वज्ञानका पाया वर्गस्वार्थका ही पोषण करता है और पदार्थोंको परावलम्बनके मुँहमे ढकेल देता है । इसलिये आवश्यकता विवेक की है । हमारी भावनाको ज्योति देने वाला तत्वज्ञान यथार्थ हो वस्तुस्पर्शी हो ।

भावनाओंसे तत्वज्ञान निष्पन्न न हो किन्तु तत्वज्ञानकी ज्योतिसे भावनायें अनुप्राणित हों । बुद्धने 'जगत् क्षणिक है, अनित्य है, शून्य है, निरात्मक है, अशुचि है' ये भावनाएँ भाई थी, और आत्मादिका तत्वज्ञान

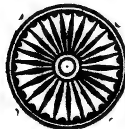
शिष्योंको अनुपयोगी बताया था जिसका परिणाम यह हुआ कि पीछे प्रत्येक भावनाने क्षणिकवाद शून्यवाद नैरात्म्यवाद आदि वादोंका रूप ले लिया और आत्मा लोक आदिके सम्बन्धमें आज भी कोई निश्चित तत्वज्ञान नहीं मिला। अतः ऐसा तत्वज्ञान और विवेक हमें पहले प्राप्त करना होगा जिसके आधारसे शान्ति और मुक्ति-की भूमिका तैयार की जा सके और जिसकी भावनासे अपने जीवनको भावित कर भावनाको भवनाशिनी साबित कर सकें।

विपरीत मत वालोंके प्रति माध्यस्थ्य भाव रखना तो उचित है पर विपरीतता और अविपरीतताका विवेक तो हमें करना ही होगा। परस्पर विरोधी दो या अनेक धर्मोंमेंसे अविरोधी सामान्य तत्व ढूँढना जुदी बात है पर उनकी वे विशेषताएँ जिन पर कि उनकी भिन्नता कायम है, दृष्टिसे ओझल नहीं की जा सकतीं। यद्यपि अनेकान्तदर्शन और स्याद्वादने वस्तुस्थितिके आधारसे विभिन्न मतवादोंके निरीक्षणका प्रयत्न और उनके समन्वयको साकार रूप देनेका अद्वितीय प्रयास किया पर उसने वस्तु स्थितिका उल्लंघन कर कल्पित काम चलाऊ समन्वय नहीं किया। जो धर्म वस्तुमें नहीं है उनसे इनकार किया। आचार्य हरिभद्र आदिने भी बौद्ध और सांख्योंका खण्डन किया पर उनके प्रति आदर भाव रख कर, उनकी नियत पर आक्षेप न करके। एक वैद्यको रोगीके हितकी कामना रहने पर भी औषधि विषयक विपर्यास हो सकता है। अतः केवल भावना ही नहीं विवेककी परम आवश्यकता है।

आदरणीय प्रो० बेचरदास जी दोशीका 'केवली कौन' लेख हम इसी अंकमें प्रकाशित कर रहे हैं। 'केवलज्ञान या सर्वज्ञता हो सकती है या नहीं' यह विषय गम्भीर पर्यालोचनकी अपेक्षा करता है। उन्होंने जो सबके प्रति आदर भाव, परस्पर मैत्री, कटुताका अभाव आदि अहिंसक निष्कर्ष निकाले हैं उनसे सहमत होकर भी हम मतवादोंके विवेकज्ञानको गौण स्थान पर नहीं रख सकते। सम्यग्दर्शन हमें वैनयिकवृत्तिसे आगे ले जा कर विज्ञान ज्योतिमें खड़ा करता है और उनके यथार्थ बोधकी प्रेरणा देता है।

मतका अहंकार बुरा है विवेक बुरा नहीं। यह ठीक है कि अपने अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावके अनु-सार हितबुद्धिसे उन मतोंकी प्रवृत्ति हुई होगी और हमें उन्हीं द्रव्यकाल क्षेत्र भावकी परिधिमें बैठ कर ही उन मतोंकी उपयोगिताको आकना चाहिए पर आजकी द्रव्य क्षेत्र काल भावकी परिस्थितिमें हमे कोई एक या कुछ एक तो चुनने ही होंगे। इतना ही विवेक है और यही सम्यग्दर्शन है।

●



चरमशरीरी भगवान् बाहुबली

अस्ति तावदस्मिन् देशे धन-धान्य-समृद्धा बहुजनसंकुला धर्मतीर्थस्वरूपा अयोध्यया नाम नगरी। पुराकाले तत्र भोगभूमिस्थितिप्रच्युतौ कर्मभूमिव्यवस्थाप्रवृत्ताणा च विश्वक्षत्रगणाग्रणी. नाभिराजोऽन्त्यो कुलकरोऽभवत् ।

तस्य जनताप्राणदायिनी परमसौभाग्यं भुंजन्ती सुमंगला मरुदेवी आसीत् । कालान्तरे श्री-ह्री-धृति-बुद्धि-कीर्तिलक्ष्म्यादि विविधाभि देवीभिः परिवेष्टित जगद्धितकरं प्रथमतीर्थंकरपदभाजं पुत्रं लेभे । अस्मिन्नेव भवेऽयं धर्मामृतं वर्षिष्यतीति स्वजनं. सह इन्द्रेण स वृषभ इति नाम्ना आहूतः ।

अत्रान्तरे युवराजपदभाक् स भगवान् स्वपितृप्रेषितसर्वजनेभ्यः अस्यादिकर्मणा शिक्षा प्रदाय गृहस्थोचितवैवाहिककर्मणि तेन द्वे कन्ये परिगृहीते । तत्र ज्येष्ठा देवी यशस्वतीति नाम्ना कनिष्ठा देवी सुनन्देति नाम्ना ख्यातिं गते ।

अथ क्रमशः यशस्वी देवी पुत्राणां शतं कन्यामेकां च सुषुवे । तत्र ज्येष्ठः पुत्रः भरत इति नाम्ना कन्या ब्राह्मीति नाम्ना च ख्यातिं गतौ । तेन कारणेन देशोऽयं भारतवर्ष इति नाम्ना तथा पुरातनलिपि ब्राह्मीति नाम्ना प्रसिद्धि गतौ । अस्मिन्नेवावसरे कनिष्ठा देवी बाहुबलीति नामकं पुत्रमेकं सुन्दरीति कन्यामेका सुषवे । एवं स्वजनैः संवृतः स योगिराट् भगवान् स्वपितृदत्तसाम्राज्यपदं भुञ्जमानः प्रजारक्षणादिकर्मणि दत्तावधानः सुखेन कालमभवत् ।

अथान्येद्युः राजसभाया सिंहासनारूढं तं देव देवराट् साप्सरा सगन्धर्वः उपासदत् । तत- भक्तिनिर्भर. स देवराट् सप्रयोजनं नृत्यं प्रायूयुजत् । स भगवान् तद् दृष्ट्वा अन्यतमससर्गात् शुद्ध स्फटिक इव सानुरागो जातः । एतत् दृष्ट्वा इन्द्रेण चिन्तितं देवोऽय राज्यभोगात् कथं विरज्येदिति प्रक्षीणायुज नीलाजनानामकं पात्र तस्मिन् कर्मणि प्रायुंक्त । रसभावलयोपेतं नटन्ती सा आयुर्दीपसंक्षये क्षणाददृश्यता प्राप । तदा तस्मिन्नेव क्षणे रसभगभयात् इन्द्रोऽन्या देवी संदधे । एतत् किमिति विचार्यभाणस्य निर्वेदभावनोपेतस्य भोगात् विरज्यत- तस्य भगवतः महती वैराग्यभावना जाता । तेन चिन्तितम्—अहो इदं जगत् विनश्वरम्, लक्ष्मी तडिद्वल्लरीव चंचला, यौवनं वपुः आरोग्यं ऐश्वर्य च चलाचलम् इति ससृतिस्वरूपं परिज्ञाय निर्वेदवैराग्यपरः भवन् स भगवान् लौकान्तिकदेवैरनुमन्यमानः क्रमादयोध्यायः नातिदूरे नात्यासन्नं सिद्धार्थनामकं वनं सम्प्राप्य व्युत्सृष्टान्तरंग-बहिरंगसतः सन् पञ्चपुष्टिकं केशान् लुञ्चमानः वीतरागप्रवणां जिनमुद्रामुपाददे । अत्रायं विशेषः यत् जिनमुद्रास्वीकरणात् पूर्वं तेन भगवता सर्वपुत्रेषु साम्राज्यस्य विभागः कृत आसीत् । तत्र अयोध्यायाः भोक्ता भरतः जातः । तथा दक्षिणदेशस्थ पोदनपुरसाम्राज्यस्य भोक्ता बाहुबली अभवत् ।

अनन्तरं यदा भगवान् चतुःघाति कर्माणि हत्वा केवलज्ञानविभूत्या सम्पन्नोऽभवत् तदैव भरतराज्यस्यायुधशालाया चक्ररत्नं समुत्पन्नम् । तेन भरतराजः भरतवर्षस्य षट्खण्डानि विजित्य यदायोध्या परावृतस्तदा चक्ररत्नं नगराद्बहिः अवरुद्धं दृष्ट्वा चिन्तितवान्—अहो केन कारणेनेदं चक्ररत्नं नगरे न प्रविशति । तदनन्तरं समुचितकारणं ज्ञात्वा मन्त्रिभिः निवेदितम्—भो स्वामिन् ! इदानीं यावत् तव बन्धुभिः तवाज्ञा नैव स्वीकृता अतः इदं चक्ररत्नं नगरे न प्रविशति । एतत् रहस्यं ज्ञात्वा तेन चक्रवर्तिनाज्ञापत्रं दत्वा स्वबन्धूना समीपे दूताः प्रेषिताः । अन्ये सर्वे बान्धवः आज्ञापत्रं दृष्ट्वा परमनिर्विण्णाः सन्तः भगवत ऋषभदेवस्य समीपे गत्वा जिनदीक्षामादाय मुक्तिमार्गे रताः जाताः । केवलं बाहुबली तं दृष्ट्वा विचारयति यदहं मम पित्रा दत्तं राज्यं भुञ्जामि, नात्र भरतराजस्य

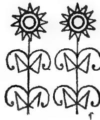
हस्तक्षेपं योग्यः । अतः आज्ञापत्रं अस्वीकुर्वता तेन दूतमुद्दिश्य प्रोक्तम्—गच्छ त्वं, स्वस्वामिनं कथय कः कस्य आज्ञाकारी भवितुमर्हः ? इत्यस्य निर्णयो युद्धभूमावेव भविष्यति । ततः दूतेनागत्यं यथा जातं निवेदितम् । एतत् श्रुत्वा भरतराजः क्रुद्धः भवत् युद्धाय सन्नद्धो जातः । तदनन्तरं पोदनपुरबहिर्भागे युद्धोचितरणभूमौ उभयोः सैन्ययोः सम्मेलनं यदा जातं तदोभयपक्षवर्तिभिः मन्त्रिभिरेकत्रीभूय विचारितम्—एतौ चरमशरीरौ युद्धेन नानयोः काचित् क्षतिः भविष्यति । एतेन युद्धरतजनानामेव संक्षयः स्यादिति निश्चित्य तैः तयोः मात्रोरनुमतिं लब्ध्वा धर्म्यं युद्धं घोषितं कथितं च जनसंहारकारिणाऽकारणरणेनालम् । एतेन महानधर्मः गरीयान् यशोवधश्च स्यात् । इयं बलपरीक्षाऽन्यथाप्युपपद्यते । अतः युवयोरेव मध्ये जलयुद्धं दृष्टियुद्धं बाहुयुद्धमितित्रयात्मकं युद्धं भवतु । अनेनोपायेन यस्य विजयः स्यात् स उभाभ्यां स्वीकरणीय इति ।

ततः एवं प्रकारके त्रयात्मके युद्धे सम्मति दत्वा तौ भ्रातरौ उभयप्रमाणीकृत्य प्रथम जलयुद्धरतौ जातौ ।

ततः कृच्छ्रादेवंप्रकारके त्रयात्मके युद्धे सम्मतिं, दत्वा तौ भ्रातरौ उभयपक्षवर्तिनः राज्ञः प्रमाणीकृत्य प्रथमं जलयुद्धरतौ, जातौ । अस्मिन् युद्धे एकौऽपरस्योपरि स्वदोर्भ्यां अतिवेगेन जलं प्रक्षिपति । परं भरतेन मुक्तः जलौघः प्राशोः दौर्बल्यशालिनः मुखमप्राप्य आरात् समापतत् । एतेन अस्मिन् युद्धे भरतः पराजितो जातः । अनेनैव कारणेन भरतः दृष्टियुद्धे मुष्टियुद्धे च पराजितो जातः ।

तदा क्रोधान्धेन निधीशिना चक्रिणा शत्रुक्षयकरं चक्रं स्मृतम् । स्मरणमात्रेण चक्ररत्नं समुपस्थितम् । स्वबान्धवाः चक्ररत्नेनावध्याः इति । नियमस्यावहेलना कृत्वा बाहुबली स्वामिनः उपरि तत् प्रक्षिप्तः सन् तस्य प्रदक्षिणा कृत्वा तत्रैव तस्थौ । एतत् किं जातमिति विचार्यमाणः चक्री परं अनुशयं जगाम । तदा क्षीणप्रभं ज्येष्ठभ्रातारं दृष्ट्वा बाहुबली समुद्दिश्य अवदत्—भोबन्धो ! विपाककरोः साम्राज्यस्य कृते भवतैतत् किं कृतम् । अतः भवानेव साम्राज्यं भुनक्तु । एतेन मम किमपि प्रयोजनं नास्ति । अहं तु तीर्थेश्वरस्य भगवतः समीपे गत्वा मोक्षमार्गरतो भवामि । ततः स स्वनन्दने महाबलिनि निक्षिप्तपोदनपुरराज्यधिगः तीर्थेश्वरस्य गुरोः परमाराधयन् जिनदीक्षामपाददे । तदनन्तरं जिनागमाध्ययनपरायणः सः गुरोरनुमतिं सम्प्राप्यैकविहारी भूत्वा आवर्षं प्रतिमायोगमातस्थे । तदवस्थायां तस्य शरीरं व्याप्तकीट-पतंगाभिः माधवीलताभिः निःसर्पत्सर्प- वाल्मीकैश्च व्याप्तं जातम् । वर्षान्ते यस्मिन्नेव क्षणे चक्रवर्तिना भरतेन तस्य महती पूजाऽरब्धा तस्मिन्नेव क्षणे स भगवान् बाहुबली चतुःघातिकर्माणि हत्वा केवलं ज्ञानविभूत्या सम्पन्नोऽभवत् । ततः स भगवान् तीर्थेश्वरवृषभेनाधिष्ठितं कैलाशमचलं सम्प्राप्य क्रमेण समस्तकर्माणि हत्वा च मोक्षलक्ष्म्यधिष्ठितो जातः ।

●



मेरे जीवन-दाता वर्णीजी

व्यक्ति आखिर व्यक्ति है। कालकी गतिके साथ प्रत्येक व्यक्तिकी इह लीला समाप्त होना स्वाभाविक है। फिर भी कुछ व्यक्ति ऐसे अवश्य होते है जो कालपर भी विजय पाते हुए देखे जाते हैं। इह लीला समाप्त होनेपर भी अपने जीवित कार्यों द्वारा उनका चिरकाल तक अस्तित्व बना रहता है। इस कालमे जो इस गणना-के योग्य है उनमें श्रद्धेय वर्णीजी अन्यतम हैं। वे अब हमारे मध्य नही हैं। पर वे समाजके दृष्टि-ओझल हो जायेंगे यह सम्भव नहीं है। उन्होंने अपने जीवनकालमें रचनात्मक दृष्टिसे जिस इतिहासका निर्माण किया है वह युग-युग तक उनकी जीवन कहानी मुखरित करता रहेगा।

अभी मेरा शिक्षा-काल पूरा नही हुआ था कि जबलपुरमे शिक्षामन्दिर खुलनेवाला है और उसके प्रधानाचार्य श्रद्धेय पं० वंशीधरजी न्यायालंकार होने वाले हैं यह सुसमाचार मुझे जबलपुर खीचकर ले गया। जिस दिन मैं जिस गाड़ीसे अपने घर लौट रहा था, उसी गाडीसे श्रद्धेय वर्णीजीने भी सागरके लिये प्रस्थान किया। श्रद्धेय पंडित जी उनके साथ चल रहे थे। गाड़ी कटनी तक आती थी, इसलिये उनके साथ मैं भी वही रुक गया।

मुझसे यह कहकर कि सामान छात्रावासमे रखा आओ, वे श्री जिनमन्दिरजीमे चले गये। सामान रखाकर पीछेसे मैं भी पहुँच गया। दर्शनविधि सम्पन्न होनेपर दोनों महानुभाव सामायिक करने लगे। मै कर्म-काण्ड ग्रन्थका स्वाध्याय करने लगा। इसी बीच खबर पाकर अनेक श्रावक और श्राविकाएँ श्रद्धेय वर्णीजीके मुखसे अमृतवाणी सुनने और उनका पुनीत दर्शन करनेके लिये वहाँ एकत्रित हो गये। सामायिक विधि सम्पन्न होनेपर प्रवचनके लिये सबने श्रद्धेय वर्णीजीसे प्रार्थना की। मैंने अवसर देखकर चौकी उनके सामने रख दी। किन्तु उन्होंने स्वयं प्रवचन न कर मुझसे कहा—"भैया ! कौन ग्रन्थ है ?"

मैंने कहा—"कर्मकाण्ड है।"

वे बोले—"पढ़े हो ?"

मैंने कहा—"हाँ, पढ़ा हूँ," पंडितजीकी ओर सकेत करते हुए पुनः कहा—"गुरुजीने ही पढ़ाया है।"

वे बोले—"तो सुनाओ, मै सुनूँगा और सब सुनेंगे। कहो भैया ! ठीक है न।" कौन निषेध करे, सबने संकोचवश हाँ भर दी।

उनकी यह अनुग्रहपूर्ण वाणी सुनकर मैं तो गद्‌गद् हो गया। मिनट-दो-मिनट स्तब्ध रहनेके बाद मैं अपनी शक्ति अनुसार व्याख्यान करने लगा।

मेरे उस व्याख्यानको सुनकर वे पण्डितजीसे बोले, भैया ! बालक तो बुद्धिमान दिखाई देता है। इसे शिक्षामन्दिरमे सहायक अध्यापक बना लेना। आपके पास अध्ययन भी करेगा और मध्यकी कक्षाओंके छात्रों-को अध्यापन भी करायेगा। फिर मुझे लक्ष्य कर बोले, भैया ! पत्रकी प्रतीक्षा नही करना। जिस दिन शिक्षा-मन्दिरका उद्‌घाटन हो, आ जाना। समझो, तुम्हारी नियुक्ति हो गई। अभी २५) रु० मासिक मिलेगा। आगे तरक्की हो जायगी। उनका यह प्रथम आशीर्वाद है जिसे पाकर मैं धन्य हो गया।

शिक्षामन्दिरका उद्‌घाटन कर श्रावणमासमें पूज्य श्रीका नागपुर जाना हुआ। समाजने उनसे दशलक्षण पर्वके लिए एक विद्वान्की याचना की। पं० फूलचन्द्रको बुला लेना यह कह कर वे सागर लौट आये। मुझे

आमन्त्रण-पत्र मिलनेपर मैं सागर भागा गया। श्री चरणोंमें निवेदन किया मैं इस योग्य नहीं हूँ। बोले, एक दिन रुको, (बाईजीके हाथका) प्रेमसे भोजन करो, शान्तिसे बात करेंगे। मैंने समझा मेरी सुन ली गई, बड़ी प्रसन्नता हुई। अपने साथ बिठाकर प्रेमपूर्वक भोजन कराया। श्रद्धेय बाईजीके हाथका सुस्वादु भोजन पाकर मैं धन्य हो गया। भोजनके अन्तमें वहीं बोले— देखो बाईजी! यह बालक कैसा हठी है। मैं नागपुर वचन दे आया। यह मना करता है। यहाँ भगा आया। इसे समझा दो। यह अपना भविष्य नहीं देखता। बालक होनहार है, बन जायगा तो······। मैं मुँह देखता रह गया। गुरु-कृपा मानकर नागपुर गया तो, पर साथमें समझा-बुझाकर श्री पं० हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्रीको भी ले गया।

शिक्षामन्दिर सुचारुरूपसे चलने लगा। सुपरिन्टेन्डेन्टके पदपर स्व० श्री छोटेलालजी मास्टरकी नियुक्ति हुई। मंत्री स्व० श्रद्धेय कन्छेदीलालजी वकील थे। कुछ दिन तो मास्टर साहबने ठीक ढंगसे काम चलाया। बादमें अपना रंग जमानेके लिए उन्होंने कुछ ऐसी नीति अपनाई जिससे शिक्षामन्दिरकी प्रगति रुक गई। उनकी इसी नीतिके कारण मैं शिक्षामन्दिर छोड़कर बनारस चला आया। उस समय पूज्य श्री वहाँ विराजमान थे ही। पूरा समाचार जानकर उन्होंने मुझे अन्य दर्शनोंके शिक्षणके लिए विद्यालयमें स्थान दे दिया और २५) रु० माह वृत्ति निश्चित कर दी। किन्तु मैं उनके इस शुभाशीर्वादका अधिक समय तक लाभ न उठा सका। अपनी गृह-सम्बन्धी आर्थिक कठिनाईके कारण मुझे अध्यापकी जीवन व्यतीत करनेके लिए विवश होना पड़ा।

मध्यका काल ऐसा बहुत है जो प्रकृतमें विशेष उल्लेखनीय नहीं है। सन् ४१ में मथुरासंघने श्री जयधवलाके प्रकाशनका निर्णय लिया। उसका अनुवादादि कार्य सम्पन्न करनेके लिए मुझे बनारस आमन्त्रित किया गया। मैं जेलयात्रासे हुई शारीरिक क्षतिको पूरा कर पुनः बनारस आ गया और इस मंगल कार्यमें जुट गया। इसी बीच अ० भा० दि० जैन विद्वत्परिषदकी स्थापना हुई। मैं उसका सयुक्त मंत्री हुआ। कार्यालयका भार मुझे ही सौंपा गया। निश्चय हुआ कि कटनीमें होनेवाले विशेष उत्सवके समय वहाँ इसका पूज्य श्री की अध्यक्षतामें प्रथम अधिवेशन किया जाय। उस समय पूज्य श्री पनागरमें विराजमान थे। निवेदन करनेके लिए मैं ही नियुक्त किया गया। मैं पनागर गया। पूज्य श्रीसे निवेदन किया। बहुत अनुनय-विनय करनेपर स्वीकृति मिल गयी। अधिवेशन तो निश्चित समयपर हुआ, पर इस दौड़-धूप और कार्याधिक्यके कारण मैं लीवर जैसे कठिन रोगसे इतना ग्रसित हुआ कि लगभग सात माह तक अन्नके दर्शन करना भी दुर्लभ हो गया। केवल फलोंके रस और दूध पर ही मुझे रखा गया।

किसी पण्डितकी आजीविका कितनी? काम करो, वृत्ति लो। आजीविका बन्द हो गई। पासमें जो सोना-चाँदी था उसमेंसे कुछ हिस्सा बेचकर काम चलाने लगा। यह समाचार परम कृपालु पूज्य श्रीके कानों तक पहुँचा। उनकी आत्मा द्रवीभूत हो उठी। तत्काल उन्होंने आ० बाबू रामस्वरूपजी बरुआसागर वालोंको संकेत कर ६००) रु० भिजवाये। मुझे गुरुकृपाका सहारा मिला, अच्छा होकर पुनः जयधवलाके सम्पादनमें जुट गया। यह पूज्य श्रीकी ही महती कृपा है कि मैं आज जीवित हूँ और धर्म-समाजके कार्योंमें योगदान कर रहा हूँ। श्री गणेशप्रसाद दि० जैन वर्णी ग्रन्थमालाकी मंगल स्थापना इन्हीं ६००) रु० के शुभ-संकल्पसे की गई थी। हालांकि मैं उन रुपयोंको कुछ काल बाद ही ग्रन्थमालामें जमा करा सका था। यह मेरा जीवनव्रत है कि जहाँ तक सम्भव होगा मैं अपने जीवनके अन्तिम क्षणतक उनकी पुण्यस्मृतिमें कुछ न कुछ कार्य करता रहूँगा।

चैत्रका महीना था। पूज्य श्री सोनागिर सिद्धक्षेत्रपर विराजमान थे। मैं और स्व० डा० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य झाँसीकी महावीर जयन्ती सम्पन्न कर श्री सिद्धक्षेत्रकी वन्दना ओर पूज्य श्रीके दर्शनोंके लिए सोनागिर गये। उस दिन आहारके लिए दो चोकाओंकी व्यवस्था थी। उनमेंसे एक चौका गया निवासिनी

ब्र० पतासीबाईने लगाया था। शुद्धिके पश्चात् जब पूज्य श्री आहारके लिए उठे तो दूसरे चौकेवाला प्रौढ़ पुरुष आगे बढ़ा। यह देखकर ब्रह्मचारिणीजी भी आगे बढ़ने लगी। दोनोंमें आगे बढ़नेकी एक प्रकारसे होड़-सी लग गई। यह दृश्य देखकर पूज्य श्री ठिठक गये, उस भाईसे बोले—भैया! क्या करते हो, क्या आहार करानेके लिए यही दिन है, दूसरे दिन करा देना। देखते नहो हो। ये बाईजी वृद्धा महिला हैं, तपस्याके कारण कृशशरीर है। थोड़ी तो दया करो। और यह कहकर लौट आये। कुछ देर रुकनेके बाद पुनः शुद्धि कर आहारको उठे। आहार करनेके बाद हम दोनोंसे बोले—भैया! आचारशास्त्रके अनुसार यदि हमसे कुछ प्रमाद हुआ है तो हम प्रायश्चित कर लेते हैं। हमसे वह दृश्य देखकर रहा नहीं गया, इसलिए दो शब्द मुखसे निकल गये। कैसी विडम्बना है, लोग मात्र आहार करानेमें ही धर्म समझते हैं। जहाँ आकुलता हो वहाँ धर्म कैसा! हम दोनों पूज्य श्रीके ये वचन सुनकर अवाक् रह गये।

चौरासी-मथुरामें पंचकल्याण-प्रतिष्ठाका आयोजन था। पूज्य श्री वहाँ विराजमान थे। देशके कोने-कोनेसे बड़े-बड़े पुरुष आये हुए थे। हम पण्डितोंका भी पूरा मजमा हो गया था। एक दिन प्रमुख विद्वानोंने पूज्य श्रीको आहार देनेका संकल्प किया। प्रतिग्रह करनेके लिए खड़ा किसे किया जाय। सबने विचार कर परीक्षाके तौरपर मुझे खड़ा कर दिया। श्री मन्दिरके प्रांगणमें शुद्धिविधि सम्पन्न कर पूज्य श्री आहारके लिए उठे। किन्तु वे विरुद्ध दिशामें चले गये। ३०-४० चौके लगे थे। आशा-निराशाके झूलेमें मैं झूलता रहा। यह तो होनहार ही समझिये कि पूज्य श्री उन सब चौकोंमेंसे होते हुए वहाँ पधार गये जहाँ हम पण्डितोंने चौका लगा रखा था। मेरी श्रद्धा फलीभूत हुई। सोल्लास वातावरणमें आहारविधि सम्पन्न होनेपर आशीर्वादोंकी पुष्पवृष्टिसे मैं धन्य हो गया।

वहीं दूसरे दिन पूज्य श्रीका प्रवचन हो रहा था। उसी समय एक भाईने आकर मेरे हाथमें तार थमा दिया। मैंने उसे खोले बिना ही कुरतेके ऊपरी जेबमें रख तो लिया, किन्तु बार-बार हाथ उस ओर जाने लगा। मन होता था कि खोलकर पढ़ लूं। मेरी यह मनःस्थिति और हाथकी हलन-चलन क्रिया पूज्य श्रीके दृष्टिसे ओझल न रह सकी। प्रवचनकी धारा बन्द कर बोले—भैया! आकुलित होनेसे अच्छा तो यह है कि खोलकर पढ़ लो। मैं सिटपिटा गया। पुनः बोले—घबड़ाओ नहीं। तुम खोलकर पढ लो। उसके बाद ही मैं प्रवचन करूँगा। गुरु आज्ञा मानकर मैंने तारको खोलकर पढ़ाया। तारका आशय समझते ही मेरा चेहरा फीका पड़ गया। तारमें कोई अनहोनी बातका संकेत है, पूज्य श्रीको यह समझते देर न लगी। बोले—भैया! अब तुम उठ जाओ, अपने कार्यमें लगो। चिन्ता न करो, सब अच्छा होगा। घटना तो अनहोनी थी ही। मेरी छोटी बेटी चि० पुष्पा तीसरे मंजिलसे गिर पड़ी थी, किन्तु वह पूज्य श्रीके आशीर्वादसे पूर्ववत् पुनः स्वस्थ हो गई।

ललितपुरमें पूज्य श्रीका चातुर्मास प्रारम्भ हुआ। चातुर्मासकी समग्र व्यवस्था क्षेत्रपालजीमें की गई थी। मैं बीनामें घरपर अपना सामान रखकर एक झोला लेकर पूज्यश्रीके दर्शनके लिए ललितपुर चला गया। मुझे आया हुआ देखकर पूज्य श्रीने वहाँ उपस्थित समाजको संकेत कर दिया—इसे जाने नहीं देना। मैं निर्देशको टाल न सका। पाँच माह तक उसी स्थितिमें रहा आया। वर्णी इण्टर कालेजकी स्थापना उसी चातुर्मासका सुफल है। मुझे अपने प्रदेशकी सेवा करनेका सुअवसर मिला। मैंने इसे पूज्य श्रीका शुभाशीर्वाद माना।

चातुर्मास सानन्द सम्पन्न हो रहा था। भाद्रपदी दशलक्षणपर्व सम्पन्न हुआ ही था कि इसी बीच पूज्य श्रीको गुदाके बगलमें अदृष्ट फोड़ेने दबोच लिया। चलने-बैठनेमें तकलीफ होने लगी। तब कहीं पता लग सका कि गुदाके मुखद्वारके बगलमें अदृष्ट फोडा अपना स्थान बना रहा है। जनतामें तरह-तरहकी बातें होने लगीं। कोई कहता चीरा लगना चाहिए, कोई इसका निषेध करता। बहुत विचारके बाद चीरा लगाना निश्चित हुआ कि

इंजक्शन लगाने न लगानेके विवादने सबको आ घेरा। जनता इंजक्शन लगाकर चीरा लगाया जाय इस पक्षमे न थी। पूज्य श्री के सामने भी यह प्रश्न उपस्थित हुआ। वे बोले—भैया! इतनी चिन्ता क्यों करते हो। मैं स्वयं इंजक्शन लेकर चीरा लगवानेके पक्षमें नहीं हूँ। तब कहीं जनताने संतोषकी साँस ली।

टीकमगढ़से डाक्टर बुलाया गया। फोड़ा देखकर उसने कहा कि महाराजजी बिना इंजक्शन लगाये चीरा लगाना सम्भव नही है। किन्तु पूज्य श्रीने उसे समझाकर कहा—भैया! आप चिन्ता क्यों करते हो, आप निर्द्वन्द्व होकर अपना काम करो। मेरे कारण आपको चीरा लगाने, उसे साफ करने और मलहम-पट्टी करनेमे कोई दिक्कत नही होगी। बहुत समझाने-बुझानेके बाद उसे तैयार किया जा सका।

पूज्यश्रीको भीतरके एक कमरेमे पट्टेपर औंधा लिटाया गया। मात्र मैं और स्व० श्री लाला राजकृष्ण-जी सम्हालके लिये वहाँ रह गये और सबको अलग कर दिया गया। मैं पैरोंको सम्हाल रहा था और श्री राज-कृष्णजी ऊपरी भाग को। डाक्टरने फोड़ेको साफ कर नस्तर लगाया। दुर्गन्धमय पू का फुव्वारा फूट पड़ा। फोड़ेने लगभग चार अंगुल गहरा स्थान बना लिया था। घेरा ६ इंचसे कम न होगा। इतना बड़ा फोड़ा होते हुए भी सजीव शरीरमे चीरा लगाया जा रहा है यह अन्दाज लगाना कठिन था। समाधिस्थ पुरुषकी जो स्थिति होती है उसी स्थितिमे पूज्य श्रीने स्वयंको पहुँचा दिया था। न हाथ हिले, न पैर हिले और न शरीरका शेष भाग ही हिला। ओठ जैसे प्रारम्भमे बन्द थे, अन्त तक उसी तरह बन्द रहे आये। लगभग इस पूरी क्रियाको सम्पन्न करनेमे २०-२५ मिनट लगे होंगे। पर जो कुछ हुआ सब एक साँसमे हो गया। डाक्टरको आश्चर्य हो रहा था कि ऐसा भी कोई पुरुष हो सकता है? सब क्रिया सम्पन्न कर अन्तमे जाते हुए वह कहने लगा—ये पुरुष नही, महापुरुष हैं। मुझे ऐसे महापुरुषकी यत्किंचित् सेवा करनेका सुअवसर मिल सका, मैं धन्य हो गया। मेरा डाक्टरी करना आज सफल हुआ। मैंने आज जो पाठ पढ़ा है वह जीवन भर याद रखूँगा।

ललितपुर चातुर्मासके समयका वर्णीजयन्तीका नजारा भी देखने लायक था। न भूतो न भविष्यति ऐसा वह महोत्सव था। गजरथ जैसे महोत्सवके समय जो जनसंमर्द दृष्टिगोचर होता है वही दृश्य वर्णीजयन्तीके समय दृष्टिगोचर हो रहा था। पूज्य श्री बुंदेलखण्डकी जनताके लिए देवतास्वरूप रहे हैं। उस दिन उसने उसी भावनासे उनके श्री चरणोंमे श्रद्धा-सुमन अर्पित किये।

पूज्यश्रीके जीवन-सम्बन्धी ऐसे उल्लेखनीय प्रसंग तो बहुत हैं। तत्काल मुझे एक ही प्रसंगका और उल्लेख करना है जो उनके अन्तिम जीवनसे सम्बन्ध रखता है। अन्तिम दिनोंमे पूज्य श्रीका चलना-फिरना बन्द हो गया था। वाचाने अपना सूक्ष्मरूप धारण कर लिया था। इतना सब होनेपर भी पूज्यश्रीकी दृष्टि, श्रवण और स्मरण शक्ति बराबर उनका साथ दे रही थी। जिस शारीरिक वेदनामे पूज्यश्रीके अन्तिम दिन व्यतीत हुए उसमें शायद ही कोई अपनेको स्थिर रखनेमे समर्थ होता। किन्तु उन धीर-गम्भीर महापुरुषकी बात निराली थी। उनकी आन्तरिक वेदनाको वे ही जानते थे। पर उन्होंने अपनी वाचिक या कायिक किसी भी चेष्टा द्वारा दूसरों पर उसे कभी भी प्रकट नहीं होने दिया। जब उनसे मुनिपद अंगीकार करनेके लिये निवेदन किया गया तब उनके पिछी ग्रहण करनेके लिये यत्किंचित् हाथ उठे और मुखसे अस्पष्ट ये शब्द प्रस्फुटित हो उठे—आत्मा ही आत्माके लिये शरण है और पूर्णरूपसे परिग्रह राहत होकर पूज्यश्रीने अपनी इहलीला समाप्त की।

वे ऐसे महापुरुष थे, जिनकी शताब्दि-महोत्सवकी पुण्यबेलामे पुण्यस्मृतिस्वरूप श्रद्धा-सुमन अर्पित करते हुए हम सब यही भावना करें कि जिस निष्काम भावसे वे अपने कर्तव्य पथपर अग्रसर होते रहे, उनके द्वारा बताये गये उस मार्गपर चलनेका हमे भी बल प्राप्त होवे।

मैं स्वयं तो पूज्यश्रीको अपने जीवनदाताके रूपमे स्मरण करता हूँ और जीवन भर स्मरण करता रहूँगा, यही मेरी उस महान दिवंगत आत्माके प्रति श्रद्धांजलि है।

मंगलस्वरूप गुरुजी

अपनी शिक्षा समाप्त कर मोरेनाके जैन सिद्धान्त विद्यालयको छोडे मुझे चालीस वर्षसे अधिक हो गया है। फिर भी मातृस्वरूप उस शिक्षा संस्थाका स्मरण होते ही चित्तमें विलक्षण सुखकी अनुभूति होने लगती है।

मैंने अपने जीवनमें यदि कोई संस्था देखी है तो वह मोरेनाका जैन सिद्धान्त विद्यालय ही है जहाँ सब प्रकारकी व्यवस्था होते हुए भी शास्य-शासक भावका सर्वथा अभाव था। शिक्षागुरु और स्नातक सब स्वयं स्फूर्तिसे अपने-अपने कर्तव्यका समुचित रीतिसे पालन करते थे। वहाँ अनुशासन जीवनका अंग बना हुआ था, अनुशासन सिखाना नहीं पड़ता था। ऐसा उदात्त-मुक्त वातावरण मैंने अभी तक अन्य किसी भी जैन शिक्षा संस्थामें नहीं देखा।

उस समय जो गुरुजन थे वे सभी अपने-अपने विषयके निष्णात विद्वान् थे। उनके निमित्त उन सब विद्वानोंका जीवन बना है जिन्होंने उनके पादमूलमें बैठकर शिक्षा प्राप्त की है।

स्वर्गीय श्रद्धेय पं० खूबचन्दजी शास्त्री संस्थाके मंत्री थे। वे सभी स्नातकोंके प्रति पुत्रवत् स्नेह करते थे। उनके सम्बन्धमें स्वयं अनुभवी हुई एक घटना मुझे आज भी याद है। उसे भूलना सम्भव भी नहीं, क्योंकि उससे मुझे शिक्षा तो मिली ही, मार्गदर्शन भी प्राप्त हुआ।

दशलक्षण पर्वके दिन थे। प्रतिदिन श्री जिनमन्दिरमें दोनों समय शास्त्र प्रवचन रखा गया। स्वयं पण्डितजी प्रवचनके समय नियमसे उपस्थित रहते थे। उपस्थित जनता चाहती थी कि शास्त्र प्रवचन वे स्वयं करें। किन्तु उन्होंने एक दिन भी शास्त्र प्रवचन स्वयं न करके मुझे वह कार्य करनेको लगाया। उनका कहना था कि यह शिक्षा संस्था है, यहाँकी प्रत्येक प्रवृत्ति ऐसी होनी चाहिए जिससे हमारे स्नातक योग्य शिक्षक और धर्मोपदेष्टा बनें। उनपर उपस्थित जनता बहुत नाराज होती रही, पर उन्होंने उसकी चिन्ता नहीं की। शिक्षा और उपदेशके क्षेत्रमें जो कुछ उन्हें देना था वे इस क्रियाके द्वारा मुझे दे गये। वे आज हमारे बीचमें नहीं हैं, पर उनकी यह परिणति सबके लिए मार्गदर्शक है।

श्री पं० मनोहरलालजी शास्त्री भी उस समय वहीं निवास करते थे, वे बड़े भद्रपरिणामी थे। यदा-कदा मैं उनके पास जाता रहा। आजीविकामें आत्मनिर्भर बननेसे ही विद्या स्फुरायमान होती है यह मैंने उन्हींसे सीखा है।

यद्यपि आज मोरेना विद्यालयका वह स्वरूप तो नहीं रहा। उस समय मैंने वहाँ एक विशेषता और देखी। वह यह कि वहाँके प्रबन्धक वर्गमें विद्वानोंकी ही प्रमुखता रही है। मेरी उपस्थितिमें एक बार प्रबन्ध समितिका अधिवेशन हुआ था। मैंने उसमें आये हुए श्रेष्ठिवर्गको मुँह ताकनेवाला ही पाया। यह उक्ति है तो कटुक, परन्तु किसी भी शिक्षासंस्थामें प्राधान्य शिक्षासंस्थाके अनुरूप उन्हीं शिक्षा विशारदोंका ही होना चाहिए, जिनके कारण वह शिक्षासंस्था कहलानेकी अधिकारिणी होती है। उसमें अर्थका प्राधान्य होते ही शिक्षकोंमें चाटुकारी आये बिना रह नहीं सकती। ऐसा ही इनमें कार्य-कारणभाव है।

यहाँ आनेके पूर्व मैं श्री महावीर दि० जैन पाठशाला साढूमलका स्नातक रहा हूँ। मध्यमा तककी शिक्षा मैंने वहीपर स्व० पूज्य पं० घनश्यामदासजी न्यायतीर्थ आदि शिक्षा गुरुओंके पादमूलमें पाई है। पूज्य पं० घनश्यामदासजी व्युत्पन्न और स्वाभिमानी शिक्षा विशारद विद्वान् थे। मुझमें जो यत्किंचित् व्युत्पत्ति है यह उन्हींकी देन है।

अधिकारियोंके रुखके कारण परीक्षा कालमें जो अव्यवस्था बनी उसकी भरपाई करनेके अभिप्रायवश गर्मियोंके अवकाशके बाद पूज्य पं० बंशीधरजी न्यायालंकार और स्व० पूज्य पं० देवकीनन्दनजी सिद्धान्तशास्त्री हम सब छात्रोंकी परीक्षा लेनेके लिए साढ़ूमल बुलाये गये।

इस वर्ष मैंने धर्मशास्त्रमें जीवकाण्डकी परीक्षा दी थी। इसलिए मुझसे अन्य प्रश्नोंके साथ यह पूछा गया कि जीवकाण्ड इस नाममें 'काण्ड' शब्द लगानेका क्या मतलब है? मैंने कहा—'काण्ड' पोर (पर्व) को कहते हैं। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने जिस महाशास्त्रकी रचना की है उसका यह एक हिस्सा है, इसीलिए 'जीवकाड' इस नाममें 'काण्ड' शब्द जोड़ा गया है। मेरा उत्तर सही था या गलत, यह विशेष तो मैं उस समय नहीं समझता था, किन्तु मेरे उत्तर जीवनके निर्माणमें यह हेतु बना इसमें सन्देह नहीं। मेरे मोरेना पहुँचनेका यही कारण बना।

रात्रिमें मैं दोनों विद्वानोंसे मिला। स्व० पूज्य पं० देवकीनन्दनजी बोले—इसमें सन्देह नहीं कि तुम्हारे गुरु श्री पं० घनश्यामदासजी व्युत्पन्न और कुशल अध्यापक है। किन्तु यहाँ तुम्हारा चतुर्मुखी विकास नहीं हो सकता। तुम प्रत्युत्पन्नमति मालूम देते हो। मोरेना विद्यालयका दरवाजा तुम्हारे लिए खुला हुआ है। सूरा क्या चाहता है— दो आँखें। किसी प्रकार १ माहके भीतर मैं मोरेना पहुँच गया। वहाँ कुछ दिन रहा, पर चित्त न लगनेसे भाग निकला और पुनः साढ़ूमल पहुँचा। तब तक साढ़ूमल पाठशालाका नकशा ही बदल गया था। स्व० पूज्य पं० घनश्यामदासजी खेदखिन्न होकर साढ़ूमल पाठशाला छोड़ चुके थे। फिर भी इस पाठशालाके संस्थापक उदात्तमना श्रेष्ठिवर्य लक्ष्मीचन्दजीकी बीमारीके कारण मैं वहाँ रुक गया। एक दिन सेठजीने मुझे देख लिया। बड़े नाराज हुए और तत्काल प्रबन्ध कराकर मेरी इच्छाके विरुद्ध मुझे पुनः मोरेनाके लिए रवाना कर दिया। लाचार मैं मोरेना विद्यालयका स्थायी स्नातक बन गया।

अभी तक मैं पूज्य गुरु गोपालदासजीके विषयमें कुछ नहीं जानता था इतना ही मालूम हुआ था कि वे बहुत बड़े विद्वान् थे और उन्होंने ही इस संस्थाकी स्थापना की है।

एक दिन पर्यटनके समय स्व० पूज्य पं० देवकीनन्दनजीने गुरुजीके विषयमें एक संस्मरण सुनाया। बोले—कुछ वर्ष पूर्व वादमें परास्त करनेके अभिप्रायसे गुरुजीके सन्निकट एक विद्वान् पहुँचा। बोला—मैं आपसे वाद करना चाहता हूँ, आप संस्कृत भाषा जानते हैं क्या? सावधान होकर गुरुजी बोले—अपना पक्ष उपस्थित कीजिए, अन्य बातोंसे आपको क्या मतलब? अपना पक्ष रखते हुए वह विद्वान् बोला—

'ईश्वर जगत्‌का कर्ता है, समर्थ होनेसे, घटनिर्माणमें निपुण कुम्भकारके समान। इससे जगत्कर्ताके रूपमें ईश्वरका अस्तित्व सिद्ध होता है।'

गुरुजी यह सुनकर थोड़े मुस्कराये। धीरेसे उत्तर देते हुए बोले—

'ईश्वर जगत्‌का कर्ता नहीं है, व्यापक होनेसे, आकाशके समान।

अभी वादकी एक ही कोटि चली थी कि 'ईश्वर जगत्‌का कर्ता नहीं है, व्यापक होनेसे, आकाशके समान'। यह बुद्‌बुदाता हुआ वह चुप हो गया। इस अनुमान वाक्यका कैसे खण्डन किया जाय यह उसकी समझमें कुछ भी नहीं आया। प्रणत होकर वह गुरुजीकी अनुनय करने लगा। गुरुजीने उसे सान्त्वना दी है।

मेरा यह संस्मरण सुनना था कि मेरी गुरुजीके प्रति श्रद्धा जाग उठी। खेद-खिन्न होकर मैं अपने मनमें विचार करने लगा कि मैं कितना मन्दभाग्य हूँ कि मुझे ऐसे महापुरुषके दर्शन करनेका सौभाग्य ही प्राप्त न हो सका। मैंने कार्यालयमें उनका चित्र तो देखा ही था। मनमें आया कि जब एकलव्यने मिट्टीके भदूनेको द्रोणाचार्य मानकर धनुर्विद्यामें अर्जुनके समान निपुणता प्राप्त की तो क्या मैं उनके चित्रका प्रतिदिन दर्शन

करके धर्मशास्त्रका अधिकारी नहीं बन सकूँगा ? मन कहने लगा—फूलचन्द्र चिन्ता क्यों करते हो, अपने विचारोंको कार्यान्वित करो, सफलता अवश्य मिलेगी। सच मानिये, जब तक मैं मोरेनामें रहा, कार्यालयके खुलने पर प्रतिदिन मैं उसके सामने जाता और उनके चित्रका दर्शन कर अपनेको धन्य मानने लगा। मेरी धर्मशास्त्रमें विशेष रुचि होनेका यदि किसीको पूरा श्रेय दिया जा सकता है तो वे हैं गुरु गोपालदासजी। मैंने उनके विषयमें और भी अनेक संस्मरण सुने हैं। किन्तु किसी भी स्नातकके लिए अपनी विद्यामें निपुणता प्राप्त करनेके लिए जितना यह संस्मरण उपयोगी है उतना अन्य नहीं। वह किसी भी विषयका स्नातक क्यों न हो, वह संस्मरण सबके लिए उपयोगी है।

यहाँ मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि इसके बाद मेरे जीवन पर अमिट छाप छोड़नेवाला इसके पूर्व कालीन विद्वानोंमें यदि कोई दूसरा विद्वान् है तो वह महापुरुष हैं—पण्डितप्रवर टोडरमलजी। इनके जीवन और साहित्यिक कार्योंसे भी मैंने बहुत बड़ी शिक्षा ली है।

आज गुरुजी हमारे बीचमें तो नहीं हैं। उनकी स्मृति और कार्यमात्र शेष हैं। उन्होंने शिक्षाके क्षेत्रमें एक युगका निर्माण किया है। वस्तुतः सब विद्वान् उसीके सुफल हैं। उन्होंने अपने जीवनमें जिस मार्गका अनुसरण किया उसपर सब विद्वान् तो न चल सके। परिस्थितिको ही इसके लिए दोषी ठहराया जा सकता है। किन्तु उन्होंने जो प्रकाश दिया वह आज भी सब विद्वानोंके हृदयोंको प्रकाशित कर रहा है। उनके दिवंगत होनेके बाद जिस उत्साह और निष्ठावश हम उनको स्मरण कर रहे हैं वह हम सब विद्वानोंका मार्ग-दर्शक बने यह भला कौन नहीं चाहेगा।

मंगलस्वरूप गुरुजी हमारे मंगलपथके प्रदर्शक बनें, यह मनीषा जीवनभर हम सबको अनुप्राणित करती रहे यह कामना है।



खण्ड ५

कृतित्व समीक्षा

कृतित्व समीक्षा

धवला, जयधवलाके सम्पादनकी विशेषताएँ

डॉ० फूलचन्द्र जैन 'प्रेमी', वाराणसी

आगमके पक्षधर विद्वानोंमें से पण्डित फूलचन्द्रजी ही एकमात्र ऐसे विद्वान् हैं जो लगभग अर्द्ध शताब्दी से जिनागमोंके सम्पादन, संशोधन एवं अनुवाद आदिके विभिन्न रचनामूलक कार्योंमें संलग्न हैं। इस वृद्धावस्था में भी उसी तत्परताके साथ आप सम्पादनके कार्य में जुटे रहते हैं। मनुष्यका किसी-न-किसी कार्यसे संयुक्त होकर उसमें विशेष रूपसे निरन्तर लगे रहना स्वाभाविक है। पण्डितजीका उपयोग सन् १९३९ से शौरसेनी प्राकृत मूल जैनागमों यथा—षट्खण्डागम और कषायपाहुड जैन महान् और बृहद्काय ग्रन्थोंकी टीकायें—धवल, जयधवल और महाधवल इन ग्रन्थोंके सम्पादन तथा अनुवादमें लगा है। अभी कुछ माह पूर्व ही 'जयधवल' का पन्द्रहवाँ भाग प्रकाशित हुआ है। 'धवल' का भाग १ से लेकर ६ तक पुन: संशोधनकर चुके हैं। प्रथम भागका द्वितीय संस्करण जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुरसे सन् १९७३ में प्रकाशित हुआ था। तबसे आजतक छह भाग मुद्रित हो चुके हैं।

जयधवलाका प्रथम भाग भारतीय दिगम्बर जैन संघ, चौरासी मथुरासे सन् १९४४ में प्रकाशित हुआ था। इसके सम्पादक पण्डित फूलचन्द्रजी शास्त्री, पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री और पण्डित महेन्द्रकुमारजी रहे हैं। 'जयधवल' के कुल पन्द्रह भाग हैं। सभी भाग मथुरासे प्रकाशित हुए हैं। इन सभीका सम्पादन तथा राष्ट्र भाषामें अनुवाद विशेष रूपसे पं० फूलचन्द्रजीने ही किया है। मुझे पूज्य पण्डितजीको यह कार्य करते हुए देखने-समझनेका कई वर्षोंतक निकटसे सान्निध्य प्राप्त रहा है। मैंने देखा कि सम्पूर्ण ग्रन्थ और उसका विषय उन्हें जैसे प्रत्यक्ष है। मूल और टीका ग्रन्थकी भाषा भी उन्हें अपनी मातृभाषा जैसी ही लगती है। इतने क्लिष्ट विषयका सरल शब्दोंमें विवेचन विरले ही कर पाते हैं। प्रूफ भी वे स्वयं इसलिए देखते थे ताकि विषय-भाषा और पारिभाषिक शब्दोंकी दृष्टिसे कोई अशुद्धि न रह जाए। इनके इस सम्पादन कार्यकी कुछ अपनी मौलिक विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

१. मुद्रित प्रति तथा हस्तलिखित ताडपत्रीय प्रतियोंका उपयोग किया गया है।

२. जहाँ-कहीं पाठमें व्यत्यय लक्षित हुआ है वहाँ आदर्श प्रति तथा प्राकृत व्याकरणका आश्रय लिया गया है।

३. पाठ-भेदमें एकरूपता बनाये रखनेका सर्वत्र ध्यान रखा गया है।

४. कर्नाटकीय लिपिमें भ्रमवश वाचनके कारण या प्रतिलिपिकारकी असावधानीसे जहाँ ऐसे पाठ परिलक्षित हुए हैं उनका निर्णय मूल ग्रन्थके पाठोंसे करनेके अनन्तर ही अमुक पाठ-भेद किया गया है।

५. जो पाठ मूलमें स्खलित हैं या ताडपत्रके गल जानेमें जो नष्ट हो गये हैं उनका अर्थ तथा प्रकरण की दृष्टिसे उनके विषयमें विचारकर कोष्ठकमें दिया गया है।

६. जो पाठ मूलमें अर्थ और प्रकरणकी दृष्टिसे असंगत प्रतीत हुए, उनको उसी पृष्ठमें टिप्पणीमें दिखाकर मूलमें संशोधन कर दिया गया है।

७. जहाँ मूल और आदर्श प्रतिके पाठोंमें क्रम-दोष है उनमें संशोधन कर आगत पाठको पाद-टिप्पणीमें दे दिया गया है।

८. मात्राओंकी अशुद्धिको व्याकरणके नियमानुसार शुद्ध कर दिया गया है।

९. आदर्श प्रतिमें कहीं संशोधन रूपमें शुद्ध प्रयोग लक्षित हुए और कहीं अशुद्ध ही रह गये, उन सबमें एकरूपता स्थापित की गई।

१०. वाक्य या शब्दकी पूर्ति बिन्दु रखकर की गई है। आवश्यकताके अनुरूप पूर्ति की गई है।

जयधवलाके अनुवाद कार्यकी भी अपनी विशेषता है। भाषा सरल होनेपर भी विषयके अनुरूप है। विशेष रूपसे विशेषार्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इन विशेषार्थोंमें जबतक सिद्धान्तका सम्यक् अध्ययन न हो, तबतक विषय के सामान्य सूत्र समझमें नहीं आते। जैसे कि "जयधवल" की आठवीं पुस्तकके छठे अधिकारमें यह कहा गया है—"वह शेष इक्कीस प्रकृतियोंका कदाचित् संक्रामक है और कदाचित् असंक्रामक है।" इसे विशेषार्थमें इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—"सूत्रमें यह बतलाया है कि जो मिथ्यात्वका संक्रामक है वह कदाचित् अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क आदि २१ प्रकृतियोंका संक्रामक है और कदाचित् असंक्रामक। जब तक इन इक्कीस प्रकृतियोंका उपशम नहीं होता तब तक संक्रामक है और उपशम हो जानेपर असंक्रामक है। इसपर यह शंका हुई कि जो द्वितीयोपशमसम्यग्दृष्टि २१ प्रकृतियोंका उपशम करता है उसके दर्शनमोहनीयत्रिकका भी उपशम रहता है, अतः जैसे उसके २१ प्रकृतियोंका संक्रम नहीं होता वैसे मिथ्यात्वका भी संक्रम नहीं होना चाहिये, इसलिए मिथ्यात्वका संक्रामक उक्त २१ प्रकृतियोंका असंक्रामक भी है यह कहना नहीं बनता है। इस शंकाका जो समाधान किया है, उसका भाव यह है कि दर्शनमोहनीयकी तीन प्रकृतियोंका उदयमें न आना यही उनका उपशम है, अतः उनका उपशम रहते हुए भी संक्रम बन जाता है। इसलिए चूर्णिसूत्रकारने जो यह कहा है कि 'जो मिथ्यात्वका संक्रामक है वह शेष २१ प्रकृतियोंका कदाचित् संक्रामक है और कदाचित् असंक्रामक है' सो इस कथनमें कोई बाधा नहीं आती है। आशय यह है कि उपशमनाके विधानानुसार २१ प्रकृतियोंका सर्वोपशम होता है, किन्तु तीन दर्शनमोहनीयका उपशम हो जानेपर भी उनका यथासम्भव संक्रम और अपकर्षण ये दोनों क्रियाएँ होती रहती है, अतः उक्त कथन बन जाता है।"

इस प्रकार प्रकरण व सन्दर्भके अनुसार अनेक सूत्रोंका स्थान-स्थानपर स्पष्टीकरण किया गया है। उसके बिना अनुवाद मात्रसे कुछ समझमें नहीं आता। कहीं-कहीं विषयका स्पष्टीकरण करनेके लिए तुलनात्मक टिप्पण एवं प्रकरणसे सम्बन्धित तथ्यकी व्याख्या की गई है। उदाहरणके लिए, कालानुगम क्रमकी दृष्टिसे कहा गया है—'उपशम सम्यग्दृष्टियोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल पल्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण है। अतः यहाँ सब प्रकृतियोंकी अल्पतर स्थितिका काल उक्त प्रमाण बतलाया है। इसी प्रकार सम्यग्मिथ्यादृष्टियोंका भी जानना चाहिए। किन्तु सासादन सम्यग्दृष्टियोंका जघन्य काल एक समय है। अतः यहाँ जघन्य काल एक समय बतलाया है। उत्कृष्ट काल पूर्ववत् है। कार्मणकाययोग और अनाहारक जीवोंका सर्वदा काल है। यही बात औदारिकमिश्र की है। अतः यहाँ सब प्रकृतियोंके सम्भव पदोंका काल औदारिकमिश्रके समान बन जाता है। किन्तु सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वकी अल्पतर स्थिति वालोंके कालमें विशेषता है। बात यह है कि एक जीवकी अपेक्षा कार्मणकाययोग और अनाहारक अवस्थाका उत्कृष्ट काल तीन समयसे अधिक नहीं है और सम्यक्त्व तथा सम्यग्मिथ्यात्वकी सत्ता वाले जीव असंख्यात होते हुए भी स्वल्प हैं। अब यदि उपक्रम कालकी अपेक्षा विचार किया जाता है तो यहाँ आवलिके असंख्यातवें भागसे अधिक काल नहीं प्राप्त होता। अतः यहाँ दोनों प्रकृतियोंकी अल्पतर स्थिति वालोंका जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल आवलिके असंख्यातवें भाग प्रमाण बतलाया है।"

उक्त विशेषार्थमें विभिन्न अपेक्षाओंसे विचारकर आचार्यके भावका स्पष्टीकरण किया गया है जो निःसन्देह सैद्धान्तिक समीक्षाकी दृष्टिसे आगम अनुकूल तथा प्रकरणोचित है। इसी प्रकारसे प्रकरणके अन्तर्गत जहाँ संक्षेपमें किसी प्रश्नका संकेतकर उसका समाधान किया है (मूल में), वहीं अनुवादमें 'शंका' तथा 'समा-

धान लिखकर उनको अलग-अलग प्रस्तुत किया गया है। इनमें कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न तथा उनके उत्तर सम्मिलित है। जैसेकि—शंका—उपशमसम्यक्त्वके कालमें तीन दर्शनमोहनीयकी स्थितिके निषेक द्वितीय स्थितिमें अवस्थित रहते है, अतः उनका गलन नहीं होनेके कारण अवस्थित काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण प्राप्त होता है, उसे यहाँ क्यों नहीं ग्रहण किया ?

समाधान—नहीं, क्योंकि वहाँ पर तीनों कर्मोंकी कर्मस्थितिके समयोंके प्रत्येक समयमें गलते रहनेपर स्थितिका अवस्थान माननेमें विरोध आता है। यदि कहा जाय कि निषेकोंको स्थितिपना प्राप्त हो जाएगा सो भी बात नही है, क्योंकि द्रव्यको पर्याय रूप माननेमें विरोध आता है। अर्थात् निषेक द्रव्य हैं और उनका एक समय तक कर्म रूप आदि रहना पर्याय है। चूँकि द्रव्यसे पर्याय कथंचित् भिन्न है, अतः पर्यायके विचारमें द्रव्यको स्थान नहीं। जिसके सम्यक्त्वकर्मकी सत्ता नहीं है ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव जब सम्यक्त्वको ग्रहण करता है तब उसके सम्यक्त्वके ग्रहण करनेके प्रथम समयमें एक समय तक अवक्तव्यस्थितिविभक्ति होती है, क्योंकि पहले अविद्यमान सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व की इनके उत्पत्ति देखी जाती हैं। इस अवक्त व्यस्थितिविभक्तिका काल एक समय ही है, क्योंकि दूसरे समयमें अल्पतर स्थितिविभक्ति उत्पन्न हो जाती है।

करणानुयोगके इन महान् सैद्धान्तिक ग्रन्थोंमें जिनवाणीकी सूक्ष्मताके साथ अत्यन्त गम्भीरता पद-पद पर लक्षित होती है। यथार्थमें भगवन्त आचार्य भूतबलिके गूढ़ रहस्यको समझकर सरल भाषामें प्रकट करना अपने आप एक महान् कार्य है जो सभी दृष्टियोंसे श्लाघनीय है, विषय इतना सूक्ष्म और गहन है कि हम तुच्छ बुद्धि वाले उसकी क्या समीक्षाकर सकते हैं ? केवल प्रस्तुतीकरणके सम्बन्धमे ही दो-चार शब्द कहकर अपने भाव प्रस्तुत कर सकने है।

कहना न होगा कि क्या भाव, क्या अर्थ, क्या सम्पादन और क्या सिद्धान्तशास्त्र ? सभी दृष्टियोंसे धवल, जयधवल आदि महान् ग्रन्थोको अपने वास्तविक रूपमें प्रकटकर पण्डितजीने महान् आदर्श प्रस्तुत किया है। हम उनके प्रति प्रशंसाके भाव ही प्रकाशित कर सकते हैं। हमारा यह अभिप्राय कदापि नही है कि इतना अधिक कार्य सर्वांग सुन्दर है फिर भी प्रथम बारमे एक साथ इतना बड़ा कार्य देखकर यह आश्चर्य अवश्य होता है कि जो कार्य एक समृद्ध बडी संस्थाके माध्यमसे कई विद्वान् मिलकर एक युगमे सम्पन्न कर पाते, वह अकेले व्यक्तिने कुछ ही वर्ष में सम्पूर्ण कर दिया। इसलिये यदि यह कहा जाय कि जैन सिद्धान्त, आगम तथा अध्यात्मके क्षेत्रमें पण्डित फूलचन्द्र जी सिद्धान्ताचार्य किसी विश्वकोषसे कम नहीं हैं, तो अत्युक्ति न होगी तथा इस कार्यके द्वारा आदरणीय पण्डितजी स्वयं इस परम्पराकी महत्त्वपूर्ण कड़ी बन गये हैं।

आदरणीय पण्डितजीकी यह भी विशेषता रही है कि अच्छे सम्पादन, अनुवाद और विवेचन आदि कार्यों हेतु जहाँसे जो सहायता मिल सकती है, उसे लेनेके लिए ही सदा तत्पर रहते हैं। महाबन्ध पुस्तक तृतीयके सम्पादकीयमें उन्होंने सम्माननीय बन्धु रतनचन्द्रजी मुख्तार तथा सहारनपुरके श्री नेमिचन्द्रजी वकीलके सहयोगके प्रति आभार प्रकट किया है और लिखा है—स्थितिबन्धका अन्तिम कुछ भाग अवश्य ही उन्होने देखा है और उनके सुझावोंसे लाभ भी उठाया गया है। आशा है कि भविष्यमे इस सुविधाके प्राप्त करनेमे सुधार होगा और उनका आवश्यक सहयोग मिलता रहेगा। वास्तवमें करणानुयोगका वास्तविक पारखी उनकी ही परख कर सकता है। हमने तो जो कुछ पढ़ा और समझा है उसके आधारपर इतना ही कह सकते है कि इस क्षेत्रमे पण्डितजीका योगदान सचमुच महान् और गौरवपूर्ण है। वर्तमान और भावी पीढ़ी जिनवाणी सेवाके इस पुण्य कार्यको इस समय तथा आगे सदा-सदा याद करती रहेगी।

●

महाबन्धकी सैद्धान्तिक समीक्षा

डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, नीमच

यह सुनिश्चित है कि भावकी दृष्टिसे जिनवाणी स्वतःसिद्ध, अनादि व अनिधन है। इसका प्रमाण यह है कि आज तक जितने भी तीर्थंकर, वीतराग उपदेष्टा हुए, उन सभी अनन्त ज्ञानियोंका मत एक है। वे अन्तरंग और बहिरंग दोनोंमें एक है। शब्दके द्वारा जो अर्थ प्रकाशित होता रहा, उसमें किसी भी प्रकारका विरोध व विसंगति नहीं है। सभी ज्ञानियोका भाव एक ही परिलक्षित होता है। यही जिनागमकी प्रमुख विशेषता है।

जिनवाणीका मूल आगम है। सम्प्रति जो उपलब्ध है, वह आगम ही है। आगम, सिद्धान्त और प्रवचन इन तीनों शब्दोंका अर्थ एक ही है। आगमके दो भेद कहे गये हैं—अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। अंग-प्रविष्ट बारह प्रकारका है। अंगप्रविष्टके बारह भेदोको द्वादशाग कहते हैं। द्वादशांगका बारहवाँ भेद दृष्टि-वाद है। उसके पाँच भेद हैं—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत, चूलिका। इनमेसे पूर्वगत चौदह प्रकारका है। अतः जिनवाणी ग्यारह अंग चौदह पूर्वके नामसे भी प्रसिद्ध है।

चौदह पूर्वोंमेंसे दूसरा पूर्व अग्रायणीय है। इसके चौदह अर्थाधिकार हैं। पाँचवाँ अर्थाधिकार चयन-लब्धि है जिसे वेदनाकृत्स्न प्राभृत भी कहते हैं। इसके चौबीस अर्थाधिकार कहे गये हैं। उनमेंसे प्रारम्भके छह अर्थाधिकार हैं—कृति, वेदना, स्पर्श, कर्म, प्रकृति और बन्धन। इन चौबीसोंको अनुयोगद्वार कहा जाता है। अनुयोगद्वारके प्रारम्भिक छह अर्थाधिकारोंको "षट्खण्डागम" में निबद्ध किया गया है।

दिव्यध्वनिसे प्रसूत द्वादशाग जिनवाणीके निबन्धक गणधर कहे जाते है। गणधरोंकी परम्परासे पोषित आगम-परम्पराका संवहन करनेवाले आरातीय तथा सारस्वत आचार्योंने ही आज तक इसकी रचना की है। ग्रन्थ-लेखनकी परम्परा आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलिसे प्रारम्भ हुई। उन्होंने द्वादशाग-सूत्रोका सकलनकर छह खण्डोंमें निबद्ध किया, जिससे ग्रन्थका नाम "षट्खण्डागम" प्रसिद्ध हुआ। आचार्य वीरसेनने इसे "षट्खण्ड-सिद्धान्त" नामसे अभिहित किया है। इन्द्रनन्दिके 'श्रुतावतार' के अनुसार 'षट्खण्डागम' का प्रारम्भ आचार्य पुष्पदन्तने किया था। 'धवला' टीकासे भी इसका समर्थन होता है कि सत्प्ररूपणाके सूत्रोंके रचयिता आ० पुष्पदन्त है। दूसरे खण्डसे लेकर छठे खण्ड तककी रचना आ० भूतबलिनेकी थी। उन्होंने आचार्य पुष्पदन्त रचित सूत्रों को मिलाकर पाँच खण्डोंके छह हजार सूत्रोंकी रचना की तथा महाबन्ध नामक छठे खण्डके तीस हजार सूत्रोंकी रचना की। इस प्रकार अनुयोगद्वारके अन्तर्गत षट्खण्डागम एवं पाहुडो (प्राभृतो) की रचना की गई। अकेले अग्रायणी पूर्वके पंचम प्रकरणमें बीस पाहुडोंकी संख्या कही गई है। उनमेंसे चतुर्थ पाहुडका नाम 'कम्मपयडि' (कर्मप्रकृति) है। इस पाहुडके चौबीस अनुयोगद्वार हैं।

द्वादशांग तथा चौदह पूर्वोंके एकदेश ज्ञाता, परम प्रातःस्मरणीय आचार्य धरसेनके प्रमुख शिष्यद्वय आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलिने मिलकर जिस महान् अंगभूत 'षट्खण्डागम' की रचना की थी, उसका ही अन्तिम खण्ड 'महाबन्ध' है। इसे 'महाधवल' भी कहते है। 'महाधवल' का लाक्षणिक अर्थ है—अत्यन्त विशद। वास्तवमें आ० वीरसेन कृत 'धवला' टीकाने 'षट्खण्डागम' के सूत्रोंकी विशद तथा स्पष्ट व्याख्या कर सिद्धान्त रूपी निर्मल जलको सबके लिए सुलभ कर दिया है। यद्यपि अनेक आचार्योंने 'षट्खण्डागम' की टीकाएँ रची, किन्तु जो प्रसिद्धि धवला, जयधवलाकी है, वह अन्य किसीको नही मिली। आचार्य गुणधर कृत 'कसाय-पाहुड' और उसके चूर्णिसूत्रोंकी विशद टीका 'जयधवला' के नामसे आठ हजार श्लोकप्रमाण आचार्य—वीरसेन-

जिनसेन विरचित उपलब्ध होती है। इन दोनों टीकाओंके नाम-सादृश्यपर महाबन्धको कालान्तरमें महाधवल कहा जाने लगा। क्योंकि आ० वीरसेनके समयमें धवल, जयधवलकी प्रसिद्धि थी। वस्तुतः महाबन्धपर कोई टीका आज तक उपलब्ध नहीं है। ब्रह्म हेमचन्द्र कृत 'श्रुतस्कन्ध' में कहा गया है—

सत्तरिसहस्सधवलो जयधवलो सट्ठिसहस्स बोधव्वो।
महबंधं चालीसं सिद्धंततयं अहं वंदे॥

अर्थात्—धवल टीका सत्तर हजार श्लोकप्रमाण है, जयधवल साठ हजार श्लोकप्रमाण है और महाबन्ध चालीस हजार श्लोकप्रमाण है। मैं इन तीनों सिद्धान्त ग्रन्थोंकी वन्दना करता हूँ। यहाँपर 'महाधवल' नामका उल्लेख नही है।

षट्खण्डागमके प्रथम खण्डका नाम 'जीवट्ठाण' (जीवस्थान) है। इसमें चौदह गुणस्थानों तथा चौदह मार्गणाओंकी अपेक्षा सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर भाव, अल्पबहुत्व इन आठ अनुयोग द्वारा जीवका कथन किया गया है। दूसरे खण्डमें ग्यारह प्ररूपणाओं द्वारा कर्मका बन्ध करनेवाले जीवका वर्णन है। तीसरे खण्डमे मार्गणाओंकी अपेक्षा किस गुणस्थानमें कितनी प्रकृतियाँ बँधती है, कितनी बन्ध-व्युच्छित्ति होती है, इत्यादि सविस्तार वर्णन मिलता है। चौथे खण्डमें वेदना अनुयोगद्वारमें ज्ञानावरणदिक आठ कर्मोंकी द्रव्य वेदना, क्षेत्र वेदना, काल वेदना, भाव वेदना, प्रत्यय स्वामित्व वेदना तथा गति, अनन्तर, सन्निकर्ष, परिमाण, भागाभाग, अल्पबहुत्वका कथन है। पाँचवें वर्गणा नामक खण्डमे कर्म-प्रकृतियां तथा पुद्गलकी तेईस प्रकारकी वर्गणाओंका विस्तारसे वर्णन किया गया है। बन्धनके चार भेद कहे गये हैं—बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान।

प्रश्न यह है कि पाँचों खण्डोंमें कर्म विषयक लगभग सम्पूर्ण सामग्रीका निबन्धन हो जानेपर छठे खण्ड की क्या आवश्यकता थी? इसका समाधान करते हुए पण्डितजी अपने लेखमें लिखते हैं—'इस प्रकार उक्त पाँच खण्डोंमें निबन्ध विषयका सामान्य अवलोकन करनेपर विदित होता है कि उक्त पाँचों खण्डोंमें कर्म विषयक सामग्रीका भी यथासम्भव अन्य सामग्रीके साथ यथास्थान निबद्धीकरण हुआ है। फिर भी, बन्धन अर्थाधिकारके बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान इन चारों अर्थाधिकारोंका समग्र भावसे निबद्धीकरण नही हो सका है। अतः इन चारों अर्थाधिकारोंको अपने अवान्तर भेदोंके साथ निबद्ध करनेके लिए छठे खण्ड महाबन्धको निबद्ध किया गया है।' इससे स्पष्ट है कि 'महाबन्ध' का मूल आधार बन्धन नामक अर्थाधिकार है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि 'षट्खण्डागम' में छह खण्ड है। उनके नाम इस प्रकार हैं—१. जीवट्ठाण (जीवस्थान), २. खुद्दाबंध (क्षुल्लक बन्ध), ३. बंधसामित्तविचय (बन्धस्वामित्व विचय), ४. वेयणा (वेदना), ५. वग्गणा (वर्गणा), ६. महाबंध (महाबन्ध)। महाबन्धमें प्रमुख तत्त्व बन्धका विशदतासे विवेचन किया गया है। यद्यपि पाँचवें खण्डमें वर्गणाओंके तेईस भेदोंका सांगोपांग विवेचन हो चुका था, किन्तु बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधानका शृंखला रूपमें क्रमबद्ध विवेचन नही हो पाया था, इसलिए उसे उपन्यस्त करनेके लिए इस खण्डकी आचार्य भूतबलीको अलगसे संयोजना करनी पड़ी।

प्रश्न यह है कि जीव द्रव्य स्वतन्त्र है और प्रत्येक पुद्गल द्रव्य स्वतन्त्र है। जब प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र सत्ता सम्पन्न है, तो बन्ध-अवस्था कैसे उत्पन्न हो जाती है? इसी प्रकार एक जीव द्रव्यकी मुक्त और संसारी ये दो अवस्थाएँ कैसे होती है? यह तो सभी जानते हैं कि किसी भी कार्यके निष्पन्न होनेमें एक नहीं, अनेक कारण होते है। बिना कारणके कोई कार्य नहीं होता। वे कारण दो प्रकारके होते हैं—अन्तरंग और बहिरंग। उनमे अन्तरंग कारण प्रबल माना जाता है। आचार्य समन्तभद्र कहते है कि प्रत्येक द्रव्यके कार्यमे बाह्य

और अन्तरंग उपाधिकी समग्रता होती है। उनकी मीमांसा कर आचार्य भूतबलीने उक्त प्रश्नके उत्तर रूपमें महाबन्धको निबद्ध किया है।

'महाबन्ध' मे मुख्य अधिकार चार हैं—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। इन चारों अधिकारोंका विशद विवेचन 'षट्खण्डागम' के इसे छठे खण्डमे अनुयोगद्वारोंमे विस्तार पूर्वक किया गया है। यह परमागम ग्रन्थ सात पुस्तकोंमे भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित हो चुका है। 'महाबन्ध' का प्रथम भाग सन् १९४७ मे प्रकाशित हुआ था। इसका सम्पादन पं० सुमेरुचन्द्र दिवाकर शास्त्रीने किया था। महाबन्धकी पुस्तक २ से लेकर ७ तक छहों भागोंका सम्पादन तथा हिन्दी अनुवाद पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्रीने अकेले ही अत्यन्त सफलता पूर्वक किया। उनके सम्बन्धमे डा० हीरालाल जैन और डॉ० आ० ने० उपाध्येके विचार हैं—'इस खण्डके सम्पादक प० फूलचन्द्रजी शास्त्रीसे विद्वत्समाज भलीभाँति परिचित है। धवल सिद्धान्तके सम्पादन व प्रकाशन-कार्यमें उनका बड़ा सहयोग रहा है और अब पुनः सहयोग मिल रहा है। उन्होने इस खण्डके सम्पादनका कार्य सहर्ष स्वीकार किया और आशातीत स्वल्प कालमे ही—इतना सम्पादन और अनुवाद करके सिद्धान्तोद्धारके पुण्यकार्यमे उत्तम योगदान दिया है। इस कार्यके लिए ग्रन्थमालाकी ओरसे हम उन्हे हार्दिक धन्यवाद देते है और आशा करते है कि वे ऐसी ही लगनके साथ शेष खण्डोंका भी सम्पादनकर इस महान् साहित्यिक निधिको शीघ्र सर्वसुलभ बनानेमे सहायक होनेका पुण्य प्राप्त करेंगे। कार्य वेगसे किये जाने पर भी, सिद्धहस्त होनेके कारण पण्डितजीके सम्पादन व अनुवाद कार्यसे हमे बड़ा सन्तोष हुआ है और भरोसा है कि पाठक भी इससे सन्तुष्ट होंगे।

यह भी एक विचित्र संयोग तथा गौरवकी बात है कि जिन-जिन विद्वानो ने धवला, जयधवला, महा-धवलादि ग्रन्थोंके सम्पादन एवं अनुवादमें सहयोग किया, उनमेंसे पण्डितजी आज भी सक्रिय है। उनके अनथक अध्यवसायसे भी ही जिनवाणीका अवशिष्ट भाग राष्ट्रभाषाके माध्यमसे तथा मूल शुद्ध रूपमे जन-जनको सुलभ हो सका है।

श्री भगवन्त भूतबलि भट्टारक प्रणीत महाबन्धके द्वितीय भागमे सर्वप्रथम स्थितिबन्धका विवेचन किया गया है। स्थितिबन्ध दो प्रकारका है—मूलप्रकृति स्थितिबन्ध और उत्तरप्रकृति स्थितिबन्ध। मूल प्रकृति स्थितिबन्धका विचार स्थितिबन्धस्थान-प्ररूपणा, निषेक-प्ररूपणा, आबाधाकाण्डक-प्ररूपणा और अल्पबहुत्व इन चार अनुयोगोंके द्वारा किया गया है। प्रथम भागमे प्रकृतिबन्धका अनुयोगद्वारोंमें विवेचन है। प्रकृतिबन्धको ओघ और आदेशसे प्रथम अर्थाधिकारमें विविध अनुयोगोंके द्वारा निबद्ध किया गया है। इस परमागममे जीवसे सम्बद्ध होने वाले कर्म, उनकी स्थिति और अनुभाग (फल-दानकी शक्ति) के साथ ही संख्यामें वे प्रदेशोंकी अपेक्षा कितने होते हैं, इसका वर्णन किया गया है। 'कर्म' शब्दका प्रयोग तीन अर्थमे किया गया है–(१)जीवकी स्पन्दन क्रिया, (२)जिन भावों से स्पन्दन क्रिया होती है उनके संस्कारसे युक्त कार्मण पुद्गल तथा (३) वे भाव जो कार्मण पुद्गलोंमे संस्कार के कारण होते हैं। जिन भावोंसे स्पन्दन क्रिया होती है वे भाव और स्पन्दन क्रिया अनन्तर समयमे निवृत्त हो जाती है। लेकिन संस्कारसे युक्त कार्मण पुद्गल जीव साथ चिर काल तक सम्बद्ध रहते हैं। अपना काम पूरा करके ही वे निवृत्त होते है। सभी पुद्गल कर्म भावको प्राप्त नही होते है। मुख्य रूपसे पुद्गलोंकी २३ जातियाँ कही गई हैं। उनके नाम है—अणुवर्गणा, संख्याताणुवर्गणा, असंख्यताणुवर्गणा, अनन्ताणुवर्गणा, आहारवर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, तैजसवर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, भाषावर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, मनोवर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, कार्मण वर्गणा, ध्रुववर्गणा, सान्तर निरन्तर वर्गणा, शून्यवर्गणा, प्रत्येकशरीर वर्गणा, ध्रुवशून्य वर्गणा, बादरनिगोदवर्गणा, शून्य वर्गणा, सूक्ष्मनिगोद वर्गणा, शून्य वर्गणा, महास्कन्ध वर्गणा। ये २३ प्रकारकी पुद्गल वर्गणाएँ ही कर्म भावको प्राप्त होती हैं। इन वर्गणाओंमे से आहारवर्गणा, तैजसवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा और कर्मणवर्गणा

ये पाँच वर्गणाएँ जीव ग्रहण करता है। इनके अतिरिक्त वर्गणाएँ अग्राह्य कही गई हैं। राग, द्वेष आदि परिणामोंके निमित्तसे जीवके आत्म-प्रदेशोंके साथ कार्मण वर्गणाओंका जो संयोग होता है उसे 'बन्ध' कहा गया है। बन्धका अन्य कोई अर्थ नहीं है।

प्रश्न यह है कि मिथ्यादर्शन, रागादिके निमित्तसे कर्म भावको प्राप्त होनेवाली वर्गणाए कर्म रूप होकर जीवसे सम्बद्ध होकर रहती हैं या नहीं? इसका समाधान विशेष रूपसे महाबन्धमें किया गया है। पण्डितजी ने अपने शब्दोंमें उसे संक्षेपमें इस प्रकार लिखा है–'परमागममें बन्ध दो प्रकारका बतलाया है—एक तादात्म्य सम्बन्ध रूप और दूसरा संयोग सम्बन्ध रूप। इनमेंसे प्रकृतमें तादात्म्य सम्बन्ध विवक्षित नही है। क्योंकि प्रत्येक द्रव्यका अपने गुण-पर्यायके साथ ही तादात्म्य रूप बन्ध होता है; दो द्रव्यों या उनके गुण-पर्यायोंके मध्य नहीं। संयोग सम्बन्ध अनेक प्रकारका होता है। सो उसमें भी दो या दो से अधिक परमाणुओं आदिमें जैसा श्लेष बन्ध होता है, वह भी यहाँ विवक्षित नहीं है। क्योंकि पुद्गल स्पर्शवान द्रव्य होनेपर भी जीव स्पर्शादि गुणोसे रहित अमूर्त द्रव्य है। अतः जीव और पुद्गलका श्लेषबन्ध बन नहीं सकता। स्वर्णका कीचड़के मध्य रहकर दोनोंका जैसा संयोग सम्बन्ध होता है, ऐसा भी यहाँ जीव और कर्मका संयोग सम्बन्ध नहीं बनता। क्योंकि कीचड़के मध्य रहते हुए भी स्वर्ण कीचड़से अलिप्त रहता है। कीचड़के निमित्तसे स्वर्णमें किसी प्रकार का परिणाम नही होता। मात्र परस्पर अवगाह रूप संयोग सम्बन्ध भी जीव और कर्मका नही स्वीकार किया जा सकता, क्योंकि जीव-प्रदेशोंका विस्रसोपचयोंके साथ परस्पर अवगाह होने पर भी विस्रसोपचयोंके निमित्तसे जीवमें नरकादि रूप व्यंजन पर्याय और मिथ्यादर्शनादि भाव रूप किसी प्रकारका परिणाम नही होता। तब यहाँ किस प्रकारका बन्ध स्वीकार किया गया है? ऐसा प्रश्न होने पर उसका समाधान यह है कि जीवके मिथ्यादर्शनादि भावोको निमित्तकर जीव प्रदेशोंमे अवगाहन कर स्थित विस्रसोपचयोंके कर्म भावको प्राप्त होने पर उनका और प्रदेशोंमे परस्पर अवगाहन कर अवस्थित होना यही जीवका कर्मके साथ बन्ध है। ऐसा बन्ध ही प्रकृतमें विवक्षित है। इस प्रकार जीवका कर्मके साथ बन्ध होने पर उनकी प्रकृतिके अनुसार उस बन्धको प्रकृतिबन्ध कहते है 'प्रकृतिका' अर्थ स्वभाव है किन्तु वह जीवका स्वभाव न होकर कर्मपरमाणुओंका स्वभाव है। आगत कर्म-परमाणु जितने समय तक आत्माके साथ संयोग सम्बन्ध रूपसे रहते हैं, उस कालकी अवधिको स्थितिबन्ध कहते है। उन कर्म-परमाणुओंमे फल देनेकी शक्तिको अनुभाग बन्ध कहते है। आत्माके साथ संयोग सम्बन्ध रूपसे रहने वाले कर्म-परमाणुओका ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी आदि आठ कर्म रूपसे और उनकी उत्तर प्रकृतियोंके रूपसे जो बँटवारा होता है, उसे प्रदेशबन्ध कहते है। बन्धके इन चार भेदोंका 'महाबन्ध' मे विस्तारके साथ वर्णन किया गया है। आचार्य भूतबलिने इतना विशद विवेचन किया है कि प्रारम्भके पाँच खण्डोंकी तुलनामे इसका परिमाण पंचगुना हो गया है। सभी दृष्टियोंसे यह जानने, समझने तथा हृदयंगम करने योग्य है।

'महाबन्ध' मे बन्धविषयक सांगोपांग स्पष्ट विवेचन है। इसलिये किसी भी परवर्ती आचार्यको इस पर टीकाभाष्य या व्याख्या करनेकी आवश्यकता प्रतीत नही हुई। उदाहरणके लिए, षट्खण्डागमके छठे खण्डके तीसरे भागमे अनुभागबन्धकी प्ररूपणा है। अनुभागका अर्थ है—कर्मोंमे फल-दानकी शक्ति। गुणस्थानोंकी परिपाटीके अनुसार योगके निमित्तसे मूल तथा उत्तर प्रकृतियोंका बन्ध होता है। कषायके अनुसार उनमे न्यूनाधिक शक्तिका निर्माण होता है। शक्तिका कम-अधिक होना ही अनुभाग है। प्रत्येक कर्ममें अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार अनुभाग-शक्ति प्रकट होती है। अतः प्रकृतिको सामान्य तथा अनुभागको विशेष भी कहा जाता है। यद्यपि मूल प्रकृतियोके भेद-प्रभेद विशेष ही हैं, किन्तु फल-दानकी शक्तिकी तर-तमतासे वे सामान्य भी है। वस्तुतः प्रकृति-बन्धमें जो विशेषता लक्षित होती है उसका कारण मुख्य रूपसे अनुभाग बन्ध ही है। बन्धकी अपेक्षा अनुभाग दो

प्रकारका है—मूलप्रकृति अनुभाग बन्ध और उत्तरप्रकृति अनुभाग बन्ध। मूल प्रकृतियाँ आठ हैं। बन्धके समय इनमें फल-दानकी शक्ति उत्पन्न होती है उसे मूलप्रकृति अनुभागबन्ध कहते हैं। इसी प्रकारसे उत्तर प्रकृतियोंमें जो अनुभाग पड़ता है उसे उत्तरप्रकृति अनुभागबन्ध कहते हैं। प्रत्येक समयमे जो कर्म बँधता है उसका विभाग दो प्रकारसे होता है—स्थितिकी अपेक्षा और अनुभागकी अपेक्षा। प्रत्येक समयमे, आबाधा कालको छोड़कर, स्थिति कालसे लेकर जो कर्म-पुंज प्राप्त होता है उसे स्थितिकी अपेक्षा निषेक कहा जाता है। प्रत्येक समयमे वह अपनी स्थितिके अनुसार विभाजित हो जाता है। केवल आबाधाके कालमें निषेक-रचना नही होती। अनुभागकी अपेक्षा जघन्य अनुभाग वाले कर्म-परमाणुओंकी प्रथम वर्गणा होती है। उसके प्रत्येक परमाणुको वर्ग कहते हैं। क्रम-वृद्धि रूप फल-दानकी शक्तिको लिए हुए अन्तर रहित वर्गणाएँ जहाँ तक उपलब्ध होती है उसको स्पर्धक कहते हैं। स्पर्धक देशघाती और सर्वघातीके भेदसे दो प्रकारके होते है। इन दोनों प्रकारके स्पर्धकोंकी स्थिति निषेक-रचनाके प्रारम्भसे लेकर अन्त तक बनी रहती है। इन स्पर्धकोंमे मुख्य अन्तर यह है कि देशघाती स्पर्धक आठों कर्मोंके होते हैं, किन्तु सर्वघाती स्पर्धक केवल चार घातिकर्मोंके ही होते हैं। एक वर्गमें अनन्तानन्त अविभागी प्रतिच्छेद परिलक्षित होते है। वर्ग परस्पर मिलकर एक वर्गणाका निर्माण करते है। इस प्रकार अनन्तानन्त वर्गणाएं मिलकर एक स्पर्धककी रचना करती है। इस तरहसे इस प्रकरणका विस्तारके साथ विवेचन किया गया है। संक्षेपमे, निम्नलिखित प्रकरण इस एक पुस्तकमे समाविष्ट है—१. निषेक-प्ररूपणा, २ स्पर्धक प्ररूपणा, ३. संज्ञा, ४. सर्व-नोसर्व बन्ध, ५. उत्कृष्ट अनुत्कृष्ट बन्ध, ६. जघन्य-अजघन्य बन्ध, ७. सादि-अनादि-ध्रुव-अध्रुव बन्ध, ८. स्वामित्व बन्ध, ९. भुजगार बन्ध, १०. पद-निक्षेप, ११. वृद्धि, १२. अध्यवसानसमुदाहार, १३. जीवसमुदाहार।

इसी प्रकार चौथी पुस्तकमे स्थितिविभक्ति अधिकार है। स्थिति दो प्रकारकी कही गई है—बन्धके समय प्राप्त होनेवाली और संक्रमण, स्थितिकाण्डकघात, अधः स्थिति गलन होकर प्राप्त होनेवाली स्थिति। इन सभी भेदोका अनुयोगद्वारसे सविशद विवेचन किया गया है। अनुयोगद्वार इस प्रकार है—अद्धाच्छेद, सर्व-विभक्ति, नोसर्वविभक्ति, उत्कृष्टविभक्ति, अनुत्कृष्टविभक्ति, जघन्यविभक्ति, अजघन्यविभक्ति, सादिविभक्ति, अनादिविभक्ति, ध्रुवविभक्ति, अध्रुवविभक्ति, एक जीवकी अपेक्षा स्वामित्व, काल, अन्तर, नाना जीवोंकी अपेक्षा भंगविचय, परिमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, सन्निकर्ष, भाव और अल्पबहुत्व। यद्यपि मूल प्रकृति की स्थितिविभक्ति एक है, उनमे अनुयोगद्वार सम्भव नही हैं; परन्तु उत्तरप्रकृतियोंकी अपेक्षा असंख्यात भेद हैं।

कोई भी कर्म हो वह अपनी स्थितिके सब समयोमे विभाजित हो जाता है। केवल बन्ध-समयसे लेकर प्रारम्भके कुछ समय ऐसे होते है जिनमें वह कर्मरूपको प्राप्त नही होता, उन समयोको ही आबाधाकाल कहते हैं। उदाहरणके लिए, मोहनीय कर्मका सत्तर कोडाकोडी सागरप्रमाण स्थित-बन्ध होने पर बन्ध-समयसे लेकर सात हजार वर्ष तक सभी समय खाली रहते है। पश्चात् प्रथम समयके बटवारेमे जो भाग आता है वह सबसे बड़ा होता है, अनन्तर हीन-हीन होता जाता है। मोहनीयकी जो उत्कृष्टस्थिति सत्तर कोड़ा-कोडी सागर कही गई है वह अन्तिम समयके बटवारेमे प्राप्त होनेवाले द्रव्यकी अपेक्षासे कही गई है। मोहनीयकी उत्तर प्रकृतियों की अपेक्षा मिथ्यात्वका उत्कृष्ट अद्धाच्छेद मोहनीय सामान्यके समान सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर है। तथा सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वका उत्कृष्ट अद्धाच्छेद अन्तर्मुहूर्त कम सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर है, क्योंकि ये दोनों बन्ध प्रकृतियाँ न होकर संक्रम प्रकृतियाँ है। इसलिए जिस जीवने मिथ्यात्वका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करके उसका काण्डकघात किये बिना अन्तर्मुहूर्त कालके भीतर वेदकसम्यक्त्वको प्राप्त किया है, उसके वेदकसम्यक्त्वको प्राप्त करनेके प्रथम समयमे अन्तर्मुहूर्त कम मिथ्यात्वके सब निषेकोंका कुछ द्रव्य संक्रमणके नियमानुसार सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व रूपसे संक्रमित हो जाता है। इसलिए इन दो प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अद्धाच्छेद अन्तर्मुहूर्त

कम सत्तर कोडाकोड़ी सागर प्रमाण प्राप्त होता है। सोलह कषायोंका उत्कृष्ट अद्धाच्छेद चालीस कोडाकोड़ी सागर प्रमाण है, क्योंकि संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवके इन कर्मोका इतना उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है। नौ नोकषायोंका उत्कृष्ट अद्धाच्छेद एक आवलि कम चालीस कोडाकोड़ी सागर प्रमाण है। यद्यपि नौ नोकषाय बन्धप्रकृतियाँ हैं, परन्तु बन्धसे इनकी उक्त प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त नही होती।

विषय-परिचयके अन्तर्गत पण्डितजीने उक्त सभी विवरण दिया है। इसे पढ़कर तथा अध्ययन कर कोई भी विद्वान् उनके सैद्धान्तिक ज्ञानकी गहराईका अनुमान लगा सकता है। इतना ही नहीं, हिन्दी अनुवादके साथ उन्होंने लगभग प्रत्येक पृष्ठ पर जो विशेषार्थ दिया है, वह विशेष रूपसे मननीय है। इनके अध्ययनसे जहाँ विषय स्पष्ट हो जाता है, वहीं अन्य आचार्योका मत, तुलनात्मक टिप्पणी एवं प्रकरणके अन्तर्गत अध्याहृत बातें भी स्पष्ट हो जाती हैं। उदाहरणके लिए विशेषार्थ है—क्षायिक सम्यक्त्वका उत्कृष्ट काल साधिक तेंतीस सागर है। इसलिए इसमे चार घातिकर्मोके उत्कृष्ट अनुभागबन्धका उत्कृष्ट अन्तर साधिक तेंतीस सागर कहा है। उपशमश्रेणिमे क्षायिक सम्यक्त्व भी होता है और इसमे चार घातिकर्मोके अनुत्कृष्ट अनुभागबन्धका अन्तर-काल अन्तर्मुहूर्त बन जाता है। इसलिए क्षायिक सम्यक्त्वमे इन कर्मोके अनुत्कृष्ट अनुभागबन्धका उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त कहा है। शेष कथन सुगम है।

यहाँ पर अन्तर-प्ररूपणाकी दृष्टिसे निरूपण किया गया है। आचार्य यतिवृषभने अपने चूर्णि-सूत्रोंमें ओघसे मिथ्यात्वकी तीन वृद्धि, चार हानि और अवस्थित स्थितिविभक्तिका जघन्य और उत्कृष्ट अन्तरकाल बतलाया है। आचार्य वीरसेन स्वामीने इसका विस्तारसे विवेचन किया है कि वह अन्तर काल कैसे प्राप्त होता है? "महाबन्ध" मे अनुभागबन्धके अधिकारके अन्तर्गत भगवन्त भूतबलिने उत्कृष्ट और जघन्य रूपोंमें नाना जीवोंकी अपेक्षा भंगविचय, भागाभाग, परिमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर आदिकी प्ररूपणा की है। वहाँ यह कथन स्पष्ट है कि अनुभागके बन्धक जीवोंका जघन्य अन्तर एक समय है और उत्कृष्ट अन्तर छह महीना है। अनुत्कृष्ट अनुभागके बन्धक जीवोंका अन्तरकाल नही है। इनमे आभिनिबोधिक ज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधि-ज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी, संयत, शुक्ल लेश्या वाले, भव्य, सम्यग्दृष्टि तथा क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवोंकी परि-गणनाकी गई है।

बन्धके समय कर्मका जो अनुभाग प्राप्त होता है उसका विपाक जीवमे, पुद्गलमे या जहाँ कही होता है, उसका विचार विपाकदेशमे किया गया है। विपाककी दृष्टिसे कर्मोके चार भेद किये गये हैं—जीव-विपाकी, भवविपाकी, पुद्गलविपाकी और क्षेत्रविपाकी। यद्यपि सभी कर्मोकी रचना परिणामोसे होती है; निमित्त—भेदकी अपेक्षा उनमे भेद किया जाता है, किन्तु बन्धके समय प्रशस्त परिणामोंसे जिनको अनुभाग अधिक मिलता है उनको प्रशस्तकर्म और अप्रशस्त परिणामोंसे अधिक अनुभाग मिलने वालोंको अप्रशस्तकर्म कहा जाता है। चारों घातिया कर्म अप्रशस्त है और अघातिया कर्म प्रशस्त, अप्रशस्त दोनों प्रकारके हैं। विशुद्ध परिणामोंकी बहुलताकी दृष्टिसे सम्यक्त्वके सन्मुख मिथ्यादृष्टि नारकीमे जितनी विशुद्धता हो सकती है, उतनी वायुकायिक और अग्निकायिक जीवोंमे सम्भव नही है। इस प्रकार गति, परिणाम, काल आदिका विचार ओघ और आदेशसे किया गया है।

कही-कहीं पण्डितजीको विशेषार्थ इतना लम्बा लिखना पड़ा है कि मूल भाग आधे पृष्ठको पूरे तीन तीन पृष्ठोंमें स्पष्ट करना पडा है। जिनागममें कई अपेक्षाओंसे विवेचन किया गया है। अकेले कालकी प्ररूपणा जघन्य और उत्कृष्टके भेदसे दो प्रकारसे की गई है। फिर, निर्देश भी दो प्रकारसे है—ओघ और आदेशसे। अतः विशेषार्थमें विशेष रूपसे स्पष्टीकरण आवश्यक था। कहा भी है—

"सब कर्मोका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध उत्कृष्ट योगके सद्भावमें होता है। और उत्कृष्ट योगका जघन्य काल एक रहस्यमय और उत्कृष्ट काल दो समय है। इसलिए यहाँ ओघसे आठों कर्मोके उत्कृष्ट प्रदेशबन्धका जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल दो समय कहा है। यह सम्भव है कि अनुत्कृष्ट योग एक समय तक हो और अनुत्कृष्ट योगके सद्भावमें उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सम्भव नहीं, इसलिए ओघसे आठों कर्मोके अनुत्कृष्ट प्रदेश-बन्धका जघन्य काल एक समय कहा है। अब शेष रहा आठों कर्मोके अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्धका उत्कृष्ट काल सो उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है"—

विशेषार्थमें यह ध्यान बराबर रखा गया है कि जो बात पहले लिख आये हैं उसकी पुनरावृत्ति न हो। इसलिए कहीं-कहीं संकेत या उल्लेख भी किया गया है। जैसे कि काल-प्ररूपणाके प्रकरणमें विशेषार्थमें लिखा गया है—

'कालका खुलासा पहले जिस प्रकारकर आये हैं उसे ध्यानमें रखकर यहाँ भी कर लेना चाहिए। मात्र बादर पर्याप्त निगोदोंका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त जानना चाहिए।'

इस प्रकार आगम ग्रन्थोंके सतत अभ्याससे जिन्होंने सिद्धान्तके प्ररूपणमें विशदता प्राप्त की है उनके सम्पादित ग्रन्थ स्वतः सिद्धान्तमय हैं, इसमें आश्चर्यकी क्या बात है?



तत्त्वार्थसूत्रटीका : एक समीक्षा

डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर

तत्त्वार्थसूत्रके पूर्व जैन श्रुतमें तत्त्वोंका निरूपण भगवन्त पुष्पदन्त और भूतबलिके द्वारा प्रचारित सत् संख्या आदि अनुयोगोके माध्यमसे होता था। इसका उल्लेख तत्त्वार्थसूत्रमें 'सत्संख्या क्षेत्र स्पर्शन कालान्तर भावाल्प बहुत्वैश्च' सूत्रके द्वारा किया है। इस शैलीका अनुगमन करनेवाला आचार्य नेमिचन्द्रजीका गोम्मटसार है। उमास्वामी महाराजने तत्त्वार्थसूत्रमें जिस शैलीको अंगीकृत किया, वह सरल होनेसे सबको ग्राह्य हुई। तत्त्वार्थसूत्रपर दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो सम्प्रदायोंमें विविध संस्कृत टीकाएँ लिखी गई है। आचार्य पूज्यपादकी 'सर्वार्थसिद्धि' अकलंकदेव का राजवार्तिक विद्यानन्दका श्लोकवार्तिक और उमास्वातिका तत्त्वार्थाधिगमभाष्य अत्यन्त प्रसिद्ध टीकाएँ हैं। समन्तभद्र स्वामीके गन्धहस्ति महाभाष्यका उल्लेख मात्र मिलता है, पर ग्रन्थ कहीं उपलब्ध नहीं हो रहा है। यह रही संस्कृत टीकाओकी बात, परन्तु तत्त्वार्थसूत्रकी शैलीसे तत्त्वोंका निरूपण करनेवाले हरिवंशपुराण, आदिपुराण, पद्मपुराण तत्त्वार्थसार तथा पुरुषार्थसिद्धघुपाय आदि अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध हैं। तात्पर्य यह है कि यह तत्त्व-निरूपणकी शैली ग्रन्थकारोको इतनी रुचिकर लगी कि पूर्व शैलीको एकदम भुला दिया गया है।

"तत्त्वार्थसूत्र" पर अनेकों विद्वानोंने हिन्दी टीकाएँ लिखी हैं जो संक्षिप्त, मध्यम और विस्तृत सब प्रकारकी हैं। पं० सदासुखरायजी कासलीवालकी 'अर्थ प्रकाशिका' नामकी विस्तृत टीका है। उसमें प्रसङ्गोपान्त अनेक विषयोंका समावेश किया गया है। आधुनिक टीकाओंमें सिद्धान्ताचार्य पण्डित फूलचन्द्रजी शास्त्रीकृत और वर्णी ग्रन्थमालासे प्रकाशित टीका 'तत्त्वार्थसूत्र' हमारे सामने है। इस टीकामें पण्डितजीने टिप्पणमें श्वेताम्बर

सम्प्रदायमें प्रचलित पाठ-भेदोंका भी समुल्लेख किया है तथा प्रश्नोत्तरकी पद्धतिको अपनाकर प्रसङ्गागत अनेक विषयोंको स्पष्ट किया है ।

पण्डित फूलचंद्रजी धवलादि ग्रन्थोंके माने हुए विद्वान् हैं । अतः उन्होंने बीच-बीचमें उसके आश्रयसे विषयको स्पष्ट किया है । यथा—

प्रथमाध्यायमें व्यञ्जनावग्रह और अर्थावग्रहके स्वरूप तथा भेदोंको स्पष्टकर यह प्रतिफलित किया है कि चक्षु और मन जहाँ अप्राप्यग्राही है, वहाँ शेष चार इन्द्रियाँ प्राप्यग्राही तथा अप्राप्यग्राही—दोनों प्रकारकी हैं । प्रमाण और नयोंका विवेचनकर उनका अन्तर बतलाया है तथा नैगमादि नयोंका विशद विवेचन किया है ।

द्वितीयाध्यायमें वेदोंके साम्य और वैषम्यका विषय स्पष्टकर अकालमरणके रहस्यको उद्घाटित किया है । औदारिकादि शरीरोंकी विशिष्टता प्रकट करते हुए आहारक और अनाहारकके स्वरूपकी चर्चाकी है । विग्रहगतिके भेद और उसमें पाई जानेवाली आहारक तथा अनाहारक अवस्थाको स्पष्ट किया है । भवस्थिति और कायस्थितिका अन्तर बतलाया है । ऋजुगतिवाला जीव अनाहारक क्यों नहीं होता है ? इसका प्रतिपादन किया है ।

तृतीयाध्यायके प्रारम्भमें लोककी आकृति तथा भेदोंकी चर्चाकर उसके चित्र देते हुए घनफल निकालने की विधिको दर्शाया है । अधोलोकका विस्तृत वर्णन कर रत्नप्रभा आदि पृथिवियोंके स्वरूपपर अच्छा प्रकाश डाला है ।

चतुर्थाध्यायमें वैमानिक देवोंकी स्थितिका वर्णन करते हुए घातायुष्क और अघातायुष्क देवोंकी चर्चाकी है तथा घातायुष्क कहाँ तक उत्पन्न होते हैं उनकी आयु अन्यदेवोंकी आयुकी अपेक्षा कितनी अधिक होती है, यह स्पष्ट किया है ।

पञ्चमाध्यायमें जीवाजीवादि द्रव्योंकी चर्चा करते हुए आधुनिक विज्ञानका आश्रय लेकर षड्द्रव्योंका समर्थन किया है । खासकर धर्म अधर्मकी कल्पनाको स्पष्ट किया है । पञ्चमाध्यायका विवेचन प्रवचनकर्त्ता विद्वानोंको खासकर देखना चाहिए इससे अनेक प्रवचनोंमे रोचकता और आकर्षण उत्पन्न होगा । परमाणुओंका परस्पर बन्ध क्यों होता है और किस स्थितिमें होता है यह सब विषय अत्यधिक स्पष्ट किया है । प्रसङ्गोपात्त विभिन्न उपादानकी चर्चाकी गई है ।

षष्ठ अध्यायमें सातावेदनीय, असातावेदनीय, दर्शनमोह और चारित्रमोहके आस्रवोंकी चर्चा करते हुए केवलीके कवलाहार क्यों नहीं होता है ? आदि विषयोंको स्पष्ट किया है ।

सप्तमाध्यायमें हिंसा-अहिंसाके स्वरूपका दिग्दर्शन कराते हुए रात्रिभोजन-परित्यागपर पर्याप्त प्रकाश डाला है और समाजमें बढ़ते हुए शिथिलाचार पर खेद व्यक्त किया है । व्रतोंके अतिचारोंका भी स्वरूप चित्रण अच्छा हुआ है । इसी अध्यायमें सल्लेखनाकी चर्चा करते हुए प्रश्नोत्तरोंके माध्यमसे स्पष्ट किया है कि सल्लेखना करनेवाला आत्मघाती नहीं है ।

अष्टमाध्यायमें कर्म तथा उसकी अवान्तर प्रकृतियोंकी चर्चा करते हुए सातावेदनीय तथा असातावेदनीय यतश्च जीव क्रियाकी प्रकृतियाँ है । अतः सुख दुःखका वेदन तो कराती है, परन्तु उनकी सामग्री एकत्रित नहीं करती । यह सामग्री अन्यान्य कर्मोंके उदयसे एकत्रित होती है । इस विषयकी विशद चर्चाकी है । प्रदेशबन्ध की चर्चा करते हुए कर्मोंके विषयमें विशद जानकारी दी है ।

नवमाध्यायमें, बारह अनुप्रेक्षाओं, बाईस परिषहों तथा धर्म्यध्यान और शुक्लध्यानके भेदोंकी अच्छी चर्चाकी है । सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यातचारित्र तथा अनशनादि तपोंका विशद वर्णन किया है । निर्जराके दश स्थानोंका स्पष्टीकरण भी उत्तम हुआ है ।

दशमाध्यायमें केवलज्ञानकी प्राप्तिके कारणोंपर प्रकाश डालकर मोक्षका स्वरूप तथा मुक्त जीवोंमें जिन क्षेत्र, काल आदि १२ अनुयोगोंसे वैशिष्टय होता है उनका स्पष्टीकरण है।

"तत्त्वार्थसूत्र" जिनागमका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, यह सर्वमान्य बात है। इसमें प्रथमानुयोगको छोड़कर शेष तीन अनुयोगोंका सार संगृहोत है। इसके विधिवत् स्वाध्यायसे जिनागमका अच्छा ज्ञान हो जाता है। पर्युषण पर्वमें इसीका प्रवचन सर्वत्र चलता है और अतिरिक्त समयमें भी सबलोग इसके प्रति अपार श्रद्धा रखते हैं। मेरी रायमें पंडित फूलचन्द्रजी द्वारा रचित इस हिन्दी टीकाको एक बार अवश्य पढना चाहिए। पठन-पाठन के लिए तो यह छात्रोंके लिए बोझिल होगी, पर विद्वानोंको अपना ज्ञान परिपक्व करनेके लिए परमसहायक सिद्ध होगी। टीकामें कुछ विषय ऐसे अवश्य हैं जिनपर विद्वान् चर्चा किया करते हैं, पर उन अल्प विषयोंको गौणकर टीकाका स्वाध्याय करें और प्रवचनकर्ता इसे मनोयोग पूर्वक पढ़ें तो उनके ज्ञानमे परिपक्वता नियम से आवेगी।

●

पंचाध्यायी टीका : एक अध्ययन

पण्डित नाथूलाल शास्त्री, इन्दौर

देशके लब्धप्रतिष्ठ प्रकाण्ड विद्वान् सिद्धान्ताचार्य श्री पण्डित फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री, वाराणसीकी साहित्य सेवाओंके प्रति जितनी भी कृतज्ञता प्रदर्शित की जावे, थोड़ी है। उनकी अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाओंमे एक पंचाध्यायी हिन्दी टीका भी है।

अजमेर शास्त्र भण्डारसे प्राप्त हस्तलिखित पंचाध्यायीका अध्यापन श्री पण्डित बालदेवदासजीके बाद गुरु गोपालदासजी बरैयाने मुरैना महाविद्यालयमे श्री पण्डित वंशीधरजी न्यायालंकार, श्री पंडित मक्खनलालजी एवं श्री पंडित देवकीनन्दनजी व्याख्यानवाचस्पति आदि उनके प्रमुख शिष्योंको पढाते हुए श्री पं० मक्खन-लालजीसे उसका हिन्दी अनुवाद कराया था। वह अपूर्ण ग्रन्थ शास्त्री परीक्षाके पाठ्यक्रममे हो जानेसे व छात्रोंके पठन-पाठनमें उपयोगमें आने लगा है।

पंचाध्यायी ग्रन्थको ग्रन्थकारने पाँच अध्यायोंमें लिखनेका संकल्प किया था परन्तु उपलब्ध ग्रन्थ केवल डेढ़ अध्यायमें ही है। सम्भव है लिखते हुए ग्रन्थकारका स्वर्गवास हो गया हो।

इस ग्रन्थके रचयिताके सम्बन्धमें श्री पंडित मक्खनलालजीने गम्भीर और महत्त्वपूर्ण रचनाकी दृष्टिसे आचार्य अमृतचन्द्रके नामका उल्लेख किया है। पंडितजीने अपनी आलोचनात्मक ग्रन्थ "आगम मार्ग प्रकाश" में पंचाध्यायीके सम्बन्धमें विस्तारसे विवेचन किया है। श्री पंडित जुगलकिशोरजी मुख्तारने पंचाध्यायीके कर्ता पंडित राजमलजीको माना है। श्री पंडित फूलचन्द्रजीने भी इन्होको उक्त ग्रन्थका कर्ता स्वीकार किया है।

हमारी दृष्टिमें भी पंचाध्यायोकी रचना आचार्य अमृतचन्द्रकी नही है। पंचाध्यायीके जो शंका समा-धानके रूपमें अनेक श्लोक हैं, उनमें अधिक विस्तार हो गया है जो अमृतचन्द्र सूरीकी शैलीके अनुरूप नहीं। जबकि अमृतचन्द्र सूरीकी भाषामें प्रौढता और सूत्र रूप शब्दावली दृष्टिगोचर होती है। ग्रन्थकर्ता अपना नाम ग्रन्थके अन्तमें दिया करते हैं। जब यह ग्रन्थ पूर्ण ही नही हो सका तो ग्रन्थकर्ताको अपना परिचय देनेका अवसर

ही कहाँ मिल सका ? पंचाध्यायीमें कतिपय स्थानोंपर "तदाह सूरिः" ऐसे वाक्य आनेसे यह प्रतीत होता है कि किसी प्राचीन आचार्य (अमृतचन्द्र सूरी) की रचनाको पंचाध्यायीकारने हृदयंगम कर अपनी इस कृतिकी रचना की है। स्वयं अमृतचन्द्र अपनेको सूरी बताकर उत्तर देवें यह असंगत मालूम होता है। श्री पंडित मक्खनलाल जी शास्त्रीके पंचाध्यायी हिन्दी अनुवादके पश्चात् सन् १९३२ में श्री पंडित देवकीनन्दन सिद्धान्तशास्त्रीने पंचाध्यायीकी हिन्दी गीता रचकर कारंजा आश्रमसे प्रकाशित कराई थी। उसमें शब्दानुगामी अर्थ और तात्पर्य का पूरा ख्याल रखा गया है। जबकि पूर्व टीकामें भावार्थ और उसके विस्तारको महत्त्व दिया गया है इससे कहीं-कहीं मूलका हार्द छूट-सा गया है। तीसरी बार पंचाध्यायीकी टीका श्री पं० देवकीनन्दन और उसका सम्पादन श्री पण्डित फूलचन्द्रजीने किया जो सन् १९५० में "श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला", वाराणसीसे प्रकाशित हुई। इसमे मूलविषयको स्पर्श करते हुए स्वतन्त्र रूपसे विवेचन किया गया है। पंचाध्यायीका संक्षिप्त हिन्दी भाषा अनुवाद और नयकी दृष्टिसे विचार करते हुए श्री सरनारामजीने भी किया है। वर्णी ग्रन्थमालाकी इस पंचाध्यायीमे विषयको खूब स्पष्ट किया गया है। जिसमें श्री पंडित फूलचन्द्रजीका अपने गुरु श्री देवकीनन्दनजीके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए विशेष हाथ है। इसकी प्रस्तावना भी पंडित फूलचन्द्रजीने ५२ पृष्ठोंमे लिखी है उसमे प्रस्तुत ग्रन्थका सार आ गया है।

कविवर राजमलजीके, जिन्होंने पंचाध्यायीके प्रारम्भमे पंचम श्लोकमें अपनेको कवि लिखा है, "लाटी संहिता" ग्रन्थमे इसके सम्यक्त्वके सम्बन्धित ४२६ श्लोक समान रूपमे पाये जाते हैं। प्रस्तावनामे दर्शनका महत्त्व और दर्शनके विभिन्न भेदोंमे अन्तर बतलाते हुए सम्यक्अनेकात मिथ्या अनेकान्त एवं सम्यक्एकात—मिथ्या एकान्तका लक्षण लिखा है। द्रव्य और उसके भेद, जीवके स्वभाव आदिके विषयमे लिखते हुए आपने उसकी कमजोरी और उसके दूर करनेका उपायको रत्नत्रय बतलाया है। यहाँ जैन दर्शन का सार-व्यक्ति स्वातन्त्र्य पर अधिक जोर दिया है।

मूल ग्रन्थकारने तत्त्व का लक्षण सन्मात्र मात्र बताते हुए उसे स्वतंत्र सिद्ध, अनादि, अनिधन, स्वसहाय और अखण्ड सिद्ध किया है वह सत् या सत्ता, द्रव्य पर्याय रूप है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयका विषय है व नाना पदार्थोंमे स्थित है अतः नाना रूप है, सर्व पदार्थोंमें अन्वय रूपसे पायी जाती है, अतः एक है। विवक्षा भेदसे विश्व रूप—एक रूप, उत्पादादि त्रिलक्षणात्मक—त्रिलक्षणाभाव आदि प्रतिपक्ष रूपता उसमे पाई जाती है। इस विषयमे जगतके प्राणी अपने मनका समाधान जगतका कर्ता ईश्वर मानकर करते हैं, उसका समुचित उत्तर ग्रन्थकारने वस्तुको स्वतः सिद्ध अनादिअनंत सिद्ध करके दिया है। उसे स्व सहाय बताकर उसका स्वतन्त्र परिणमन फल सिद्ध किया है। वस्तु निर्विकल्प याने अखण्ड है इस प्रकार सामान्य या अभेददृष्टिसे निरूपण करनेके पश्चात् विशेष, पर्याय या व्यवहार दृष्टिसे द्रव्यका लक्षण—१. गुणपर्ययवद् द्रव्यम् २. गुणसमुदायो द्रव्यं ३. समगुणपर्यायोद्रव्यम् ४. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तम् सत्—सद्द्रव्यलक्षणं चार प्रकार किया है।

यहाँ द्रव्य, तत्व, सत्व, अन्वय, वस्तु, अर्थ, सामान्य विविध ये पर्यायवाची शब्द होनेसे उक्त द्रव्यका लक्षण बतलाया गया है।

द्रव्यके प्रथम लक्षणमे द्रव्य अनंत गुणों और उनकी पर्यायों का पिण्ड माना है। अन्वयीगुण और व्यतिरेकी पर्यायें हैं। यह गुण पर्याय वाला द्रव्य, गुण और पर्यायोंका समुदाय मात्र है इसलिए गुण समुदाय भी द्रव्य है। पहले दोनों लक्षण परस्पर पूरक हैं। गुण और पर्याय वाला या गुण वाला द्रव्य है, इस कथनसे गुण और पर्याय भिन्न दिखते हैं, इसलिये तीसरा द्रव्यका लक्षण समगुण पर्याय किया गया है। उसमे देश देशांस, गुण गुणांश द्रव्य है। जैसे स्कन्ध, शाखा आदि वृक्ष है, उसी तरह देश देशांश या गुण गुणांश द्रव्य है। इन तीन लक्षणोंके अतिरिक्त चौथे लक्षण उत्पादव्यय ध्रौव्य युक्तम् की आवश्यकता इसलिये है कि नित्यत्वकी गुणके साथ

व्याप्ति है । अत गुण वाला द्रव्य ध्रौव्यवान सिद्ध होता है । यहाँ गुण लक्ष्य है और ध्रौव्य लक्षण है इसलिए दोनों लक्षण वाला साध्य साधन भाव है । उत्पाद व्यय पर्यायें हैं और द्रव्य पर्याय वाला है । याने द्रव्य उत्पाद व्यय पर्याय वाला है । द्रव्यके ये दोनों लक्षणोंमें से किसी एकके काम चल सकता है इस प्रश्नका समाधान करते हुए ग्रन्थकारने लिखा है कि दोनो लक्षण एक दूसरेके अभिव्यंजक होते हैं इनका अलग-अलग निर्देश किया है । दोनों लक्षण एक दूसरेके पूरक हैं । अन्वय होनेसे गुणोंकी व्याप्ति नित्यताके साथ है और द्रव्य नित्यताका पर्यायवाची है । क्रमवर्ती और व्यतिरेकी होनेसे पर्यायोंकी व्याप्ति अनित्यताके साथ है और उत्पाद तथा व्यय अनित्य होते है । इस प्रकार गुरुपर्याय ये स्वभाववान या लक्ष्य स्थानीय है । और उत्पाद व्यय और ध्रौव्य ये स्वभाव या लक्षण स्थानीय है । किसी अपेक्षासे गुण नित्यानित्यात्मक है क्योंकि सत् अथवा द्रव्य व पर्याय गुणोंसे सर्वथा पृथक् नही है । आगे अनेकान्त दृष्टिसे वस्तुके विचारमें कथंचित् अस्ति नास्ति, नित्यानित्य, एक अनेक, तत् अतत् इन चार युगलोके वस्तु गुंफित हैं, यह सिद्ध किया गया है ।

नयका स्वरूप ग्रन्थकारने लिखा है कि उदाहरण, हेतु और फलके साथ विवक्षित वस्तुके गुणोंको उसीका कथन करने वाला समीचीन नय है । इससे विपरीत नयाभास है । इस लक्षणसे जीव वर्णादि वाला, मनुष्य आदि शरीर रूप, गृह कुटुम्ब आदि सुखका कर्ता भोक्ता और ज्ञानज्ञेयका बोध्य बोधक सम्बन्ध । ये चारो नयाभास हैं । जबकि यह अन्यत्र उपचरित, अनुपचरित, असद्भूत व्यवहारनयके अन्तर्गत बताये गये हैं । किन्तु यहाँ ग्रन्थकारने नयका उक्त लक्षण बताकर इनका निषेध ठीक ही किया है । इसे अध्यात्म दृष्टिमे माना जाना चाहिए । इसी प्रकार सद्भूत अनुचरित और उपचरित तथा असद्भूत अनुपचरित और उपचरितके लक्षण और उदाहरण भी उक्त दृष्टिसे यहाँ दिये गये है । जो अनगारधर्मामृत और आलापपद्धतिसे भिन्न हैं व्यवहार नयके चारों भेदोके उदाहरण निम्न प्रकार है :—

१. सद्भूत अनुपचरित = ज्ञान जीवका है ।

२. सद्भूत उपचरित = अर्थ विकल्पात्मक ज्ञान ।

३. असद्भूत अनुपचरित = अबुद्धिपूर्वक क्रोधादि जीवके है ।

४. असद्भूत उपचरित = बुद्धिपूर्वक क्रोधादि औदयिक भाव जीवके हैं ।

इस ग्रन्थके व्यवहार नय और निश्चय नयको क्रमशः प्रतिषेध्य तथा प्रतिषेधक या भूतार्थ अभूतार्थ होनेका कारण यह बताया है कि वास्तवमें पदार्थ एक और अखंड है, तब द्रव्य क्षेत्र आदिकी अपेक्षा उसमें भेद करते है, जो परमार्थ भूत नही है । व्यवहार नय इनकी अपेक्षा वस्तुको निषेध करता है अतः वह निश्चयनयापेक्षया प्रतिषेध्य अभूतार्थ और मिथ्या है । वस्तुका द्रव्य गुण और पर्यायरूप विभाग करना वास्तविक नही है और उस एक अखण्ड वस्तुको विषय करने वाला निश्चयनय है, जिसका अनुभव करने वाला सम्यक्दृष्टि है । ग्रन्थकारने निश्चयनयमें शुद्ध-अशुद्ध आदि भेद मानने वालोको मिथ्यादृष्टि और सर्वज्ञकी आज्ञाका उल्लंघन करने वाला माना है क्योंकि आत्म शुद्धिके लिए जो उपयोगी हो वही माना जाना चाहिए ।

व्यवहार निश्चय सम्बन्धमें भी आत्म हितके सिवाय वस्तु विचारके समय ज्ञान दोनो नयोंका आश्रय होकर प्रवृत्त होता है । तथा निश्चयमें अनिर्वचनीय है इसलिए तीर्थ स्थापन हेतु वावदूक व्यवहारनय श्रेयस्कर है । इस प्रकार दोनो नयोंकी सापेक्षताको भी नही छोड़ा है । स्वानुभूतिके लिए व्यवहारनय जैसे विकल्परूप है वैसे निश्चयनय भी निषेधात्मक विकल्प रूप है अत. स्वानुभूति नयपक्षातीत है । स्वानुभूतिके समय मति श्रुत ज्ञानो (परोक्ष होनेपर भी) से जितना भी ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष ज्ञानके समान प्रत्यक्ष है । इसके सिवा शेष मति श्रुत ज्ञान प्रत्यक्ष नही । इन्द्रिय विषयोंको ग्रहण करने और आत्मा आदिको जानते समय ये दोनो ज्ञान परोक्ष ही हैं । अवधि और मनःपर्ययज्ञान (प्रत्यक्ष होनेपर भी) का विषय आत्मा नही है । आगे दूसरे

अध्यायमें जीव और कर्मके अस्तित्वकी सिद्धि करते हुए ग्रन्थकारने अमूर्त जीवका मूर्त कर्मसे सम्बन्ध अनादि बताते हुए वैभाविकी शक्तिका उल्लेख विशेष रूपसे किया है। जैसे जल स्वभावसे ठण्डा होता है पर अग्निका निमित्त पाकर वह गर्म हो जाता है वैसे ही वैभाविकी शक्ति का विशेष निमित्त निरपेक्ष परिणमन सिद्ध अवस्था है, पर कर्मके निमित्तसे उसका संसार अवस्था रूप विभाव परिणमन हो रहा है। इस प्रकार वैभाविक शक्तिके सदैव परिणमन करते रहनेसे एक विभाव परिणमन, जो कर्मके निमित्तसे होता है, दूसरा स्वभाव परिणमन जो विशेष निमित्त निरपेक्ष होता है।

बंधका भी, जो संयोग विशेष है, सुन्दर लक्षण किया है। बंध जीव पुद्‌गलकी पर गुणाकार अर्थात् परतन्त्र होने रूप क्रिया अर्थात् स्वभाव च्युति या अशुद्धताका नाम है। ग्रन्थ सम्पादकजीने यहाँ परगुणाकार या स्वभाव च्युतिको जीव पुद्‌गलके बन्धमें परस्पर निमित्त होना बताया है। इसी प्रकार उक्त वैभाविक शक्तिके सम्बन्धमें भी जीवके अपने उपादानकी योग्यतानुसार कार्य होना बताया है। ऐसे बहुतसे स्थल है जहाँ ग्रन्थकारके शब्दोंका स्पष्टीकरण करते हुए संपादकजी अपने पाठकोंको विषयका हार्द समझाते रहे हैं। चेतनाके कर्म फल, कर्म और ज्ञान चेतना ये तीन भेद कहे है। इनमे प्रथम एकेन्द्रियमे असंज्ञी पंचेन्द्री तक होते है, दूसरी संज्ञी पंचेन्द्री मिथ्यादृष्टिसे बारहवें गुणस्थान तक होती है। तीसरी मुख्यतः केवली और सिद्ध जीवकी होती है। गौण रूपसे ज्ञान चेतना स्वरूपाचरण चारित्रके समान चौथे गुणस्थानसे प्रारंभ होकर तेरहवें गुणस्थान तक क्रममे बढ़ती जाती है। सम्यक्‌दर्शनके प्रगट हो जाने पर सम्यक्‌ज्ञानकी विशेष अवस्थामे आत्मोपलब्धि होती है वह ज्ञान चेतना है। स्वानुभूति चौथे गुणस्थानमें सम्यक्‌दर्शनके होने पर होती है। पंचाध्यायीके अनुसार दर्शन मोहके उपशमकादि होनेपर सम्यक्‌दृष्टिको अपने आत्माका जो शुद्ध रूप होता है उसमें चारित्र मोह बाधक नही है। यह स्वानुभूति ज्ञान विशेष है। जो सम्यक्‌दर्शनके साथ रहती है। स्वानुभूतिकी सम्यक्त्वके साथ लब्धि-रूपसे समव्याप्ति होते हुए भी स्वानुभूतिकी उपयोगात्मक दशाके साथ सम्यक्त्वकी विषम व्यापित बनती है। क्योंकि स्वानुभूति उपयोगमें निरंतर नही रहती। पंचाध्यायी कार्यकी इस शुद्धात्मानुभूतिको आचार्य ज्ञानसागर जी ने एक आगमिक आत्मोपलब्धि २. मानसिक आत्मोपलब्धि ३. केवल आत्मोपलब्धि इनमेसे आगमिक आत्मोपलब्धि माना है, जहाँ शुद्धात्माके विषयका श्रद्धान होता है, पर तदनुकूल आचरण नही रहता। इस ग्रन्थमे सम्यक्त्वके प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य गुण है यथा विस्तृत रूपसे निःशंकित आदि आठ अंग, शंकाके सात भय, तीन मूढता, आचार्य, उपाध्याय व साधुके स्वरूप व उनकी चर्या तथा गृहस्थ धर्मकी विवेचना करते हुए पाँच भावोंमे औदयिक आदिका निरूपण किया है। वात्सल्य अंगके प्रथममे लिखा है कि जिनायतन और चतुः संघमे से किसी पर घोर उपसर्ग आने पर सम्यक्‌दृष्टि उसे दूर करने हेतु सदा तैयार रहता है यदि आत्मिक सामर्थ्य नही है तो अपने पास मंत्र, तलवार और धन है तब तक उन पर उसकी आई बाधाको न देख सकता है और न सुन सकता है। गृहस्थकी यह विरोधी हिंसा अपरिहार्य है, जो आक्रमणका नही वरन् रक्षाका उपाय है।

कुछ वेदके कथनमे ग्रन्थकारने मनुष्योंके एक ही भवमे एक भाव वेदके परिवर्तनका उल्लेख किया है। जब कि भाववेद एक भवमे जीवन भर एक रहता है। हाँ द्रव्य भेदमे परिवर्तन हो जाता है।

श्री पंडित मक्खनलालजी या पंचाध्यायीकारको संभवतः धवलाटीकाके स्वाध्यायका अवसर नही मिला होगा। क्योंकि पंडितजीने इस ग्रन्थके संपादकका उक्त वेद विषयक मन्तव्यका खंडन किया है। इस प्रकार प्रस्तुत पंचाध्यायी ग्रन्थ एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसकी अनेक विशेषतायें है। द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग प्रधान यह ग्रन्थ है। विद्वान् संपादक महोदयने इसका सुन्दर संपादन कर इसे स्वाध्यायोपयोगी बना दिया है। वर्तमानमे यह तृतीय प्रकाशन भी समाप्त हो चुका है चतुर्थ प्रकाशन मुद्रित हो रहा है। ●

सर्वार्थसिद्धि : समालोचनात्मक अनुशीलन

डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, नोमच

जैन साहित्यमें मूल रूपसे मोक्ष-मार्गको प्रकाशित करने वाले अनेक सत् शास्त्रोंकी रचना विगत दो सहस्र वर्षोंके अन्तरालमें अनवच्छिन्न रूपमें होती रही है। प्राकृत भाषामें रचे गये ग्रन्थोंमें षट्खण्डागम, समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय मुख्य हैं। सभी आचार्योंने आत्माको केन्द्रमें रखकर सच्चे सुख या मोक्षकी प्राप्तिके लिए अलग-अलग शैलीमें मोक्ष-मार्गका निरूपण किया। संस्कृतमें रचे गये ग्रन्थोंमें आचार्य उमास्वामी कृत "तत्त्वार्थसूत्र" या मोक्षशास्त्र प्रमुख है। इस सूत्र ग्रन्थोंकी रचना विक्रमकी दूसरी शतीमें हुई थी। इसके आधार पर ही आचार्य अमृतचन्द्र कृत "तत्वार्थसार", श्रुतमुनि कृत "परमागमसार" तथा भ० सकलकीर्ति विरचित "तत्त्वार्थसारदीपक" आदि रचनाओंका निर्माण हुआ। "तत्त्वार्थसूत्र" पर सबसे अधिक टीकाएँ लिखी गई। सबसे बड़ी टीका "गन्धहस्तिमहाभाष्य" चौरासी हजार श्लोक-प्रमाण आचार्य समन्तभद्र स्वामीने रची थी जो आज अनुपलब्ध है। आचार्य पूज्यपादस्वामी कृत "सर्वार्थसिद्धि" चार हजार श्लोकप्रमाण है। आचार्य अकलंकदेव विरचित "राजवार्तिक" सोलह हजार श्लोकप्रमाण टीका कही गई है। उपलब्ध टीकाओंमें सबसे बड़ी बीस हजार श्लोकप्रमाण "श्लोकवार्तिक" भाष्य है, जिसके रचयिता आचार्य विद्यानन्द स्वामी हैं। इनके अतिरिक्त ब्रह्म श्रुतसागर कृत "तत्त्वार्थवृत्ति", प० वामदेव कृत "तत्त्वार्थसार", भास्करनन्दि विरचित "तत्त्वार्थसूत्रवृत्ति" तथा आचार्य प्रभाचन्द्र कृत "तत्त्वार्थवृत्ति पदविवरण इत्यादि रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। बृहत्प्रभाचन्द्र कृत "तत्त्वार्थसूत्र" आचार्य उमास्वामीकी छाया ही प्रतीत होती है। इतना अवश्य है कि कुल १०७ सूत्रोंमें दसों अध्यायोंका सप्रमाण निरूपण किया गया है। प्रत्येक अध्यायमें सूत्रोंकी संख्या घटा दी गई और कहीं-कहीं स्पष्टीकरण तथा संक्षिप्तीकरणकी प्रवृत्ति लक्षित होती है।

"तत्त्वार्थसूत्र" जैनधर्मकी बाइबिल कही जाती है। यद्यपि इसमें अध्यात्म और आगम जैसा कोई विभाग नहीं है, किन्तु जो भी वर्णन किया गया है उसमें आत्माको मूल बिन्दु माना गया है। आत्माकी शुद्धता और अशुद्धता भावोंसे है। जैनधर्ममें भावकी प्रधानता है। इसका ही विस्तृत वर्णन टीका ग्रन्थोंमें पाया जाता है। आचार्य प्रभाचन्द्र कृत "तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण" सर्वार्थसिद्धिकी विस्तृत व्याख्या है। इससे आचार्य पूज्यपाद कृत "सर्वार्थसिद्धि" टीकाका विशेष महत्त्व द्योतित होता है। यह टीका प्राचीन होने पर भी कई विशेषताओं से युक्त है। टीका संक्षिप्त होनेपर भी सूत्रके प्रत्येक पदकी सटीक व्याख्या प्रस्तुत करने वाली है। इसमें न तो अति विस्तार है और न अति संक्षेप। दूसरी विशेषता यह है कि सम्पूर्ण टीका आगमके प्रमाणोंसे संवलित है। कहीं-कहीं यथावश्यक उद्धरण भी उद्धृत है। तीसरे, सूत्रके पूर्वापर सम्बन्ध, अत्यावश्यक प्रश्नोंका निर्देश तथा संक्षिप्त समाधान, न्याय हेतु आदिका सर्वत्र परिपालन लक्षित होता है।

टीकाका मुख्य स्रोत-ग्रन्थ है—षट्खण्डागम। षट्खण्डागम और कषायप्राभृत दिगम्बर जैन आम्नायके मूल ग्रन्थ माने जाते हैं। "षट्खण्डागम" का रचना-काल ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी माना जाता है। वस्तुतः षट्खण्डागमकी रचना किसीने नहीं की, किन्तु सकलन किया गया। डॉ० ज्योतिप्रसाद जैनने आचार्य भूतबलिका समय ई० सन् ६६-९० माना है और षट्खण्डागमके संकलनका समय सन् ७५ निश्चित किया है। "सर्वार्थसिद्धि" की प्रस्तावनामें पण्डितजीने लिखा है—इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें षट्खण्डागम पर आ० कुन्दकुन्द की टीकाका भी उल्लेख किया है। इस आधारसे षट्खण्डागमका रचनाकाल प्रथम शताब्दीसे भी पूर्व ठहरता है।"

वास्तवमें पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्रीने "सर्वार्थसिद्धि" की टीका लिखकर भावी पीढ़ियोंके लिए दिगम्बर जैन सिद्धात-परम्पराका सच्चा मार्ग दर्शाया है। पण्डितजीने केवल टीकाके लिए टीका नहीं लिखी है, वरन् सम्पादनके मूल उद्देश्यका पालन पूर्ण रूपसे किया है। सम्पादनका उद्देश्य है—मूल रूपमे लेखककी कृति की पुनर्रचनाको मूलतः ज्योंका त्यों प्रस्तुत करना। ऐसी स्थितिमें यथार्थ सम्पादक प्रतिलिपि करते समय अपने मानसको मूल कृतिके साथ इस तरह संयोजित करता है कि उनके साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित हो जाता है। फिर, सम्पादकके मनमे केवल यही भाव बार-बार उदित होता है कि यदि मैं इस रचनाको लिखता, तो यहाँ पर क्या पाठ होता। अनन्तर अपने पाठकी प्रामाणिकताको साम्य प्रदर्शित करनेवाले अन्य पाठोंसे यथा हस्त-लिखित प्रतियोंसे तुलना कर मूल रूपमे स्थापित करता है।

पण्डितजीने "सर्वार्थसिद्धि" की प्रस्तावनाके पूर्व "दो शब्द" मे पाठ-भेदकी समस्याको सामने रखकर सैद्धान्तिक विवेचनके द्वारा समाधान खोजा है जो सम्पादकीय दृष्टिसे ऐसी रचनाओंके सम्पादन करते समय ध्यानमें रहना आवश्यक ही नही, अनिवार्य भी है। इससे केवल पाठ-भेदकी समस्या ही नहो सुलझती है, वरन् ग्रंथके मूल स्रोतका भी स्पष्ट पता लग जाता है। "तत्त्वार्थसूत्र" के ऐसे कई सूत्र हैं जिनकी प्ररूपणा तथा व्याख्या "षट्खण्डागम" के आधारसे की गई है। आचार्य पूज्यपादने अपने टीका ग्रन्थ "सर्वार्थसिद्धि" मे "तत्त्वार्थ-सूत्र" के प्रथम अध्यायके "निर्देशस्वामित्व०" और "सत्संख्याक्षेत्र०" इस दो सूत्रोंकी व्याख्या "षट्खण्डागम" के आधारसे ही की है। इतना ही नहो, "तत्त्वार्थसूत्र" का पूरा पाँचवाँ अध्याय "पंचास्तिकाय", "प्रवचन-सार" आदि ग्रन्थों पर आधारित है। इसकी व्याख्यामे आचार्य कुन्दकुन्दकी अनेक रचनाओके उद्धरण मिलते हैं। "तत्त्वार्थसूत्र" के सूत्रों पर "मूलाचार" तथा आ० समन्तभद्रके "रत्नकरण्डश्रावकाचार" का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। पं० जुगलकिशोर मुख्तारने "सर्वार्थसिद्धि पर समन्तभद्रका प्रभाव" शीर्षक लेखमें तुलना कर यह सिद्ध किया है कि आचार्य समन्तभद्रकी सभी रचनाओंका "सर्वार्थसिद्धि" की व्याख्यामें उपयोग किया गया है। वास्तवमे आचार्य पूज्यपाद ऐसे सारस्वाचार्य हुए जिन्होंने सम्पूर्ण जिनागमका आधार लेकर टीका ग्रन्थकी रचना की।

"तत्त्वार्थसूत्र" एक ऐसा ग्रन्थ है जो दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओंमें आगमकी भाँति मान्य है। इसकी रचना सूत्र-शैलीमे होनेके कारण तथा विवेचन "तत्त्वार्थ" विषय पर होनेसे इसकी "तत्त्वार्थ-सूत्र" संज्ञा सार्थक है। किन्तु श्वेताम्बर-परम्पराके अनुसार वाचक उमास्वातिने सातवी शताब्दीके उत्तरार्द्धमें या आठवी शताब्दीके पूर्वार्द्धमे "तत्त्वार्थाधिगम" नामक लघु ग्रन्थकी रचना की थी जो कालान्तरमे "तत्त्वार्था-धिगमभाष्य" नामसे प्रसिद्ध हुआ। फिर, तत्त्वार्थाधिगम सूत्र नाम प्रचलित हो गया। मूल तत्त्वार्थसूत्रमें दस अध्याय है और तीन सौ सत्तावन सूत्र हैं। "सर्वार्थसिद्धि" की प्रस्तावनामे पण्डितजीने इस पर अच्छा विवेचन किया है। जो भी "तत्त्वार्थसूत्र" का मूल पाठी है, वह निष्पक्ष दृष्टिसे यह विचार कर सकता है कि श्वेताम्बर-परम्परा कुल ३४४ सूत्रोंको ही मूल रूपमे मानती है, तो यह मूल सूत्रोंमें कुछ परिवर्तन कर अपनी मान्यताके अनुसार स्वीकार करती है। विद्वानोने इस सम्बन्धमें बहुत ऊहापोह किया और इस पर प्रकाश भी डाला। किन्तु पण्डितजीने दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओंको मूल रूपमें सामने रखकर यथार्थतः मूलका अनुसन्धान किया है। वे लिखते है—"वाचनके समय मेरे ध्यानमे यह आया कि सर्वार्थसिद्धिमें ऐसे कई स्थल हैं जिन्हें उसका मूल भाग माननेमें सन्देह होता है। किन्तु जब कोई वाक्य, वाक्यांश, पद या पदांश लिपिकार की असावधानी या अन्य कारणसे किसी ग्रन्थका मूल भाग बन जाता है, तब फिर उसे बिना आधारके पृथक् करनेमें काफी अड़चनका सामना पड़ता है।" वास्तवमें प्राचीन रचनाओंके सम्पादनकी यह मूल तथा अन्तरंग समस्या है। इस समस्याको जो सम्पादक पूरी ईमानदारीके साथ निभाता है, वही सम्पादनमे सफल होता है।

पण्डितजीकी यह समस्या मौलिक है कि आचार्य पूज्यपादने जब "तत्त्वार्थसूत्र" के प्रथम अध्यायके "निर्देशस्वामित्व०" सूत्रकी व्याख्या "षट्खण्डागम" के आधारसे की है तो फिर कहीं कोई पंक्तिमें अन्तर क्यों है ? कहीं व्याख्याकारकी शिथिलता या असावधानीसे तो ऐसा नहीं हुआ ? कोई भी कारण हो सकता है। लेकिन यह चिह्न भी स्पष्ट है कि आचार्य पूज्यपादने चारों गतियोंके आश्रयसे सम्यग्दर्शनके स्वामीका निर्देश किया है। तब फिर, पूर्व मुद्रित प्रतियोंमें ऐसा लिखा हुआ वाक्य क्यों मिलता है कि तिर्यंचिनियोंमें क्षायिक सम्यग्दर्शनका अभाव है। यह स्पष्ट है कि दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओंके आगम ग्रन्थोंमें यह उल्लेख मिलता है कि सम्यग्दृष्टि मरकर किसी भी गतिके स्त्रीवेदियोंमें उत्पन्न नहीं होता। तब फिर, मल्लिको तीर्थंकर मानने और उनके पूर्वके महाबलके भवमें मायाचार करनेके कारण स्त्री नाम कर्मका बन्ध कर तीर्थंकरकी पर्यायमें स्त्री होनेके औचित्यको कैसे सिद्ध किया जाये ? यह प्रश्न अवश्य श्वेताम्बर आगम ग्रन्थोंकी टीका लिखने वालोंके समक्ष रहा होगा। यद्यपि उन्होंने विचारकर यह स्पष्टीकरण किया भी है कि—"सम्यग्दृष्टि मरकर स्त्री नहीं होता, यह बाहुल्यकी अपेक्षा कथन है।" परन्तु इस प्रकारके कथनसे वास्तविकताका पता लगाने वालेका समाधान नहीं हो सकता। इसी प्रकारसे मुद्रित प्रतियोंमें विसंगत तथा भ्रमोत्पादक वाक्योंको भी सिद्धान्तका ज्ञाता बिना छान-बीन किये कैसे स्वीकार कर सकता है। अतः पण्डितजीने जब मुद्रित "सर्वार्थसिद्धि" में तिर्यंचनियोंमें क्षायिक सम्यग्दर्शनका हेतु "द्रव्यवेदस्त्रीणां तासां क्षायिकासम्भवात्" यह वाक्य पढ़ा, तो असमंजसमें पड़ गये। क्योंकि यह वाक्य आगमके अनुकूल नहीं है। पण्डितजी के ही शब्दों में—

"हमारे सामने यह प्रश्न था। हम बहुत कालसे इस विचारमें थे कि यह वाक्य ग्रन्थका मूल भाग है या कालान्तरमें उसका अंग बना है। तात्त्विक विचारणाके बाद भी इसके निर्णयका मुख्य आधार हस्तलिखित प्राचीन प्रतियाँ ही थीं। तदनुसार हमने उत्तर भारत और दक्षिण भारतकी प्रतियोंका संकलन कर शंका-स्थलों का मुद्रित प्रतियोंसे मिलान करना प्रारम्भ किया। परिणामस्वरूप हमारी धारणा सही निकली। यद्यपि सब प्रतियोंमें इस वाक्यका अभाव नहीं है, पर उनमेंसे कुछ प्राचीन प्रतियाँ ऐसी भी हैं जिनमें यह वाक्य उपलब्ध नहीं होता है।"

अपने अनुवादके सम्बन्धमें भी पण्डितजीने अप्रत्यक्ष रूपसे संकेत किया है। उनके ही शब्दोंमें—"इसी सूत्रकी व्याख्यामें दूसरा वाक्य "क्षायिकं पुनर्भाववेदेनैव" मुद्रित हुआ है। यहाँ मनुष्यिनियोंके प्रकरणसे यह वाक्य आता है। बतलाया यह गया है कि पर्याप्त मनुष्यिनियोंके ही तीनों सम्यग्दर्शनोंकी प्राप्ति सम्भव है, अपर्याप्त मनुष्यिनियों के नहीं। निश्चयतः मनुष्यनीके क्षायिक सम्यग्दर्शन भाववेदकी मुख्यतासे ही कहा है, यह द्योतित करनेके लिए इस वाक्यकी सृष्टि की गई है।"

भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित "सर्वार्थसिद्धि" के इस संस्करणकी कई विशेषताएँ हैं। प्रथम आचार्य पूज्यपादने अपनी व्याख्यामें जिन आगमिक ग्रन्थोंके उद्धरण दिये हैं उनका नाम-निर्देश नहीं किया। पण्डितजीने टिप्पणमें अनेक स्थानोंपर मूलाचार, गोम्मटसार जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड आदिका उल्लेख किया है। जहाँ वृत्तिमें पाठ-भेदका निर्देश किया गया है, वहाँ भी उसके मूल-स्रोतका या किसी नामका उल्लेख नहीं है। पण्डितजीने टिप्पणमें मूल पाठके साथ ग्रन्थका नामोल्लेख कर इस कमीको पूरा कर दिया है। प्रस्तुत संस्करण पाँच हस्तलिखित प्रतियोंके आधारपर सम्पादित तथा संशोधित किया गया है। इनके सिवाय दो मुद्रित संस्करणोंके आधारपर भी सम्पादन कर पाठ-भेद निश्चित किये गये हैं। अपने प्रारम्भिक "दो शब्द" में पृ० ५, ६-७ पर प्रथम अध्यायके तुलनात्मक पाठ दिये गये हैं जिनको देखकर अनुमान लगाया जा सकता है कि मुद्रित ग्रन्थोंमें पाठोंमें कितनी अशुद्धियाँ हैं। पण्डितजीके ही शब्द उनके सम्पादन-कार्यके प्रति कितने सटीक हैं। वे लिखते हैं—

"हम यह तो नहीं कह सकते कि सर्वार्थसिद्धिका प्रस्तुत संस्करण सब दृष्टियोंसे अन्तिम है, फिर भी इसे सम्पादित करते समय इस बातका ध्यान अवश्य रखा गया है कि जहाँ तक बने इसे अधिक परिशुद्ध और मूलग्राही बनाया जाय।"

इस सम्बन्धमें इतना कहना ही पर्याप्त है कि पण्डितजीने यह कार्य अत्यन्त सफलताके साथ निष्पन्न किया है। उनकी तरफसे कोई कमी नहीं दिखती है।

इस संस्करणकी यह भी विशेषता है कि इसमें प्रत्येक शब्द, पद, वाक्यका पूर्ण रूपसे सरल हिन्दीमें अनुवाद किया गया है। प्रत्येक पृष्ठपर नीचेमें पाठ-भेदका निर्देश किया गया है। अनुवादकी विशेषता यह है कि यदि मूलका वाचन न कर केवल अनुवाद ही पढा जाये, तो ऐसा नहीं लगता कि हम किसीका अनुवाद पढ़ रहे हैं।

ग्रन्थके अन्तमें परिशिष्ट १ में प्रत्येक अध्यायमें समाविष्ट सूत्र तथा उनके मुद्रित पृष्ठकी संख्याका निर्देश किया गया है। इससे सूत्रका पता लगानेमें, ढूंढ़नेमें बहुत सुविधा जान पड़ती है। "उद्धृत वाक्य-सूची" के अन्तर्गत सर्वार्थसिद्धिमें हस्तलिखित प्रतियोंके आधारसे जो गाथा, श्लोक या वाक्य उद्धृत मिलते हैं, वे जिन ग्रन्थोंके हैं उनकी सूची दी गई है। अन्तमें "शब्दानुक्रमणिका" सलग्न है जो प्रत्येक शब्द तथा अंगभूत विषय की जानकारी एवं शोध-कार्यके लिए विषय-सामग्रीका संकलन करनेके लिए विशेष रूपसे उपयोगी है।

इस प्रकार प्रथम आवृत्तिके रूपमें मई, १९५५ में प्रकाशित "सर्वार्थसिद्धि" का यह संस्करण बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है। सम्प्रति मुद्रण सम्बन्धी परिशुद्धता तथा अनुवाद विषयक विशुद्धताके साथ इसका द्वितीय संस्करण भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्लीको मुद्रण-प्रक्रियासे निर्गमित हो शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है। ऐसे सुन्दर प्रकाशनके लिए ज्ञानपीठ भी निःसन्देह गौरवान्वित हुआ है।



अमृतकलशके टीकाकार

पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री, कटनी

आचार्य कुन्दकुन्दका "समयसार" अध्यात्म विषयका एकमात्र श्रेष्ठ ग्रन्थ है। यद्यपि और भी अनेक ग्रन्थ बादमें रचे गए हैं, पर उन सब पर "समयसार" की ही छाप है। यह ग्रन्थ उस महापुरुषकी सम्पूर्ण जीवनकी अनुभूतिका निचोड़ है।

भगवान् महावीरके बाद श्रुतकी परम्परा मौखिक रूपमें चलती रही। जब श्रुतका बहुत-सा अंश परम्परागत आचार्योंको विस्मृत हो गया, तब श्री १०८ आचार्य धरसेनने उसे लिपिबद्ध करनेके लिए अपना ज्ञान भूतबलि-पुष्पदन्त दो मुनियोंको दिया, जिन्होंने षट्खण्डागम सूत्रोंकी रचना की। यह लिपि रूपमें आगमकी सर्वप्रथम रचना की। इसका विषय करणानुयोग है; द्रव्यानुयोगका भी वर्णन यथास्थान है जिसके अन्तर्गत अध्यात्मके भी कहीं-कहीं दर्शन होते हैं, पर कुन्दकुन्दाचार्य तो भिन्न प्रकारकी धाराका प्रवाह बहा गए।

कहा जाता है कि आचार्य कुन्दकुन्ददेव विदेह क्षेत्र स्थित वर्तमान प्रथम तीर्थंकर सीमंधर स्वामीके समवसरणमें गए थे। उन्हें चारणऋद्धि प्राप्त थी। सीमंधर तीर्थंकरके मुखसे समवशरणमें साक्षात् उपदेश श्रवण करनेवाले इस युगके वे ही आचार्य हुए, शेष जो गुरु परम्परासे आगत आगमके अभ्यासी हुए। कुन्दकुन्द देव द्वारा रचित ग्रन्थोंमें जो विषय वर्णित है, उससे ऐसा लगता है कि जैनधर्मका सर्वस्व सार उसमें है।

"मोक्षमार्ग स्वाश्रयसे है पराश्रयसे नहीं। कितना साफ सिद्धान्त है। पर छूटना ही तो मुक्ति है, तब वह परके आश्रयसे कैसे होगी? परकर्तृत्वका सर्वथा निषेध जिनशासनमें है। यह पर-कर्तृत्वका निषेध केवल जीव के लिए ही नहीं, षड्द्रव्योंमें से कोई वस्तु परके कारण नहीं परणमती। परिणमन वस्तुका ही स्वभाव है। जो स्वभाव होता है, वह पर की अपेक्षासे नहीं होता, स्वयं स्वका भाव है।"

आचार्य कुन्दकुन्दके समयसारपर पूज्य श्री १०८ आचार्य अमृतचन्द्रजीकी आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका है, जिसकी संस्कृत भाषा बड़ी ही प्राञ्जल है, उत्कृष्ट कोटिकी है। फिर भी सरल और सरस है। इस ग्रन्थकी टीकाने कुन्दकुन्दका हृदय ही खोल दिया है। ऐसा लगता है मानों कुन्दकुन्दके हृदयमें ही अमृतचन्द्रका वास रहा हो।

अमृतचन्द्र आचार्यकी आत्मख्याति संस्कृत टीकामें उनके द्वारा ही रचित अमृतमय घटकी तरह कलश रूप काव्य हैं, जिनमें उन गाथाओंका या उनकी टीकाका हार्द भर दिया गया है। इन कलशोंके ऊपर हिन्दी भाषामें खण्डान्वय रूपसे प्रत्येक पदका अर्थ खुलासा करते हुए टीका श्री पं० राजमलजीने लिखी है। ये कविराज सुप्रसिद्ध अध्यात्म वेत्ता पं० बनारसीदासजीके पहिले हो गए हैं। कविवर बनारसीदासजीने इसके अध्ययनके पश्चात् स्वयं "नाटक समयसार" की उत्कृष्ट छन्दबद्ध रचनाकी है। पं० राजमलजी राजस्थानके थे। अतः राजस्थानान्तर्गत ढूँढा दृढ प्रदेशमें प्रचलित ढूँढारी हिन्दी भाषामें उन्होंने यह टीका लिखी है।

यद्यपि ठेठ (आधुनिक हिन्दी) में भी इसकी टीकाएँ हुई हैं। तथापि ये सब इस टीकाके पश्चात् हुई हैं। फलतः सभी अन्य टीकाकारोंके लिए पण्डित राजमलजीकी टीका प्रकाश स्तंभ रही है। दण्डान्वयी टीकाओंमें कर्ता-कर्म-क्रिया इस क्रमसे रखे जाते हैं कि वाक्य विन्यास ठीक-ठीक हो जाय, पर खण्डान्वयी टीकामें प्रत्येक पदका अर्थ इस क्रमसे नहीं होता। यह क्रियासे प्रारम्भ होती है और प्रश्नपूर्वक पदस्थ विशेषणोंका अर्थ खुलता जाता है।

पण्डित राजमलजीने इस पराधीनताको भी स्वीकार नहीं किया कि सर्वत्र खण्डान्वयके नियमोंका ही पालन किया जाय, किन्तु जहाँ जिस पदका या वाक्यका अधिक स्पष्टीकरण करना अभीष्ट है, वहाँ भावार्थके साथ-साथ टीकाको गति दी है। टीकाके अन्तमें भावार्थ भी प्राय लिखा गया है और उसमें भावका पूरा स्पष्टीकरण कर दिया है।

यह दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोनगढ (सौराष्ट्र) से प्रकाशित हुई है। इस टीकाके सम्पादक समाजके सुप्रसिद्ध निष्णात् विद्वान् आगम ग्रन्थोंके टीकाकार पण्डित फूलचन्द्रजी शास्त्री, वाराणसी हैं। भाषा टीकाकार पण्डित राजमलजीकी स्वयंकी भाषाको अक्षुण्ण रखते हुए भी पण्डितजीने यत्र तत्र आधुनिक हिन्दीमें भी भाव स्पष्ट किया है, जिससे ढूँढारी भाषाकी दुरूहता भी दूर हो गई है।

पं० राजमलजी १७वीं शतीके विद्वान् थे। इसी १७वीं शतीमें पण्डित बनारसीदासजी, पं० रूपचन्दजी, पं० चतुर्भुजजी, भैयाभगवतीदासजी आदि अनेक गण्यमान्य अध्यात्मरसिक विद्वान् हुए।

पण्डित राजमलजीकी अनेक रचनाएँ है, उनमें यह रचना प्रमुख है।

पण्डित राजमलजी आध्यात्मिक सत्पुरुष थे। उनके प्रत्येक ग्रन्थमें अध्यात्मके दर्शन होते हैं। इस "समयसार कलश" टीकामें भी अनेक स्थान ऐसे हैं जहाँ उनकी श्रद्धा और विद्वत्ताका चमत्कार देखनेको मिलता है। कुछ नमूने पाठकोंके सामने प्रस्तुत है।

सम्यग्दर्शन क्या है? इस प्रश्नका उत्तर कलश ६ मे दिया है उसका विवरण पण्डितजीके शब्दों में पढ़िए—

"संसारमें जीव द्रव्य नौ तत्त्व रूप परिणमा है, वह तो विभाव परणति है, इसलिए नवतत्त्व रूप वस्तु का अनुभव भी मिथ्यात्व है। जिम कारण यही जीव द्रव्य सकल कर्मोपाधिरहित जैसा है वैसा ही प्रत्यक्षपने उसका अनुभव निश्चयसे यही सम्यग्दर्शन है।

भावार्थ इस प्रकार है—सम्यग्दर्शन जीवका गुण है। वह गुण संसार अवस्थामें विभावरूप परिणमा है। वही गुण जब स्वभावरूप परिणमे तब मोक्षमार्ग है।"

इस विवरणमे पण्डिजीने यह स्पष्ट किया कि वर्तमान अवस्था जीवकी नवतत्त्वरूप है, यह सत्य है; तथापि यह जीवका स्वाभाविक परिणमन नही है। अतः नवतत्त्वरूप जीवकी श्रद्धा सम्यग्दर्शन नही है। तब नवतत्त्वरूप जीवका श्रद्धान करना (सम्यग्दर्शन नही) मिथ्यादर्शन है। सम्यग्दर्शनका विषयभूत आत्मा इन सब कर्मजनित उपाधियोसे भिन्न शुद्धात्मदर्शन है।

कर्मजनित उपाधि युक्तता असत्य नही है वह तो है, पर वह जीवका शुद्ध स्वभाव नही है अतः इस दृष्टिसे मिथ्या है नयसापेक्ष कथनकी दृष्टिसे मिथ्या है, तथापि आगे आठवें कलशकी टीकामे पण्डितजी स्पष्ट करते है कि—

"जीववस्तु अनादि कालसे धातु पाषाणके संयोगके समान कर्म पर्यायसे मिली चली आ रही है सो मिली हुई होकर वह रागादि विभाव परिणामोंके साथ व्याप्य-व्यापक रूपसे स्वयं परिणमन कर रही है। वह परिणमन देखा जाय, जीवका स्वरूप न देखा जाय तो जीव वस्तु नौ तत्त्व रूप है, ऐसा दृष्टिमें आता है। ऐसा भी है, सर्वथा झूठ नही है क्योकि विभावरूप रागादि शक्ति जीवमें ही है।"

इस कथनसे व्यवहार सापेक्ष अर्थात् वर्तमान पर्याय दृष्टिसे जीवको देखा जाय तो नवतत्त्व रूप कहना सत्य है, पर उसीकी जीव द्रव्यके निरुपाधि स्वभावकी दृष्टिसे देखा जाय तो वह असत्य है इस तरह नयविवक्षाओ से बहुत स्पष्ट विवेचन किया है, विवादको कोई स्थान नही रह जाता।

ऐसे शुभानुभवनको पण्डितजीने "प्रत्यक्षमने अनुभव" लिखा है और उसे मोक्षमार्ग कहा है यहाँ उन्होने स्वयं प्रश्न उठाया है कि—

"यहाँ कोई आशंका करेगा कि मोक्षमार्ग तो सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्र इन तीनोंके मिलनेसे होता है"— इसका उत्तर दिया है कि शुद्धजीव स्वरूपका अनुभव करनेपर तीनों ही है।.........जीवका लक्षण चेतना है। वह चेतना तीन प्रकार की है—एक ज्ञानचेतना—एक कर्मचेतना, एक कर्म-फल चेतना। उनमेसे ज्ञानचेतना शुद्धचेतना है, शेष अशुद्ध चेतना हैं। उनमे अशुद्ध चेतना रूप वस्तुका स्वाद तो सर्वजीवोंको अनादिसे (ये सारी मिथ्यादृष्टि जीवोंको) प्रकट ही है। उस रूप अनुभव सम्यक्त्व नही है, शुद्ध चेतना मात्र वस्तुका स्वाद (अनुभव) आवे, तो सम्यक्त्व है।

उक्त कथनसे पण्डितजी स्पष्ट कर रहे हैं कि जिस शुद्ध चेतनाका अनुभव जीवको जब होता है, तब उस अनुभवका नाम ही सम्यग्दर्शन है, वह मोक्षमार्ग है और अविरत सम्यग्दृष्टिके सम्यक्त्वके साथ ज्ञान चारित्र भी है। भले ही वह संयमाचरण न हो, पर चारित्र गुण वहाँ है और वह मिथ्याचारित्र नहीं है, सम्यक्चारित्र है। आचार्य कुन्दकुन्दने संयमाचरणके न होनेपर भी सम्यग्दृष्टि (असंयत) के चारित्र है और वह सम्यक्-

चारित्र हैं, मिथ्याचारित्र नहीं, इसका स्पष्टीकरण उस चारित्रको "सम्यक्स्वाचरण" नाम देकर कर दिया है।

"षट्खण्डागम" की धवला टीका खण्ड १ भाग ९ पुस्तक ६ के २२ वें सूत्रकी टीकामें आचार्य वीरसेनने यह स्पष्ट किया है। वहाँ चारित्रका लक्षण पापनिवृत्ति क्रिया है और पापोंकी गणनामें मिथ्यात्वको सर्वप्रथम गिनाया है। इससे सम्यग्दृष्टिके तीनों हैं। पण्डित राजमलजीका कथन स्पष्ट आगमोनुमोदित है। उक्त ग्रन्थके शब्द इस प्रकार है :—

"पापक्रियानिवृत्तिश्चारित्रम्।" घादि कम्माणि पापं। तेसि किरिया मिच्छत्तासंजमकषायाः। तेसिमभावो चारित्रम्।

अर्थात् पापक्रियाकी निवृत्ति चारित्र है। घाति कर्म पाप है। उनकी क्रिया मिथ्यात्व-असंजम-कषाय रूप है।

स्पष्ट है कि मिथ्यात्व पापके अभावमे सम्यक्स्वाचरण चारित्र होता है। अत. सम्यग्दृष्टिके तीनों हैं, अतः वह मोक्षमार्ग है।

आचार्य अमृतचन्द्र करुणाको भीगकर २३वें कलशमे कहते है—कि हे भव्यजीव! तू कुतूहलवश ही अथवा जैसे बने वैसे मर-पचकर भी एक बार शरीरका मोह छोड़, उसे अपना पड़ोसी तो मान, तुझे उससे पृथक् स्वयंका स्वरूप दर्शन होगा।

इस भावको पण्डित राजमलजीके शब्दोंमे पढ़िये।

"हे भव्यजीव! अनादि कालसे जीवद्रव्य शरीरके साथ एक संस्कार रूप होकर चला आ रहा है। इसलिए उसे प्रतिबोधित किया जा रहा है। भो जीव! जितनी शरीरादि पर्याय है वे सब पुद्गल की है तेरी नही। इसलिए इन पर्यायोंसे अपनेको भिन्न जान। भिन्न जान कर मुहूर्तमात्र (थोड़े काल) शरीरसे भिन्न अपने शुद्ध चेतन द्रव्यका प्रत्यक्ष रूपसे आस्वाद ले।·······कैसा भी करके किसी भी उपायसे मरकर भी शुद्ध जीव स्वरूपका अनुभव करो। चैतन्यका अनुभव से सहज साध्य है।"

जिस काल जीवको स्वानुभव होता है उसी काल मिथ्यात्व परिणमनका अभाव होता है, जिस काल मिथ्यात्व परिणामका अभाव होता है, उस काल अवश्य अनुमान शक्ति प्रकट होती है।

कुछ और भी यत्र-तत्र पण्डितजीने अपने विचार प्रकट किये हैं जो निम्नभांति है—

१. परद्रव्यकी अभिलाषा ही मिथ्यात्वरूप परिणाम है। (कलश १६७ टीका)

२. चारगतिरूपपर्याय तथा पंचेन्द्रियोके भोग समस्त आकुलता रूप है सम्यग्दृष्टि ऐसा ही अनुभव करता है। साता-असाता दोनो की सामग्री सम्यग्दृष्टिको अनिष्ट रूप ही है। (कलश १५२ की टीका)

३. रागादिपरिणामोंका कर्त्ता मिथ्यादृष्टि जीव है; सम्यग्दृष्टि जीव नही। वह उनको निजपरिणाम नही मानता, अतः स्वामित्व नही। (कलश १७०)

४. जो द्रव्य जिसका कर्त्ता होता है, वही उसका भोक्ता होता है, अत. रागादिके कर्तृत्वके कारण मिथ्यादृष्टि ही उसके फलका भोक्ता होता है। कर्तृत्व-भोक्तृत्वका अन्योन्य सम्बन्ध है।

५. इस संसारमे भ्रमण करते हुए किसी भव्य जीवका निकट संसार आ जाता है, तब जीव सम्यक्त्व का ग्रहण करता है (कलश १२)

इस प्रकार ग्रंथके रहस्यका यत्र-तत्र पण्डितजीने उद्घाटन किया है। श्री पण्डित फूलचन्द्रजी शास्त्रीने अपनी भाषामें उसका स्पष्टीकरण किया है। टीका स्वाध्यायप्रेमियोंके लिए अवश्य पठनीय है।

●

जैनतत्त्वमीमांसा : एक प्रामाणिक कृति

श्री माणिकचन्द्र जयवंतसा भिसीकर, बाहुबली

भारतीय संस्कृतिकी मूल भित्तिके रूपमें जैन संस्कृति जिन मौलिक तत्त्वोंपर सुस्थित है, वे तत्त्व स्वतन्त्र एवं वैशिष्ट्यपूर्ण है, इसमें सन्देह नहीं है। प्राचीन कालमें तथा वर्तमानमें भी जो दार्शनिक विचारवंत हुए हैं; वे आचार्य हों या दृष्टिसम्पन्न श्रावक हों, उन्होंने जैन संस्कृति एवं उसके तत्त्वज्ञानपर मौलिक प्रकाश डाला है। उसकी जो-जो विशेषताएँ आगम, तर्क तथा अनुभूतिके बलपर उन्होंने स्वयं अवगत कीं, उन्हें तत्त्वजिज्ञासु जनोंके सामने दिल खोलकर रखी हैं। उनका इस विषयका प्रामाणिक सूक्ष्म परिशीलन तथा सुव्यवस्थित विवेचन नई पीढ़ीके अभ्यासियोंके लिए बहुत उपयुक्त एवं मननीय सिद्ध हुआ है।

ज्ञान तथा अनुभववृद्ध श्रद्धेय पण्डितवर फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीकी "जैनतत्त्वमीमांसा" यह एक ऐसी ही मौलिक एवं अनुपम कृति है, जो पण्डितप्रवर ये टोडरमलजीके सर्वतोभद्र "मोक्षमार्गप्रकाशक" के अनन्तर न केवल तत्त्वजिज्ञासुओंके लिए, अपितु जानकर विद्वानोंके लिए भी समीचीन दृष्टि प्रदान करनेवाली अतीव उपयुक्त तथा पुनः-पुन अभ्यासकी वस्तु बनी प्रतीत होती है। इस ग्रन्थमें आगम तथा अध्यात्मको सुन्दर समन्वय करते हुए जैन दर्शन सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण विशेषताओंका सूक्ष्म विवेचन हुआ है, जिससे कई गुत्थियाँ सहज सुलझती है, अनेक भ्रान्त धारणाएँ जड से दूर होती है, और जैन तत्त्वका वास्तविक मर्म सुस्पष्ट होता है।

प्रत्येक विषयका विवेचन करते समय जगह-जगहपर पूर्वाचार्योंके तलस्पर्शी सन्तुलित चिन्तनका प्रामाणिक आधार दिये जानेके कारण विषय सुस्पष्ट तो होता ही है, साथ-साथ उसको महत्ता एवं विवेचनकी प्रामाणिकता भी दृग्गोचर होती है। सन्देहका पूरा निराकरण हो जाता है। इस एक ग्रन्थके अभ्यासपूर्ण मनन एवं चिन्तनसे जैन दर्शनकी पूरी मौलिक जानकारी पाठकोंको सहजमें होती है, और पूर्वाचार्योंके अनेक विस्तृत दार्शनिक ग्रन्थोंका सारभूत निचोड़ भी सामने आता है, जिससे मन अत्यधिक प्रसन्नताका अनुभव करता है।

मान्यवर पण्डित फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री जैन सिद्धान्तके उच्चकोटिके दृष्टि सम्पन्न विद्वान् हैं। जैनाचार्योंके प्राचीनतम षट्खण्डागमका वर्षों तक उन्होंने अध्ययन-मनन करके उसका सुगम हिन्दीमें अनुवाद भी किया है। कसायपाहुड (जयधवला) तथा मूलाचारका भी अनुवाद कार्य उनके द्वारा सम्पन्न हो रहा है। ऐसे अनुभवी विद्वान्की पैनी लेखनीसे यह कृती बनी है, इसीसे उसकी महत्ता एवं प्रामाणिकता ख्यालमें आती है।

हमारे सामने पण्डितजीके इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थका दूसरा सस्करण है, जिसे उन्होंने ही अशोक प्रकाशन मंदिर, रवीन्द्रपुरी, वाराणसीसे वीरनिर्वाण संवत् २५०४ मे प्रकाशित किया है। इसके "आत्मनिवेदन" में वे लिखते है "इसमे प्रथम संस्करणकी अपेक्षा विषयको विशदताको ध्यानमे रखकर पर्याप्त परिवर्धन किया गया है। साथ ही प्रथम संस्करणका बहुत कुछ अंश भी गर्भित कर लिया है। इसलिए इसे द्वितीय संस्करण या विषयके विस्तृत विवेचनकी दृष्टिसे दूसरा भाग भी कहा जा सकता है।

ग्रन्थके कुल बारह प्रकरण है, जिनके नाम इस प्रकार है।

१. विषय प्रवेश

२. वस्तुस्वभावमीमांसा

३. बाह्यकारण मीमांसा

४. निश्चय-उपादान मीमासा

५. उभय निमित्त मीमांसा

६. कर्तृकर्ममीमांसा

७. षट् कारक मीमासा

८. क्रम नियमित पर्याय मीमासा

९. सम्यक् नियति स्वरूप मीमासा

१०. निश्चय व्यवहार मीमासा

११. अनेकान्त-स्याद्वाद मीमासा

१२. केवलज्ञान-स्वभाव मीमासा

इनमेंसे प्रत्येक प्रकरण अपनी-अपनी खास विशेषता रखता है, और उसे ध्यानपूर्वक आद्योपान्त पढ़नेसे जैन दर्शनके विविध मूल अगोका तलस्पर्शी ज्ञान होनेमे बहुत सहायता मिलती है। उनके सम्बन्धमे विद्वानोंमें भी जो गलत धारणाएं तथा वैसी प्ररूपणाएँ दृष्टिगोचर होती है, उन सबका शंका-समाधानके रूपमें सम्यक् प्रकारसे निरसन किया गया है। ऐसा एक भी विषय नही है जिसपर जिनागममे पर्याप्त प्रकाश न डाला गया हो। किन्तु उन सबका सुव्यवस्थित संकलन तथा उनपर पूर्वाचार्योंके वचनाधारसे किया गया संतुलित विवेचन पाठको के सामने एकत्र आनेकी आवश्यकता थी, जो इस ग्रन्थसे पूरी हुई है।

पण्डितजी इस सम्बन्धमे स्वयं लिखते है इसमे हमारा अपना कुछ भी नही है। जिनागमसे जो विषय अवलोकनमे आए, उन्हे ही यहाँ ग्रन्थरूपी मालामे पिरोया गया है। वह भी इसलिए कि मोक्षमार्गमे तत्त्वस्पर्शके समय इन सब तथ्योको हृदयगम कर लेना आवश्यक है। अन्यथा स्वरूप-विपर्यास, कारण-विपर्यास तथा भेदाभेद-विपर्यास बना ही रहता है, जिससे अनेक शास्त्रोंमे पारंगत होकर और प्राजल वक्ता बन जानेपर भी इस जीवकी मोक्षमार्गमे गति होना संभव नही है।'

आगे वे लिखते है—"यह ग्रन्थ परमत-खण्डनकी दृष्टिसे संकलित नही किया गया है। इसमे जिन तथ्योंको संकलित किया गया है वे जैनतत्त्वमीमासाके प्राणस्वरूप है, इसलिए परमतखण्डनमे जहाँ प्रायः व्यवहारनयकी मुख्यता रहती है, वहाँ इसमे परमार्थप्ररूपणाको मुख्यता दी गई है, और साथ ही उसका व्यवहार भी दिखलाया गया है।

नियम है कि पूर्णरूपसे निश्चयस्वरूप होनेके पूर्वतक यथासम्भव निश्चय-व्यवहारकी युति युगपत् बनी रहती है। यहाँसे निश्चय मोक्षमार्गका प्रारम्भ होता है, वहाँसे प्रशस्त रागरूप व्यवहार मोक्षमार्गका भी प्रारंभ होता है। न कोई पहले होता है, न कोई पीछे। दोनों एक साथ प्रादुर्भूत होते है। इतना अवश्य है कि निश्चय स्वरूप मोक्षमार्गके उदयकालमे उसके प्रशस्त रागरूप व्यवहार मोक्षमार्गकी चरितार्थता लक्ष्यमे न आवे, इस रूपमे बनी रहती है। और जब यह जीव अरुचिपूर्वक हटे बिना व्यवहार मोक्षमार्गके अनुसार बाह्य क्रियाकाडमे प्रवृत्त होता है, तब इसके जीवनमे निश्चय मोक्षमार्गकी जागरुकता निरन्तर बनी रहती है। वह दृष्टिसे ओझल नही होने पाती। यह इसीसे स्पष्ट है कि निश्चय मोक्षमार्गका अनुसरण व्यवहार मोक्षमार्ग करता है। व्यवहार मोक्षमार्गका अनुसरण निश्चय मोक्षमार्ग नहीं करता। क्योंकि जैसे-जैसे निश्चय मोक्षमार्गसे जीवन पुष्ट होता जाता है, वैसे-वैसे व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्गका पीछा करना छोड़ता जाता है।''

इस ग्रन्थका प्रथम संस्करण १९६० मे जब प्रकाशित हुआ, तब इसका सामूहिक स्वाध्याय परमपूज्य गुरुदेव १०८ श्री समन्तभद्र महाराज तथा विदुषी गजाबहनजीके साथ करनेका अवसर हमे प्राप्त हुआ था। तभीसे इस ग्रन्थकी मौलिकता एवं उपयोगिता विशेष रूपसे प्रतीत हुई थी। उसके बाद इस ग्रन्थके विरोधमे आलोचनात्मक कुछ पुस्तके प्रकाशित हुई। लेकिन इस आलोचनामे निर्दोष तत्त्वमीमासाके बजाय तत्त्वकी

विडम्बना ही अधिकतर प्रतीत होती है, जिससे जैनदर्शनकी मूल भूमिकापर ही कुठाराघात किया गया हो। इसपर पण्डितजी लिखते हैं—"यह सब देखकर उनका चित्त करुणासे भर उठता है।" सच्चा जिनवाणीका सेवक इससे अधिक क्या लिखें ? विद्वान् लोग जिनागमका मुख रहते हैं। उन्हें चाहिए कि वे आगमके अनुसार समाजको सही मार्गदर्शन करें।

भगवान् अरिहंत देवने वीतराग धर्मका ही उपदेश दिया, जो आत्माका विशुद्ध रूप है। परमार्थस्वरूप शुद्धात्म प्राप्ति के लिए एक मात्र ज्ञानमार्गपर आरूढ होकर स्वभावसे शुद्ध त्रिकाली आत्माका अप्रमादभावसे अनुसरण करना यही उपाय है। उसकी प्रारम्भिक भूमिकामें ज्ञानधारा और कर्म (राग) धाराका समुच्चय भले ही बना रहे, किन्तु उसमें इतनी विशेषता है कि ज्ञानधारा स्वयं-निर्जरारूप है, इसलिए वही साक्षात् मोक्ष का उपाय है। कर्मधारा बंधस्वरूप होनेसे उसके द्वारा संसार-परिपाटी बने रहनेका ही मार्ग प्रशस्त होता है। परमार्थसे न तो वह मोक्षमार्ग है, नही उसके लक्ष्यसे साक्षात् मोक्षमार्गकी प्राप्ति होना ही सम्भव है।

जैनतत्त्वज्ञानी सम्बन्धी ऐसे सभी तथ्योंको आगमके आधारपर सुस्पष्ट करनेका प्रामाणिक प्रयत्न इस ग्रन्थमें लेखक द्वारा किया गया है।

आज विज्ञानकी प्रगतिसे मानव अधिक चिकित्सक एवं चिन्तनशील बन रहा है। जीवनके प्रत्येक अंग का बारीकीसे अभ्यास करनेकी प्रवृत्ति बुद्धिवादी लोगोंमें बढ़ रही है। हर एक बातकी कारणमीमांसा कुछ बुनियादी तत्वोंके आधारपर वे करना चाहते हैं। और तर्कसंगत विचारधारासे उनका जितना समाधान होता है, उतना अन्य विचारधारासे नही होता। उनके सामने पहला प्रश्न तो यह रहता है कि वर्तमानमें वह परतन्त्र क्यो है ? क्या अपनी स्वयंकी कमजोरीके कारण या परसत्ताके कारण अथवा कर्मकी सत्ता मानी जानेवाली हो तो उसकी बलवत्ताके कारण ?

इसके बाद इसीमेंसे दूसरा प्रश्न खडा होता है, कि वह इस परतन्त्रतासे मुक्त होकर स्वतन्त्र कब और कैसे बन सकेगा ? इन दोनों मूलभूत प्रश्नोंका मौलिक समाधान उसके अन्तर्गत नाना उपप्रश्न एवं उनके तर्कसंगत तथा आगमाधारित विस्तृत उत्तरोंके साथ इस ग्रन्थमें किया गया है। इससे सुबुद्ध पाठकोंकी अनेक भ्रान्त धारणाएँ दूर होकर जैन तत्त्वका सम्यक् रूप उनके सामने दर्पणवत् आता है, जिसे जानकर जिज्ञासुओंको विशेष संतोषका अनुभव होता है। इस ग्रन्थकी यही विशेषता है।

वस्तुका सम्यक् निर्णय करनेमें ऐसी शंका समाधानरूप शैलीका बहुत अच्छा उपयोग होता है यह पण्डितप्रवर टोडरमलजीके "मोक्षमार्ग प्रकाशक" ग्रन्थसे सिद्ध हुआ है। इस जैनतत्त्वमीमांसामें पण्डितजीने उन सब प्रमुख विषयोंका समावेश कर लिया है, जिनका चिंतन-मनन आजकी स्थितिमें अत्यावश्यक था, जिनके सम्बन्धमें अभ्यासु विद्वानोंकी दृष्टि भी अधिक स्पष्ट एवं निर्मल होनेकी आवश्यकता थी। यह ग्रन्थ इस आवश्यकताकी पूर्ति करनेमें बहुत सहायक प्रतीत होता है, और वह भी सरल तथा सुबोध भाषामें। पण्डितजीका यह उपकार जिज्ञासु एवं विद्वद्वर्ग कभी नही भूलेगा। सिद्धान्त तथा आगममें भी विद्वानोंके लिए तो यह नया वरदान रूप सिद्ध होगा, इसमें संदेह नही है। इस ग्रन्थका दूसरा संस्करण भी अब अप्राप्य हुआ है, इसीसे उसकी उपयोगिता एवं लोकप्रियता स्पष्ट होती है।

समाजके मान्यवर विद्वान् पण्डित जगन्मोहनलालजी इस पुस्तकके प्राक्कथनके अन्तके निचोड़ रूपसे सही लिखते हैं—'पण्डितजीके इस समयोपयोगी सांस्कृतिक एवं साहित्यिक सेवाको जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। हमें विश्वास है कि समाज इससे उचित लाभ उठाकर अपनी ज्ञानवृद्धि करेगी।"

हमें तो लगता है कि ज्ञानवृद्धिके साथ शुद्धात्मबोध भी यह ग्रन्थ अभ्यासकोंको सहायक सिद्ध होगा।

•

जैनतत्त्वमीमांसा : एक समीक्षात्मक अध्ययन

डॉ० उत्तमचन्द जैन, सिवनी

जैन आम्नायकी प्राचीनतम परंपराकी एक कडीके रूपमें विश्रुत है—सिद्धान्ताचार्य, पंडितवर्य, श्रीमान् पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री, बनारस, जिन्होंने आगम तथा परमागम रूप रत्नाकरकी अतल गहराईयों में डुबकिया लगाकर जिनागमसार रूप रत्नोंको खोज-खोजकर विद्वज्जनों तथा सामान्यजनों के समक्ष प्रस्तुत किया, साथ ही जैनसिद्धान्त एवं तत्त्वज्ञान परम्पराको सम्पोषित एव संवद्धित भी किया। इसका ज्वलत प्रमाण एवं अमर स्मारक स्वरूप है उनका प्रकृत ग्रंथ "जैनतत्त्वमीमासा"।

यद्यपि सर्वोत्कृष्ट सिद्धान्तग्रंथ षट्खण्डागमकी धवला टीका तथा कषायपाहुडकी जयधवला टीकाके सम्पादनका गुरुतर कार्य, खानिया तत्त्वचर्चाका ऐतिहासिक कार्य तथा अन्य मौलिक साहित्यका सृजन ये सभी कार्य पंडितजीके विशिष्ट व्यक्तित्व एवं उत्कृष्ट कृतित्वके जीवन्त स्मारक हैं, तथापि इनमें अग्रणी, अद्वितीय और अमर-कृति है उनकी "जैनतत्त्वमोमासा"। सिद्धान्त ग्रथोंके संपादन द्वारा आदरणीय पंडितजीने एक ओर तो श्रुतज्ञान रूप जिनवाणीकी प्रथम श्रुतस्कंधरूप सिद्धांतज्ञानधाराका सम्पोषण किया है, दूसरी ओर खानिया तत्त्वचर्चाके सम्पादन द्वारा तार्किक आचार्य समंतभद्रस्वामीकी तथोक्तिको याद कराया है कि "वादार्थी विचराम्यहं नरपते' शार्दूलविक्रीडितम्"। तीसरी ओर मौलिक साहित्य सृजन द्वारा अपनी वर्तमान प्रतिभा एवं व्यक्तित्वका प्रकाशन किया है तथा चौथी ओर जैनतत्त्वमीमासाके प्रणयन द्वारा द्वितीय श्रुतस्कंध अथवा परमागमरूप जैन अध्यात्मके प्रयोजनभूत, मोक्षमार्गोपयोगी जैनतत्त्वों एवं सिद्धातोंका मर्मोद्‌घाटन किया है। इस प्रकार माननीय पंडितजीकी चौमुखी प्रतिभा, बहुश्रुतज्ञता, जिनागमतत्त्वमर्मज्ञता एव सैद्धातिक दृढता क्रमशः विज्ञोंको वात्सल्यकारी, अल्प-श्रुतज्ञोंको आश्चर्यकारी, कल्याणेच्छुकोंको सन्मार्गप्रकाशनहारी तथा अनुदारजनोको ईर्ष्याकारी सिद्ध हुई है। यहाँ हम उनकी अमूल्यकृति "जैनतत्त्वमीमासा"का परिचय, प्रतिपाद्य एव समीक्षण प्रस्तुत करनेका उद्यम करते हैं।

जैनतत्त्वमीमांसाके दो संस्करण हमारे समक्ष हैं—प्रथम २०० पृष्ठीय लघुकाय पुस्तक तथा द्वितीय ४२२ पृष्ठीय बृहद्‌काय ग्रंथ। उक्त दोनों संस्करणोंमें आत्मनिवेदनके माध्यममें ग्रंथ रचनाका अपना उद्देश्य लेखक महोदय ने स्पष्ट किया है। द्वितीय संस्करणमें प्रथम संस्करणके वर्णित प्रकरणोंमें जो भी परिवर्धन या परिवर्तन किया है उसकी स्पष्ट सूचना की है—यथा प्रथम संस्करणमें तीसरे अध्यायका नाम "निमित्तकी स्वीकृति" तथा चौथेका नाम "उपादान और निमित्तमीमांसा" रखा था किंतु द्वितीय संस्करणमे उनके परिवर्तित नाम क्रमशः—"बाह्यसाधनमीमांसा" तथा "निश्चय उपादान मीमासा" दिये है। पंडितजीने इन प्रकरणोंके नाम परिवर्तनका कारण सयुक्तिक एवं सप्रमाण स्पष्ट किया है। पाचवें "उभयनिमित्त मीमासा" स्वतंत्र अध्यायके रखनेका कारण स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "निश्चय उपादानके अनुसार प्रत्येक द्रव्यके कार्यरूप परिणत होते समय उसके अनुकूल बाह्य सामग्रीका योग नियमसे बनता ही है।" इस तथ्यको हृदयंगम कराना मुख्य प्रयोजन रहा है। शेष अध्यायोंको प्रथम संस्करण अनुसार ही रखा गया है। पंडितजीने अपने निवेदनमें यह भी स्पष्ट किया है कि प्रकृत ग्रंथमें वर्णित विषयोंका याथातथ्य परिज्ञान न होनेसे स्वरूप विपर्यास, कारणविपर्यास एवं भेदाभेद विपर्यास बना ही रहता है जिससे अनेक शास्त्रोंमें पारगत होकर प्राजल वक्ता बन जाने पर भी उसकी मोक्षमार्गकी ओर गति नहीं हो पाती। यथार्थमें निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्गका प्रारंभ आगे पीछे नही अपितु एक साथ ही होता है। निश्चय मोक्षमार्गका अनुसर्ता व्यवहारमोक्षमार्ग होता है किंतु व्यवहारमोक्षमार्गका अनुसर्ता निश्चय मोक्ष-

मार्ग नहीं होता बल्कि जैसे-जैसे निश्चयमोक्षमार्गसे जीवन पुष्ट होता जाता है वैसे वैसे व्यवहार मोक्षमार्ग छूटता जाता है। उपर्युक्त तथ्योंके अतिरिक्त खांनिया तत्त्वचर्चाका संक्षिप्त इतिहास भी प्रस्तुत किया है। साथ ही यह भी स्पष्ट घोषणा की है कि जो विद्वान् वीतराग अर्हंतकी आगम परम्पराको नहीं देखना चाहते, वे भट्टारक परंपराके समर्थनके साथ आम जनताका अपने पक्षपोषणार्थ दुरुपयोग करते हैं, निकृष्ट तरीकोंसे अध्यात्मके साहित्यका बहिष्कार करते हैं। अन्य कई प्रकारके षड्यंत्र रचकर अध्यात्मपक्ष पर अज्ञान आवरण डालने का प्रयास करते हैं, जो खेदकी बात है। इस प्रकार ग्रंथका आत्मनिवेदन अपने आपमें ग्रंथका हार्द एवं मर्म समाहित किये हुए है। वयोवृद्ध विद्वान् पं० श्रीमान् जगन्मोहनलालजी शास्त्री कटनीने प्राक्कथन लिखकर ग्रंथकी महत्ता पर स्पष्ट प्रकाश डाला है। साथ ही विद्वानोंको सावधान करते हुए दिशानिर्देशके रूपमें लिखा है कि विद्वान् केवल समाजके मुख नहीं हैं। वे आगमके रहस्योद्‌घाटन के जिम्मेदार हैं। अतः उन्हें हमारे अमुक वक्तव्यसे समाजमें कैसी प्रतिक्रिया होती है, वह अनुकूल होती है या प्रतिकूल यह लक्ष्यमें रखना जरूरी नहीं है। यदि उन्हें किसी प्रकारका भय हो भी तो सबसे बड़ा भय आगम का होना चाहिए। विद्वानोंका प्रमुख कार्य जिनागमकी सेवा है, और यह तभी संभव है जब वे समाजके भयसे मुक्त होकर सिद्धातके रहस्यको उसके सामने रख सके। कार्य बड़ा है। इस कालमें इसका उनके ऊपर उत्तरदायित्व है, इसलिए उन्हें यह कार्य सब प्रकारकी मोह ममताको छोड़कर करना ही चाहिए। समाजका संधारण करना उनका मुख्य कार्य नहीं है।' ये शब्द सचमुचमें विद्वानोंको प्रकाशस्तम्भ समान हैं। अस्तु।

तत्पश्चात् विषयप्रवेश प्रकरणसे ग्रन्थारम्भ होता है। समग्र ग्रन्थ १२ अधिकारोंमें विभाजित हैं, जो इस प्रकार हैं—(१) विषयप्रवेश, (२) वस्तुस्वभाव मीमांसा (३) बाह्यकारण मीमासा, (४) निश्चय उपादान-मीमांसा, (५) उभयनिमित्तमीमासा, (६) कर्तृकर्ममीमासा (७) षट्कारकमीमासा, (८) क्रमनियमित पर्याय-मीमांसा, (९) सम्यक् नियतिमीमासा, (१०) निश्चय व्यवहारमीमासा, (११) अनेकात-स्याद्वादमीमासा तथा (१२) केवलज्ञान स्वभाव मीमासा।

प्रत्येक अध्याय अपने-अपने नाम द्वारा अपने प्रतिपाद्य विषयकी घोषणा करता है। प्रत्येक अध्यायगत प्रतिपाद्य विषयका साराश इस प्रकार है—

आचार्य अकलंकदेवने आप्तमीमांसा पद्य ५ में वस्तुका स्वरूप उत्पाद-व्यय तथा ध्रौव्यात्मक अर्थात् त्रितयात्मक होता है' यह सिद्ध करते हुए एक उदाहरण दिया है कि स्वर्ण घटका इच्छुक एक मनुष्य स्वर्णकी घटपर्यायके नाश होनेपर दुःखी होता है, स्वर्ण मुकुटका इच्छुक दूसरा मनुष्य स्वर्णकी घटपर्यायके व्यय तथा मुकुट पर्यायकी उत्पत्ति होनेपर हर्षित होता है और मात्र स्वर्ण (द्रव्य) का इच्छुक तीसरा मनुष्य स्वर्णकी घट पर्यायके नाश तथा मुकुट पर्यायकी उत्पत्तिमें न तो दुःखी होता है और न ही हर्षित, किन्तु मध्यस्थ रहता है। इन तीन मनुष्योंके कार्य अहेतुक नहीं हो सकते। अतः सिद्ध है कि स्वर्णकी घट पर्यायके नाश तथा मुकुट पर्यायकी उत्पत्ति होने पर भी स्वर्णका न तो नाश होता है और न उत्पाद हो। स्वर्ण तो घट या मुकुट आदि अवस्थामें स्वर्ण ही बना रहता है। यह वस्तुस्वभावकी मीमांसाका सार है।

बाह्यकारणकी मीमांसा दो दृष्टियोंसे की गई है प्रथम ऋजुसूत्रनय तथा द्वितीय नैगमनयकी दृष्टि। ऋजुसूत्रनय पर्यायार्थिक नयोंमें प्रमुख है। वह—एक समयवर्ती पर्यायको विषय करता है अतः इस नयकी अपेक्षा उत्पाद और व्यय दोनों निर्हेतुक होते हैं। यह नय पर सापेक्ष कथनको विषय नहीं करता। देखिये जयधवला पुस्तक १ पृ० २०६-२०७। नैगमनय द्रव्यार्थिक नयोंमें प्रमुख है। संकल्पप्रधान होनेसे यह नय सत्-असत्

दोनोंको विषय करता है। साथ ही गौण-मुख्य भावसे द्रव्य और पर्याय दोनोंको विषय करता है परन्तु मुख्य-रूपसे इसका विषय उपचार है। देखिये जयधवला पु० १, पृ० २०१।

सामान्यतः कारणका लक्षण धवलाकार इस प्रकार किया है कि "जो जिसके होनेपर ही होता है, नहीं होनेपर नहीं होता। वह उसका कारण कहलाता है।" देखिये धवला पुस्तक १२ पृ० २८९। इससे स्पष्ट है कि कारण तथा कार्यमें अविनाभाव सम्बन्ध नियम रूपसे घटता है चाहे वह बाह्य साधन हो या अन्तरंग साधन। यद्यपि सहकारीकारण भिन्नद्रव्य है, भिन्नद्रव्यरूप सहकारी कारणके साथ एकद्रव्यप्रत्यासत्ति-का अभाव है तथापि उनमें एककालप्रत्यासत्तिका सद्भाव होनेसे कारण कार्यभाव स्वीकार किया गया है। देखिये प्रमेयरत्नमाला अध्याय ३, सूत्र ६० की टीका। उपरोक्त कारण-कार्यपना परमार्थभूत नहीं है अपितु उपचरित मात्र है। उदाहरणार्थ—बुद्धिमान लोग ग्रहों तथा हस्तरेखाओं आदिसे आगामी घटनाओंका अनुमान कर लेते हैं। उसके वे ज्ञापक निमित्त है, उन होनेवाली घटनाओंके कारकनिमित्त नहीं है। इस तथ्यका समाधान धवला पु० ६, पृ० ४२३ के इस कथनसे होता है कि नारकियोंको सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें जो वेदना कारण होती है, वह वेदना ज्ञापक निमित्तमात्र है, कारक निमित्त नहीं। अन्यथा वेदनाके निमित्तसे सभी नारकियोंको नियमतः सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका प्रसंग बनेगा, जो असम्भव है।

निश्चय उपादान मीमांसा—निश्चय उपादान कारणका स्वरूप निर्देश आचार्य विद्यानन्दस्वामीने अपने ग्रन्थ अष्टसहस्रीमें इस प्रकार किया है कि जो द्रव्य तीनों कालोंमें अपने रूपको छोड़ता हुआ और नहीं छोड़ता हुआ पूर्वरूपसे और अपूर्वरूपसे वर्त रहा है, वह उपादान कारण है। इससे स्पष्ट है कि द्रव्यका न तो केवल सामान्य अंश उपादान कारण होता है और न केवल विशेष अंश उपादान होता है किन्तु सामान्य विशेषात्मक द्रव्य ही निश्चय उपादान होता है। इस तथ्यका समर्थन आचार्य कार्तिकेयकृत कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा २२५ से २२८ द्वारा होता है। इसी ग्रन्थमें गाथा २३० में स्पष्ट घोषणा की गई है कि अनन्तरपूर्व परिणामयुक्त द्रव्य ही कारणरूपसे प्रवर्तित होता है और अनन्तर उत्तर परिणामसे युक्त वही द्रव्य नियमसे कार्य होता है।

उभयनिमित्त मीमांसा—इस प्रकरणमें यह बात स्पष्ट की गई है कि निश्चय उपादानकारण नियमसे कार्यका नियामक होता है तथा व्यवहार (निमित्त) कारण उसका अविनाभावी बाह्य अनुकूल रूपमें उपस्थित होता है किन्तु व्यवहारकारण निश्चयका स्थान नहीं ले सकता। इन दोनोंमें विन्ध्यगिरि तथा हिमगिरि समान अन्तर है, क्योंकि निश्चयकारण कार्यरूपद्रव्यके स्वरूपमें अन्तर्निहित रहता है तथा व्यवहारकारण बाह्य वस्तु है। आचार्य समन्तभद्रस्वामीने तो घोषणा की है कि बाह्य (निमित्त) तथा अन्तरंग (उपादान) की समग्रतामें ही सभी कार्य होते हैं ऐसा वस्तुगत स्वभाव है, अन्य प्रकारसे वस्तुस्वभावकी सिद्धि नहीं होती, इसलिए आप ऋषियों तथा बुद्धिमानों द्वारा पूज्य हो। (देखिये स्वयंभूस्तोत्र पद्य ६०) उन्होंने यह भी कहा कि गुण-दोष रूप कार्यकी उत्पत्तिमें जो भी बाह्यवस्तु कारण कही जाती है वह निमित्तमात्र है, उस कार्यकी उत्पत्तिका मूलहेतु तो अभ्यन्तर (उपादान) ही है, इसलिए अध्यात्म मार्गी जनोंको वह अभ्यन्तर कारण ही पर्याप्त है अर्थात् निमित्ताधीन—पराधीन दृष्टिका परित्याग तथा उपादान-स्वाधीन दृष्टिके आश्रयमें ही कल्याण निहित होता है। अस्तु! (देखिये स्वयंभूस्तोत्र ५९)।

कर्तृकर्ममीमांसा—यह प्रकरण मोक्षमार्गीको सर्वाधिक महत्त्वका है कारण कि कर्ता-कर्मकी भूल समस्त तत्त्वोंकी भूलोंकी मूल है। कर्ता-कर्मकी भूल मिटनेपर समस्त भूले मिट जाती हैं। जो स्वतंत्रपने अपने

कार्यको करे उसे कर्ता कहते हैं, जो कार्य होता है वही कर्म है। वास्तवमें समस्त द्रव्यों में परस्पर कर्ताकर्म सम्बन्ध है ही नहीं, फिर भी भिन्न द्रव्यका भिन्न द्रव्यसे कर्ताकर्म सम्बन्ध कहना व्यवहार कथनमात्र है, निश्चयसे तो कर्ता-कर्म सम्बन्ध एक ही वस्तुमें घटित होता है। जो परिणमन करे वही कर्ता है, जो परिणाम है, वही कर्म है तथा जो परिणति है वही क्रिया है, परमार्थसे तीनों वस्तुमय है, वस्तुसे भिन्न नहीं है। इससे स्पष्ट है कि कर्ताकर्म सम्बन्ध एक ही द्रव्यमें तथा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध दो द्रव्योंमें घटित होता है। अतः जिनागममें जहाँ भी बाह्यद्रव्यको कर्ता कहा गया हो, उसे उपचरित (व्यवहार) कथनमात्र समझना चाहिए। एक कार्यके दो कर्ता भी नहीं होते, दो कर्ताओंका एक कार्य नहीं होता क्योंकि एक एक ही रहता है, अनेक नहीं हो सकता। अस्तु। देखिये समयसारके कलश क्रमांक २००, २१०, ५१, ५४)।

षट्कारकमीमांसा—क्रियाके प्रतिप्रयोजकको कारक कहते हैं। कारक ६ होते हैं—कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण। ये षट्कारक भी एक ही द्रव्यमें घटित होते हैं तथा पर्याय दृष्टिसे एक ही पर्यायमें षट्कारक होते हैं, अन्य द्रव्यके साथ कारकपना कहना उपचार मात्र जानना चाहिए—परमार्थ नहीं। वास्तवमें अनादिकालसे जीव स्वाश्रयपनेको भूलकर परद्रव्योंसे कारकपनेका विकल्प करके पराश्रित बना हुआ है अत आत्मकल्याणार्थ, स्वाश्रित षट्कारक दृष्टिका ग्रहण तथा पराश्रित षट्कारक दृष्टिका ग्रहण ही कार्यकारी है।

क्रमनियमितपर्याय मीमांसा—यह प्रकरण पंडितजीने सविस्तार, सतर्क तथा सप्रमाण स्पष्ट किया है, जो स्पष्टीकरण उनके बाद क्रमबद्धपर्याय पर कलम चलाने वाले लेखकोंको मार्गदर्शक तथा मुख्य आधार रहा है। क्रमबद्ध पर्यायका अर्थ है, प्रत्येक कार्य अपने स्वकालमें ही होता है। तात्पर्य यह है कि सभी द्रव्यों-की उनके सभी गुणोंकी त्रिकालवर्ती पर्यायें अपने-अपने नियत कालमें ही होती हैं इसे ही क्रमबद्ध या क्रमनिय-मित पर्याय कहते हैं। सर्वज्ञ स्वभावकी स्वीकृतिमें सर्वद्रव्योंकी क्रमबद्धपर्यायोंकी स्वीकृति भी अनिवार्य है क्योंकि क्रमबद्ध पर्यायके निषेधमें सर्वज्ञस्वभावके निषेध होनेका प्रसंग बनता है। इस सिद्धान्तको स्वीकारनेसे अनादि संसारका मूल जो विकल्पजाल है वह स्वयमेव विनष्ट होने लगता है, मुक्ति, होनहार, काललब्धिका परिपाक, पूर्णसुख प्राप्तिका अवसर इत्यादि सभी क्रमबद्धमें समीप आने लगते हैं तथा इसके अस्वीकारसे मुक्तिका मार्ग एवं मुक्ति दोनों क्रमबद्धमें अत्यन्त दूर रहते हैं। कर्तापनेका जहर उतरने लगता है तथा अकर्तापनेका अमृतपान का लाभ होता है।

उपरोक्त विषयोंकी मीमांसाके अतिरिक्त सम्यक्नियतिस्वरूपमीमांसा, निश्चय-व्यवहार मीमांसा, अनेकान्त-स्याद्वाद मीमांसा तथा केवलज्ञान स्वभावमीमांसा इन प्रकरणोंपर सुविशद्, सुस्पष्ट विवेचनके साथ यह अनोखा ग्रंथ समाप्त होता है।

सारांश—साररूपमें हम कह सकते हैं कि "जैनतत्त्वमीमांसा" तत्त्वसे अनभिज्ञ जनोंको ज्ञानप्रदाता, जिनागम अभ्यासियोंको मुक्तिमार्गप्रदर्शक, वस्तुस्वरूपके गूढ़तम सिद्धान्तोंकी गुत्थियाँ सुलझानेवाला, विज्ञजनोंके हृदय कमलोंको प्रफुल्लित करनेवाला अद्वितीय, अजोड़, अमरकृति एवं पंडितजीके व्यक्तित्वका अमर स्मारक स्वरूप ग्रन्थ है। यदि जिनागम सागरके मंथनसे प्राप्त नवनीतका रसास्वादन करना हो, जिन प्रवचनोंका परमामृत चखना हो, दर्शनविशुद्धि पाकर मुक्तिमार्गमें गति करना हो तो प्रत्येक आत्मार्थीके लिए 'जैनतत्त्व-मीमांसा' अवश्य ही सदाशयताके साथ, गम्भीरतापूर्वक, अध्ययन, मनन एवं हृदयंगम करने योग्य है 'इत्यलं सुविज्ञेषु।'

●

ज्ञानपीठ पूजाञ्जलि : एक अध्ययन

श्री लक्ष्मीचन्द्र 'सरोज' जावरा

भारतीय ज्ञानपीठके संस्थापकोंकी यह भावना ज्ञानपीठ-पूजाञ्जलिके माध्यमसे प्रकट हुई कि पूजा-ध्यान स्तोत्र-वाचन, सामायिक, आलोचना पाठ, आरती आदिको जिस परिपाटीने समाजकी धार्मिक भावनाको जागृत रखा और आध्यात्मिक शान्ति की ओर उन्मुख किया है, वह सुरक्षित रहे, उसका सवर्धन हो।''''ज्ञानपीठ पूजाञ्जलि द्वारा यह प्रयत्न विशेष रूपसे किया गया है कि शुद्धपाठ प्रस्तुत किया जावे और संस्कृत पूजाओंके हिन्दी अनुवाद द्वारा उनकी महत्ताको—उनके भावको बोधगम्य बनाया जावे। सामग्रीका वर्गीकरण दैनिक और नैमित्तिक आवश्यकताओंके आधार पर किया गया है जिसका सम्पादन पंडित फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्रीने उत्तम रीतिसे किया है। पूजाञ्जलि निम्नलिखित सात विभागोंमे विभाजित है—

(१) सामान्य पूजा-पाठ (संस्कृत-हिन्दी), (२) पर्व पूजादि (संस्कृत-हिन्दी), (३) तीर्थंकर पूजा, (४) नैमित्तिक पूजा पाठ, (५) अध्यात्म पाठ, (६) स्तोत्रादि (संस्कृत हिन्दी) (७) आरती जापादि।

'पूजाञ्जलि'में संग्रहीत संस्कृत पूजाओंका संकलन बाबू छोटेलालजी कलकत्ताने किया और उनका सम्पादन आ० ने० उपाध्येने किया। डॉ० लालबहादुर शास्त्रीने कतिपय संस्कृत पूजाओका अनुवाद किया था उससे भी यथोचित यथासम्भव सहायता ली गई। शेष सामग्रीका सकलन ज्ञानपीठके कार्यालयमे किया गया। इन पूजाओंका हिन्दी अनुवाद ललित तथा मधुर भाषामे मूलगामी भावानुसार पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्रीने किया। संस्कृत पूजाओंके साथ होनेसे संस्कृत भाषाका, पूजाके भावका महत्त्व सुस्पष्ट हुआ है। प्राचीन जिन-वाणी संग्रहोंमें जहाँ बड़ा टाइप चित्र थे वहाँ कागजी कंजूसीके कारण गद्य-पद्य भेद नही था। पूजाञ्जलि इसकी अपवाद है सुन्दर सम्पादन-प्रकाशन है।

आलोचना पाठके रचयिता जौहरी लाल और कल्याण मन्दिर स्तोत्रके रचयिता कुमुदचन्द्र लिखना समुचित लगा। कुछ ग्रन्थोंमें भूधरदास और सिद्धसेन दिवाकर लिखा गया अनुचित ही लगा।

सम्भवतः सर्वप्रथम पूजाञ्जलिमें ही पूजाकी महत्ता, मूलस्रोत और काल दोषज विकृतिका, प्राचीन-अर्वाचीन पूजाका विधिवत् साधार विश्लेषण-विवेचन किया गया। पंडित प्रवर फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीने जो प्रास्ताविक वक्तव्य प्रथम संस्करणमे लिखा था, वह अठारह पृष्ठोंकी परिधिमे पठनीय-मननीय-चिन्तनीय है।

'कृतिकर्म-साधु और गृहस्थ दोनोंके कार्योंमे मुख्य आवश्यक है। यद्यपि साधु सांसारिक प्रयोजनोंसे मुक्त हो जाता है, फिर भी उसका चित्त भूलकर भी लौकिक समृद्धि, यश और अपनी पूजा आदिकी ओर आकृष्ट न हो और गमनागमन, आहार-ग्रहण आदि प्रवृत्ति करते समय लगे हुए दोषोका परिमार्जन होता रहे, इसलिए साधु कृतिकर्मको स्वीकार करता है। गृहस्थकी जीवनचर्या ही ऐसी होती है कि जिसके कारण उसकी प्रवृत्ति निरन्तर सदोष बनी रहती है, इसलिए उसे भी कृतिकर्म करनेका उपदेश दिया जाता है।

कृतिकर्मके मूलाचारमे चार पर्यायवाची नाम दिए हैं—कृतिकर्म, चितिकर्म, पूजाकर्म और विनयकर्म। इनकी व्याख्या करते हुए भूमिकामे स्पष्ट किया गया है कि जिस अक्षरोच्चार रूप वाचनिक क्रियाके परिणामों-की विशुद्धि रूप मानसिक क्रियाके और नमस्कारादिरूप कायिक क्रियाके करनेसे ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके कर्मोंका 'कृत्यते छिद्यते' छेद होता है उसे कृति कर्म कहते है। यह पुण्य संचयका कारण है इसलिए इसे चिति-कर्म कहते हैं। इसमे चौबीस तीर्थंकरों और पाँच परमेष्ठी आदिकी पूजा की जाती है, इसलिए इसे पूजा कर्म

भी कहते हैं तथा इसके द्वारा उत्कृष्ट विनय प्रकाशित होती है इसलिये इसे विनय कर्म भी कहते हैं। यहाँ विनयकी "विनीयते निराक्रियते" ऐसी व्युत्पत्ति करके इसका फल कर्मोंकी उदय और उदीरणा आदि करके उनका नाश करना भी बतलाया गया है। तात्पर्य यह है कि कृतिकर्म जहाँ निर्जराका कारण है, वहाँ वह उत्कृष्ट पुण्य संचयमें हेतु है और विनय गुणका मूल है। इसलिए उसे प्रमाद रहित होकर साधुओं और गृहस्थोंको यथा-विधि करना चाहिए।

विचारणीय विषयमें पंडितजीने पूजाके आह्वान-स्थापन-सन्निधिकरणके विषयमें संकेत किया है। जैन परम्परामें स्थापना निक्षेपका बहुत महत्त्व है; इसमें सन्देह नहीं। पंडित प्रवर आशाधरजीने जिनाकारको प्रकट करने वाली मूर्तिके न रहनेपर अक्षतादिमें भी स्थापना करनेका विधान किया है, किन्तु जहाँ साक्षात् जिन-प्रतिमा विराजमान है, वहाँ क्या आह्वान आदि क्रियाका किया जाना आवश्यक है? विसर्जन आकर पूजा स्वीकार करने वालेका किया जाता है, किन्तु जैन धर्मके अनुसार (न) कोई आता है और न पूजामें अर्पण किये भागको स्वीकारता है। इस स्थितिमें पूजाके अन्तमें विसर्जन करना क्या आवश्यक है? आपने विसर्जन पाठके आह्वानं··· मन्त्रहीनंसे मिलते-जुलते ब्राह्मणधर्मके श्लोक देकर तुलनात्मक अध्ययनको बल दिया है।

(१) सम्यग्दर्शन बोध—ते मंगलम् [मंगलाष्टक दूसरा श्लोक] निर्दोष सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र यह पवित्र रत्नत्रय है। श्री सम्पन्न मुक्ति नगरके स्वामी भगवान् जिनदेवने इसे अपवर्ग देने वाला कहा है। इस प्रकार जो यह तीन प्रकारका धर्म कहा गया है, वह तथा इसके साथ सूक्ति सुधा, समस्त जिन प्रतिमा और लक्ष्मीका आधारभूत जिनालय मिलकर चार प्रकारका धर्म कहा गया, वह तुम्हारा मंगल करे।

(२) दृष्टं जिनेन्द्र····नूपुरनादरम्यम् [दृष्टाष्टक स्तोत्र ५वाँ श्लोक] आज मैंने जो हिलती हुई सुन्दर मालाओंसे आकुल हुए भ्रमरोंके कारण ललित अलकोंकी शोभाको धारण कर रहा है और जो मधुर शब्द युक्त वाद्य और लयके साथ नृत्य करती हुई वारांगनाओंकी लीलासे हिलते हुए वलय और नूपुरके नादसे रमणीय प्रतीत होता है ऐसे जिनेन्द्र-भवनके दर्शन किए।

(३) श्रीमज्जिनेन्द्र···मयाभ्यधायि [लघु अभिषेक पाठ १ला श्लोक] तीन लोकके ईश स्याद्वाद नीतिके नायक और अनन्त चतुष्टयके धनी श्रीसम्पन्न जिनेन्द्रदेवको नमस्कार करके मैंने मूल संघके अनुसार सम्यग्दृष्टि जीवोंके सुकृतको एक मात्र कारणभूत जिनेन्द्रदेवकी यह पूजा-विधि कही।

(४) उदकचन्दन····जिननाथमहं यजे (नित्यपूजा अर्घ-श्लोक) मैं प्रशस्त मंगलगानके (मंगल जिनेन्द्र स्तवनके) शब्दोंसे गुंजायमान जिनमन्दिरमें जिनेन्द्रदेवका जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल तथा अर्घसे पूजन करता हूँ।

(५) प्रज्ञाप्रधाना····परमर्षयो नः (नित्यपूजा मुनि स्तवन ४ था श्लोक) प्रज्ञाश्रमण, प्रत्येक बुद्ध, अभिन्नदश पूर्वी, चतुर्दश पूर्वी, प्रकृष्टवादी और अष्टाग महानिमित्तके ज्ञाता मुनिवर हमारा कल्याण करें।

(६) देवि श्री श्रुतदेवते····संपूजयामोऽधुना (देवशास्त्र गुरुपूजा ३रा श्लोक) हे देवि! हे श्रुतदेवते! हे भगवति!! तेरे चरण कमलोंमें भौंरेकी तरह मुझे स्नेह है। हे माता, मेरी प्रार्थना है कि तुम सदा मेरे चित्तमें बनी रहो। हे जिनमुखसे उत्पन्न जिनवाणी! तुम मेरी सदा रक्षा करो और मेरी ओर देखकर मुझपर प्रसन्न होओ। अब मैं आपकी पूजा करता हूँ।

(७) बारह विह संजम····ते तरन्ति (देवशास्त्रगुरु पूजाकी जयमाला श्लोक (८वा) जो बारह प्रकारका संयम धारण करते हैं, चारों प्रकारकी विकथाओंका परित्याग करते हैं और जो बाईस परीषहोंको सहन करते हैं, वे मुनि ससार रूपी महासमुद्रको पार करते हैं।

(८) निज मनोमणि ·· सिद्धमहं परिपूजये (सिद्धपूजा भावाष्टक १ला श्लोक) अपने मन रूपी मणिके पात्रमें भरे हुए समता रस रूपी अनुपम अमृत रसकी धारासे केवलज्ञान रूपी कलासे मनोहर सहज सिद्ध परमात्माकी मैं पूजा करता हूँ।

(९) जिनस्नानं····सन्मार्गप्रभावना (षोडशकारण पूजा श्लोक १७वां) जिनदेवका अभिषेक, श्रुतका व्याख्यान, गीत-वाद्य तथा नृत्य आदि पूजा जहाँ की जाती है वह सन्मार्ग प्रभावना है।

(१०) सच्चेण जि सोहइ·· तियस सेवा वहंति (दशलक्षण पूजा गाथा ४ सत्यधर्म) सत्यसे मनुष्य-जन्म शोभा पाता है, सत्यसे ही पुण्य कर्म प्रवृत्त होता है, सत्यसे सब गुणोका समुदाय महानताको प्राप्त होता है और सत्यके कारण ही देव सेवा-व्रत स्वीकार करते हैं।

अनूदित अंशोंको दृष्टिपथमें रखते हुए कहा जा सकता है कि अनुवाद बहुत अच्छा हुआ। अनावश्यक विस्तार-संक्षेप दोनो ही नही है। अनुवादकी भाषापर संस्कृतनिष्ठ शैलीका प्रभाव सुस्पष्ट लक्षित होता है। वास्तवमें विद्वान् सम्पादकने ज्ञानपीठ पूजाञ्जलिके प्रणयनमें पर्याप्त परिश्रम किया है। पूजाञ्जलि जैसा प्रयत्न अपनी दिशाका सुदृढ सशक्त चरण है और उसकी सफलताका बहुत कुछ श्रेय पंडित फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री-को है। उन्होंने स्वतन्त्र होकर जिन ग्रन्थोंके भाष्य लिखे, उनमे आपकी उच्चकोटिकी विद्वत्ता पग-पग पर लक्षित होती है।

इसमें कोई सन्देह नही है कि "ज्ञानपीठ-पूजाजलि"के प्रास्ताविक वक्तव्यमें प्रकाशित पण्डितजीके विचार आज भी प्रेरणादायक, वतमान परिस्थितिमे जैन समाजको जागृत करने वाले, स्फूर्ति प्रदान करने वाले हैं। पण्डितजीने निष्कर्ष रूपमे यह तथ्य उजागर किया है कि वर्तमान पूजा-विधिमे कृति-कर्मका जो आवश्यक अंश छूट गया है, यथास्थान उसे अवश्य ही सम्मिलित कर लेना चाहिए और प्रतिष्ठा-पाठके आधारसे इसमें जिस तत्त्वने प्रवेश कर लिया है, उसका संशोधन कर देना चाहिए। क्योंकि पंचकल्याणक प्रतिष्ठा-विधिमे और देव-पूजामें प्रयोजन आदिकी दृष्टिसे बहुत अन्तर है। प्रतिष्ठा-विधिमे प्रतिमाको प्रतिष्ठित करनेका प्रयोजन है और देव-पूजामें प्रतिमाको साक्षात् जिन मान कर उसकी उपासना करनेका प्रयोजन है। अत समाजको इसी दृष्टिसे पूजा-पाठ करना चाहिए।

इस प्रकार पूजाञ्जलि कई दृष्टियोंसे उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण है। भविष्यमें भी जैन विद्वान् इस प्रकार-के संकलन तैयार कर जैन पूजाविधिपर अधिक-से-अधिक शोधपूर्ण विचार प्रकाशित कर सकेंगे।



वर्ण-जाति और धर्म : एक चिन्तन

डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ

'वर्ण, जाति और धर्म' श्री पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री प्रणीत एक ऐसी विचारोत्तेजक, पठनीय एवं मननीय कृति है, जिसमे आधुनिक युगकी एक ज्वलन्त समस्याका आगम और युक्तिके आलोकमे विशद विवेचन तथा समाधान प्रस्तुत करनेका उत्तम प्रयास किया गया है। पुस्तक प्रणयनमें मुख्य प्रेरक स्व० साहू शान्तिप्रसाद जैन थे, जो अपने प्रगतिशील विचारों, सुलझी हुई समीचीन दृष्टि, उदाराशय, दानशीलता और

समाजके सर्वतोन्मुखी उन्नयनकी उत्कट लगनके कारण न केवल प्रबुद्ध वर्गके, वरन् अपने समयमें अखिल जैन समाजके सर्वाधिक जनप्रिय नेता रहे। पुस्तकका प्रकाशन भी साहूजी द्वारा संस्थापित भारतीय ज्ञानपीठसे उसकी मूर्त्तिदेवी ग्रन्थमालाके ग्रन्थांक ८ के रूपमें प्रथम बार सन् १९६३ ई० में हुआ था। प्रचारकी दृष्टिसे इस साधिक ४५० पृष्ठोंकी सुमुद्रित सजिल्द पुस्तकका मूल्य मात्र तीन रुपये रखा गया था। पुस्तककी भाषा और शैली विषयवस्तुके अनुरूप प्रौढ़, सरल-सुबोध, तार्किक एवं समीक्षात्मक है। प्रबुद्धचेता वर्गमें पुस्तकका स्वागत भी अच्छा हुआ।

प्रारंभिक 'दो शब्दों'में विद्वान् लेखकने पुस्तक-प्रणयनके हेतुका संकेत करते हुए बताया है कि भारतवर्षमें सद्यः प्रचलित जातिप्रथा, जो देश और समाजके लिए हानिकारक सिद्ध हुई हैं और हो रही है, मूलतः ब्राह्मणधर्मसे सम्बद्ध है, उस धर्मका वह वस्तुतः मूलाधार ही है जबकि जैनधर्मका जातिधर्मके साथ थोड़ा भी सम्बन्ध नहीं है। मूल जैन साहित्य इसका साक्षी है। किन्तु मध्यकालमें जातिधर्मका व्यापक प्रचार होनेके कारण परवर्ती जैन साहित्यमें उसकी छाया स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। तथापि जिन आचार्योंने जाति, कुल, गोत्र आदिकी प्रथाको परिस्थितिवश धर्मका अंग बनानेका उपक्रम किया, उन्होंने भी उसे वीतराग भगवान्की वाणी या आगम कभी नहीं कहा—या तो उसका निषेध किया अथवा उसे गृहस्थके लौकिक धर्मका अंग प्रतिपादित किया, जिसमें ब्राह्मणीय वेदों, मनुस्मृति आदिको प्रमाण बताया, जैन आगमको नहीं। इस विषयपर जैन शास्त्रीय दृष्टिसे अभी तक कोई सांगोपांग मीमांसा नहीं हो पाई थी। स्व० साहूजी जैसे अनेक प्रबुद्ध सज्जनोंको यह कमी खटकती थी। अतः पं० फूलचन्द्रजीसे आग्रह किया गया और उन्होंने विचार एवं श्रमपूर्वक इस पुस्तकका प्रणयन किया।

पुस्तकके दो भाग हैं—प्रथम भागमें १५ उपयुक्त शीर्षकोंके अन्तर्गत विवक्षित प्रकरणोंपर तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक दृष्टिसे विस्तृत ऊहापोह किया गया है; यथा—(१) धर्म महत्ता, व्याख्या, अवान्तर भेद एवं उनका स्वरूप, (२) व्यक्तिधर्म-आत्मधर्म या जिनधर्म, (३) समाज धर्म या लौकिक धर्म, (४) नोआगम भाव मनुष्योंमें धर्माधर्म-मीमांसा, (५) गोत्रमीमांसा, (६) कुल मीमांसा, (७) जातिमीमांसा, (८) वर्णमीमांसा, (९) ब्राह्मणवर्ण-मीमांसा, (१०) यज्ञोपवीत-मीमांसा (११) जिनदीक्षाधिकार-मीमांसा, (१२) आहारग्रहण-मीमांसा, (१३) समवसरणप्रवेश-मीमांसा, (१४) जिनमन्दिरप्रवेश-मीमांसा, और (१५) आवश्यक षट्कर्म-मीमांसा। तदनन्तर प्रकृतमें उपयोगी (१७) पौराणिक आख्यानोंका संक्षेपसार अपने मन्तव्योंके समर्थनमें दृष्टान्त रूपसे प्रस्तुत कर दिया गया है। दूसरे भागमें अपनी उपरोक्त मीमांसाओंके आधारभूत शास्त्रीय प्रमाणोंके भाषानुवाद सहित मूलपाठ भी दे दिये गये हैं, जिससे प्रबुद्ध पाठक स्वयं भी देख सकें कि उक्त मुद्दोंके पीछे शास्त्राधार क्या और कितना है। साथ ही, "क्षेत्रकी दृष्टिसे मनुष्योंमें धर्माधर्म मीमांसा और मीमांसापर भी शास्त्राधार निर्देशित कर दिये गये हैं।"

इस प्रकार पुस्तकमें जाति-समस्यासे सम्बद्ध प्रायः सभी विषयोंका विशद विवेचन किया गया है। उक्त विवेचनोंसे जो निष्कर्ष प्राप्त किये हैं अथवा प्रतिपत्तियाँ प्रतिफलित की हैं, वे अधिकतर निर्विवाद एवं ग्राह्य हैं, और जो कोई विवादस्थ भी हैं, वे भी पाठकको पुनः चिन्तन करनेके लिए विवश करती हैं। इस विषयमें सन्देहके लिए अवकाश नहीं है कि भारतीय परम्परामें जैनधर्म अपनी उदारता एवं व्यापक दृष्टिके कारण महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। 'धर्म' शब्दकी एक व्याख्याके अनुसार 'वह ऐसा कर्त्तव्य है जो मानवमात्रके ही नहीं, प्राणीमात्रके ऐहिलौकिक और पारलौकिक जीवनको नियन्त्रित करके सबको सुपथपर ले चलनेमें सहायक होता है।' वस्तुतः जिनधर्म, आत्मधर्म या व्यक्तिवादी धर्म है, जो बिना किसी भी भेदभावके समस्त

प्राणियोंकी ऐहिक एवं पारलौकिक उन्नति तथा सुखसुविधाका विचार करता है, जबकि सामाजिक या लौकिक धर्म केवल मनुष्योंके ही ऐहिक हितसाधन तक सीमित होता है और बहुधा अनगिनत विविध अन्धविश्वासों एवं रूढ़ियोंपर अवलम्बित रहता है।

यही कारण है कि जिनधर्म रूपी आत्मधर्ममें जाति और कुलको स्थान नहीं है। प्रत्येक मनुष्य उसकी साधन द्वारा आत्मोन्नयन करनेका अधिकारी हैं। वर्ण, जाति, कुल, गोत्र आदिका अथवा अन्य भी कोई भेदभाव उसमें बाधक नहीं है। लौकिक-धर्म या समाज-धर्म इन आत्मधर्मसे भिन्न है। वह मूलतः ब्राह्मण-वैदिक परम्पराकी देन है, जिसने शनैः शनैः वर्णाश्रम धर्मका रूप ले लिया। उस परम्परामें ब्राह्मण-क्षत्रियादि वर्णभेद मूलतः गुणकर्मानुसारी ही थे, किन्तु समयके साथ उनके जन्मतः होनेकी मान्यता रूढ़ हो गई। जैन गृहस्थोंके सामाजिक या लौकिक धर्मपर कालान्तरमें उक्त ब्राह्मणीय वर्णव्यवस्थाका प्रभाव पड़ा, और उन्होंने भी धीरे-धीरे उसे अपना लिया। किन्तु मूल जिनधर्मके स्वरूप एवं प्रकृतिसे उसकी कोई संगति नहीं है। इस प्रसंगमें आचार्य जिनसेनस्वामी प्रणीत 'आदिपुराण'को उक्त ब्राह्मण वैदिक प्रभाव-ग्रहणका मुख्यतया उत्तरदायी बताते हुए विद्वान् लेखकने उक्त पुराणकी पर्यालोचना की है।

षट्खण्डागम सिद्धान्त, कषायप्राभृत आदि दिगम्बर आगमोंके तथा मूलाचार, भगवती आराधना, रत्नकरण्डश्रावकाचार, सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक जैसे प्रामाणिक प्राचीन शास्त्रोंके आधारसे उन्होंने निष्कर्ष निकाला है कि मनुष्योंके ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रादि भेद उक्त साहित्यमें उपलब्ध नहीं होते, यह कि द्रव्यस्त्रियों एवं द्रव्य-नपुसकोंको छोड़कर आगमप्रतिपादित पन्द्रह कर्मभूमियोंमें उत्पन्न जितने भी तथाकथित आर्य और म्लेच्छ मनुष्य हैं, उनमें सम्यक्त्व, संयमासंयम और संयम रूप पूर्ण धर्मकी प्राप्ति सम्भव है, और यह कि वर्णके आधारपर धर्माधर्मका विचार करनेकी पद्धति बहुत ही अर्वाचीन है। (पृ० १००)।

गोत्र मीमांसाके संदर्भमें निकाले गये निष्कर्षोंके अनुसार गोत्रकर्म जीवविपाकी है, पुद्गल विपाकी नहीं हैं। गोत्रकर्मके उदयसे हुई जीवकी उच्च और नीच पर्यायोंका सम्बन्ध शरीरके आश्रयसे कल्पित किये गये कुल, वंश या जातिके साथ नहीं है। लोकमें जो उच्च कुल वाले माने जाते हैं उनमें भी बहुतसे मनुष्य भावसे नीचगोत्री हो सकते हैं, और नीचकुली माने जाने वालोंमें बहुतसे भावसे उच्चगोत्री हो सकते हैं। इक्ष्वाकुकुल आदि लौकिक मान्यताएँ काल्पनिक हैं; परमार्थ सत् नहीं है। एक ही भवमें गोत्र परिवर्तन भी हो सकता है, यथा जो मनुष्य सकल संयमको धारण करते हैं उनके नियमसे नीचगोत्र बदल कर उच्चगोत्र हो जाता है। इसी प्रकार जो तिर्यंच संयमासंयम स्वीकार करता है, उसका भी नीचगोत्र बदल कर उच्च गोत्र हो जाता है। गोत्रका सम्बन्ध वर्णव्यवस्थाके साथ न होकर, प्राणीके जीवनके साथ होता है, और उसकी व्याप्ति चारों गतियोंके जीवोंमें देखी जाती है। आगममें उच्चगोत्रको भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय, दोनों प्रकारका बताया है। सारांश यह है कि जिनके जीवनमें स्वावलम्बनकी ज्योति जगती रहती है, वे उच्चगोत्री होते हैं। और इनके विपरीत शेष मनुष्य या प्राणी नीचगोत्री होते हैं। लेखकका कहना है कि मध्यकालके पूर्व जैन वाङ्मयमें यह विचार ही नहीं आया था कि ब्राह्मणादि तीन वर्णोंके मनुष्य ही दीक्षायोग्य हैं; अन्य नहीं हैं। विद्वान् लेखकने 'गोत्र-मीमांसा'का उपसंहार करते हुए एक बड़े ही मार्केकी बात कही है कि 'जो व्यक्ति आत्माकी स्वतन्त्रता स्वीकार करके स्वावलम्बनके मार्गपर चल रहा है, प्रकटमें भले ही वह जैन सम्प्रदायमें दीक्षित न हुआ हो, तो भी प्रसंग आनेपर उसे जैन माननेसे अस्वीकार मत करिये। धर्म सनातन सत्य है। जैनधर्ममें; चाहे उच्चगोत्री हो या नीचगोत्री; आर्य हो या म्लेच्छ, अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य,

शूद्र, कोई भी हो, सब मनुष्योंके लिए धर्मका द्वार समान रूपसे खुला हुआ है। उच्चगोत्री तो रत्नत्रयके पात्र हैं ही, जो नीचगोत्री हैं वह भी रत्नत्रयका पात्र हैं। धर्मकी महिमा बहुत बड़ी है। कुल शुद्धि जैसे कल्पित आवरणोंके द्वारा उसके प्रवाहको रोकना असम्भव है (पृ० १३५ व १३८)

"जाति-मीमांसा" में विद्वान् लेखकने प्रचलित जातिवादके अहितकर परिणामों तथा उसकी निस्सारता पर प्रकाश डाला है, और पाठकोंका ध्यान इस तथ्यकी ओर आकृष्ट किया है कि कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, पूज्य-पाद, प्रभृति प्राचीन प्रामाणिक आचार्यपुंगवों तथा उनके परवर्ती जटासिंहनंदि, रविषेण, अकलंक, जिनसेन पुन्नाटसंघी, गुणभद्र, अमितगति, प्रभाचन्द्र, शुभचन्द्र आदि अनेक आचार्यप्रवरोंने जातिवादका निषेध ही किया है और गुणपक्षकी ही स्थापना की है। वस्तुतः प्राचीन आचार्योंने प्रायः सर्वत्र लौकिक जातिमद एवं कुलमदको नीचगोत्रके आस्रव-बन्धका मुख्य कारण घोषित किया है।

वर्णमीमांसामें वर्णव्यवस्था सम्बन्धी ब्राह्मणधर्म तथा जैनधर्मकी दृष्टियोंकी तुलनात्मक समीक्षा करते हुए विद्वान लेखकने षट्कर्म व्यवस्था, शूद्र वर्ण और उनका कर्म, वर्ण और विवाह, स्पृश्यास्पर्श विचार आदि प्रसंगोपात्त प्रश्नोंका जैन दृष्टिसे समाधान किया है। उसी प्रकार, ब्राह्मण वर्णकी उत्पत्ति और उसके कर्मका उभय परम्पराओंकी दृष्टिसे विवेचन किया है और यह भी सिद्ध करनेका प्रयास किया है कि यज्ञोपवीत भी ब्राह्मण परम्पराकी ही देन है। जैन परम्परामें वह कभी स्वीकृत नहीं रहा। इस प्रसंगमें पुस्तकके पृ० २२८ पर किसी भूलसे पं० बनारसीदासके स्थानमें पण्डित आशाधरका नाम छप गया है—उद्धृत घटना एवं पंक्तियाँ पं० बनारसीदासके 'अर्धकथानक' की हैं।

"जिनदीक्षाधिकारमीमांसा" में आगम साहित्य, कुन्दकुन्दाचार्यकी कृतियों, मूलाचार, वरांगचरित, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण आदि ग्रन्थोंके आधारसे निष्कर्ष निकाला गया है कि शूद्रवर्णके मनुष्य भी मुनि दीक्षा लेकर मोक्षके अधिकारी है, और यह कि इस विषयमें जैन परंपराके जितने भी सम्प्रदाय हैं, उनमें मतभेद नही रहा है (पृ० २४०)। आहारग्रहणमीमांसामें दान देनेका अधिकारी कौन है, देय द्रव्यकी शुद्धि, आहारके ३२ अन्तराय आदिका विवेचन है। समवसरणप्रवेशमीमांसा तथा जिनमन्दिर-प्रवेश मीमांसाके प्रसंगमें यह सिद्ध करनेका प्रयास किया गया है कि शूद्र जिनमन्दिरमें जायें, इसका कहीं निषेध नहीं है (पृ० २५२ व २५८ आदि)। आवश्यक-षट्कर्म-मीमांसामें भी महापुराणकारके मतकी पर्यालोचना की गई है, और कहा गया है कि 'जैनधर्म' में वर्णाश्रम धर्मकी प्रथा महापुराणके कर्ता आचार्य जिनसेनने चलाई है। इसके पहले जैनधर्ममें श्रावकधर्म और मुनिधर्म प्रचलित था, वर्णाश्रम धर्म नहीं। तीन वर्णके मनुष्य दीक्षाके योग्य हैं तथा वे ही इज्या आदि षट्कर्म-के अधिकारी है, ये दोनों विशेषताएँ वर्णाश्रम धर्ममें ही पाई जाती है, श्रावकधर्म और मुनिधर्मका प्रतिपादन करनेवाले जैनधर्ममें नही। इसके अनुसार तो मनुष्यमात्र (लब्धपर्याप्त और भोगभूमिजा मनुष्य नहीं) श्रावक-दीक्षा और मुनिदीक्षाके अधिकारी है। तथा वे इन धर्मोंका पालन करते हुए सामायिक आदि षट्कर्मोंके भी अधिकारी हैं (पृ० २८७)।

विद्वान् लेखकने अपने विषय-विवेचनमें सर्वमान्य प्रामाणिक शास्त्रीय आधारों, पौराणिक दृष्टान्तों तर्क और युक्तियोंका यथोचित अवलम्बन लिया है। उनके किन्हीं मन्तव्यों, निष्कर्षों, तर्कों और शास्त्रीय व्याख्याओं से सम्भव है कि कहीं-कहीं किन्हीं पाठकोंको कोई मतभेद भी हो, तथापि समग्र विवेचनके उनके इस अन्तिम निष्कर्षसे कि—'आगमका सम्बन्ध केवल मोक्षमार्गसे है, सामाजिक व्यवस्थाके साथ नही। सामाजिक व्यव-स्थाएँ बदलती रहती हैं, परन्तु मोक्षमार्गकी व्यवस्था त्रिकालाबाधित है। उसमें परिवर्तन नही हो सकता—किसी भी प्रबुद्ध एवं विवेकशील व्यक्तिको कोई आपत्ति हो सकती है, ऐसा प्रतीत नहीं होता।

वास्तवमें प्रचलित जातिप्रथा कभी और कहीं कैसी भी रही हो और किन्हीं परिस्थितियोंमें उपादेय या शायद आवश्यक भी रही हो, किन्तु काल-दोष एवं निहित स्वार्थोंके कारण उसमें जो कुरूढ़ियाँ, कुरीतियाँ, विकृतियाँ एवं अन्धविश्वास घर कर गये है, और परिणामस्वरूप देशमें, राष्ट्रमें, समाजमें, एक ही धर्मसम्प्रदाय के अनुयायियोंमें जो टुकड़े-टुकड़े हो गये है, पारस्परिक फूट, वैमनस्य एवं भेदभाव खुलकर सामने आ रहे हैं, वैयक्तिक या समूह, सम्प्रदाय या समाज, देश या राष्ट्र किसीके लिए भी हितकर नहीं, अहितकर ही हैं, तथा प्रगतिके सबसे बड़े अवरोधक हैं। धर्मकी आड़ लेकर या कतिपय धर्मशास्त्रोंकी साक्षी देकर जो उनका पोषण किया जाता है, और उनका विरोध करनेवालोंका मुँह बन्द करनेका प्रयत्न किया जाता है, उससे यह आवश्यक हो जाता है कि व्यक्ति और समाज, दोनोंके ही हितमें धर्मके मर्मको धर्मकी मूलाम्नायके प्रामाणिक शास्त्रोंसे जाना और समझा जाय।

मनुष्य स्वयंको सदैवसे श्रेष्ठतम प्राणी कहता आया है। उसका यह दावा अनुचित भी नहीं है। मानवकी अदम्य जिज्ञासा एवं अप्रतिम बुद्धि वैभवने प्राकृतिक-भौतिक जगत्में ही नहीं, आध्यात्मिक जगत्में भी अनगिनत आविष्कार किये हैं। धर्म तत्त्व भी उसीकी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। धर्म सभी देशों और कालोंमें जन-जनके मानसको सर्वाधिक प्रभावित करनेवाला यही तत्त्व रहा है। साथ ही, प्रायः सभी धर्म-प्रवर्तकोंने, उन्होंने भी जिन्होंने मनुष्येतर अन्य प्राणियोंकी उपेक्षा की, मनुष्योंको ऊँच-नीच आदिके पारस्परिक भेदभावोंसे ऊपर उठनेका ही उपदेश दिया। अतएव यहूदी, ईसाई, मुसलमान, यहां तक कि बौद्ध एवं सिक्ख आदि कई भारतीय धर्म भी, मनुष्यमात्रकी समानताका-इगेलिटेरियनिगज्मका दावा करते है, और जातिवादको स्वीकार करते केवल ब्राह्मण वैदिक परम्परासे उद्भूत तथाकथित हिन्दूधर्म ही इसका अपवाद है। तथापि विडंबना यह है कि उन मूलतः समानतावादी एवं जातिवाद विरोधी सम्प्रदायोंमें भी ऊँच-नीचका वर्गभेदपरक जातिवाद किसी न किसी प्रकार या रूपमें घर कर ही गया। अन्तर इतना ही है कि उनमें उसकी जकड़ और पकड़ इतनी सख्त नहीं है जितनी कि हिन्दू धर्ममें है। आजका प्रगतिशील प्रबुद्ध विश्वमानस ऐसे भेदभावोंको मानवके कल्याण एवं उन्नयनमें बाधक समझता है और उनका विरोध करता है। ऐसी स्थितिमें यह अन्वेषण एवं गवेषणा करना कि निर्ग्रन्थ श्रमण तीर्थंकरों द्वारा पुरस्कृत जैनधर्मका इस विषयमें क्या दृष्टिकोण है, अत्यावश्यक हो जाता है। साथ ही यह देखना भी आवश्यक है कि क्या सामाजिक संगठनके हितमें भी उक्त भेदादिकी कोई उपयोगिता है, और हैं तो किस रूपमें तथा किस सीमा तक।

इस प्रसंगमें भ्रान्तिके दो मुख्य कारण प्रतीत होते हैं—एक तो यह कि वर्ण-जाति-कुल-गोत्रमेंसे प्रत्येक शब्दके कई-कई अर्थ हैं—जिनागममें कर्म-सिद्धान्तानुसार उनमेसे प्रत्येकका जो अर्थ है वह लोक व्यवहारमें प्रचलित अर्थसे भिन्न एवं विलक्षण है। दोनोंको अभिन्न मान लेनेसे भ्रान्त धारणाएँ बन जाती है। दूसरे, जो लौकिक, सामाजिक या व्यवहार धर्म हैं, वह परिस्थितिजन्य है, देशकालानुसार परिवर्तनीय या संशोधनीय हैं, इस स्थूल तथ्यको भूलकर उसे जिनधर्म-आत्मधर्म-निश्चयधर्म या मोक्षमार्गसे, जो कि शाश्वत एवं अपरिवर्तनीय हैं, अभिन्न समझ लिया जाता है। पक्षव्यामोह एवं कदाग्रहसे मुक्त होकर भ्रान्तिके जनक इन दोनों कारणोंको-जिनधर्मकी प्रकृति, उसके सिद्धान्त, तत्त्वज्ञान एवं मौलिक परम्पराके प्रतिपादक प्राचीन प्रामाणिक साहित्यके आलोकमें भलीभाँति समझकर प्रकृत विषयके सम्बन्धमें निर्णय करने चाहिए। इसका यह अर्थ भी नहीं है कि लौकिक, सामाजिक या व्यवहार धर्मको सर्वथा नकार दिया जाय—न वैसा सम्भव है और न हितकर ही। परन्तु उसमें युगानुसारी तथा क्षेत्रानुसारी आवश्यक परिवर्तन, संशोधनादि करनेमें भी संकोच नहीं करना चाहिए। व्यावहारिक, सामाजिक या लौकिक धर्मकी व्यवस्थाएँ, संस्थाएँ या प्रथाएँ रहेंगी ही, उनका रहना

अपेक्षित भी है, किन्तु वे ऐसी है जो सम्यक्त्वको दूषित करने वाली न हों, उसकी पोषक हों—मोक्षमार्गमें बाधक न हों, उसकी साधक हों।

१८५७ ई० के स्वातन्त्र्य समरके उपरान्त जब इस महादेश पर अंग्रेजी शासन सुव्यवस्थित हो गया तो प्रायः समग्र देशमें नवजागृति एवं अभ्युत्थानकी एक अभूतपूर्व लहर शनैः शनैः व्याप्त होने लगी, जिससे जैन समाज भी अप्रभावित न रह सका। फलस्वरूप लगभग १८७५ से १९२५ ई० के पचास वर्षोंमें शिक्षा एवं धर्मप्रचारके साथ-साथ समाज सुधारके भी अनेक आन्दोलन और अभियान चले। धर्मशास्त्रोंका मुद्रण-प्रकाशन, शिक्षालयोंकी स्थापना, स्त्रीजातिका उद्धार, कुरीतियोंके निवारणके उपक्रम, कई अखिल भारतीय सुधारवादी संगठनोंका उदय तथा धार्मिक-सामाजिक पत्र-पत्रिकाओंका प्रकाशन आदि उन्हींके परिणाम थे। जातिप्रथाकी कुरीतियों एवं हानियों पर केवल तथाकथित बाबूपार्टी (आधुनिक अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त सुधारक वर्ग) ने ही नहीं, तथाकथित पंडितदलके भी गुरु गोपालदास बरैया जैसे महारथियोंने आवाज उठाई। बा० सूरजभान वकील, पंडित नाथूराम प्रेमी, ब्र० शीतलप्रसाद, आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार प्रभृति अनेक शास्त्रज्ञ सुधारकोंने उस अभियानमें प्रभूत योग दिया। अनेक पुस्तकें व लेखादि भी लिखे गए। मुख्तार सा० की पुस्तकें जिनपूजाधिकार मीमांसा, शिक्षाप्रद शास्त्रीय उदाहरण, जैनधर्म सर्वोदय तीर्थ हैं, ग्रन्थपरीक्षाएँ आदि पण्डित दरबारी लाल सत्यभक्त की विजातीय विवाह मीमांसा, बा० जयभगवानकी वीरशासनकी उदारता, पण्डित परमेष्ठीदासकी जैनधर्मकी उदारता, जैसी पुस्तकें तथा विभिन्न लेखकोंके सैकड़ों लेख प्रकाशित हुए और सुधारकोंके मंचीय जो भी मिले भाषणोंमें समाजको झकझोरा। समाजमें विचार परिवर्तन भी होने लगा। स्वतन्त्रता प्राप्तिके उपरान्त आधुनिक युगकी नई परिस्थितियोंसे उसमें और अधिक वेग आया। ऐसी स्थितिमें, जैसा कि स्व० साहू शान्तिप्रसादजी ने अनुभव किया था, विवक्षित विषयों पर जैनशास्त्रीय दृष्टिसे सांगोपाग मीमासाकी आवश्यकता थी, जिसकी पूर्ति श्री पण्डित फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्रीकी इस पुस्तक 'वर्ण, जाति और धर्म मीमांसा' से बड़े अशोंमें हुई है। पुस्तक तलस्पर्शी और मौलिक है, और विवेचित विषयोंके सम्बन्धमें समाजको दिशा-दर्शन देनेकी पूरी क्षमता रखती हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि वह स्वतन्त्र विचारणाको प्रेरणा और प्रोत्साहन देती है। पाठक पग-पग पर पुनः पुनः सोचने और अपनी पूर्व बद्ध धारणाओंमें संशोधन करनेके लिए विवश होता है। इस पुस्तकके प्रणयनके लिए पंडितजी साधुवादके पात्र तो हैं ही।



जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा : एक समीक्षा

श्री प्रकाश हितैषी शास्त्री, दिल्ली

आत्माका कल्याण या उत्कर्ष मोक्षमार्ग पर चलनेसे प्रारम्भ होता है। उस मोक्षमार्गको प्रशस्त करनेके लिए जिनेन्द्रकी वाणी पथकी प्रज्ज्वलित प्रदीप है। यह जिनवाणी चार अनुयोगोंमें विभक्त हैं। ये चारों ही अनुयोग आत्मोत्थानके लिए अत्यन्त उपयोगी वीतराग मार्गको पुष्ट करते हैं। यद्यपि उनकी कथन-पद्धति एक दूसरेसे भिन्न मालूम पड़ती है। उनमें नय दृष्टिसे तो अन्तर दिखता है, किन्तु लक्ष्य और भाव सबका एकमात्र

शांति-पथका प्रदर्शन करता है। कुछ अनुयोगोंमें व्यवहार प्रधान कथन हैं, तो निश्चय उसमें गौण है। किसीमें निश्चय प्रधान कथन है, तो उसमें व्यवहार गौण है। नयोंका अभाव किसी भी अनुयोगमें देखनेको नहीं मिलेगा। क्योंकि वस्तुस्वरूपको समझनेके लिए दोनों नयोंका ज्ञान आवश्यक है। जिज्ञासु यदि किसी भी नय को अस्वीकार कर देगा तो वह मिथ्यादृष्टि ही बना रहेगा। वह आगमका भाव और वस्तुस्वरूपको कभी भी नहीं समझ सकता है। वस्तुस्वरूपका ज्ञान न होनेसे उसे सुख शान्तिका पथ मोक्षमार्ग कभी प्राप्त नहीं हो सकता है।

जहाँ ज्ञान दोनों नयोंका आवश्यक है वहाँ श्रद्धा दोनों नयोंकी नहीं होती है। श्रद्धा उसीकी होती है जो अपनेसे पूज्य और बड़ा हो। अपनेको पूज्य भी वही है जिससे अपने सुखकी प्राप्ति रूप प्रयोजनकी पूर्ति हो। अत: श्रद्धा निश्चयनयके विषयभूत त्रिकाली ध्रुव स्वभावकी होती है। क्योंकि उसीका आश्रय लेनेसे मोक्षमार्ग या धर्मकी प्राप्ति होती है। व्यवहारनय अशुद्ध अवस्था या अखण्ड वस्तुको खण्ड करके बतलाता है। अर्थात् त्रिकाल वस्तुका स्वरूप जैसा है, व्यवहारनय वैसा नहीं बतलाता है। अतः ज्ञानका ज्ञेय होकर भी वह ध्यानका ध्येय या श्रद्धाका श्रद्धेय नहीं है। इसलिए श्रद्धाकी अपेक्षा हेय कहा गया है। क्योंकि उसकी श्रद्धा से या ध्यानसे मुक्तिका मार्ग या धर्मका प्रारम्भ नहीं होता है। यद्यपि हेय, उपादेयका निर्णय ज्ञान ही कराता है, किन्तु ज्ञान यह कभी नहीं कहता है कि ये विकारादि आत्माका असली स्वरूप है या आश्रय करने योग्य है। शुद्धाशुद्ध पर्याय या गुणभेद आदिको जानकर भी उससे उपेक्षित रहता है। इसलिए व्यवहारको हेय और निश्चयनयको उपादेय कहा गया है।

समय-समय पर ऐसा जरूर देखा गया है कि धर्मोपदेशककी रुचिके अनुसार कभी-कभी निश्चयप्रधान कथन-शैलीकी मुख्यता रही तो कभी व्यवहार शैलीकी प्रधानता रही है, वहाँ दूसरा धर्म गौण रहता है। पहला धर्म मुख्य हो जाता है। यदि इस दृष्टिसे श्रोतागण सुननेका प्रयास करें तो कभी बैर-विरोध नहीं बढ़ सकता है।

यहाँ गौणका अर्थ अभाव नहीं है, किन्तु उसका सद्भाव होते हुए भी इस समय उसका प्रयोजन नहीं है, जिसका प्रयोजन है, वह कथनमें आ रहा है। ज्ञान दोनोंका किया जाता है, किन्तु ध्यान एकका ही किया जाता है। क्योंकि उपयोग एक समयमें एकको ही लक्ष्य बनाता है। एक समयमें दो उपयोग नहीं होते और दो समयमें एक उपयोग नहीं होता है। ध्यान भी उसीका किया जाता है, जिससे अपने प्रयोजनकी पूर्ति हो। संसारमें रहते हुए जीवका एकमात्र प्रयोजन सुख प्राप्ति है। वह सुखकी प्राप्ति अपने स्वभावके आश्रयसे होती है और त्रिकाली शाश्वत स्वभावको बतानेवाला निश्चयनय है। व्यवहारनय तो वस्तुके खण्ड रूप या मिश्रित अवस्थाका ज्ञान कराता है। जिसके ध्यानसे राग एवं संसारकी ही वृद्धि होती है। अत: आचार्योंने निश्चयनयको भूतार्थ और व्यवहारनयको अभूतार्थ कहा है।

आजसे कुछ दशाब्दियों पूर्व व्यवहार क्रिया-काण्डका ही बाहुल्य रहा है। देखा-देखी परम्परा एवं भावशून्य धर्म क्रियाएँ, बल्कि यहाँ तक कि गृहीत मिथ्यात्वका भी पोषण होता रहा है। लोग धीरणेन्द्र, पद्मावती आदि कुदेवोंकी पूजा जिनेन्द्र मन्दिरमें जिनेन्द्र भगवानकी तरह करते थे। अतः पण्डित टोडरमलजीको सत्यका प्रचार करनेके लिए महान् संघर्षका सामना करना पड़ा था, बल्कि इसी संघर्षको झेलते हुए उन्हें अपना बलिदान भी देना पड़ा था।

ऐसा ही युग इस बीसवीं शताब्दीमें आत्मवेत्ता, अध्यात्म शैलीके महान् प्रचारक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामीके उद्भवके समय देखा गया है। यद्यपि इनके पूर्व ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी एवं विद्वद्प्रवर पूज्य

गणेशप्रसादजी वर्णी अध्यात्मकी ज्योति जला चुके थे, किन्तु उनके युगमें इतना अधिक प्रचार-प्रसार नहीं हो सका था, जितना श्री सत्पुरुष कानजी स्वामीके युगमें हुआ। इनकी अध्यात्मकी कथन शैली इतनी आकर्षक एवं प्रभावशाली प्रमाणित हुई कि भारतके कोने-कोनेसे लोग सुननेके लिए उनके पास चले आते थे और सरल भाषामें अध्यात्मकी कथनीको सुनकर इतने प्रभावित हो जाते थे कि अपने नगर और गाँवोंमें जाकर अध्यात्म-की चर्चा वार्ता एवं स्वाध्यायमें समयसारादि अध्यात्म ग्रन्थोंका पठन-पाठन, अध्ययन-मनन होने लगा। प्रति वर्ष इनके शिक्षण-शिविर लगाये जाते जिनमें हजारों भाई-बहिनें जाकर अध्यात्मकी गहराइयोंमें प्रवेश करने लगे, गाँव-गाँवमें अध्यात्मका शंखनाद गूँजने लगा।

सभी स्थानोंमें निश्चय-व्यवहार, निमित्त-उपादान, कर्ता-कर्म और सात तत्त्वोंकी चर्चासे दिग्दिगंत व्याप्त होने लगा। किन्तु जो व्यवहार धर्मको ही सब कुछ माने बैठे थे उसमें ही अपने धर्म-कर्तव्यकी इतिश्री मानते थे। उन्हें यह अध्यात्मका प्रचार-प्रसार रुचिकर नहीं लगा। उनकी अपनी मान्यताकी नाव डगमगाती-सी लगने लगी। अतः जिस तूफानी ढंगसे अध्यात्मका प्रचार-प्रसार बढ़ता, उसी तूफानी ढंगसे उसका विरोध भी बढ़ने लगा इसके विरोधके लिए लुप्त प्रायः कुछ संस्थाओंका पुनरोदय हुआ। कुछ पत्र-पत्रिकाओंने विरोध करनेका बीड़ा ही उठा लिया था। गजटोंके पूरे पन्ने विरोधसे भरे जाते थे। इस विरोधने इतना उग्र रूप धारण कर लिया था कि समाज दो फिरकोंमें बँट गया। विरोध करने वाले भाइयोंने अध्यात्म प्रेमियोंका नाम 'सोनगढ़ी' या 'सोनगढ़पंथी' रख दिया और अपनेको आगमपंथी कहने लगे। इस विरोधकी पृष्ठभूमिमें कुछ महाव्रती मुनि वर्गका भी सहयोग प्राप्त था।

अनेक स्थानोंपर अध्यात्म प्रेमियोंका बहिष्कार किया जाने लगा। कहीं-कहीं पर तो भयंकर उपद्रव भी किये गये, जिसकी कभी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।

इसकी जानकारी पूज्य १०८ आचार्य शिवसागरजी महाराजके संघको हुई, तो आचार्यश्रीने यह भावना व्यक्त की कि दोनों ओरके विद्वान् यदि एक स्थान पर बैठकर तत्त्वचर्चाके द्वारा अपने आपसी मतभेद दूर कर लें तो समाजमें अनावश्यक बढ़ता हुआ विरोध शान्त हो सकता है। इस शुभ संकल्पको लेकर संघमें श्री ब्र० सेठ हीरालालजी और ब्र० लाड़मलजीने महाराजश्रीकी प्रेरणासे आपसमें सद्भावना स्थापित करनेके लिए एक सम्मेलन बुलानेका निश्चय किया। यह सम्मेलन दि० २०-८-६३ से १-१०-६३ तक जयपुरके पास प्राचीन स्थान खानियामें चला था। इस चर्चाकी पृष्ठभूमिमें श्री प० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री द्वारा लिखित "जैनतत्त्वमीमांसा" ग्रन्थका प्रकाशन प्रमुख रूपसे रहा है। क्योंकि जिन विषयोंपर विरोध किया जाता था उनका विवेचन इस प्रकाशनमें विशद रूपसे किया गया था।

आचार्य श्री शिवसागरजी महाराजके संघकी उपस्थितिमें समागत १७ विद्वानोंकी एक गोष्ठी हुई, जिसमें कुछ नियम इस तत्त्वचर्चाके लिए निर्धारित किये गये।

वे इस प्रकार थे—

१. चर्चा वीतरागभावसे होगी।

२. चर्चा लिखित होगी।

३. वस्तु सिद्धिके लिए आगम ही प्रमाण होगा।

४. प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दीके ग्रन्थ प्रमाण माने जायेंगे।

५. चर्चा शंका-समाधानके रूपमें होगी।

६. दोनों ओरसे शंका-समाधानके रूपमें जिन लिखित पत्रोंका आदान-प्रदान होगा, उनमेंसे अपने-अपने पत्रोंपर अधिकसे अधिक ५-५ विद्वानों और मध्यस्थकी सही होगी। इसके लिए दोनों पक्षोंकी ओरसे अधिकसे अधिक ५-५ प्रतिनिधि नियत होंगे।

७. किसी एक विषय संबंधी किसी विशेष प्रश्नपर शंका-समाधानके रूपमें पत्रोंका आदान-प्रदान अधिकसे-अधिक तीन बार तक होगा।

दिनांक २२ अक्तूबर, १९६३ से पूज्य आचार्य श्री शिवसागरजी महाराजकी उपस्थितिमें २३ विद्वानोंकी उपस्थितिमें चर्चा विषयक नियमोंमें एक नियम यह भी स्वीकृत किया गया—८. चर्चामें सामाजिक, पंथ-सम्बन्धी तथा व्यक्तिके सम्बन्धमें कोई चर्चा न होगी।

पश्चात् श्रीमान् पं० वंशीधरजी न्यायालंकार इंदौर मध्यस्थ चुने गये।

प्रतिनिधियोंका चुनाव इस प्रकार किया गया, प्रथम पक्षकी ओरसे पाच प्रतिनिधियोंके नाम इस प्रकार प्रस्तुत हुए—

१. श्री पं० माणिकचंदजी न्यायाचार्य, फिरोजाबाद, २. श्री पण्डित मक्खनलालजी शास्त्री, मुरैना, ३. पंडित जीवंधरजी न्यायतीर्थ, इन्दौर, ४. श्री पंडित वंशीधरजी व्याकरणाचार्य, बीना, ५. पंडित पन्नालालजी साहित्याचार्य, सागर।

२. द्वितीय पक्षकी ओरसे सिर्फ तीन नाम प्रस्तुत किये गये—१. श्री पं० फूलचन्द्रजी सिद्धातशास्त्री और श्री नेमिचन्दजी पाटनी, आगरा और ३. श्री पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री, कटनी। चर्चाके विषय पं० मक्खनलालजी द्वारा प्रस्तुत—

१. द्रव्य कर्मोंके उदयसे संसारी आत्माका विकारभाव और चतुर्गति भ्रमण होता है या नहीं?

२. जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म अधर्म होता है या नहीं?

३. जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या?

४. व्यवहार धर्म निश्चयधर्ममें साधक है या नहीं?

५. द्रव्योंमें होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रमसे ही होती है या अनियत क्रमसे भी।

६ उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें निमित्त कारण सहायक होता है या नहीं?

इन चर्चाओंके समाधानके लिए तीन-तीन दौर चले थे। सर्वप्रथम पूर्वपक्ष शंका रखता था, उसका समाधान पं० फूलचन्द्रजीको अपने सहयोगियोंके सहयोगसे दूसरे दिनके १ बजे तक सौंप देना होता था।

शंका १—द्रव्यकर्मके उदयसे संसारी आत्माका विकारभाव और चतुर्गति भ्रमण होता है या नहीं?

समाधान—समयप्राभृत गाथा ८३ में कहा गया है कि कर्मके उदय और रागादि भावमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध तो हैं, किन्तु कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है। विकार कर्मके उदयमें होता है, यह बात सत्य है, किन्तु कर्मका उदय विकार नहीं कराता है। प्रवचनसारकी गाथा नं० ७७ और १६९ में भी यही कहा है—कि कर्मके योग्य कार्मण वर्गणा अपने आप जीवकी परिणतिको निमित्त करके कर्मभावको प्राप्त करते हैं; जीव कर्मोंको परिणमाता नहीं है। समयसार गाथा १०५ का और उसकी टीकाका प्रमाण प्रस्तुत कर यह सिद्ध किया गया है कि कर्म जीवको विकार कराता है, यह मात्र उपचार कथन है।

इसके पश्चात् पूर्व पक्षने पुनः प्रतिशंका उपस्थित करते हुए पंचास्तिकाय गाथा ५५-५८ आदिके अनेक प्रमाण देकर यह बतलानेका प्रयत्न किया कि कर्ममें भी ऐसी अपूर्व शक्ति है कि यह केवलज्ञानादिको रोके हुए

है। द्रव्यसंग्रह, प्रवचनसार, देवागम, समयसार, समयसारकलश, धवला, सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रन्थोंके आधारसे कर्म और विकारी भावोंमें कर्ता-कर्म सम्बन्ध बतानेका प्रयत्न किया गया और उनको विकारक-विकार्य सिद्ध किया गया तथा कार्मण वर्गणा स्वयं कर्मरूप परिणमन करती है। इसमें श्लोकके 'स्वयमेव' सुप्रसिद्ध शब्दका अर्थ 'अपने आप' न करके 'अपने रूप' परिणमन करती हैं यह अर्थ प्रकट किया गया है।

इस प्रतिशंकाका समाधान करते हुए पं० फूलचन्द्रजी और सहयोगियोंने स्पष्टीकरण दिया कि हेतुकर्ता शब्दका व्यपदेश निमित्त कारणमें ही किया गया है, क्योंकि सभी निमित्त धर्म द्रव्यकी तरह उदासीन निमित्त ही हैं। चाहे उन्हें प्रेरक निमित्त कहो, चाहे अंतरंग निमित्त कहो, वह तो परद्रव्य ही हैं। इष्टोपदेश श्लोक ३५ के अनुसार कोई निमित्त अज्ञानीको ज्ञानी नहीं बना सकता और ज्ञानीको अनेक अज्ञानी मिलकर भी अज्ञानी नहीं बना सकते तथा कोई भी निमित्त अभव्यको भव्य और भव्यको अभव्य नहीं बना सकता है। "समयसार कलश" ५१ मे कहा गया है कि जो परिणमन करता है, वही उसका कर्ता है। जो परिणमन होता है, वह कर्म है और जो परिणति होती है वह क्रिया है। वास्तवमे ये तीनों भिन्न नहीं हैं। निश्चयसे ये तीनों एक ही द्रव्यमे घटित होते हैं। निमित्तकर्ताको उपचारसे ही कर्ता मानना युक्तिसंगत है।

जहाँपर निश्चय उपादान होता है वहाँ अन्य द्रव्य उसका अविनाभाव सम्बन्धवश व्यवहार हेतु कहा जाता है। धवला पुस्तक ६ पृ० ५९ में कहा है—कर्मसंज्ञक पुद्गल द्रव्यमें उपचारसे कर्तापनेका आरोप किया जाता है।

इसके पश्चात् तृतीय दौरमें फिरसे पूर्व पक्षने प्रतिशंका उपस्थित की—कि जो क्रोधादि विकार होते हैं, वह बिना कर्मोदयके होते हैं क्या ? या द्रव्य कर्मोदयके अनुरूप होते है ? संसारी जीवका चतुर्गति रूप भ्रमण प्रत्यक्ष देखा जाता है कि यह कर्माधीन हो रहा है। यदि बिना कर्मोदयके विकार स्वीकार किया जावे तो वह ज्ञानादिकी तरह स्वभाव बन जायगा। "समयसारकलश" मे भी आत्माको भाव्य और फलदात्र शक्ति युक्त कर्मको भावक कहा गया है। इस प्रकार कर्मोकी शक्तिको प्रदर्शित करनेवाले परमात्मप्रकाश, मूलाराधना, स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, इष्टोपदेश, उपासकाध्ययन, आत्मानुशासन, समयसारकलश आदिके प्रमाण देकर कर्मोंको विकारका कर्ता स्वीकार करनेकी प्रेरणा दी तथा उपचार कर्ताको निश्चयकर्ता बतलानेका प्रयत्न किया गया तथा उपादान और निमित्तकी समग्रताका अर्थ दो प्रकारसे किया गया। एक तो षड्गुणी हानिवृद्धि रूप परिणमन परनिरपेक्ष होता है, दूसरा अनुकूल निमित्तोंके सहयोगमे विकारी परिणमन होता है।

भावलिंगकी प्राप्तिके लिए द्रव्यलिंगकी प्राप्ति अनिवार्य कारण बतलाकर उपादानकी जागृतिमे निमित्तकी अनिवार्यता सिद्ध की गई है। तथा यह शंका भी उठाई गई है कि जब उपादान अपना काम कर लेता है, तब निमित्तकी आवश्यकता ही क्या रह जाती है ? अत दोनों कारणोंसे कार्य होता है, ऐसा स्वीकार करो।

इस प्रतिशंका ३ का समाधान करते हुए उत्तरपक्षने कहा कि कर्मका उदय निमित्त मात्र है, मुख्य कर्ता नही है। क्योंकि "समयसार कलश" ५३ मे कहा गया है—दो द्रव्य एक होकर परिणमन नहीं करते, तथा दो द्रव्योंका एक परिणाम भी नहीं होता है, दो द्रव्योकी एक परिणति (क्रिया) भी नहीं होती, क्योंकि जो अनेक द्रव्य हैं वे अनेक ही रहेंगे, एक नहीं होते। आगममें कथन अवश्य ही कही निमित्तकी मुख्यतासे होता है, कहीं उपादानकी मुख्यतासे। परका संपर्क जीव अपनी इच्छासे करता है, परपदार्थ इसे बलात् अपने रूप नहीं परिणमा सकते हैं। निश्चयनय अभिन्न कर्ता-कर्म बतलाता है, व्यवहारनय भिन्न कर्ता-कर्म कहकर संयोगकी उपस्थितिका ज्ञान कराता है।

भावक भाव्यका आशय है कि जब तक जीव मोहोदयमें एकत्वबुद्धि करता रहता है, तब तक मोहोदय भावक औरआत्माका विकारी भाव भाव्य कहलाता है। यदि मोहोदय बलात् विकार करावे, तो जीव कभी भी मोहको नष्ट कर ही नहीं सकता है। यह भावक भाव्य भाव व्यवहार कथन है। इसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म भी केवलज्ञान आदिके घातनेमें निमित्त मात्र हैं। रागादिको पुद्गल कहनेका आशय यह है कि वे जीवके स्वभाव भाव नहीं हैं, तथा विकारी भावोंमें ज्ञान न होनेसे उन्हें पुद्गल कहा हैं, न कि वे रूप, रस, गध, स्पर्शवाले पुद्गल है और न कर्मकृत पुद्गल हैं। "तत्त्वार्थसूत्र" और "पुरुषार्थसिद्धघुपाय" में उसे जीवकृत परिणाम भी कहा है। वहाँ जीवकी अपनी कमजोरीका दर्शन कराया है।

नियतनय और अनियत नयका अर्थ है—सब अवस्थाओंमे व्याप्त रहनेवाला त्रिकाली अन्वयरूप द्रव्य स्वभाव नियतनय है और परिवर्तनशील पर्याय स्वभाव अनियत है तथा पूर्वपक्षने असद्भूत व्यवहारनयको उपचारित मानना अस्वीकृत किया है, उसे आगमके परिप्रेक्ष्यमे देखें, तो उपचारका प्रसिद्ध लक्षण है—एक वस्तुके धर्मको दूसरेमें आरोपित करना उपचार या व्यवहार कहा है। उपचारके बाद भी जो उपचार किया जाता है वह उपचरित असद्भूत व्यवहारनय है। जैसे—कुंभकारका कर्म घट कहना।

कुंभकार अपने योग और उपयोगका तो कदाचित् कर्ता कहा जा सकता है, किन्तु वह घटरूप परिणमित न होनेसे घटका कर्ता तो उपचारसे ही कहा जाता है।

शंका–२—जीवित शरीरकी क्रियासे धर्म-अधर्म होता है या नही।

समाधान—शरीर पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है अतः पुद्गलकी क्रियासे आत्माका धर्म अधर्म नही होता है। छह ढालामें कहा भी है, 'देहजीवको एक गिने बहिरातम तत्त्व मुधा है।" जो शरीर और आत्माकी क्रियाको एक मानता है, वह तत्त्वज्ञान रहित मूर्ख बहिरात्मा है अर्थात् अज्ञानी जीव शरीरकी क्रियासे धर्म अधर्म या पुण्यपाप मानते हे। धर्मात्मा जीव शरीरकी क्रियासे आत्माको धर्म-अधर्म नही मानते है। इसके पश्चात् पुन. प्रतिशंका उपस्थित की गई कि प्रतिशंका २—जीवित शरीरको सर्वथा जड मान लेनेसे किसीकी भी हिंसा करनेपर हिंसाका पाप नही लगना चाहिये तथा जीवित शरीर चलता-फिरता है, इष्ट स्थानपर पहुँचता है। पूजा, व्रत, शील, संयम, दान देना, तप करना, उपदेश देना आदि सब क्रियायें शरीरसे ही होती है। "कायवाङ्मन. कर्मयोग:"—सूत्रके अनुसार शरीर की क्रियासे आस्रव होता है। "तत्त्वार्थसूत्र" मे अजीवाधिकरण आस्रव शरीराश्रित क्रियासे होता है। वज्रवृषभनाराचसंहननसे शुक्लध्यान होकर मुक्ति प्राप्त होती है। उससे सातवाँ नरक भी मिलता है।

प्रतिशंका २ का समाधान—

समयसार, गाथा १९ में कहा गया है जो कर्म, नोकर्मको अपना मानता है, वह अज्ञानी है। प्रवचनसार, गाथा १६० में कहा गया है—मै शरीर, वाणी और मन नहीं हूँ। "नयचक्र" में कहा गया है—शरीरको जीवका कहना विजातीय असद्भूत व्यवहारनय है। स्वयंभूस्तोत्र ५९ मे कहा गया है—गुण-दोषकी उत्पत्तिमें बाह्यवस्तु निमित्त मात्र है तथा सावधानी वर्तते हुए द्रव्य हिंसा होने पर भी हिंसाका पाप नहीं लगता है। अतः पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म परिणामीके अनुसार ही होता है।

इस पर पुनः प्रतिशंका की गई—

प्रतिशंका ३—हमारा मूल प्रश्न यह था कि धर्म-अधर्ममे शरीरकी क्रिया कारण है या नहीं? इसका उत्तर न देकर मात्र शरीरको जड़ बतलाया है, वह तो सभी मानते हैं। पं० फूलचंद्र जी ने धवला पु. १ पृ.

१५० पर स्वयं लिखा है—कि भव्य होते हुए भी कुछ जीव सिद्धत्व प्राप्त नहीं कर पाते हैं, उसका कारण तदनुकूल सामग्रीका न मिलना ही है। अतः योग्यता होते हुए भी बाह्य सामग्रीके अभावमें मुक्ति न मिलती है। मोतियाबिंद हो जानेसे आत्मा आंखोंसे नहीं देख पाती हैं। "तत्त्वार्थसूत्र" की टीकामें भी आपने पृ. २१८ पर स्वीकार किया है कि छात्र और अध्यापकके मिलनेपर ही ज्ञान प्राप्त होता है। उपादान हो और निमित्त न मिले तो कार्य नहीं होता है। तपकी साधनामें आवश्यक शरीर बलकी अपेक्षा होती है तथा बहिरंग संयमछेद काय चेष्टाको कहा गया है।

तीन कर्मोकी स्थिति आयु कर्मके बराबर करनेके लिए बिना इच्छाके केवलीका समुद्घात होता है। यह शारीरिक समुद्घात संसार विच्छेदका कारण बनता है, अतः शरीरकी क्रियासे धर्म-अधर्म होता है।

प्रतिशंका ३ का समाधान—

समयसार, गाथा १६७ में रागादि भावोंको ही बंधका कारण कहा है, रागरहित भाव बंधके कारण नहीं है। रत्नकरण्ड श्लोक ३ मे रत्नत्रयको मुक्तिका कारण और मिथ्यात्वादिको ही संसारका कारण बतलाया है। सागारधर्मामृत अ० ४ श्लोक २३ में कहा है कि यदि भाव ही बंध मोक्षके कारण न हो, तो जीवोंसे भरे इस लोकमें कहां विचरण करके मोक्ष प्राप्त कर सकता है अर्थात् सूक्ष्म जीवोंकी हिंसा निरंतर होते रहनेसे मोक्ष कैसे प्राप्त कर सकते है? "सर्वार्थसिद्धि" ग्रंथमें कहा गया है शुभ-परिणामके निमित्तसे शुभयोग और अशुभ परिणामके निमित्तसे अशुभयोग होता है। शरीरकी क्रिया शुभ-अशुभ नहीं होती, किन्तु शुभाशुभ परिणाम के निमित्तसे शुभाशुभयोग कहा जाता है।

उत्तर पक्षने जो उदाहरण दिये है, उनसे उनकी मान्यता पुष्ट नहीं होती है। क्या बिना परिश्रमके विद्यार्थी विद्या सीख लेता है? जब विद्यार्थी सफल हो जाता है, तब गुरु ने ज्ञान दिया–यह कहा जाता है। समुद्घात भी शरीरमात्र की क्रिया नहो, अबुद्धिपूर्वक आत्म पुरुषार्थ से होता है।

शका नं० ३—जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या? इसका समाधान करते हुए परमात्मप्रकाश अ २ श्लोक ७१ मे कहा है—शुभ परिणामसे पुण्य बंध, अशुभपरिणामसे पापबंध तथा शुभाशुभ भाव रहित वीतराग परिणामसे कर्मबंधन नही होता है। इसी प्रकार समयसार गाथा ६४ मे भी कहा है। इसके पश्चात् पूर्व पक्षने प्रतिशंका उपस्थित की—कि जीवदया शुभ भाव है यह तो ठीक है, किन्तु उससे संवर, निर्जरा होती है। इसे भी स्वीकार कर लेना चाहिए क्योंकि व्रत, समिति आदि को कार्तिकेयानुप्रेक्षा, पद्मनंदि पंचविंशतिका, बोध पाहुड, धवला आदि ग्रंथमें भी संवरतत्त्व और धर्म कहा है। तथा धवला पु. १ पृ. ९ में अरहंत नमस्कारको असंख्यातगुणी निर्जराका कारण कहा है। तथा "भावसंग्रह" में पूजा व्रतादिको मोक्षका कारण कहा है। तथा पुण्यको मोक्षका कारण बताया है। 'परमात्मप्रकाश' में इसे मोक्षका कारण कहा है अतः पुण्यबंध संसारका कारण कहना अनुचित है।

प्रतिशंकाके समाधानमें उत्तर पक्षके २० प्रमाणोंका विश्लेषण करते हुए पुरुषार्थसिद्धयुपाय श्लोक २१२-२१३-२१४ का प्रमाण उपस्थित किया कि सम्यग्दर्शनादिसे निर्जरा होती है, और रागसे बंध होता है। समयसार गाथा १४० में भी कहा है कि रागसे बंध होता है, और वीतरागतासे निर्जरा होती है। अतः जीवदया राग रूप होने से पुण्य बंधका कारण है, उससे निर्जरा नहीं होती है। शुभरागका अन्तर्भाव कर्मचेतना में होता है, और यह कर्मचेतना सम्यग्दृष्टि धर्मात्माके होती नही। उसके सिर्फ ज्ञान चेतना होती है। अतः दया-भाव शुभराग रूप तो है, वीतराग धर्म नहीं है।

प्रतिशंका ३—इस उत्तरके पश्चात् पूर्व पक्ष ने पुनः अपनी प्रतिशंका रखते हुए कहा—कि परमात्मा-प्रकाशमें शुभ परिणामको धर्म बतलाया है. उसे आप लोग स्वीकार क्यों नहीं करते? आप आर्ष प्रमाणोंको

स्वीकार न करके अतिसाहस कर रहे हैं। बोधपाहुड गा० २५ में दया से धर्म तथा धवला पु. १३ पृ. ३६२ में करुणाको जीवका स्वभाव कहा है "भावसंग्रह" ४०४ में स्वीकार किया है कि सम्यग्दृष्टिका पुण्य, बंधका कारण नहीं है, नियमसे मोक्षका कारण है। सम्यक्दृष्टिसे लेकर सातवें गुणस्थान तक मिश्रित शुभभाव हैं, उससे आस्रव, बंध और संवर, निर्जरा भी होती है। सातवें तक शुद्धोपयोग तो होता ही नहीं है, वहां निर्जरा होती है। सम्यक्त्व के सम्मुख वाले जीवके भी शुभ परिणामसे असंख्यातगुणी निर्जरा स्थितिकाण्डक अनुभाग-काण्डक करते ही है। का० अनु० मे दयामय धर्म कहा है। नियमसार गाथा ६ मे भी दयामय धर्म बतलाया है। इस प्रकार आत्मानुशासन, यशस्तिलक, मूलाचार, भावपाहुड, शीलपाहुड, मूलाराधना आदि ग्रन्थोंमें दयाको धर्म कहा है।

पाँच पापोंके त्यागको सम्यग्चारित्र कहा है तथा सम्यग्चारित्र साक्षात् मोक्षका कारण है। जहा भी व्रतोंको छोड़नेका उपदेश दिया गया है, वहाँ मात्र व्रतोंमें रहने वाले रागांशको छोड़नेका उपदेश है, न कि व्रतोंको छोड़ने का। व्रत तो बारहवें गुणस्थान तक पाये जाते है।

प्रतिशंका ३ का समाधान

जीवदयामें स्वदया और परदया गर्भित है। किन्तु मूल प्रश्न परदयाको ध्यान में रखकर हो किया गया है। परदयाको पुण्य मानना मिथ्यात्व नही है। उत्तर पक्ष ने दयाको धर्म माननेके जो लगभग २० प्रमाण दिये हैं, ऐसे और भी हजारों प्रमाण मिल सकते है। किन्तु जितने भी रागरूप परिणाम हैं, वे कभी भी मोक्षके कारण नहीं हो सकते हैं। परदया रूप भाव रागरूप ही है अत. वे मोक्षके कारण कदापि नहीं हो सकते है। परमात्मप्रकाश गाथा ७१ में भावोंके ३ भेद किये है—धर्म-अधर्म और शुद्ध। यहाँ शुभ भावको ही धर्म कहा गया है। अतः शुभभावको धर्म उपचारसे कहा गया है। परदयाके भाव गृहस्थ मुनि सबको आता है। जीवदया धर्म है, इसके लिए जो अनेक प्रमाण दिये गये हैं, उसमे किस नयका यह कथन है, उस पर ध्यान न देकर व्यवहार धर्मको निश्चयधर्म मानकर अपनी बात सिद्ध करना चाहता है। किन्तु प्रवचनसार गाथा ११ में स्पष्ट कहा है कि शुद्धोपयोगसे जीव मोक्षसुख और शुभोपयोगसे स्वर्ग सुख पाता है। इस गाथा ने आगम वाक्यका रहस्य खोलकर रख दिया है। अतः शुभ भाव और शुद्धभावों का अन्तर स्पष्ट हो जाता है इससे यह निर्णय हो जाना चाहिए कि स्वदया वीतराग भाव रूप है, और परदया शुभभाव रूप है।

पंचास्तिकाय गाथा १४७ में कहा है, जब विकारी आत्मा शुभ, अशुभ भाव करता है, तो वह नाना प्रकारके कर्मों से बद्ध होता है। अतः शुभभावों से कर्मबंध होता है, यह बिल्लकुल स्पष्ट हो जाता है। प्रवचनसार गाथा १८१ में भी शुभ परिणाम पुण्य है तत्त्वार्थसार श्लोक २५-२६ मे दयाको शुभास्रव बताया है। बोध प्राभृतके 'धम्मो दया विशुद्धो'का अर्थ स्वदयारूप वीतरागभाव है जो कि निर्जराका कारण है। धवला पुस्तक १३ में भी 'करुणाए जीवसहावस्स' करुणा ही जीव स्वभाव है, इसका अर्थ भी स्वदया है। भाव संग्रहकी गाथा 'सम्माइट्ठी पुण्णं....' मे सम्यग्दृष्टिका पुण्य बंध कारण नही है, उस व्यवहार कथनका आशय इतना है कि सम्यग्दृष्टि अल्पकालमें मुक्ति प्राप्त करेगा। उसका पुण्य अनंत संसारका कारण नही है।

इस सबका सार इतना ही है कि दया शब्दका व्यवहार दो अर्थो मे किया जाता है—एक स्वदयाके रूपमें, जो निर्जरा का कारण है और दूसरा परदयाके रूपमें, जो पुण्यबंधका कारण है। समयसार कलश १०७ में कहा है—कर्मस्वभावसे वर्तना ज्ञानका होना नहीं है, इसलिए शुभभाव मोक्षका हेतु नहीं है, क्योंकि वह पुद्गल स्वभाववाला है अतः आगममें रागांश बंधका कारण और रत्नत्रयांश संवर निर्जराका कारण है—यह स्पष्ट हो जाता है। राग और ज्ञानको भिन्न करना यही भेदज्ञानका फल है। सूर्योदयसे पूर्व प्रकाश और अंधकार मिले हुए प्रतीत होते हैं, किन्तु दोनों का स्वभाव अत्यन्त भिन्न है।

प्रथम पक्षने भोजन और काढ़ेका एवं मिश्र गुणस्थानका उदाहरण दिया है। इससे यह सिद्ध नहीं होता है, कि मिले हुए पदार्थ एक ही कार्य करते हैं। भोजन या काढ़ेमें जिन द्रव्योंका सम्मिश्रण है, वे सब अपना अपना कार्य करते हैं—तथा मिश्र गुणस्थान सर्वघाति प्रकृति होने से वह विभाव भाव है। वेदक सम्यक्त्व स्वभाव-भाव है, अतः मिश्रकी तुलना वेदक सम्यक्त्वसे नहीं की जा सकती है। चौथे गुणस्थानमें आंशिक शुद्धोपयोग होता है, वह निर्जराका कारण और जो रागांश शेष है, वह बंधका कारण होता है।

पंचास्तिकाय गाथा १४४ की टीकामें कहा है—शुभ अशुभ भावका निरोध करना संवर है। अतः शुभभाव संवरका विरोधी है, उससे संवर-निर्जरा कैसे हो सकती है। प्रवचनसार गाथा ८५ में मनुष्य तिर्यंचोंमें अज्ञानतापूर्वक करुणाको मोहका लक्षण कहा है। पंचास्तिकाय गाथा १७० की टीका में करुणाको मनः खेद कहा है।

प्रथम पक्ष ने सम्यग्दृष्टिके शुभभावोंको वीतरागता और मोक्षका हेतु कुछ शास्त्रीय प्रमाण देकर सिद्ध करना चाहा है और सम्यग्दृष्टिका शुभभाव कर्मचेतना न होकर ज्ञानचेतना माना गया है, जबकि कर्म-चेतनाका लक्षण है— ज्ञान से भिन्न अन्य भावोंको मैं करता हूँ—यह कर्मचेतना है।' इस लक्षण से शुभभावों का ज्ञान चेतना में कैसे अंतर्भाव हो सकता है? क्योंकि शुभभावको विभाव भाव आगममें कहा है।

"तत्त्वार्थसूत्र" मे व्रतोंको आस्रव तत्त्वमें स्वीकार किया है। अतः शुभ भावरूप जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व हो सिद्ध होता है, क्योंकि शुभभाव आस्रव तत्त्व है और उसको संवर निर्जरा तत्त्व सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है।

शंका नं० ४

शंका—व्यवहार धर्म निश्चय धर्ममें साधक है या नहीं?

समाधान—उत्तर पक्षने उसका समाधान करते हुए बतलाया कि निश्चय धर्म पर निरपेक्ष होता है और व्यवहार धर्म पर सापेक्ष होता है, अतः यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाये, तो व्यवहार धर्म निश्चय धर्मका साधक कैसे हो सकता है। क्योंकि विभाव पर्याय स्वपर सापेक्ष होती है और स्वभाव पर्याय पर निरपेक्ष होती है। ऐसा ही नियमसार गाथा १३-१४ और २८ में कहा है। व्यवहार धर्म निश्चय धर्मके साथ रहता है। इससे उसको सहचर होनेमें निमित्त मात्र कहा है; साधक नहीं है।

प्रतिशंका—इस समाधानके बाद प्रथम पक्षने पुनः प्रतिशंका करते हुए बतलाया कि जब स्वभाव पर्याय पर निरपेक्ष है, तो विभाव धर्म सापेक्ष कैसे माना जा सकता है? क्योंकि दोनों ही आत्माके धर्म हैं। पंचास्तिकाय गा० १५९ की टीकामें निश्चय व्यवहारको साध्य-साधन स्वर्ण और स्वर्ण पाषाणकी तरह माना है। इसीकी गा० १७२में भी कहा है कि 'जीव प्रथम व्यवहार रत्नत्रयसे शुद्धता करता है। जैसे धोबी मलिन वस्त्र-को भिन्न साध्य-साधन शिलाके ऊपर साबुन आदिके द्वारा वस्त्रको स्वच्छ करते हैं। पश्चात् निश्चयनयकी मुख्यतासे रत्नत्रयमें सावधान होकर अंतरमें बैठते हैं।

इसी ग्रन्थकी गा० १०५-१६०-१६१ में जयसेनाचार्यने व्यवहार मोक्षमार्गको निश्चय मोक्षमार्गका साधन कहा है। प्रवचनसार गा० २०२में पंचाचारसे शुद्धात्माकी प्राप्ति कही है। परमात्मप्रकाश, श्लोक ७ और द्रव्यसंग्रहमें भी साध्य-साधक भाव इन दोनोंमें बतलाया है।

आपने व्यवहार धर्मको सहचर होनेसे निमित्त मात्र बतलाया है, किन्तु पदार्थमें सहचर भाव तो बहुतसे विद्यमान रहते हैं; फिर भी उनको साध्य-साधक भाव नहीं माना जाता है। अतः व्यवहार धर्म निश्चय धर्मका साधक माननेमें कोई हानि नहीं है।

समाधान—नयचक्र आ० ७७मे कहा है—व्यवहारसे बंध होता है और स्वभावका आश्रय लेनेसे मोक्ष होता है, इसलिए स्वभावकी आराधना कालमे व्यवहारको गौण करो। प्रथम पक्षने प्रतिशंकामें प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, परमात्मप्रकाश द्रव्य-संग्रहके अनेक प्रमाण उपस्थित कर यह सिद्ध किया है कि व्यवहार धर्म निश्चय धर्मका साधक है, किन्तु यह कथन असद्भूत व्यवहारसे किया गया है।

पं० प्रवर टोडरमलजीने मोक्षमार्ग प्रकाशकमें कहा है—सम्यग्दृष्टिके शुभोपयोग भये निकट शुद्धोपयोग प्राप्ति होय ऐसा मुख्य पना करि कही शुभोपयोगको शुद्धोपयोगका कारण भी कहिए हैं। पृ० ३७७ दिल्ली सं० बृहद्द्रव्यसंग्रह, पंचास्तिकाय टीकामें जो व्यवहार धर्मको निश्चय धर्मका परंपरासे साधक कहा है, सो वह इसी अभिप्रायसे कहा है। वस्तुतः मोक्षमार्ग एक ही प्रकारका है, उसका कथन दो प्रकारका है। जहां निश्चय मोक्ष मार्ग होता है, उसके साथ मंदराग, रूप व्यवहार धर्मको भी मोक्षमार्ग आगममें कहा है। मो० मा० प्र० पृ० ३ ५-६६ मे भी कहा है—निरूपण अपेक्षा दोय मोक्षमार्ग जानना एक निश्चय मोक्षमार्ग एक व्यवहार मोक्ष-मार्ग है। ऐसे दोय मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है। बहुरि निश्चय व्यवहार दोऊनिकू उपादेय मानै है सो भी भ्रम है। जातै निश्चय व्यवहारका स्वरूप तो परस्पर विरोध लिए है? प्रवचनसारमें कहा है—वीतराग भावसे मोक्ष प्राप्त होता है और सराग भावसे देवादि पर्यायके वैभव क्लेश रूप बंधकी प्राप्ति होती है।

प्रतिशंका २—आपने जितने प्रमाण दिये है उनका मूल प्रश्नसे कोई संबंध नही है। व्यवहार रत्नत्रय-को व्यवहारनयका विषय बताया है। क्या बिना व्यवहारके निश्चय रत्नत्रय प्राप्त हो सकता है? जबकि भेद रत्नत्रयको व्यवहार कहा है और अभेद रत्नत्रयको निश्चय कहा है। द्रव्यसंग्रह १३वी गाथाकी टीकामे कहा है जो निश्चयको साध्य-साधक भावसे नही मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। नियमसार गाथा ५१ से ५५ रत्न-त्रयका वर्णन करते हुए कहा है कि व्यवहारनयके चारित्रमें व्यवहार तप होता है और निश्चय चारित्रमे निश्चय तप होता है। इसीकी टीकामे कहा है—भेदोपचार रत्नत्रय भी आत्मसिद्धिके लिए परंपरा कारण है।

आगममे देवशास्त्र गुरुके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा है। क्या यह श्रद्धा मात्र रागरूप है? पुरुषार्थ सिद्धयुपाय श्लोक २२ मे कहा है—निश्चय व्यवहार रत्नत्रय-परमात्मपद प्राप्त कराता है। इसी तरह पंचास्तिकाय, छहढाला, भावपाहुड, द्रव्यसंग्रह, परमात्म प्रकाशमे व्यवहार रत्नत्रयको निश्चयका कारण कहा है। समयसार गाथा १२ मे भी कहा है—साधक अवस्था वाले जीव व्यवहार द्वारा उपदेश करने योग्य है। निश्चय तो साध्य है और बाह्याचार रूप व्यवहार सर्वत्र उसका साधन बतलाया गया है। समयसारमे भी अधः-कर्म और औद्देशिकका निमित्त भूत आहारादि है, उसके त्यागके बिना द्रव्य प्रतिक्रमण नहीं होता और द्रव्य प्रति-क्रमणके बिना भाव प्रतिक्रमण नही होता है—ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। अतः व्यवहार निश्चयका कारण है, यह बात सिद्ध होती है।

प्रतिशंका ३ का समाधान—निश्चय रत्नत्रय स्वभावभाव है और निश्चयका सहचर होनेसे व्यवहार रत्नत्रय साधक तो नही है, निमित्तमात्र है। असद्भूत व्यवहारनयसे आगममें उसे साधक कहा है। यहां साधक-का अर्थ निमित्त मात्र है। बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ४५ की टीकामे कहा है—जो पाचों इन्द्रियोंके विषयोंका बाह्य त्याग है, वह उपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे चारित्र है। वह वास्तवमें आत्मका धर्म नही है। निश्चय और व्यवहार चतुर्थादि गुणस्थानमें एक साथ रहते है। आगममें उपचरित असद्भूत व्यवहार नयसे व्यवहार धर्मको निश्चयका साधन कहा है। यह दृष्टि हमेशा ध्यानमें रखेंगे, तो आगमके भावको समझ सकेंगे। सच्चे देव, शास्त्र, गुरुका श्रद्धान भी व्यवहार सम्यग्दर्शन है—यह निमित्त कथन है।

रागमात्र व्यवहार धर्म नही है, किन्तु निश्चयके साथ देव, शास्त्र, गुरुका श्रद्धान, स्वाध्याय और व्रत-पालनको व्यवहार रत्नत्रय कहा जाता है। शुभमे प्रवृत्ति और अशुभसे निवृत्ति यह व्यवहार चारित्र है। बृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४५ और पंचास्तिकाय गाथा १३६ मूलाचार गा० ७३-७४ पंचपरमेष्ठीकी भक्तिको शुभराग कहा है। व्यवहारका लक्षण है—जो जिस रूप न हो उसको उस रूप कहना व्यवहार है। जिसका आशय निकला कि वह वास्तवमे धर्म तो नहीं है, उपचारसे उसे धर्म कहा गया है। यदि निश्चय और व्यवहार दोनों ही धर्म हैं, तो फिर वे दो कहाँ रहे ? एक ही हुए।

धर्मकी पद्धतिका कथन तो यह है—'शुभमें न मगन होय न शुद्धता विसरनी।'

लक्ष्यमे आत्मप्राप्ति रूप धर्मको लेकर अशुभसे बचनेके लिए शुभ क्रिया होती है। आत्माके अवलंबनसे संवर निर्जरा मोक्ष होता है और परावलम्बनसे आस्रव-बंध होता है। शुभाशुभ परिणामके निरोधको भावसंवर कहा है। पञ्चास्तिकाय आदि ग्रन्थोंके जितने भी प्रमाण दिये है, उन सबका आशय यही है।

"बृहद्द्रव्यसंग्रह" गाथा १३ मे कहा है—व्यवहारनयको साध्यभूत निश्चयनयका उपचरित हेतु स्वीकार न कर उसे परमार्थ मानता है, वह सम्यग्दृष्टि नही है।

समयसार गाथा २७२मे कहा है—उपचरित व्यवहारनयसे जो कुछ कहा जाता है वस्तु वैसी न होनेसे यह निश्चयनयकी दृष्टिमे सर्वथा हेय है। प्रथम पक्षने "पुरुषार्थसिद्धयुपाय", "पञ्चास्तिकाय" और "छहढालाके जो प्रमाण उपस्थित किये है, वे सब इसी श्रेणीमे आते है। पद्मनंदि पञ्चविंशतिका ७१|१६ का यह श्लोक महत्त्वपूर्ण है—सविकल्प अवस्थामें प्रमाण-नय-निक्षेप सब हैं। केवल निर्विकल्प अवस्थामे एक चेतन ही अनुभवमें आता है। यही आशय समयसार गाथा १२ का है।

जहाँ निश्चयनयका विषयभूत आत्मज्ञानका आश्रय नहीं है, वहाँ किसी भी प्रकारका व्यवहार ही नही है; क्योंकि 'मूलो नास्ति कुतः शाखा।' जब निश्चय नहीं, तो व्यवहार किसका नाम है ? अज्ञानी जीवको कोई नय होता ही नही है। प्रथम पक्षने निश्चयधर्मको लक्ष्य बताया है, किन्तु ऐसा नहीं है। वीतराग परणतिका नाम ही निश्चय धर्म है। लक्ष्यका नाम ही निश्चय नही है। प्रथम पक्षका यह लिखना उचित नही कि चौथे पाँचवें और छठवें गुणस्थानमे बाह्य पुरुषार्थ ही होता है, किन्तु इन गुणस्थानोंमे भी आत्मसाधनाके साथ बाह्य आचरण हेय बुद्धिमे चलता है। मूलाचारमे कहा है—बाह्य क्रिया करते हुए भी मुनिके जीवनमे निश्चय धर्म गौण नही हो सकता है। अधःकर्म और औद्देशिकके निमित्तोंके त्यागका प्रयोजन निमित्त-नैमित्तिकका ज्ञान कराना है। अर्थात् जब राग छूट जाता है तो रागके साधन भी छूटते चले जाते हैं। इस प्रकार व्यवहारनय निश्चयका साधक है, यह असद्भूत व्यवहार नयका कथन है।

शंका ५—द्रव्योंमें होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे होती हैं या अनियतक्रमसे भी ?

समाधान—द्रव्योंमें होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रमसे ही होती हैं। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३२१-२२-२३ में कहा है—जीवका जन्म अथवा मरण जिस देश, जिस काल, जिस विधिसे होना है—उसी प्रकार होकर रहता है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान्ने जाना है। उसे बदलनेके लिए इन्द्र अहमिन्द्र और जिनेन्द्र भगवान् भी समर्थ नहीं हैं। इस प्रकार जो निश्चयसे सब द्रव्यों और उनकी पर्यायोंको जानता है, वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है, जो शंका करता है, वह कुदृष्टि है।

अतः इस आर्ष वाक्यसे यह सिद्ध होता है कि सभी द्रव्योंकी सभी पर्यायें नियत क्रमसे ही होती है। इसी ग्रन्थमे गाथा २३०मे कहा है कि पूर्व पर्याययुक्त द्रव्य उपादान कारण जब होता है तब उत्तर पर्याय कार्य रूप प्रगट होती है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अ० १ पृ० ७१में इसी प्रकार कहा है।

प्रतिशंका २. इन गाथाओंका भाव तो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको बताता है कि जन्म-मरण कर्माधीन है, उसे कोई नहीं बदल सकता है। इससे पूर्व गाथा ३११ से ३२० तक कुदेवोंके प्रति भक्तिभावके प्रति अरुचि पैदा करनेके लिए लिखा है कि कोई देवी देवता न तो धन देता है और न उपकार, अपकार करता है। यदि ये धन देने लगें, तो फिर पुण्य क्यों किया जावे ? इनमें सबसे प्रथम यह कहा है कि सम्यग्दृष्टि तत्त्वोंका अनेकान्त रूपसे श्रद्धान करता है। इस विचारको दृढ़ करनेके लिए उक्त तीन गाथाएँ कही है। गाथा २१९ मे कहा है—पदार्थ नानाशक्ति युक्त है, किन्तु वह उसी रूपमें उत्पन्न होता है, जिसके अनुकूल द्रव्य, क्षेत्रादि निमित्त कारण जैसे मिल जाते हैं। इसी प्रकार गाथा २२३ की टीकामें कहा है।

यदि परणति नियत समयपर होती है, तो फिर कभी अविपाक निर्जरा नहीं हो सकती है, जिससे मोक्षका अभाव हो जायगा। इस नियतवादको पंचसंग्रह, गोम्मटसारमे मिथ्यात्व कहा है। तत्त्वार्थ सूत्रमे बाह्य निमित्त कारण मिलनेपर अकाल मृत्यु बतलाई है। तथा अकालमे दिव्यध्वनि खिरना, अनियतकालमें निर्जरा होना, संसारी जीवकी अनियत गुणपर्याय, क्रम-अक्रम परिणमन, द्रव्यकर्मकी अनियत पर्याय आदिसे पता चलता है कि पर्याय अनियत भी होती है।

कोई भी कार्य उपादान और निमित्तके बिना उत्पन्न नही होता है। स्वपर प्रत्यय पर्याय निमित्त कारणके व्यापारके अनुकूल होती है और निमित्तका व्यापार नियत हो, ऐसा एकान्त नहीं है। जैसे आम धूप, छाया आदिके निमित्तसे शीघ्र देरसे पकते हैं।

केवलज्ञानमे भी पर्यायें अनियत और नियत रूपसे झलकती है। केवलज्ञान ज्ञापक है; कारक नही। इसी प्रकार क्रम-अक्रमके विषयमे एकान्त नही, अनेकान्त है। अमृतचन्द्राचार्यने भी कालनय, अकालनयका उल्लेख किया है। अतः पर्यायें क्रम और अक्रममे दोनों तरहकी होती है।

प्रतिशंका २ का समाधान—इसका निश्चय और व्यवहारसे समाधान करते हुए द्वितीय पक्षने काव्य अनुवाद गाथा ३२३ के भावको समझाते हुए लिखा है स्वामी कार्तिकेयने निश्चयसे ऐसा जो मानता है, यह कथन सिद्ध करता है जो यथार्थमे ऐसा मानता है वह निश्चयसे वस्तुका यथार्थ स्वरूप है और द्रव्यकी सब पर्यायें कहनेसे शुद्ध अथवा अशुद्ध पर्यायें परकृत नही, स्वकृत है, और वे सब नियतक्रमसे होती हैं। 'समयसार'मे कहा है जो ऐसा मानता है कि मै किसीको सुखी-दुखी करता हूँ या जीवन मरण देता हूँ, वह अज्ञानी है। अत अशुद्ध पर्याय भी अपने समयपर होती है।

(१) निर्जरा, उत्कर्षण, अपकर्षण आदिके लिए यह सिद्धान्त है कि बन्धकालमे जो स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध होता है, उस कालमे ही उन कर्मोकी ऐसी योग्यता स्थापित हो जाती है, जिससे नियतकाल आनेपर नियत परिणामों तथा बाह्य नोकर्मोका निमित्त कर उन-उन कर्मोका अपकर्षणादि रूप परिणमन होता है। ऐसा न माननेपर कर्मशास्त्रकी सारी व्यवस्था ही गड़बड़ा जायगी और उपशमकरण, निधत्तिकरण, निकाचितकरणकी व्यवस्था ही नही बन सकेगी।

(२) निमित्त उपादानकी उपस्थितिमे कार्यकी उत्पत्ति होती है, किन्तु निमित्त उपादानका कुछ भी कार्य नही करता है। क्योंकि दो द्रव्योंकी एक परिणति नही होती, यह सिद्धान्त है। तथा एक द्रव्यकी स्व रूप और पररूप परिणति होती हो, ऐसा भी नही है। क्योंकि कर्ता-कर्म-क्रिया भाव निश्चयसे एक द्रव्यमें ही घटित होता है। दो पदार्थोमे कर्ता-कर्म-क्रियाका सम्बन्ध व्यवहारसे कहा जाता है; होता नही।

(३) भगवान्की वाणी अकालमे भी खिरती है, इसका उत्तर जयधवला पृ० ७६ में कहा है। दिव्य-

ध्वनि जब भी खिरती है, वह उसका स्वकाल है—अर्थात् पर्याय अपने समयपर ही प्रगट होती है; अनियत-कालमें नहीं होती है।

(४) गुण, पर्यायको नियत और अनियत कहा है। वहाँ अपने स्वभावरूप संसारी जीव परिणमन नहीं करता है, उसे अनियत गुण, पर्याय वाला कहा है।

(५) प्रागभावका विनाश द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावपर निर्भर है—इसका अर्थ है कि द्रव्यका स्वकाल आदि आनेपर, परचतुष्टय निमित्त रूप होता है। किन्तु वह कार्यका जनक नहीं है।

(६) यद्यपि कार्य निमित्त-उपादानके सुयोग मिलनेपर होता है, किन्तु कार्योत्पत्ति समर्थ उपादानसे होती है। निमित्त उस समयपर उपस्थित अवश्य है, किन्तु वह नियामक कारण नहीं है। अतः कार्य अपने नियत समयपर ही होता है।

प्रतिशंका ३—केवलज्ञानकी अपेक्षा पर्यायोंका परिणमन क्रमबद्ध मानकर भी कार्य-कारणकी अपेक्षा उसकी सिद्धि करना चाहिए। अतः यह विचारणीय है कि वह कार्य अपने प्रतिनियत कारणोंसे जिस कालमें होता है, उसे ही कार्यका प्रधान कारण माना जाये ? अथवा कार्य जब होता है, तो अपने प्रतिनियत कारणोंसे ही होता है और जिस कालमें वह उत्पन्न होता है, वही उसका स्वकाल है। इसलिए कार्यके लिए अन्तरंग और बहिरंग दोनों कारण मानना चाहिए।

इसलिए विवक्षित कार्यके अनुरूप उपादान कारणके होते हुए भी यदि अन्य कारणोंकी अविकलता न होगी, तो कार्य सम्पन्न नहीं होगा। यदि सहकारी कारण अकिंचित्कर हो तो उसका नाम सहकारी कारण नहीं हो सकता है। क्योंकि जीव और पुद्गलोंके परिणमन स्वपर प्रत्यय ही माने गये है। वस्तुके परिणमनमें विलक्षणताका नियामक निमित्त कारण ही है।

निर्जरा या संक्रमण आदिके लिए शास्त्रमें ऐसा कोई नियम नहीं है कि कर्मोंके बन्धके समय ही उन कर्मोंमें ऐसी योग्यता स्थापित हो जाती है कि वे अमुक समयपर ही निर्जरित होंगे। हाँ यह बात अवश्य है कि बन्धके समय कुछ प्रदेशोंका उपशम, निधत्ति, निकाचित रूप बन्ध होना सम्भव है। किन्तु कारण-कलाप पाकर वह टूट भी जाता है। आपने स्वकाल शब्दका प्रयोग किया है, किन्तु अमृतचन्द्राचार्यने ४७ शक्तियोंमें अकाल नय भी बतलाया है और पण्डित टोडरमलजीने कहा है—काललब्धि और नियति कोई वस्तु हो नहीं है। भगवान्की दिव्यध्वनि भी निमित्त पाकर अनियत समयमें भी खिरने लगती है। कर्म निर्जरा विपाक, और मुक्तिका भी कोई नियत समय नहीं है।

शंका ५ प्रतिशंका ३ का समाधान—केवलज्ञानमें सब पदार्थोंकी पर्यायें झलकती है, अतः इससे पदार्थोंका परिणमन सुनिश्चित तो है ही। तथा 'अष्टसहस्री' में यह भी कहा गया है कि जैसी भवितव्यता होती है, वैसे ही सब कारण मिल जाते हैं। अलंघ्यशक्तिका अर्थ यह स्पष्ट किया है कि कार्य द्रव्य स्वभावको लांघकर कभी नहीं होता है। निश्चयसे कार्यकारण-व्यवस्था एक द्रव्यमें ही घटित होती है। अन्य द्रव्यके संयोगसे कार्य-कारण कहना व्यवहार कथन है। निमित्त कथनको यथार्थ कथन मानना दो द्रव्योंकी एकताको स्वीकार करना है जोकि असम्भव है।

निर्जरा और मुक्तिका काल सुनिश्चित है, उपादान और निमित्तकी आगममें समव्याप्ति कही है। अतः समर्थ उपादानकी उपस्थितिमें अन्य निमित्त कारणकी उपस्थिति बन जाती है।

पाँचवीं शंकामें तीसरी प्रतिशंका उठाकर प्रथम पक्षने कहा पर्यायका स्वकाल आनेपर कार्य होता, ऐसा मानकर स्वकालको प्रधानता देते हैं। हम उपादान और निमित्त दोनों कारणोंको प्रधान कहते हैं। अशुद्ध पर्यायें स्वपरप्रत्यय आगममें कही है। तब आप परप्रत्ययको गौण क्यों कर देते हैं? अष्टसहस्री पृ० १०५ में यदि सहकारी कारण अकिंचित्कर हो तो उसका कारण नाम नहीं पड़ सकता है। अतः जबतक निमित्त तदनुकूल व्यापार नहीं करता, तबतक उस उपादानकी विवक्षित कार्यरूप परणति नहीं होती है। अतः कार्यको निमित्ताधीन भी कहा जाये, तो कार्य अपने समयपर ही होता है, यह सिद्धान्त सिद्ध नहीं होता है। इस प्रतिशंका ३ का समाधान करते हुए द्वितीय पक्षने उत्तर दिया कि केवलज्ञान वस्तुस्वरूपका ज्ञापक है; कारक नहीं। कारकसाकल्यमें पाँच समवाय स्वीकृत किये गये है। निश्चयनयसे आचार्योंने कहा है—पर्याय स्वयं अपनी कर्ता स्वयं अपना कर्म और स्वयं अपना कार्य है। अतः कर्ता-कर्म-क्रियाके स्वतःसिद्ध होनेपर अन्य सहकारी कारण होते है, किन्तु कार्योत्पत्ति सहज स्वभावसे ही होती हैं। अतः पर्याय अपने क्रमसे अपने समयपर प्रकट होती है। क्योंकि पर्याय वस्तुका अपना सहज धर्म है। यह मोतीमालाकी तरह क्रमसे प्रकट होती रहती हैं। श्रुतज्ञान उन सब पर्यायोंको नहीं जानता हैं। इससे पर्यायें अनियत कैसे हो गई? केवलज्ञानमे प्रकट होनेवाला पर्यायक्रम यथार्थ प्रतिभासित हो रहा है तब केवलज्ञानमें ज्ञात पर्यायोंका अक्रम, माना जाये, तो केवलज्ञान अप्रामाणिक हो जायगा। और केवलज्ञानमें ज्ञात क्रमसे ही पर्याये होती हैं, तो क्रमबद्ध परिणमन सिद्ध ही है।

इसमें पुरुषार्थहीनता भी नहीं, क्योंकि सिद्धोंकी तरह पदार्थका मात्र ज्ञाता बन जाना सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। मन, वचन, कायको रोकनेमे सबसे बडा पुरुषार्थ है। नियतनय और अनियत नयका अर्थ है गुण हमेशा अनादि अनंत, शाश्वत हैं। पर्याय क्रमशः आती हैं। यहाँ अस्थिर होनेको अनियत कहा है।

जो पाच समवायमेंसे सिर्फ नियतिसे कार्यसिद्धि मानते हैं, उनको गोम्मटसार नियतिवादी मिथ्यादृष्टि कहा है। क्योंकि कार्य पाचों समवायकी उपस्थितिमे होता है। अतः पर्याये नियतक्रम मानना आगमसम्मत है।

खानियाँ तत्त्वचर्चा दूसरा भाग

शंका ६—उपादानकी कार्यरूप परणतिमें निमित्तकारण सहायक होता है या नहीं?

समाधान—निमित्तकारणको आगममें व्यवहार कारण कहा है, वह निश्चय (वास्तविक) कारण नहीं है।

प्रतिशंका—अन्तरंग कारणका अर्थ द्रव्य शक्तिसे हैं और बहिरंग कारणका मतलब बलाधानमें सहायक होना है। जैसे मिट्टीमें घड़े बननेकी शक्ति है, किन्तु कुम्हारकी सहायताके बिना घटका उत्पाद असम्भव है। दोनों कारण मिलनेपर कार्य होता है? इसका सीधा मतलब है कि कार्यकी उत्पत्तिमें दोनों कारण सहायक हैं; अन्यथा उनमें कारण व्यपदेश करना व्यर्थ ठहरता है। कारण कहते उसे हैं—जिससे कार्यकी उत्पत्ति हो।

जैसे—जीवका राग कर्मबन्ध कराता है और कर्मोदयसे रागोत्पत्ति होती है। समयसारमें भी जीवका विकार हेतु अजीव पुद्गल है, ऐसा गाथा १३ की टीकामें कहा है।

प्रतिशंका २ का समाधान—उभय हेतुसे कार्य होता है और उसमें यह माना जावे कि निमित्तके अनुसार कार्य होता है, तो अन्तरंग कारण उपादानका कार्य रह जाता है? प्रथमपक्षके अनुसार व्यवहारकारण समर्थ कारण हुआ और अन्तरंग निश्चयकारण अकिंचित्कर सिद्ध होता है। आगममें सहकारी कारण सापेक्ष

विशिष्ट पर्यायशक्तिमे युक्त द्रव्यशक्ति ही कार्यकारी मानी गई है। क्योंकि पर्याय द्रव्यमेंसे प्रकट होती है; न बाहरसे आती है और न निकलकर बाहर जाती है। परकर्तृत्वको अध्यात्ममें मिथ्यात्वका महापाप माना है। आचार्य समन्तभद्र कहते है; जैसी भवितव्यता होती है वैसे सब कारण मिल जाते है। अतः कार्य उपादानके सामर्थ्यके अनुसार होता है। यदि निमित्ताधीन कार्य हो, तो पुरुषार्थका कोई महत्त्व ही नही रह जाता है।

प्रतिशंका ३—आप निमित्तकारणको व्यवहारकारण मानकर निमित्तकी उपस्थिति मात्र मानते है, और अकिंचित्कर कहकर उसकी कुछ उपयोगिता नही मानते है। कार्यको स्वपर सापेक्ष आगमवाक्यकी अवहेलना करना क्या उपयुक्त है। क्या गेहूँकी पैदावारमे किसान अकिंचित्कर है और यदि अकिंचित्कर है, तो आवश्यकता ही क्या रह जाती है। फिर किसानके बिना परिश्रमके गेहूंकी उत्पत्ति हो जाना चाहिए जो कि सर्वथा असंभव है। अकेले निमित्तसे कार्य होता है, ऐसा हम भी नहीं मानते है किन्तु उसके बिना कार्य भी तो नहीं होता, अतः वह आवश्यक और अनिवार्य कारण है। उसके अभावमे अथवा प्रतिकूल कारणोंके मिलने पर उपादानके रहते हुए कार्य नही होता है। उपादानमें अनंत शक्तिया हैं, उनमेंसे जिस शक्तिके अनुरूप निमित्त मिल जाते है, उस शक्तिका विकास हो जाता है।

प्रतिशंका ३ का समाधान—निश्चयनय कार्यकारण एक ही द्रव्यमे घटित होते है। व्यवहारनय घी का घडा कहता है, किन्तु घडा घी का नही होता है। इसी तरह अनुकूल निमित्तकी उपस्थितिमे कार्य होता है, किन्तु कार्य उपादान शक्तिमे ही होता है। उपचरित असद्भूत व्यवहारसे निमित्तको कर्ता कहा जाता है। एक द्रव्यका दूसरे पर आरोप करना ही उपचार हैं। जब एक द्रव्य गुण, पर्याय दूसरे द्रव्य गुण पर्यायमें प्रवेश नही कर सकते, तब उनमे परिणमन कैसे करा सकता है? उपादान कारणके कार्य सन्मुख होनेपर बाह्य सामग्रीका विस्रसा या प्रयोगसे योग मिलना ही है। यदि निमित्तसे कार्य होने लगे, तो समवसरणमे सबको मुक्ति प्राप्त हो जाना चाहिये; जबकि तीर्थंकरकी उपस्थितिमे ही मारीच भ्रष्ट हो गया था। पर सापेक्षका अर्थ परकर्तृत्व न होकर धर्मद्रव्यकी तरह उदासीन निमित्त मात्र है। निमित्त नामकी कोई वस्तु नही हैं, किन्तु जिसकी अनुकूल उपस्थितिमे कार्य बनता हैं, उसका नाम निमित्त पड जाता है। एक प्रतिमा किसीको सम्यग्दर्शनमे निमित्त बनती है, धर्मविरोधीको द्वेषभावमे निमित्त बनती है और चोरोंको चोरी करनेमे निमित्त बन जाती है। क्यों इन तीनों कार्योंमें प्रतिमाका कर्तृत्व है।

शंका ७—केवली भगवान्की सर्वज्ञता निश्चयसे है या व्यवहारसे? यदि व्यवहारसे है तो वह सत्यार्थ है या असत्यार्थ? इन सभी शंकाओंके तीन-तीन दौर चले थे, उन सबका सार यहाँ विस्तार भयसे कहेंगे।

आत्मज्ञता और सर्वज्ञताका क्या रूप है? तथा ज्ञेयोंकी अपेक्षा आरोपित सर्वज्ञता सिद्ध हुई और यदि पर की अपेक्षा सर्वज्ञता है, तो वह असद्भूत व्यवहारनयका विषयभूत सर्वज्ञता है। क्योंकि स्वभावका अन्यत्र आरोप सो उपचार है। तथा अमूर्तिक आत्मामें मूर्तिक पदार्थ कैसे झूल सकता है। अतः यह भी बात नहीं बैठती कि पदार्थ स्वयं झलकते है अथवा ज्ञान ज्ञेयाकार हो जाता है। क्योंकि अमूर्तिक द्रव्योंका आकार न होनेसे उनका आकार आत्मामें कैसे झलक सकता है?

शंका ७ का समाधान—यह निर्विवाद सत्य है कि आत्माका स्वभाव स्वपर प्रकाशक है तथा अतः जो स्वभाव होता है, वह पर निरपेक्ष होता है। आत्मज्ञतामें ही सर्वज्ञता भरी है। वीतरागी परमात्मा अपने उस ज्ञान स्वरूप आत्माको जान रहे है, जिसमें ज्ञेय भी प्रतिबिंबित हो रहे है। अमूर्तिक ज्ञान मूर्तिक, अमूर्तिक सभीको जानता है। क्षयोपशम ज्ञान भी मूर्तिक, अमूर्तिक पदार्थोंको जानता है। परज्ञानको व्यवहार इसलिए

कहा है कि अपनी तरह परको तन्मय होकर नहीं जानते हैं। परकी अपेक्षा आ जानेसे भी परज्ञानको व्यवहार कहा है। ज्ञान स्वपरप्रकाशक है। स्व और परका भेद किया, यह सद्भूत व्यवहारनय है। ४७ शक्तियोंमें सर्वज्ञत्व शक्ति भी एक आत्मशक्ति है। वह असद्भूत व्यवहारनय विषय आत्मपदार्थ वस्तु नहीं है। अतः व्यवहारनयका विषय होनेसे सर्वज्ञता असत्य नहीं है।

शंका ८ - दिव्यध्वनिका केवलज्ञान अथवा केवलीकी आत्मासे कोई सम्बन्ध है या नहीं ? यदि है तो कौनसा सम्बन्ध है ? वह सत्यार्थ है या असत्यार्थ ? दिव्यध्वनि प्रामाणिक है या अप्रामाणिक ? यदि प्रामाणिक है तो उसकी प्रामाणिकता स्वाश्रित है या केवली भगवान्की आत्माके सम्बन्धसे ?

आपके वचन युक्ति और शास्त्रसे अविरुद्ध है ऐसा कथन आगममें आता है तथा वक्ताकी प्रमाणतासे वचनोंकी प्रामाणिकता होती है। अर्थात् दिव्यध्वनिकी प्रामाणिकता केवलज्ञानीके आश्रित है; न कि स्वाश्रित। धवलमें भी कहा है—रागी, द्वेषी असत्य बोलता है, वीतरागी सत्य ही बोलता है। जिनेन्द्रका उपदेश द्रव्यश्रुत है, इत्यादि कथन आगममें भरा पड़ा है। अतः वचनों द्वारा पदार्थज्ञान पुरुष-व्यापारकी अपेक्षा रखता है।

शंका ८ का समाधान—दिव्यध्वनि और केवलज्ञानका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध तो है किन्तु उपादान-उपादेय सम्बन्ध नहीं है। दिव्यध्वनि वीतरागीकी खिरती है। अतः उसमें पुरुष प्रयत्न तो सम्भव ही नहीं है। वचन-वर्गणाका योग और भव्य जीवोंके भाग्यसे सहज ही वाणी खिरती है। आत्मा चेतन पदार्थ है और भाषा अचेतन पदार्थ है। अतः आत्मा वाणीका कर्ता कैसे हो सकता है ? उपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे ही पुरुष वाणीका कर्ता कहा जाता है। क्योंकि भिन्न दो द्रव्योंमें उपचारसे ही कर्तृत्वका कथन होता है। दिव्यध्वनिकी प्रामाणिकता अपने उपादानकी अपेक्षा स्वाश्रित है। निमित्तकी अपेक्षा पराश्रित कही गई है। सत्यभाषाका उपादान सत्यभाषा वर्गणा है। अनुभय भाषाका उपादान अनुभय भाषा वर्गणा है।

कार्यके प्रति निमित्त और उपादानकी समव्याप्ति होती है। दिव्यध्वनिको ज्ञानका कार्य कहना निमित्त कथन है। प्रत्येक द्रव्यका परिणमन स्वतंत्र होनेसे वाणी अपनी योग्यतासे अपने स्वकालमें स्वयं खिरती है। वाणी वैस्रसिक और प्रायोगिक दो रूपोंमें प्रयुक्त होती है। उसे प्रायोगिक कहना यह भी निमित्त कथन है। निमित्त प्रधान कथन तो होता है, किन्तु कार्य उपादानकी अपनी योग्यतामें होता है।

शंका ९—सांसारिक जीव बद्ध है या मुक्त ? यदि बद्ध है तो किससे बँधा हुआ है और किसीसे बँधा हुआ होनेसे परतंत्र है या नहीं ? यदि वह बद्ध है, तो उसके बन्धनोंसे छूटनेका उपाय क्या है ?

क्योंकि आगममें स्पष्ट कहा है—जब आत्मा मन वचन कायकी क्रिया करता है तब कर्मोंसे बँध ही जाता है। और इस बंधके कारण दर्शन, ज्ञान, चारित्र विकृत होकर मिथ्यात्व अज्ञान असंयम रूप प्रवृत्ति करते हैं। कर्मोंके अभावसे यह जीव मुक्त हो जाता है। अतः कर्मबद्ध होकर जीव संसारमें परिभ्रमण कर रहा है और कर्मोंसे छूटकर मुक्त हो जाता है। आगममें यह भी कहा है—जब कर्म बलवान होता है, तो जीव दुखी हो जाता है और जब जीव बलवान होता है तो सुखी हो जाता है। यह भी कहा गया है कि कर्म जीवको प्रेरित करता है और जीव कर्मको प्रेरित करता है। इसीलिए ज्ञानावरणी कर्म ज्ञानको रोकता है आदि आगम स्पष्ट कह रहा है कि जीव कर्मोंमें बँधा है। और कर्मोदयके कारण ही सुखी दुखी होकर संसार परिभ्रमण कर रहा है।

समाधान—अशुद्ध निश्चयनयसे जीव रागादि भावोंमें विकारी हैं। असद्भूत व्यवहारनयमें कर्मोंसे बद्ध कहा जाता है। यह सब उपचारसे पर्यायका कथन किया है। निश्चयनय या द्रव्य स्वभावसे तो जीव अबद्ध-अस्पष्ट अखण्ड एवं त्रिकाल शुद्ध है जैसा कि समयसार आदि अध्यात्म ग्रन्थोंमें कहा गया है। कर्म और

विकारका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध तो है, किन्तु कर्ता-कर्म सम्बन्ध बिलकुल नहीं है। विकार उत्पन्न, नाश होता है, अतः वह विकारी पर्याय है। द्रव्य स्वभावमें रागादिका भी प्रवेश नहीं, तब कर्मादिका प्रवेश तो असम्भव ही है। क्योंकि सभी द्रव्य अपने-अपने चतुष्टयको छोड़कर परद्रव्यमें प्रवेश नहीं करते है। अपने ही चतुष्टयमें रहते हैं।

कर्म विकार भी नहीं कराता है, जीव अपनी कमजोरीसे स्वयं कर्मादिके उदयानुसार पर पदार्थोंमें तन्मय होकर विकार करता है। कर्म घुमाता है, यह उपचार कथन है। यदि घुमाता हो तो कोई जीव संसारसे छूट ही नहीं सकता है। संसार भ्रमण और सुख-दुःखका मूल कारण तो अज्ञानता है। कहा भी है—"मैं भ्रम्यो अपनपो बिसरि आप, अपनाये बहुविध पुण्य पाप।"

शंका १०—जीव तथा पुद्गलका एवं द्वयणुक आदि स्कन्धोंका बंध वास्तविक है या अवास्तविक? यदि अवास्तविक है, तो केवली उसे जानते है या नहीं?

समाधान—प्रश्नोत्तर ९ की तरह जीव और पुद्गलका या स्कंधोंका व्यवहारसे बंध कहा जाता है। निश्चयदृष्टिसे प्रत्येक द्रव्य व प्रत्येक परमाणु अपने द्रव्य स्वभावको कभी नहीं छोड़ता है। अतः स्वतंत्र एवं अबंध स्वरूप ही है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य, एक गुण दूसरे गुण रूप परिणमन नहीं करता अतः द्रव्यस्वभाव अबंध स्वरूप ही है।

शंका ११—परिणमनमें स्वप्रत्यय और स्वपर प्रत्यय दो भेद हैं, उनमें वास्तविक अन्तर क्या है?

समाधान—समस्त द्रव्योंकी अगुरुलघु गुण षड्गुण हानि वृद्धि परिणमनस्वभाव पर्याय या स्वप्रत्यय है, पर निमित्त पूर्वक जो पर्याय होती है; वह स्वपर प्रत्यय परिणमन है। पर निमित्तकी उपस्थितिमें होनेवाली पर्यायको स्वपर प्रत्यय परिणमन कहते है। परिणमनको पर प्रत्यय कहना उपचार कथन है। क्योंकि अन्यत्र प्रसिद्ध धर्मका अन्यत्र समारोप करना, असद्भूत व्यवहारनय या उपचार है।

शंका १२—कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्रकी श्रद्धाके समान सुदेव, सुशास्त्र और सुगुरुकी श्रद्धा भी मिथ्यात्व है, क्या ऐसा मानना या कहना शास्त्रोक्त है?

समाधान—कुगुरु आदि श्रद्धान गृहीत मिथ्यात्व है और सुगुरु आदि श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दृष्टिके सच्चे देव, शास्त्र, गुरुकी श्रद्धा होती ही है।

शंका १३—पुण्यका फल जब अरहंत तक होना कहा गया है जिससे यह आत्मा तीन लोकका अधिपति बनता है; उसे सर्वातिशायी पुण्य बतलाया है। ऐसे पुण्यको हीनोपमा देकर त्याज्य कहना और मानना क्या शास्त्रोक्त है?

समाधान—उपदेश प्रयोजन और आवश्यक हितकी दृष्टिसे दिया जाता है। जहाँ मोक्षमार्ग और सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेके लिए सात तत्त्वोंका यथार्थ श्रद्धान करनेका उपदेश है, वहाँ सभी प्रकारके पुण्यको आस्रवमें ही गिनाया है। तथा आस्रवसे बंध और बंधसे संसार होता है, ऐसा जिनागममें कहा गया है। किन्तु नरकादि अधोगतिके कारण पापसे बचनेके लिए पुण्य करनेका उपदेश भी जिनागममें बहुलतासे दिया गया है। आस्रव तत्त्वको आस्रव स्वीकार करना, यही उपदेश तो दिया गया है। उसको संवर, निर्जरा तत्त्व या मोक्ष-मार्ग मत मानो, इसी मान्यताको छुड़ानेका नाम हेय है। पुण्य नहीं छुड़ाया है, उसको धर्म माननेकी गलत मान्यता छुड़ाई है। कोई भी पुण्य हो, वह आस्रव तत्त्व है। आस्रव तत्त्व राग भाव होनेसे उसे राग भाव ही मानो, वीतराग भाव मत मानो। तत्त्वनिर्णय करानेके लिए जिनागममें ऐसा ही उपदेश है। पुण्यको जहाँ

कहीं मोक्षमार्ग या धर्म भी कहा गया है, यह उपचरित कथन ही है। निश्चयसे वह शुभरागभाव है। वीतराग भाव नहीं है। पुण्यपाप रहित भाव ही वीतरागभाव है।

शंका १४—पुण्य अपनी चरम सीमाको पहुँचकर अथवा आत्माके शुद्धस्वभाव रूप परिणत होनेपर स्वतः छूट जाता है या उसको छुड़ानेके लिए किसी उपदेश या प्रयत्न की जरूरत होती है ?

समाधान—इसका समाधान भी १३वीं शंकाके समाधानमें दिया गया है कि पहले पुण्यकी गलत मान्यता छुड़ाई जाती है फिर जैसे-जैसे शुद्ध परणति बढती जाती है, वैसे-वैसे ही पुण्य भाव छूटता जाता है।

शंका १५—जब अभाव चतुष्टय वस्तु स्वरूप है, तो वे कार्य व कारण रूप क्यों नहीं माने जा सकते ? तदनुसार घातिया कर्मोका ध्वंस केवलज्ञानको क्यों उत्पन्न नहीं करता ? तत्त्वार्थसूत्रमें चार घातियाके अभावसे केवलज्ञानकी प्राप्ति स्वीकार की गई है।

समाधान—अभाव चतुष्टयको जिनागममें भावान्तर स्वभाव स्वीकार किया गया है, किन्तु घातिया कर्मोंके अभावसे केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है, यह उपचार कथन है। कर्म पुद्गल हैं, उनके अभावसे चेतनको लाभ हो, ऐसा वस्तुका स्वभाव नहीं। हाँ अज्ञानके अभावसे पूर्णज्ञान प्रगट हुआ है, उस अज्ञानमें ज्ञानावरणी कर्म निमित्त थे, अतः निमित्तके अभावमें नैमित्तिक भावोंके अभावसे केवलज्ञान प्रकट हुआ है। पूर्वकी अज्ञान पर्यायका नाश, ज्ञानके पूर्ण विकास ये दोनों एक समयमें हुए हैं। यथार्थ बात यह है कि ज्ञानकी परिणति जैसे-जैसे स्वभावमें स्थिर होती जाती है, तैसे-तैसे ज्ञानका विकास होता हुआ वह पूर्णताको प्राप्त हुआ है। उसी समय अज्ञान भी क्रमशः नष्ट होकर पूर्ण विलयको प्राप्त हो जाता है। जैसे सूर्यका प्रकाश होनेपर अन्धकार भाग जाता है, अन्धकार स्वतः नहीं भागता है, उस समय कर्म भी नाशको प्राप्त हो जाता है। केवलज्ञान अपने पुरुषार्थसे उत्पन्न हुआ है; न कि कर्मोंकी कृपासे।

शंका १६—निश्चय और व्यवहार नयका स्वरूप क्या है ? व्यवहारनयका विषय असत्य है क्या ? असत्य है तो अभावात्मक है या मिथ्यारूप है ?

समाधान—जैन शासनमें दो नयोंसे वस्तु स्वरूपका निर्णय किया जाता है। उसमें वस्तुका त्रिकाल स्वभाव क्या है इसका निर्णय निश्चयसे होता है तथा गुणभेद या विविध अवस्थाओंका निर्णय व्यवहार नयसे होता है। अतः ज्ञान दोनों नयोंका करना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि यदि निश्चयनयका ज्ञान नहीं होगा, तो व्यवहारनयकी विषयभूत शुद्धाशुद्ध पर्यायोंको ही अपना स्वरूप मानकर पर्यायबुद्धि जो कि अनादि काल-से लगी हुई है, उसीमें तन्मय होकर मिथ्यादृष्टि ही बना रहेगा और यदि व्यवहारनयकी विषयभूत अपनी वर्तमान पर्यायके अपराधका ज्ञान नहीं करेगा, तो फिर कभी अपराध दूर करनेका भी प्रयत्न नहीं करेगा। किन्तु व्यवहार नयकी विषयभूत वर्तमान पर्याय आत्माका असली स्वभाव नहीं है। एवं विकारका आश्रय करनेसे विकार नष्ट नहीं होता है, किन्तु विकार रहित आत्मस्वभावका श्रद्धान ज्ञान आचरण करनेसे विकार नष्ट होता है। अतः निश्चयनयका विषय त्रिकाली स्वभावको उपादेय कहा है। तथा व्यवहारका विषय गुणभेद या पर्यायभेद अनुभव अवस्थामें छूट जाता है, अतः व्यवहारनयका हेय कहा है। क्योंकि रागादि आत्माका स्व-भाव नहीं है। अतः व्यवहार ज्ञान करने योग्य है, किन्तु आश्रय करने योग्य नहीं है। इसीसे उसे हेय कहा है। जहाँ भी निश्चय धर्म और व्यवहारधर्म इस प्रकार दो भेद किये हैं, वहाँ वीतरागताको निश्चयधर्म और उसके साथ चलने वाले शुभभावको व्यवहार धर्म कहा है। इनमेंसे यथार्थ धर्म तो वीतरागता ही है, सहचर होनेसे शुभरागको आरोपित धर्म कहा जाता है।

शंका १७—उपचारका लक्षण क्या है ? निमित्त कारण और व्यवहारनयमें यदि क्रमशः कारणता और नयत्वका उपचार है, तो इनमें उपचार लक्षण घटित कीजिए।

समाधान—परके संबंधसे जो व्यवहार किया जाता है उसे उपचार कहते हैं, जैसे मिट्टीके घड़ेको घी-का घड़ा कहना उपचार है। या जीवको वर्णादिवान कहना उपचार कथन है।

वस्तुके भिन्न कर्ता-कर्मादि बतलाना व्यवहार या उपचार है, किन्तु अभिन्न कर्ता-कर्म बतलाना निश्चय है। उपचारमें भी कारण शब्दका प्रयोग इसलिए किया है कि निमित्त और उपचारसे साथ कार्यकी बाह्य व्याप्ति है। निमित्तसे कथन होता है। कार्य निमित्तकी उपस्थितिमें उपादानसे होता है। जैसे सम्पत्ति आदिकी प्राप्ति अपने भाग्यसे होती है, उसमें सहयोगी निमित्त बन जाते हैं। अतः व्यवहार इसलिए अभूतार्थ कहा जाता कि जैसा वह कहता है, वस्तुका वह असली स्वरूप नहीं है और निश्चय इसलिए भूतार्थ कहा जाता है क्योंकि उसका विषय ही वस्तुका असली स्वरूप है।

इस प्रकार खानिया चर्चाके अध्ययन-मननसे ज्ञात होता है, जितने भी कुछ तथ्य विवादास्पद बना दिये गये। यदि मध्यस्थ होकर शान्तिसे उनका निर्णय करें तो सभी विवाद सुलझ सकते हैं। पूज्य आचार्य श्री शिवसागर महाराजने इसीलिए इस तत्वचर्चाके आयोजन करनेकी प्रेरणा दी थी। इस तत्वचर्चामें आदर-णीय पण्डित फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्रीकी चारों अनुयोगोंके अधिकार पूर्ण विद्वत्ताका परिचय मिल जाता है। ऐसे विद्वान् कम ही देखनेको मिलते हैं, जिनका चारों अनुयोगोंका इतना सुलझा हुआ सुस्पष्ट अगाध ज्ञान हो। तत्त्वज्ञानका यथार्थज्ञान प्राप्त करनेके लिए जिज्ञासु बंधुओंको खानिया तत्त्वचर्चाका अध्ययन-मनन अवश्य ही करना चाहिए।



लब्धिसार-क्षपणासार : एक अनुशीलन

पं० नरेन्द्रकुमार भिसीकर, शोलापुर

चार अनुयोगोंके रूपमें उपलब्ध जिनागममें आत्म-तत्त्व और उसकी विशुद्धिका ही मुख्यता से वर्णन किया गया है। करणानुयोगका मूलसार लेकर "लब्धिसार" में सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र तथा उसकी उत्पत्तिके फलका सांगोपाग विवेचन किया गया है। औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक तीनो प्रकारके सम्यग्दर्शनोंमें आत्मविशुद्धि ही मुख्य है। यथार्थमें सम्यग्दर्शन के तीन भेद निमित्तकी अपेक्षा वर्णित किए गये हैं। उक्त ग्रन्थमें आत्माके दर्शन और चारित्र गुण रूप शक्तियोंके प्रकट होनेकी योग्यता रूप लब्धिका विशद विवेचन किया गया है। इसलिये इसका नाम "लब्धिसार" सार्थक है। मुख्य रूपसे दर्शनलब्धि और चारित्र-लब्धिका स्वरूप और उनके भेदोंका तथा उनकी कारण-सामग्रीका वर्णन छह अधिकारोंमें किया गया है। अधिकारोंका विभाजन इस प्रकार किया गया है : (१) प्रथमोपशम सम्यक्त्व लब्धि, (२) क्षायिक सम्यक्त्व लब्धि, (२) देशसंयम लब्धि, (४) सकलसंयम लब्धि, (५) औपशमिक चारित्र लब्धि, (६) क्षायिक चारित्र लब्धि।

उक्त सम्पूर्ण विवेचन "कषायप्राभृत" (कसायपाहुड) की टीका जयधवलाके पन्द्रह अधिकारोंमें से पश्चिमस्कन्ध नामके पन्द्रहवें अधिकारके अनुसार किया गया है। यथार्थमें महान् सिद्धान्त ग्रन्थके आधार पर ही इसकी रचना हुई। क्योंकि षट्खण्डागम जीवस्थानको छोडकर शेष पाँच खण्डोंकी आधारभूत वस्तु "महाकम्मपयडिपाहुड" है। जीवस्थानकी सामग्री अन्य मूल अंगपूर्वकी है। अतः आगमके अनुसार इनमें तत्त्वप्ररूपणा गर्भित है। "षट्खण्डागम" और "कषायप्राभृत" मूल आगम साहित्य हैं। "लब्धिसार"की संस्कृत टीकासे स्पष्ट हो जाता है कि रचनाकार ने मूल आगमके अनुसार ही विषयको रचनाबद्ध किया है। दिगम्बर जैन वाङ्मय में आगम-साहित्य गुरु-परम्परासे क्रमिक वाचनाके रूपमें उपलब्ध होता है। "महाकम्मपयडिपाहुड"में आठ कर्मोंके विवेचनकी प्ररूपणा तथा "पेज्जदोसपाहुड"में केवल मोहनीय कर्मकी विशद प्ररूपणा उपलब्ध होती है। इनके अतिरिक्त आचार्य यतिवृषभ रचित "कसायपाहुड"की सूत्र-गाथाओं पर चूर्णिसूत्रोंकी रचना भी समुपलब्ध है। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने इन तीनो सिद्धान्त-ग्रन्थोंके आधार पर तीन रचनाएं निबद्ध कीं, जिनके नाम हैं—गोम्मटसार, लब्धिसार और त्रिलोकसार। "क्षपणासार" कोई स्वतन्त्र रचना नहीं है। इसका अन्तर्भाव "लब्धिसार" में ही हो जाता है।

क्षपणासार-गर्भित "लब्धिसार"की रचना ६५३ गाथाओं मे निबद्ध है। इस ग्रन्थके सम्यक् अनुशीलनसे यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने साठ सहस्र श्लोकप्रमाण "जयधवला" टीकाका सार ग्रहण कर ६५३ गाथाओमें संकलित कर दिया। आचार्यप्रवरकी यह महती विशेषता है कि उन्होंने गागरमें सागर भर दिया। "जयधवला"का कोई भी विषय इस ग्रन्थमें निबद्ध होने से छूटा नही है। पण्डितप्रवर टोडरमलजीने स्पष्ट रूपसे उल्लेख किया है कि इस ग्रन्थका प्रकाश धवलादि शास्त्रोंके अनुसार किया गया है। इस ग्रन्थका महत्त्व इससे भी स्पष्ट है कि इस पर संस्कृत टीकाएं लिखी गई। केशववर्णीकी संस्कृत टीका प्रसिद्ध है। "लब्धिसार"के छह अधिकारोंमें से पाचवे चारित्रमोहनीय उपशमना अधिकार तक संस्कृत टीका पाई जाती है। कर्म-क्षपणाके अधिकारकी गाथाओंका विशदीकरण माधवचन्द्र त्रैविद्यदेवके संस्कृत गद्यरूप "क्षपणासार"के अभिप्रायके अनुसार इस ग्रन्थमें सम्मिलित किया गया है। इसलिये इस ग्रन्थका नाम लब्धिसार-क्षपणासार रखा गया है।

सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका टीका

संस्कृत टीकाओं की भाँति आचार्यकल्प पण्डितप्रवर टोडरमलजी कृत "सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका" मूल आगमानुसारिणी विशद तथा सुबोध टीका है। इस टीका का अध्ययन करनेसे पण्डितप्रवर के तलस्पर्शी ज्ञानका सहज ही अनुमान हो जाता है। सिद्धान्तशास्त्री प० फूलचन्द्रजीके शब्दोंमें "पण्डितजीने अपनी टीकामें जितना कुछ लिपिबद्ध किया है, उसे यदि हम उक्त संस्कृत वृत्तियों और "क्षपणासार"का मूलानुगामी अनुवाद कहें, तो भी कोई अत्युक्ति नही होगी। इतना अवश्य है कि जहां आवश्यक समझा वहाँ भावार्थ आदि द्वारा उन्होंने उसे विशद अवश्य किया है। "इसमे कोई सन्देह नही है कि वर्तमान मे यदि "सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका" टीका न होती, तो करणानुयोगका दुरूह विषय विद्वानोंकी समझके भी बाहर रहता। पण्डितप्रवर टोडरमलजीकी ही दुर्गम घाटीमें प्रवेश कर अध्यात्मके आलोकका प्रकाश किया, जिसे भावी पीढ़िया सतत मार्ग-दर्शनके रूपमें 'सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका'को स्मरण करती रहेंगी। जो महान् कार्य श्रीमन्नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने गाथाओंमें 'लब्धिसार'की रचनाको प्रकाशित कर किया, वही कार्य आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजीने देशी भाषा वचनिकाके माध्यमसे किया। यदि पण्डितजीने यह टीका न लिखी होती, तो बीसवी शताब्दीके विद्वान् करणानुयोगके गहन-गम्भीर पारावारमें प्रवेश नही कर पाते। आधुनिक युगमें विद्वानोंके गुरुओंके भी गुरु पण्डितप्रवर गोपालदासजी बरैयासे

लेकर आज भी यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होने वाले विद्वान् करणानुयोगका रहस्य समझने वाले अवश्य ही "सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका" से उपकृत हुए हैं। पंडितप्रवर टोडरमल जीकी इस टीकाकी यह विशेषता है कि मूल भावको सुरक्षित रख कर वह गाथाके अर्थ, भावार्थ आदिको स्पष्ट करनेवाली प्राचीन पद्धतिका अनुकरण नहीं करती, किन्तु नवीन शैलीमें भावोंके परतोंको सरल शब्दोंमें न कम और न अधिक पदोंकी रचना कर मूल विषयको व्यवस्थित क्रमसे स्पष्ट करते हुए आगे बढ़ते हैं। यही कारण है कि "लब्धिसार" की वचनिकामें जहाँ-कहीं संस्कृत-वृत्तिकी छाया लक्षित होती है, वहीं कोई भी ऐसा स्थल नहीं है जहाँ अर्थ संदृष्टि या बीजगणितीय पद्धतिका अनुगमन किया गया हो। सर्वत्र अपनी बोलचालकी भाषामें भावोंको स्पष्ट किया गया है।

सन् १९८० में श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, अगाससे पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री द्वारा सम्पादित लब्धिसार (क्षपणासारगर्भित) की पण्डितप्रवर टोडरमलजी कृत "सम्यग्ज्ञान-चन्द्रिका" भाषा टीका सहित प्रकाशित हुई है। इस टीकाको सर्वप्रथम देखकर मुझे यह कुतूहल हुआ कि सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका टीकाके उपरान्त पं० फूलचन्द्रजीके सम्पादनकी इसमें क्या विशेषता है? क्योंकि पण्डितप्रवर टोडरमलजीकी विशेषता तो उनकी प्रस्तावना पढ़ते ही स्पष्ट हो जाती है। वे कहते हैं—"शक्तिका अविभाग अंशताका नाम अविभागप्रतिच्छेद है। बहुरि तिनके समूह करि युक्त जो एक परमाणुताका नाम वर्ग है। बहुरि समान अविभागप्रतिच्छेद युक्त जे वर्ग तिनके समूहका नाम वर्गणा है। तहाँ स्तोक अनुभाग युक्त परमाणुका नाम जघन्य वर्ग है। तिनके समूहका नाम जघन्य वर्गणा है।" इसी प्रकार—

च्यार्यो गति वाला अनादि वा सादि मिथ्यादृष्टि संज्ञी पर्याप्त गर्भज मन्द कषायरूप जो विशुद्धता ताका धारक, गुण-दोष विचार रूप जो साकार ज्ञानोपयोग ता करि संयुक्त जो जीव सोई पाँचवीं करणलब्धि विषै उत्कृष्ट जो अनिवृत्तिकरण ताका अन्त समय विषै प्रथमोपशम सम्यक्त्वको ग्रहण करै। इहाँ ऐसा जानना-पण्डितप्रवर टोडरमलजी इसे विशद करते हुए कहते हैं—

"जो मिथ्यादृष्टि गुणस्थानतैं छूटि उपशम सम्यक्त्व होइ ताका नाम उपशम सम्यक्त्व है। बहुरि उपशमश्रेणी चढ़ता क्षयोपशम सम्यक्त्व तै जो उपशम सम्यक्त्व ताका नाम द्वितीयोपशम सम्यक्त्व है, तातै मिथ्यादृष्टिका ग्रहण किया है। बहुरि सो प्रथमोशम सम्यक्त्व तिर्यंच गति विषै असंज्ञी जीव हैं तिनकैं न हो है। अर मनुष्य तिर्यंचविषैं लब्धि-अपर्याप्तक अर सम्मूर्छन हैं तिनकैं न हो है। बहुरि च्यारयो गति विषै संक्लेशता करि युक्त जीवकैं न हो है। बहुरि अनाकार दर्शनोपयोगका धारीकैं न हो है, जातै तहाँ तत्त्वविचार न संभवै है। बहुरि आगे तीन निद्राके उदयका अभाव कहैंगे, यातैं सूता जीव कै न हो है, ताते अभव्यकैं न हो है। ए भी विशेषण इहां संभवै है ॥१२॥

"सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका" के इस विवेचनका अधिक स्पष्टीकरण करनेके निमित्त सिद्धान्तशास्त्री पंडित फूलचन्द्रजी ने अनेक स्थलों पर 'विशेष' तथा टिप्पणीके रूपमें हिन्दी भाषामें टीकाकी है। उक्त स्थल पर वे लिखते हैं—

"विशेष—यहाँ मुख्य रूपसे तीन बातोंका स्पष्टीकरण करना है—(१) जिस अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य जीवका संसारमें रहनेका काल अधिक-से-अधिक अर्द्धपुद्गल परिवर्तनप्रमाण शेष रहता है, वह उक्त कालके प्रथम समयमें प्रथमोपशम सम्यक्त्वके योग्य अन्य सामग्रीके सद्भावमें उसे ग्रहण कर सकता है। उस समय उसे प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी प्राप्ति नियमसे होती है, ऐसा कोई नियम नहीं है। मुक्त होनेके पूर्व इस कालके मध्यमें कभी भी वह प्रथमोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त करता है। प्रथमोपशम सम्यक्त्वके छूटनेपर सादि मिथ्यादृष्टि जीव पुनः पल्योपमके असंख्यातवें भाग प्रमाण कालके जानेपर ही उसे प्राप्त करनेके योग्य होता है, इसके

पूर्व नहीं। (२) संस्कृत टीकामें 'शुद्ध' पदका शुभ लेश्यारूप अर्थ किया है। किन्तु नरकगतिमें शुभ लेश्याओंकी प्राप्ति सम्भव नहीं है। जीवस्थान-चूलिकामें 'विशुद्ध' पदके स्थानमें 'सर्वविशुद्ध' पद आया है। वहाँ इस पदका अर्थ 'जो जीव अधःप्रवृत्तकरण आदि तीन करण करनेके सन्मुख है' यह जीव लिया गया है। प्रकृतमें 'विशुद्ध' पदका यही अर्थ ग्रहण करना चाहिए। (३) यहाँ गाथामें अनिवृत्तिकरणके अन्तिम समयमें यह जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त करता है, ऐसा कहा गया है सो उसका आशय यह लेना चाहिए कि अनिवृत्तिकरणके अन्तिम समयके व्यतीत होनेपर अगले समयमें यह जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त करता है। शेष कथन सुगम है।"

इसी प्रकार पण्डितप्रवर टोडरमलजीने स्थितिबन्धापसरणके कालका मूल गाथाके अनुसार यही अर्थ किया—"बहुरि स्थितिबन्धापसरण काल अर स्थितिकाण्डोत्करण काल ए दोऊ समान अन्तर्मुहूर्त मात्र है।" इसे समझानेके लिए पं० फूलचन्द्रजी लिखते है—"विशेष-करण परिणामोंके कारण उत्तरोत्तर विशुद्धिमें वृद्धि होते जानेके कारण अपूर्वकरणसे लेकर जिस प्रकार एक-एक अन्तर्मुहूर्त कालके भीतर एक-एक स्थितिकाण्डकका उत्कीरण नियमसे होने लगता है, उसी प्रकार उत्तरोत्तर स्थितिबन्धमें भी अपसरण होने लगता है। इन दोनोंका काल समान अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। उसमें भी प्रथम स्थितिकाण्डकघात और प्रथम स्थितिबन्धापसरणमें जितना काल लगता है, उससे दूसरे आदि स्थितिकाण्डकघात और स्थितिबन्धापसरणोंमें उत्तरोत्तर विशेष हीन काल लगता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्थितिकाण्डकघात और स्थितिबन्धापसरणोंका एक साथ प्रारम्भ होता है और एक साथ समाप्ति होती है। प्रकृतमें उपयोगी विशेष व्याख्यान टीकामें किया ही है।"

पं० फूलचन्द्रजीने विशेष टिप्पणोंमें जो खुलासा किया है, उससे उनके करणानुयोग विषयक विशिष्ट ज्ञान तथा जयधवलादि ग्रन्थोंका यथावसर प्रामाणिक उपयोग भलीभाँति लक्षित होता है। स्वयं पंडितजीने स्थान-स्थान पर तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। प्रस्तावनामें वे स्वयं लिखते हैं—"इस प्रकार लब्धिसारकी संस्कृत टीकामें जहाँ यह नियम किया गया है कि तिर्यंच और मनुष्य प्रथमोपशम सम्यक्त्वका प्रारम्भ पीतलेश्याके जघन्य अंशमें ही करता है, वहीं 'जयधवला' में 'जहण्णए तेउलेस्साए' पदका यह स्पष्टीकरण किया गया है कि तिर्यंच और मनुष्य यदि अतिमन्द विशुद्धि वाला हो तो भी उसके कम-से-कम जघन्य पीतलेश्या ही होगी। इससे नीचेकी अशुभ लेश्या नहीं होगी। तात्पर्य यह है कि प्रथमोपशम सम्यक्त्वका प्रारम्भ करनेवाले तिर्यंच और मनुष्यके कृष्ण, नील और कापोतलेश्या नहीं होती।"

इतना ही नहीं, स्वयं पण्डितजीने अपने सम्पादनके सम्बन्धमें 'प्राक्कथन' में स्पष्ट किया है—"मुझे सूचित किया गया था कि संस्कृत वृत्ति और सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका टीका सहित ही इसका सम्पादन होना है। आप जहाँ भी आवश्यक समझें, मूल विषयको स्पष्ट करते जायें और श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने किस मूल सिद्धान्त ग्रन्थके आधारसे इसकी संकलना की है, उसे भी अपनी टिप्पणियों द्वारा स्पष्ट करते जायें। यह मेरी उक्त ग्रन्थके सम्पादनकी रूपरेखा है। अतः मैने उक्त ग्रन्थके सम्पादनमें इस मर्यादाका पूरा ध्यान रखकर ही इसका सम्पादन किया है।"

निश्चित ही पण्डितजीने अपनी मर्यादाका पालन कर ऐसे सुन्दर विशेष टिप्पण लिखे हैं कि उनके आधार पर एक स्वतंत्र ग्रंथ बन सकता है। कहीं-कहीं पर ये 'विशेष' एकसे अधिक पृष्ठोंके मुद्रित रूपमें हैं; जैसेकि पृ० ३२-३३, ४०, ४९-५०, ९५, ९९-१००, १३५-३६, ३७, ३८, १४०-४१, १५६-५७, १६०-६१, १६३-६४, १७५-७६, २०५, २०७, २११-१२, २१८-१९, २६१, २७१-७२-७३, ३४९-५०, ३८२-८३, ३८५-८६-८७, ४०४-५, ४४३-४४, ४७६-७७, इत्यादि द्रष्टव्य हैं। कहीं-कहीं पण्डितप्रवर टोडरमल-

जीको टीका विशद तथा लम्बी है। विषयको अत्यन्त स्पष्टताके साथ प्रस्तुत किया गया। जहाँ-कहीं अधिक स्पष्टता आवश्यक प्रतीत हुई है अथवा संकेत मात्र मिले हैं, वहीं विशदीकरण किया गया है। उदाहरणके लिए पं० टोडरमलजी लिखते हैं—'इन अठाईस गाथानिका अर्थ रूप व्याख्यान क्षपणासार विषै नाहीं लिख्या। इहाँ मोकूं प्रतिभास्या तैसै लिख्या है।' पं० फूलचन्द्रजी इसपर विशेष लिखते हुए कहते हैं—'इसका चूर्णिसूत्रों और जयधवला टीका द्वारा इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है—विवक्षित समयमें प्रदेशोदय अल्प होता है। अनन्तर समयमें असंख्यातगुणा होता है। इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिए। ····द्रव्यका संक्रम होता है, ऐसा यहाँ समझना चाहिए।'

ये जो करणानुयोगको समझनेके लिए स्थान-स्थानपर पण्डितजीने सूत्र (कुंजी) दिए हैं, वे वास्तवमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। उसको ध्यानमें लिए बिना स्वाध्यायी शास्त्र समझ नहीं सकते हैं। यह अवश्य है कि कहीं-कहीं विस्तारके भयसे तथा एक ही स्थानपर विशद वर्णन होनेसे पण्डितजीने यह कहकर छोड़ दिया है कि इस बातोंका खुलासा अमुक ग्रन्थमें किया गया है। उनके ही शब्दोंमें 'इसके अन्तमें कार्यविशेष आदिको सूचित करने वाली चार गाथाओंमें निर्दिष्ट सभी बातोंका खुलासा 'जयधवला' पृ० २१४-२२२ में किया ही है सो उसे वहाँसे जान लेना चाहिये। यहाँ मुख्यतया उपशमश्रेणिमें होनेवाले उपयोग और वेदके विषयमें विचार करना है। 'जयधवला' में उपयोगके प्रसंगसे दो उपदेशोंका निर्देश किया गया है।' वास्तवमें प्रकरणके अनुसार जहाँ जितना आवश्यक है, वहाँ उतना ही स्पष्टीकरण, निर्देश तथा संकेत पण्डितजीने किया है। जिनागमके अपने अध्ययनका पूरा-पूरा उपयोग पण्डितजीने इस टीकामें किया है। अनेक स्थलोंपर जिस अर्थमें शब्दका प्रयोग हुआ है, उसका प्रामाणिक रूपसे उल्लेख किया गया है। अर्थका स्पष्टीकरण करते समय पण्डितजीने जयधवलादि मूल आगम ग्रन्थों, चूर्णिसूत्रों, संस्कृत टीका तथा सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका टीकाको सभी स्थलोंपर अपने सामने रखा है। इस प्रकारका तुलनात्मक अध्ययन करनेवाले बहुत विरल हैं। यही इस टीकाकी महान् उपलब्धि है। गाथा ४३५ का विशेष लिखते हुए पण्डितजी स्पष्ट करते हैं। उनके ही शब्दोंमें 'प्रकृतमें हिन्दी टीकाकार पण्डितप्रवर टोडरमलजी सा० ने पर्याप्त प्रकाश डाल ही दिया है। यहाँ इतना बतला देना आवश्यक प्रतीत होता है कि बन्धकी अपेक्षा तीनों वेदोंमेंसे यहाँ एक पुरुषवेदका ही बन्ध होता है, किन्तु जो जिस वेदके उदयसे क्षपक श्रेणी चढ़ता है, मात्र उसीका उदय रहता है। इसलिये पुरुषवेदके उदयसे श्रेणीपर चढ़े हुए जीवके पुरुषवेदकी अपेक्षा बन्ध और उदय दोनों पाये जाते हैं। हाँ, अन्य दोनों वेदोंमेंसे किसी भी वेदकी अपेक्षा श्रेणी पर चढ़े हुए जीवके पुरुषवेदका मात्र बन्ध ही पाया जाता है। इसी प्रकार यथासम्भव चारों संज्वलन कषायोंकी अपेक्षा भी विचार कर लेना चाहिए। उक्त कषायोंमेंसे किसी भी कषायके उदयसे श्रेणि-आरोहण करे, तो भी यथास्थान बन्ध चारोंका होता है। इस प्रकार इन सब व्यवस्थाओंको ध्यानमें रखकर यहाँ अन्तरकरण सम्बन्धी अन्य व्यवस्थाएँ घटित कर लेनी चाहिए। विशेष स्पष्टीकरण हिन्दी टीकामें किया ही है।'

इस प्रकार पण्डितजीने 'सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका'के भावको स्थान-स्थानपर खोल कर स्पष्ट किया है। जहाँ-कहीं पण्डितप्रवर टोडरमलजीने संस्कृत वृत्तिके भावको अपने शब्दोंमें लिखकर स्पष्ट किया, वहीं पं० फूलचन्द्रजीने अधिक-से-अधिक स्पष्ट तथा विशद करनेके लिए चूर्णिसूत्रों तथा जयधवलादि ग्रन्थोंके अनुसार विशेष शीर्षक देकर स्पष्टीकरण किया है। यदि शोध व अनुसन्धानकी दृष्टिसे विचार किया जाए, तो पण्डितजीने पण्डितप्रवर टोडरमलजीके कार्यको ही आगे बढ़ाया है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जो साहित्यिक कार्य उन्होंने अठारहवीं शताब्दीमें किया था, वही कार्य नई भाषा-शैली में प० फूलचन्द्रजीने किया है।

संक्षेपमें, पण्डितजी द्वारा लिखित इस टीकाकी निम्नलिखित विशेषताएँ कही जा सकती हैं—

(१) यह किसी टीकाकी टीका-टिप्पणी न होकर टीकाका विशदीकरण मात्र है।

(२) विषयके प्रामाणिक विवेचन तथा स्पष्टीकरण हेतु स्थान-स्थानपर सीधे शब्दोंमें या भावोंमें जिनागमको उद्धृत किया गया है।

(३) टीका-टिप्पणी करते समय तुलनात्मक विवेचन किया गया है। इस प्रकारकी टीकासे भविष्यमें करणानुयोगके तुलनात्मक अध्ययनको बल मिलेगा।

(४) भाषाशास्त्रीय होनेपर भी सरल है। करणानुयोगके किसी एक ग्रन्थका सम्यक् स्वाध्यायी सरलतासे इसे समझ सकता है। यद्यपि पण्डितप्रवर टोडरमलजीने हिन्दी टीकाको बहुत सरल बना दिया है, फिर भी कहीं विषयकी गम्भीरता रह गई है, तो उसे स्पष्ट करनेमें पण्डितजीका अध्ययन व श्रम सार्थक हुआ है।

(५) जहाँ—कहीं अर्थ लगानेमें विद्वान् भी भूल करते हैं, विशेषकर उनका स्पष्टीकरण पण्डितजीकी इस टीकामें हो गया है। अतः स्वाध्यायी एवं विद्वानोंके लिए यह विशेष रूपसे उपयोगी है।

(६) अपनी चौंतीस पृष्ठीय प्रस्तावनामें ग्रन्थ-परिचयके साथ ही 'सैद्धान्तिक चर्चा' के अन्तर्गत मूल विषयका परिचय तथा अर्थसंदृष्टिका पृथक् विवरण दिया गया है जो प्रत्येक स्वाध्यायीके लिए पढ़ना अनिवार्य है।

(७) लब्धिसारकी वृत्तिकी रचनाके सम्बन्धमें पण्डितजीकी इस सम्भावनाको नकारा नहीं जा सकता कि हमारे सामने ऐसा कोई तथ्य नहीं है जिससे सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्रको इसका रचयिता स्वीकार किया जाए। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इसकी रचनाकी शैली आदिको देखते हुए उसी कालके उक्त भट्टारकोंके सम्मिलित सहयोगसे इसकी रचना की गई होगी। यदि किसी एक भट्टारककी रचना होती तो अन्य इसका उल्लेख अवश्य करते।

(८) मूल गाथाओंके सम्पादनमें भी पण्डितजीने अपने दायित्वका पूर्ण निर्वाह किया है। अत मुद्रित प्रतिमें जहाँ-जहाँ संस्कृत शब्द हैं, वहाँ-वहाँ पण्डितजीने स्वविवेकशालिनी बुद्धिसे प्राकृत-शब्दान्तर वाले पाठोंका अधिग्रहण किया है। मूल गाथाके पाठोंमें किए गये इस परिवर्तनका उल्लेख पण्डितजीने अपने 'प्राक्कथन'में किया है। छन्द तथा भावकी दृष्टिसे इन पाठोमे अधिकतर 'ओकार'से प्रारम्भ होने वालोंके स्थानपर 'उकार' बहुल हैं।

(९) गाथा १६७ की संस्कृत वृत्ति और हिन्दी टीका दोनों नहीं हैं। पण्डितजीने इनकी पूर्ति कर दी है। अर्थके साथ ही विशेष भी दिया है। इसी प्रकार गाथा ४७५ का उत्तरार्द्ध त्रुटित होनेसे पण्डितप्रवर टोडरमलजी समक्षमें न आनेसे उसका अर्थ नहीं लिख सके। पं० फूलचन्द्रजीने 'जयधवला'से उक्त अंशकी पूर्ति कर विशेषमें सम्पूर्ण गाथाके अर्थका स्पष्टीकरण किया है।

इन विशेषताओंको देखकर यह निश्चित ही कहा जा सकता है कि टीकाके सम्पादनमें तथा टीका-टिप्पण लिखनेमें पण्डितजीने जिस सूझ-बूझका परिचय दिया है, वह यथार्थमें सम्पादनके क्षेत्रमें मान-दण्ड स्थापित करने वाला है। वर्तमान अनुसन्धित्सुओंको इससे प्रेरणा ग्रहण कर शोध व अनुसन्धान-जगत्में नये क्षितिजोंको प्रकाशित करनेमें इसका भरपूर उपयोग करना चाहिए।

आत्मानुशासन : एक परिशीलन

डॉ॰ दरबारीलाल कोठिया, वाराणसी

"आत्मानुशासन" जैन वाङ्मयका एक ऐसा ग्रन्थ-रत्न है, जिसे समग्रभावसे जीवनमें उतार लेने पर व्यक्ति स्वर्णके समान निर्मल एवं आदर्श बन सकता है। यह 'षट्खण्डागम' को धवला और 'कषायपाहुड' की जयधवला टीकाओंके कर्ता आचार्य वीरसेनके प्रतिभाशाली प्रधान शिष्य आचार्य जिनसेनके प्रज्ञावान विनीत शिष्य भदन्त गुणभद्राचार्यकी श्रेष्ठतम कृति है। धर्म, नीति और अध्यात्म इन तीनोंका इसमें प्रसाद गुण युक्त संस्कृत-भाषामें पद्य शैलीमें प्रतिपादन किया गया है।

इसपर एक संस्कृत-टीका है जो प्रभाचन्द्रकर्तृक है। ये प्रभाचन्द्र कौन हैं ? इस विषयमें विद्वानोंमें मत-भेद है। कुछ तो इन प्रभाचन्द्रको प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके कर्ता तार्किक प्रभाचन्द्र बतलाते हैं और कुछ उनके उत्तरवर्ती १३वीं शतीके अन्तिम चरणमें होनेवाले प्रभाचन्द्रको इस टीकाका कर्ता मानते हैं। इसका विशेष ऊहापोह हमने अन्यत्र किया है।

संस्कृत-टीकाके अतिरिक्त आत्मानुशासन पर तीन हिन्दी टीकाएँ और एक मराठी टीका, ये चार टीकाएँ लिखी गयी हैं। इनमें सबसे प्राचीन पण्डित टोडरमलजी की हिन्दी-टीका है, जो राजस्थानकी ढूँढारी हिन्दीमें है और जो प्रकाशित भी हो चुकी है। दूसरी हिन्दी-टीका पण्डित वंशीधरजी शास्त्री सोलापुर द्वारा रची गयी है। यह हिन्दी-टीका खड़ी बोलीमें है और जैन ग्रन्थरत्नाकर, बम्बईसे प्रकाशित हुई है। तीसरी हिन्दी-टीका पण्डित बालचन्द्रजी शास्त्री कृत है, जो जीवराज ग्रन्थमाला सोलापुरसे ई० १९६१ में प्रकाशित है। मराठी टीका स्व० ब्र० जीवराज गौतमचन्दजी दोशी सोलापुरने लिखी है, जो प्रायः पंडित टोडरमलजीकी हिन्दी-टीका पर आधृत है और जो उक्त जीवराज ग्रन्थमालासे वी० नि० सं० २४३५में प्रकाशित है।

प्रस्तुतमें समीक्ष्य है—पंडित फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री द्वारा सम्पादित एवं श्री गणेश वर्णी दि० जैन संस्थान, वाराणसीसे प्रकाशित पंडित टोडरमलकृत ढूँढारी हिन्दी टीका सहित आत्मानुशासन। इस संस्करणकी अपनी अन्य विशेषता है। विद्वद्वर पंडित फूलचन्द्रजी ने इसके साथ जो प्रस्तावना दी है, वह विशेष लम्बी तो नहीं है, किन्तु उसमें जिन मुद्दों पर विमर्श किया गया है वह न केवल महत्त्वपूर्ण है, अपितु गम्भीरताके साथ ध्यातव्य भी है।

हम यहाँ उन मुद्दोंमेंसे दो-एक मुद्दोंका संकेत करते हैं—

१. आजकल मिथ्यात्व बन्धका कारण है या नहीं, इस विषयकी चर्चा विशेष हो रही है। जो मिथ्यात्वको बन्धका कारण नहीं मानते उनका समाधान पंडितजीने आगमके विपुल प्रमाण देकर सिद्ध किया है कि आगममें मिथ्यात्वको सबसे सबल बन्धका कारण बतलाया गया है। उनका कहना है कि पहला गुणस्थान मिथ्यात्व है। उसमें जिन १६ प्रकृतियोंकी बन्धव्युच्छित्ति होती है उनमें मिथ्यात्व ध्रुवबन्धिनी प्रकृति है। मिथ्यात्वरूप परिणामके साथ उसका बन्ध नियमसे होता ही रहता है। अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना करनेवाला जीव सम्यक्त्व आदिरूप परिणामोंसे च्युत होकर यदि मिथ्यात्व गुणस्थानमें आता है, तो उसके प्रारम्भसे ही अनन्तानुबन्धी चतुष्कका बन्ध होकर भी एक आवलिकाल तक अपकर्षणपूर्वक उसकी उदय-उदीरणा नहीं होती, ऐसा नियम है। अतः ऐसे जीवके एक आवलि काल तक अनन्तानुबन्धी क्रोधादिरूप परिणामके न होने पर भी मिथ्यात्व परिणाम निमित्तक मिथ्यात्व प्रकृतिका बन्ध होता है। साथ ही शेष १५ प्रकृतियोंका भी यथासम्भव बन्ध होता है।

इसी प्रकार मिथ्यात्व बन्धका प्रधान कारण है, इसे पंडितजीने कई तरहसे सिद्ध किया है। इससे पूर्व प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग बन्धोंमें आदिके दो बन्धोंको योग निमित्तक और अन्य दो को कषाय निमित्तक बतलानेके आगमके अभिप्रायको स्पष्ट करते हुए कहा है कि यह ऋजुसूत्र नयकी अपेक्षासे प्रतिपादन है और मिथ्यात्व आदि पांचको बन्ध-कारण बतलानेमें नैगम, संग्रह और व्यवहार नयकी विवक्षा है। दोनों ही कथन नय-विवक्षासे अपनी-अपनी जगह आगमानुसार ही है। इस सम्बन्धमें किया गया विस्तृत विवेचन उनकी विशेषज्ञताको स्पष्ट प्रकट करता है।

२. मुनि-मार्गमें आज जो शैथिल्य दृष्टिगोचर हो रहा है, उसके सम्बन्धमें भी पंडितजी ने बड़े स्पष्ट रूपमें लिखा है कि साधुको आगमचक्षु कहा गया है। अतः उसे सर्वप्रथम आगमका अभ्यासी होना चाहिए। आत्मानुशासनकी गाथा १६९ आदिके द्वारा साधुको आगम-निष्णात होने पर बल देते हुए पंडितजीने बतलाया है कि जो साधु अपने मनरूपी मर्कटको अपने वशमें रखना चाहता है, उसे अपने चित्तको सम्यक् श्रुतके अभ्यासमें नियमसे लगाना चाहिए। 'रयणसार' के आधारसे आपने लिखा है कि जैसे श्रावक धर्ममें दान और पूजा मुख्य है। इनके बिना वह श्रावक नहीं हो सकता। वैसे ही मुनिधर्ममें ध्यान और अध्ययन ये दो कार्य मुख्य हैं। इनके बिना मुनि नहीं। इसी प्रसंगमें पंडितजीने लिखा है कि मोक्षमार्गमें आगम सर्वोपरि है। उसके हार्दको समझे बिना कोई भी संसारी प्राणी मोक्षमार्गके प्रथम सोपानस्वरूप सम्यक्दर्शनको भी प्राप्त नहीं कर सकता।

• आत्मानुशासनके प्रारम्भमें सम्यक्दर्शनके जिन दस भेदोंका कथन किया गया है, उनमेंसे अवगाढ़ सम्यग्दर्शन तो सकल श्रुतके धारी श्रुतकेवलीके ही होता है। इसमे ही साधुकी श्रुताधारता स्पष्ट हो जाती है। परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन केवलीके ही होता है। पर उनका यह केवलज्ञान श्रुतसे ही होता है और श्रुतका जनक होता है। यही कारण है कि समन्तभद्र स्वामीने भी गुरुको 'ज्ञान-ध्यान तपोरक्तः' बताते हुए उसे 'ज्ञान-रत' प्रथमतः कहा है।

इसी सन्दर्भमें मुनि-मार्गमें आये शैथिल्यके समर्थक उल्लेखोंको भी प्रस्तुत करके आचार्य अकलंक और आचार्य विद्यानन्दके विवेचनों द्वारा उनकी कड़ी समीक्षा की है जो उचित है।

इस संस्करणकी एक विशेषता यह है कि आचार्यकल्प प० टोडरमलजी द्वारा ढूढारी भाषामें लिखी गयी टीकाको ही इसमें दिया गया है। उसे खड़ी बोलीमें परिवर्तित नहीं किया गया है। इसका मुख्य कारण उस भाषा-बोलीको सुरक्षित रखना है, क्योंकि ढूढारी भाषा भी हिन्दी भाषाका एक उपभेद है। और विविध प्रदेशोंमें बोली जानेवाली इन हिन्दी भाषाओं (हिन्दी भाषाके उपभेदों) की सुरक्षा तभी सम्भव है, जब उनमें लिखे साहित्यको हम ज्यों-का-त्यों प्रकाशित करें। इस दिशामें पण्डितजी तथा श्री गणेश वर्णी दि० जैन संस्थान वाराणसीका यह प्रयत्न निश्चय ही श्लाघ्य है।

●

सम्यग्ज्ञान दीपिका : शास्त्रीय चिन्तन

डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री

पण्डितजीने जहाँ जयधवल, महाधवल, महाबन्ध, लब्धिसार, सर्वार्थसिद्धि आदि महान् ग्रन्थोंका सम्पादन तथा हिन्दी अनुवाद किया, वहीं आचार्य अमृतचन्द्र सूरि कृत "समयसारकलश" तथा देवसेनसूरि विरचित "आलापपद्धति" का भी सम्पादन एवं संशोधन किया। संशोधकके रूपमें पण्डितजीका स्थान विशिष्ट है। इसके अतिरिक्त बीसवीं शतीमें होनेवाले क्षुल्लक धर्मदासजी रचित "सम्यग्ज्ञानदीपिका" का आजकी भाषामें सरल अनुवाद भी आपने किया। यह देखकर और जानकर किंचित् आश्चर्य अवश्य हुआ। क्योंकि पण्डितजीकी पैनी दृष्टि हर किसी रचनापर ठहर कर उसे अपने अध्ययन-लेखनका विषय नहीं बनाती। किसी महत्त्वपूर्ण रचना पर ही उनकी लेखनी चलती है।

वास्तवमें ऊपरसे अति सामान्य दिखनेवाली "सम्यग्ज्ञान-दीपिका" अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है। इसे एक बार ध्यानसे पूरा पढ़े बिना कोई इस बातको स्वीकार नहीं कर सकता। यदि यह सर्वांशमें सच है कि आचार्य कुन्दकुन्द कृत "समयसार" को सम्यक् रूपसे हृदयंगम किए बिना कोई अपनी दृष्टिको निर्मल नहीं बना सकता, तो यह भी सच है कि "सम्यग्ज्ञानदीपिका" को पूर्णतः स्वीकार किए बिना हमारा ज्ञान निर्मल नहीं हो सकता। पहले कभी विद्वानोंका ध्यान इस रचना की ओर नहीं गया, इसलिए यह उपेक्षित रहा। क्षुल्लक ब्र० धर्मदासने वि० सं० १९४६ में माघ की पूर्णिमाके दिन इसे रचकर प्रकाशित किया था। इसका दूसरा संस्करण अमरावतीसे वि० सं० १९९० में प्रकाशित हुआ था। तदनन्तर श्री दि० जैन मुमुक्षु मण्डल, भावनगर (सौराष्ट्र) से वि० सं० २०२६ में प्रकाशित हुआ। यह रचना मूलमें पुरानी हिन्दीमें कही गई है, जिसका हिन्दी रूपान्तरण पं० फूलचन्द्रजीने किया है। इसके पूर्व गुजरातीमें अनूदित दो आवृत्तियां सोनगढ़से प्रकाशित हो चुकी थी।

रचनाके सम्बन्धमें जिज्ञासावश सहज ही कई प्रश्न उठते हैं। प्रथम जिनकी रचनाकी इतनी प्रशंसा की जा रही है, वे कौन थे? उन्होंने स्वयं प्रथम भूमिकामें अपने सम्बन्धमें इस प्रकार लिखा है—"मेरे शरीरका नाम क्षुल्लक ब्रह्मचारी धर्मदास है। "'झालरापाटनमें सिद्धसेन मुनि मेरे दीक्षा-शिक्षा, व्रत-नियम और व्यवहार वेशके दाता गुरु है तथा वराड देशमें मुकाम कारजा पट्टाधीश श्रीमत्देवेन्द्रकीर्तिजी भट्टारकके उपदेश द्वारा मुझे स्व-स्वरूप स्वानुभवगम्य सम्यग्ज्ञानमयी स्वभाव वस्तु की प्राप्त की प्राप्ति देनेवाले श्रीसद्गुरु देवेन्द्रकीर्तिजी है, इसलिए मैं मुक्त हूँ, बन्ध-मोक्षसे सर्वथा प्रकार वर्जित सम्यग्ज्ञानमयी स्वभाववस्तु हूँ। "वही स्वभाववस्तु शब्द-वचन द्वारा श्रीमत्देवेन्द्रकीर्ति तत्पट्टे रतनकीर्तिजीको मैं भेट स्वरूप अर्पण कर चुका हूँ। तथा खानदेश मुकाम पारोलामें सेठ नानाशाह तत्पुत्र पीताम्बरदासजी आदि बहुतसे स्त्री-पुरुषोंको तथा आरा, पटना, छपरा, बाढ़, फलटन, झालरापाटन, बुरहानपुर आदि बहुतसे शहर ग्रामोंमें बहुतसे स्त्री-पुरुषोंको स्वभाव-सम्यग्ज्ञानका उपदेश दे चुका हूँ। पूर्वमें लिखा हुआ सब व्यवहारगर्भित समझना। तथा सर्व जीव-राशि जिस स्वभावमें तन्मयी है, उसी स्वभावकी स्वभावना सर्व ही जीव-राशिको होओ—ऐसे मेरे अन्तःकरण में इच्छा हुई है। उस इच्छाके समाधानके लिए यह पुस्तक बनाई है और इसकी पाँच सौ पुस्तक छपाई है।

केवल इतना ही उनका परिचय नहीं है, वास्तविक तो यह है—"उस वस्तुका लाभ वा प्राप्तकी प्राप्ति होने योग्य थी, वह हमको हुई। यथा—

होनी थी सो हो गई, अब होने की नाँहि।
धर्मदास क्षुल्लक कहे, इसी जगतके मांहि॥

क्षुल्लकजी प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी आदि भाषाओंके तथा सभी अनुयोगोंके अच्छे ज्ञाता थे। संस्कृत और हिन्दी पद्य-रचना पर उनका समान अधिकार था। रस, अलंकार, छन्दशास्त्र, न्यायशास्त्र आदिके ज्ञाता विद्वान् लेखक थे।

इस ग्रन्थमें मुख्य रूपसे आत्माके शुद्ध स्वभावका वर्णन किया गया है। क्योंकि वही आत्मज्ञान कराने के लिए प्रकट रूपसे दीपकके समान है। आत्मज्ञानके मायने सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञानको भेद-विज्ञान भी कहा जाता है। भेद-विज्ञान होनेपर आत्मा स्वयं स्वरूपसे उद्भासित हो जाता है। स्व-प्रकाशक होनेसे पर-प्रकाशकत्व सार्थक हो जाता है। अपनी प्रस्तावनामें ग्रन्थकारने कई महत्वपूर्ण बातें कही हैं जिससे सहज ही अनुमान हो जाता है कि यह अपूर्व शास्त्र है। उनके ही शब्दोंमें—"इस ग्रन्थमें केवल स्व-स्वभाव, सम्यग्ज्ञानानुभव सूचक शब्द-वर्णन है। कोई दृष्टान्तमें तर्क करेगा कि—"सूर्यमें प्रकाश कहाँसे आया ?" उसे स्व-सम्यग्ज्ञानानुभव जो इस ग्रन्थका सार है, उसका लाभ नही होगा।"

इससे स्पष्ट है कि यह एक आध्यात्मिक शास्त्र है। अध्यात्मकी भाषा लौकिक भाषासे कुछ विलक्षण होती है। जहाँ भाषा सामान्य होती है, वहाँ अर्थ विशिष्ट होता है। कहीं-न-कहीं शब्द या अर्थमें सांकेतिक विशिष्टता झलकती है। जैसा कि आचार्य कुन्दकुन्ददेवने "अष्टपाहुड" में वर्णन किया है, ठीक वैसा ही यहाँ लिखते हुए कहते है—"जिस अवस्थामें स्व-सम्यग्ज्ञान सोता है, उस अवस्थामें तन-मन-धन वचनादिसे तन्मयी यह जगत्-संसार जागता है तथा जिस अवस्थामें यह जगत्-संसार सोता है, उस अवस्थामें स्व-सम्यग्ज्ञान जागता है—यह विरोध तो अनादि, अचल है और वह तो हमसे, तुमसे, इससे या उससे मिटनेका नही है, मिटेगा नहीं और मिटा नही था।"

क्षुल्लकजीने यह पुस्तक केवल जैनोंके लिए ही नहीं, सभी पढ़ने योग्य मनुष्योंके लिए लिखी थी। यद्यपि पूरी पुस्तक गद्यमें है, किन्तु स्थान-स्थानपर दोहे-चौपाईमें भी भावोंको समेट कर प्रकट किया है। कहीं लोगोंको यह भ्रम न हो कि यह पुस्तक तो केवल जैनोंके लिए है। अतः स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं—"यह पुस्तक जैन, विष्णु आदि सभीको पढने योग्य है, किसी विष्णुको यह पुस्तक पढ़नेसे भ्रान्ति हो कि यह पुस्तक जैनोक्त है—उससे कहता हूँ कि इस पुस्तककी भूमिकाके प्रथम प्रारम्भमें ही जो मन्त्र नमस्कार है, उसे पढ़कर भ्रान्तिसे भिन्न होना। स्वभावसूचक जैन, विष्णु आदि आचार्योंके रचे हुए संस्कृत काव्यबद्ध, गाथाबद्ध ग्रन्थ अनेक हैं, परन्तु यह भी एक छोटी-सी अपूर्व वस्तु है। जिस प्रकार गुड़ खानेसे मिष्टताका अनुभव होता है, उसी प्रकार इस पुस्तकको आदिसे अन्त तक पढनेसे पूर्णानुभव होगा। बिना देखे, बिना समझे वस्तुको कुछके बदले कुछ समझता है। वह मूर्ख है। जिसे परमात्माका नाम प्रिय है, उसे यह ग्रन्थ अवश्य प्रिय होगा।"

इस ग्रन्थकी प्रमुख विशेषता है—दृष्टान्तोंका प्रमुखतासे प्रयोग। स्थान-स्थानपर प्रत्येक बातको दृष्टान्त के द्वारा समझाया गया है। लिखनेकी शैली ही दृष्टान्तमूलक है। उदाहरणके लिए, जैसे हरे रंगकी मेंहदीमें लाल रंग है परन्तु वह दिखाई देता नहीं, पत्थरमें अग्नि है परन्तु वह दिखाई देती नहीं, दूधमें घी है परन्तु वह दिखाई देता नही तथा फूलमें सुगन्ध है परन्तु वह (आँखोंमें) दिखाई देती नहीं, वैसे ही जगतमें स्व-सम्यग्ज्ञानमयी जगदीश्वर है परन्तु चर्मनेत्र द्वारा वह दिखाई देता नही। पर किसीको सद्गुरुके वचनोपदेश द्वारा तथा काललब्धिके पाक द्वारा स्वभाव-सम्यग्ज्ञानसे तन्मय (जगदीश्वर) स्वभाव-सम्यग्ज्ञानानुभवमें दिखाई देता है।"

इस प्रकार एक ही बातको समझानेके लिए विविध दृष्टान्तोंका एक साथ दृष्टान्त-मालाके रूपमें प्रयोग किया गया है। एक उदाहरण है—

"पूर्वकर्मवश वह अन्य वृत्तिमें लग जाय, तब वह स्व-सम्यग्ज्ञानानुभवको भूल भी जाता है, परन्तु जब याद करे तब साक्षात् स्वानुभवमें आता है। इसी विषयमें तीन दृष्टान्त हैं—(१) जैसे एक बार चन्द्रको देख लेनेके बाद चन्द्रका अनुभव जाता नहीं, (२) एक बार गुडको खानेके बाद गुड़का अनुभव जाता नहीं, (३) तथा एक बार भोग भोगनेके बाद भोगका अनुभव जाता नहीं।"

स्व-सम्यग्ज्ञानको समझानेके लिए दर्पणका, पेटी तिजोरीमें रखकर भूले हुए रत्नका दृष्टान्त देकर फिर ये तीन दृष्टान्त दिये गए हैं। प्रत्येक बातको लेखक दृष्टान्तसे प्रारम्भ करता है। जैसे कि—

"जैसे बाजीगर अनेक प्रकारका तमाशा, चेष्टा करता है, परन्तु स्वयं अपने दिलमें जानता है कि मैं जो ये तमाशे, चेष्टाएँ करता हूँ, वैसा मैं मूल स्वभावसे ही नहीं हूँ। "जैसे खड़िया मिट्टी आप स्वयं ही श्वेत है और परको, भीत आदिको श्वेत करती है, परन्तु स्वयं भीत आदिसे तन्मय होती नहीं। वैसे ही सम्यग्ज्ञान है वह सर्व संसार आदिको चेतनवत् करके रखता है, परन्तु स्वयं संसार आदिसे तन्मय होता नहीं।"

विद्वान् लेखकने एक बात ही कई प्रकारके दृष्टान्तोंसे विविध स्थानोंपर समझाया है। पद-पदपर वे अपने सम्यग्ज्ञानके अनुभवको ही सुनाते हैं। लगता है कि कोई अनुभवी निश्छलताके साथ सहज स्नेहवश सी -सरल शब्दोंमें अपनी बात सुना रहा है। उनके ही शब्दोंमें—

'स्व-सम्यग्ज्ञानानुभव सुनो। जैसे कोई पुरुष पानीसे भरे हुए घटमें सूर्यके प्रतिबिम्बको देखकर सन्तुष्ट था, उससे यथार्थ सूर्यके जाननेवाले पुरुषने कहा कि तू ऊपर आकाशमें सूर्य है उसे देख, तब वह पुरुष घटमें सूर्यको देखना छोड़कर ऊपर आकाशमें देखने लगा। तब यथार्थ सूर्यको देखकर उसने अपने अन्तःकरणमें विचार किया कि जैसा सूर्य ऊपर आकाशमें दिखाई देता है, वैसा ही घटमें दिखाई देता है। जैसा यहाँ, वैसा वहाँ तथा जैसा वहाँ, वैसा यहाँ, अथवा न यहाँ, न वहाँ अर्थात् जैसा है, वैसा जहाँका तहाँ, वैसा ही स्व-सम्यग्ज्ञानमयी सूर्य है, वह तो जैसा है वैसा, जहाँका तहाँ स्वानुभव गम्य है। वह जो है, उसे नय, न्याय और शब्दसे तन्मय हो रहे पण्डित उस स्वानुभवगम्य सम्यग्ज्ञानमयी परब्रह्म परमात्माकी अनेक प्रकारसे कल्पना करते है, वह वृथा है।'

कहीं-कहीं बहुत ही कम शब्दोंमें हृदयको छूती हुई भाषामें भाव प्रकट किए गये हैं। छोटे-छोटे वाक्यों-से रस टपकता हुआ जान पड़ता है। जैसे कि—

'जैसा बीज वैसा उसका फल।

जैसे जो नेत्रसे देखता है परन्तु नेत्रको नहीं देखता है, वह स्यात् अन्धेके समान है : वैसे ही जो ज्ञानसे जानता है परन्तु ज्ञानको नहीं जानता है, वह स्यात् अज्ञानके समान है।' इसी प्रकार—

'जैसे सूर्यके प्रकाशमें अन्धकार कहाँ है और सूर्यको निकाल लिया जाये तो प्रतिबिम्ब कहाँ है ? आत्मज्ञानी जीवके लिये जगत्-संसार मृगजलके समान है, परन्तु सूर्य न हो तो मृगजल कहाँ है ? वैसे ही गुरुके उपदेश द्वारा आपमें आपमयी आपको आपमें ही खेंच लेनेके बाद आकार कहाँ है ? वैसे ही यह जगत्-संसार है सो भ्रम है, भ्रम उड़ गया तो जगत्-संसार कहाँ है ?'

कहीं-कहीं दृष्टान्त भी तर्कपूर्ण तथा सरल शब्दोंमें सहज भावसे अभिव्यक्त हुए हैं। जैसे कि—'जैसे आकाशको धूलि-मेघादिक नहीं लगते, वैसे ही स्व-सम्यग्ज्ञानको पाप-पुण्य तथा पाप-पुण्यका फल नहीं लगता।' इसी प्रकार—

'जैसे घटके भीतर, बाहर और मध्यमें आकाश है, वह घटको कैसे त्यागे और ग्रहण भी कैसे करे ? वैसे ही इस जगत्-संसारके भीतर, बाहर और मध्यमें स्व-सम्यग्ज्ञान है, वह क्या त्यागे और क्या ग्रहण करे ?' तथा—

'जैसे समुद्रके ऊपर कल्लोल उपजती है, विनशती है, वैसे ही स्व-सम्यग्ज्ञानमयी समुद्रमें वह स्वप्न-समयका जगत् उपजता है और जाग्रत समयका जगत् विनशता है, जाग्रत समयका जगत् उपजता है और स्वप्न-समयका जगत् विनशता है।'

इस प्रकारके दृष्टान्तोंसे सम्पूर्ण ग्रन्थ व्याप्त है। एकके बाद एक दृष्टान्तोंका ऐसा संग्रह किया है और कहनेकी शैली भी ऐसी है कि पाठक पढ़ते ही विस्मित हो जाता है। ग्रन्थके अन्तमें अकिंचन भावना है और सबसे अन्तमें है—भेद-विज्ञान। भेद-विज्ञानमें पुन: आत्माकी चर्चा की गई है, आत्मज्ञान या सम्यग्ज्ञानको ही आदिसे अन्त तक एक ही शैलीमें निरूपित किया गया है।

ग्रन्थके अनुवादकी यह विशेषता है कि हमें यह पता नहीं चलता है कि यह भाषा पण्डित फूलचन्द्रजी-की है या क्षु० ब्र० धर्मदासजी की है। पण्डितजीने यथास्थान अधिक-से-अधिक ग्रन्थ-लेखकके शब्दोंको ही दुहराया है। शैली भी रूपान्तरणके पश्चात् लेखककी ज्यों-की-त्यों बनी रही है। यह अनुवादकी बहुत बड़ी विशेषता है। भाषा सरल होनेपर भी संस्कृतनिष्ठ है। लेकिन अनुवाद से पण्डितजीके संस्कृतनिष्ठ होनेका आभास नहीं मिलता, वरन् मूल लेखकके संस्कृतनिष्ठ होनेका प्रतिभास होता है। लेखकने यद्यपि ग्रन्थ गद्यमें लिखा है, किन्तु उसकी कवित्व शक्तिका परिचय भी मिल जाता है। संस्कृतमें भी काव्य रचनाका उनका अच्छा ज्ञान था। इसका प्रमाण उनका लिखा हुआ निम्नलिखित श्लोक है—

श्रीसिद्धसेनमुनि-पाद-पयोज-भक्त्या,
देवेन्द्रकीर्ति गुरुवाक्य-सुधारसेन ।
जाता मतिर्विबुधमण्डनेच्छो:
श्रीधर्मदासमहतो महतो विशुद्धा ॥

विद्वान् लेखकने सभी शास्त्रीय विषयोंको महान् आध्यात्मिक ग्रन्थोंका आधार लेकर ही लिखा है। उदाहरणके लिए, "भेदज्ञान-विवरण" का प्रकरण "समयसार" के संवर अधिकारकी प्रथम दो गाथाओंकी आत्मख्याति टीकापर आधारित है। लेखकने कई स्थानोंपर "समयसार-कलश" के श्लोक उद्धृत किए हैं। एक स्थानपर शास्त्रका प्रमाण शब्दोंमें न देकर भावरूपमें ऐसा लिखते है—'शास्त्रमें लिखते हैं कि मुनि बाईस परीषह सहन करता है, तेरह प्रकारका चारित्र पालता है, दशलक्षण धर्म पालता है, बारह भावनाओंका चिन्तवन करता है और बारह प्रकारके तप तपता है इत्यादि मुनि करता है। अब यहाँ ऐसा विचार आता है कि मुनि तो एक और परीषह बाईस, चारित्र तेरह प्रकारका, दशलक्षण धर्म व एक धर्मके दशलक्षण, बारह तप और बारह भावना इत्यादिक बहुत ? मुनि कुछ और है तथा बाईस परीषह कुछ और है, बाईस परीषह-का तथा मुनिका अग्नि-उष्णताके समान व सूर्य-प्रकाशके समान मेल नहीं है। आकाशमें सूर्य है। उसका प्रतिबिम्ब घी-तेलसे तप्त कढ़ाई में पड़ता है। तो भी उस सूर्यके प्रतिबिम्बका नाश होता नहीं।

काँचके महलमें कुत्ता अपना ही प्रतिबिम्ब देखकर भों-भों करके मरता है। स्फटिककी भीतमें हाथी अपनी ही प्रतिच्छाया देखकर स्वयं ही भीतसे भिड़-भिड़ाकर अपना दाँत स्वयं तोड़कर दुःखी हुआ।

इस प्रकार एकके पश्चात् एक कई दृष्टान्त एक साथ एक ही बातको स्पष्ट करनेके लिए दिये गये हैं। इतना ही नहीं इसपर भी यदि किसीको समझमें न आये, तो सम्बन्धित चित्र भी दिए गए हैं। पूरी पुस्तकमें कुल २२ चित्र दिए गए हैं। चित्रके नीचे उस विषयका शीर्षक भी दिया गया है। उदाहरणके लिए, पृ० ६३ पर "षट् मतवाले" शीर्षक एक चित्र है। उसके नीचे लेखककी अपनी भाषामें निम्नांकित तीन पंक्तियाँ हैं—"स्वस्वरूपस्वानुभवगम्य सम्यक्ज्ञानमयि स्वभाववस्तुकी यथार्थ स्वरूपानुभव समज करिकै षट् जन्मांधवत ये हैं जैन, शिव, विष्णु, बौद्धादिक षट् मतवाले परस्पर विवाद विरोध करते हैं।" इसी प्रकार पृ० १२९ पर दो चित्र

मुद्रित हैं जो इस प्रकार हैं—"सिंघ आपकी छाया कूपमें देख करिकै आपही अपणास्वरूप भूलि करिकै आपही कूपमें पड़के दुष अनुभव भोग मरता है।"

इसका हिन्दी अनुवाद है—सिंह अपनी छाया कुएँमें देखकर तथा स्वयं अपना स्वरूप भूलकर कुएँमें गिरता है और दुःखी होकर मरता है।

दूसरे चित्रके नीचे लिखा है—"बानर कूंम मै मूठी बाँधि सो छोडता नाहीं जाणता है कै कोई मोकूं पकड लिया।"

इसका अनुवाद है—बन्दरने घड़ेमें मुट्ठी बाँधी है, उसे छोड़ता नहीं और मानता है कि मुझे किसीने पकड़ लिया।

ग्रन्थमें नयके द्वारा आत्मवस्तुका जो वर्णन किया गया है, वह "प्रवचनसार" की तत्त्वप्रदीपिका टीकाके अनुसार है। पं० बनारसीदासकृत "समयसार नाटक" के अनेक उद्धरण दोहा-कवित्त रूपमें ज्यों-के-त्यों उद्धृत लक्षित होते हैं। इनके अतिरिक्त आचार्यकल्प पं० टोडरमल कृत "मोक्षमार्गप्रकाशक" एवं "त्रिलोकसार", "द्रव्यसंग्रह", सर्वार्थसिद्धि तथा समयसार आदि ग्रन्थोंके आधारपर इस ग्रन्थकी रचना परिलक्षित होती है। अतः केवल दृष्टान्तोंका ऊहापोह या आलोचना न कर हम विषयकी गम्भीरताका विचार-कर समझनेका प्रयत्न करें, तो निःसन्देह 'सम्यग्ज्ञान" पर प्रकाश डालनेवाला यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ सिद्ध होता है। सम्यग्ज्ञानकी महिमा, उसका स्वरूप और प्राप्तिका वर्णन बहुत ही सरल और सुन्दर शब्दोंमें किया गया है। अतः स्वाध्यायियोंको अवश्य पढ़ना चाहिए।



सप्ततिकाप्रकरण : एक अध्ययन

डॉ० देवेन्द्र कुमार शास्त्री, नीमच

श्रद्धेय पण्डित फूलचन्द्रजीका साहित्यिक क्षेत्र केवल दिगम्बर साहित्य तक ही सीमित नहीं है, वरन् श्वेताम्बरीय साहित्यका भी उनका अध्ययन गहन, मनन पूर्ण तथा तुलनात्मक है। सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० सुख-लाल संघवीकी प्रेरणासे उन्होंने छठे कर्मग्रन्थका सम्पादन तथा हिन्दी अनुवाद अत्यन्त सफलताके साथ सम्पन्न किया। प्रकाशक बा० दयालचन्द जौहरीने पण्डितजीके सम्बन्धमें अपना अभिप्राय निम्नलिखित शब्दोंमें व्यक्त किया है—

"पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री अपने विषयके गम्भीर अभ्यासी है। उन्होंने दिगम्बरीय कर्मशास्त्रोंका तो आकलन किया ही है, परन्तु इसके साथ ही श्वेताम्बरीय कर्मशास्त्रके भी पूर्ण अभ्यासी हैं। अपने इस अनुवादमें उन्होंने अपने चिरकालीन अभ्यासका पूर्ण उपयोग किया है और प्रत्येक दृष्टिसे ग्रन्थको सर्वाङ्ग सम्पूर्ण बनानेका पूर्ण प्रयत्न किया है।"

इस टीकाकी सबसे बड़ी विशेषता है—विशेषार्थ। यद्यपि विशेषार्थ अर्थ लिखते समय पण्डितजीने श्वेताम्बर आगम-साहित्यके सुप्रसिद्ध टीकाकार मलयगिरिकी टीकाको सम्मुख रखकर लिखा है, फिर भी, इसकी अपनी विशेषता है। कहीं-कहीं पर पं० जयसोम रचित गुजराती टब्बाका भी उपयोग किया गया है। इतनेपर भी जहाँ-कहीं विषय स्पष्ट नहीं हुआ है, वहाँ कोष्ठकोंका प्रयोग किया गया है। क्योंकि कर्मशास्त्रका विषय ऐसा जटिल है कि सरलतासे सबको समझमें नहीं आता। अतः सर्वत्र सरल शब्दोंमें स्पष्ट करनेका पूर्ण प्रयत्न किया गया है।

इस टीकाकी दूसरी विशेषता है—टिप्पणियोंका प्रयोग। टिप्पणियाँ दो प्रकारकी हैं— प्रथम वे टिप्पणियाँ हैं जिनमें सन्दर्भित विषयका गाथाओंके साथ साम्य सूचित होता है। दूसरे प्रकारकी टिप्पणियाँ वे हैं जिनमें श्वेताम्बर-दिगम्बर विषयक मत-भेदकी चर्चा की गई है। ये सभी टिप्पणियाँ अत्यन्त उपयोगी हैं। शोध तथा अनुसन्धान करने वाले इस विषयके शोधार्थियोंके लिए इस प्रकारकी सामग्री विशेष रूपसे महत्त्वपूर्ण हैं। सभी टिप्पणियाँ हिन्दीमें हैं और सम्बद्ध विषयकी पुष्टिमें आगमके प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं।

ऐसे आलोचनात्मक तथा गम्भीर विषयका सांगोपांग विवेचन थोड़े-से शब्दोंमें प्रस्तुत करना साधारण लेखकका कार्य नहीं हो सकता। इतना ही नहीं, मतभेदसे सम्बन्धित विषयों पर सन्तुलित भाषामें निष्पक्ष रूपसे यत्र तत्र संकेत या निर्देश करना प्रकाण्ड विद्वान्का ही कार्य हो सकता है। वास्तवमें बिना भेद-भावके अनेक दिगम्बर विद्वानोंने श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनों तरहके साहित्यकी भरपूर सेवा की है। पं० कैलाशचन्द्रजीने सन् १९४० के लगभग पंचम कर्मग्रन्थका हिन्दी अनुवाद किया था और उक्त षष्ठ कर्मग्रन्थका अनुवाद पं० फूलचन्द्रजीने सन् १९४२ में पूर्ण किया। उन दिनों प्रकाशन की व्यवस्था न होनेसे सन् १९४८ से पूर्व प्रकाशित नहीं हो सका। इसका प्रकाशन श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल, रोशन मुहल्ला, आगरासे किया गया।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि विश्व-साहित्यमें 'कर्मके' सम्बन्धमें जैसा स्वतन्त्र एवं सांगोपांग विशद विवेचन जिनागममें उपलब्ध होता है, वैसा अन्यत्र नहीं है। जैनदर्शन कर्मको स्वतन्त्र रूपसे स्वीकार करता है। यद्यपि भारतीय दर्शन कर्मके अस्तित्वको स्वीकार करते हैं, किन्तु उससे सम्बन्धित विस्तृत तथा स्वतन्त्र वर्णन उनमें नहीं पाया जाता। यह सुनिश्चित है कि तीर्थंकर महावीरकी दिव्यध्वनिसे प्रसूत उपदेशोंका संकलन करते समय कर्म विषयक साहित्यकी भी स्वतन्त्र संकलना की गई थी। उनके सम्पूर्ण उपदेश द्वादशांगमें निबद्ध हुए थे। अन्तिम बारहवां अंग बहुत विशाल था। उसके पाँच भेद थे—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। इनमेंसे पूर्वगतके चौदह भेद थे। इन भेदोंमेंसे आठवेंका नाम कर्मप्रवाद था। कर्म विषयक सम्पूर्ण साहित्य इसीके अन्तर्गत संकलित किया गया था। किन्तु कालके सुदीर्घ अन्तरालमें धारणा-शक्तिके ह्रास होनेके साथ ही शनैः-शनैः कर्म-प्रवादका पूर्ण लोप हो गया। वाचनाकी क्रमिक परम्पराके आधार पर केवल अग्रायणीय-पूर्व और ज्ञानप्रवादपूर्वका ही कुछ अंश अवशिष्ट रहा। वर्तमानमें उपलब्ध मूल कर्म-साहित्यको संकलनाका आधार अग्रायणीय और ज्ञानप्रवाद कहा जा सकता है। किन्तु ऐसा निर्णय करते समय बहुत छान-बीनकी आवश्यकता है। पं० फूलचन्द्रजीके शब्दोंमें अग्रायणीय पूर्वकी पाँचवी वस्तुके चौथे प्राभृतके आधारसे षट्खण्डागम, कर्मप्रकृति, शतक और सप्ततिका इन ग्रन्थोंका संकलन हुआ था। और ज्ञानप्रवाद पूर्वकी दसवी वस्तुके तीसरे प्राभृतके आधार से कषायप्राभृत का संकलन हुआ था। इनमेंसे कर्मप्रकृति, यह ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परामें माना जाता है। कषायप्राभृत और षट्खण्डागम ये दो दिगम्बर परम्परामें माने जाते हैं तथा कुछ पाठ-भेदके साथ शतक और सप्ततिका ये दो ग्रन्थ दोनों परम्पराओंमें माने जाते हैं। वास्तव में समय ज्यों-ज्यों बीतता

जाता है त्यों-त्यों मान्यता विषयक भेद-परम्पराकी खाई चौड़ी होती जाती है और हम भेद प्रदर्शित करने वाले मान्य ग्रन्थोंको भी छोड़ते जाते हैं। क्योंकि आजकी पीढ़ीको इतना अवकाश कहाँ है जो यह निर्णय कर सके कि समीचीन क्या-कौन है ? अतः ऐसी रचनाओंको दिनोंदिन भूलते जाते हैं या भुलाते जा रहे हैं। क्यों न भूलें ? इस उलझनमें कौन पडना चाहता है ? बौद्धिक विवाद या मतभेदोंका सिरनामा पुराने पण्डितोंके माथे ही था। भले ही पण्डितजी इसके अपवाद रहे हों ? वास्तविकताको कौन जानता हुआ सामने नहीं रखना चाहेगा। कलमके धनी और आगम तथा सिद्धान्तके रहस्यको हृदयंगम करने वाले पण्डितजीने इन सभी तथ्योंका पूर्ण विवरण प्रस्तुत करनेमें किसी प्रकारकी न्यूनता प्रदर्शित नहीं होने दी। इस दृष्टिसे उनकी प्रस्तावना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

लगभग साठ पृष्ठोंकी प्रस्तावनामें पण्डितजीने जहाँ कर्म-साहित्यकी क्रम-परम्पराका निर्देश किया है, वहीं "सप्ततिका" संज्ञक अन्य रचनाओंका भी विचार किया गया है। केवल यही नहीं, सप्ततिकाओंमें संकलित विषयका आपने सूक्ष्मता तथा गम्भीरताके साथ विवेचन किया है। उदाहरणके लिए, सप्ततिका-का नाम ७० गाथाओंके आधार पर होने पर भी विभिन्न स्थानोंसे प्रकाशित गाथाओंकी संख्याकी भिन्नता, अन्तर्भाष्य गाथाओंके सम्मिलित हो जानेसे चूर्णियोंमें गाथाओंकी संख्यासे टीकाओंकी गाथा-संख्याकी भिन्नता परिलक्षित होना, इस सप्ततिकामें उपशमना और क्षपणाकी कुछ मुख्य प्रकृतियोंका ही निर्देश होना, किन्तु दिगम्बर-परम्पराकी सप्ततिकामें सम्बन्धित सभी प्रकृतियोंकी संख्याका निर्देश, प्राकृत पंचसंग्रहकी प्राचीनता, दिगम्बर परम्पराके पंचसंग्रहका संकलन सम्भवतः धवलाके पूर्व ही हो गया था ये कुछ उल्लेख ऐसे तथ्य हैं जिनके आधार पर गोम्मटसार (जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड) की प्रामाणिकता तथा विषयके सांगोपांग का विवरण दिगम्बर-परम्परा मे ही उपलब्ध होता है।

कर्म-मीमांसाके अन्तर्गत पण्डितजीने बन्ध होनेके लिए जीव और पुद्गलकी योग्यताको ही मूल रूपमें माना है। जीवमें मिथ्यात्वादि रूप योग्यता संश्लेषपूर्वक ही होती है, इसलिये उसे अनादि माना गया है। किन्तु पुद्गलमें स्निग्ध या रूक्ष गुण रूप योग्यता संश्लेषके बिना भी पाई जाती है, इसलिये वह अनादि और सादि दोनों प्रकारकी मानी गई है। संसार और कर्मका अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध है। जब तक यह सम्बन्ध है, तब तक जीवके राग-द्वेष रूप परिणाम होते रहते हैं। परिणामोंसे कर्म बंधते हैं। कर्मसे गतियोंमें जन्म लेना पडता है. भव-भ्रमण होता है। संसारी जीवके प्रत्येक समयमें जो परिस्पन्दात्मक क्रिया होती है, वह कर्म कही जाती है। परिस्पन्दात्मक क्रिया सब पदार्थों में नहीं होती। यह क्रिया पुद्गल और संसारी जीवके ही पाई जाती है। जीव की विविध अवस्थाओंके होनेका मुख्य कारण कर्म है। अपने-अपने कर्मके अनुरूप भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ होती हैं।

उक्त कर्म-मीमांसाके प्रसंगमें पण्डितजीने एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा उठाया है कि कर्मकी कार्य-मर्यादा क्या है ? किन्तु अधिकतर विद्वानोंका यह विचार है कि बाह्य सामग्रीकी प्राप्ति भी कर्मसे होती है। इस सम्बन्धमें पण्डितजीने "मोक्षमार्गप्रकाश" तत्त्वार्थराजवार्तिक, पुराणादिका उल्लेख किया है और बताया है कि कर्मके दो भेद हैं—जीवविपाकी और पुद्गलविपाकी। जीवको विभिन्न अवस्थाओं तथा परिणामोंके होने-में जो निमित्त होते हैं वे जीवविपाकी कर्म हैं। जिससे विविध प्रकारके शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास-की प्राप्ति होती है वे पुद्गलविपाकी कर्म हैं। इन दोनोंमें से एक भी बाह्य सामग्रीकी प्राप्त करानेका कार्य नहीं करता है। अतः किसके परिणामसे बाह्य सामग्रीकी प्राप्ति होना मानी जाये ? इसका समाधान करते हुए स्वयं पण्डितजी निष्कर्ष रूप में कहते हैं श्वेताम्बर कर्म-ग्रन्थोंमें भी इन कर्मोंका यही अर्थ किया

गया है। ऐसी हालतमें इन कर्मोंको अनुकूल व प्रतिकूल बाह्य सामग्रीके संयोग-वियोगमें निमित्त मानना उचित नहीं है। वास्तवमें बाह्य सामग्रीकी प्राप्ति अपने-अपने कारणोंसे होती है। इसकी प्राप्तिका कारण कोई कर्म नहीं है।

पण्डितजीने आचार्य वीरसेन स्वामी और आचार्य पूज्यपाद स्वामी दोनोंके मतोंका उल्लेख करते हुए स्पष्ट रूपमें बताया (आज से ४२ वर्ष पूर्व) कि तत्त्वतः बाह्य सामग्रीकी प्राप्ति न तो साता-असाताका फल है और न लाभान्तराय आदि कर्मके क्षय व क्षयोपशमका फल है; परन्तु बाह्य सामग्री अपने-अपने कारणों से प्राप्त होती है। अपने-अपने कारण क्या है? इनका भी पण्डितजीने उल्लेख किया है। हम सब जानते है कि पैसा कमाना हो, तो व्यापार या उद्योगके साधन जुटाना, रकमको व्याज पर लगाना, सेठ-साहूकार तथा व्यापारियोंसे मित्रता स्थापित करना आदि जितने बाह्य साधन हो सकते हैं और उनमेंसे जितने, जो कुछ हम अपना सकते हैं, उन सभी साधनोंसे बाह्य सामग्रीकी प्राप्ति होती है। इस प्रत्यक्ष, लौकिक व्यवहारका अपलाप नहीं किया जा सकता। यदि बाहरी सामग्री देने वाले एक मात्र कर्म हों, तो औरोंकी तो नहीं पर जैनोंको कम-से-कम हाथ पर हाथ रख कर बैठ जाना चाहिये था; कुछ कमाने-धमानेकी क्या आवश्यकता थी? आगममें व्यवहारकी सर्वथा अवहेलना नहीं है। इसी बातको स्पष्ट करते हुए पण्डितजी आगे लिखते हैं—

'यद्यपि जैनदर्शन कर्मको मानता है, तो भी वह यावत् कार्योंके प्रति उसे निमित्त नहीं मानता। वह जीवकी विविध अवस्थाएँ—शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, वचन और मन-इनके प्रति कर्मको निमित्त कारण मानता है। उसके मतसे अन्य कार्य अपने-अपने कारणोंसे होते हैं। कर्म उनका कारण नहीं है। उदाहरणार्थ, पुत्र का प्राप्त होना, उसका मर जाना, रोजगारमें नफा-नुकसानका होना, दूसरेके द्वारा अपमान या सम्मान किया जाना, अकस्मात् मकानका गिर पड़ना, फसलका नष्ट हो जाना, ऋतुका अनुकूल-प्रतिकूल होना, अकाल या सुकालका पड़ना, रास्ता चलते-चलते अपघातका हो जाना, किसीके ऊपर बिजलीका गिरना, अनुकूल व प्रतिकूल विविध प्रकारके संयोगों व वियोगोंका मिलना आदि ऐसे कार्य हैं, जिनका कारण कर्म नहीं है। भ्रम से इन्हें कर्मोंका कार्य समझा जाता है।

वास्तवमें जैनधर्ममें भावकी प्रधानता है, कर्मकी नहीं। अतः विद्वान् लेखकने जो मन्तव्य दिया है, वह जैन आगमोंसे ही उद्धृत है जो मान्य है।

संक्षेपमें, टीकाकी सभी विशेषताओंके साथ ही विवेचन भी अनुसन्धानपूर्ण तथा आगमकी सम्यक् दृष्टिको दर्शाने वाला है। आगमका सही निर्णय ही हमारे जीवनके लिए और धर्म-पालनके लिए उपयोगी रहा है, है और बना रहेगा।

●

आलापपद्धति : एक समीक्षात्मक अध्ययन

● डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री

श्रीमद्देवसेनसूरि विरचित "आलापपद्धति" एक महत्त्वपूर्ण संस्कृत गद्यमें लिखित नय-प्ररूपक रचना है। सर्वप्रथम यह रचना सन् १९०५ मे सनातन जैन ग्रन्थमालासे प्रथम गुच्छकमें प्रकाशित हुई थी। इसकी भाषा सरल होनेके कारण इसका प्रचार बहुत अधिक हुआ। मूल आलापपद्धति कई बार मुद्रित हो चुकी। इसका एक संस्करण श्री सकल दिगम्बर जैन पंचान, नातेपुते (सोलापुर) से वीर सं० २४६० में प्रकाशित हुआ था। मूलके साथ इसमें हिन्दी अनुवाद भी भावार्थ सहित है। अनुवादक हैं - न्यायवाचस्पति पं० हजारी-लाल न्यायतीर्थ। इसके सम्पादक व संशोधक हैं—पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री। अनुवादमें पण्डितजीने कहीं-कहीं परिवर्तन, परिवर्द्धन तथा यथोचित संशोधन किया है। प्रस्तावना पण्डितजीकी लिखी हुई है जो अत्यन्त संक्षिप्त होनेपर भी महत्त्वपूर्ण है। पण्डितजी लिखते हैं—

"वैसे तो जैनधर्म का साहित्यिक भण्डार अपरिमित है और उसमें गुण, पर्याय और स्वभाव आदिका वर्णन करनेवाले कई महत्त्वशाली ग्रन्थ है। परन्तु इस ग्रन्थमें जिस पद्धतिके अनुसार विषय-विवेचन किया गया है वह पद्धति निराली और अपूर्व है। इसमें गुण, पर्याय, स्वभाव, उपनय गुणोंकी व्युत्पत्ति, पर्यायकी व्युत्पत्ति, स्वभावोंकी व्युत्पत्ति, स्वभाव और गुणोंमें भेद, पदार्थों को सर्वथा अस्ति आदि एक स्वभाव माननेमे दूषण, नय-दृष्टिसे वस्तु-स्वभाव-वर्णन, प्रमाणका लक्षण, व्युत्पत्ति और उसके भेद, नयका लक्षण, व्युत्पत्ति और उसके भेद, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयकी तथा उनके भेदों की व्युत्पत्ति और नय तथा उपनयोंके स्वरूपका वर्णन है। इस ग्रन्थकी रचना संस्कृत गद्यमें है, भाषा सरल है। बीच-बीचमें दूसरे ग्रन्थोंके भी श्लोक रूपमें मूल विषयकी पुष्टि करनेवाले प्रमाण उद्धृत किये हैं।

इस ग्रन्थके कर्ता श्री देवसेनसूरि हैं। आलापपद्धतिके सिवाय आपने दर्शनसार, भावसंग्रह, आराधनासार और तत्त्वसार आदि कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंकी रचना की है।"

पण्डितजीकी टिप्पणियाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। "आलापपद्धति" में निश्चय नयके नौ भेद माने गये है— द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक, नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़, एवंभूत। इसकी टिप्पणीमें आप लिखते हैं—पंचाध्यायीकारने निश्चयनयको एक ही माना है, अनेक नहीं। क्योंकि जो पुरुष एक निश्चय-नयको शुद्ध द्रव्यार्थिक, अशुद्ध द्रव्यार्थिक आदि रूपसे अनेक और सोदाहरण मानते हैं, वे अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि तथा सर्वज्ञकी आज्ञाका उल्लंघन करनेवाले हैं, ऐसा पंचाध्यायीकारने कहा है। इसलिए उन्होंने शुद्ध द्रव्यार्थिक, अशुद्ध द्रव्यार्थिक आदि सम्पूर्ण भेदोंको व्यवहारनयमें ही गर्भित किया है। और उस व्यवहारनयको मिथ्या तथा त्याज्य माना है। केवल एक निश्चयनयको ही यथार्थ और उपादेय माना है।"

इस प्रकारकी टिप्पणियोंके अध्ययनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रारम्भसे ही पण्डितजीकी प्रवृत्ति तुल-नात्मक अध्ययन की रही है। बड़े नयचक्रकी गाथाओंसे "आलापपद्धति" के सूत्रोंका साम्य स्थान-स्थानपर बताया गया है। यथा—"कर्मोपाधिसापेक्षो शुद्धद्रव्यार्थिकः यथा—कर्मोपाधिजभाव आत्मा।"

इसकी टिप्पणी है—भावे सरायमादी सव्वे जीवंमि जो दु जपेदि।
सो हु असुद्धो उत्तो कम्माणोवाहि साक्खो॥ नय० २१

कहीं-कहीं पर "आलापपद्धति तथा माइल्ल धवल 'नयचक्र'" में अत्यन्त साम्य है। जैसे कि—उत्पादव्ययगौणत्वेन सत्ताग्राहकः शुद्धद्रव्यार्थिको यथा—द्रव्यं नित्यम्।

टिप्पणी है—उप्पादवयं गौणं किच्चा जो गहइ केवला सत्ता।
भण्णइ सो सुद्धणओ इह सत्तागाहओ समए ॥ नय० गा० १९१

न्यायवाचस्पति पं० हजारीलालका अनुवाद केवल शब्दार्थमात्र नहीं है। प्रत्येक विषयको उन्होंने स्पष्ट किया है। इसके साथ ही पं० फूलचन्द्रजीके टिप्पणोंसे उसमे नवीनता परिलक्षित होने लगी है। उदाहरणके लिए, मन:पर्ययज्ञानके सम्बन्धमें पं० हजारीलालने लिखा था—"द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी मर्यादा लिए हुए बिना किसीकी सहायताके जो चिंतित, अचिंतित, अर्धचिंतित आदि अनेक भेदरूप दूसरेके मनमें स्थित-रूपी[1] अर्थको स्पष्ट जानता है उसको मन पर्ययज्ञान[2] कहते हैं। यह ज्ञानरूपी पुद्गल द्रव्यकी सम्पूर्ण पर्यायोंको न जानकर कुछ पर्यायोंको जानता है, इसलिए देश कहलाता है। और जितनी पर्यायोंको जानता है, उतनी पर्यायोंको इन्द्रिय व मनकी[3] सहायताके बिना ही स्पष्ट रूपसे प्रत्यक्ष जानता है, इसलिए प्रत्यक्ष कहलाता है।" इस पर पण्डितजीकी टिप्पणी है—

इसी प्रकारसे नयके प्रकरणमें अनेक पृष्ठोंपर "तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक" के उद्धरण देकर टिप्पणी लिखे गये हैं। अनुवादमे भी इतना जोडा गया दिखता है—'इस प्रकार कालादिकके भेदसे भी पदार्थमें भेद नहीं माननेसे जो दूषण आते हैं, उनका यहाँपर संक्षेपमे ही उल्लेख किया गया है। जिनको इस विषयमें विशेष जाननेकी इच्छा हो वे "श्लोकवार्तिक" को देखें।"

कहीं-कहीं इन टिप्पणोंमे विस्तारके भयसे संक्षेपमे सार प्रकट किया गया है जो साधारण पाठकोंके लिए ही नहीं, विद्वानोंके लिए भी महत्त्वपूर्ण है। उदाहरणके लिए, अनुवादमें एक पंक्ति है—"इसके सिवाय इन सातों ही नयोंमें-से पूर्वपूर्वके नय व्यापक होनेसे कारण रूप तथा प्रतिकूल महाविषय वाले हैं।" इसे स्पष्ट करनेके लिए पण्डितजीने टिप्पणोमे ५-६ पंक्तियाँ लिखकर फिर लिखा है—"साराश यह है कि सातों नयोंमेंसे नैगमनय केवल कारण रूप है और एवंभूतनय केवल कार्यरूप है। तथा शेष पाँच नय पूर्व-पूर्वके नयोंकी अपेक्षासे कार्यरूप और आगे-आगेके नयोंकी अपेक्षासे कारण रूप है।"

प्रमेयका लक्षण है—प्रमाणेन स्वपरस्वरूपपरिच्छेद्यं प्रमेयम्। इसका टिप्पणी है—१. "प्रमाणेन स्वपरस्वरूपपरिच्छेदकेन परिच्छेद्यं प्रमेयं", ऐसा पाठ होता तो बहुत अच्छा था। इस प्रकारसे कई पाठ सुझाये गये हैं। टिप्पणियोंमें यथास्थान पाठोंका उल्लेख किया गया है।

---

१. मन:पर्ययज्ञानरूपी द्रव्यके सम्बन्धसे संसारी जीवको भी जानता है।

२. "परकीयमनसि व्यवस्थितोऽर्थः मनः तत् पर्येति गच्छति जानातीति मनःपर्ययः" अर्थात् दूसरेके मनमे स्थित अर्थको मन कहते हैं। और उस मनको जो जानता है उसको मनःपर्ययज्ञान कहते हैं।

३. पंचाध्यायीकार ने मनःपर्ययज्ञानमें भी मनकी सहायता मान करके मनःपर्ययज्ञान मनकी सहायतासे उत्पन्न होता है, इसलिए देश कहलाता है। और शेष इन्द्रियोंकी सहायतासे उत्पन्न नहीं होता है, इसलिए प्रत्यक्ष कहलाता है ऐसा माना है। मनःपर्ययज्ञानके अन्य दो भेद है—प्रतिपाती, अप्रतिपाती। प्रतिपाती उपशमश्रेणीकी अपेक्षा कहा गया है। अप्रतिपाती मनःपर्ययज्ञान क्षपकश्रेणीकी अपेक्षा कहा गया है। इसी प्रकार—"किसी-किसीने अतीतवर्तमान, वर्तमानातीत, अनागतवर्तमान, वर्तमानानागत, अनागतातीत और अतीतानागत इस तरह नैगमनयके छह भेद माने है, परन्तु ये सब भेद नैगमनयके भूत, भावि आदि उक्त तीनों भेदोंमे ही गर्भित हो जाते हैं। श्लोकवार्तिककारने द्रव्यनैगम पर्यायनैगम आदि रूपसे नैगमनयके ९ भेद माने हैं।"

(पृ० ६४ की टिप्पणी)

उक्त ग्रन्थका अनुवाद भी बहुत सरल तथा सुन्दर हुआ है। शुद्ध स्वभाव और अशुद्ध स्वभावकी व्युत्पत्ति की गई है—शुद्धं केवलभावमशुद्धं तस्यापि विपरीतम्। इसका अर्थ किया गया है—केवल भावको अर्थात् परका जिसमें कुछ भी सम्बन्ध नहीं है ऐसे भावको शुद्ध स्वभाव कहते हैं। और शुद्ध स्वभावसे विपरीत भावको अशुद्ध स्वभाव कहते हैं।

भावार्थ—शुद्ध भावोंकी अपेक्षासे द्रव्य शुद्ध स्वभाववाला और अशुद्ध भावोंकी अपेक्षासे द्रव्य अशुद्ध स्वभाववाला कहलाता है।

"लक्षण" का अर्थ गुण किया गया है। टिप्पणमें इसका स्पष्टीकरण है—यहाँ पर "लक्षण" शब्दसे गुणका ग्रहण किया गया है, क्योंकि लक्षण, शक्ति, धर्म, स्वभाव, गुण और विशेष आदि ये सब शब्द एक गुण रूप अर्थके ही वाचक है अर्थात् गुणके नाम है। पंचाध्यायीमें भी कहा है—

शक्तिर्लक्ष्म विशेषो धर्मो रूपं गुणः स्वभावश्च।
प्रकृतिः शीलं चाकृतिरेकार्थवाचका अमी शब्दाः ॥४८॥

संक्षेपमें, शास्त्राकार १३९ पृष्ठोंमें मुद्रित उक्त ग्रन्थ नयोंको समझनेके लिए एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। अनुवादकी दृष्टिसे यह एक सफल रचना है। अनुवाद करनेवालोंकी इस प्रकारके ग्रन्थोंको सामने रखकर आदर्श मानककी अवधारणा निर्धारित करनी चाहिए। इससे सरलतया भाषान्तरणका रहस्य बुद्धिगम्य हो सकता है।

•

